अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे द्वादशं प्रसूनम्

आदिकविश्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिविरचितः

योगवासिष्ठः

तृतीयो भागः

[निर्वाणप्रकरण-पूर्वार्धरूपः]

वेदान्ताचार्यपण्डितश्रीमूलशङ्करशास्त्रिणा
विरचितेन भाषानुवादेन

समलङ्कृतः

मीमांसाचार्य-वेदान्तशास्त्रि-पण्डितश्रीरामचन्द्रशास्त्रिखनङ्गमहानुभावानां
तत्त्वावधाने त्रिपाठ्युपाह्व-काव्यतीर्थ-पण्डितगोपालदत्तशास्त्रिणां
साहाय्ये च अनुवादकमहोदयेन

सम्पादितः

प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी ।

संवत्

प्रथमावृत्तिः १५००]　　२००४　　[मूल्यम् [illegible]

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

मुद्रक—
ह० मा० सप्रे,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।

योगवासिष्ठके तृतीय भागकी विषय-सूची

[निर्वाण-प्रकरणपूर्वार्ध ३०११-४२६९]

विषय पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

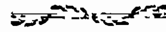
विषय | पृष्ठ

ॐ

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

योगवासिष्ठ

[भाषानुवादसहित]



निर्वाण-प्रकरण-पूर्वार्ध

प्रथम सर्ग

श्रीवाल्मीकिरुवाच *

उपशमप्रकरणादनन्तरमिदं शृणु ।
त्वं निर्वाणप्रकरणं ज्ञातं निर्वाणदायि यत् ॥ १ ॥

पहला सर्ग

[मुनिवचनसे श्रोताओंका उत्थान, उनकी आह्निकी क्रिया तथा सुने गये विषयोंका चिन्तन एवं निद्रासे रात्रिका यापन—यह वर्णन]

सबसे पहले पूर्वप्रकरण तथा उत्तरप्रकरणकी हेतुतासङ्गति सूचन कर रहे महर्षि वक्तव्य विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं—'उपशम०' इत्यादिसे ।

महर्षि वाल्मीकिजीने कहा—भद्र, उपशम-प्रकरणके अनन्तर अब इस

* उत्पत्ति, स्थिति और उपशम नामक पहलेके तीन प्रकरणोंसे उत्पत्ति, स्थिति और लयके बोधक तथा 'अथात आदेशो नेति नेति' (सत्यस्वरूपके निर्देशके अनन्तर अब 'न, न' यों ब्रह्मका निर्देश किया जाता है) इत्यादि समस्त प्रपञ्चके निषेधक वेदान्त-वाक्योंका—अध्यारोपापवादन्यायसे आत्मतत्त्वके व्युत्पादक होनेके कारण वासनाक्षय और मनोनाशपर्यन्त ज्ञानके द्वारा—परमपुरुषार्थमें ही तात्पर्य है, यह बतलाया गया । अनन्तर अब 'यत्र नान्यत्पश्यति०', 'यतो वाचो निवर्तन्ते', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'तदेतद्ब्रह्मापर्वम्०', 'निष्कलं निष्क्रियम्' इत्यादि श्रुतितात्पर्यसिद्ध तथा पूर्वोक्त समस्त साधनोंसे प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञानके फलभूत मोक्षके व्युत्पादनार्थ निर्वाणनामक प्रकरणका श्रवण करानेके लिए भगवान् वाल्मीकि उपक्रम करते हैं ।

कथयत्येवमुद्दामवचने मुनिनायके ।
श्रवणैकरसे मौनस्थिते राजकुमारके ॥ २ ॥
मुनिवाग्थनिक्षिप्तमनस्यस्ततपःक्रिये ।
राजलोके गतस्पन्दे चित्रार्पित इव स्थिते ॥ ३ ॥
वसिष्ठवचसामर्थं विचारयति सादरम् ।
लसदङ्गुलिभङ्गेन मुनिसार्थे स्फुरद्भ्रुवि ॥ ४ ॥
विस्मयालोकनोल्लासप्रोत्फुल्लनयनालिनि ।
पुरन्ध्रिवर्गे गम्भीरतरुमञ्जरितां गते ॥ ५ ॥
खे वासरचतुर्भागदेशे दिनकरे स्थिते ।
किञ्चिज्ज्ञानोदयात्सौम्ये किञ्चिच्छमगुपेयुषि ॥ ६ ॥

निर्वाण-प्रकरणका श्रवण कीजिए, जो कि ज्ञात हो जानेपर मोक्षरूप फल देता है ॥ १ ॥

एकमात्र प्रस्तुत कथाका ही अवलम्बन करके प्रतिज्ञात अर्थका वर्णन करनेवाले महर्षि उपशम-प्रकरणके उपदेशके बाद दशरथ-सभामें जो वृत्तान्त हुआ, उसे कहते हैं—'कथयत्येव०' इत्यादिसे ।

जिस समय महामुनि वसिष्ठ उस प्रकारके गम्भीर अर्थके प्रतिपादक वचन कह रहे थे, उनके एकमात्र श्रवणके आनन्दमें विभोर होकर श्रीरामचन्द्रजी मौन होकर अवस्थित थे; महामुनि वसिष्ठजीकी वाणी और उससे प्रतिपादित अर्थोंको मनमें धारणकर राजे लोग, जिन्होंने मानस बाह्यार्थालोचन और शारीरिक चेष्टाका परित्याग कर दिया था, निश्चेष्ट होकर चित्रार्पितकी नाईं अवस्थित थे; महामुनि वसिष्ठजी द्वारा उपदिष्ट वाक्योंका बड़े आदरके साथ ऊपर उठाई गई तर्जनीके विलक्षण अभिनय तथा भ्रूभङ्गपूर्वक श्रोता मुनिगण विचार कर रहे थे; परम आश्चर्यमय प्रत्यगात्मके अवलोकनमें अतिहर्षके कारण विकसित नेत्रमिलिन्दवाला पुरन्ध्रिसमूह जब गम्भीर तरुमञ्जरीरूपता यानी पुष्परसास्वादनमें आसक्त भ्रमरोंसे युक्त कम्पन और शब्दसे शून्य तरुमञ्जरीस्वरूपता प्राप्त कर रहा था; आकाशमें जिस प्रदेशमें दिवसका अवशिष्ट चतुर्थभागमात्र लक्षित हो रहा था, उस प्रदेशमें मानो वसिष्ठोपदेशका श्रवण करनेके लिए सूर्य भगवान् अवस्थित थे; इसीसे वे मानो कुछ ज्ञानोदयसे सौम्य यानी दृष्टिप्रिय और कुछ

श्रवणायेव संशान्ते वितानस्पन्दमालिते ।
मौनं मरुति मन्दारमधुरामोददायिनि ॥ ७ ॥
पुष्पदामसुपुप्तासु महाभ्रमरपङ्क्तिषु ।
ज्ञातज्ञेयतया नूनं सम्यग्ध्यानवतीष्विव ॥ ८ ॥
मुक्ताजालकलापान्तर्गतास्वन्तरभूमिषु ।
कचत्यपगतस्पन्दं तोये श्रोतुमिवाऽऽस्थिते ॥ ९ ॥
गृहान्तरं प्रविष्टेषु गवाक्षे दूरमंशुषु ।
विश्रामार्थमिवाऽऽदीर्घे नभःपान्थेषु शीतलम् ॥ १० ॥
मुक्ताजालप्रभाजालभस्मनोद्धूलितात्मनि ।
शंसतीव शमं शाम्यद्दिनदेहे दिवातपे ॥ ११ ॥
करे लीलासरोजेषु शेखरेषु च भूभृताम् ।
श्रुत्वा सुरसमामोदादवृत्तिषु मनःस्विव ॥ १२ ॥
बालकेष्वङ्गलोकेषु लीलापक्षिषु सादरम् ।
भोजनार्थं वधूलोकमुपरुन्धत्स्वनारतम् ॥ १३ ॥

तापका उपशम मानो प्राप्त किये हुए प्रतीत हो रहे थे। मुन्युक्त अर्थके श्रवणके हेतु कुसुमवितानोंके संस्पन्दसे मालित (मालायुक्त) इसलिए मन्दारकी मधुर सुगन्ध देनेवाले पवन मौन होकर बह रहा था; तत्त्वज्ञान हो जानेके कारण मानो उत्तम ध्यान कर रही बड़े-बड़े भ्रमरोंकी पंक्तियाँ पुष्पपंक्तियोंके ऊपर सो रही थीं, मुक्तामय जालाकर वापी वेष्टनोंके मध्यस्थ भूमिप्रदेशमें जल श्रवणके लिए मानो उत्कण्ठासे स्पन्दरहित होकर मुक्ता आदिकी प्रभासे प्रकाशित हो रहा था, देशतः और कालतः अपरिच्छिन्न आकाशमार्गकी पथिक, चिरकालिक दीर्घ प्रवाससे श्रान्त सूर्यरश्मियाँ जब शीतल घरके अन्दर (श्रवणशालामें) विश्रामके लिए गवाक्ष मार्गमें प्रविष्ट हो रही थीं; शान्त हो रहे मोतियोंके समूहोंके प्रभाजालमय भस्मसे धूलितस्वरूप श्रवणशालाके अन्दर प्रविष्ट तपस्वीरूपी दिवसके शरीरभूत दिवातप अपने भीतर मानो शान्तिगुण सूचित कर रहा था; राजाओंके हाथोंमें तथा सिरके ऊपर लगाये गये लीला-कमल उत्तम रससे परिपूर्ण वसिष्ठजीके उपदेशको सुनकर आनन्दके आविर्भावसे श्रोताओंके

भ्रमद्भ्रमरपक्षोत्थवातधूतरजस्यलम् ।
कौमुदे परिविश्रान्ते चामरेष्वक्षिपक्ष्मसु ॥ १४ ॥
रश्मिष्वगगुहोन्मुक्तच्छायाजालभयादिव ।
गवाक्षादिष्विवोड्डीय प्रविष्टेषु गृहान्तरम् ॥ १५ ॥
आसीद्दिनचतुर्भागसत्तावेदनतत्परः ।
भेरीपटहशङ्खानां दिङ्मुखापूरको ध्वनिः ॥ १६ ॥
तेन तत्तारमप्याशु वचोऽन्तर्धानमाययौ ।
मौनं जलदनादेन मायूर इव निःस्वनः ॥ १७ ॥
आक्षुब्धा क्षुब्धपक्षालिः पञ्जरस्था खगावली ।
भूकम्पे तरसा तालीपल्लवेव वनावली ॥ १८ ॥
आययुर्भयवित्रस्ता बाला धात्रीकुचान्तरम् ।
सारवं प्रावृषीवाऽब्दाः प्रोन्नतं भृङ्गकोटरम् ॥ १९ ॥

मनोंकी नाईं मानो निमीलनोन्मुख हो रहे थे, अज्ञानी बालकोंको तथा पिंजड़ेमें स्थित शुक आदि पक्षियोंको आदरपूर्वक भोजन देनेके लिए वधूजन त्वरित हो रहा था, चक्कर काट रहे भ्रमरोंके पंखोंसे उत्थित वायुसे उड़ाई गई थोड़े विकाससे युक्त कमुदसम्बन्धी धूलि चामर और आँखकी बरौनीपर भली प्रकार चारों ओर विश्रान्त हो चुकी थी, पर्वतोंकी गुफाओंसे निकले हुए छायासमूहरूपी अन्धकारके भयसे मानो उड़ कर गवाक्ष द्वारोंमें आश्रयके लिए सूर्यरश्मियाँ घरके भीतर प्रविष्ट हो रही थीं, उस समय दिनके चतुर्थभागका सूचन करनेमें तत्पर दिशाओंके मुखोंको पूर्ण कर देनेवाली भेरी और शंखकी ध्वनि हुई ॥ २–१६ ॥

उक्त ध्वनिसे मुनि वसिष्ठजीका उन्नत भी स्वर उस प्रकार तिरोहित हो गया, जिस प्रकार मेघोंके नादसे मयूरोंका शब्द ॥ १७ ॥

उस ध्वनिसे पिंजड़ेमें स्थित पक्षी क्षुब्ध पंखोंसे युक्त होकर चारों ओरसे उस प्रकार क्षुब्ध हो गये, जिस प्रकार भूकम्प होनेपर वेगपूर्वक तालपल्लवोंसे युक्त वनपंक्तियाँ चारों ओरसे क्षुब्ध हो जाती हैं ॥ १८ ॥

उस समय भीतिसे त्रस्त हुए बालक धात्रियोंके स्तनमध्यमें रोदनशब्द-पूर्वक ऐसे लिपट गये, जैसे वर्षाकालीन मेघ उन्नत शिखरके कोटरमें लिपट जाते हैं ॥ १९ ॥

उत्तस्थुरवतंसेभ्यो भूभृतां भ्रमरस्रजः ।
ईषत्करालवाहाभ्यः सरिद्भ्योऽम्बुकणा इव ॥ २० ॥
एवं प्रक्षुभिते तस्मिन्गृहे दाशरथे तदा ।
प्राप्ते वासरवृद्धत्वे शान्तशङ्खस्वने शनैः ॥ २१ ॥
संहरन्प्रस्तुतं वस्तु वचो मधुरवृत्तिमत् ।
उवाच मुनिशार्दूलः सभामध्ये रघूद्वहम् ॥ २२ ॥
राघवाऽनघ वाग्जालं मयैतत्प्रविसारितम् ।
तेन चित्तखगं बध्वा क्रोडीकृत्याऽऽत्मतां नय ॥ २३ ॥
कच्चिद् गृहीतो भवता मद्गिरामर्थ ईदृशः ।
त्यक्त्वा दुर्बोधमक्षीणो हंसेनेवाऽम्भसः पयः ॥ २४ ॥
विचार्यैतदशेषेण स्वधियैवं पुनः पुनः ।
अनेनैव पथा साधो गन्तव्यं भवताऽधुना ॥ २५ ॥

क्षुब्ध हुए प्रवाहसे युक्त नदियोंसे जैसे जलकण उड़ते हैं, वैसे ही उस ध्वनिसे राजाओंके शिरोभूषणोंसे पुष्पधूलिसे गौरवर्ण भ्रमरोंकी परम्पराएँ उड़ने लगीं ॥ २० ॥

उस प्रकार महाराज दशरथके घरके प्रक्षुब्ध होनेपर, चतुर्थ वयमें दिवसके प्राप्त होनेपर तथा धीरे-धीरे शङ्खध्वनिके शान्त होनेपर प्रस्तुत विषयका उपसंहार करते हुए मुनियोंमें सिंहरूप महाराज श्रीवसिष्ठजी सभाके बीचमें श्रीरामचन्द्रजीसे मधुरवृत्तिवाले वचन कहने लगे ॥ २१ , २२ ॥

हे निष्पाप राघव, मैंने जो यह आपसे वाग्जाल यानी तत्त्वोपदेशके रूपमें जो वचन कहे हैं, उनसे चित्तरूपी पक्षीको बाँधकर तथा हृदयमें रोककर आत्मरूपता प्राप्त कीजिए ॥ २३ ॥

श्रीरामजी, मेरी वाणीके इस प्रकार अविनाशी अर्थका आपने क्या उस तरह ग्रहण किया, जिस तरह हंस जलसे यानी दूधसे मिश्रित जलमें से जलका परित्याग कर दूधका ग्रहण करता है ॥ २४ ॥

हे साधो, इसका अपनी बुद्धिसे आद्योपान्त बारबार विचार कर इसी मार्ग

अनयैव धिया राम विहरन्नैव बध्यसे ।
अन्यथाऽधः पतस्याशु विन्ध्यखाते यथा गजः ॥ २६ ॥
सुगृहीतं धिया राम मद्वचो न करोपि चेत् ।
तत्पतस्यवटे त्यक्तदीपो वाऽन्धो निशास्विव ॥ २७ ॥
असङ्गेन यथाप्राप्तो व्यवहारोऽस्य सिद्धये ।
इत्येव शास्त्रसिद्धान्तमादायोदारवान् भव ॥ २८ ॥
हे सभ्या हे महाराज रामलक्ष्मणभूमिपाः ।
सर्व एव भवन्तोऽद्य तावद्व्यापारमाह्निकम् ॥ २९ ॥
कुर्वन्त्वयं हि दिवसः प्रायः परिणताकृतिः ।
शेषं विचारयिष्यामो विचार्यं प्रातरागताः ॥ ३० ॥

से यानी पहले उपदिष्ट वासनाक्षय, मनोनाश, प्राणनिरोध तथा ज्ञानाभ्यासरूपी मार्गसे ही अब आपको जाना चाहिए ॥ २५ ॥

श्रीरामजी, इस बुद्धिसे (वृत्तिसे) विहार कर रहे आप कभी भी बद्ध नहीं होंगे । यदि इस वृत्तिका परित्याग कर आप अन्य मार्गसे व्यवहार करेंगे, तो उस प्रकार आपका अधःपतन हो जायगा, जिसप्रकार विन्ध्याद्रिके गर्तमें हाथीका अधःपतन होता है ॥ २६ ॥

श्रीरामभद्र, जैसे अगृहीतदीप तथा अन्धपुरुष रात्रिमें गर्तमें गिर जाता है, वैसे ही बुद्धिसे गृहीत मेरे अर्थके अनुसार कार्य नहीं करते तो अवश्य ही आप नीचे गर्तमें गिर जायँगे ॥ २७ ॥

हे भद्र, मेरे द्वारा कथित अर्थकी सिद्धिके लिए आपको असङ्ग होकर यथाप्राप्त यानी समयानुसार प्राप्त हुए व्यवहारका परिपालन करना चाहिए, समस्त शास्त्रोंके परम तात्पर्यविषय सिद्धान्तका मनमें दृढ़ीकरण करके आप उदारवान् यानी अपरिच्छिन्न आत्मबोधसे सम्पन्न हो जाइए ॥ २८ ॥

हे सभ्यगण, हे महाराज, हे श्रीरामजी, हे लक्ष्मण तथा अन्यान्य नृपवर्ग ! आप सभी आज अपने-अपने आह्निक कर्मोंका अनुष्ठान करें, क्योंकि प्रायः आजका दिन समाप्त होने जा रहा है, अब जो अवशिष्ट विचार है, उसका, जब आप प्रातःकाल सभामें आयेंगे, तब हमलोग विचार करेंगे ॥ २९, ३० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ता मुनिना तेन सा सर्वैव तदा सभा ।
प्रोत्तस्थौ पद्मवदना सविकासेव पद्मिनी ॥ ३१ ॥
राजानः स्तुतराजानः कृतराघववन्दनाः ।
परिष्टुते वसिष्ठे ते जग्मुरात्मनिवेशनम् ॥ ३२ ॥
विश्वामित्रेण सहितो वसिष्ठो गन्तुमाश्रमम् ।
उत्तस्थावासनाच्छ्रीमान्नमस्कृतनभश्चरः ॥ ३३ ॥
दशरथप्रभृतयो राजानो मुनयस्तथा ।
यथानुरूपं वक्तारमनुगम्य मुनिं चिरम् ॥ ३४ ॥
आपृच्छ्य केचिद्गगनं ययुः केचिद्वनान्तरम् ।
केचिद्राजगृहं मन्तो भृङ्गाः पद्मोत्थिता इव ॥ ३५ ॥
वसिष्ठपादयोरभ्यर्च्य पुष्पाञ्जलिमनाविलम् ।
दारैरनुगतो राजा प्रविवेश गृहान्तरम् ॥ ३६ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—महर्षि वसिष्ठ महाराजके द्वारा इस प्रकार संबोधित की गई वह सभा उठ खड़ी हुई, समस्त सभाका वदन पद्मकी तरह था, अतएव वह विकासयुक्त कमलिनीके सदृश भली मालूम पड़ती थी ॥ ३१ ॥

अन्यान्य राजाओंने महाराज दशरथकी स्तुति की, श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार किया तथा महर्षि वसिष्ठकी खूब स्तुति की, अनन्तर वे अपने-अपने आश्रमोंको चले गये ॥ ३२ ॥

आकाशचारी देवताओंकी वन्दना कर महाराज वसिष्ठजी विश्वामित्र महर्षिके साथ आश्रम जानेके लिए आसनसे उठे ॥ ३३ ॥

दशरथ आदि राजे तथा मुनि लोग अपने अनुरूप उपदेष्टा मुनि वसिष्ठजीके पीछे-पीछे आश्रम पर्यन्त जाकर उनकी आज्ञा लेकर कोई आकाश की ओर, कोई अरण्यकी ओर, कोई राजमन्दिरकी ओर कमलसे उत्थित भ्रमरोंकी तरह चले गये ॥ ३४, ३५ ॥

महर्षि वसिष्ठजीके चरणोंमें निर्मल पुष्पोंकी अंजलि समर्पण करके

रामलक्ष्मणशत्रुघ्नाः प्राप्तस्य स्वाश्रमं गुरोः ।
अभ्यर्च्य चरणौ भक्त्या त्वाजग्मुर्नृपमन्दिरम् ॥ ३७ ॥
सदनानि समासाद्य श्रोतारः सर्व एव ते ।
सस्नुरानर्चुरभ्येयुर्देवान्विप्रान्पितृंस्तथा ॥ ३८ ॥
यथाक्रमं स्वभृत्यान्तैर्विप्राद्यैश्च परिच्छदैः ।
समं बुभुजिरे भोज्यं वर्णधर्मक्रमोदितम् ॥ ३९ ॥
अस्तं गते दिनकरे समं दिवसकर्मभिः ।
अभ्यागते रात्रिकरे समं रजनिकर्मभिः ॥ ४० ॥
स्थित्वा तल्पेषु कौशेयशयनेष्वासनेषु च ।
भूचरा मुनिराजानो राजपुत्रा महर्षयः ॥ ४१ ॥
संसारोत्तरणोपायं वसिष्ठवदनेरितम् ।
यथावदेकाग्रधियश्चिन्तयामासुरादृताः ॥ ४२ ॥

महाराज दशरथजी, भायाओंसे अनुगत हो, अपने राजमहलके भीतर प्रविष्ट हुए ॥ ३६ ॥

श्रीरामभद्र, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने आश्रममें प्राप्त गुरुजीके चरणोंकी भक्तिपूर्वक पूजा करके दशरथके मन्दिरकी ओर आ गये ॥ ३७ ॥

अपने स्थानमें आकर उन सब श्रोताओंने स्नान किया, देवता और पितरोंकी पूजा की तथा विप्र और अतिथियोंके अभिमुख हुए यानी अभिगमन आदिसे पूजनके लिए उनका स्वागत किया ॥ ३८ ॥

इन क्रियाओंसे निवृत्त होकर उन श्रोताओंने ब्राह्मण आदिसे लेकर नौकर पर्यन्त अपने-अपने परिवारोंके साथ वर्ण धर्मके क्रमानुसार भोज्य पदार्थोंका भोजन किया ॥ ३९ ॥

दैनिक क्रियाओंके साथ सूर्य भगवान्के अस्ताचलकी ओर प्रस्थान करनेपर तथा रात्रिक्रियाओंके साथ निशाकरके उदित होनेपर कौशेय आस्तरणोंसे युक्त शय्याओंपर तथा आसनोंपर बैठकर भूमिपर विहार करनेवाले मुनि, राजे, राजपुत्र तथा महर्षि लोग अत्यन्त आदरपूर्वक वसिष्ठ महर्षिके वदनकमलसे निर्गत संसारतरणके उपायका यथावत् एकाग्र चित्तसे विचार करने लगे ॥ ४०, ४२ ॥

ततः प्रहरमात्रेण निद्रामामुद्रिताननाः ।
उत्स्वप्नसुन्दरीमीयुः पद्मा इव दिनार्थिनः ॥ ४३ ॥
रामलक्ष्मणशत्रुघ्नाः प्रहरत्रयमेव तत् ।
वासिष्ठमुपदेशं ते चिन्तयामासुरक्षतम् ॥ ४४ ॥
प्रहरस्याऽर्धमात्रं ते तत आमुद्रितेक्षणाः ।
उत्स्वप्नमाययुर्निद्रां क्षणाद्विद्रावितश्रमाम् ॥ ४५ ॥
इति शुभमनसां विवेकभाजामधिगतसारतयोदिताशयानाम् ।
अभजत विरतिं तदा त्रियामा मलिननिशाकरवक्त्रतां जगाम ॥४६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे दिवसव्यवहारवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

तदनन्तर प्रहरमात्रमें वे श्रोतागण, जो रात्रिके निर्गमनकी अभिलाषाओंके कारण दिनार्थी (रात्रिके अतिक्रमणकी अभिलाषवाले) कमलके सदृश थे, सुन्दर स्वप्नसे युक्त निद्राको प्राप्त हुए ॥ ४३ ॥

श्रीरामभद्र, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न इन तीनों भ्राताओंने तीन प्रहर तक महर्षिके उपदेशका निरन्तर विचार किया ॥ ४४ ॥

उन्होंने केवल आधे प्रहर (दो घड़ी) तक ही नयनोंको मूँदकर उत्तम स्वप्नसे युक्त तथा क्षणभरमें श्रमका निवारण कर देनेवाली निद्रा प्राप्त की। यहाँपर सुन्दर स्वप्नयुक्त निद्रा प्राप्त हुई—इस कथनका तात्पर्य भावी शुभ फलका सूचन करनेमें हैं, क्योंकि 'अथ यत्र देव इव' इत्यादि श्रुतिसे यह प्रतिपादन किया गया है कि स्वप्नमें सार्वात्म्य-दर्शन भावी मोक्षरूप फलका सूचक होता है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार पवित्रमनवाले, विवेकी तथा आत्मतत्त्व प्रबोधके कारण विकासयुक्त आशयवाले उन रामचन्द्र आदिकी रात्रि समाप्त जब हो गई, तब उसने सूर्यकिरणोंके सम्बन्धसे मलिन हुए निशाकरको ही अपना मुख बना लिया ॥ ४६ ॥

पहला सर्ग समाप्त

द्वितीयः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

ततः क्लिन्नेन्दुवदना पर्याकुलतमःपदा ।
क्षीयमाणा बभौ श्यामा विवेक इव वासना ॥ १ ॥
पूर्वे ध्वस्ततयाऽऽलोकं दृश्यमाने परेऽचले ।
शयालीकावतंसाभं तापको निकरो दधौ ॥ २ ॥
अवश्यायकणाकर्षी परामृष्टेन्दुमण्डलः ।
ज्योत्स्नाकवलनालोको बभौ प्राभातिकोऽनिलः ॥ ३ ॥
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना उत्थायाऽनुचरैः सह ।
ययुर्वन्दितसन्ध्यास्ते पुण्यं वासिष्ठमाश्रमम् ॥ ४ ॥

दूसरा सर्ग

[श्रीरामचन्द्र आदिके द्वारा महाराज वसिष्ठजीका सभामें आनयन तथा महर्षि द्वारा उक्त अर्थके स्मरणसे उनकी आत्मतत्त्वमें विश्रान्ति—यह वर्णन]

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—तदनन्तर चन्द्ररूपी मुखसे तथा व्याकुल अन्धकाररूपी पैरोंसे युक्त रात्रि उस प्रकार मरणोन्मुखी हुई, जिस प्रकार विवेकका उदय होनेपर वासना मरणोन्मुखी हो जाती है ॥ १ ॥

अनन्तर पूर्वाभिमुख मनुष्योंके द्वारा दिखाई पड़नेवाले पूर्वदिशास्थ पर्वतोंके ऊपर शिखरोंसे प्रतिबद्ध होनेके कारण उन-उन शिखरोंके भीतरी भागोंसे दण्डायमान प्रकाश निकल रहा था, अतएव वहाँपर उन अन्तराल भागोंसे निकल रहे किरणोंवाले सूर्यने फैलाये गये हाथोंके सदृश प्रकाश धारण किया है ऐसा प्रतीत होता था, और जो पश्चिम दिशामें मुख किये हुए प्राणी थे, उनके द्वारा दिखाई पड़नेवाले पश्चिम दिशास्थ पर्वतपर, तो सूर्यने मिथ्याकल्पित शिरोभूषणकी नाईं मानो आलोक धारण किया है—ऐसा प्रतीत होता था ॥ २ ॥

तदनन्तर बरफके कणोंका आकर्षण करनेवाला, चन्द्रमण्डलको आकृष्ट करनेवाला तथा सूर्यरूपी अपनी चक्षुसे निकले हुए आलोकसे चन्द्रज्योत्स्नाओंको ग्रसित करनेवाला प्रातःकालीन मन्दपवन सुशोभित हुआ ॥ ३ ॥

श्रीरामजी, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने-अपने अनुचरोंके साथ उठकर

तत्र वन्दितसन्ध्यस्य निर्गतस्याऽपि सव्रतः ।
मुनेर्ववन्दिरे पादौ पदोर्दत्वाऽर्घ्यसन्ततिम् ॥ ५ ॥
क्षणात्तत्सदनं मौनं मुनिब्राह्मणराजभिः ।
हस्त्यश्वरथयानैश्च शनैर्नीरन्ध्रतां ययौ ॥ ६ ॥
अथाऽसौ मुनिशार्दूलस्तयैव सह सेनया ।
गृहं दाशरथं काले रामाद्यनुगतो ययौ ॥ ७ ॥
तत्रैनं पूर्वसम्बन्धः कृतसन्ध्यो महीपतिः ।
दूरमार्गे विनिर्गत्य पूजयामास सादरम् ॥ ८ ॥
पुष्पमुक्तामणिव्रातैर्भूयोऽत्यधिकभूषिताम् ।
सभां प्रविश्य ते सर्वे विविशुर्विष्टरालिषु ॥ ९ ॥
अथ तस्मिन्नवसरे ह्यस्तनाः सर्व एव ते ।
श्रोतारः समुपाजग्मुर्नभश्चरमहीचराः ॥ १० ॥

स्नान, सन्ध्या आदि कर्मोंका अनुष्ठान करके महामुनि श्रीवसिष्ठजीके आश्रम पर चले गये ॥ ४ ॥

वहाँ जाकर सन्ध्याकर आश्रमसे बाहर निकलनेवाले महर्षि वसिष्ठजीके चरणोंमें उन्होंने अर्घ्यसन्तति प्रदान कर प्रणाम किया ॥ ५ ॥

क्षणभरमें महर्षि वसिष्ठजीका आश्रम मुनियों, ब्राह्मणों और राजाओं से तथा हाथी, अश्व, रथ आदि अन्यान्य यानोंसे इतना भर गया कि वहाँ तनिक भी अवकाश नहीं रहा ॥ ६ ॥

तदनन्तर मुनियोंमें सिंहरूप महाराज वसिष्ठजी उस सेनाके साथ ही राम आदिसे अनुगत होकर यथासमय दशरथजीके घरपर आ पहुँचे ॥ ७ ॥

वहाँपर त्वरापूर्वक मिलनेके उत्साहसे सन्ध्या किये हुए महाराज दशरथने आदरपूर्वक दूर मार्गमें ही जाकर महर्षिका पूजन किया ॥ ८ ॥

पुष्पों, मोतियों तथा मणियों के समूहोंसे पहलेकी अपेक्षा पुनः अधिक सजाई गई सभामें प्रविष्ट होकर वे सब श्रोतागण आसनोंकी पंक्तियोंपर आ गये ॥ ९ ॥

अनन्तर उसी समय पहले दिनके जो आकाशचर, भूचर आदि श्रोता थे, वे सब-के-सब आ धमके ॥ १० ॥

विवेश सा सभा सौम्या कृतान्योन्याभिवन्दना ।
बभौ राजसमाभोगा शान्तवातेव पद्मिनी ॥ ११ ॥
यथाप्रदेशमेवाऽऽशु निविष्टेषु यथासुखम् ।
तेषु तद्देशयोगेषु विप्रर्षिमुनिराजसु ॥ १२ ॥
मृदुनि स्वागतरवे शनैः शममुपागते ।
सभाकोणोपविष्टेषु शान्तशब्देषु बन्दिषु ॥ १३ ॥
तरसैवोदितेष्वाशु श्रोतुमभ्यागतेष्विव ।
गवाक्षादिव जालेषु प्रविष्टेष्वर्ककरश्मिषु ॥ १४ ॥
सत्वरप्रविशच्छ्रोतृहस्तस्पर्शघटोद्भवे ।
मुक्ताजालझणत्कारे निद्रायामिव शाम्यति ॥ १५ ॥
कुमारः शङ्करस्येव कचो देवगुरोरिव ।
प्रह्लाद इव शुक्रस्य सुपर्ण इव शार्ङ्गिणः ॥ १६ ॥
वसिष्ठस्याऽऽनने रामः शनैर्दृष्टिं न्यवेशयत् ।
भ्रमन्तीमम्बरोपान्ते फुल्लपद्म इवाऽलिनीम् ॥ १७ ॥

एक दूसरोंका परस्पर अभिवादन करके सभा बैठ गई, उस समय राजाओंके अनुरूप आकर—प्रकारवाली सौम्य वह सभा उस प्रकार सुशोभित हुई, जिस प्रकार वायुके शान्त हो जानेपर कमलिनी सुशोभित होती है ॥ ११ ॥

जब सभामण्डपमें ब्राह्मण आदि-श्रोतागण प्रविष्ट हो गये, वे प्रत्येक दिनके लिए निश्चित अपने-अपने आसनके अनुसार बैठ गये, उनके परस्परके कोमल स्वागत शब्द शान्त हो गये, सभाके कोनोंमें स्थित बन्दिजनोंके शब्द भी शान्त हो गये, उदित सूर्यरश्मियाँ मानो अतित्वरासे सुननेके लिए अभ्यागतोंमें गवाक्षोंके द्वारा प्राप्त होकर प्रविष्ट हो गईं और जल्दी-जल्दी सभामें-प्रवेश कर रहे श्रोताओंके अङ्गोंके आघातसे उत्पन्न मोतियोंके समूहसे युक्त भूषणोंका झणत्कार निद्राकी नाईं स्पन्दनशून्य हो गया, तब शंकरके आननमें कुमारकी नाईं, देवगुरुके आननमें कचकी नाईं, शुक्राचार्यके आनन में प्रह्लादकी नाईं और भगवान् विष्णुके आननमें गरुड़की नाईं श्रीरामचन्द्रजीने महाराज वसिष्ठके आननमें, विकसित कमलमें आकाशप्रान्तमें विहरण करनेवाली भ्रमरीकी तरह, दृष्टि धीरेसे लगाई ॥ १२-१७ ॥

ऋषिणा वन्तुज्झितेनाऽथ तेनैव रघुनन्दनम् ।
क्रमेणोवाच वाक्यज्ञो वाक्यं वाक्यार्थकोविदम् ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

कच्चित्स्मरसि यत्प्रोक्तं ह्यो मया रघुनन्दन ।
वाक्यमत्यन्तगूढार्थं परमार्थविबोधनम् ॥ १९ ॥
इदानीमवबोधार्थमन्यच्च रिपुमर्दन ।
ज्ञानं त्विदं च शृणु शाश्वतसिद्धये ॥ २० ॥
वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावलोकनात् ।
संसारस्तीर्यते येन तेष्वेवाऽभ्यासमाहर ॥ २१ ॥
सम्यक्तत्त्वावबोधेन दुर्बोधे क्षयमागते ।
गलिते वासनावेशे विशोकं प्राप्यते पदम् ॥ २२ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् ।
एकं ब्रह्मैव हि जगत्स्थितं द्वित्वमुपागतम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर वाक्यरचनामें चतुर महामुनि वसिष्ठजी, पहलेसे चले आ रहे क्रमसे ही, वाक्यार्थके विज्ञाता श्रीरघुनन्दनको कहने लगे ॥ १८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, मैंने जो कल सुन्दर पद्धतिसे अत्यन्त गहन अर्थवाला तथा परमार्थका अवबोधक वाक्य कहा था, उसका क्या आप स्मरण करते हैं ? ॥ १९ ॥

शत्रुनाशक श्रीरामभद्र, अब मेरे द्वारा कहे जा रहे इस अन्य ज्ञानहेतु अर्थका श्रवण कीजिए, जिससे कि मोक्षरूप नित्यफलकी सिद्धि होगी ॥ २० ॥

श्रीरामजी, वैराग्यके अभ्याससे तथा आत्मतत्त्वके विज्ञानसे संसार तरा जाता है, अतः आप उन्हींका अभ्यास करनेमें लग जाइए ॥ २१ ॥

सम्यक् तत्त्वके अवबोधसे अज्ञानका क्षय हो जाने तथा वासना-संस्थानका विनाश हो जानेपर शोकशून्य मोक्षपद प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

देशतः, कालतः और वस्तुतः त्रिविध परिच्छेदसे शून्य तथा देश और काल-निबन्धन पूर्व और अपर दोनों सीमाओं या द्वैतके दर्शनसे निर्मुक्त अद्वितीय परब्रह्म ही जगद्रूपसे स्थित है, द्वित्व तो अज्ञानतः प्रतीत होता है ॥ २३ ॥

सर्वभावानवच्छिन्नं यत्र ब्रह्मैव विद्यते ।
शान्तं समसमाभासं तत्राऽन्यत्वं कथं भवेत् ॥ २४ ॥
इति मत्वाऽहमित्यन्तर्मुक्त्वा मुक्तवपुर्महान् ।
एकरूपः प्रशान्तात्मा साक्षात्स्वात्मसुखो भव ॥ २५ ॥
नाऽस्ति चित्तं न चाऽविद्या न मनो न च जीवकः ।
एताः स्वकलना राम कृता ब्रह्मण एव ताः ॥ २६ ॥
याः सम्पदो याश्च दृशो याश्चितो यास्तदेषणाः ।
ब्रह्मैव तदनाद्यन्तमब्धिवत्प्रविजृम्भते ॥ २७ ॥
पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च ।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नाऽन्यदस्ति हि ॥ २८ ॥
उपेक्ष्यहेयोपादेयबन्धवो विभवा वपुः ।
ब्रह्मैव विगताद्यन्तमब्धिवत्प्रविजृम्भते ॥ २९ ॥

जिस अवस्थामें समस्त भावोंसे अनवच्छिन्न, शान्त तथा गोत्वादि धर्मोंमें भी अनुगत होकर एकरूपतः भासनेवाले ब्रह्मकी ही अस्तिता सर्वोपरि विराजित है, उस अवस्थामें द्वैतपन ही कैसे रह सकता है ॥ २४ ॥

उस प्रकारके ब्रह्मस्वरूपका निश्चय कर और 'अहम्' अभिमानका परित्याग कर आप मुक्तशरीर, महान्, एकरूप, प्रशान्तात्मा तथा साक्षात् उत्तम आत्मस्वरूप (या आकाश या आनन्दरूप) हो जाइए ॥ २५ ॥

चित्त है नहीं, अज्ञान है नहीं, मन नहीं है और जीव भी नहीं है, हे श्रीरामजी, ये ब्रह्मकी अपनी खास कल्पनाएँ हैं ॥ २६ ॥

भद्र, जो भोग्यरूप पदार्थ है, जो भोगार्थ व्यापार हैं, जो उनमें प्रतिबिम्बित चिदाभास या स्मृतियाँ हैं और जो उन भोगोंकी इच्छाएँ हैं—इन सबके रूपमें आदि और अन्तसे शून्य ब्रह्म ही समुद्रकी नाईं जृम्भित होता है ॥ २७ ॥

पाताल आदि देश, स्वर्ग, तृण आदि वस्तु, भूत, वर्तमान आदि काल, प्राणी एवं आकाश—सर्वत्र वह निरतिशय चिद्रूप ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है, दूसरा कुछ नहीं ॥२८ ॥

उपेक्ष्य, हेय उपादेय, बन्धु, सम्पत्तियाँ, देह— इन सभी रूपोंसे आदि और अन्तसे शून्य परब्रह्म ही समुद्रकी नाईं जृम्भित होता है ॥ २९ ॥

यावदज्ञानकलना यावदब्रह्मभावना ।
यावदास्था जगज्जाले तावच्चित्तादिकल्पना ॥ ३० ॥
देहे यावदहम्भावो दृश्येऽस्मिन्यावदात्मता ।
यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ॥ ३१ ॥
यावन्नोदितमुच्चैस्त्वं सज्जनासङ्गसङ्गतः ।
यावन्मौर्ख्यं न संक्षीणं तावच्चितादिनिम्नता ॥ ३२ ॥
यावच्छिथिलतां यातं नेदं भुवनभावनम् ।
सम्यग्दर्शनशक्त्याऽन्तस्तावच्चित्तादयः स्फुटाः ॥ ३३ ॥
यावदज्ञत्वमन्धत्वं वैवश्यं विषयाशया ।
मौर्ख्यान्मोहसमुच्छ्रायस्तावच्चित्तादिकल्पना ॥ ३४ ॥

क्या सदा ही उस प्रकार ब्रह्म विजृम्भित होता है ? नहीं, ऐसा कहते हैं—'यावद०' इत्यादिसे ।

जबतक अज्ञानकी कल्पना रहती है, जबतक अब्रह्मकी भावना रहती है, जगज्जालमें जबतक आस्था रहती है, तबतक चित्त आदिकी कल्पना रहती है ॥ ३० ॥

जबतक देहमें अहंभावना रहती है, जबतक इस दृश्यमें आत्मरूपता रहती है, जबतक यह मेरा है, इस प्रकारकी आस्था रहती है, तबतक चित्त आदि भ्रम रहता है ॥ ३१ ॥

जबतक पूर्णताका उदय नहीं होता है और जबतक सज्जनोंके संसर्गसे मूर्खताका विनाश नहीं होता, तबतक चित्त आदि निम्नभागकी ओर जाते रहते हैं ॥ ३२ ॥

जबतक सम्यक् आत्मदर्शनके प्रभावसे यह जगत्की वासना शिथिल नहीं हो जाती, तबतक विस्पष्टरूपसे चित्त आदि रहते हैं ॥ ३३ ॥

जबतक अन्धता और मूर्खता रहती है, जबतक विषयाभिलाषासे विवशता रहती है एवं जबतक मूर्खतावश मोहका ढेर बना रहता है, तबतक चित्त आदिकी कल्पना रहती है ॥ ३४ ॥

यावदाशाविषामोदः परिस्फुरति हृद्वने ।
अविचारचकोरोऽन्तर्न तावत्प्रविशत्यलम् ॥ ३५ ॥
भोगेष्वनास्थमनसा शीतलामलनिर्वृतेः ।
छिन्नाशापाशजालस्य क्षीयते चित्तविभ्रमः ॥ ३६ ॥
तृष्णामोहपरित्यागान्नित्यशीतलसंविदः ।
पुंसः प्रशान्तचित्तस्य प्रबुद्धा त्यक्तचित्तभूः ॥ ३७ ॥
असंस्तुतमिवाऽनास्थमवस्तु परिपश्यतः ।
दूरस्थमिव देहं स्वमसन्तं चित्तभूः कुतः ॥ ३८ ॥
भावितानन्तचित्तत्स्वरूपरूपान्तरात्मनः ।
स्वान्तावलीनजगतः शान्तो जीवादिविभ्रमः ॥ ३९ ॥

जबतक हृदयरूपी अरण्यमें आशारूपी विषगन्ध चारों ओर प्रसरणशील रहता है, तबतक उत्तम आत्मविचाररूपी चकोर भीतर घुसने नहीं पाता ॥ ३५ ॥

जिसका अन्तःकरण भोगोंमें आस्था नहीं रखता, जिसको सुशीतल निर्मल पद प्राप्त हुआ है एवं जिसकी आशापाशसन्तति छिन्न-भिन्न हुई है, उसका चित्तविभ्रम नष्ट हो जाता है ॥ ३६ ॥

तृष्णारूपी मोहके परित्यागसे अविनाशी सुशीतल आत्मज्ञान सम्पन्न तथा प्रशान्तचित्त पुरुषकी आस्थासे परित्यक्त चित्तभूमि प्रबोधरूपी फलसे समन्वित रहती है ॥ ३७ ॥

चित्तका अनुदय ही चित्तत्याग है, इस आशयसे कहते हैं—'असंस्तुत०' इत्यादिसे ।

उपयोगसे रहित दूरवर्ती अवस्तुरूप अतएव भ्रमात्मक पुरुषाकृतिकी नाईं अपनी देहको आस्था छोड़कर देख रहे पुरुषकी चित्तोत्पत्ति होगी कैसे ? ॥ ३८ ॥

जिसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तन्मूलक आत्मसाक्षात्कारसे परिष्कृत चिन्मात्रस्वरूप संसार प्रसिद्ध स्वरूपसे भिन्नरूपवाला यानी आत्मस्वरूप बन गया है एवं जिसको अपने चित्तमें ही जगत् विलीन हो गया है, उस पुरुषके जीव आदि निखिल भ्रम शान्त हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

असम्यग्दर्शने शान्ते मिथ्याभ्रमकरात्मनि ।
उदिते परमादित्ये परमार्थैकदर्शने ॥ ४० ॥
अपुनर्दर्शनायैव दग्धसंशुष्कपर्णवत् ।
चित्तं विगलितं विद्धि वन्हौ घृतलवं यथा ॥ ४१ ॥
जीवन्मुक्ता महात्मानो ये परावरदर्शिनः ।
तेषां या चित्तपदवी सा सत्त्वमिति कथ्यते ॥ ४२ ॥
जीवन्मुक्तशरीरेषु वासना व्यवहारिणी ।
न चित्तनाम्नी भवति सा हि सत्त्वपदं गता ॥ ४३ ॥
निश्चेतसो हि तत्त्वज्ञा नित्यं समपदे स्थिताः ।
लीलया प्रभ्रमन्तीह सत्त्वसंस्थितिहेलया ॥ ४४ ॥
शान्ता व्यवहरन्तोऽपि सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
नित्यं पश्यन्ति तज्ज्योतिर्न द्वैतैक्ये न वासना ॥ ४५ ॥

भद्र, मिथ्या भ्रमको उत्पन्न करनेवाले आत्म-अन्धकारका विनाश तथा परमार्थभूत आत्मज्ञानरूप उत्तम सूर्यका उदय होनेपर चित्त विगलित होकर उस प्रकार पुनः दर्शन नहीं देता, जिस प्रकार अग्निमें सूखा पत्ता या घीका अंश गिरनेपर पुनः दर्शन नहीं देता ॥ ४०, ४१ ॥

चित्तका अभाव हो जानेपर व्यवहार कैसे होगा? इसपर कहते हैं— **'जीवन्मुक्ता'** इत्यादिसे ।

सत्य एवं असत्य वस्तुका साक्षात्कार किये हुए जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं, जो उनकी, जलके सूख जानेपर बालूमें जलरेखाकी नाईं, चित्तप्रचाररेखा है, वही सत्त्व कहा जाता है ॥ ४२ ॥

जीवन्मुक्तोंके शरीरोंमें जो व्यवहार करनेवाली वासना है, वह चित्तनामकी नहीं है, क्योंकि वह सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुकी है ॥ ४३ ॥

चित्तवर्जित, सर्वदा परब्रह्मपदमें अवस्थित, जो तत्त्वज्ञानी महात्मा हैं, वे सत्त्वमें स्थिति हो जानेके कारण प्राप्त हुई अनास्थासे ही लीलावश व्यवहार करते हैं ॥ ४४ ॥

तब क्या तत्त्वज्ञोंको वासनासे व्यवहार और परमार्थ दोनोंका अपरोक्ष ज्ञान

अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वन्हौ त्रिजगत्तृणम् ।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुनेश्चित्तादिविभ्रमाः ॥ ४६ ॥
विवेकविशदं चेतः सत्वमित्यभिधीयते ।
भूयः फलति नो मोहं दग्धबीजमिवाऽङ्कुरम् ॥ ४७ ॥
यावत्सत्वं विमूढान्तः पुनर्जननधर्मिणी ।
चित्तशब्दाभिधानोक्ता विपर्यस्यति बोधतः ॥ ४८ ॥
प्राप्तप्राप्यो भवान्नाम सत्वभावमुपागतम् ।
चित्तं ज्ञानाग्निना दग्धं न भूयः परिरोहति ॥ ४९ ॥

होनेके कारण द्वैत और अद्वैत दोनों रहते हैं ? नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं—'शान्ताः' इत्यादिसे ।

सत्त्ववृत्तिमें अवस्थित तथा निगृहीतेन्द्रिय शान्त महात्मा लोग अद्वय ब्रह्मरूप ज्योतिका सदा साक्षात्कार करते हुए रहते हैं, अतः उन्हें द्वैतता, एकता या वासना नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मप्रकाशके साक्षात् अवलोकनसे उनका बाध हो चुका है ॥ ४५ ॥

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—'अन्तर्मुखतया' इत्यादिसे ।

'मैं सर्वात्मक हूँ' इस प्रकारकी परिपूर्ण आत्मभावनासे समस्त त्रिजगत्-रूपी उपेक्षणीय तृणका चिदात्मक अग्निमें हवन कर रहे महामुनिके चित्त आदि विभ्रम अतिक्रान्त हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

अतएव अज्ञानीके चित्तकी अपेक्षा सत्त्व विलक्षण (भिन्न) है, इस आशयसे कहते हैं—'विवेक०' इत्यादिसे ।

विवेकसे विशुद्ध हुआ चित्त सत्त्व कहा जाता है, विवेकनिर्मल चित्त फिर मोहरूपी फल उस प्रकार नहीं देता, जिस प्रकार दग्ध हुआ बीज अङ्कुर नहीं देता ॥ ४७ ॥

जबतक विमूढ मनुष्योंके भीतर वासना चित्तशब्दसे व्यवहृत होती है, तबतक वह पुनर्जन्मकी हेतु होती है, तत्त्वज्ञान हो जानेपर तो वह सत्त्वरूप होकर उलटी हो जाती है यानी जन्मनिवृत्तिरूप विपरीत कार्य करती है ॥ ४८ ॥

श्रीरामजी, आप प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त कर चुके हैं, आपका अन्तःकरण

संरोहतीषणाविद्धं यथा परशुनाऽग्निना ।
न तु ज्ञानाग्निनिर्दग्धं प्रबोधविशदं मनः ॥ ५० ॥
ब्रह्मबृंहैव हि जगज्जगच्च ब्रह्मबृंहणम् ।
विद्यते नाऽनयोर्भेदश्चिद्घनब्रह्मणोरिव ॥ ५१ ॥
चिदन्तरस्ति त्रिजगन्मरिचे तीक्ष्णता यथा ।
नाऽस्तश्चेज्जगती भिन्ने तस्मात्सदसती मुधा ॥ ५२ ॥

सत्त्वरूपताको प्राप्त हुआ है और ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हो चुका है, अतः फिर वह अंकुरित नहीं हो सकता ॥ ४९ ॥

तब कैसा अन्तःकरण पुनः अंकुरित होता है ? तो इसपर कहते हैं—**'संरोहती०'** इत्यादिसे ।

जिस प्रकार परशुसे छिन्न अथवा अग्निसे दग्ध हुए भी तृण आदि यदि भीतरसे बीजशक्तिसे युक्त रहे तो उससे पुनः अंकुर आदिकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पुत्र, वित्त और लोककी ईषणारूपी बीजशक्तिसे युक्त अन्तःकरण पुनः जनन आदिके प्रति हेतु हो सकता है, परन्तु ज्ञानरूपी अग्निसे दग्ध हुआ एषणादि बीजशक्तिसे शून्य तथा प्रबोधसे निर्मल अन्तःकरण पुनः जननका हेतु नहीं होता ॥ ५० ॥

ज्ञानरूपी अग्निसे कैसे बीजशक्तिका दाह होता है ? इसपर कहते हैं—**'ब्रह्म०'** इत्यादिसे ।

चूँकि, जगत् अज्ञानवश आरोपितरूपसे ब्रह्मकी ही अभिवृद्धिरूप हैं, चूँकि, ज्ञानसे वास्तव ब्रह्मस्वरूप अभिवृद्धिवाला जगत् भी है तथा चूँकि, ब्रह्म और जगत्का केवल अज्ञानमात्रकृत भेद चिद्घन और ब्रह्मके भेदकी नाईं अज्ञानके नाशसे नष्ट हो जाता है, इसलिए तत्त्वज्ञान होनेपर अन्तःकरण प्रस्फुरित नहीं होता ॥ ५१ ॥

जिस प्रकार एकमात्र तीक्ष्णतारससे युक्त मरिचके (मिर्चके) अन्दर तीक्ष्णता मरिचरूपसे विद्यमान है, उस प्रकार चित्के अन्दर तीनों जगद् भी चिद्रूपसे ही रहते हैं, इसलिए तत्त्वदृष्टिसे चित् और जगत् एक दूसरेसे भिन्न नहीं

शब्द शब्दार्थसंकेतवासनेह न संविदा।
चिद्व्योमत्वादुभे भातस्त्यजाऽतः सदसन्मती ॥ ५३ ॥
अचिन्मयत्वान्नाऽसि त्वं स्वात्मा किमिव रोदिषि ।
अचिन्मयत्वे जगतामभावे कल्पनं कुतः ॥ ५४ ॥
चिन्मयं चेत्सदा सर्वं तच्चित्त्वं प्रविचारय ।
शुद्धं सत्वमनाद्यन्तं तत्राऽङ्ग कल्पना कुतः ॥ ५५ ॥

हैं, यही कारण है कि सदसदात्मक वस्तुप्ररोह और उसका प्रलय मायाप्रयुक्त निरर्थक भ्रान्ति ही है ॥ ५२ ॥

तब क्या 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (सृष्टिके पहले यह जगत् असदात्मक ही था) इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध और 'घटोऽस्ति,' 'घटो नास्ति' इत्यादि लोकप्रसिद्ध सत् और असत् शब्द निरर्थक हैं ? नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं—'शब्द' इत्यादिसे ।

यहाँ श्रौत और लौकिक व्यवहारमें एक दूसरेसे व्यावृत्त शब्द व्यावृत्त अर्थोंमें ही संकेतित हैं यानी व्यावृत्त (एक दूसरेसे भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले) शब्द भिन्न-भिन्न अर्थोंमें ही अपना सङ्केत रखते हैं, इसलिए वक्ता और श्रोताकी वासना ही व्यावृत्ति (भेद) के आकारमें भासती है । 'सदसद्' शब्दसे उत्पन्न संवित् प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि असत्यरूप व्यावृत्ति शब्दार्थ नहीं हो सकती, यों व्यावृत्ति पदार्थका निरास होनेपर 'सदसद्' शब्दके वाच्यभूत दोनों अर्थ अव्यावृत्तानुगत चिदाकाशस्वरूपसे ही परमार्थरूपतः भासित हो गये, अतः वही परमार्थ वस्तु शब्दार्थ है, यह भाव है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार सत् और असद्रूपी विकल्पोंके त्यागसे चिन्मात्रका दर्शन होनेपर देहमें आत्मत्वभ्रममूलक जन्म और मरण आदि अनर्थ-प्राप्तिसे रोनेका प्रसङ्ग नहीं है, ऐसा कहते हैं—'अचिन्मयत्वात्' इत्यादिसे ।

'त्वम्' शब्दसे व्यवहृत होनेवाला सदसद्स्वभाव रामनामक स्वतः आत्मा नहीं है, क्योंकि शरीर चिन्मय है नहीं । समस्त जगत्का अचिन्मयत्व और अभाव निश्चित हो जानेपर आपको देह आदिकी कल्पना ही कैसे हो सकती है ॥ ५४ ॥

श्रीरामजी, यदि चित्-व्यावृत्तिरूप केवल जाड्य अंशका परित्याग कर समस्त

चिदात्माऽसि निरंशोऽसि पारावारविवर्जितः ।
रूपं स्मर निजं स्फारं माऽस्मृत्या संमितो भव ॥ ५६ ॥
तां स्वसत्तां गतः सर्वमसर्वं भावयोदयी ।
तादृग्रूपोऽसि शान्तोऽसि चिदसि ब्रह्मरूप्यसि ॥ ५७ ॥
चिच्छिलोदरमेवाऽसि नाऽसि नानाऽस्यथाऽप्यसि ।
योऽसि सोऽसि न सोऽसीव सदस्यसदसि स्वभाः ॥ ५८ ॥
यः पदार्थविशेषोऽन्तर्न त्वं न ह्येव सोऽस्ति ते ।
तदस्यतदसि स्वस्थश्चिद्घनाऽऽत्मन्नमोऽस्तु ते ॥ ५९ ॥

जगत् सदा चिन्मय ही है, ऐसा आप मानते हैं, तो आप चित्स्वरूपका भली प्रकार विचार कीजिए। यदि आप उसके विषयमें भली प्रकार विचार करते हैं, तो वह विशुद्ध, त्रिविध (कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत) परिच्छेदोंसे शून्य तथा चिदेकरसस्वरूप ही हस्तगत होता है, ऐसी स्थितिमें देह आदि अनर्थोंकी कल्पना ही कैसे हो सकती है ? ॥ ५५ ॥

श्रीरामजी, अपने विशाल स्वरूपका आप स्मरण कीजिए, चित्स्वरूपका विस्मरण करके आप परिच्छिन्न मत हो जाइए। आप अंशशून्य (निरवयव) तथा पारावारसे वर्जित चिदात्मस्वरूप ही हैं ॥ ५६ ॥

भद्र, उस परिपूर्ण चित्स्वभावस्थितिको प्राप्त होकर आप सर्वातिशायी उत्तम आनन्दके लाभ आदिसे महान् अभ्युदयवाले होकर परिच्छिन्न जगत् अपरिच्छिन्न पूर्णस्वभाव है, ऐसी भावना कीजिए। आप वही परिपूर्णरूप हैं, शान्त (उपद्रव-शून्य) हैं, चैतन्यरूप हैं और ब्रह्मरूप हैं ॥ ५७ ॥

श्रीरामजी, आप चित्-शिलाके उदरस्वरूप ही हैं, नानाभावोंके रूपमें आप अवस्थित होनेवाले नहीं हैं, अनेक भावोंके बाधकी अवधिरूपसे अवशिष्ट रहनेवाले भी आप हैं, समस्त वाणी और मनकी प्रवृत्तिके हेतुका जहाँ अपगम हो जाता है, वह भी आप ही हैं, [तब क्या अत्यन्त परोक्ष-स्वरूप हैं ? नहीं, यह कहते हैं—'न' से] तत्स्वरूप आप परोक्ष-से नहीं है, क्योंकि आप सदा स्वप्रकाशस्वरूप हैं ॥ ५८ ॥

आप सत्स्वरूप हैं और असत्स्वरूप है, इस अंशका विवरण करते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

आद्यन्तवर्जितविशालशिलान्तराल-
संपीडचिद्धनवपुर्गगनामलस्त्वम् ।
स्वस्थो भवाऽऽजठरपल्लवकोशलेखा-
लीलास्थिताखिलजगज्जय ते नमस्ते ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे विश्रान्तिसुदृढीकरणं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

जो सम्पूर्ण पदार्थोंका व्यावृत्तिस्वरूप भीतरका परिच्छेद है, वही असत् होनेके कारण असत्-पदार्थ है, असत्पदार्थरूप आप नहीं हैं, अतः सत्स्वरूप हैं, 'सत्' शब्दार्थ ही असत्-व्यावृत्त सद्धर्मरूपसे व्यावहारिक पुरुषोंके द्वारा कल्प्यमान होनेके कारण सत्ता कहा जाता है, वह भी आपमें नहीं है, अतः असत्-स्वरूप है, इसी आशयसे 'आप सत् हैं, और असत् हैं,' यह कहा गया है। हे स्वस्वरूपमें स्थित रहनेवाले चिद्घन ! आपको प्रणाम है ॥ ५९ ॥

हे श्रीरामजी, आदि और अन्तसे शून्य विशाल स्फटिकशिलाके अन्तराल-की नाईं निबिड़ जो चिद्घन है, उसके सदृश स्वभाववाले आप दुःख आदि विक्रियावाले नहीं हैं, यह निश्चय करके स्वस्थ हो जाइए। चारों ओरके विस्तारसे युक्त आपके चित्-शिलारूपी जठरमें प्रतिबिम्बित पल्लवकोशकी नाईं कल्पित मायाकी रेखा-सदृश वासनाविशेषोंमें मनकी कल्पनासे स्थित अखिल जगत्‌वाले हे श्रीरामजी, उक्त स्वरूपवाले आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६० ॥

दूसरा सर्ग समाप्त



तृतीयः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भाविभूरितरङ्गाणां पयोवृन्दमिवाऽम्बुधौ ।
या चिद्वहत्यनन्तानि जगन्त्यनघ सो भवान् ॥ १ ॥
भव भावनया मुक्तो भावाभावविवर्जितः ।
चिदात्मन्संस्थिताः क्वेव वद ते वासनादयः ॥ २ ॥
जीवोऽयं वासनादीदमिति चित्कचति स्वतः ।
इतरोक्त्यर्थयोरत्र कः प्रसङ्गोऽङ्ग कथ्यताम् ॥ ३ ॥

तीसरा सर्ग

[ब्रह्म, जीव, मन, देह एवं जगत्‌में एकताके दर्शनसे समस्त द्वैतभ्रमकी शान्ति हो जानेपर परिपूर्ण एकरूपसे स्थिति होती है, यह वर्णन]

सबसे पहले चित्स्वरूप आत्मा समस्त कल्पनाओंके प्रतिभासमें हेतु है, यों आत्माका परिचय कराते हैं—'भावि०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार समुद्रमें होनेवाले असंख्य तरङ्गोंका हेतु सामान्य जलका स्वरूप है, उसी प्रकार जो चैतन्यात्मक चित् है, वही असंख्य भुवनं वहन करती है, वह आप हैं, यानी वही आत्मा है, यों भावना कीजिए ॥ १ ॥

उक्त भावनाके अनन्तर एकमात्र द्वैतभावनाके परित्यागसे ही प्रपञ्च तथा वासनासे शून्य आत्मचैतन्यका स्वरूप अनुभवपथमें कराते हैं—'भव' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यह भाव है और यह अभाव है, इस प्रकारकी कल्पनासे शून्य होकर द्वैतभावनासे निर्मुक्त हो जाइए । हे चित्स्वरूप, बतलाइए कि आपमें वासना आदि कहाँ निवास करते हैं ? अर्थात् कहीं निवास नहीं करते, यह तात्पर्य है ॥ २ ॥

आत्मस्वरूपका परिचय हो जानेपर जीव, वासना और जगत् यह जो विभाग है, वह चित्‌का ही एक काल्पनिक भेद है, उसका पृथक् अस्तित्व अनुभवमें आ नहीं सकता, यों कहते हैं—'जीवोऽयम्' इत्यादिसे ।

महातरङ्गगम्भीरभासुरात्मचिदर्णवः ।
रामाभिधोर्मिस्तिमितः समः सौम्योऽसि व्योमवत् ॥ ४ ॥
यथा न भिन्नमनलादौष्ण्यं सौगन्ध्यमम्बुजात् ।
कार्ष्ण्यं कज्जलतः शौक्ल्यं हिमान्माधुर्यमिक्षुतः ॥ ५ ॥
आलोकश्च प्रकाशाङ्गादनुभूतिस्तथा चितेः ।
जलाद्वीचिर्यथाऽभिन्ना चित्स्वभावात्तथा जगत् ॥ ६ ॥
चितो न भिन्नोऽनुभवो भिन्नो नाऽनुभवादहम् ।
न मत्तो भिद्यते जीवो न जीवाद्भिद्यते मनः ॥ ७ ॥

हे प्रिय श्रीरामचन्द्रजी, यह जीव है, यह वासना है, इस प्रकारकी जो प्रसिद्धि होती है, वह स्वतः चित्‌की ही होती है, अतः असत् शब्द और असत् अर्थ—इन दोनोंकी आपत्ति ही चिद्रूप वस्तुमें कैसे हो सकती है ? यह बतलाइए ॥ ३ ॥

रामनामक ऊर्मियोंसे प्रसन्न, एकरूप, आकाशकी नाईं सौम्य, बड़ी-बड़ी सृष्टि-रूपी जललताओंसे घन तथा प्रकाशमय आत्मचैतन्यरूप समुद्र आप ही हैं। 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनाऽसौ परं ब्रह्माऽभिधीयते॥' (जिस नित्यानन्द चिदात्मामें योगी लोग निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म राम पदसे कहा जाता है) ऐसी व्युत्पत्तिवाले अन्वर्थ राम भी आप ही हैं, यों 'रामाभि-धोर्मिस्तिमित'से कहा गया है ॥ ४ ॥

अब दृश्य पदार्थ द्रष्टासे पृथक् नहीं है, इसकी द्रष्टाके धर्मरूपताके उप-पादनमुखसे सिद्धि करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार अग्निसे उष्णत्व भिन्न नहीं है, कमलसे सौगन्ध्य भिन्न नहीं है, कज्जलसे श्यामरूप भिन्न नहीं हैं, बरफसे शुक्लरूप भिन्न नहीं है, इक्षुसे माधुर्य भिन्न नहीं है, तेजसे प्रकाश भिन्न नहीं है, चितिसे वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य भिन्न नहीं है, जलसे तरङ्ग भिन्न नहीं है, उसी प्रकार चित्स्वभाव ब्रह्मसे जगत् भिन्न नहीं है ॥ ५, ६ ॥

अध्यास-क्रमके उद्घाटन द्वारा प्रतिपादित अर्थ स्पष्टरूपसे बतलाते हैं—'चितो' इत्यादिसे ।

चितिसे (मूलाधिष्ठान ब्रह्मसे) अनुभव भिन्न नहीं है, अनुभवसे (माया-

मनसो नेन्द्रियं भिन्नं पृथग्देहश्च नेन्द्रियात् ।
न शरीराज्जगद्भिन्नं जगतो नाऽन्यदस्ति हि ॥ ८ ॥
एवं प्रवर्तितमिदं महच्चक्रमिदं चिरम् ।
न च प्रवर्तितं किञ्चिन्न च शीघ्रं च नो चिरम् ॥ ९ ॥
स्ववेदनमनन्तं च सर्वमेवमखण्डितम् ।
विद्यते व्योमनि व्योम न कस्मिंश्चिन्न किञ्चन ॥ १० ॥
शून्यं शून्ये समुच्छूनं ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहितम् ।
सत्यं विजृम्भते सत्ये पूर्णं पूर्णमिव स्थितम् ॥ ११ ॥
रूपालोकमनस्कारान्कुर्वन्नपि न किञ्चन ।
ज्ञः करोत्यनुपादेयान्न ज्ञस्यैव हि कर्तृता ॥ १२ ॥

वृत्तिमें आरूढ़ चिदात्मा 'अहम्' से (व्यष्टि-समष्टिरूप अहंकारसे) भिन्न नहीं है, 'अहम्'से जीव भिन्न नहीं है, जीवसे मन भिन्न नहीं है, मनसे इन्द्रिय भिन्न नहीं है, इन्द्रियोंसे देह भिन्न नहीं है, शरीरसे (व्यष्टि-समष्टि देहसे) जगत् भिन्न नहीं है, जगत्से भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है ॥ ७ , ८ ॥

श्रीरामजी, प्रस्तुत यह दृश्यमान जगत्-रूपी चक्र चितिने ही स्वरूपभ्रमसे अध्यासपरम्परया प्रवृत्त किया है, परमार्थ दृष्टिसे तो कुछ भी स्वल्प या दीर्घ कालसे प्रवृत्त नहीं किया है ॥ ९ ॥

भद्र, यथार्थमें तो यह सब कुछ अनन्त विभागवर्जित स्वचैतन्यरूप आकाश ही अपनेमें विद्यमान है और कुछ भी दूसरा नहीं है ॥ १० ॥

उसकी निरतिशय परिपूर्णरूपताका ही भङ्गिभेदोंसे निरूपण करते हैं—'शून्यम्' इत्यादिसे ।

शून्यमें शून्य बढ़ा है, ब्रह्ममें ब्रह्म बढ़ा हुआ है, सत्यमें सत्यका ही प्रकाशन हो रहा है और पूर्णमें पूर्णकी नाईं अवस्थित है ॥ ११ ॥

अनुपादेय बुद्धिसे बाह्य इन्द्रियों और मनके व्यापारोंको कर रहा भी ज्ञानी कुछ भी नहीं करता, इसलिए असलियतमें उसमें कर्तृता है नहीं ॥ १२ ॥

यदुपादेयबुद्ध्या च तद् दुःखाय सुखाय ते ।
भावाभावेन नाऽऽदेयमकर्तृ सुखदुःखयोः ॥ १३ ॥
यथा नानाऽप्यनानैव खं खे खानीति वाग्गणः ।
सार्थकोऽप्यतिशून्यात्मा तथाऽऽत्मजगतोः क्रमः ॥ १४ ॥
अन्तर्व्योमामलो बाह्ये सम्यगाचारचञ्चुरः ।
हर्षामर्षविकारेषु काष्ठलोष्टसमस्थितिः ॥ १५ ॥
य एवाऽतितरां शत्रुः सत्वरं मारणोद्यतः ।
तमेवाऽकृत्रिमं मित्रं यः पश्यति स पश्यति ॥ १६ ॥

श्रीरामजी, जिन विषयोंका उपादेयबुद्धिसे ग्रहण करेंगे, वे ही आपके दुःख एवं सुखके लिए होंगे, उपादेयबुद्धि न होनेपर कुछ ग्रहणकरने योग्य नहीं रहता। जो अगृहीत रहता है, वह सुख या दुःखका उत्पादक नहीं होता, यह बात प्रसिद्ध है, इसलिए ज्ञानी पुरुषको सुख या दुःखकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १३ ॥

नानारूपसे प्रतीयमान भावोंका अभाव कैसे हो सकता है? इसपर कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे।

जिस प्रकार घट, पट, मठ आदि उपाधियोंसे अनेकरूप होता हुआ भी आकाश वास्तवमें एकरूप ही है, नानारूप नहीं है, एवं आकाशमें अनेक आकाश हैं, इस प्रकारके शब्दप्रयोग अत्यन्त शून्यार्थक होते हुए भी घट आदि उपाधियोंके कारण सार्थक होते हैं, उसी प्रकार आत्मा और जगत्‌के क्रमके विषयमें समझना चाहिए ॥ १४ ॥

भद्र, आप भीतरसे आकाशकी नाईं निर्मल, बाहरसे अपने वर्णाश्रमानुकूल सुन्दर आचरणोंमें निरत एवं हर्ष और अमर्षके सम्पादक विकारोंकी सन्निधिमें काष्ठ और लोष्टके सदृश स्थितिवाले हो जाइए ॥ १५ ॥

शत्रुके शरीरमें भी अपनी आत्मरूपता होनेसे अपने शरीरके सदृश वहाँपर भी आत्मज्ञानीको स्वाभाविक प्रीति होती है, यह बतलाते हैं—'**य एवा०**' इत्यादिसे।

जो तत्क्षण मारनेके लिए उद्यत अत्यन्त ही कठोर शत्रु है, उसे स्वाभाविक प्रियतम मित्रके रूपमें जो देखता है, वही यथार्थमें देखनेवाला है यानी आत्मज्ञानी है ॥ १६ ॥

समूलकाषं कषति नदीतट इव द्रुमम् ।
यः सौहृदं मत्सरं च स हर्षामर्षदोषहा ॥ १७ ॥
रागद्वेषविकाराणां स्वरूपं चेन्न भाव्यते ।
ततः सन्तोऽप्यसद्रूपाः सेविता अप्यसेविताः ॥ १८ ॥
यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १९ ॥
यन्नाऽस्ति तस्य सद्भावप्रतिपत्तिरुदाहृता ।
मायेति सा परिज्ञानादेव नश्यत्यसंशयम् ॥ २० ॥

उसीसे हर्ष-अमर्ष दोषकी निवृत्ति होती है, ऐसा कहते हैं—'**समूल०**' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार तटवर्ती वृक्षको नदी वेगसे मूलोच्छेदनपूर्वक उखाड़कर फेंक देती है, इसी प्रकार जो महात्मा सौहार्द और मात्सर्यको वेगसे समूल उखाड़कर फेंक देता है, वही हर्ष और अमर्षरूपी दोषोंका विनाश कर सकता है, दूसरा नहीं ॥ १७ ॥

भद्र, राग-द्वेष और उनके कार्यभूत विकारोंके स्वरूपका (तत्त्वका) यदि विचार नहीं किया जाता, तो राग-द्वेषशून्यरूपसे प्रसिद्ध महात्मा भी राग-द्वेष युक्त ही है —ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि राग-द्वेषका तत्त्व जाने बिना उनके मूलका उच्छेद न हो सकनेके कारण उनको फिर राग-द्वेषकी प्रसक्ति हो सकती है, उसका निवारण नहीं किया जा सकता, अतः ऐसे महात्माओंकी सेवा करना भी असेवा ही है यानी वृथा है ॥ १८ ॥

तब राग-द्वेषका स्वरूप क्या है ? अहंकार । अतः अहङ्कारका विनाश करनेपर राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायगी, इस आशयसे गीता-वाक्यका दृष्टान्तरूपसे उद्धरण देते हैं—'**यस्य**' इत्यादिसे ।

जिस महात्माको देह आदि अनात्म पदार्थोंमें अहंभावना नहीं होती, और जिसकी बुद्धि राग-द्वेष आदिसे युक्त नहीं रहती, वह महात्मा इन लोकोंका विनाश भले ही कर डाले, तथापि वह न विनाशकर्ता है और न विनाशजन्य दोषसे आक्रान्त ही होता है ॥ १९ ॥

अहङ्कारका तत्त्व अज्ञान ही है, उसकी निवृत्ति तो आत्माके ज्ञानसे

निःस्नेहदीपवच्छान्तो यस्याऽन्तर्वासनाभरः ।
तेन चित्रकृतेनेव जितं ज्ञेनाऽविकारिणा ॥ २१ ॥
यस्याऽनुपादेयमिदं समस्तं
पदार्थजातं सदसद्दशासु ।
न दुःखदाहाय सुखाय नैव
विमुक्त एवेह स जीव एव ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैक्यप्रतिपादनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥



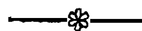
हो जायगी, इस आशयसे अज्ञानमें 'माया' शब्दकी प्रसिद्धि बतलाते हुए कहते हैं—**'यन्नाऽस्ति'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जिसका त्रिकालमें अस्तित्व है नहीं, उसकी व्यावहारिकताका ज्ञान करानेके लिए 'माया' शब्दका प्रयोग किया गया है। वह माया एकमात्र आत्मज्ञानसे ही निश्चित विनष्ट हो जाती है ॥ २० ॥

जिसका तैल आदि स्नेहसे शून्य दीपककी नाईं अनन्त वासनासमूह विनष्ट हो चुका है, उसने सब रागादिके ऊपर विजय पा ली—ऐसा समझना चाहिए। तब क्या वह विजय सत्य है ? नहीं, ऐसा कहते हैं—'चित्रकृतेन' से। यथार्थमें जय-विजय भी काल्पनिक हैं, जिस प्रकार चित्रमें लिखित शत्रुके सिरका छेदन कर रहा चित्रित राजा अपने शत्रुपर विजय पाता है, उसी प्रकार अविकारी ज्ञानी भी विजय पाता है ॥ २१ ॥

जिस महापुरुषको ये समस्त भोग्यपदार्थ सत्-असत् अवस्थाओंमें (आविर्भाव-तिरोभावकी अवस्थाओंमें, वैभव-दारिद्र्य-अवस्थाओंमें या अध्यारोप-अपवाद दशाओंमें)—मिथ्या अथवा तत्त्वतः आत्मरूप होनेके कारण सदा प्राप्त होनेसे अनुपादेय होकर—उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति-प्रयुक्त दुःख-दाह एवं सुखके हेतु नहीं होते, वह जी रहा भी असलियतमें मुक्त ही है ॥ २२ ॥

तीसरा सर्ग समाप्त



चतुर्थः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

मनो बुद्धिरहङ्कार इन्द्रियादि तथाऽनघ ।
अचेत्यचिन्मयं सर्वं क्व ते जीवादयः स्थिताः ॥ १ ॥
एकेनैवाऽऽत्मना दत्ता नानातेयं महात्मना ।
यथैकेनैव चन्द्रेण तिमिराप्पात्रदर्पणैः ॥ २ ॥
भोगतृष्णाविषावेशो यदैवोपशमं गतः ।
तदैवमस्तमज्ञानमान्ध्यं ध्वान्तक्षयादिव ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग

[अन्य बाह्य दृष्टियोंका निरासकर तथा आत्मदृष्टिमें सुस्थिर बनाकर श्रीरामचन्द्रजीसे महाराज वसिष्ठजीका संशयनिवृत्त्यर्थ पूछना, यह वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीकी प्रत्यग्-दृष्टिका उद्घाटन करनेवाले महर्षि वसिष्ठजी पहले आध्यात्मिक मन आदि पदार्थोंमें अनुगत, अखण्ड अद्वैत चैतन्यको दिखलाते हुए जीव आदि भेदके बाधका अनुभव कराते हैं—'**मनो**' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे पापशून्य श्रीरामजी, मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रिय आदि सब कुछ विषयशून्य एकमात्र चित्स्वरूप ही है, ऐसी स्थितिमें आपके जीव आदि कहाँ रहेंगे ? ॥ १ ॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं—'**एकेनैवा०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, एकमात्र महात्मा आत्माने ही अपनी सत्ताके संसर्गाध्याससे यह नानारूपता ऐसे प्राप्त कराई है, जैसे अकेला चन्द्रमा तिमिर (नेत्रका रोगविशेष), जलपात्र और दर्पणोंके साथ सम्बन्धविशेषसे नानारूपता प्राप्त कराता है ॥ २ ॥

मन आदिमें अनुगत प्रत्यक्-तत्त्वके एकमात्र अपरोक्ष साक्षात्कारसे ही उसमें विश्रान्ति लेनेवाले महात्माकी बाह्यार्थ-भोगकी तृष्णा चूर-चूर हो जाती है, तृष्णाके चूर हो जानेपर सम्पूर्ण बाह्य वस्तुओंमें अनुगत सन्मात्रका भी प्रत्यगात्माके अभेदरूपसे स्वतः ही भान होनेके कारण बाह्य अध्यासका हेतुभूत अज्ञान भी नष्ट हो जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'**भोग०**' इत्यादिसे ।

अध्यात्मशास्त्रमन्त्रेण तृष्णाविषविषूचिका ।
क्षीयते भावितेनाऽन्तः शरदा मिहिका यथा ॥ ४ ॥
मौर्ख्ये क्षीणे क्षतं विद्धि चित्तं राम सबान्धवम् ।
विलीनाम्बुधरे व्योम्नि जाड्यं शाम्यत्यविघ्नतः ॥ ५ ॥
अचित्तत्वं गते चित्ते क्षीयते वासनाभ्रमः ।
हारमुक्तासमावेशश्छिन्ने तन्ताविवाऽनघ ॥ ६ ॥
रघुनाथ विघाताय शास्त्रार्थं भावयन्ति ये ।
कृमिकीटत्वयोग्याय चेतसा संमिलन्ति ते ॥ ७ ॥

भद्र, उस प्रकार प्रत्यगात्माके साक्षात्कारसे जब भोग-तृष्णारूपी विषका आवेश विनष्ट हो जाता है, तब अज्ञान उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार अन्धकारके नष्ट हो जानेपर चक्षुकी अन्धता (विषयप्रकाशनमें असामर्थ्य) नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

भली प्रकार विचारित अध्यात्मशास्त्ररूपी विचारसे तृष्णाविषरूपी महामारी ऐसे क्षीण हो जाती है, जैसे शरत्कालसे पाला क्षीण हो जाता है ॥ ४ ॥

श्रीरामजी, जैसे आकाशमें मेघके शान्त हो जानेपर शैत्य अनायास नष्ट हो जाता है, वैसे ही मूर्खताका (अज्ञानका) विनाश हो जानेपर सपरिवार चित्त अनायास नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

हे पापरहित श्रीरामजी, जैसे सूत्रके टूट जानेपर हारके मोतियोंका सन्निवेश नष्ट हो जाता है, वैसे ही चित्तके अचित्तरूप हो जानेपर वासनाभ्रम नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

इस प्रकार समस्त वेदान्त शास्त्रके रहस्यभूत आत्मदृष्टिका उद्घाटन कर अब उससे विपरीत शास्त्रार्थके विघातक दर्शनकी निन्दा करते हैं—'**रघुनाथ**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, मेरे द्वारा बतलाये गये उपर्युक्त शास्त्रीय रहस्यकी उपेक्षाकर जो पुरुष उसके विनाशके लिए विपरीतरूपसे भावना करते हैं, वे कृमि, कीट आदि रूपताके हेतुभूत पापके लिए राग आदि दोषोंकी उत्पादक बुद्धिके साथ अपना सम्बन्ध करते हैं—ऐसा समझना चाहिए ॥ ७ ॥

नवतामरसाकारकान्तलोचनलोलता ।
शान्ते मौर्ख्येऽक्षता वाते चलता सरसो यथा ॥ ८ ॥
स्थिरतामुपयातोऽस्मि भावाभावविवर्जितः ।
पदे परमविस्तारे नभसीव प्रभञ्जनः ॥ ९ ॥
मन्ये मद्वचनैर्बोधमागतोऽसि रघूद्वह ।
विगताज्ञाननिद्रोऽन्तर्नृपतिः पटहैरिव ॥ १० ॥
सामान्ये च लगन्त्येव जने कुलगुरोर्गिरः ।
अत्युदारमतौ राम न लगन्ति कथं त्वयि ॥ ११ ॥

उस दुर्बुद्धिका, जिसका आगेके व्यवहित सर्गमें निरूपण होनेवाला है, प्रतीक-द्वारा उदाहरण दे रहे महाराज वसिष्ठजी अज्ञानक्षयसे उसका क्षय होता है, यों बतलाते हैं—'**नव०**' इत्यादिसे ।

जैसे वायुके शान्त हो जानेपर तालावकी चंचलता नष्ट हो जाती है, वैसे ही अज्ञानके नष्ट हो जानेपर स्त्री आदिके शरीरोंमें दुर्बुद्धिसे कल्पित नवीन कमलके सदृश मनोहर लोचनोंकी चंचलता नष्ट हो जाती है ॥ ८ ॥

अब दर्शित प्रत्यगात्मदृष्टिमें हेतुओंसे श्रीरामचन्द्रजीकी स्थिरता ताड़कर महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं—'**स्थिरता०**' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे विस्तृत आकाशमें प्रभञ्जन वायु स्थिरता प्राप्त किये रहता है, वैसे ही आप भावाभावकी कल्पनाओंसे निर्मुक्त होकर अत्यन्त विस्तृत परम पदमें स्थिरता प्राप्त किये हुए हैं ॥ ९ ॥

हे रघूद्वह, अब मैं यह मानता हूँ कि आप मेरे वचनोंसे अज्ञाननिद्राका त्यागकर आत्मज्ञानरूपी प्रबोध ऐसे प्राप्त किये हुए हैं, जैसे राजा बन्दिजनोंके वाद्यविशेषोंसे निद्रामुक्त होकर जाग्रत् दशा प्राप्त करता है ॥ १० ॥

अब अपने उपदेशकी सफलता देखकर महर्षि श्रीरामजीकी और अपनी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—'**सामान्ये**' इत्यादिसे ।

हे भद्र, जनसाधारण मनुष्योंमें भी अपने कुलगुरुके वचन लग जाते हैं—यानी ज्ञान पैदा कर देते हैं, तब आपके सदृश उदार (विशाल) बुद्धिवाले मनुष्योंमें वे क्यों न लगें—यानी उनसे प्रतिपादित अर्थका ज्ञान क्यों न हो जाय ! ॥ ११ ॥

यत्रोपादेयवाक्यत्वं भावितं स्वेन चेतसा ।
मद्वचोऽन्तर्विशत्युच्चैस्तप्ते क्षेत्रे यथा पयः ॥ १२ ॥

वयमिह हि महानुभाव नित्यं
कुलगुरवो भवतां रघूद्वहानाम् ।
मदुदितमिदमाशु धार्यमार्य
शुभवचनं हृदि हारवत्त्वयेति ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
चित्ताभावप्रतिपादनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



श्रीरामजी, चूँकि आपने अपनी बुद्धिसे मुझमें उपादेयवाक्यता और आप्ततमता-का निश्चय कर लिया है, अतः मेरे वचन उस प्रकार आपके हृदयके अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार तप्त क्षेत्रमें जल प्रविष्ट हो जाता है ॥ १२ ॥

अब महाराज वसिष्ठजी स्वकीय कुलपूज्यत्व और माननीयशासनत्वकी प्रसिद्धि करते हुए फलमें पर्यवसित अपने उपदिष्ट अर्थका स्मरणमुखेन धारण करना चाहिए, यों श्रीरामभद्रके प्रति विधान करते हैं—'वयमिह' इत्यादिसे ।

हे महानुभाव श्रीरामजी, चूँकि मैं रघुकुलका उद्वहन करनेवाले आप लोगोंका सदासे कुलगुरु हूँ, इसलिए आपको मेरे द्वारा कहे गये शुभ वचनोंको बारबार दृढ़ निश्चय कर हृदयमें, हारकी नाईं, धारण करना चाहिए ॥ १३ ॥

चौथा सर्ग समाप्त



पञ्चमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अहो अहं गतश्चित्त्वं भवद्वाक्यार्थभावनात् ।
शान्तं जगज्जालमिदमग्रस्थमपि नाथ मे ॥ १ ॥
परामन्तः प्रयातोऽस्मि परमात्मनि निर्वृतिम् ।
दीर्घावग्रहसन्तप्तं वृष्टयेव वसुधातलम् ॥ २ ॥
शाम्यामि शीतलाकारः सुखं तिष्ठामि केवलम् ।
प्रसादमनुयातोऽहं सरो निर्वारणं यथा ॥ ३ ॥
सम्यक्प्रसन्नमखिलं दिङ्मण्डलमिदं मुने ।
यथाभूतं प्रपश्यामि निर्नीहारमिवाऽधुना ॥ ४ ॥

पाँचवाँ सर्ग

[मोक्षात्मक उत्तम सुखमें विश्रान्ति प्राप्त कर लेनेवाले प्रबुद्ध श्रीरामचन्द्रजीका गुरु महाराजके सामने सविस्तर अपने अनुभवका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, आपके द्वारा उपदिष्ट वाक्योंके अनुसन्धानसे मैंने चैतन्यरूपता (चिदेकरसपूर्ण आत्मरूपता) प्राप्त कर ली, यह जगत्-रूपी जाल सामने रहते भी विलीन हो गया ॥ १ ॥

जैसे चिरकालसे चले आ रहे वर्षाप्रतिबन्धसे (ग्रीष्मादिसे) सन्तप्त भूमितल वृष्टिसे शान्त हो जाता है, वैसे ही मैं आपके द्वारा की गई उपदेश-वृष्टिसे भीतर अत्यन्त शान्त हो गया हूँ ॥ २ ॥

भगवन्, मैं अब एकमात्र उत्तम शान्तिका अनुभव कर रहा हूँ और शान्त आनन्दित होकर सुखपूर्वक स्थित हूँ । विक्षुब्ध करनेवाले हाथियोंसे रहित सरोवर जिस प्रकार प्रसन्न रहता है, वैसे ही मैं प्रसन्नता प्राप्त कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

हे मुने, अब मुझे कुहरेसे शून्य दिङ्मण्डलकी नाईं भली प्रकार प्रसन्न यह समस्त जगत् यथार्थभूत सन्मात्रस्वरूप प्रतीत हो रहा है ॥ ४ ॥

जातोऽस्मि गतसन्देहः शान्ताशामृगतृष्णिकः ।
रागनीरागनिर्मुक्तो मृष्टजङ्गलशीतलः ॥ ५ ॥
आत्मनैवाऽन्तराऽऽनन्दं तत्प्राप्तोऽस्म्यन्तवर्जितम् ।
रसायनरसास्वादो यत्र नाथ तृणायते ॥ ६ ॥
अद्याऽहं प्रकृतिस्थोऽस्मि स्वस्थो
ऽस्मि मुदितोऽस्मि च ।
लोकारामोऽस्मि रामोऽस्मि
नमो मह्यं नमोऽस्तु ते ॥ ७ ॥
ते संशयास्ताः कलनाः सर्वमस्तं गतं मम ।
रात्रिवेतालसंसारः प्रभात इव भास्करे ॥ ८ ॥
निर्मले हृदि विस्तीर्णे सम्पन्ने हिमशीतले ।
मनो निर्वृतिमायातं सरसी शरदीव मे ॥ ९ ॥

भगवन्, मैं सन्देहसे निर्मुक्त हो गया हूँ, मेरी आशारूप मृगतृष्णा विलीन हो गई है, विषयसंसर्ग और उसके विरोधी वैराग्य वृत्तियोंसे रहित हो गया हूँ तथा कुहरे और धूलिसे शून्य शरत्कालीन जङ्गलकी नाईं स्वच्छ हो गया हूँ ॥ ५ ॥

हे नाथ, मैं अपने आपसे ही अविनाशी उस आनन्दको प्राप्त हुआ हूँ, जहाँ-पर अमृतका रसास्वाद भी तृणके सदृश नीरस होकर उपेक्षणीय हो जाता है ॥६॥

आज मैं अपने पारमार्थिक स्वभावमें स्थित हूँ, स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ, लोक जहाँ विश्रान्ति करते हैं, उस सुखका स्वरूपभूत मैं हूँ, अतएव मैं अन्वर्थ राम हूँ, अन्वर्थ रामस्वरूपको तथा उसके दर्शक आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ७ ॥

भगवन्, मेरे वे संशय, वे सब कल्पनाएँ (भ्रान्तियाँ) उस प्रकार अस्तंगत हो गईं, जिस प्रकार रात्रिमें बालककी भ्रान्तिसे कल्पित वेतालका संचरण प्रभातका उदय होनेपर शान्त हो जाता है ॥ ८ ॥

हृदयके निर्मल, विस्तीर्ण और हिमकी नाईं शीतल हो जानेपर, शरत्-कालमें महान् सरोवरके सदृश, मेरा अन्तःकरण विक्षेपवर्जित सुखको प्राप्त हुआ ॥ ९ ॥

कलङ्क आत्मनः कस्मात्कथं चेत्यादिसंशयः ।
नूनं निर्मूलतां यातो मृगाङ्काग्रे यथा तमः ॥ १० ॥
सर्वमात्मैव सर्वत्र सर्वदा भाविताकृतिः ।
इदमन्यदिदं चाऽन्यदित्यसत्कलना कुतः ॥ ११ ॥
कोऽभवं प्रागहं तादृक् तृष्णानिगडयन्त्रितः ।
अन्तराऽऽत्मानमेवेति विहसामि विकासवान् ॥ १२ ॥
आ इदानीं स्मृतं सम्यग्यथैष सकलोऽस्म्यसौ ।
यस्त्वद्वागमृतापूरस्नातेनाऽयमहं स्थितः ॥ १३ ॥
अहो नु विततां भूमिमधिरूढोऽस्मि पावनीम् ।
इहस्थ एव यत्राऽर्को न पातालमिव स्थितः ॥ १४ ॥

चिदेकरस आत्मामें अज्ञान आदि कलङ्क किस निमित्तसे आये, वे स्वप्रकाश आत्मामें किस तरह रह सकते हैं ? वे असङ्ग अपरिच्छिन्न आत्माको कैसे आवृत कर सकते हैं ? कूटस्थ आत्माको सांसारिक विकारोंका अनुभव कैसे ? इत्यादि संशय उसके हेतु अज्ञानके विनाशसे निश्चितरूपसे विनष्ट हो गये ॥ १० ॥

सदा स्फुरणाकार आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है, सब कुछ इस प्रकारके आत्माका ही स्वरूपभूत है, यह दूसरा है, यह तदपेक्षया दूसरा है इत्यादि असत् कल्पनाएँ कहांसे आईं ? ॥ ११ ॥

भगवन्, अब ज्ञानी होकर मैं अनुभूयमान सर्वधर्मातीत आत्माको ही छोड़कर दूसरा पहले उस प्रकारकी तृष्णारूपी बेडियोंसे नियन्त्रित कौन था, यों स्मरण कर हँसता हूँ ॥ १२ ॥

अहा ! आपके अमृतप्रवाहोंसे स्नान किया यह मैं परमार्थरूपसे जिस प्रकार-का था, वह सब मैं ही हूँ । इस प्रकार स्मरण करता हूँ ॥ १३ ॥

अहो, मैं यहीं रहकर किसी अपरिच्छिन्न ब्रह्मलोककी भूमिपर अधिरूढ हो गया हूँ, जहाँपर सूर्य पातालमें स्थितकी नाईं अत्यन्त अधःस्थितकी तरह नहीं रहता, कार्य ब्रह्मलोकसे सूर्य अधःस्थित होता है, न कि परब्रह्मलोकसे । 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि श्रुतियाँ भी इस अर्थकी पोषक हैं ॥ १४ ॥

मह्यं सत्तामुपेताय भावाभावभवार्णवात् ।
नमो नित्यं नमस्याय जयाम्याऽऽत्मात्मनाऽऽत्मनि ।। १५ ।।

अनुभववशतो हृदब्जकोशे
स्फुटमलितां समुपागतेन नाथ ।
तव वरवचसेह वीतशोकां
चिरमुदितां च दशामुपागतोऽस्मि ।। १६ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे राघवविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ।। ५ ।।



मैं भावाभावरूप संसार समुद्र तैरकर उसके पारभूत सर्वाधिष्ठान सन्मात्ररूप ब्रह्मको प्राप्त कर चुका हूँ, चूँकि मैं अपने आपसे अपनी महिमामें सबसे बढ़-चढ़कर विद्यमान हूँ, अतः सदा सबके नमस्कारयोग्य मत्स्वरूप आत्माको नमस्कार है ।। १५ ।।

हे स्वामिन्, अपने हृदयकमलके कोशमें भ्रमरवत् सुस्थिर हुए आपके सुन्दर विस्पष्ट वचनामृतोंसे मैं यहींपर यानी इसी देश और कालमें स्वकीय अनुभववश शोकशून्य, चिरकालसे सदा उदित और मुदित जीवन्मुक्त दशा प्राप्त कर चुका हूँ ।। १६ ।।

पाँचवाँ सर्ग समाप्त



षष्ठः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
भेदमभ्युपगम्याऽपि शृणु बुद्धिविवृद्धये ।
भवेदल्पप्रबुद्धानामपि नो दुःखिता यथा ॥ २ ॥
यस्याऽज्ञानात्मनोऽज्ञस्य देह एवाऽऽत्मभावना ।
उदितेति रुषैवाऽक्षरिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ३ ॥

छठा सर्ग

[देह और आत्माका विवेक, देहमें आत्मदर्शनसे दुःख तथा अङ्गनाओंके सङ्गसे मूढोंके मोहकी अभिवृद्धि—इन विषयोंका वर्णन]

उक्त रीतिसे यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी भलीप्रकार प्रबुद्ध हो चुके थे, तथापि दूसरे श्रोताओंके वैसे ही ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए प्रवृत्त हो रहे भगवान् वसिष्ठजी महाराज कहे जानेवाले देह और आत्माके विवेक आदिके श्रवणके लिए श्रीरामजीको भी अनुकूल करते हुए कहते हैं—'**भूय एव**' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, अब फिर भी आप मेरे उत्तम वचनोंका श्रवण कीजिए, जिन्हें मैं उपदेशके तात्पर्यविषय निरतिशयानन्दरूप आत्माके अनुभवरूपी प्रीति-भाजन आपसे सब जनोंके हितके लिए कहता हूँ ॥१॥

श्रोता, श्रवणकरानेवाला, श्रोतव्य आदि भेद बाधित होनेसे मेरी श्रवणमें प्रवृत्ति कैसे होगी या उससे फल क्या होगा ? इसपर कहते हैं—'**भेद०**' इत्यादिसे ।

हे भद्र, बाधितानुवृत्तिन्यायसे भेदका स्वीकार कर बोधकी अभिवृद्धिके लिए आप श्रवणमें प्रवृत्ति कीजिए । अल्प ज्ञानवालोंकी भी इससे संसारिता नहीं होगी—यानी आपके ज्ञानकी वृद्धि और अल्प प्रबुद्धोंका उद्धार श्रवणका फल है ॥ २ ॥

सबसे पहले इन्द्रियोंपर विजय पानेकी सामर्थ्य श्रोताओंमें न होनेके कारण उन इन्द्रियों द्वारा आकृष्ट हो रहे मनकी पूर्णात्मामें प्रतिष्ठा कैसे होगी ? इस

यस्य ज्ञानात्मनो ज्ञस्य सत्येवाऽऽत्मनि संस्थितिः ।
सन्तुष्टचैवाऽक्षसुहृदो न घ्नन्ति तमनिन्दितम् ॥ ४ ॥
पदार्थे स्फुरतो यस्य न स्तुतिर्निन्दनादृते ।
स देहं देहदुःखार्थमादत्ते केन हेतुना ॥ ५ ॥
नाऽऽत्मा शरीरसम्बन्धी शरीरमपि नाऽऽत्मनि ।
मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा ॥ ६ ॥

जिज्ञासाको इङ्गितोंसे ताड़कर 'यस्त्वविज्ञानवान् भवति' तथा 'यस्तु विज्ञानवान् भवति'* इन दो श्रुतियोंके द्वारा प्रतिपादित मार्गसे उक्त जिज्ञासाका क्रमशः परिहार करते हैं—'**यस्य**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामजी, जिस अज्ञानी पुरुषको अज्ञानवश देहमें ही आत्मभावना उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुषको देहात्मभावनाके अपराधसे उत्पन्न अत्यन्त क्रोधसे इन्द्रियाँ शत्रु होकर पराजित कर देती हैं ॥ ३ ॥

जिस ज्ञानी पुरुषकी ज्ञानवश त्रिकालमें अबाधित एकमात्र आत्मामें ही स्थिति रहती है, उस अनिन्दित पुरुषको आत्मदर्शनोपकार-जनित सन्तोषसे इन्द्रियाँ मित्र बनकर विनष्ट नहीं करतीं, किन्तु ज्ञानकी अभिवृद्धिके अनुकूल आचरणसे उसकी रक्षा करती हैं ॥ ४ ॥

व्यवहार कर रहे जिस ज्ञानी पुरुषको दोषदर्शनके कारण भोग्य पदार्थोंमें सर्वदा कुत्साके सिवा प्रशस्तपनकी बुद्धि उत्पन्न होती ही नहीं, वह पुरुष देह-प्रयुक्त दुःखके लिए आत्मरूपसे देहका किस हेतुसे ग्रहण करेगा, ग्रहण करनेमें कोई हेतु नहीं है, यह अभिप्राय है ॥ ५ ॥

अब देह और आत्माकी एकताके भ्रमके निरासके लिए युक्तियाँ बतलाते हैं—'**नाऽऽत्मा**' इत्यादिसे ।

---

* 'यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥'

जो अज्ञानी पुरुष अवशीभूत मनसे युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उस प्रकार वशमें नहीं रहतीं, जिस प्रकार दुष्ट घोड़े सारथिके वशमें नहीं रहते । जो ज्ञानी पुरुष सदा वशीभूत मनसे युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ उस प्रकार वशमें रहती हैं, जिस प्रकार उत्तम घोड़े सारथिके वशमें रहते हैं ।

सर्वैर्भावविकारैस्तु नित्योन्मुक्तस्त्वलेपकः ।
नाऽऽत्माऽस्तमेति भगवन्न चोदेति सदोदितः ॥ ७ ॥
जडस्याऽज्ञस्य तुच्छस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकोपलस्याऽस्य यद्भवत्यस्तु तत्तथा ॥ ८ ॥
आदत्ते तत्कथं नित्यं चिन्मयत्वं सदोदितम् ।
ययोरेकपरिज्ञाने जडतैवाऽपरस्थिता ॥ ९ ॥

श्रीरामजी, जैसे प्रकाश और अन्धकार एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण हैं, वैसे ही शरीर और आत्मा एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण हैं, इसीसे आत्मा न शरीरका सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्मामें रहता है—यानी जड़ता और चेतनताके कारण अत्यन्त विरुद्ध देह और आत्माका जब आधार-आधेयभाव आदि सम्बन्ध ही दुर्लभ है, तब तादात्म्यसम्बन्धकी तो कथा ही क्या ? यह भाव है ॥ ६ ॥

इसीप्रकार निर्विकारिता और सविकारिता आदिसे जनित विरोधके कारण भी सम्बन्धकी प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—'सर्वै०' इत्यादिसे ।

समस्त भावविकारोंसे नित्यमुक्त एवं निर्लिप्त सर्वविध ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा न अस्त होता है और न कभी उदित ही होता है, क्योंकि वह सर्वदा उदित-स्वभाव ही है ॥ ७ ॥

जड़, अज्ञानी, तुच्छ, कृतघ्न (आत्मासे अपनी प्रसिद्धि पाकर उसीको दुःखभागी बनानेके कारण कृतघ्न) तथा विनाशस्वभाव इस तुच्छ शरीररूपी पत्थरका जो कुछ भी होनेवाला हो वह भले ही हो, इससे आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ८ ॥

तब देहमें ही चैतन्यरूप धर्म मान लीजिए, इससे कोई विरोध तो होता है नहीं, इस प्रकारकी आशङ्काका उद्भावन कर कहते हैं—'आदत्ते' इत्यादिसे ।

यह शरीर उस सदा उदितस्वभाव अविनाशी चैतन्यरूपत्वका परिग्रह कैसे कर सकता है ? क्योंकि चित् और जड़ इनमें से किसी एकका परिज्ञान करनेमें भी एक जगह तो (परिशेषात् शरीरमें ही) अवश्य ही जड़ता आ जायगी । तात्पर्य यह है कि देह चिन्मय है, ऐसा परिज्ञान तभी हो सकता

तयोः कीदृग्विधा भूता समानसुखदुःखता ।
यौ समौ समधर्माणौ न कदाचन तौ कथम् ॥ १० ॥
यावप्यसक्तावन्योन्यं मिथः सन्नमितौ कथम् ।
कथं स्थूलोऽणुरूपः स्यादणुः स्थूलः कथं भवेत् ॥ ११ ॥
एकोदये द्वितीयस्य न सत्ता दिनरात्रयोः ।
ज्ञानं नाऽज्ञानतामेति च्छाया नाऽऽयाति तापताम् ॥ १२ ॥

है, जब जड़भिन्न चेतनरूपताका भलीप्रकार परिचय हो जाय, उसका ठीक-ठीक परिचय होनेपर तो देहमें ही जड़ता सिद्ध हो जाती है, ऐसी स्थितिमें देह अपने स्वभावविरुद्ध चिद्रूपताका कैसे ग्रहण करेगा ? ॥ ९ ॥

यदि शङ्का हो कि आत्माके मानस दुःखोंका उपभोग करनेपर शरीरमें कृशता उत्पन्न हुई देखी जाती है एवं देहमें ताड़न आदि करनेपर आत्मामें दुःखका अनुभव होता है, ऐसी स्थितिमें शरीर और आत्मा दोनोंमें समान सुख-दुःखोंके अनुभवसे उनका तादात्म्य क्यों न माना जाय ? तो इसपर कहते हैं—'**तयोः**' इत्यादिसे ।

जो आत्मा और देह अग्नि और लोहपिण्डकी नाईं अविविक्त अतएव एक दूसरेके धर्मोंका एक दूसरेमें संक्रमण होनेके कारण समानधर्मवाले प्रतीत होते हैं तथा विविक्त होनेपर तो उस प्रकारके नहीं प्रतीत होते, उनकी किस प्रकार समानसुखदुःखरूपता वास्तवमें सत्य कही जा सकती है ? ॥ १० ॥

किञ्च, असङ्ग एवं परम सूक्ष्म आत्माके साथ स्थूल शरीरका सम्बन्ध जब हो ही नहीं सकता, तब अभेदकी तो बात ही क्या ? यों कहते हैं—'**यावप्य०**' इत्यादिसे ।

जो एक दूसरेसे अत्यन्त विविक्त यानी सर्वथा विलक्षण पदार्थ हैं, वे एक दूसरेसे तादात्म्यरूपसे या धर्मसंक्रमणद्वारा कैसे मिल सकते हैं, क्योंकि जो मेरु आदि स्थूलपदार्थ हैं, वे परमाणुस्वरूप कैसे हो सकते हैं या परमाणु आदि अणुभूत पदार्थ मेरु आदि स्थूलपदार्थ-स्वरूप कैसे हो सकते हैं ? ॥ ११ ॥

परस्पर उपघाती स्वभावसे युक्त होनेसे भी ऐक्यकी प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—'**एकोदये**' इत्यादिसे ।

सद्ब्रह्म नाऽसद्भवति विचित्रास्वपि दृष्टिषु ।
मनागपि न संश्लेपः सर्वगस्याऽपि देहिनः ॥ १३ ॥
देहेन देहगस्याऽपि कमलस्येव वारिणा ।
मनागपि न संश्लेपो ब्रह्मणो देहसत्तया ॥ १४ ॥
तद्गतस्याऽप्यतद्वृत्तेरम्बरस्येव वायुतः ।
जरामरणमापच्च सुखदुःखे भवाभवौ ।
मनागपि न सन्तीह तस्मात्त्वं निर्वृतो भव ॥ १५ ॥
स्थितो देहतयाऽप्युच्चैः पातोत्पातमयो भ्रमः ।
दृश्यते केवलं ब्रह्मण्यप्सु वीचिचयो यथा ॥ १६ ॥

एक दूसरेकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण दिन एवं रात दोनोंमें से किसी एककी सत्त्वदशामें दूसरेका जब अस्तित्व रह ही नहीं सकता, तब अन्योन्य-रूपताकी कथा ही क्या ? बस ठीक इसी प्रकार ज्ञान न अज्ञानरूप हो सकता है और अन्धकार न आतपरूप हो सकता है, दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, अतः एककी सत्तामें दूसरेकी सत्ता नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

विचित्र (विभिन्न) दृष्टियोंमें सद्रूप ब्रह्म कभी असद्रूप (देहादिरूप) नहीं हो सकता और आत्मामें अध्यस्त असत् देहादिके साथ सर्वव्यापक सद्रूप देहाधिष्ठान प्रत्यगात्माका तनिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

दृष्टान्त बतलानेके लिए प्रतिपादित अर्थका ही पुनः कथन करते हैं— 'देहेन' इत्यादिसे ।

जैसे जलमें स्थित कमलका जलसे किंचिन्मात्र सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहाधिष्ठान आत्मरूपी ब्रह्मका भी देहसत्ताके साथ स्वल्पमात्र भी सम्बन्ध नहीं हो सकता । भगवान् भाष्यकारने कहा भी है—'यत्र हि यदध्यासस्तत्कृतेन गुणेन दोषेण वा अणुमात्रेणाऽपि स न संबध्यते' । जिस अधिष्ठानमें जिस पदार्थका अध्यास होता है, वह अध्यस्त पदार्थके गुण या दोषसे तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता ॥ १४ ॥

जैसे निर्लिप्तस्वभाव होनेके कारण लेपक पदार्थसे विलक्षण स्वभाववाले वायु आदि लेपक पदार्थोंमें प्रविष्ट हुए भी आकाशका वायुसे शोष, कम्प, धूलिसम्बन्ध आदि दोषोंका सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देह आदिसे इस

आत्मसत्तोपजीवित्वादात्माऽनुभवतीह हि ।
देहयन्त्रं पयःसत्तामात्रादूर्मिमिव स्थितम् ॥ १७ ॥
आधारस्पन्दनेनाऽङ्ग यथा क्षोभो न वा भवः ।
सूर्यादेः प्रतिबिम्बस्य तथा देहेन देहिनः ॥ १८ ॥
सम्यग्दृष्टे यथाभूते वस्तुन्येवाऽभिजायते ।
स्थितिर्देहमयोऽज्ञानविभ्रमो लयमेति च ॥ १९ ॥
देहदेहवतोर्ज्ञानाद्यथाभूतार्थयोः स्थितिः ।
सत्तासत्तात्मिकोदेति दीपादीपपदार्थयोः ॥ २० ॥
असम्यग्दर्शिनो देहस्याऽऽवर्तपरिवर्तनैः ।
अन्तःशून्याः स्फुरन्तीह ते मोहार्जुनपादपाः ॥ २१ ॥

आत्मामें जरा, मरण, आपत्तियाँ, सुख, दुःख, संसार, संसारविनाश आदि कुछ भी नहीं होता, अतः आप सुखी हो जाइए। यद्यपि देहमें आत्मदृष्टिसे जन्म, मरण आदि भ्रम उत्पन्न होते हैं, तथापि, जलमें तरङ्गोंकी नाईं, वे केवल ब्रह्ममात्रस्वरूप हैं अतिरिक्त नहीं, आत्माकी सत्तासे उपजीवी होनेके कारण, अपनेमें स्थित देहयन्त्रका स्वयं आत्मा ही, एकमात्र अपनेमें स्थित ऊर्मिका जलकी नाईं अनुभव करता है ॥ १५-१७ ॥

श्रीरामजी, जिसप्रकार प्रतिबिम्बके आश्रय दर्पण आदिके हिलानेपर बिम्बभूत सूर्य आदिका तनिक भी क्षोभ नहीं होता, वैसे ही देहादिसे चिदाभासके क्षुब्ध होनेपर भी उसके साक्षी बिम्बभूत चैतन्यका तनिक भी क्षोभ नहीं होता ॥ १८ ॥

आत्माका भलीप्रकार साक्षात्कार हो जानेपर परमार्थ सत्यरूप आत्मामें ही स्थिति हो जाती है और अज्ञानप्रयुक्त भ्रम नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

अन्धकार और प्रदीप पदार्थकी नाईं परस्पर उत्थान स्वभाववाले देह और देहाधिष्ठान आत्मा इन दो निकृष्ट और परमार्थरूप पदार्थोंका वास्तव स्वरूप जान लेनेपर देहकी असत्तात्मिका और उसके साक्षी आत्माकी सत्तात्मिका स्थिति प्रकट हो जाती है ॥ २० ॥

अब अज्ञानीके जगत्-दर्शन-पद्धतिकी निन्दा करनेके लिए कहते हैं— 'असम्यग्दर्शिनो' इत्यादिसे ।

अपर्यालोचितात्मार्था अपरामृष्टसंविदः ।
स्पन्दन्ते चेतितोन्मुक्तास्तृणवन्मूढबुद्धयः ॥ २२ ॥
अनास्वादितचित्तत्वाज्जडाः सर्वे खवायुभिः ।
यत्र तत्रोदिताक्रान्ता रटन्ति प्रस्फुरन्ति च ॥ २३ ॥
तृणकाष्ठादिकं सर्वमाहरन्ति त्यजन्ति च ।
सशब्दस्पर्शरूपाढ्यास्तरङ्गतरलाङ्गकाः ॥ २४ ॥
जडाः सन्तः स्फुरद्रूपा भृशं स्फाररसासवाः ।
सविहारागमापाया महौघा इव दुर्धियः ॥ २५ ॥

जिस पुरुषको आत्माका साक्षात्कार नहीं हुआ है, उस पुरुषको देहके आविर्भाव और तिरोभावके द्वारा निरवधि (असंख्य) वे मोहरूपी अर्जुनवृक्ष प्रस्फुरित होते ही रहते हैं ॥ २१ ॥

आत्माके अर्थका (स्वरूपका) भलीप्रकार पर्यालोचन जिन्होंने नहीं किया है, अतएव विज्ञानस्पर्शसे शून्य मूढ़बुद्धि लोग चैतन्यसे निर्मुक्त होकर तृणकी नाईं स्फुरित होते हैं, अचेतन देहरूप ही चेतन हैं, ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता, यह तात्पर्य है ॥ २२ ॥

यदि देह आदि अचेतन हैं, तो वे किस तरह संभाषण करते हैं और तृण, काष्ठ आदिके आहरण आदिसे किस तरह व्यवहार करते हैं ? इसपर कहते हैं—'अनास्वादित॰' इत्यादिसे ।

वे देह आदि सब जड़ पदार्थ हैं, क्योंकि उनमें चैतन्यरूपताका कुछ भी रस नहीं है, अतः वे सब जड़ होनेपर भी मुख, नासिका आदि छिद्रों तथा उन छिद्रोंमें संचरणशील वायुओंके द्वारा जिस-जिस प्रदेशमें, कीचकवत् उत्पन्न हुए नोदनसे आक्रान्त होते हैं, उस-उस प्रदेशमें स्फुरण और संचरण करते हैं ॥ २३ ॥

तृण, काष्ठ लाते हैं, और उनका परित्याग भी करते हैं, वे तरङ्गोंके सदृश अतिचपल अवयवोंसे युक्त तथा शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयोंके लाभसे अपने आपको कृतार्थ समझते हैं ॥ २४ ॥

देह आदि स्वयं जड़ ही हैं, तथापि चेतन-से होकर भोगाभिनिवेश-

सर्वेषामेव चैतेषां स्थितैवैषा चिदव्यया ।
किन्त्वबोधवशादस्याः परां कृपणतां गता ॥ २६ ॥
श्वाससन्ततयो ह्यज्ञाल्लोहकारदृतेर्यथा ।
स्पन्दमात्रार्थमेवाऽऽशु दृश्यन्ते नाऽर्थकारिणः ॥ २७ ॥
तर्जनं गर्जनं मूढाद्धनुर्दण्डगुणादिव ।
श्रूयते मरणायैव चिद्बोधपरिवर्जितम् ॥ २८ ॥
फलभोगोऽपि यो मूढात्तदरण्यतरोरिव ।
तस्मिन्विश्रमणं यत्तच्छिलाफलहके यथा ॥ २९ ॥

रूपी मदिरावत् उन्मादक रससे घूर्णित रहते हैं, वे दुर्बुद्धिसे भरे और नदियोंकी तरह विहार, आगम और अपाय आदि चेष्टाओंसे युक्त रहते हैं ॥ २५ ॥

तब क्या उनमें आत्मचैतन्य है ही नहीं ? नहीं, आत्मचैतन्य तो है, परन्तु अबोधके कारण व्यर्थ-सा हो गया है, ऐसा कहते हैं—**'सर्वेषाम्'** इत्यादिसे ।

इन सभीमें अविनाशी यह चैतन्य रहता ही है, परन्तु इसका भली प्रकार परिचय न होनेके कारण इसने कार्पण्य प्राप्त कर लिया है ॥ २६ ॥

उन मूढोंसे एकमात्र मूर्खतावश श्वाससन्तति ऐसे शीघ्र-शीघ्र निकलती रहती है, जैसे लोहारकी भातीसे वायुसन्तति निकलती रहती है, वह श्वास-सन्तति केवल जठराग्निके स्पन्दनके लिए ही है और किसी अर्थके लिए नहीं, क्योंकि मौर्ख्य अनर्थका करनेवाला है ॥ २७ ॥

उसप्रकार मूर्खतावश उत्पद्यमान परतर्जन या गर्जन चैतन्यका ज्ञापक है, किन्तु धनुषकी डोरीके चढ़ानेकी नाईं मरण आदि अनर्थोंका ही कारण है, यह कहते हैं—**'तर्जनम्'** इत्यादिसे ।

मूढ़तावश उत्पन्न होनेवाला चैतन्यज्ञानसे शून्य परतर्जन या गर्जन धनुषके दण्डमें लगी हुई डोरीके सदृश केवल मरणके ही हेतु होते हैं ॥ २८ ॥

मूढ़से होनेवाला जो फललाभ है, वह जंगलके तरुकी तरह है और उसमें जो विश्रान्ति है, वह तप्त पाषाण-शिलाके ऊपर विश्रान्तिके सदृश ही है ॥ २९ ॥

तेन यत्सङ्गमः स स्यात्स्थाणुना भुवि जङ्गले ।
तदर्थं यत्कृतं किञ्चित्तद्व्योम लकुटैर्हतम् ॥ ३० ॥
तस्मिन्यदधमे दत्तं तत्त्यक्तं किं न कर्दमे ।
तेन सार्धं कथा यत्तत्कौलेयाह्वानमम्बरे ॥ ३१ ॥
अज्ञानमापदां निष्ठा का हि नाऽऽपदजानतः ।
इयं संसारसरणिर्वहत्यज्ञप्रमादतः ॥ ३२ ॥
अज्ञस्योग्राणि दुःखानि सुखान्यपि दृढानि च ।
पुनः पुनर्निवर्तन्ते युगं प्रत्यचला इव ॥ ३३ ॥
शरीरधनदारादावास्थां समनुबध्नतः ।
इदं दुर्दुःखमज्ञस्य न कदाचन शाम्यति ॥ ३४ ॥

मूर्खके साथ की जानेवाली संगति उस प्रकारकी होगी, जिस प्रकार अरण्य भूमिमें स्थाणुके (छिन्न वृक्षमूलके) साथ की जानेवाली सङ्गति होती है । और उसके लिए जो कुछ उपकृत होगा, वह भी आकाशको दण्डेसे मारनेके तुल्य ही होगा ॥ ३० ॥

श्रीरामजी, इस अधम मूर्खको जो दिया गया है, वह क्या कीचड़में फेंका गया नहीं समझना चाहिए ? और उसके साथ की गई जो कथा है, वह क्या आकाशमें कुत्तेका आह्वान (भूकना) नहीं है ? ॥ ३१ ॥

अज्ञानीकी यह निन्दा अज्ञानकी हेयता प्रदर्शित हो जाय, इसलिए दयावश की गई है, न कि अज्ञानियोंके प्रति द्वेषवश की गई है, इस आशयसे कहते हैं—'अज्ञान०' इत्यादिसे ।

अज्ञान ही आपत्तियोंका आश्रय यानी स्थान है । भला बतलाइए तो सही कि कौन-सी आपत्तियाँ अज्ञानीको प्राप्त नहीं होतीं ? इस संसाररूप सरणिका जो प्रवाह है, वह एकमात्र अज्ञानीके प्रमादसे ही चल रहा है ॥ ३२ ॥

अज्ञानीको उग्र दुःख और सांसारिक क्षणिक सुख भी बार-बार आते और जाते रहते हैं, उनका उस प्रकार उल्लंघन नहीं कर सकते, जिस प्रकार हल या रथ पर्वतका उल्लंघन नहीं कर सकते ॥ ३३ ॥

देह, धन, स्त्री आदिमें आसक्ति रखनेवाले अज्ञानीका यह दुष्ट दुःख कभी भी शान्त नहीं होता ॥ ३४ ॥

अनात्मनि शठे देहे आत्मभावमुपेयुषि ।
असद्बोधमयी माया कथं नामाऽपि नश्यति ॥ ३५ ॥

दुर्भावस्वञ्चितधियो वस्तुन्यन्धस्य दुर्मतेः ।
अवस्तुनि सनेत्रस्य लुठतश्च पदे पदे ॥ ३६ ॥

विषमुत्पद्यते चन्द्रादामोदः कुसुमादिव ।
कण्टकश्चैति पयसो दूर्वाङ्कुर इव स्थलात् ॥ ३७ ॥

देहशाल्मलिभोगिन्यो मनोमातङ्गशृङ्खलाः ।
अज्ञस्याऽऽशाः प्रसूयन्ते सुकृष्टादिव शालयः ॥ ३८ ॥

नरकश्रीरिहाऽज्ञानं दुष्कृतव्यालवेष्टितम् ।
परिपालयति प्रीता मयूरी वारिदं यथा ॥ ३९ ॥

इस अनात्मभूत, शठ देहमें आत्मभाव प्राप्त करनेवाले पुरुषमें असत्यबोधमयी माया क्या किसी प्रकार भी नष्ट हो सकती है ? अर्थात् किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकती ॥ ३५ ॥

दुष्ट भावोंसे भली प्रकार व्याप्त हुई बुद्धिसे युक्त, आत्मरूप वस्तुके विषयमें अन्ध तथा अनात्मभूत असदर्थोंमें दृष्टियुक्त पद-पदपर गिर रहे दुर्मति पुरुषको चन्द्रसे भी विष उस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार कुसुमसे आमोद उत्पन्न होता है तथा क्षीरसे कण्टक ऐसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थलसे दूबका अङ्कुर उत्पन्न होता है ॥ ३६, ३७ ॥

मनरूपी हाथीकी शृङ्खलाभूत देहरूप सेमलके वृक्ष-कोटरमें रहनेवाली सर्पिणी-रूपी आशाएँ अज्ञानी पुरुषोंमें राग आदि सांपोंको उस प्रकार उत्पन्न करती हैं, जिस प्रकार उत्तम रीतिसे जोते गये खेतसे कृषीवल धान उत्पन्न करते हैं । अथवा मनोरूपी मातङ्गकी शृङ्खलाभूत आशाएँ दुःख उत्पन्न करती हैं, यों आन्तर और बाह्य विषयोंके भेदकी कल्पना कर दो रूपकोंकी योजना करनी चाहिए ॥ ३७ ॥

श्रीरामजी, पापरूपी सर्पोंसे वेष्टित अज्ञानी पुरुषकी नरकरूपी लक्ष्मी उस प्रकार यहाँ प्रतीक्षा करती है, जिस प्रकार मयूरी मेघकी प्रतीक्षा करती है ॥ ३९ ॥

नेत्रलोलालिनीलोला स्फुरिताधरपल्लवा ।
मूर्खार्थमेव विकसत्यङ्गना विषवल्लरी ॥ ४० ॥
अज्ञस्य हृदि सद्भूमावेव पेलवपल्लवः ।
विद्यते पतगच्छायो रागविद्रुमदुर्द्रुमः ॥ ४१ ॥
तरुच्छदलसद्धूमः शस्त्रजालरदोल्मुकः ।
ज्वलति द्वेषदावाग्निर्हृन्मरौ कायतापदः ॥ ४२ ॥
अज्ञमात्सर्यमनसि परापवदनच्छदा ।
ईर्ष्याकमलिनी चिन्तापद्पदा विलसत्यलम् ॥ ४३ ॥
प्रतिजन्मप्रमृष्टोग्रदुःखकल्लोलविभ्रमम् ।
जडमेव समभ्येति पुनर्मरणवाडवः ॥ ४४ ॥
जन्म बाल्यं व्रजत्येतद्यौवनं युवता जराम् ।
जरा मरणमभ्येति मूढस्यैव पुनः पुनः ॥ ४५ ॥

चपल नेत्ररूपी भ्रमरियोंसे युक्त, प्रस्फुरित अधररूपी पल्लवोंवाली अङ्गना-रूपी विषलता केवल मूर्खोंके लिए ही विकसित होती है ॥ ४० ॥

अज्ञानी पुरुषके मनरूपी उर्वराभूमिमें ही विरल पल्लवोंसे युक्त, अनर्थहेतु पापादिरूप पक्षियोंकी छायाभूत रागरूपी दुष्ट वृक्ष उत्पन्न होता रहता है ॥ ४१ ॥

अज्ञानीके मनरूपी जलशून्य अरण्यमें कम्पित हो रहे ओष्ठरूपी तरुपल्लवोंपर प्रकाशमान निःश्वासरूपी धूओंसे युक्त तथा शस्त्रसमूहकी नाईं कटकटायमान दाँतरूपी उल्मुक (लुआठी) से युक्त, शरीरको संताप देनेवाला द्वेषरूप दावानल मानो भस्मीभूत होता रहता है ॥ ४२ ॥

अज्ञानीके मात्सर्यरूप जलसे परिपूर्ण मनमें दूसरेकी निन्दारूपी पल्लवोंसे युक्त, चिन्तारूपी भ्रमरोंसे शोभित ईर्ष्यारूपी कमलिनी भली प्रकार विलास करती है ॥ ४३ ॥

मरणरूपी वडवाग्नि अज्ञपुरुषके प्रति ही, जिसने कि प्रतिजन्ममें अनेक तरहके प्रतीकारोपायरूप तटके आश्रयणसे उग्र दुःखरूपी तरङ्गविभ्रमोंका परिमार्जन किया है, बार-बार, समुद्रकी नाईं, प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

जन्म आदि भी उत्तरोत्तर अनर्थोंकी ही प्राप्ति कराते हैं, ऐसा कहते हैं—'जन्म' इत्यादिसे ।

जगज्जीर्णारघट्टेऽस्मिन्नूज्ज्वा संसृतिरूपया ।
मज्जनोन्मज्जनैरज्ञो यन्त्रे कलशतां गतः ॥ ४६ ॥
यदेव गोष्पदापूरं ज्ञधियः पेलवं जगत् ।
तदेवाऽपारपर्यन्तमगाधममहात्मनः ॥ ४७ ॥
धियोऽदृश इवाऽज्ञस्य दीर्घं जठरकोटरात् ।
न प्रयान्त्यपरं पारं विहङ्ग्यः पञ्जरादिव ॥ ४८ ॥
भावमात्रपरावृत्तवासनाभारनाभयः ।
स्पष्टीकर्तुं न शक्यन्ते जन्मचक्रस्य नेमयः ॥ ४९ ॥

अज्ञ पुरुषका ही जन्म पुनः-पुनः बालपन प्राप्त करता रहता है, बालपन बारबार यौवन प्राप्त करता रहता है, यौवन बारबार वार्धक्य प्राप्त करता रहता है, और वार्धक्य बारबार मरण प्राप्त करता रहता है ॥ ४५ ॥

अज्ञानी पुरुष ही इस जगत्‌रूपी जीर्ण घटीयन्त्रमें (रहँटमें) संसाररूपी रज्जुसे बँधा हुआ मज्जन और उन्मज्जन द्वारा कलशरूपता प्राप्त करता रहता है ॥ ४६ ॥

जो यह जगत् ज्ञानी महात्माकी बुद्धिसे तुच्छ और गायके खुरमात्र यानी स्वल्प जलाशयरूप प्रतीत होता है, वही अज्ञानीकी बुद्धिसे अगाध और असीम प्रतीत होता है ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार पक्षिणियाँ पिंजड़ेसे बाहर निकल नहीं पातीं, वैसे ही उदरभरणमें अति-आसक्तिरूपी बन्धनसे बँधे अन्धपुरुषकी नाईं अज्ञ पुरुषकी बुद्धियाँ दीर्घ-संसाररूपी समुद्रके पार नहीं जा सकतीं ॥ ४८ ॥

क्यों उनकी बुद्धियाँ संसारसागरका पार प्राप्त नहीं कर सकतीं, इसपर कहते हैं—'भाव०' इत्यादिसे ।

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' । (स्वयंभूने इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनाई हैं, अतः बाहर देखता है, भीतर अन्तरात्माको नहीं देखता) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार एकमात्र बाह्य विषयोंमें लगी हुई वासनाओंके भारसे आक्रान्त हुए हृदयरूपी नाभिसे युक्त हो रही विषयरूपी कीचड़में फँसी हुई जन्मचक्रकी इन्द्रियरूप नेमियोंका अज्ञानी द्वारा उद्धार कर शोधन नहीं किया जा सकता ॥ ४९ ॥

अज्ञेनेन्द्रियगृध्रार्थं रागान्मृगयुणा तनुः ।
संसारारण्य आस्तीर्णा दूरादामिषपिण्डवत् ॥ ५० ॥
भूतशैलमयी दृष्टिर्मृन्मांसलवमात्रिका ।
मोहात् संलक्ष्यते चित्रपदार्थानन्तरञ्जनः ॥ ५१ ॥
जयत्यनल्पसङ्कल्पकल्पनाकल्पपादपः ।
अज्ञानात् प्रसृता यस्माज्जगत्पर्णपरम्पराः ॥ ५२ ॥
यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते विशन्ति विलसन्ति च ।
विचित्ररचनोपेता भूरिभोगिविहङ्गमाः ॥ ५३ ॥
यत्र जन्मानि पर्णानि कर्मजालं च कोरकम् ।
फलानि पुण्यपापानि मञ्जर्यो विभवश्रियः ॥ ५४ ॥

अज्ञानी व्याधने इन्द्रियरूपी गीधोंके लिए (यानी शिकारके योग्य श्येन आदिके लिए) रागवश (मृगयाके व्यसनसे) अपनी देहपरम्पराको संसाररूपी अरण्यमें दूर तक यानी सर्वत्र और सर्वदा आमिषपिण्डकी नाईं फैलाया है ॥ ५० ॥

'आमिषपिण्डवत्' यहाँपर वतिप्रयोग भ्रान्तिदृष्टिसे भेदका अभाव होनेपर सादृश्यका अभाव होनेसे किया गया है, इस आशयसे कहते हैं—'भूत०' इत्यादिसे ।

वास्तवमें मांसके लवमात्र और मृत्तिकाके लवमात्र रूप मनुष्य, पशु, मृग आदि प्राणियोंसे तथा हिमालय, विन्ध्याचल, मलय आदि पर्वतोंसे प्रचुर दृष्टियाँ मोहसे (तत्त्वके अज्ञानसे जनित कल्पनासे) लक्षित होती हैं ॥ ५१ ॥

असीमसङ्कल्पकल्पनारूपी कल्पवृक्ष सबसे बढ़-चढ़कर है, क्योंकि अत्यन्त असत् भी पदार्थोंसे सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति-सामर्थ्य वह रखता है, अज्ञानवश उसीसे जगत्-रूपी पत्तोंकी परम्परा विस्तृत हुई है ॥ ५२ ॥

उस कल्पवृक्षपर चित्र-विचित्र रचनाओंसे युक्त, भोगोंमें अत्यन्त आसक्त विहङ्गम रहते, प्रकाशते, प्रविष्ट होते और विलास करते हैं ॥ ५३ ॥

उस कल्पवृक्षपर जन्म ही पल्लव हैं, कर्मोंका समूह ही कलिका है, पुण्य-पाप ही फल हैं और विभवसम्पत्तियाँ ही मञ्जरियाँ हैं ॥ ५४ ॥

अज्ञानेन्दूदयेनैता योषिदोषधयः स्फुटम् ।
संसारवनखण्डेऽस्मिन् परां शोभामुपागताः ॥ ५५ ॥

जन्मजालकलापूर्णस्तमःकालकृतोदयः ।
शून्योदितात्मा दोषेशो जयत्यज्ञानचन्द्रमाः ॥ ५६ ॥

अज्ञानेन्दोः प्रसादेन वासनामृतशालिना ।
तर्पिताशाचकोरेण चित्तरत्नरसैषिणा ॥ ५७ ॥

राजहंसविलासिन्यः प्रालेयशिशिराङ्गिकाः ।
भान्ति कान्ताकुमुद्वत्यो लोललोचनषट्पदाः ॥ ५८ ॥

धम्मिल्लतिमिरोल्लासा लसत्पाण्डुपयोधराः ।
रामारजन्यो राजन्ते तन्मौर्ख्येण विजृम्भितम् ॥ ५९ ॥

अज्ञानरूपी चन्द्रमाके उदयसे ही इस संसाररूपी अरण्यके भागमें स्त्रीरूपी लताएँ विस्पष्टरूपसे उत्तम शोभा प्राप्त कर रहीं हैं ॥ ५५ ॥

अज्ञानमें उक्त चन्द्रत्वका उपपादन करते हैं—'**जन्म०**' इत्यादिसे ।

विवेकरूपी सूर्यके अस्तसमयमें उदित होनेवाला, जन्मसमूहरूपी कलाओंसे परिपूर्ण, निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें प्रकाशित हो रहा दोषोंका स्वामी अज्ञानरूपी चन्द्रमा ही संसारका सबसे बढ़ कर हेतु है ॥ ५६ ॥

वासनारूपी अमृतसे युक्त, आशारूपी चकोर पक्षियोंका पोषण करनेवाले चित्तरूपी आकाशमणिके (सूर्यके) रसको (अमृतको) चाहनेवाले अज्ञानरूपी चन्द्रमाके प्रसादसे ही राजहंसकी नाईं विलासयुक्त, हिमालयकी नाईं शीतल अङ्गोंसे युक्त तथा चपल नेत्ररूपी भ्रमरोंसे समन्वित कान्तारूपी कुइयाँ प्रकाशित होती हैं ॥ ५७, ५८ ॥

सुन्दर केशरचनारूपी तिमिरके उल्लाससे युक्त तथा सुशोभित श्वेत पयोधरोंसे युक्त रमणीरूपी रात्रियाँ जो राजित होती हैं, वह द्रष्टाओंके मौर्ख्यसे ही विजृम्भित है यानी मौर्ख्य ही रमणीशोभाकारसे परिणत होता है, वास्तवमें वहाँ कुछ भी शोभन पदार्थ नहीं है ॥ ५९ ॥

आपातमात्रमधुरत्वमनर्थसत्त्व-
माद्यन्तवत्त्वमखिलस्थितिभङ्गुरत्वम् ।
अज्ञानशाखिन इति प्रसृतानि राम
नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
मोहमाहात्म्यं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



अज्ञान ही समस्त अनर्थोंका हेतु है, यों बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—'आपात०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कि विषयोंमें केवल ऊपर-ऊपरसे दिखाई पड़नेवाली मधुरता, अनर्थपर्यवसायिता, आद्यन्तवत्ता, देशतः परिच्छिन्नता और समस्त अवस्थाओंमें नश्वरता प्रसिद्ध है, वे सब अज्ञानरूपी वृक्षके ही फल हैं, चूँकि उस प्रकारके नानाकृति अनेकविध फल बीजाङ्कुरपरम्परया अज्ञान-वृक्षसे जगदाकार-रूपतः फैले हुए हैं, इसलिए उनके मूलभूत अज्ञानका ही उच्छेद कर देना चाहिए ॥ ६० ॥

छठा सर्ग समाप्त



सप्तमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यन्मुक्तावलिता रत्नभूषिता भान्ति योषितः ।
मदेन्दावुदिते क्षुब्धकामक्षीरार्णवोर्मयः ॥ १ ॥
सौवर्णाम्भोजकोशस्थलोलालिपटलश्रियम् ।
धारयन्ति दृशः स्त्रीणां कपोलतलदोलिताः ॥ २ ॥
उद्यानवनखण्डेषु भूमौ कृतमदा मधौ ।
हृद्याः सुमनसो भान्ति दासा इव मनोभुवः ॥ ३ ॥
क्रव्यादगृध्रगोमायुकौलेयकवलाङ्किकाः ।
स्त्रियः समुपमीयन्ते चन्द्रचन्दनपङ्कजैः ॥ ४ ॥

सातवाँ सर्ग

[अनर्थ आदिमें काम आदिके द्वारा होनेवाली रम्यतायुक्त अर्थरूपता अज्ञानकी ही विभूतियाँ हैं— इसका सविस्तर वर्णन]

सबसे पहले महाराज वसिष्ठजी सम्पूर्ण विवेकका अपहरण करनेवाली तथा तत्क्षण अनर्थगर्तोंमें गिरानेवाली प्रस्तुत स्त्रियाँ ही अज्ञान और कामकी महाविभूतियाँ हैं, इस आशयसे उन्हींका पहले वर्णन करते हैं—'यन्मुक्ता०' इत्यादिसे ।

मदरूपी चन्द्रके उदित होनेपर मोतियोंसे वेष्टित तथा रत्नोंसे सुशोभित स्त्रियाँ क्षुब्ध कामक्षीरार्णवकी नाईं जो दिखाई पड़ती हैं, वह केवल अज्ञानकी ही विभूति है ॥ १ ॥

कपोल-तलरूप दोलासे दोलित स्त्रियोंकी दृष्टियाँ सुवर्णमय कमलके कोशमें अवस्थित चपल भ्रमरोंके पटलकी जो शोभा धारण करती हैं, वह अज्ञानकी ही विभूति है ॥ २ ॥

वसन्तकालमें वनखण्डोंमें, वृक्षोंमें और भूमिमें कामदेवके अनुचरकी नाईं कामियोंको मद उत्पन्न करनेवाले जो सुन्दर पुष्प दिखाई पड़ते हैं, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ३ ॥

कच्चे मांसका भक्षण करनेवाले गीध, गीदड़, कुत्ता आदिके कवलके (कौलके)

सौवर्णकलशाम्भोजकलिकामातुलुङ्गवत् ।
दृश्यते स्त्रीस्तनश्रेणी रक्तपूतिसुगन्धिका ॥ ५ ॥
रसायनेन्दुनिस्यन्दमधुबिम्बासवद्रवैः ।
ओष्ठाभिधो मांसलवो लालाक्त उपमीयते ॥ ६ ॥
अल्पाल्पाष्ठीवदाकारा भुजाक्रूरास्थिशङ्कवः ।
महाबाहुलताशब्दैर्वर्ण्यन्ते कविभिः शुभैः ॥ ७ ॥
कदलीस्तम्भसम्भारसुन्दरीभिस्तथा भृता ।
कुचशोभोचितानन्दा तोरणालिर्विराजते ॥ ८ ॥
आपातमन्दमधुरा मध्ये द्वन्द्वानुबन्धिनी ।
शीघ्रावसानविरला लक्ष्मीरप्यभिवाञ्छ्यते ॥ ९ ॥

योग्य अङ्गोंवाली स्त्रियोंका चन्द्र, चन्दन और कमल से जो सादृश्य दिया जाता है, वह भी अज्ञानका ही विलास है ॥ ४ ॥

वास्तवमें रक्तपूतिगन्ध यानी लहू या पीपका दुर्गन्ध ही जिसका सुगन्ध है, ऐसी स्त्रियोंकी स्तन-श्रेणी जो लोकमें सुवर्णकलश, कमल-कुड्मल एवं बिजौरा नीबूके सदृश दिखाई पड़ती है, वह केवल अज्ञानकी ही विभूति है ॥ ५ ॥

लारसे आर्द्र ओष्ठनामक मांसका टुकड़ा जो रसायन, अमृत, मधु, बिम्ब और मद्यके साथ उपमित होता है, वह भी अज्ञानका ही विलास है ॥ ६ ॥

प्रत्येकका विभाग कर यदि देखा जाय, तो छोटे-छोटे पोरके सदृश आकार-वाले जो भुजात्मक क्रूर हड्डीरूपी बर्छियाँ हैं, उनका सुन्दर भुजलता आदि उत्तम शब्दोंसे कवि लोग जो वर्णन करते हैं, वह भी अज्ञानकी विभूति है ॥ ७ ॥

इसी प्रकार कदलीके स्तम्भयुगलरूपी जङ्घोंकी सामग्रीसे युक्त सुन्दर रमणियोंके द्वारा धारण की गई तथा स्तनरूप कलशोंकी शोभासे द्रष्टाओंके नेत्रोंको आनन्द देनेवाली तोरणपंक्ति यानी काम-मन्दिरकी तोरणमालारूप करधनी सुशोभित हो रही है, इत्यादि रूपसे कवि लोग करधनीका जो वर्णन करते हैं, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ८ ॥

आरम्भ-आरम्भमें मन्द लोगोंको अत्यन्त मधुर लगनेवाली अथवा ऊपर-ऊपरसे थोड़ी मीठी, व्ययकालमें राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंमें पर्यवसित होनेवाली

सम्प्रैति मतिर्दुःखं सुखं च शतशाखताम् ।
दुःखशाखास्तु जायन्ते नानाकर्मफलाः श्रियः ॥ १० ॥
बद्धजालघनाकाराः कारार्थमिव रज्जवः ।
दच्छदःसदृशा वाचः प्रतानगहने स्थिताः ॥ ११ ॥
सन्तता मोहमिहिका कार्यासारविसारिणी ।
यमुना प्रावृषीवैति तिमिरश्यामला चिरम् ॥ १२ ॥

तथा शीघ्र क्षयस्वभाव होने या कुछ लोगोंमें ही दिखाई पड़नेके कारण विरल-रूपताको धारण करनेवाली लक्ष्मीकी भी जो अभिलाषा की जाती है, वह भी अज्ञानका प्रभाव है ॥ ९ ॥

जो बुद्धि दुःख प्राप्त करती है, जो सुख हजारों शाखाओंके रूपमें विभक्त हो जाता है तथा जो अनेक कर्मफलरूपी श्रियाँ, जो कि दुःखरूपी शाखाओंसे विस्तृत हैं, उत्पन्न होती हैं, वह भी अज्ञानका ही प्रभाव है ॥ १० ॥

जब अनेक तरहकी लक्ष्मियाँ अज्ञानकी ही विभूतियाँ हैं, तब उक्त लक्ष्मियोंके उत्पादक काम्य कर्मोंमें प्रवृत्ति करानेवाले कर्मकाण्डके वचनोंकी भी अज्ञानविभूति-रूपता सुतरां सिद्ध ही हो जाती है, इस आशयसे कहते हैं—'बद्ध०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, कर्मकाण्डकी वाणी भी अज्ञानकी विभूति ही है । वह (कर्म-काण्डकी वाणी) काम्य कर्मोंके विस्ताररूपी जङ्गलमें रहती है, जिस प्रकार लता आतान-प्रतानसे घनाकृति रहती है, उस प्रकार यह भी अनेक फलाभिलाषाओंके आतान-प्रतानोंसे घनाकृति (निबिडाकार) रहती है । अतएव वे देवता आदिके ऋणोंसे आक्रान्त कर्मप्रधान जीवोंके कारागृहकी रक्षार्थ एक प्रकारकी रज्जुस्वरूप हैं एवं राग और चपलतासे आक्रान्त ओठके सदृश हैं । गीतामें 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादिसे इसी विषयका स्पष्टीकरण किया गया है ॥ ११ ॥

मोहवश स्वतः ही काम्य कर्मोंमें प्रवृत्त हो रहे पुरुषोंको पुनः शास्त्रसे भी प्रवृत्त कराना उसी प्रकार अनुचित है, जिस प्रकार स्वतः कुएँमें गिर रहे उन्मत्त या अन्ध-पुरुषको बलपूर्वक गिराना, इस आशयको रखकर मोहसे स्वतः प्रवृत्ति होती है, यह बतलाते हैं—'सन्तता' इत्यादिसे ।

जैसे स्वतः श्यामल, वर्षाकालमें रजसे कलुष और उसमें भी रात्रिमें अन्धकारसे

कटूकृतान्तःकरणो नानासुखविशारदः ।
वर्धते हि गतस्नेहं जन्मप्रतिविपारसः ॥ १३ ॥
व्याधूतजर्जराकीर्णजनतापर्णराजयः ।
स्वकर्मपवना वान्ति नानाऽवकररेणवः ॥ १४ ॥
कालः कवलितानन्तजगत्पक्कफलोऽप्ययम् ।
घस्मराचारजठरः कल्पैरपि न तृप्यति ॥ १५ ॥

अत्यन्त श्यामरूपताको प्राप्त हुई कालिन्दी स्वतः बहती है, वैसे ही प्रवृत्तिरूपी आसारोंसे (धारासंपात वर्षणोंसे) विस्तृत हुआ मोहरूपी कुहरा चिरकालसे स्वयं ही बह रहा है यानी पुरुषको अन्ध बनाकर विषयोंमें हठात् प्रवृत्त कराता है, यह भाव है ॥ १२ ॥

भोगमें प्रवृत्त हुए पुरुषको पुत्र, पौत्र आदि विषयोंमें रागकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती रहती है, ऐसा कहते हैं—'कटू०' इत्यादिसे ।

आपाततः अनेकविध सांसारिक सुखोंमें निपुण; परिणाममें दुःखमें पर्यवसायी; द्वेष, मात्सर्य, आदि चिन्ताका उत्पादक होनेके कारण स्नेहशून्यतापूर्वक अन्तः-करणमें कटुता पैदा करनेवाला और जन्मरूपी विपलताके पल्लवोंका, रसकी नाईं, उपचय करनेवाला राग बढ़ता रहता है ॥ १३ ॥

तदनन्तर क्रमशः पुत्र आदिका मरण होनेपर उनके वियोगकी परम्परा होती है, इस आशयसे कहते हैं—'व्याधूत०' इत्यादिसे ।

व्याधि आदिसे जरजर पुत्र आदि कुटुम्बी जनसमूहरूपी पत्तोंकी पंक्तियाँ जिन्होंने गिरायी हैं और गरदेके कणोंकी नाईं, विवेक दृष्टियोंका अपहरण करने-वाले विक्षेपविशेष जिनमें विद्यमान हैं, ऐसे दुष्कर्मपरिपाकरूपी पवन जो बहते हैं, वह भी अज्ञानका विलास ही है ॥ १४ ॥

तदनन्तर अपनी भी मृत्यु हो जाती है, इसलिए सर्वदा ही इसी प्रकार जन्मपरम्परासे मरणके मुखमें प्रवेश होता रहता है, यों कहते हैं—'काल०' इत्यादिसे ।

जिसने अनन्त जगत्‌रूपी पके फलोंको कवलित कर दिया है और जो सदा

मोहमारुतमापीय त्वचा विषमचारिणः ।
स्फुरन्तीहाऽहयश्चित्राः शीतलाचलदीप्तयः ॥ १६ ॥
चिन्तापिशाचोपहता विवेकेन्दूदयं विना ।
तमसेव निरालोका याति यौवनयामिनी ॥ १७ ॥
जिह्वा जर्जरतामेति प्राकृतानुनयज्वरैः ।
पद्मकोटरकोणस्थमपि सूत्रं हिमैरिव ॥ १८ ॥

खानेकी चेष्टा कर रहे उदरसे युक्त है, ऐसा यह काल कल्पोंतक जो तृप्त नहीं होता, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ १५ ॥

इस प्रकार परिवर्तमान अज्ञानी जीवोंका सर्परूपसे वर्णन करते हैं—'मोह०' इत्यादिसे ।

त्रिविध तापोंसे शून्य अचल ब्रह्मके प्रकाशरूपताको प्राप्त हो रहे जीव इस संसारमें एक तरहके सर्प ही हैं, क्योंकि वे मोहरूपी वायुका अपने अन्दर पूरण कर, स्थित तथा फिर-फिर पृथक् हो जानेवाली नानादेहरूपी त्वचाओंसे उपलक्षित होते हुए कुटिलगतिसे चलते-फिरते हैं । यह भी अज्ञानका विलास है ॥ १६ ॥

उनके द्वारा प्रत्येक जन्ममें प्राप्त किया जानेवाला यौवन भी --मोक्षहेतु विवेक, वैराग्य, श्रवण आदि में उपयोगी न होनेके कारण—निरर्थक ही है, इस आशयसे कहते हैं—'चिन्ता०' इत्यादिसे ।

चिन्तारूपी पिशाचोंसे उपहत, विवेकरूपी चन्द्रमाके उदयसे शून्य, अतएव अन्धकारकी तरह प्रकाश-रहित उनकी यौवनरूपा रात्रि जो निकल जाती है यानी व्यतीत हो जाती है, वह अज्ञानका ही विलास है ॥ १७ ॥

इसी प्रकार उनकी जीभ आदि इन्द्रियाँ भी व्यर्थ और प्रयोजनशून्य हैं, ऐसा दिखलाते हैं—'जिह्वा०' इत्यादिसे ।

कमलकोटरके कोनेमें अवस्थित भी सूत्र यानी कमलसूत्रसे दृढ़ अवलम्बित भी भीतरी दल जैसे हिमप्रपातोंसे जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, वैसे ही स्त्री, पुत्र आदि प्राकृत यानी पामर जनोंका क्षोभ निराकरण करनेके लिए किये गये अनेक संतापोंसे जीभ एवं अन्यान्य चक्षु आदि इन्द्रियाँ जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ १८ ॥

दुःखशोकमहाग्रन्थिः कष्टकण्टकसङ्कटः ।
सहस्रशाखतां याति दारिद्र्यदृढशाल्मलिः ॥ १९ ॥
अन्तःशून्योऽतिविध्वस्तचित्तचैत्यकृतालयः ।
मायाबहुलयामिन्यां लोभोलूको विवल्गति ॥ २० ॥
पूर्वं गृहीत्वा कर्णाभ्यां स्फुरन्ती परिनिश्चयम् ।
जराजर्जरमार्जारी यौवनाखुं निकृन्तति ॥ २१ ॥
निःसारा क्रमशः क्रान्तधराधरसमुन्नतिः ।
डिण्डीरपिण्डिकेवेयं सृष्टिरायाति पुष्टताम् ॥ २२ ॥
आभासपुष्पधवला जगत्पल्लवशालिनी ।
सत्तालता विकसिता धर्मार्थफलधारिणी ॥ २३ ॥

दुःख और शोकरूपी महान् ग्रन्थियोंसे युक्त, कष्टरूपी कण्टकोंसे आकीर्ण दरिद्रतारूपी दृढ शाल्मली वृक्ष जो हजारों शाखा-प्रशाखारूपताको प्राप्त होता है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ १९ ॥

सत्य वस्तुका अवलम्बन न होनेके कारण अन्तःशून्य (सारहीन) कोटर-युक्त, अपनी उन्नतिके भारसे विदीर्ण चित्तरूपी चैत्यवृक्षमें निवास करनेवाला लोभरूपी उल्लू जो अज्ञानरूपी कृष्ण-पक्षकी रात्रिमें विशेषरूपसे गर्जन करता है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ २० ॥

आरंभकालमें पहले कानोंके संनिहित कपोल प्रदेशका ग्रहण कर चारों ओरसे निश्चय-पूर्वक स्फुरणशील जरारूपी जरजर मार्जारी जो यौवनरूपी चूहोंका भक्षण करती है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ २१ ॥

अज्ञानसे ही दूसरी बार सृष्टिका विस्तार होता है, यह दिखलाते हैं— **'निःसारा'** इत्यादिसे ।

सारभूत वस्तुसे सदा शून्य, रचना करनेके लिए उपक्रान्त, पर्वतोंकी नाईं समुन्नत फेनकी पिण्डिकाके सदृश जो जगत्-दृष्टि दृढताको प्राप्त होती है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ २२ ॥

चिदाभासप्रकाशरूपी पुष्पोंसे उज्ज्वल, व्यावहारिक सत्यतारूपी लता, जिसमें

सुराचलमहास्थूणं चन्द्रसूर्यगवाक्षकम् ।
गगनाच्छादनं चारु ध्रियते त्रिजगद्गृहम् ॥ २४ ॥
संसारसरसि स्फारे चरन्ति प्राणषट्पदाः ।
शरीरपुष्करेष्वन्तश्चिद्रूपरसपायिनः ॥ २५ ॥
नभोमार्गमहानीलकुट्टिमैकान्तशालिनी ।
भुवनोदररम्यान्तः स्फुरत्यादित्यदीपिका ॥ २६ ॥
आशातन्तुनिबद्धाङ्गी जागती जीर्णपक्षिणी ।
स्ववासनाशलाकेऽन्तर्निबद्धेन्द्रियपञ्जरे ॥ २७ ॥
अनारतपतज्जालभूतपर्णपरम्परा ।
स्पन्दते मरुताऽऽमृष्टा संसृतिव्रततिश्चिरम् ॥ २८ ॥

जगत्‌रूपी पल्लव हैं और जो धर्म, अर्थरूपी फल धारण करती है एवं विकसित होती है, यह भी अज्ञानका विलास है ॥ २३ ॥

जिसमें बड़े-बड़े पर्वत ही स्तम्भ हैं; सूर्य, चन्द्र ही गवाक्ष हैं; गगन ही आच्छादन (खपरा या छत) है, ऐसा जगत्-त्रयरूपी घर जो स्थितिको प्राप्त होता है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ २४ ॥

अत्यन्त विस्तीर्ण संसाररूपी सरोवरमें उत्पन्न शरीररूपी पुष्करोंमें (कमलोंमें) अन्तःस्थ चिद्रूप रसका पान करनेवाले प्राणरूपी भ्रमर जो भ्रमण करते हैं, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ २५ ॥

आकाशमार्गरूपी नीलमणिसे निर्मित महान् कृत्रिम भूभागरूपी निरन्तर शोभायमान भुवनोदरमें दिव्यातिदीव्य सूर्यदीपिका जो जलती है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ २६ ॥

आशारूपी सूतसे बंधी हुई, अपनी वासनाशलाकारूप शरीरमें जो जगत्‌के अन्तर्गत जीवसमूहरूपी पक्षिणी निबद्ध है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ २७ ॥

निरन्तर पतनोंसे युक्त पृथ्वी आदि भूतरूपी पत्रपरम्परावाली सृष्टिलता जो प्राण-वायुसे कम्पित होती है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ २८ ॥

सृष्टेः कतिपयं कालं प्रहृष्टाः कुलशालिनः ।
अधःकृतोग्रनरकपङ्काः शङ्कोज्झिताः क्षणम् ॥ २९ ॥

भुक्तेन्दुखण्डकणिका नीलनीरदशैवले ।
स्वर्गमार्गसरस्यन्तः स्फुरन्ति सुरसारसाः ॥ ३० ॥

नानाफलालिमलिना वासनाजालमालिता ।
स्पन्दामोदमयी स्फीता क्रियाविकसिताऽब्जिनी ॥ ३१ ॥

वराकी सृष्टिशफरी स्फुरन्ती भवपल्वले ।
कृतान्तवृद्धगृध्रेण शठेन विनिगृह्यते ॥ ३२ ॥

तरङ्गफेनमालेव सैवाऽन्येव च भङ्गुरा ।
श्वःश्वोऽपरेन्दुलेखेव समुदेति विचित्रता ॥ ३३ ॥

स्वात्मतादात्म्यके अध्याससे जिन्होंने रक्त, मांस, मल, मूत्र आदि देहरूप उग्र नारकीय कीचड़का तिरस्कार कर दिया है, ऐसे उक्त शङ्कासे निर्मुक्त होकर 'हम कुलीन महाशय हैं' इस प्रकार अभिमान करके कुछ काल तक जो फूलकर स्थित रहते हैं, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ २९ ॥

नील मेघरूपी सेवारसे युक्त, आकाशमार्गमें स्थित स्वर्गरूपी सरोवरमें चन्द्र-खण्डकी कणिकाका उपभोग करनेवाले देवतारूपी सारसपक्षी जो प्रस्फुरित होते हैं, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ३० ॥

विविध काम्य कर्मोंके फलरूपी भ्रमरोंसे मलिन, वासनाओंके जालोंसे वेष्टित तथा स्पन्दनरूपी सुगन्धसे प्रचुर जो क्रियारूपी कमलिनी विकसित हो रही है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ३१ ॥

संसाररूपी स्वल्प जलाशयमें प्रस्फुरित हो रही सृष्टिरूपी बिचारी क्षुद्र मछलीको (सौरी नामक मछलीको) शठ कृतान्तरूपी वृद्ध गीध जो पकड़ लेता है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ३२ ॥

जलतरङ्गोंके फेनोंकी मालाकी नाईं भङ्गुर तथा एकमात्र तत्स्वरूप भी अन्यके सदृश प्रतीयमान प्रतिदिन पृथक् परिमाणवाली चन्द्रलेखाके सदृश जो सृष्टि-वैचित्र्य उदित होता है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ३३ ॥

भूरिभूतशरावाणि क्षणभङ्गानि कुर्वता ।
इदं कालकुलालेन चक्रं संपरिवर्त्यते ॥ ३४ ॥
असङ्ख्यातानि कल्पानि सञ्जातान्यचले पदे ।
जगज्जङ्गलजालानि दग्धानि युगवह्निना ॥ ३५ ॥
भावाभावैरपर्यन्तैः सुखदुःखदशाशतैः ।
वैपरीत्यं प्रयात्येवमजस्रं जागती स्थितिः ॥ ३६ ॥
क्षुब्धैर्युगपरावर्तैर्वासनाशृङ्खलोम्भिता ।
महाशनिनिपातैश्च न भग्नाऽबुद्धधीरता ॥ ३७ ॥
शतशो विद्रुतारिघ्रैर्दनुपुत्रैरभिष्टुताम् ।
भवभग्नतयामैन्द्रीं तनुं वहति वासना ॥ ३८ ॥

क्षणभरमें विनष्ट हो जानेवाले अनेक भूतरूपी सकोरोंका निर्माण कर रहा कालरूपी कुम्भकार इस संसारचक्रका जो परिवर्तन करता है, वह भी अविद्याका विलास है ॥ ३४ ॥

अचल ब्रह्मरूपी पदमें उत्पन्न सम्पूर्ण व्यवहारोंमें समर्थ असंख्य जगत्स्वरूप जङ्गलोंके जाल युगान्तरूपी अग्निसे जो दग्ध हो जाते हैं, वह भी अविद्याका प्रभाव है ॥ ३५ ॥

निरन्तर उत्पत्ति और विनाशसे, दुःख और सुखकी सैकड़ों दशाओंसे उस प्रकार जगत्स्थिति जो विपरिणामको पुनः पुनः प्राप्त होती है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ३६ ॥

इस प्रकारकी अनर्थ-परम्पराका परिज्ञान होनेपर भी अज्ञानियोंको वैराग्य क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'क्षुब्धैः' इत्यादिसे ।

यतः वासनारूपी जंजीरोंसे पूरित (बंधी) अज्ञानियोंकी दृढ़ मूर्खतारूपी धीरता क्षुभित युगोंके आवागमन तथा कठोर वज्रोंके आघातों से भी विदीर्ण नहीं होती, इसलिए अज्ञानियोंको वैराग्य नहीं होता ॥ ३७ ॥

ज्ञानसे अज्ञानका बाध होनेपर भी जो वासना अधिकारप्राप्तिके अनुकूल प्रारब्धके बलसे इन्द्र आदि शरीर, दूसरे मनुके आगमन तक, धारण करती है, उसका दूसरे किस कारणसे विनाश प्राप्त होगा ? इस आशयसे दृष्टान्त देते हैं—'शतशो' इत्यादिसे ।

विशत्यविरतं भूतसर्गपांसुपरम्परा ।
नित्यं नियतिवात्येयं कालव्यालगलान्तरम् ॥ ३९ ॥
पदार्थाम्भांसि सर्वाणि फलफेनानि सर्वतः ।
पतन्त्यविरतापातमभाववडवामुखे ॥ ४० ॥
स्फुरन्त्याकस्मिकोद्भूता विचित्रद्रव्यशक्तयः ।
स्वभावमात्रसम्पन्नाः स्पन्दश्रिय इवाऽम्भसः ॥ ४१ ॥
भूतमौक्तिकसम्पूर्णान् बृहतः सुबहूनपि ।
जगत्कलभकानत्ति कृतान्तोद्रिक्तकेसरी ॥ ४२ ॥
कुलशैलफला मेघपक्षपुञ्जाः फलामृजः ।
जायन्ते च म्रियन्ते च ध्रियन्ते च जगत्खगाः ॥ ४३ ॥

अपने पराक्रमोंसे सैकड़ों पराजित भी शत्रुओंका फिर युद्धकी अभिलाषासे पालन करनेवाली दानवपुत्रोंके द्वारा भी सब प्रकारोंसे प्रशंसित हुई इन्द्रदेह, जिसका पुनर्जन्म आदि विषयमें वेग नष्ट हो चुका है, वासना अधिकारपर्यन्त (मन्वन्तर तक) जो धारण करती है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ३८ ॥

प्राणियोंकी सृष्टिरूपी धूलिकी पंक्तिसे युक्त नियतिरूपी आँधी कालरूपी सर्पके गलेके भीतर सर्वदा प्रवाहरूपसे जो प्रविष्ट होती, वह भी अविद्याका नृत्य है ॥३९॥

विनाशरूपी वडवाग्निके मुखमें चारों ओरसे सुख-दुःखात्मक फेनोंसे युक्त समस्त पदार्थरूपी जल अविरतपातसे जो गिरते हैं, वह भी अविद्या-नटीका नृत्य है ॥४०॥

एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्मकी सत्तासे अपने स्वरूपका लाभ करनेवाली तथा अतर्कित वासनाके वैचित्र्यसे प्रकम्पित हुई चित्र-विचित्र द्रव्योंकी जो शक्तियाँ प्रस्फुरित होती हैं, वह भी मायाका विलास है ॥ ४१ ॥

प्राणीरूपी गजमुक्ताओंसे शोभित, अनन्त जगत्‌रूपी बड़े-बड़े उन्मत्त गजोंका कृतान्तरूपी प्रचण्ड सिंह जो भक्षण कर डालता है, वह भी अविद्याका प्रभाव है ॥४२॥

उपभोग्य और महान् होनेके कारण जिनके लिए महेन्द्र, मलय आदि कुलपर्वत ही फलस्थानीय हैं; नभोगति और आकृतिके सादृश्यसे मेघ ही जिनके पर हैं, ऐसे चारों ओरसे फलोंको बटोरनेवाले जगत्‌रूपी पक्षी (उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गसे निरन्तर परिभ्रमण कर रहे जगदात्मक जीवरूपी पक्षी) जो उत्पन्न होते, मृत होते और धृत यानी मरण तक जीवित रहते हैं, वह भी

चिद्भित्तौ स्पन्दशुभ्रायां रङ्गैः पञ्चभिरिन्द्रियैः ।
उन्मीलयति संसारचित्राणि विधिचित्रकृत् ॥ ४४ ॥
अजस्रगत्वरीं सर्वपरिवर्तविधायिनीम् ।
निमेषशतभागाङ्गीमसद्दुःसाधिताङ्कुराम् ॥ ४५ ॥
सूक्ष्मां कालस्य कलनां स्वसमुत्थानकारिणीम् ।
ध्यानेनैवाऽन्ववेक्ष्यैताः स्थिताः स्थावरजातयः ॥ ४६ ॥
रागद्वेषसमुत्थेन भावाभावमयेन च ।
जरामरणरोगेण जीर्णा जङ्गमजातयः ॥ ४७ ॥

अज्ञानका प्रताप है । प्रकृतमें मूल, मध्य और ऊर्ध्व भागमें क्रमशः नाग, मर्त्य और देवताओंके द्वारा महेन्द्र आदि कुलपर्वत उपभोग्य होनेके कारण फलरूपसे उत्प्रेक्षित किये गये हैं । दक्षिणायन मार्गमें धूमरूपसे और अभ्रमेघरूप आदिसे ऊर्ध्वगतिके निर्वाहक होनेके कारण मेघ परोंके रूपमें उत्प्रेक्षित किये गये हैं, यह जानना चाहिए ॥ ४३ ॥

दृष्टि-सृष्टिपक्षका अवलम्बन करके कहते हैं—**'चिद्भित्तौ'** इत्यादिसे ।

चक्षु आदि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके सम्बन्धसे अति धवल चैतन्यभित्तिमें पाँच बाह्य इन्द्रियोंके रङ्गोंसे विधातारूपी चित्रकार (दृष्टिमात्रसे सृष्टि करनेवाला द्रष्टा-रूपी चित्रकार) संसाररूपी चित्र खींचा करता है ॥ ४४ ॥

उक्त दृष्टि-सृष्टिमें स्थावर और जङ्गम पदार्थोंके अनुभवोंमें जो विशेष है, उसका स्थावर पदार्थोंमें पहले दिग्दर्शन कराते हैं—**'अजस्र०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

ये स्थावर जातियाँ—निरन्तर विनाशशील, समस्त पदार्थोंका परिवर्तन कर देनेवाली, निमेषके शतांशभागरूपी अङ्गसे युक्त, दुःखपूर्वक साधित असत्पदार्थरूप अङ्कुरसे समन्वित तथा आत्माका जगदाकाररूपसे विवर्त करनेवाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालकी कलनाका एकमात्र भीतरी ध्यानसे ही यानी बाहरके विस्पष्ट व्यवहारमें असमर्थ अनुभवसे—प्रत्यक्ष कर अवस्थित रहती हैं ॥ ४५, ४६ ॥

स्थावरोंमें विशेष बतलानेके बाद जङ्गमोंमें विशेष बतलाते हैं—**'राग०'** इत्यादिसे ।

राग-द्वेषसे उत्थित सुखदुःखात्मक जरामरणरूपी रोगसे समस्त जङ्गमजाति जीर्ण-शीर्ण हो गई है ॥ ४७ ॥

सुदुष्कृतोत्तमध्यानचारिण्यो धरणीतले ।
नियत्या नियतं कालं पीड्यन्ते कीटपङ्क्तयः ॥ ४८ ॥
क्षणेनाऽदृश्य एवेदं निगिरत्यखिलं सुखी ।
सुदुर्लक्ष्यबिलः कालव्यालो विपुलभोगवान् ॥ ४९ ॥
कालेन किञ्चिदालक्ष्य स्वशरीराकुलीकृताः ।
शीतवातातपप्रौढाः प्रोल्लसत्पुष्पदीप्तयः ।
फलप्रदाश्चरन्तीह शीलिनः श्वभ्रविग्रहाः ॥ ५० ॥

जङ्गम जातिमें भी कृमि, कीट आदिको दुःखानुभव अधिक होता है, यह उसके कारणप्रदर्शनमुखेन बतलाते हैं—'सुदुष्कृतो०' इत्यादिसे ।

भयङ्कर बड़े-बड़े पापोंके कारण एकमात्र उनके फलोंके ही उपभोगके अनुकूल ध्यान करना ही जिनका स्वभाव है, ऐसी कीटोंकी पंक्तियाँ इस जगतीतलमें नियतिके द्वारा पीड़ित होती रहती हैं ॥ ४८ ॥

'स यद्यदेवासृजत०' (उसने जिस जिसका सर्जन किया, उस उसको भक्षण करनेके लिए पकड़ लिया) इस श्रुतिके अनुसार स्थावर और जङ्गम सबमें कालभक्ष्यत्व तुल्य ही है, इसे कहते हैं—'क्षणेन' इत्यादिसे ।

कभी भी ध्यानमें न आनेवाले बिलमें रहनेवाला, अतएव अदृश्य, महान् फणाधारी या प्रचुरभोग करनेवाला कालरूपी सर्प निर्भय होकर यह समस्त जगत् क्षणभरमें ही निगल जाता है ॥ ४९ ॥

इस प्रकार स्थावर पदार्थोंमें नियत समय पर फल, पुष्प आदि परिणामका होना और अनिवार्य शीत, आतप आदिका सहना विशेष है, यह बतलाते हैं— 'कालेन' इत्यादिसे ।

जिनके शरीरका मूलभाग पृथ्वीके छिद्रमें प्रविष्ट हो गया है, ऐसे वृक्ष आदि स्थावर पदार्थ—भोगजनक किसी स्वकीय या परकीय अदृष्टको निमित्त बनाकर मनुष्य, पक्षी आदियोंके द्वारा अपने शरीरमें पीड़ित; वसन्त आदि ऋतु-विशेषोंमें विकसित कुसुमशोभासे सुशोभित तथा फलप्रद; शीत, वायु और आतपको सहनेके कारण प्रौढ़ अतएव तप, शम, दम, तितिक्षा, औदार्य आदि उत्तम स्वभावोंसे सुसम्पन्न तपस्वीकी नाईं—कालका अतिक्रमण किया करते हैं ॥ ५० ॥

पयःपटलविश्रान्तत्रैलोक्याम्भोजकोटरे ।
करोति घुंघुमं भूरि भूतभ्रमरपेटिका ॥ ५१ ॥
ब्रह्माण्डभैक्ष्यभाण्डेयं काली भगवती क्रिया ।
स्वयं दत्वैव दत्वैव भूतभिक्षां जिघृक्षति ॥ ५२ ॥
तिमिरालीककबरी इन्द्वर्कचपलेक्षणा ।
ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रादिधरागिरिवरादिका ॥ ५३ ॥
ब्रह्मतत्त्वैकपिटकालम्बमानपयोधरा ।
चिच्छक्तिमातृका स्थूला तरला घनचापला ॥ ५४ ॥

अब तीनों लोकोंकी तीन कमलोंके रूपमें कल्पना करके उसमें के प्राणियोंकी भ्रमर-समूहके रूपमें उत्प्रेक्षा करते हैं—'पयः०' इत्यादिसे ।

जलपटलमें अवस्थित त्रिलोकीरूपी कमलके कोटरमें प्राणीरूपी भ्रमरोंकी पेटिका (समूह) बारबार गुञ्जाध्वनि जो किया करती है, वह भी अविद्याका विलास है। यद्यपि पुराणोंमें यह प्रसिद्ध है कि एकमात्र पृथ्वी ही कमलके पत्तेकी नाईं जलमें स्थित है, न कि अन्तरिक्ष या स्वर्ग लोक; तथापि अन्तरिक्ष एवं द्युलोक, त्रिवृत्कृत जलके कार्य होनेके कारण, जलभागमें प्रतिष्ठित हैं ही, यह सूचन करनेके लिए 'पटल' शब्दका उपादान किया गया है ॥ ५१ ॥

अब तत्-तत् फलोंमें नियत प्राणियोंकी क्रियाको कालीके रूपमें, ब्रह्माण्डको उसके भिक्षाके पात्ररूपमें अण्डज आदि चार तरहके प्राणियोंको उसकी भिक्षामें प्राप्त द्रव्यरूपमें उत्प्रेक्षित करते हैं—'ब्रह्माण्ड०' इत्यादिसे ।

जिसके करकमलमें ब्रह्माण्डरूपी भिक्षाका पात्र है, ऐसी भगवती कालपत्नी काली पूर्वगृहीत भूतरूपी भिक्षाका अपने पति कालको पुनः-पुनः समर्पण कर दूसरी-दूसरी भूतभिक्षा ग्रहण करनेकी इच्छा करती है ॥ ५२ ॥

अब क्रियाओंके फलभूत त्रिलोकीकी वृद्धकामिनीके रूपमें उत्प्रेक्षा करते हैं—'तिमिरा०' इत्यादिसे ।

त्रिलोकी एक तरहसे वृद्धकामिनी ही है, वह कैसी है ? स्वरूपाच्छादक तुच्छ अन्धकार ही उसके केशपाश हैं, चन्द्र और सूर्य ये दो उसके चपल नेत्र हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—ये तीनों उसके आन्तर चेतनात्मक स्वभाव हैं,

तारकाजालदशना. सन्ध्यारुणतराधरा ।
समस्तपद्मिनीहस्ता शतक्रतुपुरानना ॥ ५५ ॥
सप्ताब्धिमुक्तालतिका नीलाम्बरपरीवृता ।
जम्बूद्वीपमहानाभिर्वनश्रीरोमराजिका ॥ ५६ ॥
भूत्वा भूत्वा विनश्यन्ती त्रिलोकी वृद्धकामिनी ।
असकृज्जायते नष्टा भूरिविभ्रमकारिणी ॥ ५७ ॥
मग्नमन्यैरथोन्मग्नं भीमे कालमहार्णवे ।
प्रतिकल्पक्षणं क्षीणैर्ब्रह्माण्डस्फुटबुद्बुदैः ॥ ५८ ॥
कालेऽगाधरसस्यन्दे स्थित्वा स्थित्वा पुनः पुनः ।
कल्पमात्रनिमेषेणोड्डीनाः कारणसारसाः ॥ ५९ ॥

पृथ्वी, हिमालय आदि श्रेष्ठ पर्वत उसका बाह्य स्थूल देहस्थानीय जड़ात्मक स्वभाव है। एकमात्र ब्रह्मतत्त्व ही हृदयमें विस्फोटके (फोड़ेके) सदृश बन्धनोंसे आवृत होकर स्थित हुआ नित्य गोपनीय उसका स्तनमण्डल है, चिदाभासरूपा चितिशक्ति ही पोषण करनेवाली उसकी धात्री है, अतएव वह मोटी-ताजी है, तरल है, मेघ ही उसका चापल्य है । तारे ही उसके दाँत हैं, सन्ध्या ही उसके अरुणतर ओष्ठ हैं, समस्त बिसलताएँ ही उसके हाथ हैं, इन्द्रनगरी (अमरापुरी) उसका मुख है । सात समुद्र उसकी मुक्तामालाएँ हैं, नील आकाशरूपी उत्तरीय वस्त्रसे वह आवृत है, जम्बूद्वीप उसकी महानाभि है, वनशोभा उसकी रोमपंक्ति है । इस प्रकारकी त्रिलोकी-रूपी महान् विभ्रमकारक वृद्ध कामिनी बार-बार उत्पन्न हो होकर जो नष्ट हो जाती है और नष्ट होकर बार-बार जो उत्पन्न होती रहती है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ५३—५७ ॥

अब कालका महासमुद्रके रूपमें वर्णन करते हैं—'मग्न०' इत्यादिसे ।

प्रत्येक कल्परूप क्षणमें क्षीण हो जानेवाले ब्रह्माण्डरूप प्रस्फुट बुद्बुद भयङ्कर कालरूपी महासमुद्रमें जो उत्पन्न और विनष्ट हो जाते हैं, वह भी अविद्याका विलास है ॥ ५८ ॥

सैकड़ों भ्रम और तृष्णारूपी अगाध जल-प्रवाह जिसमें बह रहा है, ऐसे काल-रूप महानदमें बार-बार स्थित हो-होकर कल्परूपी निमेषमात्रमें जो कारणभूत हिरण्यगर्भरूपी सारस पक्षी उड़ जाते हैं, वह भी अविद्याका विलास है ॥ ५९ ॥

उत्पत्त्योत्पत्त्यनाशिन्यः सन्तप्ताः सृष्टिविद्युतः ।
कालमेघे स्फुरन्त्येताश्चित्प्रकाशघनोद्यमाः ॥ ६० ॥

प्रपतद्भूतविहगाः पतन्त्यविरतभ्रमाः ।
कालतालात्किलोच्चालाद् ब्रह्माण्डफलपालयः ॥ ६१ ॥

उन्मेषकृतवैरिञ्चसृष्टयो देवनायकाः ।
निमेषकृतसंहाराः सन्ति केचन कुत्रचित् ॥ ६२ ॥

निमेषोन्मेषसंक्षीणकल्पजालाः सहस्रशः ।
रुद्राः केचन विद्यन्ते तस्मिंश्चित्परमे पुनः ॥ ६३ ॥

तेऽपि यस्य निमेषेण भवन्ति न भवन्ति च ।
तादृशोऽप्यस्ति देवेशो ह्यनन्तेयं क्रियास्थितिः ॥ ६४ ॥

कालकी मेघके रूपमें कल्पना करते हैं—'उत्पत्त्योत्पत्त्य०' इत्यादिसे ।

उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जानेवाली प्रतप्त सृष्टिरूपी ये बिजलियाँ, जिन्हें चित्प्रकाशके आश्रयणसे प्रकाशशक्ति प्राप्त हुई है, जो प्रस्फुरित होती हैं, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ६० ॥

अति उन्नत कालरूपी तालवृक्षसे ब्रह्माण्डरूपी फलकी पंक्तियाँ, जिनके लिए प्राणीरूपी कौए उड़ते और निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं, गिर रही हैं, वह भी अविद्या-प्रभाव है ॥ ६१ ॥

श्रीरामजी, इसी ब्रह्मचैतन्यमें निमेषमात्रमें ब्राह्मी सृष्टि पैदा करनेवाले तथा क्षणमात्रमें उसका संहार करनेवाले देवताओंके नियामक ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वररूपी कई जो देवाधिपति हैं, वह भी अज्ञानका प्रताप है ॥ ६२ ॥

हजारों बार निमेषके उन्मेषमात्र कालमें जिन्होंने कल्पोंके समूह नष्ट-भ्रष्ट कर दिये हैं, ऐसे कुछ रुद्र जो उस परमचित्में हैं, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ६३ ॥

वे देवनायक भी जिसके निमेषसे उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं, ऐसा भी कोई देवाधिदेव है, क्योंकि यह रुद्रपर्यन्त क्रियाओंकी स्थिति यानी कर्म, उपासना और फलभावकी स्थिति अनन्त है । यह भी अविद्या-प्रभाव है ॥ ६४ ॥

अनन्तसङ्कल्पमये शून्ये च ब्रह्मणः पदे ।
न सम्भवन्ति का नाम शक्तयश्चित्रपूरकाः ॥ ६५ ॥
एवमक्षीणसङ्कल्पलब्धार्थभरभासुरा ।
जागती कल्पना येयं तदज्ञानविजृम्भितम् ॥ ६६ ॥
याः सम्पदो यदुत सन्ततमापदश्च
यद्बाल्ययौवनजरामरणोपतापाः ।
यन्मज्जनं च सुखदुःखपरम्पराभि-
रज्ञानतीव्रतिमिरस्य विभूतयस्ताः ॥ ६७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अज्ञानमाहात्म्यं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

यदि शङ्का हो कि यह सब किस तरह सम्भव हो सकता है ? तो मायामें सभीका संभव होनेके कारण इस विषयमें असंभावना करना किसी प्रकार भी युक्तियुक्त नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'अनन्त०' इत्यादिसे ।

अनन्त सङ्कल्पप्रचुर, समस्त विकल्पोंसे शून्य ब्रह्मरूप पदमें सैकड़ों आश्चर्योंकी पूर्ति करनेवाली ऐसी कौन-सी शक्तियाँ नहीं हैं ? अर्थात् सभी शक्तियाँ उसमें विद्यमान हैं ॥ ६५ ॥

अज्ञान-विभूतियोंके विस्तारका उपसंहार करते हैं—'एवम्०' इत्यादिसे ।

उस प्रकार सुदृढ़ सङ्कल्पोंसे प्राप्त अर्थसमूहसे देदीप्यमान जगत्की जो यह कल्पना है, वह भी अज्ञानका विलास है ॥ ६६ ॥

कथित अर्थका संक्षेपसे स्पष्टीकरण करते हैं—'याः' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जो कुछ सम्पत्तियाँ हैं, जो कुछ निरन्तर चलनेवाली आपत्तियाँ हैं, जो बाल्य, यौवन, जरा, मरणरूपी महान् सन्ताप हैं, जो सुख-दुःखकी परम्पराओंमें मज्जन होता है, वह सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारकी विभूतियाँ हैं ॥ ६७ ॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

अष्टमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संसारवनखण्डेऽस्मिंश्चित्पर्वततटे स्थिता ।
कीदृशी सृष्ट्यविद्याख्या लता विकसिता कदा ॥ १ ॥
बृहत्पर्वतपर्वाढ्या ब्रह्माण्डत्वक्समावृता ।
देहयष्टिरियं यस्यास्त्रिलोकी लोककासिनी ॥ २ ॥
सुखं दुःखं भवो भावो ज्ञानमज्ञानमेव च ।
अत्रैतान्युरुवृत्तानि मूलानि च फलानि च ॥ ३ ॥
सुखादविद्योदेत्युच्चैस्तदेवाऽन्ते प्रयच्छति ।
दुःखादविद्योदेत्युच्चैस्तदेवैषा फलत्यलम् ॥ ४ ॥

आठवाँ सर्ग

[जिस कारणाविद्याकी जगद्रूपी विभूतियाँ हैं, उसका पिछले सर्गमें वर्णन करनेके अनन्तर कार्याविद्याका संसाररूपी वनकी लताके रूपमें वर्णन]

सबसे पहले विषयका निर्देश कर वर्णन-प्रकारकी प्रशंसा करते हैं— 'संसार०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, इस संसाररूपी अरण्यके एकदेशमें विद्यमान कूटस्थ चिद्रूप पर्वतके तटमें स्थित कार्याविद्यारूपी लता कब और किस प्रकार विकसित हुई, इसका मैं वर्णन करता हूँ, आप सुनिये ॥ १ ॥

यह कार्याविद्यारूपी लता बड़े-बड़े मेरु आदि पर्वतरूप पर्वोंसे युक्त, चिदावारक ब्रह्माण्डरूपी त्वचासे आवृत और जनरूपी पत्र, अङ्कुर आदि विकासोंसे युक्त है, ये तीनों लोक इसकी देहयष्टि यानी अवयव-संस्थान हैं ॥ २ ॥

इस अविद्यारूपी लतामें प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करनेवाले सुख, दुःख, जन्म, स्थिति, ज्ञान एवं अज्ञान—ये सब मूल और फल हैं ॥ ३ ॥

सुख आदिमें मूलरूपत्व तथा फलरूपत्वका उपपादन करते हैं— 'सुखाद०' इत्यादिसे ।

भवादविद्योदेत्येषा तमेव फलति स्फुटम् ।
भवात्सत्तामवाप्नोति तमेव फलति क्षणम् ॥ ५ ॥
अज्ञानाद् वृद्धिमायाति तदेव स्यात्फलं स्फुटम् ।
ज्ञानेनाऽऽयाति संवित्तिस्तामेवाऽन्ते प्रयच्छति ॥ ६ ॥
नानाविधोल्लासवती वासनामोदशालिनी ।
घनप्रवालतरला तनुरस्या विजृम्भते ॥ ७ ॥
दिवसव्यूहकुसुमा यामिनीलोलषट्पदा ।
अजस्रं स्पन्दमानैषा प्रपतद्भूतपल्लवा ॥ ८ ॥

अनुभूयमान सम्पत्ति आदि सुखोंसे 'आगे भी मुझे इससे अधिक सम्पत्ति प्राप्त होवे' ऐसी रागस्वरूप अविद्या दृढ़तापूर्वक उत्पन्न होती है और वह अविद्या यज्ञ, दान आदि धर्मों द्वारा अन्तमें सुखरूप फल प्रदान करती ही है । दारिद्र्य आदि दुःखोंसे धनकी तृष्णा आदिरूप अविद्या दृढ़तया उत्पन्न होती है और वह पाप-वासनासे दुष्प्रतिग्रह, चौर्य आदि अधर्मोंमें प्रवृत्ति द्वारा उससे भी अधिक दुःख-रूप फल प्रदान करती ही है ॥ ४ ॥

जन्मसे भी अविद्या उत्पन्न होती है और वह बादमें जन्मान्तररूप फल प्रदान करती ही है । जन्मसे वह सत्ता प्राप्त करती है और बादमें स्थितिरूप फल प्रदान करती ही है ॥ ५ ॥

वह अविद्या अज्ञानसे वृद्धि प्राप्त करती है और बादमें अज्ञानरूप फल देती ही है । ज्ञानसे संवित्ति अर्थात् उत्तरोत्तर भूमिकाकी प्राप्तिस्वरूप ज्ञानवृद्धि प्राप्त करती है और अन्तमें अर्थात् सप्तमभूमिकामें तत्त्वज्ञानरूप फल देती है ॥ ६ ॥

प्रसङ्गप्राप्त विषयका उपपादन कर प्रस्तुत लताका ही वर्णन करते हैं—'नानाविधो०' इत्यादिसे ।

नानाप्रकारके उल्लासोंसे युक्त वासनारूप सौगन्ध्यसे शोभित, घनीभूत पल्लवोंसे चञ्चल इस सृष्टिरूप लताका शरीर प्रकाशमान हो रहा है ॥ ७ ॥

'नानाप्रकारके उल्लासोंसे युक्त है' इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'दिवस०' इत्यादिसे ।

यह लता दिवससमूहरूप पुष्पोंसे युक्त, रात्रिरूप चञ्चल भ्रमरोंसे समन्वित,

आगत्याऽऽगत्य पतति विवेककरिणीं क्वचित् ।
विधूयते धूतरजाः प्रसक्ति पुनरेति च ॥ ९ ॥

जायमानप्रवालाढ्या सञ्जाताङ्कुरदन्तुरा ।
सर्वर्तुकुसुमोपेता समग्ररसशालिनी ॥ १० ॥

जन्मपर्वाहिनीरन्ध्रा विनाशच्छिद्रचञ्चुरा ।
भोगाभोगरसापूर्णा विचारैकघुणक्षता ॥ ११ ॥

विकसन्त्यः प्रतिदिनं चन्द्रर्कावलयोऽभितः ।
व्योम्नि वातविलोलानि पुष्पाण्यस्याः किल ग्रहाः ॥ १२ ॥

रागादि दोषोंके कारण दौड़ रहे यानी हिल रहे प्राणीरूप पल्लवोंसे भूषित और निरन्तर कम्पनशील है ॥ ८ ॥

कर्मरूप वायुके द्वारा पुनः-पुनः भ्रमित होकर यह सृष्टिलता कहींपर यानी किसी अधिकारी प्राणीरूप पल्लवभागमें स्थित विवेकरूप हस्तिनीके ऊपर गिर जाती है । तदनन्तर उस हस्तिनी द्वारा कभी विचाररूपी सूँड़के अग्रभागसे वह लता अपने आश्रयभूत विषयरूप वृक्षसे अलगकर कंपाई जाती है । इस स्थितिमें दुर्वासनारूप धूलिके नष्ट हो जानेपर भी यदि दैवात् सूँड़से वह छूट जाती है, तो पुनः उसी विषयरूपी वृक्षसे लिपट जाती है ॥ ९ ॥

उत्पन्न होनेवाले मित्र, पशु आदि पल्लवोंसे पूर्ण; उत्पन्न हुए पुत्र, पौत्र आदि अङ्कुरोंसे दन्तुर (आनन्दसे किञ्चित् हास्ययुक्त मुखवाली), सब ऋतुरूप पुष्पोंसे शोभित तथा सम्पूर्ण प्रकारोंके रसोंसे युक्त है । जन्मरूपी पर्वोंमें दुःख, रोग आदिरूप सर्पोंसे छिद्ररहित यानी भरी हुई, मरणरूप शाखाओंके सन्धिभूत छिद्रोंमें हठात् विदीर्यमाण होनेसे व्याकुल, विषयानुभवसे उत्पन्न राग आदि मकरन्दोंसे अर्थात् पुष्परसोंसे युक्त यह लता केवल विचाररूप घुनसे नष्ट हो जाती है ॥ १०, ११ ॥

यह लता 'समस्त ऋतुरूपी पुष्पोंसे शोभित है' ऐसा पहले जो कहा गया है, उसका विवरण करते हैं—**'विकसन्त्यः'** इत्यादिसे ।

प्रतिदिन आकाशमें चारों ओरसे विकसित हो रही चन्द्र, सूर्य आदिके सहित नवग्रहरूप ज्योतियोंकी जो पंक्तियाँ हैं, वे ही इस सृष्टिरूपी लताके वायुसे चञ्चल हुए पुष्प हैं ॥ १२ ॥

अस्याः प्रस्फुरिताकाराः कोरकत्वमुपागताः ।
पूरिताकाशकोशायास्तारका रघुनन्दन ॥ १३ ॥
चन्द्रार्कदहनालोका यस्यास्तत्कौसुमं रजः ।
अनेनेयं हि गौराङ्गी स्त्रीव चेतांसि कर्षति ॥ १४ ॥
मनोमातङ्गविधुता सङ्कल्पकलकोकिला ।
इन्द्रियव्यालसम्बाधा तृष्णात्वगुपरञ्जिता ॥ १५ ॥
नीलाकाशतमालाङ्गसंश्रयेणोन्नतिं गता ।
रोदसीजानुसुस्तम्भा भुवनोद्यानभूषिता ॥ १६ ॥
अधोब्रह्माण्डखण्डेषु स्वालवालेन जालिता ।
विधृताशेषजलधिजलक्षीरादिसेचना ॥ १७ ॥
त्रयीविलोलभ्रमरा रमणीपुष्पपुञ्जिका ।
चित्स्पन्दवातचलिता क्रियाविमलपुत्तिका ॥ १८ ॥

हे रघुकुलको आनन्द देनेवाले श्रीरामजी, आकाशमण्डलको पूर्ण करनेवाली अर्थात् व्याप्त कर स्थित हुई इस लताके ऊपर प्रस्फुरित आकारवाले नक्षत्र ही कलिरूपताको प्राप्त किये हुए हैं ॥ १३ ॥

चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि के प्रकाश इस लताके उक्त पुष्पसम्बन्धी पराग हैं । इसी परागसे यह, शुभ्राङ्गी स्त्रीके समान, लोगोंके मनका आकर्षण करती है अर्थात् लोगोंको मनोहर लगती है ॥ १४ ॥

यह लता चित्तरूप हाथीसे प्रकम्पित, सङ्कल्परूप मधुरकलनाद करनेवाली कोकिलसे युक्त, इन्द्रियरूपी साँपोंसे वेष्टित और तृष्णारूपी चमड़ेसे आच्छादित; नील आकाशरूपी तमालवृक्षके अवयवोंके आश्रयणसे अत्यन्त विस्तारको प्राप्त, आकाश और पृथिवीरूप चारों ओरको जानुतुल्य सङ्कुचित मूलस्तम्भोंसे युक्त, चतुर्दश भुवनरूपी वाटिकाओंसे शोभित; सात समुद्रोंकी खाईरूपी सुन्दर आल-बालसे आवृत एवं सम्पूर्ण समुद्रोंके जल, क्षीर आदिसे सिञ्चित होकर ब्रह्माण्ड-खण्डोंके अधोभागमें विस्तृत जड़ोंसे बद्ध; काम्य कर्मोंके बोधक तीनों वेदोंसे चञ्चल हुए कामीरूप भ्रमरोंसे युक्त, अतएव उन कामी जनोंके भोग्यभूत स्त्रीरूप पुष्पसमूहोंसे शोभित, मनके स्पन्दरूप वायुसे कम्पित, स्वाभाविक प्रवृत्तिवाले विपुलजनसमूहरूपी मूल, पत्र, काण्ड आदियोंमें भ्रमण कर रहे सूक्ष्म कीटोंसे

कुकर्माजगरव्याप्ता स्वर्गश्रीपुष्पमण्डपा ।
जीवजीवननीरन्ध्रा नानामोदमदप्रदा ॥ १९ ॥
नानोपशमवैचित्र्यनानाकुसुमभासिनी ।
नानाफलावलीव्याप्ता नानावर्पविकासिनी ॥ २० ॥
नानालवालवलया नानाविहगधारिणी ।
नानापरागपरुषा नानाभूधरजालिका ॥ २१ ॥
नानाकलाकुड्मलिनी नानावनगणोत्थिता ।
नानागिरितटारूढा नानादलनिरन्तरा ॥ २२ ॥
जाता च जायमाना च म्रियमाणा तथा मृता ।
अर्धच्छिन्ना तथाऽऽच्छिन्ना नित्यमच्छेदिनी तथा ॥ २३ ॥
अतीता वर्तमाना च सत्येवाऽसत्यवत्सदा ।
नित्यमत्यन्ततरुणी नित्यं शोषमुपेयुषी ॥ २४ ॥

युक्त, शास्त्रनिषिद्ध कर्मरूपी अजगरसे व्याप्त, स्वर्गकी श्रीरूपी पुष्पमण्डपसे शोभित तथा जीवोंके जीवनोपायोंसे पूर्ण है । इस सृष्टिरूप लतामें प्रसिद्ध लतासे विलक्षण अन्यान्य भी अनेक तरहके वैचित्र्य हैं, यह दिखलाते हैं—'नाना' से । अनेक प्रकारके विषयवासनारूप गन्धोंसे अज्ञोंको मत्त करनेवाली, विवेकियोंके लिए तो अनेक प्रकारके उपशम-वैचित्र्यरूपी अनेक पुष्पोंसे प्रकाशमान, अनेक प्रकारके फलोंकी पंक्तियोंसे व्याप्त, अनेक प्रकारके पुष्प एवं फलों के रस तथा पराग से विकसित, विभिन्न-विभिन्न आलवालोंसे (खाईयोंसे) वेष्टित, तरह-तरहके पक्षियोंसे युक्त, अनेक तरहकी धूलियोंसे युक्त होनेके कारण रूखी, नाना प्रकारके पर्वतरूप जालोंसे बद्ध, अनेक कलारूप कलियोंसे युक्त, अनेक वनसमूहोंसे ऊपरको उठी हुई, अनेक पर्वतोंके तटोंपर आरूढ हुई तथा सदा अनेक प्रकारके दलोंसे शोभित है ॥१५–२२॥

वह अविद्यारूपी लता अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है और उत्पन्न होनेवाली है; अनेक बार मर चुकी है और मरनेवाली भी है । वह आधी कटी हुई है, और पूर्णरूपसे भी कटी हुई है तथा प्रवाहरूपसे न कटी हुई भी है ॥ २३ ॥

वह अतीत कालमें थी और वर्तमान कालमें भी है, वह सर्वदा असत्पदार्थके सदृश होती हुई भी सत्य पदार्थके सदृश बार-बार अत्यन्त पल्लवित होती है तथा नित्य शोषको प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

महाविषलतैषा हि संसारविषमूर्च्छनाम् ।
ददाति रभसाश्लिष्टा परामृष्टा विनश्यति ॥ २५ ॥
स्फीतेऽन्तर्गलिता तस्य अज्ञेऽन्तः संस्थितान्विता ।
इतो जलमितः शैला इतो नागाः सुरा इतः ॥ २६ ॥
इतः पृथ्वीत्वमायाता तथेतो द्युतया स्थिता ।
इतश्चन्द्रार्कतां प्राप्ता तथेतस्तारकाकृतिः ॥ २७ ॥
इतस्तम इतस्तेज इतः खमित उर्वरा ।
इतः शास्त्रमितो वेदा इतो द्वयविवर्जिता ॥ २८ ॥
क्वचित् खगतयोड्डीना क्वचिद्देवतयोत्थिता ।
क्वचित् स्थाणुतया रूढा क्वचित् पवनतां गता ॥ २९ ॥

यह कार्याविद्या निश्चय ही महती विषलता है, क्योंकि अविचारसे इसका आश्लेप यानी सम्बन्ध होनेपर यह तत्क्षण संसाररूपी विषसे जनित मूर्च्छा देती है और पूर्वापर विचारित होनेपर तत्क्षण नष्ट हो जाती है ॥ २५ ॥

कार्याविद्याके स्वरूपका विचार करनेवाले तत्त्ववित्के प्रकाशमान पूर्ण आत्मामें वह अन्तः विलीन यानी बाधित हो जाती है और अज्ञानी पुरुषमें तो भीतर चारों ओरसे अनुवृत्त होकर अवस्थित रहती है । इस अनुवृत्तिका विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं—'इतः' इत्यादिसे । कहीं तो यह सृष्टिरूपा लता जलसे समन्वित है, कहीं पर्वतोंसे अन्वित है, कहीं तो नागोंसे युक्त है और कहीं देवताओंसे सुशोभित है ॥ २६ ॥

कहीं तो वह पृथिवीरूपताको प्राप्त हुई है और कहीं द्युलोकरूपसे अवस्थित हुई है । उन्होंने कहीं चन्द्र और सूर्यरूपता प्राप्त कर ली है और कहीं तो तारोंके आकारको धारण किया है ॥ २७ ॥

यह सृष्टिरूपी लता कहीं तो तमरूप है, कहीं तेजोरूप है, कहीं आकाशरूप है, कहीं सस्यश्यामला (अशेष विशेष धान्योंसे पूर्ण) है, कहीं पृथिवीरूप है, कहीं शास्त्ररूप है, कहीं वेदरूप है तो कहीं प्रलय और सुषुप्तिसे विवर्जित है ॥ २८ ॥

कहीं पक्षिरूप होकर उड़ती है, कहीं देवरूप होकर उत्थित होती है, कहीं स्थाणुरूप होकर स्थित है और कहीं पवनभावको प्राप्त हुई है ॥ २९ ॥

क्वचिन्नरकसंलीना क्वचित् स्वर्गविलासिनी ।
क्वचित् सुरपदं प्राप्ता क्वचित् कृमितया स्थिता ॥ ३० ॥
क्वचिद्विष्णुः क्वचिद् ब्रह्मा क्वचिद्रुद्रः क्वचिद्रविः ।
क्वचिदग्निः क्वचिद्वायुः क्वचिच्चन्द्रः क्वचिद्यमः ॥ ३१ ॥
यत्किञ्चनाऽङ्ग भुवनेषु महामहिम्ना
व्याप्तं जरत्तृणलवत्वमुपागतं वा ।
दृश्यं स्फुरन्ननु हराद्यपि तामविद्यां
विद्धि क्षयाय तदतीततयाऽऽत्मलाभः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अविद्यालताविलासोपदेशोनाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥



कहींपर नरकरूप होकर पातालकुहरमें विलीन रहती है तो कहीं स्वर्गमें विलास करती है। कहीं देवपदको प्राप्त हुई है, तो कहीं कृमिरूप होकर स्थित हुई है ॥ ३० ॥

कहीं विष्णुरूपा है, कहीं ब्रह्मारूपा है, कहीं रुद्ररूपा है, कहीं सूर्यरूपा है, कहीं अग्निरूपा है, कहीं वायुरूपा है, कहीं चन्द्ररूपा है तो कहीं यमरूपा है ॥ ३१ ॥

हे श्रीरामजी, इन समस्त भुवनोंमें उत्कृष्ट प्रभावसे चारों ओर व्याप्त हुए समस्त पदार्थोंका संहार करनेवाले महादेवसे लेकर अव्याकृतपर्यन्त अथवा अल्प प्रभावके कारण जरजर तृणरूपताको प्राप्त हुआ जो कुछ यह दृश्य प्रस्फुरित हो रहा है, उस सबको तत्त्वज्ञान द्वारा बाध करने योग्य अविद्यास्वरूप ही समझो, उसका अतिक्रमण अर्थात् बाध हो जानेपर आत्माका लाभ यानी मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

आठवाँ सर्ग समाप्त

नवमः सर्गः

श्रीराम उवाच

आकारजातमुदितं शुद्धं हरिहराद्यपि ।
अविद्यैवेत्यहं श्रुत्वा ब्रह्मन् भ्रममिवाऽऽगतः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

संवेद्येनाऽपरामृष्टं शान्तं सर्वात्मकं च यत् ।
तत्सच्चिदाभासमयमस्तीह कलनोज्झितम् ॥ २ ॥

नवाँ सर्ग

[तीन गुणोंके विभाग, महादेव आदिकी शुद्धसत्त्वरूपता, विद्या एवं अविद्याके स्वरूप तथा उन दोनोंसे रहित वस्तु का वर्णन]

पहले सर्गके अन्तिम 'दृश्यं स्फुरन्ननु' इत्यादि पद्यसे जो महादेवजी आदिमें अविद्यारूपताका प्रतिपादन किया गया है, वह एकदम असम्भव है, क्योंकि 'ऋत ᳪ सत्यं परं ब्रह्म', 'घृतरीतिघनीभूतसच्चिदानन्दविग्रहः' इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंमें परब्रह्मरूपता तथा सच्चिदानन्दरूपताका उनके स्वरूपोंमें प्रतिपादन किया गया है। महादेवजीको अविद्यारूप माननेमें 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपादित सर्वविद्याधिपतित्वका भी विरोध होगा। वासुदेवका स्वरूप तुरीय तथा परब्रह्मरूप है, यह भी पुराणोंमें प्रसिद्ध है। ऐसी स्थितिमें कथमपि महादेवादिकी अविद्यारूपता नहीं हो सकती, यों शिवादिमें अविद्यारूपताकी असम्भावना कर रहे श्रीरामजी प्रसङ्गतः उसके रहस्यको भी जाननेकी इच्छासे पूछते हैं—'आकार०' इत्यादिसे।

श्रीरामजीने कहा—हे ब्रह्मन्, आकृतिमात्रसे आविर्भूत अत्यन्त शुद्धस्वरूप शिव, विष्णु आदि भी अविद्यास्वरूप ही हैं, इस प्रकार आपकी उक्तिका श्रवण कर मैं मिथ्या भ्रान्तिको प्राप्त हो गया हूँ, कृपापूर्वक आप उसका निवारण कीजिए ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, चूँकि निर्विकार शुद्धचित्का घृतकी नाईं स्वतः घनीभाव या मूर्ताकार हो नहीं सकता, इसलिए वे दोनों मायाधीन

समुदेति स्वतस्तस्मात् कला कलनरूपिणी ।
जलादावर्तलेखेव स्फुरज्जलतयोदिता ॥ ३ ॥
सूक्ष्मा मध्या तथा स्थूला चेति सा कल्प्यते त्रिधा ।
पश्चान्मनस्तया तेन ज्ञातैव वपुषा पुनः ॥ ४ ॥
तिष्ठत्येतास्ववस्थासु भेदतः कल्प्यते त्रिधा ।
सत्त्वं रजस्तम इति एषैव प्रकृतिः स्मृता ॥ ५ ॥

विवर्त युक्त ही हैं, यह मानना पड़ेगा। परन्तु श्रुतिप्रतिपाद्य निर्विकार परब्रह्म-स्वरूपके साथ विरोध न हो, इसलिए विवर्तत्व-प्रयोजक मायाका अंश स्वच्छ, सूक्ष्मतम स्वरूपका अनावारक कहा जाता है, उसीको शुद्धसत्त्व कहते हैं, शुद्धसत्त्व अत्यन्त स्वच्छ, चित्प्रतिबिम्बका ग्राहक, सर्वविद्याका उद्दीपक, स्वरूपका अनावारक है, इसलिए प्रकृतमें सर्वाधिपतित्वका विरोध नहीं हो सकता। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन कं पश्येत्', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुतियोंसे हम लोगोंके तत्त्वज्ञानसे बाध्य होनेके कारण उक्त अंशमें अविद्यारूपता है, इसलिए यहाँपर कोई असंभावना है ही नहीं, इस आशयसे उत्तर देनेकी इच्छावाले श्रीवसिष्ठजी उक्त कल्पनाक्रमका उपक्रम करनेके पहले सर्वप्रथम अधिष्ठानका दिग्दर्शन कराते हैं—'संवेद्येन' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—संवेद्यसे (जगदाकारसे) परामृष्ट, सर्वविध उपद्रवोंसे वर्जित, समस्त जगत्के संस्कारसे संयुक्त मायासे शबल होनेके कारण सर्वात्मक अतएव सच्चित्प्रकाशसे प्रचुर, कल्पनाओंसे निर्मुक्त एकमात्र सत्स्वरूप ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्तिके पहले था ॥ २ ॥

श्रीरामजी, सृष्टिके आरम्भकालमें अपनी सत्तासे स्थित हुई जगत्-संस्कारके उद्बोधस्वरूप कला (चिदाभासस्फूर्ति), जल आदिमें आवर्तलेखाके सदृश, कुछ पृथक् स्वरूपकी नाईं गुण और गुणीके भेदव्यवहारकी योग्यतारूपसे आविर्भूत होती है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार प्रौढ़ आतप, मन्द आतप और छाया में सूर्यसे विभिन्न तेजके अपकर्षकी कल्पना की जाती है, उसी प्रकार उक्त कलाकी सूक्ष्म, मध्य तथा स्थूल यों तीन प्रकारसे कल्पना की जाती है, सूक्ष्म कल्पनाके पीछे उसकी कल्पना करनेवालेके द्वारा हिरण्यगर्भके रूपसे मध्य कला, फिर उसके बाद स्थूल विराट्के आकारसे

अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुणत्रितयधर्मिणीम् ।
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारं परं पदम् ॥ ६ ॥
अत्र ते ये त्रयः प्रोक्ता गुणास्तेऽपि त्रिधा स्मृताः ।
सत्त्वं रजस्तम इति प्रत्येकं भिद्यते गुणः ॥ ७ ॥
नवधैवं विभक्तेयमविद्या गुणभेदतः ।
यावत्किञ्चिदिदं दृश्यमनयैव तदाश्रितम् ॥ ८ ॥
ऋषयो मुनयः सिद्धा नागा विद्याधराः सुराः ।
इति भागमविद्यायाः सात्त्विकं विद्धि राघव ॥ ९ ॥

स्थूल कलाके रूपमें ज्ञात होकर वह उसी प्रकार स्थित रहती है। चूँकि यह अव्याकृतोपाधिरूपा सत्त्व, रज और तमोरूपा प्रकृति त्रिधा अवस्थित है, अतएव इन सूक्ष्म आदि अवस्थाओंमें भी तीन तरहसे कल्पित होती है ॥ ४,५ ॥

प्रश्नोत्तरोंकी अनुरूपताके लिए प्रकृतिकी अविद्यारूपता बतलाते हैं— 'अविद्याम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सत्त्व आदि तीन गुणस्वरूप धर्मोंसे युक्त प्रकृति ही अविद्या है, यही प्राणियोंका संसार है, इससे (प्रकृतिसे) पार पा जाना ही परमपद यानी मोक्ष कहलाता है ॥ ६ ॥

कार्याविद्या और कारणाविद्या इन दोनों अविद्याओंमें अनुगत एक-एक गुणके अवान्तर तीन-तीन भेद बतलाते हैं—'अत्र' इत्यादिसे ।

इस प्रकृतिरूपी अविद्यामें जो तीन गुण बतलाये गये हैं, वे भी तीन प्रकारके हैं यानी सत्त्व, रज और तम इनमें से प्रत्येक गुणका तीन-तीन प्रकारसे भेद होता है ॥ ७ ॥

भद्र, इस प्रकार यह अविद्या गुणभेदोंसे नव प्रकारसे विभक्त हो जाती है यानी सूक्ष्म, मध्य और स्थूल अविद्याका प्रत्येकशः तीन-तीन भेद होकर नव तरहकी हो जाती है, जो भी कुछ यह दृश्य प्रपञ्च दिखाई पड़ता है, वह सब इसी अविद्यामें आश्रित है ॥ ८ ॥

पहले विभागमें सत्त्वांशका उदाहरण देते हैं—'ऋषयः' इत्यादिसे ।

भद्र, ऋषि, मुनि, सिद्ध (देवयोनिविशेष), नाग, विद्याधर, देवता—ये अविद्याके सात्त्विक अंशस्वरूप हैं, यह आप जानिए ॥ ९ ॥

सात्त्विकस्याऽस्य भागस्य नागविद्याधरास्तमः ।
रजस्तु मुनयः सिद्धाः सत्त्वं देवा हरादयः ॥ १० ॥
सत्त्वजातौ देवयोनावविद्याप्राकृतैर्गुणैः ।
निर्मलं पदमायाताः सत्त्वं हरिहरादयः ॥ ११ ॥
सात्त्विकः प्राकृतो भागो राम तज्ज्ञो हि यो भवेत् ।
न समुत्पद्यते भूयस्तेनाऽसौ मुक्त उच्यते ॥ १२ ॥
तेन रुद्रादयो ह्येते सत्त्वभागा महामते ।
तिष्ठन्ति मुक्ताः पुरुषा यावद्देहं जगत्स्थितौ ॥ १३ ॥

उसके अवान्तर विभागमें तीन विभागोंका भी दिग्दर्शन कराते हैं—**'सात्त्विकस्य'** इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, इस सात्त्विक विभागके नाग, विद्याधर ये तामसिक अंशस्वरूप हैं, मुनि, सिद्ध ये रजोगुणके अंशस्वरूप हैं और शिव, विष्णु आदि देवता सात्त्विक अंशरूप हैं ॥ १० ॥

शिव आदि सत्त्वगुणान्तर्गत शुद्ध सत्त्वरूप हैं, इसमें युक्ति कहते हैं—**'सत्त्वजातौ'** इत्यादिसे ।

सत्त्वजातिरूप देवयोनिमें शिव, विष्णु आदि अविद्याके प्राकृत गुणोंसे कभी भी अविद्यारूप आवरणको प्राप्त न होकर स्वाभाविक ही विद्यासे स्व-स्वरूप पदको सदा ही प्राप्त हुए, अतः वे शुद्धसत्त्वस्वरूप हैं । इससे ब्रह्मा और शिवमें राजस एवं तामसरूपताकी मूर्ख मनुष्योंमें जो प्रसिद्धि है, उसका खण्डन हुआ समझना चाहिए ॥ ११ ॥

इसीलिए उनके उपासकोंको भी ज्ञानप्राप्तिके द्वारा पुनर्जन्मकी निवृत्ति होती है, यह अत्यन्त प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'सात्त्विकः'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सात्त्विक शिवादि मूर्त्तित्रयात्मक प्राकृत अंशकी जो उपासना करता है, वह पुनः इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह मुक्त कहलाता है ॥ १२ ॥

इसीलिए शिवादि तीन मूर्तियोंमें आवरण न होनेके कारण जीवन्मुक्तता स्वाभाविक है, इस आशयसे कहते हैं—**'तेन'** इत्यादिसे ।

यावद्देहं महात्मानो जीवन्मुक्ता व्यवस्थिताः ।
विदेहमुक्ता देहान्ते स्थास्यन्ति परमेश्वरे ॥ १४ ॥
भाग एष त्वविद्याया एवं विद्यात्वमागतः ।
बीजं फलत्वमायाति फलमायाति बीजताम् ॥ १५ ॥
उदेत्यविद्या विद्यायाः सलिलादिव बुद्बुदः ।
विद्यायां लीयतेऽविद्या पयसीव हि बुद्बुदः ॥ १६ ॥
पयस्तरङ्गयोर्द्वित्वभावनादेव भिन्नता ।
विद्याविद्यादृशोर्भेदभावनादेव भिन्नता ।
पयस्तरङ्गयोरैक्यं यथैव परमार्थतः ॥ १७ ॥

हे महामते, उक्त हेतुसे ये शुद्ध सत्त्वगुणके अंशभूत रुद्र आदि पुरुष (देवता) जगत्स्थितिकालमें, जब तक देह धारण किये रहते हैं, तब तक मुक्त होकर स्थित रहते हैं ॥ १३ ॥

ये महात्मा देहस्थितिपर्यन्त जीवन्मुक्त होकर स्थित रहते हैं और देहका अन्त हो जानेपर विदेहमुक्त होकर शुद्ध ब्रह्मस्वभावमें स्थित हो जाते हैं ॥ १४ ॥

प्रश्नके समाधानका उपसंहार कर प्रस्तुत विषयकी प्रस्तावना करते हैं—'भागः' इत्यादिसे ।

इस प्रकार विद्यारूपताको प्राप्त हुआ यह जो अविद्याका सात्त्विकस्वरूप बीज-भाग है, वह फलरूपता यानी कार्याविद्यारूपताको प्राप्त होता है और उसका प्रलय होनेपर बीजरूपता यानी कारणाविद्यारूपताको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

कार्याविद्याके उदय और प्रलयका आधार होनेसे भी विद्याशरीरी वे शिवादि अविद्यारूप ही हैं, यों कहते हैं—'उदेत्य०' इत्यादिसे ।

कारणाविद्याके अन्तर्गत जो शुद्ध सत्त्व-अंश है, वह विद्या है, उस विद्यासे अविद्या (कार्याविद्यारूप सृष्टि) उस प्रकार उदित होती है, जिस प्रकार जलसे बुद्बुद उत्पन्न होते हैं और जिस प्रकार बुद्बुद जलमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विद्यामें ही कार्याविद्यात्मक सृष्टि विलीन हो जाती है ॥ १६ ॥

एवञ्च विद्या और अविद्याका भेद भी कल्पित ही है, यह सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं—'पयः' इत्यादिसे ।

जैसे जल और तरङ्गकी द्वित्वभावनासे ही भिन्नता है, वैसे ही विद्या और

नाऽविद्यात्वं न विद्यात्वमिह किञ्चन विद्यते ।
विद्याविद्यादृशौ त्यक्त्वा यदस्तीह तदस्ति हि ॥ १८ ॥
प्रतियोगिव्यवच्छेदवशादेतद्रघूद्वह ।
विद्याविद्यादृशौ न स्तः शेषे बद्धपदो भव ॥ १९ ॥
नाऽविद्याऽस्ति न विद्याऽस्ति कृतं कल्पनयाऽनया ।
किञ्चिदस्ति न किञ्चिद्यच्चित्संविदिति तत्स्थितम् ॥ २० ॥

अविद्याकी दृष्टिमें भेदभावनासे ही भिन्नता है, वस्तुतः नहीं; जिस प्रकार परमार्थतः जल और तरङ्गकी एकरूपता ही है उसी प्रकार अविद्या और विद्या भी एकरूप ही हैं, पृथक् कुछ भी नहीं है ॥ १७ ॥

किञ्च विद्यादृष्टिसे विद्या और अविद्या दोनोंका बाध होनेपर सुतरां उनके भेदकी प्रसक्ति नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—**'नाऽविद्या०'** इत्यादिसे ।

परमार्थतः सदधिष्ठानमें विद्या और अविद्या नामकी कोई वस्तु ही नहीं है, अतः विद्या और अविद्या-दृष्टिका यानी उनका भेद, विरोध आदि दृष्टिका परित्याग-कर यहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वही वास्तवमें विद्यमान है, दूसरा नहीं ॥ १८ ॥

शङ्का हो कि विद्यादृष्टिसे बाध्य होनेके कारण अविद्या-दृष्टिका त्याग भले ही हो, परन्तु उसकी बाधिका विद्या-दृष्टिका त्याग किससे होगा ? तो इसपर कहते हैं—**'प्रतियोगि०'** इत्यादिसे ।

हे रघूद्वह, बाधके द्वारा अविद्याका अस्तित्व मिट जानेपर अविद्यानिरूपित (अविद्यानिष्ठ बाध्यताका आश्रयण कर आनेवाली) बाधकताकी सिद्धि ही नहीं हो सकती और भिद्यमान प्रतियोगीके अधीन होनेसे व्यावृत्तिकी (भेदकी) भी प्रसिद्धि नहीं हो सकती, अतः विद्या और अविद्या-दृष्टिका अस्तित्व ही नहीं, इसलिए आप अवशिष्ट ब्रह्मरूप पदपर सुस्थिर हो जाइए ॥ १९ ॥

न अविद्या नामका पदार्थ है और न विद्यानामका ही पदार्थ है, इसलिए यह कल्पना व्यर्थ है । तब कौन वह अवशिष्ट वस्तु है, उसको दिखलाते हुए बोधके पहले वही अविद्यारूपसे कल्पित है, ऐसा कहते हैं—'किञ्चित्' से । वास्तवमें आत्मासे अतिरिक्त अवशिष्ट कुछ भी नहीं है, यदि कुछ है, तो वह एकमात्र चित्-वस्तु ही संवित्-रूपसे अवस्थित है ॥ २० ॥

तदेवाऽविदिताभासं सदविद्येत्युदाहृतम् ।
विदितं सत्तदेवेदमविद्याक्षयसंज्ञितम् ॥ २१ ॥
विद्याभावादविद्याख्या मिथ्यैवोदेति कल्पना ।
मिथः स्वान्ते तयोरन्तश्छायातपनयोरिव ॥ २२ ॥
अविद्यायां विलीनायां क्षीणे द्वे एव कल्पने ।
एते राघव लीयेते अवाप्यं परिशिष्यते ॥ २३ ॥
अविद्यासंक्षयात्क्षीणो विद्यापक्षोऽपि राघव ।
यच्छिष्टं तन्न किञ्चिद्वा किञ्चिद्वाऽपीदमाततम् ॥ २४ ॥
तत्रैवं दृश्यते सर्वं न किञ्चन च दृश्यते ।
वटश्च वटधानायामिव पुष्पफलादिमान् ॥ २५ ॥

श्रीरामजी, वही अवशिष्ट चित्-वस्तु जब अज्ञातस्वरूप रहती है, तब वह अविद्या कही जाती है और जब विदित हो जाती है, तब वही सत्-स्वरूप एवं अविद्याक्षय इस नामसे कही जाती है ॥ २१ ॥

छाया और आतपकी नाईं परस्पर विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनोंमें से विद्याका अभाव होनेपर अपने मनोवच्छिन्न चैतन्यमें अविद्यानामक मिथ्या कल्पनाका उदय होता है ॥ २२ ॥

श्रीरामभद्र, उन परस्पर विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनोंमें से अविद्याका बाधसे चैतन्यमें विलय हो जानेपर उक्त दोनों कल्पनाएँ क्षीण हो जाती हैं और उनका चैतन्यमें अवस्थान हो जाता है, फिर परिपूर्णानन्दात्मक प्राप्तव्य चैतन्य परब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है ॥ २३ ॥

शङ्का हो कि बाध न होनेके कारण विद्या भी परिशिष्ट रूपसे क्यों नहीं रहती ? तो इसपर कहते हैं—'अविद्या०' इत्यादिसे ।

हे राघव, अविद्याके विनाशसे विद्याकल्पना भी उस तरह क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार लकड़ीके विनाशसे अग्नि । जो अवशिष्ट रहता है, वह सर्वबाधात्मक होनेसे कुछ भी नहीं है और परमार्थतः सद्-रूप होनेसे कुछ है भी, यह सब उसीसे व्याप्त है ॥ २४ ॥

अतएव उसका दर्शन ही तत्त्वतः सर्वदर्शन और सर्वबाधदर्शन है, ऐसा कहते हैं—'तत्रैवम्' इत्यादिसे ।

सर्वशक्तिर्हि किञ्चित्त्वं सर्वशक्तिसमुद्गकम् ।
नभसोऽप्यधिकं शून्यं न च शून्यं चिदात्मकम् ॥ २६ ॥

सूर्यकान्ते यथा वह्निर्यथा क्षीरे घृतं तथा ।
तत्रेदं संस्थितं सर्वं देशकालक्रमोदये ॥ २७ ॥

यथा स्फुलिङ्गा अनलाद्यथा भासो दिवाकरात् ।
तस्मात्तथेमा निर्यान्ति स्फुरन्त्याः संविदश्चितः ॥ २८ ॥

यथाऽम्भोधिस्तरङ्गाणां यथाऽमलमणिस्त्विषाम् ।
कोशो नित्यमनन्तानां तथा तत्संविदां त्विषाम् ॥ २९ ॥

उक्त तात्त्विक रूपसे वहाँ (परम चितिमें) सब कुछ उस प्रकार दिखाई देता है, जिस प्रकार वटबीजमें फल-पुष्पादिसे युक्त वटवृक्ष दिखाई पड़ता है और मायिकस्वरूपसे कुछ भी नहीं दिखाई देता है; तात्पर्य यह है कि यद्यपि अज्ञानावृत दशामें भी वह अकिञ्चित्स्वरूपी है, तथापि वटबीजकी नाईं, व्याकृत और अव्याकृत दोनों अवस्थाओंमें स्थूल-सूक्ष्मीभूत सर्वात्मकत्वरूप किञ्चित्स्वरूपता प्रसिद्ध है ॥ २५ ॥

सर्वविध शक्तियोंका आश्रय ही किञ्चित् वस्तुरूपत्व है, वही समस्त पराक्रमोंकी पिटारी है । वह आकाशसे भी बड़ा शून्यस्वरूप है और चिदात्मक होनेसे शून्य-स्वरूप भी नहीं है ॥ २६ ॥

जैसे सूर्यकान्तमणिमें अग्नि है अथवा जैसे दूधमें घृत है, वैसे ही उस चिदात्मक शून्यमें यह सब अवस्थित है, जैसे अग्निसे विस्फुलिङ्ग बाहर निकलते हैं अथवा जैसे सूर्यसे रश्मियाँ बाहर निकलती हैं, वैसे ही देश, काल और क्रमके उदयकालमें ये प्रसिद्ध सब जीवसंवित्तियाँ ब्रह्मचैतन्यसे प्रस्फुरित होती हैं, इसीलिए 'अग्नि विस्फुलिङ्ग' आदि न्यायसे जीवोंका उपाधियोंके साथ चैतन्यसे निकलना श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है, यह आशय है ॥ २७, २८ ॥

इसीलिए वह ब्रह्म समस्त जीवसंवित्तियोंका कोश है, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे समुद्र तरङ्गोंका और निर्मल मणि रश्मियोंका कोश (खजाना)

सबाह्याभ्यन्तरे सर्वं वस्तुन्यस्त्येव वस्तु सत् ।
सर्वदैवाऽविनाशात्म कुम्भानां गगनं यथा ॥ ३० ॥
यथा मणेरयःस्पन्दे अयस्कान्तस्य कर्तृता ।
अकर्तुरेव हि तथा कर्तृता तस्य कथ्यते ॥ ३१ ॥
मणिसन्निधिमात्रेण यथाऽयः स्पन्दते जडम् ।
तत्सत्तया तथैवाऽयं देहश्चेतत्यचिद्वपुः ॥ ३२ ॥
तत्र स्थितं जगदिदं जगदेकबीजे
चिन्नाम्नि संविदितकल्पितकल्पनेन ।

है, वैसे ही अनन्त जीवसंविचिद्रूपी भ्रमस्थानीय रश्मियोंका वह अविनाशी कोश है ॥ २९ ॥

निर्गमनकी अवधिके कथन और मणिप्रभाके दृष्टान्तसे जीव और जगत्की ब्रह्मसे अन्यत्र स्थितिकी प्रसक्तिका वारण करते हुए कहते हैं—'सबाह्या०' इत्यादिसे ।

घटोंमें आकाशकी नाईं समस्त वस्तुओंमें बाहर और भीतरमें सत्-स्वरूप अविनाशी (त्रिविध परिच्छेदसे शून्य) चैतन्य वस्तु सदा-सर्वदा विद्यमान रहती ही है । तात्पर्य यह है कि जैसे घटके उदरमें व्याप्त आकाशका घटके आगमन और निर्गमनसे आकाशमें औपचारिक आवागमन होता है, वैसे ही जीवका भी आगमन-निर्गमन औपचारिक ही है, वास्तविक नहीं ॥ ३० ॥

इसी प्रकार जीवमें कर्तृत्व भी औपचारिक ही है, इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार लोहेमें स्पन्दन होनेपर स्वतः क्रियाशून्य भी अयस्कान्तमणिमें कर्तृता कही जाती है, उसी प्रकार स्वतः क्रियाशून्य भी आत्म-चैतन्यमें कर्तृता कही जाती है ॥ ३१ ॥

श्रीरामजी, जिस प्रकार मणिकी एकमात्र सन्निधिसे ही जड़ लोह स्पन्दित होता है, वैसे ही एकमात्र चैतन्यसत्ताकी सन्निधिसे ही अचैतन्यरूप देह स्पन्दित होता है ॥ ३२ ॥

प्रतिपादित अर्थका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

लोलोर्मिजालमिव वारिणि चित्ररूपं
खादप्यरूपवति यत्र न किञ्चिदस्ति ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
विद्यानिराकरणं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥



दशमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तस्मान्न किञ्चिदेवेदं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
न किञ्चिद् भूततां प्राप्तं यत्किञ्चिदिति विद्धि हे ॥ १ ॥

जगत्‌के एकमात्र उपादानस्वरूप उस चिद्रूप अज्ञात ब्रह्ममें पूर्व-पूर्वानुभूत जगत्क-ल्पित वासनासे जनित उत्तरोत्तर कल्पनासे ही यह जगत् उस प्रकार अवस्थित रहता है, जिस प्रकार चित्र विचित्र चंचल तरङ्गसमूह जलमें स्थित रहता है, आकाशकी अपेक्षा भी मूर्तामूर्तरूपशून्य उस परब्रह्मके ज्ञात होनेपर कुछ भी भिन्न पदार्थ ज्ञातव्यरूपसे बाकी नहीं रहता ॥ ३३ ॥

नवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

[अविद्यासे बन्धनकी भ्रान्ति के द्वारा स्थावर पदार्थों में मनकी स्थिति तथा बुद्धिपूर्वक विचारसे बन्धका मोक्ष, इसका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी, चूँकि जगत् और जीवका भेद अज्ञात-ब्रह्मस्वरूप ही है—इसलिए ब्रह्मका ज्ञान हो जाने पर जो कुछ भी यह सब स्थावर-जङ्गमरूप जगत् प्रतीत होता है, यथार्थमें वह कुछ भी नहीं है, कुछ भी पदार्थ भूतरूपता को प्राप्त नहीं हुआ है, यह आप जानिए ॥ १ ॥

यत्र काचिन्न कलना भावाभावमयात्मिका ।
तदिदं राम जीवादि सर्वं व्यर्थं किमीहसे ॥ २ ॥
सम्बन्धोऽयमसावन्तर्हृदि यो व्यपदिश्यते ।
न तं लभामहे सर्पं रज्जुसर्पभ्रमादिव ॥ ३ ॥
अपरिज्ञात आत्मैव भ्रमतां समुपागतः ।
ज्ञात आत्मत्वमायाति सीमान्तः सर्वसंविदाम् ॥ ४ ॥
अविद्येत्युच्यते लोके चिच्चेत्यमलमाश्रिता ।
चेत्यातीतात्मतामेति सर्वोपाधिविवर्जिता ॥ ५ ॥
चित्तमात्रं हि पुरुषस्तस्मिन्नष्टे च नश्यति ।
स्थिते तिष्ठति चाऽऽत्माऽयं घटे सति घटाम्बरम् ॥ ६ ॥

जिस परब्रह्ममें भावाभावमयात्मक (उत्पत्ति-विनाशात्मक) कुछ भी कल्पना नहीं हो सकती, उसी परब्रह्मके स्वरूपभूत ही जीव आदि सब कुछ प्रतीयमान पदार्थ हैं, अतः हे श्रीरामजी, आप निरर्थक मिथ्या पदार्थोंकी क्यों अभिलाषा करते हैं ? ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी, जिस प्रकार विमर्श करने पर रज्जुमें हुए सर्पविभ्रमसे किसी भी सर्पकी उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार हृदयके भीतर जो यह देहमें अहन्ता और बाह्य विषयोंमें ममतारूपी सम्बन्ध व्यपदिष्ट होता है, विचार करने पर उसकी किसी तरह उपलब्धि नहीं होती ॥ ३ ॥

भली प्रकार अपरिज्ञात अर्थात् न जाना हुआ आत्मा (ब्रह्म) ही जगद्-भ्रान्तिको प्राप्त हुआ है और भली प्रकार परिज्ञात होनेपर वह जीवादि-संविद्की सीमाकी अन्तभूत आत्मरूपताको प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

चेत्यके बीजभूत मलका अपनी सत्ताके आरोपसे आश्रयण करती हुई चित् ही जगत्में अविद्या नामसे कही जाती है और वही चेत्यके बीजभूत मलका अतिक्रमण करती हुई सम्पूर्ण उपाधियोंसे मुक्त होकर विद्यासे आत्मरूपताको प्राप्त हो जाती है ॥ ५ ॥

इस प्रकार अविद्याका स्वरूप बतलाकर अब अविद्या-कार्यरूप उपाधिसे आत्मामें बन्धका विभ्रम दिखलाते हैं—'चित्तमात्रम्' इत्यादिसे ।

गच्छन्पश्यति गच्छन्तं स्थितं तिष्ठञ्छिशुर्यथा ।
भ्रान्तमेवमिदं चेतः पश्यत्यात्मानमाकुलम् ॥ ७ ॥
कोशकारवदात्मानं वासनातनुतन्तुभिः ।
वेष्टयच्चैव चेतोऽन्तर्बालत्वान्नाऽवबुध्यते ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

मौर्ख्यमत्यन्तघनतामागतं समवस्थितम् ।
स्थावरादितनुप्राप्तं कीदृशं भवति प्रभो ॥ ९ ॥

चित्तका तादात्म्याध्यास होनेसे यह पुरुष चित्तप्राय है, इसीलिए चित्तके नष्ट होनेपर वह पुरुष मानो नष्ट हो जाता है। और जैसे घटके रहने पर घटाकाश रहता है, वैसे ही चित्तके स्थित होनेपर यह आत्मा भी स्थित रहता है ॥ ६ ॥

इसी प्रकार गति, स्थिति आदि चित्तधर्मोंका भी अपनी आत्मामें पुरुष आरोप कर लेता है, यों कहते हैं—**'गच्छन्'** इत्यादिसे।

अज्ञानी बालककी नाईं यह अज्ञानोपहित आत्मा चित्तके चलनेपर अपने-आपको चलता हुआ देखता है, चित्तके स्थिर होनेपर अपनेको भी स्थिर देखता है, यह आत्मा इस तरह भ्रान्त इस चित्तको ही उपद्रवयुत आत्मस्वरूपसे देखता है ॥ ७ ॥

इसीलिए वह चित्तगत वासनाओंसे अपनेको बाँधता है, यों कहते हैं—**'कोश०'** इत्यादिसे।

चूँकि यह चित्त बाल यानी विवेकशून्य है, इसलिए वह चित्तप्राय पुरुष मकरीकी तरह अपनेको चित्तगत वासनारूप दीर्घतन्तुओंसे भीतर बाँधता हुआ भी नहीं जानता ॥ ८ ॥

पूर्व श्लोकमें बालपदोक्त अविवेकके प्रसङ्गसे, अविवेककी चरम सीमाभूत स्थावरोंकी चित्तस्थिति जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामजी महामुनि वसिष्ठजीसे पूछते हैं—**'मौर्ख्यम्'** इत्यादिसे।

श्रीरामजीने कहा—हे प्रभो, अत्यन्त घनीभावको प्राप्त हुआ अविवेक (अज्ञान) स्थावर आदि शरीरको प्राप्त होता हुआ किस प्रकार अवस्थित रहता है, यह कृपा कर कहिए ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

अमनस्त्वमसम्प्राप्तं मनस्त्वादपि च च्युतम् ।
तटस्थं रूपमाश्रित्य स्थितैषा स्थावरेषु चित् ॥ १० ॥
तत्र दूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेद्यविदां वर ।
सुप्तपुर्यष्टका यत्र चितिस्थिता दुःखदायिनी ।
मूकान्धजडवत्तत्र सत्तामात्रेण तिष्ठति ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

सत्ताद्वैततया यत्र संस्थिता स्थावरेषु चित् ।
तत्राऽदूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेद्यविदां वर ॥ १२ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—अमनस्त्वको यानी सुषुप्तिकी नाईं सुख-दुःख-संवेदनकी अयोग्यताके सम्पादक मनके लयको प्राप्त न हुए तथा पूर्वापरके विचारमें समर्थ मननयोग्यतारूप मनस्त्वसे च्युत हुए मनस्त्व-अमनस्त्वके मध्यवर्ति मुग्धता-रूपका आश्रयण कर यह जीवचित् स्थावरोंमें रहती है ॥ १० ॥

हे ज्ञातव्य (ब्रह्म) के जाननेवालोंमें सर्व-श्रेष्ठ श्रीरामजी, चिदचित्का विवेक करनेमें असमर्थ बाह्य एवं आन्तर इन्द्रियोंसे युक्त, अतएव दुःखका प्रतीकार करनेमें अक्षम होनेके कारण अत्यन्त दुःख देनेवाली चित् जहाँ स्थित रहती है, उन स्थावर शरीरोंमें मोक्ष अत्यन्त दूर रहता है, ऐसा मैं मानता हूँ; वहाँ कर्मेन्द्रियोंसे, ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारोंसे तथा मानस व्यापारोंसे शून्य होकर केवल सत्तामात्रसे चित् रहती है ॥ ११ ॥

ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियोंके व्यापारोंसे शून्य होकर यदि सत्तामात्रसे चित् स्थावर शरीरमें रहती है, तो वैसी स्थितिमें योगियोंकी तरह शीघ्र ही वासनाका क्षय एवं मनका विनाश हो जानेसे उनकी मुक्ति अदूरस्थित है—यही कहना उचित था, अतः 'दूरस्थिता मुक्तिः' यह कह रहे आपका क्या अभिप्राय है ? इस आशयसे श्रीरामजी पूछते हैं—'सत्ताद्वैत०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—हे वेद्यविदोंमें श्रेष्ठ, जिन स्थावर शरीरोंमें चित् एक-मात्र सत्तारूपसे स्थित रहती है, वहाँ मुक्ति तो अदूर ही स्थित है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

बुद्धिपूर्वं विचार्येदं यथाऽवस्त्ववलोकनात् ।
सत्तासामान्यबोधो यः स मोक्षश्चेदनन्तकः ॥ १३ ॥

परिज्ञाय परित्यागो वासनानां य उत्तमः ।
सत्तासामान्यरूपत्वं तत्कैवल्यपदं विदुः ॥ १४ ॥

विचार्याऽऽर्यैः सहाऽऽलोक्य शास्त्राण्यध्यात्मभावनात् ।
सत्तासामान्यनिष्ठत्वं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ १५ ॥

अन्तः सुप्ता स्थिता मन्दा यत्र बीज इवाऽङ्कुरः ।
वासना तत्सुषुप्तत्वं विद्धि जन्मप्रदं पुनः ॥ १६ ॥

शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठानसे हुई चित्तशुद्धि और साधनचतुष्टयकी सम्पत्ति से सहकृत श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से उत्पद्यमान तत्त्वसाक्षात्कारसे जनित समूल वासनाक्षय एवं मनोनाश से हुई एकमात्र सत्तासामान्यरूपसे चितिकी स्थिति ही मोक्ष है, वह मोक्ष अनन्त पापरूप दुर्वासनाबीजोंसे भरे हुए नारकीप्राय स्थावरोंको, शास्त्राधिकारयोग्यजन्म दुर्लभ होनेसे अत्यन्त दुर्लभ है, इस प्रकार महाराज वसिष्ठजी अपनी उक्तिका अभिप्राय वर्णन करते हैं—'**बुद्धिपूर्वम्**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, शास्त्रोंका बुद्धिपूर्वक विचार कर, आत्माके यथार्थ अवलोकनसे अर्थात् साक्षात्कारसे जो सत्तासामान्यका बोध होता है, वही अविनाशी मोक्षपद कहलाता है ॥ १३ ॥

आत्मतत्त्वको जानकर वासनाओंका जो उत्तम यानी अशेष परित्याग है, उसे ही सत्तासामान्यरूप मोक्षपद कहा गया है ॥ १४ ॥

गुरु, सतीर्थ्य आदिके साथ शास्त्रोंका विचार कर अध्यात्मभावनासे अर्थात् मननपूर्वक निदिध्यासनसे तत्त्वका साक्षात्कार करके सत्तासामान्यमें जो निष्ठा होती है, उसी निष्ठाको मुनि लोग परब्रह्मपद कहते हैं ॥ १५ ॥

स्थावर शरीरोंमें वह पद अत्यन्त दूर है, इसका उपपादन करते हैं—'अन्त०' इत्यादिसे ।

अन्तः संलीनमननं परितः सुप्तवासनम् ।
सुषुप्तं जडधर्माऽपि जन्म दुःखशतप्रदम् ॥ १७ ॥
स्थावरादय एते हि समस्ता जडधर्मिणः ।
सुषुप्तपदमारूढा जन्मयोग्याः पुनः पुनः ॥ १८ ॥
यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा ।
तथाऽन्तः संस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना ॥ १९ ॥
यत्राऽस्ति वासनाबीजं तत्सुषुप्तं न सिद्धये ।
निर्बीजा वासना यत्र तत्तुर्यं सिद्धिदं स्मृतम् ॥ २० ॥
वासनायास्तथा वह्नेर्ऋणव्याधिद्विषामपि ।
स्नेहवैरविषाणां यः शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥ २१ ॥

श्रीरामजी, जहाँ भीतर बीजमें अङ्कुरकी नाईं अव्यक्त, अतएव सुप्त-सी वासना स्थित है, उसे ही आप पुनर्जन्मको देनेवाली सुषुप्तिकी नाईं जानिए ॥ १६ ॥

जिसके भीतर मानस व्यापाररूप मनन भली प्रकार लीन हो गया है तथा चारों ओरसे जिसमें वासनाएँ तिरोहित हो गई हैं, वह पाषाणादिकी तरह वृत्ति-शून्य भी सुषुप्ति सैकड़ों जन्मरूपी दुःखोंको देती है ॥ १७ ॥

पत्थरकी नाईं व्यापारशून्य ये सभी स्थावर आदि पदार्थ 'सुषुप्त' नामको प्राप्त होनेके कारण पुनः-पुनः जन्मके भागी होते हैं ॥ १८ ॥

स्थावर आदिमें वासना ही नहीं रहती, इस प्रकार किसी मन्दमतिकी शङ्काका परिहार करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

हे साधो, जिस तरह बीजोंमें अङ्कुरसे लेकर पुष्प तक पदार्थ स्थित हैं एवं जिस तरह मिट्टीके ढेरमें घट स्थित है, उसी तरह स्थावरोंके भीतर अपनी वासना भी स्थित है ॥ १९ ॥

जहाँ वासनाका बीज विद्यमान है, वह सुषुप्त जन्मके लिए ही है, सिद्धिके लिए नहीं है, और जिसमें ज्ञानाग्निसे भर्जित बीजशक्तिवाली वासना है, वह तुर्यपद मोक्षरूप सिद्धिको देनेवाला है ॥ २० ॥

अतएव स्वल्प भी वासना यदि अवशिष्ट रहे, तो अग्नि आदिके शेषकी नाईं

निर्दग्धवासनाबीजसत्तासामान्यरूपवान् ।
सदेहो वा विदेहो वा न भूयो दुःखभाग् भवेत् ॥ २२ ॥
चिच्छक्तिर्वासनाबीजरूपिणी स्वापधर्मिणी ।
स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु ॥ २३ ॥
बीजेषूल्लासरूपेण जाड्येन जडरूपिषु ।
द्रव्येषु द्रव्यभावेन काठिन्येनेतरेषु च ॥ २४ ॥
भस्मन्यथाऽनित्यरूपा पांसुष्वप्यणुरूपिणी ।
असितेष्वसितास्थित्या सितधारतयाऽसिषु ॥ २५ ॥

क्रमशः वह बढ़कर महान् अनर्थकी जनक होती है, अतः उसका निःशेष क्षय करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'**वासनायाः**' इत्यादिसे ।

वासनाका तथा अग्नि, ऋण, व्याधि और शत्रु का, स्नेह, विरोध एवं विष का जो शेष है, वह स्वल्प होनेपर भी हानि पहुँचाता है ॥ २१ ॥

ज्ञानाग्निसे निःशेष भर्जित वासनाबीजसे जिसने सत्तासामान्यरूपता प्राप्त कर ली है, ऐसा तत्त्ववित् चाहे सदेह हो या विदेह हो, पुनः कभी दुःखका भागी नहीं होता ॥ २२ ॥

स्थावरादि समस्त पदार्थोंमें चित्‌को आवृत करनेवाली चित्-शक्तिरूपा बीज-स्वरूप वासना धान्यादि बीजोंमें भर्जनसे नष्ट होनेवाले अङ्कुरशक्तिजननस्वरूप रसकी नाईं सदा अवस्थित है ॥ २३ ॥

वही चिच्छक्ति बीज आदि सभी कारणोंमें नानारूपसे स्थित है, यों कहते हैं—'**बीजेषु**' इत्यादिसे ।

वही चिच्छक्ति बीजमें उल्लासरूपसे (पृथ्वी और जल के संयोगसे होने-वाली प्रफुल्लतासे अनुभूयमान अङ्कुरजननशक्तिसे), जड़धर्मवाले पदार्थोंमें जड़ता-रूपसे, धन, रत्न आदि द्रव्योंमें स्पृहणीयतामें कारणभूत भव्यतारूपसे, शिला आदि अन्य पदार्थोंमें कठिनतारूपसे स्थित है ॥ २४ ॥

और भस्म तथा धूलियोंमें प्राक्तन काष्ठ, पाषाण आदिके ध्वंसरूप तथा परमाणुरूप से, मलिनोंमें मालिन्यरूप स्थितिसे एवं तलवार आदिमें तीक्ष्णधाराके रूपसे विद्यमान है ॥ २५ ॥

आत्मा शक्तिः पदार्थेषु तथा घटपटादिषु ।
सर्वत्र सत्तासामान्यरूपमाश्रित्य तिष्ठति ॥ २६ ॥
इतीयमखिला दृश्यदशामापूर्य संस्थिता ।
यथा घटापटा प्रावृडम्बरालम्बिनी तथा ॥ २७ ॥
स्वरूपमस्याश्चैवैतत्कथितं प्रविचारितम् ।
असत्यं सर्वतो व्यापि सदिवाऽसन्मयात्मकम् ॥ २८ ॥
आत्मदृष्टिरदृष्टैषा संसारभ्रमदायिनी ।
दृष्टा सती समग्राणां दुःखानां क्षयकारिणी ॥ २९ ॥
अस्यास्त्वदर्शनं यत्तदविद्येत्युच्यते बुधैः ।
अविद्या हि जगद्धेतुस्ततः सर्वं प्रवर्तते ॥ ३० ॥
अविद्यारूपरहिता यावदेवाऽवलोक्यते ।
तावदेव गलत्याशु तुहिनाणुर्यथाऽऽतपे ॥ ३१ ॥

घट, पट आदि सभी पदार्थोंमें आत्मा ही सत्तासामान्यरूपका ग्रहण कर जलाहरण, शीतनिवारण आदि नानाशक्ति होकर स्थित रहता है ॥ २६ ॥

मेघजाल ही जिसका आच्छादक है, ऐसी वर्षाऋतु जिस प्रकार आकाशको सर्वतः व्याप्त कर स्थित रहती है, उसी प्रकार यह अखिल चिच्छक्ति सम्पूर्ण दृश्यदशाको व्याप्त करके स्थित है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामजी, इस अज्ञानावृत चिच्छक्तिका यह अत्यन्त विचारा गया स्वरूप, जो असत्यभूत मायाविकारसे तादात्म्यरूपताको प्राप्त होनेपर भी सत्‌की तरह भासमान तथा असर्वात्मक होनेपर भी सर्वतः व्याप्तके सदृश प्रतीयमान है, मैंने आपको बतलाया है ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, आत्मदर्शनके विरोधी अज्ञानसे आवृत हुई यह आत्मदृष्टिरूपा चिच्छक्ति संसाररूप भ्रमको देती है, और उसके विरोधी अज्ञानसे अनावृत हुई सम्पूर्ण दुःखोंका क्षय कर देती है ॥ २९ ॥

इस आत्मदृष्टिका जो अदर्शन (आत्मसाक्षात्कारविरोधी आवरणस्वरूप अदर्शन) है, उसे विद्वान् लोग अविद्या कहते हैं, चूँकि अविद्या जगत्‌की कारणभूत है, अतः उसीसे सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३० ॥

आवरण आदि स्वरूपसे शून्य यानी निस्तत्त्वरूपसे अविद्याका ज्यों ही

यथा नरो गलन्निद्रो यावत्कलनया मनाक् ।
विमृशत्याशयं तावन्निद्रा तस्य विलीयते ॥ ३२ ॥
यथा कीदृगवस्त्वेतदिति यावद्विकल्प्यते ।
अविद्या क्षीयते तावदालोकेनाऽन्धता यथा ॥ ३३ ॥
दीपहस्तो यथाऽभ्येति तमोरूपदिदृक्षया ।
तथा विलीयते सर्वं तमस्तापैर्घृतं यथा ॥ ३४ ॥
न च संलक्ष्यते दीपे तमसो रूपनिश्चयः ।
उदेति केवलं ध्वान्तध्वंसोऽविमलमूर्तिमान् ॥ ३५ ॥

साक्षात्कार किया जाता है, त्यों ही तुरन्त वह उस प्रकार गल जाती है, जिस प्रकार घाममें तुषारका परमाणु गल जाता है ॥ ३१ ॥

अन्यान्य भी दृष्टान्त बतलाते हैं—'*यथा*' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार जिसकी नींद गलितावस्थ हो रही है, ऐसा पुरुष ज्यों ही बुद्धिसे अपने चित्तके वृत्तान्तका तनिक विचार करता है, त्यों ही उसकी निद्रा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अविद्याके किंचित् विचारमात्रसे अविद्या नष्ट हो जाती है ॥ ३२ ॥

रज्जु आदिके तत्त्वका पर्यालोचन करनेपर होनेवाली सर्पादि भ्रमकी निवृत्ति भी प्रस्तुत स्थलमें दृष्टान्त है, इस आशयसे कहते हैं—'*यथा*' इत्यादि ।

ज्यों ही सर्पादि वस्तुका स्वरूप किस प्रकारका है—अर्थात् वह वास्तविक है या भ्रान्तिसे केवल कल्पित है—यों विचार करते हैं, त्यों ही सर्पादिका भ्रम उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाशसे अन्धकार द्वारा सम्पादित दर्शनशक्तिके प्रतिबन्धका नाश होता है ॥ ३३ ॥

तमका स्वरूप देखनेकी इच्छासे यदि कोई हाथमें दीपक लेकर आवे तो जैसे सम्पूर्ण तम नष्ट हो जाता है अथवा जैसे तापसे घृत नष्ट हो जाता है, वैसे ही विचारसे अविद्यासहित सम्पूर्ण जगत् नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

तमोरूप अदर्शन-दृष्टान्तका ही विस्तृतरूपसे विवेचन करते हैं—'**न च**' इत्यादिसे ।

दीप लानेपर जिस प्रकार अन्धकारके स्वरूपका निश्चय नहीं होता, किन्तु

एवमालोक्यमानैषा क्वाऽपि याति पलायते ।
असद्रूपा ह्यवस्तुत्वाद् दृश्यते ह्यविचारणात् ॥ ३६ ॥
आलोक आगते यादृक्तमस्तदृश्यते तथा ।
याऽवस्तुत्वे त्वविद्यायास्त्ववस्तुत्वं प्रतीयते ॥ ३७ ॥
यावन्नाऽऽलोक्यते तावन्न किञ्चिदपि दृश्यते ।
आलोकिते यथाऽविद्या तत्तथा प्रतिपद्यते ॥ ३८ ॥
रक्तमांसास्थियन्त्रेऽस्मिन्कः स्यामहमिति स्वयम् ।
यावद्विचार्यते तावत् सर्वमाशु विलीयते ॥ ३९ ॥

विशुद्ध स्वरूपवाला ध्वान्तध्वंस यानी गाढ अन्धकारका नाश ही केवल उदित होता है, उसी प्रकार उक्तरीत्या मन्द-विचार करने पर यह अविद्या मन्द हो जाती है और अच्छी तरह विचार करने पर न मालूम कहाँ भग जाती है, यह अवस्तु अर्थात् कोई चीज न होने से असद्रूप है और विचार न करने से ही दीख पड़ती है ॥ ३५, ३६ ॥

वह अवस्तु क्यों है ? इस शङ्कापर अपना अनुभव ही उसके अवस्तु होने में प्रमाण है, यों कहते हैं—'आलोके' इत्यादिसे ।

आलोकके आनेपर प्रसिद्ध तम जैसे असद्रूप दीख पड़ता है, वैसे ही विचारसे अविद्या भी असत्-रूप ही दीख पड़ती है। यदि शङ्का हो कि तमका आलोकसे बाध नहीं होता, क्योंकि उसके निषेधमें त्रैकालिकत्वकी प्रतीति नहीं है, किन्तु उष्णतासे जलकी शीतताकी तरह तिरोधानमात्र होता है, क्योंकि आलोकके चले जानेपर पुनः उसका दर्शन होता है, इसपर कहते हैं—'अवस्तुत्वे' इत्यादि। तमको अवस्तु माननेमें वैसी भले ही आपत्ति हो, परन्तु त्रैकालिक बाधका अनुभव होनेसे अविद्यामें अवस्तुत्व ही प्रतीत होता है। सारांश, अविद्याके अवस्तुत्वमें अनुभव ही प्रबल प्रमाण है ॥ ३७ ॥

शुक्ति और रज्जु आदि अथवा रजत एवं सर्प आदि कोई भी वस्तु जबतक विचार कर नहीं देखी जाती, तबतक वह यथार्थरूपसे नहीं दीख पड़ती और विचारपूर्वक देखने पर जिस स्वरूपकी अविद्या और जिस तरह वस्तुतत्त्व रहता है, वह उसी तरह दीख पड़ता है ॥ ३८ ॥

किस प्रकार विचार कर देखना चाहिए, यह कहते हैं—'रक्त०' इत्यादिसे ।

आद्यन्तयोरसद्रूपे नूनं परिहृते हृदा ।
सर्वस्मिन्नेव यः शेषस्तमविद्याक्षयं विदुः ॥ ४० ॥

तन्न किञ्चिच्च किञ्चिद्वा तत्सद्ब्रह्मैव शाश्वतम् ।
तद्वस्तु तदुपादेयं यदविद्या निवर्तते ॥ ४१ ॥

रूपं स्वनाम्न एवाऽस्या ज्ञायते निःस्वभावकम् ।
न हि जिह्वागतस्वाद्यस्वादोऽन्यस्मात् प्रतीयते ॥ ४२ ॥

नाऽविद्या क्वचिदप्यस्ति ब्रह्मैवेदमखण्डितम् ।
सदसत्कलनास्फारमशेषं येन मण्डितम् ॥ ४३ ॥

रक्त, मांस तथा अस्थिमय इस देहयन्त्रमें 'मैं स्वयं कौन हूँ ?' इस प्रकार ज्यों ही विचार किया जाता है, त्यों ही सभी अविद्या-परिवार शीघ्र विलीन हो जाता है ॥ ३९ ॥

उस प्रकारके विचारवाले मनसे आदि-अन्तमें असद्रूप सम्पूर्ण दृश्यमात्रका परिहार हो जानेपर जो शेष रूपसे चिदात्मा शिष्ट रहता है, उसे ही विद्वान् अविद्याका क्षय कहते हैं, क्योंकि अध्यस्त पदार्थका बाध अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता ॥ ४० ॥

वह शेषरूप ब्रह्म अविद्याके आवरणदशामें किंचित् वस्तुस्वरूपसे प्रतीत नहीं होता, उसकी नाशदशामें किंचित् वस्तुरूपसे प्रतीत होता है । वही शाश्वत सत्-स्वरूप ब्रह्म है, वही वस्तु और उपादेय है, क्योंकि उसीसे अविद्या निवृत्त हो जाती है ॥ ४१ ॥

बाध्य जगत्की स्वरूपशून्यता अथवा उसके बाधकी आत्ममात्ररूपता माननेमें प्रमाणान्तरकी अन्वेषणा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि माया अविद्या आदि नाम स्वरूपशून्य, बाध्य, स्वप्नावस्थामें अनुभूयमान पदार्थोंमें ही रूढ़ हैं, यों कहते हैं—'**रूपम्**' इत्यादिसे ।

'अविद्या' इस अपने नामसे ही इसके स्वभावरहित रूपका ज्ञान हो जाता है, जैसे जिह्वागत आस्वाद्य पदार्थोंका रस और किसी दूसरेसे प्रतीत नहीं होता ॥ ४२ ॥

अविद्यानामकी वस्तु कहीं भी नहीं है, यह सब जगत् अखण्डित ब्रह्मस्वरूप

एतावदेवाऽविद्याया नेदं ब्रह्मेति निश्चयः ।
एतदेव क्षयो यस्या ब्रह्मेदमिति निश्चयः ॥ ४४ ॥

घटपटशकटावभासजालं
न विभुरितीत्युदितेह सा त्वविद्या ।
घटपटशकटावभासजालं
विभुरिति चेद्गलितैव सा त्वविद्या ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
अविद्याचिकित्सानाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥



ही है, जिसने सत् एवं असत् कल्पनाके विस्तारभूत इस सम्पूर्ण जगत्का निर्माण किया है ॥ ४३ ॥

ऐसी अवस्थामें अविद्या और उसके क्षयका फलित निष्कृष्टस्वरूप कहते हैं—'एतावत्' इत्यादिसे ।

'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप नहीं है' इत्याकारक निश्चय ही अविद्याका स्वरूप है और 'यह जगत् ब्रह्मरूप है' यह निश्चय ही उसका विनाश है ॥ ४४ ॥

उक्त अर्थका ही विवरण कर रहे महाराज वसिष्ठजी प्रस्तुत विषयका उपसंहार करते हैं—'घट०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, घट, पट, शकट आदि रूपसे अवभासमान यह जगज्जाल 'अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप नहीं है, किन्तु उससे अन्य है' यों आरोपित निश्चय यदि हुआ, तो अविद्या उदित हुई—यह आप जानिए, और इसकी अपवादभूत घट, पट, शकट आदि रूपसे भासमान यह जगज्जाल 'अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप ही है, उससे भिन्न नहीं' यों अपरिच्छिन्न सन्मात्र दृष्टि यदि उदित हुई, तो अविद्या गलित हुई यानी उसका क्षय हुआ—ऐसा आप जानिए ॥ ४५ ॥

दसवाँ सर्ग समाप्त

एकादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

पुनः पुनरिदं राम प्रबोधार्थं मयोच्यते।
अभ्यासेन विना साधो नाऽभ्युदेत्यात्मभावना॥ १॥
अज्ञानमेतद्बलवदविद्येतरनामकम्।
जन्मान्तरसहस्रोत्थं घनं स्थितिमुपागतम्॥ २॥

ग्यारहवाँ सर्ग

[जिस दृष्टिसे हरि, हर आदि जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं, 'सब कुछ ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्याकारक उस दृष्टिका श्रीरामजीको उपदेश, यह वर्णन]

पूर्वमें उपदिष्ट ही विषयका पुनः-पुनः जो विभिन्न प्रकारोंसे उपदेश दिया जाता है, वह उपदेश्य विषयके बोधकी दृढ़ताके लिए है। जैसे दृष्टफलक अवघात आदि फलकी उत्पत्तिपर्यन्त किये जाते हैं, वैसे ही दृष्टफलक श्रवण, मनन आदि भी फलोत्पत्तिपर्यन्त करने चाहिएँ। इसीलिए भगवान् बादरायणने लिखा है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (श्रवण आदिकी आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि वैसा उपदेश है)। इस रहस्यभूत तत्त्वका आलस्यदोषके परिहारके साथ उत्साह उत्पन्न करनेके लिए उद्घाटन कर रहे महाराज श्रीवसिष्ठजी अविद्याक्षय होनेपर परिशिष्टरूपसे रहनेवाली दृष्टिका श्रवण करनेके लिए श्रीरामजीको सावधान करते हैं—**'पुनः पुनः'** इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, आत्मस्वरूपके उत्तम परिज्ञानके लिए मैं बार-बार इस रहस्यका आपसे कथन (उद्घाटन) करता हूँ, क्योंकि हे साधो, अभ्यासके बिना आत्मभावना कभी उदित नहीं होती॥ १॥

आत्मभावना क्यों उदित नहीं होती? इसपर कहते हैं—**'अज्ञान०'** इत्यादिसे।

भद्र, यह अज्ञान अत्यन्त बलवान् है, इसीका दूसरा नाम 'अविद्या' है, वह अन्य असंख्य जन्मोंसे चला आ रहा है, अतएव वह दृढ़ स्थितिको प्राप्त है। अनन्तकोटि जन्मोंमें अभ्यस्त द्वैतवासनाओंसे अत्यन्त दृढ़ीकृत होनेके

सबाह्याभ्यन्तरं सर्वैरिन्द्रियैरनुभूयते ।
भावाभावेषु देहस्य तेनाऽतिघनतां गतम् ॥ ३ ॥
आत्मज्ञानं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामगोचरम् ।
सत्तां केवलमायाति मनःषष्ठेन्द्रियक्षये ॥ ४ ॥
प्रोल्लङ्घ्येन्द्रियजां वृत्तिं यत्स्थितं तत्कथं किल ।
याति प्रत्यक्षतां जन्तोः प्रत्यक्षातीतवृत्तिमत् ॥ ५ ॥
त्वमविद्यालतामेतां प्ररूढां हृदयद्रुमे ।
ज्ञानाभ्यासविलासासिपातैश्छिन्धि स्वसिद्धये ॥ ६ ॥

कारण उसका एकबारके उपदेशसे भली प्रकार उच्छेद नहीं हो सकता, यह भाव है ॥ २ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर चक्षु आदि अत्यन्त बलिष्ठ अनेक प्रमाणोंसे गृहीत होनेवाले द्वैतसे अभिन्न होनेके कारण भी अज्ञानकी प्रबलता है, यह कहते हैं—'सबाह्या०' इत्यादिसे ।

देहकी सत्तादशामें (जीवन, जागर आदि अवस्थाओंमें) समस्त इन्द्रियोंसे तथा देहके अभावमें (मरण, प्रलय आदि अवस्थाओंमें) साक्षीसे बाह्य और आभ्यन्तर सदा उस अज्ञानका अनुभव किया जाता है, अतः उसने अत्यन्त घनीभूत स्थिति (प्रबलता) प्राप्त कर ली है ॥ ३ ॥

ज्ञानके सामग्रीकी दुर्लभता भी दिखलाते हैं—'आत्म०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

आत्मज्ञान तो सभी इन्द्रियोंका अविषय है यानी किसी इन्द्रियसे आत्मज्ञान हो नहीं सकता । मनसहित छः इन्द्रियोंका क्षय हो जानेपर वह केवल सत्ता प्राप्त करता है । इन्द्रियोंसे जनित वृत्तिका अतिक्रमण कर जो अवस्थित है, वह प्राणियोंका प्रत्यक्षविषय कैसे हो सकता है, क्योंकि वह प्रत्यक्षवृत्तिका अतिक्रमण कर स्थित है ? ॥ ४, ५ ॥

अतएव पुनः-पुनः उपदेश और मनन आदिके अभ्यासकी, अविद्यारूपी लताके अनेक प्रतानोंके छेदन द्वारा सार्थकता है, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'त्वम्०' इत्यादिसे ।

यथा विहरति ज्ञातज्ञेयो जनकभूपतिः ।
आत्मज्ञानाभ्यासपरस्तथा विहर राघव ॥ ७ ॥
निश्चयोऽयमभूत्तस्य कार्याकार्ये विहारिणः ।
जाग्रतस्तिष्ठतो वाऽपि तज्ज्ञानं तेन सत्यता ॥ ८ ॥
निश्चयेन हरियेंन विविधाचारकारिणा ।
योनिष्ववतरस्युर्व्यां तत्तज्ज्ञत्वमुदाहृतम् ॥ ९ ॥
निश्चयो यस्त्रिनेत्रस्य कान्तया सह तिष्ठतः ।
ब्रह्मणो वाऽप्यरागस्य स ते भवतु राघव ॥ १० ॥
यो निश्चयः सुरगुरोर्वाक्पतेर्भार्गवस्य च ।
दिवाकरस्य शशिनः पवनस्याऽनलस्य च ॥ ११ ॥

हे श्रीरामजी, हृदय-वृक्षपर लिपटी हुई इस प्रबल अविद्यारूपी लताको ज्ञानाभ्यासरूपी विलासकी तलवारके प्रहारोंसे स्व-स्वरूपकी सिद्धिके लिए आप काट डालिए ॥ ६ ॥

हे राघव, जिस प्रकार राजा जनकजी विदिततत्त्व होकर भूमण्डलमें विहार करते हैं, उसी प्रकार आप आत्मज्ञानके अभ्यासमें निरत होकर विहार कीजिए ॥ ७ ॥

जाग्रत् तथा स्थित होकर बाहरकी व्यवहाररूप कार्यसे तथा समाधिरूप अकार्यसे विहार कर रहे उस राजा जनकका भी निश्चय मेरे अनुभवके अनुसार ही था। उक्त अभ्यासका ही फल आत्मज्ञान है और उक्त ज्ञानसे अभिव्यक्त हुए स्वरूपकी ही वास्तवमें सत्यता होती है, ऊपर-ऊपरके ज्ञानसे अभिव्यक्त फलकी नहीं ॥ ८ ॥

भगवान् नारायण, अपने विभिन्न-विभिन्न प्रकारके लीलाचरण करनेके जिस निश्चयके कारण पृथ्वीपर योनिमें यानी गर्भवास आदि कृच्छ्रोंमें अवतार लेकर भी दुःख आदिसे सम्बद्ध नहीं होते, वही निश्चय आत्मज्ञानका स्वरूप कहलाता है ॥ ९ ॥

हे राघव, जगदम्बा पार्वतीके साथ रहनेवाले त्रिनेत्र महादेवजीका या राग-वर्जित ब्रह्माका जो भी निश्चय है, वही आपको भी हो ॥ १० ॥

हे रामभद्र, देवताओंके गुरु बृहस्पति, दानवोंके गुरु शुक्राचार्य, भगवान्

नारदस्य पुलस्त्यस्य मम चाऽङ्गिरसस्तथा ।
प्रचेतसो भृगोश्चैव क्रतोरत्रेः शुक्रस्य च ॥ १२ ॥
अन्येषामेव विप्रेन्द्रराजर्षीणां च राघव ।
यो निश्चयो विमुक्तानां जीवतां ते भवत्वसौ ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच

येनैते भगवन् धीरा निश्चयेन महाधियः ।
विशोकाः संस्थितास्तन्मे ब्रह्मन्प्रब्रूहि तत्त्वतः ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

राजपुत्र महाबाहो विदिताखिलवेद्य हे ।
स्फुटं शृणु यथा पृष्टमयमेषां हि निश्चयः ॥ १५ ॥
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते ।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम् ॥ १६ ॥

अंशुमाली सूर्य, चन्द्रमा, वायुदेवता, अग्नि, महामुनि नारद, महर्षि पुलस्त्य, मैं, अङ्गिरस प्रचेता, भृगु, क्रतु, अत्रि, शुक्र तथा इन्हींके तुल्य अन्यान्य जीवित ही रहकर मुक्त यानी जीवन्मुक्त विप्रेन्द्रों और राजर्षियों का जो आत्माके विषयमें निश्चय है, वही निश्चय आपको हो ॥ ११–१३ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, जिस निश्चयके कारण ये पूर्वोक्त महाबुद्धिमान् धीर सुरगुरु आदि शोकनिर्मुक्त होकर स्थित हैं, हे ब्रह्मन्, उसका मुझसे तात्त्विक-रूपसे वर्णन कीजिए ॥ १४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, हे राजकुमार, हे समस्त वेद्य पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले रामभद्र, जो आपने प्रश्न पूछा है, उसका उत्तर स्पष्टरूपसे आप सुनिए, उनका यही (वक्ष्यमाण प्रकारका) निश्चय है ॥ १५ ॥

उसी निश्चयको कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जो कुछ भी यह भोग्य जगज्जाल दिखाई पड़ता है, वह सब मायिक अव्यवस्थित स्वरूपका परित्याग कर परमार्थ स्वरूपमें अवस्थित, निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही है ॥ १६ ॥

ब्रह्म चिद्ब्रह्म भुवनं ब्रह्म भूतपरम्पराः ।
ब्रह्माऽहं ब्रह्म मच्छत्रुर्ब्रह्म सन्मित्रबान्धवाः ।
ब्रह्म कालत्रयं तच्च ब्रह्मण्येव व्यवस्थितम् ॥ १७ ॥

तरङ्गमालयाऽम्भोधिर्यथाऽऽत्मनि विवर्धते ।
तथा पदार्थलक्ष्म्येत्थमिदं ब्रह्म विवर्धते ॥ १८ ॥

गृह्यते ब्रह्मणा ब्रह्म भुज्यते ब्रह्म ब्रह्मणा ।
ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहाभिर्ब्रह्मशक्त्येव बृंहति ॥ १९ ॥

ब्रह्म मच्छत्रुरूपं मे ब्रह्मणोऽप्रियकृद्यदि ।
तद्ब्रह्मणि ब्रह्मनिष्ठं किमन्यत् कस्यचित्कृतम् ॥ २० ॥

संक्षेपसे कथित अर्थको ही विस्तार कर विशेषरूपसे दिखलाते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे।

ब्रह्म ही चित् है, ब्रह्म ही चौदह भुवन है, ब्रह्म ही जीव-परम्परा है; मैं भी ब्रह्मस्वरूप हूँ, मेरा शत्रु भी ब्रह्मस्वरूप है, सन्मित्र, बन्धु-बान्धव आदि भी ब्रह्मस्वरूप हैं; तीनों काल भी ब्रह्मस्वरूप है और वह ब्रह्ममें ही अवस्थित है॥१७॥

जैसे समुद्र तरङ्गोंकी परम्पराओंसे अपने स्वरूपमें विजृम्भित होता है, वैसे ही नैकविध पदार्थलक्ष्मियोंसे यह ब्रह्म इस प्रकार विजृम्भित होता है ॥ १८ ॥

समस्त क्रिया, कारक और फल ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'गृह्यते' इत्यादिसे।

ब्रह्मसे ब्रह्मका ही ग्रहण होता है, ब्रह्मके द्वारा ब्रह्मका ही उपभोग किया जाता है, ब्रह्ममें ब्रह्म ही विवर्तोंसे ब्रह्मशक्ति अर्थात् मायाके द्वारा मानो बढ़ता है ॥१९॥

इस दृष्टिसे कहीं राग, द्वेष आदि की प्रसक्ति नहीं होती, इस आशयसे कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे।

ब्रह्मस्वरूप मेरा अनिष्ट करनेवाले मेरे शत्रुका स्वरूप यदि ब्रह्म ही है, तो ब्रह्मनिष्ठके प्रति किसीके द्वारा ब्रह्ममें किया हुआ ब्रह्मको छोड़ और क्या हो सकता है ? ॥ २० ॥

रागादीनामवस्थानं कल्पितानां खवृक्षवत् ।
असङ्कल्पेन नष्टानां कः प्रसङ्गोऽत्र वर्धते ॥ २१ ॥
ब्रह्मण्येव हि सर्वस्मिंश्चरणस्पन्दनादिकम् ।
स्फुरति ब्रह्म सकलं सुखितादुःखिते कुतः ॥ २२ ॥
ब्रह्म ब्रह्मणि संतृप्तं ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ।
स्फुरति ब्रह्मणि ब्रह्म नाऽहमस्मीतरात्मकः ॥ २३ ॥
घटो ब्रह्म पटो ब्रह्म ब्रह्माऽहमिदमाततम् ।
अतो रागविरागाणां मृषेव कलनेह का ॥ २४ ॥
मरणब्रह्मणि स्वैरं देहब्रह्मणि सङ्गते ।
दुःखितानाम कैव स्याद्रज्जुसर्पभ्रमोपमा ॥ २५ ॥

इस परिपूर्ण ब्रह्ममें आकाश-वृक्षकी नाईं, कल्पित राग आदि दोषोंका, जो असंकल्पसे नष्ट हो जानेवाले हैं, अवस्थान-प्रसङ्ग ही जब नहीं हो सकता, तब उनका बढ़ना ही क्या ? ॥ २१ ॥

परिपूर्णस्वरूप इस परब्रह्ममें ही गमन आदि सब कुछ है, चूँकि परिपूर्णात्मक ब्रह्म ही सुखैकरसरूपसे स्फुरित होता है, अतः उसमें दुःख और सुख कैसे ? ॥ २२ ॥

ब्रह्म ही ब्रह्ममें भली प्रकार तृप्त है, ब्रह्ममें ब्रह्म ही भली प्रकार अवस्थित है, ब्रह्ममें ब्रह्म ही स्फुरित होता है, अतः मैं ब्रह्मसे अतिरिक्त स्वरूपवाला नहीं हूँ ॥ २३ ॥

श्रीरामजी, घट भी ब्रह्मरूप है, पट भी ब्रह्मरूप है, मैं भी ब्रह्मरूप हूँ, यह विस्तृत प्रपञ्च भी ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए मिथ्या राग, विराग आदिकी यहाँ कल्पना ही क्या ? ॥ २४ ॥

इस दृष्टिसे आत्यन्तिक अभय-प्राप्ति होती है, यह कहते हैं—'**मरण-ब्रह्मणि**' इत्यादिसे ।

भद्र, देहरूप ब्रह्ममें मरणात्मक ब्रह्म अपने-आप जब मिल गया, तब रज्जुमें भुजङ्ग-भ्रमकी नाईं होनेवाली दुःखिता मिथ्या कल्पनाके अतिरिक्त और हो ही क्या सकती है ? ॥ २५ ॥

सम्भोगादौ सुखं ब्रह्मण्यास्थिते देहब्रह्मणि ।
सम्पन्नमेतन्म इति मुधा स्यात्कलना कुतः ॥ २६ ॥
वीच्यम्भसोः स्पन्दवतोर्न त्वन्यदम्बुनो यथा ।
त्वत्तामत्ते तथा न स्तो ब्रह्मणि स्पन्दरूपिणि ॥ २७ ॥
यथाऽऽवर्तमृते तोये न किञ्चिन्म्रियते क्वचित् ।
मृतिब्रह्मत्वमायाते देहब्रह्मणि वै तथा ॥ २८ ॥
यथा चलाचले तोये त्वत्तामत्ते न तिष्ठतः ।
तथा जडाजडे रूपे न स्थिते परमात्मनि ॥ २९ ॥
कटकत्वं यथा हेम्नो यथाऽऽवर्तो जलस्य च ।
तदतद्भावरूपेयं तथा प्रकृतिरात्मनः ॥ ३० ॥

इसी प्रकार भोग, राग आदिकी आत्यन्तिक निवृत्ति भी सिद्ध होती है, ऐसा कहते हैं—**'संभोगा०'** इत्यादिसे ।

संभोगात्मक ब्रह्ममें देहरूप ब्रह्मके सुखपूर्वक अवस्थित होनेपर 'यह मुझे प्राप्त हुआ' यह व्यर्थ इच्छा किस तरह होगी ? ॥ २६ ॥

हे राघव, जिस प्रकार वीचि और जलके स्पन्दयुक्त होनेपर भी जलसे पृथक् कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार स्पन्दस्वरूप ब्रह्मके होनेपर भी त्वत्ता और मत्ता कुछ भी नहीं है ॥ २७ ॥

जैसे आवर्तके नष्ट होनेपर जलमें कुछ भी नष्ट नहीं होता, वैसे ही देहात्मक ब्रह्ममें मरणरूप ब्रह्मके प्राप्त होनेपर कुछ भी नहीं मरता ॥ २८ ॥

जड़रूपताके अपरित्यागसे ही सब कर्मोंमें ब्रह्मरूपताका ग्रहण न करें, इसलिए उसकी जड़ताका निषेध करते हैं—**'यथा०'** इत्यादिसे ।

जिस प्रकार चंचल जलरूपमें त्वत्ता और मत्ता नहीं रहतीं, उसी प्रकार परमात्मामें जड़रूपता तथा प्रतियोगीके अप्रसिद्ध होनेसे तद्व्यावृत्तरूप अजड़ता भी नहीं रहती ॥ २९ ॥

जिस प्रकार सुवर्णमें कटकरूपत्व और जलमें आवर्तरूपत्व का होना सुवर्ण और जल का एक स्वभाव है, उसी प्रकार जडाजडरूप होना यह ब्रह्मका भी एक मायिक स्वभाव है ॥ ३० ॥

इदं हि जीवभूतात्म जडरूपमिदं भवेत् ।
इत्यज्ञानात्मनो मोहो न च ज्ञानात्मनः क्वचित् ॥ ३१ ॥
अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्याऽऽनन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सचक्षुषः ॥ ३२ ॥
जगदेकात्मकं ज्ञस्य मूर्खस्याऽतीव दुःखदम् ।
शिशोरिव स्फुरद्यक्षा निशा पुंसस्तु केवला ॥ ३३ ॥
अस्मिन्ब्रह्मघटे नित्यमेकस्मिन्सर्वतः स्थिते ।
न किञ्चिन्म्रियते नाम न च किञ्चन जीवति ॥ ३४ ॥
यथोल्लासविलासेषु न नश्यति न जायते ।
तरङ्गादिमहाम्भोधौ भूतवृन्दं तथाऽऽत्मनि ॥ ३५ ॥

मायिक स्वभाववश ही जीव और जडरूप भेदकी कल्पना है, इस आशयसे कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

'यह जीवभूत आत्मा है, यह जडभूत पदार्थ है' इस प्रकारका मोह अज्ञानात्माको ही होता है, ज्ञानात्माको कभी नहीं होता ॥ ३१ ॥

अतएव तत्त्ववित् पुरुषको समस्त जगत् एकमात्र आनन्दरसस्वरूप अनुभूत होता है, यह कहते हैं—'अज्ञस्य' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार अन्धे पुरुषको जगत् अन्धकाररूप और सुदृष्टिवालेको प्रकाशस्वरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार अज्ञानीको यह जगत् दुःख-समूहस्वरूप और ज्ञानीको आनन्दप्रचुर प्रतीत होता है ॥ ३२ ॥

जैसे बालककी दृष्टिमें रात्रि स्वभ्रान्तिसे परिकल्पित यक्षवाली और युवा, वृद्ध आदि पुरुषोंकी दृष्टिमें विशुद्ध यक्षवर्जित प्रतीत होती है, वैसे ही ज्ञानी पुरुषको यह जगत् एकमात्र आनन्दमय ब्रह्मस्वरूप अनुभूत होता है और अज्ञानी पुरुषको अत्यन्त दुःखद प्रतीत होता है ॥ ३३ ॥

सदा-सर्वदा चारों ओर अवस्थित, अमृतपूर्ण ब्रह्मरूपी घटमें न कोई मरता है और न कोई जीता है ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार महान् सागरमें उल्लास-विलास होनेपर भी तरङ्ग आदि न उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं, उसी प्रकार आत्मामें भूत-समूह न उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं ॥ ३५ ॥

इदं नास्तीदमस्तीति भ्रान्तिर्नामाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
शक्तिर्निर्हेतुकैवाऽन्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत् ॥ ३६ ॥
जगच्छक्त्याऽऽत्मनाऽऽत्मैव ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम् ।
तरङ्गकणजालेन पयसीव पयो घनम् ॥ ३७ ॥
शरीरनाशेन कथं ब्रह्मणो मृतधीर्भवेत् ॥ ३८ ॥
ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं हि न शरीरादि विद्यते ।
पयसो व्यतिरेकेण तरङ्गादि महार्णवे ॥ ३९ ॥
यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः ।
यः फेनो या च लहरी तद्यथा वारि वारिणि ॥ ४० ॥
यो देहो या च कलना यद्दृश्यं यौ क्षयाक्षयौ ।
या भावरचना योऽर्थस्तया तद्ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ ४१ ॥

'यह नहीं है और यह है' इस प्रकारकी भ्रान्तिरूपी माया किसी तरहके प्रयोजनके बिना आत्माके द्वारा आत्मामें ही उस प्रकार भीतर जगद्रूपसे और तत्-तत् पदार्थोंकी शक्तिरूपसे स्फुरित होती है, जिस प्रकार स्फटिककी अनेक प्रतिबिम्बोंका ग्रहण करनेमें योग्यतासम्पादक स्वच्छता—अनेक तरहके प्रतिबिम्ब और उसके गुण, क्रिया आदि वैचित्र्यके रूपसे अन्दर—प्रस्फुरित होती है। श्रीरामभद्र, जैसे जलमें तरङ्गोंके कणसमूहोंसे घन जल ही स्थित है, वैसे ही अपने-आपमें जगत्की शक्तिके रूपसे ब्रह्म ही अवस्थित है ॥ ३६, ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, शरीरके विनाशसे ब्रह्ममें मृतबुद्धि कैसे हो सकती है ? क्योंकि शरीर आदि ब्रह्मसे उस प्रकार पृथक् नहीं हैं जिस प्रकार महार्णवमें तरङ्गादि जलसे अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ३८, ३९ ॥

जैसे जलमें जो कण है, जो कणिका है, जो वीचि है, जो तरङ्ग है, जो फेन है, और जो लहरी है, वे सब जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्ममें कल्पित जो देह है, जो इन्द्रिय-व्यापार है, जो भोग्य है, जो संपत्ति और विपत्ति है, जो हर्ष, विषाद आदि रचना है और जो पुरुषार्थभोग है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है ॥ ४०, ४१ ॥

संस्थानरचना चित्रा ब्रह्मणः कनकादिव ।
नान्यरूपा विमूढानां मृषैव द्वित्वभावना ॥ ४२ ॥
मनो बुद्धिरहङ्कारस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
ब्रह्मैव सर्वं नानात्म सुखं दुःखं न विद्यते ॥ ४३ ॥
अयं सोऽहमिदं चित्तमित्याद्यर्थोत्थया गिरा ।
शब्दप्रतिश्रवेणाऽद्राविवाऽऽत्माऽऽत्मनि जृम्भते ॥ ४४ ॥
ब्रह्मैवाऽज्ञातमज्ञत्वमभ्यागतमिव स्थितम् ।
तथा हि दृश्यते स्वप्ने चेतसाऽऽत्माऽऽत्मनाऽऽत्मनः ॥ ४५ ॥
अभावितं ब्रह्मतया ब्रह्माऽज्ञानमलं भवेत् ।
अभावितं हेमतया यथा हेम च मृद्भवेत् ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार सुवर्णसे बनी विभिन्न-विभिन्न आकृति-रचनाएँ सुवर्णसे पृथक् नहीं होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मसे हुई चित्र-विचित्र देहादि संस्थानोंकी रचना भी ब्रह्मसे विभिन्न नहीं हो सकती, अज्ञानियोंको वृथा ही उसमें द्वित्वभावना होती है ॥ ४२ ॥

मन, बुद्धि, अहङ्कार, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ आदि सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं है, अतः सुख और दुःख का अस्तित्व ही नहीं हो सकता ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार एक ही शब्द पर्वतकी संनिधिमें प्रतिध्वनिके रूपमें द्विरुक्तकी नाईं विजृम्भित होता है, उसी प्रकार यह, वही मैं, यह चित्त, इत्यादि अर्थोंको लेकर प्रवृत्त वाणीसे आत्मा ही अपनी आत्मामें विजृम्भित होता है ॥ ४४ ॥

अज्ञात ब्रह्म ही जीवरूपता और जगद्रूपता को मानो प्राप्त होकर स्थित है, क्योंकि स्वप्नमें अपने आत्मस्वरूप अन्तःकरणसे आत्मा ही अनेक पदार्थोंके रूपमें दिखाई देता है, इसी बातको भगवान् बादरायण 'आत्मनि चैव विचित्राश्च हि' इस सूत्रसे कहते हैं ॥ ४५ ॥

अज्ञान अत्यन्त विरुद्ध, असंभावित पदार्थका निर्माण करता है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है, ऐसा कहते हैं—'अभावितम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मस्वरूपसे न पहचाना हुआ ब्रह्म उस प्रकार अज्ञानरूप हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णरूपसे न जाना हुआ सुवर्ण मृत्तिकारूप हो जाता है ॥ ४६ ॥

स्वयंप्रभुर्महात्मैव ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ।
अपरिज्ञातमज्ञानमज्ञानामिति कथ्यते ॥ ४७ ॥
ज्ञातं ब्रह्मतया ब्रह्म ब्रह्मैव भवति क्षणात् ।
ज्ञातं हेमतया हेम हेमैव भवति क्षणात् ॥ ४८ ॥
ब्रह्माऽऽत्मा सर्वशक्तिर्हि तद्यथा भावयत्यलम् ।
निर्हेतुकः स्वयं शक्त्या तत्तथाऽऽशु प्रपश्यति ॥ ४९ ॥
अकर्मकर्तृकरणमकारणमनामयम् ।
स्वयंप्रभुं महात्मानं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ५० ॥
अपरिज्ञातमज्ञानामज्ञानमिति कथ्यते ।
परिज्ञातं भवेज्ज्ञानमज्ञानपरिनाशनम् ॥ ५१ ॥

इसीलिए ब्रह्म, अज्ञोंकी दृष्टिसे ही अज्ञानस्वरूप है, ज्ञानियोंकी दृष्टिसे नहीं, ऐसा कहते हैं—**'स्वयम्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मवित् महामुनियोंका यह मत है कि अज्ञात हुआ, स्वयंसमर्थ, महान् आत्मा ब्रह्म ही अज्ञानियों द्वारा अज्ञानशब्दसे व्यवहृत होता है ॥ ४७ ॥

ब्रह्मस्वरूपसे ज्ञात ब्रह्म, तत्क्षण ही उस प्रकार ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णरूपसे ज्ञात सुवर्ण तत्क्षणमें ही सुवर्ण हो जाता है ॥ ४८ ॥

आत्मा समस्त शक्तियोंसे परिपूर्ण स्वयं ब्रह्म है, वह किसी तरहके प्रयोजनके बिना स्वयं जिस-जिस स्वरूपसे यानी जीव और जगद्रूप से या तात्त्विक ब्रह्म-रूपसे जैसी-जैसी भावना करता है, भावनाके बलपर शीघ्र ही उस-उस स्वरूपसे अपने-आपको देखता है ॥ ४९ ॥

इसीलिए तत्त्वज्ञ पुरुष जीव या जगत्के रूपमें उसे नहीं देखते, यह कहते हैं—**'अकर्म०'** इत्यादिसे ।

कर्म, कर्ता और करणों से रहित, कारणसे वर्जित, सर्वविध विकारोंसे शून्य, स्वकीय ज्ञानसे अपनी स्थितिमें स्वयं समर्थ, महान् आत्मा ही ब्रह्म है, यों ब्रह्म-ज्ञानी लोग कहते हैं ॥ ५० ॥

उक्त स्वरूपसे ज्ञात न हुआ ब्रह्म अज्ञानियों द्वारा अज्ञानशब्दसे व्यवहृत

बन्धुरेवाऽपरिज्ञातो ह्यबन्धुरिति कथ्यते ।
परिज्ञातो भवेद्बन्धुरबन्धुभ्रमनाशनात् ॥ ५२ ॥
इदं त्वयुक्तमित्यन्तर्ज्ञाते सोदेति भावना ।
यस्मादयुक्ताद्वैरस्याद्यया किल विरज्यते ॥ ५३ ॥
द्वैतं त्वसत्यमित्यन्तर्ज्ञाने सोदेति भावना ।
तस्माद् द्वैताच्च वैरस्याद्यया किल विरज्यते ॥ ५४ ॥
अयं नाऽहमिति ज्ञाते स्फुटे सोदेति भावना ।
मिथ्याहङ्काररता तस्माद्यया नूनं विरज्यते ॥ ५५ ॥

होता है, और परिज्ञात हुआ, अज्ञानका विनाशक ब्रह्म ही ज्ञानशब्दसे कहा जाता है ॥ ५१ ॥

जिस तरह भली प्रकार अपरिचित बन्धु ही अबन्धु कहा जाता है, परिज्ञात हुआ वही बन्धुशब्दसे व्यवहृत होता है, क्योंकि अबन्धुभ्रम उससे विनष्ट हो जाता है, उसी तरह प्रकृत स्थलमें भी जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

तब जीव और जगत् में ब्रह्ममात्रत्वकी भावना सहसा सभीको क्यों नहीं होती ? यदि कहिए कि वैराग्य नहीं है, इसलिए, तो वैराग्यके हेतुओंका ही पहले निर्वचन करिए, इसपर कहते हैं—'इदं तु' इत्यादिसे ।

'यह समस्त जगत् विचारके लिए अयोग्य है, यों जब अपने अन्दर भली प्रकार निश्चित हो जाता है, तभी वह ब्रह्मभावना उदित हो जाती है क्योंकि इसी एकमात्र विचारणाके द्वारा अयोग्य शुक्ति-रजतमें मिथ्यात्व हो जानेसे रजतकी नाईं पुरुष भोग्यवर्गसे विरक्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

जगत्के विषयमें उक्त विचारणा तत्पदार्थके शोधनके रूपमें पर्यवसित होती है, इस आशयसे जगदंशमें उक्त विषयको स्पष्ट कहते हैं—'द्वैतम्' इत्यादिसे ।

'द्वैत असत्य है' इस प्रकार भीतर द्वैतमें असत्यत्वका ज्ञान हो जानेपर वह ब्रह्मभावना उदित होती है, इसीसे द्वैतकी असत्यता सिद्ध हो जानेके कारण पुरुष द्वैतजालसे विरक्त हो जाता है ॥ ५४ ॥

जीवांशमें भी वह त्वंपदार्थके शोधनरूपसे पर्यवसित होती है, इस आशयसे जीवांशमें उसीको स्फुटतया कहते हैं—'अयम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मैवाऽहमिति ज्ञाने सत्ये सोदेति भावना ।
तस्मिन् सत्ये निजे रूपे यथाऽन्तः परिलीयते ।
सति विस्तारजे तस्मिन् ब्रह्मेदमिति वेद्‍म्यहम् ॥ ५६ ॥
त्वमहंत्वादिबाधे तत्सदित्यादि जगद्गतम् ।
सत्यं सर्वप्रकाराढ्यं ब्रह्मेदमिति वेद्‍म्यहम् ॥ ५७ ॥
न मे दुःखं न कर्माणि न मे मोहो न वाञ्छितम् ।
समः स्वस्थो विशोकोऽस्मि ब्रह्माऽहमिति सत्यता ॥ ५८ ॥

'देह आदि कार्य-कारणसंघात मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जब भीतर विचार उत्पन्न हो जाता है, तब ब्रह्मभावना उत्पन्न होती है, इसीसे अहंभावमें मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है और उससे पुरुष विरक्त होता है ॥ ५५ ॥

पदार्थशोधक फलभूत अखण्ड वाक्यार्थबोधस्वरूपसे भी उसका पर्यवसान होता है, इस आशयसे उसमें जीव और जगद्रूपत्वके बाधस्वरूप लयका स्पष्टीकरण करते हैं—'ब्रह्मैव' इत्यादिसे ।

'मैं एकमात्र ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार सत्यस्वरूप ज्ञान होनेपर ब्रह्मभावना उदित होती है; उस सत्य निजरूपका परिज्ञान होनेपर जीव-जगद्भाव लीन हो जाता है । अखण्डाकार ब्रह्मका अवबोध होनेपर स्थित भी जगत् सदेकरस ब्रह्मस्वरूप ही है, पहलेकी नाईं दुःखस्वरूप नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'सति' से । उस अखण्ड वाक्यार्थके अपरिच्छिन्न स्वभावसे आविर्भूत हो जानेपर यह सब एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही है—ऐसा जानता हूँ ॥ ५६ ॥

अपरिच्छिन्न स्वभावसे अखण्ड वाक्यार्थके आविर्भूत होनेपर जब 'त्वम्' 'अहम्' और 'इदम्' स्वरूपत्वका बाध हो जाता है, तब पूर्वमें प्रसिद्ध सत्, चित्, प्रिय, नाम और रूप ये जो जगद्गत पंचरूप वस्तुजात हैं, उन्हें ब्रह्मरूपसे जानता हूँ ॥ ५७ ॥

मुझे न दुःख है, न कर्म हैं, न मोह है, न कुछ अभिलषित है । परब्रह्मस्वरूपमें अवस्थानका परमपुरुषार्थरूपसे वर्णन करते हैं— 'समः' से । मैं एकरूप, अपने स्वरूपमें स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ—यह सत्य है ॥ ५८ ॥

कलाकलङ्कमुक्तोऽस्मि सर्वमस्मि निरामयः ।
न त्यजामि न वाञ्छामि ब्रह्माऽहमिति सत्यता ॥ ५९ ॥
अहं रक्तमहं मांसमहमस्थीन्यहं वपुः ।
चिदहं चेतनं चाऽहं ब्रह्माऽहमिति सत्यता ॥ ६० ॥
द्यौरहं खमहं सार्कमहमाशा भुवोऽप्यहम् ।
अहं घटपटाकारो ब्रह्माऽहमिति सत्यता ॥ ६१ ॥
अहं तृणमहं चोर्वी गुल्मोऽहं काननाद्यहम् ।
शैलसागरसार्थोऽहं ब्रह्मैकत्वं किल स्थितम् ॥ ६२ ॥
आदानदानसङ्कोचपूर्विका भूतशक्तयः ।
सर्वमेव चिदात्माऽस्मि ब्रह्मण्याततरूपधृक् ॥ ६३ ॥

मैं कलारूपी कलङ्कोंसे निर्मुक्त (तुम, 'मैं' आदि कल्पनाओंसे शून्य) हूँ, मैं सर्वविध विकारोंसे शून्य और सर्वात्मक हूँ, मैं न किसीका परित्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ, मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ, यही नितान्त सत्य है ॥ ५९ ॥

आत्मामें परिच्छिन्नत्व और परोक्षत्व का एकमात्र निराकरण करनेके लिए ही 'त्वम्' और 'तत्' पदार्थका परिशोधन किया गया है, उसका (परिच्छिन्नत्व एवं परोक्षत्व का) निरास करनेपर आत्मामें जब सर्वात्मकत्वका लाभ हुआ, तब तो रक्त, मांस आदि रूप देहप्रभृति भी आत्मस्वरूप ही सिद्ध हुए, अतः उनका निरास करना अपेक्षित नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

मैं ही रक्त हूँ, मैं ही माँस हूँ, मैं ही अस्थियाँ हूँ, मैं ही शरीर हूँ, मैं ही चितिशक्ति हूँ, मैं ही चेतन हूँ, मैं ही ब्रह्मस्वरूप हूँ, यह निश्चित सत्य है ॥६०॥

मैं द्यौ हूँ, मैं सूर्ययुक्त आकाश हूँ, मैं दिशारूप हूँ, मैं विविध पृथ्वीरूप भी हूँ, मैं घट एवं पट का आकार हूँ, मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, यह सत्य है ॥ ६१ ॥

मैं तृण हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं गुल्म (स्कन्धरहित वृक्ष) हूँ, अरण्य आदि भी मैं ही हूँ, पर्वत, सागर और प्राणियोंका समूह भी मैं हूँ, निश्चय ही एकमात्र ब्रह्मैक्य सर्वत्र स्थित है ॥ ६२ ॥

ग्रहण, परित्याग, संकोच आदि जो प्राणियोंके व्यापार हैं, वह सभी कुछ तथा ब्रह्ममें व्यापकरूप धारण करनेवाला चिदात्मा मैं ही हूँ ॥ ६३ ॥

लतागुल्माङ्कुरादीनामहं संभवनैषिणाम् ।
चिदात्माऽन्तर्गतं शान्तं परं ब्रह्म रसात्मकम् ॥ ६४ ॥

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
यो मतः सर्व एकात्मा परं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ ६५ ॥

चिदात्मा ब्रह्म सत्सत्यमृतं ज्ञ इति नामभिः ।
प्रोच्यते सर्वगं तत्त्वं चिन्मात्रं चेत्यवर्जितम् ॥ ६६ ॥

आभासमात्रममलं सर्वभूतात्मबोधकम् ।
सर्वत्राऽवस्थितं शान्तं चिद्ब्रह्मेत्यनुभूयते ॥ ६७ ॥

मनोबुद्धीन्द्रियव्रातसमस्तकलनान्वितम् ।
भेदं त्यक्त्वा स्वमाभासं चिद्ब्रह्माऽहमनामयम् ॥ ६८ ॥

अङ्कुर, टहनी, प्रतान, शाखा आदिका आविर्भाव चाहनेवाले लता, गुल्म, अङ्कुर आदिके भीतर स्थित रसात्मक शान्त परब्रह्मस्वरूप चिदात्मा मैं ही हूँ ॥ ६४ ॥

जिसमें सब कुछ स्थित है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जिसमें सब कुछ तिरोहित हो जाता है, जो चारों ओर व्यापकरूपसे विद्यमान है अतएव जो सर्वात्मक अद्वितीय आत्मस्वरूपसे सम्मत है, वही पर ब्रह्म है, यह निश्चय है ॥ ६५ ॥

चिदात्मा, ब्रह्म, सत्, सत्य, ऋत, ज्ञ इत्यादि नामोंसे व्यापक, चेत्यशून्य, चैतन्यमात्रस्वरूप ब्रह्मतत्त्व ही सर्वत्र कहा जाता है ॥ ६६ ॥

विषयसंसर्गशून्य चैतन्यमात्रस्वरूप, निर्मल, समस्त भूतोंके स्वरूपका अवबोधक, सर्वत्र स्थित, शान्त, चिद्ब्रह्मका ब्रह्मज्ञानी अनुभव करते हैं ॥ ६७ ॥

यदि शङ्का हो कि प्रतिपुरुष मन, बुद्धि और इन्द्रियों की वृत्तियोंका पार्थक्य होनेके कारण आत्मचैतन्यमें भेदका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, फिर वह अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप कैसे हो सकता है ? तो इसपर कहते हैं—'मनो०' इत्यादिसे ।

मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके समूह तथा समस्त वृत्तियोंमें अनुगत, सर्वविध औपाधिक भेदोंका परित्याग कर प्रत्यक्-स्वरूपात्मप्रमाका अवभासक (स्वप्रकाशस्वरूप), निर्विकार चैतन्य ब्रह्म ही मैं हूँ ॥ ६८ ॥

शब्दादीनामशेषाणां कारणानां जगत्स्थितेः ।
तत्त्वावकाशकं स्वच्छं चिद्ब्रह्माऽस्मि न मे क्षयः ॥ ६९ ॥
अनारतगलत्स्वच्छचिद्धारागहनात्मकम् ।
आलोकः सुमनोमौनं चिद्ब्रह्माऽस्म्यमृतं परम् ॥ ७० ॥
अनारतगलद्रूपं नित्यं चाऽनुभवामृतम् ।
अहंनिःशेषचक्राणि चिद्ब्रह्माऽहमलेपकम् ॥ ७१ ॥
सुषुप्तसदृशं शान्तमालोकविमलात्मकम् ।
संभोगोत्तममाभासं चिद्ब्रह्माऽस्म्यपवासनम् ॥ ७२ ॥

समस्त, शब्द स्पर्श आदि विषय; उनके हेतुभूत (आधारभूत) आकाश, वायु आदि तथा इनके द्वारा की गई जगत्स्थिति इन सबकी सत्ताका अवभासक (अस्तित्व प्रकाशस्वरूप), स्वच्छ, चैतन्यरूप ब्रह्म ही मैं हूँ, मेरा कभी विनाश नहीं है ॥६९॥

समस्त वृत्तियोंमें अनुगतत्वका उपपादन कर रहे महाराज वसिष्ठजी उक्त अर्थको ही विस्पष्टरूपसे कहते हैं—'अनारत०' इत्यादिसे ।

अग्निसे निकलनेवाले विस्फुलिङ्गोंकी (चिनगारियोंकी) धाराओंकी नाईं वृत्तिरूप उपाधिधाराओंसे निरन्तर निकल रही चित्-धाराओंके आकरस्थानीय प्रत्यगात्माके स्वरूपभूत, प्रकाशात्मक, योगियोंके द्वारा अनुभूयमान होनेपर भी निर्वचन करनेके लिए असमर्थ तथा परमअमृतमय यानी सर्वातिशायी आनन्दरूप चैतन्य ब्रह्म मैं ही हूँ ॥ ७० ॥

इसका भी पहलेकी नाईं उपपादन करते हुए उक्तार्थको ही कहते हैं—'अनारत०' इत्यादिसे ।

अहंकाररूपी अशेष भोक्ताओंके प्रति तत्-तत् भोग-वृत्तियोंकी धारारूपी उपाधियोंसे, मधुधाराकी नाईं, निरन्तर चू रहे स्वरूपसे युक्त, निरन्तर कूटस्थके नित्यानुभवानन्दैकरसभूत एकरसस्वरूप तथा निर्लेपक परब्रह्मचैतन्यस्वरूप ही मैं हूँ ॥ ७१ ॥

'नित्यं चाऽनुभवामृतम्' इसका समाधिनिष्ठाके अनुभवसे उपपादन करते हुए कहते हैं—'सुषुप्त०' इत्यादिसे ।

सुषुप्तिके सदृश समस्त विकल्पोंसे वर्जित, उपद्रवोंसे रहित, निर्मल प्रकाश-

खण्डादिस्वादुसंवित्तिरीषन्मात्रा तु तिष्ठति ।
चित्तादिष्ववबुद्धेषु तद्धि ब्रह्माऽहमच्युतः ॥ ७३ ॥
कान्तासंसक्तचित्तस्य चन्द्रे समुदिते सति ।
चन्द्रप्रत्ययसत्त्वात्म चिद्ब्रह्माऽहमनामयम् ॥ ७४ ॥
भूमिष्ठनरदृष्टीनां लग्नानां खे निशाकरे ।
या खस्था ननु चिच्छक्तिस्तच्चिद्ब्रह्माऽस्ति निर्मलम् ॥ ७५ ॥

स्वरूप, मनुष्यसे लेकर हिरण्यगर्भ-पर्यन्त होनेवाले विषयसुखोंसे भी अत्युत्तम सुखस्वरूप चारों ओरसे प्रकाशमान तथा वासनाओंसे शून्य चैतन्यात्मक ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ ॥ ७२ ॥

'संभोगोत्तमम्' यह जो पहले कहा, उसे, उपपादन करके, अनुभवमें चढ़ाते हैं—**'खण्डादि०'** इत्यादिसे ।

रसना (जिह्वा) आदि इन्द्रियोंके द्वारा जायमान मिश्रीका टुकड़ा, शर्करा आदि स्वादु पदार्थोंका परिज्ञान ईषन्मात्र—यानी शर्करारसकी जिह्वासे कण्ठप्रदेशप्राप्ति-पर्यन्त स्वल्पतर देश और कालसे परिच्छिन्न —होकर स्थित रहता है । वही ज्ञान—स्वप्रकाश एवं आनन्दैकरसस्वरूपसे अपनी परिच्छिन्नताके हेतुभूत चित्त, चेत्य और चेतयिता के ज्ञात हो जानेपर परिच्छिन्न उपाधिकी विच्युतिदशामें भी च्युतिशून्य आत्मस्वरूप हो जाता है, वही च्युतिशून्य निरतिशयानन्दात्मक ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ ॥ ७३ ॥

विषयरूप उपाधिसे निर्मुक्त होकर ज्ञानकी स्थिति हो ही नहीं सकती अर्थात् अप्रसिद्ध ही है, ऐसी आशङ्का कर उसे प्रसिद्ध करते हैं—**'कान्ता०'** इत्यादिसे ।

चूँकि कान्तामें आसक्त चित्तवाले पुरुषको रात्रिमें चन्द्रमाका उदय होनेपर चन्द्रमा और कान्ता दोनोंके दर्शन-समयमें मध्यवर्ती प्रदेशमें चितिका विच्छेद अनुभूत नहीं होता, अतः जबतक चन्द्रमाका ज्ञान होता रहता है, तबतक अविच्छिन्नसत्तावाला निर्विषयक चैतन्यात्मक ज्ञानस्वरूप ब्रह्म प्रसिद्ध है, तत्स्वरूप ही मैं हूँ ॥ ७४ ॥

आकाशमें स्थित चन्द्रमामें लगे हुए भूमिमें अवस्थित पुरुषोंके नेत्रोंकी

सुखदुःखादिकलनाविकलो निर्मलस्तथा ।
सत्यानुभवरूपात्म चिद्ब्रह्मात्माऽस्मि शाश्वतः ॥ ७६ ॥
असंस्तुताध्वगालोके मनस्यन्यत्र संस्थिते ।
या प्रतीतिरनागस्का तच्चिद्ब्रह्माऽस्मि सर्वगः ॥ ७७ ॥
भूवार्यनिलबीजानां सम्बन्धेऽङ्कुरकर्मसु ।
शक्तिरुद्गमनीयान्तस्तच्चिद्ब्रह्माऽहमाततम् ॥ ७८ ॥
खर्जूरनिम्बबिम्बानां स्वयमात्मनि तिष्ठताम् ।
या स्वादसत्ता लीनान्तस्तद्ब्रह्म चिदहं समः ॥ ७९ ॥

जो आकाशस्थ (मध्यवर्ती आकाश-प्रदेशमें स्थित) चित्-शक्ति है, वही निर्मल चिद्ब्रह्म है ॥ ७५ ॥

उदासीन पुरुषोंको सुख, दुःख आदि आकारवाली अन्य वृत्तियोंके अभाव-कालमें निर्विषय स्वात्मप्रकाश (स्वात्मज्ञान) प्रसिद्ध ही है, इस आशयसे कहते हैं—'सुख०' इत्यादिसे ।

मैं सुख, दुःख आदि कल्पनाओंसे रहित एवं निर्मल हूँ तथा सुख-दुःखाकार वृत्तिके अभाव-दशामें उदासीन पुरुषोंको प्रतीत होनेवाला सत्य अनुभवरूप जो चैतन्य ब्रह्मस्वरूप है, वही अविनाशी मैं हूँ ॥ ७६ ॥

किसी एक देशमें अवस्थित पुरुषका मन, जब अन्यत्र कहीं दूर देशमें चला जाता है, तब वह मन अन्तरालमार्गमें पतित सामनेके पदार्थोंका विस्पष्ट प्रकाश नहीं कर पाता—उन पदार्थोंका निर्विकल्प साक्षात्कार होता है । मनकी उपर्युक्त स्थिति होनेपर अन्तराल देशमें जो निष्पाप यानी विषयसंसर्गसे शून्य प्रतीति होती है, वह चैतन्यात्मक ब्रह्मस्वरूप है, वही सर्वव्यापक मैं हूँ ॥ ७७ ॥

पृथ्वी, जल, वायु और बीजोंका संमेलन होनेपर अङ्कुरादिरूप कार्योंमें बाहर निर्गमनके अनुकूल जो चितिशक्ति भीतर विद्यमान है, वह व्यापक ब्रह्म है, वही मैं हूँ ॥ ७८ ॥

स्वयं अपने जड़स्वभावमें अवस्थित खजूर, निम्ब और बिम्ब आदि फलोंके रसविशेषोंमें भीतर विद्यमान रसनावृत्तिसे अभिव्यक्त हुई प्रकाशस्वरूप जो स्वाद-सत्ता है, वह चिदात्मक ब्रह्म है, वही मैं हूँ ॥ ७९ ॥

खेदानन्दविमुक्तान्तःसंवित्तिर्मननोदया ।
लाभालाभविधौ तुल्या चिद्ब्रह्माऽस्मि निरामयम् ॥ ८० ॥
यावद्भूम्यर्कमेतावद्दृष्टिसूत्रं यदाततम् ।
तन्मध्यसदृशं शान्तं निर्मलं चिदहं ततम् ॥ ८१ ॥
जाग्रत्यपि सुषुप्तेऽपि तत्स्वप्नेऽपि तथोदितम् ।
तुर्यं रूपमनाद्यन्तं चिद्ब्रह्माऽहमनामयम् ॥ ८२ ॥
पुंसां क्षेत्रशतोत्थानामिक्षूणां स्वादुवत्स्थितम् ।
सर्वेषामेकरूपं तच्चिद्ब्रह्माऽस्मि समः स्थितः ॥ ८३ ॥

किञ्च, इष्टकी प्राप्ति और अप्राप्ति होनेपर खेद और आनन्दसे युक्त जो संवित्ति प्रसिद्ध है, वही यदि शास्त्रानुसारी हुए मननसे विशोधित होनेपर खेद एवं आनन्दसे निर्मुक्त हो जाय, तो वह ब्रह्मस्वरूप हो जाती है, ऐसा कहते हैं—**'खेदा०'** इत्यादिसे ।

मननोदयसे विशोधित हुई संवित्ति इष्टप्राप्ति और इष्टकी अप्राप्ति दोनों अवस्थाओंमें खेद और आनन्दसे निर्मुक्त होकर यदि एक-स्वरूप हो जाय, तो वह चिदात्मक निर्विकार ब्रह्मस्वरूप ही है, वही मैं हूँ ॥ ८० ॥

सूर्यका प्रत्यक्ष कर रहे, पृथ्वीमें स्थित पुरुषका पृथ्वीसे लेकर सूर्यपर्यन्त विस्तृत हुआ जो चक्षुरूपी सूत्र है, वह यद्यपि विषयप्रकाशनमें समर्थ है, तथापि यदि उसके मध्यके तुल्य (नेत्र और सूर्य दोनोंसे असम्बद्ध मध्यवर्ती भागके सदृश) विषयप्रकाशनसे निर्मुक्त हो जाय, तो वह शान्त, निर्मल, व्यापक, परब्रह्मस्वरूप चित् ही है, वही मैं हूँ ॥ ८१ ॥

इसी प्रकार जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंका साक्षी आत्मा ही सुषुप्ति आदिका परित्याग होनेपर तुर्यभूत ब्रह्मस्वरूप है, यों कहते हैं—**'जाग्रत्यपि'** इत्यादिसे ।

जाग्रत्, सुषुप्त तथा स्वप्न सभी अवस्थाओंमें साक्षीरूपसे निरन्तर उदित उन अवस्थाओंसे शून्य आदि-अन्तसे रहित तुर्यस्वरूप विकारवर्जित चिदात्मक ब्रह्म ही मैं हूँ ॥ ८२ ॥

सैकड़ों खेतोंसे उत्थित इक्षुदण्डोंमें भीतर स्थित स्वादुरसके सदृश सैकड़ों

सर्वगा प्रकृता स्वच्छरूपा भानोरिव प्रभा।
आलोककारिणी कान्ता चिद्ब्रह्मेदमहं ततम् ॥ ८४ ॥
संभोगानन्दलववदमृतास्वादशक्तिवत् ।
स्वानुभूत्येकमात्रं यच्चिद्ब्रह्माऽस्मि तदव्ययम् ॥ ८५ ॥
प्रोताङ्गमपि गुप्तास्यं देहे तन्तुर्बिसे यथा।
छेदे भेदे स्फुरद्रूपं चिद्ब्रह्माऽहमनामयम् ॥ ८६ ॥
आक्रान्तभुवनाऽप्यभ्रमालेव स्पन्दशालिनी ।
दुर्लक्ष्याणुमयाकारा चिच्छक्तिरहमातता ॥ ८७ ॥

पुरुषोंके भीतर एकरूपसे अवस्थित हुआ वही चैतन्यात्मक ब्रह्म है, तद्रूप मैं हूँ ॥ ८३ ॥

सूर्यकी सर्वत्र व्यापक, स्वाभाविक स्वच्छस्वरूप प्रभाकी नाईं प्रकाश करनेवाली कमनीय चिति ही ब्रह्म है, इन दृश्यमान पदार्थोंके रूपसे वही विस्तृत हुई है, तत्स्वरूप मैं हूँ ॥ ८४ ॥

संभोगानन्दरूपी अंशसे युक्त, अमृत-स्वादकी शक्तिसे समन्वित, अपने एक-मात्र अनुभवके स्वरूपभूत जो अविनाशी ब्रह्म है, वही मैं हूँ ॥ ८५ ॥

उसकी नखाग्रसे लेकर सभी अङ्गोंमें व्याप्ति है और देहका छेद होनेपर भी उसका विच्छेद नहीं होता, यह कहते हैं —'प्रोताङ्ग०' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार कमलके डंठलमें (मृणालमें) विद्यमान सूत्र कमलके सारे शरीरमें व्याप्त होकर रहनेपर भी गुप्तमुख और छेदन एवं भेदन करनेपर प्रस्फुरित रूप होकर दीखता है, उसी प्रकार सारे देहमें व्याप्त होकर रहनेपर भी गुप्तमुख एवं शरीरके छेदन एवं भेदन होनेपर साक्षी होकर स्फुरितरूप होनेवाला, निर्विकार चिद्ब्रह्म मैं हूँ ॥ ८६ ॥

समस्त जलको आक्रान्त करनेवाली वायुकी गतिसे गतिशील और छोटे-छोटे जलकणोंसे रूप—अपना कल्पित आकार—ग्रहण करनेवाली विस्तृत मेघमालाके सदृश समस्त लोकोंको आक्रान्त करनेवाली, वृत्तिरूप उपाधिके स्पन्दनसे स्पन्द-मान एवं सूक्ष्म जीवात्मक कल्पित आकारवाली जो विस्तृत चिच्छक्ति है, वही मैं हूँ ॥ ८७ ॥

अनुभूतिमयान्तस्थस्नेहमात्रोपलक्षिता ।
क्षीराद्घृतस्य सत्तेव चिदहं क्षयवर्जिता ॥ ८८ ॥
कटकाङ्गदकेयूररचना तदतन्मयी ।
हेम्नीव संस्थिता देहे चिद्ब्रह्मात्माऽस्मि सर्वगः ॥ ८९ ॥
पदार्थौघस्य शैलादेर्बहिरन्तश्च सर्वदा ।
सत्तासामान्यरूपेण या चित्सोऽहमलेपकः ॥ ९० ॥
सर्वासामनुभूतीनामादर्शो यो ह्यकृत्रिमः ।
अगम्यो मललेखानां तच्चित्तत्त्वमहं महत् ॥ ९१ ॥
सर्वसङ्कल्पफलदं सर्वतेजःप्रकाशकम् ।
सर्वोपादेयसीमान्तं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९२ ॥
सर्वावयवविश्रान्तं समस्तावयवातिगम् ।
अनारतकचद्रूपं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९३ ॥

जिसका सार अनुभवमात्रसे गम्य है, जो स्नेहसे (चिकनाहट और उत्कट प्रेमसे) उपलक्षित है तथा जो दूधमें घीकी सत्ताकी नाईं क्षयरहित चित्-सत्ता है, वही मैं हूँ ॥ ८८ ॥

जैसे कंकण, बाजूबन्द एवं केयूरकी रचना सुवर्णमें सुवर्णसत्ताकी तरह ही स्थित है, वैसे ही इस देहमें सर्वत्र व्यापक चिद्ब्रह्मात्माकी जो सत्ता स्थित है, वही मैं हूँ ॥ ८९ ॥

पर्वत आदि पदार्थ-समुदायके बाहर एवं भीतर सर्वदा अनुगतरूपसे सत्तावाली जो चित् है, वही मैं निर्लिप्त आत्मा हूँ ॥ ९० ॥

निखिल अनुभववृत्तियोंके भेदोंका जो स्वाभाविक आदर्श अर्थात् दर्पण है और जो मललेखा यानी अज्ञानपंक्तियोंका अविषय है, वह महान् चित्तत्त्व मैं हूँ ॥ ९१ ॥

जगत्स्वामी होनेसे जो संपूर्ण इच्छाओंका फल देनेवाला है, अग्नि, सूर्य आदि तेजोंका जो प्रकाशक है और सभी ग्राह्य वस्तुओंके ग्रहणका प्रयोजनरूप होनेके कारण जो संपूर्ण उपादेय पदार्थोंकी चरम सीमा है, ऐसे चिदाकार आत्माकी हम उपासना करते हैं ॥ ९२ ॥

जो संपूर्ण अवयवोंमें विश्रान्त एवं संपूर्ण अवयवोंसे परे है तथा

घटे पटे तटे कूपे स्पन्दमानं सदा तनौ।
जाग्रत्यपि सुषुप्तस्थं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९४ ॥
उष्णमग्नौ हिमे शीतं मृष्टमन्ने शितं क्षुरे।
कृष्णं ध्वान्ते सितं चन्द्रे चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९५ ॥
आलोकं बहिरन्तस्थं चितं च स्वात्मवस्तुनि।
अदूरमपि दूरस्थं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९६ ॥
माधुर्यादिषु माधुर्यं तीक्ष्णादिषु च तीक्ष्णताम्।
गतं पदार्थजातेषु चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९७ ॥

जिसका सदा-सर्वदा विकसित स्वरूप है, ऐसे चिदाकार आत्माकी हम उपासना करते हैं ॥ ९३ ॥

घट, पट, तीर, कुआँ आदिमें सद्रूपसे स्थित; जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज—इन चतुर्विध शरीरोंमें स्फुरणशील अथवा इन चतुर्विध शरीरोंकी चेष्टाओंमें निमित्तभूत तथा जाग्रत्-अवस्थामें भी सुषुप्तिकी नाईं परमार्थतः निर्विकल्पस्वरूपसे स्थित चिदाकार आत्माकी हम अभेदेन उपासना करते हैं ॥ ९४ ॥

अग्नि आदिमें उष्णता आदिके सत्तास्वरूपोंका चित्से ही स्फुरण होनेके कारण परमार्थतः उष्णता आदि भी चित्स्वरूप ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'उष्ण०' इत्यादिसे।

अग्निमें उष्णतारूप, हिममें शीततारूप, अन्नमें माधुर्यरूप, छेदनहेतु तीक्ष्ण छुरेमें तीक्ष्णतारूप, अन्धकारमें कृष्णतारूप और चन्द्रमें श्वेततारूप चिदाकार आत्माकी हम अभेदरूपसे उपासना करते हैं ॥ ९५ ॥

बाहर एवं भीतर सर्वत्र प्रकाशस्वरूपसे विद्यमान, अपने आत्मपदार्थमें चित अर्थात् स्थित और प्रत्यगात्मरूप (साक्षीरूप) होनेके कारण समीपमें (हृदय-प्रदेशमें) स्थित होनेपर भी अज्ञानसे दूर-प्रदेशमें स्थित हुए चिदाकार आत्माकी हम उपासना करते हैं ॥ ९६ ॥

मिश्री आदि समस्त मधुर पदार्थोंमें माधुर्यरूपताको, मिर्च आदि तीते पदार्थोंमें तीक्ष्णरूपताको प्राप्त हुए चिदाकार आत्माकी हम उपासना करते हैं ॥ ९७ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्यातुर्यातिगे पदे ।
समं सदैव सर्वत्र चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९८ ॥
प्रशान्तसर्वसङ्कल्पं विगताखिलकौतुकम् ।
विगताशेषसंरम्भं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ९९ ॥
निष्कौतुकं निरारम्भं निरीहं सर्वमेव च ।
निरंशं निरहङ्कारं चिदात्मानमुपास्महे ॥ १०० ॥
सर्वस्याऽन्तःस्थितं सर्वमप्यपारैकरूपिणम् ।
अपर्यन्तचिदारम्भं चिदात्मानमुपागतः ॥ १०१ ॥
त्रैलोक्यदेहमुक्तानां तन्तुमुन्नतमाततम् ।
प्रचारसङ्कोचकरं चिदात्मानमुपागतः ॥ १०२ ॥
लीनमन्तर्बहिःस्वाप्तान् क्रोडीकृत्य जगत्खगान् ।
चित्रं बृहज्जालमिव चिदात्मानमुपागतः ॥ १०३ ॥

जाग्रत्-अवस्था, स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति-अवस्था में एकरूपसे स्थित, तुरीय-पद और उससे भिन्न अन्य पदोंका अतिक्रमण कर परमपदमें अवस्थित, सभी स्थलोंमें सर्वदा समरूपसे रहनेवाले चिदाकार आत्माकी हम उपासना करते हैं ॥ ९८ ॥

जिसके सभी सङ्कल्प अर्थात् मानस कर्म शान्त हो गये हैं, जो निखिल कामोंसे रहित है, जो सभी प्रकारके क्रोधसे शून्य है, ऐसे चिदाकार आत्माकी हम उपासना करते हैं ॥ ९९ ॥

विषय-भोगकी उत्कण्ठासे शून्य, प्रयत्नसे रहित, चेष्टासे वर्जित, एकमात्र परिपूर्ण तथा अंश और अहंकार से रहित चिदाकार आत्माकी हम उपासना करते हैं ॥ १०० ॥

जो सब भूतोंके भीतर अवस्थित है, सर्वात्मक होते हुए भी जो दुरधिगम्य एवं एकरूप है तथा जो असंख्य प्रतिबिम्बभूत चैतन्योंका (जीवोंका) आरम्भक है, ऐसे चिदात्म-स्वरूपको मैं प्राप्त हो गया हूँ ॥ १०१ ॥

जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति को करनेवाले, त्रैलोक्यमें रहनेवाले देहरूप मोतियोंकी मालामें व्याप्त तन्तुरूपसे स्थित चिदात्मरूपताको मैं प्राप्त हो गया हूँ ॥ १०२ ॥

बाहर और भीतरसे अपने द्वारा व्याप्त हुए जगद्रूपी पक्षियोंको, विचित्र

सर्वं यत्रेदमस्त्येव नाऽस्त्येव च मनागपि।
सदसद्रूपमेकं तं चिदात्मानमुपागतः ॥ १०४ ॥
परमप्रत्ययं पूर्णमास्पदं सर्वसम्पदाम् ।
सर्वाकारविहारस्थं चिदात्मानमुपागतः ॥ १०५ ॥
स्नेहाधारमथोऽशान्तं जडवाताहतिभ्रमैः ।
युक्तं मुक्तं च चिद्दीपं बहिरन्तरुपास्महे ॥ १०६ ॥
हृत्सरःपद्मिनीकन्दं तन्तुं सर्वाङ्गसुन्दरम् ।
जनताजीवनोपायं चिदात्मानमुपागतः ॥ १०७ ॥

बड़े जालकी नाईं, अपने भीतर फँसा करके गुप्तरूपसे स्थित हुए चिदाकार आत्मरूपताको मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥ १०३ ॥

एकमात्र जिसमें यह सब जगत् विद्यमान है और जिसमें परमार्थतः कुछ भी नहीं है, ऐसे अद्वितीय, सृष्टिकालमें सबकी सत्ताका निर्वाहक होनेसे सद्रूप और प्रलयकालमें सबकी सत्ताका निर्वाहक न होनेसे असद्रूप उस चिदात्मस्वरूपको मैं प्राप्त हो गया हूँ ॥ १०४ ॥

अत्यन्त विश्वासके योग्य अथवा चिदेकरस, पूर्णरूप, संपूर्ण सुख-लेशोंके प्रतिष्ठाभूत और सभी प्रकारके विहारोंमें स्थित उस चिदात्मरूपको मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥ १०५ ॥

स्नेह अर्थात् तेलके आश्रयी तथा वर्षाकालीन वायुओंसे उत्पन्न भँवरोंसे न बुते हुए दीपककी नाईं निरुपाधि प्रेमरूप स्नेहके आश्रयी, देह एवं प्राण-वायुके अध्याससे जनित भ्रमोंके द्वारा नष्ट नहीं हुए युक्त (भ्रान्तदृष्टिसे उन देह, प्राण आदिके अध्यासरूप भ्रमोंसे युक्त) और मुक्त (तत्त्वदृष्टिसे उनसे रहित) चिद्रूप दीपकी हम लोग बाहर एवं भीतरसे उपासना करते हैं ॥ १०६ ॥

कमलिनीके जड़की नाईं हृदयरूपी सरोवरमें गुप्त होकर अवस्थित; हाथ, पैर आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके दृढ़ बन्धनमें, सुन्दर रस्सीकी तरह, हेतुभूत तन्तु; एवं जनसमुदायके जीवनके उपायभूत चिदाकार आत्मस्वरूपको मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥ १०७ ॥

अक्षीरार्णवसम्भूतमशशाङ्कमुपस्थितम् ।
अहार्यममृतं सत्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥ १०८ ॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धैराभासमागतम् ।
तैरेव रहितं शान्तं चिदात्मानमुपागतः ॥ १०९ ॥
आकाशकोशविशदं सर्वलोकस्य रञ्जनम् ।
न रञ्जनं न चाऽऽकाशं चिदात्मानमुपागतः ॥ ११० ॥
महामहिम्ना सहितं रहितं सर्वभूतिभिः ।
कर्तृत्वे वाऽप्यकर्तारं चिदात्मानमुपागतः ॥ १११ ॥
अखिलमिदमहं ममैव सर्वं
त्वहमपि नाऽहमथेतरञ्च नाऽहम् ।

प्रसिद्ध 'अमृत' पदार्थसे इसकी विलक्षणता बतलाते हैं—'अक्षीरा०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, जो क्षीरसमुद्रसे उत्पन्न अमृतसे विलक्षण है, जो चन्द्रमामें स्थित अमृतसे भी विलक्षण है, जो सदा-सर्वदा प्राप्त ही रहता है और जो गरुड आदिसे अपहृत नहीं किया जा सकता, उस सत्य एवं अमृतरूप चिदात्माकी हम-लोग उपासना करते हैं ॥ १०८ ॥

जिसके द्वारा शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध—ये पाँच विषय अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं अर्थात् इनका अनुभव जिस साक्षीरूप चैतन्यसे होता है, ऐसे, परमार्थतः उन विषयोंसे रहित, अतएव शान्त उस चिदात्मस्वरूपको मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥ १०९ ॥

जो आकाश-मण्डलकी नाईं विस्तृतरूपवाला है, जो अपनी व्याप्तिके द्वारा संपूर्ण लोकोंकी अभिव्यक्ति करता है, वस्तुतः जो किसीकी न अभिव्यक्ति करता है और न आकाश-मण्डलके सदृश ही है, ऐसे चिदाकार आत्मस्वरूपको मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥ ११० ॥

जो बड़ी-बड़ी विभूतियोंसे युक्त है और जो अद्वैत-दृष्टिसे समस्त विभूतियों एवं महिमाओंसे रहित है तथा जो मायाशबलित होकर जगत्का कर्ता होते हुए भी यथार्थमें अकर्ता है, ऐसे चिदाकार आत्मस्वरूपको मैं प्राप्त हुआ हूँ ॥ १११ ॥

तादात्म्यके अध्यारोपकी दृष्टिसे यह सब जगत् मैं ही हूँ, संसर्गके अध्यारोपकी दृष्टिसे यह सब (जगत्) मेरा ही है, अपवादकी दृष्टिसे तो अहंताके आरोपमें निमित्तभूत अहंकार भी मैं नहीं हूँ तथा देह आदि इतररूप तो मैं सुतरां

इति विदितवतो जगत्कृतं मे
स्थिरमथवाऽस्तु गतज्वरो भवामि ॥ ११२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तनिश्चययोगोपदेशो नाम एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति निश्चयवन्तस्ते महान्तो विगतैनसः ।
सत्याः सत्ये पदे शान्ते समे सुखमवस्थिताः ॥ १ ॥
इति पूर्णधियो धीराः समनीरागचेतसः ।
न निन्दन्ति न नन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥ २ ॥

नहीं हूँ, इस प्रकार अध्यारोप एवं अपवादसे आत्मतत्त्वको जान लेनेवाले मेरे लिए यह जगत् कृत्रिम—मायामय—रहे चाहे अकृत्रिम—आत्मरूप—ही रहे, दोनों तरहसे भी मैं सन्तापरहित हूँ ॥ ११२ ॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

[बाहरसे राग एवं सङ्ग से शून्य और भीतरसे स्वच्छ एवं आत्मस्वरूपसे प्रकाशमान, गुरु वसिष्ठ द्वारा कही गई जनकादि ऋषियोंकी स्थितिका श्रीरामजीने ग्रहण किया—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, पूर्वसर्गमें दर्शित निश्चयवाले अतएव पापरहित, सद्रूप ब्रह्ममें निष्ठासम्पन्न वे जीवन्मुक्त महात्मा जनक आदि एकरूप, निर्विकार, सत्य पदमें यानी शोधिततत्पदार्थरूप भीतरी परमपदमें सुख-पूर्वक अवस्थित हुए ॥ १ ॥

बाहरसे जिनकी बुद्धि पूर्ण है अर्थात् जिन्होंने त्वंपदार्थका शोधन कर

इत्यलक्ष्यचमत्कारा नारायणभुजा इव ।
ऋजवः स्खलिताकारा अपरा इव मेरवः ॥ ३ ॥
रेमिरे वनखण्डेषु द्वीपेषु नगरेषु च ।
देवोपवनमालासु स्वर्गेषु च सुरा इव ॥ ४ ॥
रेमुः कुसुमपूर्णासु दोलान्दोलचलासु च ।
विचित्रवनलेखासु मेरुशृङ्गशिखासु च ॥ ५ ॥
चक्रुर्विजितशत्रूणि चामरच्छत्रवन्ति च ।
विचित्रार्थानि राज्यानि चित्राचारमयानि च ॥ ६ ॥
अनुजग्मुरिमान् सर्वान्नानाचारविचेष्टितान् ।
श्रुतिस्मृत्युदितारम्भामितिकर्तव्यतामिति ॥ ७ ॥

लिया है, अतएव बाहर एवं भीतर से सम और रागशून्य चित्तवाले तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त अपने जीवन एवं मरणकी न स्तुति करते हैं और न निन्दा ही करते हैं ॥ २ ॥

इस प्रकार वे जीवन्मुक्त महात्मा, नारायणकी भुजाओंके सदृश, सूक्ष्मतम भी लक्ष्यका यानी ब्रह्मरूप लक्ष्यका वेधन करनेमें पटुतारूपी चमत्कृति रखते हैं और सरल एवं नम्र-स्वभाव होते हुए भी मेरुपर्वतके समान अटल होकर स्थित रहते हैं ॥ ३ ॥

उनका समदृष्टिसे विहार बतलाते हैं—'रेमिरे' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जैसे देवता लोग स्वर्गमें रमण करते हैं, वैसे ही ये जीवन्मुक्त महात्मा लोग वन-खण्डों, द्वीपों, नगरों तथा देवताओंके उपवनोंमें अर्थात् उद्यान-मालाओंमें रमण करते थे यानी समदृष्टि होकर वे सर्वत्र समानभावसे विहार करते थे, यह भाव है ॥ ४ ॥

फूलोंसे पूर्ण, झूलेके आन्दोलनोंसे चंचल चित्र-विचित्र वनोंकी पंक्तियोंमें एवं मेरुपर्वतकी चोटियोंके ऊपर विहार करते थे ॥ ५ ॥

जिनमें शत्रुओंको जीत लिया गया है, जो छत्र एवं चामर से युक्त हैं, जिनमें धर्म, अर्थ एवं कामरूप त्रिविध पुरुषार्थोंको देनेवाले त्रिविध वर्णाश्रम-धर्म एवं तदनुसारी आचार हैं, ऐसे राज्योंको भी वे जीवन्मुक्त महात्मा करते थे ॥ ६ ॥

वे अनेक प्रकारके शिष्टाचारोंसे अनुष्ठित इन सभी धर्मोंका स्वयं अनुष्ठान करते

ईदृशीरमणीयेषु ललनाहास्यहारिषु ।
विहाराहाररम्येषु भोगाभोगेषु भूषिताः ॥ ८ ॥
विविशुश्चारुचूतासु मन्दारवलितासु च ।
अप्सरोगीतपूर्णासु नन्दनोद्यानभूमिषु ॥ ९ ॥
सचराचरभूतेषु विश्रान्ताखिलजन्तुषु ।
यज्ञक्रियाकलापेषु गार्हस्थ्येषु यथाक्रमम् ॥ १० ॥
तेरुर्हतगजेन्द्रासु भ्रान्तभूरिशिवासु च ।
भेरीभाङ्कारभीमासु संग्रामार्णववीथिषु ॥ ११ ॥
तस्थुः परुषचित्तासु हृतवित्तोद्धतासु च ।
संरम्भक्षोभरौद्रीषु सर्वासु द्वन्द्वरीतिषु ॥ १२ ॥

थे। इसी प्रकार श्रुति एवं स्मृतिसे बतलाई गई कर्तव्यतावाले साङ्ग यज्ञ आदिका भी अनुष्ठान करते थे ॥ ७ ॥

दृष्ट-अदृष्ट साधनसम्पत्तियोंसे रमणीय, स्त्रियोंकी हँसीके सदृश मनका अपहरण करनेवाले और विहार एवं आहारमें सुन्दर भोगोंके समूहोंसे वे भूषित थे ॥ ८ ॥

कमनीय आम्रवृक्षोंसे युक्त, मन्दारकी मालाओंसे परिवेष्टित, अप्सराओंके मनोहर गीतोंसे परिपूर्ण नन्दनवनकी उद्यानभूमियोंमें प्रवेश करके वे जीवन्मुक्त उपभोग करते थे ॥ ९ ॥

चराचर भूतोंसे युक्त समस्त भुवनोंमें, निखिल प्राणियोंके सुखोंके साधन यज्ञादि क्रियाकलापोंमें एवं गृहकर्मोंमें वे तत्त्ववित् यथाक्रम प्रविष्ट होते थे ॥१०॥

वे जीवन्मुक्त महात्मा, जिनमें अनेक बड़े-बड़े हाथी मारे गये हैं, अनेक शृगाल और शृगाली जिनमें परिभ्रमण कर रहे हैं और जो नगारोंके भांकारध्वनियोंसे भयंकर हैं, ऐसे संग्रामरूपी समुद्रोंके मार्गोंको भी पार कर चुके थे ॥ ११ ॥

वे महात्मा—जिनमें चित्तको क्लेश सहना पड़ता है, जो धनका अपहरण किये हुए शत्रुओंसे पराभूत हैं तथा क्रोध, क्षोभ आदिसे भयंकर हैं, ऐसी सभी शीतोष्णादि द्वन्द्वरीतियोंमें यानी विपत्तियोंमें—दृढतापूर्वक स्थित रहते थे ॥ १२ ॥

मनस्तेषां तु नीरागमनुपाधि गतभ्रमम् ।
असक्तं मुक्तमाशान्तं परं सत्त्वपदं गतम् ॥ १३ ॥
न ममज्जुः क्वचिदपि सङ्कटेषु महत्स्वपि ।
महद्‌प्युपयातेषु कुलशैलाः सरस्स्विव ॥ १४ ॥
नोल्लुलास विलासिन्या श्रिया परमकान्तया ।
परिपूर्णेन्दुलक्ष्म्येव जलराशी रघूद्वह ॥ १५ ॥
न मम्लौ दुःखशोकेन ग्रीष्मेणेव वनस्थलम् ।
जहर्ष च न भोगौघैरवश्यायैरिवौषधिः ॥ १६ ॥
ते हि केवलमव्यग्राः कुर्वन्तः काममञ्जरीः ।
इष्टानिष्टफलं राम नाऽभिलेषुर्न तत्यजुः ॥ १७ ॥
नोदगुः कार्यसंपत्तावाक्रान्ता नाऽस्तमाययुः ।
जहृषुर्न सुखप्राप्तौ मम्लुर्नैव च सङ्कटे ॥ १८ ॥

उन जीवन्मुक्तोंका मन रागसे शून्य, उपाधिरहित, अभ्रान्त, आसक्तिसे शून्य, मुक्त, चारों ओरसे शान्त एवं उत्तम सत्त्वरूपताको प्राप्त हुआ था ॥ १३ ॥

इसीलिए बड़े-बड़े संकट भी उनके पास पहुँचे या सर्वातिशायी ऐश्वर्यको भी वे प्राप्त होवें, किसी भी दशामें वे—सरोवरोंमें हिमालय आदि कुलपर्वतोंकी नाईं—व्यग्र नहीं होते थे ॥ १४ ॥

हे रघुकुलशिरोमणे श्रीरामजी, जैसे पूर्णचन्द्रकी कान्तिसे समुद्र उल्लासको प्राप्त होता है (ज्वारभाटोंसे युक्त होकर चंचलताको प्राप्त होता है), वैसे इन तत्त्ववित्-पुरुषोंका मन अत्यन्त कमनीय लक्ष्मी और कामिनीसे उल्लासको (चंचलताको) प्राप्त नहीं होता था । यहाँ समुद्र व्यतिरेकिदृष्टान्त है, यह जानना चाहिए ॥१५॥

तत्त्ववित्‌का मन दुःख एवं शोक से, ग्रीष्मकालमें वनस्थलकी नाईं, मलीनताको (मुरझाहटको) प्राप्त नहीं हुआ और न भोगोंके समूहोंसे, ओससे औषधिकी नाईं, प्रसन्नताको ही प्राप्त हुआ ? ॥ १६ ॥

हे श्रीरामजी, वे तत्त्ववित् महात्मा कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर भोगरूपी मंजरियोंका अनुभव करते हुए भी इष्ट एवं अनिष्ट फलकी न अभिलाषा करते थे और न उन्हें छोड़ ही देते थे, यह आप निश्चयसे जानिए ॥ १७ ॥

वे शत्रुजय आदिरूप संपत्ति प्राप्त होनेपर न उत्कर्षको प्राप्त होते थे

मुमुहुर्न विमोहेषु न ममज्जुर्विपत्क्रमैः ।
न जहर्षुः शुभैः शोके रुरुदुर्न भवानिव ॥ १९ ॥
प्राकृताचारसंप्राप्ते कुर्वन्तः कर्म केवलम् ।
स्थिता विगतसंरम्भमपरा इव मेरवः ॥ २० ॥
तां त्वं दृष्टिमवष्टभ्य राघवाऽघविनाशिनीम् ।
अनहंकृत्यहङ्कारो विहरस्व यथाक्रमम् ॥ २१ ॥
यथाभूतामिमामेव पश्यन्सर्गपरम्पराम् ।
मेरुस्थितोऽब्धिगम्भीरः सममास्स्व गतभ्रमः ॥ २२ ॥

और न शत्रुओंसे आक्रान्त होनेपर अपकर्षको ही प्राप्त होते थे। वे सुख पाने पर न हर्षित ही होते थे और न दुःख पानेपर खिन्न ही होते थे ॥ १८ ॥

मोहके कारणभूत दुःखोंके प्राप्त होनेपर न मोहित होते थे और न विपत्तियोंके आक्रमणोंसे विचलित ही होते थे। श्रीरामजी, वे महात्मा शुभोंसे अर्थात् अच्छे कार्योंसे न प्रसन्न ही होते थे और न शोकोंसे आपकी नाईं रोते ही थे ॥ १९ ॥

अपने-अपने वर्णाश्रमोंके अनुकूल सदाचारोंसे प्राप्त विषयोंमें केवल कर्म करते हुए क्रोधरहित होकर मानो दूसरे मेरुपर्वतकी नाईं स्थित रहते थे ॥ २० ॥

हे राघव, पापोंका नाश करनेवाली तत्त्ववित् जीवन्मुक्तोंकी उस दृष्टिका अवलम्बन कर आप अहंकृतिरूप दोषसे पृथक् किये गये शुद्ध चिन्मात्रमें आत्म-बुद्धि करते हुए यथाप्राप्त व्यवहारके अनुसार विहार कीजिए ॥ २१ ॥

श्रीरामजी, इसी सृष्टिकी परम्पराको यथास्थित दृष्टिसे देखते हुए आप मेरुपर्वतकी तरह स्थिर, समुद्रकी तरह गंभीर एवं भ्रमशून्य होकर समतापूर्वक स्थिर रहिए ॥ २२ ॥

वह यथाभूत दर्शन कैसा है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'चिन्मात्रम्' इत्यादिसे ।

चिन्मात्रं सर्वमेवेदमित्थमाभासतां गतम् ।
नेह सत्यमसत्यं वा क्वचिदस्ति न किञ्चन ॥ २३ ॥

महत्तामलमालम्ब्य त्यक्त्वेदमवहेलया ।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र भव भव्य भवक्षयी ॥ २४ ॥

किं रोदिषि घनोद्वेगं मूढवच्चाऽनुशोचसि ।
भ्रमस्युद्भ्रान्तचित्तश्च सौम्यावर्ते तृणं यथा ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

अहो नु भगवन्नूनं सम्यग्जातमलक्षयः ।
त्वत्प्रसादात्प्रबुद्धोऽस्मि सूर्यसङ्गादिवाऽम्बुजम् ॥ २६ ॥
भ्रान्तिरस्तं गता नूनं मिहिका शरदीव मे ।
संशान्ताखिलसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ २७ ॥

श्रीरामजी, इस प्रकार प्रतीत होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् केवल चिन्मात्रस्वरूप ही है, यहाँ सत्य या असत्य कहीं कुछ भी पदार्थ नहीं है और न किसीका अस्तित्व ही है ॥ २३ ॥

हे कल्याणकारी श्रीरामजी, ब्रह्मरूपताका पर्याप्त अवलम्बन कर और संसारका अनादरपूर्वक त्यागकर सर्वत्र अनासक्तबुद्धि होते हुए आप संसारका नाश करनेवाले हो जाइए ॥ २४ ॥

हे शान्त श्रीरामचन्द्रजी, अत्यन्त उद्विग्नतापूर्वक आप क्यों रो रहे हैं, मूढकी तरह शोक क्यों कर रहे हैं और जल-भौंरोंमें तृणकी नाईं भ्रान्त-चित्त होकर क्यों चलायमान हो रहे हैं ? ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, आपकी कृपासे मेरे अज्ञानरूपी मलका भली प्रकार क्षय हो गया है और मैं सूर्यके सम्बन्धसे कमलकी नाईं प्रबुद्ध हुआ हूँ ॥ २६ ॥

शरत्कालमें कुहरेकी नाईं मेरी भ्रान्ति नष्ट हो गयी है। अब संपूर्ण सन्देहोंसे शान्त हुआ मैं आपके वचनोंका पालन करूँगा ॥ २७ ॥

व्यपगतमदमोहो मानमात्सर्यमुक्त-
श्चिरतरमुदितात्मा शान्तशोकश्चिरेण ।
पुनरसुखमगच्छन्स्वच्छयैकान्तबुद्ध्या
यदिह वदसि साधो तत्करिष्येऽविशङ्कम् ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तसंशयनिरूपणं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥



त्रयोदशः सर्गः

श्रीराम उवाच

सम्यग्ज्ञानविलासेन वासनाविलयोदये ।
जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मन्नूनं विश्रान्तवानहम् ॥ १ ॥

हे साधो, मेरा मद और मोह निकल गया, मैं मान एवं मात्सर्य अर्थात् डाहसे रहित हो चुका । अत्यन्त चिरकालके बाद मेरी आत्मा आनन्दयुक्त हुई और दीर्घकालमें मेरा शोक-शान्त हुआ । अब फिर मैं आत्मबन्धनरूप भ्रमको प्राप्त नहीं होऊँगा, अतः निश्चित बुद्धिसे इस उपदिष्टार्थके विषयमें जिस किसी दृढताके साधनका या अन्य किसी राज्यपालनादि कर्तव्य-विशेषका आप उपदेश देंगे, शङ्कारहित होकर मैं उसका अनुष्ठान करूँगा ॥ २८ ॥

बारहवाँ सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

[पहले तत्त्वज्ञानसे वासनानाशका प्रकार बतलानेके अनन्तर अब प्राणनिरोधरूप योगसे वासना विनाशका प्रकार बतलानेके लिए रची जा रही भूमिकाका वर्णन]

उपशम प्रकरणमें दिखलाये गये वासनानाशके हेतुभूत ज्ञान और योग दोनों प्रकारोंमेंसे उत्तम अधिकारीके विषय ज्ञानरूप उपायसे वासनाविनाशरूपी

प्राणस्पन्दनिरोधेन वासनाविलयोदये ।
जीवन्मुक्तपदे ब्रह्मन्वद विश्रम्यते कथम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।
तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम् ॥ ३ ॥
आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि ।
द्वितीयः प्राणसंरोधः शृणु योऽयं मयोच्यते ॥ ४ ॥

फल पाकर यद्यपि कृतार्थ हो चुके थे, तथापि मन्द एवं मध्यम अधिकारियोंके उपकारके लिए योगरूपी उपायसे भी वासनाविनाशकी रीति जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'सम्यक्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

श्रीरामजीने कहा—हे ब्रह्मन्, तत्त्वज्ञानकी महिमासे वासनाका विनाश हो जानेपर जीवन्मुक्त पदमें मैं भली प्रकार विश्रान्ति पा चुका हूँ । हे ब्रह्मर्षे, अब कृपाकर मुझसे यह बतलाइये कि प्राणवायुकी गतिके अवरोधसे वासनाका विनाश हो जानेपर जीवन्मुक्त पदमें विश्रान्ति कैसे पायी जाती है ? ॥ १, २ ॥

प्रश्नका उत्तर कहनेके लिए महाराज वसिष्ठजी भी उपशम-प्रकरणमें कहे गये राजयोग और हठयोग—इन दो प्रकारोंका ही स्मरण कराते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—'संसारो०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, संसारसागरसे पार उतरनेमें जो उपाय है, वही 'योग' शब्दसे कहा जाता है, चित्तका विलय करनेवाला वह उपाय दो प्रकारका है, यह आप जानिए । इसका प्रथम प्रकार आत्मज्ञान है, जो संसारमें प्रसिद्ध है और द्वितीय प्रकार प्राणनिरोध है, जिसे मैं कहता हूँ, [आप सावधान होकर] सुनिए ॥ ३,४ ॥

श्रीराम उवाच

सुलभत्वाददुःखत्वात् कतरः शोभनोऽनयोः ।
येनाऽवगतमात्रेण भूयः क्षोभो न बाधते ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्रकारौ द्वावपि प्रोक्तौ योगशब्देन यद्यपि ।
तथापि रूढिमायातः प्राणयुक्तावसौ भृशम् ॥ ६ ॥
एको योगस्तथा ज्ञानं संसारोत्तरणक्रमे ।
समावुपायौ द्वावेव प्रोक्तावेकफलप्रदौ ॥ ७ ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः ॥ ८ ॥

पहले 'उन दोनोंमें कौनसा प्रकार सुकर है' यों विशेषरूपसे श्रीरामजी पूछते हैं —'सुलभत्वात्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे गुरो, उपर्युक्त योगोंके दो प्रकारोंमें ऐसा कौन प्रकार सरल और कष्टरहित होनेसे उत्तम है, जिसके कि एकमात्र अवगत होनेपर विक्षेप फिर बाधा नहीं पहुँचाता, कृपाकर उसे बतलाइये ॥ ५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, यद्यपि शास्त्रोंमें 'योग' शब्दसे उपर्युक्त दोनों ही प्रकार (आत्मज्ञान और प्राणसंरोध) कहे गये हैं, तथापि यह योगशब्द प्राणनिरोधमें ही अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है ॥ ६ ॥

संसारसागरसे पार उतरनेकी पद्धतिमें एक योग अर्थात् प्राणनिरोध और दूसरा ज्ञान—ये दोनों एकफल देनेवाले समान उपाय हैं, यों मुनियों द्वारा कहा गया है ॥ ७ ॥

किसीके लिए यानी प्राणनिरोधजन्य दुःखके सहनेमें असमर्थ सुकुमारचेता, पुरुषके लिए योग—हठयोग—असाध्य है और किसीके लिए यानी विचारमें अकुशल कठोरचेता पुरुषके लिए ज्ञाननिश्चयरूप दूसरा योग असाध्य है । परन्तु शुद्धचित्त और विचारमें कुशल मुझे तो—ज्ञाननिश्चयरूप दूसरा योग ही सुसाध्य है, ऐसा अभिमत है ॥ ८ ॥

अज्ञानं पुनरज्ञातं स्वप्नेष्वपि न तद्भवेत् ।
ज्ञानं सर्वास्ववस्थासु नित्यमेव प्रवर्तते ॥ ९ ॥
धारणासनदेशादिसाध्यत्वेन सुसाध्यताम् ।
नाऽऽयाति योगो ह्यथवा विकल्पो नैव शोभनः ॥ १० ॥
द्वावेव किल शास्त्रोक्तौ ज्ञानयोगौ रघूद्वह ।
तत्रोक्तं भवते ज्ञानमन्तस्थं ज्ञेयनिर्मलम् ॥ ११ ॥

ज्ञान और अज्ञानके स्वरूपका विवेक करनेकी सामर्थ्य न रहनेपर ही विचारमें अपटुता होती है, परन्तु वह असामर्थ्य प्रमाणमें कुशल पुरुषके लिए तो स्वप्नमें भी नहीं रह सकती, इस आशयसे कहते हैं—'अज्ञानम्' इत्यादिसे ।

वह प्रसिद्ध अज्ञान स्वप्नमें भी अज्ञात नहीं रह सकता और ज्ञान भी सभी अवस्थाओंमें सदा ही स्वयं प्रकाशमान रहता है । चूँकि अज्ञान सदा ही साक्षी द्वारा भासित होता है, ज्ञान स्वयंप्रकाश होनेसे स्वतः ही प्रकाशमान रहता है और इन दोनोंका वैधर्म्य अनुभवसे ही प्रस्फुरित है, इसलिए ज्ञान-अज्ञानका विवेक हो जानेसे आत्मज्ञानरूप योग सुकर है, प्राणनिरोधरूप योग वैसा न होनेसे दुष्कर है, यह भाव है ॥ ९ ॥

प्रशस्त देश, काल, विषय आदि बाह्य हेतुओंकी अपेक्षा होनेसे भी योग दुष्कर है, यों कहते हैं—'धारणा०' इत्यादिसे ।

चूँकि, यह प्राणसंरोधरूप योग धारणादेश (बाह्य पर्वत-शिखर, चन्द्र, तारा आदि देश और आन्तर हृदय, कण्ठ, तालुमूल, भ्रूमध्य आदि देश), आसन-देश (सम; पवित्र; कंकड़, अग्नि और बालुकासे वर्जित; कलकल ध्वनि, जलाश्रय आदिसे शून्य; मनोहर; चक्षुमें पीडा न पहुँचानेवाला आदि विशेषणोंसे श्रुतिस्मृतिमें वर्णित आसनदेश) आदिसे साध्य है, अतः सुख-साध्य नहीं हो सकता । [निरुत्साह, मूढबुद्धि, मूर्ख कापुरुषोंकी नाईं पण्डित, समर्थ और प्रयत्नशील अधिकारी पुरुषको शास्त्रीय साधनोंमें सुखसाध्यत्व और कष्टसाध्यत्वका विकल्प कर चिन्ता करना उचित नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'अथवा' से ।] श्रीरामजी, अथवा आपके लिए सुखसाध्यत्व और कष्टसाध्यत्वका विचार करना उचित नहीं है ॥ १० ॥

इस प्रकार अवान्तर प्रश्नका (बीचमें आये हुए 'कतरः शोभनः' वाले प्रश्नका)

प्राणापानतया रूढो दृढदेहगुहाशयः ।
अनन्तसिद्धिदः साधो योगोऽयं बुद्धिदः शृणु ॥ १२ ॥
मुखानिलस्फुरणनिरोधसंभव-
स्थितिं गतो नृपसुत चेतसाऽक्षये ।
समाहितस्थितिरिह योगयुक्तितः
परे पदे प्रगलितगीर्निवत्स्यसि ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे ज्ञानविचारयोगोपदेशो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥



निरासकर पहले प्रश्नका उत्तर देनेके लिए उपक्रम करते हैं—'द्वावेव' इत्यादिसे ।

हे रघुवीर, ज्ञान और योग—ये दोनों ही उपाय शास्त्रोंमें कहे गये हैं । उन दोनोंमें से आत्मपदार्थरूप ज्ञेयको निर्मल करनेवाला सब ज्ञानोंसे परे स्थित आत्मज्ञान आपको बतलाया गया । हे साधो, अब आप यह योग, जो कि प्राण और अपानकी समतारूपसे प्रसिद्ध है, दृढ देहरूपी गुहाका आश्रयण करनेवाला है, सिद्धिकी इच्छा करनेवालोंको खेचरत्व आदि अनन्त सिद्धियोंको देनेवाला है और ज्ञानकी इच्छा करनेवालोंको आत्मसाक्षात्कार करानेवाला है, सुनिए ॥ १२ ॥

समाधिसुखमें विश्रान्तिरूप फलके कथन द्वारा भी प्रशंसा कर रहे महर्षि वसिष्ठजी वही योग श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—'मुख०' इत्यादिसे ।

हे राजपुत्र श्रीरामभद्र, प्रयत्नशील चित्तसे प्राण-गतिके निरोधसे होनेवाली निष्ठाको प्राप्त होकर यदि आप चित्तवृत्ति-निरोधके अभ्याससे प्रत्यग्रूप, अक्षय, परम पदमें भली प्रकार स्थिरता प्राप्त कर लेंगे, तो वाणी और मनके अगोचर, निरतिशय-आनन्दस्वरूप होकर आप स्थित रहेंगे ॥ १३ ॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चतुर्दशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अस्ति तावदनन्तस्य तस्य क्वचिदयं किल ।
जगद्रूपः परिस्पन्दो मृगतृष्णा मराविव ॥ १ ॥
तत्र कारणतां यातो ब्रह्मा कमलसंभवः ।
स्थितः पितामहत्वेन सृष्टभूतभरभ्रमः ॥ २ ॥
तस्याऽहं मानसः पुत्रो वसिष्ठः श्रेष्ठचेष्टितः ।
ऋक्षचक्रे ध्रुवधृते निवसामि युगं प्रति ॥ ३ ॥

चौदहवाँ सर्ग

[देवसभामें विख्यात वायसराज काकभुशुण्डजीको देखनेके लिए महाराज वसिष्ठका मेरुपर्वतपर गमन और मेरु तथा उसके शिखरका वर्णन]

काकभुशुण्डजीकी उक्तिके द्वारा प्राणायाम आदि प्रस्तुत योगक्रमका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेकी इच्छा करनेवाले महाराज वसिष्ठजी भुशुण्डकथानक आरम्भ करते हैं—'अस्ति' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीराचन्द्रजी, योगियोंके विश्रान्तिस्थानरूपसे वर्णित उस निःसीम परम पदके किसी एक प्रदेशमें (अविद्यासे आवृत प्रदेशमें), मरुभूमिमें मृग तृष्णाकी नाईं, ब्रह्माण्डाकार यह विवर्त प्रसिद्ध है, ॥ १ ॥

उस ब्रह्माण्डमें मनु, प्रजापति आदिकी उत्पत्तिमें कारणताको प्राप्त तथा प्राणियोंके समूहरूप भ्रमको उत्पन्न करनेवाले कमलयोनि ब्रह्मा पितामहरूपसे स्थित हैं ॥ २ ॥

उस पितामह ब्रह्मदेवका मैं सदाचार-सम्पन्न वसिष्ठ नामका मानस पुत्र हूँ । और ध्रुवजी द्वारा धारण किये गये सप्तर्षिलोकमें वैवस्वत मन्वन्तर तक निवास करता हूँ ॥ ३ ॥

सोऽहं कदाचिदास्थाने स्वर्गे तिष्ठञ्छतक्रतोः ।
श्रुतवान्नारदादिभ्यः कथां सुचिरजीविनाम् ॥ ४ ॥
कथाप्रसङ्गे कस्मिंश्चिदथ तत्राऽभ्युवाच ह ।
शातातपो नाम मुनिर्मौनी मानी महामतिः ॥ ५ ॥
मेरोरीशानकोणस्थे पद्मरागमये दिवि ।
अस्ति कल्पतरुः श्रीमाञ्छृङ्गे चूत इति श्रुतः ॥ ६ ॥
तस्य कल्पतरोर्मूर्ध्नि दक्षिणस्कन्धकोटरे ।
कलधौतलताप्रोते विद्यते विहगालयः ॥ ७ ॥
तस्मिन्निवसति श्रीमान्भुशुण्डो नाम वायसः ।
वीतरागो बृहत्कोशे ब्रह्मेव निजपङ्कजे ॥ ८ ॥
स यथा जगतां कोशे जीवतीह सुराश्चिरम् ।
चिरञ्जीवी तथा स्वर्गे न भूतो न भविष्यति ॥ ९ ॥

महाराज इन्द्रदेवकी सभामें बैठे हुए मैंने किसी समय स्वर्गलोकमें महर्षि नारदजीसे अधिक दीर्घकाल तक जी रहे प्राणियोंकी कथा सुनी थी ॥ ४ ॥

चिरजीवियोंकी कथाओंमें किसी एक कथाके प्रसंगमें मितभाषी, संमानार्ह तथा निखिल शास्त्रोंमें पारङ्गत विशालबुद्धि महामुनि शातातप बोले ॥ ५ ॥

मुनिने जो कुछ कहा, उसे बतलाते हैं—'मेरो०' इत्यादिसे ।

मेरुपर्वतके ईशानकोणमें स्थित पद्मरागमणिके सदृश चमकीले शिखरपर गगनचुम्बी एक शोभायमान 'चूत' नामक प्रसिद्ध कल्पतरु वृक्ष है ॥ ६ ॥

उस कल्पतरुके ऊपर सुवर्ण और रजतमय कल्पलताओंसे घने दाहिने तनेके खोड़रेमें एक घोसला है ॥ ७ ॥

उस घोसलेमें ऐश्वर्यशाली वीतराग भुशुण्डनामक कौआ उस प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार विशालकोशवाले अपने कमलमें ब्रह्माजी ॥ ८ ॥

हे देवगण, जगत्‌के इस कोशमें वह वायसराज भुशुण्ड जिस प्रकार चिरकालसे जी रहा है, उस प्रकार चिरकालसे जी रहा कोई भी इस स्वर्गलोकमें न हुआ और न होगा ही ॥ ९ ॥

स दीर्घायुः स नीरागः स श्रीमान् स महामतिः ।
स विश्रान्तमतिः शान्तः स कान्तः कालकोविदः ॥१०॥
स यथा जीवति खगस्तथेह यदि जीव्यते ।
तद्भवेज्जीवितं पुण्यं दीर्घं चोदयमेव च ॥ ११ ॥
इति तेन भुशुण्डोऽसौ भूयः पृष्टेन वर्णितः ।
यथावदेव देवानां सभायां सत्यमुक्तवान् ॥ १२ ॥
कथावसरसंशान्तावथ याते सुरव्रजे ।
भुशुण्डंविहगं द्रष्टुमहं यातः कुतूहलात् ॥ १३ ॥
भुशुण्डः संस्थितो यत्र मेरोः शृङ्गं तदुत्तमम् ।
संप्राप्तवान् क्षणेनाऽहं पद्मरागमयं बृहत् ॥ १४ ॥

वह (भुशुण्ड) दीर्घायु है, वह रागरहित है, वह ऐश्वर्ययुक्त है, वह विशाल-बुद्धि है, वह स्थिर-बुद्धि है और शान्त है एवं कमनीय और समयगति जाननेवाला है ॥ १० ॥

वह पक्षी (भुशुण्ड) जिस प्रकार दीर्घकालसे जी रहा है, उस प्रकार यदि कोई प्राणी यहाँ अपना दीर्घजीवन व्यतीत करे, तो उसका वह दीर्घ-जीवन साधनदशामें पुण्यमय और फलदशामें परमपुरुषार्थरूप अभ्युदयसम्पन्न ही होगा ॥ ११ ॥

श्रीरामजी, कुछ समयके अनन्तर मैंने भुशुण्डके विषयमें फिर भी शातातप मुनिसे पूछा था, द्वितीय बार पूछे गये उन मुनिराजने उसी प्रकारसे (जिस प्रकारसे देवताओंकी सभामें उसका वर्णन किया था, उसी प्रकारसे) इस भुशुण्डका वर्णन किया । इससे माळूम पड़ा कि भुशुण्डके विषयमें जो कुछ उन्होंने कहा था, वह सत्य ही कहा था, उनके कथनका तात्पर्य केवल प्रशंसामें ही नहीं था ॥ १२ ॥

श्रीरामजी, कथाका अवसर समाप्त हुआ और देवतागण अपने-अपने वास-स्थान पर चले गये । तदनन्तर मैं अत्यन्त उत्कण्ठासे भुशुण्डपक्षीको देखनेके लिए चला ॥ १३ ॥

जहाँ भुशुण्डपक्षीकी स्थिति थी, उस मेरुपर्वतके पद्मरागमणिकी तरह चमकीले सुन्दर एवं विस्तृत शिखर पर मैं क्षणभरमें ही पहुँच गया ॥ १४ ॥

रत्नगैरिककान्तेन तेजसा वह्निवर्चसा ।
मध्वासवरसेनेव रञ्जयत्ककुभां गणम् ॥ १५ ॥
कल्पान्तज्वलनज्ज्वालापिण्डाद्रिमिव संचितम् ।
इन्द्रनीलशिखाधूममालोकारुणिताम्बरम् ॥ १६ ॥
सर्वेषामेव रागाणां राशिमद्राविव स्थितम् ।
सर्वसन्ध्याभ्रजालानां घनमेकमिवाऽऽकरम् ॥ १७ ॥
उत्क्रान्तिं कुर्वतो मेरोर्ब्रह्मनाड्येव निर्गतम् ।
मूर्धानमागतं कान्तं वाडवं जठरानलम् ॥ १८ ॥
सुमेरुवनदेव्येव नवालक्तकरञ्जितम् ।
लीलयाऽऽदातुमिन्दुं खे नीतं हस्तशिखाङ्गुलिम् ॥ १९ ॥

वह शिखर मधुर आसवसे जनित मदकी नाईं अग्निके सदृश वर्चस्व रखनेवाले पद्मराग आदि रत्न एवं गेरुमिश्रित सुवर्ण धातुओंके कमनीय तेजसे दिशारूपी रमणियोंको रक्तिम बना रहा था ॥ १५ ॥

उसकी शोभा प्रलयकालीन अग्निकी पिण्डीभूत ज्वालाओंके पर्वत-सी प्रतीत होती थी, शिखाके सदृश ऊपरको उठी हुई इन्द्रनीलमणिकी प्रभा ही उसका धूम था, उसके लाल प्रकाशसे समस्त आकाश-मण्डल अरुणिमा प्राप्त किये था ॥ १६ ॥

मेरुपर्वतके ऊपर समस्त लालिमाओंका एक ढेर-सा होकर वह अवस्थित था या यों कहिए कि निखिल प्राणियोंकी दर्शनाभिलाषाओंका एक पिण्ड बनकर वह स्थित था और निखिल सन्ध्याकालीन अभ्रजालोंका घनीभूत एक आकर-सा प्रतीत होता था ॥ १७ ॥

सुषुम्ना-नाडीसे उत्क्रान्ति नामक योग-साधनके द्वारा ब्रह्मरन्ध्रका भेदन कर निकलनेकी इच्छा कर रहे मेरुपर्वतके उदरसे निकला हुआ शिरःप्रदेशमें प्राप्त वडवाग्निके सदृश मानो जठराग्नि ही स्थित था ॥ १८ ॥

वह लीलासे आकाशमें स्थित चन्द्रमाको पकड़नेके लिए लाक्षारससे (महावरसे) रंजित शिखाके सदृश मिली हुई—मानो सुमेरुपर्वतकी वनदेवीके द्वारा प्रसारित करांगुलियाँ ही थी ॥ १९ ॥

ज्वालाभिरिव मालाभिररुणाभिः पयोमुखम् ।
खं गन्तुमिव सस्पन्दं शैलस्थमिव वाडवम् ॥ २० ॥
ताराः स्प्रष्टुमिवाऽऽकाशमङ्गुलीभिरिव त्रिभिः ।
कचदंशुनखाग्राभिः परिचुम्बदिवोन्नतम् ॥ २१ ॥
गर्जज्जीमूतमुरजं भूभृतानां तु मण्डपम् ।
हसत्कुसुमगुच्छाढ्यं ध्वनत्षटपदपेटकम् ॥ २२ ॥
दन्ततालदलावल्ल्या परिहासादिव स्फुरत् ।
दोलालोलाप्सरोवृन्दमुदारमदमन्मथम् ।
शिलाविश्रान्तविबुधमिथुनाश्रितकन्दरम् ॥ २३ ॥
वराम्बराजिनं शुभ्रगङ्गायज्ञोपवीति च ।
तापसं पिङ्गलमिव वेणुदण्डधरं स्थितम् ॥ २४ ॥

वह जड़ी गयी सोपान-पंक्तियोंके सदृश अरुण ज्वालाओंके द्वारा मानो आकाशमें जानेके लिए प्रवृत्त अतएव पर्वतपर चढ़ा हुआ दुग्धाहुतिसंपन्न मुखवाला ब्राह्मणसम्बन्धी अध्वराग्निकी नाईं दीख रहा था ॥ २० ॥

वह रत्नोंके किरणोंसे चमक रहे नखाग्रोंसे युक्त तीन शिखराग्रभागरूपी अंगुलियोंसे अश्विनी आदि नक्षत्र मण्डलको स्पर्श कर मानो गिननेके लिए आकाशको व्याप्त-सा करता हुआ उन्नत होकर स्थित था ॥ २१ ॥

वहाँ मेघरूप मृदंग आदि वाद्य बज रहे थे, वह वनभूमिसे पुष्ट हुई वन-लक्ष्मियोंका एक तरहसे नृत्य-मण्डप था, खिले हुए पुष्पगुच्छोंसे परिपूर्ण था और भ्रमर-समूहोंसे गुंजित था ॥ २२ ॥

वह परिहाससे विकसित हो रही दन्तपंक्तियोंके सदृश विकसित ताल-पत्रोंकी पंक्तियोंसे अत्यन्त सुहावना लगता था। वहाँ झूलोंपर झूल रहीं चंचल अप्सराएँ थीं और सभी प्राणियोंका उन्माद और अभिलाषाएँ नवीनरूपता धारण किये हुई थीं, वहाँकी शिलाओंपर देवता विश्रान्ति ले रहे थे, उसकी गुफाओंका देवताओंके जोड़ोंने आश्रयण किया था ॥ २३ ॥

अब उस शिखरकी तापसरूपसे उत्प्रेक्षा करते हैं—'वरा०' इत्यादिसे।

उसने सुन्दर आकाशरूपी मृगचर्म धारण किया था, शुभ्र गंगारूप यज्ञो-

गङ्गानिर्झरनिर्ह्रादि लतागृहगतामरम् ।
गन्धर्वगीतसुभगमामोदमधुरानिलम् ॥ २५ ॥
फुल्लहेमाम्बुजोत्तंसं तारारत्नविभूषितम् ।
व्योम्नः पारमिव प्राप्तं पिङ्गलं भैरवं शिरः ॥ २६ ॥
सितहरितपीतपाटल-
धवलैर्वनकुसुमराशिनवरङ्गैः ।
दिवि विहितामलचित्रं
लीलाचलममरयुवतिवर्गस्य ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने मेरुशिखरवर्णनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥



पवीतसे वह अलंकृत था। और वह बाँसरूपी दण्ड धारण करनेके कारण पिशंगवर्ण तपस्वीकी नाईं स्थित प्रतीत होता था ॥ २४ ॥

वहाँपर गंगाजीके झरनोंकी कलकल ध्वनि हो रही थी, उसके लताकुंजोंमें देवता विराजित थे, वह गन्धर्वोंके गीतोंसे रमणीय लगता था और वहाँ मधुर मनोहर सुगन्धित समीर बह रहा था ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आकाशमें ऊँचाईकी परम सीमास्वरूप उस प्रकारके पिशङ्ग-वर्ण उस मेरुपर्वतके सिरपर, जो तारारूपी रत्नोंसे विभूषित और विकसित स्वर्ण-कमलरूपी कर्णपूरसे रमणीय था, मैं पहुँचा ॥ २६ ॥

श्रीरामजी, [मैं इसका अधिक वर्णन क्या करूँ !] वह प्रतिदिन श्वेत, हरित, पीत, रक्त एवं धवलवर्ण काननके कुसुम-समूहरूपी नवीन रंगोंसे आकाशमें मानो निर्दुष्ट चित्र खींचा करता था और देवाङ्गनाओंका वह क्रीडापर्वत था ॥ २७ ॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चदशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

कुसुमापूर्णकल्पाभ्रकुन्तले तस्य मूर्धनि ।
कल्पाङ्गमहमद्राक्षं शाखाचक्रमिव स्थितम् ॥ १ ॥
पुष्परेण्वभ्रवलितं रत्नस्तबकदन्तुरम् ।
उत्सेधनिर्जिताकाशं शृङ्गे शृङ्गमिवाऽर्पितम् ॥ २ ॥
ताराद्विगुणपुष्पौघं मेघद्विगुणपल्लवम् ।
रश्मिद्विगुणरेण्वभ्रं तडिद्द्विगुणमञ्जरीम् ॥ ३ ॥

पन्द्रहवाँ सर्ग

[उस मेरुपर्वतके शिखरपर स्थित चूतनामक कल्पतरु और उसकी शाखापर विद्यमान पुष्प, पक्षी आदि संपत्तियों, कौओं तथा भुशुण्डका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, प्रलयकालीन मेघरूपी कुसुमोंसे व्याप्त केशोंवाले उस शिखरके सिरपर प्राणियोंके अभिलषित अर्थकी पूर्तिके लिए उत्पन्न हुए शाखा आदि अवयवोंसे युक्त उस चूतनामक वृक्षको मैंने शाखाचक्र-सा (चारों ओर समरूपसे फैली हुई शाखाओंके कारण शाखाचक्र-सा) देखा ॥ १ ॥

श्रीरामजी, चारों ओरसे वह वृक्ष फूलोंके परागोंसे धूसरित था, वह रत्न-सदृश पुष्प-गुच्छोंसे दन्तुर था, उसने अपनी ऊँचाईसे आकाशको मात कर दिया था, वह पूर्ववर्णित मेरुशिखरके ऊपर रखे हुए दूसरे शिखरके सदृश प्रतीत होता था ॥ २ ॥

उसने केवल अपनी ऊँचाईसे ही आकाशको मात नहीं कर दिया था, किन्तु तारा आदि मिलाकर द्विगुणित पुष्प आदि धारण करनेके कारण भी उसने आकाशको मात कर दिया था, यों कहते हैं—'तारा०' इत्यादिसे ।

उसने ताराओंको मिलाकर द्विगुणित पुष्प धारण किये थे, मेघरूप पल्लवोंको मिलाकर द्विगुणित पल्लव धारण किये थे, किरणोंको मिलाकर द्विगुणित पुष्प-रेणुरूप मेघ धारण किये था, बिजलीको मिलाकर द्विगुणित मंजरियाँ धारण की थीं ॥ ३ ॥

स्कन्धेषु किन्नरीगीतद्विगुणभ्रमरस्वनम् ।
दोलालोलाप्सरोलोकद्विगुणीकृतपल्लवम् ॥ ४ ॥
सिद्धगन्धर्वसङ्घातद्विगुणोत्थविहङ्गमम् ।
रत्नकान्त्यच्छनीहारद्विगुणत्वग्वृतांशुकम् ॥ ५ ॥
चन्द्रबिम्बसमाश्लेषद्विगुणाङ्गबृहत्फलम् ।
मूलसंलीनकल्पाभ्रद्विगुणीकृतपर्वकम् ॥ ६ ॥
सुरसंवलितस्कन्धं पत्रविश्रान्तकिन्नरम् ।
निकुञ्जकुञ्जजीमूतं कच्छसुप्तसुरादिकम् ॥ ७ ॥
स्वाकारविपुलं भृङ्गानुत्सार्य वलयस्वनैः ।
अप्सरोभ्रमरीभिश्च गृहीतकुसुमान्तरम् ॥ ८ ॥

वहाँ शाखा-प्रदेशमें किन्नरयुवतियोंके गीतोंको लेकर द्विगुणित भ्रमरोंकी गुंजाध्वनि हो रही थी, उसने झूलोंपर आरूढ़ चंचल अप्सराओंके होठ, हाथ एवं पदरूप पल्लवोंको लेकर दूने पल्लव धारण किये थे ॥ ४ ॥

अभिलषित रूपोंको धारण करनेकी शक्तिसे संपन्न होनेके कारण स्वच्छन्द विहार करनेके लिए कल्पित विहंगमवेषवाले सिद्धों एवं गन्धर्वों के समूहोंको मिलाकर द्विगुण विहंगम उसपर विद्यमान थे, उसने रत्नकान्तिके सदृश स्वच्छ हिमकणोंको लेकर दूने हुए त्वचारूपी वस्त्र पहने थे ॥ ५ ॥

अधिक ऊँचाईके कारण जनित चन्द्रबिम्बके सम्बन्धसे मानो अमृत-रसकी पूर्ति होनेके कारण द्विगुणित अंगोंवाले बड़े-बड़े फल उसमें लगे थे, तनोंके मूल भागोंमें संलग्न कल्पाभ्रोंसे मानो द्विगुणित हुए उसके पोर थे ॥ ६ ॥

उसके तनोंपर देवताओंने आश्रय किया था, पत्रोंपर किन्नर विश्रान्ति ले रहे थे, उसके लताकुंजोंमें मेघसमूह प्रविष्ट हुए थे, जलप्राय कोटर-प्रदेशमें देवता आदि सोये हुए थे ॥ ७ ॥

उसका अपना निजी स्वरूप अत्यन्त विस्तृत था, उसके फूलोंका भीतरी रस अपने कंकणोंके क्वणितोंसे बाह्य भ्रमरोंको हटाकर अप्सरारूपी भ्रमरियोंने चूस लिया था ॥ ८ ॥

सुरकिन्नरगन्धर्वविद्याधरवरान्वितम् ।
जगज्जालमिवाऽनन्तं दशाशाकाशपूरकम् ॥ ९ ॥
नीरन्ध्रकलिकाजालं नीरन्ध्रमृदुपल्लवम् ।
नीरन्ध्रविकसत्पुष्पं नीरन्ध्रवनमालितम् ॥ १० ॥
नीरन्ध्रमञ्जरीपुञ्जं नीरन्ध्रमणिगुच्छकम् ।
नीरन्ध्रांशुकरत्नाढ्यं लताविलसनाकुलम् ॥ ११ ॥
सर्वत्र कुसुमापूरैः सर्वत्र फलपल्लवैः ।
सर्वामोदरजः पुञ्जैः परं वैचित्र्यमागतम् ॥ १२ ॥
तस्य कक्षेषु कुञ्जेषु लतापत्रेषु पर्वसु ।
पुष्पेष्वालयसंलीनान् विहगान् दृष्टवानहम् ॥ १३ ॥
निशानाथकलाखण्डमृणालशकलैधितान् ।
अर्जुनाम्भोजिनीकन्दकवलान् ब्रह्मसारसान् ॥ १४ ॥

श्रेष्ठ देव, किन्नर, गन्धर्व एवं विद्याधरोंसे वह समन्वित था, ब्रह्माण्डकी नाईं विस्तृत और असीम दस दिशाओं तथा आकाश को व्याप्त किये था ॥ ९ ॥

कलियोंके समूहोंसे वह भरा हुआ था, मृदु पल्लवोंसे भरा हुआ था, खिले हुए पुष्पोंसे परिपूर्ण था और वनमालाओंसे भी वेष्टित था ॥ १० ॥

उसके ऊपर घनीभूत मंजरीयाँ थीं, घनीभूत मणिरूप गुच्छे थे, घनीभूत रत्नरूपी परिधानीय दिव्य वस्त्रोंसे आढ्य था अर्थात् अर्थियोंकी इच्छा पूर्ति करनेवाला था, लताओंके नृत्यसे व्याप्त था ॥ ११ ॥

श्रीरामजी, चारों ओर फूलोंकी बड़ी बाढ़से, सर्वत्र फल और पल्लवोंसे तथा सभीका दिलबहलाव करनेवाले पुष्पपरागोंके समूहोंसे अत्यन्त विचित्रताको प्राप्त हुए उस चूतनामक कल्पतरुको मैंने देखा ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त उस वृक्षके तने, शाखा आदिकी सन्धियोंमें, लतासे आवृत शाखाग्रभागोंमें, लतापत्रोंमें, पोरों या ग्रन्थियोंमें और पुष्पोंमें घोसले बनाकर उसमें स्थित हुए पक्षियोंको मैंने देखा ॥ १३ ॥

पक्षियोंमें विशेष बतलाते हैं—'**निशानाथ०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, (वहाँ) मृणालके टुकड़ोंकी नाईं सुधाकरकी कलाके खण्डोंसे

विरञ्चेरथ हंसानां पोतकान् सामगायिनः ।
ॐकारवेदसुहृदो ब्रह्मविद्यानुशासनान् ॥ १५ ॥
उद्गीर्णमन्त्रनिचयान् स्वाहाकारनिभस्वनान् ।
अस्थिनैकतडित्पुञ्जनीलमेघसमोपमान् ॥ १६ ॥
देवैर्निरीक्षितान् नित्यं यज्ञवेदिलतादलान् ।
शुकान्कार्शानवाञ्छ्यामाञ्छिशूञ्छिखिशिखाशिखान् ॥ १७ ॥
गौरीरक्षितबर्हौघान् कौमारान् वरबर्हिणः ।
स्कन्दोपन्यस्तनिःशेषशैवविज्ञानकोविदान् ॥ १८ ॥
व्योम्नेव जातनष्टानां महतां व्योमपक्षिणाम् ।
बन्धूनाबद्धनिलयाञ्छरदभ्रसमाकृतीन् ॥ १९ ॥

वर्धित और शुभ्र कमलिनीकन्दोंको खानेवाले ब्रह्मदेवके वाहनभूत हंसपक्षी मैंने देखें, यों बाईसवें श्लोककी क्रियाके साथ अन्वय है, यह जानना चाहिए ॥ १४ ॥

बाद रहस्यभूत अर्थोंके पर्यालोचनमें सहायक होनेके कारण प्रणव और वेद के मित्रभूत ब्रह्मदेवके वाहन हंसोंके अर्भक, जो कि सामवेदका गान कर रहे थे एवं पर-अपर ब्रह्मविद्याका गुरुमुखसे विधिवत् अध्ययन किये हुए थे [मैंने देखें] ॥ १५ ॥

वहाँ निवास कर रहे अग्निके वाहनभूत शुकोंका वर्णन करते हैं—'उद्गीर्ण०' इत्यादिसे ।

तदनन्तर मैंने अग्निदेवके वाहन शुक देखें ; वे मन्त्र-समूह पढ़ रहे थे ; उनके शब्द स्वाहाकारके समान थे । उनकी उपमा शंख, बिजलियोंके अनेक समूह और नील मेघोंके वर्णोंसे थी; देवता नित्य उनका दर्शन करते थे । यज्ञवेदियोंमें बिछाये गये हरित कुश-लताओंके दलोंकी नाईं वे हरे थे । अब मयूरोंके अर्भकोंका वर्णन करते हैं—'शिशून्' से । अनन्तर [मैंने] मयूरोंके अर्भक [देखें] । अग्निकी शिखाकी नाईं देदीप्यमान उनकी शिखाएँ थीं । जगज्जननी पार्वतीसे [जूड़ेमें पहननेके लिए] रक्षित उनके परोंका समूह था, स्वामी कार्तिकेय द्वारा विस्तारित अशेष शिवसम्बन्धी विज्ञानमें वे पण्डित थे ॥ १६–१८ ॥

आकाशमें ही उत्पन्न होकर वहीं पर नष्ट हो जानेवाले अर्थात् मरणपर्यन्त

विरञ्चिहंसजानन्यानन्यानग्निशुकोद्भवान् ।
कौमारबर्हिजानन्यानन्यानम्बरपक्षिजान् ॥ २० ॥
द्वितुण्डांश्च भरद्वाजान् हेमचूडान्विहङ्गमान् ।
कलविङ्कबलान् गृध्रान्कोकिलान् क्रौञ्चकुक्कुटान् ॥ २१ ॥
भासचाषबलाकादीन् बहूनन्यांश्च राघव ।
भूतौघं जगतीवाऽहं दृष्टवांस्तत्र पक्षिणः ॥ २२ ॥
दक्षिणस्कन्धशाखायां स्थितायां वै दवीयसि ।
अथाऽहं दृष्टवान् पुष्टपत्रायामम्बरस्थितः ॥ २३ ॥
काले काकोलवलयं मञ्जरीजालमालितम् ।
लोकालोकाचलेऽरण्ये कल्पाभ्रौघमिव स्थितम् ॥ २४ ॥

भूमिपर न उतरनेवाले और अधिक बलवान् होनेसे महान् इसीलिए व्योमपक्षी नामसे प्रसिद्ध पक्षियोंको—जो कि नित्य-क्रीड़ामें सहायक होनेसे बन्धु थे, अपने-अपने घोसले बनाकर स्थित थे एवं शरत्कालीन मेघोंके समान शुभ्र आकृतिवाले थे—[मैंने देखा] ॥ १९ ॥

ब्रह्मदेवके वाहन हंससे उत्पन्न और भी दूसरे हंसोंको, अग्निके वाहन शुकसे उत्पन्न अन्य शुकोंको, कुमार कार्तिकेयके वाहन मयूरसे उत्पन्न और दूसरे मयूरोंको तथा इनसे भिन्न भी अन्य आकाशपक्षियोंसे उत्पन्न पक्षियोंको [मैंने देखा] ॥ २० ॥

श्रीरामजी, वहाँ [मैंने] दो चोंचवाले भरद्वाजनामक पक्षियोंको सुवर्णकी शिखावाले पक्षियोंको, तथा गौरैया, कौआ, गीध, कोयल, क्रौंच (कराँकुल) और मुर्गा—इन पक्षियोंको [मैंने देखा] ॥ २१ ॥

हे राघव, उस कल्पतरुपर शकुन्तपक्षी, नीलकण्ठपक्षी, बलाकापक्षी (बकविशेष) आदि और भी अनेक पक्षियोंको, जगत्में विविध प्राणियोंकी नाईं मैंने देखा ॥ २२ ॥

इसके बाद आकाशमें स्थित हुए मैंने अत्यन्त दूर-प्रदेशस्थ घने पत्तोंवाली उस कल्पवृक्षके दाहिने तनेकी शाखापर, उस शाखाको देखने बाद, लोकालोक-पर्वतके अरण्यमें प्रलयकालीन मेघ-समूहकी नाईं स्थित, मंजरी-समूहसे वेष्टित द्रोण कौओंका मण्डल मैंने देखा ॥ २३, २४ ॥

तत्र पश्याम्यहं यावदेकान्ते स्कन्धकोटरे ।
विचित्रकुसुमास्तीर्णे विविधामोदशालिनि ॥ २५ ॥
पुण्यकृद्योषितां स्वर्गे प्रियस्तबकवासिताः ।
अपरिक्षुभिताकाराः सभायां वायसा स्थिताः ॥ २६ ॥
विभेद्य मेघा वातेन समेनेवाऽपसारिताः ।
तेषां मध्ये स्थितः श्रीमान् भुशुण्डः प्रोन्नताकृतिः ॥ २७ ॥
मध्ये च काचखण्डानामिन्द्रनील इवोन्नतः ।
परिपूर्णमना मानी समः सर्वाङ्गसुन्दरः ॥ २८ ॥
प्राणस्पन्दावधानेन नित्यमन्तर्मुखः सुखी ।
चिरञ्जीवीति विख्यातश्चिरजीवितया तया ॥ २९ ॥
जगद्विदितदीर्घायुर्भुशुण्ड इति विश्रुतः ।
युगागमापायदशादर्शनप्रौढमानसः ॥ ३० ॥

ज्योंही मैंने वहाँ दृष्टि डाली, त्योंही देखा कि एकान्तमें स्थित दाहिने तनेके उस कोटरपर—जिसमें चित्र-विचित्र फूल बिछे हुए थे, अनेक प्रकारके सुगन्धोंसे जो सुगन्धित था तथा पुण्यात्माओं द्वारा उपभोग्य अप्सराओंके उपभोगोंके योग्य स्वर्गस्वरूप था—सभामें शान्ति आदि गुणोंसे संपन्न होनेके कारण अक्षुब्ध आकृतिवाले, पवनके द्वारा समभागसे छेदन कर कोटरमें प्रवेशित किये गये मेघोंकी नाईं, मनोहर कुसुमगुच्छोंसे वासित कौए स्थित हैं और उनके बीच ऐश्वर्यशाली एवं अत्यन्त उन्नत शरीरवाला वायसराज भुशुण्ड बैठा है ॥ २५–२७ ॥

वह भुशुण्ड सभामें उस प्रकार उन्नतरूपसे स्थित था, जिस प्रकार कांचके टुकड़ोंके बीच उन्नतरूपसे इन्द्रनीलमणि स्थित हो। वह आत्मज्ञानसे परिपूर्ण मनवाला, मान्य, समदर्शी एवं सर्वांगसुन्दर था ॥ २८ ॥

वह प्राणक्रियाके निरोधसे नित्य अन्तर्मुखवृत्तिवाला, सुखी और प्रसिद्धतम चिरजीवी होनेसे 'चिरंजीवी' नामसे प्रसिद्ध था ॥ २९ ॥

जगत्में विदित दीर्घायुवाला भुशुण्ड नामसे प्रसिद्ध वह वायसराज युगोंकी उत्पत्ति और विनाशकी दशाके दर्शनसे प्रौढ़मन था ॥ ३० ॥

प्रतिकल्पं च गणयन् खिन्नश्चक्रपरम्पराम् ।
जन्मनां लोकपालानां शर्वशक्रमरुत्वताम् ॥ ३१ ॥
संस्मर्ता समतीतानां सुरासुरमहीभृताम् ।
प्रसन्नगम्भीरमनाः पेशलः स्निग्धमुग्धवाक् ॥ ३२ ॥
अव्यक्तवक्ता विज्ञाता निर्ममो निरहंकृतिः ।
सुहृद्बन्धुस्तथा मित्रं मृत्युपुत्रो गुरुप्रभुः ।
सर्वदा सर्वथा सत्यं सर्वं सर्वस्य संस्तवे ॥ ३३ ॥
सौम्यः प्रसन्नमधुरो रसवान्महात्मा
हृद्यः सरोवर इवाऽन्तरखण्डशैत्यः ।
हृत्पुण्डरीककुहरं व्यवहारवेत्ता
गाम्भीर्यमच्छमजहात् प्रकटाशयश्रीः ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डदर्शनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

वह प्रत्येक कल्पमें ईशान, इन्द्र और अग्नि आदि लोकपालोंके जन्मोंकी चक्र-परम्पराको गिनता हुआ खिन्न होकर अवस्थित था ॥ ३१ ॥

वह सुदूर भूतकालीन सुर, असुर एवं राजाओंका भली प्रकार स्मरण करनेवाला, प्रसन्न और गंभीर मनसे युक्त, चतुर तथा स्निग्ध एवं मुग्ध वाणीवाला था ॥ ३२ ॥

वह भली प्रकार ज्ञाता होनेके कारण सूक्ष्मतम अर्थोंको विस्पष्टकर कहनेवाला, ममता तथा अहंकार से रहित, मृत्युका पुत्रकी नाईं परमप्रिय, बुद्धिमें बृहस्पतिसे भी बड़ा, प्राणिमात्रका सुहृत्, बन्धु एवं मित्र था। [सब प्राणियोंका वह सुहृद् आदिरूप क्यों था ? इस शङ्कापर कहते हैं—'सर्वदा' से ।] चूँकि यह सबके वर्णनप्रसंगमें—प्राणीमात्रके निखिल आरोपोंका अधिष्ठानरूप हो जानेके कारण—सब प्रकारसे भी सर्वदा सर्वात्मक सत्यस्वरूप ही परिगणित होता था यानी वह सर्वात्मक और सत्यस्वरूप ही सर्वसंमत था, अतः सुहृद् आदिरूप था ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार सरोवर सौम्य, स्वच्छ, मधुर जलसे युक्त, मनोहर और भीतरसे

षोडशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ तस्याऽहमपतं दीप्यमानवपुः पुरः ।
किञ्चिद्विक्षोभितसभः खान्नक्षत्रमिवाऽचले ॥ १ ॥
चुक्षोभ वायसास्थानं नीलोत्पलसरःसमम् ।
मत्पातमन्दवातेन भूकम्पेनेव सागरः ॥ २ ॥

अखण्ड शीतल, मध्यमें कमलके आधारभूत कुहरसे युक्त, पक्षियोंके विश्रान्तिको जाननेवाला एवं निर्मलतम होनेसे प्रकटित भीतरी शोभावाला रहता है, उसी प्रकार सौम्य, प्रसन्न, मधुर, ब्रह्मरससे युक्त, मनोहर, भीतरी अखण्ड शान्तिसे युक्त, दहराकाशरूप, सब व्यवहारोंको जाननेवाला यह महात्मा भुशुण्ड भी गांभीर्यको न छोड़ता हुआ अन्तःकरणकी शोभा-महत्ताको प्रकटित कर अवस्थित था ॥ ३४ ॥

पंद्रहवाँ सर्ग समाप्त

——:*:——

सोलहवाँ सर्ग

[सामने उपस्थित हुए तथा आसन आदिसे पूजित हुए महाराज वशिष्ठजी द्वारा किये गये भुशुण्डके जन्म, कर्म आदिके प्रश्नोंका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, तदनन्तर मैं उस भुशुण्डके सामने उस प्रकार गिरा (उतरा), जिस प्रकार पर्वतपर आकाशसे नक्षत्र गिरता हो। मेरा शरीर अत्यन्त कान्तियुक्त था, गिरनेपर मैंने सभामें कुछ हलचल भी पैदा कर दी ॥ १ ॥

'किञ्चिद्विक्षोभितसभः' यह जो पहले श्लोकमें कहा गया है, उसका विवरण करते हैं—'चुक्षोभ०' इत्यादिसे।

जिस प्रकार भूकम्पसे सागर विक्षुब्ध हो जाता है, उस प्रकार मेरे पतनसे जनित मन्द पवनसे कौओंकी सभा, जो नील कमलोंके तालाबके सदृश थी, विक्षुब्ध हो गई ॥ २ ॥

अशङ्कितमपि प्राप्तं दर्शनान्मामनन्तरम् ।
भुशुण्डस्तु वसिष्ठोऽयं प्राप्त इत्यवबुद्धवान् ॥ ३ ॥

पत्रपुञ्जात् समुत्तस्थौ मेघशाव इवाऽचलात् ।
हे मुने स्वागतमिति प्रोवाच मधुराक्षरम् ॥ ४ ॥

सङ्कल्पमात्रजाताभ्यां कराभ्यां कुसुमाञ्जलिम् ।
मह्यमाशु तदैवाऽदान्मेघो हैममिवोत्करम् ॥ ५ ॥

इदमासनमित्युक्त्वा नवं कल्पतरुच्छदम् ।
उपानीतवति त्यक्तभृत्ये वायसनायके ॥ ६ ॥

भुशुण्ड उत्थिते स्वीयकलापक्षेषु पक्षिषु ।
उपविष्टं मुनिं दृष्ट्वा स्वासनोन्मुखदृष्टिषु ॥ ७ ॥

समन्तात् खगवृन्देन भुशुण्डेन समं ततः ।
तस्मिन्कल्पलतापुञ्जे ह्युपविष्टोऽहमासने ॥ ८ ॥

अनन्तर त्रिकालदर्शी होनेके कारण उस भुशुण्डने देखनेसे ही—यद्यपि वहाँ मेरा जाना अतर्कित था, तथापि वहाँ गये हुए मुझको—'यह वसिष्ठ आये हुए हैं', यों जाना ॥ ३ ॥

तदनन्तर जिस प्रकार पर्वतसे छोटा मेघ उठे, उस प्रकार वह पत्तोंके ढेरसे उठ खड़ा हुआ और हे मुनिराज, आपका स्वागत हो, यों मधुरवाणी बोला ॥४॥

स्वागत वचनोंके साथ ही साथ उसने दोनों हाथोंसे अपने सङ्कल्पमात्रसे उत्पादित पुष्पाञ्जलि भरकर मेरे ऊपर उस प्रकार बरसाई, जिस प्रकार मेघ हिमकी महावृष्टि करता हो ॥ ५ ॥

तदनन्तर आपके बिराजनेके लिए यह आसन है, यों कहकर वह कौओंका अधिपति भुशुण्ड आसन लानेके लिए भृत्यवर्गका परित्याग कर स्वयं खड़ा हुआ और कल्पवृक्षका नवीन पत्ररूप आसन लाया। तदनन्तर मैं भुशुण्डके साथ उस कल्पवृक्षकी लताओंसे बने हुए आसनपर बैठ गया। भुशुण्डके चारों ओर पक्षियोंका समूह था, मननशील मुझे उस आसनपर आसीन देख कर अपने कान्तिमण्डलसे प्रसरणशील परोंवाले उक्त सभाके कौए अपने-अपने आसनोंकी

अर्घ्यपाद्यादि सम्पाद्य भुशुण्डस्तुष्टमानसः ।
मामुवाच महातेजाः सौहृदान्मधुराक्षरम् ॥ ९ ॥

भुशुण्ड उवाच

अहो भगवताऽस्माकं प्रसादो दर्शितश्चिरात् ।
दर्शनामृतसेकेन यत्सिक्ताः सद्द्रुमा वयम् ॥ १० ॥
मत्पुण्यचिरसंभारप्रेरितेन त्वयाऽधुना ।
मुने मान्यैकमान्येन कुतश्चाऽऽगमनं कृतम् ॥ ११ ॥
कच्चिदस्मिन्महामोहे चिरं विहरतस्तव ।
अखण्डितैव समता स्थिता चेतसि पावने ॥ १२ ॥
किमर्थमद्याऽऽगमनक्लेशेनाऽऽत्मा कदर्थितः ।
वचनश्रवणोत्कानामाज्ञां नो वक्तुमर्हसि ॥ १३ ॥
त्वत्पाददर्शनादेव सर्वं ज्ञातं मया मुने ।
त्वदागमनपुण्येन वयमायोजितास्त्वया ॥ १४ ॥

ओर दृष्टि डालने लगे। भुशुण्डने अर्घ्य, पाद्य आदि सम्पादन कर मेरा सत्कार किया। महान् तेजस्वी वह भुशुण्ड अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर सुन्दर, सौहार्दसे मधुर वचन मुझसे कहने लगा ॥ ६–९ ॥

भुशुण्डने कहा—भगवन्, बड़े सौभाग्यका विषय है कि दीर्घकालके अनन्तर आज हम लोगोंके ऊपर आपने महान् अनुग्रह दर्शाया, क्योंकि आपके दर्शनामृतरूपी सिंचनसे सिंचे गये हम लोग आज, पुण्यवृक्षके सदृश, अत्यन्त पवित्र बन गये ॥ १० ॥

हे मुने, दीर्घकालिक मेरे पुण्यकी राशिसे प्रेरित तथा मान्योंमें एकमात्र मान्यतम आपका इस समय किस प्रदेशसे शुभागमन हुआ ? ॥ ११ ॥

महाराज, मूलभूत मायासे बने इस जगत्में दीर्घकालसे विचरण कर रहे आपके पावनतम चित्तमें निरवच्छिन्न एकरूपता विराजती तो है न ? ॥ १२ ॥

महाराज, आज आनेका कष्ट उठाकर आपने अपनी आत्माको क्यों दुःख पहुँचाया ? आज्ञादायी वचनोंके श्रवणमें उत्कण्ठा रखनेवाले हम लोगोंको आज्ञा देनेके लिए आप सर्वथा योग्य हैं ॥ १३ ॥

हे मुनिवर, आपके चरणोंके दर्शनसे ही मैंने सब कुछ जान लिया, आपने अपने आगमनके पुण्योंसे हम लोगोंको दबा दिया है ॥ १४ ॥

चिरञ्जीवितचर्चाभिर्वयं वः स्मृतिमागताः ।
तेनेदमास्पदं पादैस्त्वं पवित्रितवानयम् ॥ १५ ॥
ज्ञातत्वदागमोऽप्येवं त्वां पृच्छामीह यन्मुने ।
भवद्वाक्यामृतास्वादवाञ्छितं प्रविजृम्भते ॥ १६ ॥
इत्युक्तवानसौ पक्षी भुशुण्डश्चिरजीवितः ।
त्रिकालामलसंवेदी तत्र प्रोक्तमिदं मया ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

विहङ्गम महाराज सत्यमेतत्त्वयोच्यते ।
द्रष्टुमभ्यागतोऽस्म्यद्य त्वामेव चिरजीवितम् ॥ १८ ॥
आशीतलान्तःकरणो दिष्टया कुशलवानसि ।
पतितोऽसि न बुद्धात्मा भीषणां भववागुराम् ॥ १९ ॥

'सब कुछ जान लिया' यह जो पहले कहा गया था, उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—'चिरम्' इत्यादिसे ।

इन्द्रसभामें चिरजीवियोंके विषयोंमें हुई विचारणाओंके कारण ही आपके स्मृतिपथमें हम आये और उसीसे यह स्थान आपके चरणोंका आस्पद हुआ, सचमुच आपने इस प्राणीको पवित्र बना दिया ॥ १५ ॥

हे मुने, यद्यपि यहाँ आपके आनेका प्रयोजन मैंने पहलेसे ही जान लिया है, तथापि यतः आपके वाक्यामृतरसास्वादकी अभिलाषा बढ़ रही है, अतः आपसे मैं पूछता हूँ ॥ १६ ॥

तीनों कालोंका निर्मल ज्ञान रखनेवाला चिरजीवी इस भुशुण्डने जब वैसे कहा, तब वहाँ मैंने यह कहा ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे पक्षियोंके स्वामिन्, जो कुछ यह कह रहे हो, वह सब यथार्थमें सत्य ही है, चिरजीवी केवल तुम्हें ही आज मैं देखनेके लिये आया हूँ ॥ १८ ॥

हे पक्षिराज, महान् भाग्यसे तुम्हारे अन्तःकरणमें चारों ओरसे शान्तिका राज्य है, तुम कुशल हो, ज्ञाततत्त्व होनेके कारण तुम इस भयंकर जगज्जालमें प्रविष्ट नहीं हुए हो ॥ १९ ॥

तदेतं संशयं छिन्धि भगवन्मम सत्यतः ।
कस्मिन्कुले भवाञ्जातो ज्ञातज्ञेयः कथं भवान् ॥ २० ॥
कियदायुश्च ते साधो वृत्तं स्मरसि किञ्च वा ।
केनाऽयं वा निवासस्ते निर्दिष्टो दीर्घदर्शिनः ॥ २१ ॥

भुशुण्ड उवाच

यत्पृच्छसि मुने सर्वं तदिदं वर्णयाम्यहम् ।
अनुद्वेगितया यत्नात्कथा श्राव्या महात्मना ॥ २२ ॥
युष्मद्विधास्त्रिभुवनप्रभुपूज्यरूपा
आकर्णयन्ति यमुदारधियो महान्तः ।
तेनाऽशुभं प्रकथितेन विनाशमेति
मेघास्पदेन विभवेन यथाऽर्कतापः ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने वसिष्ठभुशुण्डसमायोगो नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

प्राणियोंकी उत्पत्ति, विनाश, गति, आगति, विद्या एवं अविद्या को जाननेवाले हे पक्षिराज, तुम मेरे इस संशयका सत्यरूपसे छेदन कर दो कि किस कुलमें तुम उत्पन्न हुए हो और किस प्रकार तुमने तत्त्व पहचान लिया ॥ २० ॥

हे साधो, तुम्हारी कितनी आयु है, तुम अपना कौन-सा इतिवृत्त (विगत कल्पान्तचरित्र) जानते हो और किस महानुभावने दीर्घदर्शी तुम्हारे लिए निवासस्थानरूपसे इस वृक्षको निश्चित किया है ? ॥ २१ ॥

भुशुण्डने कहा—हे मुने, आप जो मुझसे पूछ रहे हैं, उस सबका मैं यह वर्णन (उत्तर) कर रहा हूँ। आप महानुभाव उद्विग्न न होकर प्रयत्नपूर्वक कथाका श्रवण कीजिए ॥ २२ ॥

हे महानुभाव, तीनों लोगोंके नियन्ता और परम पूज्य आपके सदृश उदारबुद्धि महात्मा जिस वृत्तान्तका श्रवण करते हैं, उस वृत्तान्तका भलीप्रकार कथन करनेसे वक्ता और श्रोता दोनोंका पाप उस प्रकार विनष्ट हो जाता है, जिस प्रकार मेघावलम्बित वृष्टि, छाया, अरण्य आदि वैभवोंसे सूर्यका आतप विनष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

सोलहवाँ सर्ग समाप्त

सप्तदशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ राम भुशुण्डोऽसौ न प्रहृष्टो न वक्रधीः।
सर्वाङ्गसुन्दरः श्यामः प्रावृषीव पयोधरः ॥ १ ॥
स्निग्धगम्भीरवचनः स्मितपूर्वाभिभाषणः।
करस्थबिल्वफलवत्प्रतोलितजगत्त्रयः ॥ २ ॥
तृणवद्दृष्टसकलः प्रमेयीकृतसंसृतिः।
लोकाजवं जवीभावे दृष्टज्ञानपरावरः ॥ ३ ॥
धीरस्थिरमहाकारो विश्रान्तिं गतमन्दरः।
परिपूर्णमनाः शुद्धः क्षीरार्णव इवाऽऽगतः ॥ ४ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

[जीवन्मुक्तोंके उपयोगी गुणोंसे पूछे गये अर्थका वर्णन कर पक्षियोंका स्वामी भुशुण्ड पुनः उसीको सविस्तर कहनेके लिए प्रवृत्त हुआ, यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, तदनन्तर यह पक्षिराज भुशुण्ड वक्ष्यमाण रीतिसे कहने लगा। वह अभीष्ट लाभसे न तो प्रसन्न होनेवाला था और न क्रूरमति था। वह सभी अङ्गोंसे सुन्दर और वर्षाकालीन मेघोंके सदृश श्यामवर्ण था ॥ १ ॥

उसके वचन स्नेहपूर्ण और गम्भीर थे। अभिभाषणके पहले उसके स्मित होता था। हाथमें बेलकी नाईं तीनों जगत्‌की इयत्ता उसे निश्चित-रूपसे विदित थी ॥ २ ॥

समस्त भोगोंको उसने तिनकेकी तरह तुच्छ समझ रक्खा था, इच्छित विषयोंकी ओर लोगोंकी दौड़-धूपका फल एकमात्र संसार ही है—यह रहस्य उसने भलीप्रकार जान लिया था, वह परापर ब्रह्मका ज्ञाता था ॥ ३ ॥

उसका महान् आकार धीर और स्थिर था। उसने विश्रान्ति तो उस प्रकार धारण की थी, जिस प्रकार मन्थनके अनन्तर मन्दराचलके चले जानेके बाद क्षीर-समुद्रने धारण की थी। उसका मन मनोरथोंसे परिपूर्ण था और विशुद्ध था ॥ ४ ॥

परिविश्रान्तधीः शान्तः परमानन्दघूर्णितः ।
आविर्भावतिरोभावतज्ज्ञः संसारजन्मनाम् ॥ ५ ॥
सरभसवदनाभिरामरूपः
प्रियमधुरोचितगानहृद्यवाक्यः ।
स्वयमिव नवमाश्रितः शरीरं
सकलभयापहरं प्रहर्षयुक्तः ॥ ६ ॥
इदममलगिरा स माऽऽह शुद्ध-
ममृतमनुज्झितसंभ्रमक्रमेण ।
कथयितुमखिलं निजं स्वरूपं
मधुपमिव स्तनितेन मुग्धमेघः ॥ ७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डस्वरूपवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

बाहरसे उसकी चारों ओरसे बुद्धिमें विश्रान्ति थी, वह शान्त था, भीतरसे परमानन्दसे परिपूर्ण था, उसे संसारमें जन्मधारी जीवोंके आविर्भाव और तिरोभावमें हेतुभूत मायातत्त्व और आत्मतत्त्व का भलीप्रकार ज्ञान था ॥ ५ ॥

प्रिय और मधुर सुनने योग्य वीणा-गानकी नाईं मनोहर उसके वाक्य थे। दर्शनमात्रसे संपूर्ण भयोंका अपहरण करनेवाले स्वयं ब्रह्मने ही मानो अपना यह नवीन भुशुण्डशरीर धारण किया हो, ऐसा वह प्रतीत होता था, अतएव वह स्वाभाविक आनन्दसे युक्त और प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए किये गये उद्योगयुक्त मुखके कारण अत्यन्त सुन्दर लगता था ॥ ६ ॥

उस प्रकारका पक्षियोंका अधिराज भुशुण्ड शुद्ध, अमृतमय, परिपूर्ण स्व-स्वरूपका क्रमशः बोध करानेके लिए—विनय, उपचार एवं उत्साह आदि शिष्ट-पद्धतिका परित्याग न करते हुए—निर्मल वाणीसे उस तरह मेरे प्रति आगेका वृत्तान्त कहने लगा, जिस तरह सुन्दर मेघ अपने गर्जितरवसे मकरन्द (पुष्परसके) पानमें रसिक भ्रमरके प्रति वही वृत्तान्त कहता हो। तात्पर्य यह हुआ कि पहलेसे ही प्रबुद्ध और ब्रह्मानन्दमें रसिक मेरे प्रति भुशुण्डकी उक्ति अनुवाद-मात्र थी, न कि उपदेश ॥ ७ ॥

सत्रहवाँ सर्ग समाप्त



अष्टादशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

अस्त्यस्मिञ्जगति श्रेष्ठः सर्वनाकनिवासिनाम् ।
देवदेवो हरो नाम देवदेवाभिवन्दितः ॥ १ ॥

षट्पदश्रेणिनयना यस्योच्चस्तबकस्तनी ।
विलासिनी शरीरार्धे लता चूततरोरिव ॥ २ ॥

हिमहारसिता यस्य लहरीस्तबकोम्भिता ।
आवेष्टितजटाजूटा गङ्गाकुसुममालिका ॥ ३ ॥

अठारहवाँ सर्ग

[अपना जन्म कहनेके लिए पहले महादेवजी, उनके गण, मातृका तथा उनके पानोत्सव आदिका भुशुण्डके द्वारा वर्णन]

'किस कुलमें तुम उत्पन्न हुए हो' इस प्रथम प्रश्नका उत्तर देनेके लिए पहले भूमिका बांधते हैं—'अस्त्य०' इत्यादिसे ।

भुशुण्डने कहा—महाराज वसिष्ठजी, इस जगत्में समस्त स्वर्गवासी देवताओंमें श्रेष्ठ (ज्ञान, ऐश्वर्य, बल आदि गुणोंसे सर्वोत्कृष्ट), देवताओंके भी पूजनीय एवं उपासनीय, देवाधिदेव महादेवजी हैं, जो बड़े-बड़े देवोंके देव ब्रह्मादि देवताओंके भी द्वारा अभिवन्दित और चारों ओरसे पूजित हैं [इस श्लोकमें उपर्युक्त तीन विशेषणोंसे सर्वांशमें महादेवजीके ही उत्कर्षकी परमावधि बतलाई गई है, इससे वक्ष्यमाण ब्रह्मविद्याके आरम्भमें मङ्गल भी पक्षिराज भुशुण्डने कर दिया—यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है, यह जानना चाहिए] ॥ १ ॥

आम्रवृक्षकी नाईं उनके देहार्धमें भ्रमर-पंक्तियोंके सदृश नेत्रोंवाली तथा उन्नत पुष्प-गुच्छोंके सदृश स्तनधारिणी लता शोभित है ॥ २ ॥

उनके एक गङ्गारूपी कुसुम-मालिका है, जो हिम और हारकी नाईं अत्यन्त धवल लहरीरूपी स्तबकोंसे गुम्फित (गूथी गई) है और जिसने जटाजूटको वेष्टित कर रक्खा है ॥ ३ ॥

क्षीरसागरसंभूतः प्रसृतामृतनिर्झरः ।
प्रतिबिम्बकरः श्रीमान्यस्य चूडामणिः शशी ॥ ४ ॥
अनारतशिरश्चन्द्रप्रस्रवेणाऽमृतीकृतः ।
यस्येन्द्रनीलवत्कालकूटः कण्ठे विभूषणम् ॥ ५ ॥
धूलिलेखामहावर्तं स्वच्छपावकसम्भवम् ।
परमाणुमयं भस्म यस्य ज्ञानजलं सितम् ॥ ६ ॥
निर्मलानि जितेन्दूनि मृष्टानि घटितानि च ।
यस्याऽस्थीन्येव रत्नानि देहकान्तमयानि च ॥ ७ ॥
सुधाकरसुधाधौतं नीलनीरदपल्लवम् ।
तारकाबिन्दुशबलं यस्य चाऽम्बरमम्बरम् ॥ ८ ॥

क्षीर-सागरसे उत्पन्न हुआ और अमृतका झरना बहानेवाला अत्यन्त कान्तियुक्त चन्द्रमा उनका दर्पणभूत चूडामणि (शिरोभूषणमणि) है ॥ ४ ॥

निरन्तर मस्तकमें स्थित चन्द्रमाके अमृतप्रवाहसे जिसकी विषशक्ति निकल गई है और जिसमें संजीवनशक्ति प्राप्त हुई है, ऐसा इन्द्रनील मणिकी नाईं कालकूट महाविष उनके कण्ठका भूषण है ॥ ५ ॥

जगत्के प्रलयमें हेतुभूत अपने चक्षुरूपी स्वच्छ पावकसे (अग्निसे) उत्पन्न हुई, धूलियोंकी पंक्तिरूप बड़े-बड़े प्रलयकालीन झंझावातोंकी उत्पादक, परमाणुमय (स्थूल महाभूतोंका सूक्ष्म-सूक्ष्म भूतोंमें प्रवेश-क्रमसे परम सूक्ष्म अव्यक्तमात्रका परिशेष होनेके कारण परमाणुमय), अतिशुभ्र एवं ज्ञानजलात्मक (उसके साक्षी चैतन्यमात्रस्वरूप जलसे प्लावित होनेके कारण ज्ञानजलात्मक) मायारूप भस्म उन मायाशबल महादेवजीका भूषण है ॥ ६ ॥

अत्यन्त निर्मल, तेजस्वी चन्द्रमाका भी तिरस्कार कर देनेवाली, मणियोंके सदृश सानपर चढ़ाकर विशोधित की गई, माला आदिके आकारमें गुथी गई, संपूर्ण शरीरोंमें मनोरम ब्रह्मा आदिके शरीरोंकी विकारभूत हड्डियाँ ही उनके शोभाकारक रत्न हैं ॥ ७ ॥

सुधाकर चन्द्रमाकी सुधाधारासे प्रक्षालित, नीलमेघरूपी पल्लोंसे युक्त तथा तारारूपी बिन्दुओंसे समन्वित आकाश यानी दिशाएँ ही उनके वस्त्र हैं ॥ ८ ॥

अमच्छिवाङ्गनापक्वमहामांसौदनाकुलम् ।
बहिर्भूतं गृहं यस्य श्मशानं हिमपाण्डुरम् ॥ ९ ॥
कपालमालाभरणाः पीतरक्तवसासवाः ।
आन्त्रस्रग्दामवलिता बन्धवो यस्य मातरः ॥ १० ॥
प्रस्फुरन्मूर्धमणयश्चरन्तो मसृणाङ्गकाः ।
भुजगा वलया यस्य प्रकचत्कनकत्विषः ॥ ११ ॥
दृक्पातदग्धशैलेन्द्रं जगत्कवललालसम् ।
भैरवाचरितं यस्य लीलासन्त्रासितासुरम् ॥ १२ ॥
स्वस्थीकृतजगज्जातस्वव्यापारस्थचेतसः ।
यदृच्छया करस्पन्दो यस्याऽसुरपुरक्षयः ॥ १३ ॥

चक्कर काट रही शृगालियों, परिपक्व नर-मांसों और बलिके ओदनों से (भातसे) व्याप्त; गाँव और नगरोंसे दूर, हिमके सदृश धवल श्मशान ही उनका घर है । [प्रकृत श्लोकमें 'अमच्छिवाङ्गना०' और 'बहिर्भूतम्' ये दो पद श्लिष्ट होनेसे कल्याणकारी वेष-भूषाको धारण कर इधर-उधर घूम रही रमणियों द्वारा पकाये गये प्रशस्ततम मांस, भात आदि भोज्य पदार्थोंसे व्याप्त तथा सब प्रकारके दोषोंसे रहित—इस अर्थकी भी कल्पना की जा सकती है] ॥ ९ ॥

जिसने कपाल-मालाएँ धारण की है, रक्त और चर्बीका आसव (मद्य) पान किया है एवं जो आँतरूपी मालासूत्रसे वेष्टित है, ऐसा वक्ष्यमाण मातृका-गण उनका नृत्यादिमें सदा सहायक बन्धुवर्ग है ॥ १० ॥

क्रमशः तत्-तत् अङ्गोंके भूषणके लिए संचरणशील, सर्वांगसे चिकने, प्रस्फुरित हो रही मस्तकमणियोंसे राजित तथा सुवर्णके सदृश दीप्तिसम्पन्न कान्तिवाले सर्प उनके भुजाके कङ्कण हैं ॥ ११ ॥

दृष्टिपातमात्रसे शैलेन्द्र हिमराजको दग्ध कर देनेवाला, जगत्का ग्रास करनेमें लालायित तथा क्रीडामात्रसे असुरोंको त्रस्त कर देनेवाला भयंकर उनका चरित्र है ॥ १२ ॥

महाराज, सत्य-सङ्कल्प होनेके कारण उनका अन्तःकरण एकमात्र कल्याणकी भावनासे ही जगत्-समूहको अपनी प्रकृतिमें रखनेके लिए समाधिमें स्थित है । कदाचित् समाधिका आकस्मिक भङ्ग हो जानेपर उत्पन्न हुआ उनके

एकाग्रमूर्तयः स्नेहरागद्वेषविवर्जिताः ।
स्वशना यस्य ते शैलाः सरसा अपि नीरसाः ॥ १४ ॥
शिरःखुराः खुरकराः करदन्तमुखोदराः ।
ऋक्षोष्ट्राजाहिवक्त्राश्च प्रमथा यस्य लालकाः ॥ १५ ॥
तस्य नेत्रत्रयोद्भासिवदनस्याऽमलप्रभाः ।
यथा गणास्तथैवाऽन्याः परिवारो हि मातरः ॥ १६ ॥

हाथका स्पन्दन असुरोंके बड़े-बड़े नगरोंको, असुरोंके साथ, विनष्ट कर डालता है ॥ १३ ॥

समाधिकालमें महादेवजीकी जो प्रसिद्धतम एकाग्रता है, वह पृथ्वी, पर्वत आदिरूप उनकी मूर्तियोंमें विस्पष्टरूपसे दिखाई पड़ती है, इस आशयसे कहते हैं—'एकाग्र०' इत्यादिसे ।

स्नेह, राग, द्वेष आदि सर्वविध दोषोंसे शून्य, रसयुक्त होते हुए भी (पृथ्वी और जलसे युक्त होते हुए भी) नीरस, उत्तम भोजन करनेके कारण भली-प्रकार तृप्त हुए जनोंके सदृश अशन, पान आदि तृष्णाओंसे शून्य प्रसिद्ध मेरु, हिमालय आदि पर्वत ही उनकी एकाग्रभूत ध्यानकी मूर्तियाँ हैं ॥ १४ ॥

अब सर्वांगोंमें समस्त शक्तियोंसे परिपूर्ण उनके गणोंका वर्णन करते हैं—'शिरः०' इत्यादिसे ।

जिनके मस्तक खुरकी शक्तियाँ रखते हैं यानी दौड़ने-कूदनेकी शक्तियाँ रखते हैं, खुर हाथोंकी शक्तियाँ रखते हैं यानी चित्र-विचित्र शिल्पादि-निर्माण-शक्तियाँ रखते हैं, हाथ दाँत, मुख और उदर की शक्तियाँ रखते हैं यानी चवर्ण, भक्षण आदि शक्तियाँ रखते हैं तथा जिनके भालू, ऊँट, बकरी और सर्प के सदृश मुख हैं, ऐसे प्रमथोंका गण उन महादेवजीके क्रीडनमें सहायक है ॥ १५ ॥

तीन नेत्रोंके कारण चमक रहे मुखवाले उन महादेवजीके जिस प्रकार सर्वाङ्गोंमें सर्वविध शक्तियोंसे समन्वित प्रमथगण क्रीडासहायक परिवार है, उसी प्रकार सर्वाङ्गोंमें सर्वशक्तिसमन्वित निर्मल कान्तिवाली दूसरी-दूसरी नाना प्रकारकी आकृति और मुखवाली माताएँ भी क्रीडामें सहायक परिवार है ॥ १६ ॥

नृत्यन्ति मातरस्तस्य पुरो भूतगणानताः ।
चतुर्दशविधानन्तभूतजातैकभोजनाः ॥ १७ ॥

खरोष्ट्राकारवदना रक्तमेदोवसासवाः ।
दिगन्तरविहारिण्यः शरीरावयवस्रजः ॥ १८ ॥

वसन्ति गिरिकूटेषु व्योम्नि लोकान्तरेषु च ।
अवटेषु श्मशानेषु शरीरेषु च देहिनाम् ॥ १९ ॥

जया च विजया चैव जयन्ती चाऽपराजिता ।
सिद्धा रक्ताऽलम्बुसा च उत्पला चेति देवताः ॥ २० ॥

सर्वासामेव मातॄणामष्टावेतास्तु नायिकाः ।
आसामनुगतास्त्वन्यास्तासामनुगताः पराः ॥ २१ ॥

तासां मध्ये महार्हाणां मातॄणां मुनिनायक ।
अलम्बुसेति विख्याता माता मानद विद्यते ॥ २२ ॥

भूतगणोंके ऊपर आधिपत्य रखनेके कारण उनसे (भूतगणोंसे) नमस्कृत तथा चतुर्दश भुवनोंमें उत्पद्यमान असंख्य प्राणियोंका ही भोजन करनेवाली मातृकाएँ उस देवाधिदेवके सामने नृत्य करती हैं ॥ १७ ॥

उन मातृकाओंके मुखोंकी गदहे और ऊँटों के मुखोंके सदृश आकृतियाँ हैं, रक्त, मेद और चर्बी उनका आसवके सदृश सर्वदा पेयपदार्थ है । चारों दिशाओंमें वे विहार करती हैं और शवके हाथ, पैर आदिकी मालाएँ पहनती हैं ॥ १८ ॥

ये मातृकाएँ पहाड़ोंकी चोटियोंपर, आकाशमें, अन्य लोकोंमें, गर्तोंमें भी प्राणियोंके शरीरोंमें निवास करती हैं ॥ १९ ॥

जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्ता, अलम्बुसा और उत्पला— ये आठ मातृदेवियाँ सभी माताओंमें मुख्य हैं । अन्य माताएँ इन्हीं आठोंका अनुगमन करती हैं और उनका अनुगमन करनेवाली अन्य मातृदेवियोंका और दूसरी माताएँ अनुगमन करती हैं ॥ २०, २१ ॥

हे मानद मुनिनायक, महामहिमशाली उस मातृगणके बीचमें 'अलम्बुसा' नामक सप्तम माता अत्यन्त विख्यात है ॥ २२ ॥

वज्रास्थितुण्डश्चण्डाख्य इन्द्रनीलाचलोपमः ।
तस्यास्तु वाहनं काको वैष्णव्या गरुडो यथा ॥ २३ ॥
इत्यष्टैश्वर्ययुक्तास्ता मातरो रौद्रचेष्टिताः ।
कदाचिन्मिलिता व्योम्नि सर्वाः केनाऽपि हेतुना ॥ २४ ॥
उत्सवं परमं चक्रुः परमार्थप्रकाशकम् ।
वामस्रोतोगता एतास्तुम्बुरुं रुद्रमाश्रिताः ॥ २५ ॥
पूजयित्वा जगत्पूज्यौ देवौ तुम्बुरुभैरवौ ।
विचित्रार्थाः कथाश्चक्रुर्मदिरामदतोषिताः ॥ २६ ॥
अथेयमाययौ तासां कथावसरतः कथा ।
अस्मानुमापतिर्देवः किं पश्यत्यवहेलया ॥ २७ ॥
प्रभावं दर्शयामोऽस्य पुनर्नाऽस्मांस्त्वसौ यथा ।
दृष्टमात्रमहाशक्तिः करिष्यत्यवधीरणम् ॥ २८ ॥

वैष्णवी-शक्तिके वाहन गरुड़की नाईं उस 'अलम्बुसा-शक्ति' का वाहन कौआ है, यह इन्द्रनील पर्वतके सदृश नीला है, इसका मुख वज्रतुल्य हड्डीसे बना है तथा नाम है—चण्ड ॥ २३ ॥

किसी समय विहारवश भयंकर चेष्टाकारिणी, अष्टसिद्धियोंसे संपन्न वे सब माताएँ आकाशमें इकट्ठी हुईं ॥ २४ ॥

वाममार्गमें प्रतिपादित परशक्तिके आराधन-प्रकारमें निष्ठा रखनेवाली इन आठ मातृदेवियोंने तुम्बुरुनामक रुद्रमूर्तिका आराध्यरूपसे आश्रयण कर एकाग्र-चित्तसे समाधिमें परमार्थभूत स्व-स्वरूपका प्रकाशन करनेवाला उत्तम पानोत्सव मनाया ॥ २५ ॥

वे माताएँ, समस्त जगत्के पूज्य तुम्बुरु और भैरवनामक देवताओंका पूजन-अर्चनकर मदिरामदसे सन्तुष्ट होती हुई आपसमें चित्र-विचित्र अर्थोंसे पूर्ण वार्तालाप करने लगीं ॥ २६ ॥

तदनन्तर उनकी कथाओंके प्रसङ्गसे यह एक बात उठी कि भगवान् उमापति हम लोगोंको क्यों तिरस्कारपूर्वक देखा करते हैं ! ॥ २७ ॥

इसलिए महादेवजीको हम लोग अपना वह प्रभाव दिखलाएँ, जिससे कि हम लोगोंकी महाशक्ति देखकर वे हमारी पुनः अवहेलना न करेंगे ॥ २८ ॥

इति निश्चित्य ता देव्यो विवर्णवदनाङ्गिकाम् ।
उमामेव वशीकृत्य प्रोक्षयामासुराद्दताः ॥ २९ ॥
माययाऽपहृतां भर्तुरङ्गाद्रङ्गमुपागताम् ।
तामालोलकचां देव्यः शेपुरोदनतां गताम् ॥ ३० ॥
पार्वतीप्रोक्षणदिने तस्मिंस्तत्र महोत्सवः ।
बभूव तासां सर्वासां नृत्यगेयमनोहरः ॥ ३१ ॥
अत्यानन्दमनुद्दामरवमेवाऽम्बरं बभौ ।
दीर्घावयवविक्षेपविकासिजघनोदराः ॥ ३२ ॥
अन्या जहसुरुद्दामतालक्ष्वेडाघनारवम् ।
लसदङ्गविकारं च ध्वनत्सगिरिकानना: ॥ ३३ ॥
अन्या जगुर्ध्वनच्छैलगृहमापानतोषिताः ।
वारीव रववद्रञ्जजगन्मण्डलकोटरे ॥ ३४ ॥

यों निश्चय कर परस्पर अभिनन्दित उन देवियोंने रूपान्तरमें परिणत किये गये मुख आदि अङ्गोंवाली रुद्रशक्ति उमाको अपने अधीन बनाकर, यज्ञमें पशुकी नाईं, समन्त्रक जलसे प्रोक्षित किया ॥ २९ ॥

अनन्तर उन देवियोंने महादेवजीके अङ्गसे माया द्वारा चुराई गई तथा मातृदेवियोंके बीचमें प्राप्त हुई चञ्चल केशवाली उमाको ओदनरूप (सबके भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेयरूप) बनानेके लिए मानो अभिशाप दिया ॥ ३० ॥

जिस दिन पार्वतीजीका प्रोक्षण किया, उस दिन वहाँ उन सब देवियोंने नृत्य, गेय आदिसे मनोहर महान् उत्सव मनाया ॥ ३१ ॥

अत्यन्त आनन्द और उन्नत घोषसे युक्त आकाश-मण्डल ही उस समय जगमगाने लगा तथा उन देवियोंकी जंघा और उदर दीर्घ अङ्गोंके उच्चावच प्रक्षेपसे विकसित होने लगे ॥ ॥ ३२ ॥

पर्वत और अरण्योंको शब्दित कर रही कुछ अन्य देवियाँ करताल और सिंहनाद के कारण उद्दाम घनीभूत शब्दके उच्चार तथा कान्तियुक्त अङ्गोंके विकारपूर्वक हँसने लगीं ॥ ३३ ॥

जगत्-मण्डलकी गुहामें मद्यपानसे अतितृप्त हुई कुछ मातृकाएँ पर्वत एवं घरोंको ध्वनियुक्त बनाती हुई, चन्द्रके उदयरागसे रञ्जित अतएव शब्दयुक्त हुए समुद्र-जलके सदृश, गर्जना करने लगीं ॥ ३४ ॥

अन्याः पानं पपुः पुष्टचर्चिताङ्गशिरःखुरम् ।
लीलाघुरघुरारावरणदाकाशकोटरे ॥ ३५ ॥

पपुरुदगुरथोच्चैः सत्वरा जग्मुरूचु-
र्जहसुरपुरहौषुः पेतुरुच्चैर्ववल्गुः ।
ननृतुरनिशमादुः स्वादु मांसं च देव्य-
स्त्रिभुवनमपवृत्तं चक्रुरुन्मत्तवृत्ताः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने मातृव्यवहारवर्णनं नामाऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

लीलासे जनित घुरघुर शब्दोंसे आकाशके कोनेमें कुछ देवियाँ मस्तकसे लेकर खुरपर्यन्त अङ्गोंको रक्त, चर्बी, आसव आदिसे पुष्ट करनेके लिए मद्यपान कर रही थीं ॥ ३५ ॥

उनके कुछ उन्मत्त वृत्तान्तोंका कथन करते हुए प्रकृत विषयका उपसंहार करते हैं—**'पपु०'** इत्यादिसे ।

कुछ देवियाँ पेय पदार्थ पीने लगीं, कुछ तो उच्च स्वरसे गर्जने लगीं, कुछ जलदीसे जाने लगीं, कुछ बोलने लगीं, कुछ हँसने लगीं, कुछ परस्पर रक्षा करने लगीं, कुछ एक दूसरेके मुखमें या अग्निमें होमने लगीं, कुछ गिरने लगीं, कुछ ऊँचेसे बड़बड़ाने लगीं, कुछ निरन्तर नाचने लगीं, कुछ स्वादु मांस खाने लगीं, यों उन्होंने उन्मत्ताचरण होकर त्रिभुवनको अपने व्यापारसे सद्वर्तनसे रहित कर दिया ॥ ३६ ॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

एकोनविंशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

इत्युत्सवे वर्तमाने तासां वाहास्त उत्तमाः ।
तथैव मत्ता जहसुर्ननृतुः पपुरप्यसृक् ॥ १ ॥
तत्रैकत्राऽऽसवोन्मत्ताः काश्चिन्ननृतुरम्बरे ।
रथहंस्यः स्थिता ब्राह्म्यः काकश्चाऽलम्बुसारथः ॥ २ ॥
नृत्यन्तीनां च हंसीनां पिबन्तीनामथाऽऽसवम् ।
तले चाऽब्धितटानां तु रतिः सम्यगजायत ॥ ३ ॥
सञ्जातरतयो मत्ताः सर्वा हंस्यः क्रमेण ताः ।
रेमिरे सह काकेनाऽप्यथ मत्तास्तदा किल ॥ ४ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग

[ब्रह्माणीकी हंसीमें चण्डनामक कौएके सम्बन्धसे भाइयोंके साथ अपनी (भुशुण्डकी) उत्पत्ति, उसी ब्राह्मीशक्तिके प्रसादसे ज्ञान और पिताके स्थान की प्राप्तिका वर्णन]

वायसराज भुशुण्डने कहा—ब्रह्मन्, जब उन मातृकाओंका उत्सव चल रहा था, तब उनके उत्तम वाहनरूप चण्ड आदि भी उसी प्रकार उन्मत्त होकर हँसते थे, नाचते थे और रुधिरका पान भी करते थे ॥ १ ॥

उस उत्सवमें मद्यपानसे उन्मत्त हुई कुछ ब्राह्मीशक्तिके रथमें जुतनेवाली हँसियाँ और 'अलम्बुसा' देवीका वाहन चण्डनामक कौआ—ये सब आकाश-प्रदेशमें इकट्ठे होकर नाचने लगे ॥ २ ॥

समुद्रतटकी समथल भूमिमें भली प्रकार नृत्य और मद्यपान कर रही उन हँसियोंको पुरुष-विषयक अनुराग उत्पन्न हुआ। [इस श्लोकमें 'अब्धितटानां तले' इससे उद्दीपन विभावका कथन किया गया है, यह जानना चाहिए] ॥ ३ ॥

तदनन्तर उस समय उत्पन्न-रति वे सभी हँसियाँ उन्मत्त होकर क्रमशः निकृष्टजातीय भी कौएके साथ रमण करने लगीं, क्योंकि वे मत्त ही तो थीं। [ऊँची जातिकी हँसियोंकी रति अपनेसे निकृष्टजाति कौएके साथ यद्यपि अनुचित है, तथापि उसके होनेमें एकमात्र कारण उन्माद ही है, यह सूचन करनेके लिए इस श्लोकमें 'अपि' शब्दका प्रयोग किया है।] ॥ ४ ॥

सप्तानां कुलहंसीनां दयितो वायसस्त्वसौ ।
क्रमेणाऽरमतैकत्र यावदन्योन्यमीप्सितम् ॥ ५ ॥
अथ ता गर्भधारिण्यो बभूवू रतितोषिताः ।
देव्यश्च कृतनृत्यास्ताः सुप्रशान्तमथाऽऽययुः ॥ ६ ॥
ददुरोदनतां यातामीश्वराय प्रियामुमाम् ।
भोजनाय महामायां देव्यस्ताः शूलपाणये ॥ ७ ॥
प्रिया मे भोजने दत्तेत्येवं च शशिशेखरः ।
बुध्वा बभूव रुषितो यदा मातृगणं प्रति ॥ ८ ॥
तदा तास्तां समुत्पाद्य स्वाङ्गदानेन वै पुनः ।
ददुर्भूयो विवाहेन पार्वतीमिन्दुमौलये ॥ ९ ॥
ततो देव्यो हरश्चैव परिवारस्तथैतयोः ।
सर्वे सन्तुष्टमनसः स्वां स्वामुपययुर्दिशम् ॥ १० ॥

सात कुलहँसियोंके वल्लभ इस चण्डनामक कौएने क्रमसे एक-एक हँसीके साथ तबतक रमण किया, जबतक कि एक दूसरेकी इच्छा पर्याप्तरूपसे शान्त नहीं हुई ॥ ५ ॥

रतिसे तृप्त हुई उन हँसियोंने गर्भधारण किया और वे देवियाँ उत्सवकार्य सम्पादित हो जानेके अनन्तर अपनी ही मायाका विलास समझकर क्रोध न करने-वाले महादेवजीके पास पहुँचीं ॥ ६ ॥

और उन देवियोंने भोजनके लिए शूलपाणि महादेवजीको प्रिय उमा, जो ओदनरूपताको प्राप्त हुई थी, समर्पित की ॥ ७ ॥

भोजनमें मेरी प्रिया ही दी गई है, यों जानकर जब महादेवजी मातृकाओंके प्रति रुष्ट हुए, तब उन्होंने अपने-अपने अङ्गोंसे सिर आदि एक-एक अवयवकी कल्पना द्वारा पार्वतीका पुनः उत्पादन कर महादेवजीको फिर पाणिग्रहण-विधिसे उसे समर्पित किया ॥ ८, ९ ॥

अनन्तर देवियाँ, महादेवजी और उनका परिवार—ये सब सन्तुष्टमन होकर अपनी-अपनी दिशाकी ओर चल दिये ॥ १० ॥

अन्तर्वत्न्यो बभूवुस्ता ब्राह्म्यो हंस्यो मुनीश्वर ।
वृत्तान्तं कथयामासुर्ब्राह्म्या देव्या यथास्थितम् ॥ ११ ॥

ब्राह्म्युवाच

हे वत्स्यः साम्प्रतं वत्सवत्यो मे रथकर्मणि ।
न समर्था भवन्त्यो हि स्वैरं चरत साम्प्रतम् ॥ १२ ॥
इति गर्भालसा हंसीरुक्त्वा देवी दयापरा ।
निर्विकल्पसमाधाने ब्राह्मी तस्थौ यथासुखम् ॥ १३ ॥
अजनाभिसरोजान्तर्वैरिञ्चकमलाकरे ।
गर्भालसा विचेरुस्ता राजहंस्यो मुनीश्वर ॥ १४ ॥
एवं विपक्वगर्भास्ता नाभीकमलपल्लवे ।
सुवते स्म मृदून्यण्डान्यथ वल्लय इवाऽङ्कुरान् ॥ १५ ॥
तानि कालं समासाद्य ततोऽण्डान्येकविंशतिः ।
गर्भाक्रान्त्या द्विधा जग्मुर्ब्रह्माण्डानीव सारवत् ॥ १६ ॥

हे मुनीश्वर, वे ब्राह्मीशक्तिके रथकी हँसियाँ गर्भवती हुई थीं, उन्होंने ब्राह्मी-देवीके समीपमें अपना यथास्थित वृत्तान्त कह दिया ॥ ११ ॥

ब्राह्मीशक्तिने कहा—पुत्रियो, इस समय गर्भवती तुम सब मेरे रथकार्यके लिए असमर्थ हो, इसलिए अब यथेष्ट विचरण करो ॥ १२ ॥

गर्भसे अलसाई हुई उन हँसियोंको वैसा कहकर दयालु ब्राह्मी देवी—उनके ऊपर अनुग्रहार्थ विहार छोड़कर—निर्विकल्प समाधिमें ही सुखपूर्वक स्थित हुई ॥ १३ ॥

हे मुनीश्वर, गर्भधारणसे अलसाई हुई वे राजहँसियाँ भगवान् विष्णुके नाभिकमलके मूलमें ब्रह्माके कमलकी उत्पत्ति-स्थानमें विचरण करने लगीं ॥ १४ ॥

तदनन्तर उस प्रकार विचरण करती हुई उन राजहँसियोंका गर्भ परिपक्व हो गया। उन्होंने नाभिकमलके किसलयप्रदेशमें उस प्रकार मुलायम अण्डे दिये, जिस प्रकार वल्लियाँ अङ्कुर देती हैं ॥ १५ ॥

अनन्तर समय पाकर उन्होंने इकीस अण्डे दिये और यथासमय भीतरी गर्भ पक जानेपर हँसियोंके पगके प्रहार द्वारा वे उस प्रकार द्विधा विभक्त हो

अण्डेभ्यस्तेभ्य एवं हि जाता वयमिमे मुने ।
भ्रातरश्चण्डतनया वायसा एकविंशतिः ॥ १७ ॥
ते सञ्जाता गता वृद्धिं तस्मिन् कमलपल्लवे ।
सञ्जातपक्षाः सम्पन्ना गगनोड्डयने क्षमाः ॥ १८ ॥
मातृभिः सह हंसीभिर्ब्राह्मी भगवती ततः ।
चिरमाराधिता सम्यक्समाधिविरता सती ॥ १९ ॥
प्रसादपरया काले भगवत्या ततः स्वयम् ।
तथाऽङ्गाऽनुगृहीताः स्मो येन मुक्ता वयं स्थिताः ॥ २० ॥
संशान्तमनसः शान्ता एकान्ते ध्यानसंस्थितौ ।
तिष्ठाम इति निश्चित्य पितुः पार्श्वे वयं गताः ॥ २१ ॥

गये, जिस प्रकार सारयुक्त ब्रह्माण्ड सुवर्ण और चाँदीके खप्परों द्वारा द्विधा विभक्त हो जाता है ॥ १६ ॥

हे मुने, उस प्रकार उन अण्डोंके द्वारा ये हम चण्डके पुत्र इक्कीस भाई कौएकी जातिमें उत्पन्न हुए ॥ १७ ॥

उस कमलके पल्लवके ऊपर उत्पन्न हुए वे हम क्रमशः बड़े हुए, हम लोगोंको पर आए और आकाशमें उडनेमें समर्थ भी हुए ॥ १८ ॥

तुमने तत्त्व कैसे जाना ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए उपक्रम करते हैं—'मातृभिः' इत्यादिसे ।

महर्षे, हम लोगोंने अपनी माता हँसियोंके साथ दीर्घकाल तक समाधिसे विरत हुई भगवती ब्राह्मीदेवीकी भली प्रकार आराधना की ॥ १९ ॥

अनन्तर उपयुक्त समय आनेपर प्रसाद करनेमें तत्पर हुई भगवती ब्राह्मीने स्वयं ही हम लोगोंके ऊपर तत्त्वसाक्षात्काररूप फलके द्वारा वैसा अनुग्रह किया, जिससे हम लोग जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं ॥ २० ॥

हम लोगोंका मन विलीन हो गया, इसलिए 'एकान्त प्रदेशमें उपद्रवशून्य होकर समाधिमें ही स्थित रहें' ऐसा निश्चय करके हम लोग अपने पिताजीके पास विन्ध्य-प्रदेशमें गये ॥ २१ ॥

आलिङ्गितास्ततः पित्रा पूजितालम्बुसा वयम् ।
तया दृष्टाः प्रसादेन संस्थितास्तत्र संयताः ॥ २२ ॥

चण्ड उवाच

पुत्राः कच्चिदपर्यन्तवासनातन्तुगुण्ठितात् ।
भवन्तो निर्गता नूनमस्मात् संसारजालकात् ॥ २३ ॥
नो चेद्वयं भगवतीं तदिमां भृत्यवत्सलाम् ।
प्रार्थयामो यथा यूयं भवथ ज्ञानपारगाः ॥ २४ ॥

काका ऊचुः

तात ज्ञातमलं ज्ञेयं ब्राह्म्या देव्याः प्रसादतः ।
किन्त्वेकान्तस्थितेः स्थानमभिवाञ्छाम उत्तमम् ॥ २५ ॥

चण्ड उवाच

सर्वरत्नगणाधारः समस्तसुरसंश्रयः ।
अस्ति ह्येव महोत्सेधो मेरुर्नाम महीधरः ॥ २६ ॥

वहाँ पिताजीने हम लोगोंका आलिंगन किया और तदनन्तर हम सबने भगवती अलम्बुसाकी पूजा की। प्रसन्नतापूर्वक उस देवीके द्वारा देखे गये हम लोग विनय आदि सद्गुणोंसे नियन्त्रित होकर वहां रहने लगे ॥ २२ ॥

पिता चण्डने कहा—हे पुत्रो, क्या तुम लोग इस संसाररूपी जालसे, जो असीम वासनारूपी तन्तुओंसे गुथी गयी है, मुक्त हो चुके हो ? यदि नहीं, तो उससे छुटकारा पानेके लिए भृत्यवत्सल इस भगवती अलम्बुसाकी हम प्रार्थना करें, जिससे तुम सब ज्ञानमें पारंगत हो जाओगे ॥ २३, २४ ॥

कौओंने कहा—हे पिताजी, ब्राह्मीदेवीके प्रसादसे हम लोगोंने ज्ञातव्य विषयका भली-भाँति ज्ञान कर लिया है, किन्तु एकान्तमें वास करने योग्य उत्तम स्थानकी हम लोगोंको अभिलाषा है ॥ २५ ॥

पिता चण्डने कहा—हे पुत्रो, एक मेरुनामका अत्यन्त ऊँचा पर्वत है, वह भाँति-भाँतिके अनेक रत्नोंका आधार है, उसका संपूर्ण देवता आश्रयण करते हैं ॥ २६ ॥

लसच्चन्द्रार्कदीपस्य भूतवृन्दकलत्रिणः ।
ब्रह्माण्डमण्डपस्याऽन्तस्तम्भः कनकनिर्मितः ॥ २७ ॥
सौवर्णचन्द्रपीठाढ्यो रत्नाढ्यशिखराङ्गुलिः ।
ध्वनद्द्वीपाब्धिवलयो भूवेवोन्नमितो भुजः ॥ २८ ॥
वृतः कुलाद्रिसामन्तैर्जम्बूद्वीपासने स्थितः ।
राजा चन्द्रार्कनयने भ्रमयञ्छैलसंसदि ॥ २९ ॥
तारौघमालतीमाल्यो दिग्दशैकाम्बराम्बरः ।
नागजातिद्वयस्थात्मा नाकनायकभूषणः ॥ ३० ॥
दिगङ्गनाभिरभितो रम्याभिः पुरभूषणैः ।
एष निस्यन्दिभिः शीतैर्वीजितो घनचामरैः ॥ ३१ ॥
षोडशाऽस्य सहस्राणि योजनानामधः क्षितौ ।
स्थिताः पादाः प्रपूज्यन्ते नागासुरमहोरगैः ॥ ३२ ॥

प्रकाशमान चन्द्र और सूर्यरूपी दीपकसे युक्त तथा अनेकविध प्राणियोंके कारण विस्तृत हुए कुटुम्बसे परिवेष्टित ब्रह्माण्डरूपी घरका वह सुवर्णनिर्मित मध्यस्तंभ है ॥ २७ ॥

वह पृथ्वीके द्वारा ऊपरको उठाया गया मानो एक हाथ है। उस हाथमें किंपुरुष आदि देश ही चन्द्राकृति सुवर्णनिर्मित केयूर हैं, रत्नरूप अँगूठियोंसे सुशोभित शिखर ही अंगुलियाँ हैं और शब्द कर रहे द्वीप और समुद्र ही कंकण हैं ॥ २८ ॥

वह पर्वतोंका राजा है, उसके चारों ओर हिमालय आदि सात कुलपर्वत सामन्तरूपसे विराजित हैं; वह जम्बूद्वीपरूपी सिंहासनके ऊपर विराजमान है और पर्वतोंकी सभामें चन्द्र एवं सूर्यरूपी नेत्रोंसे दृष्टिपात करता है। तारावली (तारकाओंकी पंक्ति) ही उसकी मालती-माला है, दिशारूपी पल्लोंसे सुशोभित आकाश ही उसका एकमात्र वस्त्र है, वह सर्प और हाथी—इन दोनोंका आश्रय-स्थान है, इन्द्र, उपेन्द्र आदि देवराज ही उसके आभूषण हैं ॥ २९, ३० ॥

कमनीय दिशारूपी कामिनियाँ उसके चारों ओर जलस्यन्दी शीतल अङ्ग-भूषण मेघरूप नील, श्वेत आदि चामर डुलाती हैं ॥ ३१ ॥

इसके पैर सोलह हजार योजन नीचे पृथ्वीमें अवस्थित हैं, जिनकी नाग, असुर और बड़े-बड़े सर्प पूजा करते हैं ॥ ३२ ॥

अशीतिश्च सहस्राणि देहोऽस्याऽर्केन्दुलोचनः ।
पूज्यते नाकसदने सुरगन्धर्वकिन्नरैः ॥ ३३ ॥
चतुर्दशविधान्येनं गृहस्थमिव बान्धवाः ।
उपजीवन्ति भूतानि मिथोऽदृष्टपुरास्पदम् ॥ ३४ ॥
अस्य त्वीशानदिग्भागे पद्मरागमयं बृहत् ।
विद्यते शृङ्गमपरो दिवाकर इवोदितः ॥ ३५ ॥
अस्याऽस्ति पृष्ठे भूतौघवृतः कल्पतरुर्महान् ।
जगतः शिखरादर्शे प्रतिबिम्बमिव स्थितः ॥ ३६ ॥
तस्याऽस्ति दक्षिणस्कन्धे शाखा कनकपल्लवा ।
रत्नस्तबकनीरन्ध्रा चन्द्रबिम्बोल्लसत्फला ॥ ३७ ॥
तत्र पूर्वं मया नीडं कृतमासीत् स्फुरन्मणि ।
देव्यां ध्याननिषण्णायां यस्मिन्किल रमे सुताः ॥ ३८ ॥

इसकी देह सूर्य और चन्द्ररूप लोचनोंसे युक्त तथा अस्सी हजार योजन ऊँची स्वर्ग-स्थान तक पहुँची है, वहाँ देवता, गन्धर्व एवं किन्नर उसकी पूजा करते हैं ॥ ३३ ॥

इस पर्वतराजका आश्रयण कर ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि, देव, पितर, गन्धर्व, किन्नर, अप्सराएँ, विद्याधर, यक्ष, राक्षस, प्रमथ, गुह्यक और नाग—ये चौदह प्रकारके प्राणी उस प्रकार जीवन-निर्वाह करते हैं, जिस प्रकार प्रधान गृहपतिका आश्रयण कर इतर बन्धुगण जीवन-निर्वाह करते हैं। यह इतना बड़ा विस्तृत है कि वे एकत्र रहनेपर भी एक-दूसरेका नगर या स्थान नहीं देख पाते ॥ ३४ ॥

इसके ईशानकोणमें माणिकका बना हुआ एक विशाल शिखर है, जिसे देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है मानो दूसरा उदित हुआ सूर्य ही हो ॥३५॥

इसके पृष्ठभागमें अनेकविध प्राणियोंसे परिवृत एक महान् कल्पवृक्ष स्थित है, जो कि शिखररूपी विद्रुम-दर्पणमें जगत्के प्रतिबिम्बकी नाईं प्रतीत होता है ॥३६॥

उसके दक्षिण तनेपर एक शाखा है, जिसमें कनकके सदृश पीत पल्लव लगे हुए हैं, रत्नोंके सदृश चमकीले पुष्प-गुच्छोंके कारण तनिक भी अवकाश नहीं है और चन्द्रबिम्बके सदृश प्रकाशमान फल भरे पड़े हैं ॥ ३७ ॥

हे पुत्रो, पहले जिस समय भगवती अलम्बुसादेवी ध्यानमें आसीन थीं, उस समय

रत्नपुष्पदलच्छन्नं रसायनफलान्वितम् ।
चिन्तामणिशलाकाभिर्विहितालिन्दसंस्थिति ॥ ३९ ॥
बुद्धिपूर्वसमाचारैः सम्पूर्णं काकपुत्रकैः ।
शीतलाभ्यन्तरं हृद्यं पूरितं कुसुमोत्करैः ॥ ४० ॥
तद्गच्छत सुता नीडं दुर्गं नाकवतामपि ।
भोगं मोक्षं च तत्रस्था निर्विघ्नमलमाप्स्यथ ॥ ४१ ॥
इत्युक्त्वाऽस्मान्पिता तत्र चुचुम्बाऽभ्यालिलिङ्ग च ।
ददौ देव्या यदानीतमस्मभ्यं च तदामिषम् ॥ ४२ ॥
तद्भुक्त्वा चरणौ देव्याः पितुश्चैवाऽभिवाद्य च ।
विन्ध्यकच्छाद्वयं तस्मात्स्थानादालम्बुसात्प्लुताः ॥ ४३ ॥
क्रमेणाऽऽकाशमुल्लङ्घ्य निर्गत्याऽम्बुदकोटरैः ।
पवनस्कन्धमासाद्य वन्दितव्योमचारिणः ॥ ४४ ॥

मैंने चमकीली मणियोंसे जड़ा हुआ उस शाखाके ऊपर एक घोंसला बनाया और उसमें विलास किया ॥ ३८ ॥

वह घोंसला रत्नसदृश चमकीले पुष्पोंकी पँखुड़ियोंसे ढँका हुआ है, अमृतके समान स्वादु फलोंसे परिपूर्ण है और चिन्तामणिकी शलाकाओंसे उसके बाहरी दर-वाजोंकी रचना की गई है ॥ ३९ ॥

वह (घोंसला) विचारपूर्वक व्यवहार करनेवाले कौओंके पुत्रोंसे व्याप्त है तथा भीतरसे अत्यन्त शीतल, मनोहारी और भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे पूरित है ॥ ४० ॥

हे प्यारे बच्चो, देवताओंसे भी दुर्गम उस सुन्दर घोंसलेपर तुम लोग जाओ, वहाँ निवास किये हुए तुम लोग निर्विघ्न एवं पर्याप्तरूपसे भोग और मोक्ष दोनोंको प्राप्त करोगे ॥ ४१ ॥

इस प्रकार कहकर हमारे पिताने हम लोगोंका चुम्बन और आलिंगन किया तथा भगवतीके पाससे जो माँस लाया गया था, उसे भी हमें दिया ॥ ४२ ॥

उसे खाकर भगवती और पिताजी के चरणोंमें अभिवन्दन कर अलम्बुसाके वासस्थान उस विन्ध्यप्रदेशसे हम उड़ गये ॥ ४३ ॥

क्रमशः आकाशका उल्लंघन कर, मेघोंके कोटरोंसे निकल कर, पवन-लोक प्राप्त कर हम लोगोंने व्योमचारी देवताओंको प्रणाम किया ॥ ४४ ॥

परिहृत्य दिनाधीशं लोकान्तरपुरं गताः ।
स्वर्गमुल्लङ्घ्य याताः स्मो ब्रह्मलोकं मुनीश्वर ॥ ४५ ॥
प्रणामपूर्वं तत्रैतद्यथावत्तत्पितुर्वचः ।
मात्रे च भगवत्यै च ब्राह्म्यै चाऽऽशु निवेदितम् ॥४६ ॥
ताभ्यां सस्नेहमालिङ्ग्य गच्छतेत्याज्ञयैधिताः ।
वयं कृतनमस्कारा ब्रह्मलोकाद्विनिर्गताः ॥ ४७ ॥
उल्लङ्घ्य लोकपालानां पुरीस्तपनभास्वराः ।
आकाशगामिनो लोलाः पवनस्कन्धचारिणः ॥ ४८ ॥
इमं कल्पतरुं प्राप्य निजं नीडं प्रविश्य च ।
दूरस्थबाधास्तिष्ठामो मुने मौनमवस्थिताः ॥ ४९ ॥
जाता यथा वयमिमे स्थितिमागताश्च
संप्राप्य बोधमुपशान्तधियो यथावत् ।

हे मुनीश्वर, [इसके बाद हम लोग] सूर्य-मण्डलका अतिक्रमण कर स्वर्गके अमरावती नगरमें पहुँचे । स्वर्गका अतिक्रमण कर ब्रह्मलोकमें पहुँचे ॥ ४५ ॥

वहाँ पहुँच कर [हम लोगोंने] तत्क्षण ही माता और भगवती ब्राह्मीदेवीको प्रणामपूर्वक पिता द्वारा कथित अशेष वृत्तान्त अक्षरशः कह सुनाया ॥ ४६ ॥

उन्होंने स्नेहपूर्वक हम लोगोंका आलिंगन किया और 'जाओ', यों आज्ञा तथा आशीर्वाद देकर उत्साहित किया । अनन्तर उन्हें प्रणाम कर हम लोग ब्रह्मलोकसे चल पड़े ॥ ४७ ॥

आकाश-विहारमें निपुण, अतिचपल हम लोग वायुलोकमें गमन करते हुए सूर्यके सदृश देदीप्यमान लोकपालोंकी नगरियोंका अतिक्रमण कर इस कल्पतरुपर आये और अपने घोंसलेमें प्रविष्ट हुए । हे मुने, यहाँपर हम लोगोंसे समस्त बाधाएँ दूर रहती हैं और हम सदा समाधिमें ही अवस्थित रहते हैं ॥ ४८, ४९ ॥

कहे गये वृत्तान्तका उपसंहार करते हैं—'जाताः' इत्यादिसे ।

हे महानुभाव, 'तुम किस कुलमें उत्पन्न हुए ?' 'किस तरह ज्ञातज्ञेय हुए ?' और 'तुम्हें यह निवास कैसे प्राप्त हुआ ?'—ये जो तीन प्रश्न आपने पहले

एतत्तदुक्तमविखण्डमलं मया ते
शेषेण मां समनुशाधि महानुभाव ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने आलयलाभो नाम एकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९॥

——:*:——

विंशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

आसीत्किञ्चित् पुरा कल्पे जगद्यच्चिरमास्थितम् ।
सन्निवेशेन चैतद्वदद्यापि च न दूरगम् ॥ १ ॥

किये थे, उसके उत्तरमें जिस प्रकार हम उत्पन्न हुए, जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर हम लोग शान्त-बुद्धि होकर स्थित हुए एवं इस नीडमें जिस रीतिसे हम लोग आये, यह सब वृत्तान्त आपको अविकलरूपसे भली प्रकार कह सुनाया, इसके बाद 'तुम्हारी कितनी आयु है ?' और 'क्या अतीत वृत्तान्त जानते हो ?'—इन दो प्रश्नोंके उत्तररूपसे यदि आप कहनेके लिए हमें आज्ञा देंगे, तो उसे भी मैं आपसे कहूँगा ॥ ५० ॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

[प्रत्येक कल्पमें जगत्‌की समता, भाइयोंकी मृत्यु और प्रलयकालमें भी अपने चित्तकी स्थिरता का भुशुण्ड द्वारा वर्णन]

'वृत्तं स्मरसि किञ्च वा' इस प्रश्नका विस्तारसे उत्तर देनेकी इच्छावाला भुशुण्ड—आगे कहे जानेवाले अनेक कल्पपर्यन्त अपने जीवन वृत्तान्तमें और 'इमं कल्पतरुं प्राप्य निजं नीडं प्रविश्य च' इत्यादि वृत्तान्तमें पूर्वापर-विरोधकी शङ्का न हो जाय, इसलिए प्रत्येक कल्पमें अवयवोंकी समता होनेके कारण कल्पवृक्ष, मेरु आदिकी एकता कही जाती है—यह आशय बतलाते हैं—'आसीत्' इत्यादिसे ।

तदेतद्वृत्तमभ्यासाद्वर्तमानेन वर्णितम् ।
मया मुनीन्द्र बोधाय प्राग्जन्मसाम्यदर्शिना ॥ २ ॥
अद्य मे फलितं पुण्यैश्चिरकालोपसंभृतैः ।
निर्विघ्नमेव पश्यामि यद्भवन्तं मुने ततः ॥ ३ ॥
इदं नीडमिमां शाखामहं चाऽयमयं द्रुमः ।
अद्य पावनतां प्राप्तान्येतानि तव दर्शनात् ॥ ४ ॥
इदमर्घ्यमिदं पाद्यं गृहीत्वा विहगार्पितम् ।
नूनं पावनतां नीत्वा,शेषेणाऽऽदिश चाऽऽशु भोः ॥ ५ ॥

भुशुण्डने कहा—महाराज वसिष्ठजी, हम लोगोंके जन्मनिमित्त कल्पमें चिरकाल तक जो कुछ पदार्थसमूहात्मक जगत् स्थित था, वह सब अवयवसंस्थान आदि आकृति-विशेषोंसे इस कल्पके पदार्थोंके सदृश ही था, अतः वह आज भी अभेदारोपसे सन्निहित ही है, इसलिए बुद्धिपूर्वक ही 'इमं कल्पतरुम्' इत्यादि निर्देश किया गया है ॥ १ ॥

इसलिए हे मुनीन्द्र, यद्यपि यह वृत्तान्त भूतकालीन है, तथापि 'जगत् भ्रान्तिमात्र है' यों अभ्यास होनेके कारण पूर्वजन्मकी समता देखनेवाले मैंने बोधके लिए उसका, वर्तमान जगत्के साथ एकता मानकर ही, वर्णन किया है ॥ २ ॥

अब, लम्बी कथाका उपक्रम करनेपर पूजामें विलम्ब न हो जाय, इसलिए पहले पूजन-स्वीकारकी प्रार्थना करनेके लिए स्तुति द्वारा महर्षिको अभिमुख करते हैं—'अद्य' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे मुने, चूँकि दीर्घकालसे संचित किये गये मेरे पुण्य आज सफल हो गये, इसीलिए निर्विघ्नतापूर्वक आपका मैं दर्शन कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

मुनिवर, यह नीड़, यह शाखा, यह मैं, यह कल्पवृक्ष—ये सब आज आपके दर्शनसे अत्यन्त पवित्र हो गये ॥ ४ ॥

मुनिवर, विहगों द्वारा समर्पित इस अर्घ्य और पाद्यका स्वीकार कर एवं हम लोगोंको पूत बनाकर आप अवशिष्ट सेवाके निमित्त कुछ और प्रश्न कहनेके लिए आज्ञा दीजिए ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इदमर्घ्यं च पाद्यं च भूयो दत्तवति स्वयम् ।
भुशुण्डविहगे तस्मिन्निदं रामाऽहमुक्तवान् ॥ ६ ॥
भ्रातरस्ते विहङ्गेश तादृक्सत्त्वा महाधियः ।
इह कस्मान्न दृश्यन्ते त्वमेवैको हि दृश्यसे ॥ ७ ॥

भुशुण्ड उवाच

तिष्ठतामिह नः कालो महानतिगतो मुने ।
युगानां पङ्क्तयः क्षीणा दिवसानामिवाऽनघ ॥ ८ ॥
एतावताऽथ कालेन सर्वे एव ममाऽनुजाः ।
तनूस्तृणमिव त्यक्त्वा शिवे परिणताः पदे ॥ ९ ॥
दीर्घायुषो महान्तोऽपि सन्तोऽपि बलिनोऽपि च ।
सर्वे एव निगीर्यन्ते कालेनाऽऽकलितात्मना ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

स्कन्धव्यूढार्कशशिषु वहत्स्वविरतं जवात् ।
वातस्कन्धातिवातेषु कच्चित्तात न खिद्यसे ॥ ११ ॥

वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, दूसरी बार स्वयं उस भुशुण्ड पक्षीके द्वारा अर्घ्य, पाद्य देने पर मैंने यह कहा ॥ ६ ॥

हे पक्षिराज, वैसे बली और महाबुद्धिमान् तुम्हारे वे भाई यहां क्यों नहीं दिखाई देते, तुम अकेले ही क्यों दिखाई देते हो ? ॥ ७ ॥

भुशुण्डने कहा—मुनिवर, हम लोगोंको यहां रहते महान् काल बीत गया । हे अनघ, दिवस-पंक्तियोंकी नाईं युगोंकी पंक्तियाँ क्षीण हो गईं ॥ ८ ॥

इतना लम्बा काल होनेके कारण सभी मेरे भाई, तृणके सदृश, शरीर छोड़कर शिवपदमें परिणत हो गये ॥ ९ ॥

ब्रह्मन् , यद्यपि दीर्घायु हों, महान् हों, सज्जन हों, बलवान् हों, सभीको यह अलक्षितस्वरूपवाला काल अपने उदरमें समा लेता है ॥ १० ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—प्रिय पक्षिराज, मालाकी नाईं अपने कन्धेपर बारह सूर्य और चन्द्रमा को ढोनेवाले तथा प्रवह आदि वातस्कन्धोंका अतिक्रमण करनेवाले प्रलय-वायुओंके अविरत बहने पर क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥ ११ ॥

दग्धोदयास्तशैलेन्द्रवनव्यूहै रवेः करैः ।
चिरमत्यन्तमासन्नैः कच्चित्तात न खिद्यसे ॥ १२ ॥
इन्दोरथ करैः शीतैः पाषाणीकृतवारिभिः ।
आसन्नकरकापातैः कच्चित्तात न खिद्यसे ॥ १३ ॥
अजस्रमिह विश्रान्तैः कल्पजीमूतमण्डलैः ।
परशुच्छेदनीहारैः कच्चित्तात न खिद्यसे ॥ १४ ॥
विषमैर्जागतैः क्षोभैरुच्चैस्तरपदस्थितः ।
कथं न क्षोभमायाति कल्पवृक्षोऽयमुन्नतः ॥ १५ ॥

भुशुण्ड उवाच

निरालम्बास्पदा ब्रह्मन् सर्वलोकावहेलिता ।
तुच्छेयं सर्वभूतानां मध्ये विहगजीविका ॥ १६ ॥

भुशुण्डजी, चिरकालसे अत्यन्त आसन्न, उदयाचल और अस्ताचल के अरण्योंको दग्ध कर देनेवाले सूर्य-किरणोंसे क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥ १२ ॥

वायसराज, जलको पाषाणके सदृश कठोर बना देनेवाले शीतल चन्द्र-किरणोंसे और निकट-प्रलयके लिए हो रहे वर्षाके करकापातोंसे क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥ १३ ॥

प्रियवर, मेरु-शिखरपर विश्रान्ति किये प्रलयकालीन मेघ-मण्डलोंसे तथा परशुकी धाराको भी क्षत कर देनेवाले शिलासदृश घनीभूत कुहरेसे क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? ॥ १४ ॥

अत्यन्त ऊँचे स्थानपर स्थित हुआ यह उन्नत कल्पवृक्ष जगत्‌के विषम क्षोभोंसे क्यों क्षुब्ध नहीं होता ? ॥ १५ ॥

कठिन समय आनेपर जब बड़े-बड़े लोगोंको भी क्षोभ हो सकता है, तब पक्षी जैसी अधम योनिमें उत्पन्न हुए मेरी तो बात ही क्या ? तथापि विवेककी सामर्थ्यसे खेद नहीं होता, यों कहनेके लिए दूसरोंके जीवनकी अपेक्षा अपनी जातिके पक्षियोंके जीवनकी क्षुद्रता बतलाते हैं—'निरालम्बा०' इत्यादिसे ।

भुशुण्डने कहा—ब्रह्मन् , आकाशमें आश्रित और सभी लोगोंसे तिरस्कृत यह पक्षियोंका जीवन सब प्राणियोंमें अत्यन्त गर्ह्य है ॥ १६ ॥

ईदृशेषु च भूतेषु निर्जनेषु वनेषु च ।
कल्पितास्थास्थितिर्धात्रा शून्ये वा व्योमवर्त्मनि ॥ १७ ॥
कथमस्यां प्रभो जातौ जातस्य चिरजीविनः ।
आशापाशनिबद्धस्य विहगस्य विशोकिता ॥ १८ ॥
वयं तु भगवन्नित्यमात्मसन्तोषमास्थिताः ।
न कदाचन नीरूपे मुह्यामो जातविभ्रमैः ॥ १९ ॥
स्वभावमात्रसन्तुष्टाः कष्टैर्मुक्ता विचेष्टितैः ।
क्षिपामः केवलं कालमस्मिन् ब्रह्मन्निजालये ॥ २० ॥
न जीविताान्न मरणात् कर्मदेहस्य रोधनम् ।
यथास्थितेन तिष्ठामस्तथैवाऽस्तंगतेहिताः ॥ २१ ॥
आलोकिता लोकदशा दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ।
नूनं संत्यक्तमस्माकं मनसा चञ्चलं वपुः ॥ २२ ॥

ऐसी तुच्छ योनियोंके लिए भी धाताने झरनों, वनों और शून्यसदृश आकाशमें प्रीतिपूर्वक जो जीविकाकी कल्पना की है, यह अत्यन्त आश्चर्यका विषय है ॥ १७ ॥

भगवन्, इस तुच्छ जातिमें उत्पन्न, चिरकालसे जीवन बीता रहा और आशारूपी पाशोंसे निरन्तर बद्ध एक पक्षी किस तरह शोकवर्जित हो सकता है ? ॥ १८ ॥

भगवन्, तथापि हम अपनी आत्मामें ही सदा सन्तोष मानकर अवस्थित हैं, इसलिए उत्पन्न हुए विभ्रमोंसे कभी भी परमार्थसत्तासे रहित इस जगत्में मुग्ध नहीं होते ॥ १९ ॥

ब्रह्मन्, हम लोग अपने सत्तास्वभावमें ही सन्तुष्ट रहते हैं, कष्ट पहुँचानेवाले परपीडन-व्यापारोंसे निर्मुक्त होकर अपने वासस्थान इस घोंसलेमें रहते हुए केवल कालयापन करते हैं ॥ २० ॥

महाराज, हम लोग अपने जीवनसे न देहकी ऐहिक या आमुष्मिक फलके लिए कोई क्रिया चाहते हैं और मरणसे न देहका विनाश ही चाहते हैं। जिस तरह वर्तमानमें नित्यसिद्ध निरतिशयात्मरूपसे पूर्णकाम होकर स्थित रहते हैं, उसी तरह आगे भी स्थित रहेंगे ॥ २१ ॥

महर्षे, हमने प्राणियोंकी जन्म, मरण आदि अनर्थ-दशाएँ देख लीं और

अनारतनिजालोके नित्यं चाऽपरितापिनी ।
कल्पागस्योपरि सदा वेद्मि कालकलागतिम् ॥ २३ ॥
रत्नगुच्छप्रकाशाढ्ये ब्रह्मन् कल्पलतागृहे ।
प्राणापानप्रवाहेण वेद्मि कल्पमखण्डितम् ॥ २४ ॥
अविज्ञातदिवारात्रौ ह्यस्मिन्नुच्चैः शिलोच्चये ।
जानामि निजया बुद्ध्या लोककालक्रमस्थितिम् ॥ २५ ॥
सारासारपरिच्छेदि बोधाद्विश्रान्तिमागतम् ।
निरस्तचापलं शान्तं सुस्थिरं मे मुने मनः ॥ २६ ॥

मिथ्यात्व-निर्णायक स्वप्न आदि दृष्टान्त-दृष्टियाँ भी देख लीं तथा हमारे मनने अपना चञ्चल स्वरूप भी सदाके लिए भली प्रकार त्याग दिया है ॥ २२ ॥

कल्पवृक्षके प्रभावसे ही कल्प-समासितक हम लोगोंको खेद नहीं होता, यह कहते हैं—'**अनारत०**' इत्यादिसे ।

निरन्तर शान्ति देनेवाले अविनाशी स्व-स्वरूप प्रकाशमें स्थित होकर मैं इस कल्पवृक्षके ऊपर सदा कालकी कलन-गति जानता रहता हूँ ॥ २३ ॥

प्रकाश अधिक होनेके कारण जब दिन और रातका विभाग ही ज्ञात नहीं हो सकता, तब यहाँ स्थित होकर तुम कालकी कलनगति कैसे जानते हो ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'**रत्न०**' इत्यादिसे ।

चमकीले रत्नोंके प्रकाशसे आढ्य कल्पलता-गृहमें उपस्थित होकर मैं प्राणायामके प्रवाहसे यानी स्वरोदयशास्त्रमें बतलाये गये उपायसे अखण्डित कल्प जान लेता हूँ ॥ २४ ॥

मुनिवर, दिवा और रात जाने बिना ही इस उन्नत शिखरपर अपनी बुद्धिसे ही लोकोंके कालक्रमकी स्थिति जानता रहता हूँ ॥ २५ ॥

मनकी स्थिरताके बलसे भी मुझे खेद नहीं प्रतीत होता, इस आशयसे कहते हैं—'**सारा०**' इत्यादिसे ।

मुनिवर, यह सारभूत वस्तु है और यह असारभूत वस्तु है, इस प्रकारके विवेकयुक्त बोधसे उत्तम शान्तिको प्राप्त हुआ मेरा मन चञ्चलताशून्य, शान्त और भली प्रकार स्थिर है ॥ २६ ॥

संसारव्यवहारोत्थैराशापाशैरसन्मयैः ।
उद्गारैरिव भूकाको न वैवश्यं व्रजाम्यहम् ॥ २७ ॥
परोपशमधर्मिण्या वयमालोकशीतया ।
पश्यन्तो जागतीं मायां धिया धैर्यमुपागताः ॥ २८ ॥
भीमास्वपि महाबुद्धे दशास्वचलबुद्धयः ।
विनिर्मलोपलाकाराः संप्राप्तासु यथाक्रमम् ॥ २९ ॥
इयमारम्भसुभगा तरला जागती स्थितिः ।
भूयो भूयः परामृष्टा न च किञ्चन बाधते ॥ ३० ॥
सर्वाण्येव प्रयान्त्येव समायान्ति च वा नवा ।
भगवन् भूतजालानि भयमस्माकमत्र किम् ॥ ३१ ॥

सांसारिक व्यवहारोंसे जनित असद्रूप आशारूपी पाशोंसे जिस प्रकार अल्पध्वनियोंसे प्राकृत काक भयग्रस्त हो जाता है, उस प्रकार मैं भयग्रस्त नहीं होता ॥ २७ ॥

धैर्यके कारण भी हमें खेद प्राप्त नहीं होता, यों कहते हैं—'परो०' इत्यादिसे ।

निरतिशय शान्ति पहुँचानेवाली और आत्म-प्रकाशसे शीतल हुई बुद्धिसे जगत्की माया देख रहे हम लोग धीरताको प्राप्त हुए हैं ॥ २८ ॥

हे महाबुद्धे, दशाक्रमके अनुसार भयङ्कर भी दशाएँ प्राप्त हो जायँ, तथापि स्थिर बुद्धिवाले हम, निश्चल पत्थरके सदृश, स्थिराकृति होकर अवस्थित रहते हैं ॥ २९ ॥

जगत्-तत्त्वके पुनः विमर्शबलसे भी खेद नहीं होता, यों कहते हैं—'इयमा०' इत्यादिसे ।

प्रारम्भमें रमणीय दीख पड़नेवाली, तरल इस संसार-स्थितिका बार-बार परामर्श किया जा चुका है, अतः वह हमें कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाती ॥ ३० ॥

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' (उत्पन्न हुआ निश्चित मरता है और मरा हुआ निश्चित जनमता है) इस भगवान्के दर्शित प्रकारसे सर्वसाधारण दुःख अपरिहार्य है, यों निश्चय होनेके कारण भी भयप्राप्ति नहीं होती, यों कहते हैं—'सर्वाण्येव' इत्यादिसे ।

भूतजालतरङ्गिण्या विशन्त्याः कालसागरे ।
वयं संसारसरितस्तटस्था अप्यनादृताः ॥ ३२ ॥
नोज्झामो न च गृह्णीमस्तिष्ठामो नेह च स्थिताः ।
मृदुपादा दृशा क्रूरा वयमस्मिन् द्रुमे स्थिताः ॥ ३३ ॥
वीतशोकभयायासैस्त्वादृशैः पुरुषोत्तमैः ।
तुष्टैरनुगृहीताः स्मः संस्थिता विगतामयाः ॥ ३४ ॥
ततस्ततश्च पर्यस्तं लुठितं न च वृत्तिषु ।
नाऽपरामृष्टतत्त्वार्थमस्माकं भगवन् मनः ॥ ३५ ॥

भगवन्, सभी प्राणी व्यवहारदृष्टिसे आते हैं और जाते हैं अथवा परमार्थदृष्टिसे न आते हैं और न जाते हैं, इसलिए हम लोगोंको यहाँ भय ही क्या ? ॥ ३१ ॥

तत्त्वज्ञस्वरूप अपनेमें तटस्थता, समस्त भूतोंके संसारका द्रष्टृत्व और संसारके प्रति आदरका अभाव होनेसे भी भयकी प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—'भूत०' इत्यादिसे ।

कालसागरमें प्रवेश कर रही, प्राणि-समूहरूप तरङ्गोंसे युक्त संसार-सरिताके तटपर अवस्थित हुए भी हम लोग उसमें आदर नहीं करते ॥ ३२ ॥

महर्षे, इस वृक्षपर उपस्थित हुए हम लोग प्राप्त वस्तुओंका न परित्याग करते हैं एवं न अप्राप्त वस्तुके ग्रहणकी चेष्टा ही करते हैं ; व्यवहारदृष्टिसे स्थित हैं एवं परमार्थदृष्टिसे स्थित नहीं भी हैं । हम लोग एकमात्र व्यवहारकी सिद्धिके लिए, कण्टकाकीर्ण भूमिकी नाईं, सावधानीसे चलनेके कारण कोमल पगवाले हैं और तत्त्वदृष्टिसे संसारका उच्छेदन कर देनेके कारण क्रूर भी हैं ॥ ३३ ॥

बड़े लोगोंके अनुग्रहसे भी हम लोगोंको खेद-प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं—'वीत०' इत्यादिसे ।

शोक, भय और आयाससे वर्जित आपके सदृश सन्तुष्ट उत्तम पुरुष हम लोगोंपर सदा अनुग्रह करते हैं, इसलिए भी हम लोग सदा दुःखोंसे निर्मुक्त होकर अवस्थित हैं ॥ ३४ ॥

भगवन् , व्यवहार चलानेके लिए इधर-उधर प्रेरित हुआ भी हम लोगोंका

निर्विकारे गतक्षोभे चाऽऽत्मन्युपशमं गते।
चित्तरङ्गाः प्रबुद्धाः स्मः पर्वणीव महाब्धयः ॥ ३६ ॥
भवदागमनाद्ब्रह्मन्निदानीं मुदिताशयाः।
मन्दरोद्धूतसर्वाङ्गः क्षीरोदो येन तन्यते ॥ ३७ ॥
नाऽतः परतरं किञ्चिन्मन्ये कुशलमात्मनः।
सन्तो यदनुगम्यन्ते सन्त्यक्तसकलैषणाः ॥ ३८ ॥
आपातमात्ररम्येभ्यो भोगेभ्यः किमवाप्यते।
सत्सङ्गचिन्तामणितः सर्वसारमवाप्यते ॥ ३९ ॥
स्निग्धगम्भीरमसृणमधुरोदारधीरवाक्।
त्रैलोक्यपद्मकोशेऽस्मिंस्त्वमेकः षट्पदायसे ॥ ४० ॥

मन राग आदि वृत्तियोंमें निमग्न और तत्त्व-विचारसे शून्य कभी भी नहीं रहता ॥ ३५ ॥

अपनी आत्माके निर्विकार, क्षोभशून्य और शान्त हो जानेके कारण चिद्रूप (चारों ओरसे ब्रह्माकारवृत्तिरूप चन्द्रमाका उदय होनेपर उत्कट हुए बोधस्वरूप) तरङ्गवाले हम लोग, पूर्णिमा आदि पर्वकालमें समुद्रकी नाईं, प्रबुद्ध हो गये हैं ॥ ३६ ॥

भगवन्, जिस अमृतके लिए मन्दराचल द्वारा सर्वाङ्गोंसे क्षुब्ध हुए क्षीर-सागरका मथन किया जाता है, आपके उसी अमृतरूप आगमनसे हम लोग अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो गये हैं ॥ ३७ ॥

समस्त एषणाओंकी तिलाञ्जलि देनेवाले सन्त, महात्मा अपने आगमन आदिसे हमपर जो अनुग्रह करते हैं, मैं अपनी आत्माका इससे अधिक दूसरा कुशल नहीं मानता ॥ ३८ ॥

ऊपर-ऊपरसे रमणीय दिखाई पड़नेवाले विषय-भोगोंसे क्या प्राप्त होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। सत्सङ्गरूपी चिन्तामणिसे तो समस्त सारभूत ज्ञानवस्तु प्राप्त होती है ॥ ३९ ॥

हे मुनिवर, स्नेहपूर्ण, गम्भीर ; कोमल, मधुर, उदार और धीर वाणीवाले एकमात्र आप ही इस त्रिभुवनरूपी कमलकी कलीमें भ्रमरके सदृश हैं ॥ ४० ॥

अधिगतपरमात्मनोऽपि मन्ये
भवदवलोकनशान्तदुष्कृतस्य ।
मम सफलमिहाऽद्य जन्म साधो
सकलभयापहरो हि साधुसङ्गः ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने भुशुण्डस्वरूपनिरूपणं नाम विंशः सर्गः ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

युगक्षोभेषु घोरेषु वात्यासु विषमासु च ।
सुस्थिरः कल्पवृक्षोऽयं न कदाचन कम्पते ॥ १ ॥

साधो, यद्यपि मैंने परमात्मा जान लिया है और आपके दर्शनसे मेरे समस्त पाप नष्ट हो चुके, तथापि, चूँकि महात्माओंका समागम समस्त भयोंका अपहरण करनेवाला है इसलिए, यहाँ आज मेरा जन्म सफल (निरतिशय आनन्दरूप फलसे युक्त) हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ४१ ॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

इक्कीसवाँ सर्ग

[कल्पवृक्षका माहात्म्य, प्रलयमें वारुणी आदि धारणाओं द्वारा अपनी स्थिति, ईश्वरीय नियमिका शक्ति और अनेक चित्र-विचित्र अर्थोंके स्मरण का वर्णन]

अपने आश्रय कल्पवृक्षके माहात्म्य-वर्णनप्रसङ्गमें युगविनाश-कालमें जनित उपद्रवोंसे अपनेको क्लेशकी प्राप्ति नहीं होती, यों कहते हुए 'वृत्तं स्मरसि किं च वा' इत्यादि प्रश्नका उत्तर देनेके लिए पक्षिराज भुशुण्ड वक्तव्यका उपक्रम करते हैं—'युगक्षोभेषु' इत्यादिसे ।

भुशुण्डने कहा—महाराज वसिष्ठजी, युग-समाप्तिके महान् उपद्रवोंमें और भयंकर महापवनोंमें भी यह कल्पवृक्ष अत्यन्त स्थिर रहता है, कभी भी कम्पित नहीं होता ॥ १ ॥

अगम्योऽयं समग्राणां लोकान्तरविहारिणाम् ।
भूतानां तेन तिष्ठाम इह साधो सुखेन वै ॥ २ ॥
हिरण्याक्षो धरापीठं द्वीपसप्तकवेष्टितम् ।
यदा जहार तरसा नाऽकम्पत तदा तरुः ॥ ३ ॥
यदा लोलायितवपुर्बभूवाऽमरपर्वतः ।
सर्वतो दत्तसाम्याद्रिस्तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ४ ॥
भुजावष्टम्भविनमन्मेरुर्नारायणो यदा ।
मन्दरं प्रोद्दधाराऽद्रिं तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ५ ॥
यदा सुरासुरक्षोभपतच्चन्द्रार्कमण्डलम् ।
आसीज्जगदतिक्षुब्धं तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ६ ॥
उन्मूलिताद्रीन्द्रशिला यदोत्पातानिला ववुः ।
आधूतमेरुतरवस्तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ७ ॥

हे साधो, अन्य लोकोंमें विहार करनेवाले सभी प्राणियोंका यह अत्यन्त अगम्य स्थान है, अतः यहाँ हम लोग अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हैं ॥ २ ॥

मुनिवर, जिस समय हिरण्याक्षने सात द्वीपोंसे वेष्टित इस पृथ्वीका वेगपूर्वक अपहरण किया था, उस समय पृथ्वीपर स्थित होनेके कारण इसके भी हरण, कम्पन आदि की संभावना अवश्य थी, तथापि दिव्यप्रभावकी सामर्थ्यसे इस कल्पवृक्षमें तनिक भी कम्पन नहीं हुआ ॥ ३ ॥

[वराहभगवान् द्वारा किये गये पृथ्वीके उद्धारके समय] खम्भेकी उपष्टम्भक शिलाकी नाईं चारों ओरसे समताके लिए उपष्टम्भकरूपसे दिये गये पर्वतोंसे युक्त मेरुपर्वत जब कम्पित-शरीर हुआ, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ४ ॥

दो भुजाओंके अवष्टम्भसे मेरुको दबाकर जब चतुर्भुज भगवान् नारायणने इतर दो हाथों द्वारा समुद्रसे मन्दराचलका उद्धार किया, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ५ ॥

जब देवासुर-संग्रामके कारण चन्द्र-मण्डल और सूर्य-मण्डल गिर गया था तथा जगत्में अत्यन्त क्षोभ पैदा हो गया था, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥६॥

जब पर्वतराजकी शिलाओंका उन्मूलन कर देनेवाले और मेरुपर्वतके अन्यान्य वृक्षोंको कम्पित कर देनेवाले प्रलय-कालीन वायु बह रहे थे, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ७ ॥

यदा क्षीरोदलोलाद्रिकन्दरानिलकम्पिताः ।
कल्पाभ्रपङ्क्तयश्चेरुस्तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ८ ॥
यदा समन्ततो मेरुः कालनेमिभुजान्तरे ।
किञ्चिदुन्मूलितो तिष्ठत्तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ९ ॥
पक्षीशपक्षपवना अमृताक्रान्तिसङ्गरे ।
यदा ववुः पतत्सिद्धास्तदाऽयं नाऽपतद्द्रुमः ॥ १० ॥
यदा शेषाकृतिं रुद्रो न समाप्तैकचेष्टिताम् ।
ययौ गरुत्मान् ब्रह्माण्डं तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ ११ ॥
यदा कल्पानलशिखाः शैलाब्धिसकलोल्बणाः ।
शेषः फणाभिस्तत्याज तदा नाऽकम्पत द्रुमः ॥ १२ ॥

क्षीर-सागरमें चंचल हुए मन्दराचलकी गुहाओंके वायुओंसे मानो कम्पित हुई कल्पान्तकी मेघ-पंक्तियाँ जब संचरण कर रही थीं, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ८ ॥

जब (तारकासुर-युद्धमें) कालनेमिके भुजाओंमें मेरुपर्वत चारों ओरसे उन्मूलित होकर अवस्थित था, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ था ॥ ९ ॥

जिनके कारण बड़े-बड़े सिद्ध गिर रहे थे, ऐसे पक्षिराज गरुडके पँखोंके पवन जब अमृत-हरणके युद्धमें बह रहे थे, तब भी यह वृक्ष गिरा नहीं ॥ १० ॥

* 'उत्पन्नमात्र गरुडको देखकर सब लोक कम्पित हुए, भूमि और सातों द्वीप काँपने लगे । इन उत्पातोंसे, जलमें नावकी नाईं, डूब रही पृथ्वीका संकर्षण-शरीर महादेवजीने हजारों मस्तकोंसे धारण किया' इस कथाके अनुसार कहते हैं —'यदा' इत्यादिसे ।

पृथ्वीधारणरूप चेष्टा आज भी जिसकी समाप्त नहीं हुई है, ऐसी शेषाकृतिको संकर्षण रुद्र जब प्राप्त हुए, तब और जब गरुडजी पृथ्वीसे उड़कर ब्रह्माण्डको गये, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ ॥ ११ ॥

प्रलयकालमें जब शेषने फणाओंसे—शैल, सागर एवं समस्त प्राणियोंसे

* "गरुडस्य जातमात्रस्य सर्वे लोकाः प्रकम्पिताः ।
प्रकम्पिता मही सर्वा सप्तद्वीपाश्च कम्पिताः ॥
तदुत्पातान्निमज्जन्तीं भुवं नावमिवाऽम्भसि ।
दधौ सहस्रैः शिरसा संकर्षणवपुर्हरः ॥"

एवंरूपे द्रुमवरे तिष्ठतामापदः कुतः ।
अस्माकं मुनिशार्दूल दौःस्थित्येन किलाऽऽपदः ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

कल्पान्तेषु महाबुद्धे वहत्सूत्पातवायुषु ।
प्रपतत्स्विन्दुभार्केषु कथं तिष्ठसि विज्वरः ॥ १४ ॥

भुशुण्ड उवाच

यदा पपात कल्पान्ते व्यवहारो जगत्स्थितौ ।
कृतघ्न इव सन्मित्रं तदा नीडं त्यजाम्यहम् ॥ १५ ॥
आकाश एव तिष्ठामि विगताखिलकल्पनः ।
स्तब्धप्रकृतिसर्वाङ्गो मनो निर्वासनं यथा ॥ १६ ॥

सही न जानेवाली प्रलयाग्निकी शिखाएँ बाहर निकालीं, तब भी यह वृक्ष कम्पित नहीं हुआ [पुराणमें यह बात प्रसिद्ध है कि अन्तमें प्रलय संकर्षणकी मुखाग्निसे ही होता है ।] ॥ १२ ॥

हे मुनियोंमें सिंहरूप महाराज वसिष्ठजी, इस प्रकारके उत्तम वृक्षपर निवास कर रहे हम लोगोंको आपत्तियाँ कहाँसे हो सकती हैं, क्योंकि वे आपत्तियाँ दुष्टस्थानमें निवासके कारण ही आती हैं ॥ १३ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महाबुद्धि पक्षिराज, कल्पान्तहेतु उत्पात-वायुओंके, जो चन्द्रमा, नक्षत्र और सूर्यको भी गिरा देते हैं, बहनेपर तुम चिन्तानिर्मुक्त होकर कैसे रहते हो ? [क्योंकि उस समय प्रलयमें भूलोकपर्यन्त सबका दाह होनेसे मेरु, कल्पवृक्ष आदिसे कभी भी परित्राण नहीं हो सकता ।] ॥ १४ ॥

भुशुण्डने कहा—भगवन्, जब सहस्र महायुगोंके अन्तमें जगत्‌की अवस्थामें व्यवहार गिर जाता है, तब सन्मित्रका परित्याग कर देनेवाले कृतघ्नकी नाईं मैं इस घोंसलेका परित्याग कर देता हूँ ॥ १५ ॥

[उस समय मैं] समस्त कल्पनाओंका परित्याग कर और निश्चल स्वभाव-वाले अङ्गोंसे युक्त होकर एकमात्र आकाशमें ही, वासनाशून्य मनकी नाईं, स्थित रहता हूँ ॥ १६ ॥

प्रतपन्ति यदाऽऽदित्याः शकलीकृतभूधराः ।
वारुणीं धारणां बद्ध्वा तदा तिष्ठामि धीरधीः ॥ १७ ॥
यदा शकलिताद्रीन्द्रा वान्ति प्रलयवायवः ।
पार्वतीं धारणां बद्ध्वा खे तिष्ठाम्यचलं तदा ॥ १८ ॥
जगद्गलितमेर्वादि यात्येकार्णवतां यदा ।
वायवीं धारणां बद्ध्वा संप्लवे चलधीस्तदा ॥ १९ ॥

सामान्यतः कथित आकाश-स्थितिका धारणा-भेदोंसे विशेष उल्लेख करते हैं—'प्रतपन्ति' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजी, प्रलयके समयमें जब पर्वतोंको खण्डशः कर देनेवाले बारह आदित्य तपते हैं, तब मैं वरुणसम्बन्धी धारणा बाँधकर निश्चितबुद्धि होकर स्थित रहता हूँ [तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जलके बीच रहनेवाले वरुण बाहरके आतपसे जनित संतापका अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार भुशुण्ड भी 'अत्यन्त शीतल समस्त दिग्-मण्डलमें व्यापी अपरिच्छिन्न जल-स्वरूप वरुण ही मैं हूँ' इस प्रकार चित्तमें निरन्तर वरुण-भावनाके द्वारा वरुण-रूपताको प्राप्त होकर बाहरके सूर्यादि-आतपजनित संतापका अनुभव नहीं करते थे ।] ॥ १७ ॥

जब प्रलयकालमें बड़े-बड़े पर्वतराजोंको मर्दित कर देनेवाले प्रलयकालीन वायु बहते हैं, तब मैं पर्वतसम्बन्धिनी धारणा बाँधकर आकाश-मण्डलमें अचल होकर स्थित रहता हूँ [तात्पर्य यह है कि प्रलयकालमें पृथ्वीपर स्थित पर्वतोंके विनाश्य होनेके कारण उन्हीं पर प्रलयकालीन वायुओंका आघात होता है, इसलिए प्रलयकालीन वायुओंसे होनेवाले आघातके अविषय ब्रह्माण्डके बहिर्भूत आकाशमें साधारण वायुसे भी क्षोभ न होनेके लिए पर्वतसम्बन्धिनी धारणा बाँधकर मैं स्थित रहता हूँ ।] ॥ १८ ॥

जब प्रलयकालमें जगत्, जिसमें मेरु आदि पर्वत गल जाते हैं, एक समुद्रस्वरूप हो जाता है, तब वायुसम्बन्धिनी धारणा बाँधकर एकमात्र वायुमें ही तादात्म्यभाव करता हुआ निश्चित-बुद्धि होकर ऊपर तैरता रहता हूँ ॥ १९ ॥

ब्रह्माण्डपारमासाद्य तत्त्वान्ते विमले पदे ।
सुषुप्तावस्थया तावत्तिष्ठाम्यचलरूपया ॥ २० ॥
यावत्पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति ।
तत्र प्रविश्य ब्रह्माण्डं तिष्ठामि विहगालये ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथा तिष्ठसि पक्षीन्द्र धारणाभिरखण्डितः ।
कल्पान्तेषु तथा कस्मान्नाऽन्ये तिष्ठन्ति योगिनः ॥ २२ ॥

भुशुण्ड उवाच

ब्रह्मन्नियतिरेषा हि दुर्लङ्घ्या पारमेश्वरी ।
मयेदृशेन वै भाव्यं भाव्यमन्यैस्तु तादृशैः ॥ २३ ॥

'उस प्रकार कितने समयतक तैरते रहते हो ?' इस शङ्कापर कहते हैं—'ब्रह्माण्ड०' इत्यादिसे ।

महाराज, ब्रह्माण्डके पारको यानी स्थूल, सूक्ष्म और समष्टिरूप ब्रह्माण्डके परम अवधिस्वरूप अव्याकृतको प्राप्तकर समस्त पदार्थोंके अन्तभूत एवं निर्मल आत्मपदमें निश्चलात्मक सुषुप्तिके सदृश एकरस निर्विकल्पकसमाधि-अवस्थासे मैं तबतक स्थित रहता हूँ, जबतक कमलोद्भव ब्रह्मदेव पुनः अपने सृष्टिकर्ममें प्रवृत्त नहीं होते । पुनः सृष्टिरूप व्यापारके होनेपर ब्रह्माण्डमें प्रवेशकर इस कल्पवृक्षके स्थानापन्न मैं अपने आलयमें फिर स्थित हो जाता हूँ ॥ २०, २१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे पक्षीन्द्र, प्रलयकालमें तत्-तत् धारणाओंके द्वारा अखण्डित होकर जैसे तुम स्थित रहते हो, वैसे दूसरे योगी क्योंकर स्थित नहीं रहते, क्यों वे शरीर त्यागकर मुक्ति प्राप्त करते हैं ? ॥ २२ ॥

इस विमर्शमें तत्-तत् प्रबल प्रारब्धका अनुसरण करनेवाली सत्यसंकल्प-स्वरूपा ईश्वरनियति ही व्यवस्थापक है, दूसरा कोई नहीं; ऐसा कहते हैं—'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

भुशुण्डने कहा—हे ब्रह्मन्, चूँकि इस परमेश्वरीय नियामिका शक्तिका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता, इसलिए हम इस प्रकार कल्पान्तोंमें स्थित रहते हैं और दूसरे (योगी) शरीरोंका त्यागकर मुक्त हो जाते हैं ॥ २३ ॥

न शक्यते तोलयितुमवश्यं भवितव्यता ।
यद्यथा तत्तथैतद्धि स्वभावस्यैष निश्चयः ॥ २४ ॥
मत्सङ्कल्पवशेनैव कल्पे कल्पे पुनः पुनः ।
अस्मिन्नेव गिरेः शृङ्गे तरुरित्थं भवत्ययम् ॥ २५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अत्यन्तमोक्षदीर्घायुर्भवान्निर्देशनायकः ।
ज्ञानविज्ञानवान् धीरो योगयोग्यमनोगतिः ॥ २६ ॥
दृष्टानेकविधानल्पसर्गसङ्गमागमः ।
किं किं स्मरसि कल्याण चित्रमस्मिञ्जगत्क्रमे ॥ २७ ॥

भुशुण्ड उवाच

बृहत्तराऽशिलावृक्षामजाततृणवीरुधम् ।
अशैलवनवृक्षौघां स्मरामीमां धरामधः ॥ २८ ॥

महाराज, जो अवश्य भवितव्यता है, उसका बुद्धिसे 'इदम्-इत्थमेव' इस प्रकार अवधारण नहीं कर सकते। जिस तरहके प्रारब्धसे जो जैसा प्राप्त होता है, वह वैसा ही रहता है—यह नियतिरूप स्वभावका निश्चय है ॥ २४ ॥

प्रत्येक कल्पमें इस कल्पवृक्षके निर्माणमें भी भोगजनक अदृष्टमें हेतुभूत मेरा संकल्प ही कारण है, ऐसा कहते हैं—'मत्सङ्कल्प०' इत्यादिसे।

कल्प-कल्पमें बार-बार एकमात्र मेरे संकल्पसे ही मेरुपर्वतके इसी शिखर-पर इस तरहका यह कल्पवृक्ष उत्पन्न होता है ॥ २५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तुम्हारी आयु मोक्षके सदृश अत्यन्त अपरि-च्छिन्न है, तुम सुदूर भूतकालीन पदार्थोंका निदर्शन करनेमें सबसे बढ़-चढ़कर हो। तुम मोक्षहेतु तत्त्व-ज्ञान और लौकिक समस्त शास्त्रादि विज्ञानोंसे परिपूर्ण हो, धीर हो और तुम्हारे मनोव्यापार आत्मयोगमें पर्याप्तरूपसे योग्य हो चुके हैं। तुमने तरह-तरहकी असंख्य सृष्टियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देखे हैं, इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम्हारे द्वारा देखे गये जगत्-मण्डलमें आश्चर्यकारी किस-किस जगत्-क्रमका तुम स्मरण करते हो ॥ २६, २७ ॥

भुशुण्डने कहा—हे श्रेष्ठतर, इस पृथ्वीके विषयमें मुझे स्मरण है कि एक समय इसमें शिला और वृक्ष कुछ नहीं थे; तृण, लता आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
भस्मसारभरापूर्णां संस्मरामि धरामधः ॥ २९ ॥
अनुत्पन्नदिवाधीशामज्ञातशशिमण्डलाम् ।
अविभक्तदिवालोकां संस्मरामि धरामधः ॥ ३० ॥
मेरुरत्नतलोद्योतैरर्धप्रकटकोटरम् ।
लोकालोकमिवाऽऽढ्याद्रिभुवनं संस्मराम्यहम् ॥ ३१ ॥
प्रवृद्धासुरसंग्रामे क्षीयमाणान्तरामिह ।
पलायमानामभितः संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३२ ॥
चतुर्युगानि चाऽऽक्रान्तामसुरैर्मत्तकाशिभिः ।
दैत्यान्तःपुरतां प्राप्तां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३३ ॥
अत्यन्तान्तरितान्तान्तसमस्तापरमण्डलाम् ।
अजदेवत्रयीशेषां संस्मरामि जगत्कुटीम् ॥ ३४ ॥

हुए थे; पर्वत, अरण्य और भाँति-भाँतिके वृक्ष कुछ भी नहीं थे तथा यह पृथ्वी मेरुके नीचे स्थित थी ॥ २८ ॥

मुझे भलीभाँति स्मरण है कि मेरुपर्वतके नीचे यह पृथ्वी दस हजार दस सौ वर्षोंतक भस्म-सारके भारसे व्याप्त थी ॥ २९ ॥

पहले मेरुपर्वतके नीचे पृथ्वीपर न सूर्य उत्पन्न हुआ था, न इसमें चन्द्र-मण्डलका भान ही होता था और न तो दिवसका हेतुभूत प्रकाश सुमेरुपर्वतके प्रकाशसे विभक्त था—इसका भी मुझे भलीप्रकारसे स्मरण है ॥ ३० ॥

सुमेरुपर्वतके रत्नोंके तलप्रकाशोंसे इस पृथ्वीका आधा कोटर प्रकाशित होता था तथा इसपर कहीं-कहीं प्रकाशयुक्त पर्वत भी विद्यमान थे, इसलिए यह लोका-लोक पर्वतके सदृश प्रतीत होती थी—इसका भी ठीक-ठीक स्मरण है ॥ ३१ ॥

यहाँ बल, ऐश्वर्य आदिसे परिपुष्ट असुरोंका संग्राम होनेपर जब इस पृथ्वीका भीतरी भाग क्षीण हो गया था, तब यह पलायमान जनोंसे व्याप्त हो गई थी—इसका भी मुझे अच्छी तरह स्मरण है ॥ ३२ ॥

चार युगोंतक मद-मत्त ऐश्वर्यशाली असुरोंके द्वारा आक्रान्त हुई यह पृथ्वी उनके (असुरोंके) अन्तःपुर रूपताको प्राप्त हो गई थी—इसका भी स्मरण करता हूँ ॥३३॥

एक समय इस जगत्-रूपी कुटियामें मेरुको छोड़कर दूसरे सब देश

चतुर्युगार्धमपरं नीरन्ध्रां वनपादपैः ।
अदृष्टेतरनिर्माणां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३५ ॥
एवं चतुर्युगं साग्रं नीरन्ध्रैरचलैर्वृताम् ।
अप्रवृत्तजनाचारां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३६ ॥
दशवर्षसहस्राणि मृतदैत्यास्थिपर्वतैः ।
आकीर्णां परितः पूर्णां संस्मरामि धरामिमाम् ॥ ३७ ॥
भयादन्तर्हिताशेषवैमानिकनभश्चराम् ।
द्यां च निर्वृक्षनिःशेषां संस्मरामि तमोमयीम् ॥ ३८ ॥
अनगस्त्यामगस्त्याशामेकपर्वततां गताम् ।
मत्ते विन्ध्यमहाशैले संस्मरामि जगत्कुटीम् ॥ ३९ ॥

समुद्रने आमूलचूड आच्छादित कर दिये थे और उस समय इस मेरुपर्वतपर अविनाशी ब्रह्मा, विष्णु और शिव, ये देवत्रयी विराज रही थी—इसका भी मुझे ठीक स्मरण है ॥ ३४ ॥

दो युगोंतक तो यह (पृथ्वी) जंगली वृक्षोंसे निबिड़ थी और इसमें उन्हें (वृक्षोंको) छोड़ दूसरे किसीका निर्माण ही नहीं हुआ था—इसे भी स्मरण करता हूँ ॥ ३५ ॥

एक समय यह पृथ्वी चार युगोंसे अधिक कालतक निबिड़ पर्वतोंसे व्याप्त थी ; उसमें मनुष्योंका संचरण भी नहीं होता था—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ ३६ ॥

दस हजार वर्षोंतक तो यह मृत दैत्योंके अस्थिपर्वतोंसे चारों ओरसे व्याप्त एवं परिपूर्ण थी —इसका भी मैं भलीभाँति स्मरण करता हूँ ॥ ३७ ॥

एक समय अन्तरिक्ष आदि लोकोंमें भयके कारण समस्त विमानगामी देवता आदि तिरोहित हो गये थे और यह (पृथ्वी) सब वृक्षोंसे वर्जित होकर अन्धकारप्रचुर हो गई थी—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ ३८ ॥

महाराज, एक समय मेरु-स्पर्धासे विन्ध्यमहाशैलके अभिवृद्ध होनेपर दक्षिण दिशासे अगस्त्य महामुनि चले गये और यह जगत्-रूपी कुटिया मलय, दर्दुर, सह्यादि आदि विभाजक पर्वतोंके अभावसे एकपर्वतरूपताको प्राप्त हो गई थी—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ ३९ ॥

एतांश्चाऽन्यांश्च वृत्तान्तान् संस्मरामि बहूनपि ।
किं तेन बहुनोक्तेन सारं संक्षेपतः शृणु ॥ ४० ॥
असंख्यातान् मनून् ब्रह्मन्स्मरामि शतशो गतान् ।
सर्वान् संरम्भबहुलांश्चतुर्युगशतानि च ॥ ४१ ॥
एकमेव स्वयं शुद्धं पुरुषासुरवर्जितम् ।
आलोकनिचयं चैकं कञ्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४२ ॥
सुरापं ब्राह्मणं मत्तं निषिद्धसुरशूद्रकम् ।
बहुनाथसतीकं च कञ्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४३ ॥
वृक्षनीरन्ध्रभूपीठमकल्पितमहार्णवम् ।
स्वयं संजातपुरुषं कञ्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४४ ॥

ये और इनसे पृथक् दूसरे भी बहुतसे वृत्तान्त हैं, जिनका मुझे संस्मरण है, परन्तु उनके विषयमें अधिक कहनेसे क्या फल ? केवल सारभूत वस्तुका संक्षेपसे श्रवण कीजिए ॥ ४० ॥

हे ब्रह्मन्, सैकड़ों असंख्य मनु बीत गये, ये सब प्रभावके आधिक्यसे परिपूर्ण थे एवं सैकड़ों चतुर्युग भी बीत गये—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ ४१ ॥

दूसरा आश्चर्य कहते हैं—'एकमेव' इत्यादिसे ।

एक समय यानी जब ब्रह्माण्डशरीर विराट् उत्पन्न होकर अपने स्वरूपका आलोचन करनेके लिए कुछ कालतक समाहितचित्त हुए थे, उस समय पुरुष एवं असुरोंसे वर्जित, स्वतःशुद्ध, प्रकाशस्वभाव तैजस पदार्थोंकी समष्टिरूप एक ही ब्रह्माण्ड था—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४२ ॥

कलियुगकी सृष्टि-स्थितिका स्मरण कर रहा पक्षिराज भुशुण्ड कहते हैं—'सुरापम्' इत्यादिसे ।

एक समय ऐसी उन्मत्त सृष्टि थी कि जिसमें ब्राह्मण लोग मद्य पीते थे, देवताओंकी निन्दा करनेवाले असत्-शूद्र रहते थे, स्त्रियोंके अनेक पति होते थे—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४३ ॥

आश्चर्यान्तर कहते हैं—'वृक्ष०' इत्यादिसे ।

महाराज, मुझे किसी एक ऐसी सृष्टिका स्मरण है कि जिसमें यह भूपीठ वृक्षोंसे घनीभूत था, महार्णवकी कल्पना भी नहीं की गई थी और स्त्री-पुरुषके

अपर्वतमभूमिं च व्योमस्थामरमानवम् ।
अचन्द्रार्कप्रकाशाढ्यं कञ्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४५ ॥
अनिन्द्रममहीपालममध्यस्थाधमोत्तमम् ।
सममन्धककुप्चक्रं कञ्चित्सर्गं स्मराम्यहम् ॥ ४६ ॥
सर्गप्रारम्भकलना विभागो भुवनत्रये ।
कुलपर्वतसंस्थानं जम्बूद्वीपं पृथक् स्थितम् ॥ ४७ ॥
वर्णधर्मधियां सृष्टिविभागो मण्डलावनेः ।
ऋक्षचक्रकसंस्थानं भुवनिर्माणमेव च ॥ ४८ ॥

सम्बन्धके बिना अपने आप भृगु आदि मानस पुरुष उत्पन्न हुए थे [समुद्रके सर्जक प्रियव्रतकी उत्पत्तिके पहले यह मानस-सृष्टि हुई थी, यह प्रसिद्ध है] ॥ ४४ ॥

जलमें पृथिवीके निमग्न हो जानेपर जनलोक आदि प्रकाशप्रचुर लोकोंके व्यवहारोंसे उपलक्षित हुए कालमें जो सृष्टि-स्थिति थी, उसका स्मरण कर रहा पक्षीन्द्र भुशुण्ड कहते हैं—'अपर्वत०' इत्यादिसे ।

एक समय ऐसी सृष्टि थी—जिसमें पर्वत और पृथिवी का नामशेष ही नहीं था, देवता और योगसिद्ध पुरुष आकाशमें ही रहते थे तथा चन्द्र एवं सूर्य के अभावमें भी परिपूर्ण प्रकाश था—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४५ ॥

महाराज, एक समयकी सृष्टिमें न इन्द्र था, न कोई राजा था, न उत्तम, मध्यम एवं अधम का भेद था, सब एकरूप था तथा समस्त दिक्-चक्र अन्धकार-से व्याप्त था—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४६ ॥

इस कल्पके वृत्तान्तका तो इस कल्पतककी आयुवाले बहुतसे लोगोंको स्मरण है, यों प्रपञ्च कर रहे पक्षिराज भुशुण्ड कहते हैं—'सर्ग०' इत्यादिसे ।

महाराज, पहले सृष्टिके उत्पादनके लिए सृष्टिका संकल्प हुआ । उसके बाद तीन लोकोंमें द्वीप आदि अवान्तर प्रदेशोंका विभाग हुआ । उसके बाद सात कुलपर्वतोंके लिए योग्य स्थानकी कल्पना हुई । उसके बाद पृथक् स्थित हुए जम्बूद्वीपमें प्रवेश कर स्रष्टाने ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म एवं उन-उनके लिए योग्य विद्याविशेषोंकी सृष्टि की । उसके बाद मण्डलरूपमें पृथ्वीका विभाग

जन्मेन्दुभास्करादीनामिन्द्रोपेन्द्रव्यवस्थितिम् ।
हिरण्याक्षापहरणं वराहोद्धरणं क्षितेः ॥ ४९ ॥
कल्पनं पार्थिवानां च वेदानयनमेव च ।
मन्दरोन्मूलनं चाऽब्धेरमृतार्थं च मन्थनम् ॥ ५० ॥
अजातपक्षो गरुडः सागराणां च संभवः ।
इत्यादिका याः स्मृतयः स्वल्पातीतजगत्क्रमाः ।
बालैरपि हि तास्तात स्मर्यन्ते तासु को ग्रहः ॥ ५१ ॥
गरुडवाहनं विहगवाहनं
विहगवाहनं वृषभवाहनम् ।

किया, तदनन्तर नक्षत्र-चक्रका उपयोगी संस्थान एवं ध्रुव-मण्डल का निर्माण किया [—मेरी अपेक्षा अत्यन्त स्वल्प आयुवाले आपके सदृश इस कल्पके मनुष्य भी इन सबका स्मरण कर सकते हैं] ॥ ४७, ४८ ॥

उसके बाद चन्द्रमा और सूर्य का निर्माण हुआ। तदनन्तर इन्द्र एवं उपेन्द्र की व्यवस्था हुई। अनन्तर हिरण्याक्षने पृथ्वीका अपहरण किया। बाद उसका वराहरूपधारी भगवान्‌ने उद्धार किया ॥ ४९ ॥

अनन्तर देव, दानव, मनुष्य आदि प्रत्येकमें राजाओंकी कल्पना की गई। पश्चात् मत्स्यरूप ग्रहण कर भगवान् वेद लाये। मन्दराचलका उन्मूलन किया गया। अमृतके लिए क्षीर-सागरका मथन हुआ। बाद अजातपक्ष गरुड़ और समुद्रों की उत्पत्ति हुई—इत्यादि स्वल्प अतीत जगत्क्रमकी जो स्मृतियाँ हैं, उनका मेरी अपेक्षा अल्प-आयुवाले वर्तमानकालमें उत्पन्न आपके सदृश प्राणी भी स्मरण करते हैं, इसलिए उनमें आदर ही क्या ॥ ५०, ५१ ॥

कल्पान्तरोंमें अपने द्वारा देखे गये अन्यान्य आश्चर्योंका कथन करते हुए तत्त्ववित् भुशुण्डजी प्रकृत विषयका उपसंहार करते हैं—**'गरुडवाहनम्'** इत्यादिसे।

दीर्घजीविताको प्राप्त हुए मैंने किसी समय यह रहस्य देखा—इस कल्पमें प्रसिद्ध गरुडवाहन श्रीविष्णु हंसवाहन चतुर्मुख ब्रह्मा बनकर देव, दैत्य आदिकी सृष्टिरूप कार्यका सम्पादन करते थे, हंसवाहन ब्रह्माजी वृषभवाहन रुद्र बनकर संहार

वृषभवाहनं गरुडवाहनं
कलितवानहं कलितजीवितः ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने चिरजीवितवृत्तान्तकथनं नाम एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

ततो जगति जातेषु भगवन् युष्मदादिषु ।
भरद्वाजपुलस्त्यात्रिनारदेन्द्रमरीचिषु ॥ १ ॥
पुलहोद्दालकाद्येषु क्रतुभृग्वङ्गिरस्सु च ।
सनत्कुमारभृङ्गीशस्कन्देभवदनादिषु ॥ २ ॥

करते थे तथा वृषभवाहन महादेवजी विष्णुशरीर बनकर सृष्टिका पालन करते थे ॥ ५२ ॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

[पुनः देखे गये वसिष्ठके अष्टम जन्म आदिका, सम और अर्धसम सृष्टिका तथा क्षीर-सागरके मथन आदिका वर्णन]

भुशुण्डने कहा—भगवन्, [जब मुझे अनेक युगोंकी आश्चर्यजनक घटनाओंका वैसा अभ्रान्त स्मरण है, तब] उनके बाद (कुछ पहले या आजके सर्गमें) उत्पन्न हुए आपको लेकर भरद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, नारद, इन्द्र और मरीचि इनके विषयमें [स्मरणकी तो गणना ही क्या ? यानी उनके विस्मरणकी तो सम्भावना कभी हो ही नहीं सकती, यह भाव है *] ॥ १ ॥

पुलह, उद्दालक प्रभृति तथा क्रतु, भृगु, अङ्गिरा आदि सिद्ध-ऋषि, सनत्कुमार आदि ब्रह्मर्षि एवं भृङ्गीश, स्कन्द, गजवदन आदि शिवजीके पार्षदोंके विषयमें तो स्मरणकी गणना ही क्या ॥ २ ॥

* सप्तम श्लोकस्थ क्रियाके साथ सब सप्तम्यन्तोंका सम्बन्ध है ।

गौरीसरस्वतीलक्ष्मीगायत्र्याद्यासु भूरिषु ।
मेरुमन्दरकैलासहिमवद्दर्दुरादिषु ॥ ३ ॥
हयग्रीवहिरण्याक्षकालनेमिबलादिषु ।
हिरण्यकशिपुक्राथबलिप्रह्लादकादिषु ॥ ४ ॥
शिबिन्यङ्कुपृथूलाख्यवैन्यनाभागकेलिषु ।
नलमान्धातृसगरदिलीपनहुषादिषु ॥ ५ ॥
आत्रेयव्यासवाल्मीकिशुकवात्स्यायनादिषु ।
उपमन्युमणीमङ्किभगीरथशुकादिषु ॥ ६ ॥
अल्पकातीतकालेषु किञ्चिद्दूरेषु केषुचित् ।
तथाऽद्यतनसर्गेषु स्मरणे गणनैव का ॥ ७ ॥
मुने ते ब्रह्मपुत्रस्य जन्माष्टकमिदं किल ।
संस्मराम्यष्टमे सर्गे तस्मिंस्त्वं मम सङ्गतः ॥ ८ ॥
कदाचिज्जायसे व्योम्नः कदाचिज्जायसे जलात् ।
कदाचिद्वायुतः शैलात् कदाचिज्जायसेऽनलात् ॥ ९ ॥

गौरी, सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री आदि अनेक उनकी शक्तियों तथा सुमेरु, मन्दर, कैलास, हिमालय, दर्दुर आदि पर्वतों के विषयमें स्मरणकी तो गणना ही क्या ॥ ३ ॥

हयग्रीव आदि दानवों ; हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि, प्रह्लाद आदि दैत्यों के विषयमें स्मरणकी तो गणना ही क्या ॥ ४ ॥

शिबि, न्यङ्कु, पृथु, उलाख्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप, नहुष आदि राजाओंके विषयमें स्मरणकी तो कथा ही क्या ॥ ५ ॥

आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यायन आदि तथा उपमन्यु, मणीमङ्कि, भगीरथ, शुक आदिके विषयमें स्मरणकी तो गणना ही क्या ॥ ६ ॥

जो स्वल्पतर भूतकालमें उत्पन्न हैं, जो कोई कुछ दूरके हैं तथा जो आजके कल्पमें उत्पन्न हैं, उनके विषयमें स्मरणकी गणना ही क्या ? यानी पूर्वोक्त सभी लोगोंके विषयमें विस्मरण हो ही नहीं सकता, यह भाव है ॥ ७ ॥

हे मुने, ब्रह्माजीके पुत्र आपका यह अष्टम जन्म है। उस आठवें जन्ममें आपकी और मेरी सङ्गति हुई—इसका मैं पहलेसे ही स्मरण करता हूँ ॥ ८ ॥

'आठों जन्मोंमें क्या मैं ब्रह्माजीका ही पुत्र रहा ?' महाराज वसिष्ठके

यादृशो यादृशाचारो यादृक्संस्थानदिग्गणः ।
सर्गोऽयं तादृशानेव त्रीन्सर्गान् संस्मराम्यहम् ॥ १० ॥
एकरूपाखिलाचारसन्निवेशधरामरान् ।
समकालान् स्थिरस्थैर्यान् दश सर्गान् स्मराम्यहम् ॥ ११ ॥
अन्तर्धानं गता धात्री वारपञ्चकमुद्धृता ।
मुने पञ्चसु सर्गेषु कूर्मेणैव पयोनिधेः ॥ १२ ॥
मन्दराकर्षणावेगपर्याकुलसुरासुरम् ।
स्मरामि द्वादशं चेदममृताम्भोधिमन्थनम् ॥ १३ ॥

इस प्रश्नपर पक्षीन्द्र भुशुण्डजी 'नहीं' यों उत्तर देते हैं—'कदाचित्' इत्यादिसे ।

हे मुने, आप किसी समय आकाशसे उत्पन्न होते हैं, किसी समय जलसे उत्पन्न होते हैं, किसी समय वायुसे उत्पन्न होते हैं, तो किसी समय पर्वत और अग्नि से उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

समस्त कल्पोंमें तत्-तत् अधिकारी पुरुषोंके नाम और स्वरूप एक-से होनेपर भी सब पदार्थोंके सब अवयव और आचरण एक ही होने चाहिएँ, यह नियम नहीं है, किन्तु काकतालीयन्यायसे किसी समय एक-से हो जाते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'यादृशो' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजी, यह सर्ग जैसा है, इसका जिस प्रकार आचरण है, इसके जिस प्रकारके अवयव-संस्थान तथा दिशागण हैं, ठीक इसी तरहके तीन सर्ग पहले हो चुके हैं—इसका मुझे स्मरण है ॥ १० ॥

मुनिवर, मुझे ऐसे दस सर्गोंका स्मरण है—जिनमें देवताओंके निखिल आचरण तथा अवयव-गठन एकरूप थे, उनकी आयु समान थी एवं अपने नियत तत्-तत् अधिकारपदोंमें उनकी स्थिति असुरों द्वारा चालित नहीं हुई थी ॥ ११ ॥

आचारोंकी समानता बतलाकर अब उनका वैषम्य बतलाते हैं—'अन्तर्धानम्' इत्यादिसे ।

हे मुने, जलमें डूबकर तिरोहित हुई पृथ्वीका समुद्रसे भगवान् कूर्मने ही, न कि वराहने, पाँच सर्गोंमें पाँच बार उद्धार किया ॥ १२ ॥

हे महाराज, मन्दराचलके आकर्षणके लिए किये गये भूरि प्रयत्नके कारण

सर्वौषधिरसोपेतां बलिग्राहस्तदा दिवः ।
वारत्रयं हिरण्याक्षो नीतवान् वसुधामधः ॥ १४ ॥
रेणुकात्मजतां गत्वा षष्ठवारमिमं हरिः ।
बहुसर्गान्तरेणाऽपि चकार क्षत्रियक्षयम् ॥ १५ ॥
शतं कलियुगानां च हरेर्बुद्धदशाशतम् ।
शौकराजतयैवाऽऽसं स्मरामि मुनिनायक ॥ १६ ॥
त्रिंशत्त्रिपुरविक्षोभान् द्वौ दक्षाध्वरसंक्षयौ ।
दशशक्रविघातांश्च चन्द्रमौलेः स्मराम्यहम् ॥ १७ ॥
बाणार्थमष्टौ संग्रामान् ज्वरप्रमथमन्त्रकान् ।
विक्षोभितसुरानीकान् स्मरामि हरिशर्वयोः ॥ १८ ॥

व्याकुल हुए देवता एवं दानवों से युक्त यह अमृतार्थ समुद्र-मन्थन बारहवाँ हुआ—ऐसा मुझे स्मरण है ॥ १३ ॥

महाराज, पहले स्वर्गस्थ समस्त देवताओंसे कर लेनेवाला, हिरण्याक्ष तीन बार समस्त ओषधियों तथा रसों से परिपूर्ण इस पृथ्वीको पातालमें ले गया ॥ १४ ॥

रेणुकाके उदरसे जन्म लेकर भगवान् नारायणने, परशुराम-अवतारसे शून्य अनेक सर्गोंके व्यवधानसे भी, यह षष्ठवार क्षत्रिय-विनाश किया ॥ १५ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, सौ कलियुग हुए और कीकटदेशके राजारूपसे यानी महाराज शुद्धोदनके पुत्ररूपसे भगवान् नारायणने सौ बार बुद्धदशा प्राप्त की—इसका मुझे स्मरण है ॥ १६ ॥

महाराज, चन्द्रमौलि महादेवजीने तीस कल्पोंमें तीस बार त्रिपुरोंका विनाश किया, दो बार यानी प्रत्येक कल्पमें स्वायंभुव और चाक्षुष मन्वन्तरमें दक्ष-प्रजापतिके यज्ञोंका विध्वंस किया तथा अपराधी दस इन्द्रोंको दण्ड दिया (उनके पदोंसे उन्हें च्युतकर पर्वतकी गुफाओंमें बन्दी बनाया अथवा वज्रसहित उनके हाथोंका स्तम्भन किया)—इसका मुझे स्मरण है ॥ १७ ॥

मुनिवर, बाणासुरके लिए माहेश्वर एवं वैष्णवनामक ज्वरों और प्रमथ-गणोंको शौर्यमें उत्साह बढ़ाकर प्रवृत्त करानेवाले तथा देवताओंकी सेनाओंको प्रचुरमात्रामें क्षुब्ध करनेवाले हरि और हर के आठ संग्राम हुए—इसका मुझे स्मरण है ॥ १८ ॥

युगं प्रति धियां पुंसां न्यूनाधिकतया मुने ।
क्रियाङ्गपाठवैचित्र्ययुक्तान् वेदान् स्मराम्यहम् ॥ १९ ॥
एकार्थानि समग्राणि बहुपाठानि मेऽनघ ।
पुराणानि प्रवर्तन्ते प्रसृतानि युगं प्रति ॥ २० ॥
पुनस्तानेव तानेवमन्यानपि युगे युगे ।
वेदादिवित्प्ररचितानितिहासान् स्मराम्यहम् ॥ २१ ॥
इतिहासं महाश्चर्यमन्यं रामायणाभिधम् ।
ग्रन्थलक्षप्रमाणं च ज्ञानशास्त्रं स्मराम्यहम् ॥ २२ ॥
रामवद्व्यवहर्तव्यं न रावणविलासवत् ।
इति यत्र धियां ज्ञानं हस्ते फलमिवाऽर्पितम् ॥ २३ ॥
कृतं वाल्मीकिना चैतदधुना यत्करिष्यति ।
अन्यच्च प्रकटं लोके स्थितं ज्ञास्यसि कालतः ॥ २४ ॥

मुने, मैं युग-युगमें अध्येता पुरुषोंकी बुद्धियोंके न्यूनाधिकभावके कारण क्रियाओंकी (ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, भूमिशयन आदि क्रियाओंकी), अङ्गोंकी (शिक्षा, कल्प आदि अङ्गोंकी) एवं पाठोंकी (अवधानपूर्वक स्वर, वर्ण आदिके उच्चारणरूप पाठोंकी) न्यूनाधिकप्रयुक्त विचित्रतासे युक्त वेदोंका भी स्मरण करता हूँ ॥ १९ ॥

हे पापशून्य, युग-युगमें—प्रत्येक द्वापरके अन्तमें निर्माताओंके भेदसे अनेक पाठवाले, एकार्थक तथा अत्यन्त विस्तारयुक्त पुराण प्रवृत्त होते हैं—इसका मुझे स्मरण है ॥ २० ॥

मुने, युग-युगमें वेद आदि शास्त्रोंके विद्वान् व्यास, वाल्मीकि आदि महर्षियों द्वारा विरचित उन्हीं भारत, रामायण आदि इतिहासों एवं दूसरे इतिहासों का भी मैं स्मरण करता हूँ ॥ २१ ॥

महाराज, मैं आश्चर्यजनक महती घटनाओंसे परिपूर्ण, प्रसिद्ध रामायणसे भिन्न दूसरे रामायणनामक लक्षश्लोकात्मक ज्ञानशास्त्रका, जो ब्रह्मदेव द्वारा वसिष्ठ, विश्वामित्र आदिको उपदिष्ट था, स्मरण करता हूँ ॥ २२ ॥

उस ज्ञानशास्त्रमें मनोयोग देनेवाले महानुभावोंके अन्तःकरणमें हाथमें फलके सदृश, 'श्रीरामजीकी नाईं व्यवहार करना चाहिए और रावणके विलासकी नाईं विलास नहीं करना चाहिए' यह ज्ञान समर्पित किया गया है ॥ २३ ॥

उक्त ज्ञानशास्त्रके निर्माता महर्षि वाल्मीकि हैं और अब उनके द्वारा वसिष्ठ-

वाल्मीकिनाम्ना जीवेन तेनैवाऽन्येन वा कृतम् ।
एतच्च द्वादशं वारं क्रियते विस्मृतिं गतम् ॥ २५ ॥
द्वितीयमेतस्य समं भारतं नाम नामतः ।
स्मरामि प्राक्तनव्यासकृतं जगति विस्मृतम् ॥ २६ ॥
व्यासाभिधेन जीवेन तेनैवाऽन्येन वा कृतम् ।
एतत्तु सप्तमं वारं क्रियते विस्मृतिं गतम् ॥ २७ ॥
आख्यानकानि शास्त्राणि निवृत्तानि युगं प्रति ।
विचित्रसान्निवेशानि संस्मरामि मुनीश्वर ॥ २८ ॥
भूयस्तान्येव तान्येव तथाऽन्यानि युगे युगे ।
साधो पदार्थजालानि प्रपश्यामि स्मरामि वै ॥ २९ ॥

राम-संवादरूप दूसरे बत्तीस हजार श्लोकात्मक महारामायणरूप ज्ञानशास्त्रकी जो रचना की जायगी, उसका भी दिव्यज्ञानकी सामर्थ्यसे मैं स्मरण करता हूँ, आप भी समय आनेपर उसे जान जायँगे ॥ २४ ॥

महाराज वसिष्ठजी, इस भावी वसिष्ठ-राम-संवादरूप ज्ञानशास्त्रकी पूर्व-कल्पके अथवा दूसरे किसी और वाल्मीकिनामक जीवके द्वारा यद्यपि पहले ही रचना की गई थी, तथापि कल्पके अन्तमें व्यवहारकर्ताओंकी परम्पराओंके उठ जानेसे वह उच्छेदको प्राप्त हो गया था, अतः वर्तमानमें उसकी पुनः बारहवीं बार रचना की जायगी ॥ २५ ॥

महाराज, इसी ज्ञानशास्त्रके बराबर दूसरा ज्ञानशास्त्र था, जिसकी 'महा-भारत' इस नामसे प्रसिद्धि थी एवं प्राक्तन व्यासजीके द्वारा रचना की गई थी और जो इस समय जगत्में विस्मृतिको प्राप्त हो चुका है—मैं उसका स्मरण करता हूँ ॥ २६ ॥

उसी (पूर्वकल्पके) अथवा दूसरे किसी और व्यासनामक जीवके द्वारा किये गये तथा कल्पान्तमें विस्मृतिको प्राप्त हुए उस महाभारतकी सातवीं बार रचना की जायगी ॥ २७ ॥

हे मुनिराज, युग-युगमें प्रवृत्त हुए अनेक आख्यानकों एवं शास्त्रों का, जो चित्र-विचित्र घटना-सन्निवेशोंसे परिपूर्ण थे, मैं स्मरण करता हूँ ॥ २८ ॥

हे साधो, युग-युगमें पुनः-पुनः उन्हीं-उन्हीं पदार्थोंको तथा दूसरे-दूसरे पदार्थोंको मैं देखता हूँ—इसका भी मुझे स्मरण है ॥ २९ ॥

राक्षसक्षतये विष्णोर्महीमवतरिष्यतः ।
अधुनैकादशं जन्म रामनाम्नो भविष्यति ॥ ३० ॥
नारसिंहेन वपुषा हिरण्यकशिपुं हरिः ।
जघान वारत्रितयं मृगेन्द्र इव वारणम् ॥ ३१ ॥
वसुदेवगृहे विष्णोर्भुवो भारनिवृत्तये ।
अधुना षोडशं जन्म भविष्यति मुनीश्वर ॥ ३२ ॥
जगन्मयी भ्रान्तिरियं न कदाचन विद्यते ।
विद्यते तु कदाचिच्च जलबुद्बुदवत्स्थिता ॥ ३३ ॥
दृश्यभ्रान्तिरनित्येयमन्तःस्था संविदात्मनि ।
जायते लीयते चाऽऽशु लोला वीचिरिवाऽम्भसि ॥ ३४ ॥
समैकसन्निवेशानि बहूनि विषमाणि च ।
तथाऽर्धसमरूपाणि त्रिजगन्ति स्मराम्यहम् ॥ ३५ ॥

भगवन्, राक्षसोंका विनाश करनेके लिए पृथ्वीमें अवतार ग्रहण करनेवाले महिमशाली विष्णुका निकटवर्ती त्रेतायुगमें ग्यारहवीं बार 'राम' इस नामसे जन्म होगा ॥ ३० ॥

हे महर्षे, नृसिंहस्वरूप शरीरसे भगवान्‌ने हिरण्यकशिपुका, हाथीका मृगेन्द्र सिंहके नाईं, तीन बार हनन किया ॥ ३१ ॥

हे मुनीश्वर, पृथ्वीके भारकी निवृत्ति करनेके लिए भगवान् विष्णुका सोलहवीं बार वसुदेवजीके घरमें निकट द्वापरके अन्तमें जन्म होगा ॥ ३२ ॥

बाहर यह उत्पन्न होता है, यह भ्रान्ति है, इस आशयसे कहते हैं—**'जगन्मयी'** इत्यादिसे ।

महाराज, जगद्रूपा इस भ्रान्तिका कभी भी (कल्पान्तमें) अस्तित्व नहीं है, जलमें बुद्बुदोंकी नाईं स्थित हुई यह किसी समय ही (कल्पकालमें) अज्ञानवश अस्तित्व रखती हुई-सी प्रतीत होती है ॥ ३३ ॥

जलमें तरङ्गोंकी नाईं अति चपल, आत्माके अन्दर रहनेवाली यह अनित्य दृश्य पदार्थोंकी भ्रान्ति संवित्-स्वरूप आत्मामें ही उत्पन्न और तत्क्षण लीन हो जाती है ॥ ३४ ॥

प्रत्येक सर्गमें भूलोक आदिकी अवयवोंसे समानताका जो नियम है, वह भी औत्सर्गिक है, यों कहते हैं—**'समैक०'** इत्यादिसे ।

तान्येव तादृक्कर्माणि तथाऽन्याचरणानि च ।
तत्कर्माणि तथाऽन्यानि भूतानीह स्मराम्यहम् ॥ ३६ ॥
प्रतिमन्वन्तरं ब्रह्मन्विपर्यस्ते जगत्क्रमे ।
सन्निवेशेऽन्यथा जाते प्रयाते संश्रुते जने ॥ ३७ ॥
ममाऽन्यान्येव मित्राणि अन्य एव च बन्धवः ।
अन्य एव नवा भृत्या अन्य एव समाश्रयाः ॥ ३८ ॥
कदाचिदहमेकान्ते विन्ध्यकच्छकृतालयः ।
कदाचित् सह्यनिलयः कदाचिद्दर्दुरालयः ॥ ३९ ॥
कदाचिद्धिमवद्वासी कदाचिन्मलयाचलः ।
कदाचित् प्राक्तनेनैव सन्निवेशेन भूधरम् ॥
चूतवृक्षे च शाखायां प्राप्य नीडं करोम्यहम् ॥ ४० ॥

महाराज, ये तीनों जगत् किसी कल्पमें समान अवयव-सन्निवेशवाले थे, किसी कल्पमें अत्यन्त विषम थे तथा किसी समय आधे समानरूप थे—इसका मुझे स्मरण है ॥ ३५ ॥

मनु आदि अधिकारी पुरुषोंके आकारों और चरित्रों की समता भी औत्सर्गिक ही है, ऐसा कहते हैं—'तान्येव' इत्यादिसे ।

महाराज, किसी एक कल्पमें जो प्राणी जिस रूपके एवं जो आचार-व्यवहार करते थे, ठीक उसी रूपके वे ही प्राणी तत्परवर्ती कल्पमें भी आचार-व्यवहार करते देखे गये, उस कल्पके वे ही प्राणी दूसरे कल्पमें दूसरे आचार-व्यवहार करते देखे गये तथा दूसरे प्राणी उन्हींके आचार-व्यवहार करते देखे गये—इसका मुझे वर्तमानमें स्मरण है ॥ ३६ ॥

ब्रह्मन्, प्रत्येक मन्वन्तरमें जगत्-क्रमका विपर्यास हो जानेपर, अवयव-सन्निवेशका परिवर्तन हो जानेपर और प्रख्यात जनोंका प्रलय हो जानेपर मेरे दूसरे ही मित्र दूसरे ही बान्धव, दूसरे नवीन ही सेवक और दूसरे ही निवास-स्थान हो जाते हैं ॥ ३७, ३८ ॥

निवासस्थानके भेदको ही विशदरूपसे बतलाते हैं—'कदाचित्' इत्यादिसे ।

महाराज, किसी समय मैं एकान्तमें विन्ध्य-प्रदेशमें अपना स्थान बनाता हूँ, किसी समय सह्याद्रिमें अपना स्थान बनाता हूँ, तो किसी समय दर्दुर-पर्वतपर निवास करता हूँ ॥ ३९ ॥

अनाद्यन्तेषु यातेषु युगेषु मुनिनायक ।
प्राक्तनेनैव जातोऽयं सन्निवेशेन पादपः ॥ ४१ ॥
देहं त्यक्त्वा सुखं साधो नाऽतः परिणतिं गतः ।
तदीयेनैव जातोऽयं सन्निवेशेन पादपः ॥ ४२ ॥
ताते जीवति यैवाऽभूच्छोभाऽस्य सुतरोस्तथा ।
कृतप्राक्सन्निवेशोऽयमहं स्थितिमिहाऽऽगतः ॥ ४३ ॥
नेहाऽभूदुत्तरा पूर्वं ककुब्नाऽयं च भूधरः ।
दिगुत्तराऽभूदन्येयं पूर्वमेव महीधरः ॥ ४४ ॥

किसी समय हिमालय-पर्वतपर वास करता हूँ, किसी समय मलय-पर्वतपर स्थिर होता हूँ, तो किसी समय प्राकृतन अवयव-सन्निवेशसे ही इस पर्वतपर आकर इस कल्पवृक्षकी शाखामें घोंसला बनाता हूँ ॥ ४० ॥

हे मुनिनायक, असंख्य युगोंके बीत जानेपर भी इस समय प्राकृतन अवयवोंके सन्निवेशसे ही यह कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ है ॥ ४१ ॥

हे साधो, इसीलिए अपने प्राक्तन शरीरका सुखपूर्वक त्यागकर यह वृक्ष पूर्वतन अवयवसन्निवेशकी अपेक्षा दूसरे अवयव-सन्निवेशरूप परिणतिको प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु उसी सन्निवेशसे यह उत्पन्न हुआ है [प्रकृत श्लोकके उत्तरार्धसे 'तुम्हारी नाईं यह कल्पतरु चिरजीवी क्यों नहीं है', इस शङ्काका समाधान हो गया, क्योंकि उक्त कथनसे पक्षिराज भुशुण्डने कल्पवृक्षकी चिरजीविता नहीं बतलाई, किन्तु शोभा-सन्निवेशकी समतासे अभेदका उपचार ही बतलाया है ।] ॥ ४२ ॥

महाराज, मेरे पिता चण्डके जीवनकालमें इस कल्पतरुकी जो शोभा थी, ठीक वही शोभा इस समय भी है तथा जो उस समय इसके प्राकृतन सन्निवेश (अवयव-विन्यास) थे, उनके तुल्य दूसरे नवीन अवयव-विन्यास इसके विहित हैं, मैंने यहाँ इस समय स्थिति प्राप्त की है ॥ ४३ ॥

इसी प्रकार दिशा और पर्वत की ऐक्य-प्रत्यभिज्ञा भी शोभा-सन्निवेशकी समताके कारण ही है, ऐसा कहते हैं—'नेहाऽभूदुत्तरा' इत्यादिसे ।

महाराज, पहले यहाँ (अतीत कल्पके इस प्रदेशमें) न यह उत्तर दिशा थी और न तो यह पर्वत ही था, किन्तु पहले यह दूसरी ही उत्तर दिशा थी और यह दूसरा ही पर्वत था ॥ ४४ ॥

एकैकदेहसंस्थानवीतब्रह्मनिशागमः ।
ध्यानान्ते तत्त्व एवैनं सर्गमालोक्य वेद्म्यहम् ॥ ४५ ॥
अर्कादेर्ऋक्षसञ्चारान् मेर्वादिस्थानका दिशः ।
संस्थानमन्यथा तस्मिन् स्थिते यान्ति दिशोऽन्यथा ॥४६॥
न सन्नाऽसज्जगन्मन्ये भ्रमयन्केवलं धियः ।
आत्मस्पन्दचमत्कारविभवोऽयं विजृम्भते ॥ ४७ ॥

तब उन दिशा आदिकी नाईं तुम भी प्रत्येक कल्पमें दूसरे और समान सन्निवेशवाले क्यों नहीं हो ? तो इसपर कहते हैं—'एकैक०' इत्यादिसे ।

मैं एक ही रहा और एक ही अवयव-सन्निवेशसे मैंने ब्रह्माजीकी निशाका अतिक्रमण किया, क्योंकि कल्पान्तमें पूर्वोक्त धारणाओंसे स्थिरकी गई निर्विकल्पक समाधिके अवसानमें पुनः उत्पन्न हुआ यह सर्ग देख कर मैं 'वही यह मेरुपर्वत है', 'वही यह कल्पतरुवृक्ष है' यों प्रत्यभिज्ञायमान पदार्थके रूपमें ही इस सृष्टिको जानता हूँ । यदि मैं दूसरा होता, तो तत्ताविषयिणी उक्त प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, यह भाव है ॥ ४५ ॥

इसी प्रकार पूर्वके अवयवोंसे भिन्न दूसरे अवयवोंका ग्रहण करनेपर भी 'उस प्रकार प्रत्यभिज्ञा कर रहे मेरा विनाश नहीं है' इस प्रकारके गर्भित आशय-वाली 'दिगुत्तराऽभूत्' इत्यादि उक्तिका उपपादन करते हैं—'अर्कादे०' इत्यादिसे ।

सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहोंसे एवं नक्षत्रों के उदय, अस्तमय आदि नियत संचरणोंसे नियत उत्तर दिशामें अवस्थित मेरु आदि स्थानको लेकर ही पूर्व आदि दिशाएँ व्यवहृत होती हैं । दूसरे सर्गमें तो वे दिशाएँ—उस मेरुपर्वतके ही दूसरे प्रकारसे स्थित हो जाने पर, चित्रपटके परिवर्तनसे उसमें चित्रित मेरु-पर्वत आदिके अधीन पूर्व आदि दिशाओंके परिवर्तनकी नाईं,—व्यत्यस्त-स्थिति प्राप्त करती हैं ॥ ४६ ॥

इस प्रकार अनियत स्थितिसे दिशाओंका मिथ्यात्व सिद्ध होनेपर तदनुसारी नियत अवयव-सन्निवेशघटित सभी जगत्में अनिर्वचनीयतारूप मिथ्यात्व दिखाई पड़ता है, ऐसा कहते हैं—'न सत्' इत्यादिसे ।

महाराज, यह जगत् न सत् है और न असत् ही है—यही मैं मानता हूँ । आत्माकी मायिक विक्षेपशक्तिसे उत्पन्न हुआ तथा बुद्धिको भ्रमित कर रहा यह प्रपञ्च केवल मिथ्या ही विजृम्भित हो रहा है ॥ ४७ ॥

पुत्रः पितृत्वमायाति मित्रं यात्यरितां तथा ।
स्त्रीत्वं च शतशो यातान् पुंसश्चैव स्मराम्यहम् ॥ ४८ ॥
कलौ कृतयुगाचारान् कृते कलियुगस्थितिम् ।
त्रेतायां द्वापरे चैव संस्मरामि मुनीश्वर ॥ ४९ ॥
अदृष्टवेदवेदार्थान् स्वसङ्केतविहारिणः ।
सर्गान्निरर्गलाचारान् क्वचित्कांश्चित् स्मराम्यहम् ॥५०॥
ध्यातरि ब्रह्मणो ब्रह्मन् ससुरासुरमानुषम् ।
चतुर्युगसहस्रान्ते जगच्छून्यं स्मराम्यहम् ॥ ५१ ॥
मनोमनननिर्माणान् पार्थिवाकारवर्जितान् ।
व्याप्तान् वायुमयैर्भूतैर्दश सर्गान् स्मराम्यहम् ॥ ५२ ॥

जगत्के पदार्थोंमें दिक्कृत व्यवस्था-व्यत्यासकी नाईं कालकृत व्यवस्थाका व्यत्यास भी दिखाई पड़ता है, ऐसा कहते हैं—'पुत्रः' इत्यादिसे ।

महर्षे, किसी कल्पमें पुत्र पितृ-भावको प्राप्त होता है, मित्र शत्रु-भावको प्राप्त होता है तथा सैकड़ों पुरुष स्त्री-भावको प्राप्त हो जाते हैं—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४८ ॥

मुनिमहाराज, किसी कल्पमें कलियुगमें सत्ययुगके आचार, सत्ययुगमें कलियुगकी अवस्था तथा त्रेता और द्वापर में सत्ययुगके आचार और कलियुग-स्थिति हो जाती है—इसका मुझे स्मरण है ॥ ४९ ॥

संक्षेपतः कलियुग-स्थितिका वर्णन करते हैं—'अदृष्ट०' इत्यादिसे ।

मुनिराज, किसी कल्पमें सत्ययुगमें भी कुछ ऐसे मनुष्योंका मुझे स्मरण है कि जो वेद और वेदार्थों का दर्शन तक नहीं किये थे, अपने संकेतमात्रसे ही व्यवहार करते थे, उनका आचरण अत्यन्त उच्छृंखल था । [सत्ययुगमें भी पुष्करने महाराज नलकी ऊपर द्यूतसे विजय पाई थी और बिना अपराध पत्नीके साथ एक वस्त्रसे उन्हें निर्वासित किया था, यह प्रसिद्ध बात है ।] ॥ ५० ॥

हे ब्रह्मन्, हजार चतुर्युगोंकी समाप्तिमें ब्रह्माजी जब जगद्रूपके संहारक्रमसे जलमें शयनकर योगनिद्राके व्याजसे परमात्माका ध्यान कर रहे थे, तब यह देवता, दानव एवं मनुष्य से युक्त जगत् शून्य यानी असत्-स्वरूपकी नाईं हो गया था—इसका मुझे स्मरण है ॥ ५१ ॥

उसी प्रकार जगत्के प्रलीन होनेपर भी चन्द्रमासम्बन्धी मनके मननसे

विचित्रसंस्थानविशेषदेशान्
विचित्रकार्याकुलभूतकोशान् ।
विचित्रविन्यासविलासवेषान्
स्मराम्यहं ब्रह्मदिनेष्वशेषान् ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने चिरजीवितवर्णनं नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाऽसौ वायसश्रेष्ठो जिज्ञासार्थमिदं मया ।
भूयः पृष्टो महाबाहो कल्पवृक्षलताग्रके ॥ १ ॥

निर्मित हुए पूर्वोक्त दस सर्गोंका, जो स्थूल पार्थिवाकारसे वर्जित तथा वायुप्राय भूतोंसे व्याप्त थे, मैं स्मरण करता हूँ ॥ ५२ ॥

कथित समस्त अर्थोंका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'विचित्र०' इत्यादिसे । महाराज, ब्रह्माजीके दिवसरूपी कल्पोंमें हुए चित्र-विचित्र विशेष संस्थानोंवाले देशोंसे युक्त ; चित्र-विचित्र अनेक कार्योंमें व्याकुल प्राणियोंके कोशभूत तथा चित्र-विचित्र विन्यास, विलास एवं वेषों से युक्त समस्त सर्गोंका मैं स्मरण करता हूँ ॥ ५३ ॥

बाईसवाँ सर्ग समाप्त

तेईसवाँ सर्ग

[जिन दोषोंका परित्याग कर देनेपर मनुष्यको मृत्यु बाधा नहीं पहुँचाती, उन दोषोंका तथा मनको जिसमें लगाना चाहिए—उसका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो श्रीरामजी, तदनन्तर कल्पलताके अग्रभागमें आसीन इस वायसराज भुशुण्डको मैंने जिज्ञासाके लिए यह आगेकी बात फिर पूछी ॥ १ ॥

चरतां जगतः कोशे व्यवहारवतामपि ।
कथं विहगराजेन्द्र देहं मृत्युर्न बाधते ॥ २ ॥

भुशुण्ड उवाच

जानन्नपि हि सर्वज्ञ ब्रह्मञ्जिज्ञासयेव माम् ।
पृच्छसि प्रभवो नित्यं भृत्यं वाचालयन्ति हि ॥ ३ ॥
तथापि यत्पृच्छसि मां तत्ते प्रकथयाम्यहम् ।
आज्ञाचरणमेवाऽऽहुर्मुख्यमाराधनं सताम् ॥ ४ ॥
दोषमुक्ताफलप्रोता वासनातन्तुसन्ततिः ।
हृदि न ग्रथिता यस्य मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ५ ॥
निःश्वासवृक्षक्रकचाः सर्वदेहलताघुणाः ।
आधयो यं न भिन्दन्ति मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ६ ॥

हे पक्षियोंके श्रेष्ठ राजा, जगत्-कोशमें विचरण कर रहे और व्यवहार कर रहे भी प्राणियोंकी देहको मृत्यु किस उपायसे यानी कैसे दोषोंका त्याग एवं कैसे गुणोंका उपार्जन करनेसे बाधा नहीं पहुँचाती ॥ २ ॥

भुशुण्डने कहा—हे सर्ववित् ब्रह्मन्, आप यद्यपि सब कुछ जानते हैं, तथापि जो मुझसे, जिज्ञासाकी नाईं, पूछते हैं, वह ठीक ही है, क्योंकि जो समर्थ होते हैं, वे प्रश्नों द्वारा अपने सेवकोंकी वाक्पटुता प्रसिद्ध कराते हैं ॥ ३ ॥

यद्यपि वैसी स्थिति है, तथापि आप जो मुझसे पूछते हैं, उसका आपको मैं उत्तर देता हूँ, क्योंकि आज्ञाका परिपालन करना ही सज्जनोंकी सबसे बड़ी सेवा है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं ॥ ४ ॥

उसमें समस्त दोषोंकी आश्रय वासनाका विनाश ही मृत्युपर विजय पानेके लिए मुख्य उपाय है, ऐसा कहते हैं—'दोष०' इत्यादिसे ।

महाराज, रागादि दोषरूपी मोती जिसमें पिरोये गये हैं, ऐसी वासनारूपी तन्तुसन्तति जिसके हृदय-कमलमें ग्रथित नहीं रहती, मृत्यु उसे मारनेकी इच्छा नहीं करती—अर्थात् जैसे हार आदि आभरणोंका परित्याग किये पुरुषोंको चोर मारनेकी इच्छा नहीं करते, वैसे ही प्रकृतमें समझना चाहिए, यह भाव है ॥ ५ ॥

ब्रह्मन्, देह-वृक्षका उच्छेद कर देनेवाले निःश्वासरूपी करवत जिनसे उत्पन्न होते हैं तथा समस्त शरीर-लताके (देह-वृक्षके शाखाभूत हाथ, पैर आदिके) लिए जो घुनरूप हैं, वे मानसिक-व्यथाएँ जिसका भेदन नहीं करतीं, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती ॥ ६ ॥

शरीरतरुसर्पौघाश्चिन्तार्पितशिरःफणाः ।
आशा यं न दहन्त्यन्तर्मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ७ ॥
रागद्वेषविषापूरः स्वमनोबिलमन्दिरः ।
लोभव्यालो न भुङ्क्ते यं मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ ८ ॥
पीताशेषविवेकाम्बुः शरीराम्भोधिवाडवः ।
न निर्दहति यं कोपस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ ९ ॥
यन्त्रं तिलानां कठिनं राशिमुग्रमिवाऽऽकुलम् ।
यं पीडयति नाऽनङ्गस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ १० ॥
एकस्मिन्निर्मले येन पदे परमपावने ।
संश्रिता चित्तविश्रान्तिस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ ११ ॥
वपुःखण्डाभिपतितं शाखामृगमिवोदितम् ।
न चञ्चलं मनो यस्य तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ १२ ॥

ब्रह्मन्, शरीररूपी वृक्षके कोटरमें रहनेवाले सर्पोंके समूहरूप तथा चिन्तारूपी फणाओंको सिरमें धारण करनेवाली आशाएँ जिसको भीतरसे दाह नहीं पहुँचाती, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती ॥ ७ ॥

राग-द्वेषरूपी विषसे परिपूर्ण अपने मनरूपी बिलमें रहनेवाला लोभरूपी सर्प जिसको दंश नहीं करता, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती ॥ ८ ॥

शरीररूपी समुद्रका वडवाग्निरूप अतएव समस्त विवेकरूपी जलको पीजानेवाला क्रोध जिसको दग्ध नहीं करता, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती ॥९॥

महाराज, तिलोंकी बड़ी राशिको व्यग्र कर देनेवाले कठिन कोल्हू यन्त्रकी नाईं उग्रतापूर्वक अनङ्ग (कामदेव) जिसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती ॥ १० ॥

ब्रह्मात्मामें विश्रान्ति ही आत्यन्तिक मृत्यु-विजयमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—'एकस्मिन्' इत्यादिसे ।

जिसने एक निर्मल परम पवित्र ब्रह्मरूप पदमें चित्त-स्थिति प्राप्त कर ली है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती ॥ ११ ॥

शरीररूपी पुष्पित अरण्य-प्रदेशमें प्रवेश कर दौड़-धूप मचानेवाला बलवान् जिसका मन, वानरकी नाईं, चंचल नहीं है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती ॥ १२ ॥

एते ब्रह्मन् महादोषाः संसारव्याधिहेतवः ।
मनागपि न लुम्पन्ति चित्तमेकं समाहितम् ।। १३ ।।
आधिव्याधिसमुत्थानि चलितानि महाभ्रमैः ।
न विलुम्पन्ति दुःखानि चित्तमेकं समाहितम् ।। १४ ।।
नाऽस्तमेति न चोदेति न संस्मृतिर्न विस्मृतिः ।
न सुप्तं न च जाग्रत्स्याच्चित्तं यस्य समाहितम् ।। १५ ।।
अन्धीकृतहृदाकाशाः कामकोपविकारजाः ।
चिन्ता न परिहिंसन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ।। १६ ।।
न ददाति न चाऽऽदत्ते न जहाति न याचते ।
कुर्वदेव च कार्याणि चित्तं यस्य समाहितम् ।। १७ ।।

दोषोंका उपसंहार कर रहे भुशुण्डजी—मृत्यु-विजयमें हेतुभूत गुणोंका उपक्रम करनेके पहले समाधान ही मुख्य गुण है, इस आशयसे—समाधानकी प्रशंसा करते हैं—'एते' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, पूर्वमें बतलाये गये ये महान् दोष संसाररूपी व्याधिके कारण-भूत हैं, वे दोष समाहित चित्तको तनिक भी विच्छिन्न नहीं करते ॥ १३ ॥

शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओंसे जनित तथा महान् विभ्रमोंसे (पुत्र, कलत्र आदि विषय-व्यामोहोंसे) विचलित हुए दुःख एकमात्र समाहित चित्तको ही छिन्न-भिन्न नहीं कर पाते ॥ १४ ॥

जिस महापुरुषका चित्त समाहित है, उसका चित्त न अस्त होता है, न उदित होता है, न उसमें स्मृति होती है, न विस्मृति होती है, न सुषुप्ति होती है, न जागृति ही होती है, ॥ १५ ॥

जिस महात्माका चित्त समाहित है, उसकी काम क्रोध आदि विकारोंसे उत्पन्न तथा हृदयाकाशको आवृत कर देनेवाली चिन्ता किसी तरह हिंसा नहीं करती ॥ १६ ॥

जिसका चित्त समाहित है, शास्त्रानुसारी व्यवहारोंको चलाता हुआ भी वह परमार्थतः न कुछ देता है, न ग्रहण करता है, न कुछ त्यागता है और न कुछ माँगता ही है ॥ १७ ॥

ये दुरर्था दुरारम्भा दुर्गुणा दुरुदाहृताः ।
दुष्क्रमास्ते न कृन्तन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १८ ॥
आभान्ति विपुलार्थानि महान्ति गुणवन्ति च ।
सर्वाण्येवाऽनुधावन्ति चित्तं यस्य समाहितम् ॥ १९ ॥
यदुदर्कहितं सत्यमनपायि गतभ्रमम् ।
दुरीहितदृशोन्मुक्तं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २० ॥
यददृष्टमशुद्धेन चित्तवैधुर्यदायिना ।
अनेकत्वपिशाचेन तत्परं कारयेन्मनः ॥ २१ ॥
आदौ मध्ये तथाऽन्ते च चिराय परमोचितम् ।
यच्चारु मधुरं पथ्यं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २२ ॥

जिस महापुरुषका चित्त समाहित है, उसे उपार्जन करने योग्य अनेक दुष्ट धनादि अर्थ; कृषि, गृह आदि दुष्ट आरंभ; राग, द्वेष आदि दुष्ट गुण; मर्मप्रकाशक दुष्ट उक्तियाँ; दुष्ट नीतियाँ—ये सब अपने दुष्परिणाम द्वारा खेद नहीं पहुँचातीं ॥ १८ ॥

जिसका चित्त समाहित है, उसकी ओर अनेकविध अर्थोंसे उपबृंहित एवं विविध गुणोंसे परिपूर्ण, निरतिशय प्रकाशमान सभी सुख अनुधावन करते हैं ॥ १९ ॥

महाराज वसिष्ठजी, [चूँकि समाहित चित्तको किसी प्रकारके गुण-दोष अस्त-व्यस्त नहीं कर पाते, इसलिए] जो तत्त्व उत्तरकालिक सुख का हेतु, अबाध्य, अविनाशी, अविद्याशून्य एवं विषयाभिलाषारूपी दृष्टिसे वर्जित आत्म-लाभस्वरूप है, उसी एक तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिए ॥ २० ॥

महाराज, चित्तको पुरुषार्थशून्य बनानेवाले, अपवित्र, द्वैत-दर्शनरूप पिशाचके द्वारा जो तत्त्व कभी भी आक्रान्त नहीं होता, उसी एक आत्म-लाभरूप तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिए ॥ २१ ॥

अनादिकालसे सबसे बढ़-चढ़कर जिसका औचित्य सिद्ध हो चुका है, तथा जो आरम्भमें सुन्दर, मध्यमें (अर्ध-परिपाककालमें) मधुर और अन्तमें समस्त दुःखोंका निवर्तक है, उस आत्म-लाभरूप ज्ञानतत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिए ॥ २२ ॥

यदनन्तं मनःपथ्यं तथ्यमाद्यन्तमध्यगम् ।
समस्तसाधुभिर्जुष्टं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २३ ॥
यद्‌बुद्धेः परमालोकमाद्यं यदमृतं परम् ।
यदनुत्तमसौभाग्यं तत्परं कारयेन्मनः ॥ २४ ॥
सामरासुरगन्धर्वे सविद्याधरकिन्नरे ।
ससुरस्त्रीगणे स्वर्गे न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ २५ ॥
सतरौ सनराधीशे सपर्वतपुरव्रजे ।
साम्बुधौ भूतले तात न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥ २६ ॥
सनागे सासुरव्यूहे सासुरस्त्रीगणे तथा ।
समस्त एव पाताले न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥ २७ ॥

जो अविनाशी है, मनके लिए सदा हितकर है, अबाधितस्वरूप है, आदि मध्य एवं अन्त—इन सभी अवस्थाओंमें अनुस्यूत है, तथा जिसकी समस्त सन्त-लोग प्रीतिपूर्वक उपासना करते हैं, उस आत्मलाभरूप तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिए ॥ २३ ॥

ब्रह्मर्षे, जो बुद्धिसे परे है, प्रकाशस्वरूप है, सबका आदि कारण है, निरतिशय अमृतस्वरूप है तथा जिसकी अपेक्षा दूसरा उत्तम सौभाग्य (नित्य निरतिशय आनन्दरूप सौभाग्य) नहीं है, उस परम तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिए ॥ २४ ॥

अब परम तत्त्वमें सबसे बढ़-चढ़कर सौभाग्यरूपता है, इसका दूसरे सुखोंमें अनित्यत्व-प्रतिपादन द्वारा साधन करते हैं—'सामरा०' इत्यादिसे ।

देवताओं, असुरों एवं गन्धर्वों से व्याप्त; विद्याधरों और किन्नरोंसे युक्त तथा देवता-रमणियोंसे सुशोभित स्वर्गमें कुछ भी सुस्थिर एवं उत्तम तत्त्व विद्यमान नहीं है ॥ २५ ॥

हे प्रीतिभाजन, वृक्षोंसे राजित, राजा-महाराजाओंसे युक्त; पर्वत, नगर एवं व्रजभूमि से शोभायमान तथा जलसमुद्रसे युक्त भूतलमें कुछ भी स्थायी और शोभन तत्त्व नहीं है ॥ २६ ॥

ब्रह्मन्, जहाँ नागोंका निवास है, असुरोंके समूह हैं तथा असुरोंकी स्त्रियोंका

सस्वर्गे ससुरालोके सपाताले सदिक्तटे ।
जगत्यस्मिंस्तु सर्वस्मिन्न किञ्चिच्छोभनं स्थिरम् ॥२८॥
आधिव्याधिविलोलासु दुःखौघवलितासु च ।
क्रियासु नित्यतुच्छासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥२९॥
तरलीकृतचित्तासु हृदयानन्दिनीषु च ।
चिन्तासु धीविकारासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३० ॥
हृत्क्षीरोदकसंस्पन्दमन्दरेषु चलेष्वपि ।
स्वसङ्कल्पविकल्पेषु न किञ्चित्सुस्थिरं शिवम् ॥ ३१ ॥
अनारतागमापायपरास्वसिशिरास्वपि ।
चित्राकारासु चेष्टासु न किञ्चित्सुस्थिरं शुभम् ॥ ३२ ॥

समुदाय है, समस्त उस पाताल लोकमें भी कुछ स्थिर एवं सुखरूप पदार्थ नहीं है ॥ २७ ॥

यों तीनों लोकोंकी अशुभरूपता बतलाकर उसके अन्दरके जगत्की भी अशुभरूपता बतलाते हैं —'**सस्वर्गे**' इत्यादिसे ।

महाराज, जिसमें स्वर्ग, देवलोक, पाताल एवं दसों दिशाएँ हैं, ऐसे इस सम्पूर्ण जगत्में कुछ भी स्थिर सुखरूप तात्त्विक पदार्थ नहीं है ॥ २८ ॥

आधि (मानसिकव्यथा) एवं व्याधि से अत्यन्त चपल तथा दुःखसमूहसे परिवेष्टित सर्वदा तुच्छ क्रियाजन्य फलोंमें कुछ भी स्थिर और कल्याणकारक नहीं है ॥ २९ ॥

जिन्होंने चित्त तरल कर दिया है तथा जो मनमें आनन्द देते हैं, ऐसे बुद्धिके विकारभूत मानसक्रियाजन्य फलोंमें कुछ भी स्थिर कल्याण नहीं है ॥३०॥

मनरूपी क्षीर-सागरके मथनमें मन्दराचलका आचरण करनेवाले अपने सङ्कल्प, विकल्प आदि मानसिक व्यापारोंमें भी कुछ स्थायी कल्याण नहीं है ॥ ३१ ॥

निरन्तर उत्पन्न एवं विनष्ट होनेवाली, अत्यन्त अद्भुत, तलवारकी धारके सदृश इन्द्रिय आदिकी चेष्टाओंमें भी कुछ स्थिर सुख नहीं है ॥ ३२ ॥

न वरमेकमहीतलराजता
न च वरं विबुधामररूपता ।
न च वरं धरणीतलनागता
स्थितिमुपैति हि यत्र सतां मनः ॥ ३३ ॥
न वरमाकुलशास्त्रविचारणं
न च वरं परकार्यविवेचनम् ।
न वरमग्र्यकथाक्रमवर्णनं
स्थितिमुपैति हि यत्र सतां मनः ॥ ३४ ॥
न वरमाधिमयं चिरजीवितं
न च वरं मरणं दृढमूढता ।
न च वरं नरको न च विष्टपं
स्थितिमुपैति हि न क्वचिदाशयः ॥ ३५ ॥

उस प्रकार अस्थिर एवं तुच्छ होनेसे जगत्-सम्बन्धी किसी भी सुखकी विवेकी पुरुषोंको स्पृहा नहीं करनी चाहिए, यों कहते हैं—'न वर०' इत्यादिसे ।

महाराज, सम्पूर्ण पृथ्वीतलमें एकमात्रराजरूपता (सम्पूर्ण भू-मण्डलका एकच्छत्र सार्वभौम राजा होना) श्रेष्ठ नहीं है; सबसे बड़े अभिज्ञ इन्द्र, बृहस्पति आदि देवता होना यानी स्वर्गका अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं है तथा पृथ्वीतलमें (पातालमें) सम्पूर्ण पृथ्वीके धारणमें समर्थ शेषनागरूप होना यानी पातालका अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषोंका मन पूर्णकाम होकर विश्रान्ति पाता है, वैसा वहाँ कुछ भी तात्त्विक सुख नहीं है ॥ ३३ ॥

दुरूह और विस्तृत होनेके कारण मनको व्यग्र बनानेवाली चौदह प्रकारकी विद्याओंका विचार (निष्कर्ष निकालनेमें समर्थतारूप पाण्डित्य) भी श्रेष्ठ नहीं है, दूसरोंके कार्योंका बुद्धिसौष्ठवसे विचार कर विवेचन करनेकी सामर्थ्य (जनानुरञ्जनसामर्थ्य) भी श्रेष्ठ नहीं है तथा सर्वश्रेष्ठ महाभारत आदिके कथा-क्रमोंका भली प्रकार वर्णन करनेकी सामर्थ्य भी श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषोंका मन पूर्णकाम होकर विश्रान्ति पाता है, वैसा वहाँ कुछ भी तात्त्विकरूप वस्तु नहीं है ॥ ३४ ॥

आधि-व्याधियोंसे प्रचुर चिरजीविता भी श्रेष्ठ नहीं है; समस्त व्याधियोंका विनाशरूप मरण, अखिल दुःखोंकी निदान दृढ अज्ञतारूप होनेसे, भी श्रेष्ठ

इति विविधजगत्क्रमाः समस्ताः
खलु मतिमूढतया नरस्य रम्याः ।
चलतरकलनाहिते पदार्थे
कथमुपयान्ति चिरस्थितिं महान्तः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने समाधानसङ्कल्पनिराकरणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

एकैव केवला दृष्टिर्निरापाया गतभ्रमा ।
विद्यते सर्वविच्त्वेषु सर्वश्रेष्ठा समुन्नता ॥ १ ॥

नहीं है । [तो भोग द्वारा सभी दुखोंका विनाशक होनेसे नरक ही श्रेष्ठ है ?' इस शङ्कापर कहते हैं—'न च' से ।] महाराज, यतः नरकका परिणाम पुनः पाप-योनिमें जन्म ही है, अतः नरक भी श्रेष्ठ नहीं है तथा सर्वभुवनका आधिपत्य भी श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषोंका मन पूर्णकाम होता है, तत्स्वरूप वहाँ कुछ भी नहीं है ॥ ३५ ॥

उस प्रकारके सम्पूर्ण विविध सृष्टियोंके क्रम मनुष्यको बुद्धिमें मूढताके कारण ही रम्य प्रतीत होते हैं । [परन्तु विवेकी पुरुषोंको इस प्रकार विचारित हुए ये सभी विविध सृष्टियोंके क्रम तनिक भी रम्य प्रतीत नहीं होते] इसलिए जो विचारपटु बड़े-बड़े सन्त हैं, वे अनित्यत्वबुद्धिसे गृहीत पदार्थोंमें आत्यन्तिक विश्रान्तिको किस तरह प्राप्त होंगे ? अर्थात् उनकी उनमें आस्था हो ही नहीं सकती ॥ ३६ ॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

[देहनाडीके क्रमसे युक्त, षट्चक्र हृदयसे अन्वित तथा प्राणके स्पन्दनोंके विभागोंसे आढ्य प्राण-चिन्तनका वर्णन]

यदि जगत्में कुछ भी सुन्दर और स्थिर नहीं है, तो वैसा कौन शोभन और स्थिर है, जिसमें विवेकी पुरुषकी चित्त-विश्रान्ति होती है, इसपर कहते हैं—'**एकैव**' इत्यादिसे ।

आत्मचिन्ता समस्तानां दुःखानामन्तकारिणी ।
चिरसंभृतदुःस्वप्नसंसारभ्रमहारिणी ॥ २ ॥
निष्कलङ्कमनोमार्गविपुलाङ्गणचारिणी ।
तथा समस्तदुःखानां चिन्तानर्थविनाशिनी ॥ ३ ॥
ज्योत्स्नयेवाऽन्धकाराणामलमन्तः प्रजायते ।
सा स्वात्मचिन्ता भगवन् सर्वसङ्कल्पवर्जिता ॥ ४ ॥
युष्मदादिषु सुप्रापा दुष्प्रापैवाऽस्मदादिषु ।
समस्तकलनातीतं परां कोटिमुपागतम् ।
पदमासादयन्त्येतत्कथं सामान्यबुद्धयः ॥ ५ ॥

महाराज, कभी नष्ट न होनेवाली, विभ्रमोंसे शून्य एकमात्र आत्मदृष्टि ही समस्त ज्ञानोंके बीचमें सब अंशोंमें श्रेष्ठ और सबसे उन्नत है ॥ १ ॥

ब्रह्मन्, साक्षात्कारपर्यन्त किया गया आत्माका विचार समस्त दुःखोंका अन्त कर देनेवाला तथा अनादिकालसे लेकर आजतक चले आ रहे काम-कर्मजनित वासनाओंसे परिपूर्ण, दुःस्वप्नके सदृश, संसाररूपी भ्रमका विनाश करनेवाला है ॥ २ ॥

ब्रह्मर्षे, वह आत्मविचार एकमात्र निर्मल मनोरूप मार्गसे प्राप्त होनेवाले निरतिशय भूमानन्दरूपी प्राङ्गणमें विहार करता है तथा उपस्थित अनेक दुःखोंका एवं भावी दुःखोंके संस्मरणोंसे जनित चिन्ता आदि अनर्थोंका विनाश कर देता है ॥ ३ ॥

भगवन्, चन्द्रिकाके सदृश तथोक्त आत्मचिन्तासे अज्ञानरूपी अन्धकारका, उसके कार्योंके साथ, भली प्रकार विनाश हो जाता है । वह सुन्दर आत्मचिन्ता समस्त सङ्कल्पोंसे रहित है ॥ ४ ॥

महात्मन्, आपके जैसे उत्तम पुरुषोंमें वह आत्मदृष्टि सुलभ है और हम लोगोंके सदृश पामरोंमें वह दुर्लभ ही है । महाराज, सामान्यबुद्धि यानी अविशुद्ध प्राकृत बुद्धिवाले प्राणी इस पदको, जो समस्त कल्पनाओंसे परे और परम चरम सीमाको पहुँचा हुआ है, कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? ॥ ५ ॥

आत्मचिन्ताविलासिन्यास्तस्याः सख्यो महामुने ।
किञ्चित्साम्यमुपायाता विज्ञानशशिशीतलाः ॥ ६ ॥
आत्मचिन्तासमानानां विविधानां मुनीश्वर ।
आत्मचिन्तावयस्यानां मध्यादेकतमा मया ॥ ७ ॥
सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी ।
कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवन्तं विहगं भुशुण्डं पुनरप्यहम् ।
जानन्नपीदमव्यग्रः पृष्टवान् क्रीडया मुनिम् ॥ ९ ॥
सर्वसंशयविच्छेदिन्नत्यन्तचिरजीवित ।
यथार्थं ब्रूहि मे साधो प्राणचिन्ता किमुच्यते ॥ १० ॥

तब वह आत्म-दृष्टि तुम्हें कैसे सुलभ हुई, इस प्रश्नपर उसकी सखीके आश्रयणसे प्राप्त हुई, इस अभिप्रायसे प्राणचिन्ताका वर्णन करनेके लिए पक्षिराज भुशुण्ड भूमिका बाँधते हैं—'आत्मचिन्ता०' इत्यादिसे ।

महामुने, उस आत्मचिन्तारूपी (साक्षात्कारतक होनेवाले आत्मविचार-रूपी) विलासिनीकी, कुछ समानता रखनेवाली तथा विज्ञानरूपी चन्द्रमासे शीतल हुई अनेक सखियाँ हैं ॥ ६ ॥

हे मुनिराज, आत्मचिन्तासे मिलती-जुलती विविध आत्मचिन्ताकी सखियोंके बीचमें से एक प्राणचिन्तानामक सखीका, जो समस्त दुःखोंका विनाश करनेवाली तथा समस्त सौभाग्योंको बढ़ानेवाली है, मैंने आश्रयण लिया है; वही यहाँ मेरे जीवनकी हेतु भी है ॥ ७, ८ ॥

महाराज वसिष्ठने कहा—श्रीरामजी, उस तरह कह रहे मननशील भुशुण्ड पक्षीसे जानते हुए भी मैंने व्यग्र न होकर फिर कौतुकवश पूछा ॥ ९ ॥

समस्त सन्देहोंको काटनेवाले हे अत्यन्तदीर्घजीवी साधो, तुम मुझसे ठीक-ठीक कहो कि प्राण-चिन्ता किसे कहते हैं ॥ १० ॥

भुशुण्ड उवाच

सर्ववेदान्तवेत्ताऽसि सर्वसंशयनाशकः ।
मामेतत्परिहासार्थं मुने पृच्छसि वायसम् ॥ ११ ॥
अथवा भवतामेव भगवन् परिशिक्षितुम् ।
पुनः प्रत्युत्तराणीदं का मे क्षतिरुपस्थिता ॥ १२ ॥
भुशुण्डजीवितकरं भुशुण्डस्वात्मलाभदम् ।
शृणु प्राणसमाधानं वक्ष्यमाणमिदं मया ॥ १३ ॥
पश्येदं भगवन् सर्वं देहगेहं मनोरमम् ।
त्रिप्रकारमहास्थूणं नवद्वारसमावृतम् ॥ १४ ॥
पुर्यष्टककलत्रेण तन्मात्रस्वजनेन च ।
अहङ्कारगृहस्थेन सर्वतः परिपालितम् ॥ १५ ॥

भुशुण्डने कहा—हे मुने, आप समस्त वेदान्तोंको जानते हैं, समस्त संशयोंका विनाश भी करते हैं, तथापि केवल मेरे परिहासके लिए ही मुझ जैसे कौएसे इस विषयका प्रश्न कर रहे हैं—ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ११ ॥

अथवा हे भगवन् , आपके सदृश पूज्यतम लोगोंकी सन्निधिमें इसी प्राणदर्शनकी विशेषरूपसे शिक्षा ग्रहण करनेके लिए यदि मैं आपके प्रश्नका फिर उत्तर दूँ, तो मेरी क्षति ही कौन-सी उपस्थित होगी ॥ १२ ॥

महाराज, भुशुण्डको जिसने चिरजीवी बनाया है तथा जिसने भुशुण्डको स्वकीय आत्माकी प्राप्ति कराई है, उस प्राणसमाधिका, जो मेरे द्वारा देहरूपी घरके वर्णन-क्रमसे आगे कही जायगी, आप श्रवण कीजिए ॥ १३ ॥

भगवन्, इस समस्त देहरूपी मनोहर घरको देखिए, इसमें वात, पित्त और कफ—ये त्रिविध दोष बड़े-बड़े विधारक काष्ठ यानी खंभे लगे हुए हैं और यह नव द्वारोंसे भली भाँति आवृत है ॥ १४ ॥

यह, पुर्यष्टकरूपी कलत्रसे पुर्यष्टक-मात्रारूपी स्वजन यानी बन्धुवर्गोंसे एवं अहङ्काररूपी गृहस्थसे रक्षित है ॥ १५ ॥

अन्तः पश्यसि सत्कर्णशष्कुलीचन्द्रशालिकम् ।
शिरोरुहाच्छादनवद्विपुलाक्षिगवाक्षकम् ॥ १६ ॥
आस्यप्रधानसुद्वारं भुजपार्श्वोपमन्दिरम् ।
दन्तालिकेसरस्रग्भिर्भूषितद्वारकोटरम् ॥ १७ ॥
अनारतं रूपरसस्पर्शनद्वारपालवत् ।
सङ्कुलालोकवलितं तारालिन्दकृतस्थिति ॥ १८ ॥
रक्तमांसवसादिग्धं स्नायुसन्ततिवेष्टितम् ।
स्थूलास्थिकाष्ठसम्बद्धं सुकुड्यं सुसमाहितम् ॥ १९ ॥

महाराज, जिसका मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, उस देहरूपी घरका आप अपने भीतर साक्षीरूपसे प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। उसमें सुन्दर दो कर्ण-विवररूपी दो चन्द्रशालाएँ यानी शिरोगृह (सबके ऊपर स्थित छोटे बँगले) हैं, केश-समूह उसका आच्छादन (खपरा) है और दो चक्षु ही उसमें बड़े झरोखें हैं ॥ १६ ॥

उस देहरूपी घरका मुख ही सुन्दर प्रधान-द्वार है, दोनों हाथ एवं पार्श्वभाग उसके उप-मन्दिर हैं यानी उस घरके अगल-बगलमें सम्बद्ध अंश (बुर्ज) हैं और दाँतोंकी पंक्तिरूप बकुल-मालाओंसे उसके प्रधान दरवाजेका विवर निरन्तर सुशोभित है ॥ १७ ॥

समस्त बाह्य विषयोंका भीतर ज्ञान करानेवाली ज्ञानेन्द्रियाँ ही उसमें निरन्तर द्वारपालका कार्य करती हैं। लिङ्गदेहके सम्बन्ध द्वारा सर्वत्र प्रसृत आत्मप्रकाशसे वह वलित—व्याप्त—है और वही आत्म-प्रकाश [विशेषरूपसे जाग्रत्-अवस्थामें] उसके (देह-गृहके) कनीनिकारूपी (आँखोंकी पुत-लियाँरूपी) दो ऊर्ध्वतम द्वारके समीपकी कोठरियोंमें गृहपतिके रूपमें स्थिति करता है * ॥ १८ ॥

रक्त, मांस और वसारूपी मानो जल, मृत्तिका एवं गोबर से वह उपलिप्त है, शिरारूपी रज्जु-समूहसे वह बाँधा गया है, स्थूल हड्डियाँरूपी धरनें

*इस विषयमें 'इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः', 'नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात्' ये श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

इडा च पिङ्गला चाऽस्य देहस्य मुनिनायक ।
सुस्थिते कोमले मध्ये पार्श्वकोष्ठे निमीलिते ॥ २० ॥
पद्मयुग्मत्रयं यन्त्रमस्थिमांसमयं मृदु ।
ऊर्ध्वाधोनालमन्योन्यमिलत्कोमलसद्दलम् ॥ २१ ॥
सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा ।
चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याप्तानि वायुना ॥ २२ ॥
चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत् परिवर्धते ।
वाताहते लतापत्रजाले बहिरिवाऽभितः ॥ २३ ॥

उसमें लगाई गई हैं और उसकी भित्तियाँ मजबूत हैं, अतएव वह अत्यन्त सुस्थिर है ॥ १९ ॥

मुनिराज, इडा और पिङ्गला नामकी दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देहरूपी घरके बीच दाहिने और बायें भागमें अवस्थित कोष्ठमें यानी कुक्षिमें रहती हैं। उनका किसीसे भान नहीं होता, केवल नासापुटमें प्राण-सञ्चार द्वारा अनुमान होता है ॥ २० ॥

उसमें समस्त प्राण-शक्तियोंके आधारभूत 'पुरीतत्' नामक तीन हृदय-कमलयन्त्रोंका, जो नालयुक्त संपुटित तीन कमल-जोड़ोंके सदृश और पृथक्-पृथक् बहत्तर हजार नाडियोंके मूल-जालस्वरूप हैं, दिग्दर्शन कराते हैं—**'पद्मयुग्मत्रयम्'** इत्यादिसे।

महाराज, उसमें यन्त्रके सदृश तीन कमलके जोड़े हैं, वे अस्थि-मांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओरसे नाल-दण्ड लगे हुए हैं और वे संपुटित होकर एक दूसरेसे मिले हुए कोमल सुन्दर दलोंसे सुशोभित हैं ॥ २१ ॥

महाराज, नासिकाके अग्रभागसे लेकर पैरतक समस्त शरीराकाशमें संचरण कर रहे चन्द्रनामक अपान-वायुरूप अमृतके सिंचनसे उसके पत्ते विकसित होते हैं [और प्राण-वायुके संचारसे कुछ संकुचित भी होते हैं], इसलिए प्राण और अपान-वायुसे व्याप्त हुए उस हृदय-कमलयन्त्रके पत्ते प्रत्येक उच्छ्वास-निःश्वासमें संकुचित एवं विकसित हुआ करते हैं ॥ २२ ॥

उससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'चलत्सु' इत्यादिसे।

मुनिवर, जब उक्त वायुओंसे हृदय-कमलके पत्ते संकुचित एवं विकसित होते

वृद्धिं नीतः स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा ।
ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन् प्रसरत्यथ ॥ २४ ॥
प्राणापानसमानाद्यैस्ततः स हृदयानिलः ।
सङ्केतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राचारचेष्टितैः ॥ २५ ॥
हृत्पद्मयन्त्रत्रितये समस्ताः प्राणशक्तयः ।
ऊर्ध्वाधः प्रसृता देहे चन्द्रबिम्बादिवांऽशवः ॥ २६ ॥
यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति विहरन्ति च ।
उत्पतन्ति पतन्त्याशु ता एताः प्राणशक्तयः ॥ २७ ॥

हैं, तब चारों ओरके प्रसारसे पुरीतत्में सम्बद्ध सभी नाडियोंके छिद्रोंमें प्रविष्ट होकर वायु उस प्रकार वर्धित होता है, जिस प्रकार अरण्यमें लता, पत्र आदिके वायु द्वारा आहत होनेपर वह चारों ओरसे वर्धित होता है ॥ २३ ॥

तदनन्तर उस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हुआ वह वायु हृदय, पायु, नाभि, कण्ठ एवं समस्त अङ्गोंको अनेक तरहसे अपना आश्रय बनाकर प्राण आदि पाँच संज्ञावाला होता हुआ ऊपर-नीचे विद्यमान बहत्तर हजार नाडियोंकी प्रतिशाखा एक सौ एक नाडियोंमें प्रवेशकर इस शरीरमें संचरण करता है ॥ २४ ॥

उसे ही कहते हैं—'**प्राणापान०**' इत्यादिसे ।

तदनन्तर चित्र-विचित्र संचरण और चेष्टाओंके कारण उसी हृदय-वायुका उसके पण्डित लोग प्राण, अपान, समान आदि नामोंसे व्यवहार करते हैं ॥ २५ ॥

उन प्राणोंके साथ प्राण-शक्तियोंका भी सब अङ्गोंमें संचरण होता है, यह बतलाते हैं—'**हृत्पद्म०**' इत्यादिसे ।

हे मुने, देहगत उन तीन हृदय-कमलयन्त्रोंमें प्राणकी समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचे की ओर उस प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्बसे किरण ॥ २६ ॥

अन्न-रसका सारे शरीरमें सम्बन्ध करानेके लिए नाड़ियोंमें हुए उन प्राण-शक्तियोंके व्यापारको बतलाते हैं—'**यान्त्यायान्ति**' इत्यादिसे ।

वे प्राणशक्तियाँ ही शीघ्र गति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन एवं निपतन करती हैं यानी शरीर और तदीय तत्-तत् अंशों में सर्वत्र अन्न-रस आदिकी गति आदिका निर्वाह करती हैं ॥ २७ ॥

स एष हृत्पद्मगतः प्राण इत्युच्यते बुधैः ।
अस्य काचिन्मुने शक्तिः प्रस्पन्दयति लोचने ॥ २८ ॥
काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्वहति नासया ।
काचिदन्नं जरयति काचिद्वक्ति वचांसि च ॥ २९ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन सर्वमेव शरीरके ।
करोति भगवान् वायुर्यन्त्रेहामिव यान्त्रिकः ॥ ३० ॥
तत्रोर्ध्वाधो द्विसङ्केतौ प्रसृतावनिलौ मुने ।
प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ ॥ ३१ ॥
तयोरनुसरन्नित्यं मुने गतिमहं स्थितः ।
शीतोष्णवपुषोर्नित्यं नित्यमम्बरपान्थयोः ॥ ३२ ॥

उनका मुख्य स्थान हृदय ही है और उनमें मुख्य प्राण ही है, अपान आदि प्राणकी ही विशेष वृत्तियाँ हैं, अतः प्राण ही विभिन्न शक्तियोंसे वृत्तियों द्वारा समस्त शरीर, इन्द्रिय आदिका व्यापार करता है, ऐसा कहते हैं—'स एष' इत्यादिसे ।

हे मुने, हृदय-कमलमें स्थित यही वायु पण्डितों द्वारा प्राण कहा जाता है, इसकी कोई एक शक्ति नेत्रोंको स्पन्दित करती है यानी नेत्रोंमें निमेष-उन्मेष करती है ॥ २८ ॥

उसीकी कोई एक शक्ति स्पर्शका ग्रहण करती है, दूसरी कोई शक्ति नासिका द्वारा श्वास-उच्छ्वासका निर्वहन करती है, कोई एक दूसरी शक्ति अन्नका परिपाक करती है, तो कोई अपर शक्ति वाक्योंका उच्चारण करती है ॥ २९ ॥

महाराज, इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या फल ? शरीरमें जो कुछ यह क्रिया या व्यापार होता है, वह सब शक्तिसम्पन्न वायु ही उस प्रकार कराता है, जिस प्रकार यन्त्रचालक प्रतिमादि यन्त्रोंकी नृत्यादि चेष्टा कराता है ॥ ३० ॥

हे मुने, उसमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमन—यों दो प्रकारके सङ्केतवाले जो दो वायु प्रसृत हैं, वे दोनों वायु प्राण एवं अपान नामसे प्रसिद्ध, श्रेष्ठ एवं प्रकट हैं ॥ ३१ ॥

उस प्रकार उपोद्‌घातसम्बन्धी सब वस्तुओंका वर्णन कर अब वायसराज भुशुण्डजी स्वयं जिसका अनुष्ठान करते हैं, उस प्राणचिन्ताका दिग्दर्शन कराते हैं—'तयो०' इत्यादिसे ।

कलेवरमहायन्त्रवाहयोः श्रमहीनयोः ।
हृदाकाशार्कशशिनोस्त्वग्नीषोमस्वरूपयोः ॥ ३३ ॥
शरीरपुरपालस्य मनसो रथचक्रयोः ।
अहङ्कारनृपस्याऽस्य प्रशस्येष्टतुरङ्गयोः ॥ ३४ ॥
तयोर्ममाऽनुसरतः प्राणापानाभिधानयोः ।
गतिं शरीरमरुतोराशरीरमरुद्वयोः ॥ ३५ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु सदैव समरूपयोः ।
सुषुप्तसंस्थितस्येव ब्रह्मन् गच्छन्ति वासराः ॥ ३६ ॥

हे मुने, मैं उनकी गतिका सदा अनुसर करता हुआ स्थित रहता हूँ * । उनका स्वरूप सदा शीतल और उष्ण रहता है एवं वे दोनों निरन्तर आकाश-मार्गके पथिक हैं ॥ ३२ ॥

मुनिराज, प्राण और अपान दोनों शरीररूपी महायन्त्रके दो घोड़े हैं, श्रमसे (मृत्युसे) रहित हैं, हृदयाकाशके सूर्य एवं चन्द्रमा हैं और उनका स्वरूप अग्नि एवं सोमके सदृश है ॥ ३३ ॥

महाराज, शरीररूपी नगरके रक्षक मनके रथके वे दोनों पहिये हैं और अहङ्काररूपी इस राजाके सुन्दर एवं इष्ट दोनों घोड़े हैं ॥ ३४ ॥

महर्षे, उन प्राण और अपान नामक शरीर-वायुओंकी—जो जीवनपर्यन्त अविच्छिन्न उपासित तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें सदा समानरूप, अधिक अभ्यासके कारण बाहर और भीतर बारह या सोलह अङ्गुलप्रदेशमात्र परिमित संचरणवाले हैं—गतिका अनुसरण कर रहे मेरे दिन, सुषुप्ति अवस्थामें अवस्थितकी नाईं, व्यतीत हो रहे हैं ॥ ३५, ३६ ॥

* आध्यात्मिक परिच्छिन्नताका परित्याग कर आधिदैविक सूत्रात्मस्वरूप ही मैं हूँ, इस प्रकारकी भावना द्वारा आसङ्ग पापसे दूषित समस्त इन्द्रिय-व्रतोंका परित्याग कर एकमात्र प्राणव्रतका आचरण करना ही प्राण और अपानकी गतिका अनुसरण है । वाक् आदि इन्द्रियोंकी जो वचन आदि अपने अपने विषयोंमें व्यसनिता है, वही उनका व्रत है, ये आसङ्गरूपी पापसे दूषित हैं, अतः मृत्युरूप श्रमने उन्हें नष्ट कर दिया । प्राणका व्रत मुख, नासिका आदि स्थानोंमें संचरण करना है, वह विषयासङ्ग दोषसे दूषित न होनेके कारण मृत्युरूपी श्रमसे नष्ट नहीं होता । अकेला प्राण ही व्रतभङ्गशून्य और मृत्युके आक्रमणसे रहित है, इसलिए प्राणरूपताकी भावना और उसके व्रतानुष्ठानरूप प्राण-चिन्तनसे मैंने मृत्युपर विजय पाई है, यह तात्पर्य है ।

सहस्रविनिकृत्ताङ्गाद्बिसतन्तुलवादपि ।
दुर्लक्ष्या विद्यमानाऽपि गतिः सूक्ष्मतराऽनयोः ॥ ३७ ॥
अविरतगतयोर्गतिं विदित्वा
हृदि मरुतोरनुसृत्य चोदितां ताम् ।
न पुनरिह हि जायते महात्मन्
मुदितमनाः पुरुषः प्रणष्टपाशः ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने प्राणविचारणं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

प्राणायामके अभ्याससे उनमें अतिसूक्ष्मरूपताकी प्राप्ति हो जानेके कारण भी उत्क्रमण आदिकी प्रसक्ति नहीं है, यों अथवा मुखनासिकामें जैसे इनका संचार लक्षित होता है वैसे नाडियोंमें लक्षित क्यों नहीं होता, इस पर कहते हैं—'सहस्र०' इत्यादिसे ।

एक हजार अंशोंमें विभक्त बिसतन्तुके लवमात्रकी अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लक्ष्य नाडियाँ हैं, अतः उनमें विद्यमान भी इन प्राण और अपान दोनों वायुओंकी गति दुर्बोध है, नाडियोंकी सूक्ष्मरूपतामें 'यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठति' (एक हजार अंशोंमें विभक्त केश जिस प्रकार अतिसूक्ष्म रहता है, उस प्रकार यह नाडी अति सूक्ष्म है) यह श्रुति प्रमाण है ॥ ३७ ॥

वर्णन किये जानेवाले प्रकारके विषयमें प्रश्नका अवसर दे रहे भुशुण्डजी वर्णित प्राणविज्ञानका उपसंहार करते हैं—'अविरत०' इत्यादिसे ।

हे महात्मन्, हृदय आदि स्थानोंमें निरन्तर संचरण कर रहे प्राण और अपान वायुओंकी—अनेक श्रुतियोंमें तत्-तत् प्राणोपासना-प्रकरणमें अनेक तरहसे विहित निर्दोषत्व, श्रमरहित्व, अभग्नव्रतत्व, संवर्ग आदि अनेक गुणविशिष्ट गतिका—अनुसरण कर यानी आगे कहे जानेवाले प्रकारसे उपासना कर पुरुष मृत्युरूपी फन्दोंसे छुटकारा पाता हुआ तत्त्वज्ञानसे जीवन्मुक्त होकर पुनः इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता । 'हि' शब्द यह द्योतन करता है—निष्काम बुद्धिसे अनुष्ठित प्राण आदिकी उपासना भी ज्ञान द्वारा मुक्तिकी हेतु है, यह श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है ॥ ३८ ॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्थं स कथयन् पक्षी पृष्टस्तत्र पुनर्मया ।
कीदृशी प्राणवातस्य गतिरित्येव राघव ॥ १ ॥

भुशुण्ड उवाच

जानन्नपि मुने सर्वं किं मां पृच्छसि लीलया ।
यथापृष्टमहं वच्मि शृणु तत्राऽपि मद्वचः ॥ २ ॥
प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन् स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽयमुपरि स्थितः ॥ ३ ॥
अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन् स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे त्वपानोऽयमवाक्स्थितः ॥ ४ ॥

पचीसवाँ सर्ग

[प्राण और अपानकी गतियोंमें रेचक आदिकी कल्पना तथा उनकी उत्पत्ति और विनाशके स्थान ब्रह्मका वर्णन]

प्रश्नावसरके प्रदानसे सूचित हुआ चिन्तनीय प्राणोपासनका विशेष प्रकार मैंने पूछा है, यों कहते हैं—'इत्थम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, उस प्रकार पक्षी कह ही रहा था कि उस विषयमें मैंने उससे फिर यह प्रश्न किया—हे पक्षीन्द्र, प्राणवायुकी गतिका स्वरूप क्या है ॥ १ ॥

भुशुण्डने कहा—हे मुने, सब कुछ जानते हुए भी आप मुझसे लीलावश पूछते हैं, यह मैं अनुमान करता हूँ । अच्छा, आपने जिस तरह प्रश्न किया है, उसका उत्तर मैं तदनुरूप देता हूँ, उस विषयमें भी मेरे वचनोंका श्रवण कीजिए ॥ २ ॥

हे ब्रह्मन्, इस प्राणमें स्पन्दन-शक्ति तथा निरन्तर गतिक्रिया रहती है । इस प्रकार स्पन्द-शक्ति और सदागति यह प्राण बाह्य एवं आन्तर सर्वाङ्गोंसे परिपूर्ण देहमें ऊपरके स्थानमें निरन्तर स्थित रहता है यानी ऊर्ध्वभागमें सदा गमन करता है ॥३॥

हे ब्रह्मन्, इस अपानवायुमें भी निरन्तर स्पन्दशक्ति तथा सततगति रहती है । यह अपानवायु भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अङ्गोंसे परिपूर्ण शरीरमें नीचेके स्थानमें निरन्तर अवस्थित रहता है यानी अधोभागमें गमन करता है ॥ ४ ॥

जाग्रतः स्वपतश्चैव प्राणायामोऽयमुत्तमः ।
प्रवर्तते यतस्तज्ज्ञ तत्तावच्छ्रेयसे शृणु ॥ ५ ॥
बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्धृदम्बुजकोटरात् ।
स्वरसेनाऽस्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः ॥ ६ ॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतामधः ।
प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥ ७ ॥
बाह्यात् परापतत्यन्तरपाने यत्नवर्जितः ।
योऽयं प्रपूरणः स्पर्शो विदुस्तमपि पूरकम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार प्राण और अपान दोनों वायुओंका लक्षण द्वारा पार्थक्य बतलाकर अब 'उनकी गतियोंमें किसी प्रकारके यत्नके बिना सर्वदा ही प्राणायामरूपता सिद्ध है' यों चिन्तन करना चाहिए, यह बतलाते हैं— **'जाग्रतः'** इत्यादिसे ।

हे प्राणायामके तत्त्वज्ञ, चूँकि जाग्रत् , स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे युक्त पुरुषोंको यह कल्याणके लिए उत्तम साधनभूत प्राणायाम अयत्नतः प्रवृत्त होता रहता है, अतः उसे आप सुनिए ॥ ५ ॥

उसमें हृदय प्रदेशसे लेकर मूर्धापर्यन्तकी आधी प्रश्वासगतिमें आन्तर-रेचकरूपताकी भावना करनी चाहिए और मूर्धासे लेकर बाहर बारह अङ्गुल पर्यन्तकी आधी प्रश्वासगतिमें बाह्यपूरकरूपताकी भावना करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'बाह्योन्मुखत्वम्'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

मुनिवर, किसी प्रकारके यत्नके बिना प्राणोंकी हृदयकमलके कोशसे होने-वाली जो स्वभावतः बहिर्मुखता है, विद्वान् लोग उसे रेचक कहते हैं ॥ ६ ॥

बारह अङ्गुलपर्यन्त बाह्य प्रदेशकी ओर नीचे जा रहे प्राणोंका (प्राणवृत्तियोंका) जो शरीरके अङ्गोंके साथ स्पर्श होता है, उसे पूरक कहते हैं ॥ ७ ॥

ब्रह्मन्, बाह्य-प्रदेशसे शरीरके भीतरकी ओर अपानके प्रवेश करनेपर यत्नके बिना शरीरकी पूर्ति करनेवाला जो यह स्पर्श होता है, उसको (नासिकासे लेकर मूर्धातक और मूर्धासे लेकर हृदयतक होनेवाले दोनों प्रकारके भी स्पर्शोंको) विद्वान् लोग पूरक (अन्तःपूरक) कहते हैं ॥ ८ ॥

अपानेऽस्तं गते प्राणो यावन्नाऽभ्युदितो हृदि ।
तावत् सा कुम्भकावस्था योगिभिर्याऽनुभूयते ॥ ९ ॥
रेचकः कुम्भकश्चैव पूरकश्च त्रिधा स्थितः ।
अपानस्योदयस्थाने द्वादशान्तादधो बहिः ॥ १० ॥
स्वभावाः सर्वकालस्थाः सम्यग्यत्नविवर्जिताः ।
ये प्रोक्ताः स्फारमतिभिस्ताञ्छृणु त्वं महामते ॥ ११ ॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ताद्बाह्यादभ्युदितः प्रभो ।
यो वातस्तस्य तत्रैव स्वभावात् पूरकादयः ॥ १२ ॥
मृदन्तरस्थानिष्पन्नघटवद्या स्थितिर्बहिः ।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रसमसम्मुखे ।
व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुः कुम्भकं बुधाः ॥ १३ ॥

अब कल्पित एवं अकल्पित दोनों तरहसे अन्तःकुम्भक प्राणायामका लक्षण करते हैं—**'अपाने'** इत्यादिसे ।

महाराज, अपान वायुके प्रशान्त हो जानेपर जबतक हृदयमें प्राणवायुका अभ्युदय नहीं होता, तबतक वह वायुकी कुम्भकावस्था (निश्चलस्थिति) रहती है, जिसका कि योगी लोग अनुभव करते हैं, क्योंकि इस अवस्थामें शरीरके भीतर वायु कुम्भित रहता है ॥ ९ ॥

बाहर भी रेचक आदि प्राणायामोंका दिग्दर्शन करानेके लिए उपक्रम करते हैं—**'रेचकः'** इत्यादिसे ।

नासिकाके अग्रभागसे लेकर बाहरके बारह अङ्गुलपर्यन्त नीचे अपानवायुकी उत्पत्ति-स्थलमें रेचक, कुम्भक और पूरक—यों तीन प्रकारका प्राणायाम होता है ॥ १० ॥

महामुने, जाग्रत् आदि सभी समयोंमें स्थित रहनेवाले तथा किसी प्रकारके यत्नके बिना स्वतः होनेवाले जिन रेचक आदिका विशालबुद्धि विद्वानोंने कथन किया है, उन्हें आप सुनिये ॥ ११ ॥

हे प्रभो, नासिकाके अग्रभागसे बाहरके प्रदेशोंमें बारह अङ्गुल तक अभ्युदित हुआ (अभिमुख होकर स्थित हुआ) जो वायु है, उन्हीं बाह्य प्रदेशोंमें उस वायुकी बाह्यपूरक आदिके रूपमें स्वभावतः भावना करनी चाहिए ॥ १२ ॥

बाह्य वायुके अन्दर अपान वायुके एकीभावसे हुई निश्चल-प्राय स्थितिकी कुम्भकरूपसे कल्पना करते हैं—**'मृदन्तरस्था०'** इत्यादिसे ।

बाह्योन्मुखस्य वायोर्या नासिकाग्रावधिर्गतिः ।
तं बाह्यपूरकं त्वाद्यं विदुर्योगविदो जनाः ॥ १४ ॥
नासाग्रादपि निर्गत्य द्वादशान्तावधिर्गतिः ।
या वायोस्तं विदुर्धीरा अपरं बाह्यपूरकम् ॥ १५ ॥
बहिरस्तं गते प्राणे यावन्नाऽपान उद्गतः ।
तावत् पूर्णं समावस्थं बहिष्ठं कुम्भकं विदुः ॥ १६ ॥
यत्तदन्तर्मुखत्वं स्यादपानस्योदयं विना ।
तं बाह्यरेचकं विद्याच्चिन्त्यमानं विमुक्तिदम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मन्, मृत्तिकाके अन्दर असिद्ध घटकी स्थितिके सदृश बाहर नासिकाके अग्रभागसे लेकर बराबर सामने बारह अङ्गुलपर्यन्त आकाशमें जो अपानवायुकी निरन्तर स्थिति है, उसे पण्डित लोग कुम्भक कहते हैं ॥ १३ ॥

हृदय-प्रदेशसे लेकर नासिकाके अग्रभागतक जो उसकी पूर्वप्राणस्वरूपसे गति है, उसकी बाह्यपूरकरूपसे भी कल्पना करनी चाहिए, ऐसा कहते हैं—**'बाह्यो-न्मुखस्य'** इत्यादिसे ।

महाराज, बाह्योन्मुख वायुकी जो नासिकाग्रपर्यन्त गति है, वह पहला बाह्यपूरक है, यों योगशास्त्रके ज्ञाता लोग कहते हैं ॥ १४ ॥

उससे बाहर हुई वायुगतिकी दूसरे बाह्यपूरकरूपसे कल्पना करते हैं—**'नासाग्रा०'** इत्यादिसे ।

नासिकाके अग्रभागसे भी निकलकर बारह अङ्गुलपर्यन्त जो प्राण-वायुकी गति है, वह दूसरा बाह्यपूरक है, यों योगशास्त्रके विद्वान् कहते हैं ॥ १५ ॥

बाहर प्राण-वायुके अस्तंगत होनेपर जबतक अपान-वायुका उद्गम नहीं होता, तबतक एकरूपसे अवस्थित पूर्ण बाह्य कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ १६ ॥

अब बाहरके दो प्रकारके रेचक प्राणायामोंकी कल्पनाका प्रकार बतलाते हैं—**'यत्तदन्तर्मुखत्वम्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मन्, अपान-वायुके उदयके (प्रस्पन्दके) बिना जो वायुकी अन्तर्मुखता (प्रस्पन्दोन्मुखता) रहती है, वह बाह्य रेचक है, यह जानना चाहिए । उपासित हुआ वह उपासकको मुक्ति प्रदान करता है ॥ १७ ॥

द्वादशान्ताद्यदुत्थाय रूपपीवरता परा ।
अपानस्य बहिष्ठं तमपरं पूरकं विदुः ॥ १८ ॥
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैतान् कुम्भकादीननारतम् ।
प्राणापानस्वभावांस्तान् बुद्ध्वा भूयो न जायते ॥ १९ ॥
अष्टावेते महाबुद्धे रात्रिंदिवमनुस्मृताः ।
स्वभावा देहवायूनां कथिता मुक्तिदा मया ॥ २० ॥
गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
एते निरोधमायान्ति प्रकृत्याऽतिचलानिलाः ॥ २१ ॥
यत्करोति यदश्नाति बुद्ध्यैवाऽलमनुस्मरन् ।
कुम्भकादीन्नरः स्वान्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ॥ २२ ॥

बाहरके बारह अङ्गुलके अन्तिम भागसे नासिकाके अग्रभागतक अपान-वायुकी संचार द्वारा स्वरूपाभिव्यक्तिसे जो विशाल स्थूलता प्राप्त होती है, वह दूसरा बाह्यपूरक है, यों विद्वान् लोग कहते हैं ॥ १८ ॥

मुनिवर, प्राण और अपान वायुके स्वभावभूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकादि प्राणायाम हैं, उनका निरन्तर भली प्रकार ज्ञान रखनेवाला (उपासना करनेवाला) पुरुष पुनः इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता ॥ १९ ॥

हे महाबुद्धे, ये देहवायुके स्वभावभूत बाह्य एवं आन्तर रेचक आदिके भेदसे आठ प्रकारके प्राणायाम हैं, उनका रात-दिन निरन्तर अनुध्यान करनेसे पुरुषकी अवश्य मुक्ति हो जाती है, यह मेरा कथन है ॥ २० ॥

इन प्राणायामोंके अभ्याससे समय आनेपर प्राणादि वायुओंका निरोध भी हो जाता है, ऐसा कहते हैं—**'गच्छतः'** इत्यादिसे ।

जाते या स्थित रहते, जागते या सोते—सभी अवस्थाओंमें अभ्यास करनेपर स्वभावतः अतिचपल ये वायु समय आनेपर निरुद्ध भी हो जाते हैं ॥ २१ ॥

कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका अभिमान भी इससे नष्ट हो जाता है, यों कहते हैं—**'यत्करोति'** इत्यादिसे ।

मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक पर्याप्तरूपसे इन कुम्भक आदि प्राणायामोंका ध्यान करता हुआ यदि कुछ करता है या खाता है, तो उनमें वह कर्तृत्व आदिके अभिमानसे तनिक भी ग्रस्त नहीं होता ॥ २२ ॥

अव्यग्रमस्मिन् व्यापारे बाह्यं परिजहन्मनः ।
दिनैः कतिपयैरेव पदमाप्नोति केवलम् ॥ २३ ॥
एतदभ्यसतः पुंसो बाह्ये विषयवृत्तिषु ।
न बध्नाति रतिं चेतः श्वदृतौ ब्राह्मणो यथा ॥ २४ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य ये स्थिताः कृतबुद्धयः ।
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं तैरखिन्नास्त एव हि ॥ २५ ॥
तिष्ठता गच्छता नित्यं स्वपता जाग्रता तथा ।
एषा चेत्प्रेक्ष्यते दृष्टिस्तन्न बन्धनमाप्यते ॥ २६ ॥
प्राणापानानुसरणप्राप्तबोधवतामलम् ।
संशान्तमलमोहेन स्वस्थेनाऽन्तरिहोष्यते ॥ २७ ॥
सर्वारम्भान्सदा स्वच्छः कुर्वन्वाऽपि बुधो जनः ।
प्राणापानगतिं प्राप्य सुस्वस्थः सुखमेधते ॥ २८ ॥

प्राणायामके अभ्याससे बाह्यदृष्टिका परित्याग, तदनन्तर अन्तरात्माके साक्षात्कारकी उत्पत्ति, तदनन्तर परमपद-प्राप्ति, यों प्राणचिन्तनसे परमपदकी प्राप्ति भी होती है, ऐसा कहते हैं—'अव्यग्रम्' इत्यादिसे ।

महाराज, इस प्राणचिन्तनरूप व्यापारमें संलग्न होकर बाह्य अर्थोंका परित्याग कर रहा मन कुछ ही दिनोंमें अद्वितीय परम पदको प्राप्त हो जाता है ॥ २३ ॥

इस प्रकार प्राणायामका अभ्यास कर रहे पुरुषका मन विषयाकार वृत्तियोंके होनेपर भी बाह्य विषयोंमें उस प्रकार प्रेम नहीं करता, जिस प्रकार ब्राह्मण कुत्तेके चमड़ेकी भाथीमें स्थित क्षीर आदिमें प्रेम नहीं करता ॥ २४ ॥

महाराज, इस प्राण-दृष्टिका अवलम्बन कर जो कृतबुद्धि महात्मा स्थित हैं, उन्होंने समस्त प्राप्तव्य वस्तुओंको प्राप्त कर लिया है और वे ही समस्त खेदोंसे विनिर्मुक्त हो गये हैं ॥ २५ ॥

महाराज, स्थित रहते, गमन करते, सोते और जागते—सदा-सर्वदा पुरुष यदि इसी दृष्टिकी उपासना करें, तो वे कभी बन्धनको प्राप्त ही न होवें ॥ २६ ॥

प्राण और अपान की उपासना द्वारा प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न पुरुषोंका मन, जो मलरूप मोहसे वर्जित एवं स्वस्थ है, इस भीतरी प्रत्यगात्मामें ही भली प्रकार लगा हुआ रहता है ॥ २७ ॥

समस्त कर्मोंका निरन्तर अनुष्ठान कर रहा स्वच्छ-चित्त विज्ञ पुरुष प्राणापानकी गतिको प्राप्तकर, उत्तम स्वस्थ होकर सुख प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

प्राणस्याऽभ्युदयो ब्रह्मन् पद्मपत्राद्धृदि स्थितात् ।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते प्राणोऽस्तं यात्ययं बहिः ॥ २९ ॥
अपानस्योदयो बाह्याद् द्वादशान्तान् महामुने ।
अस्तं गतिरथाऽम्भोजमध्ये हृदयसंस्थिते ॥ ३० ॥
प्राणो यत्र समायाति द्वादशान्ते नभःपदे ।
पदात्तस्मादपानोऽयं खादेति समनन्तरम् ॥ ३१ ॥
बाह्याकाशोन्मुखः प्राणो वहत्यग्निशिखा यथा ।
हृदाकाशोन्मुखोऽपानो निम्ने वहति वारिवत् ॥ ३२ ॥
अपानश्चन्द्रमा देहमाप्याययति बाह्यतः ।
प्राणः सूर्योऽग्निरथवा पचत्यन्तरिदं वपुः ॥ ३३ ॥
प्राणो हि हृदयाकाशं तापयित्वा प्रतिक्षणम् ।
मुखाग्रगगनं पश्चात्तापयत्युत्तमो रविः ॥ ३४ ॥

हे ब्रह्मन्, हृदय-प्रदेशमें स्थित पद्म-पत्रसे प्राणका अभ्युदय होता है और बाहर द्वादशाङ्गुलपर्यन्त प्रदेशमें इस प्राणका विनाश हो जाता है ॥२९॥

हे महामुने, बाह्य बारह अङ्गुलकी चरम सीमासे अपानका उदय होता है और हृदय-प्रदेशमें संस्थित कमलमें उसकी गति अस्त हो जाती है ॥ ३० ॥

मुनीन्द्र, जिस बारह अङ्गुलकी चरम सीमाके आकाश-प्रदेशमें प्राणकी समाप्ति हो जाती है, उसी आकाश-प्रदेशसे यह अपान उसीके बाद उत्पन्न हो जाता है ॥ ३१ ॥

प्राण एवं अपान में अग्नि और सोमरूपता जो पहले कही गई थी, उसका—उष्णत्व, शीतत्व, ऊर्ध्वमुखत्व एवं अधोमुखत्व के प्रदर्शन द्वारा—उपपादन करते हैं—'बाह्या०' इत्यादिसे ।

महाराज, यह प्राण-वायु अग्निशिखाके सदृश बाह्य आकाशोन्मुख होकर बहता है और अपान-वायु जलके सदृश हृदयाकाशोन्मुख होकर निम्न भागमें बहता है ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन्, चन्द्रमारूप अपान-वायु शरीरको बाहरसे पुष्ट करता है और सूर्यरूप या अग्निरूप प्राण-वायु इस शरीरको भीतरसे परिपक्क कर देता है ॥३३॥

प्राण और अपान में सूर्य और चन्द्ररूपताकी भी भावना करनी चाहिए, इसका भी उपपादन करते हैं—'प्राणो हि' इत्यादिसे ।

अपानेन्दुर्मुखाग्रं तु प्लावयित्वा हृदम्बरम् ।
पश्चादाप्याययत्येष निमेषसमनन्तरम् ॥ ३५ ॥
अपानशशिनोऽन्तःस्था कला प्राणविवस्वता ।
यत्र ग्रस्ता तदासाद्य पदं भूयो न शोच्यते ॥ ३६ ॥
प्राणार्कस्य तथाऽन्तःस्था यत्राऽपानसितांशुना ।
ग्रस्ता तत्पदमासाद्य न भूयो जन्मभाङ्नरः ॥ ३७ ॥
प्राण एवाऽर्कतां याति सबाह्याभ्यन्तरेऽम्बरे ।
आप्यायनकरीं पश्चाच्छशितामधितिष्ठति ॥ ३८ ॥
प्राण एवेन्दुतां त्यक्त्वा शरीराप्यायकारिणीम् ।
क्षणादायाति सूर्यत्वं संशोषणकरं पदम् ॥ ३९ ॥

प्राण-वायु प्रतिक्षण हृदयाकाशको संतप्त कर पश्चात् मुखाग्रभागके आकाशको तपाता है, क्योंकि यह उत्तम सूर्य ही है ॥ ३४ ॥

अपान-वायुरूप यह चन्द्रमा पहले मुखके अग्रभागको पुष्टकर उसके क्षणभर ही पीछे हृदयाकाशका [अपने अमृत-प्रवाहसे] पोषण करता है ॥ ३५ ॥

अपानरूप चन्द्रमाके भीतरकी एक कलाका प्राणरूपी सूर्यके साथ जिस ब्रह्मरूप प्रदेशमें सम्बन्ध हुआ है, उस ब्रह्म पदको प्राप्तकर पुरुष पुनः शोकको प्राप्त नहीं करता ॥ ३६ ॥

प्राणरूपी सूर्यके भीतरी एक कलाका अपानरूपी चन्द्रमाके साथ जिस पदमें सम्बन्ध होता है, उस पदको प्राप्तकर मनुष्य पुनः जन्म प्राप्त नहीं करता ॥ ३७ ॥

एक ही वायुमें क्रमशः उक्त दोनों प्रकारकी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'प्राण एवा०' इत्यादिसे ।

एकमात्र प्राण-वायु ही बाहर एवं भीतर से युक्त आकाशमें पहले सूर्यरूपताको प्राप्त करता है और तदनन्तर आनन्दकारिणी चन्द्ररूपताको प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

एकमात्र प्राण-वायु ही शरीरको आनन्द पहुँचानेवाली चन्द्ररूपताका परित्याग कर क्षणभरमें शोषण करनेवाली सूर्यरूपताको प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

अर्कतां संपरित्यज्य न यावच्चन्द्रतां गतः ।
प्राणस्तावद्विचार्यन्तेऽदेशकाले न शोच्यते ॥ ४० ॥
हृदि चन्द्रार्कयोर्ज्ञात्वा नित्यमस्तमयोदयम् ।
आत्मनो निजमाधारं न भूयो जायते मनः ॥ ४१ ॥
सोदयास्तमयं सेन्दुं सरश्मिं सगमागमम् ।
हृदये भास्करं देवं यः पश्यति स पश्यति ॥ ४२ ॥

बाह्य-प्रदेशमें बारह अङ्गुलपर्यन्त प्रसृत प्राण-वायु जबतक उष्णताका परित्याग कर शीतलता प्राप्त नहीं करता, तबतक वह प्राण और अपानकी सन्धि-अवस्था रहती है। उस अवस्थामें देहके बाहर प्राणका विलय हो जानेसे निर्देहत्व, निष्क्रियत्व, निर्मनस्त्व आदि आत्माके वास्तव स्वभावोंकी संभावना हो सकती है, अतः उनका वहाँपर योगी लोग विचार करते हैं। बाह्य कुम्भकमें देहादिदेशका परिच्छेद एवं चन्द्र-सूर्यात्मक प्राण-अपान-क्रियाप्रयुक्त आयुरूप कालका परिच्छेद न होनेके कारण देश-काल-शून्य (स्वात्मस्वरूप) पदमें प्रतिष्ठित हुआ योगी कभी शोक नहीं करता ॥ ४० ॥

उसी प्रकार अन्तःकुम्भकमें भी हृदयगत प्राण और अपानकी सन्धिमें प्रतिष्ठित हुए मनमें अपने अधिष्ठानभूत परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार अवश्यंभावी होनेसे जन्म आदिकी प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—'हृदि' इत्यादिसे।

हृदयमें चन्द्र और सूर्यका प्रतिदिन उदय और अस्तमय का (प्राणरूप सूर्य एवं अपानरूप चन्द्रकी तत्-तत् व्यान आदि वृत्ति-विशेषोंका) परिज्ञानकर तथा मनके अधिष्ठानभूत परमात्माका ज्ञानकर मन फिर उत्पन्न नहीं होता ॥ ४१ ॥

अथवा हृदयस्थ अपनी आत्मा ही प्राणात्मक सूर्य है, वही अपानात्मक चन्द्र-रूप होकर उदय, अस्तमय और उनकी रश्मिभूत व्यानादि वृत्ति-विशेषोंसे विवृत होता है, इसलिए उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस प्रकारकी उपासना ही आत्म-साक्षात्कारमें कारण है, ऐसा कहते हैं—'सोदया०' इत्यादिसे।

उदय, अस्त, चन्द्रमा, रश्मियाँ, गमागम—इन सबसे युक्त हृदयाकाशमें स्थित प्राणरूप सूर्यदेवका जो कोई तात्त्विकरूपसे दर्शन करता है, वही असली तत्त्व जानता है ॥ ४२ ॥

न क्षीणं नाऽपरिक्षीणं बहिष्ठं सिद्धये तमः ।
हार्दं तु क्षपयेद्ध्वान्तं यत्क्षये सिद्धिरुत्तमा ॥ ४३ ॥
बाह्ये तमसि संक्षीणे लोकालोकः प्रजायते ।
हार्दे तु तमसि क्षीणे स्वालोको जायते मुने ॥ ४४ ॥
हार्दान्धकारक्षयदं परिज्ञातं विमुक्तिदम् ।
सोदयास्तमयं यत्नात् प्राणार्कमवलोकयेत् ॥ ४५ ॥
अपानेन्दुः प्रयात्यस्तं यत्र हृत्पद्मकोटरे ।
पदात्तस्मादुदेत्यन्तः प्राणार्को बहिरुन्मुखः ॥ ४६ ॥

यदि शङ्का हो कि हृदयमें आत्म-साक्षात्कारसे क्या फल ? बाह्य अन्धकारसे बाहर ही अपरिच्छिन्न आत्माके आवृत होनेके कारण बाह्यान्धकारके विनाशके लिए बाह्यज्योतिकी ही अन्वेषणा क्यों नहीं करनी चाहिए ? तो इसपर कहते हैं—**'न क्षीणम्'** इत्यादिसे ।

यद्यपि हृदयस्थित आत्म-साक्षात्काररूप प्रकाश मोक्षकी सिद्धिके लिए बाह्य-तमका न विनाश करता है न उसकी रक्षा ही करता है, तथापि हृदयगत अज्ञानरूप अन्धकारका तो विनाश करता ही है, उसीका विनाश होनेपर उत्तम मोक्षरूपा सिद्धि प्राप्त हो जाती है । तात्पर्य यह हुआ कि बाह्य अन्धकारकी कल्पनाके भी हृदयगत अन्धकारसे ही जनित होनेके कारण उसके हेतुभूत हार्दान्धकारके विनाशसे बाह्यान्धकारका विनाश अर्थतः सिद्ध हो जाता है ॥ ४३ ॥

बाह्य प्रकाशके द्वारा हुआ बाह्य अन्धकारका विनाश एकमात्र रूप आदिके दर्शनमें ही कारण है, बाहर आत्म-दर्शनमें कारण नहीं, इस आशयसे कहते हैं—**'बाह्ये'** इत्यादिसे ।

हे मुने, बाह्य अन्धकारके नष्ट हो जानेपर घटादिगत रूप आदिका प्रत्यक्ष होता है और हृदयगत अन्धकारके नष्ट हो जानेपर तो आत्माका प्रत्यक्ष होता है ॥४४॥

ब्रह्मन्, प्रयत्नपूर्वक प्राणरूपी सूर्यका अवलोकन करना चाहिए, यही हृदयगत अज्ञानान्धकारका विनाश करता है, परितः ज्ञात हुआ उत्तम मुक्ति प्रदान करता है और इसका उदय एवं अस्त भी होता है यानी अज्ञानियोंकी दृष्टिमें इसका अस्त है तथा ज्ञानियोंकी दृष्टिमें उदय है ॥ ४५ ॥

रुचिके उत्पादन द्वारा अधिकारियोंकी प्रवृत्ति करानेके लिए उक्त बाह्य

अपानेऽस्तं गते प्राणः समुदेति हृदम्बुजात् ।
छायायां गलिताङ्गायां तत्रैवाऽऽशु यथाऽऽतपः ॥ ४७ ॥
प्राणे त्वस्तं गते बाह्यादपानः प्रोदितः क्षणात् ।
आतपे परितो नष्टे छायेवाऽनुपदं तथा ॥ ४८ ॥
प्राणजन्मावनौ नष्टमपानं विद्धि सन्मते ।
अपानजन्मभूमौ च प्राणं नष्टमवेहि हि ॥ ४९ ॥
अस्तं गतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ।
बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ॥ ५० ॥
अपानेऽस्तं गते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ।
अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ॥ ५१ ॥

और आन्तर कुम्भकनिष्ठाका वर्णन कर रहे पक्षिराज भुशुण्डजी भूमिका बाँधते हैं—'अपानेन्दुः' इत्यादिसे ।

ब्रह्मन्, जिस हृदय-कमलरूपी कोटरमें अपान-वायुरूप चन्द्रमा अस्त हो जाता है, उस हृदय-कमलरूप कोटरसे बाह्योन्मुख प्राणरूपी सूर्यका अपने भीतर उदय होता है ॥ ४६ ॥

अपान-वायुका अस्त हो जानेपर हृदय-कमलसे प्राणका वहाँ उस प्रकार शीघ्र उदय हो जाता है, जिस प्रकार निशारूप छायाका विनाश हो जानेपर वहाँ सौरालोकका ॥ ४७ ॥

चारों ओरसे सौरालोकके नष्ट हो जानेपर जिस प्रकार उसके पीछे क्षणभरमें ही छायारूप अन्धकारका उदय हो जाता है, उसी प्रकार प्राणरूप सौरालोकका अस्त हो जानेपर क्षणभरमें ही बाहरसे अपानका उदय हो जाता है ॥ ४८ ॥

हे सन्मते, जिस भूमिमें प्राणकी उत्पत्ति होती है, उस भूमिमें अपानका विनाश हो जाता है और जिस भूमिमें अपानकी उत्पत्ति होती है, उस भूमिमें प्राणका विनाश हो जाता है, यह आप निश्चित जानिए ॥ ४९ ॥

प्राण-वायुके अस्त हो जानेपर और अपान-वायुके उदयोन्मुख होनेपर बाह्य कुम्भकका चिरकाल तक अवलम्बन करनेसे योगी फिर संसाररूपी शोकसे ग्रस्त नहीं होता ॥ ५० ॥

अपान-वायुके अस्तंगत होनेपर और प्राण-वायुके तनिक उदयोन्मुख होनेपर

प्राणरेचकमालम्ब्य अपानाद्दूरकोटिगम् ।
स्वच्छं कुम्भकमभ्यस्य न भूयः परितप्यते ॥ ५२ ॥
अपाने रेचकाधारं प्राणपूरान्तरस्थितम् ।
स्वसंस्थं पूरकं दृष्ट्वा न भूयो जायते नरः ॥ ५३ ॥
प्राणापानावुभावन्तर्यत्रैतौ विलयं गतौ ।
तदालम्ब्य पदं शान्तमात्मानं नाऽनुतप्यते ॥ ५४ ॥
प्राणभक्षोन्मुखेऽपाने देशं कालं च निष्कलम् ।
विचार्य बहिरन्तर्वा न भूयः परिशोच्यते ॥ ५५ ॥

भीतरी कुम्भकका चिरकाल तक अवलम्बन करनेसे योगी पुनः इस संसाररूपी शोकसे ग्रस्त नहीं होता ॥ ५१ ॥

ब्रह्मन्, जिस स्थानमें अपान-वायुका उदय होता है, उस द्वादश अङ्गुल-परिमित स्थानसे दूर कोटिगत यानी सोलह अङ्गुलपरिमित भागमें प्रसरणशील प्राण-रेचकका अवलम्बन कर स्वच्छ (निःशेष वायुके रेचनसे निर्मल) कुम्भकका अभ्यास करनेसे पुनः योगी संसाररूप तापसे तप्त नहीं होता ॥ ५२ ॥

नासिका-छिद्रसे अपान-वायुका भीतर प्रवेश होनेपर बाह्य रेचकके आधार-भूत, प्राणके पूरणके लिए भीतर प्रविष्ट देहान्तर्गत पूरककी उपासना करनेसे मनुष्य पुनः संसारमें उत्पन्न नहीं होता ॥ ५३ ॥

जिस हृदयवर्ती ब्रह्मरूप स्थानमें ये प्राण और अपान दोनों विलीन हो जाते हैं, उस शान्त, आत्मस्वरूप ब्रह्मरूप पदका अवलम्बन करनेसे योगी अनुतप्त नहीं होता ॥ ५४ ॥

अब 'अर्कतां संपरित्यिज्य न यावच्चन्द्रतां गतः' इस श्लोकके उत्तरार्धमें 'अदेशकाले न शोच्यते' यह जो कहा गया है, उसका विवरण करते हुए बाह्य कुम्भकमें कहे गये देश-काल-बाधका अन्तःकुम्भकमें भी अनुकर्ष बतलाते हैं— 'प्राण०' इत्यादिसे ।

अपान-वायुके प्राणभक्षणोन्मुख होनेपर बाहर यानी प्राणलयके अधिष्ठानभूत चैतन्यमें और भीतर यानी प्राणनिर्गमके अपादानभूत चैतन्यमें बाध द्वारा देश, काल और उनमें रहनेवाले समस्त पदार्थ निरवयव चैतन्यात्मक ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ऐसा विचार करनेसे मनुष्य फिर शोकका भागी नहीं होता ॥ ५५ ॥

अपानभक्षणपरे प्राणे हृदि तथा बहिः ।
देशं कालं च संप्रेक्ष्य न भूयो जायते मनः ॥ ५६ ॥
यत्र प्राणो ह्यपानेन प्राणेनाऽपान एव च ।
निर्गीर्णौ बहिरन्तश्च देशकालौ च पश्य तौ ॥ ५७ ॥
क्षणमस्तंगतप्राणमपानोदयवर्जितम् ।
अयत्नसिद्धबाह्यस्थं कुम्भकं तत्पदं विदुः ॥ ५८ ॥
अयत्नसिद्धो ह्यन्तःस्थकुम्भकः परमं पदम् ॥ ५९ ॥
एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धैषा परमैव चित् ।
एतत्तत्सदाभासमेतत्प्राप्य न शोच्यते ॥ ६० ॥

प्राण-वायुके अपानभक्षणोन्मुख होनेपर बाहर और भीतर पूर्वोक्त चैतन्यमें देश, काल एवं तदन्तर्वर्ती समस्त पदार्थ निष्कल ब्रह्मस्वरूप ही हैं, ऐसी उपासना करनेसे पुरुषका मन पुनः उत्पन्न नहीं होता ॥ ५६ ॥

जिस परब्रह्मरूप चैतन्यमें अपानके साथ प्राणका, प्राणके साथ अपानका तथा उन दोनोंके साथ बाह्य एवं आन्तर देश-कालका विलय हो जाता है, उसी परब्रह्मरूप पदका आप दर्शन कीजिए ॥ ५७ ॥

प्राण और अपानके सन्धिकालमें सभी प्राणियोंको उक्त अवस्था रहती है, परन्तु उसका अनुभव केवल योगी लोग ही कर पाते हैं, दूसरे नहीं कर पाते, ऐसा कहते हैं—'क्षण०' इत्यादिसे ।

जिस समय अपानके आविर्भावसे वर्जित प्राण अस्तंगत हुआ रहता है उस समय किसी प्रकारके यत्नके बिना सिद्ध हुई बाह्य जो कुम्भक अवस्था है उसीको योगी लोग 'तत्पद' कहते हैं ॥ ५८ ॥

किसी प्रकारके यत्नके बिना ही सिद्ध हुआ अन्तःस्थ कुम्भक सर्वातिशायी ब्रह्मरूप परमपद है ॥ ५९ ॥

यही आत्माका असली स्वरूप है और यही अशेष मलोंसे निर्मुक्त सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थोंकी प्रकाशक परम चित् है, यही तत्-तत् जागतिक पदार्थोंका अवभासक प्रकाश है और इसीको प्राप्त कर मनुष्य शोकग्रस्त नहीं होता ॥ ६० ॥

पुष्पस्याऽन्तरिवाऽऽमोदः प्राणस्याऽन्तरवस्थितम् ।
न सप्राणं न वाऽपानं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६१ ॥
जलस्याऽन्तरिवाऽऽस्वादमपानस्याऽन्तरस्थितम् ।
न सप्राणं न वाऽप्राणं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६२ ॥
प्राणक्षयस्योपान्तस्थमपानक्षयकोटिगम् ।
अपानप्राणयोर्मध्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६३ ॥
प्राणस्य प्राणनं प्रोच्चैः परं जीवस्य जीवनम् ।
देहस्य धारणं धुर्यं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६४ ॥

उस प्रकार तत्-तत् भिन्न-भिन्न क्रियाओंके भेदसे भिन्न-भिन्न हुए प्राणोपासनके प्रकारको कहकर अब उसकी दृढताके अनन्तर प्राण, अपान आदिके अन्दर रहनेवाले उनके अधिष्ठानभूत चैतन्यात्माकी उपासना करनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**'पुष्पस्या०'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मन्, जिस प्रकार पुष्पके अन्दर सौगन्ध्य रहता है, उसी प्रकार प्राणके अन्दर रहनेवाले चिदात्माकी, जो न सजीवस्वरूप है और न निर्जीवस्वरूप है*, हम लोग उपासना करते हैं ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार जलके अन्दर माधुर्य रहता है, उसी प्रकार अपानके अन्दर रहनेवाले चिदात्माकी, जो सजीव और निर्जीव रूप नहीं है, हम लोग उपासना करते हैं ॥ ६२ ॥

जो प्राणविलयका और जो अपानविनाशका समीप एवं अन्तमें रह कर प्रकाशक है तथा जो प्राण और अपानके अन्दर रहता है, हम लोग उस चिदात्माकी उपासना करते हैं ॥ ६३ ॥

ब्रह्मन्, प्राणके प्राणनव्यापारमें सबसे बढ चढ़कर जो निमित्तभूत है, जीवके जीवनादि व्यापारमें जो सबसे बढ़ चढ़कर निमित्तभूत है, देहके धारणादि व्यापारमें जो सर्व प्रथम हेतुभूत है, उस चिदात्माकी हम लोग उपासना करते हैं ॥ ६४ ॥

---

* इससे प्राणोपहित आत्माकी या प्राणलयोपलक्षित अपानात्माकी उपासना नहीं करनी चाहिए, यह सूचित किया गया । और 'प्राणस्यान्तरवस्थितम्' यह जो कहा गया है, वह एकमात्र आत्माके परिचयके लिए ही कहा गया है, न कि उपासनाके उपाधिरूपसे, यह तात्पर्य है ।

मनसो मननं सत्यं बुद्धेरेकावबोधनम् ।
अहङ्कृतेरहङ्कारं चिदात्मानमुपास्महे ॥ ६५ ॥
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
यच्च सर्वमयं नित्यं तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ६६ ॥
आलोकालोकनं पुण्यं सर्वपावनपावनम् ।
न च भावनमन्नूनं तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ६७ ॥
[अपानोऽस्तं गतो यत्र प्राणो नाऽभ्युदितः क्षणम् ।
कलाकलङ्करहितं तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ १ ॥]
नाऽपानोऽभ्युदितो यत्र प्राणश्चाऽन्तमुपागतः ।
नासाग्रगगनावर्तं तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ६८ ॥
यत्र प्राणोऽस्तमायाति यत्राऽपानोऽस्तमेति च ।
यत्र द्वावप्यनुत्पन्नौ तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ६९ ॥

महाराज, जो मनके मनन आदि व्यापारमें हेतुभूत है, जो बुद्धिके बोधन-व्यापारमें निमित्तभूत है एवं जो अहङ्कारके अहङ्करण व्यापारमें निमित्तभूत है, उस चिदात्माकी हम लोग उपासना करते हैं ॥ ६५ ॥

जिसमें यह समस्त पुरोवर्ती पदार्थ विद्यमान हैं, जिससे समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है, जो सर्वात्मक है, जो चारों ओर स्थित है और जो सर्वमय है, हम लोग उस चैतन्यात्मक तत्त्वकी निरन्तर उपासना करते हैं ॥ ६६ ॥

ब्रह्मन्, जो सूर्य आदि समस्त अवभासक पदार्थोंका भी अवभासक है, जो समस्त पावन पदार्थोंमें पावनतम पुण्यरूप है, जो मन, बुद्धि आदिके विकारोंसे तनिक भी अपने वास्तव स्वभावसे च्युत नहीं होता, उस चित्तत्त्वकी हम उपासना करते हैं ॥ ६७ ॥

[जिसमें अपानवायु अस्तंगत हो जाता है और जिसमें तनिक भी प्राणका अभ्युदय नहीं होता, उस समस्त कल्पनाकलङ्कोंसे निर्मुक्त चित्तत्त्वकी हम लोग उपासना करते हैं ॥ १ ॥]

जिसमें अपानका अभ्युदय नहीं होता और प्राणका अन्त हो जाता है, तथा जिसकी नासिकाके अग्रभागसे उपलक्षित बारह अङ्गुलपरिमित गगन सन्धि (प्राणापानप्रवाहसन्धि) है, उस चित्तत्त्वकी हम उपासना करते हैं ॥ ६८ ॥

अब बाह्य और आन्तर प्रदेशरूप उपाधिभेदका परित्याग कर 'यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' इस श्रुत्यर्थको मनमें लेकर कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

प्राणापानोद्भवस्थाने बाह्याभ्यन्तरमास्थिते ।
ये द्वे योगिपदाधारस्तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७० ॥
प्राणापानरथारूढं प्राणापानमनाततम् ।
यच्छक्तिरूपं शक्तीनां तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७१ ॥
हृत्प्राणकुम्भकं देवं बहिश्चाऽपानकुम्भकम् ।
पूरकांशविसृष्टं यत्तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७२ ॥
प्राणापानपरामर्शं सत्ताबोधं विरूपकम् ।
यत्प्राप्यं प्राणमननात् तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७३ ॥
यत्प्राणपवनस्पन्दो यत्स्पन्दानन्दकारकम् ।
कारणं कारणानां यत् तच्चित्तत्त्वमुपास्महे ॥ ७४ ॥

जहाँ पर प्राण विलीन हो जाता है, जहाँ अपान भी अस्त हो जाता है और जहाँ प्राण और अपान दोनों उत्पन्न भी नहीं होते, हम लोग उस चित्तत्त्वकी उपासना करते हैं ॥ ६९ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर प्रदेशमें स्थित, योगियों द्वारा अनुभूत होनेवाले जो दो प्राण और अपानकी उत्पत्तिके स्थान हैं, उन दोनोंके अधिष्ठानभूत चित्तत्त्वकी हम उपासना करते हैं ॥ ७० ॥

जो प्राण और अपानरूप रथके ऊपर आरूढ़ होकर परिच्छिन्न होता हुआ प्राण और अपानकी शक्तिस्वरूप हो जाता है एवं अन्यान्य चक्षु आदि करणोंमें स्थित शक्तियोंका भी जो शक्तिस्वरूप है, उस चित्तत्त्वकी हम उपासना करते हैं ॥७१॥

प्राण, अपान एवं कुम्भकरूपसे तथा उनके विसर्ग रेचक आदि रूपसे चित्तत्त्व ही विवर्तित होता है। इसलिए एकमात्र चित्तत्त्वकी ही उपासना करनी चाहिए, यों कहते हैं—**'हृत्प्राण०'** इत्यादिसे ।

महाराज, जो हृद्गत प्राणकी कुम्भकावस्थाका स्वरूपभूत है, जो बाहर अपानकी कुम्भकावस्थाका स्वरूपभूत है और जो पूरकांशसे विसृष्ट है, उस प्रकाशमान चित्तत्त्वकी हम उपासना करते हैं ॥ ७२ ॥

जो प्राण और अपानके चैतन्यमें हेतुभूत हैं, जो उनके अस्तित्वका ज्ञान करानेवाला है, जो स्वयं रूपवर्जित है एवं जो प्राणोपासनासे प्राप्तव्य है, उस चित्तत्त्वकी हम उपासना करते हैं ॥ ७३ ॥

ब्रह्मन्, जो प्राणवायुके स्पन्दनमें हेतुभूत है, जो इन्द्रियोंके होनेवाले

यदखिलकलनाकलङ्कहीनं
परिवलितं च सदा कलागणेन ।
स्वनुभवविभवं पदं तदग्र्यं
सकलसुरप्रणतं परं प्रपद्ये ॥ ७५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने समाधिवर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

एषा हि चित्तविश्रान्तिर्मया प्राणसमाधिना ।
क्रमेणाऽनेन संप्राप्ता स्वयमात्मनि निर्मले ॥ १ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य संस्थितोऽस्मि महामुने ।
न चलामि निमेषांशमपि मेरुविचालतः ॥ २ ॥

विषयप्रदेश-पर्यन्त गमनमें तथा उनके उपभोगमें हेतुभूत है तथा जो कारणोंका भी कारण है, उस चित्तत्त्वकी हम उपासना करते हैं ॥ ७४ ॥

जो परामर्श दृष्टिसे समस्त कलनारूपी कलङ्कोंसे विनिर्मुक्त है, जो आपात-दर्शी पुरुषोंकी दृष्टिसे जीवोपाधिभूत प्राण आदि सोलह कलाओंसे सदा परिवेष्टित है, जो प्रमात्मक अनुभवरूपी ऐश्वर्यसे परिपूर्ण है तथा जो समस्त देवताओंसे वन्दित है, उस सर्वश्रेष्ठ परमात्मरूप परमपदकी हम उपासना करते हैं ॥ ७५ ॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

[प्राणोपासना द्वारा इस प्रकार अपने स्वरूपविज्ञानका निरूपण करनेके अनन्तर भुशुण्डजी अपनी चिरजीवितामें हेतुओंका निरूपण करते हैं, यह वर्णन]

भुशुण्डने कहा—महाराज वसिष्ठजी, मैंने प्राणोपासना द्वारा उक्त रीतिसे क्रमशः निर्मल हुए आत्मामें यह चित्तविश्रान्ति स्वयं प्राप्त की है ॥ १ ॥

हे महामुने, मैं इस प्राणदृष्टिका अवलम्बन कर दृढ़तापूर्वक अवस्थित

गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
स्वप्नेऽपि न चलत्येष सुसमाधिर्ममाऽऽत्मनि ॥ ३ ॥
नित्यानित्यासु लोलासु जगत्स्थितिषु सुस्थितः ।
अन्तर्मुखोऽस्मि तिष्ठामि स्वकामेनाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥ ४ ॥
अपि संरुद्ध्यते वायुरपि वा सलिलं गते ।
नैतस्मात् सुसमाधानाद्विरुद्धं संस्मराम्यहम् ॥ ५ ॥
प्राणापानानुसरणात् परमात्मावलोकनात् ।
अशोकमनुजातोऽस्मि पदमाद्यं महातपः ॥ ६ ॥
आमहाप्रलयाद् ब्रह्मन्नुन्मज्जननिमज्जनम् ।
अहमद्याऽपि भूतानां पश्यञ्जीवामि धीरधीः ॥ ७ ॥

रहता हूँ । इसलिए सुमेरु पर्वतके विचलनसे भी निमेषांशमात्रकालके लिए भी विचलित नहीं होता ॥ २ ॥

ब्रह्मन्, जाते या बैठते, जागते या सोते तथा स्वप्नानुभव करते किसी भी अवस्थामें मेरी आत्मामें यह उत्तम समाधि-विचलित नहीं होती ॥ ३ ॥

निरन्तर विनाशशील, अतिचंचल, इष्ट और अनिष्ट स्वरूप इन जागतिक अवस्थाओंमें मैं किसी प्रकारके बिना विक्षेपके ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहता हूँ । मेरी वृत्ति सदा अन्तर्मुख रहती है यानी मैं कभी तुच्छ बाह्य विषयोंकी स्पृहा नहीं करता । एकमात्र अपने स्वरूपसे अपनी आत्मामें ही स्वच्छन्दवृत्तिसे स्थित रहता हूँ ॥ ४ ॥

महाराज, किसी समय किसी कारणवश नक्षत्रचक्रका आधारभूत प्रवहनामक वायु बन्द भी हो जा सकता है, बड़ी-बड़ी महानदियोंके जल अपने स्वाभाविक प्रवाहसे विरत भी हो जा सकते हैं, परन्तु मुझे अपने इस प्राणचिन्तनरूप उपासनासे विरत करा दे, ऐसा कोई भी पदार्थ इस संसारमें नहीं है, इसका मुझे निश्चित स्मरण है ॥ ५ ॥

हे तपस्वियोंमें महान्, प्राण और अपानके अनुसरणसे प्राप्त परम तत्त्वके साक्षात्कारसे मैं समस्त शोकोंसे वर्जित आदिकारण परम पदको प्राप्त हो गया हूँ ॥ ६ ॥

ब्रह्मन्, महाप्रलयसे लेकर प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं विनाशका अनुभव कर रहा मैं धीरबुद्धि होकर आज भी जी रहा हूँ ॥ ७ ॥

न भूतं न भविष्यं च चिन्तयामि कदाचन ।
दृष्टिमालम्ब्य तिष्ठामि वर्तमानामिहाऽऽत्मना ॥ ८ ॥
यथाप्राप्तेषु कार्येषु परित्यक्तफलैषणः ।
सुषुप्तममया बुद्ध्या परितिष्ठामि केवलम् ॥ ९ ॥
भावाभावमयीं चिन्तामीहितानीहितान्विताम् ।
विमृश्याऽऽत्मनि तिष्ठामि चिरञ्जीवाम्यनामयः ॥ १० ॥
प्राणापानसमायोगसमयं समनुस्मरन् ।
स्वयमात्मनि तुष्यामि चिरञ्जीवाम्यनामयः ॥ ११ ॥
इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्यामि सुन्दरम् ।
इति चिन्ता न मे तेन चिरञ्जीवाम्यनामयः ॥ १२ ॥
न स्तौमि न च निन्दामि क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
आत्मनोऽन्यस्य वा साधो तेनाऽहं शुभमागतः ॥ १३ ॥

महाराज, मैं कभी अतीत एवं अनागत विषयोंका चिन्तन नहीं करता, एकमात्र नित्य वर्तमानस्वभाव साक्षिचैतन्यस्वरूप दृष्टिका अपने मनसे अवलम्बन कर इस कल्पतरु वृक्षपर अवस्थित रहता हूँ ॥ ८ ॥

ब्रह्मन्, व्यवहारवश यथासमय जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं उनका, फलाभिलाषोंको छोड़ कर निरभिमानबुद्धिसे, केवल अनुष्ठान करता रहता हूँ ॥९॥

हे मुनिवर, इच्छा एवं अनिच्छासे निरन्तर अन्वित इष्टानिष्ट पदार्थोंकी चिन्ताका विचार कर यानी वे सर्वथा हेय ही हैं, ऐसा निश्चय कर केवल अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता हूँ। इसलिए मैं शोकरहित होकर चिरकालसे जी रहा हूँ यानी दीर्घजीवी हूँ ॥ १० ॥

भगवन्, प्राण और अपानके सन्धिस्थानमें प्रकाशित हो रहे आत्मतत्त्वका निरन्तर ध्यान करता हुआ मैं अपनी आत्मामें स्वयं ही सन्तुष्ट रहता हूँ। इसलिए शोकरहित होकर चिरकालसे जी रहा हूँ ॥ ११ ॥

महाराज, मैंने आज यह प्राप्त किया और भविष्यमें दूसरा सुन्दर प्राप्त करूँगा, इस प्रकारकी मुझे कभी चिन्ता नहीं होती, इसलिए शोकरहित होकर चिरकालसे जी रहा हूँ ॥ १२ ॥

हे साधो, किसी समय कहींपर अपने या दूसरे किसीके कार्योंकी न तो

न तुष्यति शुभप्राप्तौ नाऽशुभेष्वपि खिद्यते ।
मनो मम समं नित्यं तेनाऽहं शुभमागतः ॥ १४ ॥
परमं त्यागमालम्ब्य सर्वमेव सदैव हि ।
जीवितादि मया त्यक्तं तेनाऽहं शुभमागतः ॥ १५ ॥
प्रशान्तचापलं वीतशोकं स्वस्थं समाहितम् ।
मनो मम मुने शान्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ १६ ॥
काष्ठं विलासिनीं शैलं तृणमग्निं हिमं नभः ।
समं सर्वत्र पश्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ १७ ॥
किमद्य मम संपन्नं प्रातर्वा भविता पुनः ।
इति चिन्ताज्वरो नाऽस्ति तेन जीवाम्यनामयः ॥ १८ ॥

कुछ स्तुति करता हूँ और न कुछ निन्दा ही करता हूँ। इसलिए मैंने यह दीर्घ जीवन प्राप्त किया है ॥ १३ ॥

महर्षे, मेरा मन इष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर न सन्तुष्ट होता है और न तो अनिष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर कभी खिन्न ही होता है, वह निरन्तर एकरूप ही रहता है; इसलिए मैं इस दीर्घ जीवनको प्राप्त हुआ हूँ ॥ १४ ॥

चूँकि समस्त द्वैतबाधरूप उत्तम त्यागका अवलम्बन कर सर्वदा ही जीवनाभिमान आदि सभी वस्तुओंका मैंने परित्याग कर दिया है, अतः इस दीर्घ जीवनको प्राप्त हुआ हूँ ॥ १५ ॥

हे मुने, मेरे मनकी चपलता विलीन हो गई है। वह शोकसे रहित हो गया है, स्वस्थ, समाहित एवं शान्त हो चुका है, इसलिए मैं विकारवर्जित होकर जी रहा हूँ ॥ १६ ॥

चूँकि मैं लकड़ी, विलासिनी रमणी, पर्वत, तिनका, अग्नि, हिम, आकाश—इन सबमें एकरूपता ही देख रहा हूँ, इसलिए विकारवर्जित होकर जी रहा हूँ ॥ १७ ॥

आज मैंने क्या प्राप्त किया और कल प्रातः मुझे क्या प्राप्त होगा, इस-प्रकार चिन्तारूपी ज्वरसे मैं निर्मुक्त हूँ, इसीलिए अनामय होकर मैं जी रहा हूँ ॥ १८ ॥

जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च ।
न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ १९ ॥
अयं बन्धुः परश्चाऽयं ममाऽयमयमन्यतः ।
इति ब्रह्मन्न जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २० ॥
सर्वं सर्वपदाभासमनाद्यन्तमनामयम् ।
अहं चिदिति जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २१ ॥
आहरन् विहरंस्तिष्ठन्नुत्तिष्ठन्नुच्छ्वसन् स्वपन् ।
देहोऽहमिति नो वेद्मि तेनाऽस्मि चिरजीवितः ॥ २२ ॥
इमं सांसारमारम्भं सुषुप्तपदवत् स्थितः ।
असन्तमिव जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २३ ॥
यथाकालमुपायातावर्थानर्थौ समौ मम ।
हस्ताविव शरीरस्थौ तेन जीवाम्यनामयः ॥ २४ ॥

जरा एवं मरणके सदृश कष्टों एवं राज्यप्राप्तिके सदृश सुखों के प्राप्त होनेपर न तो मैं डरता हूँ और न प्रसन्न ही होता हूँ । इसलिए मैं अनामय होकर जीवित हूँ ॥ १९ ॥

हे ब्रह्मन्, यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है एवं यह दूसरेका है, इस प्रकारकी भिन्नता तो मैं जानता ही नहीं, इसलिए अनामय होकर जीवित हूँ ॥ २० ॥

महाराज, नानावस्तुके रूपमें प्रकाशित होनेवाले समस्त वस्तुओंके अधिष्ठानभूत आदि और अन्तसे शून्य विकारवर्जित अवभासक आत्म-पदार्थको तथा भासित होनेवाले इस समस्त प्रपञ्चको एकमात्र चित्स्वरूप ही मैं जानता हूँ इसीसे मैं शोकरहित जीवित हूँ ॥ २१ ॥

ग्रहण कर रहा, विहार कर रहा, स्थिति कर रहा, उत्थान कर रहा, श्वास ले रहा तथा निद्रा ले रहा शरीर ही है, आत्मा नहीं, यह मैं जानता हूँ, इसलिए मैं चिरजीवी हूँ ॥ २२ ॥

महाराज, विकारवर्जित अवस्थामें स्थित हुआ मैं इस संसारमें उत्पन्न घट आदि कार्यविशेषोंको तुच्छ-सा (मिथ्या ही) जानता हूँ, इसलिए विकाररहित होकर जी रहा हूँ ॥ २३ ॥

प्रारब्धके द्वारा प्रस्तुत किये गये उपभोग-समयमें प्राप्त हुए इष्ट और अनिष्ट

अपरिचलया शक्त्या सुदृशा स्निग्धमुग्धया ।
ऋजु पश्यामि सर्वत्र तेन जीवाम्यनामयः ॥ २५ ॥
आपादमस्तकान्तेऽस्मिन्न देहे ममता मम ।
त्यक्ताहङ्कारपङ्कस्य तेन जीवाम्यनामयः ॥ २६ ॥
यत्करोमि यदश्नामि तत्त्यक्त्वा तद्गतोऽपि मे ।
मनो नैष्कर्म्यमादत्ते तेन जीवाम्यनामयः ॥ २७ ॥
यदा यदा मुने किञ्चिद्विजानामि तदा तदा ।
मतिरायाति नौद्धत्यं तेन जीवाम्यनामयः ॥ २८ ॥
करोमीशोऽपि नाऽऽक्रान्तिं परितापेन खेदवान् ।
दरिद्रोऽपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ २९ ॥

पदार्थ मेरी दृष्टिमें, देहवर्ती हाथोंकी नाईं, समान ही हैं । इसलिए मैं विकार-वर्जित होकर जी रहा हूँ ॥ २४ ॥

अपने स्वरूपसे किसी समय च्युत न होनेवाली मानसिक स्थिरतारूपी शक्तिके द्वारा हुई स्निग्ध एवं मुग्ध सुन्दर दृष्टिसे यानी सब प्राणियोंमें आत्मा एक ही है, इस दृष्टिसे सब स्थानोंमें अकौटिल्यका ही मैं अनुभव करता हूँ, इसलिए अनामय होकर जी रहा हूँ ॥ २५ ॥

महाराज, मैंने अहंकाररूपी कीचड़का परित्याग कर दिया है । इसलिए पैरसे लेकर मस्तक तक इस देहमें मुझे ममता नहीं है, यही कारण है कि मैं सब तरहके विकारोंसे रहित होकर जी रहा हूँ ॥ २६ ॥

महाराज, मैं जो कुछ व्यापार करता हूँ, जो कुछ खाता-पीता हूँ वह सब कुछ अभिमानका परित्याग करके ही । इसलिए शरीरके कारण तादृश व्यापार-युक्त होनेपर भी मेरा मन कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य स्वभावरूपताका ही स्वीकार करता है । यही कारण है कि मैं अनामय होकर दीर्घजीवी हूँ ॥ २७ ॥

हे मुने, जब-जब मैं कुछ जानता हूँ, तब-तब मेरा मन अविनीतभावको प्राप्त नहीं होता । इसलिए अनायम होकर जीवित रहता हूँ ॥ २८ ॥

महाराज, यद्यपि मैं दूसरोंके ऊपर आक्रमण करनेमें समर्थ हूँ, तथापि मैं आक्रमण (परिभव) नहीं करता, दूसरोंके द्वारा खेद पहुँचाये जानेपर भी सहन-शीलताके कारण खिन्न नहीं होता एवं दरिद्र होनेपर भी कुछ नहीं चाहता, इसलिए अनामयरूपसे दीर्घजीवी हूँ ॥ २९ ॥

पश्यद्रूपे शरीरेऽस्मिन् भूतस्थात्मा चिदास्पदः ।
भूतवृन्दमहं साम्यात्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३० ॥
आशापाशविनुन्नायाश्चित्तवृत्तेः समाहितः ।
संस्पर्शं न ददाम्यन्तस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३१ ॥
असत्तां जगतः सत्तामात्मनः करबिल्ववत् ।
सुप्तप्रबुद्धः पश्यामि तेनाऽस्मि चिरजीवितः ॥ ३२ ॥
जीर्णं भिन्नं श्लथं क्षीणं क्षुब्धं क्षुण्णं क्षयं गतम् ।
पश्यामि नववत् सर्वं तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३३ ॥
सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने ।
सर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३४ ॥

चेतनप्राय इस शरीरके भासमान होनेपर भी मैं एकमात्र चैतन्यात्मताका ही अवलोकन करता हूँ । इसलिए सब भूतोंमें चिदात्मताकी समता होनेके कारण सर्वभूतोंके अन्दर स्थित आत्मस्वरूप हो रहा मैं उनको अपने शरीरके सदृश ही देखता हूँ । यही कारण है कि मैं अनामय होकर दीर्घजीवी हूँ ॥ ३० ॥

ब्रह्मन्, निरन्तर समाधियुक्त मैं अनेकविध आशारूपी पाशोंसे बद्ध हुई चित्तवृत्तिको अपने हृदयके अन्दर तनिक भी स्थान नहीं देता, इसलिए निर्विकार होकर मैं चिरजीवी हूँ ॥ ३१ ॥

ब्रह्मन्, बाह्य पदार्थोंके विषयमें सुप्त होकर मैं जगत्‌की असत्ता देखता हूँ और अपने भीतर प्रबुद्ध होकर, हाथमें बेलकी नाईं, आत्माकी सत्ता देखता रहता हूँ, इसलिए चिरजीवी हूँ ॥ ३२ ॥

महाराज, जीर्ण, विदीर्ण, अवयवोंसे शिथिल, क्षीण, क्षुब्ध, चूर्णित एवं विनष्ट हुए सब अतीत, अनागत और वर्तमानके पदार्थोंको, विकारशून्य आत्मदृष्टिके कारण नवीन पदार्थोंके सदृश देखता रहता हूँ, इसलिए विकारशून्य दीर्घजीवी हूँ ॥ ३३ ॥

महाराज, सुखी पुरुषको देखकर मैं सुखी होता हूँ, दुःखी जनको देख कर दुःखी होता हूँ, सभीके लिए मैं प्रिय मित्र हूँ, इसलिए विकारवर्जित चिरजीवी हूँ ॥ ३४ ॥

आपद्यचलधीरोऽस्मि जगन्मित्रं च संपदि ।
भावाभावेषु नैवाऽस्मि तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३५ ॥
नाऽहमस्मि न चाऽन्यो मे नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ।
इति मे भावितं चित्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३६ ॥
अहं जगदहं व्योम देशकालक्रमावहम् ।
अहं क्रियेति मे बुद्धिस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३७ ॥
घटश्चिच्चित्पटश्चित्खं चिद्वनं शकटं च चित् ।
चित्सर्वमिति मे भावस्तेन जीवाम्यनामयः ॥ ३८ ॥
इत्यहं मुनिशार्दूल त्रिलोककमलालिकः ।
भुशुण्डो नाम काकोलः कथितश्चिरजीवितः ॥ ३९ ॥

मैं आपत्ति-कालमें पर्वतकी नाईं धीर रहता हूँ, सम्पत्ति-कालमें समस्त जगत्के प्रति मैत्री रखता हूँ, सम्पत्तिकी वृद्धि या विनाश-दशामें तनिक भी अभिनिवेश नहीं करता । इसलिए मैं चिरजीवी हूँ ॥ ३५ ॥

न मैं हूँ, न मेरे लिए कोई दूसरा है और न मैं किसी दूसरेके लिए हूँ; इस प्रकारकी भावनासे मेरा चित्त भावित है, अतएव मैं अनामय होकर चिरजीवी हूँ ॥ ३६ ॥

मैं ही जगत् हूँ, मैं ही आकाश हूँ, मैं ही देश और कालकी परम्परा हूँ, मैं ही क्रियारूप हूँ, इस प्रकारकी मेरी बुद्धि है । इसलिए मैं अनामय होकर चिरजीवी हूँ ॥ ३७ ॥

क्या सर्वत्र स्थलमें विद्यमान जड़ताको लेकर ही तुम अहंबुद्धि करते हो, नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं—'घट०' इत्यादिसे ।

घट चित्स्वरूप है, पट चित्स्वरूप है, आकाश चित्स्वरूप है, अरण्य और शकट भी चित्स्वरूप हैं, चित् ही सब कुछ है, इस प्रकार मेरी भावना है, इसलिए अनामय होकर चिरजीवी हूँ ॥ ३८ ॥

उपसंहार करते हैं—'इत्यहम्' इत्यादिसे ।

हे मुनिशार्दूल, मेरुरूपी पद्मबीजके कोषमें (कमलके छत्तेमें) रहने तथा श्यामरूप होने के कारण मैं लोकत्रयरूपी कमलका मानो एक तरहसे भ्रमर हूँ और पूर्वोक्त विभिन्न-विभिन्न भावनाओंके कारण लोगोंके द्वारा भुशुण्ड नामका चिरजीवी द्रोणकौआ व्यवहृत हुआ हूँ ॥ ३९ ॥

ब्रह्मार्णवे विलुलितं त्रिजगत्तरङ्ग-
मुत्पादनाद्यभिभवेन विभिन्नरूपम् ।
आलीनमुन्नमितमाकुलदृश्यदृश्य-
मालोकयन् प्रकलयंश्च चिरं स्थितोऽस्मि ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्याने चिरजीवितहेतुकथनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

एतत्ते कथितं ब्रह्मन् यथाऽस्मि यदिहाऽस्मि च ।
त्वदाज्ञामात्रसिद्ध्यर्थं धाष्टर्येन ज्ञानपारग ॥ १ ॥

हे ब्रह्मन् , ब्रह्मरूपी समुद्रमें चलायमान; उत्पत्ति, वृद्धि, विपरिणाम और अपक्षयरूप अभिभवोंसे (एक दूसरेकी टक्करोंसे) प्राप्त हुए चित्र-विचित्र रूपोंसे युक्त ; पूर्वोक्त रीतिसे बार-बार आविर्भूत एवं विलीन हुए तथा साक्षी द्वारा भासमान बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों के विषयीभूत भ्रमणशील त्रिजगद्रूपी तरङ्गोंको व्युत्थानकालमें देखता हुआ और समाधि-कालमें विलापित करता हुआ मैं चिरकालसे स्थित हूँ ॥ ४० ॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सत्ताईसवाँ सर्ग

[जानेकी इच्छा कर रहे वसिष्ठजी द्वारा भुशुण्डकी प्रशंसा, भुशुण्ड द्वारा वसिष्ठजीका पूजन तथा आकाशमार्गसे वसिष्ठजीकी स्वलोकप्राप्ति—इनका वर्णन]

भुशुण्ड ने कहा—हे ज्ञानके पारंगत ब्रह्मन् , एकमात्र आपकी आज्ञाका परिपालन करनेके लिए ही धृष्टताका अवलम्बन कर जिस प्रकारसे मैं चिरजीवी हूँ और जिस प्रकारसे परमार्थरूप इस कार्यकरणसंघातरूप देहमें मेरी स्थिति है, वह सब कुछ मैंने आपसे कह दिया ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अहो नु चित्रं भगवन् भवता भूषणं श्रुतेः ।
आत्मोदन्तः प्रकथितः परं विस्मयकारणम् ॥ २ ॥
धन्यास्ते ये महात्मानमत्यन्तचिरजीवनम् ।
भवन्तं परिपश्यन्ति द्वितीयमिव पद्मजम् ॥ ३ ॥
यावदद्य दृशो धन्याः स्वात्मोदन्तमखण्डितम् ।
यथावत्पावनं बुद्धेः सर्वं कथितवानसि ॥ ४ ॥
प्रभ्रान्तं दिक्षु सर्वासु दृष्टा विबुधभूतयः ।
भवानिव जगत्यस्मिन्न महानवलोकितः ॥ ५ ॥
कथञ्चित् प्राप्यते कश्चिद्भ्रान्त्वेह हि महाजनः ।
न भवानिव भव्यात्मा सुलभो जगति क्वचित् ॥ ६ ॥
वंशखण्डे हि कस्मिंश्चिज्जायते मौक्तिकं यथा ।
जगत्खण्डे हि कस्मिंश्चिद्दृश्यते त्वादृशस्तथा ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज, कितने हर्षका विषय है कि आपने अपने प्राण-चिन्तन एवं चिरजीवनकी कहानी, जो सुनने योग्य कहानियोंमें भूषणस्वरूप तथा अनेकविध विस्मयोंके उत्पादनमें परम कारणभूत है, मुझसे कही ॥ २ ॥

पक्षिराज, वे महात्मा धन्य हैं, जो दूसरे ब्रह्मदेवके समान स्थित अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करते हैं ॥ ३ ॥

हे पक्षिराज, ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं जो तबसे लेकर अबतक आपके दर्शन करते रहे । आपने बुद्धिको पवित्र करनेवाला अखण्डित (अक्षरशः अपना सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्त) ज्योंका त्यों ठीक ठीक कहा ॥ ४ ॥

वायसराज, मैंने सब दिशाओंमें परिभ्रमण किया और देवताओं एवं बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं की ज्ञान आदि सम्पतियां देखीं, परन्तु इस जगत्में आपके सदृश दूसरे किसी महान् ज्ञानीको नहीं देखा ॥ ५ ॥

वायसराज, प्रयत्नसे दीर्घकाल तक परिभ्रमण कर कोई किसी महाव्यक्तिको किसी तरह प्राप्त कर सकता है, परन्तु आपके सदृश भव्यात्मा ज्ञानी इस जगत्में कहींपर भी सुलभ नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

जिस प्रकार किसी एक बांसके वनमें ही मोती उत्पन्न होता है, वैसे ही

मया तु सुमहत्कार्यमद्य सम्पादितं शुभम् ।
पुण्यदेहविमुक्तात्मा यद्भवानवलोकितः ॥ ८ ॥
तदस्तु तव कल्याणं प्रविशाऽऽत्मगुहां शुभाम् ।
मध्याह्नसमयो यन्मे व्रजामि सुरमन्दिरम् ॥ ९ ॥
इत्याकर्ण्य भुशुण्डोऽसौ जग्राहोत्थाय पादपात् ।
सङ्कल्पिताभ्यां हस्ताभ्यामुपात्तं हेमपल्लवम् ॥ १० ॥
कल्पवृक्षलतापुष्पकेसरेण हिमत्विषा ।
तत्पात्रं मौक्तिकार्घ्येण पूरयामास पूर्णधीः ॥ ११ ॥
तेनाऽर्घ्यपाद्यपुष्पेण त्रिनेत्रमिव मामसौ ।
आपादमस्तकं भक्त्या पूजयामास पूर्वजः ॥ १२ ॥
अनुव्रज्याकदर्थेन खगेन्द्राऽलमिति ब्रुवन् ।
विष्टरादहमुत्थाय ततः खगवदाप्लुतः ॥ १३ ॥

आपके सदृश ज्ञानी जगत्के किसी एक कोनेमें ही दिखलाई देता है [मोतियोंकी आठ खानोंमें बांसका भी परिगणन है] ॥ ७ ॥

भुशुण्डजी, पुण्य-देह एवं विमुक्तात्मा आपका जो यह अवलोकन किया, उससे मैंने तो आज अत्यन्त कल्याणकर एक बहुत-बड़ा कार्य सम्पादन कर लिया है ॥८॥

पक्षिराज, तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपनी शुभ गुहामें प्रवेश करो, यतः मध्याह्न-कर्तव्यके लिए मेरा समय हो गया है, अतः मैं भी अपने घर सप्तर्षि-लोकमें जा रहा हूँ ॥ ९ ॥

यह सुनकर इस भुशुण्डने वृक्षसे उठकर सङ्कल्पजनित हाथोंसे प्राप्त सुवर्ण-पल्लवका (सुवर्णपल्लवमय पात्रका) ग्रहण किया ॥ १० ॥

तदनन्तर पूर्णप्रज्ञ उस वायसराजने कल्पवृक्षकी लताके पुष्पकेसरोंसे युक्त, हिमके सदृश कान्तिवाले अर्घोपयोगी मोतीरूपी जलसे उस पात्रको भर दिया ॥ ११ ॥

श्रीरामजी, उक्त अर्घ्य, पाद्य और पुष्पसे संसारमें सबसे पहले उत्पन्न हुए यानी चिरन्तन इस भुशुण्डने तीन नेत्रवाले महादेवजीके सदृश मेरी पैरसे लेकर मस्तकपर्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की ॥ १२ ॥

तदनन्तर हे खगेन्द्र, आप मेरे पीछे चलनेके लिए अधिक श्रम न करें, इस प्रकार कहता हुआ मैं आसनसे उठकर पक्षीकी नाईं उड़ गया ॥ १३ ॥

व्योम्नि योजनमात्रं तु मदनुव्रज्यया गतः ।
करं करेणाऽवष्टभ्य बलात् संरोधितः खगः ॥ १४ ॥
मयि याते क्षणेनैव गगनाध्वन्यदृश्यताम् ।
निवृत्तोऽसौ विहङ्गेन्द्रो दुस्त्यजा सङ्गतिः सताम् ॥ १५ ॥
अन्योन्यमपि कस्मिंश्चित्तरङ्गक इवाऽम्बुधौ ।
व्योमन्यदृश्यतां यातो खगस्मृत्या मुनीनहम् ।
सप्तर्षिमण्डलं प्राप्य जायया परिपूजितः ॥ १६ ॥
याते कृतयुगस्याऽऽदौ पुरा वर्षशतद्वये ।
संगतोऽहं भुशुण्डेन मेरोः शृङ्गद्रुमेऽभवम् ॥ १७ ॥
अद्य राम कृते क्षीणे त्रेता संप्रति वर्तते ।
मध्ये त्रेतायुगस्याऽस्य जातस्त्वं रिपुमर्दन ॥ १८ ॥
पुनरद्याऽष्टमे वर्षे तत्रैवोपरि भूभृतः ।
मिलितोऽभूद्भुशुण्डो मे तथैवाऽजररूपवान् ॥ १९ ॥

हे श्रीरामजी, मेरे पीछे-पीछे अनुगमन द्वारा आकाशमें वह पक्षिराज एक योजनतक चलता रहा। इसके बाद मैंने अपने हाथसे उसका हाथ पकड़कर बलपूर्वक उसे रोक दिया ॥ १४ ॥

क्षणभरमें ही मैं आकाशमार्गमें जब अदृश्य हो गया, तभी वह पक्षिराज अपने स्थानके लिए लौटा। ठीक ही है, सज्जनोंकी सङ्गतिका बड़ी कठिनाईसे त्याग होता है ॥ १५ ॥

हे श्रीरामजी, आकाशमार्गमें कुछ दूर जाकर, समुद्रमें तरङ्गकी नाईं, हम दोनों ही एक दूसरेके प्रति कहीं अदृश्य हो गये। भुशुण्डका निरन्तर स्मरण करते हुए अरुन्धतीसे पूजित मैंने भी सप्तर्षि-मण्डलको प्राप्तकर मुनियोंका दर्शन किया ॥१६॥

उक्त भुशुण्ड-सङ्गतिका समय कहते हैं—'याते' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, सत्ययुगके प्रथम दो शतक जब व्यतीत हो चुके थे, तब मेरुपर्वतके तथाकथित कल्पवृक्षपर भुशुण्डके साथ मैंने पहले-पहल भेंट की थी ॥ १७ ॥

हे श्रीरामजी, आजकल वर्तमान समयमें सत्ययुगके क्षीण होनेपर त्रेतायुग चल रहा है और हे रिपुमर्दन, इस त्रेतायुगके बीचमें आपने जन्म लिया है ॥ १८ ॥

हे श्रीरामजी, आजसे आठ वर्ष पहले सुमेरुपर्वतके उसी शिखरके ऊपर ज्योंका त्यों अजररूपधारी वह भुशुण्ड मुझसे फिर मिला था ॥ १९ ॥

इति संकथितं चित्रं भुशुण्डोदन्तमुत्तमम् ।
श्रुत्वा विचार्य चैवाऽन्तर्यद्युक्तं तत्समाचर ॥ २० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इति सुमतिभुशुण्डसत्कथां यो
विमलमतिः प्रविचारयिष्यतीह ।
भवभयबहुलाकुलास्थितां स
प्रसभमसत्सरितं तरिष्यतीति ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डोपाख्यानसमाप्तिर्नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं भुशुण्डवृत्तान्तः कथितस्ते मयाऽनघ ।
अनया प्रज्ञया तीर्णो भुशुण्डो मोहसङ्कटात् ॥ १ ॥

उपसंहार करते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, इस प्रकारका विचित्र उत्तम भुशुण्ड-वृत्तान्त मैंने आपसे कहा । उसका श्रवण और भीतरसे मनन कर जो उचित हो, उसका अनुष्ठान कीजिए ॥२०॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—इस प्रकारकी बुद्धिमान् भुशुण्डकी उत्तम कथाका जो विशुद्धमति महात्मा भली प्रकार विचार करेगा, वह इसी शरीरमें जन्मादि भयोंसे मलिन अतएव व्याकुल जीवोंके द्वारा व्याप्त हुई इस माया-नदीको बलात् पार कर जायगा ॥२१॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

[भुशुण्डाख्यायिकाका सम्बन्ध, देहकी अनिश्चितता तथा देहादिमें आपाततः भ्रान्तिरूपता का वर्णन]

वर्णित भुशुण्डाख्यायिकाका उपक्रान्त उपदेशके साथ सम्बन्ध बतलाते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप श्रीरामजी, इस प्रकारका भुशुण्ड-वृत्तान्त मैंने आपसे कहा । आख्यायिकामें वर्णित इसी तात्त्विक बुद्धिके कारण मोहसंकटसे भुशुण्ड तैर गया था ॥ १ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य स्वप्राणाभ्यासपूर्विकाम् ।
भुशुण्डवन्महाबाहो भव तीर्णमहार्णवः ॥ २ ॥
यथा ज्ञानेन योगेन सन्तताभ्यासजन्मना ।
भुशुण्डः प्राप्तवान् प्राप्यं तथाऽऽसादय तत्पदम् ॥ ३ ॥
असक्तबुद्धयः सर्वे भुशुण्डवदवस्थितिम् ।
प्राप्नुवन्ति परे तत्त्वे प्राणापानावलोकिनः ॥ ४ ॥
एता विचित्रा भवता श्रुता विज्ञानदृष्टयः ।
इदानीं धियमालम्ब्य यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् भवता भूमिभास्वता ज्ञानरश्मिभिः ।
हार्दमुद्दामदौरात्म्यं प्रमृष्टमखिलं तमः ॥ ६ ॥

हे महाबाहो, अपने प्राणके निरोध या उपासन पूर्वक इस दृष्टिका अवलम्बन कर आप भुशुण्डकी नाईं विपुल महासागरसे तैर जाइए ॥ २ ॥

श्रीरामजी, निरन्तर प्राणोपासनासे जनित ज्ञानात्मक योगसे जिस प्रकार भुशुण्डने प्राप्तव्य ब्रह्म-पद प्राप्त किया, उसी प्रकार आप भी उस पदको प्राप्त कर लीजिए ॥ ३ ॥

उक्त प्राण और अपान की उपासना करनेवाले सभी अनासक्तमति, भुशुण्डकी नाईं, परमपदमें स्थिति प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

हे श्रीरामजी, इन सब विचित्र विज्ञानोपासनाओंका आपने श्रवण किया। अब बुद्धिका अवलम्बन कर जैसा चाहें, वैसा करें यानी अपनी आत्मनिष्ठा योगपूर्वक या उपासनापूर्वक जैसी चाहें वैसी करें ॥ ५ ॥

योग और उपासना की कथा जाने दीजिए महाराज, हमें तो एकमात्र आपके उपदेशके श्रवणसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका है, यों सूचन कर रहे श्रीरामचन्द्रजी कथाप्रसंगसे प्राप्त हुए देहरूपी घरके केवल स्वरूपकी ही जिज्ञासासे पुनः प्रश्न करते हैं—'भगवन्' इत्यादिसे।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, पृथ्वीमें अवतीर्ण हुए दूसरे सूर्यके सदृश आपने ज्ञानकी किरणोंसे हृदयगत समस्त अन्धकारका, जो अनात्मपदार्थोंमें

प्रबुद्धाः स्मः प्रहृष्टाः स्मः प्रविष्टाः स्मः स्वमास्पदम् ।
स्थिताः स्मो ज्ञातविज्ञेया भवन्तो ह्यपरा इव ॥ ७ ॥
अहो भुशुण्डचरितं परं विस्मयकारकम् ।
भगवन् भवता प्रोक्तमुत्तमार्थावबोधनम् ॥ ८ ॥
भुशुण्डचरिते ब्रह्मन्नेतस्मिन् कथिते त्वया ।
यच्छरीरगृहं प्रोक्तं मांसचर्मास्थिनिर्मितम् ॥ ९ ॥
तत्केन नाम रचितं कुतो वा तत्समुत्थितम् ।
कथं वा स्थितिमायातं को वा तत्राऽवतिष्ठते ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

परमार्थावबोधाय दोषापाकरणाय च ।
शृणु राघव तत्त्वेन वक्ष्यमाणमिदं मया ॥ ११ ॥
अस्थिस्थूणं नवद्वारं रक्तमांसावलेपनम् ।
शरीरसदनं राम न केनचिदिदं कृतम् ॥ १२ ॥

स्वात्मत्वबुद्धि तथा तज्जनित दुष्टचेष्टारूपी निरंकुश दौर्जन्यका सम्पादक था, विनाश कर डाला ॥ ६ ॥

महाराज, आपके ही सदृश दूसरे हम लोग भी प्रबुद्ध हो गये, प्रसन्न हो गये, प्राप्तव्य अपने आत्मपदमें प्रविष्ट हो गये और हो गये ज्ञातज्ञातव्य होकर स्थित ॥७॥

भगवन्, उत्तम अर्थका अवबोधक तथा आश्चर्यजनक सर्वश्रेष्ठ भुशुण्डका चरित्र जो आपने कहा, उससे अहा ! मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन्, आपके द्वारा कहे गये इस भुशुण्ड-चरित्रमें मांस, चर्म और अस्थि से निर्मित शरीररूपी घरका जो उल्लेख किया गया है, उसकी किसने रचना की, कहाँसे वह उत्पन्न हुआ, किस तरहसे स्थित हुआ और उसमें कौन रहता है [शरीरका कर्ता, हेतु, उसकी स्थितिका प्रकार और उसमें रहनेवाला स्वामी—इन चारोंके विषयमें यहाँ प्रश्न किये गये हैं ।] ॥ ९, १० ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, परब्रह्मरूप परमार्थ तत्त्वको जाननेके लिए तथा संसारहेतु अनेक दोषोंके विनाशके लिए मेरे द्वारा तत्त्वतः कहे जानेवाले इस उपदेशको आप सुनिए ॥ ११ ॥

पहले प्रश्नका उत्तर देते हैं—'अस्थि०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, इस शरीररूपी घरका—जिसमें हड्डियाँ ही खम्भे हैं, मुख आदि

आभासमात्रमेवेदमित्थमेवाऽवभासते ।
द्विचन्द्रविभ्रमाकारं सदसच्च व्यवस्थितम् ॥ १३ ॥
द्विचन्द्रदर्शनविधौ चन्द्रद्वित्वं सदैव हि ।
वस्तुतश्चैक एवेन्दुः स्थितो देहस्तथैव हि ॥ १४ ॥

नव दरवाजे हैं और जो रक्त और माँस से लिपा गया है—वास्तवमें किसीने भी निर्माण नहीं किया है ॥ १२ ॥

श्रुति और पुराण की आख्यायिकाओंमें यह प्रसिद्ध है कि इस देहका निर्माण करनेवाला ईश्वर है और जीव तो अपने कर्मोंके उपभोगके लिए इसका निर्माण करानेवाला है, फिर इन दोनोंका अपलाप आप कैसे करते हैं? यदि ऐसी कोई शङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'**आभासमात्र०**' इत्यादिसे।

हे राघव, यह शरीर केवल आभासरूप (झलकमात्र) ही है, बिना निर्माताके ही अवभासित होता है, द्विचन्द्रविभ्रमके सदृश इसका स्वरूप मिथ्या है तथा प्रतीतिकालमें सद्रूपसे और परमार्थदशामें असद्रूपसे स्थित रहता है [जैसे जलमें गिरा चन्द्रप्रतिबिम्ब एवं चक्षुपर अङ्गुलि रखनेसे हुआ द्वितीय चन्द्रमाका विभ्रम निर्माताकी अपेक्षा नहीं रखता, वैसे ही आभासमात्र यह शरीर भी निर्माताकी अपेक्षा नहीं रखता। श्रुतिमें प्रसिद्ध जो ईश्वरनिर्मातृत्व है, वह पुरुषनिःश्वास-दृष्टान्त देखनेसे मुख्य प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार जीवका निर्माण-कारित्व भी मुख्य नहीं है, क्योंकि वैसा निर्माण करानेमें न कोई बुद्धिका उपयोग है और न कोई अनिष्टका निर्माण ही कराता है।] ॥ १३ ॥

देहमें मिथ्यात्व तो प्रतीतिकालमात्रस्थायी होनेके कारण चन्द्रद्वैतताकी नाईं ही प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'**द्विचन्द्र०**' इत्यादिसे।

जैसे चन्द्रमाकी द्वैतता दो चन्द्रोंके दर्शनकी क्रियाके होनेपर ही यानी चक्षुको अङ्गुलिसे दबानेपर ही प्रतीत होती है, वास्तवमें तो चन्द्रमा सदा एक ही है, वैसे ही आत्माके देहवैशिष्ट्य-ज्ञानक्रियाके होनेपर ही देह प्रतीत होती है, वस्तुतस्तु आत्मा निरन्तर एक ही है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रतीयमान चन्द्रद्वैतता जैसे विभ्रममात्र है, वैसे ही प्रतीयमान यह देह भी विभ्रममात्र ही है ॥ १४ ॥

देहप्रत्ययकाले हि देहोऽयं समवस्थितः ।
असन्नेव च सत्तस्मात् प्रोक्तः सदसदात्मकः ॥ १५ ॥
स्वप्ने स्वप्नावबोधः संस्त्वन्यदा स मुधैव हि ।
बुद्बुदो बुद्बुदविधौ सत्यो मिथ्यैव चाऽन्यदा ॥ १६ ॥
देहो देहविधौ सत्यो ह्यसत्य इतरद्विधौ ।
प्रतिभासविधौ तावज्जलं सदसदन्यदा ॥ १७ ॥
प्रतिभासविधौ देहः सन्नसंश्चाऽन्यदा स्मृतः ।
आभासमात्रमेवेदमित्थं सम्प्रति भासते ॥ १८ ॥
अयं नामाऽहमित्यन्तर्गृहीतमननं स्थितम् ।
मांसास्थिमयनिर्माणदेहोऽहमिति विभ्रमम् ।
त्यज सङ्कल्पनिर्माणदेहाः सन्ति सहस्रशः ॥ १९ ॥

उक्त अर्थका ही स्पष्टीकरण करते हैं—'देह०' इत्यादिसे ।

यद्यपि वास्तवमें देह असत् ही है; तथापि 'यह देह है', इस प्रकार देह-प्रतीतिके कालमें अधिष्ठान-सत्ताको लेकर ही यह शरीर सत्-सा स्थित रहता है, इसलिए यह सदसदात्मक कहा गया है ॥ १५ ॥

असत्में सत्त्वका भ्रम कहाँ देखा गया है, इस शङ्कापर कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

स्वप्न-दशामें ही प्रतीयमान स्वाप्निक पदार्थ सत्-से प्रतीत होते हैं और दूसरे समयमें स्वाप्निक पदार्थ मिथ्या ही हैं । बुद्बुदोंके साक्षात्कारके समय बुद्बुद सत्य-से प्रतीत होते हैं, पर दूसरे समयमें तो वे मिथ्या ही हैं ॥ १६ ॥

देहकी प्रतीति होनेपर देह सत्य-सी है और आत्माकी प्रतीति होनेपर असत्य है । मृगतृष्णिका-जल भी मृगतृष्णिकाका प्रतिभास होनेपर सत्-सा रहता है और अन्यकालमें असत् ही रहता है ॥ १७ ॥

[उपर्युक्त विविध दृष्टान्तोंसे यह निश्चित हुआ कि] देहकी प्रतीति होनेपर ही देह सत्य-सी प्रतीत होती है, अन्य समयमें असत् ही है, इसलिए यह शरीर आदि, जो केवल आभासरूप ही है, अज्ञानदशामें ही भासते हैं ॥ १८ ॥

शरीर आदिमें आभासमात्रत्वका उपपादन कर रहे महाराज वसिष्ठजी उसमें अभिमानका परित्याग कराते हैं—'अयम्' इत्यादिसे ।

सुखतल्पगतो येन स्वप्नदेहेन. दिक्तटान् ।
परिभ्रमसि हे राम स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २० ॥
जागरायां मनोराज्ये येन स्वर्गपुरान्तरम् ।
परिभ्रमसि मेरुं वा स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २१ ॥
स्वप्नेष्वपि च यः स्वप्नस्तत्र येन महीतटान् ।
परिभ्रमसि हे राम स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २२ ॥
मनोराज्यं मनोराज्ये महद्विभवभूमिषु ।
परिभ्रमसि येनेह स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २३ ॥
गतैर्देहैर्मनोराज्ये या विचित्रा जगत्क्रियाः ।
प्रकरोषि महाबाहो ते देहास्ते क्व संस्थिताः ॥ २४ ॥

हे श्रीरामजी, 'यह शरीर ही मैं हूँ' यह जो अनुभव होता है, वह पूर्वमें गृहीत देहाकार मनन ही है यानी देहाकार मनन ही संस्कारोंकी दृढ़तासे बार-बार देहके आकारमें स्थित रहता है; इसलिए मांस और अस्थि के विकारोंसे बना शरीर ही 'मैं हूँ' इस अभिमानका आप परित्याग कर दीजिए। भद्र, मिथ्या-संकल्पसे जनित ये हजारोंकी संख्यामें देह विद्यमान हैं ॥ १९ ॥

संकल्पजनित देहोंकी ही उदाहरणपूर्वक असत्यता बतलाते हैं—'सुख-तल्प०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, भला यह आप बतलाइए कि सुखशय्यापर सोये हुए आप जिस स्वप्न-देहसे विविध दिग्-मण्डलमें परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह किस स्थानमें स्थित है ? ॥ २० ॥

जाग्रत्-दशामें भी मनोराज्यमें जिस देहसे स्वर्गीय नगरोंके अन्दर या मेरु-पर्वतपर आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥ २१ ॥

हे श्रीरामजी, स्वप्नोंमें भी जो दूसरा स्वप्न आता है, उस स्वप्नमें जिस देहसे बड़े-बड़े पृथिवी-तटोंपर आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥ २२ ॥

हे महाबाहो, मनोराज्यके भीतर कल्पित दूसरे मनोराज्यमें बड़ी-बड़ी विभवपूर्ण भूमियोंमें जिस देहसे आप परिभ्रमण करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥ २३ ॥

हे महाबाहो, कल्पनाविनाशके अनन्तर विनष्ट हो जानेवाली जिन देहोंसे

विलासिन्याऽनुरागिण्या येन सङ्कल्पकान्तया ।
निर्वृतिं यासि देहेन स देहस्ते क्व संस्थितः ॥ २५ ॥
एते राम यथा देहा मनसः सदसन्मयाः ।
तथैव तादृशाचारो देहोऽयं मनसः स्मृतः ॥ २६ ॥
इदं धनमयं देहो देशोऽयमिति विभ्रमः ।
तत्सर्वं चित्तवीर्यस्य सङ्कल्पस्य विजृम्भितम् ॥ २७ ॥
दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।
दीर्घं वाऽपि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन ॥ २८ ॥

मनोराज्यमें चित्र-विचित्र जागतिक व्यापारोंका अनुष्ठान करते हैं, वे आपकी देह कहाँ स्थित रहती हैं ? ॥ २४ ॥

हे श्रीरामजी, विलासनिपुण तथा अनुरक्ता सङ्कल्पित कान्ताके साथ जिस देहसे रति-सुखका अनुभव करते हैं, वह आपकी देह कहाँ स्थित है ? ॥ २५ ॥

उन स्वप्न-देह आदिमें मिथ्यात्व एवं कल्पितत्व आदिका निश्चय होनेके कारण प्रस्तुत देहमें भी उसका साधन करते हैं—'एते' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, ये शरीर जिस प्रकार मानसिक संकल्पसे जनित सत् और असद्रूप हैं, ठीक उसी प्रकार यह प्रस्तुत शरीर भी मानसिक सङ्कल्पसे जनित, सद्रूप, असद्रूप है और वैसा ही आचरण करनेवाला है ॥ २६ ॥

अहन्ताध्यासके विषय शरीरमें दिखलाया गया न्याय ममता-अध्यासके विषय धन आदिमें भी समान ही है, इस आशयसे कहते हैं—'इदं धन०' इत्यादिसे ।

यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है, इस प्रकारकी जो प्रतीति होती है, वह भी विभ्रमात्मक ही है, क्योंकि धन आदि सभी कुछ चित्त-जनित सङ्कल्पका ही विजृम्भण (विलास) है ॥ २७ ॥

जाग्रत् देहादिमें स्वाप्न देहादिसे जो पार्थक्य प्रतीत होता है, वह एकमात्र दीर्घकालानुवृत्तिसे ही होता है, न कि सत्यत्व, सङ्कल्पाजनितत्व आदिसे, इस आशयसे कहते हैं—'दीर्घ०' इत्यादिसे ।

हे रघुनन्दन, आप इस संसारको एक तरहका दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तविभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझिए ॥ २८ ॥

प्रबोधमेष्यसि यदा परमात्मेच्छया स्वया ।
द्रक्ष्यसि त्वं तदा सम्यगिदमर्कोदये यथा ॥ २९ ॥
स्वप्नसङ्कल्पजालेन यथाऽन्यैव जगत्स्थितिः ।
तथैवेयं हि सङ्कल्पकलना काचिदेव हि ॥ ३० ॥
यथा पूर्वं मयोत्पत्तिः प्रोक्ता कमलजन्मनः ।
मनसः स्वयमेवाऽन्तःसङ्कल्पकलनोद्भवा ॥ ३१ ॥
विचित्ररचनोपेतं मनस्तत्राऽऽत्तविभ्रमम् ।
सङ्कल्पकलनामात्रं तथेदमवभासनम् ॥ ३२ ॥
यथा कल्पित आभासो मनसोऽब्जजतां गतः ।
देहाद्विचिन्तितो देहः स्थितोऽन्यस्तद्वदेव हि ॥ ३३ ॥

इसीलिए आत्मतत्त्व-साक्षात्कारसे इस संसारकी बाध्यरूपता भी उपपन्न हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'**प्रबोध०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, निजी परमात्माकी इच्छासे जब आप तत्त्वज्ञानको प्राप्त होंगे, तब आप इस संसारको इस तरह आत्ममात्ररूप देखेंगे, जिस तरह सूर्योदय होनेपर प्रबुद्ध हुआ पुरुष स्वाप्निक पदार्थोंको आत्मरूप देखता है ॥ २९ ॥

हे श्रीरामजी, स्वप्न और सङ्कल्पों से (मनोराज्योंसे) जैसे एक विलक्षण ही जगत्की स्थिति प्रतीत होती है, वैसे ही यह व्यावहारिक जगत्की स्थिति भी एक प्रकारसे सङ्कल्पजनित एवं विलक्षण (अनिर्वचनीय) ही है ॥ ३० ॥

कथित अर्थके विषयमें पहले उत्पत्ति-प्रकरणमें विस्तारसे जो कहा गया था, उसका स्मरण कराते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसे मैंने पहले कमलोद्भव ब्रह्मदेवकी उत्पत्ति मनसे कही है, वैसे ही यह जगत्की उत्पत्ति भी स्वयं मनके भीतरी सङ्कल्पकलनसे ही हुई है ॥ ३१ ॥

जैसे चित्र-विचित्र रचनाओंसे युक्त तथा अनेक प्रकारके विभ्रमोंसे ग्रस्त मन ही ब्रह्माकी उत्पत्तिमें कारण है, वैसे ही यह जगदवभासमें भी एकमात्र सङ्कल्पकलनरूप मन ही कारण है ॥ ३२ ॥

ऐन्दवके उपाख्यानमें जो कहा जा चुका है, उसका भी स्मरण करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'**यथा कल्पित०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, ब्रह्माजीके मनसे सङ्कल्पित चिदाभास जिस प्रकार ब्रह्माजीकी

प्राक्प्रवाहचिराभ्यस्तो वासनातिशयेन यः ।
तथैव दृश्यते देहस्तथाऽऽकृत्युदयेन सः ॥ ३४ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन सङ्कल्पो ह्ययमेव चित् ।
अन्यथा भाव्यते राम भूयते तदिहाऽन्यथा ॥ ३५ ॥
अयं सोऽयं ममाऽयं च संसार इति भाविते ।
सत्यो यो भाव्यते राम भावनादार्ढ्यसम्भवः ॥ ३६ ॥
भावितं तीव्रवेगेन यदेवाऽऽशु तदेव हि ।
सर्वत्र दृश्यते राम कान्तेवाऽत्यन्तवल्लभा ॥ ३७ ॥
अहर्व्यावृत्तिरभ्यस्ता यथा स्वप्नेषु दृश्यते ।
तथाऽयं भावनाभ्यस्तः संसारोऽप्यवलोक्यते ॥ ३८ ॥

स्वरूपताको प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार पूर्व देहके उत्क्रमणके समयमें सङ्कल्पित जो शरीर होता है, उसीके सदृश दूसरा शरीर आगेके लिए स्थित रहता है ॥ ३३ ॥

सुदृढ़ वासना द्वारा पहलेके शरीरप्रवाहमें दीर्घकालतक अभ्यस्त जिन-जिन अवयवोंसे सम्पन्न जैसी देह रहती है, उन्हीं अवयव-संस्थानोंसे सम्पन्न उसी प्रकारकी देह पुनः दिखलाई पड़ती है ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामजी, पुरुषके उत्तम प्रयत्नसे मनको अन्तर्मुख बनाकर आत्मतत्त्वका जब साक्षात्कार हो जाता है, तब यह जगदाकार सङ्कल्प चिद्रूप ही हो जाता है और यदि उसकी विपरीतरूपसे भावना की जाय, तो विपरीत ही हो जाता है ॥ ३५ ॥

हे श्रीरामजी, 'यह वह है', 'यह मेरा है' और 'यह मेरा संसार है' इस प्रकार भावित होनेपर देहादि जगद्रूप सङ्कल्प जो सत्य-सा प्रतीत होता है, वह केवल सुदृढ़ भावनासे ही होता है ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, अत्यन्त प्रिय कान्ताकी नाईं तीव्र वेगसे जिसकी जिस रूपसे भावना की जाती है, तत्काल ही वह तद्रूप सर्वत्र दिखलाई पड़ता है ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामजी, जिस प्रकार दिनमें अभ्यस्त व्यापार ही स्वप्नमें दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही यह संसार भी भावनासे अभ्यस्त ही दिखलाई देता है ॥ ३८ ॥

यथा स्वप्नावनौ क्षिप्रमहर्यदवभासते ।
तथेदमल्पकालस्थमपि संलक्ष्यते स्थिरम् ॥ ३९ ॥
व्योमन्येव यथा तापतप्ते संदृश्यते सरित् ।
धराऽप्यविद्यमानाऽपि सङ्कल्पाद्दृश्यते तथा ॥ ४० ॥
दृश्यते दृष्टिवैरूप्याद्यथा व्योमनि पिच्छिका ।
तथैवेयं जगल्लक्ष्मीर्दुर्ज्ञानादवभासते ॥ ४१ ॥
दृश्यते समया दृष्ट्या न यथा व्योम्नि पिच्छिका ।
सम्यग्दृष्ट्या जगल्लक्ष्मीस्तथेयं नाऽवभासते ॥ ४२ ॥
भीरुरभ्येति न यथा स्वसङ्कल्पेषु संभ्रमम् ।
स्वसङ्कल्पे हि संसारे न तथैति भयं सुधीः ॥ ४३ ॥
स्व एव हि स्वभावोऽयमित्थं सम्प्रति भासते ।
संसारसरणिस्थित्यां कस्मात्कोऽत्र बिभेति किम् ॥ ४४ ॥

शीघ्रविनाशी जो क्षण आदि काल है, वह जैसे स्वप्नभूमिमें तीस घड़ीके दिनके रूपमें दीर्घ प्रतीत होता है, वैसे ही यह संसार स्वल्पकालस्थायी होनेपर भी स्थिर (शाश्वत) लक्षित होता है ॥ ३९ ॥

जैसे सूर्यतापसे सन्तप्त मरुभूमिके आकाशमें मृगतृष्णा-नदी दिखाई देती है, वैसे ही यह अविद्यमान भी पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं त्रिलोकी सभी सङ्कल्पोंसे दिखाई देते हैं ॥ ४० ॥

श्रीरामजी, दृष्टिके वैषम्यसे आकाशमें जिस प्रकार मोरपंखोंका एक मुट्ठा-सा दिखाई देता है, वैसे ही भ्रमसे यह जगत्‌की शोभा प्रतीत होती है ॥ ४१ ॥

भद्र, विशुद्ध दृष्टिसे जैसे आकाशमें उक्त मोरपंखोंका मुट्ठा दिखलाई नहीं पड़ता, वैसे ही आत्मतत्त्व-साक्षात्काररूप विशुद्ध दृष्टिसे यह जगत्‌की शोभा दिखलाई नहीं पड़ती ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामजी, जिस प्रकार भीरु होनेपर भी पुरुष अपने मनोराज्यमें कल्पित हाथी, बाघ आदिके रहते भयको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही तत्त्वज्ञ पुरुष अपने मानसिक सङ्कल्पोंसे जनित इस संसारके रहते भयको प्राप्त नहीं होता ॥ ४३ ॥

चूँकि, बहिर्मुखतादशामें यह अपनी आत्मा ही इस प्रकार जगद्रूपमें भासती है,

स एव किञ्चित्संशोध्यः शुद्धया विमलतां गते ।
तस्मिन्न दृश्यते राम मोहोऽयं जगतः स्थितः ॥ ४५ ॥
सम्यगालोकमात्रेण स्वभावः शुद्धिमृच्छति ।
न गृह्णाति मलं भूयस्ताम्रतामिव काञ्चनम् ॥ ४६ ॥
आभासमात्रमेवेदं न सन्नाऽसज्जगत्त्रयम् ।
इत्यन्यकलनात्यागः सम्यगालोकनं विदुः ॥ ४७ ॥
मरणं जीवितं स्वर्गो ज्ञानमज्ञानमेव च ।
चिदाभासादृते नास्तीत्येकता सम्यगीक्षणम् ॥ ४८ ॥

इसलिए कौन विद्वान् इस संसाररूपी मार्गकी स्थितिमें किससे क्योंकर डरेगा ? ॥ ४४ ॥

हे श्रीरामजी, उसीकी कुछ शुद्धि करनी चाहिए, जो कि भयभीत होता है। शुद्धिसे विमल हुए अद्वय आत्मामें यह मोह, जो जगत्के लिए स्थित है, दिखलाई नहीं पड़ता ॥ ४५ ॥

किस उपायसे आत्मा शुद्ध होता है, इस प्रश्नपर शुद्धिका उपाय बतलाते हैं—'**सम्यगालोक०**' इत्यादिसे ।

भद्र, सम्यक् तत्त्वज्ञानरूपी एकमात्र आलोकसे ही आत्मा शुद्ध हो जाती है, इस प्रकार शुद्ध हुई आत्मा फिर मोह आदि मलका उस प्रकार ग्रहण नहीं करती, जिस प्रकार भ्रान्तिके कारण ताम्ररूपसे गृहीत हुआ सुवर्ण अग्निसे विशुद्ध होनेपर पुनः ताम्ररूपताका ग्रहण नहीं करता ॥ ४६ ॥

दर्शनमात्रसे आत्माकी शुद्धि कैसे होती है ? इस शङ्कापर दृश्यरूप मल एकमात्र आभासरूप ही है इससे, ऐसा कहते हैं—'**आभास०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये तीनों जगत् एकमात्र आभासस्वरूप ही हैं। वे न तो सद्रूप हैं और न असद्रूप ही हैं, इसलिए तत्त्वज्ञान ही आत्मातिरिक्त कल्पित पदार्थोंकी निवृत्ति है ॥ ४७ ॥

तब सम्यग्ज्ञान कैसा है, उसे कहते हैं,—'**मरणम्**' इत्यादिसे ।

मरण, जीवन, स्वर्ग, ज्ञान और अज्ञान कुछ भी चैतन्य पदार्थको छोड़कर दूसरा पदार्थ नहीं है, इसलिए चिन्मात्र-परिशेष ही तत्त्वज्ञान है ॥ ४८ ॥

त्वमहन्तादिसंसार इति मे न दिशो दश ।
सर्वं स्वाभासमेवेति सम्यगालोकनं विदुः ॥ ४९ ॥
सदसन्मयसंसारे यथाभूतार्थदर्शनात् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति सम्यगालोकनान्मनः ॥ ५० ॥
निर्णीय सर्वभावानामसत्त्वं सत्त्वमेव च ।
निष्कामं शान्तिमभ्येति सम्यगालोकनान्मनः ॥ ५१ ॥
न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न शोचति ।
शीतलां सत्यतामेति सम्यगालोकनान्मनः ॥ ५२ ॥
अवश्यमेव मर्तव्यं सर्वैरेव हि बन्धुभिः ।
इति बन्धुवियोगेषु किं वृथा परितप्यसे ॥ ५३ ॥

त्वम् (अपनेसे भिन्न दूसरा चेतन), अहम् (अपनी देहके सदृश परिच्छिन्न चेतन) आदि स्वरूप संसार और उनकी आधारभूत दसों दिशाएँ— ये सब दृश्य मुझसे पृथक् दूसरे नहीं हैं, किन्तु स्वप्रकाश आत्मस्वरूपभूत ही हैं और दूसरा तो एकमात्र आभास ही है; इस प्रकारका जो ज्ञान है, उसे विद्वान् लोग सम्यग्ज्ञान कहते हैं ॥ ४९ ॥

सम्यग्ज्ञानका फल कहते हैं—'सदसन्मय०' इत्यादिसे ।

सत् और असद्रूप संसारमें यानी ब्रह्म और माया दोनोंसे जनित विषय-कलापोंमें यथाभूत आत्मतत्त्वदर्शनरूप सम्यग्ज्ञानसे मन न उदित होता है और न अस्त ही होता है ॥ ५० ॥

सम्यक् तत्त्वज्ञानके कारण घटादि समस्त पदार्थोंकी सत्ता और असत्ता का निर्णय करनेके अनन्तर विषय-कामनासे शून्य हुआ मन तत्त्वज्ञानके प्रभावसे शान्त हो जाता है ॥ ५१ ॥

सम्यग्ज्ञानके प्रभावसे मन सत्य और शीतल हो जाता है। वह न तो किसीकी निन्दा करता है और न किसीकी स्तुति। वह न प्रसन्न होता है और न शोक ही करता है ॥ ५२ ॥

अपनी मुक्ति होनेपर भी बन्धुजनोंके बन्धनकी निवृत्ति न होनेके कारण उनके मरण आदिके अवलोकनसे जनित सन्तापकी निवृत्ति तो हो नहीं सकती, इसपर कहते हैं—'अवश्यमेव' इत्यादिसे ।

अवश्यमेव च मया मर्तव्यमिति निश्चयः ।
इत्यात्ममरणप्राप्तौ किं मुधा परितप्यसे ॥ ५४ ॥
अवश्यमेव जातेन किञ्चित्सुविभवादिकम् ।
प्राप्तव्यं पुरुषेणेति हर्षस्याऽवसरो हि कः ॥ ५५ ॥
सर्वस्यैव हि संसारे नरस्य व्यवहारिणः ।
अर्थायाता भवत्यापच्छोकस्याऽवसरो हि कः ॥ ५६ ॥
बृंहत्युदेति स्फुरति बुद्बुदौघ इवाऽर्णवे ।
इदं हि जगतां जालं किमत्र परिदेवना ॥ ५७ ॥
सत्सदेव सदैवैतदसदेवाऽसदेव हि ।
क्रियावैचित्र्यमात्रे तु किमन्यत् परिदेव्यते ॥ ५८ ॥
नाऽहमस्मि न चाऽभूवं भविष्यामि न सोऽधुना ।
देहोऽयं चित्रदोषोत्थः किमन्यत्परिदेव्यते ॥ ५९ ॥

श्रीरामजी, चूँकि सभी बन्धुजनोंको तो अवश्य ही मरना है, इसलिए उन बन्धुजनोंका वियोग होनेपर आप निरर्थक क्यों सन्तप्त होते हैं ॥ ५३ ॥

अज्ञानदशामें अपने मरणकी आशङ्कासे होनेवाला सन्ताप भी इसी उपायसे निवृत्त हो सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'अवश्यमेव' इत्यादिसे ।

हमें भी अवश्य ही मरना है, यह अटल निश्चय है, इसलिए अपने मरणका समय उपस्थित होनेपर क्यों व्यर्थ खिन्न होते हैं ॥ ५४ ॥

उत्पन्न हुआ पुरुष कुछ न कुछ उत्तम वैभव आदि अवश्य ही प्राप्त करेगा, इसलिए हर्षका अवसर ही क्या ? ॥ ५५ ॥

इस संसारमें व्यवहार कर रहे सभी मनुष्योंको दरिद्रता आदि आपदाएँ आनुषङ्गिकरूपसे प्राप्त हुआ ही करती हैं, फिर शोकका अवसर क्या ? ॥ ५६ ॥

यह जगत्-समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढ़ता है और विकसित होता है, जैसे समुद्रमें बुद्बुदोंका समूह; फिर इस विषयमें शोक ही क्या ? ॥ ५७ ॥

जो त्रिकालाबाधित सत्यरूप वस्तु है, वह सदा ही सत्यस्वरूप है और जो असत्यरूप वस्तु है, वह सदा ही असत्स्वरूप है, वह कभी भी सद्रूपताको प्राप्त नहीं होती, इसलिए मायारूप विकृतिके वैचित्र्यसे प्रतीयमान इस प्रपञ्चमें ऐसी दूसरी कौन वस्तु है, जिसके विषयमें शोक किया जाय ? ॥ ५८ ॥

मैं न वर्तमानमें हूँ, न वह मैं भूतकालमें था और न भविष्यत्में रहूँगा ही ।

देहाच्चेदन्य एवाऽहं चिदाभासस्तदङ्ग हे ।
कौ तौ मे सदसद्भावौ यन्निष्ठं परितप्यते ॥ ६० ॥
इति निश्चयवत्स्वान्तं सम्यग्ज्ञानात्मनो मुनेः ।
नाऽस्तमेति न चोदेति न चाऽन्तं परितप्यते ॥ ६१ ॥
परतामेव नाशान्तामनुत्तमपदे स्थितः ।
आदत्ते तित्तिरी मृद्वीं तृणकोटिमिवाऽमलाम् ॥ ६२ ॥
एतदर्थमसत्येऽस्मिन्नाऽऽस्था कार्या मनागपि ।
सुरज्ज्वेव बलीवर्दो बध्यते जन्तुरास्थया ॥ ६३ ॥
अतस्त्वया दृढमिदमिति निर्णीय बुद्धितः ।
आस्थारहितया बुद्ध्या विहर्तव्यमिहाऽनघ ॥ ६४ ॥

यह शरीर केवल काम, कर्म, वासना एवं अविद्यारूपी दोषसे उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, इसलिए किस दूसरेके विषयमें शोक किया जाय ? ॥ ५९ ॥

हे भद्र, यदि 'अहम्' पदार्थ शरीरसे पृथक् ही है, यह मान लिया जाय, तो वह अविद्या-दोषसे जनित चिदाभास ही है । वे देह और चिदाभास, जो सद्-सदात्मक हैं, मेरे कौन होते हैं, जिनके विषयमें शोक किया जाय ? ॥ ६० ॥

हे प्रिय श्रीरामजी, सम्यग्ज्ञानसे युक्त मुनिका पूर्वोक्त प्रकारके निश्चयवाला अन्तःकरण न कभी अस्त होता है, न उदित होता है और न अन्तमें दुःखित ही होता है ॥ ६१ ॥

श्रीरामजी, जिस प्रकार तित्तिरी घोंसला बनानेके लिए तिनकोंके निम्न-भागके मोटे अंशोंको छोड़कर ऊपरके कोमल भागोंका ही ग्रहण करती है, उसी प्रकार सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मपदमें स्थित हुआ तत्त्वज्ञानी द्वैतबाधसे परिशिष्ट ब्रह्मरूपताका ही अवलम्बन करता है, प्रतीतिकालीन जड़-स्वरूपताका नहीं ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, संसारकी जड़ताका परित्याग करनेके लिए असत्यभूत इस संसारमें तनिक भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि आसक्तिसे ही, दृढ़ रज्जुसे बैलकी नाईं, प्राणी बद्ध हो जाता है ॥ ६३ ॥

हे अनघ, इसलिए 'यह सब ब्रह्मरूप ही है' इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियोंसे सुदृढ़ निश्चय कर आप आसक्ति-शून्य बुद्धिसे इस संसारमें विहार कीजिए ॥६४॥

कर्तव्यमेव कर्तव्यमकर्तव्यमुपेक्ष्यते ।
आस्थानास्थे परित्यज्य लीलयैव महाधिया ॥ ६५ ॥
आभासमात्रमेवेदं यस्य च प्रतिभासते ।
सोऽन्तः शीतलतामेति दिनान्ते भुवनं यथा ॥ ६६ ॥
प्रतिभासं परित्यज्य पदार्थपटलव्रजे ।
आभासमात्रसामान्यमिदमालोकयाऽनघ ॥ ६७ ॥
आभासमात्रकं राम चित्तामर्शकलङ्कितम् ।
ततस्तदपि संत्यज्य निराभासो भवोत्तम ॥ ६८ ॥
चिदाकाशमयो नित्यं सर्वगः सर्ववर्जितः ।
आभासस्य परित्यागे भवस्येकान्तनिर्मलः ॥ ६९ ॥

तब क्या आसक्तिका परित्याग कर यथेष्ट विहार करना चाहिए, इस शङ्कापर नहीं ऐसा उत्तर देते हैं—'कर्तव्यमेव' इत्यादिसे ।

भद्र, विवेक-बुद्धिसे आसक्ति और अनासक्ति का परित्याग कर अनायाससे शास्त्रविहित कर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिए, शास्त्र-अविहित कर्मोंका नहीं अर्थात् उनकी उपेक्षा ही कर देनी चाहिए ॥ ६५ ॥

यह दृश्यमान प्रपञ्च केवल आभासमात्र (झलकमात्र) ही है, इस प्रकार जिस महामतिको भलीभाँति अवगत हो जाता है, वह अपने भीतर उस प्रकार शीतल हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य-आतपके शान्त हो जानेपर भूमण्डल शीतल हो जाता है ॥ ६६ ॥

सर्वानुगत सन्मात्रके दर्शनमें उपाय बतलाते हैं—'प्रतिभासम्' इत्यादिसे ।

हे पापशून्य श्रीरामजी, विशेषाकारताका परित्याग कर पाँच भूतोंके समूहात्मक घट, पट आदि पदार्थोंमें सामान्यतः आभासमात्रस्वरूपताका (सन्मात्र-स्वरूपताका) ही आप अवलोकन (ध्यान) कीजिए ॥ ६७ ॥

हे श्रीरामजी, सन्मात्ररूप आभास भी चित्तकी विशेषकल्पनाके कारण कलङ्कित ही रहता है, इसलिए उसका (सन्मात्रस्वरूप आभासका) भी परित्याग कर यानी स्व-स्वरूप-भिन्न बुद्धिसे छोड़कर निराभाससे युक्त (धाता, ध्यान और ध्येय—इस त्रिपुटीसे शून्य) हो जाइए ॥ ६८ ॥

भद्र, जब आप आभासमात्ररूपताका परित्याग कर देंगे, तब चैतन्याकाश-रूप, अविनाशी, परिपूर्ण, अशेष विकारोंसे वर्जित तथा नितान्त निर्मल-स्वरूप हो जायँगे ॥ ६९ ॥

नाऽहमस्मि न मे भोगाः सत्या इत्यभिभाविते।
नेदमाडम्बरं व्यर्थमनर्थायाऽवभासते ॥ ७० ॥
अहमेव हि वा सर्वं चिदित्येवं विभाविते।
नेदमाडम्बरं व्यर्थमनर्थायाऽवभासते ॥ ७१ ॥
दर्शनद्वयमप्येतत् सत्यमत्यन्तसिद्धिदम्।
यदेकमेतयोर्वेत्सि रम्यं तद्राम संश्रय ॥ ७२ ॥
द्वाभ्यामेवाऽथवैताभ्यां दर्शनाभ्यामिहाऽनघ।
विहरन् कुरु कल्याण रागद्वेषपरिक्षयम् ॥ ७३ ॥

निराभासताकी (त्रिपुटीशून्यस्वरूपताकी) सिद्धिमें हेतुभूत दो प्रकारकी उपासना कहते हैं—'नाऽहमस्मि' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, न मैं सत्य हूँ और न तो मेरे भोग (विषय) ही सत्य हैं, इस प्रकार अच्छी तरह भावना (चिन्तन) करनेपर यह निरर्थक जगत्-रूपी आडम्बर अनर्थके लिए प्रतीत नहीं होता ॥ ७० ॥

भद्र, अथवा 'मैं और यह सब प्रपञ्च चैतन्यात्मक परब्रह्मस्वरूप ही है' इस प्रकार चिन्तन करनेपर यह निरर्थक जगद्रूपी आडम्बर अनर्थके लिए प्रतीत नहीं होता ॥ ७१ ॥

हे श्रीरामजी, ये दोनों भी दर्शन सत्यरूप और आत्यन्तिक-सिद्धि (मुक्ति-रूप सिद्धि) देनेवाले हैं, इसलिए इन दोनोंमें से आप जिस एकको अपने लिए रम्य (योग्य) समझें, उसका अनुष्ठान करें ॥ ७२ ॥

इनका ऐच्छिक समुच्चय करनेपर भी परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि फलतः दोनों एकरूप ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'द्वाभ्यामेवा०' इत्यादिसे।

हे कल्याणरूप पापरहित राघव, अथवा इन्हीं दो भावनाओंका आश्रयण कर इस संसारमें विहार करते हुए आप राग, द्वेष आदिका विनाश कर डालिए [जिस पुरुषमें राग आदि दोषोंका विनाश हो गया है, उसी पुरुषमें उक्त दोनों चिन्तन सफल होते हैं, दूसरेमें नहीं—यह 'कुरु' इत्यादि वाक्यसे दिखलाया गया है।] ॥ ७३ ॥

यत्किञ्चिदुदितं लोके यन्नभस्यथ वा दिवि ।
तत्सर्वं प्राप्यते राम रागद्वेषपरिक्षयात् ॥ ७४ ॥
रागादिहतया बुद्ध्या याद्यग्राम विचेष्टितम् ।
तत्तदेव प्रयात्याशु मूढानां विपरीतताम् ॥ ७५ ॥
द्वेषदोषोर्मिरुद्धासु न गुणाश्चित्तवृत्तिषु ।
पदं कुर्वन्ति दग्धासु स्थलीषु हरिणा इव ॥ ७६ ॥
रागो द्वेषश्च सर्पौ द्वौ न विलीनौ मनोबिले ।
यस्य कल्पतरोस्तस्मात् किं नामाऽङ्ग न लभ्यते ॥ ७७ ॥
ये हि प्राज्ञाः स्वनियता विदग्धाः शास्त्रशालिनः ।
रागद्वेषमयास्ते वै जम्बुकास्ते धिगस्तु तान् ॥ ७८ ॥

प्रधान फलोंके द्वारा राग आदि दोषोंके विनाशकी ही स्तुति करते हैं—
'यत्किञ्चिदुदितम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जो कुछ भी इस संसारमें उत्तम वस्तु है और जो कुछ आकाशमें या स्वर्गमें उत्तम वस्तु है, एकमात्र राग, द्वेष आदिके विनाशसे ही उन सबकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ७४ ॥

हे श्रीरामजी, रागादि दोषोंसे आक्रान्त हुई बुद्धिके द्वारा जैसा जो कुछ किया जाता है, वह सब कुछ मूढोंके लिए तत्काल ही विपरीतरूप (दुःखरूप) हो जाता है ॥ ७५ ॥

भद्र, जिस प्रकार दग्ध हुई वनस्थलियोंमें हिरन अपना स्थान नहीं बनाते, उसी प्रकार द्वेष-दोषरूपी ऊर्मियोंसे आक्रान्त चित्तवृत्तियोंमें उत्तम गुण अपना स्थान नहीं बनाते ॥ ७६ ॥

हे प्रिय श्रीरामजी, जिस पुरुषके चित्तरूपी बिलमें राग और द्वेषरूपी दो सर्प तिरोहित नहीं हो जाते, उस पुरुषको पूर्वोक्त कल्पवृक्षसे भी क्या दुःखरूप फल प्राप्त नहीं होते ? [यानी ऐसे पुरुषको उस कल्पवृक्षसे भी दुःख प्राप्त होते ही रहेंगे, यह भाव है ।] ॥ ७७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष शास्त्रोंमें निष्णात, चतुर, कर्मनिरत एवं प्राज्ञ होकर भी राग, द्वेष आदिसे परिपूर्ण हैं, वे निश्चय ही अरण्यमें प्रसिद्ध शृगाल हैं । उन्हें धिक्कार है ॥ ७८ ॥

मद्धनं भुक्तमन्येन धनं त्यक्तं मयाऽन्यतः ।
इति संव्यवहारेहाः के रागद्वेषयोः क्रमाः ॥ ७९ ॥
धनानि बन्धवो मित्रं पुनरायान्ति यान्ति च ।
किमेतेषु नरः प्राज्ञो रज्यते वा विरज्यते ॥ ८० ॥
भावाभावभवाभोगा मायेयं पारमेश्वरी ।
संसाररचना सर्वा संसक्तं पातयत्यलम् ॥ ८१ ॥
न धनं न जनो नाऽऽत्मा सत्यं राघव वस्तुतः ।
मिथ्यैव मिथ्यावसितमितीदं परिलक्ष्यते ॥ ८२ ॥
आद्यन्तयोः सर्वमसन्मध्येऽप्यस्थिरमाधिमत् ।
क्व बध्नाति रतिं प्राज्ञो ह्यन्यकल्पितखद्रुमे ॥ ८३ ॥

समूल राग-द्वेषका क्रम बतलाते हैं—**'मद्धनम्'** इत्यादिसे ।

मेरा धन दूसरेने हड़प लिया, दूसरेसे अवश्य लेने योग्य धन मैंने प्रमादसे छोड़ दिया—इस प्रकार प्राप्त एवं विनष्ट धन आदि विषयोंमें अभिनिवेशसे उनके ग्रहणके लिए वध, बन्धन आदि दण्ड देनेकी इच्छारूप राग-द्वेषोंके क्रम क्या हैं ? यानी तुच्छ हैं ॥ ७९ ॥

राग-द्वेषोंके क्रम तुच्छ क्यों है ? इसपर कहते हैं—**'धनानि'** इत्यादिसे ।

धन, बन्धुवर्ग, मित्र—ये सब बार-बार आते और जाते रहते हैं, इसलिए उनमें बुद्धिमान् पुरुष क्या अनुरक्ति करेगा और क्या विरक्ति ही करेगा ? ॥ ८० ॥

जिसमें संसारकी परिपूर्णरूपता प्रिय विषयोंके अस्तित्व और अप्रिय विषयोंके अभाव से ही बनी है ऐसी, समस्त संसारकी रचनारूप यह परमेश्वरसम्बन्धिनी माया आसक्त पुरुषोंको ही भली प्रकारसे अनर्थ-गर्तोंमें ढकेल देती है ॥ ८१ ॥

हे राघव, न धन, न जन और न मन ही वास्तवमें सत्यस्वरूप है, किन्तु आगे कही जानेवाली युक्तिसे मिथ्यारूपसे निश्चित हुआ सब यह प्रपञ्च मिथ्या ही दीख पड़ता है ॥ ८२ ॥

उसी युक्तिको बतलाते हैं—**'आद्यन्तयोः'** इत्यादिसे ।

आदि और अन्त में यानी पूर्व और उत्तरकालमें सभी पदार्थ असत् हैं और बीचमें भी उत्तरोत्तर भाव-विकारोंसे ग्रस्त एवं दुःखप्रद हैं, इसलिए

एकेन कल्पिता खे स्त्री भुङ्क्ते तां दूरगोऽपरः ।
इतीयमङ्ग संसाररचना तेन मा भ्रम ॥ ८४ ॥
भूताजवंजवीभावमिममाततमाकुलम् ।
गन्धर्वपुरनिर्माणविलासेन समं विदुः ॥ ८५ ॥
स्वप्नसङ्कल्पपुरवदसदेवेदमुत्थितम् ।
सर्वत्र संस्थमेवेदं सुषुप्तमिव विच्युतम् ॥ ८६ ॥
परिपश्यसि संसारदीर्घस्वप्नपुरद्रुमम् ।
अज्ञाननिद्रालुठनस्वभावात्मकमच्युतम् ।
संसारस्वप्नसंभ्रान्तो भवानयमिह स्थितः ॥ ८७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष दूसरेके कल्पित आकाश-वृक्षके सदृश तुच्छ इस संसारमें कहाँ प्रेम करेगा ? ॥ ८३ ॥

हे प्रिय श्रीरामजी, किसी एकने तो आकाशमें स्त्रीकी कल्पना की और दूरवर्ती दूसरा उसे भोगे, यह कभी बन सकता है ? ठीक इसी प्रकार यह संसार-रचना है यानी इस संसारकी कोई एक तो कल्पना करता है और दूसरा उपभोग करनेकी चेष्टा करता है, इसलिए आप ऐसे असंगत भ्रममें मत पड़िए ॥ ८४ ॥

यह संसार प्राणियोंके वेगपूर्वक गमनागमनसे पूर्ण, विस्तृत एवं उपद्रवोंसे भरा है, इसलिए विद्वान् लोग उसे गन्धर्वनगरकी रचना-विलासके सदृश तुच्छ कहते हैं ॥ ८५ ॥

श्रीरामजी, स्वप्न और संकल्पके नगरोंकी नाईं यह स्वयं असत् होकर भी उत्पन्न-सा प्रतीत होता है, सभी स्थानोंमें कल्पनाका संभव और अधिष्ठान चैतन्यका अस्तित्व होनेसे सभी जगह अवस्थित है और सुषुप्तकी नाईं स्वप्न-भावापन्न है ॥ ८६ ॥

हे श्रीरामजी, यह संसार दीर्घकालीन स्वप्न-नगर एवं स्वप्न-वृक्ष के सदृश है । अज्ञानरूपी निद्राका लाभ लेकर आत्मस्वभावका अपहरण करनेवाला एवं निरन्तर अनुस्यूत है, इसलिए आप संसाररूपी स्वप्नमें भ्रमणशील होकर यहाँ अवस्थित हैं ॥ ८७ ॥

तदेनां विततां निद्रां घनाज्ञानमयात्मिकाम् ।
त्यजाऽलक्ष्मीमिवाऽऽप्तनिधानः पुरुषोत्तमः ॥ ८८ ॥
प्रबोधमेहि पश्य स्वमात्मानमुदितं सदा ।
निर्विकल्पं चिदाभासं प्रातः पद्मं रविं यथा ॥ ८९ ॥
प्रबुद्ध्यस्व प्रबुद्ध्यस्व पुनः पुनरयं मया ।
प्रबोद्ध्यसे महाबाहो पश्याऽऽत्मार्कमनामयम् ॥ ९० ॥
मयैतेनाऽभिवृष्टेन शीतेन ज्ञानवारिणा ।
सुशब्दशालिना राम ह्यनेनैवाऽसि बोधितः ॥ ९१ ॥
बोधमासादय परं प्रबोधोऽद्यैव राघव ।
सत्यमालोकयाऽलीकं त्यक्त्वेमं जागतं भ्रमम् ॥ ९२ ॥
न ते जन्म न ते दुःखं न दोषास्ते न ते भ्रमाः ।
सर्वं सङ्कल्पमुत्सृज्य तिष्ठाऽऽत्मनि सुसंस्थितः ॥ ९३ ॥

भद्र, उस घन अज्ञानरूपी विस्तृत इस निद्राका आप उस प्रकार परित्याग कर दीजिए, जिस प्रकार निधि प्राप्त करनेवाला भाग्यवान् पुरुष दरिद्रताका परित्याग कर देता है ॥ ८८ ॥

भद्र, अब आप प्रबुद्ध हो जाइए और सदा उदित-स्वभाव, अशेषविकल्पोंसे वर्जित, चैतन्य-प्रकाशस्वरूप अपनी आत्माको उस प्रकार देखिए जिस प्रकार प्रातःकालमें कमल सूर्यको देखता है ॥ ८९ ॥

हे महाबाहो, मैं आपको बार-बार संबोधित करता हूँ कि आप जाग जाइए, जाग जाइए और अपने निर्मल आत्मरूपी सूर्यको देखिए ॥ ९० ॥

हे श्रीरामजी, मधुर गर्जनके सदृश उपदेशके शब्दोंसे सम्पन्न, मेघ-स्थानीय इस मेरे द्वारा बरसाये गये शीतल इसी ज्ञानरूपी जलसे आप जगाये गये हैं ॥ ९१ ॥

हे राघव, आप आज ही प्रबुद्ध होकर आत्मज्ञानको प्राप्त कीजिए और इस तुच्छ जागतिक भ्रमका परित्याग कर त्रिकालाबाधित आत्मतत्त्वका साक्षा-त्कार कीजिए ॥ ९२ ॥

श्रीरामजी, न आपका जन्म है, न आपको दुःख है, न आपके दोष हैं और न आपके भ्रम ही हैं, [अतः] समस्त संकल्पात्मक इस संसारका उत्सर्ग कर अपने आत्मस्वरूपमें दृढ़ आसन बांध कर स्थित हो जाइए ॥ ९३ ॥

परिगलितविकल्पदोषजाल-
स्त्वमसि सुसारसुषुप्तसौम्यदृष्टिः ।
अतिविततमिदं सुशुद्धये त्वं
समुपशमात्मनि तिष्ठ हे महात्मन् ॥ ९४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो नामाऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्याकर्णयति स्वस्थसमचेतसि राघवे ।
विश्रान्ते स्वात्मनि स्वैरं परमानन्दमागते ॥ १ ॥

उपसंहार करते हैं—'परिगलित०' इत्यादिसे ।

हे महात्मन्, आपके समस्त संकल्प-विकल्पात्मक दोषोंका समूह नष्ट हो चुका है, उत्तम सारभूत सुषुप्तिसदृश विक्षेपरहित दृष्टि भी आपने प्राप्त कर ली है, वास्तवमें आप नित्य अपरोक्षस्वभाव व्यापक परमब्रह्मस्वरूप ही हैं। अतः उत्तम शुद्धिके लिए आप अपने आत्मस्वरूपमें ही समाहित होकर स्थित हो जाइए ॥ ९४ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उनतीसवाँ सर्ग

[तत्त्वज्ञानसे रामचन्द्रजीकी विश्रान्ति, कथित अर्थका फिर विस्तार, कैलास पर्वतपर शिवजीके द्वारा पहले उस प्रकारका अपने प्रति उपदेश—इन सब विषयोंका वर्णन]

कृपापूर्वक इस प्रकारके चमत्कारपूर्ण हुए उपदेशोंसे महाराज वसिष्ठजी द्वारा प्रतिबोधित हुए श्रीरामभद्र एवं दूसरे श्रोताओं को जो तत्त्वसाक्षात्कार उत्पन्न हुआ उससे आधे मुहूर्ततक उनकी अपने-अपने स्वरूपोंमें विश्रान्तिरूप समाधिसे निश्चल स्थिति हो गई, यों श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—'इत्याकर्णयति' इत्यादिसे ।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—राजन्, जिस समय अपने स्वरूपमें आपोआप विश्रान्ति एवं परमानन्द को प्राप्त हुए स्वस्थ और समचित्त श्रीरामभद्र उस प्रकार

तत्रस्थेषु च सर्वेषु तेषूपशमशालिषु ।
राघवस्याऽऽत्मविश्रान्तेः स्थित्यर्थं वचनामृतम् ।
विरराम मुनेर्वारि सस्येष्वम्बुधरादिव ॥ २ ॥
अथ याते मुहूर्तार्धे राघवे प्रतिबोधिते ।
पुनराह तमेवाऽर्थं वसिष्ठो वदतां वरः ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

राम सम्यक्प्रबुद्धोऽसि स्वात्मानमसि लब्धवान् ।
एवमेवाऽवलम्ब्याऽर्थं तिष्ठ नेह पदं कृथाः ॥ ४ ॥
इदं संसारचक्रं हि नाभौ सङ्कल्पमात्रके ।
संरोधितायां वहनाद्रघुनन्दन रुद्धयते ॥ ५ ॥
क्षोभितायां मनोनाभ्यामिदं संसारचक्रकम् ।
प्रयत्नाद्रोधितमपि प्रवहत्येव वेगतः ॥ ६ ॥

श्रवण कर रहे थे तथा उस सभामें स्थित शान्तचित्त सभी श्रोतागण अपनी आत्मामें परम विश्रान्तिका अनुभव कर रहे थे, उस समय श्रीरामभद्रकी चित्तविश्रान्तिकी सुदृढ़ स्थितिके लिए बरस रहा महाराज वसिष्ठजीका वचनामृत एकाएक ऐसे बन्द हो गया, जैसे वृष्टितर्पित सस्योंमें मेघमण्डलसे जलका बरसना एकाएक बन्द हो जाय ॥ १, २ ॥

राजन्, तदनन्तर जब आधा मुहूर्त व्यतीत हो गया और श्रीरामभद्र प्रबुद्ध हो गये यानी समाधिसे उत्थित हो गये, तब उसी अर्थकी पुष्टिके लिए वाग्मियोंमें श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी उनसे पुनः कहने लगे ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, आप भली प्रकार तत्त्वज्ञानी हो चुके हैं, अपनी आत्माको प्राप्त कर चुके हैं, अतः इसी रीतिसे इस परमार्थ तत्त्वका अवलम्बन कर विश्राम कीजिए, इस तुच्छ संसारमें आस्था मत कीजिए ॥ ४ ॥

उसमें उपाय बतलाते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

हे रघुनन्दन, यह संसाररूपी चक्र भ्रमणसे तभी रुक जाता है, जब कि एकमात्र संकल्परूपी नाभिका (पहियेके मध्य भागका) भलीप्रकार अवरोध किया जाता है ॥ ५ ॥

भद्र, संकल्पात्मक मनोरूप नाभिको रागद्वेष आदिसे विक्षोभित—भ्रमित

परं पौरुषमास्थाय बलं प्रज्ञां च युक्तितः ।
नाभिं संसारचक्रस्य चित्तमेव निरोधयेत् ॥ ७ ॥
प्रज्ञासौजन्ययुक्तेन शास्त्रसंवलितेन च ।
पौरुषेण न यत्प्राप्तं न तत्क्वचन लभ्यते ॥ ८ ॥
दैवैकपरतां त्यक्त्वा बालबोधोपकल्पिताम् ।
निजं प्रयत्नमाश्रित्य चित्तमादौ निरोधयेत् ॥ ९ ॥
आविरिञ्चात् प्रवृत्तेन भ्रमेणाऽज्ञानरूपिणा ।
असदेव सदाभासमिदमालक्ष्यतेऽनघ ॥ १० ॥
अज्ञानभ्रमविस्तारमात्रकाकृतयोऽनघ ।
इमे देहा भ्रमन्तीह सर्वधर्मात् समुत्थिताः ॥ ११ ॥
सङ्कल्पः पुनरस्त्येव देहस्याऽर्थे कदाचन ।
सुखदुःखविचारित्वं न कार्यं राम धीमता ॥ १२ ॥

यानी नचाये जानेपर यह संसाररूपी चक्र, प्रयत्नसे रोके जानेपर भी, वेगपूर्वक नाचता ही रहता है ॥ ६ ॥

इसलिए उत्तम पुरुषार्थका यानी ज्ञानाभ्यास एवं वैराग्यकी दृढ़ता का अवलम्बन कर शास्त्रानुसारी युक्तियोंसे विवेकज्ञानरूपी बल प्राप्तकर चित्तरूपी संसार-चक्रकी नाभिका अवरोध करना ही चाहिए ॥ ७ ॥

भद्र, कहींपर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध है ही नहीं, जो उत्तम बुद्धि तथा सौजन्यसे परिपूर्ण शास्त्रसम्मत पुरुषार्थसे प्राप्त न की जाय ॥ ८ ॥

इसलिए बालबुद्धिसे कल्पित एकमात्र दैवपराधीनताका परित्याग कर और असली प्रयत्नका आश्रयण कर सबसे पहले पुरुषको अपने चित्तका निरोध करना चाहिए ॥९॥

हे अनघ, ब्रह्माजीसे लेकर चले आ रहे इस अज्ञानरूपी विभ्रमसे यह असद्रूप ही प्रपञ्च सत्-सा प्रतीत हो रहा है ॥ १० ॥

हे पापशून्य राघव, एकमात्र अज्ञानरूपी भ्रमसे विस्तारको प्राप्त हुए दृश्य जगत्के आकारभूत ये सङ्कल्पसे उत्पन्न शरीर यहाँ यत्र-तत्र घूम रहे हैं ॥११॥

हे श्रीरामजी, एकमात्र देहके विनाशसे इष्टसिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि देहके नष्ट हो जानेपर भी देहपरम्पराका उत्पादक सङ्कल्प तो फिर भी विद्यमान रहता ही है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको देहके लिए

दुःखम्लानमुखः क्लेदी प्रसन्नात् क्लेदवर्जितात् ।
अपि चित्रनराद् देहनरस्तुच्छतरः स्मृतः ॥ १३ ॥
आधिव्याधिपरिम्लाने स्वयं क्लेदिनि नाशिनि ।
न तथा स्थिरता देहे चित्रपुंसो यथा किल ॥ १४ ॥
विनाशितो हि चित्रस्थो देहो नश्यति नाऽन्यथा ।
अवश्यनाशो मांसात्मा स्वयं देहो विनश्यति ॥ १५ ॥
पालितः सुस्थिरां शोभामादत्ते चित्रमानवः ।
देहस्तु पालितोऽप्युच्चैर्नश्यत्येव न वर्धते ॥ १६ ॥
तेन श्रेष्ठश्चित्रदेहो नाऽयं सङ्कल्पदेहकः ।
ये गुणाश्चित्रदेहे हि न ते सङ्कल्पदेहके ॥ १७ ॥

सुख-दुःखकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिए, किन्तु सङ्कल्पोच्छेदके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए ॥ १२ ॥

श्रीरामजी, दुःखसे सदा मलिनमुख तथा अश्रु आदिसे निरन्तर क्लिन्न (आर्द्र) रहनेवाला यह देहधारी नर चित्रलिखित नरकी अपेक्षा भी अत्यन्त तुच्छ कहा गया है, क्योंकि चित्रलिखित नर तो सुख-दुःखकी चिन्तासे निर्मुक्त होनेके कारण सदा प्रसन्न और क्लेद-वर्जित रहता है ॥ १३ ॥

श्रीरामजी, आधि और व्याधि से निरन्तर दुःखित, अश्रु आदिसे क्लिन्न तथा स्वयं विनाशशील इस शरीरमें उस प्रकारकी स्थिरता नहीं रहती, जिस प्रकारकी चित्रलिखित पुरुषमें स्थिरता रहती है—यह बात सर्वविदित है ॥ १४ ॥

इस प्रसिद्ध शरीरमें निर्निमित्तविनाशिता भी चित्रलिखित देहकी अपेक्षा अधिक दोष है, ऐसा कहते हैं—'**विनाशितो**' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, चित्रलिखित देह तभी नष्ट होती है जब किसी कारणविशेषसे उसका विनाश किया जाय, अन्यथा नहीं । यह अवश्यविनाशी मांस-स्वरूप देह तो किसी कारणविशेषके बिना स्वयं ही नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

चित्रित मनुष्यकी यदि भली-भाँति रक्षा की जाय, तो वह दीर्घकालिक स्थिर शोभा धारण करता है और यह प्रत्यक्ष शरीर तो अनेक यत्नोंसे रक्षित होनेपर भी नष्ट ही हो जाता है, बढ़ता नहीं है ॥ १६ ॥

इसलिए चित्रित देह ही श्रेष्ठ है, संकल्पजनित यह तुच्छ देह श्रेष्ठ

चित्रदेहादपि जडाद्योऽयं तुच्छतरः किल ।
तस्मिन् मांसमये देहे कैवाऽऽस्था भवतोऽनघ ॥ १८ ॥
दीर्घसङ्कल्पदेहोऽयं तस्मिन्नाऽऽस्था महामते ।
स्वप्नसङ्कल्पजाद्देहादपि तुच्छतरो ह्ययम् ॥ १९ ॥
अल्पसङ्कल्पजो दीर्घैः सुखदुःखैर्न गृह्यते ।
दीर्घसङ्कल्पजश्चाऽयं दीर्घदुःखेन दुःखितः ॥ २० ॥
देहो हि सङ्कल्पमयो नाऽयमस्ति न वाऽस्ति नः ।
किं व्यर्थमेतदर्थं हि मूढोऽयं क्लेशभाजनम् ॥ २१ ॥
यथा चित्रमये पुंसि क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
तथा सङ्कल्पपुरुषे क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २२ ॥

नहीं, क्योंकि जो चित्रदेहमें गुण विद्यमान हैं, वे सङ्कल्पजनित देहमें नहीं हैं ॥ १७ ॥

हे निष्पाप श्रीरामजी, अत्यन्त जड़ चित्रित शरीरकी अपेक्षा भी जो यह संकल्प-जनित तुच्छातितुच्छ देह है, उस मांसरूप देहमें आपको आसक्ति ही क्या ? ॥१८॥

हे महामते, यह सङ्कल्पजनित शरीर कुछ दीर्घकालतक ही टिकनेवाला है । उसमें तनिक भी आसक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह शरीर स्वप्न या मनोराज्यसे जनित शरीरसे भी अत्यन्त तुच्छ है ॥ १९ ॥

भद्र, स्वाप्न आदि शरीर स्वल्पकालीन संकल्पसे जनित होनेके कारण दीर्घ-कालीन सुख-दुःखोंसे आक्रान्त नहीं होता । यह प्रत्यक्ष शरीर तो दीर्घ-कालीन संकल्पसे जनित होनेके कारण दीर्घकालके दुःखोंसे आक्रान्त रहता है ॥ २० ॥

सङ्कल्पविकार यह शरीर न तो स्वयं है और न हम लोगोंका सम्बन्धी (आत्माका सम्बन्धी) ही है, अतः इस शरीरके निमित्त यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेशका भाजन क्यों बनता है ? ॥ २१ ॥

अतः चित्र आदिके शरीरोंकी क्षतिके सदृश इस शरीरकी क्षतिके विषयमें भी शोक नहीं करना चाहिए, ऐसा कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

भद्र, जिस प्रकार चित्रमें लिखित पुरुषके क्षत या क्षीण हो जानेपर आत्माकी क्षति नहीं होती, उसी प्रकार सङ्कल्पसे जनित पुरुषके क्षत या क्षीण हो जानेपर आत्माकी कुछ भी क्षति नहीं होती ॥ २२ ॥

यथा मनोराज्यमये क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
यथा द्वितीये शशिनि क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २३ ॥
यथा स्वप्नसमारम्भे क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ।
यथा नद्यातपजले क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २४ ॥
सङ्कल्पमात्ररचिते प्रकृत्यैव च नाशिनि ।
तथा शरीरयन्त्रेऽस्मिन् क्षते क्षीणे न तत्क्षतिः ॥ २५ ॥
दीर्घस्वप्नमये ह्यस्मिंश्चित्तसङ्कल्पकल्पिते ।
भूषिते दूषिते देहे न हि किञ्चिच्चितः क्षतम् ॥ २६ ॥
न चिदन्तमुपायाति नाऽऽत्मा चलति राघव ।
न ब्रह्म विकृतिं याति किंवा देहक्षये क्षतम् ॥ २७ ॥

जिस प्रकार मनोराज्यमें उत्पन्न अनेक शरीर आदि पदार्थोंके क्षत या क्षीण हो जानेपर आत्माकी कुछ भी क्षति नहीं होती, अथवा जिस प्रकार दूसरे चन्द्रमाके क्षत या क्षीण हो जानेपर असली चन्द्रमाकी या आत्माकी कुछ भी क्षति नहीं होती, जिस प्रकार स्वप्नमें उत्पन्न पदार्थोंके क्षत या विनष्ट हो जानेपर आत्माकी क्षति नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका-नदीके घामरूप जलके क्षत या क्षीण हो जानेपर आत्माकी कुछ भी क्षति नहीं होती ; उसी प्रकार एकमात्र संकल्पसे उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीररूपी यन्त्रके क्षत या विनष्ट हो जानेपर आत्माकी कुछ भी क्षति नहीं होती । अतः शरीरके लिए शोक करना निरर्थक ही है ॥ २३–२५ ॥

चित्तके संकल्पसे कल्पित तथा दीर्घकालीन स्वप्नरूप इस देहके अलङ्कारोंसे भूषित या दोषोंसे दूषित हो जानेपर चैतन्यरूप आत्माका कुछ भी नहीं बिगड़ने पाता ॥ २६ ॥

क्यों आत्माका कुछ भी नहीं बिगड़ने पाता ? इसपर कहते हैं—**'न चिदन्त०'** इत्यादिसे ।

रामभद्र, आत्म-चैतन्यरूप ब्रह्म न तो विनष्ट होता है, न चलित होता है, और न विकृत ही होता है, इसलिए देहका नाश होनेपर चैतन्यका, आत्माका या ब्रह्मका क्या बिगड़ गया ? ॥ २७ ॥

भ्रमच्चक्रोपरिष्ठो हि पूर्वचक्रोपचक्रवत् ।
यथा पश्यति दिक्चक्रं भ्रमदत्यन्तमोहितः ॥ २८ ॥
अकस्मादेव रूढेन मिथ्याज्ञानेन वल्गता ।
तत्रस्थेन तथैवेदं दृश्यते देहचक्रकम् ॥ २९ ॥
भ्रमिदं च भ्रमद्रूपं पतद्रूपं प्रपातितम् ।
हतं च हन्यमानं च दृश्यते देहचक्रकम् ॥ ३० ॥
धीरतामलमालम्ब्य घनभ्रममिमं त्यजेत् ॥ ३१ ॥
सङ्कल्पेन कृतो देहो मिथ्याज्ञानेन सन्नसन् ।
असत्येन कृतं यस्मान्न तत्सत्यं कदाचन ॥ ३२ ॥
असदभ्युत्थितो देहो रज्ज्वामिव भुजङ्गधीः ।
असत्यामेव सत्यां च करोत्यपि जगत्क्रियाम् ॥ ३३ ॥

घूम रहे चाकके ऊपर स्थित अत्यन्त मोहित पुरुष जैसे दिशाचक्रको—स्वयं जिस चक्रपर चढ़ा हुआ रहता है, उस चक्रके सदृश या चारों ओर पासमें स्थित बड़े चक्रके सदृश विपरीतरूपसे घूमता हुआ—देखता है, वैसे ही अकस्मात् उत्पन्न हुए गर्जनशील मिथ्या अज्ञानके कारण मिथ्या अज्ञानरूप चक्रके ऊपर स्थित जीवात्मा देहपरम्परारूपी चक्रको देखता रहता है ॥ २८, २९ ॥

उसी अज्ञानरूपी चक्रके ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा जिस देहपरम्परारूपी चक्रको देखता रहता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भ्रान्तिको देनेवाला, स्वयं भ्रान्ति-रूप, पतनोन्मुख स्वरूपसे ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थ-गर्तोंमें गिराया गया, हत एवं हन्यमान रहता है ॥ ३० ॥

इसलिए हे भद्र, उत्तम धैर्यका भली प्रकार अवलम्बन कर इस अनादि दृढ़ीभूत भ्रमका परित्याग कर देना चाहिए ॥ ३१ ॥

भद्र, मिथ्या अज्ञानके द्वारा एकमात्र सङ्कल्पसे उत्पन्न हुआ यह शरीर प्रातीतिक रूपसे सत्य-सा होनेपर भी वास्तवमें असत्य ही है, क्योंकि जो वस्तु अज्ञान आदिसे उत्पन्न हुई है, वह किसी समय भी सत्य नहीं हो सकती ॥ ३२ ॥

रज्जुमें सर्पबुद्धिके सदृश असतस्वरूप अज्ञानसे उत्पन्न हुई देह असत्स्वरूप ही जगत्-क्रियाको सत्-सी बना देती है ॥ ३३ ॥

जडेन राम क्रियते यन्न तत्कृतमुच्यते ।
कुर्वन्नपि तदा देहो न कर्ता क्वचिदेव हि ॥ ३४ ॥
निरीहो हि जडो देहो नाऽऽत्मनोऽस्याऽभिवाञ्छितम् ।
कर्ता न कश्चिदेवाऽतो द्रष्टा केवलमस्य सः ॥ ३५ ॥
यथा दीपो निवातस्थः स्वात्मन्येवाऽवतिष्ठते ।
साक्षिवत्सर्वभावेषु तथा तिष्ठेज्जगत्स्थितौ ॥ ३६ ॥
यथा दिवसकर्माणि भास्करः खस्थ एव सन् ।
करोत्येवमिमां राम कुरु पार्थिवसंस्थितिम् ॥ ३७ ॥
अस्मिन्नसन्मये देहगृहे शून्ये समुत्थिते ।
सत्तामुपगते मिथ्याबालकल्पितयक्षवत् ॥ ३८ ॥

श्रीरामभद्र, जब व्यवहारमें यह बात प्रसिद्ध है कि जड़तासे भरे पदार्थों द्वारा जो कुछ किया गया रहता है, वह उनके द्वारा किया गया नहीं माना जाता है यानी उनके द्वारा किये गये कार्योंसे अपराध आदि दोषोंका उनमें चेतनके समान आरोप नहीं किया जाता है, तब कुछ व्यापार कर रही भी जड़तासे भरी हुई यह देह किसी समय भी कर्ता नहीं कही जा सकती, क्योंकि इच्छाधीन ही कर्तृत्व रहता है ॥ ३४ ॥

इच्छासे ही कर्तृत्व होता है, वह इच्छा तो न जड़ देहमें या न निर्विकार आत्मामें ही रह सकती है, यह कहते हैं—'निरीहो' इत्यादिसे ।

जड़ देह तो इच्छासे रहित है और इस निर्विकार आत्मामें इच्छा रहती नहीं, इसलिए कोई कर्ता है ही नहीं, केवल आत्मा शरीरका द्रष्टा है ॥ ३५ ॥

आत्मा कर्ता नहीं है, इस निश्चयका फल कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे वायुशून्य प्रदेशमें रहनेवाला दीपक अपने स्वरूपमें ही अवस्थित रहता है, वैसे ही इस जगत्स्थितिमें एवं समस्त भूतोंमें साक्षीके सदृश तटस्थ होकर अपने स्वरूपमें ही स्थित रहना चाहिए ॥ ३६ ॥

तब राज्य-व्यवस्था कैसे चलेगी ? इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जैसे दूरातिदूर आकाशमें स्थित रहकर ही सूर्यदेव दैनिक कार्य करते हैं, वैसे ही आप भी दूर रहकर यह राज्य-व्यवस्था कीजिए ॥ ३७ ॥

देहमें सत्यत्वबुद्धि होनेपर तो देहाभिमानरूप अहङ्कारके आ जानेके कारण उसकी दासता बनी ही रहेगी, ऐसा कहते हैं—'अस्मिन्' इत्यादिसे ।

कुतोऽप्यागत्य निःसारः सर्वसज्जनवर्जितः ।
अहङ्कारः कुवेतालः प्रविष्टश्चित्तनामकः ॥ ३९ ॥
अस्य मा भृत्यतां गच्छ त्वमहङ्कारदुर्मतेः ।
अस्य भृत्यतया राम निरयः प्राप्यते फलम् ॥ ४० ॥
स्वसङ्कल्पविलासेन देहगेहे दुराकृतिः ।
उन्मत्तचित्तवेतालः परिवल्गति लीलया ॥ ४१ ॥
शून्यं देहगृहं प्राप्य चित्तयक्षेण तत्कृतम् ।
भीता येन महान्तोऽपि समाधिनियताः स्थिताः ॥ ४२ ॥
चित्तवेतालमुद्वास्य स्वशरीरकमन्दिरात् ।
संसारशून्यनगरे न बिभेति कदाचन ॥ ४३ ॥
चित्तभूताभिभूतेऽस्मिन् ये शरीरगृहे रताः ।
चित्रमद्यापि ते कस्माद्घटिता आत्मवत्स्थिताः ॥ ४४ ॥

इस असद्रूप सङ्कल्पजनित देहरूप शून्य घरका अस्तित्व सिद्ध हो जानेपर उसमें अज्ञानी बालक द्वारा कल्पित असत्य यक्षके सदृश, चित्तनामक अहङ्कार-रूप दुष्ट वेताल, जो निस्तत्त्व एवं समस्त सज्जनोंकी सङ्गतिसे वर्जित है, कहींसे भी आकर, प्रविष्ट हो जाता है ॥ ३८, ३९ ॥

रामभद्र, आप इस दुष्टबुद्धि अहङ्कारकी दासताको प्राप्त मत हो जाइए, क्योंकि इसकी दासतासे नरकरूप फलकी प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

अहङ्कारके रहनेपर दूसरा भी अनर्थ प्राप्त होता है, यह कहते हैं—'स्वसङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

देहरूपी घरमें अपने नानाविध सङ्कल्पोंके विलाससे बीभत्स आकृतिवाला मदोन्मत्त चित्तरूपी वेताल लीलासे चारों ओर मिथ्या गर्जन करता रहता है ॥ ४१ ॥

शून्य देहरूपी घर प्राप्तकर चित्तरूपी यक्षने वह काम किया है, जिससे कि बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी भय खाकर समाधिमें तत्पर होकर स्थित हैं ॥ ४२ ॥

अपने तुच्छ शरीररूपी मन्दिरसे चित्तरूपी वेतालको हटा देनेसे इस संसार-रूपी शून्य नगरमें पुरुष कभी भी नहीं डरता ॥ ४३ ॥

चित्तरूपी पिशाचसे अभिभूत इस शरीररूपी घरमें जो आसक्त हैं,

ग्रस्ते चित्तपिशाचेन देहसद्मनि ये मृताः ।
पिशाचस्येव या बुद्धिर्नाऽपिशाचस्य राघव ॥ ४५ ॥
अहङ्कारबृहद्यक्षगृहे दग्धशरीरके ।
विहरन्नाऽऽस्थया साधो न तु वै तत्किल स्थिरम् ॥ ४६ ॥
अहङ्कारानुचरतां त्यक्त्वा विततया धिया ।
अहङ्कारास्मृतिं प्राप्य स्वात्मैवाऽऽश्ववलम्ब्यताम् ॥ ४७ ॥
अहङ्कारपिशाचेन ग्रस्ता ये निरयैषिणः ।
तेषां मोहमदान्धानां न मित्राणि न बान्धवाः ॥ ४८ ॥
अहङ्कारोपहतया बुद्ध्या या क्रियते क्रिया ।
विषवल्ल्या इव फलं तस्याः स्यान्मरणात्मकम् ॥ ४९ ॥

वे अनन्तकोटि शरीरोंके विनष्ट हो जानेपर भी अबतक देहमें आत्मरूपताबुद्धिसे समन्वित होकर क्यों स्थित हैं—बड़ा आश्चर्य है [निरन्तर शरीरघटनासे जनित दुःखोंका अनुभव होनेपर भी उसके विघटनमें जो प्रयत्न नहीं करते यही आश्चर्य है, यह भाव है ।] ॥ ४४ ॥

हे श्रीरामभद्र, चित्तरूपी पिशाचसे ग्रस्त हुए देहरूपी घरमें जो मर चुके हैं, उनकी जो बुद्धि है, वह पिशाचकी-सी है, न कि अपिशाचकी-सी ॥ ४५ ॥

हे साधो, अहङ्काररूपी बड़े यक्षके घररूपी तापत्रयरूप अग्निसे दग्ध हुए शरीरमें आसक्तिसे विहार कर रहा पुरुष पिशाच ही है, क्योंकि वह शरीर स्थिर नहीं है ॥ ४६ ॥

पहले विशद बुद्धिसे अहङ्कारकी दासता छोड़कर तदनन्तर योगभूमिकाके अभ्याससे अहङ्कारका आत्यन्तिक विस्मरण कर शीघ्रातिशीघ्र अपनी आत्माका ही अवलम्बन करना चाहिए ॥ ४७ ॥

नरककी चाह रखनेवाले जो जीव अहङ्काररूपी पिशाचसे आक्रान्त हैं, मोहरूपी मदसे अन्धे उन जीवोंके न कोई मित्र बनते हैं और न कोई बन्धु, ही [क्योंकि अहङ्कारी जीवोंमें विनयकी दुर्लभता और औद्धत्यकी अवश्यम्भाविता होनेसे उनके साथ कोई प्रेम नहीं करता, यह तात्पर्य है] ॥ ४८ ॥

अहङ्कारसे परिपूर्ण बुद्धिसे जो कोई क्रिया की जाती है, विषवल्लीके फलके सदृश उसका फल, कलह एवं जनशत्रुता के कारण, मरणरूप ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

विवेकधैर्यहीनेन स्वाहङ्कारमहोत्सवः ।
मूर्खेणाऽऽलम्बितो येन नष्टमेवाऽऽशु विद्धि तम् ॥ ५० ॥
अहङ्कारपिशाचेन वराका ये वशीकृताः ।
त एते नरकाग्नीनां राघवेन्धनतां गताः ॥ ५१ ॥
अहङ्कारोरगो यस्य परिस्फूर्जति कोटरे ।
स्वदेहपादपोऽधीरैरचिरेण निपात्यते ॥ ५२ ॥
अहङ्कारपिशाचोऽस्मिन् देहे तिष्ठतु यातु वा ।
त्वमेनमालोकय मा मनसा महतां वर ॥ ५३ ॥
अवधूतो ह्यवज्ञातश्चेतसैव तिरस्कृतः ।
अहङ्कारपिशाचस्ते नेह किञ्चित् करिष्यति ॥ ५४ ॥
देहालये स्फुरत्यस्मिन् राम चित्तपिशाचके ।
अस्याऽनन्तविलासस्य किमिवाऽऽगतमात्मनः ॥ ५५ ॥

विवेक एवं धैर्य से हीन जिस मूर्खने अपने अहङ्काररूपी महोत्सवका अवलम्बन किया, उसे आप तत्काल विनष्ट ही जानिए ॥ ५० ॥

अहङ्कारीको परलोकमें भी दुःख ही प्राप्त होता है, यों कहते हैं—'अहङ्कार०' इत्यादिसे ।

हे राघव, जिन बेचारोंको अहङ्काररूपी पिशाचने अपने अधीन बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियोंके इन्धन ही बन गये ॥ ५१ ॥

जिस अपनी देहरूपी वृक्षके कोटरमें यानी हृदयमें अहङ्काररूपी सर्प चारों ओर विस्फूर्जित होता रहता है, वह स्वदेहरूपी वृक्ष अधीर पुरुषों द्वारा तत्काल ही काटकर गिरा दिया जाता है ॥ ५२ ॥

हे महान् व्यक्तियोंमें श्रेष्ठ रामभद्र, इस देहमें अहङ्काररूपी पिशाच रहे अथवा चला जाय, परन्तु आप उसकी ओर मनसे तनिक भी दृष्टिपात न कीजिए ॥ ५३ ॥

केवल न देखनेसे ही क्या होगा ? इसपर कहते हैं—'अवधूतो' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चित्तसे ही बुरी तरह फटकारा गया, अपमानित तथा तिरस्कृत हुआ यह अहङ्काररूपी पिशाच यहां तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता ॥५४॥

अहङ्कारका अनुसरण करनेसे ही आत्माको अनर्थ प्राप्त होता है,

चित्तयक्षाभिभूतानां याः पुंसां विततापदः ।
शक्यन्ते परिसंख्यातुं न ता वर्षशतैरपि ॥ ५६ ॥
हा हा मृतोऽस्मि दग्धोऽस्मीत्येता वै दुःखवृत्तयः ।
अहङ्कारपिशाचस्य शक्तयोऽन्यस्य नाऽनघ ॥ ५७ ॥
सर्वगोऽपि यथाऽऽकाशः सम्बन्धो नेह केनचित् ।
सर्वगोऽपि तथैवाऽऽत्मा नाऽहङ्कारेण सङ्गतः ॥ ५८ ॥
यत्करोति यदादत्ते देहयन्त्रमिदं चलम् ।
वातरज्जुयुतं राम तदहङ्कारचेष्टितम् ॥ ५९ ॥
वृक्षोत्पत्तौ यथा हेतुरकर्त्रपि किलाऽम्बरम् ।
आत्मसंस्थस्तथेहाऽऽत्मा चित्तचेष्टासु कारणम् ॥ ६० ॥

उसकी उपेक्षा करनेपर तो विद्यमान रहता हुआ भी वह कुछ नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं —'**देहालये**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, इस देहरूपी घरमें चित्तरूपी पिशाचके स्फुरित होनेपर भी असीम विलासोंसे सम्पन्न इस आत्मामें क्या आया ? ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, चित्तरूपी यक्षसे पराजित हुए पुरुषोंको जो बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनकी सैकड़ों वर्षोंमें भी गिनती नहीं की जा सकती [यहां अहङ्कारके स्थानमें जो चित्तशब्दका प्रयोग किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि अन्यवृत्तियोंमें भी प्रकृत अहङ्कार ही अनर्थकारी है ।] ॥ ५६ ॥

हे पापशून्य राघव, 'हा ! हा ! मैं मर गया हूँ' 'मैं जल गया हूँ' इत्यादि जो दुःखवृत्तियाँ हैं, वे अहङ्काररूपी पिशाचकी ही शक्तियाँ हैं, दूसरेकी नहीं ॥ ५७ ॥

'अहम्' इस प्रतीतिसे आत्माका ही अनुभव होता है—यह जो नैयायिकोंकी भ्रान्ति है, उसका निवारण करते हैं—'**सर्वगोऽपि**' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश यहां किसीसे संश्लिष्ट नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहङ्कारसे संश्लिष्ट नहीं होता ॥ ५८ ॥

हे श्रीरामजी, सूत्रात्मा प्राणसे संयुक्त यह चंचल देहरूपी यन्त्र जो कुछ करता एवं जो कुछ लेता है, वह सब अहङ्कारका ही कृत्य है ॥ ५९ ॥

जब समस्त चेष्टाओंका निमित्त अहङ्कार ही है, आत्मा नहीं ; तब तो 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः', 'ऊर्ध्वं प्राण-

आत्मसन्निधिमात्रेण स्फुरत्यात्तवपुर्मनः ।
दीपसन्निधिमात्रेण कुड्यरूपमिवाऽमलम् ॥ ६१ ॥
अपि विश्लिष्टयो राम नित्यमेवाऽऽत्मचित्तयोः ।
द्यावापृथिव्योरिव कः सम्बन्धः प्रकटान्धयोः ॥ ६२ ॥
चपलस्पन्दनेराभिरात्मशक्तिभिरावृतम् ।
चित्तमात्मेति मौर्ख्येण दृश्यते रघुनन्दन ॥ ६३ ॥

मुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति । मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥"* इत्यादि श्रुतियोंके साथ विरोध होगा, इसपर कहते हैं—'वृक्षोत्पत्तौ' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार कर्तृत्वसे शून्य भी आकाश वृक्षकी उत्पत्तिमें कारण है, वैसे ही अपने स्वरूपसे स्थित आत्मा भी इन चित्तकी चेष्टाओंमें कारण है—यों श्रुतियों द्वारा गौणरूपसे कहा जाता है ॥ ६० ॥

उपचारमें हेतु मन आदिमें सत्ता एवं स्फूर्ति का प्रदान करना ही है, यह कहते हैं—'आत्म०' इत्यादिसे ।

एकमात्र आत्माकी सन्निधिसे ही सत्ता प्राप्त करनेवाला या स्थूल देहकी कल्पना करनेवाला मन उस प्रकार स्फुरित होता है, जिस प्रकार एकमात्र दीपकी सन्निधिसे निर्मल भीतका रूप प्रकाशित होता है ॥ ६१ ॥

हे श्रीरामजी, निरन्तर दूर रहनेवाले चैतन्यरूप और जड़रूप आत्मा एवं चित्त का, पृथिवी और आकाश की नाईं, कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है ? ॥६२॥

शङ्का हो कि आत्माका मन आदिके साथ यदि सम्बन्ध न होगा, तो उनमें सत्ताका स्फुरण ही नहीं हो सकेगा । सम्बन्ध होनेपर तो आत्मामें असङ्गत्व ही सिद्ध नहीं होगा ? इसपर कहते हैं—'चपल०' इत्यादिसे ।

हे रघुनन्दन, अत्यन्त चंचल स्पन्दनोंकी प्रेरणा करनेवाली प्राणशक्तियोंसे वशीकृत चित्त अभेदाध्यासरूप मौर्ख्यसे (अज्ञानसे) ही 'चित्त आत्मा है'—यों प्रतीत होता है, वस्तुतः नहीं ॥ ६३ ॥

---

* 'किसकी इच्छासे प्रेषित हुआ मन विषयोंकी ओर दौड़ता है, पहले किससे प्रेरित हुआ प्राण अपने व्यापारके प्रति उद्यत होता है', 'जो प्राणवृत्तिको हृदयसे ऊपरकी ओर ले जाता है और अपानको नीचेकी ओर ले जाता है, उस हृदयाकाशमें प्रकाशमान भजनीय देवकी सब चक्षु आदि उपासना करते हैं' ।

आत्मा प्रकाशरूपो हि नित्यः सर्वगतो विभुः ।
चित्तं शठमहङ्कारं विद्धि हार्दं बृहत्तमः ॥ ६४ ॥
आत्माऽसि वस्तुतस्त्वं हि सर्वज्ञो न मनो भृशम् ।
दूरे कुरु मनोमोहं किमेतेनाऽभिसङ्गतः ॥ ६५ ॥
पिशाचोऽपि मनो राम शून्यदेहगृहे स्थितः ।
भावयत्येष दुष्टात्मा मौनमुत्तम संस्पृशन् ॥ ६६ ॥
भवप्रदमकल्याणं धैर्यसर्वस्वहारिणम् ।
मनःपिशाचमुत्सृज्य योऽसि स त्वं स्थिरो भव ॥ ६७ ॥
चित्तयक्षदृढाक्रान्तं न शास्त्राणि न बान्धवाः ।
शक्नुवन्ति परित्रातुं गुरवो न च मानवम् ॥ ६८ ॥
संशान्तचित्तवेतालं गुरुशास्त्रार्थबान्धवाः ।
शक्नुवन्ति समुद्धर्तुं स्वल्पपङ्कान्मृगं यथा ॥ ६९ ॥

असङ्गत्वका उपपादन करनेके लिए विरोधका ही सविस्तर निरूपण करते हैं—'आत्मा' इत्यादिसे ।

भद्र, यह जो आत्मा है, वह प्रकाशस्वरूप, चैतन्यरूप, अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है तथा अहङ्काररूप चित्त तो वंचक और हृदयवर्ती सबसे बड़ा अन्धकार है, यह आप जानिए ॥ ६४ ॥

श्रीरामजी, वस्तुतः आप सर्वज्ञ आत्मस्वरूप ही हैं, मनोरूप नहीं इसलिए तत्काल ही मनोरूप मोहको अत्यन्त दूर कर दीजिए, क्योंकि निरर्थक ही आपने उसके साथ सङ्गति कर रक्खी है ॥ ६५ ॥

हे सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, शून्यदेहरूपी घरमें स्थित यह मनरूपी दुष्टात्मा पिशाच, वास्तवमें आत्माका स्पर्श न कर रहा भी 'मैं आत्माका स्पर्श करता हूँ'— यों चुपचाप भावना करता रहता है ॥ ६६ ॥

श्रीरामजी, संसारको देने तथा धैर्यरूपी सर्वस्वको चुरा लेनेवाले अभद्र, मनरूपी पिशाचका परित्याग कर जिस विशुद्ध चैतन्य स्वरूपवाले आप हैं, उसी स्वरूपसे स्थिर हो जाइए ॥ ६७ ॥

चित्तरूपी यक्षसे दृढ़तापूर्वक दबाये गये मनुष्यकी न शास्त्र, न बन्धु और न गुरु ही भलीभाँति रक्षा कर सकते हैं ॥ ६८ ॥

जिस पुरुषका चित्तरूपी वेताल अपने दुष्ट व्यापारोंसे विरत हो चुका है यानी

अस्मिञ्जगच्छून्यपुरे सर्वमेव प्रदूषितम् ।
देहगेहं प्रमत्तेन चित्तयक्षेण वल्गता ॥ ७० ॥
चित्तवेतालवलिता समस्ता देहखण्डजा ।
इयं जगदरण्यानी शून्या कस्य न भीतये ॥ ७१ ॥
जगन्नगर्यामस्यां तु शान्तचित्तपिशाचकम् ।
देहगेहं कतिपयैः सेव्यते सद्भिरेव यत् ॥ ७२ ॥
इह संश्रूयते या या दिक्सैव रघुनन्दन ।
प्रमत्तमोहवेतालैः पूर्णा देहश्मशानकैः ॥ ७३ ॥
अस्यां जगदरण्यान्यां मुह्यन्तं मुग्धबालवत् ।
स्वयमाराध्य धैर्यांशमात्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत् ॥ ७४ ॥

जिसका चित्त शुद्ध हो चुका है ऐसे पुरुषका —गुरु, शास्त्र, धन और बन्धु ऐसा उद्धार कर सकते हैं, जैसा अल्प कीचड़से बछड़ेका ॥ ६९ ॥

इस जगत्-रूपी शून्य-नगरमें सभी देहरूपी घर मदोन्मत्त तथा व्यर्थकी गर्जना करनेवाले चित्तरूपी यक्षने भलीभाँति दूषित कर दिये हैं ॥ ७० ॥

भद्र, चित्तरूपी वेतालसे वेष्टित तथा देहरूपी छोटे भागमें उत्पन्न हुई शून्य यह समस्त जगद्रूपी अरण्यानी (बड़ी वनभूमि) किसे भयभीत नहीं करती ? [अर्थात् सभी उससे भयभीत हो जाते हैं ।] ॥ ७१ ॥

उपर्युक्त श्लोकमें 'समस्त' यह जो कहा गया है, वह उत्सर्ग है, क्योंकि उससे विपरीत भी कहींपर देखा जाता है, ऐसा कहते हैं—**'जगन्नगर्या०'** इत्यादिसे ।

क्योंकि, जिसमें से चित्तरूपी पिशाच प्रशान्त हो गया है ऐसे—देहरूपी घरकी, इस जगत्-रूपी नगरीमें कुछ इने-गिने सज्जन ही सेवा करते हैं ॥ ७२ ॥

इसलिए अज्ञानियोंकी देह श्मशान-भूमिके तुल्य ही है, यों निन्दा करते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

हे रघुनन्दन, इस संसारमें जो-जो दिशाएँ सुनाई देती हैं, वे सभी देहरूपी श्मशान-भूमिमें मङ्गल मनानेवाले मदोन्मत्त मोहरूपी वेतालोंसे परिपूर्ण हैं ॥ ७३ ॥

इस जगत्-रूपी महान् अरण्यमें, अज्ञानी बालककी नाईं, मोहित हो

जगज्जरदरण्येऽस्मिंश्चरद्भूतमृगव्रजे ।
धृतिं तृणरसै राम मा गच्छ मृगपोतवत् ॥ ७५ ॥
अस्मिन् महीतलारण्ये चरन्ति मृगपोतकाः ।
त्वमज्ञानगजं भुक्त्वा सैंहीं वृत्तिमुपाश्रय ॥ ७६ ॥
अन्ये नरमृगा मुग्धा जम्बूद्वीपे स्वजङ्गले ।
विहरन्ति यथा राम तथा मा विहराऽनघ ॥ ७७ ॥
अत्यल्पकालशिशिरे कर्दमालेपदायिनि ।
न मङ्क्तव्यं बन्धुरूपे महिषेणेव पल्वले ॥ ७८ ॥
भोगाभोगा बहिष्कार्या आर्यस्याऽनुसरेत् पदम् ।
प्रविचार्य महार्थं स्वमेकमात्मानमाश्रयेत् ॥ ७९ ॥

रही अपनी आत्माका, स्वयं दृढतासे धैर्यका धारण कर, अपनेसे ही उद्धार कर लेना चाहिए ॥ ७४ ॥

हे श्रीरामजी, संचरण कर रहे प्राणीरूपी मृगोंसे व्याप्त इस संसार-रूपी अरण्यमें, हिरनके बच्चेकी नाईं, तृणोंके सदृश निःसार विषय-रसोंसे आप अपनेको कृतकृत्य मत मानिए ॥ ७५ ॥

श्रीरामभद्र, इस पृथ्वीतलके अरण्यमें दूसरे अज्ञानी जीव, हिरनके बच्चोंकी नाईं, यदि विषयरूपी कोमल तिनके चर जाते हैं, तो उन्हें भले ही चर जाने दीजिए, परन्तु आप तो अज्ञानरूपी हाथीका शिकार कर सिंहकी वृत्ति धारण कीजिए ॥ ७६ ॥

श्रीरामजी, दूसरे मनुष्य-मृग मुग्ध होकर अपने अरण्यरूप जम्बूद्वीपमें जिस प्रकार [विषयरूपी घास चरकर] विहार करते हैं, उस प्रकार हे अनघ, रामभद्र, आप विहार मत कीजिए ॥ ७७ ॥

समानस्वभाव होनेके कारण बन्धुजनोंके साथ सदा ही अवस्थान और उनसे सुख देखा गया है, फिर उसमें दोष ही क्या है ? इसपर कहते हैं—'अत्यल्प०' इत्यादिसे ।

भद्र, यह बन्धुवर्ग एक तरहसे अत्यन्त थोड़े समयके लिए ठण्ढक पहुँचानेवाला तथा आसक्तिरूप कीचड़से चारों ओर लिप देनेवाला छोटा जलाशय है, अतः उसमें आपको, भैंसेकी नाईं, डूबना नहीं चाहिए ॥ ७८ ॥

श्रीरामजी, आपको विषयरूपी सर्पोंका बहिष्कार कर देना चाहिए, आर्योंके

अपवित्रस्य तुच्छस्य दुर्भगस्य दुराकृतेः ।
देहस्याऽर्थे न मङ्क्तव्यं चिन्ताचण्डी सुदारुणा ॥ ८० ॥
अन्येन रचितो देहो यक्षेणाऽन्येन संश्रितः ।
दुःखमन्यस्य भोक्ताऽन्यश्चित्रेयं मौर्ख्यचक्रिका ॥ ८१ ॥
यथैकरूपा घनता दृषदोऽस्त्यात्मनस्तथा ।
सत्तामात्रैकसामान्यादितरस्याऽप्यसम्भवात् ॥ ८२ ॥
यथोपलस्य घनता मानसादि तथाऽऽत्मनः ।
सत्तामात्रादभिन्नत्वादभावादस्य संस्थितेः ॥ ८३ ॥

मार्गका अनुसरण करना चाहिए और 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थका भली प्रकार विचार कर अपनी अद्वितीय आत्माका ही आश्रयण करना चाहिए ॥ ७९ ॥

अपवित्र, तुच्छ, भाग्यरहित तथा दुष्टरूपवाले शरीरके लिए आसक्तिरूपी कीचड़में कभी फँसना नहीं चाहिए, क्योंकि उसमें फँसे हुए पुरुषोंको चिन्तारूप क्रूर राक्षसी खा डालती है ॥ ८० ॥

इस देहकी रचना एकने (कर्मने) की है, उसका आश्रयण दूसरे अहङ्कार-रूपी यक्षने किया है, दुःख किसी तीसरेको मिलता है और भोक्ता तो कोई चौथा ही (जीव) है, इस प्रकारकी यह अज्ञानकी चक्रिका (चल रही परम्परा) आश्चर्यरूप ही है ॥ ८१ ॥

सत्स्वरूप और एकरूप होनेसे आत्मामें भी दुःख और उसके भोग, भोक्ता शरीर आदि रूपान्तर का अवकाश नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

जिस प्रकार पत्थरकी घनता सत्तासामान्यसे पृथक् रूप नहीं है किन्तु एकरूप ही है, उसी प्रकार आत्माकी घनता भी एकमात्र सामान्यात्मक सत्ता-स्वरूपसे पृथक् नहीं है किन्तु अभिन्नरूप ही है, क्योंकि सद्रूपसे पृथक् दूसरा रूप ही नहीं है अर्थात् जो सद्भिन्न है उसकी असत्, अलीक आदि पदोंसे ही प्रसिद्धि है, यह तात्पर्य है ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार पत्थरका काठिन्य पत्थरसे पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, उसी प्रकार समष्टि-व्यष्ट्यात्मक मनःसमूह और तत्-तत् मनके कार्यभूत स्थूल प्रपञ्च भी आत्मासे पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, क्योंकि सत्तामात्रस्वभाव आत्मासे

यथोपलस्योपलता घटस्य घटता यथा।
सत्तामात्रादभिन्नैव मानसादि तथाऽऽत्मनः ॥ ८४ ॥
अत्रेमामपरां दृष्टिं महामोहविनाशिनीम्।
शृणु या कथिता पूर्वं मम कैलासकन्दरे।
संसारदुःखशान्त्यर्थं देवेनाऽर्धेन्दुमौलिना ॥ ८५ ॥
अस्तीन्दुकरसंभारभासुरः पारगो दिवः।
कैलासो नाम शैलेन्द्रो गौरीरमणमन्दिरम् ॥ ८६ ॥
तत्राऽऽस्ते भगवान् देवो हरश्चन्द्रकलाधरः।
तं पूजयन्महादेवं तस्मिन्नेव गिरौ पुरा ॥ ८७ ॥
कदाचिदवसं गङ्गातटे विरचिताश्रमः।
तपोर्थं तापसाचारे चिराय रचितस्थितिः ॥ ८८ ॥

अभिन्न होनेके कारण इन मन आदिकी पृथक् अवस्थिति ही नहीं रह सकती ॥ ८३ ॥

यह न्याय प्रत्येक घट और घटाकार मानसवृत्ति आदिमें भी लगाना चाहिए, इससे सद्रूप अद्वैत ही सिद्ध हुआ, यह कहते हैं—'यथो०' इत्यादिसे।

जैसे पत्थरका पत्थरपन अथवा जैसे घटका घटपन सत्तास्वरूप सामान्यसे अभिन्न ही है, वैसे ही समष्टि-व्यष्टि मन आदि आत्मासे अभिन्न ही हैं ॥ ८४ ॥

भद्र, इस अर्थमें आगे कही जानेवाली मानस-शिवपूजारूप इस दूसरी दृष्टिका आप श्रवण कीजिए, जो चन्द्रमौलि भगवान् शङ्करने कैलासपर्वतकी कन्दरामें संसार-दुःखकी शान्तिके लिए मेरे समक्ष कही थी ॥ ८५ ॥

उसमें पहले कैलासका वर्णन करते हुए कथाका उपक्रम करते हैं—'अस्ती०' इत्यादिसे।

चन्द्रमाके किरणसमूहोंकी नाईं भास्वर कैलासनामक एक पर्वतोंका राजा है। वह अपनी ऊँचाईसे आकाशको भी पार कर गया है और वह है—गौरी-रमण भगवान् श्रीशङ्करका एक मन्दिर ॥ ८६ ॥

वहाँपर चन्द्रकला धारण किये हुए स्वयंप्रकाशमान भगवान् महादेवजी रहते हैं। पहले किसी समय उसी पर्वतपर उन देवाधिदेवकी पूजा कर रहा मैं गङ्गाजीके किनारे आश्रम बनाकर रहता था। तपके लिए वहाँपर मैंने

सिद्धसङ्घातवलितः कृतशास्त्रार्थसंग्रहः ।
पुष्पार्थं स्यूतपुटिकः पुस्तकव्यूहसंग्रही ॥ ८९ ॥
एवंगुणविशिष्टस्य कैलासवनकुञ्जके ।
तपः प्रचरतो राम मम कालोऽत्यवर्तत ॥ ९० ॥
अथैकदा कदाचित्तु बहुलस्याऽष्टमे दिने ।
गते श्रावणपक्षस्य रात्र्यग्रे क्षयमागते ॥ ९१ ॥
दिक्षु संशान्तरूपासु काष्ठमौनस्थितास्विव ।
खड्गच्छेद्यान्धकारेषु कुञ्जेषु गहनेषु च ॥ ९२ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र यामार्धे प्रथमे गते ।
समाधिं तनुतां नीत्वा स्थितोऽहं बाह्यमग्रदृक् ॥ ९३ ॥

दीर्घकालतक तपस्वियों द्वारा अनुष्ठीयमान कृच्छ्र, चान्द्रायण आदिमें नियमपूर्वक निष्ठा की। वहाँपर मेरे चारों ओर सिद्धोंके समूह रहते थे। मैं उनसे विचार-विनिमय कर शास्त्रीय दुरूह तत्त्वोंका संग्रह करता था। मैंने फूल चुननेके लिए एक डलिया रक्खी थी और अनेक शास्त्रीय पुस्तकोंका संग्रह भी किया था ॥ ८७–८९ ॥

हे श्रीरामजी, उस तरहके गुणोंसे सम्पन्न कैलासवनके कुञ्जोंमें तपश्चर्या कर रहे मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया ॥ ९० ॥

अनन्तर किसी एक समयकी बात है—श्रावणके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथि थी और रात्रिका प्रथमभाग यानी प्रदोषसमय पूजा, जप, ध्यान आदिसे व्यतीत हो चुका था। प्राणियोंके संचरण आदि व्यापारोंका उपशम हो जानेसे शान्तस्वरूप हुई दिशाएँ उस समय काठकी नाईं मौन-व्रतमें (हाथ आदिके व्यापारोंसे भी हृदयगत अभिप्रायको प्रकट न करनेके कारण काठकी नाईं मौन-व्रतमें) मानो अवस्थित थीं। गहन कुञ्जोंमें अन्धकार इतना घना था कि वह तलवारसे काटने योग्य बन गया था ॥ ९१, ९२ ॥

श्रीरामभद्र, इसी बीच प्रथम यामार्धके वहाँ व्यतीत हो जानेपर मैंने अपनी समाधि स्वल्प (कुछ बहिर्मुख) बनाकर बाह्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि दौड़ाई ॥ ९३ ॥

अपश्यं कानने तेजो झटित्येव समुत्थितम् ।
शुभ्राभ्रशतसंकाशं चन्द्रबिम्बगणोपमम् ॥ ९४ ॥
प्रकटीकृतदिक्कुञ्जं तदालोक्य मया स्मयात् ।
अन्तःप्रकाशशालिन्या बहिर्दृष्ट्याऽवलोकितम् ॥ ९५ ॥
यावत्पश्यामि तं सानुं प्राप्तश्चन्द्रकलाधरः ।
गौरीकरार्पितकरो नन्दिप्रोत्सारिताग्रगः ॥ ९६ ॥
शिष्यान्सम्बोध्य तत्रस्थान् गृहीत्वाऽर्घ्यं सुसंयतः ।
अगमं सुमनास्तस्य दृष्टिपूतमहं पुरः ॥ ९७ ॥
तत्र पुष्पाञ्जलिं दत्वा दूरादेव त्रिलोचनः ।
दत्तार्घ्येण मया देवः संप्रणम्याऽभिवन्दितः ॥ ९८ ॥

उस समय उस अरण्यमें तत्काल ही उत्पन्न हुआ एक बड़ा तेज, जो शुभ्रातिशुभ्र सैकड़ों अभ्रोंके तुल्य धवल एवं असंख्य चन्द्रबिम्बोंके सदृश चमकीला था, मैंने देखा ॥ ९४ ॥

उस तेजकी चकाचौंधसे दिशाओंके समस्त कुञ्ज चमक उठे। मैंने बड़े विस्मयके साथ उसे देखा और देखकर भीतरकी प्रकाशमान दिव्य-दृष्टिसे उसके विषयमें विचारा और तदनन्तर फिर बाह्यदृष्टिसे तत्-तत् विशेष-अवयवोंके अनुसन्धानपूर्वक उसका अवलोकन किया ॥ ९५ ॥

विचार कर ज्यों ही मैं सामनेका शिखर-प्रदेश देखता हूँ, त्यों ही चन्द्र-कलाधर महादेवजी उपस्थित हो गये। उन्होंने अपना एक हाथ भगवती गौरीके हाथमें रक्खा था और उनके गण नन्दी आगे चलनेवालोंको हटा रहे थे ॥ ९६ ॥

वहाँ उपस्थित समस्त शिष्योंको सम्बोधित कर तथा अर्घ्यपात्र लेकर सावधान एवं प्रसन्न-मन हुआ मैं उन गौरीपतिके दृष्टिपूत पुरःप्रदेशमें गया यानी उनकी पवित्र सन्निधिमें पहुँचा ॥ ९७ ॥

वहां जाकर दूरसे ही मैंने पुष्पाञ्जलि समर्पित की और अर्घ्य प्रदान किया। अनन्तर तीन नेत्रवाले महादेवको साष्टाङ्ग प्रणाम कर उनका अभिवन्दन किया यानी उनकी स्तुति की ॥ ९८ ॥

ततश्चन्द्रप्रभासख्या ऋज्व्या शीतलया तया ।
दृशा सर्वार्तिहारिण्या चिरमस्म्यास्पदीकृतः ॥ ९९ ॥
पुष्पसानूपविष्टाय तस्मै त्रैलोक्यसाक्षिणे ।
अर्घ्यं पुष्पं तथा पाद्यमभ्युपेत्याऽर्पितं मया ॥ १०० ॥
मन्दारपुष्पाञ्जलयो विकीर्णा बहवः पुरः ।
नानाविधैर्नमस्कारैः स्तोत्रैश्चाऽभ्यर्चितः शिवः॥ १०१ ॥
ततो भगवती गौरी तादृश्यैव सपर्यया ।
संपूजिता सखीयुक्ता गणमण्डलिका तथा ॥ १०२ ॥
पूजान्ते पूर्णशीतांशुरश्मिशीतलया गिरा ।
तत्रोपविष्टं प्रोवाच मामर्धेन्दुकलाधरः ॥ १०३ ॥
ब्रह्मन् प्रशमशालिन्यः प्राप्तविश्रान्तयः परे ।
कच्चित् कल्याणकारिण्यः संविदस्ते स्थिताः पदे॥ १०४ ॥

अपने भाग्यके महान् उदय तथा अपने ऊपर महादेवजीके सानुग्रह दृष्टिपातका वर्णन करते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

तदनन्तर चन्द्रज्योत्स्नाकी सखीभूत कोमल, शीतल तथा समस्त सन्तापोंका अपहरण करनेवाली उस महादेवजीकी दृष्टिका (स्वानुभूत अलौकिक निरतिशयानन्दके आविर्भावभूत चमत्कारसे परिपूर्ण दृष्टिका) मैं दीर्घकालतक भाजन बना रहा ॥ ९९ ॥

पुष्पोंके शिखरपर उपविष्ट तीनों लोकोंके साक्षी उस देवाधिदेवको मैंने समीप जाकर अर्घ्य, पुष्प तथा पाद्य का समर्पण किया ॥ १०० ॥

उनके सामने मैंने अनेक मन्दार-पुष्पोंकी अञ्जलियाँ बिखेर दीं और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रों से शिवजीका अभ्यर्चन किया ॥ १०१ ॥

तदनन्तर मैंने शिवजीकी पूजाके सदृश ही पूजासे सखियोंसे युक्त तथा गणमण्डलसे परिवेष्टित भगवती गौरीका उत्तम रीतिसे पूजन किया ॥ १०२ ॥

पूजाकी समाप्ति होनेपर उनकी आज्ञासे पुष्पमय शिखरपर बैठे हुए मुझसे अर्धचन्द्रकी कला धारण करनेवाले भगवान् उमापति परिपूर्ण हिमांशु-किरणके सदृश शीतल वाणीसे कहने लगे ॥ १०३ ॥

यद्यपि पहले कुशल प्रश्न ही किया जाता है, तथापि समस्त कुशलताकी

कच्चित्तपस्ते निर्विघ्नं कल्याणमनुवर्तते ।
कच्चित् प्राप्यमनुप्राप्तं कच्चिच्छाम्यन्ति भीतयः ॥ १०५ ॥
एवं वादिनि देवेशे सर्वलोकैककारिणि ।
गिराऽनुनयशालिन्या मयोक्तं रघुनन्दन ॥ १०६ ॥
त्र्यक्षानुस्मृतिकल्याणवतामिह महेश्वर ।
न किञ्चिदपि दुष्प्रापं न च काश्चन भीतयः ॥ १०७ ॥
त्वदनुस्मरणानन्दपरिघूर्णितचेतसाम् ।
न ते सन्ति जगत्कोशे प्रणमन्ति न ये पुनः ॥ १०८ ॥
ते देशास्ते जनपदास्ता दिशस्ते च पर्वताः ।
त्वदनुस्मरणैकान्तधियो यत्र स्थिता जनाः ॥ १०९ ॥

परम सीमाभूत परमात्मामें चित्त-विश्रान्तिका ही, अनुग्रह करनेकी इच्छासे, भगवान् पहले प्रश्न करते हैं—'**ब्रह्मन्**' इत्यादिसे ।

भगवान् उमापतिने कहा—हे ब्रह्मन्, सर्वविध सांसारिक उपद्रवोंके उपशमसे विराजित, परमात्मरूप पर-वस्तुमें विश्रान्ति ले रही तथा मोक्षरूप उत्तम कल्याण देनेवाली तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ अपने स्वरूपमें अवस्थित तो हैं ? ॥ १०४ ॥

तुम्हारा कल्याणकारी तप निर्विघ्नरूपसे बराबर चल रहा है न ? प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर ली है न ? और सांसारिक भीतियाँ शान्त हो रही हैं न ? ॥१०५॥

हे रघुनन्दन, समस्त लोकोंके एकमात्र हेतु देवाधिदेव महादेवजीके उस प्रकार कहनेके अनन्तर विनययुक्त वाणीसे मैंने उनसे निवेदन किया ॥ १०६ ॥

हे महेश्वर, देवाधिदेव त्रिनेत्रकी निरन्तर स्मृतिसे प्राप्त हुए उत्तम कल्याणसे सम्पन्न पुरुषोंके लिए इस संसारमें कोई भी वस्तु न तो दुष्प्राप्य है और न किसी तरहकी भीतियाँ ही हैं ॥ १०७ ॥

आपके निरन्तर स्मरणसे जनित आनन्दसे जिनका चित्त चारों ओरसे घूर्णित हो गया है, ऐसे पुरुषोंके लिए इस जगत्कोशमें वे प्राणी ही नहीं हैं, जो उन्हें प्रणाम नहीं करते अर्थात् सभी उन्हें प्रणाम करते हैं ॥ १०८ ॥

भगवन्, एकमात्र आपके अनुस्मरणमें निरन्तर जिनका मन लगा रहता है, ऐसे पुरुष जहां स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे ही पर्वत प्रशस्ततम हैं ॥ १०९ ॥

फलं भूतस्य पुण्यस्य वर्तमानस्य सेचनम् ।
तनोति चैष्यतो बीजं त्वदनुस्मरणं प्रभो ॥ ११० ॥
ज्ञानामृतैककलशो धृतिज्योत्स्नानिशाकरः ।
अपवर्गपुरद्वारं त्वदनुस्मरणं प्रभो ॥ १११ ॥
त्वदनुस्मरणोदारचिन्तामणिमता मया ।
सर्वासामापदां मूर्ध्नि दत्तं भूतपते पदम् ॥ ११२ ॥
इत्युक्त्वा सुप्रसन्नं तं भगवन्तं महेश्वरम् ।
अवोचं प्रणतो भूत्वा यद्राम तदिदं शृणु ॥ ११३ ॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन पूर्णा मे सकला दिशः ।
किन्तु पृच्छामि देवेश सन्देहे तत्र निर्णयम् ॥ ११४ ॥
ब्रूहि प्रसन्नया बुद्ध्या त्यक्तोद्वेगमनामयम् ।
सर्वपापक्षयकरं सर्वकल्याणवर्धनम् ॥ ११५ ॥
देवार्चनविधानं तत्कीदृशं भवति प्रभो ॥ ११६ ॥

हे प्रभो, आपका अनुस्मरण पूर्वसंचित पुण्य-वृक्षके फलको अनन्तकोटि-गुना बढ़ा देता है, वर्तमान देहसे उत्पादित पुण्य-वृक्षका मानो अमृतसिञ्चन द्वारा अभिवर्धन करता है और करिष्यमाण पुण्यकी अभिवृद्धिके लिए बीजका विस्तार करता है ॥ ११० ॥

हे प्रभो, आपका अनुस्मरण ज्ञानरूपी अमृतका एकमात्र आधारभूत कलश है, धृतिरूपी ज्योत्स्नाके लिए चन्द्रमा है और मोक्षरूपी नगरका द्वार है ॥ १११ ॥

हे समस्त भूतोंके अधिपते, आपके निरन्तर चिन्तनरूपी उदार चिन्तामणिसे शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्यत् कालीन आपत्तियोंके सिरपर अपना पैर रख दिया है ॥ ११२ ॥

हे श्रीरामजी, सुप्रसन्न उन भगवान् शङ्करजीसे यों कहकर नतमस्तक होकर मैंने जो कुछ वक्ष्यमाण रीतिसे कहा, उसे आप सुनिए ॥ ११३ ॥

हे भगवन्, यद्यपि आपकी अनुकम्पासे मेरे लिए समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थोंसे परिपूर्ण हैं; तथापि हे देवेश, एक मुझे जो सन्देह है, उसके विषयमें आपसे निर्णय पूछता हूँ ॥ ११४ ॥

हे प्रभो, वह देवार्चन-विधान किस तरहका है ? जो समस्त चित्त-विक्षेपके

ईश्वर उवाच

शृणु ब्रह्मविदां श्रेष्ठ देवार्चनमनुत्तमम् ।
वदामि मुच्यते येन कृतेन सकृदेव हि ॥ ११७ ॥
कच्चिद्वेत्सि महाबाहो देवः कः स्यादिति द्विज ।
न देवः पुण्डरीकाक्षो न च देवस्त्रिलोचनः ॥ ११८ ॥

हेतुओंसे वर्जित, विकारशून्य, समस्त पापोंका विनाशकारी तथा समस्त कल्याणोंका अभिवर्धक होता है, उसे प्रसन्न-मतिसे आप मुझसे कहिए ॥ ११५, ११६॥

'पूर्णा मे सकला दिशः' इस कथनसे महर्षि वसिष्ठजीको विषयभोगकी अभिलाषा नहीं है, ऐसा द्योतन हो जाता है । अतः 'सर्वपापक्षयकरं सर्वकल्याणवर्धनम्' इन दो विशेषणोंसे समस्त अनर्थनिवृत्तिसे उपलक्षित निरतिशयानन्दस्वरूप मोक्ष-साधनके विषयमें ही यह वसिष्ठजीका प्रश्न है, यों सर्वज्ञ परम कारुणिक सदाशिवने पहले निश्चय किया, अनन्तर सर्वतोभावेन शरणागत वसिष्ठजीको सर्वदेवार्चनके परम रहस्य-भूत परम पुरुषार्थके साधन तत्त्वज्ञानके उपदेशकी इच्छासे भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं—'शृणु' इत्यादिसे ।

ईश्वरने कहा—हे ब्रह्मज्ञानियोंमें अग्रगण्य मुनिवर, मैं तुमसे सर्वश्रेष्ठ वह देवार्चनका विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करनेसे तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ११७ ॥

आगे कहे जानेवाले देवार्चनके अनुरूप अलौकिक देवस्वरूपका उपदेश देनेके लिए शिष्यको उसकी जिज्ञासा करा रहे भगवान् पहले वसिष्ठजीसे प्रश्न करते हैं—'कच्चित्' इत्यादिसे ।

हे महाबाहो* द्विजश्रेष्ठ, क्या तुम्हें यह अवगत है कि देवता कौन है ? न तो पुण्डरीकाक्ष ही देव है और न त्रिलोचन महादेवजी ही ॥ ११८ ॥

* यहाँपर 'महाबाहु' शब्दका अर्थ है—निरन्तर देवार्चनसे सफलीकृतबाहु । इससे यह सूचित हुआ कि बाहुसापेक्ष बाहरकी केवल पूजामें ही शूरता बतलानेके लिए सम्बोधन किया गया है । यदि शङ्का हो कि पुण्डरीकाक्ष और त्रिलोचन आदि देवता तो प्रसिद्ध ही हैं, फिर भगवान् इस साधारण विषयमें मुझे अनभिज्ञ क्यों मानते हैं ? इस प्रकारके अभिप्राय-वाले वसिष्ठजीकी परिच्छिन्न पदार्थोंमें श्रद्धारूपी जड़ताका प्रथम अपाकरण करनेके लिए यहाँपर 'न देवाः' इत्यादि ग्रन्थ है, यह समझना चाहिए ।

न देवः कमलोद्भूतो न देवस्त्रिदशेश्वरः ।
न देवः पवनो नाऽर्को नाऽनलो न निशाकरः॥ ११९ ॥
न ब्राह्मणो नाऽवनिपो नाऽहं न त्वं द्विजोत्तम ।
न देवो देहरूपो हि न देवश्चित्तरूपधृक् ॥ १२० ॥
न देवः कमलारूपी नाऽपि देवो भवेन्मतिः ।
अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं देव उच्यते ॥ १२१ ॥

न तो कमलोद्भव ब्रह्माजी देवता हैं और न सर्वदेवताओंके अधिपति इन्द्र ही देवता हैं । न पवन, न सूर्य, न अग्नि और न निशाकर (चन्द्रमा) ही वास्तवमें देवता है [प्रकृत श्लोकमें निशाकरशब्द चन्द्रकलाके अधीन शरीरवाले तेंतीस करोड़ देव-शरीरोंका उपलक्षण है ।] ॥ ११९ ॥

हे द्विजोत्तम, वास्तवमें न ब्राह्मण देवतारूप है, न राजा देवतारूप है और न मैं * ही देवतारूप हूँ, न तुम देवतारूप हो, न आध्यात्मिकभावसे आपन्न देह आदि पदार्थ ही देवतारूप हैं † और न चित्तरूपधारी व्यक्तिविशेष ही देवतारूप है ॥ १२० ॥

देहकी शोभा भी देवरूप नहीं है और मति भी देवरूप नहीं है; किन्तु क्रियासाध्य वस्तुसे विलक्षण, आदि और अन्त से शून्य, निरतिशय आनन्दात्मक चित्प्रकाश ही देवस्वरूप है, यह तत्त्वज्ञों द्वारा कहा जाता है ॥ ‡ १२१ ॥

---

* 'नाहं न त्वम्' यह निषेध—रुद्र और वसिष्ठ में 'तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्राः' (उत्क्रमण-कालमें सम्बन्धियोंको रुलाते हैं, अतः प्राण रुद्रनामवाले हैं), 'यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्व-सिष्ठोऽसि' (जो मैं वाक् वसिष्ठत्व गुणसे युक्त हूँ, उस गुणसे तुम—प्राण—वसिष्ठ हो) इत्यादि श्रुतियोंमें मुख्य समष्टि प्राणरूपताकी प्रसिद्धिसे तथा 'कतम एको देव इति प्राणः' इत्यादि प्राणकी ही सर्वदेवस्वरूपताप्रतिपादक श्रुतिसे प्राणभावसे प्राप्त हुए देवस्वरूपत्वका निवारण करनेके लिए—किया गया है ।

† 'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्' इत्यादि श्रुतियोंमें आध्यात्मिक चक्षु आदिके लिए देव-शब्दके प्रयोग से तथा 'त्वचे स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा' इत्यादि मन्त्रलिङ्गसे देह आदि आध्या-त्मिक भावोंमें प्राप्त हुई देवस्वरूपताका निवारण करते हैं—'देहरूपः' से ।

‡ आध्यात्मिक पदार्थोंका उपक्रम होनेके कारण कमलाशब्दसे यहाँ देहादिकी शोभा ही ली गई है । मतिशब्द समस्त आध्यात्मिक पदार्थोंका उपलक्षण है । इसी न्यायसे समस्त आधिभौतिक पदार्थोंमें भी देवरूपता नहीं है, यह जान लेना चाहिए ।

आकारादिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कुतः ।
अकृत्रिममनाद्यन्तं देवनं चिच्छिवं विदुः ॥ १२२ ॥
तदेव देवशब्देन कथ्यते तत्प्रपूजयेत् ।
तदेवाऽस्ति यतः सर्वं सत्तासत्तात्मरूपधृक् ॥ १२३ ॥
अज्ञातशिवतत्त्वानामाकाराद्यर्चनं कृतम् ।
योजनाध्वन्यशक्तस्य क्रोशाध्वा परिकल्प्यते ॥ १२४ ॥
इयत्तादिपरिच्छिन्नं रुद्रादेः प्राप्यते फलम् ।
अकृत्रिममनाद्यन्तं फलमानन्द आत्मनः ॥ १२५ ॥

देश और वस्तु से परिच्छिन्न तथा कालसे परिच्छिन्न वस्तुमें वह प्रकाश ही कहां रहता है ? [तात्पर्य यह है—'दिवु क्रीड़ा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु' यों दस अर्थोंमें प्रसिद्ध दिव्‌धातुसे 'पचाद्यच्' इस सूत्रसे अच्‌प्रत्यय करनेपर सिद्ध हुए देवशब्दके संकोचमें प्रमाण न होनेसे वह मायिक निरङ्कुश ऐश्वर्य, स्वच्छन्द क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, स्तुति तथा आविद्यक मद, स्वप्न, इच्छा और गतिका निर्वाहक है, अतः उक्त दशविध अर्थोंमें कौन मुख्य अर्थ हैं ; इसका विचार करने पर द्युति और मोद ही मुख्य अर्थ प्रतीत होते हैं और वे नित्य, निरतिशयानन्दस्वरूप, स्वप्रकाश परब्रह्मरूपमें ही उपपन्न हो सकते हैं, परिच्छिन्न जड़ोंमें नहीं ।] इसलिए आदि और अन्त से शून्य, स्वाभाविक जो प्रकाशस्वरूप चित् है, उसीको मुनिलोग शिव और देव कहते हैं ॥ १२२ ॥

चूँकि जगत्, जीव और उसका संसार—ये सब उसकी सत्तासे ही अस्तित्वरूप अपना स्वरूप धारण करते हैं, इसलिए एकमात्र वह चिति ही विद्यमान वस्तु है, दूसरी नहीं । वही देवशब्दसे व्यवहृत होती है, इसलिए उसीकी पूजा करनी चाहिए ॥ १२३ ॥

तब क्या पुण्डरीकाक्ष आदि मूर्तियोंकी पूजाका जो विधान है, वह व्यर्थ है ? इसपर नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं—'अज्ञात०' इत्यादिसे ।

ब्रह्मन् , जो परम शिवतत्त्वसे अपरिचित हैं, उन्हींके लिए पुण्डरीकाक्ष आदि मूर्तियोंका पूजन विहित है । ठीक ही है, योजनपरिमित मार्गमें अशक्त पुरुषके लिए क्रोश-परिमित मार्गकी कल्पना की जाती है ॥ १२४ ॥

पूजन आदिसे प्रसन्न हुए रुद्र आदि देवताओंसे इयत्ता आदिसे परिच्छिन्न ही फल

अकृत्रिमफलं त्यक्त्वा यः कृत्रिमफलं व्रजेत् ।
त्यक्त्वा स मन्दारवनं कारञ्जं याति काननम् ॥ १२६ ॥
बोधः साम्यं शम इति पुष्पाण्यग्राणि तत्र च ।
शिवं चिन्मात्रममलं पूज्यं पूज्यविदो विदुः ॥ १२७ ॥
शमबोधादिभिः पुष्पैर्देव आत्मा यदर्च्यते ।
तत्तु देवार्चनं विद्धि नाऽऽकारार्चनमर्चनम् ॥ १२८ ॥
आत्मसंवित्तिरूपं तु त्यक्त्वा देवार्चनं जनाः ।
कृत्रिमार्चासु ये सक्ताश्चिरं क्लेशं भजन्ति ते ॥ १२९ ॥

प्राप्त होता है और तत्त्वतः साक्षात्कारपर्यन्त पूजनसे प्रसन्न हुई आत्मासे तो स्वाभाविक तथा आदि एवं अन्त से वर्जित निरतिशयानन्दरूप फल प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥

यदि शङ्का हो कि कृत्रिम विषयभोग अनात्म-पूजनसे ही सिद्ध होते हैं, इसलिए उनके लाभार्थ कृत्रिम-पूजा ही करनी चाहिए ? तो इसपर कहते हैं—'**अकृत्रिम०**' इत्यादिसे ।

स्वाभाविक निरतिशयानन्दरूप फल छोड़कर जो पुरुष कृत्रिम फलकी ओर प्रवृत्ति करता है, उसके विषयमें यही कहना चाहिए कि वह देवतरु मन्दारका वन छोड़कर कंजा-वनकी ओर प्रवृत्ति करता है ॥ १२६ ॥

तो अकृत्रिम पूजनमें कौन-सी सामग्री है ? इस शङ्कापर उस सामग्रीका उल्लेख करते हैं—'**बोधः**' इत्यादिसे ।

कौन पूज्य है इस विषयका तात्त्विक ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि एकमात्र चित्स्वरूप निर्मल शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन-सामग्रीमें विवेक-ज्ञान, सर्वभूतोंमें आत्मबुद्धि और शम—ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं ॥ १२७ ॥

हे महर्षे, प्रकाशमान आत्मदेवकी शम, बोध आदि पुष्पोंसे जो पूजा की जाती है, उसीको आप देवार्चन जानिए, मूर्ति-पूजाको देवार्चन मत जानिए ॥ १२८ ॥

जो मनुष्य आत्मज्ञानरूप देवार्चन छोड़कर कृत्रिम पूजनोंमें ही आसक्त रहते हैं, वे चिरकालतक क्लेश ही पाते हैं ॥ १२९ ॥

ज्ञातज्ञेया हि ये सन्तो बालक्रीडोपमं च ते ।
आत्मध्यानादृते ब्रह्मन् कुर्वन्तो देवपूजनम् ॥ १३० ॥
आत्मैव देवो भगवाञ्छिवः परमकारणम् ।
ज्ञानार्चनेनाऽविरतं पूजनीयः स सर्वदा ॥ १३१ ॥
त्वमेतच्चेतनाकाशमात्मानं जीवमव्ययम् ।
स्वभावं विद्धि न त्वन्यः पूज्यः पूजाऽऽत्मपूजनम् ॥ १३२ ॥

वसिष्ठ उवाच

चेतनाकाशमात्रात्म यथा जगदिदं प्रभो ।
यथा तच्चेतनस्यैव जीवादित्वं तदुच्यताम् ॥ १३३ ॥

हे ब्रह्मन्, जो विदिततत्त्व सन्त-महात्मा किसी समय आत्म-समाधिसे व्युत्थित होकर साकारदेव-पूजन करते हुए पाये जाते हैं, वे बालक्रीड़ाके सदृश आनन्दार्थ ही साकार पूजन करते हैं, न कि कृत्रिम भोगोंकी अभिलाषासे ॥१३०॥

आत्मा ही प्रकाशमान देव, छः प्रकारके ऐश्वर्यसे परिपूर्ण, शिव और परम कारणस्वरूप है । [अतः] ज्ञानरूप पूजन-सामग्रीसे उसीकी सर्वदा अविच्छिन्न-रूपसे निरन्तर पूजा करनी चाहिए ॥ १३१ ॥

हे वसिष्ठजी, आप जीवको अपरोक्ष चेतनाकाशस्वरूप अविनाशी अकृत्रिम ब्रह्मस्वरूप ही जानिए, एकमात्र वही पूज्य है ; दूसरा कोई आत्मातिरिक्त पूज्य नहीं है । अतः आत्मपूजा ही पूजा है* ॥ १३२ ॥

'तदेवाऽस्ति यतः सर्वम्' इत्यादि श्लोकसे ब्रह्म ही जगत्, जीव, जीवसंसार और उनके अस्तित्वरूप से स्थित है, यह जो पहले कहा गया था, उसमें उपपत्ति जाननेकी इच्छासे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं—'चेतना०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे प्रभो, यह जगत् जिस उपपत्तिसे चैतन्य-प्रकाशमात्रस्वरूप होता है तथा जिस उपपत्तिसे उसी चेतनमें जीवादिस्वरूपता प्राप्त होती है, उसे [आप कृपाकर मुझसे] कहिए ॥ १३३ ॥

---

* इस विषयमें विद्वानोंका अनुभवपूर्ण यह वचन है—
'देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सदाशिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥'
देह ही देव-मन्दिर है और उसमें विराजमान जीव ही सदाशिवस्वरूप देवता है । उसपर से अज्ञानरूपी निर्माल्य हटा देना चाहिए और 'सोऽहं' इस रूपसे उसकी पूजा करनी चाहिए ।

ईश्वर उवाच

चिद्व्योमैव किलाऽस्तीह पारावारविवर्जितम् ।
सर्वत्राऽसम्भवच्चेत्यं यत्कल्पान्तेऽवशिष्यते ॥ १३४ ॥
यद्यत्स्वयं प्रकचति तस्य स्वकचनस्य तु ।
स्वयं यत्स्पन्दितं नाम तेनेदं जगदित्यलम् ॥ १३५ ॥
इत्येवं स्वप्नपुरवज्जगद्भाति चिदात्मकम् ।
एवं चिद्व्योममात्रात्म जगदच्छं न भित्तिमत् ॥ १३६ ॥

समस्त चेत्य पदार्थोंका प्रलय हो जानेपर भी 'चित्सत्ता' ज्यों की त्यों बनी रहती है, इससे 'चित्सत्ता चेत्य पदार्थोंके अधीन नहीं है' यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है, अतः चित्के अधीन भासमान चेत्यका जिस प्रकार चितिसे भिन्न दूसरा भान मानना युक्त नहीं है, उसी प्रकार चित्सत्ताके अधीन चेत्यकी चितिसत्तासे पृथक् सत्ता मानना भी युक्त नहीं है, ऐसी उपपत्ति बतलाते हैं—**'चिद्व्योमैव'** इत्यादिसे ।

ईश्वरने कहा—चूँकि यहां सर्वत्र आर-पारसे रहित—सर्वविध परिच्छेदोंसे शून्य—चेत्यनिर्मुक्त चिदाकाश ही विद्यमान है, इसलिए कल्पान्तमें भी वह अवशिष्ट रहता है ['चिदाकाश सर्गकालमें भी चेत्यशून्य है, पार आदि परिच्छेदशून्य होनेसे, प्रलयकालके समान' इस प्रकार अनुमानरूप उपपत्ति यहां बतलाई गई है, ऐसा समझना चाहिए ।] ॥ १३४ ॥

तब जगद्रूप प्रतिभास कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—**'यद्यत्'** इत्यादिसे ।

सूर्य, चन्द्र, प्रदीप, इन्द्रिय, मन आदि जो-जो स्वयं प्रचुरप्रकाशवाले पदार्थ हैं, उनके अपने प्रकाशका—अपने बिम्बमें समा न सकनेके कारण स्वयं जो बिम्बसे बाहर प्रभाकारसे—स्पन्दित यानी स्पन्दन-सा प्रसिद्ध है, वही नील, पीत आदि उसका विषयभूत जगत् है । इसी प्रकार चिद्व्योमके अपरिच्छिन्न होनेसे मायारूप आवरणके भीतर न समा सकनेके कारण उसका मायिक वासना आदि मार्गसे जो एक तरहका स्पन्दन-सा प्रसिद्ध है, उसीसे यह जगत् दिखलाई पड़ता है ॥ १३५ ॥

उक्त रीतिसे एकमात्र चिदात्मस्वरूप ही सिद्ध हो रहा विचित्ररूप यह जगत् स्वप्ननगरके सदृश भ्रान्तिसे प्रतीत होता है । मेरी कथित रीतिसे परमार्थ-बुद्ध्या विचार करनेपर तो जगत्की कोई भित्ति ही सिद्ध नहीं होती, वास्तवमें वह अमूर्त एवं स्वच्छ चिदाकाशमात्रस्वरूप ही है ॥ १३६ ॥

अत्यन्तासम्भवच्चेत्यं दृश्यं चिद्व्योममात्रकम् ।
चित्त्वात्कचति सर्गादौ यत्तज्जगदिति स्मृतम् ॥ १३७ ॥
तस्मात् स्वप्नपुराकारं यदिदं भासते जगत् ।
तत्र चिद्व्योममात्रात्मन्यन्यता नाम का कुतः ॥ १३८ ॥
चिन्मात्रमेव गिरयश्चिन्मात्रं जगदम्बरम् ।
चिन्मात्रमात्मा जीवश्च चिन्मात्रं भूतसन्ततिः ॥ १३९ ॥
चिद्व्योममात्रादितरत् सर्गादौ सर्ववेदने ।
भिन्नं स्वर्गे पुरे वाऽपि किं सम्भवति कथ्यताम् ॥ १४० ॥

तब क्या चिति ही चेत्यके आकारमें परिणत अपनेको देखती है ? इस शङ्कापर नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं—'अत्यन्ता०' इत्यादिसे ।

अपरिणामी और अद्वय होनेसे चैतन्यका परिणाम चेत्य हो ही नहीं सकता, अतः अत्यन्त असम्भव चेत्य भी आवृत चित्-स्वभावसे पृथक् जो सृष्टिके आदिमें चिदाकाशमात्रस्वरूप भासता है, वही दृश्य-जगत् है, ऐसा मुनियोंका स्मरण है ॥ १३७ ॥

इसलिए स्वप्न-नगरके सदृश जो यह जगत् भासता है, उस चिदाकाश-मात्रस्वरूप जगत्में भिन्नताका अवकाश ही कहाँ है ? ॥ १३८ ॥

अतएव आरोपित रूपके बाधसे चिन्मात्रस्वरूपताका प्रत्यक्ष करना चाहिए, यह कहते हैं—'**चिन्मात्रमेव**' इत्यादिसे ।

चिन्मात्रस्वरूप ही पर्वत हैं, चिन्मात्र ही जगत् और आकाश है, चिन्मात्रस्वरूप आत्मा एवं जीव है तथा भूतोंकी परम्परा भी चिन्मात्रस्वरूप ही है ॥ १३९ ॥

महर्षे, सृष्टिके आरम्भमें ऊर्ध्व-लोक, अपना नगर तथा पाताल— इनमें कहींपर भी चिदाकाशमात्रस्वरूप आत्मासे भिन्न ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सबके अनुभवमें आती हो, उसे आप बतलाइए ? [तात्पर्य यह है कि चिद्भिन्नकी स्वतः सत्तास्फूर्ति माननेपर अचित्त्वका व्याघात, सत्तास्फूर्तिके अभावमें अलीकरूपता, अलीकका चित्से भी उज्जीवन अनुभूत न होनेसे, असंग होनेके कारण चित्का अचित्के साथ सम्बन्ध न होनेसे और साधकान्तरकी अप्रसिद्धि होनेसे चिद्भिन्न पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती ।] ॥ १४० ॥

आकाशं परमाकाशं ब्रह्माकाशं जगच्चितिः ।
इति पर्यायनामानि तत्र पादपवृक्षवत् ॥ १४१ ॥
एवं द्वौ स्वप्नसङ्कल्पमायाभिः स्वनुभूयते ।
तदा किल चिदाकाशमेव भाति जगत्तया ॥ १४२ ॥
यथैतत्संविदाकाशं स्वप्ने भाति जगद्वपुः ।
तथेदं जाग्रदाख्येऽपि स्वप्ने भाति तदेव नः ॥ १४३ ॥
यथा स्वप्नपुरे चित्खं वर्जयित्वेतरत्क्वचित् ।
न किञ्चित्सम्भवत्येवं जाग्रत्येवं महाचितः ॥ १४४ ॥

यदि शङ्का हो कि जैसे 'यजति, ददाति, जुहोति' इत्यादि शब्दभेदोंसे कर्मभेद होता है, वैसे ही चित्, आकाश, जगत् इत्यादि शब्दभेदोंसे उनका भेद हो सकता है ? तो इसपर कहते हैं—'आकाशम्' इत्यादिसे ।

आकाश, परमाकाश, ब्रह्माकाश*, जगत् और चित्—ये सब उस प्रकार ब्रह्मरूप अर्थके पर्यायशब्द हैं, जिस प्रकार पादप और वृक्ष शब्द पर्याय हैं ॥ १४१ ॥

उक्त रीतिसे जब तत्त्वविद् द्वारा स्वप्न, सङ्कल्प और माया के सदृश मिथ्या द्वैत अनुभूत होता है, तब उसे चिदाकाश ही जगद्रूपसे प्रतीत होता है ॥ १४२ ॥

जिस प्रकार स्वप्नमें चिदाकाश ही जगद्रूप भासता है, उसी प्रकार जाग्रत्-नामक स्वप्नमें भी वही चिदाकाश जगत्-रूप हम लोगोंको भासता है ॥ १४३ ॥

जिस प्रकार स्वप्न-नगरमें चिदाकाशको छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ कहीं नहीं रहता, उसी प्रकार जाग्रत्-कालमें भी महाचैतन्याकाशको छोड़कर और कुछ भी दूसरा पदार्थ कहीं नहीं रहता ॥ १४४ ॥

* भूताकाश, अव्याकृत आकाश आदि तीन अर्थोंका ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त हुए तीनों भी आकाशशब्द 'काशृ-दीप्तौ' इस धातुसे बनाये गये हैं । इसलिए उनका जिस प्रकार चैतन्यरूप अर्थ हो सकता है, उसी प्रकार 'जो गमनार्थक धातु होते हैं, वे ज्ञानार्थक भी हैं' इस व्याकरण-नियमके आधारपर 'गम्' धातुसे 'वर्तमाने पृषद्०' इत्यादि सूत्रसे क्विप्प्रत्यय होनेपर निष्पादित जगत्शब्द भी चैतन्यार्थक हो सकता है । अतः उपर्युक्त शब्द एक दूसरेके पर्याय हैं—यह जो कहा गया है, वह ठीक ही है ।

यतो न संभवत्यन्यच्चेत्यं किञ्चित्ततोऽखिलम् ।
चित्तं संचेत्यमप्येतदचेत्यं सज्जगत्स्थितम् ॥ १४५ ॥
परमाकाशकलनं त्रिजगत्स्वयमुत्थितम् ।
स्वप्नवद्विद्धि चिद्व्योम्नि न त्वेतद्द्वैतवत्स्थितम् ॥ १४६ ॥
यथा चिद्व्योममात्रात्म स्वप्ने घटपटादिकम् ।
सर्गादावेव सर्गोऽयं तथा चिद्व्योममात्रकम् ॥ १४७ ॥
शुद्धसंवित्तिमात्रत्वादृतेऽन्यत् स्वप्नपत्तने ।
यथा न विद्यते किञ्चित्तथाऽस्मिन् भुवनत्रये ॥ १४८ ॥
याः काश्चन दृशो ये ये भावाभावास्त्रिकालगाः ।
सदेशकालचित्तास्तत्सर्वं चिद्व्योममात्रकम् ॥ १४९ ॥

चूँकि चित्‌से भिन्न दूसरा कुछ भी चेत्यपदार्थ नहीं हो सकता, इसलिए चित्त और चेत्यात्मक समस्त जगत् भी अचेत्यात्मक एकमात्र चिन्मात्रस्वरूप होकर ही स्थित है ॥ १४५ ॥

परमाकाशस्वरूप ब्रह्मका सङ्कल्प ही ('बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतिमें दर्शित प्रथम सङ्कल्प ही) तीनों जगत्-रूप होकर चिदाकाशमें स्वप्नके सदृश स्वयं ही उत्पन्न हुआ है, वास्तवमें द्वैतवादी द्वारा स्वीकृत सत्यवस्तुके सदृश यह सत्य नहीं है, ऐसा समझिए ॥ १४६ ॥

सामान्य-जगत्‌में कथित न्यायका घट, पट आदि विशेषपदार्थोंमें दिग्-दर्शन कराते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें घट, पट, आदि चैतन्याकाशमात्रस्वरूप हैं, वैसे ही इस सामान्य-सृष्टिके आरम्भमें विशेषपदार्थ घट, पट आदि भी चैतन्याकाशमात्र-स्वरूप ही हैं ॥ १४७ ॥

जैसे स्वप्नकालीन प्रतिभासमात्रस्वरूप नगरमें विशुद्धचैतन्यमात्ररूप आत्माको छोड़कर दूसरा कुछ भी तात्त्विक पदार्थ नहीं है, वैसे ही इन तीनों भुवनोंमें आत्मस्वरूप विशुद्ध चैतन्यपदार्थको छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है ॥ १४८ ॥

जो कुछ विभिन्न-विभिन्न दृष्टियाँ हैं तथा जो-जो तीनों कालोंमें रहनेवाले देश, काल और चित्त से युक्त भावात्मक और अभावात्मक पदार्थ हैं, ये सब एकमात्र चैतन्यात्मक आत्मस्वरूप ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं ॥ १४९ ॥

स एष देवः कथितो यः परः परमार्थतः ।
यस्त्वं सोऽहमशेषं वा जगदेव च योऽखिलः ॥ १५० ॥

सर्वस्य वस्तुजातस्य जगतोऽन्यस्य ते मम ।
देहो हि चेतनाकाशं परमात्मैव नेतरत् ॥ १५१ ॥

सङ्कल्पने स्वप्नपुरे शरीरं
चिद्व्योमतोऽन्यन्न यथाऽस्ति किञ्चित् ।
तथेह सर्गे प्रथमैकसर्गान्
मुने प्रभृत्यस्ति न रूपमन्यत् ॥ १५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जगतः परमात्ममयत्ववर्णनं नाम एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

महर्षे, जो परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है, जो तुम्हारा, 'तत्' पदार्थका, मेरा तथा समस्त जगत्का स्वरूपभूत है एवं जो स्वयं परिपूर्णस्वरूप है, ज्ञानरूप सामग्रीसे पूजा करने योग्य उस देवका, प्रथम प्रश्नके उत्तररूपमें, मैंने तुमसे कथन किया ॥ १५० ॥

सभी वस्तुओंका, समस्त जगतका, दूसरेका, तुम्हारा और मेरा चैतन्याकाश-रूप परमात्मा ही पारमार्थिक स्वरूप है, दूसरा नहीं ॥ १५१ ॥

कथित प्रकरणका, अनुवादपूर्वक, उपसंहार करते हैं—'संकल्पने' इत्यादिसे ।

हे मुने, जिस प्रकार संकल्पमय पदार्थों तथा स्वप्न-नगर में चैतन्याकाशको छोड़कर दूसरा कुछ भी पारमार्थिकस्वरूप पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भके प्रथमसर्गसे लेकर आजतक चले आ रहे इस संसारमें चैतन्याकाशरूप पारमार्थिक शरीरको छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है ॥ १५२ ॥

उनतीसवाँ सर्ग समाप्त

त्रिंशः सर्गः

ईश्वर उवाच

एवं सर्वमिदं विश्वं परमात्मैव केवलम् ।
ब्रह्मैव परमाकाशमेष देवः परः स्मृतः ॥ १ ॥
तदेतत्पूजनं श्रेयस्तस्मात् सर्वमवाप्यते ।
तदेव सर्गभूः सर्वमिदं तस्मिन् व्यवस्थितम् ॥ २ ॥
अकृत्रिममनाद्यन्तमद्वितीयमखण्डितम् ।
अबहिःसाधनासाध्यं सुखं तस्मादवाप्यते ॥ ३ ॥

तीसवाँ सर्ग

[चित्की सर्वात्मता- सर्वभोक्तृभावसे स्थिति और वह जिस प्रकारसे जीव-दशाको प्राप्त हुई—इन सबका वर्णन]

'चेतनाकाशमात्रात्म यथा सर्वमिदं प्रभो' यह जो तुमने पूछा था, उसका यह उत्तर दिया, यों कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

ईश्वरने कहा—ब्रह्मन्, इस रीतिसे समस्त यह संसार एकमात्र परमात्म-स्वरूप ही है, ब्रह्म ही परम आकाश है और यही सबसे बड़ा देव कहा गया है ॥ १ ॥

परिच्छिन्न देवका पूजन परिच्छिन्न ही फल देता है और इस परम अपरिच्छिन्न देवका पूजन तो समस्त कामनाओंके पर्यवसानकी अवधिभूमि भूमानन्दकी प्राप्तिरूप फल देता है, इसलिए इस देवका पूजन सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं—'तदेतत्' इत्यादिसे ।

इस परम देवका पूजन सबसे कल्याणकर है, उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है, वही समस्त जगत्-सृष्टिके आरोपका अधिष्ठान है और उसीमें यह सब व्यव-स्थित है ॥ २ ॥

स्वाभाविक, आदि-अन्तसे रहित, अद्वितीय, अखण्ड तथा बहुवित्तव्यय, आयास आदि बाहरी साधनोंसे सिद्ध न होनेवाला नित्य सुख उसी एकमात्र देवके अर्चनसे प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

प्रबुद्धस्त्वं मुनिश्रेष्ठ तेनेदं तव कथ्यते।
नाऽतिदेवार्चने योग्यः पुष्पधूपचयो महान् ॥ ४ ॥
अव्युत्पन्नधियो ये हि बालपेलवचेतसः।
कृत्रिमार्चामयं तेषां देवार्चनमुदाहृतम् ॥ ५ ॥
शमबोधाद्यभावे हि पुष्पाद्यैर्वाऽर्चयन्ति हि।
मिथ्यैव कल्पितैरेवमाकारे कल्पितात्मके ॥ ६ ॥
स्वसङ्कल्पकृतैः कृत्वा क्रमैरर्चनमादृताः।
बालाः सन्तोषमायान्ति पुष्पधूपलवार्चनैः ॥ ७ ॥
स्वसङ्कल्पकृतैरर्थैः कृत्वा देवार्चनं मुधा।
यतः कुतश्चिन्मिथ्यात्म फलमात्रं नयन्ति ते ॥ ८ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, चूँकि तुम विवेकी यानी मुख्य अधिकारी हो, इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि सबसे बड़े इस आत्मदेवकी पूजाके लिए महान् भी पुष्पों एवं धूपों का समूह योग्य नहीं है ॥ ४ ॥

मूर्ति आदिरूप साकार देवकी अर्चनामें कौन अधिकारी हैं ? इस प्रश्नपर उसके (मूर्तिरूप देवतार्चनके) अधिकारी बतलाते हैं—'अव्युत्पन्न०' इत्यादिसे।

जो विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न नहीं हैं तथा जो बालकोंके सदृश कोमलचित्त-वाले हैं, उन्हींके लिए कृत्रिम प्रतिमा-प्रचुर देवार्चनका विधान किया गया है ॥ ५ ॥

उक्त कृत्रिम प्रतिमा-प्रचुर देवार्चन उत्तम चावल न मिलनेपर कोदो खानेके समान है, ऐसा कहते हैं—'शम०' इत्यादिसे।

वे अव्युत्पन्नमति बालक शम और आत्मज्ञान के अभावमें मिथ्यारूप ही कल्पित पुष्प आदिसे कल्पितस्वरूप उस प्रकारकी प्रतिमा आदिमें पूजा करते हैं ॥ ६ ॥

वे बालक आदरपूर्वक अपने सङ्कल्पसे रचित स्वल्प पुष्प, धूप आदि सामग्री-रूप उपायोंसे पूजनकर सन्तोष प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

अपने सङ्कल्पोंसे रचित पदार्थोंसे देवार्चन सम्पादन कर जिन किन्हीं स्वप्न-सदृश मिथ्याभूत विमान, अप्सरा प्रभृति साधनोंसे मिथ्यारूप ही स्वर्गादि फल प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

पुष्पधूपार्चनं ब्रह्मन् कल्पितं बालबुद्धिषु ।
यत्स्वाद्भवादृशां योग्यमर्चनं तद्वदाम्यहम् ॥ ९ ॥
अस्मदादिस्त्वसौ कश्चिद्देवो मतिमतां वर ।
देवस्त्रिभुवनाधारः परमात्मैव नेतरत् ॥ १० ॥
शिवः सर्वपदातीतः सर्वसङ्कल्पनातिगः ।
सर्वसङ्कल्पवलितो न सर्वो न च सर्वकः ॥ ११ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नः सर्वारम्भप्रकाशकृत् ।
चिन्मात्रमूर्तिरमलो देव इत्युच्यते मुने ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मन्, बालबुद्धि पुरुषोंके लिए ही पुष्प, धूप आदि द्वारा अर्चनकी कल्पना की गई है और आप जैसे अधिकारी पुरुषोंके लिए जो योग्य देवार्चन है, उसे मैं कहता हूँ ॥ ९ ॥

हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महर्षे, हम लोगों द्वारा कल्पित प्रपञ्चके भीतर चक्षु आदिसे दिखाई पड़नेवाला मूर्ति आदिरूप देव अनिर्वचनीय मायामय ही है और समस्त त्रिभुवनका आधारभूत एकमात्र परमात्मा ही पारमार्थिक देव है, दूसरा नहीं ॥ १० ॥

समस्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवताओंसे तथा समस्त मनोवृत्तियोंसे परे एवं समस्त पदोंसे दुर्ज्ञेय शिव ही परम देव है और समस्त विषयभोगोंके सङ्कल्पोंसे वेष्टित ब्रह्मा, विष्णु आदि रूप जो देव हैं, वे साधनसे भी पूर्ण नहीं हैं और सर्वविध सुखभोगरूप फलोंसे भी परिपूर्ण नहीं हैं । [क्योंकि अपने-अपने कर्म और उपासना के तारतम्यानुसार ही भोगसामग्री और उसके फलभूत सुखका लवमात्र ही वहाँपर रहता है, यह तात्पर्य है ।] ॥ ११ ॥

आत्मदेव तो पूजा और फल दोनों अवस्थाओंमें नित्य, निरतिशय, परमार्थसत्य पूर्णानन्दस्वभाव ही है । इसलिए वही 'देव' यों कहने योग्य है, ऐसा कहते हैं—'दिक्काल०' इत्यादिसे ।

हे मुने, दिक्कृत, कालकृत आदि परिच्छेदोंसे शून्य, समस्त घटादि कार्योंका प्रकाश करनेवाला, निर्मल चैतन्यमात्रस्वरूप परब्रह्म ही देव कहा जाता है ॥१२॥

संवित्सर्वकलातीता सर्वभावान्तरस्थिता ।
सर्वसत्ताप्रदा देवी सर्वसत्तापहारिणी ॥ १३ ॥
ब्रह्म ब्रह्मन्सदसतोर्मध्यं तदेव उच्यते ।
परमात्मपराभिख्यं तत्सदोमित्युदाहृतम् ॥ १४ ॥
महासत्तास्वभावेन सर्वत्र समतां गतम् ।
महाचिदिति संप्रोक्तं परमार्थ इति श्रुतम् ॥ १५ ॥
स्थितं सर्वत्र सर्वं तु लतास्वन्तर्यथा रसः ।
सत्तासामान्यरूपेण महासत्तात्मनाऽपि च ॥ १६ ॥
यच्चित्तत्त्वमरुन्धत्या यच्चित्तत्त्वं तवाऽनघ ।
यच्चित्तत्त्वं च पार्वत्या यच्चित्तत्त्वं गणेषु च ॥ १७ ॥

समस्त कल्पनाओंसे वर्जित, सकल भावपदार्थोंके भीतर रहनेवाली, निखिल पदार्थोंमें सत्तास्फूर्ति प्रदान करनेवाली तथा अखिल पदार्थोंकी सत्ताका अपहरण करनेवाली जो संवित् देवी है, वही देव है ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मन्, सत् और असत् के (भाव-अभाव, वर्तमान और उससे अन्य काल, मूर्त-अमूर्त, कार्य-कारण अथवा व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक पदार्थोंके) मध्यभूत (अन्तरालवर्ती साक्षिचिन्मात्ररूप अथवा अधिष्ठानरूप होनेसे मध्यभूत) वह ब्रह्म-चैतन्य ही देव कहा जाता है । वही सूर्य, चन्द्र, अग्नि, करण एवं ज्योतियों की अपेक्षा बढे-चढे आत्मारूप सर्वावभासक रूपवाले प्रकाशसे युक्त होता हुआ 'ॐ' पदसे श्रुतियोंमें विराट् आदि पादत्रयात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्चके प्रविलापन द्वारा 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः' यों व्यवहृत हुआ है ॥ १४ ॥

त्रिकालाबाधित सर्वानुगत सत्त्व-स्वभावसे उसने सर्वत्र समरूपता प्राप्त की है, वह महाचैतन्य (प्रकाशकोंका भी प्रकाशक) यों कहा जाता है और वही सबसे ऊँचा प्रयोजन है, यों श्रुतियोंमें प्रतिपादित है ॥ १५ ॥

लताओंके अन्दर स्थित रसकी नाईं वह सर्वात्मरूप देव व्यवहार-कालमें सर्वत्र अनुगत होनेके कारण सत्तासामान्यरूपसे स्थित है । और सर्वबाध-कालमें भी महासत्तारूपसे स्थित है ॥ १६ ॥

सभी देवता आदिकी मुख्य आत्मा होनेसे वही मुख्य देव है, यों कहते है—'यच्चित्तत्त्व०' इत्यादिसे ।

चित्तत्त्वं यन्ममेदं च चित्तत्त्वं यज्जगत्त्रये ।
तद्देव इति तत्त्वज्ञा विदुरुत्तमबुद्धयः ॥ १८ ॥
पादपाण्यादिमानन्यो यो वा देवः प्रकल्प्यते ।
संविन्मात्रादृते ब्रह्मन् किं सारः किल कथ्यताम् ॥ १९ ॥
चिन्मात्रमेव संसारसारः सकलसारताम् ।
गतः स देवः सर्वोऽहं तस्मात् सर्वमवाप्यते ॥ २० ॥
न स दूरे स्थितो ब्रह्मन्न दुष्प्रापः स कस्यचित् ।
संस्थितः स सदा देहे सर्वत्रैव च खे तथा ॥ २१ ॥
स करोति स चाऽश्नाति स बिभर्ति प्रयाति च ।
स निःश्वसिति संवेत्ता सोऽङ्गान्यङ्गानि वेत्ति च ॥ २२ ॥

हे पापशून्य मुने, अरुन्धतीका जो चैतन्यस्वरूप है, तुम्हारा जो चैतन्यतत्त्व है, पार्वतीजीका जो चैतन्यस्वरूप है, उनके गणोंमें जो चैतन्यात्मता है, जो मुझमें यह चैतन्यस्वरूप है और जो तीनों जगत्‌में चैतन्यस्वरूप विराजमान है, उत्तममति तत्त्वज्ञ लोग उसे ही देवतारूप जानते हैं ॥ १७, १८ ॥

विचार करनेपर सम्पूर्ण देवताओंका सारभूत होनेसे वही देव है, यों कहते हैं—'पाद०' इत्यादिसे ।

ब्रह्मन्, हाथ, पैर आदिसे युक्त जिस किसी अन्य देवताकी कल्पना की जाती है, वह संविन्मात्रस्वरूपताका परित्यागकर दूसरी कौन-सी सारभूत वस्तु हो सकती है, इसे आप कहिए ॥ १९ ॥

एकमात्र चिदात्मा ही इस दृश्य संसारका सार है, इसलिए सकल सारभूत वस्तुओंकी भी साररूपताको प्राप्त हुआ वह परिपूर्ण देव ही मैं हूँ, उसीसे सब कुछ प्राप्त किया जाता है ॥ २० ॥

हे ब्रह्मन्, वह न तो दूर ही स्थित है और न किसीके लिए दुष्प्राप्य ही है । वह सदा इसी शरीर तथा सम्पूर्ण आकाश में सर्वत्र ही स्थित है ॥ २१ ॥

वही सबका कर्ता और भोक्ता है, यों कहते हैं—'स करोति' इत्यादिसे ।

वही आत्मदेव क्रिया करता है, वही खाता है, वही पालन करता है, वही जाता है, वही श्वास लेता है, वही गाता है और वही अङ्ग-अङ्गको जानता है ॥ २२ ॥

सोऽस्यां विचित्रचेष्टायां प्रकाशिन्यां च तद्वशात् ।
तत्स्वरूपनिबद्धायां पुर्यामास्ते मुनीश्वर ॥ २३ ॥
शरीरावसथायां च चलायां तत्प्रसादतः ।
सोऽस्यां गहनकोशायां हृद्गुहायां गुहेश्वरः ॥ २४ ॥
मनःषष्ठेन्द्रियाचारसत्तातीतामलात्मनः ।
तस्य संव्यहारार्थं संज्ञा चिदिति कल्पिता ॥ २५ ॥
स एष चिन्मयः सूक्ष्मः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
इमं भास्वरमाभासं करोति न करोति च ॥ २६ ॥
सा चिदत्यन्तविमला जगदर्थं जगत्क्रियाम् ।
इमां रञ्जयति प्राज्ञ रसेनेव मधुर्लताम् ॥ २७ ॥
चारवो ये चमत्काराश्चितश्चिति यथा स्थितम् ।
चमत्कुर्वन्ति किल ते तेन केचिन्नभोभिधाः ॥ २८ ॥

हे मुनीश्वर, वही इन चित्र-विचित्र चेष्टाओंसे युक्त, उसीके कारण चेतनावाली तथा उसीके स्वरूपसे निबद्ध इस शरीररूपी नगरीमें निवास करता है, इस विषयमें प्रमाणतया यह श्रुति भी है—'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' ॥ २३ ॥

शरीररूपी बड़े घरसे युक्त, उसके प्रसादसे संचरणशील तथा दुर्विज्ञेय अन्नमय आदि बहिःकोशोंसे समन्वित इस बुद्धिरूप गुहामें वही गुहेश्वर यानी आनन्दमयकोशरूप गुहाका ईश्वर होकर स्थित है ॥ २४ ॥

जो मनको लेकर छः इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति-सत्तासे रहित तथा निर्मल रूपवान् है, उस आत्मदेवका उपदेशादि व्यवहारके लिए 'चित्' यह काल्पनिक नाम पड़ा है ॥ २५ ॥

वही यह परमात्मा चिद्रूप, सूक्ष्म, सर्वव्यापी और मायारहित है। वही भास्यके आरोप-कालमें इस भास्वर सांसारिक आभासका मानो निर्माण करता है और भास्यके अपवाद-कालमें निर्माण नहीं भी करता है ॥ २६ ॥

हे प्राज्ञ, वह चित् अत्यन्त निर्मल है और वह इन जागतिक क्रियाओंको जगत्के लिए उस प्रकार शोभित करती है, जिस प्रकार वसन्त ऋतु रससे लताको शोभित करती है ॥ २७ ॥

चैतन्यके जो सुन्दर चमत्कार (आरोप्यमें सत्तास्फूर्तिप्रदानरूप) हैं, वे—चैतन्यमें मायाशबल द्वारा पहलेके काम, कर्म और वासना के अनुसार जो कोई

केचिज्जीवाभिधानाश्च केचिच्चित्ताभिधानकाः ।
केचित् कलाभिधानाश्च केचिद्देशाभिधानकाः ॥ २९ ॥
केचित्क्रियाभिधानाश्च केचिद्द्रव्याभिधानकाः ।
केचिद्भावविकारादिजात्यौचित्याभिधानकाः ॥ ३० ॥
प्रकाशाभिधानाः केचित् केचिच्छैलतमोभिधाः ।
अर्केन्द्राद्यभिधाः केचित् केचिद्यक्षाभिधानकाः ॥ ३१ ॥
निरिच्छस्वस्वभावेन वसन्तेन यथाऽङ्कुरः ।
तन्यते तद्वदेवेयं जगल्लक्ष्मीश्चिदात्मना ॥ ३२ ॥

अवस्थित हैं,—उनका आविर्भाव करते हैं। [उन चित्-चमत्कारोंका ही कल्पनासे नामोल्लेख करते हैं—'केचित्' से ।] इसलिए उन चमत्कारोंमें कोई तो आकाश नामवाले हैं, कोई जीव नामवाले हैं कोई चित्त नामवाले हैं, कोई कला नामवाले हैं, कोई देश नामवाले हैं, कोई क्रिया नामवाले हैं, कोई द्रव्य नामवाले हैं और कोई यास्कमुनि द्वारा उक्त 'जायते, अस्ति, वर्धते' आदि भावविकार तथा विभिन्न गुणोंकी जातिके वैचित्र्य और औचित्य से अन्यान्य चित्र-विचित्र नामवाले हैं, कोई प्रकाश नामवाले हैं, कोई पर्वत, अन्धकार आदि नामवाले हैं, कोई सूर्य, इन्द्र आदि नामवाले हैं तो कोई यक्ष नामवाले हैं ॥ २८–३१ ॥

तब क्या चैतन्य अपने भोगकी इच्छासे जगत्-सृष्टि करता है, इस प्रश्नपर 'नहीं' ऐसा उत्तर देते हैं—'**निरिच्छ०**' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार अपने इच्छाशून्य स्वभावसे युक्त वसन्तऋतु द्वारा अंकुर विस्तारित होता है, उसी प्रकार * इच्छाशून्य स्वभाववाले इस चिदात्मा द्वारा यह जगत्की शोभा विस्तारित होती है ॥ ३२ ॥

---

* इस विषयमें भगवान् श्रीगौडपादाचार्यजीने कहा है—

'भोगार्थं सृष्टिरित्येके क्रीडार्थमिति चाऽपरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥'

कोई लोग भोगार्थ सृष्टि मानते हैं और कोई लोग क्रीडार्थ सृष्टि मानते हैं, परन्तु परब्रह्म परमात्माकी स्वभावभूत अविद्याका विलास ही यह सृष्टि है; क्योंकि आप्तकाम परमात्माको किसी प्रकारकी इच्छा हो ही नहीं सकती। यदि शङ्का हो कि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (परमात्माने इच्छा की कि प्रजारूपसे मैं बहुत हो जाऊँ) इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध हो जायगा, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो

चिदेवाऽऽसु समग्रासु सर्वदैवैकिकैव हि ।
त्रैलोक्याम्भोधिसंस्थासु शरीरजलजालिका ॥ ३३ ॥
शरीरपङ्कजभ्रान्तमनोभ्रमरसंभृताम् ।
आस्वादयति सङ्कल्पमधुसत्तां चिदीश्वरी ॥ ३४ ॥
ससुरासुरगन्धर्वं सशैलार्णवकं जगत् ।
चिति स्थितं प्रवहति जलावर्ते जलं यथा ॥ ३५ ॥

इन संपूर्ण त्रैलोक्यरूपी समुद्रोंके तात्त्विक स्वरूपोंका विचार करनेपर अकेली चिति ही सदा उनके वास्तविक स्वरूपभूत जल समूहके स्थानमें स्थित है, न कि कोई दूसरी वस्तु ॥ ३३ ॥

भोक्ताके अविवेकसे उसमें मानसिक सङ्कल्पसे जनित भोक्ता आदि त्रिपुटीका प्रकाशकत्व ही भोक्तृता है, ऐसी कल्पना की जाती है, इस आशयसे कहते हैं—'शरीर०' इत्यादिसे ।

शरीररूपी कमलमें भ्रमणशील मनरूप भ्रमर द्वारा संचित की गई सङ्कल्प-रूपी मधुसत्ताका अपनेमें आरोपित समस्त पदार्थोंके अवभासनमें समर्थ चिति ही आस्वाद लेती है ॥ ३४ ॥

इसी तरह उसमें कर्तृत्व भी अपनेमें आरोपित कारकोंके परिभ्रमणप्रकाशके निमित्तरूप ही है; इस आशयसे कहते हैं—'ससुरासुर०' इत्यादिसे ।

देव, दानव और गन्धर्वों से युक्त तथा पर्वत, समुद्र आदिसे समन्वित यह सम्पूर्ण जगत् चैतन्यमें स्थित होकर उस प्रकार घूमता रहता है, जिस प्रकार जल-भँवरीमें जल ॥ ३५ ॥

यजुर्वेदः' इत्यादि अन्य श्रुतियोंमें इच्छा, प्रयत्न आदि निरपेक्ष परमात्माके निःश्वासरूप ही ऋग्वेद आदि हैं, ऐसा कथन है । तथा 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि समानतात्पर्य-वाली दूसरी श्रुतिकी अनुकूलताके लिए 'सोऽकामयत' इस वचनका तात्पर्य एकमात्र अचेतन-रूप प्रधान आदिमें कर्तृत्व-शङ्काका निवारण करना ही है । इसीलिए भगवान् बादरायणने भी कहा है—

'कामाच्च नानुमानापेक्षा'

('सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियोंमें ईश्वरने इच्छा की, ऐसा कथन होनेसे सांख्यशास्त्रोक्त प्रधान आदि जगत्के कारण नहीं हो सकते ।)

बन्धचित्तमयाचारचारुचञ्चुरचक्रिकम् ।
संसारचक्रं चिच्चक्रे भ्राम्यति भ्रमभाजनम् ॥ ३६ ॥
चिच्चतुर्भुजरूपेण जघानाऽसुरमण्डलम् ।
कालो जलदखण्डेन सायुधेन यथाऽऽतपम् ॥ ३७ ॥
चित्त्रिनेत्रतया ब्रह्मन् वृषशीतांशुचिह्नया ।
गौरीकमलिनीवक्त्रपद्मषट्पदतां गता ॥ ३८ ॥
विष्णोः पद्मालितामेत्य चिद्ध्यानाधीनमानसा ।
त्रयीनलिन्याः सरसीं धत्ते पैतामहीं स्थितिम् ॥ ३९ ॥
चितो ब्रह्मन् विचित्राणि शरीराणीह भूरिशः ।
पत्राणीव तरोर्हेम्नि केयूरादिक्रियेव च ॥ ४० ॥

बन्धनमें डालनेवाले चित्तविकारात्मक (कर्तृत्व-भोक्तृत्वात्मक) आचारसे सुन्दर एवं चपल व्यष्टिजीवोंके संसरण-चक्रोंसे युक्त जीवसमष्टि संसाररूप चक्र, जो भ्रमका आश्रय है, मायाशबल ब्रह्मरूप चक्रमें घूमता रहता है ॥ ३६ ॥

कथित लक्षणवाले चितिके ही समस्त कर्तृत्व-भोक्तृत्वका विशेषरूपसे वर्णन करते हैं—'चिच्चतुर्भुज०' इत्यादिसे ।

चितिने ही आयुधोंसे परिपूर्ण चतुर्भुजरूपसे समस्त असुरसमूहका उस प्रकार विनाश कर दिया था, जिस प्रकार वर्षाऋतु इन्द्रधनुषसे युक्त मेघ-खण्डरूपसे आतपका विनाश कर देती है ॥ ३७ ॥

हे ब्रह्मन्, चितिने ही वृषभ और चन्द्रमा के चिन्होंसे युक्त त्रिनेत्ररूप धारण कर गौरीरूपी कमलिनीके मुखपद्ममें भ्रमररूपता प्राप्त की ॥ ३८ ॥

भगवान् नारायणके नाभि-कमलमें मानो भ्रमररूपता प्राप्तकर ध्यानमें आसक्त मनवाली चिति वेदरूपी कमलिनीका महान् सरोवरस्वरूप ब्रह्माजीकी आकृति धारण करती है ॥ ३९ ॥

हे ब्रह्मन्, जिस प्रकार वृक्षके अनेक पत्ते होते हैं अथवा जिस प्रकार सुवर्णमें चित्र-विचित्र केयूर आदिका निर्माण होता है, उसी प्रकार चितिके चित्र-विचित्र अनेक प्रकारके शरीर यहां दिखलाई पड़ते हैं ॥ ४० ॥

चित्समस्तसुरानीकपरिवन्दितपादया ।
त्रैलोक्यचूडामणितां धत्ते वासवलीलया ॥ ४१ ॥
चित्सुभासुरतामेत्य त्रैलोक्योदर अम्बरे ।
पतत्युदेति संयाति स्वात्मन्येवाऽब्धिवारिवत् ॥ ४२ ॥
चिच्चन्द्रिका चतुर्दिक्षु अवभासं वितन्वती ।
विकासयति निःशेषभूतसत्ताकुमुद्वतीम् ॥ ४३ ॥
चिद्दर्पणमहालक्ष्मीस्त्रिजगत्प्रतिबिम्बितम् ।
गृह्णात्यनुग्रहेणाऽन्तः स्वगर्भमिव गर्भिणी ॥ ४४ ॥
चिच्चतुर्दशभूतानां मण्डलानि महान्ति च ।
भूतीकरोति वारिश्रीः समुद्रस्वमिवाऽम्बुधिः ॥ ४५ ॥
विचित्रालोककुसुमा घनसङ्कल्पपल्लवा ।
व्योमकेदारिकारूढा सत्तौघफलशालिनी ॥ ४६ ॥

समस्त देवताओंकी सेनासे चारों ओर वन्दित-चरणवाली इन्द्रलीलाके द्वारा चिति ही त्रैलोक्यमें वन्दनीयता धारण करती है ॥ ४१ ॥

त्रिलोकीके अन्दर आकाशमें सूर्य आदि तेजोरूपता प्राप्तकर यह चैतन्य अपने स्वरूपमें ही उस प्रकार उदित, चलित और निपतित (विलीन) होता है, जिस प्रकार समुद्रमें जल ॥ ४२ ॥

साक्षात् भी चिति आनन्दप्रकाशमें कारण है, यह कहते हैं— 'चिच्चन्द्रिका' इत्यादिसे ।

चारों दिशाओंमें प्रकाशका विस्तार कर रही चितिरूपी चन्द्रिका समस्त भूतसत्तारूपी कुमुदिनीका विकास करती है ॥ ४३ ॥

चितिरूपी दर्पणकी महालक्ष्मी (स्वच्छ भास्वरस्वरूप शोभा या वैष्णवी माया) अनुग्रहपूर्वक अपने ही भीतर उस प्रकार तीनों जगत्का प्रतिबिम्ब धारण करती है, जिस प्रकार गर्भिणी अपने भीतर अपना गर्भ धारण करती है ॥ ४४ ॥

ब्रह्मन्, जिस प्रकार रसशक्ति जलसमूहरूप होकर समुद्रकी स्वरूपसत्ताका सम्पादन करती है, उसी प्रकार चितिसत्ता भी चौदह भुवनोंमें अवस्थित भूतोंके बड़े-बड़े समूहोंकी स्वरूपसत्ताका सम्पादन करती है ॥ ४५ ॥

अब उसी चितिका लतारूपसे वर्णन करते हैं—'विचित्रा०' इत्यादिसे ।

जीवजालरजःपुञ्जवासनारसरञ्जिता ।
संवेदनत्वग्वलिता चित्तेहाकलिकाकुला ॥ ४७ ॥
अतीतासंख्यत्रिजगत्केसरोज्ज्वलरूपिणी ।
अनारतस्पन्दमहाविलासोल्लासहासिनी ॥ ४८ ॥
सर्वर्तुपर्वपरुषा जडशैलादिगुल्मका ।
विग्रहग्रन्थिवलिताऽऽमूलाग्रपरिवर्तिता ॥ ४९ ॥
चिल्लतेयं विकसिता पेलवं सदसद्वपुः ।
विचित्रं दृश्यकुसुमं परामर्शासहं बहु ॥ ५० ॥
अनयेह हि सर्वत्र च्छायाच्छमिव जन्यते ।
मन्यते तन्यते वस्तु गीयते क्रियतेऽपि च ॥ ५१ ॥
महाचिताऽनया नित्यं भासन्ते भास्करादयः ।
देहाः स्वदन्ते च मिथस्तत्सच्चिज्जडविभ्रमैः ॥ ५२ ॥

मायाकाशरूपी क्यारीमें उत्पन्न यानी हिरण्यगर्भरूपसे अङ्कुरित, घनीभूत सङ्कल्परूपी पल्लवोंसे युक्त, चित्र-विचित्र आलोकरूपी फूलोंसे सुशोभित और समस्त पदार्थोंमें सत्यस्वरूपतारूप फल देनेवाली यह चिति ही एक तरहकी लता है ॥ ४६ ॥

चिद्रूपी यह लता अनेकविध जीवोंके समूहरूप धूलि-पुञ्जमें वासनारूपी जलसे सिंचित है, उसके चारों ओर सविकल्पक ज्ञानरूप छाल लगी है। चित्तवृत्ति-रूप कलियोंसे वह भरी है। अतीतकालीन असंख्य त्रिजगत्-रूपी केसरोंसे उसका स्वरूप उज्ज्वल है। निरन्तर चंचल महाविलासोंसे जनित उल्लास ही उसका हास (विकास) है। समस्त ऋतुरूपी पोरोंसे वह अत्यन्त कठिन है, जड़ पर्वत आदि ही उसमें गुल्म हैं; जरायुज, अण्डज आदि चतुर्विध शरीररूपी ग्रन्थियोंसे वेष्टित तथा प्रवृत्तिरूपी प्रतानोंसे यह आमूलचूड आवृत है। इस प्रकारकी यह चित्-रूपी लता विकसित होकर स्थित है, इसीके द्वारा—अत्यन्त कोमल, सदसत्-आकृति, अतएव वास्तवमें युक्तियोंसे सिद्ध न हो सकनेवाले, चित्र-विचित्र तथा चन्द्रकान्तिके सदृश अत्यन्त विस्पष्ट-से दृश्यरूपी अनेक कुसुमोंका—सर्वत्र उत्पादन, अभिमान और विस्तार किया जाता है। इसीसे वस्तुका कथन और निर्माण भी होता है ॥ ४७—५१ ॥

इसी महाचैतन्यसे सूर्य आदि सदा प्रकाशित होते हैं और उसी चितिके स्वरूपभूत सत्य, प्रकाश तथा शरीरादि जड़-पदार्थों के अविवेकसे जनित

चिता चाऽऽवर्तवर्तिन्या सिद्धान्येव प्रनृत्यति ।
जगज्जालरजोलेखा तत्सत्तादृश्यदेहिनी ॥ ५३ ॥
चित्सर्वं जगदारम्भमिमं प्रकटयत्यलम् ।
त्रैलोक्यदीपकशिखा दीपो वर्णाश्रयं यथा ॥ ५४ ॥
चिच्चन्द्रबिम्बे विमले शशवत्प्राप्य सङ्गमम् ।
सर्वत्र लक्ष्यतामेति पदार्थश्रीर्जगद्गता ॥ ५५ ॥
चिद्रसायनसेकेन पदार्थपटलावली ।
रूपमेति फलं चैव प्रावृट्सिक्तेव सल्लता ॥ ५६ ॥
चिच्छाययैव सर्वस्य जाड्यं सम्यगुदेति च ।
सर्वस्याऽस्य शरीरस्य गृहस्येव तमस्त्विह ॥ ५७ ॥

भोक्तृ-भोग्यतारूप विभ्रमोंसे दम्पतीके शरीर, वास्तवमें अमंगलरूप होनेपर भी, एक-दूसरेके प्रीतिभाजन होते हैं ॥ ५२ ॥

झंझावातके आवर्तमें रहनेवाली, एकमात्र चितिसे ही सिद्ध हुई और उसीकी सत्ताके कारण दर्शनयोग्य आकारसे युक्त हुई जगत्समूहरूपी धूलिरेखा चित्से व्यतिरिक्त-सी होकर नाचती रहती है ॥ ५३ ॥

त्रैलोक्यके प्रकाशनके लिए दीपककी शिखारूप यह चिति ही इस समस्त जगत्के कार्योंको उस तरह भलीभाँति प्रकाशित करती है, जिस तरह प्रसिद्ध दीपक रूपवान् द्रव्यको प्रकाशित करता है ॥ ५४ ॥

जगत्का प्रकाश एकमात्र चितिके ही द्वारा होता है, इसका उपपादन करते हैं—'**चिच्चन्द्रबिम्बे**' इत्यादिसे ।

निर्मल चितिरूपी चन्द्रबिम्बमें खरगोशकी नाईं सम्बन्ध प्राप्तकर यह जगत्में अवस्थित पदार्थ-शोभा सर्वत्र दिखाई पड़ती है ॥ ५५ ॥

चितिरूपी अमृतके सिंचनसे यह पदार्थ-समूहोंकी पंक्ति ही उस प्रकार रूप और फल धारण करती है, जिस प्रकार वृष्टिसे सिंचित उत्तम लता फल धारण करती है ॥ ५६ ॥

शङ्का हो कि यदि चित् ही अमृतकी नाईं पदार्थ-समूहोंके चारों ओर व्याप्त होकर स्फुरित होती है तो उनमें जड़ता नहीं होगी, क्योंकि चारों ओर रससे आर्द्र होनेपर शुष्कता की प्रसक्ति हो ही नहीं सकती ? तो इसपर कहते हैं—'**चिच्छाययैव**' इत्यादिसे ।

चिच्चमत्कृतयो देहे न भवेयुरिमा यदि।
त्रैलोक्यदेहास्त्यक्त्वैते न स्पृशेयुः किलाऽऽकृतिम् ॥ ५८ ॥
चिदाकाशप्रकाशेऽस्मिन् सङ्कल्पशिशुधारिणी।
क्रियाकुलवधूर्देहगृहे स्फुरति चञ्चला ॥ ५९ ॥

चित्की छायासे ही इन सम्पूर्ण शरीरोंके अन्दर जड़ताका ऐसे भलीभाँति उदय होता है, जैसे समस्त घरोंके अन्दर प्रकाश-छायासे अन्धकारका भली प्रकार उदय होता है [तात्पर्य यह है कि पञ्चीकरण-प्रक्रियाके अनुसार यद्यपि घर भी चारों ओर तेजसे व्याप्त है, क्योंकि उसमें तेजका भी संमिश्रण हुआ है, इससे उसके भीतर अन्धकारकी स्थिति हो नहीं सकती; तथापि तेजकी जो भास्वररूपता है उसके पञ्ची-करणमें संमिलित अन्यान्य पृथ्वी आदि भूतखण्डोंसे तिरस्कृत होनेके कारण बाह्य प्रदेशमें अभिव्यक्त सूर्य-प्रकाशकी व्याप्ति-दशामें तज्जनित छायासे भीतर उसका जिस प्रकार आविर्भाव होता है, उसी प्रकार घटादिके अधिष्ठानभूत चैतन्यकी भास्वररूपताके भी अध्यस्त पदार्थसे अभिभूत होनेके कारण बाह्य प्रदेशमें चाक्षुष-वृत्ति आदिके द्वारा अभिव्यक्त हुई चिद्व्याप्तिके स्फुरण-कालमें उससे जनित छायासे जड़ताका भीतर उदय होता है ।] ॥ ५७ ॥

इस परिस्थितिमें जैसे सूर्य आदिके प्रकाशसे ही घर, महल आदि चित्र-विचित्र आकृतियोंकी सिद्धि होती है, वैसे ही देहके अन्दर अभिव्यक्त प्रमातृ-चैतन्यके चमत्कारसे ही गाय, घोड़ा, घड़ा, कपड़ा आदि चित्र-विचित्र आकृतियोंकी सिद्धि होती है, दूसरे प्रकारसे नहीं, ऐसा कहते हैं—**चिच्चमत्कृतयः'** इत्यादिसे ।

यदि देहमें ये चैतन्यके चमत्कार न रहेंगे तो तीनों लोकोंमें रहनेवाले साकार पदार्थ छाया और जड़ता का त्यागकर दूसरे किसी भी प्रकारकी आकृतिका स्पर्श न करेंगे, क्योंकि छाया और जड़ता का परित्यागकर आकृतिसाधक दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, यह भाव है ॥ ५८ ॥

जिसमें चैतन्याकाशका प्रकाश विद्यमान है, ऐसे इस देहरूपी घरमें सङ्कल्प-रूपी लड़कोंको धारण करनेवाली, विहित एवं निषिद्ध क्रियाओंमें प्रवृत्तिरूप चंचल कुलवधू परिस्फुरित होती है ॥ ५९ ॥

चिदालोकं विना कस्य रसनाग्रे स्फुरन्नपि ।
कथं कदा प्रकटतामेति दृष्टः क्व वा रसः ॥ ६० ॥
शृण्वङ्ग स्वाङ्गशाखोऽपि कुन्तलालिलतोऽप्यलम् ।
चिन्मज्जनं विना देहवृक्षः क इव राजते ॥ ६१ ॥
वर्धते विलुठत्यत्ति चिच्चराचरकारिणी ।
चिदेवाऽस्तीतरन्नाऽस्ति चिन्मात्रमिदमुत्थितम् ॥ ६२ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवांस्तदा त्र्यक्षः सुधांशुस्वच्छया गिरा ।
पुनः पृष्टो मया राम सुधांशुस्वच्छया गिरा ॥ ६३ ॥

कथित अर्थका अनुभव करानेके लिए व्यतिरेकी दृष्टान्तसे प्रसिद्ध उदाहरणोंमें समर्थन करते हैं—'**चिदालोकम्**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे मुने, किसी व्यक्तिविशेषकी जीभके अग्रभागमें व्याप्त हो रहा भी रस चित्प्रकाशके बिना किसी प्रकार किसी समय कहींपर अनुभवमें आता हो, ऐसा क्या देखा गया है ? ॥ ६० ॥

हे भद्र, सुनो ! यद्यपि इस देहरूपी वृक्षमें हाथ, पैर आदि अपने अङ्ग ही शाखाएँ हैं और केशोंका समूह ही सुन्दर लताओंका समूह है; तथापि यह वृक्ष क्या पर्याप्तरूपसे चैतन्यसम्बन्धके बिना किसी तरह शोभित हो सकता है ? ॥६१॥

ऐसी स्थितिमें जैसे जलके अधीन तरङ्ग आदि समस्त भावपदार्थ परमार्थतः जलस्वरूप ही होते हैं, वैसे ही चैतन्यके अधीन जन्म, वृद्धि आदि समस्त भावस्वरूप जगत् परमार्थतः चैतन्यमात्रस्वरूप ही है, यों उपसंहार करते हैं—'**वर्धते**' इत्यादिसे ।

यह चिति बढ़ती है, लुढ़कती है और भक्षण करती है। चराचर पदार्थोंका निर्माण करनेवाली भी यह चिति ही है, दूसरा नहीं। इसलिए एकमात्र चिति-स्वरूप ही यह उत्पन्न जगत् है ॥ ६२ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, चन्द्रमाकी किरणोंके सदृश निर्मल वाणीसे त्रिनेत्र श्रीशिवजीने जब वैसा कहा, तब फिर मैंने भी चन्द्रमाकी किरणोंके सदृश निर्मल वाणीसे उनसे पूछा ॥ ६३ ॥

यदि सर्वगता देव चिदस्त्येका तदात्मकः ।
तदयं चाऽवनिस्फारमध्यन्धेव न चेतति ॥ ६४ ॥
अयं चित्त्वात् पुरा भूत्वा चिद्धीनः संप्रति स्थितः ।
इतीयं कल्पना लोके प्रत्यक्षानुभवा कथम् ॥ ६५ ॥

ईश्वर उवाच

शृण्वेतदखिलं ब्रह्मन् यदा पृष्टं वदामि ते ।
महानयं त्वया प्रश्नः कृतो ब्रह्मविदां वर ॥ ६६ ॥
चिदस्ति हि शरीरे ह सर्वभूतमयात्मिका ।
चलोन्मुखात्मिकैका तु निर्विकल्पा परा स्मृता ॥ ६७ ॥

महाराज, यदि अकेली चिति ही सर्वत्र व्याप्त है तो तत्स्वरूप यह देह निद्रा, मूर्च्छा, मरण आदि अवस्थाओं एवं अन्यान्य दृश्यों में मृत्तिकाप्रचुर भूतविकाररूप चक्षु आदि इन्द्रियोंसे शून्य भित्तिकी नाईं चमकती नहीं है, यह क्यों ? ॥ ६४ ॥

उसीका पुनः स्पष्टीकरण करते हैं—'अयम्' इत्यादिसे ।

ये देह आदि दृश्यभावसे पहले और जीवनदशामें चेतन होकर तदनन्तर दृश्य एवं मरण आदि दशामें चैतन्यसे हीन रहते हैं—यह कल्पना, जो प्रत्यक्ष अनुभवरूप है, लोकमें किस तरह होती है ? क्योंकि चैतन्यके अविनाशिस्वभाव और अपरिणामी होनेसे उसमें किसी तरहकी जड़ता हो ही नहीं सकती ॥ ६५ ॥

'यथा तच्चेतनस्यैव जीवादित्वं तदुच्यताम्' इस पूर्वप्रश्नका उत्तर बिना सुने ही वसिष्ठजीने यह एक और दूसरा प्रश्न किया है, तो भी एक साथ दोनों प्रश्नोंका उत्तर देनेकी इच्छावाले भगवान् श्रीशङ्कर कहते हैं—'शृणु' इत्यादिसे ।

ईश्वरने कहा—हे ब्रह्मन्, जो आपने प्रश्न किया है, वह सब कुछ (पहले किये गये प्रश्नोंके उत्तरोंसे युक्त सब कुछ) मैं आपसे कहता हूँ; इसे सुनिए । हे तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ, आपने यह एक बहुत बड़ा प्रश्न किया है ॥ ६६ ॥

कहे जानेवाले उपोद्घातसे पहले शरीरमें बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेदसे दो प्रकारका चैतन्य बतलाते हैं—'चिदस्ति' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, वस्तुतः इस शरीरमें दो प्रकारकी सर्वभूतमयात्मिका चिति है, एक तो व्यष्टि-समष्टि-बुद्धिमें आसक्त स्वभाव रखनेवाली (विज्ञानमय

सङ्कल्पबुद्धा सैवाऽन्तः स्वयमन्येव संस्थिता ।
सङ्कल्पितेतरवरा दौःशील्यं स्त्री यथा गता ॥ ६८ ॥
स एव हि पुमान् कोपाद्यथेहाऽन्य इव क्षणात् ।
भवत्येवं विकल्पाङ्का चित्स्वरूपाऽन्यतां गता ॥ ६९ ॥
विकल्पकल्पिता ब्रह्मंश्चित्स्वरूपपरिच्युता ।
जाड्यं क्रमाद्भावयन्ती प्रयाति कलनापदम् ॥ ७० ॥
चित्स्वयं चेत्यतामेति साकाशपरमाणुताम् ।
शब्दबीजात्मिकां पश्चाद्व्राततन्मात्रगामिनी ॥ ७१ ॥
देशकालविभागान्ता तन्मात्रवलिता क्रमात् ।
जीवो भूत्वा भवत्याशु बुद्धिः पश्चादहं मनः ॥ ७२ ॥

शब्दसे कही जानेवाली कर्तृभोक्तृस्वभावसे युक्त) है और दूसरी अशेष विकल्पोंसे शून्य कूटस्थ ॥ ६७ ॥

जिस प्रकार चितिका चलस्वभाव उपाधि-प्रयुक्त है, उसी प्रकार उसका भेद भी उपाधिप्रयुक्त ही है, इस आशयसे कहते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे सुन्दर शीलवाली स्त्री स्वप्नमें सङ्कल्पित दूसरे उपपतिसे युक्त होकर दुःस्वभाववाली होती हुई अन्य-सी प्रतीत होती है, वैसे ही वह चिति ही 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादि श्रुतिप्रदर्शित सङ्कल्पसे अपनी आत्माको ही जीवात्मा समझती हुई भीतर स्वयं अन्य-सी होकर अवस्थित है ॥ ६८ ॥

जिस प्रकार इस संसारमें वही (सुशील ही) पुरुष क्रोधवश क्षणभरमें राक्षस-सा क्रूर हो जाता है, वैसे ही यह चित् भी सङ्कल्प-विकल्पात्मक चिन्होंसे युक्त होकर दूसरे स्वरूपवाली हो जाती है ॥ ६९ ॥

हे ब्रह्मन्, उपर्युक्त रीतिसे विरुद्ध कल्पनाओंसे भावित अपने स्वरूपसे च्युत हुई चिति क्रमशः जड़तादात्म्यकी भावनाकर अपनी ही कल्पनासे सविकल्प बुद्धिकी विषय हो जाती है ॥ ७० ॥

स्वयं चिति ही आकाशसहित सूक्ष्म-भूतोंकी स्वरूपता ; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक भोग्योंकी बीजरूप चेत्यता यानी मायोपलक्षित चैतन्यकी विषयता प्राप्त करती है और उसके बाद समष्टि-प्राणरूपता प्राप्त करती है ॥७१॥

उस प्रकारकी चितिमें पञ्चीकरणप्रयुक्त स्थूलभूतात्मक समष्टि-व्यष्टि-स्थूल-

मनस्त्वं समुपायाता संसारमवलम्बते ।
चण्डालोऽस्मीति मननाच्चण्डालत्वमिव द्विजः ॥ ७३ ॥
सङ्कल्पिता प्रबोधेन जाड्या विश्वप्रबोधिनी ।
शबलं रूपमासाद्य सङ्कल्पाद्यात्यनारतम् ॥ ७४ ॥
अनन्तसङ्कल्पमयी जाड्यसङ्कल्पपीवरा ।
चिज्जाड्यान्मोहमायाति पयः पाषाणतामिव ॥ ७५ ॥
ततश्चित्तं मनोमोहो मायेति विहिताभिधा ।
जाड्यं निपुणमाश्रित्य संसारे जायते मुने ॥ ७६ ॥
मोहमान्द्यमुपायाता तृष्णा निगडपीडिता ।
कामक्रोधभयोपेता भावाभावातिपातिनी ॥ ७७ ॥

देहरूपता, उसके अन्दर रहनेवाले लिङ्गदेहमें जीवरूपता तथा उसमें बुद्ध्यात्म-रूपता का अवलोकन कराते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

पञ्चीकरण द्वारा सूक्ष्म भूतोंसे वेष्टित होती हुई क्रमशः यह चिति सातों द्वीप तथा चौदह लोकरूप देशविभाग एवं निमेषसे लेकर दो परार्धपर्यन्त कालविभाग से युक्त हो जाती है। तदनन्तर वह प्राणधारणसे जीवरूप होती हुई तत्काल ही बुद्धि, अहङ्कार, मन और चित्तस्वरूप हो जाती है ॥ ७२ ॥

मनरूपताको प्राप्त हुई चिति उस प्रकार संसारका अवलम्बन कर लेती है, जिस प्रकार 'मैं चण्डाल हूँ' इस भावनासे ब्राह्मण चण्डालरूपताका अवलम्बन करता है ॥ ७३ ॥

ब्रह्मचिति ही अज्ञानयुक्त स्वरूपकी प्राप्ति कर देह और जीव के आकारसे सङ्कल्पित होकर अज्ञानप्रयुक्त-जड़तावश असर्वज्ञ हो जाती है। तदनन्तर बार-बार भोगोंके सङ्कल्पोंसे निरन्तर संसारभागिनी होती है ॥ ७४ ॥

अनन्त सङ्कल्पोंसे ओतप्रोत तथा जड़ताके सङ्कल्पसे स्थूल हुई यह चिति ही जड़तासे जीवनरूपताका भ्रम उस प्रकार प्राप्त करती है, जिस प्रकार जल पाषाणरूपता (बरफरूपता) प्राप्त करता है ॥ ७५ ॥

हे मुने, तदनन्तर वही चित्त, मन, मोह, माया—इन संज्ञाओंका निर्माणकर निपुणतासे जड़ताका आश्रयणकर संसारमें उत्पन्न होती है ॥ ७६ ॥

तदनन्तर मोहरूपी मन्दताको प्राप्त हुई, तृष्णारूपी हथकड़ी पड़नेके कारण पीडित हुई; काम, क्रोध एवं भय से ग्रस्त, वैभव और दरिद्रतारूपी गर्तोंमें

त्यक्तानन्तनिजाभोगा व्यवच्छेदविकारिणी ।
दुःखदावानलातप्ता शोकाशिवकृशाशया ॥ ७८ ॥
इयमस्मीति भावेन शून्येन विकलीकृता ।
देहमात्रगृहीतास्था परं दैन्यमुपागता ॥ ७९ ॥
मग्ना मोहमहापङ्के जीर्णेव वनदन्तिनी ।
भावाभावलतादोलापरिलोलशरीरका ॥ ८० ॥
असारापारसंसारविकारव्यवहारिणी ।
तापोपतप्तहृदया रागतेजोनुरञ्जिता ॥ ८१ ॥
निजयूथपरिभ्रष्टा मृगीवाऽवशतां गता ।
आविर्भावोदिताकारा तिरोभावेऽस्तमागता ॥ ८२ ॥
स्वसङ्कल्पोपयातासु भीता संभ्रमदृष्टिषु ।
पलायते वाऽप्यन्यासु वेतालेष्विव बालिका ॥ ८३ ॥
उष्ट्रीव मधुरं बिन्दुं वाञ्छते भावितं सुखम् ।
अवान्तरपरिभ्रष्टा दोषाद्दोषं पतत्यधः ॥ ८४ ॥

स्वयं गिरी हुई, अपने असीम विस्तृत स्वरूपका परित्याग कर देनेवाली, स्त्री, पुत्र आदिके वियोगोंमें शोक आदि विकारोंसे ग्रस्त हुई, दुःखरूपी दावानलसे निरन्तर सन्तप्त हुई, शोक और अशुभों से कृपण हुई, 'प्रत्यक्ष दुःख, मोह आदि स्वभाववाली ही मैं हूँ,' इस शून्यात्मक भ्रमसे व्याकुल हुई, एक-मात्र देहमें आस्था रखनेवाली महान् दीनताको प्राप्त हुई, मोहरूपी महाकीचड़में जीर्ण जंगली हथिनीकी नाईं फँसी हुई, वैभव और दरिद्रता रूपी लता-हिंडोलोंसे चारों ओर चंचल शरीरवाली, निःसार और असीम संसारके विकारोंमें व्यवहार करनेवाली, अनेक प्रकारके तापोंसे सन्तप्त हृदयवाली, राग और क्रोध से निरन्तर व्याप्त हुई, अपने झुण्डसे बिछुड़ी हुई हिरनीके सदृश परवश हुई, वैभवों या भूतमात्राओं के आविर्भावकालमें हृष्ट या अभिव्यक्त हुई और उनके तिरो-भावमें दीनता या तिरोभाव को प्राप्त हुई, अपने सङ्कल्पसे प्राप्त हुई अन्य विभ्रम-दृष्टियोंमें भयभीत होकर उस तरह भाग जाती है; जिस तरह वेतालोंके बीचसे बालिका भाग जाती है ॥ ७७–८३ ॥

जिस प्रकार ऊँटिनी काँटे और नीम के पत्ते खाते समय अपनी वासनासे भावित

परं वैषम्यमायाति सङ्कटात् सङ्कटं गता।
दुःखाद्दुःखं निपतिता विपदो विपदि स्थिता ॥ ८५ ॥
नानानर्थगणोपेता चेष्टापरवशाशया।
कष्टात् कष्टमनुप्राप्ता परितापानुतापिनी ॥ ८६ ॥
क्रमादाबद्धवैदग्ध्याद्वैदग्ध्याङ्गमुपागता।
विचित्रबन्धनिर्माणपराक्रमपदं गता ॥ ८७ ॥

स्वल्प मधुर रसकी अभिलाषा करती है, उसी प्रकार दुःखमय विषयोंके रहते चिति उनसे सुखकी अभिलाषा करती है। बीच ही में भ्रष्ट होकर एक दोषसे दूसरा दोष प्राप्तकर नीचेकी ओर गिरती जाती है। अथवा जैसे ऊँटिनी विषम ऊँचे तटपर उगे हुए वृक्षके अग्रभागमें सम्बद्ध मधु-पटलमें अवस्थित मधु-बिन्दु चाटनेकी इच्छासे वृक्षपर चढ़नेकी लालसा करती हुई किये गये एक साथ अगले पैरोंके उन्नयनसे ही अपने विशाल देहभारके कारण बीचमें ही फिसलकर नीचेकी ओर विषम प्रदेशमें गिरती जाती है, वैसे ही यह चिति भी उन्नत विषम विषयवृक्षके ऊपर सुखरूपी मधु-बिन्दु चाटनेकी अभिलाषासे चढ़नेकी इच्छा कर रही बीचमें ही फिसलकर नीचेकी ओर गिरती जाती है ॥ ८४ ॥

अनन्तर एक सङ्कटसे दूसरे सङ्कटको प्राप्त हुई, एक दुःखसे दूसरे दुःखमें गिरी हुई एक विपत्तिसे दूसरी विपत्तिमें पहुँची हुई चिति उत्तरोत्तर अत्यन्त विषम स्थिति प्राप्त करती है ॥ ८५ ॥

अनेक अनर्थ-समूहोंसे युक्त चेष्टाओंसे परवश हृदयवाली वह चिति नरक आदि भूमियोंमें एक कष्टसे दूसरे कष्टको प्राप्त होकर चारों ओरके तापोंसे निरन्तर सन्तप्त हुआ करती है ॥ ८६ ॥

तदनन्तर क्रमशः मनुष्यशरीरका लाभ होनेपर भी बाल्यकालसे लेकर व्यवहारनिपुणताके अभ्याससे प्राप्त कौशल द्वारा काव्य, नाटक, तर्क आदिके अभ्यासमें तत्पर हुई यह चिति अपने बन्धनके (धन, घर, खेत, परिवार आदिके) निर्माणमें अपेक्षित पराक्रमके ही पदको प्राप्त होती है, मोक्षोपयोगी विवेक-पदको प्राप्त नहीं होती ॥ ८७ ॥

सर्वतः शङ्कते भीता प्राणात्ययमुपागता ।
क्षीणतोयेव शफरी विवर्तनपरायणा ॥ ८८ ॥
बाल्ये विवशसर्वार्था यौवने चिन्तयाऽऽवृता ।
वार्धकेऽप्यतिदुःखार्ता मृता कर्मवशीकृता ॥ ८९ ॥
जायते स्वर्गनगरे नागी पातालकोटरे ।
आसुरी दैत्यविवरे नरस्त्री वसुधातले ॥ ९० ॥
राक्षसी राक्षसाधारे वानरी वनकोटरे ।
सिंही गिरीन्द्रशिखरे किन्नरी कुलपर्वते ॥ ९१ ॥
विद्याधरी देवगिरौ व्याली च वनगर्तके ।
लता तरौ खगी नीडे वीरुत् सानौ वने मृगी ॥ ९२ ॥

उस क्रमसे अन्तिम अवस्था प्राप्तकर प्राण-विनाशदशाको प्राप्त हुई यह चिति चारों ओर भीत होकर उस प्रकार शङ्कित हो जाती है, जिस प्रकार क्षीणजला अतएव भूमिमें लोटपोटमें तत्पर मछली शङ्कित हो जाती है ॥ ८८ ॥

संक्षेपसे उक्त अर्थका विस्तार करते हैं—'बाल्ये' इत्यादिसे ।

बाल्यकालमें चितिके समस्त विषय पराधीन रहते हैं, यौवन कालमें धनादि-चिन्तासे उसका विवेक आवृत हो जाता है। वृद्धावस्थामें भी अनेकविध दुःखोंसे पीड़ित रहती है और समय आनेपर अपने कर्मोंसे वशीकृत हुई मर जाती है ॥ ८९ ॥

कर्मगतिका विस्तार करते हैं—'जायते' इत्यादिसे ।

कर्मगतिवश कभी स्वर्ग-नगरमें उत्पन्न होती है, कभी पातालकुहरमें नागिन हो जाती है, कभी दैत्योंके विवरोंमें आसुरी बन जाती है तो कभी इस पृथ्वीमें मनुष्य-स्त्री बन जाती है ॥ ९० ॥

राक्षसोंके आश्रय-स्थानमें राक्षसी बन जाती है, अरण्यके कोटरमें बानरी बन जाती है, पर्वतराजोंके शिखरमें सिंहिनी बन जाती है तो कभी कर्मवश हिमालय आदि कुलपर्वतोंपर किन्नरी बन जाती है ॥ ९१ ॥

कभी अपनी कर्मगतिसे सुमेरु पर्वतपर विद्याधरी बन जाती है, अरण्यबिलोंमें सर्पिणी बन जाती है, वृक्षपर लता बन जाती है, घोंसलेमें चिड़िया बन जाती है, शिखरपर गुल्मिनी बन जाती है तो कभी बनमें हिरनी बन जाती है ॥ ९२ ॥

शेते नारायणोऽम्भोधौ ध्यानी ब्रह्मपुरेऽब्जजः।
कान्तागतो हरः शैले स्वर्गे सुरवरो हरिः॥ ९३ ॥
दिनं करोति तीक्ष्णांशुर्वर्षत्यम्बुधरो जलम्।
करोति श्वसनं संवित् सपर्वतमहोदधिम् ॥ ९४ ॥
ऋतुचक्रं प्रवहति सहसा कालमण्डलम्।
दिनरात्रितथोपैति तेजस्तिमिरतां क्रमात् ॥ ९५ ॥
क्वचिद्बीजरसोल्लासा क्वचित्पाषाणमौनिनी।
क्वचिन्नदी रसवती क्वचित् कुमुदविस्तृतिः ॥ ९६ ॥

चिति ही नारायण होकर समुद्रमें नींद लेती है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मपुरमें ध्यान करती है, हिमालय पर्वतपर आधे अङ्गमें कान्तासे संवलित महादेव-जीका रूप धारणकर निवास करती है और स्वर्गमें सुरश्रेष्ठ हरिका रूप धारणकर विराजती है* ॥ ९३ ॥

भद्र, संवित् ही सूर्य बनकर दिवसका निर्माण करती है, मेघ बनकर जल बरसाती है, वायु बनकर वायुव्यापार करती है एवं पर्वत और महोदधि बनकर पर्वत और महोदधि का व्यापार करती है ॥ ९४ ॥

संवित् ही ऋतुघटित संवत्सरका चक्र घुमाती है, सहसा युग, मन्वन्तर आदि कालका निर्माण करती है एवं दिन और रात्रिरूप से क्रमशः प्रकाश एवं अन्धकाररूप बन जाती है ॥ ९५ ॥

चिति ही कहीं यानी वृक्ष आदिमें बीजरूप तथा उसकी अङ्कुरतामें हेतु रसात्मक उल्लाससे परिपूर्ण हो जाती है, कहीं पाषाणरूपिणी होकर निश्चल पत्थर बन जाती है, कहींपर जलपूर्ण नदी हो जाती है और कहींपर कुमुदरूपसे फैल जाती है ॥ ९६ ॥

---

* 'पदमेव हि तन्नित्यमनित्याः पदिनः स्मृताः' (ब्रह्मपद ही नित्य है और दूसरे पदधारी अनित्य हैं) इत्यादि शिवपुराणके वचनानुरोधसे नारायण आदिका भी जीवगतिमें ही निरूपण इस श्लोकसे किया गया है। अथवा नारायण आदि सारूप्य मुक्त जीवोंके विषयमें, इसकी योजना करनी चाहिए। अथवा यहाँसे लेकर जीवगतियोंका निरूपण नहीं किया गया है, किन्तु चिति सब कुछ व्यापार करती है, यह कहा गया है इसलिए कोई दोष नहीं है।

क्वचित्फलावलीपाकैः क्वचित्काष्ठानलादिभिः ।
क्वचिच्छैत्यहिमद्वारि क्वचित् खादि न किञ्चन ॥९७॥
क्वचिदुज्ज्वलिताकारा क्वचित्कष्टा शिला क्वचित् ।
क्वचिन्नीलाऽथ हरिता क्वचिदग्निः क्वचिन्मही ॥ ९८ ॥
सर्वात्मत्वात् सर्वगत्वात् सर्वशक्तित्वयोगतः ।
सर्वात्वादेवंरूपैव खादप्यच्छैव सा परा ॥ ९९ ॥
चिच्चिनोति यथाऽऽत्मानं येन यत्र यदा यदा ।
तत्तथाऽनुभवत्यम्बु स्पन्दाद्वीच्यादितां यथा ॥ १०० ॥
हंसी क्रौञ्ची बकी काकी सारसी तुरगी वृकी ।
बकी बलाका हरिणी वानरी किन्नरी शुनी ॥ १०१ ॥
वटिका पिङ्गली शाली मक्षिका भ्रमरी शुकी ।
धीः श्रीर्ह्रीः प्रीती रतिश्च शंबरी शर्वरी शशी ॥ १०२ ॥

कहींपर फलपङ्क्तियोंके पाकोंसे उपलक्षित रहती है, कहीं काठ, अनल आदिसे उपलक्षित रहती है, कहींपर शीततावश हिमके सदृश आचरण कर रहे जलसे युक्त रहती है और कहीं आकाश और वायु बनकर रहती है और कहीं अन्यरूप बनकर रहती है ॥ ९७ ॥

चिति ही कहीं उज्ज्वलित आकारवाली, कहीं कुश-कण्टक आदिसे दुर्गम, कहीं शिलारूप, कहीं नीलरूप, कहीं हरितरूप, कहीं अग्निरूप और कहीं महीरूप बन जाती है ९८ ॥

सबकी आत्मा, सर्वत्र व्यापक एवं मायाके योगसे सर्वस्वरूप होनेके कारण चिति उस तरह जगत्-रूप ही हो जाती है । परमार्थ-दशामें तो वह परा चिति आकाशसे भी अत्यन्त निर्मल एवं व्यापक ही है ॥ ९९ ॥

चिति जब-जब जहांपर जिस भावसे जिस तरह अपनी आत्माका विवर्त द्वारा उपचय करती है, तब-तब वहींपर उसी भावका अनुभव उस तरह ऐसे करती है जैसे जल स्पन्दसे तरङ्ग आदि रूपताका अनुभव करता है ॥ १०० ॥

उन्हीं भावोंका फिर विस्तारपूर्वक निरूपण करते हैं—'हंसी' इत्यादिसे ।

यह चिति हंसी, क्रौंची, बगुली, काकी, सारसी, घोड़ी, वृकी, ऊँचे पैर और चोंचवाली भिन्न जातिकी बगुली, अत्यन्त धवल तूलकण्ठ जातिकी बलाका, हिरनी,

एतास्वन्यासु चाऽन्यासु परिभ्रमति योनिषु ।
विवर्तमानसंसारे जलावर्ते तृणं यथा ॥ १०३ ॥
बिभेत्यथ स्वसङ्कल्पात् स्वशब्दादिव गर्दभी ।
नाऽनया सदृगन्याऽस्ति मुग्धा बाला चलाऽबला ॥१०४॥
एषा सा कथिता तुभ्यं जीवशक्तिर्महामुने ।
प्राकृताचारविवशा वराकी पशुधर्मिणी ॥ १०५ ॥
कर्मात्मेत्यभिधां प्राप्ता शोच्याऽस्य परमात्मनः ।
अनन्तं दुःखबहुलं स्वयं विभ्रममाश्रिता ॥ १०६ ॥
असदेवाऽनयाऽऽक्रान्तं विनाशि सहजं मलम् ।
तण्डुलेनेव कश्चूकमनन्यथाऽव्यवस्थितम् ॥ १०७ ॥
अनन्तविभवभ्रष्टा दौर्भाग्यपरितापिनी ।
शोचन्ती प्राप्य जीवत्वं भर्तृहीनेव नायिका ॥ १०८ ॥

बानरी, किन्नरी, कुत्ती, वटिका, पिङ्गली, मैना, मक्खी, भौंरी, सुग्गी, धी, श्री, लज्जा, प्रीति, रति, माया, रात्रि और शशी—इन तथा इनसे भिन्न अन्यान्य योनियोंमें यानी देह-विशेषोंमें इस विवर्तमान संसारमें उस प्रकार घूमती रहती है, जिस प्रकार जलावर्तमें तिनका ॥ १०१—१०३ ॥

अपने शब्दसे गदहीकी तरह यह चिति अपने ही सङ्कल्पसे डरती है। इसके सदृश दूसरी कोई भी मुग्धा, चञ्चला एवं अबला बाला नहीं है ॥ १०४ ॥

हे महामुने, यह तुमसे उस जीवशक्तिका, जो बेचारी प्राकृत आचारोंसे पराधीन एवं पशुओंके सदृश अनियन्त्रित धर्मवाली है, निरूपण किया ॥ १०५ ॥

मुनिवर, असीम दुःखपूर्ण विभ्रमोंका स्वयं आश्रयण करनेवाली 'कर्मात्मा' (कर्मानुसारस्वभावा) इस नामको प्राप्त हुई इस परमात्माकी यह शक्ति सचमुच शोचनीय है ॥ १०६ ॥

स्वभिन्न सत्ता-स्फूर्तिसे रहित, अविद्यासे अनियत, विनाशी और स्वाभाविक मलरूप असत्के ऊपर ही इसने ऐसे आक्रमण किया है, जैसे तण्डुलने तुषके ऊपर ॥ १०७ ॥

असीम विभवोंसे भ्रष्ट हुई तथा दौर्भाग्यरूप परितापसे परितप्त हुई यह

जडगतेरवलोकय शक्ततां
निजपदस्मरणेन विनेह चित् ।
व्रजति कष्टमधःपतनाय या
यदरघट्टघटीघनपीठवत् ॥ १०९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिवपूजोपाख्याने चेत्योन्मुखचिद्विचारो नाम त्रिंशः सर्गः ॥३०॥

एकत्रिंशः सर्गः

ईश्वर उवाच

चिनोत्यलीकमेवैवं सदुःखाऽस्मीति भावनात् ।
चित्स्वप्नक्षीबतामोहपतिता संभ्रमे यथा ॥ १ ॥

चिति जीवरूपता प्राप्तकर ऐसे शोकविमग्न हो जाती है, जैसे पतिविहीना नायिका ॥ १०८ ॥

भद्र, जड़गति अविद्याकी सामर्थ्य तो देखो ! जिससे कि पूर्णब्रह्मस्वभाव होती हुई भी शरीरावच्छिन्न चिति अपनी निरतिशयानन्द पूर्णस्वभावताका स्मरण किये बिना मैं शरीरमात्र परिच्छिन्न हूँ, थोड़ा पुण्य क्षीण होनेपर मैं न्यून हो गई, यों समझकर अपने पतनके लिए उस प्रकार नीचेकी ओर गिरती जाती है, जिस प्रकार मेघ, समुद्र आदिसे उपलक्षित समस्त जगत्‌को अपने उदरमें समा लेनेकी सामर्थ्यसे युक्त होते हुए भी रहँटकी घरियोंमें प्रविष्ट आकाश अपने उक्त स्वभावका स्मरण किये बिना घटीमात्रसे परिच्छिन्न तथा अल्प जल गिरनेसे मैं खाली हो गया, यों मानकर बार-बार अपने पतनके लिए नीचेकी ओर गिरता जाता है, यह बड़ा कष्ट है ॥ १०९ ॥

तीसवाँ सर्ग समाप्त

एकतीसवाँ सर्ग

[जिससे मन, प्राण और इन्द्रियों के द्वारा बाहर और भीतर प्रकाश होता है, उस शुद्ध चितिका जीवरूपता आदिके निषेधसे प्रदर्शन]

ईश्वरने कहा—जिस प्रकार स्वाप्निक मदिरा-मदसे जनित मोहमें गिरी हुई मुग्धा स्त्री सम्भ्रमकालमें 'मैं दुःखी हूँ,' इस भावनासे मिथ्या ही दुःख बटोरा करती

अमृताऽपि मृताऽस्मीति विपर्यस्तमतिर्वधूः ।
यथा रोदित्यनष्टैव नष्टाऽस्मीति तथैव चित् ॥ २ ॥
अकारणं विपर्यस्ता मतिर्भ्रान्तमपि स्थिरम् ।
यथा जगत्पश्यतीदं तथाऽहन्ताभ्रमाच्चितिः ॥ ३ ॥
चित्तं हि कारणं त्वस्याः संसारानुभवे चितेः ।
न च तत्कारणं किञ्चिच्चित्त्वान्यत्वात्यसंभवात् ॥ ४ ॥
एवं हि कारणाभावाच्चेत्यस्याऽसम्भवादिति ।
नाऽसौ चित्तं ततश्चेत्यं यत्नतश्चेत्यते यया ॥ ५ ॥

है, उसी प्रकार अज्ञान-कीचड़में फँसी हुई यह चिति भी अज्ञानकालमें 'मैं दुःखी हूँ, इस भावनासे पूर्ववर्णित मिथ्या ही जीवजगद्भाव बटोरा करती है ॥ १ ॥

जिस प्रकार विपरीत-मतियुक्त मुग्धा स्त्री मरी हुई न होनेपर भी मैं मर गई, नष्ट न हुई भी मैं नष्ट हो गई, यों भावना करती हुई रोती रहती है, उसी प्रकार यह चिति भी मैं नष्ट हो गई, मैं मर गई, यों भावना करती हुई झूठमूठ रोती रहती है ॥ २ ॥

विपरीत हुई बुद्धि कुम्भकारके घूमते हुए भी चाकको जिस प्रकार बिना निमित्तके ही स्थिर देखती है, ठीक उसी प्रकार यह चिति भी अहन्ताके भ्रमसे असत्य इस सम्पूर्ण संसारको बिना कारण ही सत्य देखती है ॥ ३ ॥

इस चितिके संसारानुभवमें कारण चित्त ही है, लेकिन वह कारणरूप चित्त कोई पदार्थ ही नहीं है; क्योंकि वह चित् या उससे भिन्न अचित् दोनोंमें से कोई हो ही नहीं सकता । यदि अचित्-रूप मानेंगे, तो वह जगत्के अन्तर्गत हो जानेसे जगत्कल्पक ही नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

चित्तकी सत्ता सिद्ध न होनेसे ही उसके चेत्य (विषय) जगत्की भी सत्ता सिद्ध नहीं है, यही कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार चित्तरूप कारणका अभाव सिद्ध होनेसे चेत्यका (जगद्रूप विषयका) भी अभाव सिद्ध ही है । इसलिए जिस चितिके द्वारा श्रमपूर्वक चित्त अनुभूत होता है, वह चिति चित्त और उसके अधीन चेत्य स्वरूप नहीं है, किन्तु शुद्धरूप ही है ॥ ५ ॥

न दृश्यदर्शनद्रष्टृरूपं तैलमिवोपले ।
न कर्तृकर्मकरणं दृशीन्दाविव कृष्णता ॥ ६ ॥
न मातृमेयमानानि नभसीव नवाङ्कुरः ।
न चिच्चेतनचेत्यादि नन्दने खदिरो यथा ॥७॥
नाऽहन्त्वत्वन्त्वतत्त्वादि पर्वतत्वमिवाऽम्बरे ।
स्वदेहत्वान्यदेहत्वे शङ्खत्वमिव कज्जले ॥ ८ ॥
नानाऽनाना न चाऽप्यन्तरणाविव सुमेरवः ।
न च शब्दार्थशब्दश्रीर्महोषरलता यथा ॥ ९ ॥

चित्तके निषेधसे ही चितिमें चक्षु आदि इन्द्रियप्रयुक्त दृश्य, दर्शन और द्रष्टारूप त्रिपुटीका निषेध भी सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे।

जिस प्रकार पत्थरमें तेल नहीं रहता, उसी प्रकार शुद्ध चितिमें दृश्य, दर्शन और द्रष्टा का रूप नहीं रहता। जैसे चन्द्रमामें कालिमा (कालापन) नहीं रहती, वैसे ही चितिमें कर्ता, कर्म और करण नहीं रहते ॥ ६ ॥

जिस प्रकार आकाशमें नवीन अङ्कुरका अभाव है, उसी प्रकार चितिमें प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन तीनोंका अभाव है। जिस प्रकार नन्दन-वनमें खैरके वृक्षका अभाव है, उसी प्रकार चितिमें चित्तवृत्ति, चेतन (चित्तवृत्तिके आश्रय) और चेत्य (उक्त वृत्तिके विषय) आदिका * अभाव है ॥ ७ ॥

जैसे आकाशमें पर्वतत्व नहीं है, वैसे ही चितिमें अहन्ता, त्वन्ता और तत्ता (दूसरी परोक्षवस्तुता) आदि † नहीं है। जैसे कज्जलमें (काजलमें) शङ्खत्व नहीं रहता, वैसे ही चितिमें स्वदेहत्व और अन्यदेहत्व नहीं रहते ॥ ८ ॥

जैसे परमाणुके अन्दर सुमेरु नहीं रहते, वैसे ही इसमें अनेक प्रकारके जीव तथा प्रत्येक शरीरमें आत्माके अभेदाध्यास भी नहीं रहते। इसमें शब्द और अर्थ (नाम और रूप) की कथा तो इस प्रकार नहीं है, जिस प्रकार महा ऊसर-भूमिमें लताकी ॥ ९ ॥

---

* आदिपदसे मननकर्ता, मति और मतिके विषय; बोद्धा, बोध और बोधके विषय तथा अहङ्कर्ता (अहमभिमानकर्ता), अहङ्कार और अहङ्कारके विषयों का ग्रहण किया गया है।

† यहाँपर आदिपदसे स्वदेहत्व आदि धर्मोंके आश्रय, उनके व्याप्य धर्म एवं उनके सम्बन्धों का ग्रहण किया गया है।

नेति नेति न चैवाऽर्कमण्डले रजनी यथा ।
न वस्तुतावस्तुते च तुषारे तु यथोष्णता ॥ १० ॥
न शून्यताशून्यते वा शिलाकोश इव द्रुमः ।
शून्यताऽशून्यता नाम महती ख इवाऽखता ।
केवलं केवलीभावस्वच्छतैवाऽवशिष्यते ॥ ११ ॥
न चित्तात् कस्य चिद्दोषाज्जातयैतदवाप्यते ।
तत्सर्वभावनामात्रेणाऽनर्थः प्रकृतः स्थितः ॥ १२ ॥

'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि सर्वदृश्योंके शास्त्रीय निषेध भी तत्त्व-साक्षात्कारपर्यन्त ही हैं, क्योंकि चित्तत्त्वका साक्षात्कार होनेपर तो प्रतियोगीकी प्रसिद्धि न होनेसे उनका कभी संभव नहीं है, यही कहते हैं—'नेति' इत्यादिसे।

इस चितिमें 'नेति नेति' इत्यादि निषेधपरक श्रुतियाँ ऐसे नहीं हैं, जैसे सूर्य-मण्डलमें रात्रि । जिस प्रकार तुषारमें उष्णता नहीं रहती, उसी प्रकार इसमें वस्तुसे अतिरिक्त वस्तुत्व और अवस्तुत्वरूप धर्म भी नहीं रहते ॥ १० ॥

इसमें शून्यता और अशून्यता इस प्रकार नहीं है, जिस प्रकार शिलाके गर्भमें वृक्ष । आकाशमें अनाकाशताकी नाईं भिन्न-भिन्न वादियोंके द्वारा कल्पित प्रसिद्ध महती शून्यता और अशून्यता विचार करनेपर जैसे नहीं रहती केवल केवलीभावलक्षण स्वरूपस्वच्छता ही अवशेष रहती है, न कि अणुमात्र भी उससे कुछ भिन्न, वैसे ही इस चितिमें भी शून्यता और अशून्यता है ॥ ११ ॥

तब तो सम्पूर्ण अनर्थोंका मूलकारण हिरण्यगर्भात्मक समष्टि-चित्त ही इस चितिका दोष है, क्योंकि एकमात्र उसी कारणसे चतुर्विध शरीरोंमें उत्पन्न हुई यह चिति इन सब सांसारिक दुःखोंको प्राप्त करती है । उनका हम लोग कभी उच्छेद नहीं कर सकते ? इस शङ्कापर कहते हैं—'न चित्तात्०' इत्यादिसे ।

चितिके दोषभूत हिरण्यगर्भके चित्तरूप निमित्तसे उत्पन्न हुई यह चिति इन दुःखोंको प्राप्त करती है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु हिरण्यगर्भ द्वारा उत्पन्न किये गये जो देह, इन्द्रिय और उनके विषय हैं, उन सबमें 'अहम्', 'मम' तथा 'ये सब अर्थ सत्य हैं' इत्यादि केवल भावनामात्रसे ही यह संसाररूप अनर्थ उपस्थित हुआ है ॥ १२ ॥

तज्ज्ञेऽप्यभावनामात्रेणाऽनर्थ उपशाम्यति ।
तज्ज्ञेऽप्यभावनामात्रादृतेऽन्यत्रोपयुज्यते ॥ १३ ॥
न तृणं न च त्रैलोक्यमिति स्वायत्तताऽत्र या ॥ १४ ॥
स्वायत्त एव चैषोऽर्थो दुःसाध्यो भावनास्थितः ।
यद्यन्न साध्यते पुंसा तत्कथं क्व लभ्यते ॥ १५ ॥
निर्विकल्पाऽद्वितीया चिद्याऽसौ सकलगा सती ।
परमैका परा साच्छा दीपिका तेजसामपि ॥ १६ ॥

इसीलिए तत्त्वज्ञ पुरुषमें तथोक्त भावनाके अभावसे ही सम्पूर्ण अनर्थोंकी शान्ति हो जाती है, इसे कहते हैं—'तज्ज्ञे' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञ पुरुषमें तथोक्त 'अहम्', 'मम' तथा 'ये सांसारिक पदार्थ सत्य हैं' इस प्रकारकी भावनाओंके अभावसे ही यह सम्पूर्ण अनर्थ अपने-आप संशान्त हो जाता है और तत्त्वज्ञ पुरुषमें भी तथोक्त सारी भावनाओंके अभावके बिना सम्पूर्ण दुःख प्राप्त होते रहते हैं ॥ १३ ॥

यही कारण है कि तृणकी नाईं तिरस्कारके योग्य भी यह त्रैलोक्यपदार्थ केवल भावनाके यानी वासनाके बलसे अज्ञानियोंके लिए दुःसाध्य होकर स्थित है, इसे कहते हैं—'न तृणम्' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त प्रकारकी तव-ममात्मक जो भावना है, वही इस दुःखादिकी प्रसक्तिमें कारण है, उस भावनामें पुरुषकी स्वतन्त्रता है यानी वह भावना कर सकता है और नहीं भी कर सकता है । ऐसी स्थितिमें जैसे तृणका परित्याग दुःसाध्य नहीं है, वैसे ही त्रैलोक्यका परित्याग भी दुःसाध्य नहीं है ॥ १४ ॥

तथोक्त भावनासे स्थित हुआ यह संसाररूपी अनर्थ स्वाधीन होता हुआ भी दुःसाध्य है [यदि शङ्का हो कि अतिसुलभ भावनात्याग स्वयं ही सिद्ध क्यों नहीं होता ? तो इसपर कहते हैं—'यद्यन्न' से] । जो-जो कार्य हैं उनकी पुरुष अपने प्रयत्नसे यदि सिद्धि नहीं करता, तो वे कहां कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? साधारण तृण भी बिना हाथ फैलाये प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ १५ ॥

केवल भावनामात्रका त्याग कर देनेपर परम पुरुषार्थस्वरूप परमार्थ चिति

सैषाऽवभासनकरी सर्वगा नित्यनिर्मला ।
नित्योदिता निर्मनस्का निर्विकारा निरञ्जना ॥ १७ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे खरे ।
असुरे सागरे भूते नरे नागे च संस्थिता ॥ १८ ॥
साक्षिवत्तिष्ठति सती स्पन्दते न च कुत्रचित् ।
दीपः प्रकाशनायेव करोति न पुनः क्रियाम् ॥ १९ ॥
मलिनाऽप्यमुनैषा सा विकल्पाढ्या विकल्पिनी ।
जडे वाऽप्यजडाभासा न सर्वा सर्वगैव च ॥ २० ॥

सर्वत्र अनायास ही सुलभ है, इसी आशयसे उस चितिका वर्णन करते हैं— **'निर्विकल्पा०'** इत्यादिसे ।

निर्विकल्पक, अद्वितीय, परब्रह्मस्वरूपिणी सर्वव्यापक होती हुई सकल तेजोंको भी प्रकाशित करनेवाली, स्वच्छ और अत्युत्कृष्ट जो यह चिति है, वह पुरुषकी केवल एक भावनासे प्राप्तव्य है ॥ १६ ॥

वह यह चिति सम्पूर्ण पदार्थोंका अवभास करनेवाली सर्वव्यापक, नित्य, निर्मल, नित्योदित, मनसे रहित, सकल विकारोंसे वर्जित और निरञ्जन है । एक वही घट और पट में, वट और कुड्य में, शकट और बानर में, गदहे और असुर में, सागर और भूत में, तथा नर और नाग में सर्वत्र संस्थित है ॥ १७, १८ ॥

जिस प्रकार प्रदीप पदार्थोंके प्रकाशनके लिए कोई दूसरी क्रिया नहीं करता, केवल अपने स्वरूपस्थितिसे ही प्रकाशनमें समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार यह चिति भी साक्षीकी नाईं केवल चुपचाप अपने स्वरूपमें बैठी रहती है, चलने-फिरने और हिलने-डोलने में समर्थ रहती हुई भी कहींपर हिलने-डोलने या चलने-फिरने का नामतक नहीं लेती ॥ १९ ॥

ऐसी सामर्थ्य रखती हुई भी वह चिति केवल देहादिभावसे वास्तवमें मलिन न होती हुई भी मलिन हो गई है यानी नानाविध रागद्वेषादि दोषोंसे सम्पृक्त हो गई है । इसमें यद्यपि किसी प्रकारका विकल्प है नहीं, फिर भी विविध विकल्पोंसे युक्त हो गई है । अजड होती हुई भी जड़-सी भासती है एवं सर्वगामिनी होती हुई भी असर्वगामिनी ॥ २० ॥

निर्विकल्पा परा सूक्ष्मा चिच्चिनोति स्वसंविदम्।
वातावाताङ्गमर्मादि यथा यन्त्रादिवेष्टने ॥ २१ ॥
रूपालोकमनस्कारावलिता चिदबोधतः।
बोधतश्चैव भवति निद्रां सदसती यतः॥ २२ ॥
सा परैव चिदत्यच्छा चिन्तामायाति चेतनात्।
साधुरेव यथाऽसाधुर्भाविते दुर्जनैषणाः ॥ २३ ॥

अब सर्वगामिनी और अत्यन्त सूक्ष्म चितिका एक-एक शरीरके अन्दर नखसे लेकर सिरतक जो विशेषव्याप्तिलक्षण संचय है, उसमें युक्ति बतलाते हैं—'**निर्विकल्पा**' इत्यादिसे।

विशेष प्रकारका अभिमान आदि कोई विकल्प न छूनेवाली, सर्वगामिनी एवं अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप परा चिति प्राणप्रधान लिङ्गशरीरमें प्रतिबिम्बभावसे अनुगत होती हुई हाथ, पैर आदि जो अङ्ग हैं एवं जो हृदय आदि स्थान तथा बहत्तर हजार नाडियोंके (शिराओंके) भेद हैं, उन सबको व्याप्तकर यानी उनमें प्रवेश कर सर्वत्र पहुँची हुई अपनी संविद्का अपने उतने ही शरीरमें मानो जबरदस्ती खींचकर उस प्रकार उपचय करती है, जिस प्रकार लम्बा और सूक्ष्म रेशम आदि तन्तु टेकुआ आदिके ऊपर वेष्टन करनेपर अत्यन्त लम्बा होनेपर भी अपनेको उतने ही स्थानमें उपसंहृत कर बेर आदिके आकारके सदृश उपचय प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

भद्र, इसी उपचयके कारण जाग्रत् पुरुषकी चिति बाह्य रूप आदि विषयोंके अवलोकन एवं अन्दर मानसिक व्यापारों से वेष्टित होती हुई बोधपक्षपातिनी हो जाती है और निद्रा ले रहे पुरुषकी चिति तो स्वप्नमें वासनामय रूप आदिके अवलोकन एवं मनोव्यापारों से वेष्टित होती हुई दो पक्षोंका यानी भीतर बोध और बाहर अबोध इन दो पक्षोंका अवलम्बन करती है। इसी प्रकार सुषुप्तिमें अज्ञानमात्रकी साक्षिणी एवं 'मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार उठे हुए पुरुषके स्मरणसे सदसदात्मक होती हुई भी चिति असत्प्राय होकर अबोध-पक्षका ही अवलम्बन करती है ॥ २२ ॥

जिस प्रकार साधु हुआ भी पुरुष दुर्जन-सङ्गतिसे चिरकालतक चित्तके संस्कृत होनेपर दुर्जनकी इच्छाएँ लेकर असाधु हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त स्वच्छ परा चिति ही देहादिमें तादात्म्याभिमान करनेसे तदनुकूल-

मलेन स्वर्णमायाति ताम्रतां मलमार्जनात् ।
पुनः कनकतामेति यथा चित्परमा तथा ॥ २४ ॥
स्वारोपशान्त्या स्वादर्शो यथैति प्रतिमास्थितिम् ।
तथा सर्गमिवाऽऽगम्य बोधात्स्वं याति तत्पदम् ॥ २५ ॥
अभाववेदनादस्याः संसारः संप्रवर्तते ।
स्वभाववेदनादेष त्वसदेवोपशाम्यति ॥ २६ ॥
यदा चित्त्वाच्चिनोत्यन्तरन्यतामसतीं तदा ।
अहन्तामिव संप्राप्य नश्यतीवाऽप्यनाशिनी ॥ २७ ॥
ईषत्स्पन्दादधो याति भृगुप्रान्तात्तरोः फलम् ।
यथा तथैव संवित्तेरधःपातो महानिव ॥ २८ ॥

प्राप्तिकी और प्रतिकूल परिहार आदिकी चिन्ता करती है [और स्वयं जड़ देहादिरूप हो जाती है ।] ॥ २३ ॥

इसीलिए चित्तके पुनः ब्रह्मरूपतासे भावित होनेपर वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है, इस आशयसे दृष्टान्त कहते हैं—'मलेन' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार मालिन्यसे सुवर्ण ताम्ररूप हो जाता है और मलका शोधन करनेसे फिर सुवर्णरूप हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानरूप मलका शोधन करनेसे परम चिति अपने विशुद्ध स्वरूपमें हो जाती है ॥ २४ ॥

जिस प्रकार सुन्दर दर्पण अपने ऊपर आरोपित मलकी शान्तिसे प्रतिमा-स्थिति (बार-बार प्रतिबिम्बकी अभिव्यक्तिके योग्य स्वच्छतारूप स्थिति) प्राप्त करता है, उसी प्रकार अज्ञानसे जड़ता, जीवता आदि सृष्टि मानो प्राप्तकर स्थित हुई चिति भी तत्त्वज्ञानसे अपना स्वच्छतारूप कैवल्यपद प्राप्त करती है ॥२५॥

असत्-रूप अज्ञानके लाभसे चितिका संसार बढ़ता जाता है और सच्चिदा-नन्दस्वरूप चितिस्वभावके ज्ञानसे यह संसार असत्-रूप ही होकर शान्त हो जाता है ॥ २६ ॥

चयनस्वभाव होनेके कारण जब चिति अपने भीतर असत्-रूप भिन्नताका संचय करती है, तब मानो अहन्ता प्राप्तकर स्वयं अविनश्वरस्वभाव होती हुई भी यह एक तरहसे नष्ट हो जाती है ॥ २७ ॥

जैसे थोड़ेसे स्पन्दनसे यानी डण्ठलके वियोजक प्रच्युतिमात्रसे पर्वतके तट-

रूपादीनां तु सत्तैषा चित एवाऽमलैव चित् ।
द्वित्वैकत्वे त्वबोधोत्थे बोधेन विलयं गते ॥ २९ ॥
सत्तामात्रेण चित्तस्य बोधश्चित्तेन्द्रियादिषु ।
आलोकसत्तामात्रेण व्यवहारः क्रियास्विव ॥ ३० ॥
वातात् कनीनिकास्पन्दस्तद्दीप्तिर्दृष्टिरुच्यते ।
तद्बाह्यवति तद्रूपरूपबोधस्तु चित्परा ॥ ३१ ॥
त्वङ्मारुतौ जडौ तुच्छौ तत्सङ्ग स्पर्श उच्यते ।
मननं स्पर्शसंवित्तिस्तत्संवित्तिस्तु चित्परा ॥ ३२ ॥

प्रान्त-प्रदेशमें स्थित वृक्षसे फलका अधःपात होता है, वैसे ही अज्ञानके स्पन्दनसे संविचिका यह जीवभाव भी एक तरहका महान् अधःपात है ॥ २८ ॥

रूप आदि विषयोंकी जो यह सत्ता है, वह चितिकी ही है । चिति स्वयं निर्मल ही है । भेद और अभेदाध्यास तो एकमात्र अज्ञानसे जनित हैं और वे ज्ञानसे विलीन हो जाते हैं ॥ २९ ॥

चित्तसाक्षीकी केवल सत्तासे ही चित्त, इन्द्रिय आदिमें ज्ञान ऐसे होता है, जैसे केवल आलोक-सत्तासे क्रियाओंमें व्यवहार होता है ॥ ३० ॥

सामान्यरूपसे कथित विषयका विशेषरूपसे चक्षु आदि इन्द्रियोंमें विभागशः उपपादन कर रहे भगवान् शङ्करजी सर्वत्र चितिकी ही फलरूपता बतलाते हैं— 'वातात्' इत्यादिसे ।

चिति-सन्निधिसे प्रेरित हुए व्यानवायुरूप निमित्तसे चक्षुकी कनीनिकाओंमें स्पन्द होता है । उसमें अवस्थित प्रकाश (तैजस इन्द्रिय) चक्षु कही जाती है । उस चक्षुके द्वारा, नाली द्वारा जलके सदृश, बाहरकी ओर प्राप्त कराये गये अन्तः-करणसे व्याप्त घट आदिमें उसीके समान आकारवाले नील, पीत आदि रूप एवं उसकी (घट आदिकी) आकृतिका जो बोध होता है, वह परा चिति ही है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार स्पर्शेन्द्रियसे होनेवाले त्रिपुटी-भानस्थलमें भी त्वगिन्द्रिय और वायु दोनों जड़ एवं तुच्छ (स्वतः सत्तास्फूर्तिशून्य) हैं, इसलिए चितिकी सत्तास्फूर्तिके बलसे ही त्वचा और पवन का सम्बन्ध होता है और वही सम्बन्ध स्पर्शेन्द्रिय-कल्पनाका निमित्त होनेसे स्पर्श कहा जाता है । उसके द्वारा उससे सम्बद्ध शीत, उष्ण आदि द्रव्योंमें जो शीताद्याकार मनोवृत्ति होती है,

गन्धतन्मात्रपवनसम्बन्धो गन्धसंविदः ।
आसां तु मनसा हीनं वेदनं परमैव चित् ॥ ३३ ॥
शब्दतन्मात्रश्रवणवातसञ्ज्ञान्मनो विना ।
सुषुप्तसदृशी संवित् परमा चिदुदाहृता ॥ ३४ ॥
क्रियोन्मुखत्वं सङ्कल्पात् सङ्कल्पो मननक्रमः ।
मननं चित्तकालुष्यमात्मा चिन्निर्मला भवेत् ॥ ३५ ॥
चित्प्रकाशात्मिका नित्या स्वात्मन्येवाऽत्र संस्थिता ।
इदमन्तर्जगद्धत्ते सन्निवेशं यथा शिला ॥ ३६ ॥

वह स्पर्शज्ञान कहा जाता है और स्पर्शज्ञानसे युक्त विषयपर्यन्त जो त्रिपुटीका प्रकाश है, वह परा साक्षी चिति है ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय और गन्धरूपसे विभक्त हुए गन्ध-तन्मात्राका नासा-पुटमें प्रवेश करनेवाले पवन द्वारा किया गया जो उनका सम्बन्ध है, वही गन्धाकार अन्तःकरणवृत्तियोंका निमित्त होनेसे गन्ध-संवित् कहलाती है। गन्धाकार अन्तःकरणवृत्तियोंकी त्रिपुटियोंका अन्तःकरणसे शून्य (विविक्त) जो प्रकाशात्मक ज्ञान है, वह साक्षी चैतन्य ही है ॥ ३३ ॥

शब्दतन्मात्रा और श्रवणेन्द्रिय का व्यानवायुके संसर्गसे उत्पन्न मनोवृत्तिरूप शब्दसंविचियोंमें मनका अंश छोड़कर सुषुप्तिके सदृश निर्विकार साक्षीरूपा जो संविचि है, वही परम चिति उदाहृत है। इसी प्रकार रसनेन्द्रियजनित त्रिपुटीके साक्षात्कारफलमें भी साक्षी चैतन्यका पृथक्करण कर अनुभव करना चाहिए ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार कर्मेन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंमें हेतुभूत सङ्कल्पस्वरूप मनोवृत्ति, उसके मालिन्यके साक्षीरूपसे भी आत्मचैतन्य ही स्थित है, ऐसा विवेक करना चाहिए, यों कहते हैं—**'क्रियोन्मुखत्वम्'** इत्यादिसे ।

कर्मेन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमें तत्परता सङ्कल्पसे होती है, वह सङ्कल्प मननजनित है, वह मनन चित्तकी कलुषताके कारण होता है और उन सबका साक्षी आत्मरूपा चिति सर्वविध मलोंसे निर्मुक्त है ॥ ३५ ॥

ऐसी स्थितिमें जब कि आन्तर और बाह्य समस्त द्वैतप्रकाश साक्षिचैतन्य-मात्रस्वरूप ही है, तब सम्पूर्ण द्वैतप्रपञ्च उसी साक्षी चैतन्यमें अध्यस्त है, यह अनायास फलित हुआ, यह कहते हैं—**'चित्'** इत्यादिसे ।

अद्वितीया दधानेदं विकारादिविवर्जितम् ।
नास्तमेति न चोदेति स्पन्दते नो न वर्धते ॥ ३७ ॥
सङ्कल्पाज्जीवतामेत्य निःसङ्कल्पात्मनाऽऽत्मना ।
चिज्जडं नो जडं भावं भावयन्ती स्वसंस्थिता ॥ ३८ ॥
रथस्त्वस्याश्रितेर्जीवो जीवस्याऽहङ्कृती रथः ।
अहङ्कृते रथो बुद्धिस्ततो बुद्धेर्मनो रथः ॥ ३९ ॥
मनसस्तु रथः प्राणः प्राणस्याऽक्षगणो रथः ।
अक्षौघस्य रथो देहो देहस्य स्पन्दनो रथः ॥ ४० ॥
स्पन्दनं कर्म संसारे जरामरणपञ्जरम् ।
एवं प्रवर्तितं चक्रमिदमादिविभूतिजम् ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार स्फटिक-शिला अपने भीतर अरण्य, पर्वत, नदी आदिका प्रतिबिम्ब धारण करती है, उसी प्रकार अपने स्वरूपमें ही स्थित प्रकाशस्वरूप नित्य चिति भी अपने भीतर यह जगत् धारण करती है ॥ ३६ ॥

किसी तरहके विकार आदिके बिना इस जगत्को धारण कर रही अद्वितीया यह चिति न अस्त होती है, न उदित होती है, न स्पन्दित होती है और न बढ़ती ही है ॥ ३७ ॥

सङ्कल्पशून्यस्वरूप यह चिति अपने-आप, सङ्कल्पसे जीवरूपता प्राप्तकर जड़ जगत्का स्वरूप चैतन्य ही है, यों भावना करती हुई अपने स्वरूपमें ही स्थित हो जाती है ॥ ३८ ॥

अब चैतन्यके बाहर निर्गमनमें रथ-परम्पराकी कल्पना करते हुए कहते हैं—'रथ०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

इस चितिका रथ जीव है, जीवका रथ अहङ्कार है, अहङ्कारका रथ बुद्धि है और बुद्धिका रथ है—मन ॥ ३९ ॥

मनका रथ प्राण है, प्राणका रथ इन्द्रियसमूह है, इन्द्रियसमूहका रथ देह है और देहका रथ कर्मेन्द्रिय-समुदाय है ॥ ४० ॥

सभी रथोंका कर्म संसारमें परिभ्रमण ही है । जरा एवं मरण धर्मवाले देहरूपी पिंजड़ेसे युक्त जीवरूपी पक्षीका यह दोलाचक्र, जो कि आदिकारण ईश्वरकी विभूतिसे यानी मायारूपी ऐश्वर्यसे उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार घूमता रहता है ॥ ४१ ॥

प्रतिभासत एवाऽऽत्मन्यसत्स्वप्न इवाऽऽततः ।
मनागपि न सत्यात्म मृगतृष्णाम्बुवत्स्थितम् ॥ ४२ ॥
रथस्त्वत्र स्मृतः प्राणः कल्पनाया मुनीश्वर ।
यत्र प्राणमरुत्तत्र मननं परितिष्ठति ॥ ४३ ॥
आलोकश्रीः स्थिता यत्र रूपं तत्रैव राजते ।
प्राणो बली स्थितो यत्र तदेव परिवेपति ।
यत्प्रयाति वनं वात्या तदेव परिघूर्णते ॥ ४४ ॥
मनस्याकाशसंलीने न प्राणः परिवेपति ।
तेजस्यसत्तामायाते न रूपमिव राजते ॥ ४५ ॥
प्राणे प्रशान्ते मरुति मनोऽन्तर्न मनागपि ।
वात्यायामुपशान्तायां रजो न परिकम्पते ॥ ४६ ॥

मायिकत्वका ही उपपादन करते हैं—'प्रति०' इत्यादिसे ।

इस प्रकारका असदात्मक यह जगद्रूप चक्र विशाल स्वप्नकी नाईं आत्मामें ही प्रतिभासित होता है, मृगतृष्णिका-जलके सदृश आभासरूपसे स्थित यह तनिक भी सत्य नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

'मनका रथ प्राण है' यह जो कहा गया है, उसमें वक्ष्यमाण अर्थोपयोगी कुछ वैशिष्ट्य कहनेके लिए उपपत्ति कहते हैं—'रथस्त्वत्र' इत्यादिसे ।

हे मुनीश्वर, मानस कल्पनाका निमित्त होनेसे यहाँपर मनका रथ प्राण कहा गया है। जहाँपर प्राण-वायु रहता है, वहींपर मननात्मक सङ्कल्पकी स्थिति रहती है ॥४३॥

जहाँपर प्रकाशलक्ष्मी स्थित रहती है, वहींपर रूप प्रकाशित होता है । सूत्ररूप होनेके कारण सबका धारण और संचालन करनेमें समर्थ बलवान् प्राण-वायु जहाँ स्थित रहता है, वही स्पन्दित होता है । ठीक ही है, जिस वनकी ओर आँधी जाती है, वही वन कम्पित होता है ॥ ४४ ॥

इसी प्रकार मन भी प्राण-क्रियाका निमित्त है, यों व्यतिरेकसहचारके प्रदर्शन द्वारा कहते हैं—'मन०' इत्यादिसे ।

मनके हृदय-आकाशमें विलीन हो जानेपर प्राण-वायु उस प्रकार कम्पित नहीं होता, जिस प्रकार तेजका अभाव हो जानेपर रूप प्रकाशित नहीं होता ॥ ४५ ॥

इसी प्रकार प्राणके निरोधसे भी मनका निरोध होता है, यह कहते हैं—'प्राणे' इत्यादिसे ।

यत्र प्राणो मरुद्याति मनस्तत्रैव तिष्ठति ।
यत्र यत्राऽनुसरति रथस्तत्रैव सारथिः ॥ ४७ ॥
प्राणसंप्रेरितं चित्तं याति देशान्तरे क्षणात् ।
क्षेपणोन्मुक्तपाषाण इव तत्राऽन्यथा क्षयि ॥ ४८ ॥
यत्र पुष्पं तत्र गन्धो यत्राऽग्निस्तत्र सोष्णता ।
यत्र प्राणो मनो याति यत्रेन्दुस्तत्र तच्छविः ॥ ४९ ॥
संवित्तिः पवनस्पन्दान्नाडीसंस्पर्शनश्च सः ।
संवित्तिस्फारता चित्तमनस्तत्प्राणकोटरे ॥ ५० ॥
सर्वत्र विद्यते संविद्व्योमस्वच्छा जडाजडे ।
क्षुभ्यन्तीव तु सा प्राणस्पन्दादित्यनुभूयते ॥ ५१ ॥

प्राण-वायुके भलीप्रकार शान्त हो जानेपर मन भीतर उस प्रकार तनिक भी कम्पित नहीं होता, जिस प्रकार आँधीके शान्त हो जानेपर धूलि ॥ ४६ ॥

इसीलिए मनका रथ प्राण है, यह कहा गया है, यों कहते हैं—'**यत्र**' इत्यादिसे ।

जहाँपर प्राण-वायु जाता है, वहींपर मन रहता है । ठीक ही है, जहाँ-जहाँ रथ गमन करता है, वहीं सारथि भी रहता ही है ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार क्षेपण-यन्त्रसे (गोफनसे) फेंका गया पाषाण तत्काल देशान्तरमें चला जाता है, उसी प्रकार प्राणके द्वारा प्रेरित हुआ चित्त उसी क्षण देशान्तरमें चला जाता है । वहाँ प्राणका निरोध होनेपर मन क्षीण हो जाता है ॥ ४८ ॥

जहाँ पुष्प रहता है, वहाँ गन्ध रहती है; जहाँ आग रहती है, वहाँ उष्णता रहती है; जहाँ समष्टि-व्यष्टि प्राण रहता है, वहाँ मन जाता है एवं जहाँपर चन्द्र और चन्द्रांश मन रहता है, वहीं चांदनी और मनोवृत्तियाँ रहती हैं ॥ ४९ ॥

इसीलिए चाक्षुष आदि संवित्तियोंमें प्रत्येक संवित्तिके प्रति वायु भी निमित्त है, यह मैंने पहले ही बतला दिया था, इस आशयसे कहते हैं–'**संवित्तिः**' इत्यादिसे ।

संवित्ति वायुके स्पन्दनसे होती है, उस वायुका समस्त अङ्गोंमें अन्नरसके प्रवेशके लिए सब नाड़ियोंके साथ स्पर्श होता है और चित्त एवं मन से युक्त लिङ्गशरीररूप प्राणकोटरमें चितिका, बिम्ब-प्रतिबिम्बभावसे द्विगुणीकरण द्वारा, जो विस्पष्ट रूप होता है, वह भी उसी वायुसे होता है ॥ ५० ॥

आकाशकी नाईं अत्यन्त स्वच्छ संवित् सभी जड़ और अजड़ स्थलोंमें

सत्तामात्रस्वरूपेण जडेषु समवस्थिता ।
प्राणसंबोधिता वेत्ति वेदनात्मतया जडे ॥ ५२ ॥
नानास्फारसमुल्लासैर्यः पूर्वं परिवल्गति ।
प्राणेऽतीते त्वमनसः स एवाऽऽशु न वेपति ॥ ५३ ॥
पुर्यष्टके चित्परमा स्वे मुने प्रतिबिम्बति ।
आदर्श एव प्रतिमा दृश्यते नोपलादिषु ॥ ५४ ॥
मनः पुर्यष्टकं विद्धि सर्वकार्यैककारणम् ।
तदेव भेदैः कथितमन्यैः स्वाशयकल्पितैः ॥ ५५ ॥

रहती है, परन्तु लिङ्गशरीरमें प्राणोंके स्पन्दनसे स्पष्ट अभिव्यक्ति द्वारा वह एक तरहसे संचलन कर रही-सी अनुभूत होती है ॥ ५१ ॥

सामान्यसत्तामात्रस्वरूपसे सब जड़ पदार्थोंमें भलीप्रकार स्थित हुई भी वह चिति एकमात्र जड़ देहमें ही प्राण-वायु द्वारा उद्बोधित होकर आध्यासिक चित्तादात्म्यकी सामर्थ्यसे सृष्टि आदिको ज्ञानरूपसे जानती है ॥ ५२ ॥

जो देह जीवनदशामें अनेक विस्तृत चमकीले उल्लासोंसे व्यवहार करती है, वही प्राण-वायुके चले जानेपर मनके न रहनेसे तत्क्षण ही कम्पनशून्य हो जाती है ॥ ५३ ॥

हे मुने, यह परम चैतन्य अपने* पुर्यष्टकमें प्रतिबिम्बित होता है। ठीक ही है, स्वच्छ दर्पणमें ही प्रतिमा दिखलाई पड़ती है न कि मलिन पत्थर आदिमें ॥ ५४ ॥

यदि शङ्का हो कि मनमें प्राणके कारण चित्का प्रतिबिम्ब होता है, यह पहले कहा गया और अब पुर्यष्टकमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब होता है, यह कहते हैं, ऐसी स्थितिमें पूर्वापर विरोध क्यों नहीं होता ? तो इसपर कहते हैं— **'मनः'** इत्यादिसे ।

महर्षे, समस्त कार्योंका एकमात्र कारण मन ही पुर्यष्टक है, यह जान लीजिए उसीको अन्य आचार्योंने अपने अभिप्रायसे कल्पित शिष्यबोधोपयोगी उपायोंसे पुर्यष्टक कहा है ॥ ५५ ॥

* भूतान्तःकरणप्राणज्ञानकर्मेन्द्रियैर्युतम् ।
अविद्याकामकर्माढ्यं लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥

(पाँच भूत, अन्तःकरण, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से युक्त तथा अविद्या, काम एवं कर्मों से भरा लिङ्गशरीर पुर्यष्टक कहा गया है ।)

यस्मादुदेति कलनाकुलदृश्यजालं
यत्तत्र च स्थितवदित्यनुभूतमुच्चैः ।
यस्मान्मनो विपरिवर्तति देहदृष्ट्या
सर्वं तु तत्परमवस्त्विति विद्धि विश्वम् ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे मनःप्राणैक्यप्रतिपादनं नामैकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

—:o:—

द्वात्रिंशः सर्गः

ईश्वर उवाच

मुने शृणु कथं कार्यकारिणी स्पन्दशालिनी ।
चरन्ती च तनुं पुंसामुपैति परमाभिधाम् ॥ १ ॥

अब जीव, उसकी उपाधि तथा उसके भोग्यरूप विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय चिदेकरस सन्मात्र ब्रह्मके ही अधीन हैं। इसलिए परमार्थरूपसे वे ब्रह्मस्वरूप ही हैं, यों अनुभव कराते हुए शङ्करजी उपर्युक्त विषयका उपसंहार करते हैं—'**यस्मादुदेति**' इत्यादिसे ।

महर्षे, चूँकि अनेक प्रकारकी कल्पनाओंसे ग्रस्त यह दृश्यसमूह चितिमें ही उदित होता है, चूँकि उसीमें स्थित और लीन हो जाता है एवं चूँकि मन ही देहदृष्टिसे भ्रमग्रस्त होता है, यों ज्ञानियों द्वारा अनुभूत है, इसलिए यह सम्पूर्ण विश्व परब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा नहीं, यह जानिए ॥ ५६ ॥

एकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

[पुर्यष्टकमें प्रविष्ट हुई यह चिति जिस प्रकार देहादिको क्रियाशील बनाती है तथा जिस प्रकार देहान्तरको प्राप्त होती है, उस सबका वर्णन]

श्रीमहेश्वरने कहा—हे मुने, पूर्वोक्त प्रकारसे पुरुषोंके पुर्यष्टकमें प्रविष्ट हुई यह श्रेष्ठ चिति किस प्रकार ऐहिक एवं पारलौकिक कार्य करनेवाली होती है और उन कर्मोंके अनुकूल देहादिमें स्पन्दनशील होती हुई किस प्रकार अभिधा (जाती है, नहाती है, खाती है और याग करती है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं देवदत्त आदि शब्दोंसे व्यवहार करनेकी योग्यता) प्राप्त करती है, वह सब मैं कहता हूँ, आप सुनिए ॥ १ ॥

प्राक्तनैस्तैर्निहन्त्येव स्वमनोमननेहितैः ।
कर्मव्रातैर्विचित्रेहैः परिपीवरतां गतैः ॥ २ ॥
मनस्तया गता शक्तिः सज्जडेवाऽऽगता चितेः ।
सा स्फुरत्यनया ब्रह्मन्नुचिता शक्तिभूतया ॥ ३ ॥
अस्याः प्रसादादिह सा चित्कलङ्कवती मुने ।
जगद्गन्धर्वनगरं करोति न करोति च ॥ ४ ॥

देह-स्पन्दनमें चित्प्रतिबिम्बभूत जीवका चलन कारण है और जीवके चलनमें जीवोपाधिभूत पुर्यष्टकात्मक मनोरूपसे परिणत हुई, चितिके वास्तविक स्वभावका तिरोधान करनेवाली मायाशक्ति कारण है। उस मायाशक्तिकी मनोरूप परिणतिमें पूर्व-पूर्व देहोंके अन्तिम परिणामसे संचित कर्म-समूह ही कारण है, बृहदारण्यकमें भी 'कर्म हैव तदूचतुः कर्मैव तत्प्रशशंसतुः*' इत्यादि श्रुतियोंसे कर्म ही ग्रह, अतिग्रहरूप† बन्धनका कारण निश्चित किया गया है, इस आशयसे कहते हैं—'**प्राक्तनैः**' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, अनादिमायारूप यह ब्रह्मशक्ति अपनी आवरणशक्ति द्वारा पहले अपने आश्रय ब्रह्मको 'नाऽस्ति', 'न भाति' इस प्रकार प्रतीतिके योग्य बना ही देती है, तदनन्तर प्राक्तन परिपुष्टताको प्राप्त (अनादिकालसे लेकर किये गये संचयसे परिपुष्टताको प्राप्त) विविध काम-वासनाओंसे युक्त एवं अपने मनसे किये गये गये मननोंसे चेष्टित कायिक-वाचिक चेष्टारूप विहित-निषिद्ध कर्म-समूहात्मक कारणवश पुर्यष्टकरूप मनोभावसे परिणत होती हुई वह अपने अधिष्ठानभूत चित्-सत्तासे चित्की नाईं और अपने स्वभावके बलसे जड़की नाईं—यों मिश्र-भावको प्राप्त होती है। तदनन्तर ज्ञान और कर्मके व्यवहारयोग्य होती हुई वह मायाशक्ति ही अपनी शक्ति-भूत इस ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय आदि इन्द्रिय-प्रणालिकासे द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदि नव तरहके संसाररूपमें नाचती है, इससे और दूसरा कुछ नहीं है ॥२,३॥

हे मुने, इसी मायाशक्तिके विचार एवं अविचारस्वरूप प्रसादसे इस संसारमें

* विचारकालमें एकान्तमें स्थित उन दोनोंने कर्मको ही कार्य-कारणका उपादानकारण कहा। केवल कहा ही नहीं, अपि तु काल और ईश्वर आदिसे स्वीकृत अन्य कारणोंमें कर्मकी ही उन्होंने प्रशंसा की यानी उसे ही प्रधान कारण माना (बृह० ३।२।१३)।

† उपनिषदोंमें मुक्तिके प्रतिबन्धक ग्रह और अतिग्रह बतलाए गये हैं। उनमें प्राण, जिह्वा, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, हाथ और त्वचा ये आठ ग्रह तथा अपान, रस, नाम, रूप, शब्द, काम, कर्म एवं स्पर्श ये आठ अतिग्रह नामसे परिगणित हैं।

चित्ताद्यसत्तया देहो मूकस्तिष्ठति कुड्यवत् ।
तत्सत्तया हि स्फुरति नभःसंप्रेरिताश्मवत् ॥ ५ ॥
यथा स्फुरत्यतिजडमयोऽयस्कान्तसन्निधौ ।
तथा स्फुरति जीवोऽयं सति सर्वगते परे ॥ ६ ॥
सर्वस्थयाऽऽत्मशक्त्यैव जीव एष स्फुरत्यलम् ।
मुकुरो बिम्बमादत्ते द्रव्यात्मन्यस्थितादपि ॥ ७ ॥

क्रमशः कलङ्कयुक्त होती हुई वह चिति जगत्-रूपी गन्धर्वनगरका निर्माण करती है और नहीं भी करती है यानी अविचारसे निर्माण करती है और विचारसे निर्माण नहीं भी करती ॥ ४ ॥

तब ब्रह्म-चितिके सान्निध्यसे देह ही सबका निर्माण करेगा, चित्त आदिकी कल्पनाकी क्या आवश्यकता है ? इसपर कहते हैं—'चित्ताद्य०' इत्यादिसे ।

चित्त, मन, बुद्धि और अहङ्कार के न रहनेसे यह देह भित्तिकी नाईं जड़ होकर मूक रहती है और उनके रहनेसे तो, आकाशमें फेंके गये पत्थरकी नाईं, यह स्फुरित (व्यापारशील) होती है ॥ ५ ॥

जीवके प्राण एवं कर्मेन्द्रियों से होनेवाले व्यापारोंमें सन्निधानमात्रसे ब्रह्म साधारणकारण है, यों कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार अत्यन्त जड़ लोहा लोहचुम्बकके सान्निध्यसे स्फुरित (संचरणशील) होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी सदात्मक इस परब्रह्मके सान्निध्यसे यह जीवात्मा प्रस्फुरित होता है ॥ ६ ॥

बुद्धि आदिके प्रकाश और ज्ञानेन्द्रियोंके प्रयोजनों में (विषयोंके ज्ञानोंमें) अपने प्रतिबिम्बके समर्पण द्वारा चिति असाधारण कारण है, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वस्थया' इत्यादिसे ।

सर्वत्र स्थित आत्मरूप इस चिच्छक्तिसे ही यह जीव पर्याप्तरूपसे अपने और दूसरेके प्रकाशनमें समर्थ होता है [यदि शङ्का हो कि भौतिक होनेसे द्रव्यस्वभावमें अवस्थित जीवका उपाधिभूत यह लिङ्गशरीर अद्रव्यस्वभाव (गुण और कर्मके अनाश्रय) ब्रह्मका प्रतिबिम्ब कैसे ग्रहण करेगा, क्योंकि द्रव्यमें द्रव्यका ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसा नियम है, तो इसपर कहते हैं—मुकुरो' से ।]

प्रविस्मृतस्वभावत्वाज्जीवोऽयं जडतां गतः ।
मोहाद्विस्मृतभावत्वाच्छूद्रतामिव सद्द्विजः ॥ ८ ॥
प्रविस्मृतस्वभावा हि चिच्चित्तत्वमुपागता ।
मोहापहृतचित्तत्वात् सुमहानिव दीनताम् ॥ ९ ॥
जडयाऽवशया देहो वातशक्तिसमानया ।
सञ्चाल्यते तदनया वारीव वीचिमालया ॥ १० ॥

द्रव्यस्वभावमें अवस्थित न हुए भी गुण, क्रिया, जाति आदिसे दर्पणरूप द्रव्य प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है । अतः द्रव्य द्रव्यसे ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, यह नियम नहीं है ॥ ७ ॥

शङ्का हो कि यदि ब्रह्मका प्रतिबिम्ब ही जीव है तो उसे अज्ञान, निद्रा आलस्य आदि जाड्यका अनुभव कैसे होता है, सूर्यके प्रतिबिम्बमें अभास्वर-रूपताका अनुभव कभी नहीं हो सकता ? तो इसपर कहते हैं—**'प्रविस्मृत०'** इत्यादिसे ।

चूँकि यह जीव अपना विशुद्ध चैतन्यात्मक स्वरूप भूल गया है, इसलिए उसने उस प्रकार जड़ता प्राप्त की है, जिस प्रकार मोहसे अपना स्वभाव भूल जानेके कारण अभक्ष्यभक्षण आदिमें प्रवृत्त सद्ब्राह्मण शूद्रता प्राप्त करता है ॥८॥

मोहसे चित्तका तिरोधान हो जानेके कारण अपना स्वरूप भूल गये गाधि, लवण, हरिश्चन्द्र आदि बड़े-बड़े लोगोंने जिस प्रकार दीनता प्राप्त की है, उसी प्रकार अपना विशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव भूल जानेके कारण इस चितिने चित्तत्व (चित्तके जड़ता, मलिनता आदि धर्म) प्राप्त किया है ॥ ९ ॥

चित्तके साथ अभेदाध्याससे चितिमें जिस प्रकार चित्तके धर्म दैन्य आदिकी प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार प्राणके साथ तादात्म्याध्याससे चितिमें प्राणधर्म देहसंचालनहेतुताकी भी सिद्धि हो जाती है, ऐसा कहते हैं—**'जडया'** इत्यादिसे ।

वातशक्ति (प्राण) के साथ एकताकी प्राप्ति होनेसे प्राणके सदृश पराधीनताको प्राप्त हुई जड़रूप इस चितिके द्वारा यह देह उस प्रकार संचालित होती है, जिस प्रकार तरङ्ग-पङ्क्तिसे पानी संचालित होता है ॥ १० ॥

कर्मात्मना वराकेण जीवेन मनसाऽमुना ।
चाल्यन्ते देहयन्त्राणि पाषाणा इव वायुना ॥ ११ ॥
शरीरशकटानां हि कर्षणे परमात्मना ।
मनःप्राणोदयौ ब्रह्मन् कृतौ कर्मकृतौ दृढौ ॥ १२ ॥
चिज्जडं तूररीकृत्य रूपं जीवत्वमेत्य च ।
मनोरथमुपारुह्य वहत्प्राणतुरङ्गमम् ॥ १३ ॥
क्वचिज्जातपदार्थत्वं क्वचिन्नष्टपदार्थताम् ।
क्वचिद्बहुपदार्थत्वं क्वचिदेकपदार्थताम् ॥ १४ ॥
गतेव भिन्नेवाऽस्त्येवमत्यजन्ती निजं पदम् ।
जलतेव तरङ्गत्वं सैवाऽसदसदोदिता ॥ १५ ॥

जिस प्रकार पाल आदि उपाधिके वशीभूत हुए वायुके द्वारा नावमें स्थित पत्थर अपने अभीष्ट स्थानकी ओर संचालित किये जाते हैं, उसी प्रकार उक्त रीतिसे क्रियास्वभावको प्राप्त, मनन-शक्तियुक्त इस जीवके द्वारा, जो कि उपाधि-परवश होनेसे अत्यन्त दीन है, देहरूप यन्त्र संचालित किये जाते हैं ॥ ११ ॥

हे ब्रह्मन्, परमात्माने ही शरीररूपी गाड़ी खींचनेके लिए मनःशक्ति और प्राण-शक्ति–ये दो सुदृढ नौकर या बैल उत्पन्न किये हैं ॥ १२ ॥

स्वाप्निक व्यवहारोंका भी संग्रह हो जाय, इसलिए मनकी ही रथरूपसे कल्पना करनी चाहिए, मुख्य एवं अमुख्य प्राणोंकी तो घोड़ोंके रूपसे, इस आशयसे कहते हैं—'चिज्जडम्' इत्यादिसे ।

महर्षे, पहले जड रूप स्वीकार कर और तदनन्तर जीव रूप प्राप्तकर प्राण-रूप घोड़ोंसे खींचे जा रहे मनरूपी रथपर आरूढ होकर यह चिति कहीं (जाग्रत् एवं स्वप्न-अवस्था में) आविर्भूत पदार्थोंकी स्वरूपता, कहीं (उन्हीं अवस्थाओंमें) बहुपदार्थता, कहीं (सुषुप्ति-अवस्थामें) तिरोभूत समस्त पदार्थोंकी स्वरूपता एवं कहीं (उसी अवस्थामें) एकमात्र अविद्यारूप पदार्थ-स्वरूपताको प्राप्त हुई-सी भिन्न-भिन्न-सी होकर स्थित रहती है । [तब जैसे दधिरूपता प्राप्तकर दूध विनष्ट हो जाता है, वैसे ही वह क्या जीव और जगत्-रूप प्राप्तकर नष्ट हो जाती है ? इसपर नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं—'अस्ति' से ।] इस प्रकार परिणत होनेपर भी अपना पारमार्थिक स्वरूप न छोड़ती हुई यह चिति उस प्रकार

उपजीव्याऽऽत्मनो रूपं परं स्फुरति वृत्तिषु ।
आलोकमुपजीव्येमं रूपश्रीर्दृश्यगा यथा ॥ १६ ॥
परमात्मनि चित्तत्त्वे स्थिते सति निरामये ।
जीवो जीवति सालोकं दीपे सति गृहं यथा ॥ १७ ॥
आधयो व्याधयश्चैव प्रयान्त्यस्य प्रपीनताम् ।
अपामिव तरङ्गत्वं वीचित्वस्येव फेनता ॥ १८ ॥
आधिव्याधिभिराकीर्णशरीराम्भोजषट्पदः ।
जीवो वैषम्यमायाति तरङ्गत्वे यथा पयः ॥ १९ ॥

स्थित रहती है, जिस प्रकार तरङ्ग अपनी पारमार्थिक जलरूपता न छोड़ता हुआ स्थित रहता है । और वही चित् तत्त्वदृष्टिसे असत् जाग्रत्-अवस्थाकी नाईं एवं व्यावहारिकदृष्टिसे भी असत् स्वप्नकी नाईं किञ्चित् विकसित होती है ॥ १३-१५ ॥

आत्मामें अध्यस्त होनेके कारण आत्मसत्ताका ही आश्रयण कर मानसिक वृत्तियोंमें प्रतिबिम्बित आत्मचैतन्यके बलसे मनोरूप जीव-जगत् स्फुरित (प्रकाशित) होता है, यह कहते हैं—'उपजीव्य०' इत्यादिसे ।

जैसे इस सूर्य आदि प्रकाशका आश्रयण कर घटादि पदार्थोंमें स्थित रूप-शोभा प्रस्फुरित होती है, वैसे ही मनकी वृत्तियोंमें प्रतिफलित आत्माकी चैतन्य-सत्ताका आश्रयण कर यह जीव-जगत् प्रस्फुरित होता है ॥ १६ ॥

पारमार्थिक चिन्मात्रस्वरूपसे युक्त, विकाररहित परमात्माकी स्थिति रहनेपर ही यह जीव अपना प्रकाशमय जीवन उस प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार दीपककी स्थिति रहनेपर घर प्रकाशमय जीवन धारण करता है ॥ १७ ॥

अबतक चिति देह-चेष्टाके प्रति कारण है, इसका उपपादन किया गया । अब उसकी देहान्तरमें प्राप्तिका प्रकार बतलाने तथा वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए देहसे होनेवाले दुःखोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'आधयः' इत्यादिसे ।

अज्ञान-अवस्थामें इस जीवकी आधियाँ एवं व्याधियाँ उस प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती हैं, जिस प्रकार जलका तरङ्गरूप और उस तरङ्गरूपका फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

जैसे तरङ्गरूपके होनेपर जल विषमता प्राप्त करता है, वैसे ही आधि एवं व्याधि से

चिच्छक्तिः सर्वशक्तित्वान्नाऽहं चिदिति भावनात् ।
अत्र सैवैति वैवश्यं सूर्यो दीप्तैरिवाऽम्बुदैः ॥ २० ॥
वैवश्याच्च्यवती मौढ्यान्न विन्दत्यात्मसंविदम् ।
घनजाड्यपराभूतः स्वाङ्गावदलनं यथा ॥ २१ ॥
प्राप्य चाऽप्यनुसन्धानमस्या मोहो विनश्यति ।
घनमोहरतो जन्तुः स्वकार्यस्मरणं यथा ॥ २२ ॥
यदाऽङ्गसंविदां वातस्पन्दशक्तिः प्रमोषतः ।
न करोत्यनुसन्धानं कुष्ठी स्पन्दैषणं यथा ॥ २३ ॥

आक्रान्त शरीररूपी कमलका भ्रमर यह जीव दैन्य, दुःख आदि विषमता प्राप्त करता रहता है ॥ १९ ॥

जिस प्रकार सूर्य दर्शककी दृष्टिमें अपने ही द्वारा प्रकाशित हुए मेघोंसे अदर्शनीयता, मलिनता आदि विवशता प्राप्त करता है, उसी प्रकार सर्वशक्तिरूप होनेपर भी वही चिच्छक्ति 'मैं चित् नहीं हूँ' इस भावनासे इस देहमें दीनता आदि विवशता प्राप्त करती है ॥ २० ॥

उपर्युक्त मलिनता आदि विवशताके कारण ज्ञानकी अनधिकारिणी योनियोंमें जन्म-ग्रहण कर रही यह चिच्छक्ति मूढतासे अपना स्वरूप उस प्रकार नहीं जानती, जिस प्रकार मदिरा आदिके घन मदसे आक्रान्त हुआ पुरुष खड्ग आदिसे अपना अङ्गच्छेदन नहीं जानता ॥ २१ ॥

तब चितिका मोह कब नष्ट होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'प्राप्य' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार मद आदिसे जनित घनीभूत मोहमें फँसा हुआ जीव कुछ समयके बाद अपने कर्मोंका स्मरण कर मोहरहित हो जाता है, उसी प्रकार अपने स्वरूपका स्मरण कर इस चिच्छक्तिका मोह नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

अब देहत्यागका प्रकार बतलानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'यदा०' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार कोढ़ी पुरुष अपने गलित अङ्गुलि आदि अङ्गोंके स्पन्दनकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार जब प्राणकी स्पन्दनशक्ति—अङ्ग-संवित्तियोंका (नखाग्रपर्यन्त लिङ्गोपाधि द्वारा प्रविष्ट हुए जीवविज्ञानोंका) हृदयमें लिङ्गोप-

असंवित्स्पन्दतो देहे पद्मपत्रं हृदि स्थितम् ।
न स्फुरत्यपरामृष्टं दारुपात्रं यथा बहिः ॥ २४ ॥
निःस्पन्दे पद्मपत्रेऽन्तः प्राणाः शान्तिं प्रयान्त्यमी ।
तालवृन्ते यथाऽस्पन्दे बहिः पवनशक्तयः ॥ २५ ॥
प्राणे शान्तेतरस्पर्शे जीवो निष्पूर्णमूकताम् ।
याति शान्ते नभोवायौ न दृश्यत्वं यथा रजः ॥ २६ ॥
विरजं विगताधारं मनो हि शिष्यते मुने ।
तिष्ठत्यात्मपदं लब्ध्वा जलादितरुबीजवत् ॥ २७ ॥

संहारसे प्रमोष हो जानेके कारण हाथ, पैर आदिका—अनुसन्धान नहीं करती तब देहके हृदयमें स्थित भुशुण्डोपाख्यानमें वर्णित पद्म-पत्र, देहमें संविचियोंका स्पन्दन न होनेसे प्राण-संचालनके अनुकूल होकर, वैसे कम्पित नहीं होता, जैसे कि लोकमें यज्ञमें ऋत्विजों द्वारा अस्पृष्ट काष्ठपात्र कम्पित नहीं होता ॥ २३,२४ ॥

हृदय-प्रदेशमें स्थित उस पद्म-पत्रके कम्पनशून्य हो जानेपर ये प्राण भीतर तेजमें उस प्रकार विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार लोकमें पंखेके कम्पनशून्य हो जानेपर पवनकी शक्तियाँ विलीन हो जाती हैं ॥ २५ ॥

प्राण-वायुका दूसरोंके साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हो जानेपर यह जीव निष्पूर्ण-मूकताको (रूपात्मक उपाधियोंके विलयसे निराबाध पूर्ण तथा नामात्मक उपाधियोंके विलयसे मूक कारणात्माके स्वरूपको) ऐसे प्राप्त होता है, जैसे आकाश-वायुके शान्त हो जानेपर रजःकण कारणरूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २६ ॥

हे मुने, रजोगुणप्रधान अपने आधारभूत प्राण-वायुके शान्त हो जानेसे ही रजोगुणसे शून्य और आधाररहित हुआ मन भी प्राणके ही साथ कारणरूप पदको प्राप्तकर उसी रूपसे अवशिष्ट रह जाता है। [तब क्या वह सर्वथा नष्ट नहीं हुआ ? इसपर कहते हैं—'तिष्ठति' से ।] जल आदि भूतमात्राओंसे मिश्रित पार्थिव वृक्ष-बीज जिस प्रकार दूसरा अङ्कुर उत्पन्न करनेके लिए तत्पर होकर स्थित रहता है, उसी प्रकार यह मन भी दूसरी देहका आविर्भाव करनेके लिए तत्पर होकर स्थित रहता है ॥ २७ ॥

इति वैकल्यमायातैः कारणौघैः समन्ततः ।
पुर्यष्टके शमं याते देहः पतति निश्चलः ॥ २८ ॥
चिच्चेत्यचेतनान्मोहात् स्पन्दमायान्ति वासनाः ।
तदीरिता स्मरत्यन्तरन्यद्विस्मरति स्वयम् ॥ २९ ॥
हृत्पद्मपत्रस्फुरणात् स्फुटं पुर्यष्टकं भवेत् ।
हृत्पद्मयन्त्रे वहनाद्रुद्धे पुर्यष्टकं क्षयि ॥ ३० ॥
देहे पुर्यष्टकं यावदस्ति तावत्स जीवति ।
शान्ते पुर्यष्टके देहो मृत इत्युच्यते द्विज ॥ ३१ ॥

वही जीवका देह-त्याग है, यह कहते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

हे महर्षे, इस प्रकार चारों ओरसे कारण-समूहोंके विलीन हो जानेके कारण पुर्यष्टकके शान्त हो जानेपर यह देह निश्चेष्ट होकर गिर जाती है ॥ २८ ॥

तब पुर्यष्टकका किस हेतुसे उद्भव होता है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि हृत्कमलके स्पन्दनसे उसका उद्भव होता है । हृदय-कमलका स्पन्दन पूर्व-पूर्वभोक्ता आदिके स्वरूपोंके स्मरणसे होता है । उक्त स्मरण वासनाके स्पन्दनसे होते हैं और वासनाका स्पन्दन स्वरूपके अज्ञानसे उत्पन्न चितिके चेत्याकारक ज्ञानसे होता है, इसलिए तत्त्वकी ओर अभिमुख होनेके लिए पुरुषको ज्ञानात्मक बहिर्मुखतारूप चितिकी चेत्याकारता ही पहले अपने प्रयत्नसे रोकनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'चिच्चेत्य०' इत्यादिसे ।

मोहसे यानी अपने स्वरूपके अज्ञानसे उत्पन्न चितिमें विषयाकारताके ज्ञानसे वासनाएँ स्पन्दित होती हैं । उनसे (स्पन्दित वासनाओंसे) प्रेरित हुई यह चिति अपने भीतर पूर्व-पूर्व कालके भोक्तृत्व आदिका स्मरण करती है और दूसरा अपना स्वरूप स्वयं भूल जाती है ॥ २९ ॥

हृदयरूप पद्म-पत्रके स्फुरणसे यह पुर्यष्टक विस्पष्ट हो जाता है और हृदय-कमलरूप यन्त्र जब चलनेसे रुक जाता है यानी निश्चल हो जाता है, तब वह भी विनष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

हे द्विज, जबतक देहमें पुर्यष्टक विद्यमान रहता है, तबतक देह जीवित रहती है [और जब] देहमें से पुर्यष्टक विलीन हो जाता है, तब देह 'मृत' कही जाती है ॥ ३१ ॥

विरुद्धमलसम्बोधाच्छेदभेददशावशात् ।
न प्रस्फुरति हृत्पद्मयन्त्रमभ्यन्तरे यदा ॥ ३२ ॥
तदा पुर्यष्टकं शान्तिमुपैति गगने शनैः ।
संरोधिते वातयन्त्रे यथा पवनसन्ततिः ॥ ३३ ॥
स्वसंवित्तिवशाज्जीवो वैवश्यमुपगच्छति ।
पद्मयन्त्रं शरीरस्थं प्रवाहं याति नित्यदा ॥ ३४ ॥
वासना विमला येषां हृदयान्नाऽपसर्पति ।
स्थिरैकरूपजीवास्ते जीवन्मुक्ताश्चिरायुषः ॥ ३५ ॥
संरुद्धे पद्मयन्त्रे हि प्राणे शान्तिमुपागते ।
देहः पतत्यधैर्योऽयं काष्ठलोष्टसमः क्षितौ ॥ ३६ ॥
यथैव व्योममरुति लीनं पुर्यष्टकं भवेत् ।
तथैव तत्रैव तदा लयमेति मनो मुने ॥ ३७ ॥

परस्पर विरुद्ध वात, पित्त और कफ नामक मलों तथा वासनाके मलभूत राग, द्वेष आदि दोषों के प्रकोपसे एवं शस्त्र आदिसे किये गये देहके छेदन-भेदन आदि अवस्थावश जब यह हृदयकमलरूप यन्त्र देहके अन्दर स्पन्दित नहीं होता तब यह पुर्यष्टक धीरे-धीरे उस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार पंखा रोक देनेपर हवाकी परम्परा आकाशमें विलीन हो जाती है ॥ ३२, ३३ ॥

जब शरीरका हृदय-कमलरूपी यन्त्र सदा चलता रहता है तब यह जीव अपने सङ्कल्पवश मरण आदि हजारों दुःख प्राप्त करता रहता है ॥ ३४ ॥

इसीलिए भोगकी वासनासे रहित पुरुषोंमें भोगसङ्कल्पका अभाव होनेसे वे मृत्युके अधीन नहीं होते हैं, यह कहते हैं—'वासना' इत्यादिसे ।

राग, द्वेष आदि मलोंसे रहित वासना जिनके हृदयसे हटती नहीं, वे अटल एवं समान रूपवाले जीव जीवन्मुक्त होकर दीर्घायु रहते हैं ॥ ३५ ॥

पद्म-यन्त्रके रुक जाने तथा तेजमें प्राणके विलीन हो जाने पर धृतिशून्य हुई यह देह पृथ्वीपर लकड़ी और ढेला आदिकी नाईं गिर जाती है ॥ ३६ ॥

हे मुने, ज्योंही हृदयाकाशके वायुमें अर्थात् प्राणमें यह पुर्यष्टक लीन हो जाता है, त्योंही मन वहीं (प्राणमें ही) विलयको प्राप्त हो जाता है ॥ ३७ ॥

सुचिराभ्यस्तभावं तु वासनाखचितं मनः ।
यत्र तत्र भ्रमत् स्वर्गनरकादि प्रपश्यति ॥ ३८ ॥
शरीरं शवतामेति मनोमारुतवर्जितम् ।
गते गृहजने दूरं गृहं संशून्यतामिव ॥ ३९ ॥
सर्वगा चिच्चेतनतो जीवीभूय मनः स्थिता ।
पुर्यष्टकवपुर्भूत्वा साऽऽतिवाहिकदेहिनी ॥ ४० ॥
तन्मात्रपञ्चकं चित्तं क्रोडीकृत्य व्यवस्थिता ।
स्वप्नभ्रमवदाकारं भावात् स्थूलं प्रपश्यति ॥ ४१ ॥

उस प्रकार ही विलीन हुए पुनः स्वर्ग, नरक आदिका भोग करानेवाले अदृष्ट द्वारा बोधित हुए मनका हृदयाकाशमें चक्षुसे, मूर्धासे अथवा अन्य शरीर-प्रदेशोंसे निकलना; यमलोक आदिमें जाना; स्वर्ग और नरक का भोग करना आदि उसकी अपनी कल्पना ही है, वास्तवमें स्वर्ग आदि नामके कोई दूसरे पदार्थ बाहर हैं ही नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'सुचिरा०' इत्यादिसे ।

हे महर्षे, तत्-तत् भोग करने के योग्य शरीर आदि पदार्थोंका चिरकालसे अभ्यास किये हुआ तथा वासनासे परिपूर्ण यह मन जहाँ-तहाँ घूमता-फिरता हुआ स्वर्ग, नरक आदि देखता रहता है [प्रकृत श्लोकमें 'यत्र तत्र' यह जो कहा गया है, वह स्वर्ग आदि नियत देश नहीं हैं, यह बतलाने के लिए कहा गया है, यह जानना चाहिए ।] ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार घरके लोगोंके घर छोड़कर दूर चले जानेपर घर शून्य हो जाता है, उसी प्रकार मन एवं प्राण से शून्य हुआ यह शरीर शवरूप हो जाता है ॥ ३९ ॥

अब चितिके शरीरान्तर-ग्रहणमें क्रम बतलाते हैं—'सर्वगा' इत्यादिसे ।

सर्वव्यापक चिति ही मनमें स्थित होकर चेतनसे—'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (इसी जीवरूप आत्मासे जगत्में प्रवेश कर मैं नाम एवं रूप का व्याकरण करूँ) इस श्रुतिमें कहे गये चेत्यके आकारमें अनुप्रवेशसे—जीव बनकर मनोरूपमें स्थित हो जाती है । तदनन्तर पुर्यष्टक शरीर धारण कर आतिवाहिक देहवाली हो जाती है ॥ ४० ॥

पञ्चतन्मात्राओंके समूहभूत आतिवाहिक देह नामवाले पुर्यष्टक चित्तको

दृढभावनया पश्चात्तत्रैव रसशालिनी ।
आतिवाहिकदेहत्वं विस्मरत्यखिलं क्षणात् ॥ ४२ ॥
असत्येव शरीरेऽस्मिन् कृतकृत्रिमभावना ।
नयत्यसत्यं सत्यत्वं सत्यं चाऽसत्यतामपि ॥ ४३ ॥
सर्वगा हि चिदंशेन जीवीभूयाऽभवन्मनः ।
मनः पुर्यष्टकरथमाक्रामति ततो जगत् ॥ ४४ ॥
पुर्यष्टकं वातमयं देहमुत्थापयत्यलम् ।
हृत्स्पन्दिवेताल इव जीवतीत्युच्यते तदा ॥ ४५ ॥
क्षीणे पुर्यष्टके चित्तं यदा व्योमनि लीयते ।
तदा स्फुरति देहोऽयं मृत इत्युच्यतेऽपि च ॥ ४६ ॥

गोदमें लेकर स्थित हुई (बैठी हुई) यह चिति ही अपने सङ्कल्पसे, स्वप्नभ्रमकी नाईं, अपनी स्थूल आकृति देखती है ॥ ४१ ॥

इसके बाद दृढ भावनाके द्वारा उसी स्थूल शरीरमें अहङ्कारशक्तिसे युक्त होकर यह चिति क्षणमें ही सम्पूर्ण आतिवाहिकदेहता भूल जाती है ॥ ४२ ॥

असत्-स्वरूप उक्त लक्षणवाले स्थूलशरीरमें ही कृत्रिम अहंभावना किये हुई यह चिति असत्यभूत इस जगत्में आरोप द्वारा सत्यता प्राप्त कराती है और सत्यभूत अपने ब्रह्मभावमें 'नाऽस्ति', 'न भाति' इत्यादि प्रतीति-योग्यतारूप असत्यता प्राप्त कराती है ॥ ४३ ॥

चित्तके संसरणमें क्रम बतलाते हैं—**'सर्वगा'** इत्यादिसे ।

सर्वगामिनी इस चितिने ही बुद्धिमें प्रतिबिम्बित अपने अंशसे जीवरूप होकर मनरूपता प्राप्त की है । वह मन पुर्यष्टकरूपी रथपर चढ़ जाता है । अनन्तर इस जगत्में यत्र-तत्र घूमता रहता है ॥ ४४ ॥

और जब सूत्रात्मा प्राणवायुसे भरे हुए इस पुर्यष्टकरूप शरीरको पर्याप्तरूपसे और ऊपर उठाता है, तब हृदयमें प्रवेश कर स्पन्दनशील हुए वेतालसे युक्त शवकी नाईं 'यह देह जीती है' यों लोगों द्वारा कहा जाता है ॥ ४५ ॥

एवं पुर्यष्टकके क्षीण हो जानेपर यह चित्त हार्दाकाशमें जब विलीन हो जाता है तब यह देह—काष्ठ, ढेला आदिकी नाईं—स्पष्ट अचेतन प्रतीत होती है और [उस समय] लोगोंके द्वारा 'यह देह मर गई' यों भी कहा जाता है ॥ ४६ ॥

स्वभाववशतो जीवो विस्मृत्याऽशक्तिमृच्छति ।
वैवश्यात् कालवशतः पर्णं जर्जरतामिव ॥ ४७ ॥
जीवशक्त्याऽपरामृष्टे निरुद्धे पद्मयन्त्रके ।
प्राणे संरोधमायाते म्रियते मानवो मुने ॥ ४८ ॥
यथा जातानि जातानि चाऽन्यान्यन्यानि कालतः ।
वृक्षात् पर्णानि शीर्यन्ते शरीराणि तथा नृणाम् ॥ ४९ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च शरीराणि शरीरिणाम् ।
पादपानां च पर्णानि का तत्र परिदेवना ॥ ५० ॥
चिदम्बुधौ स्फुरन्त्येता देहबुद्बुदपङ्क्तयः ।
इतश्चाऽन्या इतश्चाऽन्या एतास्वास्था न धीमतः ॥५१॥

यह जीव अज्ञानवश अपनी अजर-अमर ब्रह्मरूपता भूलकर कालवश प्राप्त हुई वृद्धदेहमें रहनेवाली अशक्तता स्वयं विवशतासे उस प्रकार प्राप्त करता है, जिस प्रकार पत्ता जीर्णता प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

इसके बाद वह पहलेकी तरह मर जाता है, यह कहते हैं—'जीवशक्त्या०' इत्यादिसे ।

हे मुने, जीवसम्बन्धिनी पूर्वोक्त पूर्व-पूर्व भोक्ता आदि भावोंकी स्मृतिरूप शक्तिसे असम्बद्ध हो जानेपर, अतएव पद्म-यन्त्रके निश्चल हो जानेपर तथा प्राणके रुद्ध हो जानेपर यह मनुष्य मर जाता है ॥ ४८ ॥

पुनः पुनः नाना शरीरोंका ग्रहण और उनमें संसरण जरा एवं मरण में ही पर्यवसायी है, यह जानना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार विभिन्न विभिन्न पत्ते उत्पन्न हो-होकर समय पाकर वृक्षसे झड़ जाते हैं, उसी प्रकार जीवोंके ये शरीर भी झड़ जाते हैं ॥ ४९ ॥

जीवोंके ये शरीर और वृक्षोंके पत्ते उत्पन्न और नष्ट हुआ ही करते हैं, [अतः] उनके विषयमें शोक ही क्या है ? ॥ ५० ॥

चैतन्य-समुद्रमें ये देहरूपी बुद्बुदोंकी पंक्तियाँ यहां एक प्रकारकी तो दूसरी जगह दूसरे प्रकारकी होकर स्फुरित होती हैं, बुद्धिमान् जन इनमें आस्था नहीं करते ॥ ५१ ॥

सर्वगाऽपि चिदेतस्मिंश्चेतसि प्रतिबिम्बति।
पदार्थमन्तरादत्ते नाऽन्यो हि मुकुरादृते ॥ ५२ ॥
चिदमलनभसि प्रयत्नरूपाः
परिवितते तदतन्मयाः स्फुरन्ति।
कलकलमुखराः स्फुटाभिरामा
विविधशरीरविमोहतापनाय ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
देहपातविचारो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

कथित अर्थका ही उपसंहार करनेके लिए अनुवाद करते हैं—**'सर्वगाऽपि'** इत्यादिसे।

सर्वत्र व्याप्त भी यह चिति इसी चित्तमें प्रतिबिम्बित होती है, क्योंकि दर्पणके बिना दूसरा कोई भी अपने भीतर पदार्थोंका ग्रहण नहीं करता ? ॥ ५२ ॥

हे महर्षे, चारों ओरसे परिपूर्ण इस निर्मल चैतन्याकाशमें पहलेके अपने शुभाशुभ प्रयत्नोंके परिणामस्वरूप; अतएव सुख, दुःख आदि फलोंके भोग-कालमें हास्य, रोदन आदि कोलाहलोंसे मुखरित, चित् और अचित् से प्रचुर ये जीव-जगद्रूपी कल्पनाएँ आपाततः रमणीय होती हुई विविध शरीरोंके द्वारा जन्म, मरण आदि भ्रान्तिसे आत्माको मोहित करने और संताप करनेके लिए प्रतिभासित होती हैं ॥ ५३ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त



त्रयस्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चन्द्रार्धशेखरधर चित्तत्त्वस्य महात्मनः ।
अनन्तस्यैकरूपस्य द्वित्वं कथमुपागतम् ॥ १ ॥
कथं च तन्महादेव रूढं पर्यायसङ्कुलम् ।
भवेद्दुःखोपघाताय प्रज्ञया विनिवारितम् ॥ २ ॥

तैंतीसवाँ सर्ग

[मोह एवं तज्जनित संकल्पोंसे कल्पित जीव-जगद्भेदोंका, विचार-कसौटीमें जिस तरह वे नहीं ठहरते उस तरह, तर्कोंसे वर्णन ।]

'सर्वत्र व्यापक भी चिति इस चित्तमें प्रतिबिम्बित होती है' तथा 'पीछे दृढ़ भावनासे उसी चित्तमें आनन्द मनाती है', इत्यादि जो कहा गया है, उन दोनों ही स्थलोंमें महाराज वसिष्ठजी अनुपपत्तिकी आशङ्का करते हैं—'**चन्द्रार्ध०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—मस्तकमें अर्धचन्द्र धारण करनेवाले हे भगवन्, व्यापकस्वरूप अनन्त एवं अद्वितीयरूप चैतन्य-तत्त्वमें द्वित्व (भेद) कैसे प्राप्त* हुआ ? ॥ १ ॥

हे महादेव, दूसरा यह प्रश्न है कि अनेक बन्धनोंसे ग्रस्त चिरकालिक अनुवृत्तिसे रूढ़ हुआ वह भेद दुःख-विनाशके लिए तत्त्वज्ञानसे निवारित कैसे † होगा ? ॥ २ ॥

---

* तात्पर्य यह है कि जो चितितत्त्व अनन्त यानी दिक्कृत, कालकृत एवं वस्तुकृत—इन तीन प्रकारके परिच्छेदोंसे शून्य एकरूप यानी सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदोंसे शून्य है; उसमें सजातीय जीवरूप और विजातीय जड़-जगद्रूप द्वित्व (भेद) कैसे आया ? क्या वह स्वतः आया या परतः ? स्वतः भेद तो आ नहीं सकता, क्योंकि चितितत्त्व अविकारी एवं अनवयवी है । परतः भी नहीं आ सकता, क्योंकि द्वितीय वस्तु ही प्रसिद्ध नहीं है ।

† इस श्लोकका तात्पर्य यह है—यदि यह मान लिया जाय कि किसी तरहके निमित्तके बिना यों ही चितितत्त्वमें यह भेद आ गया है तो संकोचमें प्रमाण न होनेके कारण कोटि-कोटि बन्धनोंसे व्याप्त तथा दीर्घकालीन अनुवृत्तिसे रूढ़ वह भेद तत्त्वज्ञानसे, जो एकत्व और आगन्तुकत्वसे दुर्बलतम है, निवारित होकर आत्यन्तिक दुःखका उपशम कैसे करेगा, क्योंकि निमित्तके बिना आकस्मिक हुए किसी एक पदार्थका भी उच्छेद हो

ईश्वर उवाच

सर्वशक्ति हि तद्ब्रह्म सदेकं विद्यते यदा।
तदा निर्मूल एवाऽयं द्वित्वैकत्वकलोदयः ॥ ३ ॥

हम जीवजगत् आदि द्वैतप्रपञ्चका प्रमाणोंसे उपपादन करनेके लिए प्रवृत्त नहीं हुए हैं, किन्तु मोहके कारण अनादि कालसे लेकर भ्रान्तिसे प्राप्त हुए उस प्रपञ्चका, अध्यारोपापवादन्यायका आश्रयण कर, अपवाद करनेके लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। अध्यारोपमें जो सृष्टिके प्रारम्भ कालमें काम, कर्म, वासना आदि निमित्तकारण; ब्रह्म, अविद्या आदि उपादानकारण; आकाश आदि पदार्थोंकी उत्पत्तिका क्रम; व्यष्टि, समष्टि, स्थूल, सूक्ष्म आदि विभाग एवं अन्नमय आदि कोश-भेदोंकी कल्पना की जाती है वह सब स्वयं यद्यपि असत्य है; तथापि सत्य वस्तुका परिचय करानेके लिए उपयोगी होनेके कारण श्रुतिने उसकी कल्पना की है और परमार्थ-सत्य वस्तुरूप प्रयोजनके सर्वसम्मत होनेके कारण इतरवादियोंकी कल्पनाओंकी

नहीं सकता, किसी तरह किसी एक पदार्थका उच्छेद हो भी गया, तो भी दूसरे असीम बन्धनोंके बच जानेके कारण बार-बार दूसरे निर्निमित्त बन्धनोंकी उत्पत्तिका निरसन हो नहीं सकता। यदि कहो कि पूर्वोक्त ब्रह्मशक्तिरूप माया-निमित्तसे हुआ मिथ्यारूप ही वह द्वैत प्रपञ्च है, यह माननेपर किसी दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसपर यह प्रश्न होता है कि क्या वह मायाशक्ति आगन्तुक है अथवा स्वाभाविक है? प्रथम पक्षमें (आगन्तुक पक्षमें) भी वह स्वयं उत्पन्न हुई या दूसरेके सम्बन्धसे,—यों जब विचार करेंगे, तो अनिर्मोक्ष एवं अनवस्था आदि दोषोंकी ही प्रसक्ति होगी। मायाशक्तिके स्वाभाविकत्वपक्षमें, अग्निमेंसे उष्णताकी नाईं, ब्रह्ममें से उसका निवारण न कर सकने के कारण एक तो अनिर्मोक्ष दोष और दूसरा एकरसरूपताकी प्रतिपादक श्रुतियोंके साथ विरोध होगा। किञ्च, मायाशक्ति मिथ्या है, यह मान लिया जाय तो वह अत्यन्त असत्पदार्थरूप हो जायगी। ऐसी स्थितिमें असत्के कार्योत्पादक न हो सकने के कारण फिर वही घुमा-फिरा कर बात आ गई कि द्वैतोत्पत्ति निर्हेतुक ही है। यदि उसे सत्य मान लिया जाय तो, ज्ञानसे उसकी निवृत्ति न हो सकने कारण अनिर्मोक्षदोष, यों दोनों ओरसे रस्सी कसी जायगी। पदार्थस्वरूपका निष्कर्ष निकालनेमें कोई सद्रूप और कोई असद्रूप ही ठहरता है। इन दो प्रकारोंसे भिन्न कोई तीसरा प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए उक्त मायाशक्ति सत् और असत्से भिन्न कोई तीसरे प्रकारकी नहीं हो सकती। यदि तीसरे प्रकारकी मान ली जाय, तो भी उसी प्रकारसे ज्ञानोत्तर भी द्वैतका निरसन नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी यह चाहे कि उस तीसरे प्रकारका पहले या दूसरे प्रकार रूपमें हम निर्माण कर लेंगे, तो वह भी युक्त नही है, क्योंकि ज्ञान कारक नहीं है, अन्य अन्यरूप हो नहीं सकता, स्वरूपपरिवर्तन देखा नहीं जाता, उत्पादित नश्वर होता है, अतः पुनर्बन्धनका निवारण भी नही हो सकेगा।

सति द्वित्वे किलैकं स्यात् सत्येकत्वे द्विरूपता ।
कले द्वे अपि चिद्रूपे चिद्रूपत्वात्तदप्यसत् ॥ ४ ॥

अपेक्षा उत्कृष्ट है । अतः श्रोताओंका विश्वास सम्पादन करनेके लिए लोकदृष्टिसे ही युक्तियों द्वारा शास्त्रोंमें उसका समर्थन किया गया है । जब सर्वात्मक प्रत्यगात्माका परिचय हो जाता है, तब सर्वात्मामें अद्वितीयत्वके बोधनके लिए परमार्थ दृष्टिका आश्रय लेकर प्रपञ्चका अपवाद किया ही जाता है । इसलिए आत्मामें एकत्वका स्वीकार कर उससे विरुद्ध द्वित्वके असम्भवका प्रतिपादन तुम्हारे अपने स्वीकृत पक्षसे विरुद्ध और सिद्धान्तसे विरुद्ध है, इसके ऊपर दृष्टि क्यों नहीं डालते, इस आशयसे भगवान् कहते हैं—**'सर्वशक्ति'** इत्यादिसे ।

ईश्वरने कहा—हे ब्रह्मन्, व्यवहार-दृष्टिसे ब्रह्म सर्वशक्तिसे समन्वित है और परमार्थ-दृष्टिसे एक और सदात्मक ही है, यों जब व्यवस्थित दो दृष्टियोंका अङ्गीकार किया जा चुका है, तब सर्वशक्तिरूप दृष्टिके एकदेशसे उदित हुई द्वित्व-एकत्वरूप कल्पनासे युक्त उक्त आक्षेप निर्मूल ही है । क्योंकि व्यवहार-दृष्टिसे परमात्मामें सब द्वित्व आदि कल्पनाओंका आरोप होता है और परमार्थ-दृष्टिसे अपवाद होता है । व्यवहार-दृष्टिसे 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिसे उपपादित सर्वज्ञ सर्वशक्तिसमन्वित परमात्मासे जीवजगद्रूप द्वैतका आविर्भाव माननेमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि धर्मिग्राहक प्रमाणसे सर्वशक्तिका वैसा स्वभाव ही है, यह निर्णीत हो चुका है । 'तदेतद्ब्रह्मापूर्व०', 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति' इत्यादि श्रुतिप्रदर्शित परमार्थदृष्टिसे गम्य चैतन्यमें तो कभी भी द्वित्व और द्वित्वविरोधी एकत्व की प्राप्ति हो ही नहीं सकती, इसलिए वहां द्वित्व और उसके विरोधी एकत्व आदिकी अनुपपत्ति बतलाना भी अयुक्त ही है ॥ ३ ॥

'नेह नानाऽस्ति किञ्चन', 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तम्', 'विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्' इत्यादि श्रुतियोंसे द्वित्वका ही निषेध किया जाता है, एकत्वका नहीं । इसलिए अविरुद्ध एकत्वका, द्वित्वसमानकक्ष मानकर, कैसे निषेध करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'सति'** इत्यादिसे ।

सद्ब्रह्ममें द्वित्वके प्रसिद्ध हो जानेपर उसका निषेध करनेके लिए एकत्वकी कल्पना की जाती है, एवं उसी ब्रह्ममें एकत्वके सिद्ध हो जानेपर वही एकत्व दूसरे

एकाभावादभावोऽत्र एकत्वद्वित्वयोर्द्वयोः ।
एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ॥ ५ ॥
कार्यकारणयोरेकसारत्वादेकरूपता ।
फलान्तस्याऽपि बीजादेर्विकारादिह कल्पना ॥ ६ ॥
चित्त्वं चेत्यविकल्पेन स्वयं स्फुरति तन्मयम् ।
विकारादि तदेवाऽन्तस्तत्सारत्वान्न भिद्यते ॥ ७ ॥

एकत्वको लेकर द्वित्वके रूपमें कल्पित होता है, यों उन दोनोंकी कल्पना परस्पर सापेक्ष होनेके कारण वे दोनों ही तुल्यकक्ष ही हैं । वे दोनों कल्पनाएँ चिद्रूप ही हैं । चिद्रूप होनेके कारण वह द्वित्व-कल्पना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती । एकत्व धर्म भी यदि चैतन्यसे अतिरिक्त माना जाय, तो चिदेकरसस्वरूपताका व्याघात हो जायगा । अतः दोनों असत्-रूप हैं, यह तात्पर्य है ॥ ४ ॥

यहांपर एक वस्तुका अभाव होनेसे एकत्व और द्वित्व दोनोंका भी अभाव है, क्योंकि एकके बिना द्वितीय नहीं होता और द्वितीयके बिना एकता नहीं होती ॥ ५ ॥

अब उपदेश आदि व्यवहारके लिए व्यवहार-दृष्टि और परमार्थ-दृष्टि दोनोंका संमिश्रण माननेपर भी दो तरहकी सत्ताओंकी कल्पनासे परमार्थ सत्-स्वरूप वस्तुमें व्यावहारिक सत्तावशसे जीव-जगद्रूप द्वैतकी स्थितिका स्वीकार करनेमें विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—'कार्य०' इत्यादिसे ।

कार्य और कारण दोनोंमें परमार्थतः अनुगत कारण ही एकमात्र तत्त्व है, अतः उन दोनोंकी एकरूपता ही रहती है । जैसे बीज आदिके भी, जो फिर फलमें पर्यवसित हुए हैं, 'वही यह है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञायमान अनुस्यूत द्रव्यमें एकमात्र विकारसे ही नानात्वकी कल्पना होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी नानात्वकी कल्पना होती है ॥ ६ ॥

यदि सब विकारोंमें पारमार्थिक सत्तासे भिन्न दूसरी व्यावहारिक सत्ताका स्वीकार नहीं करते तो सुतरां द्वैत चिद्विकल्प ही है, यह फलित हुआ । ऐसी स्थितिमें राहु और उसके मस्तकमें द्वैतका विरोध उठानेके सदृश ही आपका आक्षेप है, यह कहते हैं—'चित्त्वम्' इत्यादिसे ।

विकारादिविकल्पोऽयं तत उत्थाय वस्तुषु ।
याति सार्थकतां नानाकार्यकारणतादिभिः ॥ ८ ॥
तरङ्गाः सलिले येऽपि तोये शैलस्य ते समाः ।
शशशृङ्गसमः सोऽपि यस्य सत्यः शशाङ्कुरः ॥ ९ ॥

चितितत्त्व जगद्रूप चेत्यके विकल्पसे चेत्यमय होकर स्वयं स्फुरित होता है। विकार आदि जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब तत्स्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं; क्योंकि उन विकारोंका भीतरी तत्त्व वही चिति है। इसलिए—माया और उनके कार्योंकी पृथक् सत्ता है, यह पक्ष; अपृथक् सत्ता है, यह पक्ष; असत्ता है, यह पक्ष; या वे किसी तीसरे प्रकारके हैं, यह पक्ष; या अनेकवादियों द्वारा कल्पित वे प्रधान, परमाणु, क्षणिक, अक्षणिक, विज्ञान और शून्यरूप आदि हैं, यह पक्ष; —इनमें से चाहे जिस किसी पक्षका भी तुम अवलम्बन करो, फिर भी असङ्ग, अद्वय, चिन्मात्र वस्तुसे तनिक भी स्पर्श न कर रहे सब पक्ष एकमात्र चैतन्यसे ही सिद्ध हैं। इसलिए जहाँ चितिको कभी भी बन्धप्राप्ति ही नहीं होती, वहाँ (उस पक्षमें) अनिर्मोक्षकी शङ्काका उद्भावन तो दूरसे ही निरस्त है, यह भाव है ॥ ७ ॥

उसकी सारताका ही उपपादन करते हैं—'विकारादि०' इत्यादिसे।

यतः षड्भावविकारात्मक तथा उनके आश्रय घट आदि स्वरूप यह प्रपञ्च विकल्पात्मक है, अतः वह एकमात्र सद्वस्तुसे ही आविर्भूत होकर जलाहरण आदि अनेकविध कार्यकारणता आदिसे वस्तुओंमें सार्थकता प्राप्त करता है अर्थात् उसका भोगमें पर्यवसान हो जाता है। चितिमें पर्यवसानतारूप ही भोग पदार्थ है, इसलिए चिन्मात्र ही सारभूत वस्तु है, यह भाव है ॥ ८ ॥

उस तरह जब जगत् एकमात्र विकल्पस्वरूप ही सिद्ध हो चुका, तब उसमें कोई पदार्थ (जल, तरङ्ग आदि) व्यावहारिकरूप, कोई (मरु-मरिचिका, जलतरङ्ग आदि) प्रातिभासिकरूप और कोई (वन्ध्यापुत्र, शशशृङ्ग आदि) अत्यन्त असत्स्वरूप ही हैं, यों जो अवान्तरवैलक्षण्यके विकल्प होते हैं, वे भी अज्ञानीको ही होते हैं, यह कहते हैं—'तरङ्गाः' इत्यादिसे।

जिस तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें खरगोशसे समुत्पन्न धान और जौ आदिके अङ्कुर भी ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण जब सत्यरूप हैं, तब उसकी दृष्टिमें जलमें प्रसिद्ध

वस्तुबोधोऽत्र संधत्ते तत्राऽलं वाग्विकल्पनैः ।
व्यवच्छेदादि दुश्छेद्यं वचो वाच्यात् किल द्विज ॥ १० ॥
ब्रह्मणः सर्वशक्तित्वं तत्त्वतो न विभिद्यते ।
तरङ्गकणकल्लोलजलौघ इव वारिणः ॥ ११ ॥
पुष्पपल्लवपत्रादि लताया नेतरद्यथा ।
द्वित्वैकत्वजगत्त्वादि त्वन्त्वाहन्त्वं तथा चितेः ॥ १२ ॥

जो तरङ्ग हैं, वे भी पर्वतके मस्तकपर कल्पित जलके तरङ्गसदृश ही हैं और वह पर्वत भी खरगोशके सींगके समान असद्रूप ही है ; क्योंकि स्वतः असत्त्व और ब्रह्मकी सत्तासे सत्ताकी कल्पना तीनोंमें भी समान है, यह भाव है ॥ ९ ॥

हे विप्र, इस संसारमें अज्ञानजनित सम्पूर्ण पदार्थोंमें परस्पर व्यावृत्ति-स्वरूप (परस्पर एक-दूसरेसे भिन्नतारूप) जो व्यवच्छेद (पार्थक्य) है, उसे तत्त्वसाक्षात्कार ही एकतामें पर्यवसित कर देता है यानी टूटे-फूटे अनेक टुकड़ोंको एकमें जोड़ देनेकी नाईं एकतामें पहुँचा देता है। [भाव यह है कि तत्त्वका साक्षात्कार हो जानेपर किसी प्रकारका भेद नहीं रहता ।] ऐसे विषयमें अनेकविध युक्तियोंके उपन्यासोंसे भी कुछ होता-जाता नहीं। कारण यह है कि अज्ञानके निवृत्त न होनेपर हजारों युक्तियोंसे भी अपरोक्ष (प्रत्यक्षात्मक) भ्रमसे सिद्ध हुए व्यवच्छेद आदि द्वैतका उन्मूलन अत्यन्त असंभव है ॥ १० ॥

जैसे तरङ्ग, कण, कल्लोल और जलप्रवाह जलसे विभक्त नहीं रहते, वैसे ही तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर तो ब्रह्मकी सर्वशक्तिता अर्थात् समस्त जगत्के आकारमें दृश्यमान मायिक रूपता वास्तवमें ब्रह्मसे विभक्त नहीं रहती यानी उसीमें तिरोहित हो जाती है ॥ ११ ॥

तथाच 'अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुतिप्रदर्शित न्यायसे लता आदिमें ऐक्यका दर्शन होनेपर जैसे उसके पुष्प, पल्लव आदि भेदोंमें अनृतत्व (मिथ्यात्व) सिद्ध ही हो जाता है, वैसे ही आत्म-तत्त्वका साक्षात्कार होनेपर जागतिक भेदोंमें अनृतत्व सिद्ध ही हो जाता है, इसलिए इस विषयमें तुम्हारा प्रश्न निराधार है, ऐसा कहते हैं—'पुष्प०' इत्यादिसे ।

देशकालविकारादिः कृतो भेदश्चितस्तु यः ।
तच्चिदेतदसत्प्रोक्तं न प्रश्नोऽत्र तवोचितः ॥ १३ ॥
देशकालक्रियासत्तानियत्याद्याश्च शक्तयः ।
चिदात्मिका एव चितः सत्त्वात् संपतिताः स्वतः ॥ १४ ॥
चित्तत्त्वं चित्तचेत्येहं चिद् ब्रह्माद्यभिधा स्मृता ।
यथा वीच्याद्यभिधार्हं स्थितमम्बुतरङ्गकम् ॥ १५ ॥
असंभवत्तरङ्गस्य चिद्विलासमहाम्बुधेः ।
तरङ्गितत्वमिव यत्तत्तावचेत्यसङ्गिता ॥ १६ ॥
तदेतत्परमं ब्रह्म सत्येश्वरशिवादिभिः ।
शून्यैकपरमात्मादिनामभिः परिगीयते ॥ १७ ॥

भद्र, जिस प्रकार फूल, कोपल, पत्ता आदि लतासे वास्तवमें भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्वित्व, एकत्व, जगत्त्व, त्वन्त्व, अहन्त्व आदि भी चितिसे भिन्न नहीं हैं ॥ १२ ॥

चितिका देश, काल, विकार आदि रूप जो भेद किया गया है, वह भेद चितिस्वरूप ही है। इसलिए जब चितिमें द्वैत (भेद) है ही नहीं तब उसमें भेद आया कहाँसे ? यह तुमने असत् कहा है। ऐसे असद्विषयमें तुम्हें प्रश्न करना उचित नहीं है ॥ १३ ॥

चूँकि देश, काल और क्रिया की सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चितिकी सत्तासे ही सत्तायुक्त होकर स्थित हैं, इसलिए [वे सब] चिदात्मक (चितिस्वरूप) ही हैं ॥ १४ ॥

जैसे जल, तरङ्ग आदिमें अनुगत जलसामान्य वीचि आदि नाम-योग्य होकर स्थित है, वैसे ही चित्त, चेत्य और उनकी चेष्टाओंका समूहरूप रूपप्रपञ्च एवं ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त नामप्रपञ्च भी चितिस्वरूप होकर अवस्थित है, यह तत्त्वज्ञोंका कथन है ॥ १५ ॥

जिसमें तरङ्गोंकी तनिक भी सम्भावना नहीं है, ऐसे चिद्विलासरूपी महा-सागरका, तरङ्गवत्ताकी नाईं, जो विवर्तनव्यापार है, वही उसका चेत्यके साथ सम्बन्ध है ॥ १६ ॥

वही यह चितितत्त्व परम ब्रह्म, सत्य, ईश्वर, शिव आदि तथा शून्य, एक, परमात्मा आदि अनेकविध नामोंसे कहा जाता है ॥ १७ ॥

एवंरूपपदातीतं यद्रूपं परमात्मनः ।
यत्तु नामाऽहममलं विषयो न गिरां च तत् ॥ १८ ॥
यदिदं दृश्यते तस्यास्तल्लताया महाचितेः ।
फलपल्लवपुष्पादि न भिन्नं तन्मयं यतः ॥ १९ ॥
महाविद्योपनयना चिद्भवत्यभिधा सती ।
सा जीवत्वेन बाह्यत्वं तदा द्वीन्द्विव पश्यति ॥ २० ॥
स्वयमन्यैवमस्मीति भावयित्वा स्वभावतः ।
अन्यतामिव संयाति स्वविकल्पात्मिकां स्वतः ॥ २१ ॥
अकलङ्केन रूपेण रूपं यत्सकलङ्कवत् ।
संसारसरितं प्राप्य चेतनेनैव चेतति ॥ २२ ॥
चिद्वपुः स्वयमेतेन ह्येकतामेति जीवताम् ।
चित्तत्त्वस्याऽवभासेन जीवो जीवति तन्मयः ॥ २३ ॥

पारमार्थिक मेरा तत्त्व वही है, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

उन पूर्वोक्त नामों एवं रूपों तथा सामने दिखाई दे रहे साकार रूपों से अतीत जो परमात्माका स्वरूप है तथा जो अशेष मलोंसे रहित अहंपदार्थ है, वह वाणी और मन का विषय नहीं है ॥ १८ ॥

जो यह संसार दिखाई दे रहा है, वह चूँकि उस महाचितिरूपी लताके तत्स्वरूप फल, पल्लव तथा पुष्प आदि रूप ही है, अतः उससे भिन्न नहीं है ॥१९॥

यदि विवेक-ज्ञानके लिए अनृत ही जीव-जगद्भाव पूछ रहे हो, तो सुनो—वह चिति जब अविद्यारूपी विचित्र वर्णों (रङ्गोंसे) से रंगे गये उपनेत्र पहन लेती है, तब जीव नाम धारण करती हुई वह बाह्य जीव-जगद्भावको, दो चन्द्रमाकी नाईं, देखती है ॥ २० ॥

'मैं ब्रह्मसे भिन्न अचिद्रूप हूँ' यों अज्ञानसे भावना करके चिति स्वयं ही अपना सङ्कल्पात्मक अन्यरूप मानो प्राप्त कर लेती है ॥ २१ ॥

यद्यपि चिति कलङ्कनिर्मुक्त रूपसे ही सदा अवस्थित है; तथापि कलङ्कयुक्त जिस पुर्यष्टक रूपकी उसने कल्पना कर रक्खी है, उस रूपसे संसाररूपी नदीमें पहुँच कर उपाधियुक्त चेतनसे ही स्फुरित होती है । अपने निष्कलङ्क चेतनसे नहीं, यह भाव है ॥ २२ ॥

यह चैतन्यशरीर चिति ही स्वयं इस पूर्ववर्णित पुर्यष्टक शरीरके

आतिवाहिकदेहोऽपि जीवतां समुपागतः ।
भावनापञ्चकं भूत्वा द्रव्यमस्मीति वेत्त्यलम् ॥ २४ ॥
तद्द्रव्यं प्राणिना भुक्तमाशु गच्छति वीर्यताम् ।
ततोऽहं प्राणवान् जातो वेत्तीत्यनुभवात्मकम् ॥ २५ ॥
अहन्तादिक्रमेणाऽऽशु पञ्चकानुभवभ्रमात् ।
स्थावरं जङ्गमं सर्वं वेत्ति तत्तद्भवत्यलम् ॥ २६ ॥

द्वारा तादात्म्याध्यासस्वरूप जीवता प्राप्त करती है और चित्तत्त्वके प्रकाशसे चित्प्रचुर होता हुआ जीव जीता है यानी प्राणन आदि क्रिया प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

'सर्वव्यापक होती हुई भी चिति इस चित्तमें प्रतिबिम्बित होती है' (नि० ३२।५२) इस वचनपर किये गये आक्षेपका उक्त रीतिसे समाधान कर अब 'दृढ़ भावनासे पश्चात् उसीमें चिति अहन्ताशक्तिवाली होती है' (नि० ३२।४२) इस वचनपर किये गये आक्षेपका समाधान करनेके लिए चितिको स्थूलदेह-प्राप्तिका क्रम बतलाते हैं—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे ।

जीवरूपताको प्राप्त हुई यह लोकान्तरगामी सूक्ष्मशरीररूप भी चिति पञ्च-भूतात्मक-स्थूलदेहविषयक संस्कारस्वरूप होकर देह-प्राप्तिके लिए 'मैं धान, जव, तिल, उड़द आदि द्रव्यरूप हो गई हूँ, यों भलीप्रकार जानती है । इस विषयमें 'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति* जायन्ते' (क्षीणकर्मा अनुशयी लोग इस पृथिवीमें धान, जव, ओषधि, वनस्पति, तिल, उड़द आदि भाविशरीरानुकूल द्रव्यरूपसे उत्पन्न होते हैं) यह छान्दोग्य-श्रुति (५।१०।६) प्रमाणरूप है ॥ २४ ॥

प्राणियों द्वारा खाया गया वह द्रव्य तत्काल ही धातुरूप [वृक्ष आदिमें बीज आदि रूप] हो जाता है । तदनन्तर अनुभवात्मक ब्रह्म ही स्त्रियोंमें सेचन-क्रमसे 'मैं स्थूलदेहस्वरूप हूँ' यों जानता है ॥ २५ ॥

[अनुभवात्मक ब्रह्म ही] उक्त अहन्ता आदि क्रमसे तत्कालजनित स्थूल-देहानुभवरूप भ्रमके कारण चक्षु आदिके द्वारा स्थावर-जङ्गमरूप समस्त बाह्य जगत्

* प्रस्तुत श्रुतिमें इतिशब्द भावी देहके अनुकूल द्रव्यमात्रका उपलक्षण है । उससे स्थावर, स्वेदज आदि देहस्थलमें तत्तत् बीजके अनुकूल जल आदि द्रव्यरूप भी यह होता है, यह द्योतन करनेके लिए प्रकृत श्लोकमें 'द्रव्यमस्मीति वेत्ति' यों सामान्यरूपसे कहा गया है, यह जानना चाहिए ।

काकतालीययोगेन दृढाभ्यासक्षयेण च ।
वासनान्तरसंश्लेषात् सूक्ष्ममाकारमुज्झति ॥ २७ ॥
द्वित्वस्वसंविदा द्वित्वमेकस्यैव प्रवर्तते ।
पुंसो वेतालसङ्कल्पाद्वेताल इव भासुरः ॥ २८ ॥
अद्वित्ववेदनाद् द्वित्वमात्मनोऽपि निवर्तते ।
न करोमीति सङ्कल्पात् पुरुषस्येव कर्तृता ॥ २९ ॥

जानता है । पुनः उसकी वासनासे स्वयं भी पर्याप्तरूपसे तत्-तत् पदार्थ-स्वरूप हो जाता है ॥ २६ ॥

यदि शङ्का हो कि जिस स्थलमें मच्छर आदि सूक्ष्मदेहका त्याग हुआ है, उस स्थलमें उक्तदेहाकारवासनात्मना सूक्ष्मरूपसे स्थित हुए पुर्यष्टकके दृढ-अभ्यस्त मच्छड़के आकारकी और सूक्ष्मपनकी निवृत्ति कैसे होगी तथा उसे अनभ्यस्त स्थूल हाथीके आकारका और स्थूलताका लाभ कैसे होगा ? तो इसपर कहते हैं—'काकतालीय०' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार कौए और तालवृक्ष के आकस्मिक सम्बन्धमें कौएके मरणमें प्रयोजक हेतु कर्म ही है, दूसरा कोई नहीं, उसी प्रकार दृढ़ अभ्यस्त वासनाके तिरोभावमें और चिरकालसे व्यवहित (दूर रहे) हाथी आदिमें अहंभाव-वासनाके आविर्भावमें कर्म ही निमित्त है । अतः वह अन्य उद्भूत हुई हाथी आदिकी वासनाके सम्बन्धसे चिरकालसे अभ्यस्त हुए भी सूक्ष्म मशक आदि आकारका त्याग करता है ॥ २७ ॥

विरोधी वासनाके आविर्भावसे पहलेकी वासनाका तिरोभाव और उत्तर-कालिक दूसरी वासनाकी अभ्याससे दृढ़ता होती है, इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—'द्वित्व०' इत्यादिसे ।

अपने ही द्वैतसङ्कल्पसे एकमें ही द्वैतकी ऐसे प्रवृत्ति हो जाती है, जैसे पुरुषकी वेताल-कल्पनासे उसमें भयङ्कर भासुर वेताल प्रवृत्त हो जाता है ॥ २८ ॥

जिस प्रकार 'मैं कुछ नहीं करता' इस तरहके संकल्पसे पुरुषमें कर्तृत्व निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्माका भी द्वैत अद्वैत-भावनासे निवृत्त हो जाता है ॥ २९ ॥

द्वित्वसङ्कल्पतो द्वित्वमेकस्यैव प्रवर्तते ।
अद्वित्वसंविदा द्वित्वमनेकस्याऽपि नश्यति ॥ ३० ॥
परमात्मतया द्वित्वं न किलाऽऽत्मनि विद्यते ।
अविकारादिमत्त्वेन सर्वगत्वेन सर्वदा ॥ ३१ ॥
यत्स्वसङ्कल्परचितमसङ्कल्पक्षयं हि तत् ।
यथा मुने मनोराज्यं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ३२ ॥
तथा सङ्कल्पने क्लेशो न सङ्कल्पविनाशने ।
सङ्कल्पयक्षो गन्धर्वपुर्याः सृष्टौ न तु क्षये ॥ ३३ ॥
पुष्टसङ्कल्पमात्रेण यदिदं दुःखमागतम् ।
तदसङ्कल्पमात्रेण क्षयि काऽत्र कदर्थना ॥ ३४ ॥

द्वैतसंकल्पसे अद्वितीय वस्तुमें भी द्वित्वकी प्राप्ति हो जाती है और अद्वैत-भावनासे तो अनेकात्मक जगत्‌का भी द्वित्व नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

भद्र, विकार आदिसे शून्य, सदा सर्वगामी तथा परमात्माका स्वरूपभूत होनेसे आत्मामें कभी द्वैतभाव नहीं रहता ॥ ३१ ॥

हे मुने, अपने सङ्कल्पसे निर्मित मनोराज्य और गन्धर्वनगरकी नाईं जो वस्तु अपने संकल्पसे बनायी गई है, वह संकल्पके अभावसे नष्ट हो जाती है, यह प्रसिद्ध बात है ॥ ३२ ॥

किञ्च, मानसिक प्रयत्नके द्वारा किसीकी रचना करनेमें तो श्रम होता भी है, परन्तु संकल्पका विनाश करनेमें तो कुछ भी श्रम नहीं होता [क्योंकि एकमात्र उदासीनताका अवलम्बन करनेसे अपने-आप संकल्पविनाश सिद्ध हो जाता है। यह बात प्रसिद्ध ही है, यह कहते हैं—'संकल्पयक्षः' से] ठीक ही है—मनके मनोरथोंसे रचित नगरोंके निर्माणमें एकमात्र संकल्प ही, असंभावित रचनामें समर्थ होनेके कारण, दिव्य शिल्पी प्रसिद्ध है, परन्तु उन नगरोंके विनाशमें नहीं ॥ ३३ ॥

केवल दृढ़ संकल्पसे जो यह संसाररूपी दुःख प्राप्त हुआ है, वह केवल संकल्पके अभावसे ही नष्ट हो जायगा, फिर इस विषयमें क्लेश ही क्या ? ॥ ३४ ॥

यत्किञ्चिदपि सङ्कल्प्य नरो दुःखे निमज्जति।
न किञ्चिदपि सङ्कल्प्य सुखमव्ययमश्नुते ॥ ३५ ॥
सङ्कल्पव्यालनिर्मुक्ता न यदा तव चेतना।
न तदा नन्दनोद्याने त्वमुच्चैः परिराजसे ॥ ३६ ॥
स्वविवेकानिलैः कृत्वा सङ्कल्पजलदक्षयम्।
परां निर्मलतामेहि शरदीव नभोन्तरम् ॥ ३७ ॥
सङ्कल्पसरितं मत्तां मणिमन्त्रेण शोषय।
तत्रोह्यमानमात्मानं समाश्वास्य भवाऽमनाः ॥ ३८ ॥
सङ्कल्पानिलनिर्धूतं भ्रान्तं पर्णतृणांशवत्।
भूताकाशे चिदात्मानमवलम्ब्य विलोकय ॥ ३९ ॥
स्वसङ्कल्पनकालुष्यं विनिवार्याऽऽत्मनाऽऽत्मनः।
परं प्रसादमासाद्य परमानन्दवान् भव ॥ ४० ॥

तनिक भी संकल्प कर मनुष्य दुःखमें डूब जाता है और कुछ भी संकल्प न कर वह अविनाशी सुख पाता है ॥ ३५ ॥

महर्षे, जबतक तुम्हारी बुद्धि संकल्परूप सर्पसे निःशेष मुक्त नहीं होती, तबतक सर्वविध गुणोंसे उत्कृष्ट नन्दन-वनमें उच्च स्थानपर स्थित हुए भी तुम क्लेशरहित होकर शोभित नहीं हो सकते ॥ ३६ ॥

तब संकल्पनाशका क्या उपाय है ? इस प्रश्नपर उसका उपाय बतलाते हैं—'स्वविवेका०' इत्यादिसे।

हे मुने, अपने विवेकरूपी पवनसे संकल्परूप मेघोंका विनाशकर, शरत्कालमें आकाश-मण्डलकी नाईं, तुम उत्तम निर्मलता प्राप्त करो ॥ ३७ ॥

अविवेकरूप प्रबल प्रवाहसे उमड़ रही उन्मत्त संकल्परूप नदी तुम मणि-मन्त्रसे सुखा दो। और उसमें बह रहे आत्माको धैर्य देकर मनसे रहित हो जाओ ॥ ३८ ॥

संकल्परूप पवनसे कम्पित हुए, पत्तों एवं तिनकों के टुकड़ोंकी नाईं प्राणीमात्रके हृदयाकाशमें भ्रमण कर रहे इस चिदात्माका, विवेकका आश्रयण कर, साक्षात्कार करो ॥ ३९ ॥

अपने-आप अपनी सङ्कल्पात्मक कालिमाका निवारण करके आत्माकी उत्तम विशुद्धता प्राप्तकर अविनाशी आनन्दरूप हो जाओ ॥ ४० ॥

सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम् ।
तत्तथा पश्यति तदा स्वसङ्कल्पविजृम्भितम् ॥ ४१ ॥
सङ्कल्पमात्रमेवेदं जगन्मिथ्यात्वमुत्थितम् ।
असङ्कल्पनमात्रेण ब्रह्मन् क्वाऽपि विलीयते ॥ ४२ ॥
सङ्कल्पवातवलितं जन्मजालकदम्बकम् ।
असङ्कल्पानिलस्पर्शाद्विश्राम्यति परे पदे ॥ ४३ ॥
तृष्णाकरञ्जलतिकामिमां रूढिमुपागताम् ।
सङ्कल्पमूलोद्धरणात् परिशोषवतीं कुरु ॥ ४४ ॥
प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम् ।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ ४५ ॥
प्रभुरस्मीति विस्मृत्य तावच्छोचति भूमिपः ।
भूमिपोऽस्मीति सञ्जाता यावन्नाऽस्य हृदि स्मृतिः ॥ ४६ ॥

चूँकि, यह आत्मा समस्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है, अतः जब कभी वह किसी वस्तुकी जैसी भी पर्याप्तरूपसे भावना करता है, अपने संकल्पसे विजृम्भित उस वस्तुको उसी समय वैसी ही देखता है ॥ ४१ ॥

हे ब्रह्मन् , यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत् एकमात्र संकल्पात्मक ही है, अतः केवल संकल्पके अभावसे ही, न जाने, कहीं भी विलीन हो जाता है ॥४२॥

सङ्कल्परूपी पूर्वी हवासे व्यथित जन्मस्वरूप मेघोंका समूह असंकल्परूप पश्चिमी हवाके स्पर्शसे ब्रह्माकाशमें विलीन हो जाता है ॥ ४३ ॥

हे महर्षे, संकल्परूप जड़ उखाड़कर अत्यन्त दृढताको प्राप्त हुई इस तृष्णा-रूपी करंजलताको तुम सुखा डालो ॥ ४४ ॥

अविद्या, काम और संकल्प का विनाश होनेपर भी यदि जगत्का अवभास होता हो, तो वह केवल प्रतिभासरूप ही ठहरा, ऐसी स्थितिमें जीवन्मुक्तोंके अनु-भवोंसे सिद्ध दृष्टिसृष्टि-पक्ष ही अवशिष्ट रह जाता है, इस आशयसे कहते हैं— **'प्रतिभास०'** इत्यादिसे ।

जिस प्रकार गन्धर्वनगरकी उत्पत्ति और विनाश एकमात्र प्रतिभासस्वरूप ही है, उसी प्रकार यह संसाररूप विभ्रमकी उत्पत्ति और विनाश भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप ही है ॥ ४५ ॥

जबतक अज्ञान है, तभीतक जगत्का प्रतिभास शोकमें कारण है, अज्ञानका

नाऽस्य तज्जातया ब्रह्मन् प्राक्स्मृतिर्वर्तमानया।
शरदेवोपगतया प्रावृड् जाड्याऽपवारिणी ॥ ४७ ॥
घनप्रवाहा याऽकस्माच्चित्तेहा सैव वर्धते।
य एवोच्चैः स्वरस्तन्त्र्याः स एवाऽऽक्रामति श्रुतिम् ॥ ४८ ॥
अहमेकोऽहमात्माऽस्मीत्येकां भावय भावनाम्।
तया भावनया युक्तः स एव त्वं भवस्यलम् ॥ ४९ ॥

विनाश हो जानेपर तो वह शोकमें कारण नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'प्रभु०' इत्यादिसे।

'मैं राजा हूँ' यों अपना असली स्वरूप भूलकर तभीतक राजा शोक करता है जबतक कि उसके हृदयमें 'मैं राजा हूँ' यों अपने वास्तव स्वरूपकी स्मृति उत्पन्न नहीं हो जाती ॥ ४६ ॥

यदि शङ्का हो कि पहलेके दीर्घकालसे अभ्यस्त संसारके अनेक संस्मरण तत्त्वज्ञानीके भी वर्तमानकालीन 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' इस स्मरणको ढक देंगे, ऐसी स्थितिमें उसे पुनः संसारशोक बना ही रहेगा, तो इसपर कहते हैं—'नाऽस्य' इत्यादिसे।

हे ब्रह्मन्, जैसे उपस्थित शरद्-ऋतुसे निरस्त हुई वर्षाऋतु, मेघरूप जड़तासे शरत्का आच्छादन करनेमें सामर्थ्य नहीं रखती, वैसे ही इस राजा और तत्त्ववित् को गुरुके उपदेशसे उत्पन्न हुई 'मैं राजा हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ' इस स्मृतिसे से निरस्त प्राचीन दुःखोंकी स्मृति अपनी जड़तासे आच्छादन करनेमें सामर्थ्य नहीं रखती ॥ ४७ ॥

यही स्मृति प्रबल है, इसमें कारण क्या है ? तो मनन, निदिध्यासन के अभ्यासरूप पुरुषप्रयत्नसे उसका सुदृढ बना रहना ही कारण है, इस आशयसे कहते हैं—'घनप्रवाहा' इत्यादिसे।

चित्तकी दो वृत्तियोंमें जो चित्तवृत्ति अकस्मात् उत्तरोत्तर सुदृढ़रूपसे होती जाती है, वही दूसरे को उस प्रकार दबाती जाती है, जिस प्रकार वीणाके तार और मन्द दो स्वरों में जो ही ऊँचा स्वर होता है, वही दूसरेको दबाकर कान पर आरूढ़ हो जाता है ॥ ४८ ॥

बिना विच्छेदके निरन्तर चल रही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह स्मृति ही मेरी मुख्य मानस पूजा है, दूसरी नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'अहमेकः' इत्यादिसे।

हे मुने, मैं अद्वितीय शिवरूप देव हूँ, वही देवस्वरूप आद्वितीय शिव

एवं ह्यसंभवदिदं त्वविरागभास्वत्
तत्सत्त्वमुत्तमपदं परमेकदेवः ।
पूजासु पूजकसुपूजनपूज्यरूपं
किञ्चिन्न किञ्चिदिव चित्तपदैकमूर्तिः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे द्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

तुम्हारे अहङ्कारसे उपलक्षित, नित्य, अपरोक्ष, चिदेकरस-स्वरूप मैं ही हूँ, यों एकमात्र अविच्छिन्न स्मृतिधाराकी तुम भावना करो। उस प्रकारकी देवपूजा-रूप भावनासे ही युक्त हुए तुम अवश्य ही उक्त शिवरूप हो जाओगे, दूसरी बाह्य-पूजासे नहीं ॥ ४९ ॥

महर्षे, उक्त रीतिसे [तुम अद्वितीय-ब्रह्मभावमयी ही पूजा करो, दूसरी बाह्य-पूजा नहीं] यह बाह्य-पूजा तुम्हारे जैसे ज्ञानियोंके योग्य नहीं है, क्योंकि बाह्य-पूजा तुच्छ फलोंमें इच्छा रखनेवाले अज्ञानी जनोंके लिए ही प्रकाशमान है यानी उन्हींके योग्य है। तुम्हारे योग्य उपास्य तो उत्तमपदस्वरूप परमार्थ-सत्तात्मक परब्रह्म ही एकमात्र देव है, उसकी पूजामें पूजक (पूजा-द्रव्योंका स्वामी), सुन्दर षोड़शोपचारसे पूजन एवं पूज्य (प्रतिमा, लिङ्ग आदि) कुछ भी नहीं है, वह सब उसके पूजनमें तुच्छ पदार्थ-सा है, क्योंकि वह सामग्री मनकी एकमात्र कल्पना ही है ॥ ५० ॥

तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चतुस्त्रिंशः सर्गः

ईश्वर उवाच

इत्थं स्थितमिदं विश्वं सदसद्देवरूपि च।
द्वैतैक्यपदनिर्मुक्तं युक्तं द्वैतैक्यमप्यतः ॥ १ ॥
चितेः कलङ्कवैरूप्यमिति संसारतां गतम्।
अकलङ्कमसंसारि तच्चाऽभिन्नाद्वयात्मकम् ॥ २ ॥
इयमस्मीति संप्राप्तकलङ्का चिन्निबध्यते।
एतामेव कलां बुद्ध्वा स्वकाभिन्नां विमुच्यते ॥ ३ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग

[सौषुप्त तुर्य और तुर्यातीत पदका उपदेश देकर तुर्यातीत पदमें ईश्वरने विश्राम किया—इसका वर्णन]

ईश्वरने कहा—महर्षे, यों इस देवपूजासे पूजित हो रहा यह जगत् बाध-दृष्टिसे असत् एवं अधिष्ठान-दृष्टिसे सत् और देवस्वरूप होकर स्थित है, यह कहना ठीक है। तथा परमार्थदशामें यह विश्व द्वित्व और एकत्व से विनिर्मुक्त एवं व्यवहारदशामें द्वित्व और एकत्व से युक्त भी है, यह कहना भी ठीक है [यों सर्वविध विरोधोंका परिहार हो गया, यह भाव है।] ॥ १ ॥

यह जगत् क्यों द्वैत एवं एकरूप है और क्यों उनसे निर्मुक्त है, इस शङ्का-पर कहते हैं—'चितेः' इत्यादिसे।

चितितत्त्वने मोहकृत जड़ताकी कल्पनासे अपनेमें संसाररूपता (द्वैतरूपता) प्राप्त की है तथा मोहरूपी कलङ्कसे रहित हुआ वह असंसारी देखा जाता है। इसलिए वह अभिन्न और अद्वयात्मक है ॥ २ ॥

उसी बातका स्पष्टीकरण करते हैं—'इयम०' इत्यादिसे।

'मैं दृश्य देहादिस्वरूप हूँ' इस प्रकार मोहको प्राप्त हुई चिति संसारमें फँस जाती है और दृश्यके प्रकाशनमें समर्थ इसी चित्कलाका, जो अपनेसे अभिन्नरूप है, अनुभव कर संसारके बन्धनसे निर्मुक्त हो जाती है ॥ ३ ॥

चिदर्थाकारताभावाद् द्वित्वात् सत्त्वं समुज्झति ।
सुखादिमिलितां धत्ते न सत्यां सदिति क्षणात् ॥ ४ ॥
शुद्धा निरंशा सत्या वाऽसत्या वेत्येवमादिभिः ।
विमुक्ता नामशब्दार्थैः सर्वैः सर्वात्मिकाऽपि खम् ॥ ५ ॥
सर्वं निरुपमं शान्तं मनसैतत्त्रिमार्गगम् ।
ब्रह्मेदं बृंहितं ब्रह्मशक्त्याऽऽकाशविकासया ॥ ६ ॥
मनसा मनसि च्छिन्ने स्वेन्द्रियावयवात्मनि ।
सत्यालोकाज्जगज्जाले प्रच्छन्ने विलयं गते ॥ ७ ॥

अर्थाकारकी भावनासे द्वैतभाव प्राप्तकर यह चिति अपनी अखण्ड सत्ता भूल जाती है और देहके सुख-दुःख आदिसे मिली हुई असत्यरूप ही अपनी स्थितिको क्षणभरमें 'सत्यरूप है' यों अवधारण कर लेती है [यही इसकी कलङ्कयुक्त स्थिति है ।] ॥ ४ ॥

अब कलङ्कवर्जित स्थिति कहते हैं—**'शुद्धा'** इत्यादिसे।

विमल, अवयवोंसे रहित, सत्य या असत्य—इस तरहके भिन्न-भिन्न सभी कल्पित नाम-रूपोंसे निर्मुक्त यह चिति, व्यवहार-कालमें सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक होती हुई भी, शून्यस्वभाव ही है ॥ ५ ॥

उक्त निष्कलङ्क स्थितिकी प्रतिष्ठा बढ़ानेके निमित्त सुषुप्ति आदि भूमिकाओंका भेद दिखलानेके लिए उपक्रम करते हैं—**'सर्वम्'** इत्यादिसे ।

पूर्ण, अनुपम एवं शान्तस्वभाव ब्रह्म ही आकाशकी नाईं पहले विक-सित होनेवाली ब्रह्मशक्तिसे (अपनी मायाशक्तिसे) जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ; सृष्टि, स्थिति और संहार या आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन तीन मार्गोंसे प्रवृत्त हुए इस जगत्के रूपमें मनके द्वारा विस्तारको प्राप्त हुआ है ॥ ६ ॥

इसलिए मनका उच्छेद होनेपर ही इस जगत्का उच्छेद हो जायगा, यह कहते हैं—**'मनसा'** इत्यादिसे ।

महर्षे, मनके द्वारा सत्यभूत ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारसे अपनी चक्षु आदि इन्द्रियोंके व्यापारोंमें हेतुभूत मनके छिन्न-भिन्न हो जानेपर प्रच्छन्न जगत्-रूपी जाल विलीन हो जाता है और तदनन्तर कल्पनारूप जरजर इस संसारकी कलना

छिद्यते शीर्णसंसारकलना कल्पनात्मिका ।
भृष्टबीजोपमा सत्ता जीवस्य इतिनामिका ॥ ८ ॥
पश्यन्ती नाम कलितोत्सृजन्ती चेत्यचर्वणाम् ।
मनोमोहाभ्रनिर्मुक्ता शरदाकाशकोशवत् ॥ ९ ॥
शुद्धा चिद्भावमात्रस्था चेत्यचिच्चापलं गता ।
समस्तसामान्यवती भवतीर्णभवार्णवा ॥ १० ॥

नष्ट हो जाती है । [इस प्रकार तत्त्वज्ञानसे कल्पनाओंके साथ मनके विनष्ट हो जानेपर जीवन्मुक्तकी पहले जिस भूमिकामें स्थिति होती है, उसे लक्षण एवं नामोंसे दिखलाते हैं—'भृष्टबीजोपमा' से ।] उस अवस्थामें जीवकी भर्जित (भूँजे गये) बीजकी नाईं 'इति'* नामवाली सत्ता होती है ॥ ७, ८ ॥

इस रीतिसे उस दशामें समस्त दृश्योंका बाध हो जानेके कारण एकमात्र अपरोक्ष दृष्टिके ही बच जानेसे उसका दूसरा नाम 'पश्यन्ती' भी है, यों कहते हैं—**'पश्यन्ती'** इत्यादिसे ।

शरत्कालके आकाशमण्डलकी नाईं मानसिक मोहरूपी बादलोंसे निर्मुक्त उक्त अवस्था चित्तके विषयोंकी चर्वणाका (बार-बार प्रीतिपूर्वक अनुस्मरणका) परित्याग कर रही 'पश्यन्ती' नामसे योगियों द्वारा व्यवहृत होती है ॥ ९ ॥

पहले चित्तके सङ्कल्प आदि विषयोंसे उपहित चिति चञ्चलताको प्राप्त हुई भी इस उपर्युक्त अवस्थामें वह अपने एकमात्र चैतन्य-स्वभावमें स्थित होकर समस्त उपाधियोंसे विनिर्मुक्त हो जाती है । और समस्त पदार्थोंकी सत्तारूपसे अवशिष्ट होकर जीवित अवस्थामें ही संसाररूपी समुद्र पार कर जाती है ॥ १० ॥

---

* 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' (योगियों एवं कर्मियों के द्वारा सेवित, जीवसे विलक्षण, सबके नियामक परमेश्वरको 'सर्वात्मरूप मैं, ईश्वर हूँ' इस रूपसे जब जानता है तथा इस परमेश्वरकी विभूतिको 'ईश्वररूप मेरी ही यह जगद्रूपा विभूति है' यों जानता है, तब शोकरहित होकर कृतकृत्य हो जाता है । ४।७) इस श्वेताश्वतर श्रुतिमें तथा छान्दोग्यमें 'स्वपिति' शब्दके निर्वचनसमयमें किये गये 'स्वम्' 'अपि' 'इति' इस विभागमें इस सत्ताका इतिपदसे व्यवहार किया गया है, अतः 'इति' यह नाम ठीक है, यह जानना चाहिए । यद्यपि अज्ञकी सुषुप्तिमें भी 'स्वपिति' शब्दका प्रयोग होता है ; तथापि तत्त्वज्ञानसे अज्ञान आदिका बाध हो जाता है, अतः जिस उपाधिका जिस अविद्यामें लय होता है, उन दोनोंके न रहनेके कारण जब अप्यय-बोधक अपिशब्दकी ही निवृत्ति हो गई तब स्वरूपप्राप्त्यर्थक इतिशब्द ही अवशिष्ट रह गया, अतः इतिशब्द उसका नाम हो सकता है, यह भाव है ।

अपुनर्भवसौषुप्तपदपाण्डित्यपीवरी ।
परमासाद्य विश्रान्ता विश्रान्ता वितते पदे ॥ ११ ॥
एतत्ते मनसि क्षीणे प्रथमं कथितं पदम् ।
द्वितीयं शृणु विप्रेन्द्र शक्तेरस्याः सुपावनम् ॥ १२ ॥
एषैव मनसोन्मुक्ता चिच्छक्तिः शान्तिशालिनी ।
सर्वज्योतिस्तमोमुक्ता वितताऽऽकाशसुन्दरी ॥ १३ ॥
घनसौषुप्तलेखावच्छिलान्तःसन्निवेशवत् ।
सैन्धवान्तःस्थरसवद्वातान्तःस्पन्दशक्तिवत् ॥ १४ ॥
कालेन यत्र तत्रैव परां परिणतिं यदा ।
शून्यशक्तिरिवाऽऽकाशे परमाकाशगा तदा ॥ १५ ॥

अविनाशी निरतिशयानन्दस्वरूप आत्मप्राप्तिरूपी पाण्डित्यसे स्थूल हुई वह चिति उक्त दशामें परम पद प्राप्तकर समस्त श्रमोंसे निर्मुक्त होती हुई व्यापक ब्रह्मपदमें विश्राम करती है [इससे उसका 'महासुप्तपद' नाम भी सूचित हुआ ।] ॥ ११ ॥

अब दूसरे स्थानका वर्णन करनेवाले भगवान् शङ्कर वर्णित प्रथम स्थानका उपसंहार करते हैं—'एतत्ते' इत्यादिसे ।

हे विप्रेन्द्र, मनके विनष्ट हो जानेपर जो सबसे पहली स्थिति प्राप्त होती है, वह तुमसे कही गई । अब तुम इस चितिशक्तिकी परम पवित्र दूसरी स्थिति सुनो ॥ १२ ॥

मनसे वर्जित यही चितिशक्ति शान्तिसे राजित, सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियोंसे एवं अन्धकार, अज्ञान आदि जड़तासे विनिर्मुक्त तथा विस्तृत आकाशकी नाईं परम सुन्दर है ॥ १३ ॥

दूसरी अवस्थामें पहली अवस्थाकी अपेक्षा चितिशक्तिके जो विशेषधर्म हैं, उन्हें कहते हैं—'घन०' इत्यादिसे ।

निबिड़ सुषुप्ति-स्थितिकी झलकके सदृश, पाषाणशिलाके भीतरी अवयव-गठनके सदृश, सैंधव नमकके अन्दर स्थित रसके सदृश और वायुके अन्तर्गत विद्यमान स्पन्दनशक्तिके सदृश जब पहली भूमिका अभ्यासके द्वारा समय पाकर खूब परिपक्व हो जाती है तब आकाशमें विद्यमान शून्यशक्तिकी नाईं चिदेकघन

चेत्यांशोन्मुखतां नूनं त्यजत्यम्ब्विव चापलम् ।
वातलेखेव चलनं पुष्पलेखेव सौरभम् ॥ १६ ॥
कालताकाशते त्यक्त्वा सकले सकलाकला ।
न जडा नाऽजडा स्फारा धत्ते सत्तामनामिकाम् ॥ १७ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमहासत्तापदं गताम् ।
तुर्यतुर्यांशकलितामकलङ्कामनामयाम् ॥ १८ ॥
काञ्चिदेव विशालाक्ष साक्षिवत् समवस्थिताम् ।
सर्वतः सर्वदा सर्वप्रकाशस्वादुतत्पराम् ॥ १९ ॥
एषा द्वितीया पदता कथिता तव सुव्रत ।
तृतीयं शृणु वक्ष्यामि पदं पदविदां वर ॥ २० ॥

ब्रह्माकाशभाव प्राप्तकर वह उस प्रकार विषयोन्मुखताका परित्याग करती है, जिस प्रकार [वायु आदि क्षोभक पदार्थोंके अभावमें] जल चञ्चलताका, वायु-कला चलनका और पुष्पलेखा सौगन्ध्यका परित्याग करती है ॥ १४—१६, ॥

क्रियारूप काल-कलासे तथा अवकाशकी अपेक्षा रखनेवाली परिच्छिन्न वस्तुरूप आकाशकी कलासे युक्त कालरूपता और आकाशरूपता का, उन कलाओंके परित्यागसे ही, परित्याग कर समस्त दृश्यमात्रकी कल्पना न करनेवाली, जड़ता और अजड़ता से शून्य विशुद्धस्वभाव उक्त चिति—शब्दोंसे निर्वचनके अयोग्य—वक्ष्यमाण सत्ता धारण करती है ॥ १७ ॥

देशकृत एवं कालकृत परिच्छेदसे रहित, सर्वातिशायी, त्रिकालाबाधित सत्ता-पदको प्राप्त हुई जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से चतुर्थ जो विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत से चतुर्थांश है, उससे प्रकाशमान सर्वविध कलङ्कों और रोगों से रहित सत्ताका उक्त चितिशक्ति परिग्रह करती है ॥ १८ ॥

हे विशालनेत्र, उक्त स्वरूपवाली किसी एक ऐसी अनिर्वचनीय सत्ताका चितिशक्ति परिग्रह करती है, जो साक्षीकी नाईं प्रकाशमान होकर अवस्थित रहती है और सबकी हेतु, सब कालमें विद्यमान समस्त वस्तुओंके प्रकाशों तथा आनन्दों से श्रेष्ठ और स्पृहणीयतर है ॥ १९ ॥

उक्त तुर्यरूप द्वितीय भूमिकाका उपसंहार करके तृतीय भूमिकाका अवतरण करते हैं—'एषा' इत्यादिसे ।

एषा द्वक्चेत्यवलनादनामार्थपदं गता ।
ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दार्थादतीतोदेति केवला ॥ २१ ॥
स्थैर्येण कालतः स्वस्था निष्कलङ्का परात्मना ।
तुर्यातीतादिनामत्वादपि याति परं पदम् ॥ २२ ॥
सा परा परमा काष्ठा प्रधानं शिवभावतः ।
चित्येका निरवच्छेदा तृतीया पावनी स्थितिः ॥ २३ ॥

हे उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले, तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ महर्षे, यह द्वितीय भूमिका आपसे कही गई । अब मैं तृतीय भूमिकाका निरूपण करूँगा, आप सुनिये ॥ २० ॥

तृतीय भूमिकामें पहलेकी भूमिकाओंकी अपेक्षा जो विशेषधर्म हैं, उन्हें कहते हैं—'एषा' इत्यादिसे ।

यह चिति तृतीय भूमिकामें ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति और उस वृत्तिका विषय ब्रह्म—इन दोनोंका नीरक्षीर-न्यायसे एकीकरण हो जानेके कारण ग्राहक अंश और ग्राह्य अंशसे शून्यरूप स्थितिको प्राप्त हो जाती है, इसीलिए ब्रह्म, आत्मा इत्यादि शब्द और अर्थों से निर्मुक्त हुई विशुद्धरूपसे उदित होती है । तात्पर्य यह है कि पहलेकी भूमिका संप्रज्ञातसमाधिसे प्राप्य है और यह तृतीय भूमिका असंप्रज्ञात समाधिकी सुदृढ़ स्थितिसे प्राप्य है, यह विशेष हुआ ॥ २१ ॥

यह तृतीय भूमिका जन्म आदि छः भावविकारोंसे शून्य होनेके कारण कालसे भी विचलित नहीं होती, अज्ञान आदि अन्धकारसे विनिर्मुक्त वह स्वयं ही कलङ्कोंसे रहित है । तुर्यातीत आदि उसका नाम होनेसे भी वह सर्वातिशायी परमपुरुषार्थरूप है ॥ २२ ॥

वह सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओंकी परम अवधि है, परम मङ्गलरूप होनेके कारण समस्त मङ्गलोंमें प्रधान मङ्गल है, सर्वमुख्य विच्छेदशून्य चिति ही तृतीय पावनकरी स्थिति है ॥ २३ ॥

चिरमस्यां प्रतिष्ठायां सर्वाध्वाऽध्वगदूरगा ।
सा ममाऽप्यङ्ग वचसां न समायाति गोचरम् ॥ २४ ॥
त्रिमार्गकलनातीतमिति ते कथितं मुने ।
तिष्ठ तस्मिन् पदे नित्यमिति देवः सनातनः ॥ २५ ॥
एतन्मयमिदं विश्वं मुने तन्मयवेदनात् ।
सत्यसंवेदनान्नेदं न च नेदं मुनीश्वर ॥ २६ ॥
नेदं प्रवर्तते किञ्चिन्नेदं किञ्चिन्निवर्तते ।
शान्तं समसमाभासं प्रथते स्वस्य कोशवत् ॥ २७ ॥

इस भूमिकामें जो चिरकालतक स्थिति है, वह सब मार्गोंसे (शैवशास्त्रोक्त प्रसिद्ध छः मार्गोंसे और श्रुतिप्रसिद्ध धूम, अर्चि आदि मार्गोंसे) तथा उन मार्गोंके-द्वारा अपनी-अपनी उपासनाओंके अनुसार तत्-तत् लोकको प्राप्त हुए उपासकोंसे भी दूरवर्ती है। इसलिए हे मुने, मेरी भी वाणीका वह विषय नहीं है, किन्तु वह स्वयं ही अनुभूत होती है ॥ २४ ॥

हे मुने, जाग्रत् आदि तीन मार्गोंसे, कल्पनासे तथा कल्पनासापेक्ष तुर्यत्वसंख्यासे अतीत पद तुमसे मैंने कहा, उसी पदमें तुम सदा अवस्थित रहो। वह पद ही अविनाशी पूज्य देव है, दूसरा नहीं ॥ २५ ॥

हे मुने, इस समस्त जगत्का उपादान वही (तृतीयपदरूप देव) है, इस विज्ञानसे यह समस्त विश्व तन्मय ही बन जाता है। हे मुनीश्वर, उपादानसे अतीत अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके विज्ञानसे यह नहीं है और यह नहीं भी नहीं है यानी 'अस्ति' और 'नास्ति' इन दोनों विकल्पोंसे वर्जित है ॥ २६ ॥

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—'नेदम्' इत्यादिसे ।

वास्तवमें यह न कुछ प्रवृत्त होता है और न कुछ निवृत्त ही होता है। अपने उदरकी नाईं केवल शान्त, एकरूपसे प्रतीयमान आकाश आदि एकरूप पदार्थोंकी अपेक्षासे भी अधिक एकरूप भासित होनेवाला वह केवल प्रकाशित होता है ॥ २७ ॥

अद्वैतैक्यादसंक्षोभाद् घनचेतनया तया ।
अविकारादिमत्त्वाच्च नित्यानित्यतया चिरम् ॥ २८ ॥
चिद्घनत्वाच्छिशुशिलाकोशानां जगतामपि ।
मनागपि न भेदोऽस्ति सतामप्यसतामपि ॥ २९ ॥
समस्तं सुशिवं शान्तमतीतं वाग्विलासतः ।
ओमित्यस्य च तन्मात्रा तुर्या सा परमा गतिः ॥ ३० ॥

क्यों वह समानोंसे भी अधिक समान भासता है ? इस प्रश्नपर समानाभासमें हेतु बतलाते हैं—'अद्वैतैक्याद्०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

द्वैतके साथ एकताका अभाव, उक्त घनीभूत चेतनरूप होनेके कारण संक्षोभका अभाव, विकार आदिका अभाव, चिरकालिक नित्य भी काल, आकाश आदिकी अनित्यताकी सम्पादक तथा चिद्घन होनेके कारण * चितिके साथ सत्-पदार्थोंका या असत्-पदार्थोंका या बालकसदृश अज्ञानियों द्वारा कल्पित आकाशमें शिलाकोशकी नाईं अनिर्वचनीय सम्पूर्ण जगत्‌का तनिक भी भेद नहीं है । अतः समसमाभास जो कहा गया है, वह ठीक ही है ॥ २८, २९ ॥

उक्त तुर्यातीतत्वका ही उपपादन कर रहे श्रीमहादेवजी उपसंहार करते हैं—'**समस्तम्**' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण संसार शान्त, सुशिव एवं वाणीके व्यापारसे अतीत उक्त पदस्वरूप है । विराट् आदिरूप अकार आदि मात्रा-भेदसे कल्पित चार पादोंसे विभक्त हुए 'ॐ' इस अक्षरकी अर्धमात्राकी जो चार नाद, बिन्दु, शक्ति और शान्तानामक मात्राएँ हैं, उनमें जो चौथी शान्तानामकी मात्रा है, वही परमगति है ॥ ३० ॥

---

* प्रलयकालीन समुद्रके समान द्वैतके साथ ऐक्यका अभाव होनेपर भी स्वात्मामें संक्षोभ होगा, इसपर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'असंक्षोभात्' । संक्षोभ क्यों नहीं होगा ? इसपर कहते हैं—'घनचेतनया' । सैंधव-खण्डके घनीभूत होनेपर भी उसके रसमें द्रवत्व आदि विकार जैसे देखा जाता है, वैसे ही यहाँपर भी अवश्य कुछ विकार होगा, इसपर कहते हैं—'अविकारादिमत्त्वाच्च' ।

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवानमलदृक्परिणामतोऽस्मिन्
पारे पदे समुपशान्तरवाभिधाने।
तूष्णीमतिष्ठदमुना मुनिना च सार्धं
विश्रान्तवृत्तिरथ तत्र मुहूर्तमीशः ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे श्रीपरमेश्वरोपदेशो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—शङ्करजीने पूर्वोक्त प्रकारसे उपदेश दिया, तदनन्तर इस वसिष्ठमुनिके तथा अन्य स्कन्द, नन्दी आदि सभी श्रोताओंके साथ जहाँपर प्रणवकी अर्धमात्राका चरम भाग बिलकुल उपशान्त हो जाता है, ऐसे शान्तरव-नामक सर्व-संसारके पारभूत तुरीयके तुरीय पदमें भूमानन्दचितिरूपी विमल-दृष्टिके साथ एकरसरूप हो जानेसे परिणामतः वृत्तियोंको विश्रान्त कर भगवान् शङ्करजी उस वसिष्ठजीके आश्रममें क्षणभरतक निश्चेष्ट होकर चुपचाप बैठ गये, क्योंकि मनकी परम पदमें विश्रान्ति होनेपर उसके अधीन सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापार समाप्त हो गये थे ॥ ३१ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त



पञ्चत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततो मुहूर्तेन हरो गौरीकमलिनीसरः ।
मद्विकासोन्मुखः स्वैरं विकासं बहिराददे ॥ १ ॥
दृक्चयो द्योतयामास मुखाकाशतलोदितः ।
बोधं समुद्रकादर्क अंशुराशिरिवोद्गतः ॥ २ ॥

ईश्वर उवाच

मुने मननमाहूय स्वसत्तैवाऽऽशु मीयताम् ।
त्वमर्थं माऽऽहराऽनर्थं पवनः स्पन्दतामिव ॥ ३ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग

[ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर आदिके जो परम पितास्वरूप महादेव हैं, वे ही परमात्मा पूज्योंकी चरम अवधि हैं—इसका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, तदनन्तर क्षणभरमें गौरीरूप कमलिनीके सरोवरभूत महादेवजीने—भक्तके ऊपर अत्यन्त वात्सल्यभाव रखनेके कारण मुझे ज्ञान देनेके लिए—उत्सुक होकर अर्थात् मेरे भाग्योदयसे प्रेरित होकर अपनी इच्छासे नेत्रोन्मीलनका स्वीकार किया यानी उन्होंने अपनी आँखें खोल दीं ॥ १ ॥

भद्र, जैसे मेघसंपुटसे यानी मेघोंके बीचसे अथवा आकाश और पृथिवी के बीचसे उदित हुआ किरणोंका समूहस्वरूप सूर्य दिवसको अभिव्यक्त करता है, वैसे ही भगवान् शङ्करके निर्मल और त्रिपुण्ड्रूपी शरत्कालीन अभ्ररेखासे अङ्कित होनेके कारण मुखरूपी आकाशतलमें उदित हुए चन्द्र, सूर्य और अग्निरूपी नेत्रोंके समूहने समाधिका व्युत्थान अभिव्यक्त किया ॥ २ ॥

तत्त्वबोधमें उपयोगी होनेके कारण भगवान् पहले उपाय और उपेय रूप सार बतलाते हैं—'मुने' इत्यादिसे ।

ईश्वरने कहा—हे मुने, तुम पहले विचारको सन्निधिमें लाकर अपने (प्रत्यगात्माके) पारमार्थिक स्वरूपका ही प्रमाणोंसे शीघ्र निर्धारण करो। उक्त प्रत्यगात्मामें अनर्थभूत (बहिर्मुखताके आपादन द्वारा सम्पूर्ण अनर्थोंके मूलभूत) त्वमर्थका यानी

द्रष्टव्यमिह यत्किञ्चित्तद्दृष्टं किं समं भ्रमैः ।
न हि हेयमुपादेयं चेह पश्यामि तद्विदः ॥ ४ ॥
शान्त्यशान्तिमयानेतान् विकल्पान् दलयन्नसिः ।
धीरोऽसि नाऽन्यथाऽऽस्थित्वा त्वमेव भव चाऽऽत्मदृक् ॥५॥
इमां दृश्यदशामाशु बाह्यबोधाय वा पुनः ।
समाश्रित्य मदुक्तं त्वं शृणु तूर्ष्णीं स्थितेन किम् ॥ ६ ॥

युष्मत्-प्रत्ययके योग्य अचिदंशका ग्रहण मत करो, क्योंकि जैसे स्पन्दनशक्तिका नयन कर रहा पवन अचल ही आकाशको ताप, रज, जड़ता आदिसे युक्त बनाता है, वैसे ही यह त्वमर्थ भी आत्माको जड़ता आदि अनर्थोंसे युक्त बनाता है ॥३॥

त्वमर्थमें भी द्रष्टव्य, हेय और उपादेय बहुत है, फिर उसका आदर क्यों न किया जाय ? इसपर कहते हैं—'द्रष्टव्यमिह' इत्यादिसे ।

जो कुछ इस संसारमें दर्शनयोग्य है, उसे तत्त्वज्ञानीने देख लिया; [क्योंकि 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं भवति' (जिसका ज्ञान हो जानेपर अश्रुत श्रुत, अविचारित विचारित और न जाना गया जाना गया होता है) इत्यादि श्रुतिके अनुसार आत्मदर्शन द्वारा ही सम्पूर्ण द्रष्टव्य पदार्थोंका तत्त्वतः दर्शन हो ही जाता है ।] अतः उसे (तत्त्वज्ञको) देखे गये या न देखे गये भ्रमोंके साथ प्रयोजन ही क्या रहा ? भ्रम-विषयोंमें तत्त्वज्ञानीके लिए कोई हेय या उपादेय नहीं रहता, यह मैं ठीक जानता हूँ ॥ ४ ॥

स्वीकृत इष्ट और परिहृत अनिष्ट विषय जब चित्तके आश्वासनमें हेतु होते हैं, तब वे शान्तिमय हो जाते हैं और जब विक्षेपके हेतु हो जाते हैं, तब वे ही अशान्तिमय हो जाते हैं । शान्तिमय और अशान्तिमय इन विकल्पोंका यदि दलन करते हो, तो तुम धीर और तलवाररूप हो । यदि वैसा नहीं करते तो तुम धीर नहीं हो । इसलिए आस्था रखकर तुम आत्मदृक् और धीर बन जाओ [दृश्य आकारोंका स्पर्श न करनेवाली चिदात्मस्वभावसे अवस्थिति ही मुख्य स्थिति है, यह भाव है ।] ॥ ५ ॥

अथवा धीर-तलवार बननेमें यदि तुम असमर्थ हो, तो उसकी प्राप्तिके लिए पुनः कुछ कालतक श्रवण आदिमें अनुकूल कुछ थोड़ी-सी बाह्य-दृष्टिका अवलम्बन कर

इत्युक्त्वा बाह्यबोधस्त्वं मा भवेति त्रिशूलधृक् ।
प्राणेनेदं देहगेहं परिस्फुरति यन्त्रवत् ॥ ७ ॥
प्राणहीनं परिस्पन्दं त्यक्त्वा तिष्ठति मूकवत् ।
चालनी पावनी शक्तिः शक्तिः संवेदनी चितिः ॥ ८ ॥

लगातार तत्त्वकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करो, प्रमादसे कभी भी प्रयत्नसे विरत मत होओ, यही कहते हैं—'**इमाम्**' इत्यादिसे।

[यदि तुम तथोक्त धीर बननेमें असमर्थ हो, तो] बाह्यज्ञानके * यानी ब्रह्मज्ञानके लिए शीघ्र ही श्रवण आदिमें अनुकूल इस बाह्यदृष्टिका समाश्रयण कर मेरे द्वारा जो कुछ कहा जाय, उसे तुम सुनो। आत्मज्ञानके प्रयत्नके बिना चुपचाप बैठे रहनेसे कौन-सा पुरुषार्थ होगा ? ॥ ६ ॥

बाह्याकार दर्शनोंके मध्यमें देहात्मतादर्शन ही महान् अनर्थ और सम्पूर्ण अनर्थोंका बीज है, अतः उसे ही मुझसे छुड़ानेके लिए भगवान् प्रवृत्त हुए, यों महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'**इत्युक्त्वा**' इत्यादिसे।

त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करने उस तरहका दूसरा कल्प कहकर आगे कहे जानेवाले देहात्मभ्रमके निरासके लिए फिर यह कहा कि तुम बाह्यदेह आदिमें आत्मज्ञानी मत बनो [देहकी क्रियाशक्ति जैसे पराधीन है, वैसे ही चेतनशक्ति भी पराधीन है। इसलिए देहमें आत्माकी प्रसक्ति नहीं हो सकती, इस अभिप्रायसे प्राणके अधीन देहकी चेष्टा है, यह कहते हैं—'प्राणेन' से।] यन्त्रकी नाईं प्राणसे ही यह देहरूपी घर स्फुरित होता है ॥ ७ ॥

प्राण-वायुसे शून्य हुआ देहरूपी घर संचलन छोड़कर मूकके सदृश स्थित रहता है। देहरूपी घरमें चलनानुकूल क्रियाशक्ति प्राणवायुप्रयुक्त है और संवेदन-शक्ति तो आत्मचिति ही है ॥ ८ ॥

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥'

(सम्पूर्ण लोकोंके नेत्ररूप सूर्य जैसे बाह्य चक्षुके दोषोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही एक और सब भूतोंके अन्तरात्मा भी लोकदुःखोंसे लिप्त नहीं होता) इस श्रुतिमें अलेपकताके समर्थनके लिए समस्त प्रपञ्चके बाह्यरूपसे बतलाया गया आत्मा 'बाह्य' शब्दका अर्थ है, उसके ज्ञानके लिए, यह 'बाह्यबोधाय' का अर्थ है।

साऽमूर्ता खादपि स्वच्छा सत्सत्तैवाऽत्र कारणम् ।
विनश्यतः प्राणदेहौ वियोगान्मरुदेव च ॥ ९ ॥
चिदात्मा खादपि स्वच्छो न विनश्यति किं भ्रमैः ।
मनःप्राणमये देहे चित्तत्त्वं परिजायते ॥ १० ॥
मुकुरे ह्यमलाभासे प्रतिबिम्बं प्रवर्तते ।
सदप्यग्रगतं वस्तु प्रतिबिम्बक्रियां विना ॥ ११ ॥
यथा नाऽस्ति मलोपेते मुकुरे मुनिनायक ।
तथा नाऽस्ति गतप्राणे विद्यमानेऽपि देहके ॥ १२ ॥
सर्वगाऽपि चिदुच्छन्नबोधात् स्पन्दादिकं प्रति ।
बोधात् कलङ्कविमला चिदेव परमं शिवम् ।
विदुर्देवं तदाभासं सर्वसत्तार्थदं तथा ॥ १३ ॥

उनमें क्रियाशक्तिका मूल और आश्रय दोनों नष्ट हो जाते हैं, परन्तु चितिशक्ति नष्ट नहीं होती, यह कहते हैं—'साऽमूर्ता' इत्यादिसे ।

वह चितिशक्ति अमूर्त और आकाशसे भी स्वच्छ है । तीनों कालमें कभी बाधित न होनेवाली उस चितिकी सत्ता ही उसके अविनाशमें हेतु है । क्रियाशक्तिका मूल प्राण और क्रियाश्रय देह दोनों नष्ट हो जाते हैं और देह-वियोगसे ही प्राण वायुस्वरूप हो जाता है ॥ ९ ॥

आकाशसे भी स्वच्छ चिदात्मा नष्ट नहीं होता । [इसलिए अनेक प्रकारके] भ्रमोंसे क्या होगा ? [चिदात्मा क्यों नष्ट नहीं होता ? इसमें उपपत्ति कहते हैं—'मनःप्राणमये' से ।] क्योंकि लिङ्गदेहसे संवलित मनःप्राणमय देहमें आवरणरहित चितितत्त्वकी ही अभिव्यक्ति होती है ॥ १० ॥

स्थूलदेहमात्रमें तो मलिनता होनेसे चितिको अभिव्यक्त करनेकी सामर्थ्य नहीं है, इसका दृष्टान्त द्वारा उपादन करते हैं—'मुकुरे' इत्यादिसे ।

हे मुनिनायक, निर्मल आभासवाले दर्पणमें किसी तरहकी प्रतिबिम्बक्रियाके बिना भी वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है और जैसे मलयुक्त दर्पणमें सामने उपस्थित विद्यमान भी वस्तुका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, वैसे ही देहके विद्यमान रहनेपर भी प्राणके निकल जानेसे उसमें चितिका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता ॥ ११,१२ ॥

अतएव सर्वव्यापक होती हुई भी चिति मायाकलङ्कसे आवृत होनेके कारण लिङ्गदेहको छोड़कर अन्यत्र बाह्यक्रियाओंमें और अपना असली स्वरूप

स हरिः स शिवः सोऽजः स ब्रह्मा स सुरेश्वरः ।
अनिलानलचन्द्रार्कवपुः स परमेश्वरः ॥ १४ ॥
स एष सर्वगो ह्यात्मा चित्खनिश्चेतनः स्मृतः ।
देवेशो देवभृद्धाता देवदेवो दिवः पतिः ॥ १५ ॥
महाचितः समुल्लासं मुह्यन्तीव न केचन ।
ये नाम ते जगत्येते ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ १६ ॥
परस्मात् परिनिर्याता ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
कणास्तप्तायस इव वारिधेरिव बिन्दवः ॥ १७ ॥

जाननेमें समर्थ नहीं होती। और लिङ्गदेहमें आवृत न होनेके कारण उनकी वृत्ति द्वारा उन दोनोंमें यानी बाह्य क्रियाओंमें और अपना स्वरूप जाननेमें समर्थ होती है, यह कहते हैं—'सर्वगाऽपि' इत्यादिसे ।

सर्वव्यापक होती हुई भी चिति बाह्य घटादि-आकारसे स्थूल हुई बुद्धिवृत्तिसे देहस्पन्दन आदिके प्रति समर्थ होती है । और ब्रह्माकारज्ञानसे तो मायाकलङ्कसे निर्मुक्त होकर वह परम शिव यानी कैवल्यनामक परमकल्याणस्वरूप हो जाती है। अभिव्यक्त हुई वह चिति ही सम्पूर्ण पदार्थोंकी सत्तारूप स्फूर्तिका प्रदान करनेवाली है और वही देवतास्वरूप है ॥ १३ ॥

चितिकी अभिव्यक्तिमें उत्कर्षके कारण ही हरि, हर आदि देवताओंमें भी उत्कृष्ट देवरूपता है, इस आशयसे कहते हैं—'स हरिः' इत्यादिसे ।

वही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ब्रह्मा है, वही देवताओंका पति इन्द्र है, वही वायु, वह्नि, चन्द्र एवं सूर्यरूप है और वही परमेश्वर-रूप है ॥ १४ ॥

वही सर्वत्र व्यापक आत्मा है, सर्वचैतन्याकार चेतन है, देवेश, देवभृत , धाता, देवदेव और स्वर्गस्वामी है ॥ १५ ॥

महाचैतन्यके जगदात्मक समुल्लासकी ओर जो मुग्ध नहीं होते, ऐसे जो भी कोई हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि उत्तम देवताओंके स्वरूपोंमें प्रसिद्ध हैं ॥ १६ ॥

जो परब्रह्मरूप देवता है, उसकी दृष्टिमें तत्-तत् गुणमें अभिमान रखनेवाले, ये ब्रह्मा आदि सृष्टि आदि कार्यके लिए आविर्भूत हुए हैं और अग्निके

तेष्विव भ्रमभूतेषु जातेष्विव परात् पदात् ।
स्थितेषु भ्रमबीजेषु कल्पनाजालकर्तृषु ॥ १८ ॥
सहस्रशतशाखेयमविद्योदेति पीवरी ।
वेदवेदार्थवेदादिजीवजालजटावली ॥ १९ ॥
ततस्तस्या अनन्तायाः प्रसृतायाः पुनः पुनः ।
संपन्नदेशकालायाः क्रमः स्याद्वर्णनासु कः ॥ २० ॥

विस्फुलिङ्गकी नाईं लक्षित होते हैं, इस आशयसे कहते हैं——'**परस्मात्**' इत्यादिसे ।

भद्र, परम चितिसे चारों ओरसे निकले हुए ये ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि तपे हुए लाल-लाल लोहेके गोलेसे निकले अग्नि-कणोंकी नाईं और समुद्रसे निकले जलबिन्दुओंकी नाईं परमचैतन्यके ही एक अंशरूप हैं ॥ १७ ॥

यह जो कहा गया है, वह अशास्त्रीय व्यवहारदृष्टिसे कहा गया है, शास्त्रीय दृष्टिसे नहीं । विचारसे (शास्त्रीय दृष्टिसे) तो ब्रह्मा आदिके आविर्भावसे लेकर——सर्ग आदिकी चेष्टा, अनुग्रहपूर्वक उपदेश देना, ब्रह्माण्डोंका आधिपत्य स्वीकार करना आदि——जितने तिरोभावपर्यन्त व्यवहार हैं, वे सब अविद्याकृत भ्रान्तिस्वरूप ही हैं, वास्तविक नहीं, यह कहते हैं—'**तेष्विव**' इत्यादिसे ।

यथार्थमें परमपदरूप ब्रह्मसे उत्पन्न नहीं हैं, तथापि अज्ञानवश परमपद-स्वरूप ब्रह्मसे उत्पन्नकी तरह प्रतीयमान, एकमात्र भ्रमस्वरूप उन पदार्थोंकी तथा भ्रमोंमें हेतुभूत उन्हीं अनेक कल्पनाओंके करनेवाले मनकी स्थिति-दशामें ही हजारों शाखा-प्रशाखाओंमें फैलकर वेद, वेदार्थ——सृष्टिके आदिम क्रम, साङ्गोपाङ्ग क्रियाकलाप, उपासनाएँ एवं ब्रह्मतत्त्वके बोधोपयोगी उपाय——और वेद आदिमें अधिकारी जीव तथा उनकी काम, कर्म और वासना, जन्म, मरण आदि अनर्थरूप जटा——इन सबकी स्वरूपभूत यह अविद्या उत्तरोत्तर स्थूलतम होकर स्फुरित होती है ॥ १८,१९ ॥

अनन्त होनेके कारण अविद्याके विलासोंका वर्णन नहीं किया जा सकता, इस आशयसे कहते हैं——'**ततः**' इत्यादिसे ।

इसीसे देश और कालकी सम्पत्तिके अनुसार बार-बार कोटि-कोटि पदार्थोंके स्वरूपमें फैली हुई असीम उस स्थूलतम अविद्याका वर्णन करनेमें कौन पुरुष क्रम यानी समर्थ हो सकता है अर्थात् कोई नहीं । अथवा उस प्रकारकी असीम

ब्रह्मविष्णुहरादीनामतोऽयं परमः पिता ।
मूलबीजं महादेवः पल्लवानामिव द्रुमः ॥ २१ ॥
सर्वसत्त्वाभिधः सर्वः सर्वसंवेदनैककृत् ।
सर्वसत्ताप्रदो भास्वान् वन्द्योऽभ्यर्च्यश्च तद्विदः ॥ २२ ॥
प्रत्यक्षवस्तुविषयः सर्वत्रैव सदोदितः ।
संवेदनात्मकतया गतया सर्वगोचरम् ॥ २३ ॥
न तस्याऽऽह्वानमन्त्रादि किञ्चिदेवोपयुज्यते ।
नित्याहूतः स सर्वस्थो लभ्यते सर्वतः स्वचित् ॥ २४ ॥
यां यां वस्तुदशां याति तत एव मुने शिवम् ।
स्वरूपं समवाप्नोति रूपालोकमनोदृशाम् ॥ २५ ॥

अविद्याका वर्णन करनेपर कौन क्रम यानी प्रयोजन सिद्ध होगा अर्थात् कोई नहीं सिद्ध होगा ॥ २० ॥

चूँकि ब्रह्मा, हरि, हर प्रभृति देवताओंका भी देहरूप उपाधिका परिग्रह आविद्यक ही है, इसलिए यह चैतन्यस्वरूप महादेव उनका भी परम पिता है। जिस तरह पल्लवोंका मूलबीज वृक्ष है, उसी तरह चैतन्यात्मा महादेव उनका मूलबीज है ॥ २१ ॥

हे मुने, जिसने उक्त चैतन्यात्मक महादेव-तत्त्वका परिचय कर लिया है, उसके लिए तो वही तत्त्व वन्दनीय और पूजनीय है, क्योंकि सब प्राणियोंका बल और अभिधान वही है। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानोंका एकमात्र उत्पादक और सबमें सत्तास्फूर्तिका प्रदान करनेवाला है ॥ २२ ॥

तत्त्वज्ञानीको प्रत्येक इन्द्रिय और प्रत्येक वस्तु में प्रकाशरूप होनेके कारण वही विषय होता है, दूसरा नहीं। वह सर्वत्र ही सदा उदितस्वभाव है एवं ज्ञानात्मक होनेके कारण सर्वविषयक है ॥ २३ ॥

समीपमें बैठानेके लिए आह्वान और प्रकाशनके लिए मन्त्र आदि कुछ भी उसके लिए उपयुक्त नहीं होते, क्योंकि वह सदा आहूत एवं सर्वत्र ही स्थित है, अतएव अपने चैतन्यरूपसे चारों ओर उपलब्ध हो जाता है ॥ २४ ॥

हे मुने, यह शिवात्मक चिति जिस-जिस वस्तुस्थितिकी ओर जाती है, वहींपर विषय, विषयप्रकाश, विषयमननात्मक मन और उनकी साक्षीभूत दृष्टि—इनका स्वरूप स्वयं ही धारण कर लेती है, दूसरा कोई धारण नहीं करता ॥ २५ ॥

आद्यं पूज्यं नमस्कार्यं स्तुत्यमर्घ्यं सुरेश्वरम् ।
एनं तं विद्धि वेद्यानां सीमान्तं महतामपि ॥ २६ ॥
एतमात्मानमालोक्य जराशोकभयापहम् ।
संभृष्टबीजवज्जन्तुर्न भूयः परिरोहति ॥ २७ ॥
सकलजन्तुषु यत्त्वभयप्रदं
विदितमाद्यमुपास्यमयत्नतः ।
त्वमजमात्मगतं परमं पदं
भवसि किं परिमुह्यसि दृष्टिषु ॥ २८ ॥

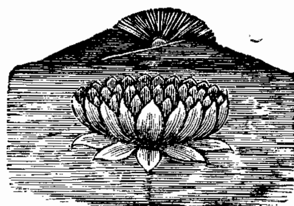
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे महादेवस्य पूज्यसीमान्तत्वकथनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

महर्षे, इन्हीं सब कारणोंसे समस्त पूजा आदि व्यवहारोंमें प्रथमोपस्थित पूजायोग्य, नमस्कारयोग्य, स्तुतियोग्य, अर्घ्ययोग्य और निखिल देवताओंका स्वामी वही चितितत्त्व है, यह तुम जान लो । यही बड़े-बड़े ज्ञातव्य पदार्थोंकी भी चरम सीमा है ॥ २६ ॥

वार्द्धक्य, शोक एवं भय के विनाशक इस आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर मनुष्य फिर संसारमें भूँजे गये बीजकी नाईं अङ्कुरित नहीं होता ॥ २७ ॥

हे विप्रेन्द्र, जो विदित हुआ समस्त जन्तुओंमें अभय देता है, जो सबकी अपेक्षा आद्य है और जो अनायास उपासनायोग्य है, वह अज, परम एवं हस्तगत परमपदस्वरूप तुम्हीं हो, इसलिए बाह्य-दृष्टियोंमें क्यों मोह करते हो ? ॥ २८ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त



षट्त्रिंशः सर्गः

ईश्वर उवाच

ततश्चिद्रूपमेवैकं सर्वसत्तान्तरास्थितम् ।
स्वानुभूतिमयं शुद्धं देवं रुद्रेश्वरं विदुः ॥ १ ॥
बीजं समस्तबीजानां सारं संसारसंसृतेः ।
कर्मणां परमं कर्म चिद्धातुं विद्धि निर्मलम् ॥ २ ॥
कारणं कारणौघानामकारणमनाविलम् ।
भावनं भावनौघानामभाव्यमभवात्मकम् ॥ ३ ॥
चेतनं चेतनौघानां चेतनात्मनि चेतनम् ।
स्वं चेत्यचेतनं चेत्यपरमं भूरिभावनम् ॥ ४ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग

[समस्त विश्वकी उत्पत्तिके निमित्त, सर्वाकारसे स्थित तथा किसीसे स्पर्श न होनेके कारण विशुद्ध उस चितितत्त्वके सर्वैश्वर्यका वर्णन]

ईश्वरने कहा—हे मुने, चूँकि इस चितिरूप आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर पुरुष फिर संसारमें उत्पन्न नहीं होता, इसलिए समस्त भावपदार्थोंके भीतर रहनेवाले अपने अनुभवस्वरूप एकमात्र विशुद्ध प्रकाशमय चितितत्त्वको ही मुनिलोग संसार-रोगका अपहरण करनेवाला रुद्ररूप ईश्वर जानते हैं ॥ १ ॥

हे मुने, तुम इसी निर्मल चितितत्त्वको अखिल बीजोंका भी बीज, संसाररूप सृष्टिका परमसार और वेदोदित कर्मोंमें परम कर्म जानो ॥ २ ॥

वह चितितत्त्व निखिल कारणोंकी क्रियाशक्तिओंका कारण है और अपनी सत्तासे समस्त भावोंमें सत्ताप्रदान करनेवाला है। वास्तवमें वह न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है, क्योंकि वह विशुद्ध और अजन्मा है ॥ ३ ॥

वही समस्त बुद्धिवृत्तियोंका प्रकाशक, जीवके भी अन्दर रहनेवाला सारभूत चेतन, बाह्य वेद्योंका भी चेतन यानी बुद्धिवृत्तिके सम्बन्धसे जनित अभिव्यक्तिसे विषयोंका प्रकाश करनेवाला प्रत्यग्रूप चेतन है, चेत्योंका परम अधिष्ठानभूत तत्त्व है और अपनेको ही मायासे अनेक रूपमें भावना कर लेनेवाला है ॥ ४ ॥

आलोकालोकममलमनालोक्यमलोकजम् ।
आलोकं बीजबीजौघं चिद्घनं विमलं विदुः ॥ ५ ॥
असत्यं सन्मयं शान्तं सत्यासत्यविवर्जितम् ।
महासत्तादिसत्तान्ते चिन्मात्रं विद्धि नेतरत् ॥ ६ ॥
स्वयं भवति रागात्मा रञ्जको रञ्जनं रजः ।
स्वयमाकाशमप्याशु कुड्यं भवति मण्डितम् ॥ ७ ॥
अस्मिंश्चिचेतसि स्फारे जगन्मरुमरीचयः ।
स्फुरिताः प्रस्फुरिष्यन्ति प्रस्फुरन्ति च कोटयः ॥ ८ ॥
स्वसत्तामात्रसम्पन्नं पदमस्मिन् स्वतेजसि ।
न किञ्चन च सम्पन्नमन्यदौष्ण्यादिवाऽनले ॥ ९ ॥

हे मुने, उसीको मुनिलोग चक्षु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशोंका प्रकाशक, स्वयं चक्षु, सूर्य आदि प्रकाशोंसे प्रकाशित न होनेवाला, अलौकिक, स्वयं अकेला ही समस्त बीजोंके बीजरूपसे स्थित, प्रकाश और निर्मल चिद्घन कहते हैं ॥ ५ ॥

उस चितितत्त्वमें पृथिवी, अप्, तेजरूप सत् और वायु एवं आकाशरूप त्यत् नहीं रहते। वह सद्रूप, शान्त एवं व्यावहारिक और प्रातिभासिक अवस्थाओंसे वर्जित है। हे भद्र, जगत्सत्ता और अव्याकृतसत्ता के बाध-कालमें उसके (बाधके) साक्षीरूपसे विद्यमान जो चिन्मात्रस्वरूप वस्तु है, वह वही चितितत्त्व है, दूसरा नहीं, यह तुम जानो ॥ ६ ॥

महर्षे, वही चितितत्त्व स्वयं ही रञ्जनबीजावस्थामें रागात्मक, विषयस्मृति-कालमें चित्त-क्षोभक होनेके कारण रंजकस्वरूप, विषयसम्बन्ध-दशामें रञ्जनरूप, विषयवियोग-दशामें चित्तकी मलिनताका कारण होनेसे रजोरूप (धूलरूप) हो जाता है और वह स्वयं अमूर्तस्वरूप होते हुए भी शीघ्र ही चित्र आदिसे रञ्जित मूर्तरूप हो जाता है ॥ ७ ॥

भद्र, इस चितिरूपी विशाल चित्तमें पहले कोटि-कोटि जगद्रूपी मरुभूमियोंकी मरीचिकाएँ प्रस्फुरित हो गई हैं, आगे प्रस्फुरित होंगी और वर्तमान-कालमें भी प्रस्फुरित हो रही हैं ॥ ८ ॥

इस स्वप्रकाशस्वरूप आत्मतत्त्वमें अपनी एकमात्र सत्तासे जगत्नामधारी वैलक्षण्य यद्यपि प्रतीत हो रहा है; तथापि वास्तवमें वह कुछ भी नहीं है। जैसे अग्निमें ज्वाला, विस्फुलिङ्ग, प्रकाश आदि वैलक्षण्य प्रतीत हो रहा भी

गर्भीकृतमहामेरुं परमाणुसमं विदुः ।
आच्छादितमहामेरुं परमाणुसमं विदुः ॥ १० ॥
गर्भीकृतमहाकल्पो निमेषोऽसावुदाहृतः ।
आक्रान्तकल्पेनाऽनेन न संत्यक्ताऽनिमेषता ॥ ११ ॥
बालाग्रकादप्यणुना व्याप्ताऽनेनाऽखिला मही ।
सप्ताब्धिवसनाऽप्युर्वी नाऽस्यान्तमधिगच्छति ॥ १२ ॥

उष्णस्वभाव अग्निसे दूसरा कुछ भी नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ९ ॥

इसी कारण 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (आत्मतत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुसे भी सूक्ष्मतम और बड़ेसे बड़े आकाशसे भी बड़ा है) यह श्रुति उस आत्मतत्त्वमें अखिल विरुद्ध धर्मोंका समावेश बतलाती है, इस आशयसे कहते हैं—**'गर्भीकृत०'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मन्, इस चितितत्त्वने महान् मेरुपर्वतको अपने उदरमें समा लिया है और परमाणुके सदृश वह परमसूक्ष्म है—ऐसा मुनिलोग कहते हैं । इसने महान् मेरु-पर्वतको ढक दिया है और परमाणुके सदृश अत्यन्त सूक्ष्म है—ऐसा मुनि-लोग कहते हैं ॥ १० ॥

इस चितितत्त्वमें कालकृत दीर्घता और सूक्ष्मता का भेद नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'गर्भीकृत०'** इत्यादिसे ।

उस चितितत्त्वने महान् कल्प जैसे कालको अपने उदरमें समा लिया है और वह निमेषमात्र कालस्वरूप है, यह भी मुनिलोग कहते हैं । यद्यपि इसने महान् कल्परूपी कालके ऊपर अपना पैर जमा रक्खा है; तथापि अपनी निमेषमात्रस्वरूप कालरूपताका भी परित्याग नहीं किया है ॥ ११ ॥

उक्त अर्थको ही विशदरूपसे कहते हैं—**'बालाग्र०'** इत्यादिसे ।

हे मुने, यद्यपि यह चितितत्त्व केशके अग्रभागसे भी सूक्ष्मतम है; तथापि इसने समस्त पृथिवी व्याप्त कर रक्खी है । सात समुद्ररूप वस्त्रवाली पृथिवी भी इसकी अन्तिम सीमा प्राप्त नहीं कर सकती ॥ १२ ॥

अकुर्वन्नेव संसाररचनां कर्तृतां गतः ।
कुर्वन्नेव महाकर्म न करोत्येव किञ्चन ॥ १३ ॥
द्रव्यमप्येष निर्द्रव्यो निर्द्रव्योऽपि हि द्रव्यवान् ।
अकायोऽपि महाकायो महाकायोऽप्यकायवान् ॥ १४ ॥
अद्याऽप्येष सदा प्रातः प्रातरप्यद्यतां गतः ।
न वाऽद्यमद्य न प्रातस्त्वद्य प्रातश्च वा सदा ॥ १५ ॥
भिण्डि भिण्डिं खिले मत्ता पुरुपिच्छिलिसालघम् ।
विविच्चलित्सदालोका लासो गुलुगुलुः शिली ॥ १६ ॥
इत्याद्यनर्थकं वाक्यं तथा सत्यं स एव च ।
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यत्त्वसौ ॥ १७ ॥

कुछ न करते हुए ही उसने इस महान् संसार-रचनाके प्रति कर्तृता प्राप्त की है और यह बड़ा कर्म कर रहा भी कुछ करता ही नहीं ॥ १३ ॥

यह द्रव्यस्वरूप होता हुआ भी द्रव्यरहित, द्रव्यरहित होता हुआ भी द्रव्ययुक्त, शरीरवर्जित होता हुआ भी ब्रह्माण्डरूप शरीरवाला और ब्रह्माण्ड-शरीर-वाला होता हुआ भी शरीररहित है ॥ १४ ॥

यह साठ घड़ीका अद्यस्वरूप होता हुआ भी निरन्तर प्रातःकालरूप (प्रारम्भके त्रिमुहूर्तात्मक कालरूप) है। प्रातःकालस्वरूप होता हुआ भी अद्यस्वरूपता प्राप्त करता है। वास्तवमें न तो वह मुहूर्तरूप है, न अद्यरूप है और न प्रातःकालस्वरूप ही है, अथवा सदा अद्यस्वरूप और प्रातःकालस्वरूप ही है ॥ १५ ॥

उसी प्रकार उन्मत्त, अज्ञानी आदि द्वारा भाषित निरर्थक अपशब्दस्वरूप भी वही है, ऐसा बतलानेके लिए उनमें से कुछका अनुकरण कर दिखलाते हैं—'**भिण्डिम्**' इत्यादिसे ।

उन्मत्त पुरुष निरन्तर निरर्थक—जैसे भिंडि-भिंडि, खिल-खिल, पुरुपित्, छिलि, सालघ, विवित्, चलित्, लास, गुलुगुलु, शिली इत्यादि—वाक्योंका जो उच्चारण करते हैं, वे निरर्थक वाक्य भी तत्स्वरूप ही हैं तथा सत्य यानी सार्थक वेदशास्त्रादि शब्दसमूहस्वरूप भी वही है। वस्तुतः ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो इस चितितत्त्वमें आरोपित होकर सत्ता प्राप्त न करता हो। संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो चितितत्त्वस्वरूप न हो ॥ १६, १७ ॥

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ १८ ॥

यत्रान्तरालगहनेन विलासवत्या
हेलाविलोलघनसर्जितयामलेन ।
मल्लेन पल्लवदलामलमालितानां
लक्ष्मीलताऽविरलिता वलितेव मुष्टिः ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमेश्वरवर्णनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इसी चितितत्त्वका पहले साक्षात्कार कर प्रह्लादने उसे प्रणाम किया था, इसका स्मरण कराते हुए उपसंहार करते हैं—**'यस्मिन्'** इत्यादिसे ।

जिस परमात्मामें यह समस्त प्रपञ्च विद्यमान है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो चारों ओरसे व्याप्त है एवं जो सर्वमय है, उस सर्वात्मक परमात्माको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥

'जिसमें आरोप करनेसे असद्वस्तुकी भी सत्ता हो जाती है' ऐसा जो पहले कहा गया था, उसे सम्भव बनानेके लिए 'जैसे जहाँ निरर्थक भी श्लोक सार्थक हो जाते हैं' यों दृष्टान्त-प्रदर्शनके अभिप्रायसे निरर्थक श्लोकका उदाहरण देते हैं—**'यत्रा०'** इत्यादिसे ।

[इस श्लोककी लोकतः और परमार्थतः सत्यार्थता बतलाई गई है । लोकतः इससे किसी वृक्षका या भगवान् विष्णुका वर्णन किया गया है । वृक्षपक्षमें—] न मुर्झाये हुए पल्लवों और हरे पत्तों से मालित लताओंके प्रियतम अर्थात् चारों ओर लताओंसे आलिङ्गित; अतएव तने, कोटर और शाखाओं के भीषण अन्तरालोंमें गहन यानी किसीके चढ़नेके अयोग्य एवं स्वयं म्लानिसे वर्जित इस वृक्षने फूल, फल, कोपल, भँवरा, पक्षी आदिरूप सम्पत्तिके कारण विलासपूर्ण अपनी शोभासे—जिसने कि अपनी शोभासे अवहेलापूर्वक मेघोंके विद्युत्संवलनसे स्निग्ध शिशिर-ऋतुकी श्यामतासे जनित सौन्दर्यातिशयरूप विभ्रम-सर्जनोंको तिरस्कृत कर दिया है—अन्य वृक्षों, अन्य वनों या समस्त जगत् में प्रसिद्ध लक्ष्मीलताको अपने अन्दर ही समा लेनेके कारण उसे मानो बँधी मुट्ठीकी नाईं संकुचित कर रक्खा है ।

सप्तत्रिंशः सर्गः

ईश्वर उवाच

इत्यादिकानां शब्दानामर्थश्रीः सत्यरूपिणी ।
तस्मिन् सर्वेश्वरे सर्वसत्तामणिसमुद्गके ॥ १ ॥

[विष्णुपक्षमें—] पल्लवों और पत्तों से जनित निर्मल मालासे शोभित पुरुषोंमें श्रेष्ठ, परमार्थरूपसे और वस्त्र, भूषण आदिसे निर्मल, उदरमें चौदह भुवनोंके रखनेके कारण अत्यन्त गहन भगवान् विष्णुने जगन्मोहन, सौन्दर्य आदि विलासपूर्ण अपनी देहलक्ष्मीसे—जिसने कि अवहेलापूर्वक मेघसर्जितोंको तरलित कर दिया है—अपनेको आलिङ्गन दे रही लक्ष्मीरूपी ललना भी बँधी मुट्ठीकी नाईं अभिन्न कर रक्खी है। [सर्जितके स्थानमें गर्जितपाठके अनुसार इसका पारमार्थिक अर्थ भी निकलता है, जो इस प्रकार है—] भीतर विचित्र काम, कर्म और वासना से गहन हुए अज्ञानस्वरूप मलसे तथा पल्लवरूप सूक्ष्मभूतों, उनके कार्यरूप दलस्थानीय स्थूलभूतों और भुवनमदों से मालित जगत्की जो लक्ष्मीलता है, उसे लीलावश आकाशमें चंचल मेघोंकी गर्जनाकी नाईं गर्जन करनेवाली 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यश्रुतिसे विलास कर रही ब्रह्म-विद्यारूपी करिणीने मल्लके द्वारा प्रतिमल्लको मारनेके लिए बँधी हुई मुट्ठीकी नाईं चिदेकरसस्वरूप कर दिया है [इसी तरह इस श्लोकके और भी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं, जिन्हें विद्वान् अपनी कल्पनासे कर लें ।] ॥ १९ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

[सद्वस्तुके योगसे असत्की सत्ता, परम शिवकी अनन्त विभूतियाँ और प्रधानशक्तिरूप नियतिका नृत्य–इनका वर्णन]

ईश्वरने कहा—महर्षे, जिस परब्रह्म परमात्मामें 'भिण्डि, 'भिण्डि,' * इत्यादि पूर्व सर्गके अन्तिम भागमें दर्शित निरर्थक शब्दोंकी भी अर्थश्री सत्यप्राय हो जाती है,

---

* 'इत्यादिकानाम्' इस श्लोकमें आदिपदसे अनर्थरूपसे अत्यन्त प्रसिद्ध जरद्गव और दशदाडिम आदि वाक्योंका भी ग्रहण करना चाहिए । वहाँपर —

'जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि ।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्घः ॥'

इस श्लोकका भी लौकिक या पारमार्थिक अर्थ एकमात्र ब्रह्मसत्तासे ही किया जा सकता है ।

का नाम विमलाभासास्तस्मिन् परमचिन्मणौ ।
न कचन्ति विचिन्वन्ति विचित्राणि जगन्ति याः ॥ २ ॥
एषा बीजकणान्तःस्था चित्सत्ता स्ववपुर्मयम् ।
लब्ध्वा मृत्कालवार्यादि करोत्यङ्कुरमोदनम् ॥ ३ ॥

समस्त जगत्सत्तास्वरूप मणिके पिटारीरूप मायाशबल सबके नियन्ता उस परमात्मामें जो बीजरूप शक्तियाँ अनेकविध चित्र-विचित्र जगत्का आरोप करती हैं, उनमें से ऐसी कौन हैं—जो विस्पष्ट होकर आविर्भूत नहीं होतीं ? ॥ १, २ ॥

उन्हीं शक्तियोंका युक्तिपूर्वक उदाहरण देते हैं—'एषा' इत्यादिसे ।

व्रीहि आदि बीजकणोंके अन्दर रहनेवाली यह दैवी चितिसत्ता खेतमें परिष्कृत मिट्टी, काल, जल आदि सहकारी कारणोंको प्राप्तकर पहले-पहल अङ्कुर

उनमें लौकिक अर्थ इस प्रकार है—कोई एक मद्रासी, जो कम्बल और उपानहों से (जूतोंसे) युक्त बूढ़े बैलके समान गुण-धर्मवाला होनेसे जरद्गव वाहीक था, अपने घरके द्वार-पर बैठकर मद्रदेशमें प्रसिद्ध गीतोंको गाता था । उसे कोई ब्राह्मणी—जो कि लशुनसे शान्त होनेवाले रोगसे ग्रस्त पुत्रके साथ किसी आवश्यक कार्यसे समुद्रकी ओर जानेवाली थी और साथ-साथ वहाँपर पुत्रका जीवन भी चाह रही थी—'यह (मद्रासी) लवणसमुद्रकी ओरसे आया है' यों लोगोंसे सुनकर अत्यन्त आदरपूर्वक सम्बोधित करती हुई पूछती है—हे राजन्, लवणसमुद्रमें लहसुनका भाव क्या है अर्थात् क्या वहाँ लहसुन सस्ता है या महँगा है ? इसी श्लोकका पारमार्थिक अर्थ इस प्रकार है—कम्बलके समान आवरण करने-वाली अविद्यासे तथा पादुकाप्राय लिङ्गशरीरसे चक्षु आदि द्वारोंपर विषय-भोगके लिए स्थित हुआ बूढ़े बैलके समान यह जीव वैषयिक स्त्री, पुत्र आदिके मङ्गल-गीतोंको ही बहिर्मुख होकर गाता है, अपने स्वरूपको बिलकुल ही नहीं देखता । उसे इस प्रकार पाकर पुंनामक संसार-नरकसे उद्धार करनेवाले ब्रह्मात्मरूपताज्ञानस्वरूप पुत्रकी इच्छा कर रही, ब्राह्मणीकी नाईं, ब्रह्मसम्बन्धिनी श्रुति उससे पूछती है—हे राजन् अर्थात् स्वयं प्रकाशरूपसे विराजमान और अपने चैतन्यसे सम्पूर्ण जगत्को रञ्जित करनेवाले हे आत्मदेव, सभी अविद्या, काम और कर्म के बीजोंका विनाशक होनेसे समुद्रकी नाईं ऊषरप्राय, परम शुद्ध तुम्हारे स्वरूपके रहते हुए अत्यन्त अपवित्र होनेसे ब्राह्मण द्वारा अभोग्य लशुन-तुल्य भोज्योंके विषयमें तुम मूल्य ही क्या विचारते हो ? अतः बाह्यदृष्टि छोड़कर स्वात्माराम हो जाओ । इस आशयसे वह पूछती है—'यह आत्मा कौन है, जिसकी हमलोग उपासना करते हैं, वह कौन-सा आत्मा है । जगत्के कारण ब्रह्मका क्या स्वरूप है ? हम कहाँसे उत्पन्न हुए' इत्यादि । इसी प्रकार दश दाडिमादि वाक्योंमें भी अर्थसत्ता समझनी चाहिए । 'भिंडि भिंडिम्' इत्यादि श्लोककी तो, जो कि बाल, मत्त आदिके अस्पष्ट कथनका अनु-करण करता है, अनुकार्य अर्थसे ही अर्थवत्ता जाननी चाहिए । अनुकार्य तो अव्यक्त ही है, अतः उसमें (अनुकार्यमें) वाक्यता ही नहीं है ।

फेनावर्तविवर्तान्तर्वर्तिनी रसरूपिणी ।
कठिनेन्द्रियसम्बन्धे करोति स्पन्दमम्भसाम् ॥ ४ ॥
एषा कुसुमगुच्छेषु रसरूपेण संस्थिता ।
कचति घ्राणरन्ध्रेषु करोति परिफुल्लताम् ॥ ५ ॥
शिलाङ्गस्था शिलाङ्गाभामसतीं सत्यतापदम् ।
सर्गाधारदशां धत्ते गिरीन्द्रः स्थितिलीलया ॥ ६ ॥
पवनस्पन्दकोशात्मरूपिणीव त्वगिन्द्रियम् ।
संसाधयत्यात्मसुतं पितेवाऽऽत्मतया तया ॥ ७ ॥
अशेषसारसंपिण्डमध्यात्मानं स्वसिद्धये ।
भावयित्वा न किञ्चित्त्वमिव खत्वं करोत्यलम् ॥ ८ ॥

पैदा करती है और तदनन्तर क्रमशः तण्डुल होकर स्वशरीरमय साक्षात्-पुरुषके खाने योग्य ओदन बनाती है ॥ ३ ॥

फेन एवं आवर्तरूप विवर्त (रूपान्तर) जिसके भीतर रहते हैं, वह रसरूपा ईश्वरशक्ति अथवा फेन आदिमें अनुगत रससामान्यरूपा ईश्वरशक्ति कठिन शिलातलके साथ या जिह्वा इन्द्रियके साथ सम्बन्ध होनेपर जलका निम्नप्रदेशमें उपसर्पणरूप या उदरमें उपसर्पणरूप स्पन्दन उत्पन्न करती है ॥ ४ ॥

पुष्पगुच्छोंमें मकरन्दयुक्त गन्धरूपसे स्थित हुई यही ईश्वरशक्ति नासिकाके पुटोंमें प्रकाशित होती है और उन्हें चारों ओरसे आमोदित या विकसित कर देती है ॥ ५ ॥

मुने, जिस प्रकार विकारशून्य पर्वतराज तृण, वृक्ष, लता आदि कार्योंको धारण करता है, उसी प्रकार यह चित्सत्ता शिलाके गर्भमें स्थित होकर शिला-प्रतिमाकी नाईं तत्त्वतः पृथक्सत्ता न होनेपर भी व्यावहारिक सत्तावाली 'यह कार्य है और यह उसका आश्रय है' यों भेदविकल्पदशाको अविकृत होकर धारण करती है ॥ ६ ॥

जैसे पिता अपने पुत्रको अपने कार्यमें प्रवृत्त कराता है, वैसे ही समस्त क्रियाओंके आधारभूत पवनप्राय हुई वह चितिशक्ति त्वगिन्द्रियको स्पर्शग्रहण करनेके लिए अनुकूल बना देती है [इसी रीतिसे अन्य इन्द्रियोंमें भी प्रवृत्तिशक्तियाँ उसी चितिशक्तिके द्वारा होती हैं, यह जानना चाहिए ।] ॥ ७ ॥

जिस तरह वह चितिशक्ति प्रवृत्तिशक्तिवश संसारिणी होती है, उसी तरह

स्वसत्ताप्रतिबिम्बाभमाकाशमुकुरोदरे ।
धत्ते कल्पनिमेषाङ्कं कालाख्यममलं वपुः ॥ ९ ॥
आमहापञ्चमेशानं परिणाममया इमे ।
इदमित्थमिदं नेति नियतिर्भवति स्वयम् ॥ १० ॥
साक्षिणि स्फार आभासे गृहे दीप इव क्रियाः ।
सत्ये तस्मिन् प्रकाशन्ते जगच्चित्रपरम्पराः ॥ ११ ॥
परमाकाशनगरनाट्यमण्डपभूमिषु ।
स्वशक्तिवृत्तं संसारं पश्यन्ती साक्षिवत्स्थिता ॥ १२ ॥

निवृत्तिशक्तिवश समस्त जगत्‌की सत्ताओंके एकघनरूप आत्माको लेकर श्रवण, मनन आदि उपायोंसे अपने मोक्षके लिए 'नेति नेति' इस प्रतिषेधसे मानो सब जगत्‌को भलीभाँति शून्यात्मक आकाशरूप कर देती है ॥ ८ ॥

यही शक्ति महाकाशरूप दर्पणके अन्दर अपनी सत्ताके प्रतिबिम्बके सदृश कल्प-निमेषनामक निर्मल कालात्मक शरीर धारण करती है ॥ ९ ॥

समस्त शक्तियोंका एकीकरण कर उनके कार्योंकी इयत्ताका निश्चय कराते हैं—'आमहा०' इत्यादिसे ।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और ईशान—इन उत्तरोत्तर उत्कर्षवाले देवताओंमें पञ्चम ईशानपर्यन्त (सदाशिवपर्यन्त) सब उस चितिशक्तिके ही परिणामरूप हैं। यह इस प्रकार होवे और यह इस प्रकार न होवे—यों सब कार्योंकी व्यवस्था करनेवाली मूलशक्ति भी स्वयं चितिसत्ता है ॥ १० ॥

वह चितिसत्ता स्वयं ही उनकी नियामिका क्यों होती है ? इस शङ्कापर नियमतः उनके प्रकाशनमें हेतु होनेके कारण ही नियामिका होती है, यों कहते हैं—'साक्षिणि' इत्यादिसे ।

जैसे घरमें दीपकके रहनेपर समस्त घरभरकी क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही साक्षीरूपी उस प्रकाशात्मक अबाधित सत्यस्वरूप अपरिच्छिन्न चितितत्त्वके रहनेपर ही जगत्-रूप चित्रकी परम्पराएँ प्रकाशित होती हैं ॥ ११ ॥

वही चितिसत्ता गन्धर्वनगरके नाट्य-मण्डपकी भूमिरूप जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें अपनी शक्तिसे जनित यह संसार देखती हुई साक्षीकी नाईं उदासीन होकर अवस्थित रहती है ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

शिवस्याऽस्य जगन्नाथ शक्तयः काः कथं स्थिताः ।
साक्षिता का च किं तासां वृत्तं स्यात् कियदेव तत् ॥ १३ ॥

ईश्वर उवाच

अप्रमेयस्य शान्तस्य शिवस्य परमात्मनः ।
सौम्य चिन्मात्ररूपस्य सर्वस्याऽनाकृतेरपि ॥ १४ ॥
इच्छासत्ता व्योमसत्ता कालसत्ता तथैव च ।
तथा नियतिसत्ता च महासत्ता च सुव्रत ॥ १५ ॥
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्तृताऽकर्तृताऽपि च ।
इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नाऽस्ति शिवात्मनः ॥१६॥

महर्षि वसिष्ठजीने कहा—हे जगत्‌के स्वामिन्, इस सदाशिवकी सामान्यतः कौन-सी शक्तियाँ हैं, वे विशेषतः किस तरहसे रहती हैं, उनकी क्या साक्षिता है, उनका वर्तन क्या है और वह कितना है ? ॥ १३ ॥

ईश्वरने कहा—हे उत्तम व्रत करनेवाले सौम्य, वास्तवमें जिसका कोई भी आकार नहीं है, जो सर्वात्मक है तथा साधारणजन जिसका परिज्ञान नहीं कर सकते, उस शान्त, चिन्मात्ररूप सदाशिव परमात्माकी इच्छासत्ता, व्योमसत्ता, उसी प्रकार तीसरी कालसत्ता तथा नियतिसत्ता और महासत्ता—ये पाँच शक्तियाँ हैं। तात्पर्य यह है कि 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इस श्रुतिके अनुसार सबसे पहले इच्छासत्ता अभिव्यक्त हुई। तदनन्तर आकाशकी अभिव्यक्ति होनेपर आकाशसत्ता, तदनन्तर कालात्मक सूत्रकी अभिव्यक्ति होनेपर कालसत्ता, सद्रूपके नियतसंस्थानवाले भूत, भौतिक पदार्थोंका आविर्भाव होनेपर नियतिसत्ता अभिव्यक्त हुई और तदनन्तर उनमें अनुगत महासत्ता अभिव्यक्त हुई ॥ १४, १५ ॥

ईश्वरका असाधारण शक्ति-भेद बतलाकर अब जीवसाधारण शक्ति-भेद बतलाते हैं—'ज्ञानशक्तिः' इत्यादिसे।

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, प्रवृत्तिशक्ति और निवृत्तिशक्ति—इस प्रकार सामान्यतः परिगणित होनेपर भी सदाशिवस्वरूप परमात्माकी इन शक्तियोंका अन्त नहीं है यानी प्रत्येकरूपसे उनका परिगणन नहीं किया जा सकता [इसीसे चतुर्थ प्रश्नका भी उत्तर हो गया, यह जान लेना चाहिए।] ॥ १६ ॥

वसिष्ठ उवाच

शक्तयः कुत एवैता बहुत्वं कथमासु च ।
उदयश्च कथं देव भेदाभेदश्च कीदृशः ॥ १७ ॥

ईश्वर उवाच

शिवस्याऽनन्तरूपस्य सैषा चिन्मात्रताऽऽत्मनः ।
एषा हि शक्तिरित्युक्ता तस्माद्भिन्ना मनागपि ॥ १८ ॥
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वादिविभावनात् ।
शक्तयो विविधं रूपं धारयन्ति बहूदकम् ॥ १९ ॥

अद्वितीय वस्तुमें शक्ति और शक्तिमत्त्व के भेदमें ही , जब किसी कारण-विशेषका निर्वचन नहीं कर सकते तब अवान्तर चित्र-विचित्र शक्तियोंके भेदकी कथा तो दूर ही रही, यों माननेवाले वसिष्ठजी आक्षेप करते हैं— **'शक्तयः'** इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे देव, ये उपर्युक्त शक्तियाँ ही किस निमित्तसे हुई ? उनमें बहुत्व कैसे आया? उनका उदय कैसे हुआ ? एवं शक्ति और शक्तिमान् दोनोंमें परस्पर विरुद्ध भेद और अभेद किस युक्तिसे रह सकते हैं ? ॥ १७ ॥

मायिक विकल्पोंसे जनित कल्पनाओंसे होनेवाले चितिभेद ही शक्तियाँ हैं, वे वास्तवमें परमचैतन्यरूप सदाशिवसे किसी तरह भिन्न नहीं हो सकतीं ; अतः विरोधका अवसर ही नहीं है, इस आशयसे ईश्वर समाधान करते हैं— **'शिवस्या०'** इत्यादिसे ।

ईश्वरने कहा—अनन्त असीम आकारवाले सदाशिवरूपी आत्माकी जो यह चिन्मात्ररूपता है, वही माया है और यही उसकी शक्ति कही जाती है । [यह मायाशक्ति स्वरूपतः अनन्त, सदाशिवरूपी आत्माको गुण, शक्ति और कार्यों से व्यापक बना रही उसकी अनन्तता मानो बढ़ाती ही है न कि उसका घात करती है ।] इसलिए एकमात्र कल्पनासे ही वह चितिसे तनिकमात्र भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तवमें कुछ भी भेद नहीं है ॥ १८ ॥

ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व, आदि कल्पनाओंसे परमात्माकी ये शक्तियाँ उस प्रकार विविध स्वरूप धारण करती हैं, जिस प्रकार तरङ्ग आदि भेदकल्पनाओंसे उदक विविध रूप धारण करता है ॥ १९ ॥

एवं जगति नृत्यन्ति ब्रह्माण्डे नृत्यमण्डपे ।
कालेन नर्तकेनेव क्रमेण परिशिक्षिताः ॥ २० ॥
यैषा परापराभासा सैषा नियतिरुच्यते ।
क्रियाऽथ कृतिरिच्छा वा कालेत्यादिकृताऽभिधा ॥२१॥
आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमिति स्थितेः ।
आतृणापब्जस्पन्दं नियमान्नियतिः स्मृता ॥ २२ ॥
नियतिर्नित्यमुद्वेगवर्जिताऽपरिमार्जिता ।
एषा नृत्यति वै नृत्यं जगज्जालकनाटकम् ॥ २३ ॥
नानारसविलासाढ्यं विवर्ताभिनयान्वितम् ।
कल्पक्षणहतानेकपुष्करावर्तघर्घरम् ॥ २४ ॥

गमनशील ब्रह्माण्डरूपी नृत्य-मण्डपमें ऋतु, मास आदि काल-नियति-क्रम द्वारा महाकालरूपी नटसे उत्तम रीतिसे शिक्षित हुई उस प्रकारकी शक्तिरूपिणी नटियाँ नाचती हैं ॥ २० ॥

दो परार्ध कालरूप और अवान्तर कल्प तथा उसके अवयव कालरूप जो यह मायाशक्ति है, वही नियति कही जाती है। ईश्वरकी क्रिया, कृति, इच्छा या काल इत्यादि उसके नाम वादियों द्वारा रक्खे गये हैं। हम लोग तो कलनामात्ररूप होनेके कारण काल और कल्पनारूप होनेसे कल्प—यों विकल्पप्रयुक्त ही उसके नाम मानते हैं ॥ २१ ॥

उस कालशक्तिमें नियतिपदका व्युत्पादन करते हैं—'आमहा०' इत्यादिसे।

ब्रह्मन्, नियम दो तरहके होते हैं—एक आकारनियम और दूसरा विकार-नियम। उन दोनों नियमोंके आधारपर यह कालशक्ति—तृणसे लेकर महारुद्रपर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं, उन सबमें 'इस पदार्थको इस आकारके रूपमें ही रहना चाहिए' एवं तृणसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनमें 'इस पदार्थमें इस तरहका ही विकार होना चाहिए' इस प्रकार आकार-स्थिति और विकारस्थिति की नियमन करनेके कारण—नियति कही जाती है ॥ २२ ॥

ब्रह्मन्, जबतक यह नियति तत्त्वबोधसे परिमार्जित नहीं होती, तबतक सर्वविध उद्वेगोंको छोड़कर प्रतिदिन निरन्तर जगज्जालरूपी नाटकस्वरूप नाच नाचती रहती है ॥ २३ ॥

उसके नृत्यमें नाटकके लक्षण बतलाते हैं—'नाना' इत्यादिसे।

सर्वर्तुकुसुमाकीर्णं धारागोलकमन्दिरम् ।
भूयो भूयः पतद्वर्षभूरिस्वेदजलोत्करम् ॥ २५ ॥
पयोदपल्लवालोलनीलाम्बरकृतभ्रमम् ।
पूर्णसंशुद्धसप्ताब्धिरत्नौघवलयाकुलम् ॥ २६ ॥
यामपक्षदिनप्रेक्षाकटाक्षोद्भासिताम्बरम् ।
मज्जनोन्मज्जनव्यग्रकुलाद्रिकुलशेखरम् ॥ २७ ॥
भ्रमच्छशिमणिप्रोतगङ्गामुक्ताफलत्रयम् ।
संदृष्टादृष्टसंध्याभ्रविलोलकरपल्लवम् ॥ २८ ॥
अनारतरणल्लोललोकालङ्कारकोमलम् ।
भूरिभूतलपातालनभस्तलपदक्रमम् ॥ २९ ॥

वह नृत्य नाना प्रकारके करुणा आदि रस-विलासोंसे परिपूर्ण और विवर्त-रूप अभिनयसे समन्वित है। प्रलय-क्षणमें, जो कि उस नाट्यका उपसंहार-काल है, विद्युत्‌के आघातोंसे बजाये गये पुष्करावर्तनामक मेघ ही वाद्य-विशेषोंका कार्य करते हैं ॥ २४ ॥

समस्त ऋतुरूपी कुसुमोंसे व्याप्त उस नियतिका वह नाट्य वर्षा-धाराओंसे ब्रह्माण्ड-गोलकरूपी महानाट्य-शालामें प्रवृत्त होता है। बार-बार गिर रहे वर्षणसे जनित प्रचुर स्वेदरूपी जलराशिसे वह निरन्तर आकुल रहता है ॥ २५ ॥

मेघरूपी बड़े-बड़े किनारोंसे चंचल नील-आकाशरूपी वस्त्रोंसे दिन, रात्रि आदि अनेक तरहके वेष-भ्रम उसमें बनाये गये हैं और पूर्ण विशुद्ध सप्त-समुद्ररूप रत्न-समूहोंसे खचित कंकणोंसे उक्त नियति-नृत्य सदा ध्वनित होता रहता है ॥ २६ ॥

उस नृत्यमें आकाशमण्डल याम, पक्ष, दिन आदि प्रेक्षण-कटाक्षोंसे जगमगा रहा है। तिरोधान और उद्घाटन से व्यग्र कुलपर्वतरूप सिरके अग्रभागके भूषण उसमें शोभित होते हैं ॥ २७ ॥

घूम रहे चन्द्र और सूर्य से ग्रथित गङ्गारूपी मुक्ताफलोंके (मोतियोंके) तीन हारोंसे युक्त तथा स्पष्ट और अस्पष्ट संध्याकालीन अभ्ररूपी चंचल कर-पल्लवोंसे वह समुन्वित है ॥ २८ ॥

वह नृत्य निरन्तर शब्द कर रहे चंचल मनुष्य या चतुर्दश भुवनरूपी अलङ्कारोंसे अत्यन्त मञ्जुल लगता है। उसमें (नृत्यमें) नियति-नटीके चरण-विन्यासका स्थान यह विस्तीर्ण भूतल, पाताल और नभस्तल है ॥ २९ ॥

मग्नोन्मग्नमहानेकताराघर्मकणोत्करम् ।
चन्द्रार्ककुण्डलस्पन्दस्मितस्फुटनभोमुखम् ॥ ३० ॥
कल्पितानेकब्रह्माण्डकपाटकवितानकम् ।
लुठल्लोकान्तरव्यूहध्वनन्मुक्ताङ्कपल्लवम् ।
सुखदुःखदशादोषभावाभावरसान्तरम् ॥ ३१ ॥
अस्मिन् विकारवलिते नियतेर्विलासे
संसारनाम्नि चिरनाटकनाट्यसारे ।
साक्षी सदोदितवपुः परमेश्वरोऽय-
मेकः स्थितो न च तया न च तेन भिन्नः ॥ ३२ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
नियतिनृत्यं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

नियति-नृत्यमें उदित और अस्तमित महान् चमकीले तारे ही स्वेद-बिन्दुओंका समूह है । वहाँ चन्द्र और सूर्यरूपी कुण्डलोंके स्पन्दरूप हलकी मुसकानसे उस नटीका आकाशरूप मुखमण्डल झलक रहा है ॥ ३० ॥

उस नृत्यमें ब्रह्माण्डोंकी भित्तियाँ ही कपाटककी नाईं परदे बनाये गये हैं । असुरों द्वारा व्याकुल किये गये ऊपर-नीचेके लोकोंके समूह ही उस नृत्यकी नर्तकीके शब्द कर रहे मोतियोंसे गुथे हुए परिधानीय वस्त्रके भीतरी कपड़ोंके पल्ले हैं । उसमें सुख-दुःखकी आविर्भाव आदि दशा और उससे होनेवाले दोष ही स्थायिभाव, अनुभाव, विभाव, संचारिभाव और शृङ्गार आदि रसके भेद हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार नाटकका वर्णनकर उसे देखनेवाले परमात्माको, जो कि विचार करनेपर एकमात्र स्वयं ही अवशिष्ट रहता है, दिखलाते हैं—'अस्मिन्' इत्यादिसे ।

महर्षे, नाट्यशास्त्रमें प्रसिद्ध स्वेद, स्तंभ, रोमांच आदि विकारोंसे व्याप्त चिरकालसे प्रवृत्त हुए इस संसारनामक नाटकके नाट्योंमें सारभूत नियति-नटीके विलासमें अधिपति होकर देखनेवाला सदा उदितस्वभाव यह प्रत्यग्रूप परमेश्वर अद्वितीय ही होकर स्थित है । वह परमार्थतः उस नटी और नाट्य से भिन्न नहीं है ॥ ३२ ॥

सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त

अष्टात्रिंशः सर्गः

ईश्वर उवाच

एष देवः स परमः पूज्य एष सदा सताम् ।
चिन्मात्रमनुभूत्यात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ॥ १ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे स्थितः ।
शिवो हरो हरिर्ब्रह्मा शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ २ ॥
बहिरन्तश्च सर्वात्मा सदा स्वात्मा सुबुद्धिभिः ।
विविधेन क्रमेणैष भगवान् परिपूज्यते ॥ ३ ॥
बहिस्तावन्महाबुद्धे क्रमेण परिपूज्यते ।
येन तच्छृणु तत्त्वज्ञ श्रोष्यस्यन्तःक्रमं ततः ॥ ४ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग

[अनन्त चिन्मात्रस्वरूप महादेवजीका बाह्य ध्यानसे पूजन और ज्ञानसे महापुण्यात्मक मुक्तिरूप फल—इसका वर्णन]

श्रीमहेश्वरने कहा—महर्षे, नियतिके नाटकका साक्षीभूत यह चिदात्मा ही सबसे बड़ा देव है, यही देव सदा साधुजनोंके पूजनयोग्य है । यही समस्त वस्तुओंका आश्रय, सर्वव्यापी, चिन्मात्ररूप तथा अनुभवात्मक है ॥ १ ॥

आगे कही जानेवाली रीतिसे किये गये उसके पूजनमें सम्पूर्ण देवताओंका पूजन अन्तर्भूत हो जाता है, इस आशयसे उसकी सर्वरूपता बतलाते हैं—'घटे' इत्यादिसे ।

यही देव घड़ेमें, कपड़ेमें, वटमें, भित्तिमें, शकटमें और वानरमें स्थित है । यही परम देव शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, और यम स्वरूप है ॥ २ ॥

सबके स्वरूप भूत, छः प्रकारके ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण इसी अपने आत्मदेवकी आगे कहे जानेवाले बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकारोंसे तत्त्वज्ञों द्वारा निरन्तर पूजा की जाती है ॥ ३ ॥

हे महाबुद्धे, जिस बाह्य क्रमसे इस आत्मदेवका पूजन किया जाता है, उसे पहले सुनो । और तदनन्तर हे तत्त्वज्ञ, तुम पूजनका आभ्यन्तर क्रम सुनोगे ॥ ४ ॥

पूजाक्रमेषु सर्वेषु देहगेहं पवित्रकम् ।
त्याज्यं देहावबोधात्म परं यत्नात् पवित्रकम् ॥ ५ ॥
पूजनं ध्यानमेवाऽन्तर्नाऽन्यदस्त्यस्य पूजनम् ।
तस्मात्त्रिभुवनाधारं नित्यं ध्यानेन पूजयेत् ॥ ६ ॥
चिद्रूपं सूर्यलक्षाभं समस्ताभासभासनम् ।
अन्तस्थचित्प्रकाशं स्वमहन्तासारमाश्रयेत् ॥ ७ ॥
अपारपरमाकाशविपुलाभोगकन्धरम् ।
अनन्ताधस्तनाकाशकोशपादसरोरुहम् ॥ ८ ॥
अनन्तदिक्तटाभोगभुजमण्डलमण्डितम् ।
नानाविधमहालोकगृहीतपरमायुधम् ॥ ९ ॥

महर्षे, पूजनके जितने क्रम हैं, उन सबमें पहले शास्त्रोक्त संस्कार एवं स्नान, आचमन आदिसे पवित्र हुआ भी यह देहरूप घर प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए और देहके साक्षी चित्प्रकाशस्वरूपका, जो परम पवित्र है, प्रयत्नपूर्वक परिशोधन कर ग्रहण करना चाहिए ॥ ५ ॥

हे महर्षे, भीतरका ध्यान ही इस आत्मदेवकी पूजा है यानी ध्यान ही पूजाकी सामग्री और स्वयं पूजन-क्रिया है, इसके सिवा दूसरी कोई भी वस्तु इसकी पूजनसामग्री या पूजा नहीं है, इसलिए तीनों भुवनोंके आधारभूत इस आत्मदेवकी ध्यानसे निरन्तर पूजा करनी चाहिए ॥ ६ ॥

चिद्रूप, लाखों सूर्योंके समान देदीप्यमान, सूर्य आदि समस्त प्रकाशक तेजों एवं बुद्धिवृत्तियों के अवभासक, अहम्भावके सारभूत स्व-स्वरूप यानी अहम्भावके परित्यागसे अवशिष्ट विशुद्ध आत्मस्वरूप तथा सबसे परे विद्यमान चित्प्रकाशका आश्रयण करना चाहिए ॥ ७ ॥

इस नियति-नाटकके साक्षी परमात्माका इतना बड़ा स्वरूप है कि— असीम सबसे बड़े आकाशका जो विपुल विस्तार है, वह उसका कण्ठप्रदेश है; असीम नीचेके आकाशका जो विस्तार है, वह तो उसका चरणसरोज है ॥ ८ ॥

सीमाशून्य दिशाओंके किनारोंका यह जो विस्तार है, वही उसका भुजमण्डल है और उसीसे वह राजित है; उन हाथोंमें उसने विविध ब्रह्माण्डोंमें विद्यमान बड़े-बड़े सत्य आदि लोकरूप श्रेष्ठ आयुधोंका ग्रहण किया है ॥ ९ ॥

हृत्कोशकोणविश्रान्तब्रह्माण्डौघपरम्परम् ।
प्रकाशपरमाकाशपारगापारविग्रहम् ॥ १० ॥
अध ऊर्ध्वं चतुर्दिक्षु विदिक्षु च निरन्तरम् ।
ब्रह्मेन्द्रहरिरुद्रेशप्रमुखामरमण्डितम् ।
इमां भूतश्रियं तस्य रोमालिं प्रविचिन्तयेत् ॥ ११ ॥
विविधारम्भकारिण्यस्त्रिजगद्यन्त्ररज्जवः ।
इच्छाद्याः शक्तयस्तस्य चिन्तनीयाः शरीरगाः ॥ १२ ॥
एष देवः स परमः पूज्य एष सदा सताम् ।
चिन्मात्रमनुभूत्यात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ॥ १३ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे स्थितः ।
शिवो हरो हरिर्ब्रह्मा शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ १४ ॥
अनन्तैकपदाधारसत्तामात्रैकविग्रहः ।
विवर्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः ॥ १५ ॥

उसके हृदय-कोशके एक कोनेमें ब्रह्माण्ड-समूहोंकी पंक्तियोंकी पंक्तियाँ छिपी हुई हैं; वह प्रकाशस्वरूप एवं तमसे परे है और उसके स्वरूपका कहीं पार भी नहीं पाया जा सकता ॥ १० ॥

वह नीचे-ऊपर, चारों दिशाओं एवं उपदिशाओं में ब्रह्मा, इन्द्र, हरि, हर, आदि प्रमुख देवस्वामियोंसे निरन्तर परिवृत है। महर्षे, उस असीम आत्मचैतन्यकी यह चतुर्विध भूतोंकी शोभा एक तरहकी रोम-राजियाँ हैं, यों जानना चाहिए ॥११॥

इस जगत्-त्रयमें विभिन्न-विभिन्न प्रकारके पदार्थोंका निर्माण करनेके लिए विनिर्मित यन्त्ररज्जुओंकी-सी ये इच्छा आदि शक्तियाँ उसके शरीरमें रहनेवाली नाडियाँ हैं, यों जानना चाहिए ॥ १२ ॥

नियतिके नाटकका साक्षीभूत यह चिदात्मा ही वह परम देव है। यही समस्त पदार्थोंका आश्रय, सर्वव्यापक अनुभवात्मक और चैतन्यमात्रस्वरूप है। चिदात्मा ही सज्जनों द्वारा सर्वदा पूजनीय है ॥ १३ ॥

वही देव घटमें, पटमें, वटमें, भित्तिमें, शकटमें और वानरमें स्थित है। यही परमदेव शिव, हर, हरि, ब्रह्मदेव, इन्द्र, कुबेर और यम स्वरूप है ॥ १४ ॥

अनेकविध घट, पट, आदि आकृतियोंको लेकर असंख्य पदोंसे बोधित होनेवाली तथा उन आकृतियोंको छोड़कर एक पदसे ('अस्ति'पदसे)

सशैलभुवनाभोगमिदं ब्रह्माण्डमण्डलम् ।
देहकोणेऽस्य कस्मिंश्चित् स्वाङ्गावयवतां गतम् ॥ १६ ॥
विचिन्तयेन्महादेवं सहस्रश्रवणेक्षणम् ।
सहस्रशिरसं शान्तं सहस्रभुजभूषणम् ॥ १७ ॥
सर्वत्रेक्षणशक्त्याढ्यं सर्वतो घ्राणशक्तिकम् ।
सर्वतः स्पर्शनमयं सर्वतो रसनान्वितम् ॥ १८ ॥
सर्वत्र श्रवणाकीर्णं सर्वत्र मननान्वितम् ।
सर्वतो मननातीतं सर्वतः परमं शिवम् ॥ १९ ॥

बोधित होनेवाली सत्तारूप एकमात्र देहसे युक्त, इस जगज्जालका उत्पादक महाकाल इस आत्मदेवका द्वारपाल है यानी अविशुद्धि-दशामें आत्माके अन्दर प्रवेश करते समय मनको रोक देनेवाला और विशुद्धि-दशामें प्रवेश करते समय अनुकूल रहनेवाला एक तरहसे द्वाररक्षक है ॥ १५ ॥

पर्वतों एवं चौदह भुवनों के असीम विस्तारसे युक्त यह ब्रह्माण्ड-मण्डल इस आत्मदेवके किसी एक देहकोणमें स्थित होकर उसके अङ्गमें अवयवरूप हो गया है यानी उसका एकदेश हो गया है ॥ १६ ॥

अथवा सभी प्राणियोंके जो कान, आँख, मस्तक, हाथ आदि अवयव हैं, वे सब इस आत्मदेवके ही हैं—यों इसके विश्वरूपका चिन्तन करना चाहिए, यह कहते हैं—'विचिन्तयेत्' इत्यादिसे ।

महर्षे, जिसे हजारों कान एवं आँखें हैं, हजारों मस्तक हैं और जो [स्वयं] हजारों भुजाओंसे विभूषित है, ऐसे शान्तस्वभाव महादेवजीका चिन्तन करना चाहिए ॥ १७ ॥

जो सभी जगह दर्शन-शक्तिसे परिपूर्ण है यानी सर्वत्र देखता है; जो चारों ओर घ्राण-शक्तिसे समन्वित है; जो सर्वतः स्पर्शन-शक्तिसे युक्त है, जो चारों ओर रसना-शक्तिसे परिपूर्ण है, जो सर्वत्र श्रवण-शक्तिसे व्याप्त है, जो सर्वत्र मनन-शक्तिवाला है, जो सर्वथा मननसे अतीत है और जो सभी ओर सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्वरूप है, उस आत्मदेवका चिन्तन करना चाहिए ।

सर्वदा सर्वकर्तारं सर्वसङ्कल्पितार्थदम् ।
सर्वभूतान्तरावस्थं सर्वं सर्वैकसाधनम् ॥ २० ॥
इति संचिन्त्य देवेशमर्चयेद्विधिवत्ततः ।
विधानमर्चनस्येदं श्रृणु ब्रह्मविदां वर ॥ २१ ॥
स्वसंविदात्मा देवोऽयं नोपहारेण पूज्यते ।
न दीपेन न धूपेन न पुष्पविभवार्पणैः ॥ २२ ॥
नाऽन्नदानादिदानेन न चन्दनविलेपनैः ।
न च कुङ्कुमकर्पूरभोगैश्चित्रैर्न चेतरैः ॥ २३ ॥
नित्यमक्लेशलभ्येन शीतलेनाऽविनाशिना ।
एकेनैवाऽमृतेनैष बोधेन स्वेन पूज्यते ॥ २४ ॥

इस प्रकार विश्वरूपसे चिन्तन करनेपर भी वास्तवमें वह (आत्मदेव) असङ्ग एवं अद्वितीय ही है, यह भूल नहीं जाना चाहिए—यह 'सर्वतो मननातीतम्' से प्रकृतमें कहा गया है ॥ १८, १९ ॥

निरन्तर समस्त पदार्थोंके कर्ता, सबको अपने-अपने सङ्कल्पोंके अनुसार समस्त पदार्थोंका प्रदान करनेवाले, सब भूतोंके भीतर रहनेवाले और सभीके एकमात्र साधन अर्थात् सत्तास्फूर्ति प्रदान करनेवाले सर्वस्वरूप उस आत्मदेवका चिन्तन करना चाहिए ॥ २० ॥

उक्त प्रकारसे ध्यानकर तदनन्तर उस देवाधिदेवकी विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिए। हे ब्रह्मज्ञोंमें श्रेष्ठ महर्षे, अब मेरे द्वारा वक्ष्यमाण उस देवकी पूजाका यह विधान तुम [सावधान होकर] सुनो ॥ २१ ॥

महर्षे, स्वानुभवस्वरूप इस आत्मचैतन्यका पूजन न गन्ध आदिके उपहारसे, न दीपसे, न धूपसे और न तो फूल एवं धन के समर्पणसे ही हो सकता है ॥ २२ ॥

न तो अन्नदान आदि दानोंसे, न चन्दनके विलेपनोंसे, न कुंकुम, कर्पूर एवं नैवेद्यों से और न इतर यानी छत्र, चँवर, दर्पण आदिके समर्पणसे ही इस देवकी पूजा की जा सकती है ॥ २३ ॥

महर्षे, किसी भी प्रकारके कष्टके बिना प्राप्त होने योग्य शीतल, अविनाशी अमृतस्वरूप एकमात्र स्वरूपके बोधसे यानी साक्षात्कारात्मक अखण्डवृत्तिके

एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता ।
यदनारतमन्तःस्थशुद्धचिन्मात्रवेदनम् ॥ २५ ॥
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् शुद्धसंविन्मयो भवेत् ॥ २६ ॥
ध्यानामृतेन संपूज्य स्वयमात्मानमीश्वरम् ।
परमास्वादयुक्तेन मुक्तेन कुसुमेहितैः ॥ २७ ॥

प्रवाहमें प्रतिबिम्बित स्वात्मस्वरूपबोधसे ही सदा इस देवकी पूजा की जा सकती है ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त चिन्तन भी इसी बोधका एक अङ्ग है, अतः यही पूजा सर्वपूजाओंमें प्रधान है, इस आशयसे कहते हैं—'एतदेव' इत्यादिसे ।

जो यह हृदयप्रदेशमें स्थित शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप आत्माका अविच्छिन्न संवेदन है, यही सब ध्यानोंमें श्रेष्ठ ध्यान है और यही सब पूजाओंमें प्रधान पूजा कही गई है ॥ २५ ॥

इस पूजाके लिए कालविशेषका नियम नहीं है, इसलिए वह सर्वदा ही अनुष्ठानयोग्य है, यह कहते हैं—'पश्यन्' इत्यादिसे ।

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, जाते, सोते, श्वास-प्रश्वास लेते, बोलते, मलादि छोड़ते और इष्टका ग्रहण करते किसी भी समय पुरुषको शुद्ध-संविदात्मक आत्माके ध्यानमें ही तत्पर रहना चाहिए ॥ २६ ॥

उत्कृष्ट आस्वादसे युक्त *तथा कुसुमसमर्पण आदि बाह्य-चेष्टाओंसे निर्मुक्त ध्यान-रूप अमृतसे ईश्वरस्वरूप अपने इस आत्मदेवकी स्वयं ही पूजा करके शुद्धचैतन्यात्मक हो जाना चाहिए ॥ २७ ॥

---

* यहाँ 'परमास्वादयुक्तेन' यह जो कहा गया है, उसका भाव यह है कि मनुष्य द्वारा भगवान्‌को जो फल आदि लौकिक विषयोंका समर्पण है, वह साक्षात् अविच्छिन्न सुखका समर्पण नहीं है, किन्तु परम्परया कुछ थोड़ा-सा उसका सुख अभिव्यक्त होता है । जैसे मुट्ठीभर धान देनेसे क्षुधा-पीड़ितकी पूरी तरहसे क्षुधा निवृत्त नहीं होती, किन्तु कुछ थोड़ी-सी उसे प्रसन्नता होती है, वैसे ही उक्त पूजा भी भगवान्‌को पर्याप्तरूपसे प्रसन्न नहीं कर सकती । और यह पूजन तो—जो कि प्रत्यगात्माके स्वयं ही शोधनसे उसमें निरतिशय आनन्दस्वरूपताका आविर्भाव कर नित्य, निरतिशय आनन्दैकरस रूपके साथ परम शिवको उसे समर्पण करनारूप है—परम आस्वादयुक्त है । अतः वही पूजन उस देवके लिए अनुरूप पूजन कहा गया है, न कि पुष्प आदि ।

ध्यानोपहार एवाऽऽत्मा ध्यानं ह्यस्य समीहितम् ।
ध्यानमर्घ्यं च पाद्यं च शुद्धसंवेदनात्मकम् ॥ २८ ॥
ध्यानसंवेदनं पुष्पं सर्वं ध्यानपरं विदुः ।
विना तेनेतरेणाऽयमात्मा लभ्यत एव नो ॥ २९ ॥
ध्यानात् प्रसादमायाति सर्वभोगसुखश्रियः ।
अयमात्मा मुने भुङ्क्ते देहरूपो गृहे यथा ॥ ३० ॥
ध्यानेनाऽनेन सुमते निमेषांस्तु त्रयोदश ।
मूढोऽपि पूजयित्वेशं गोप्रदानफलं लभेत् ॥ ३१ ॥
पूजयित्वा निमेषाणां शतमेकमिति प्रभुम् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥ ३२ ॥

चूँकि, इस आत्मदेवके लिए शुद्धसंवेदनरूप ध्यान ही प्रियतम वस्तु है, अतः ध्यान ही उसके लिए उपहार है। उक्त ध्यान ही उसका अर्घ्य और पाद्य है ॥२८॥

ध्यानसे अभिव्यक्त हुआ चैतन्य ही पुष्प-प्रयोजनस्वरूप होनेसे पुष्प है, पूजाके अन्यान्य सम्पूर्ण उपचार ध्यानके पीछे हैं यानी ध्यानकी बराबरी नहीं कर सकते, ऐसा मुनिलोग कहते हैं। अतः ध्यानको छोड़कर और किसी भी दूसरे उपायसे यह आत्मदेव प्राप्त ही नहीं किया जा सकता ॥ २९ ॥

हे मुने, यह आत्मदेव ध्यानसे ही अपने स्वरूपकी अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। और तदनन्तर वह मनुष्यसे लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त सभी जीवोंके विषयसुखकी सम्पत्तियोंका उस प्रकार उपभोग करता है, जिस प्रकार देहाभिमानी अपने घरमें उक्त सम्पत्तियोंका उपभोग करता है [देहाभिमानीको भी विषयसम्बन्धसे जनित वृत्तिमें अभिव्यक्त आत्मसुखका ही अनुभव होता है, क्योंकि ब्रह्मात्मसुखमें सभी सुख अन्तर्भूत हो जाते हैं।] ॥ ३० ॥

अब तत्त्व-साक्षात्कारके अभावकालमें एकमात्र पूर्वोक्त ध्यानसे भी उसके उत्कर्षानुसार फलमें उत्कर्ष होता है, यह बतलाते हैं—'ध्यानेना०' इत्यादिसे।

हे सुमते, यदि अतत्त्वज्ञ भी पुरुष तेरह निमेषपर्यन्त इस ध्यानसे आत्मदेवकी पूजा करे, तो वह एक गो-दान करनेका फल प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

एक सौ निमेषपर्यन्त इस प्रकार (इस ध्यानसे) देवकी पूजाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

पूजयित्वा स्वमात्मानं घटिकार्धमिति प्रभुम् ।
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।। ३३ ।।
ध्यानबल्युपहारेण स्वयमात्मानमात्मना ।
घटिकां पूजयेद्यस्तु राजसूयं लभेत सः ।। ३४ ।।

उक्त प्रकारसे आधी घड़ीपर्यन्त इस अपने आत्मरूप ईश्वरकी पूजाकर मनुष्य हजार अश्वमेधयज्ञोंका फल प्राप्त करता है ।। ३३ ।।

ध्यानरूप बलिके उपहारसे स्व-स्वरूप अपनी आत्माकी अपने-आप एक घड़ीभर जो पूजा करता है, वह राजसूययज्ञका * फल प्राप्त करता है ।। ३४ ।।

* शङ्का हो कि आधी घड़ी ध्यान करनेसे यदि हजार अश्वमेधका फल होता है, तो एक घड़ी ध्यान करनेपर उससे अधिक फल बतलाना चाहिए। ऐसी स्थितिमें एक घड़ी ध्यानका राजसूयफल कहना कैसे युक्तिसंगत होगा ? क्योंकि अश्वमेधफलकी अपेक्षा राजसूयका फल कभी भी अधिक नहीं है। बृहदारण्यकके भुज्युप्रश्नमें (३ । ३ । २) 'क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकः' (अश्वमेधयज्ञ करनेवाले यजमान कहाँ जाते हैं ? [इस प्रकार भुज्युके प्रश्न करनेपर उनकी गति बतलानेकी इच्छासे महर्षि याज्ञवल्क्य भुवन-कोशका परिमाण बतलाते हैं] यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य—सूर्यरथके अहोरात्र निरवच्छिन्न गमनसे जितना देश नापा जा सकता है, वह एक देवरथाह्न्य है, उसके बत्तीस गुने—परिमाणका है) इत्यादि श्रुतिसे पृथिवी, समुद्र आदिका परिमाण बतलाकर उसके बाद 'तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशः' (व्यवहारमें छुरेका अग्रभाग जितने परिमाणका होता है अथवा मक्खीका पंख जितने परिमाणका होता है, उतने ही परिमाणका ब्रह्माण्डके कपालोंकी सन्धिमें अवकाश है) इस श्रुतिसे ब्रह्माण्डके दो कपालोंकी संधि बतलाकर 'तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि स्थित्वा तत्रागमयद्यत्राऽश्वमेधयाजिनोऽभवन्' (उन अश्वमेधयाजियोंको इन्द्ररूप परमेश्वरने पक्षीका रूप धारणकर वायुको समर्पित किया। पश्चात् वायुने उन्हें स्वात्मस्वरूप बनाकर वहाँ पहुँचाया, जहाँ पहलेके अश्वमेधयाजी थे) इत्यादि श्रुतिसे अश्वमेधयाजियोंको सूक्ष्म ब्रह्माण्डकपालकी संधिसे वायुने बाहर निकालकर समस्त कर्म-फलोंके उत्कर्षसे युक्त श्रेष्ठ स्थानमें प्राप्ति कराई है, यह विरोध हो गया। इसी प्रकार 'ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोः' (ब्रह्महत्यासे बढ़कर कोई पाप नहीं और अश्वमेधसे बढ़कर कोई पुण्य नहीं है) यह भी प्रसिद्ध है। पूर्वरामायणके इलोपाख्यानमें श्रीरामजीने 'नाऽश्वमेधात् परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः' (अश्वमेधसे बढ़कर कोई दूसरा यज्ञ नहीं है और महात्माओंको भी उसे छोड़ दूसरा कोई यज्ञ प्रिय नहीं है) यह जो कहा है, उससे भी विरोध होगा। इसी प्रकार शारीरकभाष्यमें भगवान् भाष्यकारने 'इतरकर्मिणां धूमादिमार्गेण चन्द्रमण्डलप्राप्तिरेव, अश्वमेधयाजिन एकस्य त्वर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकावाप्तिः' इत्यादि सिद्धान्त किया है। अतः यह सिद्ध हुआ कि राजसूयकी अपेक्षा अश्वमेधका

मध्याह्नपूजनादित्थं राजसूयैकलक्षभाक् ।
दिवसं पूजयित्वैवं परे धाम्नि वसेन्नरः ॥ ३५ ॥
एषोऽसौ परमो योग एषा सा परमा क्रिया ।
बाह्यसंपूजनं प्रोक्तमेतदुत्तममात्मनः ॥ ३६ ॥
एतत् पवित्रमखिलाघविघातहेतुं
यस्त्वाचरिष्यति नरः क्षणमप्यखिन्नः ।
तं वन्दयिष्यति सुरासुरलोकपूगः
प्राप्तास्पदं जगति मामिव मुक्तमात्मन् ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे बाह्यपूजनं नामाऽष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार मध्याह्नकालतक पूजन करनेसे एकलक्ष राजसूय यज्ञोंका फल प्राप्त होता है । और इसी प्रकार दिनभर पूजन करनेसे तो मनुष्य परम धाममें वास करता है [क्योंकि चिरकालतक एकाग्रता होनेपर ज्ञानका उदय अवश्य ही होगा ।] ॥ ३५ ॥

महर्षे, जो यह आत्मदेवका उत्तम बाह्यपूजन मैंने तुमसे कहा है, यही परम योग है, यही वह परम (उत्तम) कर्म है ॥ ३६ ॥

उक्त बाह्य-पूजाकी प्रशंसा कर रहे भगवान् शङ्कर उपसंहार करते हैं— 'एतत्' इत्यादिसे ।

फल अधिक है । तो उसपर यही समाधान किया जा सकता है कि बादमें कहे गये फलसे पूर्वमें कहे गये फलका बाध नहीं होता । इसलिए उपर्युक्त सभी वचनोंकी सङ्गति लग सकती है । सारांश यह है कि जहाँ आधी घड़ी पूजनसे हजार अश्वमेध यज्ञोंका फल होता है, वहाँ एक घड़ीभर पूजन करनेसे उससे दुगुना यानी दो हजार अश्वमेधोंका फल तो प्राप्त ही है । और वहाँ राजसूयका स्वाराज्य-प्राप्तिरूप फल यदि कहा गया हो, तो वह इतर अश्वमेध-याजियोंके ऊपर स्वाराज्य-प्राप्तिमें पर्यवसित होता है । उससे तो जैसे प्रजाओंसे राजाको भोग अधिक प्राप्त होता है, वैसे ही घटिकापूजकका भोगोत्कर्ष ही सिद्ध होता है । इसपर शङ्का हो कि यहाँ 'तक्रकौण्डिन्य' न्यायका आश्रयण करेंगे तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वाक्य व्यर्थ हो जायगा । ऐसी परिस्थितिमें महाभाष्यमें कहा है कि निश्चय ही संभव न होनेपर सामान्यका विशेषसे बाध होता है और यदि संभव हो तो दोनों ही होंगे— 'असति खल्वपि संभवे बाधनं भवति अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्' । यहाँपर 'अपच्छेदाधिकरण' न्यायका भी अवसर नहीं हो सकता, अदक्षिणत्व और सर्ववेदसदक्षिणत्व की तरह ब्रह्मलोक और वहाँका स्वाराज्य इन दो फलोंमें परस्पर विरोध नहीं है, यही विशेष सूचित करनेके लिए प्रस्तुत श्लोकमें 'त' शब्द दिया गया है ।

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

ईश्वर उवाच

पावनं पावनानां यद्यत्सर्वतमसां क्षयः ।
तदिदानीं प्रवक्ष्येऽहमन्तःपूजनमात्मनः ॥ १ ॥
गच्छतस्तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतोऽपि च ।
सर्वाचारगता पूजा नित्यं ध्यानात्मिका त्वियम् ॥ २ ॥
नित्यमेव शरीरस्थमिमं ध्यायेत् परं शिवम् ।
सर्वप्रत्ययकर्तारं स्वयमात्मानमात्मना ॥ ३ ॥

हे आत्मरूप, समस्त पापोंके विनाशमें हेतुभूत एवं पवित्र यह उक्त प्रकारका ध्यानरूप पूजन जो कोई मनुष्य विक्षेप और खेद से रहित होकर एकक्षण भी करेगा, क्रमशः समस्त बन्धनोंसे निर्मुक्त होकर ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त हुए उसकी जगत्में सुर एवं असुर लोगोंका समूह—जैसी मेरी वन्दना करता है वैसी ही—वन्दना यानी अभिवादन, स्तुति आदिसे पूजा करेगा ॥ ३७ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उन्तालीसवाँ सर्ग

[प्राप्त हुए शब्द आदि विषयोंसे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके प्रकाशक प्रत्यगात्मस्वरूप शिवकी अन्तःपूजाका वर्णन]

ईश्वरने कहा—महर्षे, जो पवित्र करनेवालोंको भी पवित्र करनेवाला है तथा जो सम्पूर्ण अज्ञानोंका नाश करनेवाला है, आत्मदेवका वह अन्तः-पूजन अब मैं आपसे कहता हूँ ॥ १ ॥

यह पूजा भी ध्यानात्मिका ही है और जा रहे, बैठ रहे, जाग रहे तथा सो रहे पुरुषके सभी व्यवहारोंमें सर्वदा अनुगत है ॥ २ ॥

शरीरमें स्थित, सन्निधिमात्रसे समस्त ज्ञानोंके उत्पादक एवं बोधक परम-कल्याणस्वरूप इस आत्मदेवका अपने अन्तःकरणसे नित्य ही ध्यान करना चाहिए ॥ ३ ॥

शयानमुत्थितं चैव व्रजन्तमथवा स्थितम् ।
स्पृशन्तमभितः स्पृश्यं त्यजन्तमथवाऽभितः ॥ ४ ॥
भुञ्जानं संत्यजन्तं च भोगानाभोगपीवरान् ।
बाह्यार्थपरिकर्तारं सर्वकार्यस्वरूपदम् ॥ ५ ॥
देहलिङ्गेषु शान्तस्थं त्यक्तलिङ्गान्तरादिकम् ।
यथाप्राप्तार्थसंवित्त्या बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥ ६ ॥
प्रवाहपतितार्थस्थः स्वबोधस्नानशुद्धिमान् ।
नित्यावबोधार्हणया बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥ ७ ॥
आदित्यभावनाभोगभाविताम्बरभास्वरम् ।
शशाङ्कभावनाभोगभावितेन्दुतयोदितम् ॥ ८ ॥

सो रहे अथवा जागे हुए, जा रहे अथवा बैठे हुए और चारों ओर स्पर्श आदि विषयोंका उपभोग कर रहे अथवा उद्वेगके कारण उन्हें छोड़ रहे; विपुलता और जड़ता से पूर्ण भोगोंका उपभोग कर रहे या उनका त्याग कर रहे, अपने अध्यारोप द्वारा जाग्रत् आदि विषयोंका निर्माण करनेवाले, समस्त कार्योंमें अपनी सत्ता देनेवाले और देहस्वरूप * लिङ्गोंमें—मिट्टी, लकड़ी, शिला आदिरूप विभिन्न लिङ्गान्तर आदि अन्य स्वरूपोंका परित्याग कर—विक्षेपरहित स्वरूपसे अवस्थित हुए चैतन्यस्वरूप लिङ्गकी प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुई अर्थज्ञानरूप सामग्रीसे पूजा करे ॥ ४-६ ॥

प्रारब्धके प्रवाहसे प्राप्त हुए अर्थोंमें (भोगोंमें) स्थित, अशुद्धिके प्राप्त होनेपर भी बार-बार असङ्ग एवं विशुद्ध अपने ज्ञानस्वरूप स्नानसे प्राप्त शुद्धिसे युक्त होकर पुरुष निरन्तर ज्ञानरूप पूजासामग्रीसे बोधात्मक लिङ्गकी पूजा करे ॥ ७ ॥

उस प्रकारके पूजनमें यदि मन अन्धकारमें डूबता हो, तो बाहर एवं भीतर सारे आकाशमें व्याप्त अखण्डित और अद्वितीय आदित्यमण्डलकी अपनेमें भावना कर लेनी चाहिए और यदि सन्तापमें वह (मन) डूबता हो, तो सम्पूर्ण आकाश-मण्डलमें उदित अखण्डित तादृश चन्द्रमण्डलकी अपनेमें भावना कर लेनी चाहिए, यह कहते हैं—'आदित्य०' इत्यादिसे ।

* पद्मासन आदि आसन लगाकर स्थित हुई तथा सामने हाथ फैलाकर बद्धाञ्जलि हुई यह देह शिवलिङ्गके आकारकी हो जाती है, यह प्रसिद्ध है ।

प्रतिभासपदार्थौघनित्यावगतसंविदम् ।
द्वारैर्वहन्तं शारीरैर्मुखे प्राणस्वरूपिणम् ॥ ९ ॥
रसीकृत्य रसं प्राणस्वान्तोदात्ततुरङ्गमम् ।
प्राणापानरथारूढं गूढमन्तर्गुहाशयम् ॥ १० ॥
ज्ञातारं ज्ञेयदृष्टीनां कर्तारं सर्वकर्मणाम् ।
भोक्तारं सर्वभोज्यानां स्मर्तारं सर्वसंविदाम् ॥ ११ ॥
सम्यक्संविदिताङ्गौघं भावाभावनभावितम् ।
आभासभास्वरं भूरि सर्वगं चिन्तयेच्छिवम् ॥ १२ ॥

अपनेमें आदित्यमण्डलकी भावना करनेके कारण कल्पित विस्तारसे यानी विस्तृत अपने अवयवसंस्थानसे परिपूर्ण हृदय और बाह्य आकाशमें देदीप्यमान, चन्द्रमण्डलकी अपनेमें भावना करनेके कारण कल्पित विस्तृत अपने अवयव-संस्थानसे परिपूर्ण उक्त आकाशमें चन्द्ररूपसे उदित हुए, बाह्य एवं आभ्यन्तर बुद्धिवृत्तिरूपी प्रतिभासों और उनसे प्रतिभासित हुए पदार्थसमूहों में अनुस्यूतरूपसे निरन्तर अनुभूत हो रहे संविदात्मक ज्ञानरूप, शरीरके मुख आदि द्वारोंसे बाहर विषय-प्रदेशोंमें अपने आभासोंको प्राप्त करानेवाले, मुखमें प्राणस्वरूप, शब्द आदि विषयोंको अपने आनन्दरूपी रससे ही मधुर बनाकर मानो स्वाद ले रहे, प्राण एवं मन रूपी दो उत्कृष्ट घोड़ोंसे युक्त, प्राण एवं अपानरूपी रथपर आरूढ़, अन्दरसे अत्यन्त गूढ़, हृदयरूपी गुहामें अवस्थित, ज्ञातव्य ज्ञानोंके ज्ञाता, सम्पूर्ण कर्मोंके कर्ता, सम्पूर्ण भोज्य पदार्थोंके भोक्ता और समस्त ज्ञानोंके स्मर्ता परम शिवका—जिसने कि 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥' * भगवान् द्वारा कही गई इस रीतिसे सम्पूर्ण अङ्ग-समूहोंका भली प्रकार ज्ञान कर लिया है, जो विषयोंकी भावना और अभावना से लक्षित है, सम्पूर्ण प्रकाशोंसे भी अधिक प्रकाशरूप है तथा सर्वव्यापी है—ध्यान करे ॥ ८-१२ ॥

---

* जैसे एक होता हुआ भी यह सूर्य सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करता है, वैसे ही महाभूतोंसे लेकर धृतिपर्यन्त कहे गये सभी क्षेत्रोंको एक होता हुआ भी यह क्षेत्री परमात्मा प्रकाशित करता है। (गीता १३।३३)

निष्कलं सकलञ्चैव देहस्थं व्योमचारिणम् ।
अरञ्जितं रञ्जितं च नित्यमङ्गाङ्गसंविदम् ॥ १३ ॥
मनोमननशक्तिस्थं प्राणापानान्तरोदितम् ।
हृत्कण्ठतालुमध्यस्थं भ्रूनासापुटपीठगम् ॥ १४ ॥
षट्त्रिंशत्पदकोटिस्थमुन्मन्यन्तदशातिगम् ।
कुर्वन्तमन्तःशब्दादींश्चोदयन्तं मनःखगम् ॥ १५ ॥
विकल्पिन्यविकल्पे च द्विविधे वाक्पथे स्थितम् ।
तिले तैलमिवाऽङ्गेषु सर्वेष्वेवाऽऽन्तरं स्थितम् ॥ १६ ॥

निष्कर्ष निकालनेपर यानी परमार्थतः कलाशून्य और व्यवहारतः कलासे युक्त, देह-स्थित, हृदयाकाशमें विचरणशील, परमार्थतः रागशून्य और व्यवहारतः सराग तथा निरन्तर अङ्ग-प्रत्यङ्गव्यापी बोधस्वरूप [इस बोधलिङ्गात्मक परम-शिवकी पूजा करे, यों १२ वें श्लोककी क्रियाके साथ १९ तकके सभी श्लोकोंका अन्वय समझना चाहिए] ॥ १३ ॥

उसीका विवरण करते हैं—**'मनो०'** इत्यादिसे ।

जो मनकी मननात्मिका शक्तिमें अवस्थित है ; प्राण एवं अपान के मध्यमें उदित है; हृदय, कण्ठ और तालु के मध्यमें अवस्थित है अर्थात् मर्मस्थान होनेके कारण वहाँ विशेषरूपसे अभिव्यक्त होता है तथा भौं और नाक के अग्रभागरूप पीठपर आसीन है यानी वहाँपर उपास्य है [उस बोधरूप लिङ्गकी उपासना करनी चाहिए] ॥ १४ ॥

जो शैवशास्त्रमें प्रसिद्ध छत्तीस तत्त्वोंके चरमस्थानमें यानी अन्तिम कोटिमें स्थित है; काली, रौद्री, कलविकरणी आदि शक्तियोंके विभागमें मनोन्मनी-नामक शक्तिकी अन्तदशाको भी जो लाँघ गया है, अथवा शिवयोगमें प्रसिद्ध सबीज समाधिरूप उन्मन्यन्त-दशाको जो पार कर गया है यानी जो निर्बीज समाधिरूप है; जो भीतर शब्द आदि विषयोंको उत्पन्न करता है और मनरूपी पक्षीको प्रेरित कर रहा है [उस बोधरूप लिङ्गकी उपासना करनी चाहिए] ॥ १५ ॥

जो व्यवहाररूप विकल्पदशामें वाच्यरूप तथा निर्बीज समाधि और मोक्षदशामें लक्ष्यरूप—यों दो प्रकारके शब्दमार्गोंमें स्थित है एवं जो तिलमें तेलकी नाईं सभी अङ्गोंके अन्दर अवस्थित है [उस बोधात्मक लिङ्गकी उपासना करनी चाहिए] ॥ १६ ॥

कलाकलङ्करहितं कठिनं च कलागणैः ।
एकदेशे सुहृत्पद्मे सर्वदेहे च संस्थितम् ॥ १७ ॥
चिन्मात्रममलाभासं कलाकलनकल्पनम् ।
प्रत्यक्षदृश्यं सर्वत्र स्वानुभूतिमयात्मकम् ॥ १८ ॥
प्रत्यक्चेतनमात्मीयमर्थित्वेन पुनः स्थितम् ।
पदार्थानामुपेत्याऽऽशु क्षणाद् द्वित्वमिवाऽऽगतम् ॥ १९ ॥
सहस्तपादावयवः सकेशनखदन्तकः ।
स्वदेहसंविदाभासो देवोऽयमिति भावयेत् ॥ २० ॥
विचित्राः शक्तयो बह्व्यो नानाचारा मनोदृशाम् ।
उपासते मामनिशं पत्न्यः कान्तमिवोत्तमम् ॥ २१ ॥

जो कलाओंकी कल्पनाओंसे शून्य और स्थूलदेहरूपसे परिणत भूत-मात्राओंसे कठिन यानी मूर्त है, जो देहके एकदेशभूत सुन्दर हृदय-कमलमें और सम्पूर्ण देहमें स्थित है [उस बोधलिङ्गका चिन्तन करना चाहिए] ॥ १७ ॥

जो चैतन्यमात्रस्वरूप और निर्मल आभासस्वरूप है, जो अध्यासरूप विकल्पोंका अधिष्ठान है, जो सर्वत्र प्रत्यक्ष-दृश्य है तथा जो अपने अनुभवका स्वरूप है [उस बोधरूप लिङ्गकी उपासना करनी चाहिए] ॥ १८ ॥

जो स्वकीय प्रत्यगात्मस्वरूप है, अपना स्वरूप भूल जानेके कारण जो भोगार्थि-रूपसे स्थित है और जो स्वयं ही अपनेसे अतिरिक्त पदार्थोंका वेष धारण कर शीघ्र अपने संकेतसे ही मानो द्वित्व प्राप्तकर स्थित है [ऐसे बोधलिङ्गस्वरूप शिवका ध्यान करना चाहिए] ॥ १९ ॥

यह परम शिवस्वरूप आत्मदेव हाथ, पैर आदि अवयवोंसे युक्त है, केश, नख एवं दाँतोंसे समलङ्कृत है और जिसकी स्वदेहसंवित्तियाँ ही परिचायिका हैं, ऐसे इस देवकी उपासना करनी चाहिए ॥ २० ॥

बाह्येन्द्रियोंकी पृथक्-पृथक् व्यापारभूत, अतएव चित्र-विचित्र अनेक रूप, रस आदिका ग्रहण करनेमें सामर्थ्यरूप शक्तियाँ मेरी (समस्त इन्द्रियोंमें शक्ति एवं प्राण देनेवाले जीवात्मारूप देवकी) उस प्रकार सेवा करती हैं, जिस प्रकार पत्नी अपने पतिकी सेवा करती है ॥ २१ ॥

मनो मे द्वारपालोऽयं निवेदितजगत्त्रयः ।
चिन्तेयं मे प्रतीहारी द्वारस्था शुद्धरूपिणी ॥ २२ ॥
शक्तिर्ममात्मिका बुद्धिः क्रिया चैव वराङ्गना ।
ज्ञानानि च विचित्राणि भूषणान्यङ्गगानि मे ।
कर्मेन्द्रियाणि द्वाराणि बुद्धीन्द्रियगणैः सह ॥ २३ ॥
अयं सोऽहमनन्तात्मा व्यवच्छेदोज्झिताकृतिः ।
तिष्ठामि भरितैकात्मा पूर्णः सर्वार्थपूरकः ॥ २४ ॥
इति दैवीमुपाश्रित्य स्वच्छामात्मचमत्कृतिम् ।
देवत्वपरिपूर्णोऽन्तरदीनात्माऽवतिष्ठते ॥ २५ ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति न तुष्यति न कुप्यति ।
न तृप्तिं न क्षुधं याति नाऽभिवाञ्छति नोज्झति ॥ २६ ॥

जिसने तीनों लोकका वृत्तान्त विज्ञापित किया है, वह मन ही उक्त प्रकारके देवस्वरूप मेरा द्वारपाल यानी पहरेदार है । और इस प्रकार बाह्यार्थ-विषयिणी चिन्ता ही द्वारपर स्थित सन्मात्रगोचर होनेसे शुद्धस्वरूपा अथवा परम विश्वसनीया मेरी अन्तःपुरपालिका है ॥ २२ ॥

अपनी तरह दूसरोंके भी प्रेमकी विषय हुई ज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति दो मेरी (जीवात्माकी) पत्नियाँ हैं । चित्र-विचित्र शास्त्रीय एवं लौकिक ज्ञान ही मेरे शरीरगत आभूषण हैं । बाह्य-प्रदेशमें गमनकी हेतु होनेसे ज्ञानेन्द्रिय-समूहोंके साथ वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ ही मेरे घरके द्वार हैं ॥ २३ ॥

अपरोक्षरूपसे प्रतीयमान मैं (जीवात्मा) वही शिवस्वरूप हूँ और परिच्छेदशून्य आकारवाला, अनन्तस्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थोंसे परिपूर्ण, अन्तर्यामी होनेके कारण सब वस्तुओंका पूरक एवं अखण्ड अद्वितीयरूप होकर मैं स्थित हूँ ॥ २४ ॥

इस प्रकार स्वच्छ और अलौकिक प्रत्यक्तत्त्वका परिचय प्राप्तकर देवत्वसे परिपूर्ण यह जीवात्मा भीतर खेदशून्य वस्तुस्वरूप होकर स्थित रहता है ॥ २५ ॥

उस पूजापरिपाकके फल बतलाते हैं—'नाऽस्तमेति' इत्यादिसे ।

महर्षे, वह पूजक न तो अस्तमित होता है और न उदित ही होता है । वह न तो सन्तुष्ट होता है और न क्रुद्ध ही होता है । वह न तो तृप्तिको प्राप्त होता है और न

समः समसमाचारः समाभासः समाकृतिः ।
सौम्यतामलमायातः समन्तात् सुन्दराशयः ॥ २७ ॥
आदेहमेक एवाऽसावव्युच्छिन्नमहामतिः ।
देवार्चनं करोत्येव दीर्घदीर्घमहर्निशम् ॥ २८ ॥
चित्तत्त्वचलितो देहो देवोऽस्य समुदाहृतः ॥ २९ ॥
यथाप्राप्तेन सर्वेण तमर्चयति वस्तुना ।
समया सर्वया बुद्ध्या चिन्मात्रं देवचित्परम् ॥ ३० ॥
यथाप्राप्तक्रमोत्थेन सर्वार्थेन समर्चयेत् ।
मनागपि न कर्तव्यो यत्नोऽत्राऽपूर्ववस्तुनि ॥ ३१ ॥
प्राप्तदेहतया नित्यं तथाऽर्थक्रिययाऽनया ।
कामसंसेवनेनाऽथ पूजयेच्छोमनं विभुम् ॥ ३२ ॥

भीतर सम और बाहर जीवन्मुक्तोंके समान आकारवाला, सब प्राणियोंके चित्तमें 'मेरा ही यह प्रिय है' यों एकरूपसे अवभासमान, निर्विकार होनेसे सर्वदा समान आकृतिसे युक्त अतएव भली प्रकार जीवनन्मुक्त-दशाको प्राप्त हुआ, चारों ओर सुन्दर आशयसे शोभित और अद्वितीय ही यह जीवात्मा देहपातपर्यन्त अखण्ड तत्त्वज्ञानसे युक्त होता हुआ चिरकालतक रात-दिन यह देवपूजन करता ही रहता है ॥ २७, २८ ॥

इसका कौन-सा देव है ? और देहविनाशपर्यन्त किस प्रकार पूजा करता रहता है ? इसपर कहते हैं—'चित्तत्त्व०' इत्यादिसे ।

चैतन्यतत्त्वसे परिचालित शरीर ही इसका देव कहा गया है ॥ २९ ॥

और अनायास प्राप्त सम्पूर्ण त्रिपुटीरूप (ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूप) वस्तुसे सम (रागादिशून्य) एवं सम्पूर्ण (सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे जन्य) ज्ञानके द्वारा इन्द्रियोंकी वृत्तियोंमें प्रतिबिम्बित चैतन्यसे पर यानी उसके बिम्बभूत चैतन्यमात्ररूप उस देवकी वह (जीवात्मा) पूजा करता है ॥ ३० ॥

जैसे-तैसे प्राप्त व्यापारोंसे सिद्ध बाह्य एवं आभ्यन्तर वस्तुओंसे उसकी भलीभाँति पूजा करनी चाहिए । इस देवपूजामें गन्ध, पुष्प आदि वस्तुओंको जुटानेमें किंचित् भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए ॥ ३१ ॥

प्राप्त हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि रूप अपने शरीरके लिए उचित शास्त्रानुसार

भक्ष्यभोज्यान्नपानेन नानाविभवशालिना ।
शयनासनयानेन यथाप्तेनाऽर्चयेच्छिवम् ॥ ३३ ॥
कान्तान्नपानसंभोगसंभारादिविलासिना ।
सुखेन सर्वरूपेण संबुद्ध्याऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ३४ ॥
आधिव्याधिपरीतेन मोहसंरम्भशालिना ।
सर्वोपद्रवदुःखेन प्राप्तेनाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ३५ ॥
समस्तैश्च समस्तानां चेष्टानां जगतः स्थितेः ।
मृतिजीवितस्वप्नाद्यैः प्राप्तैरात्मानमर्चयेत् ॥ ३६ ॥
दारिद्र्येणाऽथ राज्येन प्रवाहपतितात्मना ।
विचित्रचेष्टापुष्पेण शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ ३७ ॥
नानाकलहकल्लोलललनोल्लासशालिना ।
रागद्वेषविलासेन सौम्यमात्मानमर्चयेत् ॥ ३८ ॥

इन व्यवहारोंसे और देह-धारणके निमित्तभूत अन्न-पान आदिके सेवनसे उस सुन्दर आत्मदेवकी नित्य पूजा करनी चाहिए ॥ ३२ ॥

अनायासप्राप्त भक्ष्य, भोज्य और अन्नपान से तथा विविध ऐश्वर्यसे युक्त शयन, आसन एवं सवारी से उस शिवकी पूजा करे ॥ ३३ ॥

स्त्री, अन्न, पान, आदि संभोग-सामग्रीके विलाससे युक्त सब प्रकारके सुखोंसे आत्माको तत्त्वतः जानकर उसकी पूजा करे । तात्पर्य यह है कि जबतक उसका ज्ञान नहीं होता, तबतक विषय-सुखोंमें आसक्त नहीं होना चाहिए ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार दैवप्राप्त दुःखोंका उपभोग करते समय भी आत्म-पूजाकी ही बुद्धि करनी चाहिए, उद्वेग नहीं, यह कहते हैं—'आधि०' इत्यादिसे ।

आधियों एवं व्याधियों से व्याप्त, मोह तथा क्रोध से परिपूर्ण यथाप्राप्त समस्त उपद्रवों एवं दुःखों से उस आत्मदेवकी पूजा करे ॥ ३५ ॥

यथाप्राप्त जगत्सम्बन्धी समस्त चेष्टाओंके फलोंसे तथा जीवन, मरण और स्वप्न आदिसे उस आत्मदेवकी पूजा करे ॥ ३६ ॥

प्रवाहपतितस्वरूप (प्रारब्ध-प्रवाहसे प्राप्त) दरिद्रता अथवा राज्य से और चित्र-विचित्र चेष्टारूप फूलोंसे विशुद्धस्वरूप उस आत्मदेवकी पूजा करे ॥ ३७ ॥

नाना प्रकारके कलहोंके तरङ्गों एवं कामिनियोंके उल्लासों से शोभित राग और द्वेष के विलाससे उस सौम्य आत्मदेवकी पूजा करे ॥ ३८ ॥

सतां हृदयगामिन्या रूढया शशिशीतया ।
मैत्र्या माधुर्यधर्मिण्या हृत्स्थमात्मानमर्चयेत् ॥ ३९ ॥
उपेक्षया करुणया सदा मुदितया हृदि ।
शुद्धया शक्तिपद्धत्या बोधेनाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ४० ॥
आकस्मिकोपयातेन स्थितेनाऽनियतेन च ।
भोगाभोगैकभोगेन प्राप्तेनाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ४१ ॥
भोगानामनिषिद्धानां निषिद्धानां च सर्वदा ।
त्यागेन वाऽतिरागेण स्वात्मानं शुद्धमर्चयेत् ॥ ४२ ॥
ईहितानीहितौघेन युक्तायुक्तमयात्मना ।
त्यक्तेनाऽऽत्तेन चाऽर्थेन ह्यर्थानामीशमर्चयेत् ॥ ४३ ॥
नष्टं नष्टमुपेक्षेत प्राप्तं प्राप्तमुपाहरेत् ।
निर्विकारतयैतद्धि परमार्चनमात्मनः ॥ ४४ ॥

तब क्या कलह करनेमें भी तत्पर होना चाहिए ? इसपर नहीं, ऐसा कहते हैं—'सताम्' इत्यादिसे ।

सज्जनोंके हृदयमें रहनेवाली, चन्द्रमाकी नाईं शीतल, मधुरस्वभाव रूढ़ मैत्रीसे हृदय-प्रदेशमें स्थित उस आत्मदेवकी पूजा करे ॥ ३९ ॥

कलह आदिके न होनेमें उपाय बतलाते हैं—'उपेक्षया' इत्यादिसे ।

उपेक्षासे, दयासे, हृदयमें नित्य प्रसन्नतासे, शुद्ध क्रोधादिके निग्रहकी सामर्थ्य-पद्धतिसे और ज्ञानसे उस आत्मदेवकी पूजा करे ॥ ४० ॥

इसी प्रकार विषय-भोगोंमें लम्पट भी न होना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'आकस्मिको०' इत्यादिसे ।

निर्निमित्त प्राप्त और अनियत स्थित भोग-समूहोंके बीच प्राप्त हुए किसी एकके किसी समयके भोगसे आत्मदेवकी पूजा करे ॥ ४१ ॥

शास्त्रसे अनिषिद्ध और निषिद्ध भोगोंके सर्वदा त्यागसे अथवा कहीं अनिषिद्ध भोगोंमें रागसे शुद्धस्वरूप अपने आत्मदेवकी पूजा करे [यहाँपर पहला पक्ष मुख्य है और दूसरा पक्ष गौण है, यह जानना चाहिए ।] ॥ ४२ ॥

अयुक्तात्मासे छोड़े गये और युक्तात्मासे ग्रहण किये गये इष्ट-अनिष्टसमूह-रूप विषयोंसे विषयोंके भोक्ता उस आत्मदेवकी पूजा करे ॥ ४३ ॥

अब मुख्यपूजाका सार बतलाते हैं—'नष्टम्' इत्यादिसे ।

सर्वदैव समग्रासु चेष्टानिष्टासु दृष्टिषु ।
परमं साम्यमाधाय नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४५ ॥
सर्वं विन्देत सुशुभं सर्वं विद्याच्छुभाशुभम् ।
सर्वमात्ममयं कुर्यान्नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४६ ॥
आपातरमणीयं यद्यच्चाऽऽपातसुदुःसहम् ।
तत्सर्वं सुसमं बुद्‌ध्वा नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४७ ॥
अयं सोऽहमयं नाऽहं विभागमिति संत्यजेत् ।
सर्वं ब्रह्मेति निश्चित्य नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ ४८ ॥
सर्वदा सर्वरूपेण सर्वाकारविकारिणा ।
सर्वं सर्वप्रकारेण प्राप्तेनाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ४९ ॥

नष्ट पदार्थ तो नष्ट ही है, अतः उसकी उपेक्षा करे यानी उसका सोच न करे । और प्राप्त पदार्थ प्राप्त ही है, अतः उसका ग्रहण करे । महर्षे, निर्विकार होकर ऐसा करना ही आत्मदेवकी पूजा है [यह तुम जानो] ॥ ४४ ॥

सम्पूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थोंमें सर्वदा ही परम समानताका आश्रयण कर निरन्तर आत्म-पूजारूप व्रत करना चाहिए ॥ ४५ ॥

'यह जगत् ब्रह्मरूप ही है' इस दृष्टिसे सब पदार्थ शुभ ही हैं, यों जानना चाहिए। ब्रह्मसंवलित मायारूपताकी दृष्टिसे तो सब शुभाशुभसंमिश्र है, यों जानना चाहिए । इस प्रकार दोनों ही तरहसे समता होनेके कारण वैषम्यदर्शनका कोई कारण न होनेसे 'यह सब आत्ममय है अथवा आत्मप्रचुर है' यों भावना करनी चाहिए । इस प्रकार सदा आत्म-पूजारूप व्रतका अनुष्ठान करना चाहिए ॥४६॥

जो आपाततः (ऊपर-ऊपरसे यानी दृष्टिमात्रसे) रमणीय (सुख या सुखसाधन) प्रतीत होता हो और जो आपाततः सुदुःसह (दुःखरूप या दुःखसाधन) प्रतीत होता हो, उन सबको उक्त रीतिसे भलीप्रकार समानरूप जानकर निरन्तर आत्म-पूजास्वरूप व्रतका अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ४७ ॥

'यह वही मैं हूँ' और 'यह मैं नहीं हूँ' इस प्रकारके भेदको छोड़ देना चाहिए तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार निश्चय कर निरन्तर आत्म-पूजारूप व्रतका आचरण करना चाहिए ॥ ४८ ॥

यथाप्राप्त सब तरहके आकाररूप विकारोंसे युक्त सभी प्रकारों एवं समस्त रूप और नामों से सर्वात्मक उस आत्मदेवका सदा पूजन करना चाहिए ॥ ४९ ॥

अनीहितं परित्यज्य परित्यज्य तथेहितम् ।
उभयाश्रयणेनाऽपि नित्यमात्मानमर्चयेत् ॥ ५० ॥
न वाञ्छता न त्यजता दैवप्राप्ताः स्वभावतः ।
सरितः सागरेणेव भोक्तव्या भोगभूमयः ॥ ५१ ॥
उद्वेगो नाऽनुगन्तव्यस्तुच्छातुच्छासु दृष्टिषु ।
व्योम्ना चित्रपदार्थेषु पतितो ह्याततेष्विव ॥ ५२ ॥
देशकालक्रियायोगाद्यदुपैति शुभाशुभम् ।
अविकारं गृहीतेन तेनैवाऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ ५३ ॥
आत्मार्चनविधानेऽस्मिन् प्रोक्ता द्रव्यश्रियस्तु याः ।
एकेनैव समेनैता रसेन परिभाविताः ॥ ५४ ॥

मिथ्यात्व-दृष्टिसे अभीष्ट वस्तुका परित्याग कर और अनभीष्ट वस्तुका भी परित्याग कर एवं 'सभी आत्ममात्ररूप हैं' इस बुद्धिसे उन दोनोंका (अभीष्ट और अनभीष्टका) स्वीकार करके भी नित्य आत्मदेवकी पूजा करनी चाहिए ॥ ५० ॥

अप्राप्त वस्तुकी इच्छा न करता हुआ और प्राप्त वस्तुको न छोड़ता हुआ स्वभावतः दैवसे प्राप्त सुख-दुःखके हेतुभूत विषयोंका उस प्रकार अविकृत होकर उपभोग करे, जिस प्रकार अविकृत होकर समुद्र नदियोंका उपभोग करता है* ॥५१॥

तुच्छ यानी अपमान आदिकी तथा अतुच्छ अर्थात् वध, बन्ध, सर्वस्वनाश आदिकी परिस्थितियोंमें प्रसक्त उद्वेगको पुरुष उस प्रकार न प्राप्त होवे, जिस प्रकार चिरकालसे अनुवृत्त सरल, टेढ़े, शीत, दाह आदि चित्र-विचित्र पदार्थोंमें आकाश उद्वेगको प्राप्त नहीं होता ॥ ५२ ॥

देश, काल और कर्म के सम्बन्धसे शुभ या अशुभ जो भी कोई वस्तु प्राप्त हो जाती है, किसी प्रकारकी विकृतिके बिना गृहीत उसी वस्तुसे आत्मदेवका पूजन करे ॥ ५३ ॥

यदि शङ्का हो कि विचित्र दुःख, राग, द्वेष आदि विकारोंकी हेतुभूत; मधुर, आम्ल, कटु, तिक्त आदि विषम-रसोंवाली भोग्य-द्रव्यरूपी लक्ष्मियोंका किसी प्रकारके

---

* इसी भावसे गीतामें भी कहा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ (गीता, २।७०)

नाऽम्ला न कट्व्यो नो तिक्ता न कषायाश्च काश्चन ।
चित्रैरपि रसैर्दिग्धा मधुरा एव ताः किल ॥ ५५ ॥
समतामधुरा रस्या रसशक्तिरतीन्द्रिया ।
तया यद्भावितं चेत्यममृतं तत्क्षणाद्भवेत् ॥ ५६ ॥
समतामृतरूपेण यद्यन्नाम विभाव्यते ।
तत्तदायाति माधुर्यं परमिन्दोरिव च्युतम् ॥ ५७ ॥
समताकाशवद्भूत्वा यत्तु स्याल्लीनमानसम् ।
अविकारमनायासं तदेवाऽर्चनमुच्यते ॥ ५८ ॥

विकारके बिना आत्मा किस प्रकार ग्रहण कर सकता है ? तो इसका समाधान यह है कि एक समरससे ही सभीमें विषमताका निरासकर मधुरता बनाकर ही आत्मा उनका ग्रहण कर सकता है, इस आशयसे कहते हैं—**'आत्मार्चन०'** इत्यादिसे ।

महर्षे, इस आत्म-पूजाके विधानमें जो द्रव्यसम्पत्तियाँ बतलाई गई हैं, वे सब एकमात्र समतारूप रससे भरी जानेपर न कोई खट्टी होती हैं और न कड़वी होती हैं, न तिक्त होती हैं और न कसैली ही होती हैं । ऐसी स्थितिमें परस्पर विरुद्ध चित्र-विचित्र रसोंसे भरी हुई भी वे मधुररसवती ही हो जाती हैं, यह आप निश्चित जानिए ॥ ५४, ५५ ॥

एकमात्र आनन्दरसस्वरूप परब्रह्मका विवर्त होनेसे अथवा समताके दर्शनसे उन द्रव्य-सम्पत्तियोंका अविकृतरूपसे ग्रहण हो सकता है, इस आशयसे कहते हैं—**'समता०'** इत्यादिसे ।

रसशक्ति यानी 'रसो वै सः' इस श्रुतिसे प्रदर्शित आत्मा समतासे मधुर है, आस्वादन करने योग्य है और अतीन्द्रिय है । उससे जो चेत्य भावित होगा, वह तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायगा ॥ ५६ ॥

समतारूप अमृतसे जो-जो भावित होता है, वह सब, चन्द्रमासे टपके हुए अमृतकी नाईं, परम मधुरताको प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

ब्रह्मैक्यदर्शनस्वरूप समतासे स्वयं आकाशकी तरह विकारशून्य होकर मनके लयपूर्वक जो अनायास अवस्थिति है, वही मुख्य देवार्चन कहा जाता है ॥ ५८ ॥

पूर्णेन्दुनेव पूर्णेन भाव्यं समसमत्विषा ।
स्वच्छेन चिद्घनैकेन ज्ञेनाऽप्युपलरूपिणा ॥ ५९ ॥
अन्तराकाशविशदो बहिःप्रकृतकार्यकृत् ।
रञ्जनामिहिकामुक्तः सम्पूर्णो ज्ञ उपासकः ॥ ६० ॥
स्वप्नेऽप्यदृष्टहृल्लेखमज्ञानाभ्रपरिक्षये ।
शान्ताहन्तादिमिहिकं ज्ञः शरद्व्योम राजते ॥ ६१ ॥
सोमार्कमस्तमितमानसमातृमेयं
सद्यःप्रसूतशिशुवेदनवद्वितानम् ।
पश्यन् प्रशान्तमति चेतनचित्तबीजं
जीवन्ननुत्तमपदस्थित एव तिष्ठ ॥ ६२ ॥
देशकालकरणक्रमोदितैः सर्ववस्तुसुखदुःखविभ्रमैः ।
नित्यमर्चय शरीरनायकं तिष्ठ शान्तसकलेहया धिया ॥ ६३ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
देवार्चनविधिर्नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

चैतन्यमात्रस्वरूप, अद्वितीय ज्ञानीको भी पूर्णचन्द्रकी नाईं परिपूर्ण, समतासे समानप्रकाशयुक्त, स्वच्छ और स्फटिकशिलाकी नाईं निर्मल एवं दृढ होना चाहिए ॥ ५९ ॥

भीतर आकाशकी तरह विशाल और बाहर प्राकृत कार्योंको करनेवाला, रञ्जनारूप हिमसे मुक्त एवं पूर्ण जो तत्त्वज्ञ है, वही मेरा मुख्य पूजक है ॥ ६० ॥

अज्ञानरूप मेघोंके नष्ट होनेपर स्वप्नमें भी जिसमें काम आदि नहीं देखे जाते तथा जिसका अहन्तारूप कुहरा शान्त हो चुका है, वह तत्त्वज्ञ शरत्कालीन आकाशकी नाईं शोभित होता है ॥ ६१ ॥

आनन्दामृतसे परिपूर्ण होनेके कारण स्वयं चन्द्रमारूप होता हुआ भी जो अपने निष्कलङ्क प्रकाशके आधिक्यसे सूर्य हो गया है, जिसमें से मनोवृत्ति (प्रमा), प्रमाता और प्रमेय—यह भेद चला गया है, तत्क्षण उत्पन्न हुए बालकके ज्ञानकी नाईं विकल्प-विस्तारसे शून्य, चिदाभास एवं चेतनके मूलभूत उस स्वात्मशिवको प्रशान्तचित्तपूर्वक देखते हुए तुम अत्युत्तम जीवन्मुक्त-पदमें स्थित होकर उसी रूपसे अवस्थित हो जाओ [वही परापूजा है] ॥ ६२ ॥

विस्तारपूर्वक कही गई बातोंका ही संक्षेप कर उपसंहार करते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

चत्वारिंशः सर्गः

ईश्वर उवाच

यथाकालं यथारम्भं न करोषि करोषि यत् ।
चिन्मात्रस्य शिवस्याऽन्तस्तदेवाऽर्चनमात्मनः ॥ १ ॥
तेनैवाऽऽह्लादमायाति याति प्रकटतां तथा ।
तथा स्थितेन रूपेण स्वेनैव स्वयमीश्वरः ॥ २ ॥

महर्षे, देश, काल और करणके (पुरुषव्यापारोंके) कर्मोंसे उत्पन्न सम्पू वस्तुओंके सुख-दुःखात्मक विलासोंसे शरीरके अधिपति इस आत्मदेवकी पूजा क और जिससे सम्पूर्ण मनोरथ चले गये हैं, ऐसी बुद्धिसे उपलक्षित होकर स्थि हो जाओ [वही मुख्य शिव-पूजा है] ॥ ६३ ॥

उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त

चालीसवाँ सर्ग

[पूज्य, पूजक एवं पूजा आदि विकल्पोंसे शून्य, शिवस्वरूप, शुद्ध पूर्ण चिदात्मा ही देवताओंमें सार है—यह वर्णन]

आत्मज्ञानी द्वारा विहित और अविहित सभी प्रकारके कर्म शिवार्चनरूप हैं, यह कहते हैं—'यथाकालम्' इत्यादिसे ।

ईश्वरने कहा—महर्षे, यथासमय और यथाशक्ति तुम जो भी कुछ कर्म कर हो अथवा नहीं भी करते, वह चैतन्यमात्रस्वरूप शिवात्मक आत्माका अन्त पूजन है ॥ १ ॥

किस कारण यह आत्माका पूजन होता है ? इसपर कहते हैं—'तेनैवा' इत्यादिसे ।

उस प्रकारके पूजनसे ही आत्मा अपने पारमार्थिक निरतिशय आनन्दस्वरूपक अभिव्यक्ति प्राप्त करता है और स्व-स्वरूपसे ही स्वयं यह ईश्वररूप जीवात्म आविद्यक आवरणोंका अभाव भी प्राप्त करता है ॥ २ ॥

रागद्वेषादिशब्दार्था नाऽऽत्मन्यन्यतयाऽमले ।
संभवन्ति पृथग्रूपा वह्नौ वह्निकणा इव ॥ ३ ॥
यद्यद्राजत्वदीनत्वसुखदुःखादिवेदनम् ।
आत्मीयं परकीयं च तत्तदर्चनमात्मनः ॥ ४ ॥
विश्वसंवित्तिरेवाऽर्चा नित्यस्याऽऽत्मन एव च ।
घटाद्यात्मतया ब्रह्म स्वयमात्मा तथैव च ॥ ५ ॥
शिवं शान्तमनाभासमेकं भास्वरमागतम् ।
जगत्प्रत्ययवत् सर्वमात्मरूपमिदं स्थितम् ॥ ६ ॥

सभी स्वाभाविक चेष्टाएँ राग-द्वेषकी मूल होनेके कारण अनर्थकी हेतु हैं, फिर वे आत्म-पूजनरूप कैसी होंगी ? इस शङ्कापर आत्मासे पृथक् राग-द्वेष आदि विकारोंको न देखनेसे ही उक्त चेष्टाएँ आत्मपूजनरूप हैं, यह कहते हैं— **'राग०'** इत्यादिसे ।

निर्मल आत्मामें राग, द्वेष आदि शब्द और उनके अर्थ आत्मासे अन्य होकर पृथक्-रूपसे उस प्रकार नहीं रह सकते, जिस प्रकार अग्निमें अग्निकण ॥ ३ ॥

महर्षे, अपने और पराये सम्पत्ति, दरिद्रता (दीनता), सुख, दुःख, भूख, प्यास आदिका जो-जो वेदनरूप यानी अध्यारोपणरूप समर्पण है, वह सब इस आत्मदेवका पूजन ही है [तात्पर्य यह है कि देवतापर फूल, पत्ती आदिका आरोप (चढ़ाना) ही देव-पूजा इस नामसे प्रसिद्ध है, प्रकृतमें भी उसी प्रकार जानना चाहिए ।] ॥ ४ ॥

ऐसी स्थितिमें आकाश आदि स्वरूप एवं जाग्रत् आदि स्वरूप विश्वका जो अध्यारोप है, वही शिवस्वरूप आत्मा तथा प्रत्यगात्मा का पूजन है; [यह सिद्ध हुआ । क्योंकि] जिस प्रकार आकाशादि-क्रमसे घटरूप होकर ब्रह्म उससे अलंकृत होता है, ठीक उसी प्रकार स्वयं प्रत्यगात्मा भी जाग्रत् आदि क्रमसे घटादि-स्वरूप होकर उससे अलंकृत होता है ॥ ५ ॥

शिव, शान्त, अन्यसे प्रकाशित न होनेवाला, स्वप्रकाश ब्रह्मरूप या प्रत्यगात्मरूप आत्मा ही मानो जगत्-शब्दोंसे व्यवहृत हुआ है, अतः जगद्रूपी यह समस्त प्रपञ्च उसी आत्माके प्रकाशसे प्रकाशित तथा उसीकी स्थितिसे स्थित है ॥ ६ ॥

अहो नु चित्रमात्मैव घटाद्यन्यद्व्यवस्थितम् ।
जीवादिस्वस्वभावोऽन्तर्नूनं विस्मृतिमानिव ॥ ७ ॥
सर्वात्मकस्याऽनन्तस्य शिवस्याऽन्तः किलाऽऽत्मनः ।
पूज्यपूजकपूजाख्यो विभ्रमः प्रोदितः कुतः ॥ ८ ॥
नियताकारताशान्ते न च संभवतीश्वरे ।
यत्र सङ्कल्प्यते ब्रह्मन् पूज्यपूजामयः क्रमः ॥ ९ ॥
पूज्यपूजाद्यवच्छिन्नो देवो नित्यामलात्मनः ।
सर्वशक्तेरनन्तस्य नेश्वरत्वस्य भाजनम् ॥ १० ॥
त्रिजगत्प्रसृताच्छाच्छसंविद्रूपस्य चाऽऽत्मनः ।
नेश्वरस्याऽऽकृतेर्ब्रह्मन् व्यपदेशो हि युज्यते ॥ ११ ॥

अत्यन्त आश्चर्य है कि प्रत्यगात्मा ही अपने भीतरका मानो अपना वास्तव स्वरूप भूलकर और जीव आदिके स्वभावोंको अपना स्वभाव समझकर घट, पट आदि जगत्के रूपमें व्यवस्थित है ॥ ७ ॥

यों तात्त्विक विचार करनेपर पूज्य, पूजक आदि सभी त्रिपुटियाँ बाधित हो जाती हैं, यह कहते हैं—'सर्वात्मकस्या०' इत्यादिसे ।

सर्वस्वरूप, असीम, कल्याणमय आत्माके भीतर पूज्य, पूजक और पूजारूप परिच्छेदात्मक त्रिपुटीका विभ्रम आया कहांसे ? अर्थात् उक्त त्रिपुटीविभ्रम असत् ही है ॥ ८ ॥

ब्रह्मन्, जिस परिच्छिन्न आकारवाली मूर्तिमें पूज्य, पूजा आदि त्रिपुटी-क्रमकी कल्पना की जाती है, उस मूर्ति आदि परिच्छिन्न संस्थानसे (आकृतिसे) रहित ईश्वरमें वह पूज्य, पूजा आदिका क्रम नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

महर्षे, जो देव पूज्य, पूजा आदि त्रिपुटीसे युक्त है, वह सदा निर्मलस्वरूप, समस्त शक्तियोंसे परिपूर्ण एवं अनन्तस्वरूप ईश्वरत्वका आधार नहीं हो सकता ॥ १० ॥

हे ब्रह्मन्, तीनों जगत्में फैले हुए स्वच्छातिस्वच्छ संविद्रूपी आत्मलक्षण ईश्वरकी आकृतिका वाणीसे व्यवहार (व्यपदेश) भी नहीं किया जा सकता ॥ ११ ॥

देशकालपरिच्छिन्नो येषां स्यात् परमेश्वरः ।
अस्माकमुपदेश्यास्ते न विपश्चिद्विपश्चिताम् ॥ १२ ॥
तदीयां दृष्टिमुत्सृज्य तथेमामवलम्ब्य च ।
समः स्वच्छमनाः शान्तो वीतरागो निरामयः ॥ १३ ॥
कामोपहारैरभितो यथाप्राप्तैरखिन्नधीः ।
आत्मानमर्चयंस्तिष्ठ सुखदुःखशुभाशुभैः ॥ १४ ॥
अधिगतवति साधौ चैकमेवाऽनुरूपं
त्वयि तरलितजीवे जन्मदुःखादि किञ्चित् ।
न लगति परिशून्ये सर्वतः स्फाटिकाङ्गे
नवसदन इवाङ्के निष्कलङ्के कलङ्कः ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे देवतातत्त्वविचारो नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

हे विद्वन्, जिन विद्वानोंके मतमें देश, काल आदिसे परिच्छिन्न ईश्वर माना जाता है, वे हम लोगोंके तत्त्वोपदेशके पात्र नहीं हैं ॥ १२ ॥

इसलिए उनकी परिच्छिन्न दृष्टिका परित्याग कर और अपनी इस अपरिच्छिन्न दृष्टिका अवलम्बन कर सम, निर्मलमन, शान्त, रागशून्य, स्वस्थ और खेदशून्य बुद्धि-युक्त होकर तुम विधिवश प्राप्त हुए सुख, दुःख, शुभ, अशुभ आदि कामोप-भोगोंसे आत्मदेवकी पूजा करते हुए स्थित रहो ॥ १३, १४ ॥

हे मुने, जहाँ सब अङ्गोंमें स्फटिकशिलाएँ जड़ी गई हैं तथा पासमें चारों ओर नील, रक्त आदि दूसरी कोई भी वस्तुएँ हैं ही नहीं, ऐसे नवीन मकानमें प्रतिबिम्ब या लेप दोनों तरहसे जैसे नील आदि रङ्गोंके कलङ्क नहीं लगते, वैसे ही जिसने शोधनके द्वारा देहसे पृथक् जीव समझ रक्खा है, ऐसे अमानित्व आदि गुणोंसे युक्त, अतएव अनुरूप अद्वितीय अपने तत्त्वको (स्व-स्वरूपको)—ऊपर कहे गये पूज्य, पूजक आदि तत्त्वके विमर्शके साथ—पहचान लेनेवाले, मायाकलङ्कसे वर्जित और सर्वतः मायाके कार्यरूप प्रपञ्चसे शून्य आपमें जन्म आदिके कोई कलङ्क लगते ही नहीं ॥ १५ ॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त

एकचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

शिवः किमुच्यते देव परं ब्रह्म किमुच्यते ।
आत्मा किमुच्यते नाथ परमात्मा किमुच्यते ॥ १ ॥
तत्सत्किञ्चिन्न किञ्चिच्च शून्यं विज्ञानमेव च ।
इत्यादिभेदो भगवंस्त्रिलोकेश किमुच्यते ॥ २ ॥

ईश्वर उवाच

अनाद्यन्तमनाभासं सत्किञ्चिदिह विद्यते ।
इन्द्रियाणामगम्यत्वाद्यन्न किञ्चिदिव स्थितम् ॥ ३ ॥

एकतालीसवाँ सर्ग

[शास्त्र एवं आचार्य आदिकी सफलता, नामभेदोंकी कल्पना, अध्यारोपका क्रम और तदनन्तर अपवाद—इन सबका वर्णन]

'नेश्वरस्याऽऽकृतेर्ब्रह्मन् व्यपदेशो हि युज्यते' (यो० नि० ४०।११) इत्यादिसे जब पूज्यतत्त्व नीरूप और अव्यपदेश्य कहा गया है तब उसका 'शिव' आदि शब्दोंसे भला कैसे व्यपदेश हो सकता है ? इस आशयसे पूछते हैं—'शिवः' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे देव, यदि शिव आदि शब्दोंके प्रवृत्ति-निमित्तक किसी धर्मका वह (पूज्यतत्त्व) स्पर्श ही नहीं करता तो फिर 'शिव' यह नाम किस निमित्तसे कहा जाता है एवं परब्रह्म इत्यादि शब्द भी किस निमित्तसे कहे जाते हैं ? हे नाथ, आत्माशब्द कैसे कहा जाता है और कैसे कहा जाता है—परमात्मा ॥ १ ॥

हे तीनों लोकोंके स्वामिन्, भगवन्, 'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मण-स्त्रिविधः स्मृतः ।' इत्यादि व्यपदेशोंमें 'तत्', 'सत्', 'किञ्चित्', 'न किञ्चित्', 'शून्य' और 'विज्ञान' आदि भेद यानी एक-दूसरे से एक दूसरेका भेद करनेवाले प्रवृत्तिनिमित्त अर्थोंसे युक्त नामविशेष कैसे कहे जाते हैं [इसे कृपाकर बतलाइए] ॥ २ ॥

पूछे गये नामोंमें 'सत्' इस नामका प्रवृत्तिनिमित्त (शक्यतावच्छेदक धर्म) सत्से भिन्न कोई दूसरा माननेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'सत्' नामके अर्थमें अन्य किसी दूसरे व्यावर्त्य (व्यावृत्तिके विषय) पदार्थके प्रसिद्ध न होनेसे व्यावृत्तिकी अपेक्षा ही नहीं है। और वह सत् स्वयं ही असत्से

वसिष्ठ उवाच

यदिन्द्रियाणां बुद्ध्यादियुक्तानामप्यदृश्यताम् ।
गतं तत्कथमीशान त्वशङ्केनोपगम्यते ॥ ४ ॥

व्यावृत्त होनेके कारण प्रवृत्तिनिमित्तक व्यावर्तक धर्मसे की गई व्यावृत्तिकी भी अपेक्षा नहीं रखता। अन्यथा उस प्रवृत्तिनिमित्तकी भी, जो असद्रूप होनेके कारण सत्की व्यावृत्ति नहीं कर सकता, सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी, ऐसी स्थितिमें तुल्यन्यायसे उस सद्रूप प्रवृत्तिनिमित्तमें भी सत्शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त कोई दूसरा अवश्य ही कहना पड़ेगा, इस प्रकार उत्तरोत्तरमें भी अन्य-अन्य प्रवृत्ति-निमित्तके माननेपर अनवस्था होती जायगी।

एवं 'किञ्चित्' और 'न किञ्चित्' ये दो शब्द भी इन्द्रियावेद्यार्थक हैं, इसलिए इन्द्रियवेद्य धर्मोंसे उनका निर्देश नहीं कर सकते, अतः व्यावृत्तिसे निरपेक्ष होकर ही उनकी इन्द्रियावेद्यरूप अर्थमें प्रवृत्ति हो सकती है। अव्यावृत्त और व्यावर्तक धर्मसे शून्य शब्द अर्थबोध ही नहीं कराते—यह तो आप कभी कह नहीं सकते, क्योंकि अव्यावृत्त एवं निर्धर्मक—इन दो शब्दोंकी बोधजनकता सर्वानुभवसिद्ध ही है। 'वहाँ निर्धर्मकत्व ही धर्म है और अव्यावृत्त ही व्यावृत्तोंसे व्यावृत्त है' यह भी आप कह नहीं सकते, क्योंकि 'मेरी माँ वन्ध्या है' इसकी तरह वैसा कहना वदतोव्याघात होगा। एवञ्च तुल्यन्यायसे शिव आदि शब्दोंकी भी निर्दोष, निरतिशय आनन्दस्वरूपमात्रमें निमित्तनिरपेक्ष ही प्रवृत्ति उपपन्न हुई। अथवा तथोक्त आनन्दस्वरूपप्रयुक्त ही शिवमें दुःख आदिकी व्यावृत्ति भी हो जा सकती है, यों नामभेदोंमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं है, इस आशयसे समाधान करते हैं—'अनाद्यन्त०' इत्यादिसे।

ईश्वरने कहा—हे मुने, आदि और अन्त के परिच्छेदोंसे (अवधिसे) स्वतः पृथक्भूत प्रकाशान्तरकी अपेक्षा न रखनेवाली, स्वयंज्योतिःस्वरूप जो सद्वस्तु अपनी महिमामें अपने आप विद्यमान है, वही किञ्चित् शब्दाभिधेय है यानी देश, काल, धर्म, जाति आदि दूसरोंकी अपेक्षा रखनेवाली सत्ता और पराधीन व्यावृत्ति से स्थित नहीं है। और चूँकि वह इन्द्रियोंकी गम्य नहीं है, इसलिए 'न किञ्चित्' शब्दाभिधेयरूपसे भी स्थित है। यहाँ 'इव' शब्द मिथ्यात्व-प्रदर्शनार्थ है ॥ ३ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे ईशान, जो बुद्धि आदिसे युक्त चक्षु, श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंकी भी दृष्टिके बाहर चला गया है, उस परम ब्रह्मका

ईश्वर उवाच

यो मुमुक्षुरविद्यांशः केवलो नाम सात्त्विकः।
सात्त्विकैरेव सोऽविद्याभागैः शास्त्रादिनामभिः ॥ ५ ॥
अविद्यां श्रेष्ठया श्रेष्ठां क्षालयन्निह तिष्ठति।
मलं मलेनाऽपहरन् युक्तिज्ञो रजको यथा ॥ ६ ॥
काकतालीयवत्पश्चादविद्याक्षय आगते।
प्रपश्यत्यात्मनैवाऽऽत्मा स्वभावस्यैष निश्चयः ॥ ७ ॥

अशङ्क (उपायके असंभवकी आशङ्कासे रहित) अधिकारी द्वारा कैसे साक्षात्कार किया जाता है? तात्पर्य यह है कि बुद्धिसे भी गम्य न होनेके कारण जिसके परिज्ञानमें कोई उपाय ही नहीं है, उस ब्रह्मका सद्रूप होनेपर भी परिज्ञान कैसे होगा? ॥ ४ ॥

ईश्वरने कहा—हे महर्षे, [प्रमाणजन्य शुद्ध सात्त्विकभागकी परिणामस्वरूप जो ब्रह्माकारवृत्ति है, वह अविद्याका आवरण दूर कर देती है। अविद्याका परदा हट जानेपर तो स्वप्रकाशस्वरूप होनेसे ही ब्रह्म तत्त्वतः प्रकाशित होने लग जाता है। वही इसका साक्षात्कार है, बुद्धिवृत्तिमें अभिव्यक्त चिद्व्याप्तिरूप नहीं।] जो मोक्षकी चाह रखनेवाला मनःस्वरूप, शम, दम आदि साधनसे परिशुद्ध होनेके कारण केवल सात्त्विक अविद्यांश है, वह—सच्छास्त्र, सद्गुरु और सत्सङ्ग आदि नामधारी सात्त्विक ही अविद्या-विभागोंसे सम्पादित श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से लेकर साक्षात्कारपर्यन्त अपनी वृत्ति-परम्परासे अनेक जन्मोंके संचित यज्ञ, दान आदि सुकृतोंका संभार होनेके कारण श्रेष्ठ स्वकार्यस्वरूप अविद्याका क्षालन करता हुआ—इस संसारमें चिरकालतक उस तरह स्थित रहता है, जिस तरह युक्तिज्ञ (कपड़ा धोनेमें अत्यन्त कुशल) धोबी मलसे मलका अपहरण करता हुआ यानी गदहोंकी लीद, रेह आदिसे गन्दे कपड़ोंको साफ करता हुआ संसारमें स्थित रहता है ॥ ५, ६ ॥

उससे प्रकृतमें क्या आया? इसपर कहते हैं—'काक०' इत्यादिसे।

तदनन्तर चिरकालतक अभ्यास करनेके कारण, काकतालीय-न्यायकी तरह भाग्यके परिपाकसे उत्पन्न हुई पूर्णब्रह्माकारवृत्तिसे अविद्याका निःशेष उच्छेद हो जानेपर आवरणशून्य आत्मा स्वयं ही अपना स्वरूप देखने लगता है यानी

यथाकथञ्चिदङ्गारे निघृष्य क्षालयञ्छिशुः ।
करनैर्मल्यमाप्नोति काष्ण्यङ्गारक्षये यथा ॥ ८ ॥
यथाकथञ्चिच्छास्त्राद्यैर्भागैर्भागं विचारयेत् ।
सात्त्विकस्तामसो भागो द्वयोरात्मोदयस्तथा ॥ ९ ॥
पश्यत्यात्मानमात्मैव विचारयति चाऽऽत्मना ।
आत्मैवेहाऽस्ति नाऽविद्या इत्यविद्याक्षयं विदुः ॥ १० ॥

वास्तविक अपने प्रकाशस्वरूप स्वभावमें अवस्थित हो जाता है। आत्माके स्वभावका यही—उक्त स्वप्रकाशस्वरूपसे परिशेष रहना ही—निश्चय यानी असंदिग्ध और अविपर्यस्त साक्षात्कार है, किसी दूसरे प्रकारका नहीं, यह अर्थ है। अथवा अविद्यास्वभावका उक्त प्रकारवाला ही क्षयनिश्चय है, किसी दूसरे प्रकारका नहीं, यह अर्थ है ॥ ७ ॥

अविद्यांशसे ही अविद्याके क्षय तथा आत्मासे ही आत्माकी निर्मलतासिद्धि में दृष्टान्त कहते हैं—'यथा०' इत्यादिसे।

कोयलेके दो टुकड़ोंको लेकर बालक, जो एक दूसरेको परस्पर घिसकर खेल खेलनेका आदी है, खिलवाड़ करता हुआ उन दोनों कोयलोंके नष्ट न होने तक हाथ साफ कर दिये जानेपर भी बार-बार उसे घिसते ही रहनेके कारण—हाथकी निर्मलता प्राप्त नहीं करता, परन्तु यथाकथञ्चित् घिसनेसे उत्पन्न हुई धूलिपरम्परारूप कालिमाके साथ-साथ उन कोयलोंके नष्ट हो जानेपर तो हाथ साफ करता हुआ वही (लड़का)—फिर दूसरे कोयलोंके न मिलनेसे—अपने आप हुई हाथकी निर्मलता (सुन्दरता) जैसे स्वतः ही प्राप्त कर लेता है; वैसे ही सात्त्विक और तामस अविद्याभाग अपने सहायकस्वरूप दूसरे शास्त्र आदि भागोंसे यथाकथञ्चित् यदि आत्म-स्वरूपका विचार करें, तो दोनों भागोंका नाश और निर्मल आत्मस्वरूपकी प्राप्ति सिद्ध हो सकती है ॥ ८, ९ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि जब बुद्धिसे आत्माका विचार कर निश्चय किया जाता है, यह आप स्वीकार करते हैं तब आत्मामें बुद्धिदृश्यता क्यों नहीं है यानी आत्मा बुद्धिसे ग्राह्य क्यों नहीं है ? तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि विचार आदि करनेमें जड़स्वरूप बुद्धि स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु आत्मा ही बुद्धिआदिरूप उपायोंसे

यावत्किञ्चिदिदं वस्तु नाना नाऽऽत्माऽवगम्यताम् ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या नाऽऽत्मज्ञानस्य कारणम् ॥ ११ ॥
गुरुर्हीन्द्रियवृत्तात्मा ब्रह्म सर्वेन्द्रियक्षयात् ।
यद्वस्तु यत्क्षये प्राप्यं तत्तस्मिन् सति नाऽऽप्यते ॥ १२ ॥
अकारणान्यपि प्राप्ता भृशं कारणतां द्विज ।
क्रमा गुरूपदेशाद्या आत्मज्ञानस्य सिद्धये ॥ १३ ॥

विचार आदि द्वारा अविद्याका बाध करके स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है, यही कहते हैं—'पश्यत्या०' इत्यादिसे ।

आत्मा ही आत्माको देखता है और आत्मरूपसे उसका विचार करता है। इस संसारमें एकमात्र आत्मा ही विद्यमान है, न कि अविद्या, इसे ही अविद्याका क्षय कहते हैं ॥ १० ॥

अतएव गुरु, शास्त्र आदि नाना प्रकारके जो भेद दिखाई पड़ते हैं, वे न आत्मस्वरूप हैं और न आत्मज्ञानके कारण ही हैं, क्योंकि आत्मस्वरूपभूत आत्मज्ञानको किसी साधनकी अपेक्षा नहीं रहती, इसी आशयसे कहते हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

जो कुछ यह नानाविध वस्तु है, इसे आप आत्मा न समझिए और न समझिए—इन गुरूपदेश आदि क्रमोंको आत्मज्ञानमें कारण ॥ ११ ॥

उसमें दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'गुरु०' इत्यादिसे ।

क्योंकि इन्द्रियोंसे घटित (युक्त) जो पुर्यष्टक है, तत्स्वरूप तो गुरु है और ब्रह्म तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके क्षयसे प्राप्य है। जो वस्तु जिसका नाश होनेपर प्राप्त होती है, वह वस्तु उसके उपस्थित रहते कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

तब क्या गुरु आदि सब व्यर्थ हैं ? इसपर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'अकारणा-न्यपि' इत्यादिसे ।

हे विप्र, गलेमें पहने हुए विस्मृत हारकी, उसे पुनः किसी अन्यके द्वारा जता दिये जानेपर हुई, प्राप्तिकी नाईं आत्मज्ञानके लाभके लिए गुरुके उपदेश आदि क्रम कारणरूप न होते हुए भी अत्यन्त कारणताको प्राप्त हो गये हैं ॥ १३ ॥

क्रमे गुरूपदेशानां प्रवृत्ते शिष्यबोधतः ।
अनिर्देश्योऽप्यदृश्योऽपि स्वयमात्मा प्रसीदति ॥ १४ ॥
शास्त्रार्थैर्बुध्यते नाऽऽत्मा गुरोर्वचनतो न च ।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतस्ततः ॥ १५ ॥
गुरूपदेशशास्त्रार्थैर्विना चाऽऽत्मा न बुध्यते ।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञानप्रकाशिनी ॥ १६ ॥
गुरुशास्त्रार्थशिष्याणां चिरसंयोगसत्तया ।
अह्नीव जनाचार आत्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ १७ ॥
कर्मबुद्धीन्द्रियाद्यन्तसुखदुःखादिसंक्षये ।
शिव आत्मेति कथितस्तत्सदित्यादिनामभिः ॥ १८ ॥

शिष्यके बोधके लिए गुरूपदेशोंका क्रम प्रवृत्त हो जानेपर अनिर्देश्य और अदृश्य भी आत्मा उसे स्वयं अभिव्यक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

इस तरह गुरूपदेश आदिकी आवश्यकता उपस्थित रहते उनमें अकारणताकी उक्ति कैसे ? इसपर कहते हैं—'शास्त्रार्थै०' इत्यादिसे ।

यह आत्मा न तो शास्त्रार्थोंसे और न गुरुके वचनोंसे ही अवगत होता है, किन्तु यह स्वयं ही उक्त अपने बोधवशसे जाना जाता है ॥ १५ ॥

और गुरुके उपदेशों और शास्त्रार्थों के बिना भी यह आत्मा अवबुद्ध नहीं होता, क्योंकि इन सबके संयोगकी सत्ता ही स्वात्मज्ञानकी अभिव्यञ्जक है ॥ १६ ॥

गुरु, शास्त्रार्थ और शिष्यों के चिरसंयोगकी सत्तासे, दिनमें लोगोंके आचारकी नाईं, आत्मज्ञान प्रवृत्त होता है ॥ १७ ॥

यही कारण है कि परमानन्दस्वरूप यह आत्मदेव, जिसने अपने बोधसे सम्पूर्ण अमङ्गलोंका नाश कर दिया है, स्वतएव शिवशब्दके योग्य है, प्रवृत्तिनिमित्त-सापेक्ष नहीं—ऐसा पहले कहा गया है, यह कहते हैं—'कर्म०' इत्यादिसे ।

कर्मेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय आदिका नाश तथा सुख, दुःख आदिका क्षय होनेपर 'तत्', 'सत्' इत्यादि नामोंसे शिवस्वरूप आत्मा ही कहा गया है ॥ १८ ॥

यत्रेदमखिलं नाऽस्ति तद्रूपेणैव चाऽस्ति वा ।
तदाकाशादच्छतरमनन्तं सदिवाऽस्ति हि ॥ १९ ॥
अविश्रान्ततया यत्र तनुविद्यैर्मुमुक्षुभिः ।
विचित्रशुद्धमननकलङ्ककलितात्मभिः ॥ २० ॥
अदूर एव तिष्ठद्भिर्जीवन्मुक्तस्य दृक्पथे ।
मोक्षोपासकबोधाय शास्त्रार्थरचनाय च ॥ २१ ॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रप्रमुखैर्लोकपालैः सुपण्डितैः ।
पुराणवेदसिद्धान्तसिद्धये भावितात्मभिः ॥ २२ ॥
चिद्ब्रह्म शिव आत्मेशपरमात्मेश्वरादिका ।
एतस्मिन् कल्पिता संज्ञा निःसंज्ञे पृथगीश्वरे ॥ २३ ॥
एवमेतज्जगत्तत्त्वं स्वं तत्त्वं शिवनामकम् ।
सर्वथा सर्वदा सर्वसर्वं यत्सुखमास्व भोः ॥ २४ ॥

जहाँ बाधकालमें यह सम्पूर्ण जगत् विद्यमान नहीं रहता और आरोप-कालमें तद्रूपसे ही विद्यमान रहता है, वह अधिष्ठानतत्त्व—जो व्यावहारिक सत्‌से विलक्षण होनेके कारण सत्‌की नाईं त्रिकालमें भी विद्यमान है—आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ और अनन्त है ॥ १९ ॥

जीवन्मुक्तोंकी 'शिव', 'ब्रह्म', 'सत्' इत्यादि नामोंकी कल्पना भी अधिकारियोंके प्रबोधनके लिए ही है, यह कहते हैं—'अविश्रान्त०' इत्यादिसे ।

परमार्थस्वरूपमें विश्रान्त न होनेके कारण अल्पज्ञानी, अधिकारी जीवोंको सांसारिक बन्धनोंसे छुड़ानेकी चाह रखनेवाले, विचित्र जगत् और शुद्धतत्त्व के मननरूप कलङ्कसे युक्त मनवाले और परमार्थके समीपवर्ती जीवन्मुक्तके दृष्टि-पथमें स्थित हो रहे विशुद्ध अन्तःकरणवाले महापण्डित मुमुक्षु लोकपालोंने—जिनमें ब्रह्मा, इन्द्र और रुद्र प्रमुख हैं—मोक्षके लिए उपासना करनेवाले अपने भक्तोंके बोधके लिए, शास्त्रार्थकी रचनाके लिए (तत्त्व और तत्त्वज्ञान के उपायोंका भली-भाँति उपपादन करनेके लिए) एवं पुराण, वेद और भगवान् वेदव्यासके सूत्रोंकी सार्थकताके लिए बिना संज्ञावाले इस ईश्वरमें चिद्, ब्रह्म, शिव, आत्मा, ईश, परमात्मा और ईश्वर आदि पृथक्-पृथक् संज्ञाओंकी कल्पना कर रक्खी है ॥ २०–२३ ॥

हे वसिष्ठजी, इस तरह आकाश आदि जगत्‌के आरोपका अधिष्ठान होनेसे यह जगत्तत्त्व एवं तीनों अवस्थाओंके आरोपका अधिष्ठान होनेसे शिवनामक

शिव आत्मा परं ब्रह्मेत्यादिशब्दैस्तु भिन्नता ।
पुरातनैर्विरचिता तस्य भेदो न वस्तुतः ॥ २५ ॥
एवं देवार्चनं नित्यं ज्ञः कुर्वन् मुनिनायक ।
यत्राऽस्मदादयो भृत्यास्तत्प्रयाति परं पदम् ॥ २६ ॥

वसिष्ठ उवाच

अविद्यमानमेवेदं विद्यमानमिव स्थितम् ।
यथा तन्मे समासेन भगवन् वक्तुमर्हसि ॥ २७ ॥

ईश्वर उवाच

योऽसौ ब्रह्मादिशब्दार्थः संविदं विद्धि केवलम् ।
स्वच्छमाकाशमप्यस्य स्थूलं मेरुरणोरिव ॥ २८ ॥

स्व-तत्त्व, जो सर्वदा सब तरहसे सम्पूर्ण वस्तुओंके सब भावोंका निर्वाहक है, केवल ब्रह्मसुखरूप ही है, अणुमात्र भी दूसरा नहीं है, यह निश्चय कर आप स्थित हो जाइए ॥ २४ ॥

प्राचीन लोगोंने शिव, आत्मा और परब्रह्म इत्यादि नामोंसे भिन्नताकी रचना की है, वस्तुतः उसमें कुछ भी भेद नहीं है ॥ २५ ॥

हे मुनिनायक, इस प्रकार देवार्चन कर रहा ज्ञानी पुरुष उस परमपदमें पहुँच जाता है, जिस परम शिवपदमें एक-एक गुणके अभिमानी हम सब भी अनुचरोंकी तरह सृष्टि आदि कर्मोंमें लगाये गये हैं ॥ २६ ॥

अब शुद्ध चितिमें जीवभाव और उसके संसरणारोपक्रम की जिज्ञासा कर रहे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं—'अविद्यमान०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे भगवन्, अविद्यमान ही यह जगत् विद्यमानकी नाईं जिस प्रकारसे स्थित है, वह सब कुछ संक्षेपरूपसे मुझसे कहनेकी कृपा कीजिए ॥ २७ ॥

उत्तरोत्तर आरोपमें स्थूलताका आधिक्य (वृद्धि) कहनेके लिए परम सूक्ष्मरूप मूल दिखलाते हैं—'योऽसौ' इत्यादिसे ।

ईश्वरने कहा—हे मुने, जो यह अपरोक्षरूपसे प्रतीयमान ब्रह्म, परमात्मा, परज्योति इत्यादि शब्दोंका अर्थ यानी प्रतिपाद्य वस्तु है, उसे विशुद्ध संवित्

सा वेद्यमिह गच्छन्ती याति चिन्नामयोग्यताम् ।
अप्यवेद्यवती नूनमुन्मन्यन्तपदस्थिता ॥ २९ ॥
क्षणाद्भावितवेद्यत्वादहन्तामनुगच्छति ।
पुरुषत्वात् पुमान् स्वप्ने वनवारणतामिव ॥ ३० ॥
अस्याहन्तादिरूपाया देशतां कालतां गताः ।
संपद्यन्ते ततः शून्यरूपिण्यः सख्य एव ताः ॥ ३१ ॥
ताभिः संवलिता सैव सत्ता जीवाभिधानिका ।
भवति स्पन्दविज्ञाना पवनस्येव लेखिका ॥ ३२ ॥
जीवशक्तिस्तथाभूता निश्चयैकविलासिनी ।
बुद्धितामनुयाता सा भवत्यज्ञपदे स्थिता ॥ ३३ ॥

(चिति) ही समझिए । इसका प्रथम आरोपरूप आकाश इस प्रकार महान् है, जिस प्रकार अणुसे मेरु [भाव यह है कि चितिकी सूक्ष्मता और जड़की सूक्ष्मता में मेरु और अणु के समान विस्पष्ट ही अन्तर है ।] ॥ २८ ॥

वास्तवमें अवेद्यवती निर्विकल्पक समाधिमें प्रसिद्ध चिदानन्दैकरस-स्वभावमें स्थित होती हुई भी वह संवित् जब विषय-गोचर संस्कारोंके उद्बोधसे विषय-कल्पनाओंमें उन्मुख होती है तब चेतनात् चित् यानी प्रकाशन करनेसे 'चित्' इस क्रियानिमित्त नामके योग्य बन जाती है ॥ २९ ॥

फिर तत्काल ही विषयोंमें तादात्म्यभावनासे अहन्ताको (अहङ्काररूपको) उस प्रकार प्राप्त कर लेती है, जिस प्रकार स्वप्नमें पुरुष अपना पुरुषत्वधर्म छोड़-कर हाथीकी भावनासे जंगली हाथीकी रूपताको प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

अहङ्काररूपताको प्राप्त हुई इस चितिकी पहले इयत्ता और पौर्वापर्य का अवगाहन करनेके कारण देश-कालरूपतामें प्राप्त हुई कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं । तदनन्तर वे शून्यरूप कल्पनाएँ स्वयं ही उसकी सखीके रूपमें अवस्थित हो जाती हैं ॥ ३१ ॥

देश और काल की कल्पनाओंसे संवलित वही चित्सत्ता 'अहम्' इत्याकारक अभिमानमें हेतुभूत संस्कारोंके उद्बोधसे स्पन्दन और विज्ञान से युक्त होती हुई वायुलेखाके सदृश आभ्यन्तर प्राणस्पन्द-शक्तिसे युक्त होकर 'जीव' संज्ञावाली हो जाती है ॥ ३२ ॥

इस तरह निश्चयके संस्कारोंका उद्बोध होनेपर बुद्धि आदि शब्दोंकी वाच्य भी वही शक्ति होती है, यह कहते हैं—'जीव०' इत्यादिसे ।

शब्दशक्त्या क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्त्याऽनुगम्यते ।
प्रत्येकं प्रस्फुरत्यन्तरप्रदर्शितरूपया ॥ ३४ ॥
मिलित्वैष गणः क्षिप्रं स्मृतिं समनुकूलयन् ।
मनो भवति भूतात्म बीजं सङ्कल्पशाखिनः ॥ ३५ ॥
आतिवाहिकदेहोक्तिभाजनं तद्विदुर्बुधाः ।
अन्तःस्थया ब्रह्मशक्त्या ज्ञरूपं स्वात्मनाऽऽत्मदृक् ॥ ३६ ॥
सम्पद्यमाना एवाऽस्मिंश्चेतसीमा हि शक्तयः ।
पश्चादिह बहिष्ठास्ता उद्यन्त्यनुदिता अपि ॥ ३७ ॥

उस प्रकारकी जीवशक्ति ही एकमात्र निश्चयरूप विलासवाली होकर बुद्धि-रूपताका अनुसरण करती हुई अज्ञपदमें स्थित हो जाती है ॥ ३३ ॥

तदनन्तर कायिक, वाचिक और मानसिक व्यवहारोंके संस्कारोंके उद्बोधसे तात्त्विक आत्मस्वरूपको बिलकुल छिपा रखनेवाली शब्दशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति *—ये तीनों ही शक्तियाँ अहन्ताका अनुगमन करती हैं यानी अहन्ताके पीछे-पीछे दौड़ती फिरती हैं, जिनमें प्रत्येकका हृदयके अन्दर स्फुरण हुआ करता है ॥ ३४ ॥

यह पूर्वोक्त अहङ्कारादिसमूह शब्दशक्त्यादिसे अनुगत होकर शीघ्र स्मरण-शक्तिकी भलीभाँति कल्पना करता हुआ सङ्कल्परूपी वृक्षका बीजभूत, पञ्चभूतात्मक मन बन जाता है ॥ ३५ ॥

ज्ञानी लोग उसे ही (मनको ही) 'आतिवाहिक देह है' इस उक्तिका विषय बतलाते हैं । वही भीतरमें स्थित आवरणरहित साक्षीस्वरूप ब्रह्मशक्तिसे व्याप्त होकर प्रमातृस्वरूप बन जाता है । और स्वसाक्षी आत्माकी स्वप्रकाशताके बलसे आत्माको जानता है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार अन्दरकी कल्पना बाह्य दृश्यसत्ताकी कल्पनामें कारण है, यह कहते हैं—'सम्पद्यमाना' इत्यादिसे ।

ये पूर्वोक्त कल्पनाएँ पहले इस चित्तमें उत्पन्न होती हुई ही पीछे फिर इसमें, कहे जानेवाले बाह्य दृश्याकारमें परिणत होकर, उदित न हुई भी उदित होती हैं ॥ ३७ ॥

---

* शब्दव्यवहारमें हेतु है—शब्दशक्ति, ज्ञानव्यवहारमें हेतु है—ज्ञानशक्ति और क्रिया-व्यवहारमें हेतु है—क्रियाशक्ति ।

वातसत्ता स्पन्दसत्ता स्पर्शसत्ता तथैव च ।
त्वक्सत्ता तेजसां सत्ता तथा सत्ता प्रकाशिनी ॥ ३८ ॥
रूपसत्ता जलसत्ता स्वादुसत्ता तथैव च ।
तथैव रससत्ता च गन्धसत्ता तथैव च ॥ ३९ ॥
भूसत्ता हेमसत्ता च पिण्डसत्ता च पीवरी ।
देशसत्ता कालसत्ता सर्वाढ्याकारवर्जिता ॥ ४० ॥
सर्वसत्तागणं चैतत् क्रोडीकृत्य स्वरूपवत् ।
स्फुरत्याश्रित्य पत्रादि बीजं बीजादितां गतम् ॥ ४१ ॥
एतत्पुर्यष्टकं विद्धि देहोऽयं चाऽऽतिवाहिकः ।
अपारबोधमेतत्तु स्फुरत्यङ्ग विभागवत् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर वायुकी सत्ता तथा उसका प्रकाश करनेवाली स्पन्दसत्ता ; स्पर्शकी सत्ता और उसका प्रकाश करनेवाली त्वगिन्द्रियकी सत्ता एवं सम्पूर्ण तेजोंकी सत्ता और तेजः-सत्ताओंका प्रकाश करनेवाली यानी प्रत्यक्षज्ञान करानेवाली चक्षुरिन्द्रियकी सत्तारूप हो जाती है ॥ ३८ ॥

एवं रूपसत्ता, जलसत्ता और वैसी ही स्वादकी सत्ता एवं स्वाद बत-लानेवाली रसनेन्द्रियकी सत्ता और उसी प्रकार गन्धकी सत्ता बन जाती है ॥ ३९॥

एवं पृथ्वीकी सत्ता, चाँदी और सुवर्णमय ब्रह्माण्डखर्परोंकी सत्ता एवं अत्यन्त विपुल ब्रह्माण्ड-पिण्डकी सत्ता, देशसत्ता और समस्त आढ्य आकारोंसे वर्जित कालकी सत्ता बन जाती है ॥ ४० ॥

इस उपर्युक्त इन सब सत्ताओंके समूहको अपने स्वरूपकी नाईं गोदमें लेकर यानी तादात्म्यभावसे इन सबका संग्रह कर—जैसे बीज अपने उत्तरोत्तर परि-णामसे अङ्कुर, काण्ड, शाखा और प्रशाखाओं में पहुँचकर (फैलकर) पत्ते आदिका आश्रयण करता हुआ अर्थात् पत्ते आदिको अपनेसे पृथक् न समझता हुआ स्फुरित होता है; वैसे ही जो—यह स्फुरित हो रहा है, इसे यानी उपर्युक्त सब सत्ताओंको अपनेसे अभिन्न समझकर बैठे रहनेवालेको हे मुने, आप स्थूलादि तीन देहवाला पुर्यष्टक जानिए । यही वासनात्मक होनेसे आतिवाहिक देह भी कहलाता है । अपरिच्छिन्न चित्स्वरूप ब्रह्म ही उक्त प्रकारके विभागवाला होकर स्फुरित हो रहा है, न कि और कोई दूसरा ॥ ४१, ४२ ॥

एवमाद्यङ्ग सम्पन्नं सम्पन्नं न च किञ्चन ।
न ज्ञानं न च तद्रूपं न विदाऽचितचेतनम् ॥ ४३ ॥
परं परे प्रस्फुरितं केवलं केवलात्म सत् ।
जलपीठस्य जठरे जलद्रवविलासवत् ॥ ४४ ॥
संवित्संवेदनैकात्म पृथगेतदचेतनम् ।
सम्पद्यते परिज्ञातं सङ्कल्पनगरोपमम् ॥ ४५ ॥
संवेदनात् परिज्ञानाच्छिवतामेव गच्छति ।
अज्ञातमेव वा यत्तत् कथं गच्छति वस्तुताम् ॥ ४६ ॥

इस रीतिसे आरोपके क्रमका विस्तार कर अब उसका अपवाद-क्रम दिखलाते हैं—'एवमा०' इत्यादिसे।

हे महर्षे, अज्ञानियोंकी दृष्टिसे यों कहा गया सब कुछ सम्पन्न है, परन्तु तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिसे तो वह कुछ भी सम्पन्न नहीं है । वास्तवमें तो न कोई ज्ञान है, न पुर्यष्टकरूप आकृति है और न चिदाभाससे अचित्का चेतन ही होता है ॥ ४३ ॥

जैसे जलके आधारभूत समुद्रके उदरमें जल ही जलतरङ्गके विलासमें परिस्फुरित होता रहता है, वैसे ही परब्रह्ममें अद्वितीय सद्रूप ब्रह्म ही केवल परिस्फुरित हो रहा है ॥ ४४ ॥

यह कैसे समझमें आया ? इसपर कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

क्योंकि सब दृश्यसमूह संविद्रूप ही है, इस प्रकारका संवेदन (ज्ञान) होनेपर सब एकात्मक है । संविद्से पृथक् कर दिये जानेपर तो यह दृश्यसमूह, सङ्कल्पनगरकी नाईं, अचेतन यानी भासकशून्य परिज्ञात होता है । तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकारसे इसमें जीवन नहीं है ॥ ४५ ॥

किञ्च, इसका ज्ञान होनेपर इसमें वस्तुरूपता होगी या इसका ज्ञान न रहने पर वस्तुरूपता होगी ? दोनों तरहसे भी नहीं हो सकेगी, ऐसा कहते हैं—'संवेदनात्' इत्यादिसे ।

संवेदनसे यानी यथार्थ परिज्ञानसे सब दृश्य जगत् शिवरूपताको ही प्राप्त हो जाता है । जो ज्ञात है ही नहीं, वह वस्तुरूपताको कैसे प्राप्त करेगा ? ॥ ४६ ॥

अथैतद्विन्दते स्वान्तः सङ्कल्पादंशतां स्वतः ।
तन्मात्रसत्ता तस्याऽणोरेतां पश्यति देहके ॥ ४७ ॥
सर्वं स्थूलत्वमापन्नं तदेवाऽऽशु प्रपश्यति ।
तस्य तन्मात्ररन्ध्राणि यथादेशं प्रपश्यति ॥ ४८ ॥
ततः पुरुषरूपैकभावनात् पुरुषाकृतिम् ।
काकतालीयवद्दृष्ट्वा तुष्टं पुष्टं भवत्यलम् ॥ ४९ ॥
जीवदेतदवस्थाकं स्थितं पश्यति देहकम् ।
असन्तमेव गन्धर्वपुरं स्वप्ननरं यथा ॥ ५० ॥

इसपर यदि कोई कहे कि स्वतः चिन्मात्रस्वभाव होती हुई भी यह वस्तु 'बहु स्यां प्रजायेय' इस संकल्पके कारण अपने अन्दर ही दृश्यांशताको प्राप्त कर लेती है तो वह ठीक नहीं, क्योंकि सङ्कल्पद्वारा कल्पित वस्तुएँ मिथ्या ही हुआ करती हैं, इसलिए परमसूक्ष्म उस आत्माकी सूक्ष्ममात्रस्वभावसे जो सत्ता है, वह प्रथमकल्पित सूक्ष्मदेहमें ही चिरकालके अभ्यासके कारण स्थूलताका अवलोकन करती है—यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है ॥ ४७ ॥

और स्थूलदेहके सम्बन्धसे सब आन्तरिक कोशचतुष्टय तथा बाह्य विषय-समूहों का, जो स्थूलताको प्राप्त हो चुके हैं, ब्रह्म ही तत्काल अपनी कल्पनासे अवलोकन किया करता है। बाह्य रूप आदिके दर्शनमें वह उस देहके चक्षुरिन्द्रिय आदि स्वरूप छिद्रोंका यानी द्वारोंका भी जो विषयोंके अनुसार अपने-अपने कार्योंमें व्यवस्थित भी हैं, भलीभाँति अवलोकन किया करता है ॥ ४८ ॥

तदनन्तर हाथ, पैर आदि अवयवसमूहों तथा आन्तर कोशों में पुरुषके आकारके साथ तादात्म्यकी भावना करनेके कारण अपनेमें पुरुषकी आकृति देखता है और उसे काकतालीय-न्यायसे अकस्मात् व्यवहारमें समर्थ देखकर अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट हो जाता है ॥ ४९ ॥

इस अवस्थामें स्थित हुए जीवन धारण कर रहे इस असत् तुच्छ शरीरको, असत् ही स्वप्नावस्थाके मनुष्य और गन्धर्वनगर की नाईं, देखता रहता है ॥ ५० ॥

वसिष्ठ उवाच

गन्धर्वनगराकारमपि स्वप्ननरोपमम् ।
जगद्दुःखाय दुःखस्य काऽत्र युक्तिः परिक्षये ॥ ५१ ॥

ईश्वर उवाच

वासनावशतो दुःखं विद्यमाने च सा भवेत् ।
अविद्यमानं च जगन्मृगतृष्णाम्बुभङ्गवत् ॥ ५२ ॥
अतः किं वास्यते केन कस्य वा वासना कुतः ।
कथं स्वप्ननरेणाऽङ्ग मृगतृष्णाम्बु पीयते ॥ ५३ ॥

'यह सारा संसार मिथ्या है' ऐसा ज्ञान होनेपर भी यह जगत् दुःख पैदा करता रहता ही है, इसलिए दुःखकी औषधि मिथ्याज्ञानके सिवा कोई दूसरी ही बतलानी चाहिए, यह मान रहे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं—'गन्धर्व०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भगवन्, यह जगत् भले ही गन्धर्वनगरके आकारका हो तथा इसकी उपमा भले ही स्वप्नके नरसे दी जाय, फिर भी दुःखके लिए उपस्थित तो है ही। इसलिए दुःखके परिक्षयके लिए यहाँ कौन-सी युक्ति है ? ॥ ५१ ॥

जबतक वासनाका क्षय नहीं हो जाता, तबतक मिथ्यात्वका दृढ़तर निश्चय ही दुःखकी निवृत्तिमें एकमात्र उपाय है, आपाततः मिथ्यात्वज्ञानसे कुछ नहीं होता-जाता, इस आशयसे उत्तर देते हैं—'वासना०' इत्यादिसे।

ईश्वरने कहा—महर्षे, वासनाके कारण दुःख उत्पन्न होता है और वह वासना विद्यमान वस्तुमें हुआ करती है। यह जगत् तो मृगतृष्णाके जलके तरङ्गके समान अविद्यमान (मिथ्या) ही है ॥ ५२ ॥

जगत्में अत्यन्त असत्त्वका दृढ़ निश्चय हो जानेपर आश्रय और उसके विषय आदिका बिलकुल अभाव हो जानेसे ही वासनाकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती, यह कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे।

इसलिए किससे कौन वासित होगा और किसको कहाँसे वासना होगी ? हे महर्षे, स्वप्नावस्थाका पुरुष भला कैसे मृगतृष्णाके जलका पान कर सकता है ? ॥ ५३ ॥

सद्रष्टरि तु साहन्ते समनोमननादिके।
अविद्यमाने जगति यत्सत्तत् परिदृश्यते ॥ ५४ ॥
यत्र नो वासना नैव वासको नैव वास्यता।
केवलं केवलीभावः संशान्तकलनभ्रमः ॥ ५५ ॥
यस्य सत्योऽप्यसत्यो वा शून्य एव हि यक्षकः।
विलीनस्तस्य कैवल्यात् किमन्यदवशिष्यते ॥ ५६ ॥
शून्य एव हि वेताल इवेत्थं चित्तवासना।
उदितेयं जगन्नाम्नी तच्छान्तौ शान्तिरक्षता ॥ ५७ ॥
अहन्तायां जगति च मृगतृष्णाजले च यः।
सास्थस्तं धिग्घतनरं नोपदेश्यस्त्वसाविति ॥ ५८ ॥

द्रष्टाके सहित, अहन्तासे युक्त और मन तथा मनन आदिके साथ इस जगत्का परिशेषमें जब अस्तित्व ही नहीं रहता तब जो सद्वस्तु है, वही अवशिष्ट रह जाती है ॥ ५४ ॥

वहाँपर न तो कोई वासना रहती है, न कोई वासक रहता है और न कोई वासनाका विषय ही रहता है। किन्तु एकमात्र केवलीभाव यानी चिन्मात्रस्वभाव ही रहता है, जिसमें कि कलनाका भ्रम भलीभाँति शान्त हो चुका है ॥ ५५ ॥

जिस प्रौढकी दृष्टिमें व्यावहारिक या प्रातिभासिक दुष्ट संसाररूप यक्ष शून्य-स्वरूप होनेके कारण नित्य विलीन ही है, उसकी दृष्टिमें कैवल्यके सिवा कोई और दूसरा क्या अवशिष्ट रह सकता है? ॥ ५६ ॥

इस प्रकार शून्यमें ही वेतालकी नाईं यह चित्तवासना उत्पन्न हुई है, जिसका नाम जगत् है। उसकी शान्ति हो जानेपर अक्षत शान्ति ही अवशिष्ट रहती है ॥ ५७ ॥

अहन्तामें, जगत्में तथा मृगतृष्णाके जलमें जिस मनुष्यकी आस्था बँधी हुई है, उस कलमुहेंको बार-बार धिक्कार है! वह नालायक इस प्रकारके उपदेशके लायक नहीं ॥ ५८ ॥

जीवं विवेकिनमिहोपदिशन्ति तज्ज्ञा
नो बालमुद्भ्रममसन्मयमार्यमुक्तम् ।
अज्ञं प्रशास्ति किल यः कनकावदातां
स स्वप्नदृष्टपुरुषाय सुतां ददाति ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनं नामैकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततः स जीवो भगवन् दृष्टवान् देहसंभ्रमम् ।
आदिसर्गे नभःसंस्थः काममवस्थामुपैति हि ॥ १ ॥

वह क्यों उपदेशके योग्य नहीं है ? इसपर कहते हैं—'जीवम्' इत्यादिसे ।

इस जगत्में आत्मज्ञानी लोग विशिष्ट अधिकारप्राप्त जीवको ही उपदेश दिया करते हैं, न कि उस लड़केको, जो अधिकार प्राप्त न होनेसे अनेक प्रकारकी भ्रान्तियोंसे ग्रस्त है, आर्यों द्वारा उपेक्षित है एवं असद्रूप देह आदिमें अभिमान रखनेके कारण असन्मय है । जो पुरुष ऐसे अनधिकारी अज्ञानी जीवको उपदेश देता है, वह मानो सोने-सी सुन्दरी अपनी कन्या स्वप्नमें देखे गये पुरुषको देता है । वह भी एक बहुत बड़ा मूर्ख ही है, यह भाव है ॥ ५९ ॥

एकतालीसवाँ सर्ग समाप्त

बयालीसवाँ सर्ग

[ईश आदिसे लेकर समष्टि-व्यष्ट्यात्मक जो संसार है, वह सब माया ही है, यह उपदेश देकर भगवान् श्रीशङ्करका अपने वासस्थानके प्रति गमन—यह वर्णन]

'जीवदेतदवस्थाकं स्थितं पश्यति देहकम्' इस वचनसे पूर्व अध्यायके अन्तमें जो अध्यारोप कहा गया है, उसके शेषांशकी जिज्ञासा कर रहे महाराज वसिष्ठजी पूछते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

ईश्वर उवाच

परस्मात् परमे व्योम्नि पूर्वोक्तक्रमतो वपुः ।
जीवः पश्यति संपन्नं स च स्वप्ननरो यथा ॥ २ ॥
सर्वगत्वाचिद्‌घनस्य कार्यं स्वप्ननरोऽपि हि ।
यथा करोत्याशु- तथा जीवोऽद्यापि शरीरधृक् ॥ ३ ॥
सनातनोऽहमव्यक्तः पुमानित्यभिधां ततः ।
करोत्यात्मनि तेनाऽऽशु प्रथमः प्रथितः पुमान् ॥ ४ ॥
एवं स सर्गे कस्मिंश्चित् प्रथमोऽथ सदाशिवः ।
कस्मिंश्चिद्विष्णुरित्युक्तो नाभ्युत्पन्नः पितामहः ॥ ५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे भगवन्, तदनन्तर सृष्टिके आदिमें यानी कल्पके प्रथम अध्यासक्रममें देहविभ्रमको देख रहा वह जीव आकाशमें स्थित होकर किस अवस्थाको प्राप्त करता है ? ॥ १ ॥

भगवान् शङ्करने कहा—हे मुने, जिस प्रकार स्वप्नमनुष्य अतिसूक्ष्म नाडियोंमें अत्यन्त विस्तृत ब्रह्माण्ड देखता है, उसी प्रकार वह जीव भी परम सूक्ष्म चिदाकाशमें पूर्वोक्त क्रमके अनुसार बना हुआ शरीर देखता है ॥ २ ॥

कथित दृष्टान्तके आशयका ही पुनः विवरण करते हैं—'सर्वगत्वात्' इत्यादिसे ।

जैसे आज भी स्वप्नमनुष्य चैतन्यघन आत्माके सर्वत्र व्यापक होनेसे ब्रह्माण्डरूप कार्य करता है, वैसे ही शरीरधारी जीव भी ब्रह्माण्डरूप कार्य करता है ॥ ३ ॥

आदि सर्गमें वही जीव समष्ट्यात्मक उपाधिसे युक्त होकर हिरण्यगर्भ नाम धारण कर अपनेमें और बाहरकी वस्तुओंमें नामभेदोंका भी व्यपदेश करता है, यह कहते हैं—'सनातनः' इत्यादिसे ।

इसके बाद वह मैं सनातन अव्यक्त 'पुरुष' हूँ, इस प्रकार पुरुष-नामका अपने ही स्वरूपमें निर्माण करता है और उसीसे प्राथमिक पुरुषके रूपमें शीघ्र प्रकाशित होता है ॥ ४ ॥

वही सात्त्विक, राजस और तामस कल्पोंमें सदाशिव आदि मूर्तियोंकी पहले कल्पना कर फिर दूसरोंकी कल्पना करता है, ऐसा कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार वही जीव किसी सर्गमें पहला पुरुष सदाशिव होता है, बाद किसी सर्गमें विष्णु तो किसी तीसरे सर्गमें विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न ब्रह्मा कहा जाता है ॥ ५ ॥

पितामहः स कस्मिंश्चित् कस्मिंश्चिदपि चेतरः ।
स च सङ्कल्पपुरुषः सङ्कल्पान्मूर्तिमास्थितः ॥ ६ ॥
पुष्टः प्रथमसङ्कल्पस्तां मनोमूर्तिमास्थितः ।
यद्यथा कल्पयत्याशु तत्तथाऽनुभवत्यलम् ॥ ७ ॥
तत्त्वसद्रूपमखिलं शून्यवेतालको यथा ।
भ्रमदृष्ट्या तु सद्रूपमित्यहन्ता जगद्गतिः ॥ ८ ॥
द्रष्टादिपुरुषस्त्वेवं स्वयं सम्पद्यते हि यः ।
स निमेषं प्रति व्योम समुदेत्यथ नीयते ॥ ९ ॥

'आकाशप्रभवो ब्रह्मा' (ब्रह्मा आकाशसे उत्पन्न होता है) इस पूर्व-रामायणकी उक्तिसे पितामह नाभिसे ही उत्पन्न होता है, यह कोई नियम नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'पितामहः' इत्यादिसे ।

किसी सर्गमें वह पितामह कहा जाता है तो किसी सर्गमें दुर्गा, भैरव, विनायक आदि कहा जाता है, परन्तु वह सदाशिव आदिपुरुष सङ्कल्पमय है यानी 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिमें उक्त मायिक सङ्कल्परूप है और सङ्कल्पसे ही आकार प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

सूक्ष्म भूतोंकी सृष्टिके द्वारा पुष्ट हुआ प्रथमसङ्कल्प ही उस समष्टिव्यष्टि-स्वरूप मनोमय मूर्ति प्राप्तकर यानी हिरण्यगर्भ होकर जिस भुवन, प्रजा, सृष्टि आदिकी जिस तरहसे कल्पना करता है, उसे उसी तरहसे व्यवहारयोग्य अनुभव करता है ॥ ७ ॥

जिस तरह शून्यस्वरूप वेताल तात्त्विक दृष्टिसे असद्रूप और भ्रमदृष्टिसे सद्रूप भासता है, उसी प्रकार यह समस्त प्रपञ्च तत्त्वदृष्टिसे असत् और भ्रमदृष्टिसे सद्रूप भासता है, इसलिए जगत्‌का विज्ञान केवल अहन्ता ही है ॥ ८ ॥

उक्त रीतिसे जो आदिपुरुष स्वरचित वस्तुके प्रति द्रष्टारूप हो जाता है, वह निमेषमात्र कालमें ही एकमात्र अपने स्वरूपके पर्यालोचनसे चिदाकाशस्वरूप हो जाता है और स्वरूपका विस्मरण होनेपर तो उसे निमेषमात्र काल ही अनन्त और असीम संसारके प्रति ले जाता है ॥ ९ ॥

निमेष एव कल्पो यो महाकल्पपरम्पराम् ।
प्रतिभासविपर्यासमात्रेणाऽनुभवत्यलम् ॥ १० ॥
परमाणौ परमाणौ व्योम्नि व्योम्नि क्षणे क्षणे ।
सर्गकल्पमहाकल्पभावाभावा भवन्ति ते ॥ ११ ॥
दृश्यन्ते केचिदन्योन्यं साधर्म्याद्वासनागतेः ।
मिथः केचिन्न दृश्यन्ते दृष्टेनाऽथ सदात्मना ॥ १२ ॥
सर्गाः सर्गेण सर्वत्र संभवन्ति न ते शिवे ।
भवन्ति परमे व्योम्नि व्योमरूपा इति स्वयम् ॥ १३ ॥
स्वयं च सदसद्रूपा लीयन्ते स्वप्नशैलवत् ।
सर्गैर्न देश आक्रान्तो न च कालो न कर्तृता ॥ १४ ॥

वह निमेष ही कल्पनामें समर्थ है, जो केवल प्रतिभासके विपर्याससे यानी पराक्प्रवणतासे महाकल्पोंकी परम्पराका भलीभाँति अनुभव करता है ॥ १० ॥

परमाणु-परमाणुमें, व्योम-व्योममें (महाकाश और सूईके छेद आदि आकाशमें) तथा क्षण-क्षणमें भी वे सृष्टि, कल्प और महाकल्प के आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

वे सृष्टि-भेद जितने जीवोंमें समानसमयमें समानविषयक वासनाका प्रादुर्भाव होगा, उतने जीवोंके परस्पर दर्शन आदि व्यवहारोंसे युक्त होंगे, दूसरोंके लिए दर्शन आदि व्यवहारोंसे युक्त नहीं होंगे, यों ऐन्दवके उपाख्यानप्रकारका आश्रयण कर कहते हैं—'दृश्यन्ते' इत्यादिसे ।

कोई लोग वासनागतिकी समानतासे अन्योन्यदर्शन आदि व्यवहारके योग्य देखे जाते हैं और कोई अधिष्ठान सद्रूप आत्माके ज्ञात हो जानेसे परस्पर व्यवहारयोग्य नहीं देखे जाते ॥ १२ ॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं—'सर्गाः' इत्यादिसे ।

चूँकि सर्गरूपसे स्थित जीवके द्वारा सम्भाव्यमान होकर ही वे सर्ग उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे परमचिदाकाशस्वरूप परमात्मामें उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि वहां-पर वे चिदाकाशस्वरूपमें ही पर्यवसित हैं ॥ १३ ॥

सर्ग ब्रह्मसत्तासे निरपेक्ष होकर अपनी सत्तासे ही या देश-कालसम्बन्धके बलसे प्राप्त सत्तासे ही रहें ? इस शङ्कापर कहते हैं—'स्वयं च' इत्यादिसे ।

न चैते सत्स्वरूपा वा न कल्प्यं नाऽपि च क्षणः ।
न चेदं जायते किञ्चिन्न च किञ्चन नश्यति ॥ १५ ॥
सर्वं सङ्कल्परूपेण चिच्चमत्कुरुते चिति ।
स्वप्नपत्तननिर्माणपातोत्पातनवज्जगत् ।
न देशकालक्रमणं करोति च मनागपि ॥ १६ ॥

ये सर्ग स्वप्नकालीन पर्वतकी नाईं सद्रूप और असद्रूप होकर विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार देश और काल भी सर्गोंसे पहले आक्रान्त नहीं थे और न सर्गोंकी कर्तृता ही थी ॥ १४ ॥

तब सभी सर्ग प्रलयपर्यन्त स्वयं ही सत्स्वरूप होंगे ? इसपर कहते हैं— 'न चैते' इत्यादिसे ।

ये सर्ग सत्स्वरूप नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर 'सर्ग' और 'सत्' दोनों पद एकदूसरेके पर्याय हो जानेसे सर्गकी अविनाशापत्ति हो जायगी 'नाभावो विद्यते सतः' इससे भगवान्‌ने सत् पदार्थोंका अविनाश ही सिद्ध किया है। [तब सर्गमें अध्यस्त ही सत्त्व मान लिया जाय ? इसपर कहते हैं—'न कल्प्यम्' से ।] सर्गमें अध्यस्त भी सत्त्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वयं असद्-रूप सर्गमें सत्त्वाध्यासकी अधिष्ठानरूपता ही सिद्ध नहीं हो सकती । [तब वैनाशिक-मतके सदृश धारारूपसे अनुगत तत्-तत् क्षणरूप ही सत्त्व सर्गमें मानिये, इसमें क्या आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—'नाऽपि' से ।] सर्गमें क्षणरूप सत्त्व भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि क्षणरूप सत्त्व प्रतीतिकालपर्यन्त ठहर नहीं सकता । यदि अत्यन्त अप्रतीतमें भी सत्ता मान ली जाय तो गगनकुसुम आदि अलीक पदार्थोंमें भी सत्त्वकी आपत्ति हो जायगी। [इससे आद्यक्षण और अन्तक्षण के सम्बन्धरूप जन्म और विनाश भी सर्गमें निरस्त हो गये, इस आशयसे कहते हैं—'न चेदम्' से ।] न तो यह सर्ग कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है ॥ १५ ॥

ऐसी परिस्थितिमें हमारे सिद्धान्तकी ही शरण लेनी चाहिए, इस आशयसे पूर्वोक्त सिद्धान्तका स्मरण कराते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

चिति ही सम्पूर्ण प्रपञ्चको सङ्कल्परूपसे अपनेमें उस प्रकार चमत्कृत करती है, जिस प्रकार स्वप्नमें नगरका निर्माण, पतन और उत्पतन चमत्कृत होता है और तनिक भी देश और काल से सम्बन्ध नहीं करता ॥ १६ ॥

यथा सङ्कल्पशैलेन देशकालाद्यनन्तकम् ।
आक्रान्तमपि नाऽऽक्रान्तं तथैव जगता सता ॥ १७ ॥
अथ नाऽऽक्रान्तमक्रान्तमिव सङ्कल्पमेरुणा ।
यथोच्चैर्देशकालादि तथैव जगता सता ॥ १८ ॥
सम्पद्यते यथा योऽसौ पुरुषः सर्वकारकः ।
अनेनैव क्रमेणेह कीटः सम्पद्यते क्षणात् ॥ १९ ॥
तस्थुषामेवमेवेह जातयो हि चतुर्विधाः ।
रुद्राद्यास्तृणपर्यन्ताः सम्पद्यन्ते क्षणं प्रति ॥ २० ॥
परमाणूपमाः सन्ति तथा केचिदणूपमाः ।
एष एव क्रमस्तेषां सति वाऽसति सर्गके ॥ २१ ॥

तब सर्गमें देश एवं काल दोनोंसे आक्रान्तत्वका अनुभव कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे सङ्कल्पमय पर्वतसे असीम देश, काल आदिके आक्रान्त होनेपर भी वास्तवमें वे आक्रान्त नहीं कहे जा सकते, वैसे ही व्यावहारिक सत्तासे युक्त इस जगत्से देश, काल आदिके आक्रान्त होनेपर भी वे वास्तवमें आक्रान्त नहीं कहे जा सकते ॥ १७ ॥

जिस तरह उन्नतरूपसे अवस्थित सङ्कल्पमय मेरुपर्वतसे वास्तवमें आक्रान्त न हुए ही देश, काल आदि सङ्कल्पकालमें आक्रान्त-से प्रतीत होते हैं, वैसे ही व्यावहारिक जगत्से अनाक्रान्त भी देश, काल आदि सङ्कल्प-कालमें आक्रान्त-से प्रतीत होते हैं ॥ १८ ॥

इसीसे सङ्कल्पके अनुसार ही पुरुष, कीट, स्थावर आदि जन्मवैचित्र्य होता है, ऐसा कहते हैं—'सम्पद्यते' इत्यादिसे ।

ऐहिक और आमुष्मिक सभी क्रियाओंमें समर्थ जो यह पुरुष है, वह जिस क्रमसे उत्पन्न होता है, उसी क्रमसे यहाँ क्षणमें कीट भी हो जाता है ॥ १९ ॥

उसी प्रकार इस ब्रह्माण्डमें स्थावरोंकी योनियाँ भी उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार अण्डज आदि चार प्रकारकी जातियाँ और रुद्रसे लेकर तृणपर्यन्त सभी पदार्थ मायाधिष्ठाताके सङ्कल्पकालमें उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २० ॥

कोई सर्ग वासनाकी सूक्ष्मताके कारण परमाणुके सदृश सूक्ष्म हैं और कोई

अस्याः संसारमायाया एवम्भूतार्थभावनात् ।
भेदोपशान्तावभ्यासाद्भवत्युपगतः शिवः ॥ २२ ॥
निमेषशतभागार्धमात्रमेव परा चितिः ।
स्वरूपतश्चेल्लुठिता सैषोदेत्यनवस्थितिः ॥ २३ ॥
सा ज्ञरूपा शिलाकाश इव चित् स्वात्मनि स्थिता ।
तद्नाद्यवभासात्म ब्रह्मशब्देन गीयते ॥ २४ ॥
अस्मिन् प्रौढिं गते सर्गे महाचिद्द्योतनं न च ।
सङ्कतासत्यदिग्देशकालांशपरमाणुता ॥ २५ ॥

सर्ग वासनाके स्वल्प विकाससे त्रसरेणुके सदृश बड़े हैं, यही क्रम भूत एवं भावी सर्गके विषयमें भी जानना चाहिए ॥ २१ ॥

तब कैसे इस सृष्टिका उपरम होता है ? इसपर कहते हैं—'अस्याः' इत्यादिसे ।

परमार्थतत्त्वका चिन्तन करनेसे अनिर्वचनीय इस संसारमायाका विभेद विनष्ट हो जाता है, तदनन्तर अभ्याससे शिवरूप पूज्यतत्त्व प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

एक क्षणके सहस्रांश कालमात्रमें भी यदि कहीं चिदात्मा बहिर्मुख हो जाय, तो करोड़ों कल्पोंमें फैले हुए असंख्य अनर्थ प्राप्त हो जाते हैं, यह कहते हैं—'निमेष०' इत्यादिसे ।

निमेषमात्रके किये गये सौ भागोंमें से किसी एकके आधे भागमात्र काल-पर्यन्त ही यदि परा चिति अपने वास्तव स्वरूपसे गिर जाय, तो वही महान् अनर्थरूपसे उदित हो जाती है ॥ २३ ॥

चितिकी स्वरूपप्रतिष्ठा ही ब्रह्मरूपता है, इसे कहते हैं—'सा' इत्यादिसे ।

तत्त्ववित् पुरुषोंके द्वारा अनुभूत होनेवाली, शिलाकाशकी नाईं अपने स्वरूपमें अवस्थित चिति ही सूर्य आदि प्रकाशोंसे प्रकाशित न होनेवाले जन्मशून्य ब्रह्मचैतन्यस्वरूप है, अतः वह ब्रह्मशब्दसे कही जाती है ॥ २४ ॥

अभिमानकी अभिवृद्धिसे उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों सृष्टि प्रौढ़ बनती जाती है, त्यों-त्यों चिदात्माके प्रकाशका ह्रास और भेदाधिक्य से उत्पन्न क्षुद्रता आत्मामें प्राप्त होती जाती है, यों कहते हैं—'अस्मिन्' इत्यादिसे ।

जीवतामागता भूततन्मात्रवलनाक्रमात् ।
भवत्यङ्ग मृगीवीरुत्कीटदेवासुरादिकम् ॥ २६ ॥
यस्मिन्नित्ये ततेऽनन्ते दृढे स्रगिव तिष्ठति ।
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वगे विश्वकर्मणि ॥ २७ ॥
न तद्दूरे न निकटे नोर्ध्वे नाऽधो न ते न मे ।
न पूर्वं नाऽद्य न प्रातर्न सन्नाऽसन्न मध्यमम् ॥ २८ ॥
अनुभवकलनामृतेऽस्य माता
भवति न सर्वविकल्पनेष्वसत्सु ।
फलदुरुविभवा प्रमाणमाला
स्थितिमुपयाति न वारिणीव वह्निः ॥ २९ ॥

इस सर्गके प्रौढ़ हो जानेपर महाचैतन्यका प्रकाश नहीं होता और मिथ्याभूत दिक्, देश और काल से जनित परिच्छेदोंसे आत्मामें मशकपर्यन्त महान् सूक्ष्मता और क्षुद्रता प्राप्त हो जाती है ॥ २५ ॥

हे प्रिय मुने, ब्रह्मचिति उपाधिवश जीवभावको प्राप्त होकर देह, इन्द्रिय आदिके संवलन-क्रमसे मृगी, लता, कीट, देव, असुर आदिरूप हो जाती है ॥ २६ ॥

इसीलिए दृढ़ सूत्रमें गूँथी गई मालाकी नाईं यह विश्व सत् और असत्-रूप सूत्रमें गूँथा गया स्थित है, ऐसा कहते हैं—'यस्मिन्' इत्यादिसे,

नित्य, व्यापक, अनन्त, दृढ़ और विश्वके अन्दर रहनेवाले विश्वके कर्ता जिस परब्रह्ममें मालाकी नाईं सत् एवं असत् से ग्रथित जगत् रहता है; विवेक होनेपर वह न दूर है, न समीप है, न ऊपर है, न नीचे है, न तुम्हारा है, न मेरा है, न पहले था, न आज है, न प्रातःकालमें है, न सत् है, न असत् है और न सत् और असत् के मध्यमें रहनेवाला यानी अनिर्वचनीय है ॥ २७, २८ ॥

इसीलिए अपना अनुभव ही एकमात्र उसमें प्रमाण है, लौकिक प्रमाता, प्रमाण आदिकी वहाँ गति है ही नहीं, ऐसा कहते हैं—'अनुभव०' इत्यादिसे ।

उक्त रीतिसे जब सभी विकल्प असद्रूप हैं तब इस आत्मतत्त्वका अनुभव करनेवाला स्वप्रकाश चैतन्यको छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं हो सकता। इस परम तत्त्वमें बड़े-बड़े व्यवहार-विभवोंका प्रसव करनेवाली लौकिक प्रमाणमाला

यथा पृष्टं मुने प्रोक्तं त्वयि कल्याणमस्तु ते ।
दिशं प्रयामोऽभिमतामागच्छोत्तिष्ठ पार्वति ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा नीलकण्ठोऽसौ त्यक्तपुष्पाञ्जलौ मयि ।
ततार परिवारेण सममम्बरकोटरम् ॥ ३१ ॥

तस्मिन् गते त्रिभुवनाधिपतावुमेशे
स्थित्वा क्षणं तदनुसंस्मृतिपूर्वमेव ।
अङ्गीकृतं नवपवित्रधिया मयाऽऽत्म-
देवार्चनं शमवतैव जिहासितं तत् ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमात्माभिधानं नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

उस प्रकार अपनी स्थिति नहीं बना सकती, जिस प्रकार जलमें अग्नि अपनी स्थिति नहीं बना सकता ॥ २९ ॥

हे मुने, जैसा तुमने पूछा, वैसा ही मैंने उत्तर भी दिया। तुम्हारा कल्याण हो। अब हम लोग अपनी अभिमत दिशाकी ओर जा रहे हैं। हे पार्वतीजी, आइये, उठिये ॥ ३० ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, ये नीलकण्ठ भगवान् शङ्कर ऐसा कहकर, जिनके ऊपर मैंने उस समय पुष्पाञ्जलि समर्पित कर दी थी, अपने परिवारके साथ आकाशकोटरकी ओर उड़ गये ॥ ३१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, पहलेसे ही समाधिसाधनोंसे सम्पन्न मैंने त्रिभुवनके अधिपति उमापतिके जानेके बाद क्षणभर चुप रह कर उनके स्मरणपूर्वक उनके द्वारा उपदिष्ट नित्य अपरोक्ष आत्मरूप देवताका पूजन नवीन (परिष्कृत) और श्रद्धा आदिसे पवित्र हुई बुद्धिसे अङ्गीकृत किया और पहलेका वह जड़ देवार्चन छोड़ दिया ॥ ३२ ॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतदुक्तं परं तेन स्वयमेव च वेद्म्यहम् ।
राम त्वमपि जानीषे यथेदं समवस्थितम् ॥ १ ॥
यत्राऽलीकमलीकेन किलाऽलीके विलोक्यते ।
तस्यां संसारमायायां किं सत्यं किमसन्मयम् ॥ २ ॥
यथा येन विकल्पेन यद्विकल्पेन कथ्यते ।
तथा तेनाऽऽत्मकल्पेन नगताऽप्यनुभूयते ॥ ३ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग

[वैराग्यसे पूर्ण स्वात्मस्वरूप शिवजीका पूजन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी प्रबुद्ध हो गये और स्वयं कृतकृत्य होकर शिवार्चनमें तत्पर हो गये—यह वर्णन]

तत्त्वसाक्षात्कारमें पर्यवसित, ईश्वर द्वारा उपदिष्ट, स्वात्मरूप शिवजीके पूजनकी—श्रीरामजीको श्रद्धाधिक्य होनेके लिए—प्रशंसा कर रहे वसिष्ठजी स्वयं उसका पुनः उपदेश देते हैं—'एतदुक्तम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, महादेव शङ्करजीने सर्वोत्कृष्ट यह स्वात्मशिवार्चनरूप पूजन मुझसे कहा और स्वयं मैं भी उसे जानता हूँ । जिस तरहका यह जगत्का स्वरूप अवस्थित है उसे आप भी जानते ही हैं ॥१॥

भद्र, जिस असद्रूप मायारूप भ्रममें असद्रूप उपाधिसे घटित होनेके कारण असद्रूप जीव असत् ही जगत् देखता है, उस असदात्मक संसारमायामें क्या सत्य हो सकता है और क्या असत्य हो सकता है ? ॥ २ ॥

उसमें कविद्वारा कल्पित मेरु-रूपसे राजा आदिके वर्णनमें उस प्रकारका अनुभव दृष्टान्त है, ऐसा कहते हैं —'यथा' इत्यादिसे ।

अनेक तरहकी कल्पना करनेवाले कवियोंके द्वारा की गई जिन राजा आदिमें मेरु आदि विविध भावोंकी कल्पनारूप काव्य-रचनासे जिस-जिस तरह कथन किया जाता है उस-उस तरह श्रवण कर वे राजा आदि अपने अन्दर मेरु-रूपताका या कल्पवृक्षताका भी अनुभव करते हैं। यदि उन्हें यह अनुभव नहीं होता तो काव्यार्थानुभवचमत्कारका आस्वाद नहीं होता और कवियोंको अधिक द्रव्यलाभ, मान आदि भी नहीं होते, यह भाव है ॥ ३ ॥

यथा द्रवत्वं पयसि यथा स्पन्दो नभस्वति ।
यथा नभसि शून्यत्वं तथा सर्गत्वमात्मनि ॥ ४ ॥
ततः प्रभृति तेनैव क्रमेणाऽर्चनमात्मनः ।
अद्य यावद्गतव्यग्रः कुर्वन्नहमवस्थितः ॥ ५ ॥
अनेनाऽर्चाविधानेन मयेमे राम वासराः ।
अखिन्नेनाऽतिवाह्यन्ते व्यवहारपरा अपि ॥ ६ ॥
यथाप्राप्तैः क्रियाचारकुसुमैरात्मनोऽर्चनम् ।
व्युच्छिन्नमपि व्युच्छिन्नं न कदाचिदहर्निशम् ॥ ७ ॥
ग्राह्यग्राहकसम्बन्धे सामान्ये सर्वदेहिनाम् ।
योगिनः सावधानत्वं यत्तदर्चनमात्मनः ॥ ८ ॥

विविध कल्पना अज्ञात आत्माका स्वभाव ही है, इस आशयसे और भी दूसरे दृष्टान्त बतलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे जलमें द्रवत्व स्वभाव है, जैसे वायुमें स्पन्दनत्व स्वभाव है और जैसे आकाशमें शून्यत्व स्वभाव है ; वैसे ही आत्मामें सर्गत्व स्वभाव है ॥ ४ ॥

इस प्रकार स्वाभाविक ही विकल्परूप अध्यारोपमें पूजनरूपताका चिन्तन मैं तभीसे लेकर आजतक करता हुआ ही स्थित हूँ, ऐसा कहते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, तबसे लेकर आजतक उसी क्रमसे मैं व्यग्रता छोड़कर आत्माका अर्चन करता हुआ अवस्थित रहता हूँ ॥ ५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस पूजन-विधानसे इन व्यवहारपूर्ण भी दिनोंको मैं अखिन्न होकर बिता रहा हूँ ॥ ६ ॥

जाग्रत्-कालमें दिन-रात समयानुसार प्राप्त हुए क्रियाचाररूप कुसुमोंसे आत्माका पूजन करता हूँ । सुषुप्ति-कालमें वह उच्छिन्न हुआ प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें किसी भी समय वह उच्छिन्न हुआ ही नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति-कालमें भी 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' उठनेके बाद हुए इस स्मरणकी हेतु अविद्यावृत्तिरूप पुष्पसे अर्चन हो सकता ही है ॥ ७ ॥

तब तो अज्ञानियोंको भी उक्त प्रकारका शिवार्चन सदा ही हो जाया करता है ! इसपर कहते हैं—'ग्राह्य०' इत्यादिसे ।

दृष्ट्याऽनया रघुपते सङ्गमुक्तेन चेतसा ।
संसारविरलारण्ये विहराऽस्मिन्न खिद्यसे ॥ ९ ॥
दुःखे महति संप्राप्ते धनबन्धुवियोगजे ।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य विचारं कुरु सुव्रत ॥ १० ॥
सुखदुःखे न कर्तव्ये धनबन्धूदयक्षये ।
एवंप्राया एव सर्वा नित्यं संसारदृष्टयः ॥ ११ ॥
जानास्येव गतिं चित्रां विषयाणां प्रमाथिनीम् ।
यथाऽऽयान्ति यथा यान्ति यथा परिभवन्ति च ॥ १२ ॥
एवमेव प्रवर्तन्ते प्रेमाणि च धनानि च ।
एवमेवाऽवहीयन्ते निमित्तैरविचारितैः ॥ १३ ॥

आयुष्मन्, सभी देहधारियोंमें यद्यपि ग्राह्य-ग्राहकसम्बन्ध साधारण ही है तथापि योगियोंकी जो सावधानता है, वही आत्माका अर्चन है । निष्कर्ष निकला कि हमारी सावधानता ही अज्ञानियोंकी अपेक्षा हममें विशेष है ॥ ८ ॥

वह सावधानता विषयासङ्गका त्याग करनेपर ही प्राप्त होती है, यह बत रहे महाराज वसिष्ठजी उक्त आत्मार्चनमें इष्ट-फलोंकी बहुलता बतलाकर श्रीरामज उसमें प्रवृत्त कराते हैं—'दृष्ट्याऽनया' इत्यादिसे ।

हे रघुपते, इस दृष्टिका अवलम्बन कर आसक्तिनिर्मुक्त हुए चित्तसे इस संसार विरल जङ्गलमें विहार कीजिए, ऐसा करनेपर आप खिन्न नहीं रह सकते ॥ ९ ॥

छोड़ी गई आसक्तिके पुनः उत्पन्न न होनेमें विचारकी दृढ़ता ही हेतु यह कहते हैं—'दुःखे' इत्यादिसे ।

हे सुव्रत, धन और बन्धुओं के वियोगसे जनित असीम दुःखके प्राप्त हो इस दृष्टिका अवलम्बन कर आप विचार कीजिए ॥ १० ॥

भद्र, धन और बन्धुओं का आगम और अपाय होनेपर हर्ष और विषाद करना चाहिए, क्योंकि ये सभी संसारके अनुभव सदा विनश्वर ही हैं ॥ ११ ॥

श्रीरामभद्र, वे व्यग्रता उत्पन्न करनेवाली विषयोंकी चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ- पहले जिस तरह आती हैं, जिस तरह जाती हैं और जिस तरह स्वासक्त पुरु पराजित करती हैं, यह—आप जानते ही हैं ॥ १२ ॥

इसी प्रकार अविचारित हेतुओंसे प्रेम और धन आते रहते हैं और यों चले भी जाते हैं ॥ १३ ॥

न तास्तव न तासां त्वं निर्मलाऽन्तर्जगत्क्रियाः ।
इदमित्थं जगत्किञ्चित् किं मुधा परितप्यसे ॥ १४ ॥
त्वमिहाऽसि जगद्रूपं चिन्मात्रवितताकृते ।
निजावयवकावृत्तौ कः क्रमो हर्षशोकयोः ॥ १५ ॥
तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत् ।
अतस्तव कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ १६ ॥
इति चिच्चक्रचाञ्चल्ये चिन्मये जगदम्बुधौ ।
तरङ्गजाले चाऽम्भोधौ कः क्रमो हर्षशोकयोः ॥ १७ ॥
चिदेकताततामेत्य सौषुप्तीमागतः स्थितिम् ।
अद्य प्रभृति राम त्वं तुर्यावस्थात्मको भव ॥ १८ ॥

हे निर्मल, वे जगत्के व्यवहार न तो आपके अन्दर हैं और न आप ही उनके अन्दर हैं । इस प्रकार यह जगत् तुच्छ ही है, इसलिए आप क्यों व्यर्थ संतप्त होते हैं ? ॥ १४ ॥

यदि आप जगत्की तुच्छता नहीं चाहते, तो 'आत्मा ही जगत् है' यह भावना कीजिए। वैसा करनेसे भी बन्धु आदिका वियोग होनेपर अपने अवयवपरिवर्तनकी नाईं आपमें हर्ष और शोक की प्रवृत्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं—**'त्वमिहाऽसि'** इत्यादिसे ।

चिन्मात्रस्वरूप विशाल आकृतिवाले श्रीरामभद्र, यहाँ आप जगद्रूप ही हैं, ऐसा अनुभव कीजिए। ऐसा अनुभव करनेपर भी आपको अपने अवयवोंके परिवर्तनकी नाईं हर्ष और शोक का प्रसङ्ग ही क्या है ? ॥ १५ ॥

हे तात, आप चिन्मात्रस्वरूप हैं, यह जगत् आपसे पृथक् नहीं है । इसलिए आपको किस प्रकार और कहाँ हेय और उपादेय की कल्पना होगी ? ॥ १६ ॥

उक्त रीतिसे चिन्मय जगत्-सागरमें चिद्रूप जगदात्मक चक्रकी चञ्चलता होनेपर और समुद्रमें तरङ्गसमूह होनेपर हर्ष और शोक का प्रसङ्ग ही क्या ? ॥१७॥

उक्त पूजनकी अन्तिम सीमामें श्रीरामचन्द्रजीको स्थिर करते हैं—**'चिदेकतानता०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, पहले एकमात्र चैतन्यस्वरूपता प्राप्तकर और तदनन्तर सुषुप्ति-कालीन स्थिति प्राप्तकर आप आज ही से तुरीयावस्थास्वरूप हो जाइये ॥ १८ ॥

समः समसमाभासो भास्वद्वपुरुदारधीः ।
तिष्ठाऽऽत्मार्चारतो नित्यं परिपूर्ण इवाऽर्णवः ॥ १९ ॥
एतत्त्वं श्रुतवान् सर्वं स्थितस्त्वं परिपूर्णधीः ।
यदिच्छसीतरत्प्रष्टुं तत्पृच्छ रघुनन्दन ।
यत्पृष्टं प्रथमे कल्पे तदद्य परिचोदय ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

इदानीं संशयो ब्रह्मन् विनिवृत्तो विशेषतः ।
ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं जाता तृप्तिरकृत्रिमा ॥ २१ ॥
न मुनेऽस्ति मलं द्वित्वं न चेत्यं न च कल्पनम् ।
तदा ममाऽभूदज्ञानं प्रशान्तमधुना तु तत् ॥ २२ ॥
कलङ्क आत्मनोऽस्तीति तदज्ञानवशेन या ।
भ्रान्तिरासीदिदानीं सा निवृत्ता त्वत्प्रसादतः ॥ २३ ॥
न जायते न म्रियते न चैवाऽऽत्मा कलंङ्कितः ।
सर्वं च खल्विदं ब्रह्ममयमित्युदितोऽस्म्यलम् ॥ २४ ॥

स्वयं सर्वविध वैषम्योंसे निर्मुक्त, ब्रह्मके साथ एकरसस्वरूपतापन्न जगद्-रूप आभासोंसे युक्त, तेजस्वि-शरीर और उदारधी होकर सदा आत्म-पूजनमें तत्पर होते हुए आप समुद्रकी नाईं परिपूर्णरूपसे स्थित रहिए ॥ १९ ॥

हे रघुनन्दन, यह सब आपने सुना और परिपूर्णबुद्धि होकर आप स्थित भी हैं। जो कोई दूसरा इस विषयमें पूछना चाहते हों, तो उसे पूछिए और पहले विचारारम्भमें (वैराग्य-प्रकरणमें) जो आपने प्रश्न किये थे, उनमें से यदि कोई उत्तरके बिना रह गया हो तो उसे भी आज आप पूछिये ॥ २० ॥

श्रीरामजीने कहा—ब्रह्मन्, आज मेरा संशय विशेषरूपसे निवृत्त हो गया। मैंने समस्त ज्ञातव्य तत्त्व जान लिया और मुझे स्वाभाविक तृप्ति भी हो गई ॥ २१ ॥

हे मुने, अब मुझमें न अज्ञान है, न जीव और ब्रह्म का भेद है, न चेत्य है और न मन ही है। पहले मुझमें जो अज्ञान था, वह इस समय नष्ट हो गया ॥२२॥

हे मुने, उक्त अज्ञानवश 'आत्मामें कलङ्क है' इस प्रकारकी जो भ्रान्ति थी, वह आपके प्रसादसे इस समय निवृत्त हो गई ॥ २३ ॥

न तो आत्मा उत्पन्न होता है, न मरता है और न कलङ्कयुक्त ही रहता

प्रश्नेभ्यः संशयेभ्यश्च वाञ्छितेभ्यश्च सर्वतः ।
शुद्धं मे निर्मलं चेतस्त्वष्ट्रा यन्त्रभ्रमादिव ॥ २५ ॥
सर्वाचारोपदेशेषु प्राप्तप्रोक्तेषु साधुभिः ।
निराकाङ्क्षी स्थितोऽस्म्यन्तः सुमेरुः कनकेष्विव ॥ २६ ॥
न तदस्त्यस्ति यत्राऽऽशा न तदस्ति यदीप्सितम् ।
न तदस्ति यदादेयं हेयं मध्यं चराचरे ॥ २७ ॥
इदं हेयमुपादेयमिदं सदिदमप्यसत् ।
इति चिन्ताभ्रमः शान्तो निपुणं परमो मुने ॥ २८ ॥
न स्वर्गमभिवाञ्छामि द्वेष्मि वाऽपि न रौरवम् ।
आत्मन्येव हि तिष्ठामि मन्दराद्रिरिवाऽभ्रमः ॥ २९ ॥

है। 'यह सब जगत् ब्रह्ममय है' इस प्रकारका साक्षात्कार हो जानेसे मैं भलीभाँति उदयको प्राप्त हो गया हूँ ॥ २४ ॥

भगवन्, सब प्रकारके प्रश्नोंसे, संशयोंसे और इच्छित पदार्थोंसे यानी सभी ओरसे निवृत्त हुआ मेरा मन निर्मल हो गया और उस प्रकार भास्वर हो गया, जिस प्रकार बढ़ई द्वारा यन्त्रपर किये तक्षणसे लकड़ी आदि सूर्य-बिम्ब-से भास्वर हो जाते हैं ॥ २५ ॥

महाराज, जिस प्रकार सुमेरुपर्वत सुवर्णोंकी अभिलाषा न करता हुआ स्थित रहता है, उसी प्रकार साधुओं द्वारा समीपमें आये हुए शिष्योंको कहे गये सभी तरहके साधनोपदेशोंकी भीतर आकांक्षा न करता हुआ मैं भी स्थित हूँ ॥ २६ ॥

चराचरात्मक इस संसारमें ऐसी कोई चिरलभ्य वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे इच्छा हो; ऐसी कोई अनुपलभ्य वस्तु नहीं है, जो मुझे अभिलषित हो; ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मेरे लिए हेय और उपादेय हो और ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है, जो उपेक्ष्य ही हो ॥ २७ ॥

हे मुने, यह हेय है, यह उपादेय है, यह सत् है और यह असत् भी है, इस प्रकारका महान् चिन्तारूपी मेरा भ्रम निपुणतापूर्वक विलीन हो गया ॥ २८ ॥

मैं न स्वर्गकी अभिलाषा करता हूँ और न रौरव नरकके साथ द्वेष

कणशः कीर्णत्रिजगत्क्षीरसागरसंसृतिः ।
विश्रान्तश्चिरसंभ्रान्तो निर्भ्रमो राममन्दरः ॥ ३० ॥
अवस्त्विदमिदं वस्तु पश्येति कलनाऽस्त्यलम् ।
हृदि तस्य कुसन्देहजालेन ज्वलिताधिकम् ॥ ३१ ॥
इदमित्थं जगदिति ज्ञातं येन मुनीश्वर ।
स यत्र याति कार्पण्यं जगतस्तन्न लभ्यते ॥ ३२ ॥
विचित्राकुलकल्लोलाज्जडाद् वृत्तिविवर्जितात् ।
त्वत्प्रसादेन भगवंस्तीर्णाः स्मो भवसागरात् ॥ ३३ ॥
सम्पदामवधिर्ज्ञातो दृष्टः सीमान्त आपदाम् ।
सर्वसारेऽप्यदीनाः स्मः पूर्णाः स्मः परमेश्वर ॥ ३४ ॥

ही करता हूँ, किन्तु मन्दराचलकी नाईं भ्रमशून्य होकर अपनी आत्मामें ही स्थित हूँ ॥ २९ ॥

महाराज, परमाणुकी नाईं कण-कण बनाकर तीनों लोकोंको नष्ट कर देनेवाले क्षीर-सागरकी चारों ओर जो व्याप्ति है, उस व्याप्तिके सदृश व्याप्तिवाला यह रामरूप मन्दराचल—जो चिरकालसे भ्रममें पड़ा था—अब भ्रमशून्य होकर विश्रान्त हो गया है ॥ ३० ॥

यह जगत् जिस स्वरूपका दिखाई देता है, उसी स्वरूपका है, उससे भिन्न उसका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है—यों जो मूर्ख जानता है, उसके हृदयमें ज्वालाके सदृश अधिक सन्तापदायी, कुत्सित संशय-समूहोंसे होनेवाली 'यह वस्तु है और यह अवस्तु है' इस प्रकारकी कल्पनाएँ पर्याप्तरूपसे उदित होती रहती हैं। हे मुनीश्वर, मेरे द्वारा कहे गये इस अर्थको आप अपने अनुभवसे भी प्रमाणित कीजिए और देखिए। उस प्रकारका मूढ़ पुरुष जिन धन आदि विषयोंके लिए कार्पण्य करता है, जगत्-सम्बन्धी वे वस्तुएँ तात्त्विक विचारसे हम लोगोंको प्राप्त ही नहीं होतीं ॥ ३१, ३२ ॥

हे भगवन्, आपके प्रसादसे हम इस भव-सागरसे, जो कि चित्र-विचित्र भूख, प्यास आदिसे जनित व्याकुलताओंसे परिपूर्ण काम आदिरूप छः तरङ्गोंसे युक्त तथा विशुद्ध चिदाकारवृत्तिसे शून्य होनेके कारण जड़रूप है, पार पा गये ॥ ३३ ॥

हे परमेश्वर, हमने सम्पत्तियोंकी अवधि जान ली, आपत्तियोंकी सीमाका भी

ययावभेद्यामपरैर्दलिताशामतङ्गजम् ।
संसारसङ्गरे सम्यग्वीरतामागतं मनः ॥ ३५ ॥
परिगलितविकल्पतामुपेतं
प्रगलितवाञ्छमदीनसारसत्त्वम् ।
त्रिजगति यदतिप्रसन्नरूपं
प्रमुदितमन्तरनुत्तमं मनो मे ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे विश्रान्तिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

अन्त देख लिया । हमें सर्वसारभूत भूमानन्दमें भी दीनता न रही और अब हम परिपूर्णस्वरूप हो गये ॥ ३४ ॥

महर्षे, अब हमारा मन इस संसाररूप समर-क्षेत्रमें आशारूपी हाथियोंका विदलन कर शत्रुओंसे अभेद्य उत्कृष्ट वीरताको प्राप्त हो गया है ॥ ३५ ॥

परिपूर्ण मनःस्थितिका ही वर्णन कर रहे श्रीरामजी उपसंहार करते हैं—'परिगलित०' इत्यादिसे ।

भगवन्, मेरे मनसे समस्त विकल्प छिन्न-भिन्न हो गये हैं । इच्छाएँ भी निकल गईं । अकार्पण्यसे उसकी स्थिरता भी दृढ़ हो गई है । तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध पूर्णचन्द्र, क्षीर-सागर, शरदाकाश आदि जितने प्रसन्न-स्वरूप पदार्थ हैं, उन सबका उसने अतिक्रमण कर दिया है, भीतरसे वह खिल उठा है । यही कारण है कि वह सर्वोत्तम होकर स्थित है ॥ ३६ ॥

तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त



चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

केवलेनेन्द्रियैः साधं वर्तमानार्थवर्तिना ।
असंगमेन मनसा यत्करोषि न तत्कृतम् ॥ १ ॥
यथा प्राप्तिक्षणे वस्तु प्रथमे तुष्टये तथा ।
न प्राप्त्येकक्षणादूर्ध्वमिति को नाऽनुभूतवान् ॥ २ ॥

चौवालीसवाँ सर्ग

[ज्ञानकी दृढ़ताके लिए इच्छा-त्यागसे लेकर मनोविनाशपर्यन्त आसक्ति-विनाशके उपायोंका कथन]

यद्यपि श्रीरामचन्द्रजीने स्वकीय तत्त्वज्ञान-निष्ठाका वर्णन कर दिया तथापि उसकी परिपक्व-दशाके पहले प्रच्युति न हो जाय, इसलिए 'स्थूणानिखनन' न्यायसे जीवन्मुक्तलक्षणरूप पूर्वोक्त साधनपरम्पराका ही प्रतिष्ठापन करनेवाले महाराज वसिष्ठजी—पूर्वोक्त अयत्नलभ्य व्यवहारोपभोग आदिरूप शिवार्चनमें भी 'सर्वारम्भा हि दोषेण' इत्यादि भगवदुक्तिके अनुसार प्रमादसे हिंसादि अनिष्ट-प्रसक्ति अवर्जनीयरूपसे आ सकती है और उपभोग अनर्थका बीज भी है, इसलिए पुनः जन्म आदि अनर्थोंकी प्राप्ति होगी ही—इस आशङ्काका परिहार करते हुए कहते हैं—**'केवलेने०'** इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इन्द्रियोंके साथ रागादिसे शून्य तथा कर्तृत्वाभिमानरूप क्रियासम्बन्धसे वर्जित वर्तमानकालीन प्राप्त पदार्थोंका व्यवहार करनेवाले अन्तःकरणसे यदि आप कुछ करते हों, तो वह किया गया नहीं माना जाता ॥ १ ॥

विषय तो नियमतः तुष्टिके साधन हैं, अतः उनमें रागका परित्याग कैसे किया जा सकता है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

भद्र, पहले प्राप्ति-समयमें वस्तु जिस तरह तुष्टिसाधन होती है, उस तरह प्राप्तिके एक क्षण बाद तुष्टिसाधन नहीं होती, इस विषयका किसने अनुभव नहीं किया है । निष्कर्ष यह निकला कि प्राप्ति-क्षण छोड़कर पूर्व और उत्तर कालमें विषयोंमें तुष्टिसाधनत्वका व्यभिचार हो जानेके कारण विषय तुष्टिसाधन हैं, यह नियम नहीं रहा ॥ २ ॥

वाञ्छाकाले यथा वस्तु तुष्टये नाऽन्यदा तथा ।
तस्मात् क्षणसुखे सक्तिं बालो बध्नाति नेतरः ॥ ३ ॥
वाञ्छाकाले तुष्टये यत्तत्र वाञ्छैव कारणम् ।
तुष्टिस्त्वतुष्टिपर्यन्ता तस्माद्वाञ्छां परित्यज ॥ ४ ॥
यदि तत्पदमाप्तोऽसि कदाचित् कालपर्ययात् ।
तदहंभावनारूपे न मङ्क्तव्यं त्वया पुनः ॥ ५ ॥

इसीसे चिर-कालिक अनर्थ देनेवाले क्षणिक सुखमें आसक्ति करना भी ठीक नहीं है, यह कहते हैं—'वाञ्छा०' इत्यादिसे ।

जिस तरह लाभ-कालमें विषय तुष्टिके लिए होता है, उसी तरह दूसरे कालमें नहीं होता । इसलिए बालक ही क्षणिक सुख देनेवाले विषयोंमें आसक्ति बाँधता है, दूसरा नहीं ॥ ३ ॥

जब विषयकी प्राप्तिसे जनित क्षणिक भी इच्छानिरोध सुखका हेतु है तब इच्छाका आत्यन्तिक उच्छेद निरतिशय आनन्दका हेतु है, यह तो अर्थतः सिद्ध हो ही जाता है ; ऐसी स्थितिमें इच्छा ही अनर्थरूप है, इस आशयसे कहते हैं—'वाञ्छाकाले' इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, इच्छाकालमें जो वस्तु आनन्दसाधन प्रतीत होती है, उसमें एक-मात्र कारण इच्छा ही है । परन्तु वह आनन्द तभीतक बना रहता है जबतक इच्छा रहती है यानी आनन्दविरोधी अभिलाषसे ही आनन्दका विच्छेद होता है, इसलिए आप इच्छाका परित्याग कर दीजिये ॥ ४ ॥

महाराज, मैंने तो पूर्णानन्द पद प्राप्त कर लिया है, फिर मुझे विषयाभिलाषा-त्यागका जो आप उपदेश दे रहे हैं, वह क्या अर्थ रखता है ? इसपर कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

भद्र, यदि आप तत्पद प्राप्त कर चुके हैं, तो फिर किसी समय कालके व्यत्ययसे आप अहंभावनारूप कीचड़में न फँस जायं । तात्पर्य यह है कि आप कालान्तरमें भी अहंभावरूपी कीचड़में फँस न जायं, इसलिए पूर्णानन्दस्वरूप पदमें स्थितिकी दृढ़ताके लिए मैं पुनः उपदेश दे रहा हूँ ॥ ५ ॥

आत्मज्ञानाचलस्याग्रे राम विश्रान्तवानसि ।
अहंभावमहाश्वभ्रे न पुनः पातमर्हसि ॥ ६ ॥
यत्स्मृतानन्तसद्दृष्टेर्ज्ञत्वमेरुशिरःस्थितेः ।
पुनर्गर्भानुकारान्तःपाताले पतनं कुतः ॥ ७ ॥
दृश्यते ते स्वभावोऽयं समतासत्यतामयः ।
मन्ये क्षीणविकल्पोऽसि जातोऽसि हृतकालिकः ॥ ८ ॥
स्वभावे संस्थितो राम इत्यावेदयतीव मे ।
सौम्य पूर्णार्णवप्रख्या समता निर्मला तव ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी, आपने आत्मज्ञानरूपी पर्वतकी चोटीपर विश्राम कर लिया है, अतः अहंभावरूपी महागर्तमें फिर गिरनेयोग्य नहीं हैं ॥ ६ ॥

दृढ़ता होनेपर भी पुनः फँस जानेकी आशङ्का क्यों नहीं करते हैं, इसपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

उस प्रकारकी आशङ्का न करनेमें कारण यही है कि जिसने निरन्तर असीम सद्ब्रह्मदृष्टिका स्मरण कर लिया है और तत्त्वज्ञानरूप सुमेरुपर्वतके शिखरपर स्थान पा लिया है, उस पुरुषका गर्भानुसाररूप (गर्भका अनुसरण कर जन्म आदि अनर्थ पैदा करनेवाले अहंभावरूप) अन्तःपातालमें पतन कैसे हो सकता है ? दृढीभूत ज्ञान अविद्यारूपी अनर्थबीजका अवश्य उच्छेद कर डालता है, यह भाव है ॥ ७ ॥

अथवा दूसरोंके उपकारके लिए मैंने फिर यह उपदेश दिया है, आपका तो अज्ञान नष्ट हो चुका है, यह मैंने समता आदि हेतुओंसे जान ही लिया है, इस आशयसे कहते हैं—'दृश्यते' इत्यादिसे ।

रामभद्र, यह आपका जो समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखाई देता है, इससे मैं अनुमान करता हूँ कि आप विकल्परहित और अविद्यारहित हो चुके हैं ॥ ८ ॥

हे सौम्य श्रीरामजी, अपने चैतन्यस्वभावमें भलीभाँति अवस्थित हुए आप मानो मुझे यह प्रत्यक्ष करा रहे हैं कि पूर्ण सागरका प्रख्यापन करनेवाली यानी पूर्ण सागरके सदृश निर्मल समता आपमें विद्यमान है ॥ ९ ॥

आशा यातु निराशत्वमभावं यातु भावनम् ।
अमनस्त्वं मनो यातु तवाऽसङ्गेन जीवतः ॥ १० ॥
यां यां वस्तुदृशं यासि तस्यां तस्यामवस्थितम् ।
सत्तासामान्यरूपेण ब्रह्म बृंहितचिद्घनम् ॥ ११ ॥
अज्ञातात्मा निबद्धोऽसि विज्ञातात्मा न बध्यसे ।
राम त्वं स्वात्मनाऽऽत्मानं बोधयस्व बलादतः ॥ १२ ॥
यत्र न स्वदते वस्तु स्वदते च यथागतम् ।
अवासनत्वं तद्विद्धि साम्यमाकाशकोमलम् ॥ १३ ॥
वासनारहितैरन्तरिन्द्रियैराहर क्रियाः ।
न विक्रियामवाप्नोषि खवत् क्षोभशतैरपि ॥ १४ ॥

भद्र, अनासक्तिसे जी रहे आपकी आशा निराशामें परिणत हो जाय, भावना अभावनामें परिणत हो जाय और मन अमनोरूपमें परिणत हो जाय ॥ १० ॥

हम मनोरथके विनाशसे निराशत्व आदिकी अभिलाषा नहीं करते, किन्तु चारों ओरसे निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्मके लाभसे उनकी आशा करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'यां याम्' इत्यादिसे ।

जिस-जिस वस्तुदृष्टिकी ओर आप जाते हैं, उस-उस वस्तुदृष्टिमें सामान्यसत्ता-स्वरूपसे वृद्धिगत चिद्घनरूप ब्रह्म अवस्थित है ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आपको यदि आत्मा अज्ञात है तो आप पूरी तरहसे बद्ध हैं और यदि आत्मा विज्ञात है तो आप बद्ध नहीं हैं, इसलिए मनन आदिकी दृढ़तासे अपनी ही आत्मा द्वारा आत्माको जागृत कीजिए ॥ १२ ॥

अब वासनाशून्यताका स्वानुभवगम्य लक्षण बतलाते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जिस दशामें आत्मा भोगसुखका आस्वाद नहीं लेता और प्रारब्धवश प्राप्त हुए दुःख आदिका स्वाद लेता है, उसे आकाशके सदृश कोमल, समतारूप निर्वासनत्वदशा जानिये ॥ १३ ॥

हे रामभद्र, आप भीतरसे वासनारहित इन्द्रियों द्वारा व्यावहारिक क्रियाएँ कीजिए । ऐसा करनेसे आप सैकड़ों विक्षोभोंके प्राप्त होनेपर भी आकाशकी नाईं विकारको प्राप्त नहीं होंगे ॥ १४ ॥

ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं त्रयमेकतयाऽऽत्मनि ।
शान्तात्माऽनुभवाऽभव्यं न भूयो भवभागसि ॥ १५ ॥
चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यां संसारप्रलयोदयौ ।
वासनाप्राणसंरोधादनिमेषं मनः कुरु ॥ १६ ॥
प्राणोन्मेषनिमेषाभ्यां संसृतेः प्रलयोदयौ ।
तमभ्यासप्रयोगाभ्यामुन्मेषरहितं कुरु ॥ १७ ॥
मौर्ख्योन्मेषनिमेषाभ्यां कर्मणां प्रलयोदयौ ।
तद्विलीनं कुरु बलाद्गुरुशास्त्रार्थसंयमैः ॥ १८ ॥
यथा वातरजःसङ्गस्पन्दात् खं भाववेदनम् ।
तथा चितश्चेत्यतया स्पन्दादिदमुपस्थितम् ॥ १९ ॥

शान्तात्मा होकर आप ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयरूप इन तीनोंको और दुःख आदिको भी उक्त त्रिपुटीमें एकीकरण कर एकात्मरूपसे अपनी आत्मामें अनुभव कीजिए। इससे आप [उनकी प्रतिकूलता नष्ट हो जानेके कारण] फिर संसारके भागी नहीं होंगे ॥ १५ ॥

अथवा दुःख आदिमें प्रतिकूलत्वकी कल्पना मनोजनित ही है, इसलिए भुशुण्डोक्त युक्तिसे मनका ही निरोध करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'चित्तोन्मेष०' इत्यादिसे ।

मनके उन्मेष और निमेषसे संसारकी उत्पत्ति और विनाश होते हैं, इसलिए पहले वासना और प्राणका निरोधकर तदनन्तर आप मनका निरोध कर दीजिए ॥ १६ ॥

प्राणके उन्मेष और निमेषसे संसारका उदय और अस्त होता है, इसलिए उसे अभ्यास और प्रकृष्ट योगसे आप निरुद्ध कर दीजिये ॥ १७ ॥

अथवा प्रवृत्ति द्वारा अज्ञान ही सब अनर्थोंका निदान है, इसलिए दृढ़ आत्म-ज्ञानसे उसीका निरास करना चाहिए, यह कहते हैं—'मौर्ख्योन्मेष०' इत्यादिसे ।

अज्ञानके आगम और अपायसे कर्मोंका आगम और अपाय होता है, इसलिए बलसे गुरूपदिष्ट शास्त्रार्थ और संयमोंसे आप उसका विलय कर दीजिए ॥ १८ ॥

'चित्तोन्मेषनिमेषाभ्याम्' इससे जो अर्थ कहा गया था, उसका दृष्टान्तसे स्पष्टीकरण करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

दृश्यदर्शनसम्बन्धस्पन्देनेयं जगद्गतिः ।
स्फुरत्यालोककुड्यादिसङ्गजा वर्णधीरिव ॥ २० ॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धस्पन्दाभावे न जायते ।
वेदना भवदाभासा चित्रपुंसामिवाऽऽशये ॥ २१ ॥
चित्तस्पन्दोत्थिता माया तदभावे विलीयते ।
पयःस्पन्दोत्थिता वीचिस्तदभावे विनश्यति ॥ २२ ॥
त्यागेन वासनांशस्य बोधाद्वा प्राणरोधनात् ।
चित्ते निस्पन्दतां याते कुतः स्पन्दस्य संभवः ॥ २३ ॥
असंवित्स्पन्दमात्रेण याति चित्तमचित्तताम् ।
प्राणानां वा निरोधेन तदेव च परं पदम् ॥ २४ ॥

जैसे आकाश वायु और रजके सम्बन्ध एवं स्पन्दनसे मलिन, चलन आदि स्वभाववाला ज्ञात हो जाता है, वैसे ही चितिके चित्तरूप स्पन्दनसे चेत्यरूपी यह अनर्थजाल उपस्थित हो जाता है ॥ १९ ॥

उक्त अर्थमें अन्वय-व्यतिरेक दिखलाते हैं—'दृश्य०' इत्यादिसे ।

रामभद्र, दृश्य और दर्शनके सम्बन्धरूप स्पन्दनसे यह संसारकी गति उस प्रकार स्फुरित होती है, जिस प्रकार अनेक छिद्रोंसे प्रविष्ट सूर्यप्रकाश और भित्तिके सम्बन्धसे चित्रविचित्र वर्णबुद्धि स्फुरित होती है ॥ २० ॥

दृश्य और दर्शनके सम्बन्धरूप स्पन्दनका अभाव होनेपर हृदयमें जगद्रूप आभासकी भावना उस प्रकार उत्पन्न नहीं होती, जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुषके हृदयमें नहीं होती ॥ २१ ॥

चित्तके स्पन्दनसे जनित माया चित्तस्पन्दनका अभाव होनेपर उस प्रकार विलीन हो जाती है, जिस प्रकार जलस्पन्दनसे जनित तरङ्ग जलस्पन्दनका अभाव होनेपर विलीन हो जाता है ॥ २२ ॥

वासनांशके त्यागसे, बोधसे अथवा प्राणके निरोधसे चित्तके स्पन्दनरहित हो जानेपर कूटस्थत्वप्रच्युतिरूप स्पन्दन कहाँसे उत्पन्न होगा ? ॥ २३ ॥

वृत्तिरूप चित्त-स्पन्दनके अभावमात्रसे अथवा प्राणके निरोधसे चित्त अचित्तरूपता प्राप्त करता है और वही परम पद है ॥ २४ ॥

दृश्यदर्शनसम्बन्धे यत्सुखं पारमार्थिकम् ।
तदन्तैकान्तसंवित्त्या ब्रह्मदृष्ट्या मनःक्षयः ॥ २५ ॥
यत्र नाऽभ्युदितं चित्तं तत्तत्सुखमकृत्रिमम् ।
न स्वर्गादौ संभवति मरौ हिमगृहं यथा ॥ २६ ॥
चित्तोपशमजं स्फारमवाच्यं वचसा सुखम् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं नोदेति न च शाम्यति ॥ २७ ॥
बोधाद्भवति चित्तान्तो दुर्बोधाच्चित्तवेदिता ।
बालवेतालवत्तेन मोहश्रीर्घनतां गता ॥ २८ ॥
विद्यमानमपि ह्येतच्चित्तं बोधाद्विलीयते ।
सदप्यसदिवाऽऽभाति ताम्रं हेमीकृतं यथा ॥ २९ ॥

'बोधाद्वा' इससे जो मध्यम उपाय कहा गया था, उसका विवरण करते हैं—'दृश्य०' इत्यादिसे ।

विषय और इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर जो सुख अनुभूत होता है, वह परमार्थरूपसे ब्रह्म-सुख ही है। उस सुखकी परमावधिभूत निरतिशयानन्दपूर्ण आत्माकी एकान्तसंवित्तिसे यानी ब्रह्मदृष्टिसे मनका क्षय सिद्ध हो जाता है ॥२५॥

जहाँ चित्त उदित नहीं होता वह सब सुख स्वाभाविक ब्रह्मसुखरूप ही है। मरुभूमिमें ठण्डे जलसे परिपूर्ण सरोवरकी नाईं वह सुख स्वर्गादि भोगभूमियोंमें नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ चित्त काम, असूया आदिसे कलुषित रहता है ॥ २६ ॥

चित्तविलयसे जनित विस्फार सुख वाणीसे भी नहीं कहा जा सकता, केवल अपने अनुभवसे ही जाना जा सकता है। विनाश और अतिशयसे विनिर्मुक्त वह अनिर्वचनीय सुख न तो उदित होता है और न प्रशान्त ही होता है ॥२७॥

तत्त्वज्ञानसे चित्तका अन्त होता है। भ्रान्तिवशसे ही चित्तका सद्भाव ज्ञात होता है, बालकल्पित वेतालकी नाईं भ्रान्तिसे मोह भी घनरूपता प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

ज्ञानियोंका भी व्यवहार दिखाई पड़नेके कारण उनका चित्त है ही, यह मानना पड़ेगा, फिर आप कैसे कहते हैं कि ज्ञानसे चित्त नष्ट हो जाता है ? अस्तित्व और नष्टत्व ये दोनों विरुद्ध होनेके कारण एकसमयमें एक स्थानपर रह नहीं सकते, इसपर कहते हैं—'विद्यमानमपि' इत्यादिसे ।

ज्ञस्य चित्तं न चित्ताख्यं ज्ञचित्तं सत्त्वमुच्यते ।
नामार्थान्यत्वभाक्चित्तं बोधात्ताम्रसुवर्णवत् ॥ ३० ॥
न संभवति चित्तत्वं तेन तत्प्रविलीयते ।
भ्रमः शाम्यति बोधेन नाऽभावो विद्यते सतः ॥ ३१ ॥
अवस्त्वेव विकल्पात्म चित्तादि शशशृङ्गवत् ।
सर्वं तदात्मनस्तस्मात्तद्धि बोधाद्विलीयते ॥ ३२ ॥
चित्तं सत्त्वं समायातं किञ्चित्कालं जगत्स्थितौ ।
विहृत्य तुर्यावस्थायां तुर्यातीतं भवत्यतः ॥ ३३ ॥

विद्यमान भी ज्ञानीका चित्त बोधसे विलीन हो जाता है और सुवर्णीकृत ताम्रकी नाईं सत् होता हुआ भी असत्-सा भासता है ॥ २९ ॥

ज्ञानीका चित्त चित्तनामका नहीं कहा जाता, किन्तु ज्ञानीका चित्त सत्त्व कहा जाता है। जैसे ताम्र सोना होकर नामतः और अर्थतः अन्य हो जाता है, वैसे ही बोधसे ज्ञानीका चित्त नामतः और अर्थतः अन्य हो जाता है ॥ ३० ॥

चित्तका स्वरूप वास्तवमें किसी भी कालमें नहीं है, उसका स्वरूप भ्रान्ति-जनित है, इसलिए उसका विलय हो जाता है। भ्रान्ति तत्त्वज्ञानसे शान्त हो जाती है। जो सद्रूप वस्तु होती है उसका विनाश कभी नहीं होता। इसलिए घट आदिका विनाश होनेपर भी कपाल आदिरूपसे उनका अवशेष दिखाई पड़नेके कारण सद्वस्तुका स्वरूपतः विनाश कहींपर भी प्रसिद्ध है ही नहीं, यह कहना ठीक ही है ॥ ३१ ॥

वस्तुका तत्त्वज्ञान अवस्तुरूप कल्पितांशमात्रका बाधक होता है, इस प्रसिद्धिसे भी सत्त्वांशके बाधकी प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'अवस्त्वेव'** इत्यादिसे।

शशशृङ्गकी नाईं विकल्परूप चित्त आदि अवस्तुभूत ही हैं, वे सब पारमार्थिक-रूप आत्माके विवर्त हैं, इसलिए उनका आत्मज्ञानसे विलय हो जाता है ॥३२॥

तब क्या जीवन्मुक्तके चित्तमें व्यवहारक्षमावस्था परमार्थसत्यरूप है? इस शङ्कापर नहीं, यह उत्तर देते हैं—**'चित्तम्'** इत्यादिसे।

सांसारिक अवस्थामें कुछ कालतक सत्त्वरूपताको प्राप्त हुआ यह चित्त तुरीया-वस्थामें विहारकर तदनन्तर तुर्यातीत हो जाता है। विहार, समाधि और तत्त्वसाक्षात्कार पर्यन्त उसकी अवस्था पारमार्थिक नहीं रहती, किन्तु प्रारब्धसे

ब्रह्मैव भूरिभुवनभ्रमविभ्रमौघै-
रित्थं स्थितं सममनेकतयैकमेव।
सर्वात्म संभवति नेतरदङ्ग किञ्चि-
च्चित्तादिकं च न हृदीव हि सन्निवेशः ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चित्तसत्तासूचनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अत्रेमामवबोधाय विस्मयोल्लासकारिणीम्।
अपूर्वां चैव संक्षेपाद्राम रम्यां कथां शृणु ॥ १ ॥

प्रतिबद्ध अविद्यावशसे जनित बाधितानुवृत्ति ही है। विदेहकैवल्यमें आविर्भूत तुर्यातीतावस्था ही उसकी परमार्थ सत्यता है, यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

तुर्यातीतस्वरूप ब्रह्म जबतक ज्ञात नहीं होता, तबतक चित्त, जगत् आदि मिथ्यावेषसे स्थित होकर सर्वात्मक होता है। वास्तवमें चित्त आदि कुछ भी दूसरी वस्तु नहीं है। इस प्रकारके ज्ञानमात्रसे चित्त आदिका ब्रह्ममात्रस्वभावसे अवशेष युक्त ही है, इस आशयसे कहते हैं—'ब्रह्मैव' इत्यादिसे।

हे प्रिय रामजी, जैसे मनोरथसे कल्पित महल, उपवन, वापी आदिका सन्निवेश हृदयमें समावेश न हो सकनेके कारण ही वास्तवमें कुछ नहीं हैं, वैसे ही परम सूक्ष्म छिद्रशून्य चिदेकरसघन ब्रह्ममें भी समावेश न हो सकनेके कारण जगत् भी नहीं है। ब्रह्म ही अनेक भुवनरूप भ्रम-विभ्रमोंके समूहसे—स्वयं सम, सर्वात्मक और एकरूप होता हुआ भी—इस तरह अनेकरूपसे स्थित हुआ है। वास्तवमें दूसरा कुछ नहीं है ॥ ३४ ॥

चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त

पैंतालीसवाँ सर्ग

[स्व-स्वरूप आनन्दात्मक रससे परिपूर्ण, तीनों लोकोंकी कल्पनाके आश्रय परब्रह्मका बिल्वफलरूपसे वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, तत्त्वज्ञानके लिए इस विषयमें आप आश्चर्य और उल्लास की जनक, अपूर्व, रम्य यह बिल्वोपाख्यायिका संक्षेपसे सुनिए ॥१॥

योजनानां सहस्राणि विपुलं विमलं स्फुटम् ।
युगैरप्यजरद्रूपमस्ति बिल्वफलं महत् ॥ २ ॥
अविनाशरसाधारं सुधामधुरसारवत् ।
पुराणमपि बालेन्दुदलमार्दवसुन्दरम् ॥ ३ ॥
व्यूहमध्यमहामेरुं मन्दराद्रिरिवाऽचलम् ।
महाकल्पान्तवात्याया अपि वेगैरचालितम् ॥ ४ ॥
योजनायुतकोटीनां कोटिलक्षशतैरपि ।
वैपुल्येनाऽपरिच्छेद्यं मूलमाद्यं जगत्स्थितेः ॥ ५ ॥
यस्य बिल्वफलस्योच्चैर्ब्रह्माण्डानि समीपतः ।
हरन्ति लीलां शैलाधो राजिकाकणपद्धतेः ॥ ६ ॥

श्रीरामजी, हजारों योजन विस्तृत विमल स्पष्ट एक बहुत बड़ा बिल्वफल है, जिसका स्वरूप युगोंसे भी जीर्ण-शीर्ण नहीं हुआ है ॥ २ ॥

वह बिल्वफल अविनाशी रसका आश्रय है, उसका सार अमृतकी तरह अथवा अमृतसे भी बढ़कर मधुर है, वह पुराना होनेपर भी बालचन्द्रकी प्रतिदिन बढ़नेवाली कलाओंकी नाईं मृदुलतासे त्वचा और नेत्रोंको सुखकर स्पर्श देनेके कारण सुन्दर है ॥ ३ ॥

वह भुवन-समूहोंके मध्यमें स्थित मेरुपर्वतकी नाईं प्रधान स्तम्भ है, मन्दराचलकी नाईं दृढ़ है और महाप्रलयके प्रचण्ड वायुके वेगसे भी चालित नहीं होनेवाला है ॥ ४ ॥

पूर्वोक्त 'योजनानां सहस्राणि' इस श्लोकमें कहे गये सहस्रपदका 'असंख्य' अर्थमें व्याख्यान करते हैं—'योजना०' इत्यादिसे ।

सैकड़ों कोटिलक्ष गुने दस हजार करोड़ योजनोंके विस्तारसे भी अर्थात् असंख्यात योजनोंके विस्तारसे भी नापा नहीं जा सकनेवाला वही बिल्वफल इस जगत्‌के धारण एवं नियमन का आद्य मूल है ॥ ५ ॥

भद्र, वह ऐसा बिल्वफल है कि जिसके समीपमें उन्नत सभी ब्रह्माण्ड ऐसी शोभा धारण करते हैं, जैसी पर्वतोंके नीचे सूक्ष्मभूत सरसोंके कणोंकी पंक्तियाँ शोभा धारण करती हैं ॥ ६ ॥

स्यन्दमानरसापूर्णां स्वाद्वीं रसचमत्कृतिम् ।
यस्याऽतिशेते नो कश्चिदपि राघव षड्रसः ॥ ७ ॥
न कदाचन पाकेन पातं तेन समेति यत् ।
सदैव पक्कमप्यङ्ग जरसा यन्न बाध्यते ॥ ८ ॥
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्या जरठाः केचिदेव न ।
यस्योत्पत्तिं विजानन्ति मूलं वा वृन्तमेव च ॥ ९ ॥
अदृष्टाङ्कुरवृक्षस्य त्वदृष्टकुसुमाकृतेः ।
अस्तम्भमूलशाखस्य फलस्याऽस्य महाकृतेः ॥ १० ॥
एकपिण्डघनाकारविततस्थौल्यशालिनः ।
यस्योत्पत्तिविकारादिपरिणामो न दृश्यते ॥ ११ ॥
समस्तफलसारस्य फलस्याऽस्य महाकृतेः ।
न मज्जा नाऽष्ठि विततो निर्विकारो निरञ्जनः ॥ १२ ॥

हे राघव, इस बिल्वफलसे चू रहे रससे परिपूर्ण अत्यन्त स्वादयुक्त रस-चमत्कारका कोई भी षड्-रस यानी छः इन्द्रियोंसे भोग्य ब्रह्मलोकतकका सुखांश अथवा प्रसिद्ध षड्रस अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

वैसे रससे परिपूर्ण होनेपर भी पाकसे वह कभी गिरता नहीं । [तब क्या वह अपने स्थानमें ही जीर्ण हो जाता है ? इसपर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'सदैव' से ।] भद्र, सर्वदा ही पके हुए भी उस बिल्वफलको जीर्णता बाधा नहीं पहुँचाती ॥ ८ ॥

ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र आदि कोई भी चिरजीवी लोग इस बिल्वफलकी उत्पत्तिको नहीं जानते और न इसके मूल (जड़) और टहनी को ही जानते हैं ॥ ९ ॥

जिसका अङ्कुर और वृक्ष नहीं देखा गया है, जिसके फूलोंका आकार भी नहीं देखा गया है, स्तम्भ, मूल और शाखा से रहित, महान् आकारवाले, तथा एकमात्र पिण्डीभूत चिद्घनाकार अत्यन्त विस्तृत स्वभाव इस फलकी उत्पत्ति, विकार, परिणाम आदि कभी भी नहीं दिखाई पड़ते ॥ १०, ११ ॥

समस्त फलों एवं पुरुषार्थों में श्रेष्ठ, महान् आकारवाले इस फलमें न गुद्दा है और न गुठली ही है, अतः अत्यन्त विस्तृत यह निर्विकार एवं निरञ्जन ही है ॥ १२ ॥

शिलान्तरिव नीरन्ध्रः स्यन्दमानेन्दुबिम्बवत् ।
रसं स्वसंविदाऽऽस्वाद्यं स्यन्दमान इवाऽमृतम् ॥ १३ ॥
कोशः सकलसौख्यानां शीतलालोककारकः ।
शैलाभोऽमृतपिण्डाभो मज्जा आत्मफलस्थितेः ॥ १४ ॥
तस्मात् परममज्जा तु याऽसौ स्वात्मचमत्कृतिः ।
अनन्तरक्षितो नित्यमनन्यः श्रीफलं गतः ॥ १५ ॥
स्वसन्निवेशवैचित्र्यमन्यत्वफलतां गतम् ।
अत्यजन्त्या तया तन्व्या स्थूलयाऽप्यतिबालया ॥१६॥

वह शिलाके भीतरी प्रदेशकी नाईं छिद्ररहित यानी घनीभूत * है । और अमृतका स्राव कर रहे चन्द्रबिम्बकी नाईं स्वानुभवसे अमृतकी तरह स्वाद लेने योग्य यह बिल्व निरतिशय आनन्दस्वरूप रस बहा रहा है ॥ १३ ॥

यह बिल्वफल सम्पूर्ण सुखोंका मानो एक निधि है, शीतल प्रकाश देनेवाला है, पर्वतके समान शोभासे युक्त है, अमृतके गोलेकी कान्ति धारण करता है और आत्माके कर्मफलोंकी स्थितिका यानी मनुष्यके आनन्दसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्दपर्यन्त † कर्मफलोंकी स्थितिका सारभूत पदार्थ है ॥ १४ ॥

हिरण्यगर्भके आनन्दसे भी बढ़कर जो आत्माकी चमत्कृति है, वही इस परम अव्यक्तकी मज्जा है यानी सारभूत वस्तु है ; देश, काल और वस्तु से जनित त्रिविध परिच्छेदोंसे शून्य स्वभावसे उसकी रक्षा हुई है । वास्तवमें स्व-स्वरूप आत्मा ही इस बिल्वफलरूपताको प्राप्त हुआ है, अतः वह अद्वितीय ही है ॥१५॥

अनन्यत्वका (अद्वयताका) ही उपपादन करनेके लिए चमत्कृतिपदका स्वारस्य प्रकट करते हैं—'स्वसन्निवेश०' इत्यादिसे ।

[चूँकि] सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, महान् से भी महान्, पुराना होनेपर भी वृद्धि आदि-विकारोंके न होनेसे अत्यन्त बालस्वरूप तथा अपनेमें अध्यस्त भेदमात्रकी फलरूपतामें पर्यवसित एकमात्र चैतन्यात्मक रसके सारभूत पारमार्थिक स्वकीय सन्निवेश-

* इस विषयमें 'विज्ञानघन एव' यह श्रुति प्रमाणतया उद्धृत की जा सकती है ।
† इस विषयमें 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' यह श्रुति प्रमाण है ।

इयमस्मीति कलनादसदप्यन्यतामलम् ।
भेदाद्यसंभवदिदं स्वयमुत्पाद्य भावितम् ॥ १७ ॥
अहङ्कलासमुदयसमनन्तरमेव सा ।
वलिताऽऽकाशशब्दाङ्गैस्त्रैलोक्यपरमाणुभिः ॥ १८ ॥
इत्यनुक्रमतो याता संविच्छक्तिस्वरूपताम् ।
मज्जाप्राक्सन्निवेशं स्वं तमेवाऽप्यसमुज्झती ॥१९॥

वैचित्र्यका त्याग न करती हुई उस स्वात्मचमत्कृतिने 'यह देहादि मैं हूँ' इस प्रकार-की कल्पनाके द्वारा * असत् और अन्यता की आपादक अविद्यारूप मलका † इस तरहके असंभावित भूत, भुवन आदि भेदोंके रूपसे स्वयं ही उत्पादन कर केवल भावना कर रक्खी है, वास्तवमें भावनानामकी कोई वस्तु ही नहीं है [अतः यह अद्वितीय (अनन्य) ही है, यह भाव है ।] ॥ १६, १७ ॥

वही आत्मचमत्कृति स्वोत्पादित भूत, भुवन आदि भेदोंसे अहन्ताके उत्पादन द्वारा आभिमानिक संवलन प्राप्त करती है, यह कहते हैं—**'अहङ्कला०'** इत्यादिसे ।

व्यष्टि-समष्टिरूपसे अहङ्कारकी उत्पत्ति होनेके अनन्तर ही वह आत्मचमत्कृति आकाश और आकाशके गुण शब्दरूपी अङ्गों से युक्त समष्टिरूप शरीरोंके परमाणुओंसे संवलित हो जाती है ॥ १८ ॥

अपने स्वरूपके त्यागके बिना उस प्रकारके स्वरूपोंकी प्राप्ति कर लेना ही इस चितिकी बहुत बड़ी आत्मचमत्कृति है । इसीका मैंने पूर्वोक्त रीतिसे वर्णन किया है, यों उपसंहार करते हैं—**'इत्यनुक्रमतः'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, अपने पहलेके चैतन्यात्मक सारस्वरूप संनिवेशको (रचनाको) न त्यागती हुई यह चिति इस प्रकार क्रमशः व्यवहारमें समर्थ स्वरूपताको प्राप्त कर लेती है ॥ १९ ॥

---

* यदि देह ही असत् है, तो उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इस शङ्कापर 'इयमस्मि' यह कहा गया है। एवञ्च इदन्ताशून्यमें इदन्ताका अध्यास ही भेदोत्पत्तिका प्रयोजक है, यह भाव है ।

† 'असंभवत्' इससे यह द्योतित किया गया है कि स्वयंप्रकाश एवं एकमात्र चैतन्य-रसात्मक आत्मचमत्कृतिमें यदि मल यानी अविद्या ही संभव नहीं है, तो सुतरां उस अविद्याके कार्य भेदका (पृथक्त्वका) भी संभव नहीं है ।

संविच्छक्त्या तया तत्र ततस्तरलरूपया ।
निज एव समे रूपे दृगित्थं संप्रसारिता ॥ २० ॥
इदं व्योममहानन्तमियं कालमयी कला ।
इयं नियतिरित्युक्ता क्रियेयं स्पन्दरूपिणी ॥ २१ ॥
अयं सङ्कल्पविस्तारस्त्वयमाशान्तरभ्रमः ।
रागद्वेषस्थितिरियं हेयोपादेयधीरियम् ॥ २२ ॥
इयं त्वत्ता त्वियं मत्ता तत्तेयं संस्थिता स्वयम् ।
ब्रह्माण्डौघोऽयमूर्ध्वस्थः स्वयमङ्गोर्ध्वमप्यधः ॥ २३ ॥

श्रीरामजी, व्यवहारसमर्थस्वरूपता प्राप्त करनेके अनन्तर चञ्चलस्वरूपवाली उस चितिशक्तिने अपने निर्विकार रूपमें ही इस तरहकी जगदाकार दृष्टि फैलाई है ॥ २० ॥

ऐसी स्थितिमें आकाश आदि सभी कुछ चितिशक्तिस्वरूप ही है, इसे छोड़ दूसरा कुछ भी नहीं है—यों जानना चाहिए, यह कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

यही चितिशक्ति महान् एवं अनन्त आकाशरूप है, यही कालकी—क्षण, घड़ी, दिन, मास, वर्ष, कल्प आदि रूप—कला है । यही 'नियति' इस नामसे कही गई है और यही स्पन्दनरूपिणी क्रिया है ॥ २१ ॥

इसी प्रकार आध्यात्मिक विषय भी यह है, यह कहते हैं—'अयम्' इत्यादिसे ।

यही * (चितिशक्तिस्वरूप ब्रह्म) संकल्पका विस्तार है, यही दूसरी दिशामें दूसरी दिशाका भ्रम है, यही चितिशक्ति राग-द्वेषकी अवस्था है और यही हेय और उपादेय बुद्धि है ॥ २२ ॥

यही चितिशक्ति त्वत्ता यानी त्वद्रूप है, यही 'मत्ता' यानी अहंरूप है और यही स्वयं 'तत्ता' रूप अर्थात् ब्रह्मरूप होकर स्थित है । हे श्रीरामजी, यही चितिशक्तिस्वरूप आत्मा ऊपरके ब्रह्माण्डोंका समूह है और स्वयं यह ऊपर तथा नीचे भी स्थित है ॥ २३ ॥

* चितिशक्तिके वर्णनप्रसङ्गमें उसके विशेषणोंमें जो लिङ्गभेद (पुल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग) जहाँ-तहाँ किया गया है; उसकी आत्मा, ब्रह्म आदि विशेष्य पदोंका अध्याहार कर उपपत्ति कर लेनी चाहिए ।

अयं पुरः पार्श्वतोऽयं पश्चादाराद्वीयसी ।
इदं भूतं वर्तमानं भविष्यत्त्विदमित्यपि ॥ २४ ॥
इदमन्तःस्थितानल्पकल्पनाम्भोरुहालयम् ।
ब्रह्माण्डमण्डपापीडक्रीडामण्डपमण्डलम् ॥ २५ ॥
अनन्तकलनातत्त्वपरिपल्लविता हरेः ।
हृदब्जकर्णिका चेयं लोकपद्माक्षमालिका ॥ २६ ॥
इयं कीर्णमहारुद्रगणापूरितकोटरा ।
दीर्घाभ्रसरणिर्भ्रान्तध्वंसनेभ्यः प्रभाविनी ॥ २७ ॥
इयं मेरुः ककुभ्यत्र जगत्पङ्कजकर्णिका ।
स्फुरदिन्दुमधूल्लासलम्पटामरषट्पदा ॥ २८ ॥
इयमुद्दामसौगन्ध्यस्वर्गश्रीपुष्पमञ्जरी ।
जगज्जरठवृक्षस्य रजोनरकमूलिनः ॥ २९ ॥

यही चितिशक्तिस्वरूप आत्मा आगे है, यही दोनों ओर यानी दायें-बायें, पीछे, समीप और दूरतर है। यही ब्रह्म भूत एवं वर्तमान वस्तुरूप है और यही भविष्यत् भी है ॥ २४ ॥

इसी ब्रह्ममें कल्पनारूपी कमलोंके आश्रय अनन्त जीव भीतर अवस्थित हैं, यही ब्रह्माण्ड-मण्डपका ऊपरका शिखाभूषण है और उसकी क्रीडाके-मण्डपका मण्डल है ॥ २५ ॥

यही चितिशक्ति अनन्त रचनाओंके रहस्योंसे चारों ओर पल्लवित नारायणका हृदय-कमल और लोकरूपी कमलगट्टोंकी मालाका छत्ता है ॥ २६ ॥

इस चितिशक्तिके कोटर चारों ओर व्याप्त महारुद्रके गणोंसे भरे हैं, यही लम्बी आकाशरूपा सरणि है और विषयोंमें लम्पट स्वर्गस्थ जनोंके अधःपातमें निमित्त होनेके कारण उनके ऊपर प्रभाव जमानेवाली भी यही है ॥ २७ ॥

यही इस उत्तर दिशामें स्थित मेरुपर्वत है और जगत्-रूपी कमलका वह छत्ता है, जहाँ स्फुरित हो रहे चन्द्ररूप मधुके अमृत-मकरन्दमें देवतारूप भ्रमर लम्पट हैं ॥ २८ ॥

रजोगुणके कार्य राग आदिसे एवं नरकोंसे यानी दुःखोंसे जिसका मूल (जड़) बना है, ऐसे जगद्रूप पुराने वृक्षके उत्कट सुगन्धसे युक्त स्वर्ग-शोभारूप फूलोंकी मञ्जरी यही चितिशक्ति है ॥ २९ ॥

इयं च ताराकिञ्जल्का ब्रह्माण्डतटस्थिता ।
अधारापारपर्यन्ता व्योमलीलासरोजिनी ॥ ३० ॥
इयं क्रियापरिग्राहा तरङ्गतरलावली ।
सर्गावर्तविधानस्थभूरिभूतपरम्परा ॥ ३१ ॥
इयत्तया प्रसरिणी क्षणकल्पादिपल्लवा ।
तेजःकेसरिणी कालनलिनी व्योमपङ्कजा ॥ ३२ ॥
इमा भावविकाराढ्या जरामृतिविषूचिकाः ।
विद्याविद्याविलासाढ्या इमाः शास्त्रार्थदृष्टयः ॥ ३३ ॥
इति सा तस्य बिल्वस्य निजमज्जाचमत्कृतिः ।
सङ्कल्पसन्निवेशान्तरेवैवं कृतसंस्थितिः ॥ ३४ ॥

और यही चितिशक्ति तारा-गणरूप केसरोंसे समन्वित, ब्रह्माण्डरूपी समुद्रके तीरपर स्थित, ऊपर अपार और चारों ओर अपार सीमावाली मानो व्योमाकार कमलिनी अथवा सरोवर ही है ॥ ३० ॥

जिसमें चारों ओर कर्मस्वरूप ही मगर विद्यमान हैं ; तरङ्गोंकी नाईं चञ्चल, मास, ऋतु आदिकी पँक्तियाँ जिसमें हैं ; प्रजोत्पादनरूप भँवरोंके कार्योंमें स्थित भूत-परम्पराओंसे जो युक्त है ; प्राणियोंके आयुःपरिमाणसे विस्तृत; क्षण, कल्प आदि पल्लवोंसे युक्त; तेजोंसे यानी अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदिसे केसरोंवाली और आकाशरूप कमलोंसे समन्वित कालरूपी नलिनी (सरोवर) यही चितिशक्ति है ॥ ३१, ३२ ॥

ये जो भाव-विकारोंसे परिपूर्ण जरा-मरणरूपी विषूचिकाएँ (महामारियाँ) हैं, वे सब यह चितिशक्ति ही है । और विद्या एवं अविद्या के विलाससे पूर्ण जो ये शास्त्रीयविषयोंकी दृष्टियाँ हैं, वे सब भी यही चितिशक्ति है ॥ ३३ ॥

श्रीरामजी, अभीतक वर्णित सभी प्रकार उस बिल्वफलके स्वकीय सारकी चमत्कृति ही है अर्थात् वे सब प्रकार आत्मचमत्कृतिस्वरूप ही हैं । और उसीने ऊपर कहे गये प्रकारोंसे व्यष्टि एवं समष्टि के संकल्प-सन्निवेशके भीतर ही अपनी स्थिति की है ॥ ३४ ॥

शान्ता स्वस्था निराबाधा सौम्या भावनयोज्झिता।
कर्तृत्वमप्यकर्तृत्वं कृत्वाऽकृत्वेव संस्थिता ॥ ३५ ॥
एषैकिकैव विविधेव विभाव्यमाना
नैकात्मिका न विविधा ननु सैव सैव ।
सत्यास्थिता सकलशान्तिसमैकरूपा
सर्वात्मिकाऽतिमहती चितिरूपशक्तिः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे बिल्वोपाख्याने पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

सर्वोपद्रवोंसे वर्जित, अपने स्वरूपमें स्थित, सर्वविध पीडाओंसे शून्य, सौम्य तथा कल्पनाओंसे रहित यह चितिशक्ति वास्तवमें पदार्थोंकी रचना न करनेके कारण कृतिशून्य होती हुई भी मानो पदार्थरचना कर कृतियुक्त-सी होकर अवस्थित है ॥ ३५ ॥

बिल्वाख्यायिकाकी समाप्ति कर अब चितिका स्वरूपतः वर्णन कर रहे महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं—'एषैकिकैव' इत्यादिसे ।

वास्तवमें एकस्वरूप (अद्वितीयस्वरूप) भी यह चितिशक्ति अज्ञानियों द्वारा नाना प्रकारकी-सी (सद्वितीय-सी) कल्पित की जा रही है । [एकत्व-संख्या भी द्वित्व-संख्याकी जननी होनेसे] वह न एकात्मिका है और न विविध ही है, किन्तु वह (चितिशक्ति) एकत्वरूप है और एकत्व भी तत्स्वरूप ही है । अथवा सजातीय एवं विजातीय से रहित है । वह सत्यस्वरूप होकर अवस्थित है, द्वैत-विकल्पोंकी शान्ति हो जानेसे सम, एकरूप और सर्वात्मिका है । हे श्रीरामजी, मैंने आपसे अत्यन्त महान् ब्रह्मशब्दसे लक्षित होनेवाली चितिशक्तिका इस प्रकार वर्णन किया ॥ ३६ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

षट्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

भगवन् सर्वसारज्ञ त्वयैषा बिल्वरूपिणी ।
महाचिद्घनसत्तेह कथितेति मतिर्मम ॥ १ ॥
चिन्मज्जारूपमखिलमहन्तादीदमाततम् ।
न मनागपि भेदोऽस्ति द्वैतैक्यकलनात्मकः ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

यथा ब्रह्माण्डकूष्माण्डमज्जा मेर्वादिसंस्थितिः ।
तथा चिद्बिल्वमज्जेयं ब्रह्माण्डादिजगत्स्थितिः ॥ ३ ॥

छियालीसवाँ सर्ग

[चित्रकारके मनकी कल्पनासे चित्रित, कमलिनीवनसे शोभित शिलागर्भकी नाईं प्रपञ्चरूप आभाससे युक्त ब्रह्मका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजी अपना उक्त बिल्वोपाख्यानका तात्पर्यज्ञान दिखलाते हैं—'भगवन्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—निखिल तत्त्वको जाननेवाले हे भगवन्, अभी आपने [जो बिल्वोपाख्यान कहा है, उसमें] बिल्वफलके रूपसे महाचैतन्यघनकी सत्ताका ही वर्णन किया है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ १ ॥

महर्षे, जो कुछ विस्तारको प्राप्त ये अहन्ता आदि पदार्थ हैं, वे सब चैतन्य-सारस्वरूप हैं, [अतः] द्वित्व-एकत्वकी कल्पनारूप भेद तनिक भी नहीं है ॥ २ ॥

केवल अहन्ता आदि ही चैतन्यात्मक बिल्वफलकी मज्जारूप नहीं हैं, किन्तु ब्रह्माण्ड आदि सभी पदार्थ उस चैतन्यात्मक बिल्वफलकी मज्जारूप (सार) हैं, यों निःसङ्कोच समझिए, इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, जिस प्रकार ब्रह्माण्डरूप कूष्माण्ड-की मज्जा यानी सार मेरुपर्वत आदिकी स्थिति है, उसी प्रकार चैतन्यात्मक इस बिल्वफलकी मज्जा ब्रह्माण्ड आदि जगत्की स्थिति ही है ॥ ३ ॥

सृष्टिचिद्बिल्वमज्जा स्यात् स्वाधारान्यत्वसंभवे ।
विनाशः सर्वगस्याऽस्य न चैतत्संभवत्यलम् ॥ ४ ॥
चितेर्मरीचबीजस्य जगदाख्या चमत्कृतिः ।
स्थिता सौषुप्तसौम्यान्तः शिलान्तःसन्निवेशवत् ॥ ५ ॥
अत्रेमामिन्दुवदन चित्रां विस्मयकारिणीम् ।
वर्ण्यमानां मया रम्यामन्यामाख्यायिकां शृणु ॥ ६ ॥

चैतन्यात्मक उस बिल्वफलकी ब्रह्माण्ड आदि जगत्-स्थिति मज्जा है, ऐसा कहनेपर किसीको यह भ्रम हो सकता है कि वह मज्जा भीतरी प्रदेशमें स्थित अवयवोंका रसमय परिणामविशेष ही होगा, तो उसका निवारण करते हैं—'सृष्टि०' इत्यादिसे ।

जैसे बिल्वफलका खप्पड़ उस फलकी मज्जाका यानी गुद्दीका आधार होता है, वैसे ही सृष्टिस्वरूप चैतन्यात्मक इस बिल्वफलकी मज्जारूप आधेयसे खर्परस्थानीय स्वाधार यदि कोई दूसरा हो तो मज्जा उसके अन्दरकी परिणामस्वरूप हो सकेगी [परन्तु स्थिति वैसी नहीं है; किन्तु मज्जा और उसका आधार दोनों एक ब्रह्मरूप ही हैं] । यदि सर्वव्यापी इस चिदात्माको सर्वावयवावच्छेदेन अथवा एकदेशावच्छेदेन परिणामी मानेंगे तो उसकी नाशापत्ति कभी भी हटाई नहीं जा सकती । और इस निरवयव चिदात्मामें न कोई मुख्य अन्तःप्रदेश है और न परिणाम ही हो सकता है । अतः यहाँ मज्जाशब्द परिणामका वाचक नहीं है, यह भाव है ॥ ४ ॥

तब मज्जाशब्द किंपरक है यानी किसका वाचक है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि विवर्त-स्वरूप चमत्कारका ही वह वाचक है, इस आशयसे कहते हैं—'चिते०' इत्यादिसे ।

मरीच-बीजकी तरह चितिकी जगत्-नामक यह चमत्कृति सुषुप्तिके सदृश विकार-रहित शान्त चितिमें, शिल्पकारके मनसे कल्पित शिलाके अन्दर पद्म-वनकी रचनाकी नाईं, विवर्तरूपसे ही स्थित है ॥ ५ ॥

उक्त दृष्टान्तका ही विवरण करनेके लिए ब्रह्मशिलाख्यानकी भूमिका बाँधते हैं—'अत्रेमा०' इत्यादिसे ।

स्निग्धा स्पष्टा मृदुस्पर्शा महाविस्तारशालिनी ।
निबिडा नित्यमक्षुब्धा क्वचिदस्ति महाशिला ॥ ७ ॥
तस्यामन्तः प्रफुल्लानि पद्मानि सुबहून्यपि ।
सरस्यामिव रम्याणि तान्यनन्तानि सन्ति वै ॥ ८ ॥
अन्योन्यप्रोतपत्राणि मिथो विघटितानि च ।
मिथश्चोपनिगूढानि गूढानि प्रकटानि च ॥ ९ ॥
अधोमुखान्यूर्ध्वमुखान्यपि तिर्यङ्मुखानि च ।
मिथो मिलितमूलानि मिथः प्रोतमुखान्यपि ॥ १० ॥

चन्द्रसे भी बढ़कर आह्लादकारी मुखवाले हे श्रीरामजी, इस प्रसङ्गमें कभी न सुनी गई, अतएव आश्चर्यजनक, रमणीय और अन्य दूसरी इस आख्यायिकाका (ब्रह्मशिलाख्यायिकाका), जिसका अभी-आगे मैं वर्णन करूँगा, आप [सावधान होकर] श्रवण कीजिए ॥ ६ ॥

चित्त-प्रेमका आस्पद होनेसे स्निग्ध (चिकनी), स्वयंप्रकाश होनेसे स्पष्ट प्रतीयमान, सुखकी हेतु होनेसे मृदुल स्पर्शवाली, असीम होनेके कारण महाविस्तारसे युक्त, सन्तत होनेसे निविड़, नित्य एवं अक्षुब्ध स्वभाववाली कहीं * एक महती शिला है ॥ ७ ॥

उस महा-शिलाके भीतर मनःकल्पनाओंसे अनन्त वे सभी भुवनादिरूप कमल † वैसे विराज रहे हैं, जैसे सरसीमें खिले हुए अधिक रमणीय कमल विराजते हैं ॥ ८ ॥

उनमें से कुछ तो परस्पर गुथे गये पत्तोंसे युक्त हैं अर्थात् परस्पर सम्बद्ध हैं, कुछ परस्पर सम्बन्धरहित हैं और कुछ परस्पर एक-दूसरेसे साक्षात् संश्लिष्ट (आलिङ्गित) हैं । वे कुछ गुप्त हैं तो कुछ प्रकट भी हैं ॥ ९ ॥

उनमें कुछ नीचे मुँहवाले हैं, कुछ ऊर्ध्वमुखवाले भी हैं और कुछ तिरछे

---

* इस ब्रह्म-शिलाका आधार ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई दूसरा कह ही नहीं सकते, अतः इस श्लोकमें 'क्वचित्' कहा गया है । इस विषय में यह श्रुति प्रसिद्ध है—'स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' (वह भगवान् कहाँ प्रतिष्ठित हैं ? [इसपर उत्तर है] अपनी महिमामें) ।

† प्रस्तुत श्लोकमें 'पद्मानि' इससे पद्मसदृश भुवनादि ही विवक्षित हैं, क्योंकि वे भी संकोच-विकासशाली हैं और जीवरूप भ्रमरोंके आश्रय भी हैं, यह जानना चाहिए ।

कर्णिकाजालमूलानि मूलान्तःकर्णिकानि च ।
ऊर्ध्वमूलान्यधो मूलान्यमूलानीतराणि च ॥ ११ ॥
तेषां च निकटे सन्ति शङ्खाः शतसहस्रशः ।
चक्रौघाश्च महाकाराः पद्मवत्सन्निवेशिनः ॥ १२ ॥

श्रीराम उवाच

सत्यमेतन्मया दृष्टा तादृशी सा महाशिला ।
शालग्रामे हरेर्धाम्नि विद्यते परिवारिणी ॥ १३ ॥

मुँहवाले भी हैं । कुछ परस्पर मिले हुए मूलोंसे युक्त हैं तो कुछ परस्पर गुथे मुँह-वाले भी हैं ॥ १० ॥

दिखाई पड़नेवाले पदार्थोंसे विपरीत भी मनकी कल्पना हो सकती है, अतः यह कहते हैं—'कर्णिका०' इत्यादिसे ।

कुछके मूल तो कमलोंके छत्तोंमें (बीजकोशोंमें) हैं तो कुछ ऐसे हैं, जिनके मूलके अन्दर ही बीजकोश हैं । उन भुवनरूप कमलोंके बीच किन्हींके मूल ऊपर हैं, [क्योंकि स्वर्ग आदि भुवनोंका आश्रय ऊपर-स्थित ध्रुव-मण्डल ही है,] तो किन्हींके मूल नीचेकी ओर हैं [क्योंकि पाताललोक, भूलोक आदि भुवनोंका आश्रय बाह्य-स्थित कूर्म ही हैं ।] । [शिवलोक, विष्णुलोक आदिके नित्य होनेसे] कुछ मूलरहित हैं तो और कुछ दूसरे तिरछे मूलवाले हैं [क्योंकि कई ऐसे भी भुवन हैं, जिनका धारण तिर्यग्गति पवन ही करता है] ॥ ११ ॥

और उन्हीं कमलोंके समीप सैकड़ों-हजारों कमल-मुकुलके समान आकृतिवाले महाकार शङ्ख हैं तथा विकसित कमलकी नाईं आकृतिवाले बड़े बड़े चक्र-समूह भी हैं* ॥ १२ ॥

तीर्थयात्राके समय शालग्राम-क्षेत्रमें देखी गई शिलाका गुरुवसिष्ठजीके उपर्युक्त वचनसे स्मरण कर रहे श्रीरामचन्द्रजी 'उसी शिलाका—यहाँ गुरुदेव

* प्रस्तुत श्लोकमें शङ्खशब्दसे नक्षत्र, ग्रह, तारकागण आदि ज्योतिर्मण्डल ही विवक्षित हैं, क्योंकि समुद्र की नाईं नीले आकाशमें वे शंख-समूह की नाईं भासते हैं । इसी प्रकार चक्रशब्दसे मण्डलाकार द्वीप ही विवक्षित हैं, क्योंकि वे चक्रधाराकी तरह आभासमान समुद्रोंसे उपलक्षित हैं, यह जान लेना चाहिए ।

वसिष्ठ उवाच

एवमेतद्विजानासि दृष्टवानसि तां शिलाम् ।
यो यश्च तत्र वै प्राणः समस्तादघनन्तरः ॥ १४ ॥
मया त्वियमपूर्वैव शिलेह कथिता तव ।
यस्यामन्तर्महाकुक्षौ सर्वमस्ति च नाऽस्ति च ॥ १५ ॥

भगवान्‌ने जगत्‌की कल्पना आदिसे—वर्णन किया है', यों मानते हुए कहते हैं—'सत्यमेतत्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुदेव, आपने उक्त शिलाका जो वर्णन किया है, वह सच है । [तीर्थ-यात्राके प्रसङ्गमें] शालग्रामनामक हरिके क्षेत्रमें उपर्युक्त प्रकारकी एक महाशिला स्थित है, जो कि पद्म-वनके चिह्नसे युक्त है, वह मैंने अपनी आँखों देखी है ॥ १३ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का सम्बन्ध आपने भलीभाँति जान लिया है, यों अनुमोदन कर रहे महर्षि वसिष्ठजी कहते हैं—'एवमेतत्०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, मैंने जिस शिलाका दृष्टान्त दिया है, वह मैंने देखी है, इस प्रकार आप जो स्मरण कर रहे हैं, वह ठीक ही है, और दार्ष्टान्तिक चिदात्मा जिस स्वभावका है यानी जैसा छिद्रशून्य चिद्घन, सम, प्राणका भी प्राण—निरतिशयानन्दस्वरूप—है, उसके विषयमें भी जो आपने देखा है, उसका भी आप स्मरण करते हैं ॥ १४ ॥

मैंने जिस शिलाका दृष्टान्त दिया है, वह आपके द्वारा देखी गई प्राकृत शिला नहीं है, किन्तु ब्रह्मकी ही शिलारूपसे कल्पना कर प्रथमोपदिष्ट बिल्वफलकी नाईं, किसी अपूर्व शिलाका दृष्टान्त दिया है, इसलिए उपायमें तात्पर्यका विसंवाद होनेपर भी उपेयमें विसंवाद नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'मया' इत्यादिसे ।

भद्र, यहाँपर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्तरूपसे आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षिके भीतर यह सब प्रपञ्च व्यवहारकालमें विद्यमान रहता है और बाधकालमें अविद्यमान भी रहता है ॥ १५ ॥

चिच्छिलैषा मयोक्ता ते यस्यामन्तर्जगन्ति वै ।
घनत्वैकात्मकत्वादिवशादेषा शिलैव चित् ॥ १६ ॥
अप्यत्यन्तघनाङ्गायाः सुनीरन्ध्राकृतेरपि ।
विद्यतेऽन्तर्जगद्वृन्दं व्योम्नीव विपुलानिलः ॥ १७ ॥
द्यौः क्ष्मा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
सन्ति तस्यां शिलायां च सुषिरं न मनागपि ॥ १८ ॥
अस्यामेव घनाङ्गात्म जगत्पद्मं विजृम्भते ।
एतस्माद्वस्तुतो नाऽन्यदन्यच्छुद्धात्मकं च वा ॥ १९ ॥
शङ्खपद्मादिकं लोके पाषाणे लिख्यते यथा ।
भूतं भवद्भविष्यच्च शिलायां शालभञ्जिका ।
तथाऽस्ति तत्र तत्सर्वं संस्थानं वस्तुतो यथा ॥ २० ॥

श्रीरामजी, आपसे उस चितिरूप शिलाका ही मैंने कथन किया है, जिसके भीतर ये सब जगत् विद्यमान हैं । लौकिक शिलाके सदृश इसमें निबिड़ता, एकरूपता, अभेद्यता आदि गुण होनेके कारण यह चिति भी एक तरहकी शिला ही है ॥ १६ ॥

भद्र, जैसे आकाशमें विपुल पवन रहता है, वैसे ही अत्यन्त घनीभूत अङ्गोंवाली और छिद्रशून्यस्वरूपवाली होती हुई भी इस चितिरूप शिलाके अन्दर मायावश यह जगत्-समूह रहता है ॥ १७ ॥

यद्यपि मायावश उस चितिरूप शिलामें स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ विद्यमान हैं; तथापि उसमें तनिक भी छिद्र नहीं है ॥ १८ ॥

उस शिलामें जगत्की ही पद्म-वनरूपसे मैंने उत्प्रेक्षा की है, यह कहते हैं—'अस्यामेव' इत्यादिसे ।

इसी चितिरूप शिलामें घनीभूत अवयवोंवाला जगद्रूपी कमल विकसित हो रहा है । वह यद्यपि उससे पृथक्-सा भासित होता है; तथापि वास्तवमें उससे पृथक् नहीं है और न शुद्धचित्स्वरूप ही है, किन्तु केवल मायारूप ही है ॥ १९ ॥

'तेषां च निकटे सन्ति' यह जो ऊपर कहा गया है, उसका अब तात्पर्य बतलाते हैं—'शङ्ख०' इत्यादिसे ।

उपलोऽन्तःसन्निवेशो नानाऽऽत्माऽप्येकपिण्डताम् ।
यथाऽऽदत्ते तथैषा चित् पिण्डाकारैकिकां घनाम् ॥ २१ ॥
यथा पद्मः शिलाकोशादभिन्नस्तद्वपुर्मयः ।
तथा सर्गस्थितो रूपादभिन्नोऽपि वपुर्मयः ॥ २२ ॥
सुषुप्तावस्थया चक्रपद्मलेखाः शिलोदरे ।
यथा स्थितास्थितेरन्तस्तथेयं जगदावली ॥ २३ ॥

श्रीरामजी, जैसे पत्थरमें चित्रकारकी मनःकल्पनासे शङ्ख, कमल आदि चित्र निर्मित किये जाते हैं, वैसे ही एकमात्र मनकी कल्पनासे इस चितिरूप शिलामें भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सब प्रपञ्च चित्रित किया गया है। प्राकृत शिलामें जैसे शालभञ्जिका (पुतली) आदि वास्तव-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तव नहीं हैं, किन्तु शिलारूप ही हैं; वैसे ही चिति-शिलामें उक्त सभी संस्थान वास्तव-से प्रतीत होनेपर भी वास्तव नहीं हैं, किन्तु चितिरूप ही हैं ॥ २० ॥

भीतर स्थित शङ्ख, कमल आदि आकारोंसे युक्त पत्थर अनेक-रूपसे प्रतीयमान हो रहा भी जैसे घनीभूत एकपिण्डरूपताको स्वीकार करता है, वैसे ही कल्पित आकारोंसे युक्त होकर अनेक आकृतियोंके रूपमें प्रतीत हो रही भी यह चिति वास्तवमें घनीभूत एकपिण्डरूपताको ही स्वीकार करती है ॥ २१ ॥

जिस प्रकार पाषाण-शिलाके भीतर शिल्पी द्वारा लिखित कमल, उस शिलाकोशसे अभिन्न होनेपर भी अपने परिच्छिन्न आकारसे युक्त होकर उससे भिन्न-सा भासता है, उसी प्रकार चितिके स्वरूपसे अभिन्न होनेपर भी यह सर्ग (सृष्टि) उससे अन्य परिच्छिन्न आकारवाला होकर उससे भिन्न-सा भासता है, वास्तवमें भिन्न नहीं है ॥ २२ ॥

जैसे टाँकीसे छेदन करनेके पूर्व शिलाके भीतर चक्र, पद्म आदिकी पंक्तियाँ अनभिव्यक्त अवस्थासे अवस्थित रहती हैं, वैसे ही मनकी कल्पनासे पूर्व इस चिति-शिलाके भीतर ये जगद्रूपी पंक्तियाँ अनभिव्यक्त (अव्याकृत) अवस्थासे अवस्थित हैं ॥ २३ ॥

शिलान्तः पद्मलेखाली मरिचान्तश्चमत्कृतिः ।
नोदेति नाऽस्तमायाति यथा सर्गस्तथा चितौ ॥ २४ ॥
यथा पुरन्ध्र्यां मर्त्योऽन्तर्मज्जा वा बिल्वगा यथा ।
तथाऽनन्तविकाराढ्या चितौ ब्रह्माण्डमण्डली ॥ २५ ॥
विकारादि तदेवेति मुधैवोक्तिरनर्थिका ।
तत्तां सम्नुपयात्याशु जलबिन्दुरिवाऽम्भसि ॥ २६ ॥
अनन्तत्वाच्चितेरेतद्विकारादि चितेरिति ।
उक्त्या सम्पद्यते यच्च तल्लयेन विलीयते ॥ २७ ॥

जैसे शिला और मरीच के रहते शिलाके भीतर कल्पित पद्म-लेखाकी पंक्ति एवं मरीचके भीतर स्थित तीक्ष्णतारूप चमत्कृति (कटुरसकी स्फूर्ति) स्वाभाविक होनेसे न उदित (उत्पन्न) होती है और न वह अस्तमित (नष्ट) ही होती है [क्योंकि अपने आश्रय शिला आदिकी जबतक स्थिति रहेगी तबतक दोनोंका न उदय ही हो सकता है और न नाश ही हो सकता है] ; वैसे ही इस चितिमें भी यह सर्ग न उदित होता है और न अस्तमित ही होता है ॥ २४ ॥

जिस प्रकार सच्चरित्र पतिव्रता स्त्रीके मनमें उसका प्रिय पति सदैव रहता है, अथवा बिल्वफलके अन्दर मज्जा सदैव रहती है वैसे ही इस चितिमें अनन्त विकारोंसे परिपूर्ण ब्रह्माण्ड-समूह सदैव रहता है ॥ २५ ॥

भद्र, ब्रह्माण्डके विकार आदि चैतन्यमात्रस्वरूप हैं—यह कहना अर्थशून्य है, अतः तथोक्ति व्यर्थ ही है [क्योंकि जब विकारी ब्रह्माण्ड चैतन्यमात्रस्वरूप है तब ब्रह्माण्डके विकारभूत भुवन, शरीर आदिकी चिन्मात्रस्वरूपता तो अर्थतः ही सिद्ध हो जाती है, फिर अर्थशून्य होनेके कारण वैसा कहना निष्फल ही है]। [कैसे अर्थशून्य है ? इसपर कहते हैं—'तत्ताम्' से ।] चूँकि ये विकार आदि तत्क्षण ही (ब्रह्माण्डोंमें चैतन्यमात्ररूपताका साक्षात्कार करनेके क्षणमें ही) जलमें जलबिन्दुकी नाईं चैतन्यमात्रस्वरूप हो जाते हैं, अणुमात्र भी उससे पृथक् नहीं रह जाते, इसलिए वह उक्ति अर्थशून्य ही है, यह भाव है ॥ २६ ॥

और 'चितिके अनन्तशक्ति होनेके कारण विकार आदिकी यह सृष्टि उस चितिसे विकार आदि नामपूर्वक ही हुई हैं' इसलिए* उक्तिमात्रसे जो सिद्ध

---

* भुवन आदिकी सृष्टि नामपूर्वक ही है, इस विषयमें यह श्रुति प्रमाणरूप है—'स भूरिति व्याहरत्, भुवमसृजत । एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄन्' ।

ब्रह्मैवेदं विकारादि विकाराद्यर्थवर्जितम् ।
वर्जनावर्जनेऽर्थस्य ब्रह्मैवाऽनन्ततावशात् ॥ २८ ॥
ब्रह्म स्थितं विकारादि ब्रह्मैवोत्पादितं क्रमात् ।
अत्राऽन्यार्थमिदं विद्धि मृगतृष्णाम्भसा समम् ॥ २९ ॥
बीजं पुष्पफलान्तस्थं बीजान्तर्नाऽन्यदात्मकम् ।
यादृशी बीजसत्ता सा भवन्ती यात्यथोत्तरम् ॥ ३० ॥
चिद्घने चिद्घनत्वं यत् स एव त्रिजगत्क्रमः ।
एकत्वमेतयोर्द्वित्वमेकाभावे द्वयोः क्षतिः ॥ ३१ ॥

होगा, वह उक्तिके प्रलयसे लीन हो जायगा [कवि-वर्णित विचित्र गन्धर्वनगर आदिकी तरह केवल उक्तिसे सिद्ध हो जानेसे भी विकार प्रमातृचैतन्यमात्ररूप ही हो जायँगे, यह तात्पर्य है ।] ॥ २७ ॥

ये भुवन आदि विकार विकारादि अर्थोंसे शून्य ब्रह्मरूप ही हैं । विषयोंका ग्रहण और अग्रहण भी ब्रह्मरूप ही है, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है ॥ २८ ॥

विकार आदिरूपसे ब्रह्म ही अवस्थित है और ब्रह्म ही क्रमशः विकार आदिके रूपमें उत्पन्न किया गया है । इस चिति-शिलाके भीतर दूसरा जो यह विकारादि अर्थ प्रतीत हो रहा है, उसे आप मृगतृष्णाजलके सदृश ही जानिए यानी उसे असद्रूप ही जानिए ॥ २९ ॥

फूलसे लेकर फलपर्यन्त अपने कार्योंमें बीजकी अनुवृत्ति दिखलाई पड़नेके कारण जैसे फूल आदि बीजरूप ही होते हैं, वैसे ही सभी जगह चितिसत्ताकी अनुवृत्ति दिखलाई पड़नेके कारण सब चितिस्वरूप ही हैं, यह कहते हैं—'बीजम्' इत्यादिसे ।

फूलसे लेकर फलतक अपने कार्योंमें बीज अनुस्यूतरूपसे रहता है, अतः बीजके भीतर फूल, फल आदि बीजको छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है ; क्योंकि अङ्कुर आदि पूर्व-पूर्व विकारोंमें जो बीजशक्ति विद्यमान रहती है, वही उसके बाद उत्तर-कालमें काण्ड, शाखा, पल्लव आदि रूपोंमें परिणत हो जाती है ॥ ३० ॥

चिद्घन इस आत्मामें जो चिद्घनत्व है, वही तीनों जगत्का बीज है; [एकत्व-कल्पनाके अधीन ही द्वित्व-कल्पना होनेसे भी अकल्पित चिन्मात्र ही तत्त्व है, यह कहते हैं—'एकत्वम्' से ।] अतः चिद्घनरूप बीज और

जगदन्यभवोद्भूतिर्न कदाचित्तदीदृशम् ।
चिदचिन्न कदाचिच्च द्वयमन्तर्मिथोऽद्वयम् ॥ ३२ ॥
महाशिलान्तरे भेदो लेखात्माऽस्ति यथा बहु ।
तदन्यानन्यमज्जादि चिद्घने त्रिजगत्तथा ॥ ३३ ॥
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला ।
तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिति दृश्यते ॥ ३४ ॥
एतच्छिलान्तरब्जादि यथा नित्यं सुषुप्तकम् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति तथाऽहन्ता जगद्गतिः ॥ ३५ ॥
यथा शिलान्तर्लेखादि भिद्यते न शिलान्तरात् ।
तत्सारत्वाज्जगत्कर्तृकर्तृत्वादिजगच्चितिः ॥ ३६ ॥

उसके कार्य जगत् में एकत्व ही द्वित्व है, क्योंकि एकके अभावमें दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

बीज और उसके कार्य जगत् की उत्पत्ति चितिसे अतिरिक्त जाड्यकी कल्पनासे ही होती है। चितिका वह रूप तो कभी भी जड़स्वभाव हो नहीं सकता और न चिति ही कभी अचित् हो सकती है। अतः बिल्वके भीतर मज्जा आदिकी नाईं ये बीज और कार्य एक-दूसरेसे अभिन्न (अद्वितीय) ही हैं ॥ ३२ ॥

जैसे महाशिलाके भीतर विद्यमान अनेक तरहका भेद लेखनात्मक ही है, वास्तवमें नहीं; वैसे ही चिद्घन बिल्वफलमें मज्जादिरूप त्रिजगत् कल्पनावश उससे भिन्न है, वास्तवमें उससे अनन्य ही है ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार रेखा एवं उपरेखाओं से संवलित एक ही स्थूलशिला दीखती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही त्रैलोक्यसे संवलित प्रसिद्ध जगत्-रूपसे दीखता है ॥ ३४ ॥

जैसे इस लौकिक शिलाके भीतर सर्वदा स्थित शिल्पीके वासनास्वरूप कमल आदि न उदित होते हैं और न अस्तमित ही होते हैं, वैसे ही इस चिति-शिलामें अहङ्कार और जगत् की गति भी न उदित होती है और न अस्तमित ही होती है ॥ ३५ ॥

जिस तरह शिलाके भीतरकी रेखा आदि शिलाके आभ्यन्तरसे भिन्न नहीं हैं, [किन्तु शिलामय ही हैं]; उसी तरह जीव एवं ईश्वर का रूप और

यथा शिलान्तरब्जानां स्पन्दास्पन्दभवाभवाः ।
विषयत्वं न गच्छन्ति कर्तारो जगतस्तथा ॥ ३७ ॥
नेदं कदाचित् क्रियते न कदाचन नश्यति ।
अद्रिवत्प्रभवोल्लासविलासावेदनात्मकम् ॥ ३८ ॥
यथा यत्र यदाकारं तथा तत्र तदेव हि ।
ब्रह्मसत्तात्मकं सर्वं सुषुप्तस्थमिव स्थितम् ॥ ३९ ॥
भूरिभावविकाराढ्यो योऽयं जगदुरुभ्रमः ।
सुषुप्तमेव तद्विद्धि शिलान्तःपङ्कजादिवत् ॥ ४० ॥

कर्तृत्व आदि जगत् एकमात्र चैतन्यरूप होनेसे चितिसे भिन्न नहीं हैं, किन्तु चितिरूप ही हैं ॥ ३६ ॥

शिलाके भीतर स्थित कमलोंकी गति एवं अगति, आविर्भाव और तिरोभाव शिलाके तत्त्वसाक्षात्कारसे जैसे शिलासे पृथक् विषयताको प्राप्त नहीं होते यानी वे शिलासे भिन्न सिद्ध नहीं होते, वैसे ही आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे जगत्‌के कर्ता जीव, ईश्वर आदि कोई भी उससे पृथक् सिद्ध नहीं होते ॥ ३७ ॥

वस्तुतः पर्वतकूटकी नाईं उत्पत्ति, उल्लास एवं विलास रूप विकारोंको प्राप्त न करनेवाला ब्रह्मका स्वरूपभूत यह जगत् न कभी किसीसे किया गया है यानी उत्पादित है और न कभी नष्ट ही होता है ॥ ३८ ॥

इसलिए जैसे शिला अनेक शिल्पियोंकी विविध मानसिक कल्पनाओंके रहनेपर उस-उस रूपसे स्थित रहती है, वैसे ही ब्रह्म भी नाना जीवोंकी अनेक विरुद्ध कल्पनाओंके रहनेपर तत्-तत् रूपसे अवस्थित रहता है, यह कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जिस तरहके जिस आकारमें जहाँ कल्पना की जाती है, वहाँपर उस तरहके उस आकारमें ब्रह्म हो जाता है । यह सब जगत् ब्रह्मसत्तात्मक ही है और सुषुप्तस्थकी नाईं स्थित है यानी जैसे प्रत्येक जीव विचित्र स्वाप्निक विषयोंकी कल्पनाओंके भेदोंको अविरोधसे सहता है, वैसे ही वह ब्रह्म भी कल्पना-प्रयुक्त सब भेद सहन करता है ॥ ३९ ॥

प्रभूत भावविकारोंसे परिपूर्ण जो यह जगद्रूप महान् भ्रम है, उसे उस प्रकार अनुन्मिषित वासनामात्र ही जानिए, जिस प्रकार शिलाके भीतर कमल आदि ॥ ४० ॥

नित्यं सुषुप्तपदमेवजगद्विलासः
सम्यक्प्रशान्तसमचिद्घनखात्मकत्वात् ।
पद्माः शिलान्तरिव सर्गदशास्त्वसारा
दृष्टा न देहमुपयान्ति कदाचिदेव ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिलाकोशोपदेशो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्तत्त्वस्य फलस्येव चितः स्वापापरः क्रमात् ।
स्वसत्तासन्निवेशेन यः स सर्ग इति स्थितः ॥ १ ॥

आख्यायिकाके तात्पर्यका संक्षेपमें उपसंहार करते हैं—'नित्यम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, यह जगत्का विलास सर्वदा अनुन्मिषित वासनामात्र ही है, क्योंकि वह भलीभाँति शान्त एवं सम चिद्घन ब्रह्माकाशस्वरूप ही है। शिलाके भीतर स्थित कमलोंकी नाईं तुच्छ सर्गादि-दशाएँ आत्माके भीतर देखी गईं भी कभी स्वरूप-स्थिति प्राप्त नहीं कर सकतीं ॥ ४१ ॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतालीसवाँ सर्ग

[मोरके अण्डेके रसमें उसके पँख, वर्ण तथा अन्य अवयवोंकी रचनाके भेदकी नाईं बिल्वशिलाख्यानके तात्पर्यका वर्णन]

बिल्वफलका दृष्टान्त देनेके कारण वह अचिद्रूप ही है, और उस बिल्वफलके भीतरके बीज, मज्जा आदिकी तरह स्वगत-भेदसे वहाँ चित्-समसत्ताक ही सर्गोत्पत्ति है यानी जबतक चिति रहेगी तबतक सृष्टिकी उत्पत्ति होती रहेगी, यह वर्णित है, यों तात्पर्यका भ्रम न हो, इसलिए उसका तात्पर्य बतलाते हैं—'चित्तत्त्वस्य' इत्यादिसे ।

देशकालक्रियादीनामपि तन्मयरूपतः ।
इदमन्यदिदं चाऽन्यदिति नाऽत्रोपपद्यते ॥ २ ॥
समस्तशब्दशब्दार्थवासनाकलनाविदः ।
एकात्मत्वादसच्चेदमिति संकथ्यते कथम् ॥ ॥ ३ ॥
फलस्याऽन्तःसन्निवेशो नामानुक्रमतो यथा ।
चितः स्वसत्ताघनताऽनाना नाना स्थिता तथा ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, फलसदृश चितितत्त्वके गर्भमें स्थित यह जगत् प्रसिद्ध स्वापसे अन्य एक तरहसे चितिका स्वाप ही है, वह क्रमसे यानी युग, वर्ष आदि क्रमसे चितिसत्ताद्वारा कल्पित सन्निवेशसे (अवयव-विन्याससे) प्रवृत्त है और वह चितिकी समसत्तावाला चिद्गत भेदस्वरूप नहीं है। तात्पर्य यह है कि जबतक चिद्रूपतत्त्व स्व-स्वरूपके ज्ञानसे रहित है तबतक ही उसके गर्भमें सर्ग है, यह बतलानेके लिए अचेतन फलका दृष्टान्त दिया गया है ॥ १ ॥

तब क्या चिति-तत्त्वसे अन्य ही सर्ग है ? इसपर 'यह भी नहीं कहा जा सकता', यह कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

चूँकि देश, काल, क्रिया आदि भी अपने अधिष्ठानभूत चैतन्यमात्रस्वरूप ही हैं, अतः 'यह अन्य है', 'यह अन्य है' इस प्रकारकी कल्पना यहाँ नहीं की जा सकती ॥ २ ॥

तब क्या ये सर्ग आदि असत् ही हैं ? इसपर 'यह भी नहीं कहा जा सकता', यह कहते हैं—'समस्त०' इत्यादिसे ।

निखिल शब्दों, उनके अर्थों, उनकी वासनाओं और तत्प्रयुक्त सङ्कल्प-विकल्प आदि कल्पनाओं को जाननेवाला जब तीनों अवस्थाओंमें (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिमें) भी एकरूप होनेके कारण सत्यस्वरूप है, तब 'यह सर्ग असत् ही है' यह भी कैसे कहा जा सकता है ? ॥ ३ ॥

इससे प्रातिभासिक अनुक्रमोंके वैचित्र्य चितिके अधीन हैं, इस आशयसे ही उसकी फलरूपसे उत्प्रेक्षा की गई है, यह कहते हैं—'फलस्या०' इत्यादिसे ।

जैसे फलके भीतर वृक्ष, अङ्कुर आदिकी रचनाका अनुक्रम रहता है, वैसे ही चितिकी अपनी चिद्घनरूप सत्ता अनाना और नाना रूप होकर स्थित है ॥ ४ ॥

अनानैवाऽपि नानेव क्षुब्धेवाऽक्षुभितैव च ।
यथा फलान्तःस्वासत्ता चिदन्तःसिद्धयस्तथा ॥ ५ ॥
जगन्नगरमादर्शे चितः स्वं प्रतिबिम्बितम् ।
कचतीवाऽकचदपि शिलान्तःसन्निवेशवत् ॥ ६ ॥
परमे चिन्मणौ सन्ति जगत्कोटिशतान्यपि ।
चिन्तामणावनन्तानि फलानीवाऽर्पितान्यलम् ॥ ७ ॥
चित्सम्पुद्गक एवेदं तदङ्गोत्कीर्णमाततम् ।
जगन्मौक्तिकमाभाति तदंशमयमन्यवत् ॥ ८ ॥

उनमें अनानात्व आदि अंश ही प्रथम होनेसे सत्य हैं, यह कहते हैं—'अनानैवाऽपि' इत्यादिसे ।

वह चिति अद्वितीय होनेपर भी नाना-सी है और क्षोभरहित होती हुई भी क्षुब्ध-सी है । जैसे फलके भीतर विद्यमान अङ्कुर, मज्जा आदिकी फलसे अतिरिक्त सत्ता नहीं है, वैसे ही इस चितिके भीतर विद्यमान जगद्-रूप सिद्धियोंकी अतिरिक्त सत्ता नहीं है ॥ ५ ॥

शिलाख्यानका तात्पर्य दिखलाते हैं—'जगन्नगर०' इत्यादिसे ।

'शिलान्तःसन्निवेशवत् जगत्' (शिलाके भीतर चित्रित कमल आदिकी नाईं यह जगत् दीखता है) यह जो कहा गया है, उसका भी एकमात्र तात्पर्य यही है कि दर्पणमें प्रतिबिम्बित नगरकी नाईं चितिका अपना रूप ही, जो कि वास्तवमें प्रतिबिम्बित भी नहीं होता, प्रतिबिम्बित होता है ॥ ६ ॥

अथवा जैसे चिन्तामणिमें चिन्तकोंके सभी मनोरथरूप फल विद्यमान रहते हैं, वैसे ही चितिमें मायिक अनन्त शक्तियोंके रहनेके कारण यह सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है, यों उसका तात्पर्य लगाना चाहिए, यह कहते हैं—'परमे' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार चिन्तामणिमें चिन्तकोंके अनन्त फल पर्याप्तरूपसे समर्पित रहते हैं, उसी प्रकार परमचितिस्वरूप मणिमें सौ करोड़ जगत् भी रहते हैं ॥ ७ ॥

किंवा, मोतीके सीपके संपुटमें कल्पित विकाररूप अंशांशिभावसे जैसे मोती रहते हैं, वैसे ही चितिमें भी कल्पित अंशांशिभावसे जगत् रहता है, यह तात्पर्य है, ऐसा कहते हैं—'चित्सम्पुद्गके' इत्यादिसे ।

चितिरूप मुक्ता-कोषमें ही यह विस्तृत जगत्-रूपी मोती उसीके गर्भमें मानो उत्पन्न होकर उसके अंशरूप होता हुआ भी अन्य-सा भासता है ॥ ८ ॥

अहोरात्रं विकरयन् वेदनावेदनान्यलम् ।
चिदादित्यः स्थितो भास्वाञ्जगद्द्रव्याणि दर्शयन् ।। ९ ।।
समुद्रकोटरावर्तपयःस्पन्दविलासवत् ।
अनानैव च नाना चिच्छिलान्तःसन्निवेशवत् ।। १० ।।
यदस्ति तच्चिति शिलाशरीरे शालभञ्जिका ।
यन्नाऽस्ति तच्चिति शिलाशरीरे शालभञ्जिका ।। ११ ।।

यद्वा, जैसे सूर्य अपनेमें ही स्व-स्वरूपाविर्भावरूप दिन एवं स्व-स्वरूपतिरोभावरूप रात्रि का विभाग करता है, वैसे ही चितिरूप मणि-शिला भी जगदात्मक द्रव्योंका स्वसंवेदनरूप (स्वानुभवरूप) प्रकाशन एवं स्वासंवेदनरूप अप्रकाशन अपनी आत्मामें ही करती है, इस अर्थमें उसका तात्पर्य है, यह कहते हैं—'अहोरात्रम्' इत्यादिसे ।

देदीप्यमान यह चितिरूप सूर्य अनुभव और अननुभव रूप अहोरात्रका विभागकर जगद्रूप द्रव्योंको भलीभाँति प्रकाशित कर रहा अपनी आत्मामें ही स्थित है ॥ ९ ॥

अथवा, समुद्रके भीतर स्थित आवर्त (भँवर), तरङ्ग आदि स्पन्द-भेद जैसे समुद्ररूप ही हैं, वैसे ही चितिके भीतर स्थित जगत् आदि भेद एकमात्र चितिरूप ही हैं, यों तात्पर्य जानना चाहिए, यह कहते हैं—'समुद्र०' इत्यादिसे ।

समुद्रके गर्भमें स्थित आवर्त, तरङ्ग आदिरूप जलस्पन्दनके विलासकी नाईं और शिलाके भीतर खोदे गये कमलकी नाईं अद्वितीय ही यह चिति जगद्रूपसे नाना भासती है । तात्पर्य यह है कि वह जगदादि भेद चितिरूप ही है ॥ १० ॥

अथवा, वर्तमानकालीन सृष्टि और अतीत एवं अनागत कालीन (भूत एवं भविष्यत्कालीन) सृष्टि की परस्पर समानता होनेसे उनकी एकमात्र चैतन्यरूपताके प्रदर्शनमें ही उसका तात्पर्य है, यह कहते हैं—'यदस्ति' इत्यादिसे ।

जो वर्तमानकालिक जगत् है, वह चितिमें एक तरहसे मानो पाषाण-शिलामें खुदी गई प्रतिमाके सदृश है । और जो जगत् वर्तमानकालमें नहीं है यानी भूत एवं भविष्यत्कालिक जो जगत् है, वह एक तरहसे मानो चितिमें पाषाण-शिलामें न खुदी गई प्रतिमाके सदृश है ॥ ११ ॥

भावाभावेषु यत्सत्यं चिन्मज्जाकल्पमेव तत् ।
मज्जासारा पदार्थश्रीस्तन्मयं स्यात्तदेव हि ॥ १२ ॥
पद्मनानादिशब्दार्थस्त्यक्त्वा यद्वच्छिलोदरम् ।
नाना तद्वदिदं नाना तदेतन्मयमद्वयम् ॥ १३ ॥
नानाऽप्येकतयाऽनाना पद्मबिम्बं शिलोदरम् ।
यथा तदविभागात्म तथेदं चिद्घनान्तरम् ॥ १४ ॥
यथाऽमलपयःकोशः स्थलधियां तु भानुभाः ।
सन्नेवाऽसन्निवैवं चिन्नैव त्वं सदसद्वपुः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार बिल्वाख्यानका भी जगत्‌की चिन्मात्रसारतामें ही तात्पर्य है, इस आशयसे कहते हैं—'भावाभावेषु' इत्यादिसे ।

भावपदार्थ एवं अभावपदार्थ में जो सत्यभूत चिति-तत्त्व है, वह मज्जा-सदृश ही है । बिल्व आदि पदार्थोंकी जो शोभा है, उसका तत्त्व मज्जा ही है, इसलिए वह जगत् आदि मज्जामय ही है ॥ १२ ॥

अथवा पद्म आदि शब्दों और उनके नाना अर्थोंको शिलोदरसे पृथक् करने-पर जैसे उनकी कुछ भी सत्ता नहीं रहती, वैसे ही जगत् आदि नाना विकल्पोंको चितिसे पृथक् करनेपर उनका अस्तित्व कुछ भी नहीं रहता, यों तात्पर्य जानिए, यह कहते हैं—'पद्म०' इत्यादिसे ।

कमल आदि शब्द और उनके अनेक अर्थ शिलोदरको छोड़कर जैसे नाना-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें शिलोदरसे उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, वैसे ही अद्वय चितिशिलाको छोड़कर यह जगदादिशब्द और उनके अर्थ नाना-से भासते हैं; वास्तवमें चितिशिलोदरसे पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, किन्तु चितिशिलामय ही है ॥ १३ ॥

यदि चितिसे अविभक्तस्वरूप ही यह जगत् आदि है यानी इसे चितिसे पृथक् नहीं करते तो नाना होनेपर भी एकमात्र चिति-शिलाके भीतर स्थित हुआ वह (जगत्) चैतन्यात्माकी एकतासे उस प्रकार अद्वितीय हो जाता है, जिस प्रकार प्राकृत शिलाके भीतरका-पद्म-बिम्ब ॥ १४ ॥

श्रीरामजी, मरु-मरीचिका मृगकी दृष्टिमें निर्मल जल-राशि ही है और 'यह स्थल ही है' यों विवेक-बुद्धिवाले विद्वानोंकी दृष्टिमें तो वह सूर्यातप ही है । वहाँ जैसे सत्स्वरूप ही आतप आदि असत् जल-राशि आदिरूपसे

यथा सम्यक् पयोराशिः कोटरे कलनोन्मुखम् ।
द्रवत्वात् स्पन्दतेऽस्पन्दं तथेदं चिद्घनान्तरम् ॥ १६ ॥
चिच्छिलाशङ्खपद्मौघस्तन्मयत्वेऽप्यतन्मयः ।
जगद्विद्धि सपद्मादिपदार्थं चिच्छिलान्तरम् ॥ १७ ॥
महाशिलाघनोऽप्येष चिद्घनस्थं शिलोदरम् ।
अरन्ध्रो निर्द्वयोऽच्छोऽजः संशान्तः सन्निवेशवत् ॥१८॥
तपतीदं जगद्ब्रह्म शरत्काल इवाऽमलम् ।
स्फुरतीदं जगद्ब्रह्म सौम्यः सोम इव द्रुतः ॥ १९ ॥

भासते हैं, वैसे ही सद्रूप चितिस्वभाव आप भी असत् जगत् आदिरूपसे भासते हैं। परमार्थतः सद्रूप आप असत् जगद्रूप नहीं हैं ॥ १५ ॥

जिस प्रकार समुद्र मध्यमें द्रवत्व होनेसे भलीभाँति प्रस्पन्दित (संचलित) होता है, उसी प्रकार स्पन्दरहित भी चितिशिलाका मध्य कल्पनासे उन्मुख होकर संचलित-सा (स्पन्दित-सा) होता है ॥ १६ ॥

तब जैसे वहाँ पद्म आदि शिलामय प्रतीत होते हैं, वैसे ही जगत्के शङ्ख, पद्म आदि भी चिन्मय प्रतीत क्यों नहीं होते ? इसपर कहते हैं— 'चिच्छिला०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, कमल आदि पदार्थोंसे युक्त इस जगत्को चिति-शिलाके भीतर ही स्थित जानिए। चिति-शिलाके भीतर रहनेवाले ये शङ्ख, पद्म आदिके सङ्घात परमार्थतः चिन्मय होनेपर भी अविद्यावश अचिन्मय-से भासते हैं ॥ १७ ॥

दृष्टान्तरूपसे कही गई प्राकृत शिला भी परमार्थ-दृष्टिसे चिति-शिलाका उदर ही है यानी चितिरूप ही है, यह कहते हैं—'महाशिला०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, यह दृष्टान्तरूपसे कही गई महाशिला भी चिद्घनमें स्थित शिलोदर है यानी चितिरूप ही है। [चूँकि उसके चितिरूप होनेसे शिल्पकारके हजार प्रयत्न करनेपर भी उसमें छिद्र आदिकी सम्भावना नहीं है, इसलिए] छिद्ररहित, अद्वितीय, निर्मल, नित्य और शान्तस्वरूप वह मिथ्यासन्निवेशकी नाईं भासती है ॥ १८ ॥

जिस प्रकार 'शरत्-काल तपता है', 'अमृत टपकानेवाला सोम स्फुरित हो रहा है' यों एकमात्र कालस्वरूप सूर्य और सोम में अवान्तर भेदोंकी कल्पना द्वारा

ब्रह्मणीदं सुषुप्ताभं नाऽस्त्यनाशं शिलाब्जवत् ।
ब्रह्मत्वं ब्रह्मणि यथा तथैवेदं जगत्स्थितम् ॥ २० ॥
नाऽनयोर्विद्यते भेदस्तरुपादपयोरिव ।
यानीमानि जगन्तीह नाऽन्यत्तानि चिदाकृतेः ॥ २१ ॥
भावाभावादि नाऽस्त्येषां तस्या इव कदाचन ।
ब्रह्मैव जगदाभासं मरुतापो यथा जलम् ॥ २२ ॥

क्रिया-कारकभावसे व्यवहार होता है, उसी प्रकार 'ब्रह्म जगत्को प्रकाशित करता है', 'वह (ब्रह्म) जगद्रूपसे स्फुरित हो रहा है' यह व्यपदेश भी होता है, ऐसा कहते हैं—'तपति' इत्यादिसे ।

'निर्मल यह ब्रह्म इस जगत्को प्रकाशित करता है' ऐसा जो व्यवहार होता है, वह शरत्कालकी तरह है यानी 'शरत्-काल प्रकाशित करता है' इस व्यवहारके अनुसार ही होता है । और 'यह ब्रह्म जगद्रूपसे स्फुरित होता है' यह भी जो व्यवहार होता है, वह नयनानन्दकारी अमृतद्रुत सोमके समान है यानी 'अमृत टपकानेवाला सोम स्फुरित होता है' इस व्यवहारके अनुरूप ही है ॥ १९ ॥

ऐसी स्थितिमें 'जगद्रूपसे यह जगत् मानो सदा नष्ट है' अथवा 'ब्रह्मरूपसे मानो सदा स्थित है' ऐसी उत्प्रेक्षा कर सकते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'ब्रह्मणीदम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शिला-कमल कमलरूपसे नित्य ही असत् है, वैसे ही वासनामात्रस्वरूप होनेसे सुषुप्ततुल्य यह जगत् भी अपने जगद्रूपसे ब्रह्ममें नहीं है यानी असत् है एवं ब्रह्मरूपसे सत् भी है, [क्योंकि] जिस प्रकार ब्रह्मत्व ब्रह्ममें स्थित रहता है, उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्मरूप होनेसे ब्रह्ममें स्थित है ॥२०॥

चिदात्मरूपसे जगत्का अस्तित्व माननेपर 'जगत्' और 'ब्रह्म' शब्दके अर्थमें भेद नहीं है, यह कहते हैं—'नाऽनयो०' इत्यादिसे ।

जिस तरह 'तरु' और 'पादप' शब्दके अर्थमें भेद नहीं है, उसी तरह 'जगत्' और 'ब्रह्म' शब्दके अर्थमें भी भेद नहीं है, क्योंकि यहाँ जो जगत् दीख रहे हैं, वे सब चिदात्मासे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं हैं ॥ २१ ॥

चितिके स्वरूपकी नाईं जगत्के भी भाव, अभाव आदि विकार कभी नहीं होते ; क्योंकि जिस प्रकार मरु-मरीचिका जलरूपसे भासती है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगद्रूपसे भासता है ॥ २२ ॥

ब्रह्मैवाऽऽलोकनाच्छुद्धं भवत्यम्बु यथाऽऽतपात् ।
मेर्वादेस्तृणगुल्मादेश्चित्तादेर्जगतोऽपि च ।
परमाम्बुविभागेन यद्रूपं तत्परं विदुः ॥ २३ ॥
तत्समूहस्तदेवोच्चैश्चित्तं मेरुतृणादिकम् ।
यत्सौक्ष्म्येऽपि हि सारात्म स्थौल्ये सारतरं हि तत् ॥ २४ ॥
यथा रसात्मिका शक्तिः परमाणुतयाऽनघ ।
स्थिता जगत्पदार्थेषु पायसी ब्रह्मता तथा ॥ २५ ॥
रसशक्तिर्यथा नाना तृणगुल्मलताम्भसाम् ।
तथा नानातयोदेति सैवाऽसैवेव ब्रह्मता ॥ २६ ॥

श्रीरामभद्र, चूँकि—जैसे आतपसे बर्फ (करक) आदि केवल जलरूप ही हो जाते हैं, वैसे ही मेरु आदि अत्यन्त स्थूल-पदार्थ भी तत्त्व-दृष्टिसे देखनेसे शुद्धत्व एवं अस्थूलत्व आदि धर्मयुक्त ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं—इसलिए तृण, गुल्म आदिसे लेकर ब्रह्माण्डान्त बाह्य-जगत्‌का और चित्तसे लेकर हिरण्यगर्भान्त आन्तर जगत्‌का जो, जलके सदृश उत्तरोत्तर परमसूक्ष्मतम भूतसूक्ष्मसे अव्याकृत अक्षरतकके विभाग द्वारा, अन्तमें रूप अवशिष्ट रहता है; वही परब्रह्म है, यों ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं ॥ २३ ॥

विचार करनेपर स्थूल पदार्थ भी एकमात्र सूक्ष्मरूप ही हो जाते हैं, इसमें युक्ति बतलाते हैं—'तत्समूह०' इत्यादिसे ।

पञ्चीकृत मेरु, तृण आदि स्थूल-भूत अपञ्चीकृत सूक्ष्म-भूतोंका समूह ही है । और अपञ्चीकृत भूत तो चित्त ही है, यों जोरोंसे यानी दृढ़तासे क्रमशः विचार करनेपर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है । जो सूक्ष्म वस्तुमें साररूपसे अनुभूत होता है, वह निश्चय स्थूल वस्तुमें सारतररूपसे अनुभूत होता है ॥ २४ ॥

इसीलिए जल-परमाणुगत रसशक्ति जिस प्रकार स्थूल-जलमें प्रत्यक्षगोचर होती है, उसी प्रकार घट आदिमें ब्रह्म-सत्ता भी प्रत्यक्षगोचर होती है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

हे पापशून्य श्रीरामजी, परमाणुरूपसे विद्यमान रसस्वरूपा जलशक्ति स्थूल जलमें स्थित होकर जैसे प्रत्यक्षविषय होती है, वैसे ही जगत्‌के स्थूल पदार्थोंमें स्थित होकर ब्रह्मशक्ति भी प्रत्यक्षविषय होती है ॥ २५ ॥

स्थूल पदार्थके वैचित्र्यसे सत्ताके अवान्तर धर्मरूपोंसे ही सत्ताका जो वैचित्र्य

यैषा रूपविलासानामालोकपरमाणुता ।
गुणगुण्यर्थसत्तात्मरूपिण्यासां परात्मता ॥ २७ ॥
चिति चित्तेऽस्ति मेर्वादि तदभिव्यञ्जनात्मनि ।
पिच्छपक्षौघकाठिन्यं मयूराण्डरसे यथा ॥ २८ ॥
चितितत्त्वेऽस्ति नानाता तदभिव्यञ्जनात्मनि ।
विचित्रपिच्छिकापुञ्जो मयूराण्डरसे यथा ॥ २९ ॥
यथा नानात्मिके ह्येव बर्ह्यण्डरसबर्हिते ।
विवेकदृष्टया दृष्टे ते तथा ब्रह्म जगत्स्थितम् ॥ ३० ॥

होता है, उसमें भी ऐसे दृष्टान्तोंकी कल्पना की जा सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'रसशक्तिः' इत्यादिसे ।

जैसे तृण, गुल्म आदि पदार्थोंमें स्थित नाना जलोंमें पदार्थोंके वैचित्र्यसे रसशक्ति नानारूपोंसे उदित होती है, वैसे ही वही ब्रह्मरूपता नानारूपोंसे उदित होती है ॥ २६ ॥

नील, पीत आदि चित्र-विचित्र रूपोंमें जो यह आलोकपरमाणुता यानी सूक्ष्मभूत सत्ता है, वह ब्रह्मसत्तारूप ही है । ब्रह्मसत्ता भी इन घटादिव्यक्तियोंके गुण, गुणी आदिस्वरूप अवान्तर वैजात्यकी सिद्धिके लिए उपयुक्त सत्तारूप हो जाती है ॥ २७ ॥

जैसे आविर्भाव-दशामें कार्यरूपसे कारण ही स्थित रहता है, वैसे ही तिरोभावदशामें कारणस्वरूपसे कार्य भी स्थित ही रहता है, यह भी दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—'चिति' इत्यादिसे ।

सर्वथा तिरोभाव-दशामें मायाशबलित चितिमें और अर्ध-तिरोभाव-दशामें चित्तमें, जो कि स्थूल-कार्योंके अभिव्यञ्जकस्वरूप है, मेरु आदि स्थूल-कार्योंका समूह उस प्रकार स्थित है, जिस प्रकार मोरके उपादान-कारणरूप अण्डेके रसमें चित्र-विचित्र मोरपंखोंका समूह एवं कठिनता स्थित रहती है ॥ २८ ॥

जिस प्रकार मयूराण्डके रसमें चित्र-विचित्र पंखोंका समूह भासता है, उसी प्रकार जगत्के अभिव्यञ्जनस्वरूप चिति-तत्त्वमें भी नानारूपता भासती है ॥ २९ ॥

जैसे मोरके अण्डेका रस और मोर-पंख काल्पनिक भेद-दृष्टिसे भिन्नरूप भासते हैं, वैसे ही जगत् और ब्रह्म भी काल्पनिक भेद-दृष्टिसे भिन्नरूप भासते हैं, वास्तवमें जगत् ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥ ३० ॥

स नानातोऽप्यनानातो यथाऽण्डरसबर्हिणः ।
अद्वैतद्वैतसत्तात्मा तथा ब्रह्मजगद्भ्रमः ॥ ३१ ॥
यथा सदसतोः सत्तासमतायामवस्थितिः ।
यतः सदसतो रूपं भावस्थं विद्धि तं परम् ॥ ३२ ॥
नानाऽनानात्मकमिदं त्वनुभूतं नसम्भवम् ।
चिज्जगद्वलनं पश्य बर्ह्यण्डे रसबर्हिणम् ॥ ३३ ॥

ऐसी स्थितिमें जैसे वहाँ (मयूराण्डरसरूप दृष्टान्त-स्थलमें) कल्पित भेद वास्तव अभेदका विरोधी नहीं है, वैसे ही यहाँ (दार्ष्टान्त-स्थलमें) भी समझना चाहिए, यह कहते हैं—'स नानातो०' इत्यादिसे ।

जिस तरह वह मयूराण्डमें रसात्मक मयूर कल्पित नानारूप होनेपर भी परमार्थतः एकरूप होनेसे द्वैताद्वैतात्मक होता है, उसी तरह ब्रह्मात्मक जगद्भ्रम भी कल्पित नानारूप होनेपर भी परमार्थतः एकरूप होनेसे द्वैताद्वैतात्मक है ॥ ३१ ॥

तब क्या ब्रह्म द्वैत एवं अद्वैत दोनों रूप है ? ऐसी शङ्कापर कहेंगे कि उसे दोनों रूप माननेमें कोई आपत्ति नहीं दी जा सकती; क्योंकि जैसे ब्रह्म सत्यरूप है और जगत् भ्रमरूप है, वैसे ही उसका द्वैत एवं अद्वैत रूप भी हो सकता है। ऐसा माननेसे कोई विषमता भी नहीं आ सकती, क्योंकि जैसे सत्ताकी समतामें (सत्तासामान्यरूपमें) सत् एवं असत् की अवस्थिति होती है, वह कहा ही जा चुका है। [इसपर कोई शङ्का करे कि विषमताका परिहार करनेके लिए आप सत्ताकी समतामें ही अवस्थान क्यों मानते हैं, क्योंकि अभावमात्रतापत्तिरूप शून्यता माननेपर भी विरोधका परिहार हो सकता है ? तो इसपर कहते हैं—'यतः' से ।] चूँकि अभावका (असत्का) निरूपण भी सत्-पदार्थके विना नहीं हो सकता, इसलिए सत्-असत् दोनोंका तत्त्व सद्वस्तुरूप भावमें ही पर्यवसित है, न कि शून्यरूपमें । और उस भावको यानी सद्रूपमें पर्यवसितको आप परब्रह्म ही जानिए ॥ ३२ ॥

और उस तत्त्वका स्वरूप, अद्वितीय होनेके कारण, भिन्न एवं अभिन्न स्वभावसे अनुभूत जगत् हो नहीं सकता यानी वस्तुतः वह अनुपपन्न ही है। [इस प्रकार उक्त जगद्रूपताकी अनुपपत्ति होनेपर भी मयूराण्डरसके दृष्टान्तसे ही एकरूपता लानी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'चिज्जग०' से ।] जैसे आप मयूराण्डमें रस और मयूर एकरूप और नानारूप देखते हैं, वैसे ही चैतन्य और जगदात्मक माया को एकरूप और नानारूप देखिए ॥ ३३ ॥

यथा जगति चित्तत्त्वं चित्तत्त्वे यज्जगत्तथा।
नानाऽनानात्मकैकं च मयूराण्डरसो यथा ॥ ३४ ॥
नानापदार्थभ्रमपिच्छपूर्णा
जगन्मयूराण्डरसश्चिदाद्या ।
मयूररूपं त्वमयूरमन्तः
सत्तापदं विद्धि कुतोऽस्ति भेदः ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चिद्घनोपदेशो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

श्रीरामजी, जैसे जगत्‌में चैतन्यात्मक तत्त्व अनुस्यूत है, वैसे ही मयूरमें मयूराण्डरस भी अनुस्यूत है। और जैसे चिति-तत्त्वमें जगत् लीन है, वैसे ही मयूराण्डरसमें मयूर भी लीन है, यह आप देखिए। वह नानारूप भी है और अनानारूप यानी एकरूप भी है ॥ ३४ ॥

उपमा द्वारा कहे गये अर्थको रूपकसे एकीकरण कर दिखलाते हुए भेदका निरास करते हैं—'नाना०' इत्यादिसे।

अनेकविध पदार्थ-भ्रमरूप पंखोंसे परिपूर्ण आद्य ब्रह्म-चिति ही जगद्रूप मोरके अण्डेका रस है। उसमें भासनेवाली मयूरस्वरूप जगदात्मक जो वस्तु है, उसे तो मयूरभिन्न सत्तास्वरूप परमार्थवस्तु ब्रह्म जानिए। वहाँ भेदका अवसर ही कहाँ है? ॥ ३५ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त



अष्टचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यत्राऽनुदितरूपात्म सर्वमस्तीदमाततम् ।
मयूर इव बीजेऽन्तस्तदहन्तादिगादि च ॥ १ ॥
यत्र नाऽभ्युदितं किञ्चित्तत्र सर्वं च विद्यते ।
तदत्राऽप्यङ्गिराः स्वर्गसुखसारेण बिम्बति ॥ २ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

[कल्पित जगत्में जिसकी सत्तास्फूर्ति और आनन्द प्रतिबिम्बित होते हैं, सच्चिदानन्दघन उस ब्रह्मका असाधारणरूपसे वर्णन]

मयूराण्ड-रसके दृष्टान्तसे किसीको यह भ्रम न हो जाय कि जिसके गर्भमें जगद्रूप वैचित्र्य तिरोभूत है, ऐसा चित् और अचित् से संवलित, बीजशक्तिसे युक्त अव्याकृत ही परमतत्त्व यानी ब्रह्म है, उससे ऊपर कोई दूसरा शुद्ध-तत्त्व नहीं है—इसलिए निर्विशेष भूमानन्दस्वरूप जगत्के उस अधिष्ठानका असाधारणरूपसे परिचय करानेके लिए महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'यत्रा०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, मयूराण्डके भीतर मयूरकी नाईं पूर्वमें वर्णित भीतरी अहन्ता आदि और बाह्य दिशा आदिरूप यह सब व्यापक जगत् जिस शुद्ध पदार्थमें तीनों कालमें भी अनुत्पन्नस्वरूप होकर स्थित है, [वही तत्त्व मेरे द्वारा दिये गये मयूराण्डरस-दृष्टान्तके तात्पर्यका विषय है, न कि मायाशबल अव्याकृत, यह आप जानिए] ॥ १ ॥

जहाँपर परमार्थतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, उसीमें मायावश बाह्य, आन्तर आदि सब जगत् रहता है । और इस देहमें भी वही तत्त्व अङ्गोंका रसरूप प्राण होकर स्वर्ग आदि वैषयिक सुखोंके सारसे (चित्त-वृत्तियोंके भेदसे होनेवाले विचित्र भोगोंके आकारसे), स्फटिक, दर्पण आदिमें चन्द्रबिम्बकी नाईं, प्रतिबिम्बित होता है । तात्पर्य यह हुआ कि विषयसुखानुभवसे उसके बिम्बभूत निरतिशय आनन्दके अस्तित्वका अनुमान कर लेना चाहिए ॥ २ ॥

तथा च मुनयो देवा गणाः सिद्धा महर्षयः ।
आस्वादयन्तः स्वं रूपं सदा तुर्यपदे स्थिताः ॥ ३ ॥
एते ये स्तब्धनयनदृष्टयो निर्निमेषिणः ।
ते दृश्यदर्शनासङ्गस्पन्दत्यागे व्यवस्थिताः ॥ ४ ॥
नाऽऽस्थिता भावना येषां स्थितानामपि कर्मसु ।
संवित्संवेद्यसम्बन्धस्पन्दत्यागे च ये स्थिताः ॥ ५ ॥
प्राणो न स्पन्दते येषां चित्रस्थवपुषामिव ।
मनो न स्पन्दते येषां चित्रस्थवपुषामिव ।
चित्तचेत्यसमासङ्गत्यागे ते स्वपदे स्थिताः ॥ ६ ॥

उस तत्त्वके सद्भावमें सर्वसाधारणरूपसे अनुमानप्रमाण बतलाकर विद्वानोंका अनुभवरूप प्रमाण भी कहते हैं—'तथा च' इत्यादिसे ।

एवञ्च, अपने आत्मस्वरूप भूमानन्दका आस्वाद ले रहे मुनि, देवता, ग सिद्ध और महर्षि लोग सर्वदा तुरीय पदमें स्थित हैं ॥ ३ ॥

तब सभी लोग क्यों उसका अनुभव नहीं करते ? यदि ऐसी शङ्का हो उसका समाधान यह है कि दृश्य और दर्शनके (इन्द्रियोंके) सम्बन्धसे तथा प्र स्पन्दनसे जनित विक्षेप होनेसे उसका अनुभव नहीं करते । अतएव उन दोनों प्र बन्धकोंका परिहार करनेके लिए योगी लोग नासिकाके अग्रभागमें निरुद्धदृष्टि त प्राणनिरोधमें तत्पर दिखाई देते हैं, यह कहते हैं—'एते' इत्यादिसे ।

निमेषरहित वे योगीजन, जिनके नेत्रगोलक तथा तद्गत इन्द्रियाँ स्थिर दृश्य एवं दृष्टि के सम्बन्धत्यागप्रयुक्त स्पन्द-त्यागके लिए सन्नद्ध हैं ॥ ४ ॥

यह तो उनके लिए कहा गया है, जो छठी आदि भूमिकाओंमें नहीं प हुए हैं । छठी और सातवीं भूमिकामें पहुँचे हुए योगी लोग तो व्यवहार करते भी पूर्व भूमिकाओंमें प्राप्त हुए योगियोंके समान आत्म-सुखका सर्वदा ही स्व लेते हैं, यह कहते हैं—'नाऽऽस्थिता' इत्यादिसे ।

व्यवहारमें निरत भी छठी आदि भूमिकाओंमें स्थित जो लोग बाह्य विषयं सत्यताकी भावना तनिक भी नहीं करते, पूर्व भूमिकाओंमें स्थित जो पु विषयेन्द्रिय-सम्बन्धोंके परित्यागरूप समाधिमें निरत हैं, चित्रलिखित देहधारियों नाईं जिनका प्राणस्पन्द नहीं होता और चित्रलिखित देहधारियोंकी नाईं जिन मन भी गतिशील नहीं रहता ; वे सब उस अपने भूमानन्दपदमें—जिसमें चित्त एवं चेत्य की आसक्तिका त्याग है—समान रूपसे स्थित हैं ॥ ५, ६ ॥

स्पन्दात् संसाधयन्त्यर्थं तेनांशेनेश्वरो यथा ।
तथैव चित्तचेत्यादिस्पन्दात् कुर्वन्ति संस्थितिम् ॥ ७ ॥
यथाऽऽह्लादयति स्वच्छः पल्लवं रश्मिरैन्दवः ।
तथाऽऽत्मा ह्लादयत्यन्तर्दृश्यदर्शनसङ्गमे ॥ ८ ॥
बिम्बाद् दूरं प्रयातस्य भित्तावपतितस्य च ।
यदिन्दोस्तेजसो रूपं तद्रूपं शुद्धसंविदः ॥ ९ ॥
न दृश्यं नोपदेशार्हं नात्यासन्नं न दूरगम् ।
केवलानुभवप्राप्यं चिद्रूपं शुद्धमात्मनः ॥ १० ॥

जैसे जगदीश्वर भीतर सर्वदा ही अपने स्वरूपानन्दमें स्थित होता हुआ भी बाहर माया द्वारा जगत्की व्यवस्थाका पालन करता है; वैसे ही षष्ठादि भूमिकाओंमें पहुँचे हुए योगी जन भीतर ब्रह्माकार अखण्डवृत्ति-धारारूप स्पन्दसे उसी अंश द्वारा निरतिशय आनन्दका आस्वादनस्वरूप परमपुरुषार्थ जिस प्रकार साधते हैं, उसी प्रकार बाहर भी चित्त, चेत्य आदिके स्पन्दनसे व्यवहार-मर्यादाको चलाते ही हैं ॥ ७ ॥

उन लोगोंके व्यवहारमें बाह्य विषयोंमें बुद्धिवृत्तियोंका सङ्गम होनेपर भी त्रिपुटीमें अभिव्यक्त हुआ निरतिशय आनन्दरूप आत्मा उस प्रकार आह्लाद पहुँचाता है, जिस प्रकार चन्द्रकिरणें वृक्षोंके पल्लवोंके भीतर घुसकर आह्लाद पहुँचाती हैं । इससे ज्ञानीका समस्त व्यवहार सुखरूप ही है, यह भाव जानना चाहिए ॥ ८ ॥

उन महात्माओंका भीतरी स्वरूपसुख तो सुतरां विक्षेपरहित है, इस विषयमें भी दृष्टान्त बतलाते हैं—'बिम्बाद्' इत्यादिसे ।

चन्द्ररूप बिम्बसे दूरतक फैली हुई तथा भित्तिमें अपतित, शुद्ध आकाश-प्रदेशमें रहनेवाली चन्द्रमाकी ज्योत्स्नाका जो रूप है, वही परमात्माके विक्षेप-रहित आह्लादका रूप है, उपर्युक्त योगी महात्मा उसी रूपका अनुभव करते हैं ॥ ९ ॥

आत्माका वह शुद्ध चिद्रूप न तो दृष्टिका विषय है और न उपदेशके ही योग्य है, न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है; किन्तु केवल योगियोंके अनुभवसे ही गम्य है ॥ १० ॥

न देहो नेन्द्रियप्राणौ न चित्तं न च वासना ।
न जीवो नाऽपि च स्पन्दो न संवित्तिर्न वै जगत् ॥ ११ ॥
न सन्नाऽसन्न मध्यं च शून्याशून्यं न चैव हि ।
न देशकालवस्त्वादि तदेवाऽस्ति न चेतरत् ॥ १२ ॥
एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तं हृदि कोशशतेन च ।
यत्रैतत् स्पन्दते दृश्यं तत्तदात्मपदं भवेत् ॥ १३ ॥
यच्च नाऽऽद्यं न कल्पान्तं न वस्त्वाद्यनिलादिभिः ।
इह चाऽमुत्र सद्रूपादन्यथा भवति क्वचित् ॥ १४ ॥

वही रूप देह आदि समस्त उपाधियोंसे विनिर्मुक्त आत्मतत्त्व है, यह कहते हैं—'न देहो' इत्यादिसे ।

शुद्ध चिदात्माका अनुभवगम्य वह रूप न देहस्वरूप है, न इन्द्रिय एवं प्राणरूप है, न चित्तस्वरूप है न वासनारूप है, न जीवरूप है, न स्पन्दस्वरूप है, न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है ॥ ११ ॥

वह रूप न सद्रूप है, न असद्रूप है और न सत् एवं असत् के मध्यवर्ती यानी अनिर्वचनीय ही है । वह न तो शून्यस्वरूप है और न अशून्यस्वरूप ही है । वह देश, काल एवं वस्तु से जनित परिच्छेद आदिरूप भी नहीं है, किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं है ॥ १२ ॥

उपर्युक्त देह आदि समस्त पदार्थोंसे ब्रह्म विनिर्मुक्त है और अनन्त भूत एवं भावी देह-कोशोंसे युक्त चित्तमें जिसके रहनेपर यह दृश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदिरूपसे स्पन्दित होता है, वह सन्मात्रस्वरूप आत्मपद (ब्रह्म) ही है, दूसरा नहीं, यह संभावित है ॥ १३ ॥

इसी प्रकार कार्य-कारणसे विलक्षण उसकी संभावना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'यच्च' इत्यादिसे ।

वह ब्रह्म न महाकल्पके आदिकालमें विद्यमान अव्याकृत नामक कारणरूप है और न प्राकृतादि प्रलयस्वरूप ही है । सृष्टिकालमें भी इहलोक अथवा परलोक में वायु, वह्नि आदिसे जनित शोषण, दहन, क्लेदन, भेदन आदि विकारोंसे कहीं भी सद्रूपसे च्युत न होनेके कारण वह सविकारवस्तुरूप और विकाररूप भी नहीं है ॥ १४ ॥

जायन्ते च म्रियन्ते च देहकुम्भाः सहस्रशः ।
सबाह्याभ्यन्तरस्याऽस्य नाऽऽत्माकाशस्य खण्डना ॥ १५ ॥
तच्च देहादि सकलमात्मैवाऽऽत्मविदां वर ।
केवलं बोधवैरूप्यादीषत् पृथगिव स्थितम् ॥ १६ ॥
विष्वगात्ममयं विश्वं ज्ञातं बुद्ध्या सुसिद्धया ॥ १७ ॥
प्रज्वलन्नपि कार्येषु निर्वाणो निर्ममो भव ।
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ १८ ॥
तत्सर्वं ब्रह्म निर्धर्म निर्गुणं निर्मलात्मकम् ।
निर्विकारमनाद्यन्तं नित्यं शान्तं समात्मकम् ॥ १९ ॥

यदि शङ्का हो कि देहादि विकारोंसे उसमें अनुगत सद्रूप ब्रह्मका भी विकार क्यों नहीं होता ? तो इसपर कहते हैं—'जायन्ते' इत्यादिसे ।

ये हजारों देहरूप घड़े उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं, किन्तु बाहर एवं भीतर व्याप्त इस आत्मस्वरूप आकाशका खण्डन यानी नाश नहीं होता ॥१५॥

तब क्या देह आदि ब्रह्मसे पृथक् हैं ? इसपर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'तच्च' इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी, वह देहादि सम्पूर्ण जगत् आत्मरूप ही है, वह एकमात्र बोधकी विरूपतासे यानी भ्रमात्मक ज्ञानसे ही किञ्चित् पृथक्-सा स्थित भासता है, यह आप जानिए ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, चारों ओरसे श्रवण, मनन आदि उपायोंसे परिष्कृत बुद्धिसे आपने यह विश्व आत्मस्वरूप है, यह जान लिया है ॥ १७ ॥

इसीलिए व्यवहार करते हुए भी आप निर्विकार आत्माके दर्शनसे (साक्षात्कारसे) नित्य मुक्तस्वरूप होते हुए स्थित हो जाइए, यह कहते हैं—'प्रज्वलन्नपि' इत्यादिसे ।

अतएव अपने राज्यशासनके योग्य व्यवहारोंमें दीप्तिसम्पन्न होते हुए भी आप शान्त एवं ममताशून्य हो जाइए । स्थावर एवं जङ्गम स्वरूप जो कुछ यह जगत् दीखता है, वह सब धर्मशून्य, गुणरहित, निर्मलस्वरूप, निर्विकार, आदि एवं अन्त से रहित, सर्वदा शान्त तथा समस्वभाव ब्रह्मरूप ही है, यह जानिए ॥ १८, १९ ॥

कालक्रियाकरणकर्तृनिदानकार्य-
जन्मस्थितिप्रलयसंस्मरणादि सर्वम् ।
ब्रह्मेति दृष्टवत एव तवाऽऽत्मदृष्ट्या
भूयोऽपि किं भ्रमणमङ्ग समङ्ग एव ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकात्मप्रतिपादनं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

यदि नाऽस्ति विकारादि ब्रह्मन् ब्रह्मणि बृंहिते ।
तदिदं कथमाभाति भावाभावमयं जगत् ॥ १ ॥

श्रीरामजी, 'काल, क्रिया, करण, कर्ता, कारण, कार्य, जन्म, स्थिति, प्रलय, स्मरण आदि सब जगत् ब्रह्म ही है' इस प्रकार आत्मदृष्टिसे देख रहे आपका क्या फिर भी संसारमें भ्रमण हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता; क्योंकि आप वस्तुतः समङ्ग ही हैं यानी सदा ही अविषम ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त कर चुके हैं ॥ २० ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

उनचासवाँ सर्ग

[विकारोंसे विवर्तमें विलक्षणता, प्रबोधके अभावसे अविद्याकी स्थिति और प्रबोध हो जानेपर अविद्याका अभाव—इनका वर्णन]

विकार और कार्य से स्वरूपतः विवर्तमें भेदकी जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, नित्यनिरतिशय वृद्धिसे युक्त यानी त्रिविध परिच्छेदोंसे शून्य ब्रह्ममें यदि विकार और आरम्भ नहीं हैं तो भाव और अभाव स्वरूप इस संसारका भान कैसे होता है ? ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अपुनःप्रागवस्थानं यत्स्वरूपविपर्ययः।
तद्विकारादिकं तात यत्क्षीरादिषु वर्तते ॥ २ ॥
पयस्तां पुनरभ्येति दधित्वान्न पुनः पयः।
बुद्धमाद्यन्तमध्येषु ब्रह्म ब्रह्मैव निर्मलम् ॥ ३ ॥
क्षीरादेरिव तेनाऽस्ति ब्रह्मणो न विकारिता।
अनाद्यन्तविभागस्य न चैषोऽव्ययविक्रमः ॥ ४ ॥

कारणमें कार्यकी उत्पत्ति पाँच प्रकारकी होती है, १—पहलीमें पूर्वावस्था तिरोहित नहीं होती, २—दूसरीमें पूर्वावस्था प्रतिबद्ध हो जाती है, ३—तीसरीमें पूर्वावस्था छिप जाती है, ४—चौथीमें पूर्वावस्था छिप नहीं जाती और ५—पाँचवींमें पूर्वावस्था विनष्ट हो जाती है। इनमें प्रथम—मिट्टी आदिमें घड़े आदिकी उत्पत्ति, द्वितीय—जलमें हिमोत्पत्ति, तृतीय—रज्जुमें सर्पोत्पत्ति, चतुर्थ—जलमें तरङ्गोत्पत्ति और पञ्चम—दूधमें दधिकी उत्पत्ति समझनी चाहिए। इनमें केवल अन्तिम ही जन्मादिभावविकार और परिणाम स्वरूप है, अवशिष्ट चार तो विवर्तके ही भेद हैं; इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी पहले-पहल विकारका लक्षण बतलाते हैं—'अपुनःप्राग०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—तात, दूध आदिमें दधि आदिरूप जो कार्य पुनः दूध आदिरूप अपनी पूर्वावस्थासे रहित तथा दूध आदिके स्वरूपसे विपरीत रहते हैं, वे ही विकार, संस्कार और परिणाम आदि शब्दोंसे कहे जाते हैं ॥ २ ॥

दही बन जानेसे दूध पुनः अपनी पयोरूपतामें (दूधरूप पूर्वावस्थामें) नहीं आता। [परब्रह्ममें तो जगद्रूप कार्य विधर्मी होनेसे विकारादिशब्दवाच्य नहीं है, यह कहते हैं—'बुद्धम्' से।] आदि, मध्य और अन्त किसी भी दशामें ब्रह्म तो निर्विकार ब्रह्मरूप ही अवगत होता है ॥ ३ ॥

इससे दूध आदिके समान ब्रह्ममें विकारिता नहीं है। [जैसे परमाणुओंसे द्व्यणुक आदि अवयवियोंका आरम्भ होता है, वैसे ही यहाँपर भी मान लिया

समस्याऽऽद्यन्तयोर्येयं दृश्यते विकृतिः क्षणात् ।
संविदः संभ्रमं विद्धि नाऽविकारेऽस्ति विक्रिया ॥ ५ ॥
न संवेद्यं न संवित्तिस्तत्र ब्रह्मणि विद्यते ।
तद्ब्रह्मशब्दकथितं निःसम्बन्धचिदात्मवत् ॥ ६ ॥

जाय ? तो इसपर कहते हैं—'अनाद्यन्त०' से ।] आदि और अन्त के विभागसे रहित ब्रह्ममें यह अवयवीका आरम्भ-क्रम भी नहीं हो सकता । आदि एवं अन्त रूप देशकृत परिच्छेद तथा क्रिया, संयोग, विभाग आदि से युक्त अवयवोंमें ही अवयवियोंका आरम्भ-क्रम † होता है, न कि उनसे विलक्षण ब्रह्ममें, यह भाव है ॥ ४ ॥

तो परिशेषात् यह सिद्ध हुआ कि जगत् ब्रह्मका विवर्त ही है, यही उसके लक्षणसे दिखलाते हैं—'समस्या०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, समस्वरूप ब्रह्मका आदि और अन्त में जो क्षणभरके लिए विकार (अन्यथाभाव) दिखलाई पड़ता है, उसे आप संवित्‌का संभ्रम (विवर्त) ही जानिए, क्योंकि अविकारी ब्रह्ममें कोई विकार नहीं हो सकता [निष्कर्ष यह निकला कि आदि और अन्त सभी दशाओं में एकरूपसे रहनेवाले ब्रह्ममें उसका स्पर्श न करनेवाली विषमताका प्रतिभास ही विवर्त है] ॥ ५ ॥

ब्रह्ममें वैषम्य-संस्पर्शका अभाव दिखलाते हैं—'न संवेद्यम्' इत्यादिसे ।

---

† इससे वैशेषिक-मतमें स्वीकृत आरम्भकत्वका लक्षण भी सूचित किया गया है । वे उसका इस प्रकार लक्षण कहते हैं—अनेक संयुक्तों या समवेतों का अपनेमें या अपने आश्रयमें समवेत (समवायसम्बन्धसे विद्यमान) पदार्थोंमें समवायसम्बन्धसे किसी एक कार्यके प्रति जनक होना ही आरम्भकत्व है । जैसे पटात्मक कार्यका तन्तु आरम्भक है । वहाँ संयुक्त-द्रव्यभूत तन्तु अपनेमें समवाय सम्बन्धसे पटात्मक कार्यका जनक है । तन्तुका रूप पटगत रूपका आरम्भक है । तन्तुरूपाश्रय तन्तुमें समवेत पटमें समवायसम्बन्धसे पटगतरूपके प्रति तन्तुका रूप जनक है । इसी आशयको लेकर महर्षि कणादने यह सूत्र रचा है—'द्रव्याणि द्रव्यान्तर-मारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (अवयवभूत द्रव्य अवयविभूत द्रव्योंके आरम्भक हैं और अवयवगत गुण अवयविगत गुणान्तरोंके आरम्भक हैं) ।

यादृगाद्यन्तयोर्वस्तु तादृगेव तदुच्यते ।
मध्ये यस्य यदन्यत्वं तदबोधाद्विजृम्भितम् ॥ ७ ॥
आत्मा त्वाद्यन्तमध्येषु समः सर्वत्र सर्वदा ।
स्वमप्यन्यत्वमायाति नाऽऽत्मतत्त्वं कदाचन ॥ ८ ॥
अरूपत्वात्तथैकत्वान्नित्यत्वादयमीश्वरः ।
वशं भावविकाराणां न कदाचन गच्छति ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

विद्यमाने सदैकस्मिन् ब्रह्मण्येकान्तनिर्मले ।
संविद्भ्रमस्वरूपाया अविद्यायाः क आगमः ॥ १० ॥

उस ब्रह्ममें न तो संवेद्य (विषय) विद्यमान रहता है और न संवित्ति ही विद्यमान रहती है यानी ब्रह्ममें दृश्य-दर्शनका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्धरहित होनेपर भी 'निःसम्बन्ध', 'चिदात्मा' आदि शब्दोंकी नाईं वह 'ब्रह्म' शब्दसे भी कहा गया है ॥ ६ ॥

मध्यमें ब्रह्मका विकारसे स्पर्श नहीं होता, यह कैसे मालूम पड़ता है ? ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि आदि और अन्त में विकार-स्पर्श न करनेका जो स्वभाव निश्चित है, वही मध्यमें भी विकारासंस्पर्शमें हेतु है, यह कहते हैं—'यादृगा०' इत्यादिसे ।

आदि और अन्त में जिस स्वरूपकी वस्तु विद्यमान रहती है, उसी स्वरूपकी वह कही जाती है। यदि मध्यमें उसकी अन्यरूपता दिखलाई पड़ती है, तो वह केवल अज्ञानके कारण ही दिखाई देती है ॥ ७ ॥

स्वप्रकाशस्वभाव होनेसे आत्मामें तो समता सर्वानुभवसिद्ध है, अतः उसमें अनात्मरूपताकी तनिक भी संभावना नहीं है, यह कहते हैं—'आत्मा' इत्यादिसे ।

आत्मा तो आदि, अन्त और मध्य में सर्वत्र सदा एकरूप है। स्वस्वरूप आत्मतत्त्व कभी भी विषमभावको प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

नीरूप, एक तथा नित्यस्वरूप होनेके कारण यह परब्रह्म परमात्मा भाव-विकारोंके वशमें कभी भी नहीं जाता ॥ ९ ॥

चित्प्रकाशैकरस ब्रह्ममें उससे विरुद्ध स्वभाववाली अविद्याकी भला कैसे प्रसक्ति

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्मतत्त्वमिदं सर्वमासीदस्ति भविष्यति।
निर्विकारमनाद्यन्तं नाऽविद्याऽस्तीति निश्चयः॥ ११॥
यस्तु ब्रह्मेति शब्देन वाच्यवाचकयोः क्रमः।
तत्राऽपि नाऽन्यताभावमुपदेष्टुं क्रमो ह्यसौ॥ १२॥
त्वमहं जगदाशाश्च द्यौर्भूश्चाऽप्यनलादि वा।
ब्रह्ममात्रमनाद्यन्तं नाऽविद्याऽस्ति मनागपि॥ १३॥
नामैवेदमविद्येति भ्रममात्रमसद्विदुः।
न विद्यते या सा सत्या कीदृग्राम भवेत्किल॥ १४॥

हो सकती है, जिससे कि उसमें जगद्रूप विवर्तकी सिद्धि हो, यों ज्ञानियोंकी दृष्टिसे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'विद्यमाने' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन्, निरन्तर एकरूप तथा अत्यन्त निर्मल-स्वरूप सदात्मक ब्रह्ममें चिति-भ्रमरूप अविद्याका आगमन ही कैसे होगा? ॥१०॥

हम ब्रह्ममें अविद्याका सद्भाव ज्ञानियोंकी दृष्टिसे नहीं कहते, किन्तु अज्ञा-नियोंको ज्ञानी बनानेके लिए केवल कल्पनासे वैसा कहते हैं, इस अभिप्रायसे महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'ब्रह्मतत्त्व०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, विकाररहित, आदि और अन्त से शून्य यह पूर्ण ब्रह्मतत्त्व पहले था, इस समय है और आगे चलकर भी रहेगा। अविद्याका तनिक भी अस्तित्व नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है॥ ११॥

'ब्रह्म' इस शब्दसे वाच्य एवं वाचक का जो एक प्रकारसे उपक्रम करते हैं, वहाँपर भी हम अन्यरूपताका अस्तित्व नहीं कहते; किन्तु उपदेश देनेके लिए केवल इस क्रमकी कल्पना करते हैं॥ १२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप और मैं, यह संसार और दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी अथवा अनल आदि [जो कुछ भी आप देख रहे हैं, वे] सबके सब आदि और अन्त से शून्य केवल ब्रह्ममात्र हैं, अविद्या तो तनिक भी नहीं है॥ १३॥

मुनि लोग 'अविद्या' इस नामको ही भ्रममात्र और असद्रूप कहते हैं। श्रीरामचन्द्रजी, जो विद्यमान ही नहीं है, भला वह किस तरह सत्य हो सकती है?॥ १४॥

श्रीराम उवाच

उपशमप्रकरणे ह्यस्तने तु त्वयेरितम्।
अविद्येयं तथेत्थं च विचार्यत इति प्रभो ॥ १५ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतावन्तमबुद्धस्त्वमभूः कालं रघूद्वह।
कल्पिताभिः किलैताभिर्बोधितोऽसि स्वयुक्तिभिः ॥ १६ ॥
अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः ॥ १७ ॥
अप्रबुद्धं मनो यावत्तावदेव भ्रमं विना।
न प्रबोधमुपायाति तदाक्रोशशतैरपि ॥ १८ ॥

जब अविद्याका अस्तित्व ही नहीं है तभी तो आपने उपशम-प्रकरणमें—'यथा भ्रान्तिरविद्येयं तथेत्थं च विचार्यते'—यों अविद्याका अस्तित्व स्वीकार कर कहा है ? इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'उपशम०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, कलके उपशम-प्रकरणमें तो आपने कहा था कि मनुष्यको जैसी भ्रान्ति होती है, वैसी ही यह अविद्या है, इसका इस तरह मैं वर्णन करता हूँ ॥ १५ ॥

वह तो आपकी अज्ञानता-दशामें आपकी बुद्धिके अनुसार कल्पनासे मैंने कहा था। अब तो आप भलीभाँति प्रबुद्ध हो चुके हैं, इसलिए उस प्रकारकी कल्पना करनेका अब अवसर ही नहीं रहा ; अतः पूर्वापरमें कोई विरोध नहीं है, यह कहते हैं—'एतावन्त०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे रघूद्वह, इतने कालतक आप अज्ञानी होकर स्थित थे। अब तो कल्पित इन अपनी युक्तियोंसे ही आप प्रबुद्ध हो चुके हैं ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, वेदरूप वाणीका रहस्य जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ विद्वानोंने 'यह अविद्या है और यह जीव है' इत्यादि कलना-क्रमकी जो कल्पना कर रक्खी है, वह अज्ञानी जनोंको बोध देनेके लिए ही है ॥ १७ ॥

जबतक मन प्रबुद्ध नहीं हो जाता तबतक अविद्या आदि शास्त्रीय व्यव-

युक्त्यैव बोधयित्वैष जीव आत्मनि योज्यते ।
यद्युक्त्याऽऽसाद्यते कार्यं न तद्यत्नशतैरपि ॥ १९ ॥
सर्वं ब्रह्मेति यो ब्रूयादप्रबुद्धस्य दुर्मतेः ।
स करोति सुहृद्वृत्त्या स्थाणोर्दुःखनिवेदनम् ॥ २० ॥
युक्त्या प्रबोध्यते मूढः प्राज्ञस्तत्त्वेन बोध्यते ।
मूढः प्राज्ञत्वमायाति न युक्त्या बोधनं विना ॥ २१ ॥
एतावन्तमबुद्धस्त्वं कालं युक्त्या प्रबोधितः ।
इदानीं संप्रबुद्धस्त्वं मया येनाऽवबोध्यसे ॥ २२ ॥
ब्रह्माऽहं त्रिजगद्ब्रह्म त्वं ब्रह्म खलु दृश्यभूः ।
द्वितीया कलना नाऽस्ति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २३ ॥

हारोंकी कल्पनाके बिना सैकड़ों आक्रोशोंसे भी वह प्रबोधको प्राप्त नहीं होता ॥ १८ ॥

केवल युक्तिसे एकमात्र ही बोध कराकर इस जीवको आत्मामें नियुक्त कर सकते हैं, क्योंकि जो कार्य युक्तिसे सुसम्पादित होता है, वह सैकड़ों अन्य उपायोंसे भी नहीं होता । भाव यह है कि असंभावना आदि पुरुषोंमें जो अनेक दोष विद्यमान रहते हैं, उनका एकमात्र युक्तियाँ ही भलीभाँति निरसन कर देती हैं ॥१९॥

दोषोंके विद्यमान रहते तत्त्वोपदेश देना व्यर्थ है, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

अज्ञानी दुर्मतिके सम्मुख 'यह सब कुछ ब्रह्म है' यों जो विद्वान् उपदेश देता है, मानो वह अपना मित्र समझकर एक ठूंठे वृक्षके समक्ष दुःखनिवेदन करता है ॥ २० ॥

मूर्ख युक्तिसे प्रबोधित होता है और प्राज्ञ तत्त्वसे । युक्तिसे बोध कराये बिना मूर्ख प्राज्ञदशाको प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, इतने कालतक अप्रबुद्ध रहे आपको मैंने युक्तियोंसे प्रबोध-दशामें पहुँचा दिया है । प्रबुद्ध हुए आप अब जिस प्रकारके उपदेशसे बोधित किये जायँगे, उसे आप सुनिए ॥ २२ ॥

वही कहते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे ।

मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म है, आप ब्रह्म हैं और यह दृश्य पृथिवी ब्रह्म

असंवेद्यमहासंवित् कोटिमात्रं जगत्त्रयम् ।
एकप्रत्ययवानन्तः कुर्वन्नपि न लिप्यसे ॥ २४ ॥
भारूपश्चेतनो व्यापी परमात्माऽहमित्ययम् ।
राघवाऽनुभवान्तस्त्वं तिष्ठन्गच्छञ्छ्वसन्स्वपन् ॥ २५ ॥
निर्ममो निरहङ्कारो बुद्धिमानसि साधु चेत् ।
तद्ब्रह्मावेदनं शान्तं सर्वभूतस्थितं भव ॥ २६ ॥
तदनाद्यन्तमाभासं सत्त्वमेव परं पदम् ।
स्थितोऽसि सर्वगैकात्मशुद्धसंविन्मयात्मकः ॥ २७ ॥
यद्ब्रह्मात्माऽपि तुर्यश्च याऽविद्या प्रकृतिश्च या ।
तदभिन्नसदैकात्म यथा कुम्भशतेषु मृत् ॥ २८ ॥

ही है; ब्रह्मसे पृथक् कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है। इसलिए जैसा आप चाहें वैसा ही कीजिए। ['यथेच्छसि' इससे यह सूचित होता है कि ऐच्छिक व्यवहारसे वास्तविक ब्रह्मरूपतामें कोई हानि नहीं पहुँचती] ॥ २३ ॥

समस्त भ्रान्तियोंके बाधकी चरम सीमाभूत, लौकिक ज्ञानकी अविषय महाचितिके स्वरूपभूत ही ये तीनों जगत् हैं। श्रीरामचन्द्रजी, अपने हृदयके भीतर इस जगत् और उस महासंवित् में एक प्रतीतिसे युक्त होकर सांसारिक कार्योंका सम्पादन कर रहे भी आप उनसे लिप्त नहीं हो सकते। इस विषयमें यह श्रुति भी प्रमाण है—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ॥ २४ ॥

हे श्रीराघव, स्थित हो रहे, जा रहे, श्वास ले रहे तथा शयन कर रहे आप अपने हृदयमें 'सर्वव्यापी चैतन्य प्रकाशस्वरूप यह परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा अनुभव कीजिए ॥ २५ ॥

हे श्रीराघव, यदि उत्तम रीतिसे आप अभिमानसे शून्य, ममतासे रहित और बुद्धिमान् हैं तो सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित, सर्वोपद्रवशून्य, शान्त, चिदेकरस ब्रह्मरूप हो जाइए ॥ २६ ॥

सर्वव्यापी, एकरूप, शुद्ध संवित्स्वरूप हुए वह आप श्रुतिप्रसिद्ध, आदि और अन्त से रहित, प्रकाशात्मक परमपदस्वरूप होकर स्थित हो गए हैं ॥ २७ ॥

ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति तथा जगत् आदिरूपसे जो प्रसिद्ध पदार्थ हैं; वे सबके सब उस प्रकार अभिन्न सन्मात्ररूप हैं, जिस प्रकार सैकड़ों घड़ोंमें मिट्टी ॥ २८ ॥

नाऽऽत्मनः प्रकृतिर्भिन्ना घटान्मृन्मयता यथा ।
सन्मृन्मात्रं यथा चाऽन्तरात्मैवं प्रकृतिः स्थिता॥ २९ ॥
आवर्तः सलिलस्येव यः स्पन्दस्त्वयमात्मनः ।
प्रोक्तः प्रकृतिशब्देन तेनैवेह स एव हि ॥ ३० ॥
यथैकः स्पन्दपवनौ नाम्ना भिन्नौ न सत्तया ।
तथैकमात्मप्रकृती नाम्ना भिन्ने न सत्तया ॥ ३१ ॥
अबोधादेतयोर्भेदो बोधेनैव विलीयते ।
अबोधात् सन्मयो याति रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ ३२ ॥
चित्क्षेत्रे कलनाबीजं यदेतत्पतति स्फुरन् ।
चित्ताङ्कुरं तदेतस्माद्भाविसंसारखण्डकः ॥ ३३ ॥
एतदेवाऽऽत्मविज्ञानाद्दग्धं सद्वासनाजलैः ।
संसिक्तमपि यत्नेन न भवत्यङ्कुरक्षमम् ॥ ३४ ॥

जैसे घटसे मृण्मयता पृथक् नहीं है वैसे ही आत्मासे प्रकृति पृथक् नहीं है। और जैसे घटके अन्दर रहनेवाली मृन्मयता सद्रूप मृत्तिकामात्र है, वैसे ही प्रकृतिमें रहनेवाली सद्रूपता आत्ममात्र ही स्थित है ॥ २९ ॥

जलके आवर्तकी नाईं जो यह आत्माका विवर्तन है, वही प्रकृतिशब्दसे कहा गया है और सन्मात्रस्वभावसे अपने विवर्तमें वह आत्मा ही है, दूसरा नहीं ॥ ३० ॥

जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ हैं और नामतः दोनों भिन्न होते हुए भी सत्तासे वे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही आत्मा और प्रकृति ये दोनों एक हैं और नामसे भिन्न होते हुए भी वे सत्तासे भिन्न नहीं हैं ॥ ३१ ॥

जैसे अबोधसे सन्मात्र सर्पभ्रम रज्जुमें रूपान्तरको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही बोध न होनेसे इनमें भेद मालूम पड़ता है और वह भेद बोधसे ही पुनः विलीन हो जाता है ॥ ३२ ॥

चिद्रूपी खेतमें जो यह कल्पनारूपी बीज गिरता है, वही चित्तरूपी अङ्कुर होकर उससे स्फुरित होता हुआ भावी संसाररूपी जङ्गलका एक खण्ड तैयार हो जाता है ॥ ३३ ॥

आत्मज्ञानसे दग्ध हुआ यही कल्पनारूपी बीज [चिद्रूपी खेतमें] वासना-

नो चेत् पतति चित्क्षेत्रे कलनाबीजकं ततः ।
चित्ताङ्कुरा न जायन्ते सुखदुःखफलद्रुमाः ।। ३५ ।।
द्वित्वं जगत्यसदुपात्तमबोधजातं
बोधक्षयं जहिहि बोधमुपागतोऽसि ।
आत्मैकभावविभवेन भवाऽभयात्मा
नास्त्येव दुःखमिति नः परमार्थसारः ।। ३६ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे संसृतिविचारयोगो नाम एकोनपञ्चाशः सर्गः ।। ४९ ।।

रूपी जलसे यत्नपूर्वक भलीभाँति सींचा गया भी अङ्कुरके उत्पादनमें समर्थ नहीं होता ॥ ३४ ॥

यदि चिद्रूपी खेतमें कल्पनारूपी बीज न बोया जाय तो उससे उन चित्तरूपी अङ्कुरोंकी उत्पत्ति भी न हो, जिनसे आगे चलकर सुख-दुःखरूपी अनेक फल देनेवाले शरीररूपी वृक्ष बन जाते हैं ।। ३५ ॥

प्रस्तुत उपदेश-रहस्यका उपसंहार करते हैं—'द्वित्वम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि आप ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, इसलिए जगत्‌में भ्रान्तिसे गृहीत असत् द्वित्वका (भेदका), जो अज्ञानसे जनित और ज्ञानसे विनाशी है, आप परित्याग कर दीजिए। भद्र, अब आप आत्मैकत्वरूप निरतिशयानन्दरूपी विभवसे अभयात्मा हो जाइए। आपमें तो तीनों कालमें भी दुःख नहीं ही है, यही हमारा उपदेश है ॥ ३६ ॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त



पञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

ज्ञातं ज्ञातव्यमखिलं दृष्टं द्रष्टव्यमक्षतम् ।
परेण परिपूर्णाः स्मो ब्रह्मज्ञानामृतेन ते ॥ १ ॥
पूर्णात् पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णात्पूर्णं प्रसूयते ।
पूर्णेनाऽऽपूरितं पूर्णं स्थिता पूर्णे च पूर्णता ॥ २ ॥

पचासवाँ सर्ग

[कल्पना द्वारा जीवमें लिङ्गदेहात्मक पुर्यष्टककी (सूक्ष्म शरीरकी) उत्पत्ति तथा इन्द्रियोंसे उसके बाह्य विषयोंका ग्रहण-क्रम—इनका वर्णन]

यद्यपि 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इस श्रुतिके अनुसार श्रीरामजीके सभी संशय तत्त्वसाक्षात्कारसे नष्ट हो चुके थे ; तथापि दूसरोंके उपकारके लिए—दूसरोंको जिस विषयमें संशय है—उसे पूछनेकी इच्छा कर रहे श्रीरामभद्र पहले अपना अनुभव विशेषकथनपूर्वक दिखलाते हैं—**'ज्ञातम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, मैंने निखिल ज्ञातव्य (जानने योग्य) पदार्थ जान लिये और अविनाशी द्रष्टव्य वस्तुका अवलोकन भी कर लिया। अब हमलोग आपके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानरूप अमृतसे (अमृत-पानसे) भली-भाँति परिपूर्ण (तृप्त) हो चुके हैं ॥ १ ॥

अपने अनुभवके साथ 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥' इस श्रुतिका मेल भी है, यों बतलाते हैं—**'पूर्णात्'** इत्यादिसे ।

पूर्णब्रह्मसे निकलकर एवं शरीररूप उपाधिमें प्रवेशकर नखके अग्रभागपर्यन्त व्याप्त हुआ यह जीव परमार्थतः पूर्णब्रह्मरूप ही है; क्योंकि पूर्णसे (ब्रह्मसे) आकाशादिक्रमपूर्वक व्यष्टि-समष्टि-उपाधिरूप जो उत्पन्न होता है, वह पूर्णरूप ही उत्पन्न होता है। और महावाक्यसे उत्पन्न 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस ज्ञानसे उपाधिजनित परिच्छिन्नताका समूल विनाश हो जानेके कारण, जब पूर्णब्रह्मसे पूर्ण ही जीवतत्त्व अखण्ड ऐक्यसे पूरित हो जाता है, तब कल्पित अपूर्णता-

लीलयेदं तु पृच्छामि भूयोबोधाभिवृद्धये ।
बालस्येव पिता ब्रह्मन्न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
विद्यमानमपि ब्रह्मन् दृश्यमानमपि स्फुटम् ॥ ४ ॥

भ्रमके नष्ट हो जानेसे पूर्णकी (ब्रह्मकी) पूर्वस्थित पूर्णता ही अवस्थित रह जाती है ॥ २ ॥

ब्रह्मन्, बहुत लोगोंके ज्ञानकी अभिवृद्धिके लिए लीलावश मैं आपसे यह वक्ष्यमाण प्रश्न पूछता हूँ। महाराज, बालकके लीलाप्रश्नमें पिताके सदृश आपको क्रोध करना युक्त नहीं है ॥ ३ ॥

चूँकि अर्थोंके अनुभवोंका उल्लेख सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें ही देखा जाता है ('मेरे हृदयमें अमुक अर्थका अनुभव हुआ' यों सभी प्राणी अपने-अपने अनुभवोंका उल्लेख करते हैं, ऐसा दिखाई पड़ता है), प्रियाप्रियदर्शनजनित सुख-दुःखोंका अनुभव हृदयमें ही होता है और दीर्घकालके अनुभूत बाह्य विषयोंका स्मरण भी हृदयमें ही देखा जाता है; इसलिए यह कहना आवश्यक है कि बाह्य विषयोंका अनुभव हृदयमें ही होता है। इस स्थितिमें चक्षु आदि जितनी इन्द्रियाँ हैं, उनमें बाह्य स्थित अर्थोंको हृदयमें लानेकी शक्ति नहीं है, और वे स्वयं जड़ होनेके कारण बाहर जाकर, अनुभव कर और फिर लौटकर बाह्य अर्थोंका वर्णन करनेमें समर्थ भी नहीं हैं; अतः चक्षु आदिके गोलकोंको छोड़कर इन्द्रियोंका दूसरा स्वरूप मानना निरर्थक ही है।

यहाँपर यह मानना भी अयुक्त है कि अन्तःकरणसे अवच्छिन्न जीवचैतन्य ही इन्द्रिय द्वारा बाहर निकलकर, घट आदि बाह्य विषयोंसे सम्बद्ध होकर उन बाह्य विषयोंका अनुभव करेगा ? क्योंकि ऐसा माननेपर 'मेरे हृदयमें विषयानुभव हुआ' यह न कहकर लोग ऐसा कहने लगेंगे कि 'मेरे बाहर विषयानुभव हुआ', इसी तरह प्रियाप्रियदर्शनप्रयुक्त सुखदुःखानुभव भी हृदयसे बाहर ही होगा और कालान्तरमें अनुभूत बाह्य विषयोंका हृदयमें स्मरण न होकर बाहर ही होने लगेगा—जो सर्वथा विपरीत है, जबतक विषयोंका हृदयमें प्रवेश नहीं होगा तबतक उनका हृदयके अन्दर अनुभव हो ही नहीं सकता। यदि इस विषयपर यह कहें कि बाहर निकली हुई अन्तःकरणवृत्ति विषयोंके सम्बन्धसे विषयाकारता-लाञ्छन, जिसका

कथं मृतस्य वै जन्तोर्विश्वं स्वं न पश्यति ।
जीवतश्च कथं सर्वं विषयं स्वं प्रपश्यति ॥ ५ ॥

नाम संस्कार है, लेकर भीतर प्रवेशकर, नटके सदृश विषयाकारका अनुकरण कर रही विषयोंका अनुभव अथवा स्मरण कराती है ? तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि घटादि विषयोंका अनुभव यदि आपके कथनानुसार घटाकारक संस्काररूप लाञ्छनसे युक्त होगा तो भ्रम और प्रमा दोनोंमें कोई भेद न हो सकनेसे सर्वत्र ज्ञानोंमें विश्वास उठ जायगा ; और घट आदि विषयोंमें बाह्यत्वका जो अनुभव होता है, वह भी नहीं होगा। इन सब तर्कोंसे यह निष्कर्ष निकला कि अनुभव तो एक भीतरी पदार्थ है और घटादि बाहरके पदार्थ हैं, इन दो वस्तुओंका परस्पर सम्बन्ध न हो सकनेके कारण बाह्यार्थोंको किसी भी तरह अनुभवपर चढ़ाया नहीं जा सकता।

इसीलिए नैयायिक प्रभृति अनुभवका विषयोंके साथ विषयविषयिभावरूप एक स्वरूपसम्बन्ध मानते हैं, न कि संयोग आदिरूप; परन्तु उनका यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि विषयविषयिभावरूप स्वरूपसम्बन्ध किसी खास विषयके साथ सम्बद्ध तो है नहीं, सबके साथ समानरूप है, इसलिए अमुक अनुभवमें अमुक ही विषय है—इस प्रकार ज्ञानमें विषयोंकी व्यवस्था नहीं हो सकती। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'पहले आत्मा मनके साथ सम्बद्ध होता है, अनन्तर मन इन्द्रियके साथ सम्बद्ध होता है और फिर इन्द्रियाँ विषयोंके साथ सम्बद्ध होती हैं'—इस क्रमसे ज्ञानाश्रय-आत्म-संयुक्तमनःसंयुक्त-इन्द्रियसंयोग आदि-रूप परम्परासम्बन्धसे ज्ञानमें विषयव्यवस्था हो सकती है ? तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकारका परम्परासम्बन्ध अनुगत न होनेके कारण स्मृति, अनुमिति आदिमें अनुगत तत्-तत् विषयोंकी व्यवस्था नहीं कर सकता। अपिच, यह परम्परासम्बन्ध बाह्य अर्थोंमें अपरोक्षत्वका सम्पादक है, फिर भी आप जब उसे विषयव्यवस्थापक मानते हैं तब तथाकथित स्वरूपसम्बन्ध मानना व्यर्थ ही है। इसी युक्तिसे सम्बन्ध द्वारा विषय जिस ज्ञानकी अभिव्यक्ति करता है, वही अर्थ उस ज्ञानका विषय होता है—यह बात भी खण्डित हो जाती है, क्योंकि इन्द्रिय आदि जो भी ज्ञानाभिव्यक्तिमें हेतु हैं, वे सब उस ज्ञानके विषय हो जायँगे।

कथं घटादिबाह्यत्वमिन्द्रियाणि जडान्यपि ।
शरीरेऽनुभवन्त्यन्तः पुनर्नाऽनुभवन्त्यपि ॥ ६ ॥
अयःशलाकोपमयोर्घटादीन्द्रिययोः किल ।
अश्लिष्टयोरन्तरसौ कथं तन्नोदिता मिथः ॥ ७ ॥

इसलिए अघटितघटनामें समर्थ मायाशक्तिकी सामर्थ्यसे ही हृदयमें बाहरके विषयोंका अनुभव होता है—यही कहना होगा; ऐसी स्थितिमें चक्षु आदि गोलकोंको छोड़कर अतिरिक्त इन्द्रियोंको माननेमें फल ही क्या है ? अतः अनुभवानुसार गोलक द्वारा ही चिदात्मा बाह्य अर्थोंका अनुभव करता है, यही सिद्धान्त स्वीकृत होगा। इस परिस्थितिमें मृतदेहमें भी चक्षु आदि गोलक एवं सर्वगत सदात्मा दोनोंका अवस्थान रहनेसे वहाँ भी चिदात्मा बाह्य अर्थोंका अनुभव क्यों नहीं करता ? यों श्रीरामजी शङ्का करते हैं—'श्रोत्रम्' इत्यादिसे।

ब्रह्मन्, मृतप्राणीके शरीरमें यद्यपि श्रोत्र-गोलक, चक्षुर्गोलक, त्वग्गोलक, रसना-गोलक और घ्राण-गोलक—सब विद्यमान और स्पष्ट दिखाई देते हैं, फिर भी वे अपने-अपने विषयोंका ग्रहण कैसे नहीं करते और जी रहे प्राणीके शरीरमें वे सब अपने-अपने विषयोंका ग्रहण कैसे करते हैं ? ॥ ४, ५ ॥

महर्षे, जडस्वरूप भी ये इन्द्रियाँ शरीरके भीतर घटादि बाह्य पदार्थोंका अनुभव कैसे करती हैं और पुनः अनुभव क्यों नहीं करतीं ? । तात्पर्य यह है कि यदि कोई कहे कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ स्वयं बाहर निकलकर घट आदिकी बाह्यता-का अनुभव कर तदनन्तर भीतर प्रवेशकर फिर उन्हें कहती हैं तो इसपर यही समाधान है कि उनमें (इन्द्रियोंमें) न पृथक् चैतन्य है और न कहनेकी सामर्थ्य ही है, अतः आपका कथन असङ्गत ही है। इसी प्रकार यदि कोई यह भी कहे कि वे इन्द्रियाँ ही हृदयमें बाह्यार्थोंको लाकर स्थापित करती हैं तो इसपर भी यही समाधान है कि हृदयमें बाह्यार्थोंका स्थापन हो जानेपर तो पुनः-पुनः उनका (घटादि बाह्यार्थोंका) अनुभव होने लगेगा, क्योंकि फिर उनका (घटादि बाह्यार्थोंका) बाहर निकलना नहीं देखा जाता ॥ ६ ॥

इसपर शङ्का हो कि पहले घट आदि बाह्य विषय चक्षु आदि इन्द्रियोंको अपने प्रदेशमें खिंचते हैं। बाद खिंची गई वे इन्द्रियाँ अपने विषयोंको बाँधकर हृदय-स्थित भोक्ताके लिए किसी अंशविशेषसे भीतर ऐसे लाती हैं, जैसे घ्राणेन्द्रिय गन्धको, यों कल्पना करेंगे तो इसपर कहते हैं—'अयःशलाको०' इत्यादिसे।

जानन्नपि यदेतान् वै विशेषाञ्छतधा पुनः।
पृच्छामि तदशेषेण कथयस्वाऽनुकम्पया ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

इन्द्रियाद्यपि चित्तादि घटाद्यपि न किञ्चन।
पृथक् संभवतीहाऽङ्ग निर्मलाचेतनादृते ॥ ९ ॥

भिन्न भिन्न प्रदेशमें गड़ी हुई दो लोह-शलाकाओंकी नाईं परस्पर अत्यन्त असम्बद्ध (न मिले हुए) घटादि विषय एवं इन्द्रियों की आपसे कही जा रही परस्पर आकर्षणशीलता और उसमें भी नेत्र आदि अल्प विवरोंके भीतर घट आदि स्थूल पदार्थोंका प्रवेश होना, यह कैसे ? यानी सर्वानुभवविरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियोंके साथ संश्लिष्ट होकर ही विषय उनका (इन्द्रियोंका) आकर्षण कर सकते हैं, असंश्लिष्ट होकर नहीं; क्योंकि घट आदिसे असंश्लिष्ट रज्जु कभी उनका (घटादिका) आकर्षण करती हुई दिखाई नहीं पड़ती। और गोलक-प्रदेशोंके समीप न जानेवाले घटादिका उनसे सम्बन्ध भी नहीं हो सकता तथा न तो रज्जुकी नाईं इन्द्रियाँ घट आदिका संश्लेष या आकर्षण करती हैं—यह प्रसिद्ध ही है; क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें गड़ी हुई दो लोह-शलाकाओंकी नाईं वे दोनों भिन्नदेशस्थ हैं ॥ ७ ॥

यदि शङ्का हो कि तत्त्वज्ञानसे समस्त संशयोंसे रहित हुए आपको मायामय, सब प्रकारकी अनुपपत्तियोंसे ग्रस्त इन व्यवहारोंमें ऐसा संशय क्यों होता है ? तो उसपर कहते हैं—'जानन्नपि' इत्यादिसे।

महर्षे, यद्यपि मैं इन विशेषोंको जान रहा हूँ; तथापि अज्ञानियोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही फिर-फिर सैकड़ोंबार आपसे जो पूछता हूँ, उसे आप कृपापूर्वक पूर्णरूपसे कहिए ॥ ८ ॥

यह आप बहुत ही थोड़ा कहते हैं कि गोलकोंसे भिन्न दूसरी इन्द्रियाँ नहीं हैं; क्योंकि वास्तविक विचार करनेपर तो चितिसे भिन्न प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयों का कोई भी विभाग किसी वादियों द्वारा निरूपित नहीं हो सकता, इस आशयसे महर्षि वसिष्ठजी पहले समाधान करते हैं—'इन्द्रियाद्यपि' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, इस व्यवहार-भूमिमें निर्मल चितिके सिवा इन्द्रिय आदि भी, चित्त आदि और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थका पृथक् संभव नहीं है ॥ ९ ॥

गगनादपि याऽच्छा चित्तया रूपं स्वमात्मना ।
चित्त्वात् पुर्यष्टकत्वेन भाववृत्त्यैव भावितम् ॥ १० ॥
तदेव च प्रकृतितां गतं जगदवस्थितेः ।
तस्या अवयवाज्जातमिन्द्रियादि घटादि च ॥ ११ ॥
पुर्यष्टकत्वमायातं यच्चित्तं स्वस्वभावतः ।
स्व एवाऽवयवस्तस्मिन् घटादि प्रतिबिम्बति ॥ १२ ॥

यदि कल्पना द्वारा द्रष्टा और दृश्य की उपपत्ति मानते हो तो इन्द्रिय आदिसे घटित पुर्यष्टकरूपसे भी पूर्व-पूर्व वासनाओंके अनुसार चित्स्वरूपकी कल्पना युक्त हो जायगी, ऐसी स्थितिमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं रह जाती, इस आशयसे कहते हैं—'गगनादपि' इत्यादिसे ।

गगनसे भी अत्यन्त निर्मल जो चिति है, उसने चित् होनेके कारण माया-शबल-स्वभाव इन्द्रियादिघटित पुर्यष्टकरूपसे अपने स्वरूपकी पूर्व-पूर्व वासनाओंके अनुसार कल्पना की है ॥ १० ॥

कहे गये अर्थमें 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । अस्यावयव-भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥' इस श्रुतिको प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हैं—'तदेव' इत्यादिसे ।

वही मायाशबल कल्पितरूप जगत्के अवस्थानमें प्रकृति बन गया है । उसी प्रकृतिके अवयवोंसे इन्द्रिय आदि प्रमाण एवं घट आदि प्रमेय उत्पन्न हुए हैं । ॥ ११ ॥

एवञ्च, इन्द्रियों द्वारा बाहर निकला हुआ पुर्यष्टकघटक चित्त पहले घटादिसे सम्बद्ध होता है । बाद उस सम्बन्धसे हुई घटादिविषयाकार अपनी वृत्तिमें प्रति-बिम्बित हुए घटादिको बाह्यत्वाकारसे ही हृदयमें ले जाकर वह उनका प्रदर्शन कराता है । उसी प्रकार कालान्तरमें स्मरण होता है और स्वप्नमें भीतर स्थित वस्तुओंका ही बाह्यरूपसे अनुभव होता है, यों सबकी उपपत्ति हो जा सकती है; इस आशयसे कहते हैं—'पुर्यष्टकत्व०' इत्यादिसे ।

इस प्रकार पुर्यष्टकरूपताको प्राप्त हुआ जो चिद्रूप तत्त्व है, वही अपने चित्त आदिसे घटित स्वभावके कारण स्वयं ही चित्तवृत्तिनामक अवयव हो जाता है । उस चित्तवृत्तिनामक अवयवमें घट आदि बाह्य विषय बाह्याकारसे ही प्रतिबिम्बित होते हैं । मृत-देहमें तो पुर्यष्टकघटित लिङ्गदेहात्मक जीवके—

श्रीराम उवाच

जगत्सहस्रनिर्माणमहिम्नो दर्पणस्य च ।
पुर्यष्टकस्य भगवन् रूपं कथय कीदृशम् ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

अनाद्यन्तं जगद्बीजं यद्ब्रह्माऽस्ति निरामयम् ।
भारूपं शुद्धचिन्मात्रं कलाकलनवर्जितम् ॥ १४ ॥
कलनोन्मुखतां यातमन्तर्जीव इति स्मृतः ।
स जीवः खलु देहेऽस्मिंश्चिनोति स्पन्दते स्फुटम् ॥ १५ ॥

अपनी कल्पनासे ही लीलोपाख्यानमें प्रदर्शित रीतिके अनुसार—बाहर निकल जानेके कारण दर्शन आदिकी सामर्थ्य ही नहीं रहती; यों सर्वविध विरोधका परिहार हो जाता है, यह भाव है ॥ १२ ॥

यदि ऐसा ही है तो उस पुर्यष्टकका ही—जो पञ्चीकृत भूतांशरूप जगत्के आकारमें परिणत हो रहा है और अपञ्चीकृत भूतोंके कार्यरूप लिङ्गांशसे उनका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर रहा एक तरहसे दर्पणतुल्य है—स्वरूप क्या है ? वही कहिए, यों श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'जगत्०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, हजारों जगत्के निर्माणकी महिमावाले और उन जगत्के लिए दर्पणभूत उस पुर्यष्टकका स्वरूप किस प्रकारका है ? यह आप कहिए ॥ १३ ॥

उस पुर्यष्टकका स्वरूप बतलानेके लिए महाराज वसिष्ठजी पहले उसके मूलभूत अज्ञात ब्रह्मतत्त्वका निर्देश करते हैं—'अनाद्यन्तम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, आदि और अन्त से शून्य, विकार-वर्जित, प्रकाशस्वरूप, शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप, मायाके आक्रमणसे रहित तथा जगत्का कारण जो ब्रह्मतत्त्व है, वह पहले आकाश आदि सूक्ष्म-भूतोंकी रचनाकर अनन्तर अपञ्चीकृत उन भूतोंसे लिङ्गदेह और पञ्चीकृत उन भूतोंसे ब्रह्माण्ड की रचना करता है। अनन्तर वह ब्रह्मतत्त्व ही उस ब्रह्माण्डके भीतर प्रतिबिम्बात्मक कल्पनाकी उन्मुखता प्राप्तकर अभिमानवश जब सूत्रात्म-प्राणोंको धारण करता है तब वह 'जीव' यों कहा जाता है। अनन्तर वह इस देहमें वासनाओं तथा अङ्गों के उपचयसे पुष्ट होता है और पुष्ट हुआ वही जीव बाह्य एवं आभ्यन्तर व्यापाररूप चेष्टाएँ भलीभाँति किया करता है ॥१४,१५॥

अहंभावादहङ्कारो मननान्मन उच्यते ।
बोधनिश्चयतो बुद्धिरिन्द्रदृष्टेस्तथेन्द्रियम् ॥ १६ ॥
देहभावनया देहो घटभावनया घटः ।
एष एव स्वभावात्मा जनैः पुर्यष्टकं स्मृतः ॥ १७ ॥
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वाद्यभिपातिनी ।
या संविज्जीव इत्युक्ता तद्धि पुर्यष्टकं विदुः ॥ १८ ॥
काले काले ततो जीवस्त्वन्योऽन्यो भवति स्वतः ।
भाविताकारयाऽनन्तवासनाकणिकोदयम् ।
पुर्यष्टकस्वभावेन कालेनाऽऽकारमृच्छति ॥ १९ ॥

अभिमान, मनन आदि व्यापारोंके भेदसे उसके अहङ्कार, मन आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं, यह कहते हैं—'अहंभावा०' इत्यादिसे ।

अपने शुद्ध चैतन्यमात्रस्वरूपका विस्मरण होनेपर देह आदिमें 'अहम्' अभिमानसे वह 'अहङ्कार' कहा जाता है, सङ्कल्प आदिरूप व्यापारसे 'मन' कहलाता है, बोधके निश्चयात्मक व्यापारसे 'बुद्धि' कहलाता है और इन्द्ररूप आत्मा द्वारा दृष्ट यानी तत्तत् कर्मोंसे उपार्जित होनेके कारण 'इन्द्रिय'* कहलाता है । वही देहरूप भावनासे 'देह' बनता है और घटाकार भावनासे घट । उक्त समस्त व्यापारोंमें साधारणस्वभावरूप यह आत्मा विद्वानों द्वारा 'पुर्यष्टक' कहा गया है ॥ १६,१७ ॥

† अध्यासवश ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि धर्मोंसे युक्त (ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारोंसे 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियोंके व्यापारोंसे 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञानकर्मेन्द्रियोंके व्यापारोंसे जनित सुख-दुःखोंका आश्रय होनेसे 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करनेसे 'मैं साक्षी हूँ' इत्यादि अभिमानयुक्त) जो चैतन्य है, वही चैतन्यांशकी प्रधानतासे 'जीव' कहा गया है । और जडांशकी प्रधानतासे उसे ही विद्वान् लोग 'पुर्यष्टक' भी कहते हैं ॥ १८ ॥

इसीलिए स्व-स्वरूपभूत समझी गई बुद्धिवृत्तियोंका कालभेदसे भेद होनेके

---

* 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट०' इत्यादि (५ । २ । ९३) सूत्रसे इन्द्रियशब्द 'इन्द्रदृष्ट' इस अर्थमें ही निपातित है ।

† 'अहङ्कारकलायुक्तं बुद्धिजीवसमन्वितम् । तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदः ॥' इस लक्षणसे लक्षित पुर्यष्टकका ही यह प्रकारान्तरसे वर्णन है ।

यथावासनतः सेकाद्बीजं पल्लवतामिव ।
आकारोऽहं शरीरादि स्थावरादि चरादि च ॥ २० ॥
नाऽहमाद्यश्चिदात्मेति मिथ्याज्ञानेन चेतति ॥ २१ ॥
भ्रमत्येव जगज्जीवो वासनावलितश्चिरम् ।
ऊर्ध्वाधोगमनैरब्धौ काष्ठं वीचिहतं यथा ॥ २२ ॥
कश्चिद्विशुद्धजातित्वाद्भवबन्धादनन्तरम् ।
बुद्ध्वाऽऽत्मानं समभ्येति पदमाद्यन्तवर्जितम् ॥ २३ ॥

कारण जीव भी काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदिसे युक्त होकर अनेक-सा हो जाता है, यह कहते हैं—'काले काले' इत्यादिसे ।

तदनन्तर अध्यासवश स्वात्मरूप जानी गई बुद्धिवृत्तियोंसे वही जीव समय-समय पर काम, क्रोध, हर्ष, विषाद आदि द्वारा स्वयं ही अनेकरूप-सा हो जाता है । और काल पाकर अपने पुर्यष्टकस्वभाव उस आकारको प्राप्त करता है, जिसमें अनन्त वासनारूपी कणिकाओंका उदय होता है ॥ १९ ॥

जैसे बीजोंके आकार अङ्कुर, काण्ड, पल्लव आदि होते हैं, वैसे ही उसी समष्टिव्यष्ट्यात्मक जीवके ये सब जगत् आकार होते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे सिंचनसे बीजके पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही वासना के अनुसार समष्टि-व्यष्ट्यात्मक उस जीवके भी मैं, शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जङ्गम आदि सब जगत् आकार होते हैं ॥ २० ॥

इसीलिए 'आद्य चिदात्मा मैं नहीं हूँ, किन्तु शरीर आदि आकारवाला ही मैं हूँ', यों मिथ्याज्ञानसे यह देखने लगता है ॥ २१ ॥

वासनाओंसे वेष्टित हुआ यह जीव चिरकालतक स्वर्ग-नरकमें आवागमनों द्वारा जगत्‌में उस प्रकार घूमता ही रहता है, जिस प्रकार समुद्रमें तरङ्गोंसे ताडित काष्ठ ॥ २२ ॥

सनक आदिके सदृश कोई तो विशुद्ध जातिके प्रभावसे कल्पके प्रारम्भमें ही यानी पूर्वकल्पके सांसारिक बन्धनके बाद प्रथम जन्ममें ही आत्माका तत्त्वतः ज्ञानकर आदि एवं अन्त से शून्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं * ॥ २३ ॥

* ये सब प्रकारके विभाग (भेद) उत्पत्तिप्रकरणके सात्त्विक, राजस आदि जीवोंके भेद-वर्णन-प्रसङ्गमें विस्तृतरूपसे कहे जा चुके हैं ।

कश्चित् कालेन बहुना भुक्तयोनिगणातुरः ।
आत्मज्ञानवशादेति परमं पदमात्मनः ॥ २४ ॥
एवंरूपश्च सुमते जीवो यातः शरीरताम् ।
नेत्रादिना घटाद्यन्तर्यथा वेत्ति तथा शृणु ॥ २५ ॥
चित्त्वस्य कलनान्तस्य संप्रयातस्य जीवताम् ।
मनःषष्ठेन्द्रियग्रामो देहोऽयमवतिष्ठते ॥ २६ ॥
यदाऽन्यः सर्वदेहेभ्यः खे पतत्यक्षरूपिणा ।
तदा तज्जीवसंस्पर्शाज्जीवात्मैकत्वमृच्छति ॥ २७ ॥

बहुत कालतक अनेक योनियोंमें प्राप्त सुख-दुःखादि भोगोंके अनन्तर व्याकुल हुआ कोई पुरुष आत्मज्ञान द्वारा अपना परमपद प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

'कथं घटादिवाह्यत्वमिन्द्रियाणि जडान्यपि' यह जो प्रश्न श्रीरामचन्द्रजीने पूछा था, उसका सामान्यतः समाधान हो जानेपर भी विशेषरूपसे समाधान करते हैं—'एवंरूपश्च' इत्यादिसे ।

सुमते श्रीरामजी, शरीररूपताको प्राप्त हुआ उक्त-स्वरूप यह जीव नेत्र आदि द्वारा घटादि बाह्य विषयोंका जिस रीतिसे भीतर अनुभव करता है, वह रीति [आप] सुनिए ॥ २५ ॥

श्रीरामभद्र, पुर्यष्टकमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण परिच्छिन्न आकारसे युक्त तथा जीवरूपताको प्राप्त हुए चैतन्यका मनके साथ छः इन्द्रियोंसे समन्वित यह शरीर नखके अग्रभागपर्यन्त व्याप्तिमें परिमाता होकर स्थित रहता है। उसीसे जीवचैतन्य सर्वदा देहपरिमित होकर देहके अन्दर रहनेवाले सुख, दुःख आदिका सम्बन्धवश अनुभव करता है, देहसे बाहर रहनेवालेका नहीं ॥ २६ ॥

जब आन्तर वस्तुओंसे अन्य बाह्य घट आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष करना होता है तब तालाबसे झटकेसे उछला हुआ जल नाली द्वारा क्यारियोंमें जिस प्रकार पहुँचता है, उसी प्रकार सब देहोंसे उद्रिक्त हुआ जीवचैतन्य चक्षु आदि इन्द्रिय-रूप द्वारोंसे घटादिपर्यन्त बाह्यविषयतकके आकाशमें जाता है। उस स्थितिमें उन घटादि विषयोंका नेत्र आदि द्वारोंसे निकले हुए जीवचैतन्यके साथ स्वाकार-वृत्तिव्याप्ति द्वारा सम्बन्ध हो जानेसे वे विषयता (जीवचैतन्यके साथ अध्यास-जनित चिचादात्म्य) प्राप्त करते हैं ॥ २७ ॥

बाह्यार्थवेदने नित्यं सम्बन्धोऽक्षस्य कारकः ।
समन्वितस्य चित्तेन न मुक्तस्य कदाचन ॥ २८ ॥
यद्यदच्छतरं तस्मिन्नभःस्थं प्रतिबिम्बति ।
जीवेन भवति श्लिष्टो बहिर्जीवोऽप्यजीवति ॥ २९ ॥
निघृष्टनवरत्नाभे यदा नयनतारके ।
तदा तयोर्बाह्यगतः पदार्थः प्रतिबिम्बति ॥ ३० ॥
जीवेन भवति श्लिष्टः प्रतिबिम्बतया ततः ।
जीवज्ञेयत्वमायाति बाह्यं वस्त्विति राघव ॥ ३१ ॥

श्रीरामजी, बाह्य विषयोंके ज्ञानमें इन्द्रियसन्निकर्ष ही सदा कारण है। और वह इन्द्रियोंका सम्बन्ध चित्तसे युक्त जी रहे पुरुषमें ही संभव है, मृत अथवा मुक्त पुरुषमें कभी नहीं ॥ २८ ॥

बाहर ऐसा ही होता है, यह हम मान लेते हैं, परन्तु फिर भी उसका भीतर अनुभव कैसे होता है? यदि ऐसी शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—'यद्यदच्छ०' इत्यादिसे।

अन्तःकरणवृत्तिरूप या नयनरश्मिरूप जो-जो अत्यन्त स्वच्छ वस्तु है, उसीमें बाह्याकाशमें स्थित घटादि विषय प्रतिबिम्बित होते हैं, और वह प्रतिबिम्ब अन्तःकरणवृत्तिके अन्तर्गत जीवचैतन्यके साथ संश्लिष्ट हो जाता है। [तब 'बाहर स्थित हुआ ही मैं घटका साक्षात्कार करता हूँ' यों सब लोग क्यों अनुभव नहीं करते? इसपर कहते हैं—'बहिर्जीवो०' से।] यद्यपि जीव बाहर विद्यमान है; तथापि वह बाहर प्राणोंको धारण नहीं करता। तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ प्राणकी व्याप्ति रहती है, वहीं अहन्ताभिमान होता है, बाहर नहीं ॥ २९ ॥

उक्त रीतिसे भले ही घटमें ज्ञानरूप फलकी उपपत्ति हो जाय, फिर भी हृदयके अन्दर घटाकारका प्रवेश कैसे होगा? इसपर कहते हैं—'निघृष्ट०' इत्यादिसे।

आवरण आदि दोषोंसे शून्य होनेके कारण जब आँखोंके तारे, सानपर घिसे गये नवीन नीलम-मणिकी नाईं, चमकते रहते हैं तब उनमें घटादिप्रतिबिम्बयुक्त चित्तवृत्ति प्रवेश करती है, इसीसे बाहर-स्थित घटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, यह कहा जाता है ॥ ३० ॥

श्रीराघव, तदनन्तर उस प्रकार आँखोंके तारोंमें प्रविष्ट हुआ घटादि पदार्थ, हृदयमें प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण, अहमभिमानी जीवके साथ संयुक्त हो जाता है।

यत्संश्लेषमुपायाति तद्बालोऽपि हि विन्दति ।
पशुर्वा स्थावरो वाऽपि जीवः कस्मान्न वेत्स्यति ॥ ३२ ॥
अच्छस्य नयनस्याऽथो रश्मयो जीववेष्टिताः ।
क्रोडीकुर्वन्त्यलं दृश्यं जीवस्तत्त्वेन विन्दति ॥ ३३ ॥
एष एव क्रमः स्पर्शे सम्बन्धः प्रत्ययोद्भवः ।
रसे गन्धे च कथितो जीवसंस्पर्शसंभवः ॥ ३४ ॥

इस रीतिसे बाहर ही भासमान घटादि बाह्य-वस्तु अहङ्कारी जीव द्वारा हृदयमें ज्ञेय हो जाती है ॥ ३१ ॥

चेतनका अर्थके साथ सम्बन्ध होनेपर ज्ञान होता है, यह नियम बालक, पशु आदिमें भी प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'**यत्संश्लेष०**' इत्यादिसे ।

जो वस्तु सम्बन्धको प्राप्त होती है, उसे बालक भी अथवा पशु भी जान लेता है । किं बहुना ? जब स्थावर पदार्थ * भी अपने साथ सम्बद्ध वस्तुको जान लेता है तब जीव अपनेसे सम्बद्ध वस्तुको क्यों नहीं जान लेगा ? ॥ ३२ ॥

दूरस्थ विषयोंका इन्द्रियगोलकोंके साथ सम्बन्ध कैसे होता है ? इस प्रकारकी पामर शङ्काका निरास कर रहे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'**अच्छस्य**' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त रीतिसे जीवचैतन्यके साथ सम्बद्ध हो रही गोलकसे भिन्न, स्वच्छतम चक्षुरिन्द्रियकी रश्मियाँ पुरोवर्ती दृश्य घटादि विषयोंका पूर्णरूपसे आलिङ्गन कर लेती हैं, और तदनन्तर जीव उन्हें तत्त्वतः जान लेता है ॥ ३३ ॥

चक्षुरिन्द्रियके विषयमें कहे गये पूर्वोक्त क्रमका त्वगिन्द्रिय आदिमें भी अतिदेश करते हैं—'**एष एव**' इत्यादिसे ।

त्वगिन्द्रिय आदि स्थलमें जीवसंस्पर्शसे होनेवाला यह पूर्वोक्त प्रकार ही स्पर्श, रस और गन्ध का परिज्ञान करानेमें सम्बन्ध यानी हेतु कहा गया है ॥ ३४ ॥

---

* 'लजालु' नामका एक पौधा स्पर्शमात्रसे अपने पत्तोंको सिकोड़ लेता है—यह देखा जाता है । इसीसे अनुमान कर यह माना जा सकता है कि सब स्थावर अपनेसे सम्बद्ध वस्तुओंका परिज्ञान करते हैं ।

शब्दस्त्वाकाशनिष्ठत्वात् कर्णाकाशगतः क्षणात् ।
जीवाकाशं विशत्यन्तरित्थमिन्द्रियसंविदः ॥ ३५ ॥

श्रीराम उवाच

दृश्यते मानसादर्शे यन्त्रदार्वोदरेषु तत् ।
प्रतिबिम्बितमेतन्मे ब्रूहि ब्रह्मन् किमात्मकम् ॥ ३६ ॥

वसिष्ठ उवाच

अत्यन्तजडयोरेव जीवयोरिव तन्मिथः ।
प्रतिबिम्बं दृशो भ्रान्तिं विद्धि वेद्यविदां वर ॥ ३७ ॥

शब्दमें विशेष बतलाते हैं—'शब्दस्त्वाकाश०' इत्यादिसे ।

और शब्द तो आकाशमें रहता है, अतः तत्काल ही उसका वृत्तिप्रतिबिम्बके बिना भी साक्षात् श्रोत्र द्वारा भीतर जीवाकाशमें प्रवेश हो जाता है । [इसी रीतिसे गन्धका भी पवनके द्वारा अन्तःप्रवेश कथञ्चित् माना जा सकता है, इस आशयसे यथासंभव उक्त न्यायका उपसंहार करते हैं—'इत्थम्' से] इसी रीतिके अनुसार इन्द्रियोंसे विषयोंका परिज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

प्रसङ्गवश सभी प्रतिबिम्बोंका स्वरूप जाननेकी इच्छावाले श्रीरामभद्र पूछते हैं—'दृश्यते' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, मानसवृत्ति दर्पण, मणि, जल, और यन्त्रघृष्ट काष्ठ में घट, मुख, प्रभा आदिके जो प्रतिबिम्बि दिखाई पड़ते हैं, उनका स्वरूप क्या है ? यह आप मुझसे कहिए ॥ ३६ ॥

चैतन्य-प्रतिबिम्बभूत व्यष्टि-समष्टि रूप जीवोंका भ्रान्तिमात्रसे सिद्ध हुआ बिम्बातिरिक्त स्वरूप बिम्बके सत्य होनेपर भी जब हम नहीं कह सकते, तब अत्यन्त जड़स्वरूप मुख एवं दर्पण का या घट एवं चित्तवृत्तियों का परस्परसापेक्ष प्रतिबिम्बस्वरूप हम कह नहीं सकते—इसमें तो कहना ही क्या ? इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'अत्यन्त०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी, जिस प्रकार चितिके प्रतिबिम्बस्वरूप समष्टि-व्यष्ट्यात्मक जीवोंका स्वरूप बिम्बभूत चित्के सत्य होनेपर भी चैतन्यात्माकी भ्रान्ति है, उसी प्रकार अत्यन्त जड़स्वरूप मुख एवं दर्पण का या घट एवं चित्तवृत्ति का परस्परसापेक्ष प्रतिबिम्ब भी चैतन्यात्माकी भ्रान्ति ही है, यह आप जानिए ॥ ३७ ॥

तावन्मात्रं जगत्त्वेतद्विश्वासो मा तवाऽस्त्विह ।
अहमित्यादिस्तरङ्गो वर्तमानं सदा जलम् ॥ ३८ ॥
पराम्भोधौ तु नाऽस्त्येव देशकालक्रियादिकम् ।
तन्मयैकतया नित्यमात्मा सर्वत्र सर्वगः ॥ ३९ ॥
नित्यमसक्तमतिर्मुदितात्मा
शान्तमृषासुखदुःखविदन्तः ।
तिष्ठ निविष्टमतिः समताया-
मस्तसमस्तभवामयमायः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अक्षसंवेदनविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

केवल प्रतिबिम्ब ही भ्रान्ति नहीं है, किन्तु जगत् भी भ्रान्ति है, यह कहते हैं—'तावन्मात्रम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, यह जगत् भी भ्रान्तिमात्र ही है। इसलिए आपको इस जगत्में विश्वास नहीं करना चाहिए। यह अहङ्कार आदि प्रपञ्च एक तरहसे तरङ्गस्थानीय है, अतः चिति-जलसे पृथक् उसकी सत्ता कभी नहीं हो सकती; सत्तावान् तो सर्वदा चितिजल ही है ॥ ३८ ॥

परमचितिरूप समुद्रमें तो देश, काल, क्रिया आदि सदा एकमात्र तद्रूप होनेसे पृथक् नहीं ही हैं। आत्मा सदा सब जगह सबमें रहनेवाला है ॥ ३९ ॥

श्रीरामभद्र, सदा विषयासक्त बुद्धिसे शून्य, प्रसन्नात्मा, हृदयमें मिथ्याभूत सुख-दुःखका अनुभव करनेवाली बुद्धिसे रहित, समस्त संसाररूप रोगात्मक मायासे वर्जित तथा ब्रह्मस्वभाव समतामें प्रविष्टमति होकर अपने स्वरूपमें स्थित रहिए ॥४०॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त



एकपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

न पुनर्भवतः पूर्वं सम्पन्नाश्चक्षुरादयः ।
यथा कमलजस्यैतत् सर्वमेव त्वया श्रुतम् ॥ १ ॥
ब्रह्मपुर्यष्टकस्याऽऽदावर्थसंविद्यथोदिता ।
पुर्यष्टकस्य सर्वस्य तथैवोदेति सर्वदा ॥ २ ॥
विद्धि पुर्यष्टकं जीवो यो गर्भस्थेन्द्रियोदयः ।
यद्यथा भावयत्याशु तत्तथा परिपश्यति ॥ ३ ॥

इक्यावनवाँ सर्ग

[अज्ञानवश ही जीव, इन्द्रिय, मन, देह पुर्यष्टक आदि भ्रम उत्पन्न होते हैं, तत्त्वज्ञान होनेपर तो एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है—यह वर्णन]

'पूर्वमें असत् अहङ्कार, देह, इन्द्रिय आदिकी कल्पना, जैसे जीवसमष्टिरूप हिरण्यगर्भकी है, वैसे ही व्यष्टिरूप आपकी भी है' ऐसा 'कलनोन्मुखतां यातम्' इत्यादिसे वर्णित तात्पर्य आपने जान ही लिया, यों आगे कहे जानेवाले विषयके उपोद्‌घातके लिए अनुवाद करते हैं—'न पुन०' इत्यादिसे ।

महराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, कमलजन्मा हिरण्यगर्भकी नाईं सृष्टिके पहले 'अनाद्यन्तम्' इस श्लोकसे कहे गये ब्रह्मस्वभावमें स्थित आपके भी चक्षु आदि उत्पन्न नहीं हुए थे, यह सब मेरे कथनका तात्पर्य आपने जान ही लिया है ॥१॥

इस प्रकार पुर्यष्टककी कल्पनाके अनन्तर व्यवहारयोग्य अर्थोंकी कल्पना भी जैसे समष्टिकी है, वैसे ही व्यष्टियोंकी भी है, यह कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार हिरण्यगर्भात्मक समष्टिपुर्यष्टकका सर्गके आदिमें व्यवहारयोग्य अर्थ-ज्ञान उदित होता है, उसी प्रकार सभी व्यष्टिपुर्यष्टकोंका भी अर्थ-ज्ञान सर्वदा उदित होता है ॥ २ ॥

गर्भावस्थासे लेकर उसीका दिग्दर्शन कराते हैं—'विद्धि' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, जो व्यष्टि-जीव छठे महिनेमें गर्भमें ही चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रादुर्भावसे सम्पन्न पुर्यष्टकस्वरूप हो जाता है, वह तभीसे लेकर जिस व्यवहर्तव्य वस्तुकी जिस प्रकार भावना करता है; उसी प्रकार उसे अपनी भावनासे तत्काल ही देखने लगता है, यह आप जानिए ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाख्यं विद्धि संवेदनं स्वकम् ।
सम्पन्नं च यथा तत्ते प्रोक्तमाद्यमनःस्थितौ ॥ ४ ॥
शुद्धा संवित् संभवन्ती संवेदनमनिन्दितम् ।
ततोऽहंवेदनानन्तजीवपुर्यष्टकान्विता ॥ ५ ॥
न त्वेकत्वादनन्तत्वादवेद्यत्वादनामये ।
अभावत्वादनेकत्वादशून्यत्वात् परास्तिता ॥ ६ ॥
चेत्यादिबुध्द्या तत्किञ्चिन्न मनस्तां च गच्छति ।
न च जीवत्वमायाति न च पुर्यष्टकात्मिका ॥ ७ ॥

एवञ्च, हिरण्यगर्भके मनोव्यापारमें उसका निजी संवेदन (चैतन्य) जिस प्रकार इन्द्रिय और इन्द्रियोंका विषयस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार व्यष्टिजीवरूप आपका भी संवेदन हो जाता है, यही मैंने कहा—यह फलतः निष्कलता है, यह आप जानिए ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र, व्यष्टि एवं समष्टि के रूपमें आ रही संवित् सृष्टिके पहले एक-रूप और शुद्ध ही थी। तदनन्तर सृष्टिकालमें वह संवित् भले ही अहमभिमानी असंख्य जीवपुर्यष्टकोंसे समन्वित हो जाय; तथापि उसका संवेदनस्वरूप तो निष्क-लङ्क ही रहता है ॥ ५ ॥

विषयोंके दोषोंसे संवेदनका वह स्वरूप कलङ्कित क्यों नहीं होता ? इस शङ्कापर परमार्थतः वेद्यपदार्थका अस्तित्व ही न होनेसे वह कलङ्कित नहीं होता, यह कहते हैं—'न त्वेक०' इत्यादिसे।

अद्वितीय, असीम और अवेद्य होनेसे निर्विकार इस चितिमें दूसरे किसी पदार्थका (अस्तित्व) है ही नहीं; क्योंकि वे दूसरे पदार्थ देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेदों एवं स्थूलता से युक्त हैं ॥ ६ ॥

यदि शङ्का हो कि 'चिति ही मन आदिरूप हो जाती है' ऐसा जब आप कह चुके हैं तब मन आदिकी असत्यतामें चिति ही असत्य क्यों नहीं हो जाती ? तो इसपर कहते हैं—'चेत्यादि०' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, 'चिति मन आदिरूप हो जाती है' इत्यादि जो कुछ कहा गया है वह केवल चिन्तनीय, मननीय आदि वस्तुविषयक बुद्धिवृत्तिके अध्यारोपसे ही कहा गया है; इसलिए चिति परमार्थतः मनोरूपताको प्राप्त कभी नहीं होती।

न विद्यादिविलासोऽस्ति सोऽस्ति नाऽस्तीव यः सदा ।
परमात्मेति कथितो मनःषष्ठेन्द्रियातिगः ॥ ८ ॥
तस्मात् संपद्यते जीवश्चिन्मूर्तिर्मननात्मकः ।
भ्रमः केवलमित्याद्य उपदेशाय गीयते ॥ ९ ॥
यतः कुतश्चित् संपन्ने त्वविद्यामय आमये ।
उपदेश्योपदेशेन प्रविलीने विचारणात् ॥ १० ॥
प्रशान्तसकलाकारं ज्ञानं तत्राऽवशिष्यते ।
यत्राऽऽकाशमपि स्थूलमणाविव महाचलः ॥ ११ ॥

इसी तरह वह न तो जीवरूपताको प्राप्त होती है और न पुर्यष्टकरूपतासे ही युक्त होती है ॥ ७ ॥

तब तत्त्वज्ञानसे आविर्भूतस्वरूप होनेसे पहले संवेदनस्वरूप भी असत् क्यों नहीं होता ? इसपर कहते हैं—'न विद्यादि०' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, तत्त्वज्ञानात्मिका विद्या और चरमप्रमाणभूत मनन आदिका विलास अपना कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता ; 'नहीं ही है' ऐसा अज्ञानियों द्वारा जो तर्कित होता है, वह सदा ही विद्यमान है ; वही 'परमात्मा' इस नामसे कहा गया है और वही मनके साथ छः इन्द्रियोंका अविषय है ॥ ८ ॥

यदि वह परमात्मा अद्वितीय ही है तो 'तस्मात् सर्वे एव आत्मानो व्युच्चरन्ति' (उसी परमात्मासे सभी जीवात्मा निकलते हैं) इस श्रुतिसे 'अग्नि-विस्फुलिङ्ग' न्यायानुसार जीवसम्पत्ति कैसे कही गई ? इस शङ्कापर शिष्योंको समझानेके लिए कल्पनासे वैसी कही गई है, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

'उस परमात्मासे चैतन्यस्वरूप जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्योंको समझानेके लिए ही कही गई है ॥ ९ ॥

अतएव आप अविद्यारूप रोगके मूलके विषयमें चिन्तन न करें यानी उसकी जड़ खोजनेमें न लगें, किन्तु उसकी समुचित चिकित्साका ही चिन्तन करें; क्योंकि मूलकी चिन्ता आदि चिकित्साके वास्तव उपाय हैं ही नहीं, यह कहते हैं—'यतः' इत्यादिसे ।

विचार द्वारा उपदेश्यको उपदेश देनेके अनन्तर हुए चरमप्रमाण मननात्मक विचारसे जिस किसी अज्ञात मूलसे उत्पन्न अविद्यारूप रोगके शान्त

यत्रोद्यदाचारमपि सदप्यसदिव स्थितम् ।
जगज्जान्विषयांस्त्यक्त्वा काये त्वं तिष्ठ निर्मले ॥ १२ ॥
असन्मयमविद्याया रूपमेव तदेव हि ।
यद्वीक्षिता सती नूनं नश्यत्येव न दृश्यते ॥ १३ ॥
आलोकितं नाम कथमवस्तु किल लभ्यते ।
प्रयत्नेनाऽपि संप्राप्तं मृगतृष्णाम्बुकैरिव ॥ १४ ॥
असदेव सदेवाऽसदज्ञानादस्य सत्यता ।
ज्ञानाद्यथास्थितं वस्तु दृश्यते नश्यति भ्रमः ॥ १५ ॥

हो जानेपर उस दशामें सम्पूर्ण आकारोंसे वर्जित ऐसा स्वरूपज्ञान अवशिष्ट रहता है, जहाँपर परमाणुमें सुमेरु पर्वतकी नाईं आकाश भी स्थूलरूप हो जाता है ॥ १०, ११ ॥

श्रीरामजी, निष्पन्न होनेवाले व्यवहारोंके लिए क्रियाश्रय होनेके कारण व्यावहारिक सत्यभूत भी पदार्थ जहाँ शून्यकी नाईं स्थित हैं, उस निर्मल सत्यस्वरूप ब्रह्मपदमें जगत्में उत्पन्न विषयोंको छोड़कर आप जीवन्मुक्त होकर स्थित रहिए ॥ १२ ॥

अब अविद्याका स्वरूप बतलाते हैं—'असन्मय०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजी, यतः भलीप्रकार देखी जा रही भी अविद्या नहीं दीख पड़ती, किन्तु नष्ट ही हो जाती है; इसलिए उस अविद्याका वही प्रसिद्ध असद्रूप ही स्वरूप है ॥ १३ ॥

भद्र, [हम यह मानते हैं कि] मृगतृष्णाजल दिखाई दिया, पर उसे प्रयत्नसे भी किन्हीं लोगोंने कहीं पाया क्या ? अर्थात् किसीने कहीं नहीं पाया; ठीक इसीप्रकार (मृगतृष्णाजलके सदृश) जो अवस्तुभूत पदार्थ हैं, भ्रान्तिवश देखे गये भी वे किस तरह पाये जा सकते हैं ? वास्तवमें तो दृष्टान्तभूत मृगतृष्णाजल भी अप्रसिद्ध है, यह भाव है ॥ १४ ॥

असत् पदार्थ ही सत् भासित होता है। उसकी सत्यता असद्रूप अविद्यासे ही है। ज्ञानसे तो जो वस्तु जिस प्रकारकी रहती है, वह उसी प्रकारकी दिखाई देती है और भ्रान्ति नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

अविद्याया विचारोऽयं जीवपुर्यष्टकादिका ।
अप्यत्यन्तमसत्यायाः कल्पना कल्पिताऽऽत्मनः ॥ १६ ॥
तस्यास्त उपदेशाय सेयं जीवादिकल्पना ।
कृता शास्त्रैः प्रबोधाय तां त्वमेकमनाः शृणु ॥ १७ ॥
जीवत्वमिव संप्राप्ता पुर्यष्टकपदस्थिता ।
कलाकलङ्ककलिता चितिराबोधनोन्मुखी ।
यद्यथा भावयत्याशु तत्तथाऽनुभवत्यलम् ॥ १८ ॥
सत्यो भवत्वसत्यो वा बालेन निशि यक्षकः ।
पञ्चतन्मात्रकलनां संभावयति सत्तया ॥ १९ ॥
तत्राऽऽत्मनि तथा रन्ध्रान् प्रपश्यति तथोदितान् ॥ २० ॥
एभ्य एव समुत्पन्नं बहिःस्थं भूतपञ्चकम् ।
पश्यत्यनन्यदन्याभं शाखाशतमिवाङ्कुरः ॥ २१ ॥

श्रीरामजी, सत्य आत्माके सन्निधानसे अत्यन्त असद्रूप भी अविद्याकी जीव, पुर्यष्टक आदिरूप कल्पना की गई है, यह विचार भी अविद्यासे होता है ॥१६॥

श्रीरामभद्र, आप-जैसे अधिकारी जीवोंको उपदेश देनेके लिए उस अविद्याकी ही जीव आदिरूप कल्पना शास्त्रोंने की है। इसलिए प्रबोधके लिए एकचित्त होकर आप उसे सुनिए ॥ १७ ॥

जीवरूपताको प्राप्त हुई-सी, पुर्यष्टकरूप पदमें स्थित, अतएव मायारूपी कलङ्कसे वेष्टित तथा जीवको बाह्य विषयोंका दर्शन करानेके लिए उत्सुक यह चिति जिसकी जैसी भावना करती है, भलीभाँति उसका वैसा ही अनुभव कर लेती है ॥ १८ ॥

रात्रिमें बालक द्वारा कल्पित यक्ष की नाईं, फिर वह सत्य हो या असत्य ही हो, यह जीवचिति 'पञ्चतन्मात्राओंके पञ्चीकरणरूप शरीरकी कल्पना सत्य ही है' यों संभावना करती है ॥ १९ ॥

और उस देहरूप आत्मामें उसी प्रकार उत्पन्न यानी उपर्युक्त दृष्टान्तकी नाईं उत्पन्न इन्द्रिय द्वारोंको भी उस प्रकार देखती है ॥ २० ॥

इन्हीं पञ्चतन्मात्राओंसे उत्पन्न बाहर-स्थित पञ्चमहाभूतोंको, जो परमार्थतः उससे दूसरे नहीं हैं यानी चितिरूप ही हैं, इन्द्रियरूप द्वारोंसे उस प्रकार वह अन्य-सा देखती है, जिस प्रकार सैकड़ों शाखाओंको अङ्कुर ॥ २१ ॥

इदमन्तरिदं बाह्यमिति निश्चयवांस्ततः ।
जीवो भावं यथाऽऽदत्ते तत्तथा द्रढयत्यथ ॥ २२ ॥
रश्मिजालमिवेन्दोर्यदात्मनः प्रतिभासनम् ।
बाह्यस्पर्शतया तेन तदेवाऽऽशूरीकृतम् ॥ २३ ॥
मरिचस्येव यत्तैक्ष्ण्यं शून्यत्वमिव खस्य यत् ।
आत्मनो वेदनं यच्च तदेवाऽन्यदिव स्थितम् ॥ २४ ॥
अत्रैव निश्चयं बद्ध्वा नियमः सुदृढीकृतः ।
अनेनेत्थमनेनेत्थं भाव्यमित्यवखण्डितम् ॥ २५ ॥
स्वभावेतरनामाऽसौ स्वसङ्कल्पमयात्मकः ।
कश्चित् कदाचिद्भवति स्वभावेनैव नाऽन्यथा ॥ २६ ॥

तदनन्तर यह जीव, जिसे 'ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तर पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ हैं' यों निश्चय हो चुका है, जिसकी जैसी वासना कर लेता है, उसे वैसी ही यानी उसी रूपसे दृढ कर लेता है ॥ २२ ॥

वहाँ विषय एवं इन्द्रिय के सन्निकर्षसे अभिव्यक्त स्वात्मसुखकी ही विषय-सुखके रूपसे वह कल्पना करता है, यह कहते हैं—'रश्मिजाल०' इत्यादिसे ।

चन्द्रमाकी किरणोंकी नाईं आत्माका जो सुखरूपसे ज्ञान होता है, उसे ही इस जीवने बाह्यविषयोंके सुखानुभवरूपसे शीघ्र स्वीकार कर लिया है ॥ २३ ॥

उसी प्रकार वह स्वाभाविक आत्म-वेदन ही विषयसन्निकर्षसे अभिव्यक्त अहमाकार आत्माका धर्म है, ऐसी भावना कर लेता है, यह कहते हैं—'मरिचस्येव' इत्यादिसे ।

मरिचसे अभिन्न मरिचकी प्रसिद्ध जो तीक्ष्णता है और आकाशसे अभिन्न आकाशकी प्रसिद्ध जो शून्यता है, इन दोनोंके सदृश आत्मासे अभिन्न प्रसिद्ध जो आत्माका ज्ञान है, वही अन्य-सा होकर स्थित है यानी स्वाभाविक आत्मज्ञान ही अज्ञानवश भिन्न-सा अहमाकार आत्माका धर्म बनकर स्थित है ॥ २४ ॥

सांसारिक विषयभोगोंमें ही पुरुषार्थकी परिसमाप्ति है, यह मत बाँधकर नश्वर सुखको लक्ष्यकर उसने 'इन लौकिक कर्मोंसे यह सुख होता है और इन पारलौकिक कर्मोंसे यह सुख होगा' इस नियमको सुदृढ कर दिया है ॥ २५ ॥

श्रीरामजी, [उन दोनों प्रवृत्तिनियमोंमें एक तो स्वाभाविक राग आदि

आत्मनैवेदमखिलं सम्पन्नं द्वैतमद्वयम् ।
खण्डो मधुरसेनेव मृदेव च महाघटः ॥ २७ ॥
सन्निवेशविकारादि देशकालादिसंभवात् ।
संभवत्यत्र न त्वीशे देशकालाद्यसंभवात् ॥ २८ ॥
इतः पुष्पमितः पत्रमहमित्युदितो यथा ।
खण्डे स्वात्मनि नः सत्तारसोऽद्वित्वे द्वितां वहन् ॥ २९ ॥

दोषोंसे जनित है और दूसरा शास्त्रजनित है । उक्त दोनों प्रकारोंके भी ये नियम सङ्कल्परूप हैं ।] उन दोनोंमें से कदाचित् कोई एक ही स्वाभाविक पुरुषप्रयत्नसे ही दूसरेको जीतकर होता है, अन्यथा नहीं, यह भाव है ॥ २६ ॥

उन दोनों स्थलोंमें भी स्वभाव या शास्त्र इन दोनोंमें से किसी एकका अनुसरण करनेवाले अज्ञ आत्माका ही तत्तत् व्यापारसाधनफलरूपसे विवर्त होता है, यह कहते हैं—'आत्मनैवेद०' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, द्वैत एवं अद्वैत रूप यह सम्पूर्ण जगत् उस प्रकार आत्मासे ही बना है, जिस प्रकार ईखके रससे खाँड़ और मिट्टीसे महाघट ॥ २७ ॥

यद्यपि खाँड़ और घट—ये दोनों अपने प्राक्तन द्रव और पिण्डावस्थाके विनाशसे विकारस्वरूप हैं; तथापि उनके माधुर्य और मिट्टीके स्वरूप का विनाश नहीं होता, अतः उतने अंशमें ही वे विवर्तके दृष्टान्त हैं । ब्रह्ममें तो उनकी तरह [किसी अंशमें भी] विकारका संभव नहीं है, क्योंकि वह उनका विधर्मी है, यह कहते हैं—'सन्निवेश०' इत्यादिसे ।

खाँड़, घट आदिमें—देश, काल आदिसे परिच्छिन्न होनेके कारण—अवयवविन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परन्तु ब्रह्ममें तो देशकृत, कालकृत आदि परिच्छेदोंके न होनेसे वे विकार आदि नहीं हो सकते ॥ २८ ॥

अथवा 'खण्डो मधुरसेनेव' इस वाक्यमें खण्डशब्द वनखण्डका वाचक है और 'मधुरसेनेव' का अर्थ 'वसन्तद्रवकी नाईं' ऐसा मानिए । एवञ्च वृक्ष-विकारका हेतुभूत जलभाग, जो कि अविकारीरूप ही है, दृष्टान्तरूपसे कहा गया है, इस आशयसे कहते हैं—'इतः' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षमें प्रविष्ट जल, 'यहाँ मैं पत्र हूँ', यहाँ 'मैं फूल हूँ' इत्यादि

इतः पट इतः कुड्यमहमित्यादितस्तथा ।
सर्वात्मनाऽऽत्मनि ब्रह्म विद्धि त्वं द्वित्वमाहरत् ॥ ३० ॥
अद्याङ्कुरोऽहमद्यार्करुगहं त्वद्य वारिदः ।
यथेति तिष्ठत्यम्भोदस्तथाऽऽत्मा सदसद्वपुः ॥ ३१ ॥
इति भाव्यमनेनेदमित्थं सर्वेश्वरे ततम् ।
क्रमं खण्डयितुं लोके कस्य नामाऽस्ति शक्तता ॥ ३२ ॥
आदर्शस्वच्छ आकाशे नैव स्वः प्रतिबिम्बति ।
व्यतिरेकासंभवतः कचत्येव हि केवलम् ॥ ३३ ॥

विचित्ररूपसे उदित होकर एक होनेपर भी अनेकताको धारण करता हुआ देखा गया है, वैसे ही हम लोगोंकी आत्मामें प्रसिद्ध सत्तावाले ब्रह्मने भी 'यहाँ मैं पट हूँ', 'यहाँ मैं कुड्य हूँ' इत्यादि भेदोंसे सम्पूर्ण जगदाकारसे आत्मामें द्वित्वको धारण कर लिया है, यह आप जानिए ॥ २९, ३० ॥

जैसे मेघ कालभेदसे—पहले ग्रीष्म-ऋतुमें 'मैं सूर्यतापरूप हूँ' यों अभेद-भावना कर सूर्यतापरूपसे, फिर वर्षाऋतुके प्रारम्भमें वृष्टि करनेके समय 'मैं जल बरसानेवाला हूँ' यों जलप्रदरूपसे और फिर पृथ्वीमें प्रवेश द्वारा अङ्कुरके अन्दर जलरूपसे उसका प्रवेश होनेपर 'मैं अङ्कुररूप हूँ' यों अङ्कुररूपसे—स्थित रहता है; वैसे ही यह आत्मा भी कालभेदसे भाव और अभाव का आकार होकर स्थित रहता है ॥ ३१ ॥

जगद्रूप विवर्तका नियम-क्रम यद्यपि कल्पित ही है; फिर भी कोई उसे अन्यथा नहीं कर सकता, यह कहते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

इस वस्तुसे यह कार्य इस प्रकार होवे [—जैसे अग्निसे उष्णता और जलसे शैत्य], यों परब्रह्ममें कल्पित प्रसिद्ध क्रमको इस जगत्‌में ऐसा कौन जीव है, जो तोड़ सकता हो अर्थात् कोई तोड़ नहीं सकता ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार वस्तुस्वभावका नियम भी वस्तुभेदसे भिन्न ही है और न उसे कोई अन्यथा ही कर सकता है, इस आशयसे आकाशादिके स्वभावका और अज्ञात ब्रह्मके स्वभावका परस्पर वैलक्षण्य बतलाते हैं—'आदर्शस्वच्छ' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

ब्रह्मणि त्वात्मनाऽऽत्मैव स्थितः कचति बिम्बति।
द्वैतीभवत्यदेहोऽपि चिन्मयत्वात् स्वभावतः ॥ ३४ ॥
यद्यथैवाऽऽत्मकचनं वेत्ति तं भवताऽऽत्मना।
असत्यमपि तन्नेह व्यभिचारी कदाचन ॥ ३५ ॥
हेमत्वकटकत्वे द्वे सत्यासत्यस्वरूपिणी।
हेम्नि भाण्डगते यद्वच्चित्त्वाचित्त्वे तथाऽऽत्मनि ॥ ३६ ॥

दर्पणकी नाईं स्वच्छ आकाशमें अपना भाग (आकाश-भाग) या अपना कार्य प्रतिबिम्बित नहीं ही होता, क्योंकि आकाशमें या उसके कार्यभूत अन्य भूतोंमें आकाशका भेद नहीं रहता (भिन्न वस्तुमें प्रतिबिम्ब पड़ता है—इस सिद्धान्तके अभिप्रायसे यह कहा गया है), किन्तु केवल आकाश प्रतिबिम्बशून्य दर्पणके मध्यके समान निर्मलरूपसे शोभित होता है। [अविद्यासे समन्वित ब्रह्म तो वैसा नहीं है, यह कहते हैं—'ब्रह्मणि' से] और अविद्यासंवलित ब्रह्ममें तो अपने स्वरूपसे स्थित आत्मा ही समस्तवस्तुशक्ति आदि रूपसे शोभित होता है, जीवरूपसे प्रतिबिम्बित होता है और चूँकि वह स्वभावतः चिन्मय है, इसलिए देहरहित होता हुआ भी वह भेदबुद्धिसे द्वितीय-सा होता है ॥ ३३, ३४ ॥

ऐसा भले ही मान लिया जाय, परन्तु उससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'यद्यथैवा०' इत्यादिसे।

सर्गके आदिमें जिस वस्तुस्वभावसे आत्मकचन (आत्माका प्रकाश) हुआ, असत्य भी उस स्वभावको सत्य आत्मा द्वारा सत्यरूपसे जानता है। और वह नियम कभी भी व्यभिचरित नहीं होता, अतः सभी प्रकारके नियम सिद्ध हो जाते हैं, यह भाव है ॥ ३५ ॥

सत्य और अनृत के मिथुनीभावसे 'वाचारम्भण' श्रुतिमें दर्शित न्यायसे दृष्टान्त बतलाते हैं—'हेमत्व०' इत्यादिसे।

जिस प्रकार भूषणमें स्थित सुवर्णमें यानी सुवर्णके आभूषणमें सत्य एवं असत्यरूप सुवर्णत्व और कटकत्व दोनों रहते हैं, उसी प्रकार आत्मामें भी चित्त्व और अचित्त्व दोनों रहते हैं ॥ ३६ ॥

सर्वगत्वाच्चितेश्चित्त्वं नित्यं मनसि विद्यते ।
हेमत्वं कटकस्येव जडभावः स्थितोऽन्यदा ॥ ३७ ॥
चित्त्वजाड्यात्मकं चित्तं दृढं भावयति स्वयम् ।
यथा यदैव यद्भावं तथा भवति तत्तदा ॥ ३८ ॥
काले काले चिता जीवस्त्वन्योऽन्यो भवति स्वयम् ।
भाविताकारवानन्तर्वासनाकलिकोदयात् ॥ ३९ ॥
स्वप्ने दृष्टो यथा ग्रामो याति सत्ताऽन्यतेक्षणात् ।
देहाद्देहं तथा याति देहोऽयं प्रतिभात्मकः ॥ ४० ॥

इसीलिए उसके प्रथम कार्यभूत मनमें चिद्रूपता तथा जड़ता—ये दोनों दिखाई पड़ती हैं। उनमें जो नित्य है, वही सत्य है, यह कहते हैं—'सर्वगत्वात्' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार कटकमें नित्य ही सुवर्णरूपता रहती है, उसी प्रकार चितिके सर्वव्यापी होनेसे उसके सर्वप्रथम कार्य मनमें सर्वदा चितिरूपता रहती है। और जडरूपता तो किसी समय यानी अध्याससमयमें विद्यमान रहती है ॥ ३७ ॥

चेतन और जड स्वरूप * यह चित्त स्वयं जभी जिस किसी पदार्थकी जिस प्रकार दृढ़ भावना करता है, यानी जभी देव, नर, स्थावर आदिरूपसे देवादिके स्वरूपकी भावना करता है, तभी उस प्रकारका वह हो जाता है ॥ ३८ ॥

अतएव कालभेदसे जीवमें अहमाकारभेदका अनुभव होता है, यह कहते हैं—'काले' इत्यादिसे ।

चैतन्यसे भीतर वासनारूपी कलियोंका विकास होता है; उसीसे यह जीव विचित्र तरहसे भावित आकारवाला होकर समय-समय पर स्वयं भिन्न-भिन्न रूपका हो जाता है ॥ ३९ ॥

जैसे स्वप्नमें दिखाई पड़ा ग्राम वनादिसत्तारूपी भिन्नताके अवलोकनसे वनादिभावको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही देहभूत यह जीव भी एक देहसे दूसरी देहको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि यह स्वप्नके समान ही प्रतिभासात्मक है ॥ ४० ॥

---

* कहीं-कहीं 'चित्तजाड्यात्मकम्' ऐसा भी पाठ मिलता है। उसके अनुसार 'चित्तका जाड्य यानी जडदेहविषयाकार, तत्स्वरूप' यह अर्थ समझना चाहिए ।

प्रतिभासो यथा स्वप्ने नरः कुड्यं पटो भवेत् ।
भवत्यसत्यमेवेदं देहान्तरमिदं स्वतः ॥ ४१ ॥
असत्यमेव म्रियते त्वसत्यं जायते पुनः ।
जीवः स्वप्रतिभासेन स्वप्नवत् स्वान्यरूपवत् ॥ ४२ ॥
कालेनैताद्दशं रूपमिदं नाऽन्यत्वमेति वै ।
प्रकृतं निश्चयारूढं भ्रमन्त्येते भवः स्वतः ॥ ४३ ॥
वस्तु दृष्टमदृष्टं च स्वप्ने समनुभूयते ।
जीवस्वप्ने जगद्रूपं विद्धि वेद्यविदां वर ॥ ४४ ॥

जैसे स्वप्नमें दिखाई दे रहा मनुष्य शीघ्र ही भित्ति बनकर पट बन जाता है, वैसे ही मरण-मूर्च्छामें भी प्रतिभासमान असत्यरूप ही यही शरीर यह दूसरा शरीर अपने-आप बन जाता है ॥ ४१ ॥

यदि कोई यह शङ्का करे कि देह तो प्रत्यक्ष ही मरती और भस्मीभूत हो जाती है, भला वह फिर दूसरी देह कैसे बन जायगी ? तो इसपर कहते हैं—'असत्यमेव' इत्यादिसे ।

स्वप्नमें अपने प्रतिभाससे अपनी दूसरी देहकी तरह यह जीव असत्य ही मरता है और फिर असत्य ही उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि मरनेवालेका मरण और जन्म भी प्रातिभासिक ही है। जी रहे लोगोंको तो अपनी अविद्यासे कल्पित ही उसकी देहके दाह आदिका दर्शन होता है न कि उसकी वासनामय देहका ॥४२॥

तब क्या युवावस्था और वृद्धावस्था की नाईं देहान्तर-प्राप्ति भी इस देहका कालिक परिणाम ही है ? इस शङ्कापर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'कालेन' इत्यादिसे ।

देहका यह वर्तमान स्वरूप समय पाकर युवावस्थाके सदृश देहान्तर-रूप हो जाता है—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वर्तमान शरीर बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओंके भिन्न होनेपर भी 'वह यही शरीर है' इस प्रत्यभिज्ञात्मक निश्चयका विषय होता है। परन्तु ये भूत एवं भविष्यत् शरीर तो वैसी प्रत्यभिज्ञाके विषय नहीं हैं, उक्त प्रत्यभिज्ञाके न होनेसे दूसरों द्वारा 'कालतः अन्य हैं और वस्तुतः अन्य नहीं हैं' इत्यादि भ्रान्तिको प्राप्त होते हैं। अतः उनकी जीवसे ही उत्पत्ति है यानी वासनासे ही उनका उद्भव है ॥ ४३ ॥

यदि शङ्का हो कि जिन्हें पहले कभी देखा ही नहीं, उन देवादिशरीरोंमें इस जीवकी वासना ही कैसी ? तो इसपर कहते हैं—'वस्तु' इत्यादिसे ।

अजाग्रद्दृष्टिदृष्टो यः स्वाभिधानादिनेरितः ।
न स्वप्नो विद्यते तस्मादच्छात्मा चितिमात्रकम् ॥ ४५ ॥
अद्याऽपूर्वामिधं स्वप्ने यथा पश्यति नाऽन्यथा ।
अग्रदृष्टं तथैवाऽर्थं चेतनं चित् प्रपश्यति ॥ ४६ ॥
प्राक्तनी वासनाऽद्याऽपि पौरुषेणाऽवजीयते ।
ह्यः कुकर्माऽद्य यत्नेन प्रयाति हि सुकर्मताम् ॥ ४७ ॥

हे तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ श्रीरामभद्र, ['तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः'* इस श्रुतिके अनुसार] यह जगद्रूप तो जीवस्वप्नके अन्तर्गत ही है यानी जीवका एक स्वप्न ही है, यह आप जानिए। [और चूँकि] स्वप्नमें इस जन्ममें दृष्ट एवं अदृष्ट वस्तुओंका अनुभव होता है, [इसलिए पूर्वमें अदृष्ट देवादिशरीरोंकी वासना होनेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है †] ॥ ४४ ॥

तब महावाक्योंसे जनित ब्रह्मसाक्षात्कारसे प्राप्य ब्रह्मभाव भी देहान्तरकी नाईं वासनामय स्वप्न ही क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं—'अजाग्र०' इत्यादिसे।

जो 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इस श्रुतिमें उक्त शिवादि स्वनाम आदिसे कथित है और तुरीयदृष्टिसे दृष्ट है, उस परमात्माको उक्त तीनों लक्षणोंवाला स्वप्न ही नहीं हो सकता। जाग्रत्कालमें कभी भी उसका अनुभव न होनेसे उसकी वासना ही अप्रसिद्ध है, अतः वह वासनामय नहीं हो सकता। इसलिए यह निर्मलात्मा एकमात्र चिति ही है ॥ ४५ ॥

वही चिदात्मा जीव होकर आज अभिनव वर्तमान विषयको जिस प्रकार चित्स्वभाव होनेसे ही देखता है, जड़स्वभाव होनेसे नहीं, उसी प्रकार आगे देखे जानेवाले विषयोंको भी देखता है ॥ ४६ ॥

इसीलिए अदृष्ट विषयमें भी भावनाओंके उपचयसे दृढ हुई वासना पूर्वमें दृष्ट विषयोंकी वासनाओंपर विजय पाती है, यों पुरुषप्रयत्नकी प्रबलता दिखलाई गई है, यह कहते हैं—'प्राक्तनी' इत्यादिसे।

---

* उस स्रष्टा ईश्वरकी पितृशरीर, मातृगर्भाशय और अपना शरीर ये तीन अवस्थाएँ एवं जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं।

† वस्तुतः अनादि संसारमें अननुभूत कुछ भी नहीं है, अतः मरणकालमें भाविदेहके आरम्भक कर्मोंसे उद्‌बुद्ध हुई वासनाके अनुसार देहान्तरकी उत्पत्ति हो सकती है।

मोक्षादृते न शाम्यन्ति जीवतां चक्षुरादयः ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति केवलं देशकालतः ॥ ४८ ॥
चितः स्वकलनात्तस्य देहोऽग्र इव तिष्ठति ।
पञ्चात्मा भावितोऽसत्यो महायक्षः शिशोरिव ॥ ४९ ॥
मनोबुद्धिरहङ्कारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् ।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ॥ ५० ॥

जैसे कलके किये गये कुकर्म यानी अनुचित कर्म आजके प्रयत्नसे सुकर्मताको प्राप्त होते हैं, वैसे ही आज भी पुरुषप्रयत्नसे पहली वासनापर विजय प्राप्त की जा सकती है ॥ ४७ ॥

इस प्रकार अबतक जीवके वासनापरिणामस्वरूप देहादिबन्धका वर्णन किया गया, अब उसकी शान्ति कब होगी ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—'मोक्षा०' इत्यादिसे ।

प्राणियोंकी चक्षु आदि इन्द्रियाँ बिना मोक्षके शान्त नहीं होतीं, वे देशकृत और कालकृत भेदोंसे इस संसारसागरमें उतराती और डूबती रहती हैं ॥ ४८ ॥

बिना मोक्षके देहादिकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ? इस शङ्कापर कहते हैं—'चितः' इत्यादिसे ।

चूँकि जबतक मोक्ष नहीं हो जाता तबतक इस चितिकी अपनी देहाकारकी कल्पना करनेवाली वासना सदा बनी ही रहती है, इसलिए इस जीवकी अपनी वासना ही पाञ्चभौतिक देह होकर उस प्रकार आगे खड़ी हुई-सी रहती है; जिस प्रकार बालकके आगे कल्पित असत्य महायक्ष खड़ा हुआ-सा रहता है, [अतः मोक्षके बिना देहादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती] ॥ ४९ ॥

अब, कथञ्चित् पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरकी निवृत्ति होनेपर भी मोक्षके बिना लिङ्गदेहात्मक पुर्यष्टककी निवृत्ति नहीं ही हो सकती, इस आशयसे उसे दिखलाते हैं—'मनोबुद्धि०' इत्यादिसे ।

मन, बुद्धि, अहङ्कार एवं पाँच सूक्ष्मतन्मात्राएँ—इन आठोंका समूह पुर्यष्टक कहा गया है । और यही 'आतिवाहिक' देह कही गई है ॥ ५० ॥

अमूर्त एव चित्तात्मा खत्वमस्याऽतिपीनता ।
वातताऽस्य महागुल्मो देहताऽस्य सुमेरुता ॥ ५१ ॥
विरजस्त्वक्रमेणैव निरवस्थस्तु मुक्तिभाक् ।
सुषुप्तैकावस्थाऽस्य जडाः क्रोडीकृता यया ॥ ५२ ॥
स्वप्ननाम्नी तथाऽवस्था देहप्रत्ययशालिनी ।
आमोक्षं भ्रमतीहाऽयमिति स्थावरजङ्गमैः ॥ ५३ ॥

यदि शङ्का हो कि शास्त्रोंमें ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण, पञ्चमहाभूत, अन्तःकरण, अविद्या, काम और कर्म—इन्हें पुर्यष्टक कहा गया है, वह पञ्चीकृत आकाश, वायु आदि लिङ्गघटित स्थूलान्त मूर्तरूप भी होगा। ऐसी स्थितिमें आपने अमूर्त मन, बुद्धि आदि आठोंका समूह ही 'पुर्यष्टक' है, यह कैसे कहा ? तो इसपर कहते हैं—'अमूर्त' इत्यादिसे ।

आप द्वारा कथित मूर्तरूप पुर्यष्टक तब होगा जब पञ्चीकरणसे अमूर्तरूप तन्मात्राओंकी स्थूलता होगी। यह सूक्ष्मतन्मात्रस्वरूप लिङ्गात्मा तो अमूर्त ही है। इसकी पञ्चीकृत आकाशरूपता, जो कि निरवधि स्थूल है, नहीं हो सकती, करोड़ों अमूर्त वासनाओंको मिलानेपर भी कहीं स्थूलता नहीं दिखाई पड़ती। जब इस पुर्यष्टककी आकाशरूपता ही दुर्लभ है तब उसकी स्थूल वायुरूपता बड़ी-बड़ी तनोंवाले वृक्षकी नाईं अत्यन्त ही असंभावित है। इसी प्रकार स्थूल तेज, जल एवं पृथिवी रूपता भी असंभावित है। एवञ्च, जब स्थूल-भूतोंका ही उसमें (पुर्यष्टकमें) संभव नहीं है तब इसकी देहता उस प्रकार अत्यन्त असंभावित है, जिस प्रकार अतिसूक्ष्म परमाणुकी सुमेरुता। अतः यह नहीं कह सकते कि भौतिक देहतक ही पुर्यष्टक है, यह भाव है ॥ ५१ ॥

मुक्तिमें अनुपयोगी होनेसे भी इस मोक्षशास्त्रमें स्थूल पदार्थोंके अस्तित्वकी कल्पना युक्त नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'विरज०' इत्यादिसे ।

यदि यह देहादिप्रपञ्च मनोमात्र ही है यानी एक कल्पना ही है तो वैराग्य आदिके अभ्याससे—उसे (मनको) राग-द्वेषशून्य कर देनेपर यह जीव शमादि-साधनचतुष्टयसे सम्पन्न हो जाता है। तदनन्तर महावाक्यों द्वारा ज्ञानोदय-क्रमसे मनःकल्पित स्वप्नप्राय प्रपञ्च और उसकी मूलभूत अविद्या का बाध हो जानेपर—अपनी कार्य एवं कारण स्वरूप अवस्थात्मक दोनों बन्धोंसे शून्य जीवको

कदाचिद्धि सुषुप्तस्थः कदाचित् स्वप्नवत् स्थितः ।
आतिवाहिकदेहोऽयं सर्वस्यैवाऽत्रतिष्ठते ॥ ५४ ॥
यदा सुषुप्तभावस्थो भाविदुःस्वप्नवेधितः ।
तदा कालानलसमस्तिष्ठत्यनुदिताकृतिः ॥ ५५ ॥
स्थावराद्यास्ववस्थासु कल्पवृक्षदशासु च ।
भवत्येव सुषुप्तस्थो घनमोहशिलाघनः ॥ ५६ ॥

मुक्ति प्राप्त होती है। स्थूलभूत भौतिक मूर्तप्रपञ्चकी भी सत्ता माननेपर तो उस प्रकारके प्रपञ्चका ज्ञानसे बाध दिखाई न पड़नेपर मुक्ति हो नहीं सकती। [एवञ्च, निष्कर्ष यही निकला कि स्वप्न और सुषुप्ति—ये दो ही अवस्थाएँ हैं, जाग्रत्नामक स्थूलविषयिणी दूसरी अन्य कोई अवस्था किसीसे सिद्ध नहीं की जा सकती, इस आशयसे उन्हीं दोनोंका विभागकर दिखलाते हैं—'सुषुप्तैका०' इन डेढ़ श्लोकोंसे।] जिसने जड़स्वरूप देहादि सब प्रपञ्चको वासनारूपसे उपसंहारकर गोदमें कर लिया है, वह जीवकी सुषुप्तता यानी सुषुप्तिनामक एक अवस्था है, और देहप्रतीतिसे समन्वित स्वप्ननामकी दूसरी अवस्था है। इस तरह दिखाई दे रहे प्रकारोंसे स्थावर एवं जङ्गम आकारोंसे यह आतिवाहिक देह ही मोक्ष-प्राप्तिपर्यन्त इस संसारमें घूमती रहती है ॥ ५२, ५३ ॥

श्रीरामजी, सबकी ही यह आतिवाहिक देह कभी तो सुषुप्तावस्थामें स्थित रहती है और कभी स्वप्नकी नाईं यानी स्वप्नावस्थामें स्थित रहती है ॥ ५४ ॥

सुषुप्तावस्थामें स्थित यह आतिवाहिक देह जब वासनारूपसे भीतर प्रविष्ट हुए भविष्यत् दुःस्वप्नोंसे विद्ध-सी होकर स्मृतिशून्य और अनुदित आकारवाली हो जाती है, तब चितिके प्रतिबिम्बसे खचित होनेसे तथा अपनेमें सम्पूर्ण जगत्का उपसंहार कर लेनेसे वह प्रलयकालीन अग्निके समान प्रदीप्त होकर स्थित रहती है ॥ ५५ ॥

उन स्थावर आदि निकृष्ट योनियोंमें जड़ताके आधिक्यसे सुषुप्तिकी प्रचुरता है, यह कहते हैं—'स्थावराद्या०' इत्यादिसे।

स्थावर आदि अवस्थाओंमें तथा कल्पवृक्षकी अवस्थाओंमें भी *

*प्रस्तुत श्लोकमें 'च' शब्द अप्यर्थक है यानी उसका 'भी' यह अर्थ है। एवञ्च, कल्पवृक्षोंमें पुण्यके आधिक्यसे कृमि, कीट क्षुधा, तृषा आदि दुःखोंके न होनेसे यद्यपि आनन्द अधिक है; तथापि उनमें मनुष्य आदिके समान ज्ञान नहीं है, किन्तु अत्यन्त तमोमयता ही है, यह भाव है।

सुषुप्तताऽस्य जडता स्वप्नोत्थेयं हि संसृतिः ।
यः प्रबोधोऽस्य सा मुक्तिस्तज्जाग्रद्या तु तुर्यता ॥ ५७ ॥
जीवप्रबोधान्मुक्तिर्हि प्रबोधात् परमात्मताम् ।
सोऽभ्येति क्षालितमलं ताम्रं कनकतामिव ॥ ५८ ॥
जीवप्रबोधान्मुक्तिर्या सा चेह द्विविधोच्यते ।
एका जीवन्मुक्ततेति द्वितीया देहमुक्तता ॥ ५९ ॥
जीवन्मुक्तिर्हि तुर्यत्वं तुर्यातीतं पदं ततः ।
बोधो जीवः प्रबोधोऽयं स च बुद्धिप्रयत्नतः ॥ ६० ॥
ज्ञातप्रमाणो जीवोऽन्तर्यो जानातीह तन्मयः ।
पश्यतीमं भयं चैव सुदीर्घस्वप्नविभ्रमम् ।
मिथ्योदितः स्वहृदये स्वस्थ एव शिलीकृते ॥ ६१ ॥

पाषाण-शिलाके समान घनीभूत जड़तावाली (तमोयुक्त) यह आतिवाहिक देह सुषुप्ति-अवस्थामें ही स्थित रहती है ॥ ५६ ॥

एवञ्च, इस देहकी चित्तकी अधिक जड़ता ही सुषुप्ति है, चित्तका भ्रमण ही संसार है, चित्तका तत्त्वज्ञान ही बन्धसे मुक्ति है, तुर्यता ही इसकी जाग्रदवस्था है, यही सिद्ध हुआ, यह कहते हैं—'सुषुप्तताऽस्य' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, इस देह की सुषुप्तावस्थामें स्थिति जड़ता है, स्वप्नावस्थासे ही उत्पन्न यह संसार है, इसका जो तत्त्वज्ञान है, वह मुक्ति है । और जो जाग्रदवस्था है, वही तुर्यरूपता है ॥ ५७ ॥

जीवके तत्त्वज्ञानसे ही मुक्ति होती है और उसी तत्त्वज्ञानसे वह वैसे परमात्मस्वरूपताको प्राप्त हो जाता है, जैसे मल धो दिये जानेपर विशुद्ध हुआ ताँबा सुवर्णरूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ ५८ ॥

श्रीरामभद्र, जीवके तत्त्वज्ञानसे जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह शास्त्रोंमें दो प्रकारकी बतलायी गई है—एक जीवन्मुक्ति और दूसरी देहपातसे होनेवाली कैवल्यमुक्ति ॥ ५९ ॥

जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है । उसके परे तुरीयातीत ब्रह्मपद है । तत्त्व-ज्ञान होनेसे यह जीव प्रबोधस्वरूप हो जाता है यानी उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप हो जाता है और वह तत्त्वज्ञान या बोध पुरुष प्रयत्नसे साध्य है ॥ ६० ॥

इस व्यवहार-भूमिमें जो जीव 'परमार्थतः मेरा यह परिमाण है और यह

जीवानामन्तरे त्वन्यन्न किञ्चिच्चित्कलां विना ।
तामेवाऽन्यतया पश्यन् मुधैव परिशोचति ॥ ६२ ॥
जीवाणोरन्तरे त्वन्यन्न किञ्चित्परमाद्दते ।
यत्र तत्र जगद्दृष्टमहो मायाविजृम्भितम् ॥ ६३ ॥
स्थाल्यन्तःक्वथदम्बूनां यथा नाना भ्रमोदयः ।
जीवाणूनां तथैवाऽन्तर्मिथ्यासंसरणोदयः ॥ ६४ ॥
बन्धोऽस्य वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनालयः ।
वासनान्तन्तोऽस्य सौषुप्ती स्वप्ने विस्फुरति स्थितिः ॥ ६५ ॥
घनवासनमोहोऽयं जीवः स्थावरतादिभाक् ।
मध्यस्थवासनस्तिर्यक् पुरुषस्तनुवासनः ॥ ६६ ॥

मेरा स्वरूप है' यों ज्ञान कर लेता है, वह सबके भीतर स्थित साक्षिभूत चिदात्ममय ही हो जाता है। और जो जीव उपर्युक्त ज्ञानसे शून्य है, परमार्थतः उसके ब्रह्मनिष्ठ होनेपर भी अज्ञानवश वह शिलाकी नाईं दृढीकृत अपने हृदयमें दीर्घतम संसारस्वप्न-भ्रान्तिरूप तीव्र भयको देखता रहता है ॥ ६१ ॥

तब क्या जीवके हृदयमें वास्तविक भय है ? इस शङ्कापर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'जीवाना०' इत्यादिसे ।

जीवके भीतर चितिकलाके सिवा और दूसरा कुछ भी नहीं है, यह उसे ही अन्यरूपसे देखता हुआ व्यर्थमें सोच किया करता है ॥ ६२ ॥

जीवरूप परमाणुके भीतर तो परममहत्व् ब्रह्मके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है, अहो ! जहाँ-तहाँ यह जो जगत् आँखोंके सामने आ पड़ा है, वह मायाका ही विलास है ॥ ६३ ॥

जिस प्रकार बटलोईके भीतर खौल रहे जलमें नानात्वका भ्रम उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जीवरूप परमाणुके भीतर मिथ्या ही संसार उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

श्रीरामजी, वासनाओंका बन्ध ही इस जीवाणुका बन्ध है, वासनाओंका नाश ही इसका मोक्ष है और वासनाओंका अन्त यानी अवधि ही इसकी सुषुप्ति-अवस्था है, [क्योंकि तुर्य और तुर्यातीत - ये दोनों पद वासनाशून्य होते हैं ।] और वह स्वप्नमें चित्र-विचित्र रूपसे स्फुरित होती है ॥ ६५ ॥

किस प्रकार स्फुरित होती है ? यह कहते हैं—'घनवासन०' इत्यादिसे ।

यदाऽन्तर्जीवितेनाऽन्तो बहिर्जाता घटादयः ।
जीवैक्यादुभयोः सत्ता ग्राह्यग्राहकयोस्तदा ॥ ६७ ॥
आत्माऽनात्मसमालीढो बहिरन्तर्यदा चिता ।
तदा ग्राह्यग्रहणधीर्मृगतृष्णेव सोदया ॥ ६८ ॥
नेह संत्यज्यते किञ्चिन्नेह किञ्चिन्न गृह्यते ।
बाह्यान्तरकलाकारश्चिदात्मैकः प्रकाशते ॥ ६९ ॥

जब यह जीव घनीभूत वासनाओंके मोहसे युक्त होता है तब वह स्थावर आदि योनियोंका भागी होता है यानी स्थावर आदि योनियोंमें प्राप्त-सा दिखलाई पड़ता है, जब मध्यम प्रकारकी वासनाओंसे युक्त होता है तब पशु, पक्षी आदि योनियोंका भागी होता है और जब तनुवासनाओंसे समन्वित होता है तब मनुष्य, देव, गन्धर्व आदि योनियोंमें प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वासनाओंके क्षयके तारतम्यसे उत्तरोत्तर शुभयोनिकी प्राप्ति होती है ॥ ६६ ॥

वासनाओंके क्षयतारतम्यसे वैचित्र्यकी अभिव्यक्ति बतलानेके पश्चात् ग्राह्य, ग्रहण आदिके वैचित्र्यसे भी वैचित्र्याभिव्यक्ति बतलाते हैं—'यदा०' इत्यादिसे ।

सुषुप्तिकी विच्युतिके समय जब देहके भीतर नखके अग्रभागसे लेकर व्याप्त प्राणोंमें अहम्भावसे 'देहपरिमाणवाला ही मैं हूँ' यों जब परिच्छेद होता है तब घट आदि पदार्थ बाहर उत्पन्न हो जाते हैं। [वे बाहर होवे, उससे क्या ? इसपर कहते हैं—'जीवैक्या०' से।] वैसी स्थितिमें चक्षु आदि द्वारोंसे निकले हुए अन्तःकरण द्वारा बाहर निकला हुआ अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यात्मा जीव बाह्य घटादि विषयोंके साथ व्याप्ति करता है। पश्चात् 'मैं घटको जानता हूँ' यों ग्राह्य एवं ग्राहक की वासनात्मिका सत्ता तत्तत् वैचित्र्यसे स्पष्टतः अभिव्यक्त हो जाती है ॥ ६७ ॥

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—'आत्मा०' इत्यादिसे ।

अन्दर रहनेवाला जीव बाहर अनात्मपदार्थों पर जब आरूढ़ हो जाता है, तब ग्राह्यग्राहकवासना, मृगतृष्णाकी नाईं, अध्यस्तविभागसे प्रकट हो जाती है ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार हेय-उपादेयकी विचित्रता भी वासनाध्यस्त ही है, वास्तविक नहीं, ऐसा कहते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

त्रिजगच्चिच्चमत्कारस्त्वलं भेदविकल्पनैः ।
शोभिताः स्मश्चिति चिरात् सबाह्याद्यं न विद्यते ॥ ७० ॥

अब्धिर्यथा जलमपास्तसमस्तभेदः
खादच्छमेव सकलं द्रवमेकशुद्धम् ।
सर्वं तथेदमपहस्तितभेदजात-
माद्यं परं पदमनामयमेव बुद्धम् ॥ ७१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे इन्द्रियार्थोपलम्भविचारो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

आत्मा यहाँ न किसीका त्याग करता है और न किसीका ग्रहण ही करता है। वास्तवमें आत्मासे भिन्न किसीका अस्तित्व है ही नहीं। अतः यहाँ बाह्य और आन्तर कलाओंके आकारवाला एकमात्र चिदात्मा ही प्रकाशता है ॥६९॥

ये तीनों जगत् चैतन्यात्माकी एक चमत्कृति ही है। इसलिए भेदक सङ्कल्पोंसे प्रयोजन ही क्या रहा ?। अब हम तत्त्वज्ञानसे अपने चैतन्यस्वरूपमें चिरकालसे विराजमान हैं। यह बाह्य-आन्तर जगत् कालत्रयमें भी नहीं है ॥ ७० ॥

तत्त्वतः विचारा गया समुद्र जैसे तरङ्ग आदि समस्त विभेदोंसे शून्य हुआ—आकाशसे भी स्वच्छ—सम्पूर्णरूपसे केवल विशुद्ध द्रवात्मक जलस्वरूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी तत्त्वतः ज्ञात हुआ वासनाकालीन समस्त विभेदोंसे शून्य विकारवर्जित केवल परमपद ब्रह्मस्वरूप ही है ॥ ७१ ॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त



द्विपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यो जीवस्याऽऽदितः स्वप्नो नानाकलनकोमलः ।
तमिमं विद्धि संसारं न सत्यं नाऽप्यसन्मयम् ॥ १ ॥
न पुंस इव जीवस्य स्वप्नः संभवति क्वचित् ।
तेनैते जाग्रतो भावा जाग्रत्स्वप्नकृतोऽत्र हि ॥ २ ॥
जीवस्वप्नमिमं दीर्घं क्षिप्रताप्रतिभासतः ।
असत्यमप्यवस्तुत्वाद्विद्धि वेद्यविदां वर ॥ ३ ॥

बावनवाँ सर्ग

[आदिजीव हिरण्यगर्भका स्वप्न ही जगत् है, उसमें अनासक्तिसे उसका विनाश हो जाता है—इस अर्थका दृढीकरण करनेके लिए महाराज वसिष्ठजी द्वारा अर्जुनाख्यानका उपक्रम]

सभी जीवोंमें प्रत्येकका स्वप्न अलग-अलग होता है, परन्तु जाग्रत्-प्रपञ्च तो सबके लिए एक-सा ही है और स्वप्नके-वैधर्म्यसे सभी उसका अनुभव भी करते हैं। ऐसी स्थितिमें भला वह स्वप्नरूप कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—यो जीवस्या०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण जीवसमष्टिस्वरूप हिरण्यगर्भका अनेकविध कल्पनाओंसे कोमल (रमणीय) जो प्रथम स्वप्न है, वही हम लोगोंका 'जाग्रत् संसार' है, यह आप जानिए। वह संसार न सत्यरूप है और न असत्यरूप ही है ॥ १ ॥

किसलिए ऐसी कल्पना करते हैं ? यदि यह पूछिए तो इसका उत्तर यही है कि व्यष्टि-जीवकी तरह समष्टि-जीवका (हिरण्यगर्भका) कोई दूसरा स्वप्न प्रसिद्ध ही नहीं है इसलिए, यही कहते हैं—'न पुंसः' इत्यादिसे ।

चूँकि व्यष्टि-जीवोंके समान आदिपुरुष हिरण्यगर्भका इस स्वप्नको छोड़कर दूसरा कोई स्वप्न कभी भी नहीं हो सकता, इसलिए व्यष्टिरूप हम लोगोंके जाग्रत्-कालके प्रसिद्ध ये भूत-भुवनादिभाव उस हिरण्यगर्भकी भी जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओंमें उदित हुए तत्त्वतः स्वप्नसे भिन्न नहीं हैं, यह भाव है ॥ २ ॥

असत्यत्व और अवस्तुत्व—इन दोनों हेतुओंसे भी प्रपञ्चमें स्वप्नरूपताका

स्वप्नात्स्वप्नान्तरमिव गच्छन्तो जीवजीवकाः ।
असत्यमेव पश्यन्ति घनसत्यतयाऽनघ ॥ ४ ॥
अजडे जडता तात जडे चाऽजडतोदिता ।
असत्ये सत्यता जीवजीवानुभवमोहतः ॥ ५ ॥
भानोरप्यन्तरखिलं पश्यन्तस्त्रिजगद्भ्रमम् ।
भ्रमन्ति स्वप्नसंभ्रान्ता इव जीवा भिदालिभिः ॥ ६ ॥
सर्वगत्वादनन्तत्वात् स्वस्य जीवस्य जीवतः ।
यद्भावयन्ति चेतन्ति तदेवाऽऽश्रिति सत्यवत् ॥ ७ ॥

साधन कर रहे महाराज वसिष्ठजी स्वप्न-वैधर्म्यानुभवमें कारण दिखलाते हैं—'जीवस्वप्न०' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें असत्यभूत और अवस्तु-स्वरूप होनेके कारण भी इस संसारको उस समष्टि-जीवका (हिरण्यगर्भका)—व्यष्टिरूप हम लोगोंके स्वप्नके समान शीघ्र बाधका प्रतिभास न होनेसे—एक लम्बा स्वप्न ही समझिए । प्रपञ्चमें स्वप्न-वैधर्म्यका जो भ्रम होता है, उसमें उसकी दीर्घता ही एकमात्र कारण है, यह भाव है ॥ ३ ॥

हे अनघ, एक स्वप्नसे मानो दूसरे स्वप्नका अनुभव कर रहे समष्टि-जीवके एकदेशभूत व्यष्टि-जीव असत्य वस्तुका ही अकाट्य सत्यरूपसे अवलोकन किया करते हैं ॥ ४ ॥

वस्तुस्वभावसे वैपरीत्य दिखाई पड़नेके कारण भी इसकी स्वप्नता सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'अजडे' इत्यादिसे ।

हे तात, समष्टि-जीवके एकदेशभूत जो व्यष्टि-जीव हैं, उनके अनुभवस्वरूप भ्रान्तिसे जड़ताशून्य ब्रह्ममें भूत-भुवनादिकी जड़ता, अहङ्कारसे लेकर देहपर्यन्त सभी जड-पदार्थोंमें आत्मत्वाभिमानसे अजड़ता एवं असत्यमें सत्यता उदित हुई है ॥ ५ ॥

प्रकाशके प्रकाशक ब्रह्मरूप सूर्यके भी भीतर सम्पूर्ण तीनों लोकोंका भ्रम देख रहे स्वप्नमें संभ्रान्त-से सब जीव भेद-कल्पनाओंकी परम्पराओंसे संसारमें भ्रमण किया करते हैं ॥ ६ ॥

कल्पित भेदोंमें सत्यताके आरोपमें कारण बतलाते हैं—'सर्वगत्वात्' इत्यादिसे ।

पुण्डरीकाक्षनिर्दिष्टामसंसक्तिगतिं शुभाम् ।
यामालिङ्ग्य महाबाहो जीवन्मुक्तो महामुनिः ॥ ८ ॥
पाण्डोः पुत्रोऽर्जुनो नाम सुखं जीवितमात्मनः ।
क्षिपयिष्यति निर्दुःखं तथा क्षेपय जीवितम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

भविष्यति कदा ब्रह्मन् सोऽर्जुनः पाण्डुनन्दनः ।
कीदृशीं च हरिस्तस्य कथयिष्यत्यसक्तताम् ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्ति सन्मात्रमात्मेति परिकल्पितनामकम् ।
स्थितमात्मन्यनाद्यन्ते नभसीव महानभः ॥ ११ ॥

स्वयं व्यष्टिरूप होनेके कारण ही समष्टि-जीवकी अपेक्षा भी अत्यन्त जीवभूत ये—परमार्थतः सर्वगामी और अनन्त, अतएव परिच्छेदशून्य—सत्यस्वरूप होनेके कारण जिस-जिस की भावना करते हैं; उसीको—उसमें आसक्ति होनेसे अपनी सत्ताके आरोप द्वारा—शीघ्र ही सत्य-सा समझ लेते हैं ॥ ७ ॥

यही अर्थ भगवद्गीतामें भगवान् द्वारा उपदिष्ट है, यह कहते हैं—'पुण्डरीकाक्ष०' इत्यादिसे ।

महाबाहो श्रीरामजी, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे उपदिष्ट, शुभफलदायक उस अनासक्ति-योगका आप श्रवण कीजिए, जिसका अवलम्बनकर प्राणी जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है ॥ ८ ॥

उसके लिए अर्जुनोपाख्यानकी भूमिका बाँधते हैं—'पाण्डोः' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, अर्जुन नामधारी महाराज पाण्डुका पुत्र जिस तरह जीवन्मुक्ति-रूप सुखसे युक्त होता हुआ अपना जीवन शीघ्र बिता देगा, उसी तरह आप भी दुःखरहित अपना जीवन बिता दीजिए ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, [कृपाकर आप मुझे बतलाइये कि] वह पाण्डुनन्दन [इस पृथिवीपर] कब उत्पन्न होगा और उसकी अनासक्तिका वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह करेंगे ? ॥ १० ॥

अर्जुनके अवतारमें कारण बतलानेके लिए सबके मूलभूत ब्रह्मका उपक्रम करते हैं—'अस्ति' इत्यादिसे ।

दृश्यते विमले तस्मिन्नयं संसारविभ्रमः ।
कटकादि यथा हेम्नि तरङ्गादि यथाऽम्भसि ॥ १२ ॥
चतुर्दशविधा भूतजातयः प्रस्फुरन्त्यलम् ।
तस्मिन् संसारजालेऽस्मिञ्जाले शकुनयो यथा ॥ १३ ॥
तत्रैते यमचन्द्रार्कशक्राद्याः शंसितक्रमाः ।
भूतपञ्चकसंसारलोकपालत्वमागताः ॥ १४ ॥
इदं पुण्यमुपादेयं हेयं पापमिदं त्विति ।
तैः स्वसङ्कल्पघटिताद्वेदनात् स्थापिता स्थितिः ॥ १५ ॥
तस्याऽद्य यावदनघ प्रवाहपतिते निजे ।
कर्मण्यचलसंकाशस्थिरं चित्तमवस्थितम् ॥ १६ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, आकाशमें महाकाशकी नाईं परिकल्पित नामवाला सन्मात्रस्वरूप यह आत्मा आदि और अन्त से शून्य अपनी महिमामें ही प्रतिष्ठित है ॥ ११ ॥

जैसे सुवर्णमें कटक आदि तथा जलमें तरङ्ग आदि दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही निर्मल, सन्मात्रस्वरूप परमात्मामें यह संसार-विभ्रम (जगद्विलास) दिखाई पड़ता है ॥ १२ ॥

जैसे जालमें फँसी हुई चिड़ियाँ भागनेमें असमर्थ होकर एकमात्र अपने पर फड़-फड़ाती रहती हैं, वैसे ही दृष्टिगोचर हो रहे इस संसाररूपी जालमें फँसी हुई चौदह प्रकारकी जीवजातियाँ छुटकारा पानेमें असमर्थ होकर आवश्यकतासे अधिक फुदक रही हैं यानी उछल-कूद मचा रही हैं ॥ १३ ॥

उन जीव-जातियोंके बीच पाञ्चभौतिक संसारमें श्रुति, स्मृति आदिसे वर्णित चरित्रवाले यम, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र आदि तत्-तत् लोकके अधिपति हो चुके हैं ॥ १४ ॥

चूँकि श्रुति, स्मृति और सदाचार से विहित होनेसे यह पुण्य है, इसलिए उपादेय है (ग्राह्य है) तथा श्रुति, स्मृति और सदाचार से निषिद्ध होनेसे यह पाप है, इसलिए हेय है यानी त्याज्य है—यों उन लोगोंने अपने-अपने अधिकारके अनुसार सङ्कल्पघटित ज्ञानसे मर्यादा बना रक्खी है ॥ १५ ॥

ठीक है ! ऐसा ही सही, पर इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'तस्या०' इत्यादिसे ।

भगवान् स यमः किञ्चिद्गते प्रतिचतुर्युगे ।
तपः प्रकुरुते भूतदलनात् पापशङ्कया ॥ १७ ॥
कदाचिदष्टौ वर्षाणि दश द्वादश वाऽपि च ।
कदाचित् पञ्च सप्तादि कदाचित् षोडशाऽपि च ॥ १८ ॥
उदासीनवदासीने तस्मिन्नियमसंस्थितौ ।
न हिनस्ति जगज्जाले मृत्युर्भूतानि कानिचित् ॥ १९ ॥
तेन नीरन्ध्रभूतौघनिःसञ्चारं महीतलम् ।
भवति प्रावृषि स्वेदी कुञ्जरो मशकैरिव ॥ २० ॥
अथैतानि विचित्राणि भूतानि बहुयुक्तिभिः ।
क्षिपयन्ति सुरा राम भुवो भारनिवृत्तये ॥ २१ ॥

हे अनघ, वक्ष्यमाण उस यमराजका चित्त सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर आजतक प्रवाहपतित अपने अधिकार-कर्ममें, पर्वतके सदृश अडिग होकर, ज्योंका त्यों अवस्थित है ॥१६ ॥

वे भगवान् यमराज, प्रतिचतुर्युगमें कुछ समय समाप्त हो जानेपर या द्वापरके अन्तमें—जीवोंके नाशसे जनित पापकी आशङ्का होनेसे—कदाचित् कुछ तपस्या भी करते हैं ॥ १७ ॥

यमराजकी उस तपस्यामें समयका नियम नहीं है, यह कहते हैं—'कदाचित्' इत्यादिसे ।

कभी तो आठ वर्ष, कभी दस अथवा बारह वर्ष, कभी पाँच या सात वर्ष और कभी सोलह वर्षतक भी वे तपस्या करते रहते हैं ॥ १८ ॥

उस यमराजके उदासीनके समान तपस्यामें आसीन रहनेपर संसाररूपी जालमें फँसे हुए किन्हीं भी जीवोंका मृत्यु नाश नहीं करती ॥ १९ ॥

उस समय किसी एक भी प्राणीकी हिंसा न होनेके कारण यह पृथिवी—वर्षा-ऋतुमें मच्छड़ोंसे पसीनेसे तराबोर हाथीके समान—अनेकविध जीव-समूहोंसे सञ्चारके अयोग्य बन जाती है ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर [जब यह पृथिवी प्राणियोंके भारसे दबने लगती है तब] उसपर पड़ी बोझकी निवृत्तिके लिए भगवान् कृष्णचन्द्र आदि सब देवता अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे यानी अपने अंशावतार तथा महाभारतकी लड़ाई आदि अनेक उपायोंसे इन विचित्र प्राणियोंको मार डालते हैं ॥ २१ ॥

एवं युगसहस्राणि व्यवहारशतानि च ।
समतीतान्यनन्तानि भूतानि च जगन्ति च ॥ २२ ॥
वैवस्वतोऽद्य तु यमो य एष पितृनायकः ।
अनेन त्वधुना साधो परिक्षीणेषु केषुचित् ॥ २३ ॥
युगेष्वघविघाताय वर्षाणि द्वादशात्मना ।
व्रतचर्येह कर्तव्या दूरास्तजनकर्पणा ॥ २४ ॥
तेनेयमुर्वी नीरन्ध्रा भूतैर्मर्त्यैरमृत्युभिः ।
दीना प्रपन्नगुल्मेव भारभूतैर्भविष्यति ॥ २५ ॥
भूर्भारपरिभूताङ्गी हरिं शरणमेष्यति ।
कान्ता दस्युपराभूता दीना पतिमिव प्रिया ॥ २६ ॥
हरिर्देहद्वयेनाऽथ महीमवतरिष्यति ।
देवांशैरखिलैः सार्धं नरनारायणं गतैः ॥ २७ ॥

और यह भार उतारनेके लिए अवतारादि-व्यवहार भी अनेकबार हो चुका है, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, इस तरह हजारों युग, सैकड़ों व्यवहार तथा अनन्त जीव एवं जगत् व्यतीत हो चुके हैं ॥ २२ ॥

हे साधो, यह जो वैवस्वत यम है, वह आज तो पितरोंका (मृतजीवोंका) नियामक है; [परन्तु] अब इसे भी किन्हीं युगोंके व्यतीत हो जानेपर [अपने] पापोंके विनाशके लिए बारह वर्षतक अहिंसादिघटित निर्विकल्पक समाधिरूप व्रतचर्या (तपश्चर्या) करनी पड़ेगी, जिसमें मनुष्योंका उत्पीडन कोसों दूर निकल जायगा यानी पापियोंका कोई दण्डदाता न रहेगा, यह भाव है ॥ २३, २४ ॥

उस व्रतचर्याके कारण यह पृथिवी मृत्युलोकमें आये हुए, भारस्वरूप, मृत्यु-रहित प्राणियोंसे व्याप्त वन-गुल्मोंसे सङ्कीर्ण-सी, अतएव दीन हो जायगी ॥ २५ ॥

उस समय मनुष्योंके भारसे परिपीडित अङ्गोंवाली यह दीन पृथिवी शरण पानेके लिए भगवान् विष्णुके समीप उस तरह आयेगी, जिस तरह लुटेरोंसे लूटी गई, अतएव कातर स्त्री अपने पतिके समीप आती है ॥ २६ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण देवांशोंके साथ, जो नर और नारायण के सहायतार्थ उत्पन्न होंगे, विष्णुभगवान् दो शरीरोंसे पृथिवीपर अवतार लेंगे ॥ २७ ॥

वसुदेवसुतस्त्वेको वासुदेव इति श्रुतः ।
देहो भविष्यति हरेर्द्वितीयः पाण्डवोऽर्जुनः ॥ २८ ॥
युधिष्ठिर इति ख्यातो धर्मपुत्रो भविष्यति ।
अम्भोधिमेखलाभूपः पाण्डोः पुत्रः स धर्मवित् ॥ २९ ॥
दुर्योधन इति ख्यातस्तस्य भ्राता पितृव्यजः ।
भविष्यति दृढद्वन्द्वो भीमो बभ्रुरहेरिव ॥ ३० ॥
अन्योऽन्यं हरतोरुर्वीं तयोः सङ्ग्रामलोलयोः ।
अष्टादशाऽऽत्राक्षौहिण्यो घटिष्यन्त्यत्र भीषणाः ॥ ३१ ॥
तत्क्षयेण विभारत्वं भुवो विष्णुः करिष्यति ।
राघवाऽर्जुनदेहेन बृहद्गाण्डीवधन्वना ॥ ३२ ॥
विष्णोरर्जुननामादौ प्राकृतं भावमास्थितः ।
हर्षामर्षान्वितो देहो नरधर्मा भविष्यति ॥ ३३ ॥

उनमें एक तो वसुदेवका पुत्र 'वासुदेव' इस नामसे विख्यात विष्णुका शरीर होगा और दूसरा शरीर होगा—पाण्डुका पुत्र 'अर्जुन' इस नामसे विख्यात ॥ २८ ॥

और, चारों समुद्ररूपी करधनी पहनी हुई पृथिवीका अधिपति एवं धर्मका पुत्र 'युधिष्ठिर' इस नामसे प्रसिद्ध होगा । वह पाण्डुपुत्र 'धर्मज्ञ' होगा ॥ २९ ॥

उसका चचेरा भाई 'दुर्योधन' नामसे विख्यात होगा । और उस दुर्योधनका वैसा ही प्रतिद्वन्द्वी योद्धा 'भीम' नामक द्वितीय पाण्डु-पुत्र होगा, जैसा सर्पका प्रतिद्वन्द्वी नकुल ॥ ३० ॥

परस्पर पृथ्वीका अपहरण कर रहे, युद्ध करनेमें तत्पर उन दोनोंकी भयङ्कर अट्ठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्रमें होनेवाली महाभारतकी लड़ाईमें इकट्ठी होगी ॥ ३१ ॥

हे राघव, महान् गाण्डीवधनुर्धारी अर्जुनकी देहसे उन सेनाओंको नष्टकर विष्णुभगवान् पृथ्वीको भारसे मुक्त कर देंगे ॥ ३२ ॥

युद्धके प्रारम्भमें अर्जुननामधारी भगवान्‌विष्णुका शरीर प्राकृत भावमें स्थित होकर हर्ष और शोक से युक्त मनुष्यधर्मा बनेगा यानी अज्ञप्राय हो जायगा ॥ ३३ ॥

सेनाद्वयगतान् दृष्ट्वा स्वजनान् मरणोन्मुखान् ।
विषादमेष्यत्युद्योगं युद्धाय न करिष्यति ॥ ३४ ॥
तमर्जुनाभिधं देहं प्राप्तकार्यैकसिद्धये ।
हरिर्बुद्धेन देहेन बोधयिष्यति राघव ॥ ३५ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ ३६ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नाऽयं हन्ति न हन्यते ॥ ३७ ॥

दोनों सेनाओंमें पहुँचे हुए और मरनेके लिए तैयार अपने बन्धुओंको देखकर वह अर्जुन विषादको प्राप्त होगा और न करेगा—युद्धके लिए उद्योग ॥ ३४ ॥

हे राघव, तब उस अर्जुननामक देहको, उपस्थित कार्यकी सिद्धिके लिए, श्रीविष्णुभगवान् स्वतःसिद्ध आत्मबोधवाली अपनी देहसे यानी श्रीकृष्ण-देहसे उपदेश देंगे ॥ ३५ ॥

उपदेशके प्रकारका ही विस्तारसे वर्णन करते हैं—'न जायते' इत्यादिसे।

यह अज आत्मा न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट ही होता है। [*आदि और अन्त के विकारोंका निषेध करनेपर प्रसक्त हुए मध्यतन चार विकारोंका अथवा भाविजन्म आदिका निषेध करते हैं—'नाऽयम्' से ।] यह न कभी जन्म पाकर पुनः अपने अस्तित्वको प्राप्त करता है और न कभी शरीरका खड्ग आदिसे छेदन करनेपर इसका छेदन ही होता है । यह अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है ॥ ३६ ॥

जो पुरुष उक्तस्वभाव अहंपदार्थ आत्माको हनन-क्रियाका कर्ता समझता है

---

*तात्पर्य यह है कि १—जन्म, २—स्थिति, ३—वृद्धि,४—विपरिमाण, ५—अपक्षय और ६—नाश—ये छः भावविकार हैं, जो ब्रह्ममें नहीं रहते । इसीलिए वह (आत्मा) नित्य, कूटस्थ, असङ्ग आदि कहा गया है । प्रस्तुत श्लोकमें यद्यपि 'अज' इस विशेषणसे ब्रह्ममें समस्तभावविकार-शून्यता अर्थतः सिद्ध हो जाती है; तथापि शब्दतः यहाँ प्रत्येक विकारका निषेध किया गया है । वहाँ 'न जायते' से पहले और 'न म्रियते' से अन्तिम भावविकारका ब्रह्ममें निषेध कर चुके; अब मध्यपतित चार भावविकारोंका निषेध करना भी प्रसङ्गप्राप्त है, जिसे 'नाऽयम्' से कर रहे हैं ।

अनन्तस्यैकरूपस्य सतः सूक्ष्मस्य खादपि ।
आत्मनः परमेशस्य किं कथं केन नश्यति ॥ ३८ ॥

अनन्तमव्यक्तमनादिमध्य-
मात्मानमालोकय संविदात्मन् ।
संविद्वपुः स्फारमलब्धदोष-
मजोऽसि नित्योऽसि निरामयोऽसि ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने नरनारायणावतारकथनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

और जो पुरुष इसे (अहंपदार्थ आत्माको) हनन-क्रियाका विषय मानता है—वे दोनों आत्माको तत्त्वतः नहीं जानते, क्योंकि आत्मा न तो मरता है और न मारा ही जाता है। उन दोनोंकी हन्तृ-हन्तव्यताविषयक भ्रान्तिमें अज्ञान ही निमित्त है, यह भाव है ॥ ३७ ॥

अनन्त, एकरूप, सदात्मक और आकाशसे भी अत्यन्त सूक्ष्म परब्रह्म परमात्माका किससे किस तरह क्या नष्ट होता है ? ॥ ३८ ॥

हे ज्ञानात्मक पार्थ, तुम अनन्त, आदि और मध्य से रहित एवं अव्यक्त अपने स्वरूपका अवलोकन करो। तुम अपरिच्छिन्न आकारवाले, अतएव किसी प्रकारके दोषको न प्राप्त किये हुए चैतन्यस्वरूप ही हो। यही कारण है कि तुम अज हो, नित्य हो और हो—निरामय यानी अज्ञान और उसके कार्य से निर्मुक्त ; अतः बन्धुओंमें आसक्ति और उनके मरण आदिकी सम्भावनासे दुःख करना तुम्हें उचित नहीं, यह भाव है ॥ ३९ ॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त



त्रिपञ्चाशः सर्गः

श्रीभगवानुवाच

अर्जुन त्वं न हन्ता त्वमभिमानमलं त्यज ।
जरामरणनिर्मुक्तः स्वयमात्माऽसि शाश्वतः ॥ १ ॥
यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ २ ॥

तिरपनवाँ सर्ग

[अहङ्कारका त्याग, सङ्कल्पत्याग आदिका लक्षण और दशाओंके भेदसे व्यवस्थित उपास्य और ज्ञेयका स्वरूप—इन सबका वर्णन]

'अपने बन्धुओंको मारनेवाला मैं हूँ' इस प्रकारका अहन्ताभिमान तथा 'ये मेरे ही बान्धव हैं' इत्यादिरूप ममताभिमान ही तुम्हारे सब दुःखोंके मूलकारण हैं, इसलिए सर्वप्रथम उन्हें ही तुम छोड़ दो, यह कहते हैं—'अर्जुन' इत्यादिसे ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन, यतः तुम जन्म-मरण आदि छः ऊर्मियोंसे निर्मुक्त हो, अतएव नित्य हो और अपने भाई-बन्धुओं तथा सम्पूर्ण भूतोंके स्वयं साक्षात् आत्मरूप हो, अतः तुम किसीको मारनेवाले नहीं हो । 'मैं हनन करनेवाला हूँ' इस प्रकारके अभिमानको भलीभाँति छोड़ दो ॥ १ ॥

अभिमान-त्यागका फल कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

वधादिप्रवृत्तिकालमें जिस पुरुषमें 'मैं इसे मारता हूँ' यों अभिमान नहीं होता और उसके (वधादिके) उत्तरकालमें जिसकी बुद्धि उसके फल हर्ष, शोक आदिसे लिप्त नहीं होती, वह पुरुष सम्पूर्ण चतुर्विध भूतजातियोंको मारकर भी किसी एकको भी नहीं मारता; क्योंकि सर्वत्र वधादि विकारके स्पर्शसे रहित शाश्वत एकात्मतत्त्व अविकारी ही है तथा मायामात्र होनेसे देह आदिके सदा असद्रूप होनेके कारण ही वन्ध्यापुत्रकी नाईं वधमें उसकी प्रसक्ति नहीं है। इसलिए ईश्वरके समान तत्प्रयुक्त पापफलसे भी वह निबद्ध नहीं होता, यह भाव है ॥ २ ॥

यैव सञ्जायते संविदन्तः सैवाऽनुभूयते ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इत्यन्तः संविदं त्यज ॥ ३ ॥
अनयैव च युक्तोऽस्मि नष्टोऽस्मीति च भारत ।
अभितः सुखदुःखाभ्यामवशः परितप्यसे ॥ ४ ॥
स्वात्मांशैः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि भागशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ ५ ॥
चक्षुः पश्यतु कर्णश्च शृणोतु त्वक् स्पृशत्विदम् ।
रसना च रसं यातु काऽत्र कोऽहमिति स्थितिः ॥ ६ ॥

हन्तृत्वादि धर्मवाले देहादिमें तादात्म्य-भ्रम होनेसे ही देहके धर्म हन्तृत्वादिका आत्मामें प्रतिभास होता है, न कि स्वतः । अतः सबसे पहले उसीका त्यागकर दो, यह कहते हैं—'यैव' इत्यादिसे ।

हृदय-स्थित आत्मामें देहाद्यभिमानरूपा या और किसी दूसरी तरहकी जो ही बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है, वही अनुभूत होती है । अतः 'अयम्' यानी कार्यकरणसमूह, 'सोऽहम्' यानी मारनेवाला मैं, 'इदम्' यानी इस देह आदिके सम्बन्धी और 'तन्मे' यानी वे बन्धु आदि मेरे हैं, इस तरहकी अन्दर उत्पन्न हुई भ्रान्तिवृत्तिका त्याग कर दो ॥ ३ ॥

हे भारत, इसी बुद्धिवृत्तिके कारण 'मैं हन्तृत्वादि धर्मोंसे युक्त हूँ,' 'हन्तृत्वादि-प्रयुक्त पापोंसे मैं नष्ट हूँ' तथा 'अपने बन्धुओंके नाशादिरूप ऐहिक अनर्थों एवं नरकपात आदि पारलौकिक अनर्थों से मैं ग्रस्त हूँ' इत्यादि भ्रान्तियोंसे पराधीन होकर तुम चारों ओर सुख-दुःखोंसे परितप्त हो रहे हो ॥ ४ ॥

अंशोंके सदृश स्वात्माके परिच्छेदक होनेके कारण अंशरूप देह, इन्द्रिय आदि जो सत्त्वादि गुणोंके विकार हैं, एकमात्र उन्हींसे ये सारे कर्म विभागशः किये जाते हैं । परन्तु अहङ्कारसे विमोहित अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं ही करनेवाला हूँ' यों मानता है ॥ ५ ॥

विचार करनेपर तो रूपादि विषयोंमें आँख आदि इन्द्रियोंकी ही प्रवृत्ति है, न कि आत्माकी । इसलिए नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा किये गये कार्योंसे आत्मा कर्ता नहीं कहा जा सकता, इस आशयसे कहते हैं—'चक्षुः' इत्यादिसे ।

कलनाकर्मणि रते मनस्यपि महात्मनः ।
न कश्चिदत्राऽहमिति क्लेशभागे क एव ते ॥ ७ ॥
बहुभिः समवायेन यत्कृतं तत्र भारत ।
एकोऽभिमानदुःखेन हासायैव हि गृह्यते ॥ ८ ॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ९ ॥

आँखें देखा करें, कान सुना करें, ये त्वचाएँ स्पर्श किया करें और जिह्
रसास्वाद लिया करे, इनमें (चक्षुरादि-करणकार्यसमूहमें) मैं कौन हूँ ? अर्था
उनमें मद्रूप तो कोई है ही नहीं, अतः उनमें मुझे 'मैं' इस रूपसे स्थिति कर
युक्त नहीं है। तात्पर्य यह है कि चक्षु आदि कार्यकरणसंघात ही सब कुछ करनेवाल
है, उसमें मद्रूप कोई है ही नहीं; अतः 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान करना सर्वथ
अयुक्त है ॥ ६ ॥

इस मन आदि अन्तःकरणसंघातके सङ्कल्पादिरूप अपने कार्यमें तत्
रहनेपर भी 'उसमें मैं कोई नहीं हूँ' यों देख रहे तुम महात्माकी दृष्टिमें ऐ
कौन पदार्थ क्लेशभागमें प्रविष्ट है, जिसके विषयमें तुम शोक कर रहे हो
अर्थात् कोई है ही नहीं ॥ ७ ॥

किसी जनसमुदाय द्वारा कोई एक कार्य किया गया हो, वहाँपर उ
समुदायका हरएक पुरुष अपनेमें समुदायाभिमान कर यदि उस कार्यके विषयमें ज
शोक करता है तो उपहास्य हो जाता है, तब समुदायमें न रहनेवाला बाहरका को
यदि उस विषयमें शोक करे तो उसकी उपहास्यतामें कहना ही क्या ? इ
आशयसे कहते हैं—'बहुभिः' इत्यादिसे ।

हे भारत, बहुतोंने मिलकर एक साथ जिस कार्यका सम्पादन कि
हो, उसमें यदि किसी एकको 'मैंने ही किया है', यों अभिमानजन्य दुः
पकड़ लेता है तो वह हँसीके लिए ही होता है † ॥ ८ ॥

किञ्च, निरहङ्कारी पुरुषका फलकी अभिलाषासे रहित, कायिक, वाचिक औ
मानसिक कर्म चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानका उद्दीपक होनेसे परमपुरुषार्थके लि

† इस विषयमें कहा भी गया है कि समुदायसे जनित दुःखके लिए समुदायवर्ती कि
एकको शोच करना ठीक नहीं होता—'न सामवायिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति' ।

अहन्त्वविषचूर्णेन येषां कायो न मारितः ।
कुर्वन्तोऽपि हरन्तोऽपि न च ते निर्विषूचिकाः ॥ १० ॥

न क्वचिद्राजते कायो ममतामेध्यदूषितः ।
प्राज्ञोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि दुःशील इव मानवः ॥ ११ ॥

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।
यः स कार्यमकार्यं वा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ १२ ॥

इदं च ते पाण्डुसुत स्वकर्म क्षात्रमुत्तमम् ।
अपि क्रूरमतिश्रेयः सुखायैवोदयाय च ॥ १३ ॥

ही होता है। इसलिए हे अर्जुन, तुम्हें स्वधर्मस्वरूप युद्धसे दुःखप्रसक्ति नहीं है, यह कहते हैं—'कायेन' इत्यादिसे ।

योगी लोग (आरुरुक्षु या मुमुक्षु लोग) देहसे, मनसे, बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे भी फलकी अभिलाषाका त्यागकर आत्मशुद्धिके लिए कर्म करते हैं ॥९॥

जिसका शरीर अहन्तारूपी विषचूर्णसे मारणके लिए व्यापारित नहीं हुआ है, यानी बारबार मरणके हेतुभूत भोगोंमें लम्पट नहीं हुआ है, ऐसे रागादिरूपी हैजेसे निर्मुक्त योगी लौकिक एवं शास्त्रीय कर्म कर रहे तथा उसके आनुषङ्गिक फलका उपभोग कर रहे भी परमार्थतः न तो कर्म कर रहे हैं और न उसके फलका उपभोग ही कर रहे हैं ॥ १० ॥

प्राज्ञ होनेपर भी, अतिबहुज्ञानी होनेपर भी दुष्टप्रकृति पुरुष जैसे कहीं (लौकिक या शास्त्रीय व्यवहारोंमें) नहीं शोभता, वैसे ही ममतारूपी दोषसे दूषित शरीर कहीं (लौकिक या शास्त्रीय प्रसङ्गोंमें) नहीं शोभता यानी परम पुरुषार्थके समर्थ नहीं होता ॥ ११ ॥

जो ममतारहित, अहङ्कारसे शून्य, सुख और दुःख होनेपर हर्ष-विषादसे रहित तथा क्षमावान् है, वह अवश्यकर्तव्य (शास्त्रीय कर्म) अथवा अनवश्यकर्तव्य (लौकिक कर्म) कर रहा भी उनसे लिप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

हे पाण्डुपुत्र, तुम्हारा यह उत्तम क्षात्र कर्म यानी क्षत्रियोंके लिए शास्त्रविहित युद्धमें पीठ न दिखाना आदि अपना कर्म है। वह बन्धुवधरूप होनेसे क्रूर होता हुआ भी चित्तशुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञानादिरूप सुखका साधन तथा धर्म, यश, राज्य, स्वर्ग आदि अभ्युदयका साधन होनेसे अतिकल्याणरूप ही है ॥ १३ ॥

अपि कुत्सितमप्यन्यदप्यधर्ममयक्रमम् ।
श्रेष्ठं ते स्वं यथा कर्म तथेहाऽमृतवान् भव ॥ १४ ॥
मूर्खस्याऽपि स्वकर्मैव श्रेयसे किमु सन्मतेः ।
मतिर्गलदहङ्कारा पतिताऽपि न लिप्यते ॥ १५ ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
निःसङ्गस्त्वं यथाप्राप्तकर्मवान्न निबध्यते ॥ १६ ॥

तब तो बन्धुवधसे अतिरिक्त द्रोण, भीष्म, कृपाचार्य आदि गुरुजनोंका वधरूप जो कुत्सित कर्म है, वह भला मुझसे कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकारकी गुरुवधमें हुई अर्जुनकी अधर्मत्वशङ्काका सत्यशपथग्रहणपूर्वक आशीर्वाद देते हुए निवारण कर रहे भगवान् कहते हैं—'अपि' इत्यादिसे ।

और दूसरा भी यानी पूजनीय महानुभावोंके ऊपर उनके विरुद्ध शस्त्र उठाना आदि अधर्मप्रचुरक्रमसे युक्त कुत्सित भी तुम्हारा युद्धकर्म, जैसे यानी जिस सत्यस्वरूप शास्त्रप्रामाण्यसे श्रेष्ठ है, वैसे ही यानी उसी सत्यसे तुम इस युद्धमें अमरणधर्मा विजयी बन जाओ ॥ १४ ॥

जब अज्ञानीका भी स्वधर्म श्रेयके लिए है, तब तत्त्वज्ञानीको स्वधर्मसे नरकादि-प्रसक्ति तो किसी तरह हो ही नहीं सकती; पातित्यको उत्पन्न करनेवाले करोड़ों भी महापातक अहङ्काररहित पुरुषकी बुद्धिको लिप्त नहीं कर सकते, इस आशयसे कहते हैं—'मूर्खस्याऽपि' इत्यादिसे ।

जब मूर्खका भी अपना कर्म श्रेयके ही लिए है तब बुद्धिमान्के स्वकर्मके लिए तो कहना ही क्या ! अहङ्कारसे निर्मुक्त बुद्धिमान्की बुद्धि तो पतित होनेपर भी महापातकोंसे लिप्त नहीं होती ॥ १५ ॥

किञ्च, राज्यलाभ आदि लोभप्रयुक्त युद्धमें 'लोभमूलानि पापानि रसमूलास्तथा-मयाः' इस न्यायसे कदाचित् अधर्मकी प्रसक्ति हो भी सकती है; परन्तु योगमें—जो कि सिद्धि और असिद्धि में समभाव रहना ही है—स्थित हुए योगीकी तो फलमें आसक्ति न रहनेसे प्रसक्ति ही नहीं है । इसलिए उस योगस्थितिका भगवान् उपदेश देते हैं—'योगस्थः' इत्यादिसे ।

हे धनञ्जय, ब्रह्मभावापन्न होकर, सङ्गका त्यागकर तुम कर्मोंको करो, क्योंकि आसक्तिरहित होकर यथाप्राप्त कर्म करनेवाला उनके फलोंसे निबद्ध नहीं होता ॥ १६ ॥

शान्तब्रह्मवपुर्भूत्वा कर्म ब्रह्ममयं कुरु।
ब्रह्मार्पणसमाचारो ब्रह्मैव भवसि क्षणात् ॥ १७ ॥
ईश्वरार्पितसर्वार्थ ईश्वरात्मा निरामयः।
ईश्वरः सर्वभूतात्मा भव भूषितभूतलः ॥ १८ ॥
संन्यस्तसर्वसङ्कल्पः समः शान्तमना मुनिः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा कुर्वन् मुक्तमतिर्भव ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

सङ्गत्यागस्य भगवंस्तथा ब्रह्मार्पणस्य च।
ईश्वरार्पणरूपस्य संन्यासस्य च सर्वशः ॥ २० ॥

अथवा ब्रह्मार्पणबुद्धिसे, जिसका लक्षण आगे चलकर किया जायगा, सम्पादित हुआ वह शास्त्रीय कर्म तुम्हारे संसार-बन्धनके लिए नहीं होगा; यह कहते हैं—'शान्त०' इत्यादिसे।

शान्त ब्रह्मशरीर होकर कर्मको ब्रह्ममय कर दो। अपने सत्कर्मोंको ब्रह्मार्पण कर देनेपर तुम शीघ्र ब्रह्म ही हो जाओगे ॥ १७ ॥

निर्विशेष ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानसे अथवा उसकी असामर्थ्यमें (निर्विशेष ब्रह्मके तत्त्वज्ञानमें समर्थ न होनेपर) सगुण ईश्वरके प्रति कर्म-समर्पणबुद्धिसे कर्म करो। उससे भी कर्मबन्ध नहीं होगा, यह कहते हैं—'ईश्वरा०' इत्यादिसे।

पार्थ, शुभ या अशुभ रूप अपने सब अर्थोंको ईश्वरमें समर्पित कर तथा अपनी आत्माको भी ईश्वरमें समर्पित कर निरामय (सांसारिक सुख, दुःख, राग, द्वेष, आदिरूप व्याधियोंसे रहित) होते हुए एवं सर्वभूतोंकी आत्मा बनकर इस भूतलको विभूषित करते हुए तुम ईश्वर हो जाओ ॥ १८ ॥

अथवा, सर्वसङ्कल्पत्यागरूपी संन्यासयोगमें आत्माको लगा देनेसे भी तुम्हें कर्मबन्धनकी प्रसक्ति नहीं होगी, यह कहते हैं—'संन्यस्त०' इत्यादिसे।

अर्जुन, तुम सभी सङ्कल्पोंका त्याग कर चुके, इसलिए अब समस्वरूप, शान्तचित्त मुनि बनकर कर्मफलत्यागरूपी संन्यासयोगमें आत्माको युक्त करके कर्म कर रहे तुम मुक्तमति हो जाओ ॥ १९ ॥

इस तरह उपदेश प्राप्त कर चुके अर्जुन, तत्-तत् लक्षणोंसे सङ्ग और त्याग आदिका विभाग जाननेके इच्छुक होकर, पूछते हैं—'सङ्गत्यागस्य' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

तथा ज्ञानस्य योगस्य विभागः कीदृशः प्रभो ।
क्रमेण कथयैतन्मे महामोहनिवृत्तये ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सर्वसङ्कल्पसंशान्तौ प्रशान्तघनवासनम् ।
न किञ्चिद्भावनाकारं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ २२ ॥
तद्‌द्योगं विदुर्ज्ञानं योगं च कृतबुद्धयः ।
ब्रह्म सर्वं जगदहं चेति ब्रह्मार्पणं विदुः ॥ २३ ॥
अन्तःशून्यं बहिःशून्यं पाषाणहृदयोपमम् ।
शान्तमाकाशकोशाच्छं न दृश्यं न दृशः परम् ॥ २४ ॥

अर्जुनने कहा—भगवन्, सङ्ग-त्यागका, ब्रह्मार्पणका, ईश्वरार्पणरूपका, सर्वथा संन्यासका तथा ज्ञान और योग का विभाग कैसा है ? । हे प्रभो, मेरे महामोहकी निवृत्तिके लिए यह सब क्रमशः कहिए ॥ २०, २१ ॥

तत्त्वपरिज्ञानके बिना आत्यन्तिक सङ्गत्याग नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी लक्षण द्वारा पहले ब्रह्मात्मतत्त्वका ही निर्देश करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—सब सङ्कल्पोंकी (कामनाओंकी) संशान्ति हो जानेपर सघन वासनाओंसे रहित, अतएव भावना करने योग्य कुछ भी रूप न रखनेवाला जो विशुद्ध चिन्मात्रतत्त्व है, वही परब्रह्म कहा गया है ॥ २२ ॥

ब्रह्माकारसे परिपूर्ण चित्तकी वृत्तिको, जो कि अज्ञानकी निवृत्तिरूप फलसे उपहित है, परिपक्व बुद्धिवालोंने ज्ञान कहा है। और अज्ञाननिवृत्त्युपहित ब्रह्माकारके अनुकूल प्रवाहमात्रस्वरूप चित्तवृत्तिको तो योग कहा है । [अभिमानके विषय जगत् और अभिमान करनेवाले अहङ्कार का ब्रह्ममें बाध ही मुख्य ब्रह्मार्पण है, यह कहते हैं,—'ब्रह्म' से ।] तथा 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है', और 'मैं ब्रह्मरूप हूँ'—इस प्रकारके बाधको ब्रह्मार्पण कहा है ॥ २३ ॥

ब्रह्ममें जगत् और अहङ्कार—इन दोनोंके बाधकी उपपत्तिके लिए उसमें अध्यस्तता कहनेके लिए ब्रह्मस्वरूप कहते हैं—'अन्तःशून्यम्' इत्यादिसे ।

वह ब्रह्म भीतर शून्य है, बाहर भी शून्य है और उसकी उपमा पत्थरके हृदयसे दी जा सकती है । वह शान्तस्वरूप है, आकाश-कोशके समान अत्यन्त

तत ईषद्युदुत्थानमीषदन्यतयोदितम् ।
स जगत्प्रतिभासोऽयमाकाशमिव शून्यता ॥ २५ ॥
भावोऽहमिति कोऽप्येष प्रत्येकमुदितश्चितेः ।
कोटिकोट्यंशकलितः क इवैनं प्रति ग्रहः ॥ २६ ॥
अपृथग्भूत एवैष पृथग्भूत इव स्थितः ।
पृथक्त्वं हि न पर्यन्तो नाऽहमित्यवगच्छति ॥ २७ ॥

स्वच्छ है। वह दृश्यस्वरूप नहीं है [सम्पूर्ण दृश्योंका निषेध हो जानेपर दृश्य-स्वरूप होनेके कारण द्रष्टाका भी निषेध क्यों नहीं होगा ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—'न दृशः परम्' से ।] और न है द्रष्टासे अलग। द्रष्टामें दृश्यताका निषेध उस समय हो सकता, जब द्रष्टाके अतिरिक्त कोई दूसरा द्रष्टा होता, वह तो है नहीं, यह भाव है ॥ २४ ॥

तादृशस्वभाव ब्रह्मसे कुछ दूसरे रूपसे उदित जो कुछ थोड़ा-सा समुत्थान है, वही यह जगत्का प्रतिभास है। और वह गन्धर्वनगरके आकाशकी नाईं शून्यस्वरूप ही है ॥ २५ ॥

संन्यास-वर्णनकी उपपत्तिके लिए ब्रह्ममें जगदारोपके समान ही ब्रह्मके अंशभूत प्रत्येक जीवमें अहंभावाध्यास मानना युक्त है। इसलिए इस विषयमें आग्रह करना ठीक नहीं जँचता, यह कहते हैं—'भावोऽ०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

'मैं' इस प्रकारका कोई एक अनिर्वचनीय भाव यानी अहङ्काराध्यास प्रत्येक जीवमें उत्पन्न हुआ है, जो चितिके करोड़ोंके करोड़ों अंशोंसे परिकल्पित है। इसके प्रति भला कौन-सा आग्रह ? ॥ २६ ॥

'मैं' इस प्रकारका यह अहम्भाव अपने अधिष्ठानस्वरूपब्रह्मसे वास्तवमें भिन्न है ही नहीं, केवल अज्ञानसे उससे भिन्न-सा स्थित जान पड़ता है; क्योंकि पृथक्त्व-का नाम है—परिच्छेद, और वह ब्रह्ममें है नहीं। और 'असद्रूप मैं नहीं हूँ,' यों सब कोई जानता है। ऐसी स्थितिमें अवगन्ता होनेसे पृथक्त्वकी उपपत्ति और पृथक्त्व होनेसे अवगन्ताकी उपपत्ति—इन दोनोंमें किसी एकके त्यागमें उपपत्ति-रहित पृथक्त्वका ही अवश्य त्याग कर देना चाहिए, यह भाव है ॥ २७ ॥

यथेहाऽहं तथेहाऽस्ति घटादीहाऽपि मर्कटः ।
स्वमीहैवं तथाऽम्भोधिः किमहन्तां प्रति ग्रहः ॥ २८ ॥
विकल्पभेदे स्फुरिते संवित्सारमयात्मनि ।
वैचित्र्येण विचित्रेऽपि किमेकत्वेऽपि नो ग्रहः ॥ २९ ॥
इति ज्ञातविभागस्य बुद्धौ तस्य परिक्षयः ।
कर्मणां यः फलत्यागस्तं संन्यासं विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥
त्यागः सङ्कल्पजालानामसंसङ्गः स कथ्यते ।
समस्तकलनाजालस्येश्वरत्वैकभावना ।
गलितद्वैतनिर्भासमेतद्देवेश्वरार्पणम् ॥ ३१ ॥

अहन्ताके विषयमें कहा गया न्याय घटादि विषयोंमें होनेवाले ममताभावमें भी लगाना चाहिए, यह दिखलाते हुए तन्मूलभूत अहन्ताध्यासके त्यागको ही दृढ़ करते हैं—'यथेहाऽहम्' इत्यादिसे ।

जैसे अहंभाव प्रत्यक्चैतन्यसे पृथक् नहीं है, वैसे ही प्रत्यक्चेतनसे घटादि-विषयोंमें होनेवाला ममताभावरूप बन्दर भी पृथक् नहीं है । ऐसी परिस्थितिमें दोनों प्रकारके भाव, सागरके समान, पूर्ण ब्रह्मरूप ही हैं; इसलिए अहन्ताके प्रति आग्रह ही क्या ? यानी अहन्ताका आग्रह युक्त नहीं है ॥ २८ ॥

किञ्च, जब तद्-तद् विषयोंकी विचित्रतासे चित्र-विचित्र होकर अहं तथा मम-तादि स्वरूप सम्पूर्ण विकल्पभेदोंका स्फुरण होता है, तब उनकी सत्ताकी स्फूर्तिमें निमित्त, तीनों अवस्थाओंमें अनुगत, एकमात्र संवित्सारस्वभाव एवं सब विकल्पोंके आगम और अपाय में साक्षी होकर स्थित रहनेवाले प्रत्यगात्मामें एकत्वका भी स्फुरण होता ही है । ऐसी अवस्थामें उसमें भी आग्रह करना युक्त है, फिर वह क्यों नहीं किया जाता ? ॥ २९ ॥

उक्त रीतिसे विचारकर सार और असार के विभागका ज्ञान प्राप्त कर चुके पुरुषकी बुद्धिमें अहं और ममता के आग्रहका जो परिक्षय होता है, उसीसे सब फलोंमें अस्पृहारूप त्याग अर्थतः सिद्ध हो जाता है । उसे ही ज्ञानियोंने 'संन्यास' कहा है ॥ ३० ॥

और उससे सब सङ्कल्पोंका त्यागरूप असंसङ्ग सिद्ध होता है—यह प्रथम प्रश्नका भी उत्तर हो चुका, यह कहते हैं—'त्यागः' इत्यादिसे ।

अबोधवशतो भेदो नाम्नैवैषां चिदात्मनि ।
बोधात्मा किल शब्दार्थो जगदेकं न संशयः ॥ ३२ ॥

अहमाशा जगदहं स्वमहं कर्म चाऽप्यहम् ।
कालोऽहमहमद्वैतं द्वैतं चाऽहमहं जगत् ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

सङ्कल्पसमूहोंका जो त्याग है, वही असङ्ग (आसक्तिका अभाव) कहा गया है । [चौथे प्रश्नका उत्तर देते हैं—'समस्त०' से ।] सभी सङ्कल्प-विकल्प-समूहोंमें भेदावभासरहित जो ईश्वरमात्रकी एक भावना है—सभीके उपादान-कारण सर्वान्तर्यामी ईश्वर ही उस तरह कार्योंमें प्रवृत्त कराते हैं, यह सब व्यवहार उसीके विलास हैं, इस तरहकी जो ईश्वरमें तन्मयताकी भावना है—यही (उसमें सभी व्यवहारोंको समर्पित कर देना ही) ईश्वरार्पण कहा गया है ॥ ३१ ॥

इस चिदात्मामें अज्ञानके कारण इन जीव, जगत् आदिका नामसे ही भेद है, परमार्थतः यह नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् बोधात्मक है, अतः जगत् एक ब्रह्ममय ही है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ३२ ॥

उसे ही दृढ़ करनेके लिए भगवान् अपनी सर्वात्मक विभूतिका वर्णन करते हैं—'अहमाशा' इत्यादिसे ।

दिशाएँ मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, कर्मोंका आश्रय मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ । काल मैं हूँ, अद्वैत और द्वैत मैं हूँ तथा अद्वैत और द्वैतरूपी अपने पर और अपर दो रूप और उनसे नियम्य जगत् मैं ही हूँ ॥ ३३ ॥

यों दो रूपोंवाले मुझमें अधिकारके तारतम्यसे अपना मन लगाकर स्थित रहो, तादृश स्वरूपवाले मुझमें वैसे ही भक्त होओ यानी श्रवण, कीर्तन आदि नव प्रकारकी भक्तिसे युक्त होओ, ज्ञानयज्ञसे या कर्मयज्ञसे तादृशस्वरूप मेरे यजनशील होओ, उक्तस्वरूप मुझे नमस्कार करो और मेरी शरणमें रहो । कहे गये दोनों प्रकारोंसे भी मुझमें चित्त लगाकर साक्षात् या परम्परया स्वात्मभूत मुझको ही प्राप्त करोगे ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

द्वे रूपे तव देवेश परं चाऽपरमेव च ।
कीदृशं तत्कदा रूपं तिष्ठाम्याश्रित्य सिद्धये ॥ ३५ ॥

श्रीभगवानुवाच

सामान्यं परमं चैव द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ ।
पाण्यादियुक्तं सामान्यं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ ३६ ॥
परं रूपमनाद्यन्तं यन्ममैकमनामयम् ।
ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते ॥ ३७ ॥
यावदप्रतिबुद्धस्त्वमनात्मज्ञतया स्थितः ।
तावच्चतुर्भुजाकारदेवपूजापरो भव ॥ ३८ ॥
तत्क्रमात् संप्रबुद्धस्त्वं ततो ज्ञास्यसि तत्परम् ।
मम रूपमनाद्यन्तं येन भूयो न जायते ॥ ३९ ॥

यों भगवान्से कहे गये अर्जुन—उन दोनों रूपोंकी, उनकी प्राप्तिके लिए योग्य अधिकारकी और कालके विभागकी—जिज्ञासा करते हुए पूछते हैं—'द्वे रूपे' इत्यादिसे ।

अर्जुनने कहा—हे देवेश, आपके वे पर और अपर दो रूप कैसे हैं ? और अपनी सिद्धिके लिए किस समय किस रूपका आश्रयण कर मैं स्थित रहूँ ? ॥३५॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे पापशून्य अर्जुन, यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं—एक तो सामान्य रूप यानी सर्वजनसाधारण (सुबोध) और दूसरा परम उत्कृष्ट यानी अशुद्ध चित्तवालोंसे दुरधिगम्य । हाथ आदिसे युक्त, शङ्ख, चक्र, गदा, और पद्म धारण करनेवाला मेरा सामान्य रूप है और जो मेरा विकारवर्जित, अद्वितीय, आदि और अन्त से रहित परम रूप है; वह ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा आदि शब्दोंसे कहा जाता है ॥ ३६, ३७ ॥

पार्थ, जबतक तुम अप्रबुद्ध होकर अनात्मज्ञरूपसे स्थित हो तबतक तो चतुर्भुजाकार देवकी पूजामें ही तत्पर रहो ॥ ३८ ॥

तदनन्तर तुम चित्तशुद्धिक्रमसे संप्रबुद्ध होकर परम उत्कृष्ट, आदि और अन्त से रहित मेरे उस रूपको जान जाओगे, जिसके ज्ञानसे प्राणी इस संसारमें फिर उत्पन्न नहीं होता ॥ ३९ ॥

यदि वा वेद्यविज्ञातो भावस्तदरिमर्दन ।
तन्ममाऽऽत्मानमात्मानमात्मनश्चाशु संश्रय ॥ ४० ॥
इदं चाऽहमिदं चाऽहमिति यत्प्रवदाम्यहम् ।
तदेतदात्मतत्त्वं तु तुभ्यं ह्युपदिशाम्यहम् ॥ ४१ ॥
मन्ये साधुविबुद्धोऽसि पदे विश्रान्तवानसि ।
सङ्कल्पैरवमुक्तोऽसि सत्यैकात्ममयो भव ॥ ४२ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
पश्य त्वं योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ४३ ॥

हे अरिमर्दन, यह सगुण देवका भजन मैंने तुमसे चित्तशुद्धिके अभावकी संभावना करके ही कहा है । यदि तुम्हारा चित्त विज्ञानैकस्वभाव ब्रह्मके ज्ञान करनेके योग्य हो गया है यानी अपने चित्तको विशुद्ध हुआ मानते हो, तब तो मुझ ईश्वरकी आत्माको (पारमार्थिकस्वरूपभूत शोधित तत्पदार्थको) और अपनी आत्माको (शोधित त्वंपदार्थरूप आत्माको) एकरसकर अखण्ड परिपूर्णात्माका तत्काल आश्रयण करो अर्थात् इसका साक्षात्कार करके तन्निष्ठ हो जाओ ॥ ४० ॥

'मैं दिशास्वरूप हूँ' 'मैं जगद्रूप हूँ' इत्यादि विभूतियोंके उपदेशका भी उन-उन पदार्थोंके अधिष्ठानभूत स्व-स्वरूपके संशोधनमें ही तात्पर्य है, यह कहते हैं—'इदं चाऽहमिदम्०' इत्यादिसे ।

पार्थ, 'यह मैं हूँ' और 'यह भी मैं हूँ' इत्यादि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह सब इस अपरोक्ष आत्मतत्त्वका ही मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ ॥ ४१ ॥

मेरे उपदेशके ज्ञानसे तत्काल ही अपने स्वरूपमें तुम्हारी विश्रान्ति प्राप्त हो जायगी, यों उत्साहवृद्धिके लिए सिद्धवत् मानकर कहते हैं—'मन्ये' इत्यादिसे ।

हे अर्जुन, मैं समझता हूँ कि मेरे उपदेशसे तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके हो, ब्रह्मपदमें विश्रान्ति पा चुके हो और सर्व-सङ्कल्पोंसे भी मुक्त हो चुके हो । अब तुम सत्य एवं अद्वितीय आत्मस्वरूप होकर स्थित रहो ॥ ४२ ॥

पार्थ, योगसे युक्त अन्तःकरणवाले और चिरकालके योगाभ्याससे सर्वत्र सन्मात्रका साक्षात्कार करनेवाले ब्रह्मज्ञ होकर तुम सम्पूर्ण भूतोंमें अधिष्ठानरूपसे अनुगत आत्माको तथा उस आत्मामें अध्यस्त सम्पूर्ण भूतोंको देखो ॥ ४३ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं भजत्यैकत्वमात्मनः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ ४४ ॥
एकत्वं सर्वशब्दार्थ एकशब्दार्थ आत्मनः ।
आत्माऽपि च न सन्नाऽसद्वतो यस्याऽऽशु तस्य तत् ॥ ४५ ॥
त्रैलोक्यचेतसामन्तरालोको यः प्रकाशकः ।
अनुभूतिमुपारूढः सोऽहमात्मेति निश्चयः ॥ ४६ ॥

जो ब्रह्मज्ञ 'सब वह ब्रह्म ही है' यों ऐक्यका आश्रयणकर सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित आत्माको भजता है, वह सब प्रकारसे यानी समाधिवृत्ति या व्यवहारवृत्ति से स्थित रहता हुआ भी पुनः इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता ॥ ४४ ॥

स्वयं ही 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' इस श्लोकके तात्पर्यका वर्णन करते हैं— **'एकत्वम्'** इत्यादिसे ।

हे अर्जुन, सर्वशब्दका अर्थ है—एकत्व और वह एकशब्दार्थ आत्माका [स्वभाव है] । वह आत्मा भी 'न सत् है और न असत् है' यों जिस किसीको जब अनुभूत होता है तब शीघ्र ही उसे कैवल्य प्राप्त हो जाता है । तात्पर्य यह है कि जब सब भूतोंमें अधिष्ठानरूपसे स्थित आत्माको देखता है तब वह सर्वशब्दके अर्थ—अधिष्ठानस्वरूपसे अतिरिक्त दूसरेका लाभ न होनेसे—एकत्व ही होता है । वह एकशब्दार्थ प्रत्यगात्माके स्वभावमें पर्यवसित होता है । वह आत्मा भी न सत् है यानी न तीन मूर्तभूतोंके स्वभाववाला है और न असत् है यानी न अवशिष्ट दो सूक्ष्म भूतोंके स्वभाववाला है, किन्तु भूमानन्द चिदेकरसस्वभाव ही है । उस प्रकारके स्वभावसे युक्त आत्मा जिसके अनुभवपथमें आता है, उसे तत्क्षण ही यानी उस प्रकारकी ज्ञानोत्पत्तिके अव्यवहित उत्तरक्षणमें ही जन्म आदि विकारोंसे रहित, भूमानन्दस्वरूप कैवल्य प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

किसीके द्वारा अनुभूत न होनेसे उस आत्मामें प्रसक्त हुई अत्यन्त परोक्षताका निवारण करते हैं—**'त्रैलोक्य०'** इत्यादिसे ।

तीनों लोकोंके चित्तोंमें भीतर प्रकाश करनेवाला जो आलोक है और ज्ञानियोंकी अनुभूतिमें साक्षीरूपसे जो आरूढ है, वही अहंशब्दका लक्ष्य आत्मा है—यही निश्चय है यानी यथार्थ विचार है ॥ ४६ ॥

त्रैलोक्यपयसामन्तर्यो रसानुभवः स्थितः ।
गव्यानामब्धिजानां च सोऽयमात्मेति भारत ॥ ४७ ॥
अन्तः सर्वशरीराणां यः सूक्ष्मोऽनुभवः स्थितः ।
मुक्तोऽनुभवनीयेन सोऽयमात्माऽस्ति सर्वगः ॥ ४८ ॥
समग्रपयसामन्तर्यथा घृतमिव स्थितम् ।
तथा सर्वपदार्थानां देहानां संस्थितः परः ॥ ४९ ॥
सर्वाम्भोनिधिरत्नानां सबाह्याभ्यन्तरे यथा ।
तेजस्तथाऽस्मि देहानामसंस्थित इव स्थितः ॥ ५० ॥
यथा कुम्भसहस्राणां सबाह्याभ्यन्तरे नभः ।
जगत्त्रयशरीराणां तथाऽऽत्माऽहमवस्थितः ॥ ५१ ॥

हे भारत, तीनों लोकोंमें स्थित जलोंके भीतर जो रसानुभव विद्यमान है, गऊके विकारस्वरूप दूध आदिके भीतर जो रसानुभव स्थित है, लवण आदिके भीतर जो रसानुभव स्थित है तथा ईख, मधु आदिके भीतर जो रसानुभव स्थित है; वही इदंपदार्थ यानी यह आत्मा है—यही निश्चय है। तात्पर्य यह कि यों जो सबके अनुभवोंका विषय होता है, उसमें तो अत्यन्त परोक्षताकी प्रसक्ति ही नहीं है ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण शरीरोंके भीतर विषयसमूहोंसे निर्मुक्त, अतएव सूक्ष्मरूपसे जो अनुभव स्थित है, वही यह सर्वव्यापी आत्मा है ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण दूधोंके भीतर घी स्थित ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंके भीतर अधिष्ठानरूपसे और सम्पूर्ण देहोंके भीतर प्रकाशकरूपसे वह परमात्मा स्थित है ॥ ४९ ॥

दृष्टान्तों द्वारा आत्माकी देहके अन्दर स्थितिका विशदरूपसे वर्णन करते हैं—'सर्वाम्भोनिधि०' इत्यादिसे ।

जैसे समुद्रके सम्पूर्ण रत्नोंमें स्थित तेज बाहर और भीतर प्रकाश करता है, वैसे ही बाहर-भीतर प्रकाश करनेवाला तेजस्वरूप मैं देहोंके भीतर विद्यमान रहता हुआ भी अविद्यमान-सा हूँ ॥ ५० ॥

'असंस्थित इव' इस कथनका तात्पर्य, जो कि आत्माकी अलेपकता बतलाना ही है, अन्य दृष्टान्तों द्वारा विशदरूपसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

मुक्ताफलशतौघानां तन्तुः प्रोतवपुर्यथा ।
तथाऽयं देहलक्षाणां स्थित आत्माऽस्त्यलक्षितः ॥ ५२ ॥
ब्रह्मादौ तृणपर्यन्ते पदार्थनिकुरम्बके ।
सत्तासामान्यमेतद्यत्तमात्मानमजं विदुः ॥ ५३ ॥
तदीषत्स्फुरिताकारं ब्रह्म ब्रह्मैव तिष्ठति ।
अहन्तादि जगत्तादि क्रमेण भ्रमकारिणा ॥ ५४ ॥

जिस तरह हजारों घटोंके बाहर और भीतर आकाश स्थित है, उसी तीनों जगत्में स्थित शरीरोंके भी बाहर और भीतर मैं स्थित हूँ। तात्पर्य य कि उन घटोंके बाहर और भीतर स्थित होता हुआ भी आकाश जैसे अ ही है, वैसे ही शरीरोंके बाहर और भीतर स्थित हुआ आत्मा भी अ ही है ॥ ५१ ॥

समस्त देहोंके भीतर स्थित होकर अन्तर्यामीरूपसे उनका विधारक हो भी वह (आत्मा) अलक्ष्य ही है, इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं—'मुक्ताफ इत्यादिसे।

सैकड़ों मोतियोंके समूहोंके छिद्रोंमें स्थित प्रोत-आकारवाला तन्तु लक्षित नहीं होता, वैसे ही लाखों देहोंके भीतर स्थित यह आत्मा ल नहीं होता ॥ ५२ ॥

वहाँ अधिष्ठानरूपसे निर्विकार आत्माकी जो स्थिति है, वही रूपता है और वही त्रिकालाबाधित सत्य है। और जो मोतियोंमें तन्तुकी अन्तर्यामीरूपसे स्थिति है तथा जो रत्नोंमें प्रभाकी नाईं प्रकट जीवरूपसे स्थिति अध्यस्त पदार्थोंकी अपेक्षा करनेवाली वे दोनों स्थितियाँ जागतिक व्यवहा सञ्चालनके लिए ही कल्पित हैं। इसलिए यथार्थमें न कोई मारनेयोग्य है मारनेवाला है, न मरणप्रयुक्त (हिंसाप्रयुक्त) पाप है और न कोई स्वात्म अतिरिक्त उसका (हिंसाप्रयुक्त पापका) फलदाता ही है; इस आशयसे क हैं—'ब्रह्मादौ' इत्यादि तीन श्लोकोंसे।

ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जितना भी पदार्थ-समूह है, उसमें सत्तासामा रूपसे जो स्थित है; विद्वान् लोग उसे ही नित्य आत्मा जानते हैं ॥ ५३ ॥

इसलिए नैकविध भ्रमोत्पादक अज्ञानसे क्रमशः अहन्ता आदि तथा जग

आत्मैवेदं जगद्रूपं हन्यते हन्ति वाऽत्र किम् ।
शुभाशुभैर्जगद्दुःखैः किमस्याऽर्जुन लिप्यते ॥ ५५ ॥
प्रतिबिम्बेष्विवाऽऽदर्शसमं साक्षिवदास्थितम् ।
नश्यत्सु न विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ ५६ ॥
इदं चाऽहमिदं नेति इतीदं कथ्यते मया ।
एवमात्माऽस्मि सर्वात्मा मामेवं विद्धि पाण्डव ॥ ५७ ॥

आदिसे युक्त किञ्चित् स्फुरित आकारवाला वह ब्रह्म ब्रह्मरूपसे ही स्थित रहता है, अन्यरूपसे नहीं ॥ ५४ ॥

चूँकि यह जगद्रूप आत्मा ही है, अतः 'यह मारा जाता है' या 'यह मारता है' इसमें विषय ही क्या है ? अर्थात् न कोई मारता है या न कोई मारा ही जाता है। हे अर्जुन, शुभ एवं अशुभ स्वरूप जगत्के दुःखोंसे इसका क्या लिप्त होता है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ ५५ ॥

अध्यस्त हुए वधादि दोषोंसे आत्मा लिप्त नहीं होता, इसमें दूसरा दृष्टान्त बतलाते हैं—'प्रतिबिम्बे०' इत्यादिसे ।

प्रतिबिम्बोंके सदृश नष्ट हो रहे पदार्थोंमें दर्पण-सदृश यानी प्रतिबिम्बोंके नष्ट होनेपर भी दर्पणकी नाईं साक्षिस्वरूपसे स्थित आविनाशी आत्माको जो देखता है, वही सम्यग्दर्शी है ॥ ५६ ॥

समस्त देहोंमें 'मैं' यों भासमान चिदंश ही अहंपदार्थ है, जड़स्वरूप देह, इन्द्रिय विषयांश अहंपदार्थ नहीं है—यह विभागोक्ति भी दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुए दूसरे अनेक दर्पणों और घटादिकों में व्यावृत्त दर्पणस्वरूपका परिचय करानेके लिए दर्पण-अदर्पण-विभागोक्तिकी नाईं ही है, यह कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

हे पाण्डुनन्दन, 'समस्त शरीरोंमें प्रकाशमान चेतनांश ही मैं हूँ' और 'देह, इन्द्रिय आदि जड़ अंश मैं नहीं हूँ'—इस प्रकारका अर्थविभाग और शब्द-विभाग जो मुझसे कहा जाता है, वह दर्पणस्वरूपका परिचय करानेके लिए दर्पणादर्पणविभागकथनके सदृश आत्मस्वरूपका परिचय करानेके लिए ही कहा जाता है। दर्पणके सदृश लिप्त न होनेवाला अद्वितीय आत्मरूप मैं सर्वात्मा हूँ । उसी तरहका तुम मुझे तत्त्वतः जानो ॥ ५७ ॥

इमाः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
आत्मन्यहन्ताचित्तस्थाः पयःस्पन्दा इवाऽम्बुधौ ॥ ५८ ॥
यथोत्पलत्वं शैलानां दारुत्वं च महीरुहाम् ।
तरङ्गाणां जलत्वं च पदार्थानां तथाऽऽत्मता ॥ ५९ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ६० ॥
नानाकारविकारेषु तरङ्गेषु यथा पयः ।
कटकादिषु वा हेम भूतेष्वात्मा तथाऽर्जुन ॥ ६१ ॥
नानातरङ्गवृन्दानि यथा लोलानि वारिणि ।
कटकादीनि वा हेम्नि भूतान्येवं परात्मनि ॥ ६२ ॥
पदार्थजातं भूतानि बृहद्ब्रह्म च भारत ।
एकमेवाऽखिलं विद्धि पृथक्त्वं न मनागपि ॥ ६३ ॥

अर्जुन, ये अहमभिमानवाले चित्तमें रहनेवाली सृष्टि-प्रलयात्मक सब तरहकी क्रियाएँ वास्तवमें आत्मामें ऐसे प्रवृत्त होती हैं, जैसे समुद्रमें जलका तरङ्गादिस्पन्दन क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं ॥ ५८ ॥

जिस प्रकार पर्वतोंका पारमार्थिक स्वरूप पाषाणता ही है, वृक्षोंका स्वरूप काष्ठता ही है और तरङ्गोंका स्वरूप जलता ही है; उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंका पारमार्थिक स्वरूप आत्मता ही है ॥ ५९ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें अधिष्ठानरूपसे स्थित आत्माको, उस आत्मामें अध्यस्तरूपसे स्थित सम्पूर्ण भूतोंको तथा अकर्ता आत्माको यानी प्रतिबिम्बोंकी चित्र-विचित्र चेष्टाओंसे अलिप्त दर्पणकी नाईं कर्तृत्व आदि धर्मोंसे शून्य आत्माको जो देखता है, वही ब्रह्मका साक्षात्कार करता है ॥ ६० ॥

हे अर्जुन, नाना प्रकारके आकारों एवं विकारों वाले तरङ्गोंमें जैसे जल अनुगत है या कटक आदिमें सुवर्ण अनुगत है, वैसे ही विविध प्रकारके समस्त भूतोंमें आत्मा भी अनुगत है ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार जलमें नाना प्रकारके चञ्चल तरङ्गसमूह रहते हैं या सुवर्णमें कटक आदि रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मामें ये समस्त भूत भी रहते हैं ॥ ६२ ॥

हे भारत, भूत आदि सम्पूर्ण पदार्थ और बृहत् ब्रह्म—इन सबको, दर्पण

किं तद्भावविकाराणां गम्यमस्ति जगत्रये ।
क ते वाऽपि जगत्किं वा किं मुधा परिमुह्यसि ॥ ६४ ॥
इति श्रुत्वाऽभयं त्वन्तर्भावयित्वा सुनिश्चितम् ।
जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह सन्तः समरसाशयाः ॥ ६५ ॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने अर्जुनोपदेशो नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

तथा उसमेंके प्रतिबिम्ब की नाईं, एकरूप ही जानो; इनमें लेशमात्र भी पृथक्त्व नहीं है ॥ ६३ ॥

हे पार्थ, तीनों जगत्में जब एकमात्र निर्विकार ब्रह्म ही है, तब जन्म आदि भावविकारोंका आश्रयभूत दूसरा क्या है ? अथवा तुम्हारे बन्धुवध आदि भावविकार भी कहाँ है ? किंवा यह जगत् भी ब्रह्मको छोड़कर दूसरा क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं है । अतः तुम व्यर्थ ही इनमें मोह क्यों करते हो ? ॥ ६४ ॥

इस प्रकारके उपदेशोंको सुनकर और निश्चयपूर्वक भीतर अभय ब्रह्मकी भलीभाँति भावनाकर समचित्त महात्मा लोग जीवन्मुक्त होकर इस व्यवहार-भूमिमें विचरण करते हैं ॥ ६५ ॥

वक्ष्यमाण लक्षणोंसे युक्त उन जीवन्मुक्तोंको विदेहन्मुक्ति भी प्राप्त होती है, इस आशयसे कहते हैं—**'निर्मानमोहाः'** इत्यादिसे ।

हे पार्थ, मान और मोह से रहित, बाहरके विषयोंमें आसक्तिशून्य, आत्म-ज्ञानमें निरत, विषयवासनाओंसे रहित, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वोंसे निर्मुक्त तथा 'अहम्' 'मम' इत्यादि भेद-प्रत्ययोंसे शून्य अमूढमति महात्मा उस अविनाशी परम-पदको प्राप्त होते हैं ॥ ६६ ॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चतुःपञ्चाशः सर्गः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
मात्रास्पर्शा हि कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ २ ॥

चौवनवाँ सर्ग

[सुख, दुःख आदिके सम्बन्धमें हेतु, उनसे छुटकारा पानेका उपाय, तथा जिसके अवलम्बनसे उनसे छुटकारा होता है—इन सबका वर्णन]

'सुख, दुःख आदि द्वन्द्वोंसे विनिर्मुक्त महात्मा ब्रह्मपद पाते हैं' यह जो पहले कहा गया है, उसमें द्वन्द्वोंके सम्बन्धमें कारण क्या है ? उनसे छुटकारा पानेका उपाय क्या है ? तथा किसके अवलम्बनसे छुटकारा होता है ? इन सब आशङ्काओंका परिहार करते हुए आत्मतत्त्वका उपदेश देनेकी इच्छावाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी कहते हैं—'भूय एव' इत्यादिसे ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे महाबाहो, फिर मेरे उत्तम वचन सुनो, जिन्हें प्रेमसे सुननेकी इच्छा कर रहे तुमसे मैं केवल कल्याणकी कामनासे कहता हूँ ॥ १ ॥

उसमें पहले 'विषय ही सुख-दुःखरूप हैं' यों अभेद-भ्रमका निरास कर रहे भगवान् कहते हैं—'मात्रास्पर्शाः' इत्यादिसे ।

हे कौन्तेय, इन्द्रियोंके विषयसम्बन्ध ही शीतोष्णादि अनुभवोंसे जनित सुख-दुःख देते हैं। हे भारत, वे इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध सदा उत्पद्यमान और विनश्यमान हैं, अतः उन्हें तुम सहो । [यहाँ शीत और उष्ण शब्द दृष्टान्तार्थक हैं यानी ग्रीष्मकालमें शीत सुखद है और उष्ण दुःखद है ; शिशिरकालमें उष्ण सुखद और शीत दुःखद हैं; इसलिए विषय कभी सुख-दुःखरूप नहीं हो सकते । इसी तरह 'तितिक्षस्व' यह शब्द वैराग्यका भी उपलक्षण है। इससे निष्कर्ष यही निकला कि प्रिय विषयोंसे विरक्त हो जाओ और अप्रिय विषयोंको सहो] ॥ २ ॥

ते तु नैकात्मनश्चाऽन्ये क्वाऽतो दुःखं क्व वा सुखम् ।
अनाद्यन्तेऽनवयवे कुतः पूरणखण्डने ॥ ३ ॥
संस्थिता स्पर्शमात्राख्या मात्रास्पर्शभ्रमात्मकः ।
समदुःखसुखो धीरः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥
सर्वत्वादात्मनश्चैते सुभेदाः संस्थिता इव ।
असद्रूपास्त्वसद्रूपं कथं सोढुं न शक्यते ॥ ५ ॥

जिस बुद्धिसे वैराग्य और तितिक्षा—ये दोनों सिद्ध होते हैं, उसे कहते हैं—'ते तु' इत्यादिसे ।

इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंका विषयसंसर्ग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व या इनसे भिन्न जो कुछ भी हैं वे सबके सब अद्वय, पूर्णानन्दस्वभाव स्वात्मासे तनिक भी पृथक् नहीं हैं । अतः उस प्रकारके सर्वत्र आत्मदर्शनसे कहाँ सुख और कहाँ दुःख होगा ? [किञ्च, 'प्रियतम धन आदि सम्पत्तिसे मैं परिपूर्ण हूँ' इस भ्रान्तिसे आभिमानिक सुख और उसके वियोगमें या अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें 'मैं खण्डित हुआ' इस भ्रान्तिसे दुःख हो सकता है, परन्तु वह भी निरवयव आत्मामें पूरण और खण्डन का असंभव ज्ञात होनेपर निवृत्त हो जाता है, यह कहते हैं—'अनाद्यन्ते' से ।] आदि-अन्तसे शून्य तथा अवयवरहित स्वात्मामें पूरण और खण्डन कैसे हो सकता है ? ॥ ३ ॥

जिस महामतिकी विषयों और इन्द्रियों में सत्यता-भ्रान्ति उपशान्त हो जाती है, वह इन्द्रियविषयभ्रमात्मक जीव तत्त्वदर्शी और तुल्यसुख-दुःख होकर अमृतपदके लिए योग्य हो जाता है ॥ ४ ॥

यदि शङ्का हो कि अप्रिय दुःख आदि अपने-अपने प्रतिकूलवेदनीयत्वस्वभावका जब परित्याग करें, तभी तो वे सह्य होंगे; परन्तु वे कैसे उसका परित्याग कर सकेंगे ? इसपर कहते हैं—'सर्वत्वा०' इत्यादिसे ।

निरतिशय आनन्दरससे परिपूर्ण आत्मा ही सब कुछ है, इसलिए सुख, दुःख आदि सब विषयभेद एक तरहसे सुभेदरूप यानी प्रियतम धन, पुत्र आदि-स्वरूप होकर ही अवस्थित हैं । उन द्वन्द्वोंमें पूर्व-कालीन जो प्रतिकूल-वेदनीयत्व है, उस रूपसे तो वे असत्स्वरूप ही हैं, इसलिए वे क्यों नहीं सहे जा सकेंगे अर्थात् सहे ही जा सकेंगे ॥ ५ ॥

मनागपि न विद्येते सुखदुःखे तु सर्वशः ।
सर्वत्वादात्मतत्त्वस्य सत्ता कथमनात्मनः ।। ६ ।।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
नाऽस्त्येव सुखदुःखादि परमात्माऽस्ति सर्वगः ।। ७ ।।
सत्त्वासत्त्वमती त्यक्त्वा चैतयोर्जगदात्मनोः ।
त्यक्त्वा न किञ्चिन्मध्ये च शेषे बद्धपदो भव ।। ८ ।।

उसीका स्पष्टीकरण कर समर्थन करते हैं—'मनागपि' इत्यादिसे ।

सभी तरहसे सुख-दुःखोंका अस्तित्व तनिक भी नहीं है । आत्मतत्त्व ही तो सर्वस्वरूप है । इसलिए हे भद्र, अनात्माकी सत्ता कैसे होगी ? ।। ६ ।।

असत् भी सुख, दुःख आदि आत्मामें उत्पन्न होते हैं, क्योंकि असत्का अपने कारणमें समवाय, अपनी सत्ताका सम्बन्ध अथवा आद्यक्षणसम्बन्ध ही उत्पत्ति-पदार्थ है, इस तरहकी कणादोक्तिका खण्डन करते हैं—'नाऽसतः' इत्यादिसे ।

दुःख आदि असत् पदार्थोंकी सत्ता नहीं रहती और आत्मरूप अबाधित सत्-वस्तुकी असत्ता नहीं रहती । सत् और असत् वस्तुओंका यही स्वभाव है, विपरीत नहीं; यह वाचारम्भणश्रुतिसे निश्चित है । इस विषयमें यदि यह शङ्का हो कि सब विकार असद्रूप होंगे तो पिण्ड आदिमें से किसी एक विकारसे अस्पृष्ट मृत्तिकारूप प्रकृतिके न दीख पड़नेके कारण उसे भी असद्रूप मानेंगे तो परिशेषमें शून्यतापत्ति हो जायगी, तो यह शङ्का युक्त नहीं है ? क्योंकि विकारोंमें अनुगत सद्बुद्धि निर्विषयक न हो सकनेके कारण स्वतः विकारोंके असत्त्वमें भी परिशेषमें शून्यता नहीं हो सकती । यदि अनुगत वस्तु असत् होती तो 'घटः असन्' यों घटादिमें असत्की अनुवृत्ति होती; परन्तु वह 'घटः सन्' यों सद्रूपसे अनुवृत्त होती है । इसलिए सन्मात्र ही परिशेषमें रहता है । जो विषयोंमें सदभिमान होता है, वह अधिष्ठानसत्ताको लेकर ही होता है, स्वतः नहीं; अतः दुःख आदिकी सत्ता नहीं है और व्यापक परमात्माकी ही सत्ता है ।। ७ ।।

जगत् सत्य है, और निरतिशय आनन्द-स्वरूप ब्रह्म असत्य है—इन बुद्धियोंको छोड़कर तथा जगत् एवं आत्मा के अन्तरालमें दोनोंके सङ्घट्टनमें हेतुभूत मन और तम को, तुच्छत्व-बुद्धिसे छोड़कर जो चिदात्मा अवशिष्ट रहता है, उसमें तुम प्रतिष्ठित हो जाओ ।। ८ ।।

न हृष्यति सुखैरात्मा दुःखैर्ग्लायति नोऽर्जुन ।
दृश्यदृक्चेतनात्माऽपि शरीरान्तर्गतोऽपि सन् ॥ ९ ॥
जडं चित्तादि दुःखस्य भाजनं देहतां गतम् ।
न चैतस्मिन् क्षते क्षीणे किञ्चिदेवाऽऽत्मनः क्षतम् ॥ १० ॥
जडं देहादि दुःखादेर्यदिदं भोक्तृ संस्थितम् ।
तन्मायाभ्रममेवाऽङ्ग विद्धयबोधवशोत्थितम् ॥ ११ ॥
न किञ्चिदेव देहादि न च दुःखादि विद्यते ।
आत्मनो यत्पृथग्भूतं किं केनाऽतोऽनुभूयते ॥ १२ ॥
यदिदं कथयाम्यत्र तेनैवाऽतो विनश्यति ।
भ्रान्तिर्दुःखमबोधोत्था सम्यग्बोधेन भारत ॥ १३ ॥

हे अर्जुन, यद्यपि आत्मा हर्ष, ग्लानि आदि दृश्य पदार्थोंका साक्षि-रूपसे साक्षात्कार करनेवाला चितिस्वरूप है और शरीरके अन्दर रहता भी है, तथापि वह सुखोंसे न तो हर्षित होता है और न दुःखोंसे ग्लान ही होता है। तात्पर्य यह है कि हर्ष आदि दृश्य पदार्थ द्रष्टाके धर्म नहीं हो सकते ॥ ९ ॥

तब फिर कौन दुःख, हर्ष आदिका भागी होता है ? इसपर कहते हैं—'जडम्' इत्यादिसे ।

पार्थ, शरीररूपताको प्राप्त हुए जड़स्वरूप चित्त आदि ही दुःखके भागी होते हैं। इन चित्त आदिके नष्ट या क्षीण होनेपर आत्माका कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥ १० ॥

प्रिय पार्थ, देह आदि दुःख प्रभृतिके भोक्तारूपसे जो यह चित्तादि-घटित जडताप्रधान जीवरूप अवस्थित है, उसे अज्ञानवश उत्पन्न मायाभ्रम ही तुम जानो ॥ ११ ॥

यतः आत्मासे पृथक्भूत देह आदि कुछ भी नहीं हैं और न दुःख आदि ही अपनी कुछ सत्ता रखते हैं, अतः कौन पदार्थ किसका अनुभव करेगा ? अर्थात् कोई किसीका अनुभव नहीं करेगा ॥ १२ ॥

हे भारत, चूँकि दृश्यमान यह दुःख ब्रह्मके अज्ञानसे जनित एक प्रकारकी भ्रान्ति ही है, अतः तत्त्वज्ञानसे वह नष्ट हो जाता है, इस विषयमें मैं तुम्हें दृष्टान्त बतलाता हूँ ॥ १३ ॥

यथा रज्ज्वामहिभयं बोधान्नश्यत्यबोधजम् ।
तथा देहादि दुःखादि बोधान्नश्यत्यबोधजम् ।। १४ ।।
विष्वग्विश्वमजं ब्रह्म न नश्यति न जायते ।
इति सत्यं परं विद्धि बोधः परम एष सः ।। १५ ।।
ब्रह्माम्बुधौ तरङ्गत्वं किञ्चिद्भूत्वा विलीयते ।
ब्रह्मावर्ते स्फुरस्यद्य ब्रह्मैवाऽसि निरामयम् ।। १६ ।।
यावत् कालक्रियादेशास्त्वमहं सैनिका इव ।
ब्रह्मणीव परिस्पन्दा नाऽत्र स्तः सदसद्भ्रमौ ।। १७ ।।
जहि मानं मदं शोकं भयमीहां सुखासुखे ।
द्वैतमेतदसद्रूपमेकः सद्रूपवान् भव ।। १८ ।।
पुरुषाक्षौहिणीनां च क्षयेणाऽनुभवात्मना ।
ब्रह्मणा बृंहितं शुद्धं ब्रह्म ब्रह्ममयं कुरु ।। १९ ।।

जिस प्रकार रज्जुके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ रज्जुमें सर्पभय रज्जुके यथार्थ-ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुए देह आदि एवं दुःखादि भय आत्माके तत्त्वज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं ॥ १४ ॥

वह बोध किस प्रकारका है ? यह कहते हैं—'विष्वग्' इत्यादिसे ।

यह विश्व नित्य एवं पूर्ण ब्रह्मरूप ही है, वह न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है, यही अकाट्य सत्य है, यह जानो और यही वह उत्तम बोध है ॥ १५ ॥

कौन्तेय, ब्रह्मरूपी महान् सागरमें कुछ तरङ्गरूप उत्पन्न होकर विलीन हो जाता है, आज बोधोदयकालमें ब्रह्मावर्तमें तुम स्फुरित हो रहे हो, तुम सर्वविध-विकारवर्जित ब्रह्मरूप ही हो, पृथक् नहीं ॥ १६ ॥

काल, क्रिया, देश, तुम, मैं आदि जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब उस सम्राट्के भी सम्राट् परब्रह्मके एक तरहके सैनिक हैं, वे सब ब्रह्मात्मामें एक तरहसे परिस्पन्दनरूप हैं, अतः आत्मामें भावाभावविकल्प हैं ही नहीं ॥ १७ ॥

अर्जुन, तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा, सुख, दुःख—यह सम्पूर्ण असद्रूप द्वैतप्रपञ्च छोड़ दो और एकमात्र अद्वितीय सद्रूप हो जाओ ॥ १८ ॥

तुम्हारे द्वारा किया जानेवाला अक्षौहिणी सेनाका विनाश भी ब्रह्मरूप ही है, अतः क्षयात्मना भी ब्रह्म ही उपबृंहित है, इसलिए तुम अनुभवरूप शुद्ध ब्रह्मको ही ब्रह्ममय कर दो ॥ १९ ॥

असंविदन्सुखं दुःखं लाभालाभौ जयाजयौ ।
शुद्धब्रह्मैकतां गच्छ ब्रह्माब्धिस्त्वं हि भारत ॥ २० ॥
लाभालाभसमो भूत्वा भूत्वा नूनं न किञ्चन ।
खण्डवात इवाऽस्पन्दी प्रकृतं कार्यमाचर ॥ २१ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्करिष्यसि कौन्तेय तदात्मेति स्थिरो भव ॥ २२ ॥
यन्मयो यो भवत्यन्तः स तदाप्नोत्यसंशयम् ।
ब्रह्मसत्यमवाप्तुं त्वं ब्रह्मसत्यमयो भव ॥ २३ ॥
अनपेक्षफलं ब्रह्म भूत्वा ब्रह्मेतिबाधितम् ।
क्रियते केवलं कर्म ब्रह्मज्ञेन यथागतम् ॥ २४ ॥

हे भारत, सुख, दुःख, लाभ, हानि, जय और पराजय किसीपर भी दृष्टि न देकर युद्ध कर रहे तुम एकमात्र ब्रह्मरूप हो जाओ, क्योंकि तुम अवश्य ब्रह्मरूप समुद्र हो ॥ २० ॥

लाभ और अलाभमें समबुद्धि होकर तत्त्वनिश्चयसे देहादिरूप न होकर, गुहापरिच्छिन्न वायुके सदृश, कम्पनशून्य होकर तुम उपस्थित कार्य करो ॥ २१ ॥

सब कुछ ब्रह्मरूप ही है, इस निश्चयमें स्थिर रहना ही समस्त कर्मोंको मेरे अर्पण करना है, इस आशयसे कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

हे कौन्तेय, जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ होमते हो, जो कुछ देते हो और भविष्यमें जो कुछ शास्त्रानुकूल अनुष्ठान करोगे; वह सब आत्मरूप ही है—इस प्रकारकी बुद्धिमें सुस्थिर हो जाओ ॥ २२ ॥

जो पुरुष अपने हृदयके भीतर जिस किसी आकारसे युक्त होता है यानी अपने चित्तमें जिस स्वरूपकी दृढ भावना कर लेता है, वह निःसंशय उसे प्राप्त कर लेता है—यह नियम है । इसलिए हे अर्जुन, ब्रह्मस्वरूप सत्यको प्राप्त करनेके लिए तुम ब्रह्मरूप सत्यमय हो जाओ यानी निरन्तर अपने हृदयमें ब्रह्माकारकी भावना करो ॥ २३ ॥

पार्थ, जिसे ब्रह्मज्ञान हो चुका है, वह स्वयं ही—सम्पूर्ण कामनाओंकी जिसमें परिसमाप्ति रहती है, ऐसा—पुरुषार्थरूप ब्रह्मफल बनकर प्रारब्धवश प्राप्त, 'ब्रह्म' इस भावनासे बाधित ही चेष्टारूप कर्म करता है ॥ २४ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्यत्यकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स चोक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ २५ ॥
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ॥ २६ ॥
कर्मासक्तिमनाश्रित्य तथाऽनाश्रित्य मूढताम् ।
नैष्कर्म्यमप्यनाश्रित्य समस्तिष्ठ यथास्थितम् ॥ २७ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ २८ ॥
आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत् ।
मौर्ख्ये स्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेत् ॥२९॥

जो पुरुष उक्त रीतिसे कर्ममें अकर्म देखता है यानी निष्क्रिय ब्रह्मका अवलोकन करता है और अकर्ममें (निष्क्रिय ब्रह्ममें) अविच्युत-प्रतिष्ठारूप अवश्यकर्तव्य कर्मका अवलोकन करता है, वही मनुष्योंमें विवेकी पुरुष है; और वही स्वरूपतः तथा फलतः अशेष कर्म करनेवाला है। इसलिए उसीको विद्वानोंने 'कृत्स्नकर्मकृत्' (अशेष कर्मोंका कर्ता) कहा है ॥ २५ ॥

हे धनञ्जय, प्रवृत्तिमें निमित्तभूत लाभादिरूप कर्म-फलसे युक्त मत होओ और अकर्ममें यानी प्राप्त कर्मके न करनेमें भी तुम्हें आसक्ति न हो। योगमें स्थित होकर (पूर्वकथित सिद्धि-असिद्धमें समदृष्टिरूपी योगमें प्रतिष्ठित होकर) आसक्ति छोड़कर कर्म करते चलो ॥ २६ ॥

कर्मोंमें आसक्तिका आश्रयण न कर, तत्त्वदृष्टिमें प्रमादका आश्रयण न कर और नैष्कर्म्यका भी आश्रयण न कर सम होकर यथास्थित बैठे रहो ॥ २७ ॥

कर्मफलोंमें आसक्ति छोड़कर जो पुरुष नित्यतृप्त और निराश्रय होकर स्थित रहता है, वह कर्ममें भली-भाँति प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता ॥ २८ ॥

विद्वान् लोग आसक्तिको ही कर्तृत्व कहते हैं, मनमें प्रमाद रहनेपर कर्म न करनेवाले पुरुषको वह आसक्ति अवश्य होती है, अतः मूर्खताका परित्याग कर देना चाहिए, क्योंकि मूर्खतासे ही अनर्थपरम्परा होती है ॥ २९ ॥

परं तत्त्वज्ञमाश्रित्य निरासक्तेर्महात्मनः ।
सर्वकर्मरतस्याऽपि कर्तृतोदेति न क्वचित् ॥ ३० ॥

अकर्तृत्वादभोक्तृत्वमभोक्तृत्वात् समैकता ।
समैकत्वादनन्तत्वं ततो ब्रह्मत्वमाततम् ॥ ३१ ॥

नानातामलमुत्सृज्य परमात्मैकतां गतः ।
कुर्वन् कार्यमकार्यं च नैव कर्ता त्वमर्जुन ॥ ३२ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ३३ ॥

समः सौम्यः स्थिरः स्वस्थः शान्तः सर्वार्थनिस्पृहः ।
यस्तिष्ठति स सव्यग्रोऽप्यलमव्यग्रतां गतः ॥ ३४ ॥

तत्त्वज्ञानसे प्रमाद नष्ट हो जानेपर तो आसक्ति नहीं टिकती, अतः आसक्तिरहित उस पुरुषमें अकर्तृता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'परम्' इत्यादिसे ।

परम तत्त्वज्ञानका आश्रयण कर आसक्तिरहित हुए, सब कर्मोंमें तत्पर भी महात्मामें कभी भी कर्तृता उदित नहीं होती ॥ ३० ॥

अकर्तृत्वकी सिद्धिसे भूमिकाक्रमके अनुसार विदेहकैवल्यतककी सिद्धि हो जाती है, यह कहते हैं—'अकर्तृत्वा०' इत्यादिसे ।

कर्तृत्वाभिमान न रहनेसे अभोक्तृत्वकी सिद्धि होती है और भोक्तृत्वके अभावसे समैकरूपताकी सिद्धि होती है । समैकरूपताकी सिद्धि हो जानेसे अनन्तता और उसके अनन्तर विस्तृत ब्रह्मरूपताकी सिद्धि होती है ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन, अनेकतारूपी मलका उत्सर्ग करके परमात्माके साथ एकत्व प्राप्त कर तुम कार्य या अकार्यका (प्रमादसे निषिद्ध कर्मोंका) सम्पादन कर रहे भी किसीके कर्ता नहीं होओगे ॥ ३२ ॥

जिस पुरुषके सभी कर्म कामसङ्कल्पसे वर्जित हैं अतएव ज्ञानरूपी अग्निसे दग्ध कर्मवाले उस पुरुषको सभी विद्वान् 'पण्डित' कहते हैं ॥ ३३ ॥

जो सम, सौम्य, स्थिर, स्वस्थ, शान्त और सब पदार्थोंसे निस्पृह होकर अवस्थित रहता है, वह कर्मयुक्त होता हुआ भी अकर्मताको प्राप्त होता है ॥३४॥

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।
यथाप्राप्तानुवर्ती त्वं भव भूषितभूतलः ॥ ३५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ३६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ३७ ॥

हे पार्थ, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे निर्मुक्त, नित्य सत्त्व योग एवं क्षेमसे शून्य यानी अलब्ध वस्तुके लाभ और लब्ध वस्तु पालन—इन दोनोंकी चिन्तासे शून्य आत्मवान्, प्रारब्धप्राप्त विषयों कर्मों का अनुसरण कर रहे तुम पृथिवीको अलङ्कृत करनेवाले जाओ ॥ ३५ ॥

सब कर्मोंका त्याग करनेपर भी यदि मनमें विषयोंके प्रति आसक्ति रहे तो वह त्याग दाम्भिक त्याग ही है, यह कहते हैं—'कर्मेन्द्रिया इत्यादिसे ।

हे अर्जुन, जो विमूढात्मा (कार्याकार्यके विवेकसे शून्य) पुरुष [मुचि साधन-भूत अपने वैदिक कर्मोंको छोड़कर] बाहरसे कर्मेन्द्रियोंका निरोधकर (अं आदिको जबरन मुँदकर) मनसे इन्द्रियार्थोंका (शब्दादि विषयोंका चिन्तन करता हुआ स्थित रहता है, वह सज्जनों द्वारा आत्मवञ्चक क जाता है ॥ ३६ ॥

और जो मनसहित सभी इन्द्रियोंका निग्रह करता है, वह शास्त्रानुस विहित कर्मोंको करता हुआ भी, उनके फलोंमें आसक्ति न होनेसे, संन्यास फलका भागी होता है, इस आशयसे उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं— 'यस्त्विन्द्रियाणि' इत्यादिसे ।

हे अर्जुन, जो मुमुक्षु विद्वान् ज्ञानेन्द्रियोंका मनसे संयमकर यानी च आदि इन्द्रियोंको राग, द्वेष आदि दोषोंसे दूरकर कर्मेन्द्रियोंसे [चित्तशुद्धिके उ योगी] श्रौत-स्मार्त कर्मोंको [ईश्वरार्पणबुद्ध्या] करता है, वह पूर्वोक्त आत्म वञ्चककी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है ॥ ३७ ॥

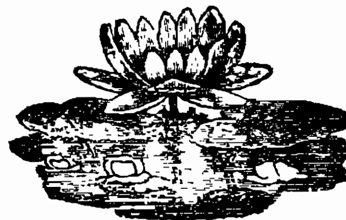
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने आत्मज्ञानोपदेशो नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण इन्द्रियोंका निग्रह कर चुके संन्यासीको ही, सम्पूर्ण इच्छाओंके शान्त हो जानेसे, परमपुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त होता है, दूसरेको नहीं, यों उपसंहार करते हैं—'आपूर्य०' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें प्रविष्ट हो जाती हैं यानी समुद्रभाव प्राप्तकर उसीमें विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अचल ब्रह्ममें प्रतिष्ठित हुए जिस संन्यासीमें सब कामनाएँ मिथ्यात्वबुद्धिसे बाधितविषय होती हुई प्रविष्ट हो जाती हैं यानी आत्मामें ही विलीन होकर एकमात्र आत्मरूपताको प्राप्त हो जाती हैं; वही सम्पूर्ण अनर्थोंकी शान्तिरूप मोक्ष प्राप्त करता है, न कि विषयोंकी कामना करनेवाला पुरुष, यह भाव है ॥ ३८ ॥

चौवनवाँ सर्ग समाप्त



पञ्चपञ्चाशः सर्गः

श्रीभगवानुवाच

न कुर्याद्भोगसंत्यागं न कुर्याद्भोगभावनम् ।
स्थातव्यं सुसमेनैव यथाप्राप्तानुवर्तिना ॥ १ ॥
अनात्मन्यात्मतां देहे मा भावय भवात्मनि ।
आत्मन्येवाऽऽत्मतां सत्ये भावयाऽभवरूपिणि ॥ २ ॥
देहनाशे महाबाहो न किञ्चिदपि नश्यति ।
आत्मनाशे हि नाशः स्यान्न चाऽऽत्मा नश्यति ध्रुवः ॥३॥
न हि शीर्यत्यचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ४ ॥

पचपनवाँ सर्ग

[देहका नाश हो जानेपर भी अविनाशी आत्मा मूढ़ और तत्त्वज्ञ दोनोंमें समान है, परन्तु भ्रान्तिसे मूढ़ जन्मादिका भागी बनता है और तत्त्वज्ञानी नहीं बनता—यह वर्णन]

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे पार्थ, बुद्धिमान् देहधारणके निमित्तभूत अन्नपानादिरूप भोगोंका त्याग न करे और न करे भोगोंकी प्राप्तिके लिए चिन्ता यानी भोगसौन्दर्य-सम्पादनके लिए व्यसनिता । यथाप्राप्त भोगोंका उपभोग करते हुए समभावसे स्थित रहे—उनकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें एक भावसे स्थित रहे ॥ १ ॥

इसी तरह देहात्मभावना (देहमें आत्माकी भावना) भी न करे, यह कहते हैं—'अनात्म०' इत्यादिसे ।

हे अर्जुन, जन्मादिविकारस्वभाव अनात्मरूप देहमें आत्मताकी भावना मत करो, परन्तु जन्मादिविक्रियाशून्यस्वभाव सत्य आत्मामें ही आत्माकी भावना करो ॥ २ ॥

हे महाबाहो, देहका नाश होनेपर इसका कुछ भी नष्ट नहीं होता । आत्माका नाश होनेपर इसका कुछ नाश हो सकता है, किन्तु अविनाशी आत्माका नाश नहीं होता ॥ ३ ॥

उक्त अर्थमें 'अशीर्यो नहि शीर्यते' इस श्रुतिको प्रमाणरूपसे उपस्थित कर रहे भगवान्—शीर्णता आदि देहके धर्म हैं, इन्हें आत्मामें प्रसक्त करनेवाला

आसक्तिमाहुः कर्तृत्वमकर्तुरपि तद्भवेत् ।
मौर्ख्यस्थिते हि मनसि तस्मान्मौर्ख्यं परित्यजेत् ॥५॥
परं तत्त्वज्ञमाश्रित्य निरासक्तेर्महात्मनः ।
सर्वकर्मरतस्याऽपि कर्तृतोदेति न क्वचित् ॥ ६ ॥
अविनाशमनाद्यन्तमात्मानमजरं विदुः ।
नश्यत्यात्मेति दुर्बोधो मा तवाऽस्त्विह दुःखदः ॥७॥
न तथा परिपश्यन्ति विदितात्मान उत्तमाः ।
पश्यन्त्यनात्मनाऽऽत्मानं स्वमात्मन्यात्ममानिनः ॥८॥

अर्जुन उवाच

एवं चेत्त्रिजगन्नाथ मूढानामपि मानद ।
देहनाशे समुत्पन्ने इष्टं नष्टं न किञ्चन ॥ ९ ॥

आभिमानिक परिग्रह (अहंबुद्धि) ही है। अहंबुद्धिका त्याग हो जानेपर तो शीर्णतादिकी प्रसक्ति नहीं होती, यह कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण परिग्रहोंसे रहित अतएव देहादिके परिग्रहमें निमित्तभूत चित्तसे विविक्त आत्मा नष्ट नहीं होता और युद्धादि कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी वह कुछ नहीं करता ॥ ४ ॥

मनके अज्ञतासे युक्त रहनेपर ही आसक्ति होती है, जिसे कर्तृत्व कहते हैं। वह आसक्ति कर्म न करनेवालेको भी मूर्खतापूर्ण चित्त रहनेपर होती ही है, अतः मूर्खता छोड़ देनी चाहिए ॥ ५ ॥

उसमें उपाय बतलाते हैं—'परम्' इत्यादिसे ।

परम तत्त्वज्ञानका आश्रयण करनेके कारण आसक्तिरहित हुए महात्मामें, सम्पूर्ण कर्मोंमें तत्पर होनेपर भी, कर्तृता किसी समय उदित नहीं होती ॥ ६ ॥

हे अर्जुन, यह आत्मा अविनाशी, आदि और अन्तसे शून्य अजर कहा गया है; इसलिए 'आत्मा नष्ट होता है' यह दुःखदायी दुर्बोध तुम्हें न हो ॥ ७ ॥

उत्तम आत्मज्ञानी लोग 'आत्मा नष्ट होता है, इस रूपसे आत्माको नहीं देखते। [क्यों नहीं देखते ? यदि यह पूछिये तो इसका उत्तर यह है —] चूँकि वे आत्मामें ही आत्माका अवलोकन किया करते हैं, इसलिए अपने आत्माको अनात्म (देहादिरूप) नहीं देखते ॥ ८ ॥

ऐसी परिस्थितिमें मूढ लोग आत्मबुद्धिसे देहादिका अवलोकन किया करें,

श्रीभगवानुवाच

एवमेतन्महाबाहो न किञ्चिन्नश्यति क्वचित् ।
आत्मैवाऽस्त्यविनाशात्मा किं तस्य क्व विनश्यति ॥१०॥
इदं नष्टमिदं युक्तमिति मोहभ्रमादृते ।
अन्यत्तथा न पश्यामि वन्ध्यास्त्रीतनयं यथा ॥ ११ ॥
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १२ ॥

तथापि देहादिका नाश हो जानेपर आत्माका नाश नहीं होता, इसलिए उनको मरणादिरूप अनर्थ वस्तु ही न रही, ऐसी अर्जुन शङ्का करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

अर्जुनने कहा—मेरा सम्मान करनेवाले हे त्रिजगन्नाथ, ऐसी परिस्थितिमें देहका नाश हो जानेपर भी मूर्खोंकी कोई प्रियतम वस्तु नष्ट तो नहीं हुई ॥ ९ ॥

यह जो तुम आपत्ति दे रहे हो, वह हमें इष्ट है, यों इष्टापत्तिसे भगवान् उसका परिहार करते हैं—'एवमेत०' इत्यादिसे ।

श्रीभगवान्ने कहा—हे महाबाहो, जैसा तुम कह रहे हो, ठीक वैसा ही है, कहीं किसीका कुछ नष्ट नहीं होता; क्योंकि जब आत्मा अविनाशात्मा ही है, तब भला उसका कहाँ क्या विनष्ट हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं, यह भाव है ॥ १० ॥

तब मूर्खोंको देहनाश, पुत्रलाभ आदिमें अनर्थत्व और अर्थत्व का व्यवहार कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

यह नष्ट हुआ और यह प्राप्त हुआ, इत्यादि मूढ-व्यवहारोंको मैं असत् मोह-भ्रमके सिवा सद्रूप उस प्रकर नहीं देखता, जिस प्रकार असत् वन्ध्या स्त्रीके पुत्रको । निष्कर्ष यह निकला कि स्वप्नमें भी पुत्रमरण और पुत्रजन्म के भ्रमसे अनर्थत्व और अर्थत्व व्यवहार जैसे देखा जाता है, वैसे ही मूढ़ोंको भी भ्रमसे व्यवहार होता है ॥ ११ ॥

अतएव मैंने पहले ही कह दिया था कि सत् भावका असत्त्वके साथ विरोध होनेसे देहादिमें सत्त्व नहीं है, यह कहते हैं—'नाऽसतो' इत्यादिसे ।

सत्से विलक्षण असद्रूप इस जगत्का भाव (अस्तित्व) नहीं हो सकता और सत्स्वरूप ब्रह्मका अभाव यानी असत्त्व नहीं हो सकता है। इस प्रकार

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्याऽस्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १३ ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्ध्यस्व भारत ॥ १४ ॥
आत्मा चैकोऽस्ति न द्वित्वमसतः सम्भवः कुतः ।
अविनाशस्त्वनन्तोऽसौ सतो नाशो न विद्यते ॥ १५ ॥
द्वित्वैकत्वपरित्यागे शेषं यत्परिशिष्यते ।
शान्तं सदसतोर्मध्यं तदस्तीह परं पदम् ॥ १६ ॥

सत् और असत् इन दोनोंके विषयमें सत् सत् ही है और असत् असत् ही है, विपरीत नहीं—यों तत्त्वदर्शियोंने निर्णय किया है, मूर्खोंने नहीं, यह भाव है ॥ १२ ॥

इस तरह जो सद्वस्तु है, वह अविनाशी है और जो विनाशी है, वह असद्रूप ही है; इसलिए असद्रूप बन्धुओंके देहादिका युद्धमें नाश होनेपर भी कोई अनर्थ नहीं हो सकता, इस आशयसे कहते हैं—'अविनाशि' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे पार्थ, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हुआ है, उस सूक्ष्मतम वस्तुको तुम अविनाशी समझो । इस अविनाशी वस्तुका कोई भी विनाश नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

परिच्छेदशून्य, अप्रमेय और नित्य शरीरी आत्माके ये शरीर अनित्य कहे गये हैं, इसलिए हे भारत, तुम युद्ध करनेके लिए तैयार हो जाओ ॥ १४ ॥

अद्वय होनेके कारण उसके विनाशकर्ताकी अप्रसिद्धिसे भी आत्माके नाशकी प्रसक्ति नहीं है, यह कहते हैं—'आत्मा' इत्यादिसे ।

आत्मा एक है, और द्वैत है ही नहीं; अतः असत्‌की उत्पत्ति ही कहाँसे हो सकती है । चूँकि सत्‌का नाश नहीं होता, इसलिए यह सद्रूप परमात्मा विनाशशून्य और अनन्त है ॥ १५ ॥

द्वित्व और एकत्व का यानी कारण और कार्य का परित्याग कर देनेपर जो सत् (कारण) और असत् (कार्य) के मध्यमें अधिष्ठानरूप सन्मात्र शेष बच जाता है, शान्तस्वरूप वह यहाँ परमपद आत्मा है ॥ १६ ॥

अर्जुन उवाच

तन्मृतोऽस्मीति भगवन् किंकृता तु नृणां स्थितिः ।
कथं स्थितौ च लोकानां तौ स्वर्गनरकौ प्रभो ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
एतत्तन्मात्रजालात्मा जीवो देहेषु तिष्ठति ॥ १८ ॥
स कृष्यते वासनया रज्ज्वेव पशुपोतकः ।
स तिष्ठति शरीरान्तः पञ्जरे विहगो यथा ॥ १९ ॥
स कालदेशतो देहाज्जर्जरत्वमुपागतात् ।
वासनावशतो याति प्लक्षपर्णाद्रसो यथा ॥ २० ॥

यों अपरिच्छिन्न आत्माके मरणादि-परिच्छेद और दुःखादि-भ्रम में हेतु क्या है ? यह अर्जुन पूछते हैं—'तन्मृतोऽस्मीति' इत्यादिसे ।

अर्जुनने कहा—हे भगवन्, तब तो 'मैं मृतक हूँ' इस प्रकार मनुष्योंकी मरणस्थिति किस हेतुसे प्राप्त होती है ? और उस स्थितिमें हे प्रभो, लोगोंको प्रसिद्ध स्वर्ग और नरक यानी सुख और दुःख कैसे होते हैं ? ॥ १७ ॥

'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' इस श्रुतिका तात्पर्य लेकर भगवान् समाधान करते हैं—'भूमिरापो०' इत्यादिसे ।

श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि—इनसे युक्त तन्मात्राओंका जो समूह है, तत्स्वरूप हुआ ही जीव देहोंमें स्थित रहता है । भाव यह है कि पाँच भूतमात्राओंसे निर्मित, मन, बुद्धि आदिसे घटित व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूल-सूक्ष्मभूत देहोंमें जो तादात्म्यापत्ति है, वही उस परमात्माका जीवभाव है और वही जन्म-मरण एवं सुख-दुःखादि रूप भ्रमकी स्थितिमें निमित्त है ॥ १८ ॥

उस जीवके विचित्र देहोंके परिग्रह तथा उन भिन्न-भिन्न देहोंके अनुरूप होनेवाली विचित्र चेष्टाओंमें निमित्त कहते हैं—'स कृष्यते' इत्यादिसे ।

वह जीव वासनासे इस तरह खींचा जाता है, जिस तरह रस्सीसे बछड़ा । वह शरीरके अन्दर उस तरह बैठा रहता है, जिस तरह पिंजड़ेमें पक्षी ॥ १९ ॥

पूर्व देहसे दूसरी देहमें जानेमें वासना ही निमित्त है, यह कहते हैं—'स कालदेशतो' इत्यदिसे ।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाऽऽशयात् ॥२१॥
वासनावत्त्वमेवाऽस्य देहो नेतरयुक्तिजः ।
क्षीयते वासनात्यागे क्षीणे भवति तत्पदम् ॥ २२ ॥
वासनावान् परापुष्टो भूत्वा भ्राम्यति योनिषु ।
जीवो भ्रमभराभारो मायापुरुषको यथा ॥ २३ ॥
अक्षस्वभावानखिलाञ्छरीराद्वासनावशः ।
जीवो गृहीत्वा संयाति पुष्पाद्गन्धमिवाऽनिलः ॥ २४ ॥

देश और काल से जर्जर हुए शरीरसे यह जीव वासना लेकर उस तरह निकल जाता है, जिस तरह देश और काल से जर्जर हुए पाकरके पत्तेसे रस ॥ २० ॥

कान, आँख, त्वचा, जिह्वा और नाक—इन इन्द्रियोंको लेकर पूर्व शरीरसे दूसरे शरीरमें जीव उस तरह चला जाता है, जिस तरह फूलोंसे गन्ध लेकर वायु अन्यत्र चला जाता है ॥ २१ ॥

अतएव इसका स्थूलदेह भी वासनात्मक ही है, परन्तु चिरकालिक अनुवृत्तिसे उसमें स्थूलताका भ्रम होता है, यह कहते हैं—'वासना०' इत्यादिसे।

इसका स्थूल-शरीर भी एकमात्र वासनारूप ही है यानी केवल वासनासे ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारणसे नहीं। अतएव वासनाका त्याग होनेपर वह क्षीण हो जाता है और उसके क्षीण हो जानेपर वह स्वयं ही परमपदरूप हो जाता है ॥ २२ ॥

यह वासनावेष्टित जीव दूसरेसे यानी आत्मभूत अन्नपानादिसे ही परिपुष्ट होकर अथवा लिङ्गदेहमें अवच्छेद और प्रतिबिम्ब भावसे द्विगुणित प्रवेशसे परमात्मा द्वारा परिपुष्ट (अभिव्यक्त) होकर अनेक भ्रमोंका भार ढोता हुआ अनेक योनियोंमें उस तरह भ्रमण करता है; जिस तरह मायासे ऐन्द्रजालिक पुरुष (जादूगर) आकाशमें भ्रमण करता है ॥ २३ ॥

वासनावेष्टित यह जीव श्रोत्र आदिकी सम्पूर्ण शब्दादि-ग्रहणशक्तियोंको लेकर उस तरह इस शरीरसे नूतन शरीरमें जाता है, जिस तरह पुष्पसे गन्ध लेकर वायु स्थानान्तरमें जाता है ॥ २४ ॥

देहो निस्पन्दतामेति जीवे कौन्तेय निर्गते ।
निस्पन्दावयवाभोगः शान्तवात इव द्रुमः ॥ २५ ॥
अचेष्टं छेदभेदादिदोषैरायात्यदृश्यताम् ।
मृत इत्युच्यते तेन देहो विगतजीवितः ॥ २६ ॥
स जीवः प्राणमूर्तिः खे यत्र यत्राऽवतिष्ठते ।
तं तं स्ववासनाभ्यासात् पश्यत्याकारमाततम् ॥ २७ ॥
अयं देहो हि जीवेन त्वसन्नेवाऽवलोकितः ।
अस्य नाशे त्वमप्येवं पश्य मा वा सुषुप्तवत् ॥ २८ ॥
यथैव पश्यत्याकारांस्तेषां नाशांस्तथैव सः ।
आदिसर्गे भावनया किलैष्वेवं विभावतः ॥ २९ ॥

लोकमें वही मरणरूपसे प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'देहो' इत्यादिसे ।

हे कौन्तेय, शरीरसे जीवके निकल जानेपर देह उस प्रकार एकदम कम्पन-शून्य हो जाती है; जिस प्रकार वायुके शान्त हो जानेपर स्पन्दनशून्य अपनी शाखा-प्रशाखाओंके विस्तारसे युक्त वृक्ष कम्पनशून्य हो जाता है ॥ २५ ॥

छेदन, भेदन आदि दोषोंसे चेष्टारहित होकर जीवरहित हुआ शरीर जब अदृश्य हो जाता है तब उसीसे वह 'मृतः' (मर गया) यों कहा जाता है ॥ २६ ॥

वह प्राणस्वरूप जीव चिदाकाश या भूताकाश में जहाँ-जहाँ यानी देह, देश, काल, भोग्य आदि जिस-जिस आकारमें अवस्थित होता है (भोगजनक अदृष्टसे उद्भूत हुई वासनासे युक्त होता है); विस्तृत उस-उस आकारका अपनी वासनाके अभ्याससे अवलोकन किया करता है ॥ २७ ॥

हे अर्जुन, यतः जीव द्वारा असत्स्वरूप ही (मिथ्यारूप ही) यह शरीर देखा जाता है; इसलिए देहनाश भी तुम उसी तरह असद्रूप देखो । अथवा सुषुप्त पुरुषकी नाईं उसे मत देखो अर्थात् जैसे सुषुप्त पुरुष कुछ भी नहीं देखता ; वैसे ही तुम भी देह, देहनाश उसकी असत्यता आदि कुछ भी न देखो ॥ २८ ॥

जब प्रतियोगी ही वासनासे कल्पित हैं, तब उनके नाश भी वासनाकल्पित हैं, यह सृष्टिके आरम्भसे निश्चित है, यह कहते हैं—'यथैव' इत्यादिसे ।

झटित्युद्भवकाले हि यद्यथा दृश्यते पुरः ।
आनिपातं तदेवाऽस्या अविनाभाविसंविदः ॥ ३० ॥
प्राक्तनं वासनामूलं पुरुषार्थेन जीयते ।
यत्नेनाऽद्यतनेनाऽऽशु ह्यस्तनायतनं यथा ॥ ३१ ॥
य एव पुरुषार्थेन दृष्टो बलवता क्षणात् ।
पूर्वोत्तरविशेषांशः स एव जयति स्फुटम् ॥ ३२ ॥

सृष्टिके आरम्भमें चतुर्मुख ब्रह्माजीने इन गौ, अश्व आदि आकारवाले पदार्थोंमें पूर्वसृष्टियोंके अनुभवोंसे जनित वासना द्वारा ही विभावनावश इस तरहके रूपोंकी केवल कल्पना ही की है, मिट्टी और दण्ड लेकर कुम्हारकी नाईं किसीका निर्माण नहीं किया है, यह पुराणोंमें प्रसिद्ध है। वह जिस तरह इनके रूपोंकी कल्पना करता है, उसी तरह उनके नाशोंकी भी कल्पना करता है ॥ २९ ॥

उत्पत्ति-कालमें वासनामय जगत् भले ही मिथ्याभूत हो, परन्तु स्थिति-कालमें अर्थक्रियासमर्थ होने एवं सर्वजनीन सत्यताका अनुभव होने से वास्तव ही है; ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—'झटिति' इत्यादिसे।

उत्पत्ति-कालमें प्रथम क्षणमें देह, घट आदिका जो आकार मिथ्याभूत या सत्यभूत सामने दीख पड़ता है, वह विनाशपर्यन्त उसी तरहका रहता है, किसी दूसरी तरहका नहीं; क्योंकि अधिष्ठानभूत यह संवित् जो जिस तरहकी वस्तु उत्पन्न हुई हो, उसकी उसी तरहकी स्थितिमें हेतु है और संवित्के सिवा उनकी सत्ता भी नहीं रह सकती ॥ ३० ॥

देहादि आकार भले ही वासनामय हों, उससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'प्राक्तनम्' इत्यादिसे।

पार्थ, पहलेका वासनारूपी मूल पुरुषार्थसे (श्रवण, मनन आदि पुरुष-प्रयत्नोंसे जनित ब्रह्माकार अखण्डवृत्तिसे) उस प्रकार बाधित हो जाता है, जिस प्रकार आजके प्रायश्चित्त आदि प्रयत्नोंसे गत दिनका अधर्मानुष्ठान बाधित हो जाता है अथवा आजके दाहरूप प्रयत्नसे गत दिनमें निर्मित तृण-गृह नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि अशुभ वासनाओंसे कल्पित देहादि आकारका शुभ वासनाओंके अभ्याससे जनित ब्रह्माकारवृत्तिसे समूल विनाश ही उसके वासनामय होनेका फल है ॥ ३१ ॥

यदि शङ्का हो कि ज्ञानके निमित्त प्रयत्न कर रहे बहुतसे लोगोंका प्रयत्न

अपि स्फुटति विन्ध्याद्रौ वाति वा प्रलयानिले ।
पौरुषं हि यथाशास्त्रमतस्त्याज्यं न धीमता ॥ ३३ ॥
नरकस्वर्गसर्गादि वासनावशतोऽभितः ।
प्रपश्यति चिराभ्यस्तं जीवो जरठमोहधीः ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

नरकस्वर्गसर्गादिसंभ्रमेषु जगत्पते ।
किमस्य कारणं ब्रूहि जीवस्य जगतः स्थितेः ॥ ३५ ॥

पहलेकी काम, क्रोध आदि प्रबल वासनाओं द्वारा नष्ट होता दिखलाई पड़ता है; अतः प्रबलतामें उत्तरत्वको हेतु कह नहीं सकते ! तो इसपर कहते हैं—'य एव' इत्यादिसे ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें जो भी कोई एक पुरुषार्थ 'मेरे लिए यही पुरुषार्थ आवश्यक है' इस अभिनिवेशसे देखा जाता है, वही पूर्वोत्तर प्रयत्नोंमें अपना विशेषमहत्त्व रखता है और अन्यको जीत लेता है । [एवञ्च, पूर्वोक्त ज्ञानके लिए प्रयत्न करनेवालोंमें 'मोक्ष' का अभिनिवेश मन्द और 'भोग' का अभिनिवेश दृढ होनेसे ज्ञाननिमित्त प्रयत्नोंका पराभव हो जाता है, यह भाव है] ॥ ३२ ॥

अतएव शास्त्रीय प्रयत्नोंमें दृढ अभिनिवेश करना चाहिए, यह कहते हैं—'अपि' इत्यादिसे ।

इसलिए विन्ध्याचलके फूटने या प्रलयकालीन झंझावातके बहने पर भी बुद्धिमान् पुरुषको शास्त्रानुसारी प्रयत्न नहीं छोड़ने चाहिएँ अर्थात् सर्वदा उन्हींका आश्रयण करना चाहिए, यह भाव है ॥ ३३ ॥

शास्त्रीय प्रयत्नोंके मन्द हो जानेपर पूर्ववासनाओंके वैचित्र्यसे सुख-दुःखात्मक अनर्थोंकी परम्परा किसी तरह रोकी नहीं जा सकती, इस आशयसे कहते हैं—'नरक०' इत्यादिसे ।

अनादि अविद्यासे मूढ-बुद्धि यह जीव वासनावश अपने चारों ओर नरक, स्वर्ग, सृष्टि आदि, जो कि उसे चिरकालसे अभ्यस्त हैं, देखता रहता है ॥ ३४ ॥

उसी आशयको—'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो

श्रीभगवानुवाच

स्वप्नोपमाना तेनेह श्रेयसे वासनाक्षयः ।
चिराभ्यासवशात् प्रौढा संसारभ्रमकारिणी ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

किमुत्था देवदेवेश क्षीयते वासना कथम् ।

श्रीभगवानुवाच

मौर्ख्यमोहसमुत्थाना त्वनात्मन्यात्मभावना ।
आत्मज्ञानान्महाबोधाद्विलयं याति वासना ॥ ३७ ॥

गच्छेत् स्वर्गं वा नरकं तु वा ॥' (अपने सुख-दुःखोंमें पराधीन, अज्ञानी यह जीव ईश्वरसे प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरक में जाता है) इस व्यास-वाक्य आदिमें प्रसिद्ध कारणान्तरकी आशङ्काके निरासके साथ—स्पष्टरूपसे जाननेकी इच्छा कर रहे अर्जुन पूछते हैं—'नरक०' इत्यादिसे ।

अर्जुनने कहा—हे जगदीश, जगत्की स्थितिमें निमित्तभूत इस जीवका स्वर्ग, नरक, सृष्टि आदिमें जो भ्रमण होता है; उसमें कारण क्या है ? यह आप मुझसे कहिए ॥ ३५ ॥

दूसरा कोई कारण तो संभव नहीं है। ईश्वर, काम, कर्म आदि भी वासनाके अनुसार ही सुख-दुःख आदि प्राप्त कराते हैं; अतः एकमात्र दीर्घकालके अभ्याससे दृढ़ हुई वासना ही संसारके प्रति कारण है । इसलिए मोक्षार्थियोंको उस वासनाका क्षय ही सब प्रयत्नोंसे करना चाहिए, इसी आशयको स्पष्ट कर रहे श्रीभगवान् कहते हैं—'स्वप्नोपमाना' इत्यादिसे ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—पार्थ, चूँकि शास्त्रीय प्रयत्नोंकी शरण न लेकर चिरकालिक अभ्याससे प्रौढ हुई स्वप्न-तुल्या यह वासना संसाररूप भ्रमको देनेवाली है, इसलिए तत्त्वज्ञानके अभ्याससे समूलवासनाका क्षय ही यहाँ तुम्हारे कल्याणके लिए है ॥ ३६ ॥

वासनाके मूलको जाननेकी इच्छावाले अर्जुन पूछते हैं—'किमुत्था' इत्यादिसे।

अर्जुनने कहा—हे देवदेवेश, यह वासना किससे उत्पन्न हुई यानी इसका मूल क्या है और वह किस प्रकार नष्ट होती है ? ॥

अज्ञान ही उस वासनाका मूल है और ज्ञानसे ही उसका समूल नाश होता है, यों भगवान् कहते हैं—'मौर्ख्यमोह०' इत्यादिसे ।

भावितात्माऽसि कौन्तेय सत्यं विज्ञातवानसि ।
अयं सोऽहं जना एते ममेति त्यज वासनाम् ॥ ३८ ॥

अर्जुन उवाच

वासनाविलये जीवो विलीनो भवति स्वयम् ।
यो हि यत्सत्तयोच्छूनस्तन्नाशात् स विलीयते ॥ ३९ ॥
जीवे विलयमायाते देशकालान्यथाकृतौ ।
कोऽसौ भाजनतामेति जन्मनो मरणस्य च ॥ ४० ॥

श्रीभगवान्ने कहा—अनात्मभूत वस्तुमें आत्मभावनारूप यह वासना अज्ञानस्वरूप मोहसे उत्पन्न हुई है और महाबोधस्वरूप आत्मज्ञानसे तो यह (वासना) विलयको प्राप्त हो जाती है ॥ ३७ ॥

उसमें तुम्हें विचारसे आत्म-स्वरूपका परिचय तो हो गया है, अब तुम्हारे लिए उसकी दृढ़तासे देह और उसके सम्बन्धी बन्धु आदिमें 'अहम्' 'मम' इत्यादिरूप वासनाका क्षय करना ही एकमात्र कार्य अवशिष्ट रह जाता है, यह कहते हैं—'भाविता०' इत्यादिसे ।

हे कौन्तेय, तुम पवित्रात्मा हो चुके हो और सत्यका ज्ञान भी तुम्हें हो चुका है । अब तुम 'यह', 'वही मैं' और 'ये लोग मेरे बान्धव हैं' इत्यादिरूप वासनाको छोड़ दो ॥ ३८ ॥

वासनामय ही लिङ्गशरीर है और उसमें प्रतिबिम्बस्वरूप जीव भी वासनासे ही उत्पन्न है; अतः वासनाका क्षय होनेपर जीवका क्षय ही हो जायगा । एवञ्च, तत्त्वज्ञान और वासनाका क्षय—दोनों केवल अनर्थके लिए ही होंगे ! इस आशयसे अर्जुन शङ्का करते हैं—'वासनाविलये' इत्यादिसे ।

अर्जुनने कहा—जो जिसकी सत्तासे स्थित रहता है, वह उसके नाशसे नष्ट होता है; अतः वासनाके विलीन हो जानेपर स्वयं जीव भी विलीन हो जायगा । जीवके विलीन हो जानेपर तथा देश और काल का अन्यथाकरण होनेपर जन्म (परमानन्दके आविर्भावस्वरूप परमपुरुषार्थ) एवं मरण (आत्यन्तिक अनर्थनाश) का* कौन भागी होगा अर्थात् कोई नहीं, यह भाव है ॥ ३९, ४० ॥

---

* यहाँपर 'जन्म-मरण' शब्दसे प्रसिद्ध जन्म-मरणका ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञमें समूल वासनाका नाश होनेपर उनकी प्रसक्ति ही नहीं है और वह (उनका ग्रहण करना) पूर्वापरग्रन्थके प्रतिकूल भी है ।

श्रीभगवानुवाच

स्वयं कल्पितसङ्कल्पमात्मरूपं यदाविलम् ।
तदेव वासनाकारं जीवं विद्धि महामते ॥ ४१ ॥
अनायत्तमसङ्कल्पमात्मरूपं यदव्ययम् ।
प्रबोधाद्वासनामुक्तं तन्मोक्षं विद्धि भारत ॥ ४२ ॥
जीवन्नेव महाबाहो तत्त्वं प्रेक्ष यथास्थितम् ।
वासनावागुरोन्मुक्तो मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ४३ ॥

[तुम्हारे द्वारा उद्भावित उपर्युक्त] दोष तब होता जब प्रतिबिम्बमात्र संसारी जीव है और वह भी बिम्बभूत ब्रह्मसे अन्य तथा भूतमात्राओंके अधीन जन्म आदि, देश एवं काल के भेदसे भिन्न है—यह माना जाता, परन्तु वैसी तो बात नहीं है; किन्तु परमार्थतः शुद्ध ब्रह्म ही होकर असत्यभूत अपनी अविद्यासे आवृत अपने वास्तविक तत्त्वको नहीं जान रहा वह अपनी आत्मामें ही जीव-जगद्भेदकी कल्पना द्वारा संसारी-सा बन जाता है । और वही श्रवण, मनन आदि शास्त्रीय प्रयत्नोंसे अपने वास्तविक तत्त्वका ज्ञानकर वासनाके साथ अविद्याको धोकर स्व-स्वभावमें स्थित हो जाता है । मानो वही इसकी मुक्ति है—यही श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है । इस सिद्धान्तमें तुम्हारे द्वारा उद्भावित कोई भी दोष नहीं आता, इस आशयसे भगवान् समाधान करते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

श्रीभगवान्ने कहा—हे महामते अर्जुन, ब्रह्मका जो रूप अपने ही कल्पित सङ्कल्पसे कलुषित (अविद्यासे आवृत) हो जाता है, उसे ही वासनाकृति जीव जानो ॥ ४१ ॥

हे भारत, दूसरेके अधीन न हुआ, सङ्कल्परहित और अविनाशी जो यह आत्मरूप तत्त्वज्ञानके कारण वासनासे शून्य हो जाता है, उसे ही तुम 'मोक्ष' जानो ॥ ४२ ॥

और वही समूलवासनानिवृत्ति देहधारणपर्यन्त 'जीवन्मुक्ति' इस नामसे प्रसिद्ध है, उसका इसी लोकमें तुम भी अनुभव कर सकते हो । इसलिए 'मुक्तिरूप फलका भाजन कौन होगा ?' ऐसा तुम्हें संशय नहीं करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'जीवन्नेव' इत्यादिसे ।

हे महाबाहो अर्जुन, वासनारूप रज्जुबन्धनसे छूटा हुआ पुरुष 'मुक्त' यों कहा

यो न निर्वासनो नूनं सर्वधर्मपरोऽपि सः।
सर्वज्ञोऽप्यभितो बद्धः पञ्जरस्थो यथा खगः ॥ ४४ ॥

दुर्दर्शनस्य गगने शिखिपिच्छिकेव
सूक्ष्मा परिस्फुरति यस्य तु वासनाऽन्तः।
मुक्तः स एव भवतीह हि वासनैव
बन्धोऽनयस्य ननु तत्क्षय एव मोक्षः ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने जीवतत्त्वनिर्णयो नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

जाता है। अतः वासनासे निर्मुक्त होकर जीते हुए ही (इसी वर्तमान देहमें ही) यथास्थित उस तत्त्वको तुम देखो ॥ ४३ ॥

वह मोक्ष न कर्मोंसे प्राप्त किया जा सकता है और न बाह्य विषयोंके पाण्डित्यसे ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु एकमात्र आत्मज्ञानसे ही पाया जा सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'यो' इत्यादिसे।

जो वासनासे निर्मुक्त नहीं है, भले ही वह समस्त धर्मोंमें परायण क्यों न हो, सर्वज्ञ यानी समस्त बाह्य विषयोंका पण्डित ही क्यों न हो; फिर भी उस प्रकार वह चारों ओरसे बद्ध है, जिस प्रकार पिंजरेमें स्थित पंछी ॥ ४४ ॥

कहे गये समाधानका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'दुर्दर्शनस्य' इत्यादिसे।

पार्थ, अपनी ही मायासे आच्छादित हो जानेके कारण स्वरूप-दर्शनमें अयोग्य हुए, वेदान्तप्रमाणको प्राप्त न किये हुए जिस परमात्माके भीतर, आकाशमें ऐन्द्रजालिक मयूरपिच्छिकाकी (मोरपंखकी) नाईं, नाना प्रकारके भ्रमोंको उत्पन्न करनेवाली सूक्ष्म वासना जीव-जगद्रूपसे प्रस्फुरित होती है; वही (परमात्मा) अधिकारी शरीरमें वेदान्तशास्त्रको प्राप्तकर उदित तत्त्वज्ञानवाला होता हुआ समूलवासनारूप बन्धसे मुक्त हो जाता है। क्योंकि इस परमात्मामें समूल वासना ही बन्ध (संसार) है और उसका क्षय ही मोक्ष है ॥ ४५ ॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

षट्पञ्चाशः सर्गः

श्रीभगवानुवाच

इति निर्वासनत्वेन जीवन्मुक्ततयाऽर्जुन ।
अन्तःशीतलतामेत्य बन्धुदुःखमलं त्यज ॥ १ ॥
जरामरणनिःशङ्क आकाशविशदाशयः ।
त्यक्तेष्टानिष्टसङ्कल्पो वीतरागो भवाऽनघ ॥ २ ॥
प्रवाहपतितं कार्यमिदं किञ्चिद्यथागतम् ।
कुरु कार्याणि कर्माणि न किञ्चिदिह नश्यति ॥ ३ ॥
प्रवाहपतितं कर्म स्वमेव क्रियते तु यत् ।
जीवन्मुक्तस्वभावोऽयं सा जीवन्मुक्तता तथा ॥ ४ ॥
इदं कर्म त्यजामीदमाश्रयामीति निर्णयः ।
मूढस्य मनसो रूपं ज्ञानिनस्तु समा स्थितिः ॥ ५ ॥

छप्पनवाँ सर्ग

[भगवान् द्वारा अर्जुनको जीवन्मुक्तिप्रतिष्ठा, चितिकी अबाधित सत्ता और मनके जगत्स्वरूप चित्रका सविस्तर उपदेश]

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन, इस प्रकार वासनानिवृत्तिरूप जीवन्मुक्तत्वस्वरूपसे तुम भीतर शीतलता (शान्ति) प्राप्तकर बन्धुवधप्रयुक्त दुःखका निःशेषरूपसे परित्याग कर दो ॥ १ ॥

हे पापशून्य अर्जुन, जरा और मरण की शङ्कासे निर्मुक्त, आकाशकी नाईं विशाल चित्तवाले तथा इष्ट एवं अनिष्ट विषयोंके सङ्कल्पोंसे रहित होकर तुम वीतराग हो जाओ ॥ २ ॥

हे अर्जुन, शिष्टव्यवहार-परम्परासे चला आ रहा, अवश्यकर्तव्यरूप भाग्यवश प्राप्त यह युद्ध-कर्म और अन्यान्य दूसरे आवश्यक याग, दान आदि कर्म तुम करो । उससे तत्त्वज्ञानकी कुछ भी क्षति नहीं होगी, यह भाव है ॥ ३ ॥

शिष्टव्यवहार-परम्परासे चला आ रहा स्वधर्मरूप कर्म जो किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तोंका स्वभाव ही है; और वही जीवन्मुक्तता है, केवल देह-चेष्टाका परित्याग करना जीवन्मुक्तता नहीं है ॥ ४ ॥

'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ' और 'इस कर्मका मैं अङ्गीकार करता हूँ'—इस

प्रवाहपतितं कर्म कुर्वन्तः शान्तचेतसः ।
जीवन्मुक्ताः सुषुप्तस्थाः स्फुरन्त्यत्र सुषुप्तवत् ॥ ६ ॥
स्थिरां संस्थितिमायान्ति कूर्माङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो हृदि यस्य स्वभावतः ॥ ७ ॥
विश्वात्मनि तथा विश्वं कालत्रयमयोदितम् ।
अभित्ति त्रिजगच्चित्रं कुरुते चित्तचित्रकृत् ॥ ८ ॥
व्योम्नि व्योमात्मकमपि प्रस्फुटं वृत्तिवर्तिभिः ।
चित्तचित्रकरेणाऽऽदौ चित्रं चित्रं वितानितम् ॥ ९ ॥

प्रकारका जो निर्णय है, वह तो एकमात्र अज्ञानियोंके मनका स्वरूप है और ज्ञानियोंकी तो एक-सी स्थिति रहती है ॥ ५ ॥

प्रवाहपतित कर्म कर रहे, शान्तमना तथा सुषुप्तकी नाईं अपनी आत्मामें स्थित हो रहे जीवन्मुक्त महात्मा लोग इस व्यवहार-भूमिमें सङ्कल्प-विकल्पोंसे शून्य होकर सुषुप्तात्माके सदृश निर्विशेष, स्वयंज्योति एकमात्र आत्मरूप होकर स्फुरित होते हैं । ॥ ६ ॥

जीवन्मुक्तमें दूसरा भी सुषुप्ति-साम्य है, यह कहते हैं—'**स्थिराम्**' इत्यादिसे ।

पार्थ, जैसे थोड़ा भी विक्षेप होनेपर कछुवेके सिर, पैर आदि अङ्ग तत्काल ही भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानसे बाधित हो जानेके कारण तुच्छ-भूत विषयोंसे अनायास निवृत्त हुई जिसकी इन्द्रियाँ मनके साथ परमात्माके अन्दर निश्चल स्थिति (एकरसतासे स्थिरता) प्राप्त करती हैं; वही जीवन्मुक्त है ॥ ७ ॥

तब व्यवहार-कालमें जीवन्मुक्त महात्मा लोग जगत्को किस रूपसे देखते हैं ? तो इसपर 'मनोराज्यमें परिकल्पित भित्तिसे रहित विचित्र चित्रकी नाईं ही देखते हैं' यह बतलानेके निमित्त सृष्टिसे लेकर प्रलयपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्का मनोरचित चित्रके रूपमें वर्णन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'**विश्वात्मनि**' इत्यादिसे ।

चित्तरूपी चित्रकार विश्वके अधिष्ठानभूत आत्माके ऊपर अनन्त उन-उन वैचित्र्योंसे युक्त तीनों कालमें उदित स्वभाव सम्पूर्ण त्रिजगद्रूपी चित्रका भित्तिके बिना निर्माण कर देता है ॥ ८ ॥

स्वयं एकमात्र अज्ञानस्वरूप होनेके कारण प्रकाशनके अयोग्य भी, चिदा-भासयुक्त अन्तःकरणवृत्तिरूप बत्तियों द्वारा प्रकाशित हुए इस अद्भुत त्रिजगद्रूप

पश्चाद्भित्तिः कृता व्योमरूपा चाऽसावहो भ्रमः ।
अपूर्वैवाऽतिमायेयं तृणकुड्यमयी शुभा ॥ १० ॥
न मनागपि भेदोऽस्ति स्फुटमप्युपलब्धयोः ।
इमा या उपलक्ष्यन्ते भित्तयश्चित्तचित्रजाः ॥ ११ ॥
व्योम्नः शून्यतमा विद्धि तास्तामरसलोचन ।
क्षणेन चेतसि यथा भ्रान्तौ लोकक्षयोदयौ ॥ १२ ॥

चित्रको अज्ञानरूपी आकाशमें पहले-पहल चित्तरूप चितेरेने ही इतने विशालरूपमें परिणत किया है ॥ ९ ॥

प्रसिद्ध चित्रके वैधर्म्यसे उसकी अद्भुतता ही दिखलाते हैं—'पश्चात्' इत्यादिसे ।

पार्थ, [आदिजीव हिरण्यगर्भके समष्टिमनने, सत्यसङ्कल्प होनेके कारण, सङ्कल्पसमकालमें ही यह जगद्रूप चित्र बनाया] तदनन्तर उसने उस चित्रकी आधारस्वरूप भित्तिकी, जो अमूर्त आकाशरूप होनेके कारण चित्रधारण करनेमें सर्वथा अयोग्य ही है, रचना की—यह महान् आश्चर्य है; इसीलिए यह भ्रम ही है। ['अहो भ्रमः' इन दोनों पदोंका विस्तृत व्याख्यान करते हैं—'अपूर्वैवा०' से ।] यह रचना अपूर्व और मायाका भी तिरस्कार करनेवाली है, तृण-भित्तिके सदृश साररहित होनेपर भी यह भ्रान्तदृष्टिसे शुभरूप प्रतीत होती है ॥१०॥

और भी आश्चर्य दिखलाते हैं—'न मनागपि' इत्यादिसे ।

[प्रसिद्ध चित्रस्थलोंमें चित्रोंकी आधारभूत भित्तियाँ उन चित्रोंसे भिन्न होती हैं, परन्तु] ये जो चित्तरूप चित्रकार द्वारा उत्पन्न अज्ञानाकाशरूप भित्तियाँ प्रतीत हो रही हैं, उनमें और चित्रोंमें—आधार-आधेयरूप भेद स्पष्टतः प्रतीत होनेपर भी परमार्थतः उनकी चित्तस्वरूपता होनेके कारण—परस्पर किञ्चित् भी भेद नहीं है [अहो ! यह भी एक दूसरा आश्चर्य है ।] ॥ ११ ॥

'अहो भ्रमः' इसमें 'अहो' इस अंशकी विस्तृत व्याख्याकर अब 'भ्रमः' इस अंशकी विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं—'व्योम्नः' इत्यादिसे ।

हे कमलनयन, वे मानसिक चित्र-रचनाएँ आकाशसे भी बढ़कर वैसे ही शून्य-रूप हैं अर्थात् अत्यन्त असत् हैं, जैसे स्वप्नमें क्षणमात्रमें चित्तमें होनेवाले तीनों लोकोंके नाश और उदय, यह तुम जानो ॥ १२ ॥

आत्मा जगत्तथैवेदं सबाह्याभ्यन्तरं नभः ।
चिरन्तनमनोराज्यं यत्तस्मात् किल सत्यता ॥ १३ ॥
किन्त्वनालोकितेऽपि स्यात्सत्यं नाऽस्त्येव विभ्रमे ।
क्रमेणाऽऽलोकतः सत्यमालोकेन विलीयते ।
दृश्यमानमपि क्षामं शरदीवाऽभ्रमण्डलम् ॥ १४ ॥
चित्तचित्रकृतश्चित्रे संस्थिताश्चित्रपुत्रिकाः ।
भित्त्यभावादनाकारा बहिस्त्रिभुवनादिकाः ॥ १५ ॥
न ताः सन्ति न वाऽसि त्वं किं केन परिरोध्यते ।
रोध्यरोधकसंमोहं त्यक्त्वा खे विमलो भव ॥ १६ ॥

आत्मा, मन और उसका कार्य बाह्य और आभ्यन्तर यह सब जगत् स्वप्नकी तरह शून्य है (असत् ही है) । [तब मनुष्योंको इसमें सत्यत्वकी प्रतीति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—'चिरन्तन०' से ।] चूँकि यह सब चिरकालिक मनोराज्य है यानी इसकी दीर्घकालतक अनुवृत्ति होती है, इसलिए लोगोंको इसमें सत्यत्वकी प्रतीति होती है [इस श्लोकमें 'किल' शब्द 'यह तत्त्व नहीं है' यों सूचित करता है] ॥ १३ ॥

तब तत्त्व क्या है ? यह कहते हैं—'किन्त्वना०' इत्यादिसे ।

भ्रान्तिकल्पित पदार्थोंमें जिस सत्यसङ्कल्पताका तीनों कालमें अभाव है, वह तत्त्वतः क्या अदृष्ट-दशामें (तत्त्वज्ञानके पहले) कभी रह सकती है अर्थात् कभी नहीं । जो वसन्तादि कालक्रमसे, बाल्यादि अवस्थाक्रमसे अथवा छः प्रकारके भावविकारक्रमसे देखनेपर अर्थक्रियासामर्थ्यरूप या और कोई दूसरा प्रसिद्ध व्यावहारिक सत्यत्व उनमें भासता है, वह तत्त्वज्ञानरूप आलोकसे उस प्रकार नष्ट हो जाता है; जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशसे दिखाई दे रहा शरत्कालका मेघमण्डल उसीसे सोखाया जाता हुआ नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

इस तरह इस मानसिक चित्रके भ्रान्तिमात्रस्वरूप हो जानेके कारण अपने भाई-बन्धुओंके वधकी आशङ्कासे उत्पन्न क्लेशसे तुम्हें व्यग्र बनना उचित नहीं है, यह कहते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

चित्तरूपी चितेरेके चित्रमें अवस्थित त्रिभुवन आदि विचित्र पुतलियाँ आधार-भूत भीतके न रहनेसे बाहर आकाररहित ही हैं । हे अर्जुन, वास्तवमें न तो

प्रवृत्तिरेव न व्योम्नः प्रवृत्तिश्चैव खात्मिका ।
अतः कालक्रियाकुड्यकलादिविमलं नभः ॥ १७ ॥
चित्तसंस्थं यथा चित्रं सरूपमखिलात्मकम् ।
व्योम्नः शून्यतमं विद्धि तथेदमखिलं जगत् ॥ १८ ॥
चित्तभित्तौ कृतं चित्रं यच्चित्रकरेण तत् ।
सर्वशून्यतया व्योम्नो मनागपि न भिद्यते ॥ १९ ॥
यथा प्रकचतश्चित्ते जगन्निर्माणसंक्षयौ ।
क्षणेनैव तथैवेमौ भुविस्थाविति विद्धि हे ॥ २० ॥

उनका अस्तित्व है और न तुम्हारा ही अस्तित्व है; इसलिए कौन किससे मारा जाता है ? अतः नाश्य-नाशकका मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर ब्रह्मपदमें स्थिर हो जाओ ॥ १५, १६ ॥

क्योंकि चिदाकाशमें वधादिकी प्रवृत्ति ही नहीं है। और जो कहीं प्रातिभासिकी प्रवृत्ति है, वह भी ब्रह्माकाशरूप ही है; इसलिए काल, क्रिया, जगद्रूप भित्ति और उसपर चित्र बनानेकी कला आदि सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है ॥१७॥

हे अर्जुन, जैसे एकमात्र चित्तमें रहनेवाला मनोराज्यरूप चित्र समस्त प्रपञ्चस्वरूप होता हुआ भी वास्तवमें शून्यस्वरूप होनेसे असत् ही है; वैसे ही सामने दिखाई दे रहा यह जगत् भी आकाशसे भी बढ़कर शून्यरूप है—यह तुम जानो ॥ १८ ॥

अब तत्त्वतः अपरिचित चैतन्यात्मा चित्रकार है और उसके चित्रका आधार चित्तरूप भित्ति है—इस प्रकार उत्प्रेक्षा करनेपर भी अन्तमें शून्यता ही पर्यवसित होती है, यह कहते हैं—'**चित्त०**' इत्यादिसे ।

अर्जुन, तत्त्वतः अपरिचित आत्मचैतन्यरूपी चित्रकारने चित्तरूप भित्तिके ऊपर जो चित्र रचा है, वह सर्वांशसे शून्य होनेके कारण असदाकाशसे तनिक भी भिन्न नहीं है ॥ १९ ॥

उसमें भी मनोराज्यका क्षणिक जगत् ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

हे अर्जुन, जैसे चित्तमें मनोराज्यके जगत्का निर्माण और विनाश क्षणभरमें ही हो जाता है, वैसे ही ये चित्तात्मक भू-भित्तिके ऊपर अज्ञात चिति द्वारा चित्रित

अद्य क्षीणा मनोराज्ये नानाऽनुभवनात्मनि ।
क्षणभावितमोहेन कल्पना परिकल्पिता ।। २१ ।।
असदेव मनोराज्यं कर्तुं शक्तं यथा मनः ।
क्षणस्य कल्पीकरणे तथैव बलवन्मनः ।। २२ ।।
क्षणं कल्पीकरोत्येतत् तच्चाऽल्पं कुरुते बहु ।
असत् सत्कुरुते क्षिप्रमितीयं भ्रान्तिरुत्थिता ।। २३ ।।
क्षणेनैव मनोराज्यं प्रतिभातं स्वभावतः ।
यद्विचित्रात्म तदिदं जगज्जालमिति स्थितम् ।। २४ ।।
सर्गे निर्वाणनिष्ठत्वान्निमेषमयमुत्थितम् ।
प्रतिभामात्रतोऽत्रैव कल्पिता वज्रसारता ।। २५ ।।

जगत्‌के निर्माण और विनाश क्षणभरके लिए ही प्रतीत होते हैं, यह तुम जानो ॥ २० ॥

पार्थ, अनेक तरहके विषयानुभववाले मनोराज्यमें क्षणिक मोहसे परिकल्पित वध्य-घातकभावादिरूप तुम्हारी कल्पना आज ही मेरे उपदेशसे क्षीण हो जाती है ॥ २१ ॥

शङ्का हो कि क्षणिक मोह अनादि एवं अनन्त कल्पोंमें विस्तीर्ण संसाररूप मनोराज्य कैसे रचेगा ? तो इसपर कहते हैं—'असदेव' इत्यादिसे ।

जैसे असत् मनोराज्यका निर्माण करनेके लिए मन अपनेमें शक्ति रखता है, वैसे ही क्षणरूप कालको कल्प बनानेमें भी वह (मन) अपनेमें शक्ति रखता ही है ॥२२॥

हे अर्जुन, क्षणको कल्प कर देता है और असत्‌को उत्पन्न कर देता है—यह जो मनके विषयमें आश्चर्य है, वह तो बहुत ही थोड़ा है; उससे भी बढ़कर तो आश्चर्य यह है कि वह असत् जगत्‌को भी शीघ्र सद्रूप कर देता है ! इसलिए यह जगद्रूप भ्रान्ति इस प्रकारके आश्चर्य पैदा करनेवाले मनकी सामर्थ्यसे ही उत्पन्न हुई है ॥२३॥

उसे ही कहते हैं—'क्षणेनैव' इत्यादिसे ।

क्षणभरके लिए ही अज्ञानवश जो यह चित्र-विचित्रस्वरूप प्रतीत हुआ मनोराज्य है, वही दृश्यमान इस प्रपञ्च-जालके रूपसे स्थित है ॥ २४ ॥

पार्थ, यद्यपि ज्ञानियोंकी दृष्टिमें स्वतः नित्यमुक्त आत्मामें अध्यस्त, अतएव एकमात्र कल्पनासे उत्पन्न होनेके कारण प्रतीतिकालमात्रस्थायी यह तुच्छ जगत् क्षणिक ही है; तथापि इसी क्षणिक जगत्‌में इसके वास्तविक स्वरूपसे अपरिचित अज्ञानी लोगोंने दुरुच्छेदताकी कल्पना कर रखी है ॥ २५ ॥

प्रतिभासविपर्यासमात्रं ह्यविदिताकृतेः ।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा क्वैव सा वज्रसारता ॥ २६ ॥
चित्तचित्रकृतश्चित्स्थं जगच्चित्रं कदा स्थितम् ।
अकुड्यमप्यरङ्गाढ्यमिदं स्फारमिवाऽग्रतः ॥ २७ ॥
अहो नु चित्रं निर्भित्ति चित्रमुज्ज्वलमुत्थितम् ।
सुरञ्जनं जगदिति स्फुटं दृष्टिविलोभनम् ॥ २८ ॥
नानातमोमषीलेखं नानातेजोंशुरञ्जनम् ।
नानाकल्पाङ्गचयवं नानारागानुरञ्जितम् ॥ २९ ॥
नानादृष्टिविलासाढ्यं नानानुभवलोचनम् ।
नानाग्रहोग्रकचनं नानाकाराग्रपश्चिमम् ॥ ३० ॥

परन्तु वह ठीक नहीं है, यह कहते हैं—'प्रतिभास०' इत्यादिसे ।

चूँकि यह जगत् अज्ञाततत्त्व आत्माका एकमात्र अन्यथाप्रतिभास ही है, इसलिए इस तरहके जगत्‌के आरोप या बाध में भला कौन-सी वह दुरुच्छेदता है ? अर्थात् कोई है ही नहीं ॥ २६ ॥

जो वस्तु स्थित रहती है, उसीके निरासमें प्रयत्नकी अपेक्षा होती है, यह जगत् तो कभी स्थित ही नहीं है, यह कहते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

पार्थ, भला बतलाओ तो सही, चितिमें अध्यस्त चित्तरूप चित्र-निर्माताका जगद्रूप यह चित्र किस समय स्थित रहता है ? । [अपनी कारण-सामग्रीसे शून्य तथा स्वयं असद्रूप जगत्-चित्र आँखोंके सामने प्रस्फुरित हो रहा है—यह एक महान् आश्चर्य है, यह कहते हैं—'अकुड्य०' से ।] तथापि यह महान् आश्चर्य है कि अपनी आधारभूत भित्तिसे रहित, चित्रके साधनभूत नील, पीत आदि रङ्ग-द्रव्योंसे शून्य यह जगत्-चित्र सामने विस्तृत-सा दिखाई दे रहा है ॥ २७ ॥

अहो, अत्यन्त आश्चर्य है कि यह उज्ज्वल चित्र भीतके बिना ही उत्पन्न होकर सामने दिखाई दे रहा है । [सामने किस प्रकारका है ? इसपर कहते हैं—'सुरञ्जनम्' से ।] यह जगद्रूप चित्र भलीभाँति लोगोंका अनुरञ्जन करनेवाला है, और है दृष्टि, मन आदिको भी लुभानेवाला ॥ २८ ॥

यह नाना प्रकारके तमरूपी स्याहीसे लिखा गया है और नाना प्रकारके तेजःकिरणोंसे सुहावना है । यह नाना कल्प और उनके अङ्गभूत युग आदिरूप अवयवों से युक्त है तथा नाना प्रकारकी अभिलाषाओंसे रँगा गया है ॥ २९ ॥

यह नाना प्रकारके दृश्योंके विलासोंसे परिपूर्ण है, अनेक अनुभवरूप नेत्रोंसे

व्योमनीलसरःफुल्लताराचन्द्रार्कपङ्कजम् ।
विचित्ररचनोद्युक्तमेघालीपत्रमञ्जरि ॥ ३१ ॥
प्रकोष्ठकाभिलिखितसुरासुरनृपुत्रिकम् ।
परमालोकमङ्कोलयुवताकाशकुड्यकम् ॥ ३२ ॥
आकाश एव रचिता प्रतिभैकरङ्गा
मुग्धा जगत्त्रयमनोहरपुत्रिकेयम् ।
चिन्मात्रचक्रपरिरञ्जितसर्वलोका
लीलाकुला चपलचित्तकचित्रकर्त्री ॥ ३३ ॥
हेमाचलाङ्गलतिका घनकेशपाशा
चन्द्रार्कलोचनविचालनदृष्टलोका ।
धर्मार्थकामविनियन्त्रितशास्त्रवस्त्रा
पातालजालचरणोन्नतभूनितम्बा ॥ ३४ ॥

समन्वित है तथा अनेक प्रकारके ग्रहोंसे अत्यन्त चमक रहा है। सूर्योदय और सूर्यास्त आदि कालोंमें इसकी पूर्व और पश्चिम दिशाएँ नाना आकारोंसे युक्त होती हैं ॥३०॥

वहाँपर चित्रपद्मवन आदिका वर्णन करते हैं—'व्योम०' इत्यादिसे ।

इसमें आकाशरूप नीलसरोवरमें खिले हुए तारें, चन्द्र एवं सूर्य रूप कमल हैं। इस जगद्रूप चित्रमें शरद् आदि कालभेदों द्वारा विचित्र रचनाओंसे ऊपर सुशोभित मेघपङ्क्तिरूप पत्ते और मञ्जरियाँ लगी हुई हैं ॥ ३१ ॥

इसके त्रिभुवनात्मक प्रकोष्ठोंमें (चित्रकोष्ठ-भेदोंमें) चारों ओर देव, असुर, मनुष्य आदिरूप पुतलियाँ लिखी गई हैं। परम उत्कृष्ट सूर्य, चन्द्र आदिके आलोकस्वरूप सुधालेपसे तरुणकी नाईं विराज रहे आकाशरूप भित्तियोंसे यह समन्वित है ॥३२॥

अब त्रिलोकीका ही देवनटीरूपसे वर्णन करते हैं—'आकाशे' इत्यादिसे ।

पार्थ, कामुक चित्तरूप इस चितेरेने अधिष्ठानभूत ब्रह्माकाशमें ही इस जगद्रूपी मुग्ध मनोहर नटीका निर्माण किया है। इस नटीकी मुख्य नृत्यशाला प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि) ही है, नृत्यशालामें दीपकका कार्य कर रहे साक्षि-चैतन्यके प्रतिबिम्बसे युक्त और चक्रकी नाईं परिभ्रमणशील बुद्धिवृत्तिरूप आभूषणोंसे इसने समस्त लोकोंको प्रकाशित किया है और यह नृत्य, हाव, भाव, विलास आदि लीलाओंमें सदा व्यस्त रहती है ॥ ३३ ॥

सुवर्णमय ब्रह्माण्ड ही इस नटीकी दृढ अङ्गलतिका (शरीरलता) है, मेघ ही

ब्रह्मेन्द्ररुद्रहरिबाहुचतुष्टयोग्रा
सत्त्वावृतोन्नतकुचस्फुरदङ्गयष्टिः ।
सुव्यालवेष्टितमहीतलपद्मपीठा
पत्रीकृताऽचलमहाभुवनोदरी च ॥ ३५ ॥

रात्र्यन्धकारचपलत्वहराक्षिचेष्टा
ताराकरालपुलका पविदन्तपङ्क्तिः ।
चञ्चचतुर्दशविधातुलभूतजात-
रोमाञ्चना प्रलयवादकदम्बपुष्पा ॥ ३६ ॥

इसके (नटीके) केशपाश हैं, तथा चन्द्र और सूर्य रूपी नेत्रोंके सञ्चालनसे यह सम्पूर्ण लोकोंका अवलोकन भी किया करती है। धर्म, अर्थ और काम के अनुकूल प्रवृत्ति-निवृत्तिशास्त्र ही इसके दो वस्त्र हैं; इसके पातालस्वरूप ऊरु, जानु, जङ्घा, गुल्फ, पाद, पार्ष्णी, और अङ्गुलि—इन सात अवयवोंवाले दो चरण हैं और उन्नत पृथिवी ही इसका नितम्ब है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, शङ्कर और विष्णु—इसकी चार भुजाएँ हैं और उनसे यह समर्थ है। सत्त्वगुणरूप कञ्चुकीसे ढके हुए, उन्नत विवेक और वैराग्य स्वरूप दो कुचोंसे इसकी देह शोभती है; शेष आदिसे वेष्टित पृथिवीतल ही इसका पद्माकार पीठ है तथा गोरोचन, कस्तुरी आदि नानाविध वर्णोंसे पत्ररचनाके स्थानरूप बनाये गये मेरु, अञ्जन, हिमालय आदि नानावर्णवाले पर्वतोंसे युक्त महाभुवन (मध्यलोक) ही इस नटीका उदर है ॥ ३५ ॥

इस त्रिलोकी नटीकी चन्द्र-सूर्यरूप आँखोंकी चेष्टाएँ रात्रिके अन्धकारकी चपलताको, जो कि मेरुप्रदक्षिणाकरणरूप है, दूर करती हैं, तारें ही इसके घने पुलक हैं, बिजली ही इसकी दन्तपङ्क्ति है, चञ्चल और परस्पर असमान, भुवन-भेदसे चौदह प्रकारके प्राणी ही इसके रोमाञ्च हैं और उन प्राणियोंमें प्रसिद्ध भूत, भुवन, आदिकी प्रलय-कथाएँ ही—चारों ओर सद्बुद्धिरूप केसरोंको और श्रोताओंके लिए वैराग्य, सद्वासना रूप सौगन्ध्यको प्रसारित करनेके कारण—मानो इसकी पैरतक लटकनेवाली कदम्ब-मालाके फूल हैं ॥ ३६ ॥

जीवान्विता गगन एव कृता विचित्रा
व्योमात्मिकाऽचिरविलक्षणचित्रकर्त्रा ।
चित्तेन चित्रपरिकर्मविदा त्रिलोकी
नानाविलासवलिता वरपुत्रिकेति ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने चित्तवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीभगवानुवाच

इदं विद्धि महाश्चर्यमर्जुनेह हि यत् किल ।
पूर्वं सञ्जायते चित्रं पश्चाद्भित्तिरुदेति हि ॥ १ ॥

यह समष्टि और व्यष्टिरूप जीवसे समन्वित है, अद्भुत है, आकाशके समान शून्यरूप है और नाना प्रकारके विलासोंसे वेष्टित भी है। उपर्युक्त प्रकारसे वर्णित त्रिलोकीरूप इस श्रेष्ठ चित्रमयी नटीका—चित्रके उपकरणभूत विचित्र वासना, काम एवं कर्मों को प्राप्त किये हुए, अतएव शीघ्र ही अद्भुत चित्रोंका निर्माण करनेमें समर्थ चित्तरूप चित्रकारने अपने अधिष्ठानरूप चिदाकाशमें ही—चित्रण किया है ॥ ३७ ॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

[जिस दृष्टिसे मन शीघ्र ही वासनाशून्य हो जाता है और सुखस्वरूप अद्वितीय आत्मा अवशिष्ट रह जाता है, उस दृष्टिका उपदेश]

वासनाकी शिथिलतामें उपयोगी होनेसे पूर्वमें प्रदर्शित जगत्में आश्चर्यता-दृष्टिका ही वर्णन करते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन, इस संसारके विषयमें सबसे बढ़कर यह आश्चर्य समझो कि पहले तो निराश्रयमें जगद्रूप चित्र उत्पन्न होता है और उसके बाद आधाररूप भूत, भुवन आदि विराट् भित्ति उत्पन्न होती है। [व्यष्टि-समूहस्वरूप समष्टिभूत विराट्‌की कल्पना व्यष्टिकल्पनाके अधीन है, इसलिए भी उसकी बादमें उत्पत्ति है, यह जानना चाहिए] ॥ १ ॥

अभित्तावुत्थिते चित्रे दृश्यते भित्तिराततां ।
अहो विचित्रा मायेयं मग्नं तुम्बं शिला प्लुता ॥ २ ॥
चित्तस्थचित्रसदृशे व्योमात्मनि जगत्त्रये ।
व्योमात्मनस्ते किमियमहन्ताव्योमतोदिता ॥ ३ ॥
सर्वं व्योम कृतं व्योम्ना व्योम्नि व्योम विलीयते ।
भुज्यते व्योमनि व्योम व्योम व्योमनि चाऽऽततम् ॥ ४ ॥
वेष्टितं वासनारज्ज्वा दीर्घसंसृति दामवत् ।
वासनोद्वेष्टनेनैव तदिहोद्वेष्टयतेऽर्जुन ॥ ५ ॥

हे अर्जुन, पहले निराश्रय चित्रके उत्पन्न हो जानेपर पीछे उसकी आश्रयभूत विशाल भित्ति दीख पड़ती है—अहो ! यह एक अद्भुत माया है। [इसका स्वरूप अत्यन्त असंभावित है, इसलिए यह माया है और अत्यन्त विरुद्ध होनेसे इसका स्वरूप असंभावित है, इस आशयसे प्रसिद्ध इस प्रकारकी मायाका दृष्टान्त देते हैं—'मग्नम्' से ।] यह उस तरहकी है, जिस तरह तुम्बी जलमें डूबती हो और पत्थरकी चट्टान तैरती हो ॥ २ ॥

जगद्रूप चित्रमें तो एक आश्चर्यमयता है ही, परन्तु उससे भी बढ़कर आश्चर्य-तो यह है कि शून्यरूप उसमें (जगत्में) चिदाकाशस्वरूप तुम्हें जो अहम्भाव हो रहा है, यह कहते हैं—'चित्तस्थ०' इत्यादिसे ।

पार्थ, चित्तमें स्थित चित्रके समान शून्यस्वरूप तीनों जगत्में चिदाकाशस्वरूप तुम्हें शून्यतारूप अहन्ता कैसे उदित हुई ? अर्थात् इसमें तो आश्चर्यकी पराकाष्ठा हुई ॥ ३ ॥

यदि जगत्में भी चिदाकाशताका ही तुम अवलोकन करते हो तो वह दृष्टि इस रूपमें पर्यवसित हुई, यह भी आश्चर्य ही है, यह कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

चिदाकाशसे निर्मित सब कुछ चिदाकाशस्वरूप ही है, चिदाकाशमें चिदाकाशके द्वारा चिदाकाश विलीन होता है, चिदाकाशमें ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाशका उपभोग किया जाता है और चिदाकाश द्वारा चिदाकाशमें चिदाकाश ही विस्तृत हुआ है ॥ ४ ॥

हे अर्जुन, [जब तुम जगत्में चिदाकाशताकी दृष्टि रखते हो तब तो] जिसमें दीर्घ भ्रमण है, ऐसा जगद्रूप यह चित्र रज्जुकी नाईं फैली हुई

प्रतिबिम्बं यथाऽऽदर्शे तथेदं ब्रह्मणि स्वयम् ।
अगम्यं छेदभेदादेराधारानन्यतावशात् ॥ ६ ॥
अनन्यच्छेदभेदादि ब्रह्मणि ब्रह्मणाऽम्बरम् ।
किं कथं कस्य केनैव च्छिद्यते वा क्व भिद्यते ॥ ७ ॥
तेनेह वासनाभावो बोधात् संपन्न एव ते ।
यो न निर्वासनो नूनं सर्वधर्मपरोऽपि सन् ।
सर्वज्ञोऽप्यतिबद्धात्मा पञ्जरस्थो यथा हरिः ॥ ८ ॥

वासनारूप रज्जुसे यदि वेष्टित होता है; तो वह चिदाकाश भी इस जगत्‌में वासनाके वेष्टनसे वेष्टित होता ही है ॥ ५ ॥

इस वासना-वेष्टनकी ज्ञानसे अतिरिक्त किसी और उपायसे जो दुरुच्छेद्यता है, वह भी अधिष्ठानकी दृढ़तासे ही है, न कि स्वतः उसकी दृढता है, यह कहते हैं—'प्रतिबिम्बम्' इत्यादिसे ।

जैसे प्रतिबिम्ब अपने आधारभूत दर्पणमें स्थित रहता है; वैसे ही यह जगत् भी, जो कि अपने अधिष्ठानरूप ब्रह्मसे भिन्न न होनेके कारण छेदन एवं भेदन के अयोग्य है, अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें ही स्थित है ॥ ६ ॥

इसीलिए 'ब्रह्मरूपताके अवलोकनसे जगत्‌में छेदन, भेदन आदि सब व्यवहारोंकी अयोग्यताके दर्शनसे समस्त वासनाओंका समूल उच्छेद करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'अनन्यच्छेद०' इत्यादिसे ।

अर्जुन, जब ब्रह्ममें प्रतिभासित छेदन, भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्—ये सब ब्रह्मसे अभिन्न होकर एकमात्र चिदाकाशस्वरूप ही हो गये, तब किस कर्ता या करण से किस प्रकारसे किस फलके लिए किस देश या किस काल में क्या छिन्न-भिन्न किया जा सकता है । तात्पर्य यह है कि छेदन आदि व्यवहारवाद ब्रह्मसे अतिरिक्त विषयोंमें देखे गये हैं, इसलिए जब यह जगत् ब्रह्मसे अभिन्न ही सिद्ध हो चुका है तब किसी कर्ता या करण से किसी प्रकारसे किसी फलके लिए किसी देश या काल में कुछ भी छिन्न या भिन्न नहीं हो सकता । अतः इन वासनाओंको तुम समूल उखाड़कर फेंक दो ॥७॥

इस उपायके द्वारा बोधसे यहाँपर तुम्हारी वासनाओंका भी ब्रह्मातिरिक्तरूपसे अभाव सिद्ध ही है । [और यदि इस प्रकारका ज्ञान न हो तो वासना-बन्ध दुरुच्छेद ही है, यों पूर्वोक्त कथनका स्मरण कराते हैं—'यो' से ।] जो वासनासे निर्मुक्त नहीं है, भले ही वह समस्त शास्त्रीय कर्मोंमें परायण रहा हो और समस्त बाह्य विषयोंका

यस्याऽस्ति वासनाबीजमत्यल्पं चितिभूमिगम् ।
बृहत् सञ्जायते तस्य पुनः संसृतिकाननम् ॥ ९ ॥
अभ्यासाद्धृदि रूढेन सत्यसंबोधवह्निना ।
निर्दग्धं वासनाबीजं न भूयः परिरोहति ॥ १० ॥
दग्धं तु वासनाबीजं न निमज्जति वस्तुषु ।
सुखदुःखादिषु स्वच्छं पद्मपत्रमिवाऽम्भसि ॥ ११ ॥
शान्तात्मा विगतभयोज्झितामिताशो
निर्वाणो गलितमहामनो विमोहः ।
सम्यक् त्वं श्रुतमवगम्य पावनं त-
च्चिष्ठात्मन्यपहतिरेकशान्तिरूपः ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने अर्जुनविश्रान्तिवर्णनं नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥५७॥

पण्डित हो; फिर भी उस प्रकार वह चारों ओरसे अत्यन्त बद्ध है, जिस प्रकार पिंजड़ेमें स्थित सिंह या सुग्गा ॥ ८ ॥

वासनाको हृदयमें अणुमात्र भी स्थान न देना चाहिए, क्योंकि वह हजारों अनर्थोंकी बीज है, इस आशयसे कहते हैं—'यस्याऽस्ति' इत्यादिसे ।

जिसकी चित्तरूपी भूमिमें अणुमात्र भी वासनारूप बीज पड़ा रहता है, उसका [अनेक अनर्थोंसे भरा हुआ] संसाररूप जङ्गल पुनः बढ़ जाता है ॥ ९ ॥

अभ्याससे हृदयमें रूढ, तत्त्वज्ञानस्वरूप अग्निसे निःशेष जल गया वासनारूपी बीज पुनः अङ्कुर-जननकी सामर्थ्य नहीं रखता ॥ १० ॥

निःशेष जले हुए वासना-बीजोंसे युक्त तथा स्वच्छ मन जागतिक सुख-दुःखादि वस्तुओंमें वैसे ही नहीं डूबता, जैसे पानीमें कमलका पत्ता ॥ ११ ॥

कथित उपदेश-क्रमका उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् अर्जुनकी निर्वासन-स्थितिमें प्रतिष्ठा कराते हैं—'शान्तात्मा' इत्यादिसे ।

हे अर्जुन, तुम असंख्य आशाओंको छोड़ते हुए प्रसिद्ध और पवित्र भगवद्गीता-रूप मेरे उपदेशको भलीभाँति समझकर महान् मोहसे शून्यमना और बन्धु-वधादि क्लेशोंसे रहित होकर वासनारहित आत्मामें चित्तका विलयकर शान्त ब्रह्मस्वरूप होकर, अतएव भयशून्य एवं परम निर्वृत होकर स्थित रहो ॥ १२ ॥

सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त

अष्टपञ्चाशः सर्गः

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

वृत्तयो यदि बोधेन संशान्ता हृदये स्फुटम् ।
तच्चित्तं शान्तमेवाऽन्तर्विद्धि सत्त्वमुपागतम् ॥ २ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग

[तत्त्वज्ञानसे अविद्यासहित वासनाका नाश तथा उसीसे अर्जुनकी कृतार्थता—यह वर्णन]

अर्जुनने कहा—हे अच्युत, तुम्हारे प्रसादसे (अनुग्रहप्रयुक्त तुम्हारे उपदेशसे) वासनासहित अज्ञान नष्ट हुआ। भूले हुए कण्ठस्थित हारकी नाईं स्वतःसिद्ध आत्मतत्त्वका साक्षात्कार मैंने पाया। और उससे सम्पूर्ण सन्देहोंके बीजोंका नाश होनेके कारण बन्धुवध आदिके कर्तव्यताविषयक सन्देहसे रहित होता हुआ मैं स्थित हूँ। अतः तत्त्वमें अवस्थिति करना और यथाप्राप्त व्यवहारोंको करना—इस विषयमें आपका जो वचन (आदेश) है, उसका मैं [पूर्णतया] पालन करूँगा ॥ १ ॥

इस प्रकार यद्यपि अर्जुनने अपनी कृतार्थता दिखलाई; तथापि अपने उपदिष्ट तत्त्वज्ञानसे समूल वासनाक्षयको युक्तियोंसे दृढ कर रहे श्रीभगवान् कहते हैं—'वृत्तयो' इत्यादिसे।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन, तत्त्वज्ञानसे तुम्हारे हृदयमें रागादि वृत्तियाँ यदि अशेषरूपसे शान्त हो चुकीं; तो सवासनात्मक चित्त भी भीतर शान्त होकर निर्वासनताको प्राप्त हो गया, यह तुम जानो। इस विषयमें यह श्रुति प्रमाण है—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' कठोप० ६।१४ (विषयसुखेच्छा आदिरूप काम, जो कि तत्त्वज्ञानसे पूर्व विद्वान्के हृदयमें स्थित हैं, जब सर्वत्र स्वात्मदृष्टिसे क्षीण हो जाते हैं; तब मनुष्य मुक्त हो जाता है और इस शरीरमें ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है) ॥ २ ॥

अत्र तच्चेत्यरहितं प्रत्यक्चेतननामकम् ।
यत्त्वशेषविनिर्मुक्तं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ॥ ३ ॥
न केचन विदन्त्येते तत्पदं जागतादयः ।
भूतलाद् गगनोड्डीनं विहङ्गमिवोन्नतम् ॥ ४ ॥
प्रत्यक्चेतनमाभासं शुद्धं सङ्कल्पवर्जितम् ।
अगम्यमेनमात्मानं विद्धि दूरं दृशामिव ॥ ५ ॥
सर्वातीतं यदत्यच्छं विना शुद्धं स्ववासना ।
न शक्नोति पदं द्रष्टुं जनदृष्टिरणूनिव ॥ ६ ॥
यत्प्राप्तौ सर्व एवेमे क्षीणा घटपटादयः ।
वराकी वासना तत्र किं करोतु परे पदे ॥ ७ ॥

इस निर्वासनरूप सत्त्वावस्थामें वह प्रत्यक्चेतननामक ब्रह्म विषयोंसे रहित हो जाता है, जो कि व्यवहारमें सर्वस्वरूप और परमार्थमें सर्वतः अशेष-विशेषोंसे विनिर्मुक्त है ॥ ३ ॥

उस प्रत्यगात्माके पदको ये चक्षु आदि इन्द्रियाँ और अज्ञानी लोग कोई भी उस प्रकार नहीं जान पाते, जिस प्रकार भूमिसे आकाशमें उड़कर दूर-देशमें प्राप्त हुए पक्षीको ॥ ४ ॥

पार्थ, महाभूत आदि तेरह प्रकारके क्षेत्रोंके अवभासक, शुद्धस्वरूप, सङ्कल्प-रहित, निर्विषय इस प्रत्यगात्माको इन्द्रियोंसे दूर (असन्निकृष्ट) सा जानो ॥ ५ ॥

उसके दर्शनमें श्रवण आदिसे परिपुष्ट की गई भलीभाँति अभ्यस्त निदिध्यासन-नामकी उसकी भावना ही आवश्यक है, यह कहते हैं—'**सर्वातीतम्**' इत्यादिसे ।

पार्थ, अपनी वासना निदिध्यासननामक आत्मभावनाके सिवा उस ब्रह्मपदको, जो सर्वातीत, चित्स्वभाव होनेसे अत्यन्त स्वच्छ और असङ्ग होनेके कारण शुद्ध है; वैसे नहीं देख सकती जैसे लोगोंके नेत्र परमाणुओंको नहीं देख सकते ॥ ६ ॥

जिसमें घट, पट आदि स्थूल पदार्थोंका भी बाध हो जाता है, उसमें परमसूक्ष्मरूप वासनाओंकी स्थिति कहना तो अत्यन्त ही असंभावित है, यह कहते हैं—'**यत्प्राप्तौ**' इत्यादिसे ।

जिसकी प्राप्तिमें ये घट, पट आदि सभी स्थूल पदार्थ भी नष्ट हो गये, उस परमपदके विषयमें बिचारी परमसूक्ष्मस्वरूप वासना क्या करे ! ॥ ७ ॥

यथाऽनलगिरिं प्राप्य हिमलेशो विलीयते ।
शुद्धमासाद्य चित्तत्त्वमविद्या लीयते तथा ॥ ८ ॥
क्व वराकी रजस्तुच्छा वासना भोगबन्धनम् ।
क्व पूरितजगज्जालश्चित्तत्त्वविपुलानिलः ॥ ९ ॥
तावत् स्फुरत्यविद्येयं नानाकारविकारिणी ।
यावन्न संपरिज्ञातः शुद्धः स्वात्माऽयमात्मना ॥ १० ॥
सर्वा दृश्यदृशः क्षीणाः स्वच्छतैवोदिता तथा ।
नभसीव पदे तस्मिन् स्वात्मन्यखिलपूरणे ॥ ११ ॥
समग्राकाररूपं तत् समग्राकारवर्जितम् ।
वागतीतं परं वस्तु केन नामोपमीयते ॥ १२ ॥
विषयविषविषूचिकामतस्त्वं
निपुणमहंस्थितिवासनामपास्य ।
अभिमतपरिहारमन्त्रयुक्त्या
भव विभवो भगवान् भियामभूमिः ॥ १३ ॥

जैसे ज्वालामुखी पर्वतको प्राप्तकर हिमलेश बिलकुल विलीन हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चितितत्त्वको प्राप्तकर अविद्या भी विलीन हो जाती है ॥ ८ ॥

कहाँ भोगबन्धनरूप रजःकणकी नाईं क्षुद्र बिचारी वासना, और कहाँ सम्पूर्ण जगत्को अपनेमें समा लेनेवाला चितितत्त्वरूप विपुल पवन ! ॥ ९ ॥

पार्थ, नाना प्रकारके आकाररूप विकारोंवाली यह अविद्या तबतक प्रस्फुरित होती है; जबतक शुद्धस्वरूप यह अपना आत्मा तात्त्विकरूपसे भलीभाँति जाना नहीं जाता ॥ १० ॥

अपने उदरमें सम्पूर्ण विश्वको निगल जानेवाले, आकाशकी नाईं शून्यस्वरूप उस स्वात्मरूप ब्रह्मपदमें दृश्योंकी सम्पूर्ण दृष्टियाँ क्षीण हो गई हैं तथा विशुद्धरूपता ही उदित हुई है ॥ ११ ॥

जो पूर्णरूप है, समस्त जगदाकारोंसे वर्जित है और वाणीसे परे है; उस परम वस्तुकी भला किससे उपमा दी जा सकती है ! ॥ १२ ॥

हे अर्जुन, इसलिए तुम केवल पूर्ण आत्माके साक्षात्कारसे होनेवाली कामनाओंकी निवृत्तिरूप मन्त्र-युक्तिसे विषयात्मक विषसे उत्पन्न महामारीरूप, निरन्तर

वसिष्ठ उवाच

इति गदितवति त्रिलोकनाथे
क्षणमिव मौनमुपस्थिते पुरस्तात् ।
अथ मधुप इवाऽऽसिताब्जखण्डे
वचनमुपैष्यति तत्र पाण्डुपुत्रः ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

परिगलितसमस्तशोकभारा
परमुदयं भगवन् मतिर्गतेयम् ।
मम तव वचनेन लोकभर्तु-
र्दिनपतिना परिबोधिताऽब्जिनीव ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वोत्थाय गाण्डीवधन्वा स हरिसारथिः ।
अर्जुनो गतसन्देहो रणलीलां करिष्यति ॥ १६ ॥

प्रवृत्तिकी हेतु अन्तःकरणस्थित वासनाका निपुणतापूर्वक निराकरणकर संसार-बन्धनसे रहित तथा सम्पूर्ण अनर्थोंकी अभूमि (अभयस्वभाव) मद्रूप ही हो जाओ [यों अन्तमें भगवद्गीताके सम्पूर्ण तात्पर्यका संग्रह कर श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश दिया] ॥ १३ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, इस प्रकार उपदेश दे चुके त्रिलोकीके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके, श्वेत-कमलमें भ्रमरकी नाईं, क्षणभरके लिए मौन धारणकर सामने स्थित हो जानेपर वहाँ पाण्डुपुत्र अर्जुन पुनः यह वचन कहेगा ॥ १४ ॥

अर्जुनने कहा—हे भगवन्, सम्पूर्ण लोकोंका भरण-पोषण करनेवाले आपके वचनसे (भगवद्गीतारूप उपदेशसे) मेरी यह बुद्धि, जिसका समस्त शोकभार गल गया है, उस प्रकार परम विकासको प्राप्त हुई है; जिस प्रकार सूर्यसे कमलिनी विकासको प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

श्रीरामजी, उस प्रकारके वचन कहकर और उठकर गाण्डीवधनुर्धारी, श्रीकृष्णरूप सारथिवाला वह पाण्डुपुत्र अर्जुन सन्देहरहित होता हुआ रणलीला करेगा यानी युद्धमें जुट जायगा ॥ १६ ॥

करिष्यति क्षतगजवाजिसारथि-
द्रुतक्षरद्रुधिरमहानदीं भुवम् ।
शरोत्करप्रसरमहारजःस्थली-
तिरोहितद्युमणिविलोचनां दिवम् ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपाख्याने अर्जुनकृतार्थतानाम अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतां दृष्टिमवष्टभ्य राघवाऽघविनाशिनीम् ।
तिष्ठ निःसङ्गसंन्यासब्रह्मार्पणमयात्मकः ॥ १ ॥
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यमात्मानं विद्धि तं परम् ॥ २ ॥

श्रीरामभद्र, वह अर्जुन धरातलको ऐसी महानदियोंसे आक्रान्त कर देगा, जिनमें आहत बड़े-बड़े हाथी, घोड़े, सारथि आदि तत्काल ही बह जायँगे। और आकाशको भी ऐसा बना देगा कि उसका सूर्यरूप नेत्र—बाणोंके ढेरोंके प्रसरणोंसे और बिखरी महाधूलियोंसे निर्मित स्थलीसे—आच्छादित हो जायगा ॥ १७ ॥

अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त

उनसठवाँ सर्ग

[जिस दृष्टिसे जीवन्मुक्त-पदमें चितिकी स्पन्दरहित, विषयोंसे निर्मुक्त और निश्चल स्थिति होती है, उसका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, मेरे द्वारा कही जानेवाली सम्पूर्ण पापोंकी विनाशक दृष्टिका अवलम्बनकर आप निःसङ्गतारूप त्वंपदार्थशोधभूत सर्वत्याग और सम्पूर्ण जगत्का ब्रह्ममें बाधरूप तत्पदार्थशोधभूत ब्रह्मार्पण—इन दोनोंके अनन्तर परिशिष्ट अखण्ड महावाक्यके तात्पर्यविषयभूत सच्चिदानन्दैक-स्वरूप भूमात्मारूप होकर स्थित रहिए ॥ १ ॥

श्रीरामजी, सृष्टिकालमें जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, स्थिति-

दूरस्थमप्यदूरस्थं सर्वगं तत्स्थमेव च ।
तत्स्थः सत्तामवाप्नोपि तदेवाऽस्यस्तसंशयः ॥ ३ ॥
यत्संवेद्यविनिर्मुक्तं संवेदनमनिर्मितम् ।
चेत्यमुक्तं चिदाभासं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ ४ ॥
सा परा परमा काष्ठा सा दृशां दृगनुत्तमा ।
सा महिम्नां च महिमा गुरूणां सा तथा गुरुः ॥ ५ ॥

कालमें जिसमें सम्पूर्ण जगत् अवस्थित रहता है, संहारकालमें जो सम्पूर्ण जगत्स्वरूप हो जाता है, जो तीनों कालमें चारों ओर विद्यमान है और इस रीतिसे अनित्य प्रपञ्चात्मक होता हुआ भी जो सनातन निरतिशय ब्रह्मरूप है; उसीको आप 'आत्मा' जानिए, न कि परिच्छिन्न स्वभाववालेको ॥ २ ॥

श्रीरामभद्र, समस्त प्रपञ्चोंसे बहिर्भूत होनेके कारण वह आत्मा दूरस्थ होता हुआ भी सर्वान्तर्यामी होनेसे अदूरस्थ ही है, इसी तरह आकाशकी नाईं सर्वव्यापी होनेपर भी, जातिरूप धर्मके समान, वह तत्तत् वस्तुओंमें ही रहता है। [यों सभी युक्तियोंसे वही एक वस्तु है दूसरी नहीं—ऐसा सिद्ध हो जानेपर] जब परिच्छिन्नरूपसे भी उसमें स्थित हुए आप एकमात्र उसीकी सत्तासे अपनी सत्ता प्राप्त करते हैं, स्वतन्त्ररूपसे नहीं, तब आपको परिच्छेदाभिमानसे फल ही क्या मिला ? वास्तवमें अपरिच्छिन्न सन्मात्रस्वरूप ही आप हैं; अतः परिच्छेदके संशयसे रहित हो जाइए ॥ ३ ॥

विवेकी पुरुषों द्वारा चिदात्माके अनुभूयमान दो रूप हैं —एक तो चित्त और उसकी वृत्ति में प्रतिबिम्बित विषयार्थप्रकाशन, जो कि चित्तनिर्मित है, और दूसरा चित्त, उसकी वृत्ति और उसके विषयोंके आगम, अपाय आदि सभी अवस्थाओंके साक्षिभूत संविद्रूप, जो कि नित्यसिद्ध है। वे दोनों यदि विषय और संवेद्य (त्रिपुटी) से विनिर्मुक्त हो जायँ तो परमपद ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं, यह आप जानिए ॥ ४ ॥

चेत्य एवं संवेद्य से विनिर्मुक्त संवित्की वह परा स्थिति 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियोंमें उक्त आनन्द और उत्कर्ष की परम्पराकी परम अवधि है, वही दृष्टियोंमें सर्वोत्तम दृष्टि है और वही महत्त्वोंका परम महत्त्व है तथा वही मान्योंमें परम मान्य है। तात्पर्य यह कि उससे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है ॥ ५ ॥

स आत्मा तच्च विज्ञानं स शून्यं ब्रह्म तत्परम् ।
तच्छ्रेयः स शिवः शान्तः सा विद्या सा परा स्थितिः ॥६॥
योऽयमन्तश्चितेरात्मा सर्वानुभवरूपकः ।
यत्र स्वदन्ते सर्वाणि स्वात्मद्रव्याणि सत्तया ।
स जगत्तिलतैलात्मा स जगद्गृहदीपकः ॥ ७ ॥
स जगत्पादपरसः स जगत्पशुपालकः ।
स तन्तुर्भूतमुक्तानां परिप्रोतहृदम्बरः ॥ ८ ॥
स भूतमरिचौघानां परमा तीक्ष्णता तथा ।
स पदार्थे पदार्थत्वं स तत्त्वं यदनुत्तमम् ॥ ९ ॥
स सतो वस्तुनः सत्त्वमसत्त्वं वाऽसतः स्वतः ।
यः स्वविित्तिविचित्रेण स्वयमात्मैव लभ्यते ॥ १० ॥
सर्व एव जगद्भावा अविचारेण चारवः ।
अविद्यमानाः सद्भावा विचारविशरारवः ॥ ११ ॥

वही आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्वरूप है, वही पर ब्रह्म है, वही कल्याण है, वही शान्तस्वरूप शिव है, वही विद्या है और वही परा स्थिति है ॥ ६ ॥

चितिके भीतर समस्त अनुभवस्वरूप जो यह आत्मा है, जिसमें सभी अपने पदार्थ सद्रूपसे आस्वादित (अनुभूत) होते हैं; वही जगद्रूप तिलोंका तैलस्वरूप है और वही जगद्रूपी घरका दीपक (प्रकाशक) है ॥ ७ ॥

वह जगद्रूप वृक्षका रस यानी सार है, वह जगद्रूप पशुका पालक है, और प्राणीरूप मोतियोंके हृदयाकाशरूप मध्यमें पिरोया गया एक प्रकारका तन्तु भी वही है ॥ ८ ॥

वह भूतरूप मरीच-समूहोंकी तीक्ष्णता है तथा वही पदार्थोंमें पदार्थत्व है यानी सम्पूर्ण पदार्थोंका असाधारण स्वरूप है; जो सर्वोत्तम तत्त्व है, वह भी वही है ॥ ९ ॥

वही सद्वस्तुओंमें विद्यमान सत्त्व (सत्यत्व) है और स्वयं वही असद्वस्तुमें प्रतिष्ठित असत्त्व भी है, जो आत्मतत्त्वज्ञानरूप अलौकिक उपायसे सबको और स्वयं अपनेको आत्मरूपमें ही पाता है, अन्यरूपमें नहीं ॥ १० ॥

सद्रूप परमात्माके विकल्परूप सभी जगद्भाव, जो कि वस्तुतः अविद्यमान ही हैं, अविचारसे सुन्दर प्रतीत होते हैं और विचारसे क्षीण हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अहमादौ जगज्जाले मिथ्याभ्रमभरात्मनि ।
को नु भूत्वाऽनुबध्नामि वृत्तिं कथमवाप धीः ॥ १२ ॥
आद्यमध्यान्तमानानि सङ्कल्पकलनान्यहम् ।
ब्रह्माकाशमनाद्यन्तं कैवेयत्ता ममाऽऽत्मनः ॥ १३ ॥
इति निश्चयवानन्तः सम्यग्व्यवहृतिर्बहिः ।
उदयास्तमयोन्मुक्तस्थितिरन्तः स सर्वदा ॥ १४ ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति मनः समसमस्थितम् ।
यस्य खस्येव शून्यत्वं स महात्मेह तद्वपुः ॥ १५ ॥

किस प्रकारके विचारसे वे जगद्रूप भाव विशीर्ण हो जाते हैं ? इस आशङ्कापर उन विचारोंको दिखलाते हैं—'अहमादौ' इत्यादिसे ।

मिथ्याभूत अनेक भ्रमोंसे व्याप्त इस जगज्जालमें पहले शुद्धस्वरूप मैं कौन-सा औपाधिक रूपवाला होकर आस्था करूँ ? [शङ्का हो कि शुद्धस्वरूप भी तुम्हारे आस्था-बन्धनमें एकमात्र बुद्धिरूप उपाधि ही निमित्त होगी ? तो उसपर कहते हैं—'कथम्' से ।] असङ्ग एवं अद्वय स्वरूप मुझे बुद्धिरूप उपाधि भी कैसे प्राप्त हो सकती है ? [उसकी प्राप्तिमें कोई भी कारण नहीं है, यह भाव है] ॥ १२ ॥

वह बुद्धि किसी तरह प्राप्त भी हो जाय; फिर भी 'उससे जनित आदि, मध्य, अन्त आदि परिच्छेद और सङ्कल्पकल्पनाएँ—आदि और अन्तसे शून्य ब्रह्माकाश मैं ही हूँ, मुझसे अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं हैं' यों विचार करनेपर ब्रह्मस्वरूप मुझमें इयत्ता ही कैसी ? ॥ १३ ॥

इस प्रकारके विचारवान् पुरुषकी वह स्थिति लोक-शास्त्रसे अविरुद्ध व्यवहार कालमें भी दूर नहीं होती, इस आशयसे कहते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, जो पुरुष 'ब्रह्मस्वरूप मुझमें इयत्ता कैसी' इस प्रकारके अपने भीतर निश्चयसे युक्त रहता है, बाहरसे लोकशास्त्रके अविरुद्ध व्यवहारोंसे युक्त होनेपर भी उसकी उस प्रकारकी स्थिति सर्वदा भीतर उदय एवं अस्तसे विनिर्मुक्त ही रहती है । जिसका मन समसे भी सम ब्रह्ममें लीन होकर न उदित और न अस्त होता है एवं जिसकी दृष्टिमें मनकी आकाशके सदृश शून्यरूपता ही है वह महात्मा ही यहाँ ब्रह्मरूप है ॥ १४, १५ ॥

भावाद्वैतपदारूढः सुषुप्तपरया धिया।
व्यवहार्यपि संक्षोभं नैत्यादर्शनरो यथा ॥ १६ ॥
आदर्शपुरुषस्येव व्यवहारवतोऽपि च ।
न यस्य हृदयोल्लेखो मनागपि स मुक्तिभाक् ॥ १७ ॥
अविभागमिवाऽऽदर्शे चिन्मणौ प्रतिबिम्बति ।
चितेः परमनैर्मल्याद्व्यवहारो यथाऽऽगतः ॥ १८ ॥

व्यवहार-कालमें उस प्रकारकी स्थितिसे महात्माका पतन नहीं होता, इसमें युक्ति बतलाते हैं—'**भावाद्वैत०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, एकमात्र ब्रह्मभावनासे अद्वयरूप ब्रह्मपदपर आरूढ हुआ वह महात्मा सुषुप्त पुरुषकी नाईं सङ्कल्प-विकारोंसे रहित निर्विकार बुद्धिसे व्यवहार कर रहा भी उस प्रकार क्षोभ प्राप्त नहीं करता, जिस प्रकार आदर्शस्थित मनुष्यका प्रतिबिम्ब । तात्पर्य यह है कि यतः वह एकमात्र भावनासे ही अद्वय ब्रह्मपदपर आरूढ हो चुका है, अतः व्यवहारसे उस स्थितिसे नहीं गिरता *॥ १६ ॥

व्यवहार कर रहे भी जिस पुरुषके हृदयमें, दर्पणस्थ पुरुषकी नाईं, तनिक भी मानापमानसे जनित सुख-दुःख नहीं होते, वह पुरुष मुक्तिका भागी हो जाता है ॥ १७ ॥

चिन्मणिरूप उस जीवन्मुक्तमें किस तरह व्यवहार होते हैं ? ऐसी यदि शङ्का हो तो इसपर वहाँ दर्पण ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'**अविभाग०**' इत्यादिसे ।

दिखाई दे रहा मनुष्योंका व्यवहार दर्पणमें जैसे किसी प्रकारका विकार न करके ही प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही चितिरूप मणिमें यथाप्राप्त व्यवहार भी चितिमें किसी तरहका विकार न करके ही प्रतिबिम्बित होता है; क्योंकि चिति समस्त विकारमलोंसे वर्जित है ॥ १८ ॥

* तथाच, अभियुक्तोंने भी कहा है—

'भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित् ।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाऽद्वैतं गुरुणा सह ॥'

(सर्वदा भावनासे ही अद्वैत भाव करना चाहिए, कभी भी क्रियासे अद्वैत नहीं । तीनों लोकोंमें अद्वैतभाव करे, परन्तु गुरुसे अद्वैत न करे ।)

चिच्चमत्कृतिरेवेयं जगदित्यवभासते ।
नेहाऽस्त्यैक्यं न च द्वित्वं ममादेशोऽपि तन्मयः ॥१९॥
वाच्यवाचकशिष्येहागुरुवाक्यैश्चमत्कृतैः ॥ २० ॥
आत्मनाऽऽत्मनि शान्तैव चिच्चमत्कुरुते चिति ।
चित्प्रस्पन्दो हि संसारस्तदस्पन्दः परं पदम् ॥ २१ ॥
चित्स्पन्दशमनेनेयं परिशाम्यति संसृतिः ।
महाचित्ते नतेऽर्थांशभावनायो भावनाक्षयः ॥ २२ ॥
असन्नपि स्वभावं तत्संवित्स्पन्द उदाहृतम् ।
शून्यत्वमजडं यच्चत् परमाहुश्चितेर्वपुः ॥ २३ ॥
तत्त्वेन भावनायत्ता संसृतिः साऽनुभूयते ।
अभावनामात्रलयात् सा च निःसाररूपिणी ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, यह एकमात्र चितिका चमत्कार ही जगत्-रूपसे भासता है । इस चितिमें न तो एकत्व है और न द्वित्व ही है । वाच्य (अर्थ), वाचक (शब्द), शिष्य, ब्रह्मेहा, गुरु और गुरुवाक्यादिस्वरूप व्याख्यान आदि कल्पनारूप चमत्कारोंसे आपके प्रति दिया जा रहा यह मेरा उपदेश भी चिन्मयरूप ही है ॥ १९, २० ॥

परमार्थतः सर्वोपद्रवोंसे रहित ही यह चिति अपने-आप ही अपने स्वरूपभूत चितिमें प्रतिबिम्बित होती है । चितिका विवर्त ही संसार है और उसका विवर्त न होना ही मुक्तिरूप परमपद है ॥ २१ ॥

चितिके विवर्तका उपशम हो जानेसे ही यह संसार शान्त हो जाता है, अपरिच्छिन्न ब्रह्माकारमें चित्तके एकरस हो जानेपर जीव-जगद्रूप परिच्छिन्न भावोंका जो विनाश हो जाता है, वही परमपुरुषार्थ और भावना-क्षय है ॥ २२ ॥

चूँकि असद्रूप भी चितिविवर्त उक्त जड़स्वभाव जगत् बनाता है, इसलिए विवर्तशून्यता ही चितिका अजड़ परम चैतन्यरूप शरीर (स्वरूप) है—यों अनुभवनिष्ठ महात्मा लोग कहते हैं ॥ २३ ॥

श्रीरामजी, अनात्मदर्शनरूप जो संसार है, वह अनात्मभूत जगत्में तत्त्व-भावनाके अधीन है, इसीसे वह तत्त्वरूपसे अनुभूत होता है, उसमें तत्त्वकी एकमात्र अभावनासे जब तत्त्वभावनाका लय हो जाता है, तब वह जीवन्मुक्तका

केवलं केवलीभावात्तद्रूपा सैव शिष्यते ।
चित्स्पन्दमेव संसारचक्रप्रवहणं विदुः ॥ २५ ॥
मातृमानप्रमेयादि कटकादीव हेमनि ।
पृथगस्ति न च स्पन्दश्चितेर्या संसृतिर्भवेत् ॥ २६ ॥
चित्तमेव चितिस्पन्दस्तदबोधो हि संसृतिः ।
अबोधमात्रे चित्स्पन्दः कटकत्वमिवोत्थितम् ।
बोधमात्रविलीनेऽस्मिञ्छुद्धा चिद्राम शिष्यते ॥ २७ ॥
स्वभावबोधमात्रेण क्षीयते भोगवासना ।
भोगाभावनमेवेह परमं ज्ञत्वलक्षणम् ॥ २८ ॥

संसार बन जाता है, फिर वह जले हुए पटके समान बन्धनके लिए समर्थ नहीं होता ॥ २४ ॥

तब जीवन्मुक्तमें वह संसार कैसे अवशिष्ट रहता है ? इसपर कहते हैं—'केवलम्' इत्यादिसे ।

विवर्तशून्य केवल आत्मरूप बन जानेके कारण जीवन्मुक्तोंको वह संसार चिद्रूप होकर ही अवशिष्ट रहता है । अतः मुनिलोग आत्माके विवर्तको ही प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय आदिस्वरूप संसार-चक्रकी परम्परा कहते हैं । जैसे सुवर्णमें कटक आदि सुवर्णसे पृथक् नहीं है, वैसे ही चितिका स्पन्द भी चितिसे पृथक् नहीं है—जो संसार है ॥ २५, २६ ॥

चित्त ही चितिका विवर्त है, इसलिए फलित यही हुआ कि चिति-स्वरूपका अज्ञान ही संसार है । श्रीरामजी, अज्ञान-दशामें ही यह चितिस्पन्द, सुवर्णमें उत्थित कटकरूपताकी नाईं, उत्पन्न हुआ है, अतः एकमात्र बोधसे इस चितिस्पन्दके विलीन हो जानेपर शुद्धरूपा चिति ही अवशिष्ट रह जाती है ॥ २७ ॥

स्वात्मस्वरूपके बोधमात्रसे ही भोगवासना क्षीण हो जाती है । भोगवासनाका विनाश हो जानेपर अपने-आप सिद्ध हुआ विषयोंका अचिन्तन ही यहाँ उत्तम जीवन्मुक्तका स्वरूप समझा गया है ॥ २८ ॥

इतो नाऽभिमताः सर्वे ज्ञस्य भोगाः स्वभावतः ।
भवन्ति कोऽनितृप्तो हि दुरन्नं किल वाञ्छति ॥ २९ ॥
एतदेव परं विद्धि ज्ञत्वस्याऽपरलक्षणम् ।
स्वभावेनैव भोगानां यत् किलाऽनभिवाञ्छनम् ॥ ३० ॥
चित्तस्पन्दैव सर्वात्मरूपिण्यस्तीति निश्चयः ।
योऽन्तःप्ररूढः स्वभ्यासो ज्ञत्वशब्देन स स्मृतः ॥ ३१ ॥
यो न भुङ्क्ते भुज्यमानानपि भोगान् स बुद्धिमान् ।
लोकानुरोधसिद्ध्यर्थं स हन्ति लगुडैर्नभः ॥ ३२ ॥

ऐसा कौन कारण है, जिससे यह विषयोंका चिन्तन नहीं करता ? इसपर कहते हैं—'इतः' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, आत्मतत्त्वज्ञानके प्रभावसे ही स्वभावतः तत्त्वज्ञ पुरुषको सभी तरहके विषय अभीष्ट नहीं होते; क्योंकि ऐसा कौन अत्यन्त तृप्त पुरुष है, जो अस्वादु अन्नकी इच्छा करता हो ॥ २९ ॥

श्रीरामजी, जीवन्मुक्तताका दूसरा ('को नु भूत्वाऽनुबध्नामि' इत्यादि श्लोकोंसे वर्णित विवेक आदि लक्षणोंसे भिन्न दूसरा) असाधारण लक्षण आप इसे ही समझिए, जो स्वभावसे ही विषयोंकी अनभिलाषा है ॥ ३० ॥

अब फिर दूसरा लक्षण बतलाते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

'मेरा आत्मचैतन्य ही भोक्ता, भोग्य एवं भोगों के आकारसे स्पन्दयुक्त होकर सर्वस्वरूप स्थित है' इस प्रकारका भीतर उत्तम अभ्याससे युक्त दृढ जो निश्चय है; वही ज्ञत्वशब्दसे (जीवन्मुक्तत्वशब्दसे) कहा गया है ॥ ३१ ॥

जनसाधारणकी तरह उसकी जो देहधारणके साधन भोगोंमें प्रवृत्ति है, वह तो वृथा चेष्टा ही है, यह कहते हैं—'यो' इत्यादिसे ।

शरीररक्षणार्थ लोगोंका अनुरोध सिद्ध करनेके लिए अन्न आदि विषयोंका ऊपर-ऊपरसे उपभोग कर रहा भी जो परमार्थतः उपभोग नहीं करता, वही वास्तवमें तत्त्वज्ञ है । और इस प्रकार लोकानुरोध-सिद्धिके लिए ऊपर-ऊपरसे जो चेष्टाएँ करता है, वह मानो दण्डसे आकाशका ताडन करता है । तात्पर्य यह निकला कि आकाशताडनमें प्रवृत्त अज्ञजनोंका अनुरोध स्वीकारकर आकाश-ताडनमें प्रवृत्त बुद्धिमान् पुरुषकी चेष्टा जैसे उसके किसी भी अर्थके लिए नहीं होती, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ३२॥

विनाकृत्रिमया बुद्ध्या न सिद्धिरवगम्यते ।
क्वचिदात्मावलोके च स्वाङ्गावदलनैरपि ॥ ३३ ॥
चिच्चेत्यं चेत्यकोटिस्था तावत् पश्यति विभ्रमम् ।
इदं यावदबोधात्मा स्पन्दते स्पन्दरूपिणी ॥ ३४ ॥

शङ्का हो कि यदि वह वृथा चेष्टा है, तो 'सब लोगों द्वारा किया गया दण्डोंसे आकाश-ताडन मेरा ही है' इस बुद्धिकी तरह 'भोक्ता, भोग्य एवं भोगों के आकारोंमें परिणत स्वात्मचिति ही सर्वात्मक है' यह पूर्वोक्त बुद्धि भी भ्रान्तबुद्धि होनेसे कृत्रिम ही ठहरी; फिर वह जीवन्मुक्तके लक्षणरूपसे कैसे कही गई ? इसपर कहते हैं—'विना' इत्यादिसे ।

कृत्रिम बुद्धिके ('मैं ही सर्वात्मा हूँ' इस प्रकारकी सर्वात्मभावनारूप वृत्तिके) बिना निरतिशय आनन्दात्मक आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं होता । तात्पर्य यह है कि कृत्रिम भी सर्वात्मदर्शन परिच्छिन्न आत्मदृष्टिके निरास द्वारा तत्त्वज्ञानमें उपयोगी है; अतएव वह जीवन्मुक्तके लक्षणरूपसे कही गई है । [तब देहात्मबुद्धिके निरास द्वारा तत्त्वदर्शनके प्रति उपयोगी होनेसे हाथ, पैर आदि अपने अङ्गोंके छेदन, भेदन आदि साहसिक कर्म भी उसके लक्षण क्यों नहीं होंगे ! इसपर कहते हैं—'क्वचिदात्मा०' से ।] कहींपर यानी शास्त्रों या विद्वानोंके अनुभवों में सर्वात्मत्वदर्शनकी तरह अपने अङ्गोंके अवदलन आदि साहसोंका भी यदि आत्मदर्शनमें उपयोग प्रसिद्ध होता तो वह भी लक्षण हो सकता; परन्तु वैसी स्थिति नहीं है । [अथवा 'विनाकृत्रिमया' यहाँपर 'अकृत्रिमया' ऐसा पदच्छेद कर तद्नुसार यह अर्थ करना चाहिए कि] आत्मस्वरूपके आविर्भावमें अपरिच्छिन्न, आकारसे शून्य ब्रह्माकार अखण्डवृत्तिको छोड़कर अपने अङ्गोंके छेदन, भेदन आदिके सदृश कठिनतम साहसोंका कुछ भी उपयोग नहीं प्रतीत होता ॥ ३३ ॥

ऐसा क्यों ? इसपर कहते हैं—'चिच्चेत्यम्' इत्यादिसे ।

यह चिति जबतक अज्ञानसे आवृत रहती है तबतक स्वप्रकाश्य वृत्ति आदिके वर्गमें प्रविष्ट होकर स्वयं ही स्पन्दरूप-सी होती हुई बाह्य-विषयोंकी ओर जाती है और विभ्रम देखती है ॥ ३४ ॥

सम्यग्बोधोदयेऽन्तः स्यात्स्पन्दास्पन्ददशाक्रमः।
क्वाऽपि याति च संशान्तदीपवत् साभिधानकः ॥ ३५ ॥
चितः प्रशान्तरूपाया दीपिकायाः स्वभावतः।
स्पन्दास्पन्दमयी नेह कथैवाऽस्ति मनागपि ॥ ३६ ॥
यदस्पन्दस्य मरुतो न सन्नाऽसन्न मध्यगम्।
रूपं तदेवाऽसंवित्तिस्पन्दायाः प्रशमं चितेः ॥ ३७ ॥
अभिन्नः स्याच्चितः स्पन्दः शुद्धचित्स्फाररूपधृक्।
न बन्धाय न मोक्षाय स्थित आत्मनि केवलम् ॥ ३८ ॥
चिच्चेन्निरर्थसंवित्तिनिर्वाणे न च विन्दते।
तद्बन्धमोक्षपक्षादेर्नामाऽपीह न विद्यते ॥ ३९ ॥

जब भीतर उत्तम तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है तब स्पन्दास्पन्द-दशाका यह क्रम, शान्त दीपककी नाईं, अपने नामके साथ न जाने कहाँ चला जाता है ! ॥ ३५ ॥

वास्तवमें स्वभावतः प्रशान्तस्वरूप, चितिरूपा दीपिकाकी यहाँ स्पन्द एवं अस्पन्द रूपा कुछ भी कथा नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥

प्राण-चेष्टाकी आत्यन्तिक शान्ति भी वही है, यह कहते हैं— **'यदस्पन्दस्य'** इत्यादिसे।

स्पन्दरहित पवनका जो रूप न सत् है, न असत् है और न उनके मध्यग यानी अनिर्वचनीय ही है; उसे ही अज्ञान एवं स्पन्द से शून्य चितिका प्रशम अर्थात् 'मोक्ष' मुनिलोग जानते हैं ॥ ३७ ॥

जब चिद्रूप चितिका यह स्पन्दन शुद्धचितिके बृहदाकार ब्रह्माकारको धारण करता है, तब केवल आत्मामें स्थित हुआ यह न बन्धके लिए अर्थात् बन्धका भागी और न मोक्षके लिए ही अर्थात् मोक्षका ही भागी होता है ॥ ॥ ३८ ॥

यह चिति यदि व्यर्थभूत चित्ताकार और उसकी शान्तिरूप दो दशाओंको प्राप्त न करे तो इसमें बन्ध, मोक्ष आदि पक्षोंकी नाममात्रसे भी सत्ता न रहे ॥ ३९ ॥

मोक्षोऽस्त्वित्येव बोधोऽन्तः पूर्णताक्षयकारणम् ।
स माऽस्त्वित्यपि बन्धस्ते श्रेयोऽसंवेदनं परम् ॥ ४० ॥
यदनाभासमजडं तद्विद्धि परमं पदम् ।
चितः स्वरूपं संस्थानमचेत्योन्मुखतात्मकम् ॥ ४१ ॥
यः सङ्कल्पनशब्दार्थरूपः स्पन्दो महाचितः ।
बन्धमोक्षादिकार्होऽसौ प्रेक्ष्यमाणः प्रणश्यति ॥ ४२ ॥
प्रेक्षणादेव संशान्ते त्वहंभावे निरास्पदे ।
न विद्मः केन किं कस्य बध्यते वाऽथ मुच्यते ॥ ४३ ॥
सङ्कल्प एव रचिते बुधश्चेदविभागवान् ।
तदसङ्कल्पमस्पन्दं सर्वं जातमवारितम् ॥ ४४ ॥

श्रीरामजी, 'मुझे मोक्ष हो' यह बोध ही आत्माकी पूर्णताके नाशका हेतु है और 'वह (मोक्ष) न हो' यह भी आपके बन्धके लिए हेतु है। [तब कल्याणके लिए क्या करना योग्य है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'श्रेयोऽ०' इन सपाद अर्धद्वय श्लोकोंसे ।] अतः इनका (बन्ध एवं मोक्ष का) अज्ञान ही कल्याण है । तात्पर्य यह निकला कि चूँकि मुझे 'मोक्ष हो' इस ज्ञानसे भी आत्माकी पूर्णता नष्ट होती है और 'मोक्ष न हो' इससे भी बन्ध होता है, इसलिए बन्ध और मोक्ष का स्मरण न करना ही आपके लिए कल्याणकर है ॥ ४० ॥

स्वयंप्रकाश, चैतन्यरूप, सब पदार्थोंका आश्रय और विषयोन्मुखतासे रहित चितिका जो स्वरूप है, उसे ही आप परमपद जानिए ॥ ४१ ॥

तब भला कौन-सा बन्ध, मोक्ष आदि व्यवहारोंके योग्य पदार्थ है ? उसे कहते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

सङ्कल्पशब्दका वाच्यभूत महाचितिका जो स्पन्दन है, वही बन्ध, मोक्ष आदि व्यपदेशोंका भागी है। और तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर तो वह नष्ट भी हो जाता है ॥४२॥

श्रीरामभद्र, तत्त्वज्ञानसे अहङ्कारके शान्त होने और आश्रयहीन होने पर तो मैं नहीं जानता कि किसका किससे क्या बद्ध होता एवं क्या मुक्त ही होता है ॥ ४३ ॥

तब चितिके सङ्कल्परूप स्पन्दके त्यागका उपाय क्या है ? उसे कहते हैं—'सङ्कल्प एव' इत्यादिसे ।

स्पन्दे स्पन्दमये वाते तन्मयत्वात् सदा चिता।
संक्षीणे न च संसारो निस्पन्दे चिद्घने स्थिते ॥४५॥

चित्तेज एव चित्स्पन्द इति बुद्धे निरन्तरम् ।
व्यतिरिक्तश्चितः स्पन्दो न किञ्चिदवशिष्यते ॥ ४६ ॥

अस्मिन् दृश्यमये दीर्घस्वप्ने स्वप्नान्तरं व्रजन् ।
न ज्ञो मोहमुपादत्ते सर्वगत्वात् स्वसंविदः ॥ ४७ ॥

यदि विवेकी पुरुष स्वरचित सङ्कल्पमें ही अविभागवान् है यानी 'यह मुझसे सङ्कल्पित है और यह नहीं' इस प्रकारके पूर्वापर-विचारसे विभागोंको यदि छोड़ देता है तो [उत्पन्न हुआ भी सङ्कल्प बाहर स्पन्दजननमें असमर्थ होता हुआ यों ही नष्ट हो जाता है; और अर्थतः ही] यह सब अवारित असङ्कल्प और अस्पन्द रूप हो जाता है ॥ ४४ ॥

इस प्रकार प्रबुद्ध चैतन्यके द्वारा स्पन्द और स्पन्दमय पवनके क्षीण कर दिये जानेपर तन्मूलक संसार भी क्षीण ही हो जाता है, यह कहते हैं — 'स्पन्दे' इत्यादिसे ।

चूँकि यह संसार स्पन्दमय ही है, इसलिए प्रबुद्ध चैतन्यके द्वारा स्पन्द एवं स्पन्दमय पवन के नष्ट हो जानेपर चिद्घनके स्पन्दरहित होकर सदा स्थित हो जानेपर तन्मूलक संसार भी नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

अथवा 'यह चितिका स्पन्द चित्प्रकाशसे अतिरिक्त होकर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है' इस दृष्टिसे भी उसकी निवृत्ति होती है, यह कहते हैं—'चित्तेजः' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, 'चित्प्रकाश ही चितिका स्पन्द है' यों निरन्तर ज्ञान करनेपर यह जीव-जगद्रूप चितिस्पन्द चितिसे अतिरिक्त होकर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता ॥ ४६ ॥

श्रीरामजी, दृश्यमय इस दीर्घस्वप्नरूप संसारमें जन्मान्तर आदिरूप दूसरे स्वप्नमें जा रहा भी तत्त्वज्ञ अपने चलन आदि भ्रमको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि संविद्रूप अपना तत्त्वज्ञान सर्वगामी ही है ॥ ४७ ॥

यत्रोदेति प्रसभमनिशं सर्गसंविच्चिमच्चा
यस्मिन्नेते सकलकलनाकारपङ्का गलन्ति ।
उद्यन्त्येते स्वदनसुभगं यत्र सर्वोपलम्भा
ध्यानेनैवं तमवगमय प्रत्यगात्मानमन्तः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे प्रत्यगात्मावबोधो नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

षाष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवमाद्यं परं तत्त्वं चिद्घनं परमं पदम् ।
तत्स्था एते महारूपा ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
विभूतिभिः स्फुरन्त्युच्चैर्जनास्तुष्टा नृपा इव ॥ १ ॥

श्रीरामभद्र, जिसमें ये सम्पूर्ण जगत्के आकारोंके अनुभव, रोके जानेपर भी बलपूर्वक निरन्तर स्वजनित आनन्दास्वादसे सुन्दरता-पूर्ण उत्पन्न होते हैं, उक्त सम्पूर्ण ज्ञानोंकी स्थिति भी जिसमें उत्पन्न होती है एवं उक्त संविच्चिरूप समस्त कल्पनाओंके आकारस्वरूप पङ्क जिसमें लीन हो जाते हैं; उस प्रत्यगात्माको आप कथित रीतिसे विचारद्वारा देखिए ॥ ४८ ॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

[अद्वितीय शुद्ध परमात्माकी अपनी माया द्वारा सर्वाकारसे जो स्थिति है, वह उसकी विभूति है—यह वर्णन]

वर्णित ब्रह्मकी विभूतियोंका विस्तारसे वर्णन करने जा रहे महाराज वसिष्ठजी उनमें मुख्योंका पहले निर्देश करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, इस तरह सबका आदि, परम तत्त्व चिद्घन ही परमपदरूपसे स्थित है । उसी परमपदमें स्थित हुए ही ये महान् आकारवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि, मानुषानन्द-विभवोंसे परिपूर्ण सन्तुष्ट राजाओंकी तरह, उन्नत विभूतियोंसे स्फुरित होते हैं । और जैसे देवता लोग स्वर्गमें

आकाशगमनाद्याभिः क्रीडाभिः क्रीड्यते चिरम् ।
तत्स्थेनैव जनेनेह स्वर्गे स्वर्गौकसो यथा ॥ २ ॥

तत्प्राप्याऽङ्ग न म्रियते तत्प्राप्याऽङ्ग न शोच्यते ।
तत्प्राप्य जीर्यते नाऽङ्ग तत्प्राप्याऽङ्ग न रुध्यते ॥ ३ ॥

अपारपरमाकाशरूपिणः परमात्मनः ।
सत्तासामान्यरूपं चेन्मनागपि विभाव्यते ॥ ४ ॥

तत्त्वं निमेषमात्रेण जन्तुर्मुक्तमना मुनिः ।
कुर्वन् संसारकर्माणि न भूयः परितप्यते ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं यत्र क्षयं गतम् ।
सत्तासामान्यमाभानं मनस्वी स किमुच्यते ॥ ६ ॥

क्रीडा करते हैं, वैसे ही उस ब्रह्मपदमें ही स्थित मनुष्य, गन्धर्व आदि जन आकाशगमन आदि क्रीडाओंसे यहाँ चिरकालतक क्रीडा करते हैं ॥ १, २ ॥

सम्पूर्ण आनन्दोंके उत्कर्षकी परमावधिरूप ब्रह्मको तत्त्वज्ञानसे प्राप्तकर यह जीव न तो जीवधर्म क्षुधा आदिसे मरता है और न उसे प्राप्त कर शोक करता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, उसे प्राप्त कर तृष्णा आदिसे न पीडित होता है और न भित्ति आदिसे अवरुद्ध होता है ॥ ३ ॥

असीम परमाकाशस्वरूप उस परमात्माके सर्वत्र अनुस्यूत सत्तासामान्यरूप तत्त्वकी सांसारिक कर्म कर रहा साधारण जन्तुशरीर भी यदि क्षणभर स्वल्प भावना करता है, तो मुक्तमन होकर जब मुनि बन जाता है, फिर संसारमें सन्तप्त नहीं होता, तब आप जैसे उत्तमशरीर-वालोंके लिए तो कहना ही क्या ! ॥ ४, ५ ॥

जिस सामान्यरूपकी भावनासे जन्तु परितप्त नहीं होता, वह सत्तासामान्यरूप क्या निर्विशेष है या सविशेष ? यदि निर्विशेष कहें, तो विभूतिका वर्णन असङ्गत होगा। यदि उसे सविशेष कहते हैं, तो उसे प्राप्तकर जन्तु पुनः परितप्त नहीं होता, यह जो आत्यन्तिक परितापके उच्छेदका वर्णन किया गया है, वह युक्त नहीं है, इस आशयसे श्रीरामजी पूछते हैं—'मनो०' इत्यादिसे।

वसिष्ठ उवाच

यद्ब्रह्म सर्वदेहस्थं भुङ्क्ते पिबति गच्छति ।
आदत्ते विनिहन्त्यन्तः संवित्संवेद्यवर्जितम् ॥ ७ ॥
तत् सर्वगतमाद्यन्तरहितं स्थितमर्जितम् ।
सत्तासामान्यमखिलं वस्तुतत्त्वमिहोच्यते ॥ ८ ॥
तत्स्थितं खतया व्योम्नि शब्दे शब्दतया स्थितम् ।
स्पर्शे स्थितं स्पर्शतया त्वचि तत् त्वक्तया स्थितम् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्तरूप सर्वद्वैत जहाँ नष्ट हो गया है, ऐसा विशेषरहित पूर्ण चिन्मात्र ही सत्तासामान्यरूप है, क्या यह आप कहते हैं या मन आदि सब विशेषोंसे युक्त सर्वात्मा ईश्वर सत्तासामान्यरूप है, यह कहते हैं ? ॥ ६ ॥

प्रपञ्चका बाध होनेके बाद परिशिष्ट सत्तासामान्य निर्विशेष है और उसके पूर्वकालमें रहनेवाला सत्तासामान्य सविशेष है, यों दोनोंका विभाग करके हमने नहीं कहा है, किन्तु सम्पूर्ण जीवभावोंमें, ईश्वरभावमें और मुक्तिमें जो अखण्ड एक लम्बे दण्डेकी नाईं सन्मात्र अनुस्यूत है, वही हमने कहा है और वही जगत्का तत्त्व है । उसमें तो आपका अभिप्रेत कोई विरोध है ही नहीं, इस आशयसे वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'यद्ब्रह्म' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जो ब्रह्म सब देहोंमें स्थित होकर खान, पान और गमन करता है, जो जाग्रत्, स्वप्न और सृष्टि कालमें वस्तुओंका ग्रहण करता है, जो सुषुप्ति और प्रलय कालमें उनका नाश कर देता है तथा जो तुरीयावस्थामें संवित् और संवेद्य से वर्जित रहता है; सर्वव्यापी, आदि और अन्त से शून्य, और सर्वदा विद्यमान रहता हुआ भी, कण्ठस्थित विस्मृत हारकी नाईं, बोधसे प्राप्त हुआ अखिल वस्तुओंका सारभूत वही यहाँपर सत्तासामान्यशब्दसे कहा गया है ॥ ७, ८ ॥

आकाशादि कार्योंमें अनुस्यूत उस ब्रह्मका ही, सर्वात्मताके प्रदर्शनके लिए, उनकी विभूतिरूपसे वर्णन किया जाता है, यह कहते हैं—'तत्स्थितम्' इत्यादिसे ।

वह आत्मा ही आकाशमें आकाशरूपसे स्थित है, शब्दमें शब्दरूपसे स्थित है, स्पर्शमें स्पर्शरूपसे स्थित है और त्वचामें त्वग्रूपसे स्थित है ॥ ९ ॥

रसे लीनं रसतया रसनायां तु तत्तया।
रूपे रूपतया दृष्टं नेत्रे लीनं च दृक्तया ॥ १० ॥
घ्राणे घ्राणतया दृष्टं गन्धे गन्धतयोदितम्।
घुष्टं कायतया काये भूमावपि च भूतया ॥ ११ ॥
पयस्तया च पयसि वायौ वायुतया स्थितम्।
तेजस्तया तेजसि च बुद्धौ बुद्धितया गतम् ॥ १२ ॥
मनस्तया मनस्यन्तरहङ्कृत्याऽप्यहङ्कृतौ।
रूढं संविदि संवित्त्या चित्ते चित्ततयोत्थितम् ॥ १३ ॥
वृक्षे वृक्षतया लग्नं पटे पटतयोदितम्।
घटे घटतया रूढं वटे वटतयोत्थितम् ॥ १४ ॥
स्थावरे स्थावरत्वेन जङ्गमत्वेन जङ्गमे।
पाषाणत्वेन पाषाणे चेतनत्वेन चेतने ॥ १५ ॥
अमरेष्वमरत्वेन नरत्वेन नरेषु च।
तिर्यक्त्वेन च तिर्यक्षु क्रिमित्वेन क्रिमिस्थितौ ॥ १६ ॥

रसमें रसरूपसे लीन है और रसनेन्द्रियमें लीन है रसनेन्द्रियरूपसे। रूपमें रूपस्वरूपसे दृष्ट है और नेत्रमें नेत्ररूपसे लीन है ॥ १० ॥

घ्राणेन्द्रियमें घ्राणरूपसे दृष्ट है और गन्धमें गन्धरूपसे उदित है। शरीरमें शरीररूपसे पुष्ट है और पृथिवीमें पृथिवीरूपसे पुष्ट है ॥ ११ ॥

दूधमें दूधरूपसे स्थित है और वायुमें वायुरूपसे स्थित है। तेजमें तेजोरूपसे स्थित है और बुद्धिमें स्थित है बुद्धिरूपसे ॥ १२ ॥

मनमें मनरूपसे स्थित है और अहङ्कारमें स्थित है अहङ्काररूपसे। बुद्धिमें बुद्धिरूपसे आरूढ है और चित्तमें चित्तरूपसे उठा है ॥ १३ ॥

वृक्षमें वृक्षरूपसे लगा है और पटमें पटरूपसे उदित हुआ है। घटमें घटरूपसे स्थित है और वटमें वटरूपसे उत्थित है ॥ १४ ॥

स्थावरमें स्थावररूपसे स्थित है और जङ्गममें स्थित है जङ्गमरूपसे। पाषाणमें पाषाणरूपसे स्थित है और चार प्रकारके प्राणियोंमें चेतनरूपसे स्थित है ॥ १५ ॥

वहाँपर विशेषाकार सत्ता भी वही है, यह कहते हैं—'अमरेष्व०' इत्यादिसे।

कालक्रमे कालनया ऋतावृतुनया तथा ।
त्रुटिक्षणनिमेषादौ संस्थितस्तत्तया विभुः ॥ १७ ॥
शुक्ले शुक्लतया जातं कृष्णे कृष्णतया स्थितम् ।
क्रियासु स्पन्दरूपेण नियतौ नियमेन च ॥ १८ ॥
संस्थितः संस्थितौ स्थित्या नाशे नाशतया स्थितः ।
उत्पत्तिरूपेणोत्पत्तावास्थितः परमेश्वरः ॥ १९ ॥
बाल्येन बाल्ये विश्रान्तो यौवने यौवनेन च ।
जरसा च जरारूपे मरणे मरणेन च ॥ २० ॥
इति सर्वपदार्थानामभिन्नः परमेश्वरः ।
कल्लोलशीकरोर्मीणामब्धाविव पयोभरः ॥ २१ ॥
नानातैषां त्वसत्यैव सत्येनाऽन्येन चैव हि ।
कल्पिता चित्स्वभावेन वेतालः शिशुना यथा ॥ २२ ॥

देवताओंमें देवतारूपसे स्थित है, मनुष्योंमें स्थित है मनुष्यरूपसे । तिर्यक्-योनियोंमें तिर्यग्रूपसे स्थित है और क्रिमियोनियोंमें क्रिमिरूपसे स्थित है ॥१६॥

कालके क्रममें यानी युग, संवत्सर आदि भेदोंमें कालरूपसे स्थित है और उसके अवान्तरभेदस्वरूप ऋतुओंमें ऋतुरूपसे स्थित है । त्रुटि, क्षण, निमेष आदि अत्यन्त सूक्ष्मभूत कालभेदोंमें भी वह व्यापक ब्रह्म ही तत्तत् रूपसे स्थितहै ॥ १७ ॥

शुक्ल वस्तुमें शुक्लरूपसे स्थित हुआ है और कृष्ण वस्तुमें स्थित है कृष्ण-रूपसे । वह क्रियाओंमें क्रियारूपसे स्थित है और दैवमें दैवरूपसे स्थित है ॥१८॥

वह परमेश्वर स्थितिमें स्थितिरूपसे स्थित है, संहारमें संहाररूपसे स्थित है तथा उत्पत्तिमें उत्पत्तिरूपसे स्थित है ॥ १९ ॥

बालरूपमें बाल्यरूपसे स्थित है, युवामें यौवनरूपसे स्थित है, वृद्धरूपमें वार्धक्यरूपसे स्थित है एवं मृतमें मरणरूपसे स्थित है ॥ २० ॥

इस प्रकार सब पदार्थोंमें तत्-तत् रूपसे स्थित हुआ वह परमेश्वर सत्तासामान्य-रूपसे उस तरह उनसे अभिन्न है; जिस तरह समुद्रमें स्थित कल्लोल, जलकण एवं ऊर्मियाँ जलसामान्यरूपसे अभिन्न हैं ॥ २१ ॥

शङ्का हो कि एकरूप यह परमात्मा नानारूप होकर उनमें कैसे स्थित रहता

सर्वत्र संस्थितिमता विगतामयेन
व्याप्तं मयेदमखिलं विविधैर्विलासैः ।
चिद्रूपिणैव कलना कलिताऽऽत्मनेति
मत्वोपशान्तमतिरास्व सुखं महात्मन् ॥ २३ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे विभूतियोगोपदेशो नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

॥ षोडशो दिवसः ॥

है ? तो इसका समाधान यह है कि अपने अज्ञानसे जनित भ्रान्तिकल्पनासे ही वह नानारूपसे स्थित रहता है, न कि वस्तुतः, यह कहते हैं—'नाना०' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, सत्यस्वरूप चित्स्वभाव इस परमात्मा द्वारा कल्पित होनेसे इनकी नानारूपता उस प्रकार असत्य ही है; जिस प्रकार बालक द्वारा कल्पित वेताल ॥ २२ ॥

हे महात्मन्, सर्वत्र स्थिति रखनेवाले विकाररहित एवं चैतन्यस्वरूप मैंने स्वयं ही यह जगद्रूप कल्पना की है। यह सम्पूर्ण विश्व मेरे ही विविध विलासोंसे व्याप्त है। अतः 'यह मुझ आत्माकी ही विभूति है, मुझे छोड़कर और कुछ नहीं है' यों तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शान्तचित्त होते हुए आप सुखपूर्वक स्थित रहिए ॥ २३ ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुनि वसिष्ठजी महाराजके ऐसा कहनेपर दिन बीत गया, सूर्यभगवान् अस्ताचलकी ओर पधारे। सभा भी सायंकालीन विधिके लिए मुनिजीको नमस्कार कर उठ गई और रात्रि बीतनेपर सूर्य-किरणोंके साथ पुनः दूसरे दिन आ जुटी ॥ २४ ॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

सोलहवाँ दिन

एकषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

यथाऽस्माकं मुने स्वप्नपुरपत्तनमण्डलम् ।
तथैव पद्मजादीनां यदि देहपरिग्रहः ॥ १ ॥
तथैवेदं च सञ्जातं यदि सर्वमसन्मयम् ।
तदस्माकं दृढतरः प्रत्ययः कथमुत्थितः ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्मत्सर्गवदाभाति पूर्वसर्गः प्रजापतेः ।
आजीवप्रतिभासात्मा विद्यते न तु वास्तवः ॥ ३ ॥

इकसठवाँ सर्ग

[यह जगत् स्वप्न एवं मायाके तुल्य है—इसका युक्तिसे साधन तथा भ्रान्तिसे, बिना विरोधके, सब जगह सबकी उत्पत्ति सम्भव है, यह वर्णन]

दृश्यमान यह सब जगत् यदि परमात्माकी स्वप्नसदृश, भ्रान्तिकल्पित एक विभूति ही है तो ब्रह्मा आदिकी दृष्टिमें वह स्वप्नके सदृश भ्रान्ति ही अवभासित होती है और हम लोगोंकी दृष्टिमें तो वह स्वप्नके सदृश भ्रान्ति नहीं भासती, किन्तु दृढतर सत्यरूप ही भासती है। भगवन्, एक ही पदार्थका इस प्रकार विषमतासे भान होनेमें क्या कारण है ? यदि इसपर कहें कि दीर्घकालसे चले आनेके कारण हम लोगोंको सत्यरूप और दृढतर अनुभूत होती है, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो ब्रह्मा आदिको, जिनकी आयु दो परार्धवर्षकी है, हम लोगोंकी अपेक्षा संसारकी चिरकालतक अनुवृत्ति होनेसे उसमें (जगत्में) सत्यता एवं दृढता की और भी अधिकता होने लगेगी, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'यथाऽस्माकम्' इन दो श्लोकोंसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, जैसे हम लोगोंकी दृष्टिमें स्वप्नकालीन नगर, राजधानी एवं देश भ्रान्तिरूप हैं; वैसे ही यदि हिरण्यगर्भ आदिकी दृष्टिमें देहधारण और उसी प्रकार उत्पन्न हुआ यह समस्त जगत् असद्रूप भ्रान्ति ही है, तो हम लोगोंको ही इस प्रपञ्चमें दृढ़तर सत्यत्वबुद्धि क्यों होती है और उन्हें (हिरण्यगर्भ आदिको) दृढतर सत्यत्वबुद्धि क्यों नहीं होती ? ॥ १, २ ॥

चिरकालानुवृत्तिका बाध न होना ही सत्यता-भ्रमकी दृढ़तामें हेतु है, न कि

सर्वगत्वाच्चितेः सर्वं जीवः सर्वत्र संसृतिः ।
सा चाऽसम्यग्दर्शनोत्था सम्यग्दर्शननाशिनी ॥ ४ ॥
स्वप्नाभः प्रतिभासोऽस्य य एष समुपस्थितः ।
अहन्ताप्रत्ययैकात्मा स एवाऽतिदृढं स्थितः ॥ ५ ॥
स्वप्ने क्षिप्रविनाशित्वं यथा पुंसा न दृश्यते ।
सर्वस्वप्ने तथैवैतद्ब्रह्मणामिह लक्ष्यते ॥ ६ ॥

बाधित चिरकालानुवृत्ति, इस आशयसे महाराज वशिष्ठजी समाधान करते हैं—'अस्मत्०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, [जब यह ब्रह्मदेव पहले कभी उपासना कर रहे थे तब उन्हें तत्त्वज्ञान न रहनेसे] उनकी (प्रजापतिकी) उस समयकी प्रथम सृष्टि, आज हम लोगों द्वारा अनुभूयमान सृष्टिके समान, यद्यपि चारों ओरसे चार प्रकार भूत-समूहरूप जीवोंके प्रतिभासस्वरूप हुई सत्य ही भासती थी; तथापि आज उसके तत्त्वज्ञानसे बाधित हो जानेके कारण वह अपनी कुछ भी सत्यता (सद्रूपता) नहीं रखती ॥ ३ ॥

जबतक अज्ञान है तबतक चितिके सर्वव्यापी होनेसे जीव भी सर्वरूप होता है और सर्वत्र संसार भी सत्य-सा होता है; क्योंकि वह संसृति तत्त्वज्ञानके विरोधी अज्ञानसे उत्पन्न होती है और तत्त्वज्ञानसे नष्ट होती है ॥ ४ ॥

इसलिए हिरण्यगर्भको यह जो तत्त्वज्ञानसे बाधित, स्वप्नतुल्य यानी सुन्दर प्रपञ्चका प्रतिभास उत्पन्न होता है; वही अज्ञानी हम लोगोंको अहन्ता-बुद्धिसे एकरूप होता हुआ अत्यन्त दृढ होकर स्थित है ॥ ५ ॥

शङ्का हो कि तब प्रजापतियोंको तत्त्वज्ञानसे स्वयं कल्पित प्रपञ्चकी शीघ्र विनाशिताका अनुभव क्यों नहीं होता ? तो भोगजनक अदृष्ट ही उसमें प्रतिबन्धक है, इस आशयसे समाधान करते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार सो रहे पुरुषको स्वाप्निक भोगोंके जनक कर्मोंसे प्रतिरुद्ध होनेके कारण स्वप्नमें विद्यमान भी शीघ्रविनाशिता नहीं दीखाई पड़ती, उसी प्रकार हिरण्यगर्भके समष्टिस्वप्नरूप इस जगत्में पद्मजोंको विद्यमान शीघ्रविनाशिताका बोध होनेमें भी भोगजनक अदृष्ट ही प्रतिबन्धक दिखाई पड़ता है ॥ ६ ॥

स्वप्नोऽयं पुरुषस्याऽस्य प्रतिभासस्य यो भवेत् ।
रामाऽस्मदादिसर्वात्मा भवेत्तादृश एव च ॥ ७ ॥
यत्स्वप्नपुरुषाज्जातं तत्स्वप्नपुरुषात्मकम् ।
भवतीत्यनुभूतं हि तद्बीजं तत्फलं यथा ॥ ८ ॥
असत्यमेव तद्विद्धि यदसत्येन साध्यते ।
असत्येऽर्थे समर्थेऽपि न युक्तं भावनं घनम् ॥ ९ ॥
येन तेन परित्याज्यमसद्भावनभावनम् ।
दृढप्रत्ययितं स्वप्नपुरुषाद्यत् समुत्थितम् ॥ १० ॥

श्रीरामजी, इस शयनस्थ पुरुषको अनुभूयमान यह प्रसिद्ध हम, तुम आदि समस्त जीव जगत्-स्वरूप स्वप्न जैसा ही यानी अनादि अनन्त प्रवाहरूप है, वैसा ही प्रजापतिका भी स्वप्न है ॥ ७ ॥

माना कि प्रजापतिका समष्टिस्वप्न भी वैसा ही है, उससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'यत्स्वप्न०' इत्यादिसे ।

जो स्वाप्निक पुरुषसे उत्पन्न हुआ है, वह उसी प्रकार स्वप्नपुरुषरूप है, जिस प्रकार आमके बीजसे उत्पन्न हुआ आमका फल आम्रबीजरूप है—यह बात भलीभाँति अनुभूत है । तात्पर्य यह निकला कि जैसे आम्रबीजसे उत्पन्न आम्रवृक्षका फल आम्रबीजरूप ही है, कोई दूसरा नहीं, वैसे ही स्वप्नपुरुषसे उत्पन्न हुआ जीव-जगद्रूप संसार भी स्वप्नपुरुषरूप ही है, दूसरा नहीं ॥ ८ ॥

ऐसा ही सही, उससे भी प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'असत्यमेव' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, असत्यभूत मनःकल्पित स्वप्नपुरुषसे जो उत्पन्न किया जाता है, वह भी असत्यरूप ही उत्पन्न होता है । इसलिए जन्मान्तर, स्वर्ग, नरक आदि अर्थ-क्रियासमर्थ भी असत्यभूत अर्थोंमें (विषयोंमें) दृढ सत्यताकी भावना करना युक्त नहीं है, यह जानिए ॥ ९ ॥

भद्र, चूँकि वह भावना युक्त नहीं है, इसलिए स्वप्नपुरुषसे उत्पन्न जो असत् पदार्थोंकी भावना है, दृढ सत्यरूपसे प्रतीत हुई भी वह छोड़ ही देनी चाहिए ॥ १० ॥

भवत्यात्मनि सर्गादि दृढप्रत्ययमेव तत् ।
निमेषमात्रः पौरोऽयं सर्गस्वप्नः पुरः स्थितः ।
तस्मिन्निमेष एवाऽस्मिन् कल्पता परिकल्प्यते ॥ ११ ॥
सुदीर्घस्वप्नखण्डोऽयं यथोदेति प्रजापतेः ।
सर्गाख्यः सर्वभूतानां प्रत्येकमुदितस्तथा ॥ १२ ॥
चित्तत्त्वस्यैव भावेन सर्गवर्गपरम्परा ।
स्फुरत्यम्भो द्रवत्वेन यथाऽऽवर्तविवर्तनैः ॥ १३ ॥
यदा स्वप्नात्मिकैवेयं सर्गलक्ष्मीर्न वास्तवी ।
तदा संभवतीदं वै तत्पदं प्रलयं गतम् ॥ १४ ॥

किञ्च, हम लोगोंको भी स्वप्नमें जिस सृष्टिका भान होता है, उसमें उस समय दृढरूपताका ही भान होता है अर्थात् उस समय उसमें मिथ्यात्वबुद्धि नहीं होती, एतावता उसकी सत्यता नहीं मानी जाती; [ठीक वैसी ही स्थिति हिरण्यगर्भके समष्टिस्वप्नरूप सृष्टिकी भी जानिए। प्रजापतिसम्बन्धी सृष्टिकी दीर्घ-कालस्थिति स्वीकारकर यह सब कहा गया है, वस्तुतः उसकी दीर्घता भी हरिश्चन्द्रके स्वप्नकी दीर्घताकी नाईं * थोड़े समयतक भी हो सकती है, यह कहते हैं—'निमेषमात्रः' से ।] वस्तुतः वर्षाकालीन जलप्रवाहकी नाईं निमेषमात्रके लिए ही प्रजापतिका यह सृष्टिस्वप्न सामने स्थित है और निमेषमात्रस्वरूप ही इस स्वप्नमें कल्परूपताकी केवल कल्पना की गई है ॥ ११ ॥

प्रजापतिकी नाईं सबको अपने-अपने स्वप्नोंमें उस समय दीर्घ-प्रपञ्चताका भान होता ही है, यह कहते हैं—'सुदीर्घ०' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार प्रजापतिको सृष्टिनामक दीर्घतम स्वप्नका प्रतिभास होता है, उसी प्रकार सब प्राणियोंमें प्रत्येकको दीर्घ स्वप्नका प्रतिभास होता है ॥ १२ ॥

जिसकी प्रसिद्धि चितिके ही अधीन है, ऐसा दृश्यत्व मिथ्यात्वमें ही प्रयोजक है, वह दृश्यत्व हम लोगोंकी स्वाप्निक सृष्टि तथा हिरण्यगर्भकी स्वाप्निक सृष्टि में समान है, इस आशयसे कहते हैं—'चित्तत्त्वस्यैव' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार द्रवत्वके कारण आवर्तरूप परिवर्तनोंसे जल प्रस्फुरित होता है, उसी प्रकार चितितत्त्वके अस्तित्वसे यह सृष्टिकी परम्परा प्रस्फुरित होती है ॥ १३ ॥

* राजा हरिश्चन्द्रको रात्रिमें जो स्वप्न दीख पड़ा, वह उसे ऐसा प्रतिभासित हुआ कि मानो मैंने १२ वर्षतक स्वप्न देखा हो—ऐसा पुराणोंमें प्रसिद्ध है ।

यद्यथा यादृशं दृष्टं तत्तादृग्विद्यते तथा ।
न हि पर्यनुयोक्तव्याः स्वप्नविभ्रमरीतयः ॥ १५ ॥
न तदस्ति जगत्यस्मिन् यन्न संभवति भ्रमे ।
विचित्रास्त्रिषु लोकेषु दृश्यन्ते वस्तुसृष्टयः ॥ १६ ॥
जलमध्ये ज्वलत्यग्निर्यथाऽब्धौ वडवानलः ।
नगराण्यम्बरे सन्ति यथा वैमानिकाश्रयाः ॥ १७ ॥

श्रीरामजी, जब यह सृष्टिशोभा स्वप्नस्वरूप ही है, तत्त्वतः सत्यरूप नहीं है; तब सर्गादिके साथ वह प्राजापत्यपद भी प्रलयमें ही चला गया यानी अत्यन्त असत्-रूप ही हो गया। इसीलिए—"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥" (न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्ति ही है—यही परमार्थता है।) यह प्रसिद्ध श्रुतिवचन अपना अस्तित्व रखता है ॥ १४ ॥

जब ये सम्पूर्ण पदार्थ अत्यन्त असत् ही हैं तो व्यवहारयोग्य कैसे हुए ! ऐसी यदि आशङ्का हो, तो उसका—'वैसा अनुभव होनेसे ही' यों समाधान है; अतः यहाँ कुछ प्रष्टव्य (शङ्का करने योग्य) ही नहीं है, यह कहते हैं—'यद्यथा' इत्यादिसे ।

इस संसारमें जो वस्तु जिस प्रकारसे जैसी देखी गई है, वह उस प्रकारसे वैसी ही विद्यमान है। अतः स्वप्न-भ्रमकी रीतियोंमें किसी भी प्रकारकी शङ्का-कुशङ्का न करनी चाहिए ॥ १५ ॥

अज्ञानकी (अविद्याकी) अघटितघटनामें सामर्थ्य होनेसे भी शङ्काका अवसर नहीं है, यह कहते हैं—'न तदस्ति' इत्यादिसे ।

[अविद्याके अघटितघटनामें समर्थ होनेके कारण] इस जगत्‌में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका भ्रममें संभव न हो। इस त्रिभुवनमें चित्र-विचित्र आश्चर्य-जनक वस्तुकी सृष्टियाँ दीख पड़ती हैं ॥ १६ ॥

जगत्‌में असंभावित अनेक पदार्थोंका दर्शन दृष्टान्तरूपसे बतलाते हैं—'जलमध्ये' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, [जगत्‌में चित्र-विचित्र ऐसे अद्भुत आश्चर्य दिखाई पड़ते हैं कि] जलके बीच आग जलती है, जैसे—समुद्रमें वडवानल । और आकाशमें अनेक नगर हैं, जैसे—देवताओंके स्वर्गादि निवास-स्थान ॥ १७ ॥

शिलास्वब्जानि जायन्ते हेमाद्राविव पादपाः ।
एकान्ते सर्वपुण्यानि सन्ति कल्पतरौ यथा ॥ १८ ॥
शिलाः फलन्ति फलिवद्यथा रत्नगुलुच्छकाः ।
शिलान्तः प्राणिनः सन्ति भेका इव शिलान्तरे ॥ १९ ॥
दृषदो वारि निर्याति चन्द्रकान्तोपलादिव ।
निमेषेण घटो याति पटतां स्वापसंविदि ॥ २० ॥
असत्यमपि बुध्येत स्वप्ने स्वमरणं यथा ।
आकस्मिकं जलं व्योम्नि ध्रियते भूतगं यथा ॥ २१ ॥
वितानमिव खे वारि तिष्ठति स्वर्णदी यथा ।
उड्डीयन्ते शिलाः स्थूलाः पक्षवन्तो यथाऽद्रयः ॥ २२ ॥
शिलान्तः प्राप्यते सर्वं ननु चिन्तामणेरिव ।
चिन्तितानि फलन्त्याशु देवोद्यानान्तरेष्विव ॥ २३ ॥

भद्र, देखिए जैसे, शिलाओंमें कमल उत्पन्न होते हैं, हेमाद्रि-पर्वतमें (मृत्तिकारहित प्रदेशमें) वृक्ष उत्पन्न होते हैं। कल्पतरुमें एकदेशमें सम्पूर्ण पुण्योंके फलस्वरूप अभिलषित पदार्थ रहते हैं, * ॥ १८ ॥

जैसे वृक्षोंकी नाईं शिलाएँ चिन्तामणियोंके गुच्छे फलती हैं, शिलाओंके भी भीतर प्राणी रहते हैं, जैसे—शिलाके मध्यमें मेढक ॥ १९ ॥

पत्थरसे पानी बहता है, जैसे—चन्द्रकान्तमणिके पत्थरसे । और स्वप्नमें क्षणभरमें ही घट पटरूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

अत्यन्त असत् वस्तुओंका भी ज्ञान होता है, जैसे—स्वप्नमें अपने मरणका । और पृथ्वी आदि भूतोंमें स्थित जल अकस्मात् आकाशमें भी धारण किया जाता है ॥ २१ ॥

वितान (चँदोआ) के समान आकाशमें भी जल स्थित रहता है, जैसे—मन्दाकिनी । स्थूल शिलाएँ भी उड़ती हैं, जैसे—पंखवाले पर्वत ॥ २२ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि शिलाके भीतर सब कुछ पाया जा सकता है, जैसे—चिन्तामणिमें । इस संसारके भीतर सभी चिन्तित विषय शीघ्र वैसे ही फलते हैं, जैसे—नन्दन-वनके भीतर ॥ २३ ॥

---

* यहाँ यदि 'पण्यानि' ऐसा पाठ हो तो 'पणन' यानी व्यवहार और उसके योग्य वस्तुएँ' यह अर्थ समझना चाहिए। यदि 'पुष्पाणि' यह पाठ हो, तो उसका अर्थ स्पष्ट है। सर्वत्र 'यथा' शब्द उदाहरणार्थक है।

तान्येव न फलन्त्याशु मोक्षादीनां च राघव ।
अचेतनोऽपि कुरुते कर्म यन्त्रपुमानिव ॥ २४ ॥
एवमाद्यास्तथाऽन्ये च विचित्रारम्भविभ्रमाः ।
दृष्टाः शम्बरगन्धर्वविलासैरप्यसंभवाः ॥ २५ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यरत्नसञ्चरणीयजाः ।
अर्था गन्धर्वजनिता अनन्ताः सत्यसंभवाः ॥ २६ ॥
असंभवः संभवोऽयमपि भाव्युपपद्यते ।
संभवोऽसंभवः सम्यक् सिद्ध्यै स्वप्नविभ्रमः ॥ २७ ॥
न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
सर्वं सर्वेण सर्वत्र स्वप्ने सर्गाभिधानके ॥ २८ ॥

श्रीराघव, 'मोक्ष उत्पन्न हो', 'ब्रह्म नष्ट हो', 'प्रपञ्च सत्य हो', 'भोग शाश्वत हो जायँ', 'मर्यादा भङ्ग हो', वेद अप्रमाण हो जायँ' इत्यादि मोक्ष आदिके विषयमें सत्यसङ्कल्प लोगोंके शीघ्र चिन्तित भी मनोरथ नहीं फलते यानी उत्पन्न नहीं होते। हे श्रीरामचन्द्रजी, अचेतन भी कर्म करता है, जैसे—यन्त्रपुरुष ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, इत्यादि पूर्वमें उक्त और दूसरे भी असंभावित विचित्र कार्योंके विभ्रम शम्बर (दैत्यविशेष) और गन्धर्वोंकी माया के विलासोंसे देखे गये हैं ॥ २५ ॥

जो देश और काल में मन्त्रप्रयोग आदि क्रियाओंसे, औषधादि द्रव्योंसे, मणियोंसे तथा पिशाच, आदिके सञ्चारोंसे उत्पन्न हैं, वे विचित्र कार्योंके विभ्रम भी—जो कि सत्य पदार्थोंकी नाईं अर्थक्रियाकारी अनन्त एवं गन्धर्वनगरके सदृश जनित हैं—देखे गये हैं। यहाँ दूरत्वादि देशमें चन्द्रमाका प्रादेशिकत्व आदि और कालमें औत्पातिक नभःकबन्ध आदि विभ्रम उदाहरण समझने चाहिएँ ॥ २६ ॥

इस समय असंभव भी यह ब्रह्माण्ड-नाश आदि भविष्यत्में संभव हो जाता है। और इस समय संभव भी सृष्टिरूप स्वप्नविभ्रम प्रलय एवं तत्त्वबोध में असंभव होता हुआ स्वरूपविश्रान्तिके लिए समर्थ हो जाता है ॥ २७ ॥

एवञ्च, ब्रह्मरूपसे देखनेपर असत्य कुछ भी नहीं है और जगद्रूपसे देखने पर तो कुछ भी सत्य नहीं है, यह फलित हुआ, यह कहते हैं—'**न तदस्ति**' इत्यादिसे।

स्वप्ने निमग्नधीर्जन्तुः पश्यति स्थिरतां यथा ।
सर्गस्वप्ने मग्नबुद्धिः पश्यति स्थिरतां तथा ॥ २९ ॥
भ्रमाद् भ्रमान्तरं गच्छन्स्वप्नात् स्वप्नान्तरं व्रजन् ।
अतिस्थिरप्रत्ययभागिह जीवो विमुह्यति ॥ ३० ॥
श्वभ्रान्तरं श्वभ्रनिपातदोषात्
संप्राप्नुवन् मुग्धमृगः प्रयाति ।
मोहं यथा पातमयैकरूपं
जीवस्तथा संसृतिपातमूढः ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जगत्स्वप्नकथनं नाम एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

श्रीरामजी, [ब्रह्मरूपसे देखनेपर] वैसा कुछ भी नहीं है, जो सत्य न हो; और [जगद्रूपसे देखनेपर तो] वैसा कुछ भी नहीं है, जो असत्य ही न हो। सृष्टि-नामक हिरण्यगर्भके इस स्वप्नमें सर्वत्र सबसे सब कुछ होता ही है ॥ २८॥

जिस प्रकार स्वप्नमें निमग्नबुद्धि प्राणी वस्तुओंकी स्थिरता ही देखता है, उसी प्रकार सृष्टिरूप स्वप्नमें भी निमग्नबुद्धि विषयोंकी स्थिरता देखता ही है ॥ २९ ॥

संसारमें अत्यन्त स्थिरता-बुद्धि रखनेवाला यह जीव एक भ्रमसे दूसरे भ्रममें और एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाते हुए मोहको प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

श्रीरामभद्र, जैसे मुग्धमृग गड्ढेमें गिरानेवाले अपने मोहरूप दोषसे एक गड्ढेमें गिरकर पुनः दूसरे गड्ढेमें गिरता है, वैसे ही संसारमें गिरानेवाले राग, द्वेष आदिसे मूढ यह जीव—जिसका गिराना ही एक स्वरूप है, मृगकी तरह बीचमें से निकल सकना संभव है ही नहीं ऐसे—मोहमें यानी देहादिरूप गर्तमें प्रवेश-भ्रमको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

एकसठवाँ सर्ग समाप्त

द्विषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अत्र राघव वक्ष्येऽहमितिहासमिमं शृणु ।
यद्वृत्तं कस्यचिद्भिक्षोः किञ्चिन्मननशालिनः ॥ १ ॥
आसीत् कश्चिन्महाभिक्षुः समाध्यभ्यासतत्परः ।
नित्यं स्वव्यवहारेण क्षपयत्यखिलं दिनम् ॥ २ ॥
समाध्यभ्यासशुद्धं तत् तस्य चित्तं क्षणेन यत् ।
चिन्तयत्याशु तद्भावं गच्छत्यम्बिव वीचिताम् ॥ ३ ॥
कदाचित् स समाधानविरतोऽतिष्ठदेकधीः ।
किञ्चित् संचिन्तयामास स्वासनस्थः क्रियाक्रमम् ॥४॥

बासठवाँ सर्ग

[जीवटाख्यानमें विचित्र वासनाओंके कारण भिक्षुके मनोव्यापारसे घटित अनेक देहोंकी प्राप्तिरूप भ्रमका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, 'एक भ्रमसे दूसरे भ्रममें जा रहे' इस कहे गये अर्थमें दृष्टान्तभूत यह एक ऐसा इतिहास, जो किसी एक साधारण मननशील भिक्षुकका वृत्तान्त है, कहता हूँ, आप उसे सुनिए ॥ १ ॥

भद्र, समाधिके अभ्यासमें निरत और शम, दम, वैराग्य आदिसे सम्पन्न कोई एक परिव्राजक था । वह निरन्तर अपने आश्रमोचित श्रवण, मनन आदि व्यवहारोंसे पूरा दिन बिताता था ॥ २ ॥

समाधिके (ध्येयाकारकी दृढतासे चित्तको पूर्वरूपकी शून्यतामें परिणत कर देना स्वरूप समाधिके) अभ्याससे पहलेकी वासनाओंका त्याग करदेनेमें समर्थ हुए उस परिव्राजकका वह चित्त, क्षणमें जिसका चिन्तन करता था, शीघ्र ही वह उस भावको वैसे प्राप्त हो जाता था; जैसे जल तरङ्गभावको ॥ ३ ॥

किसी एक समयमें समाधिसे विरत होकर वह उठा और एकाग्रचित्त होकर अपने ही आसनपर बैठा । उसपर स्थित होकर वह किसी एक क्रियाक्रमका विचार करने लगा ॥ ४ ॥

तस्य चिन्तयतो जाता प्रतिभेयमिति स्वतः ।
भावयाम्याशु लीलार्थं सामान्यजनवृत्तिताम् ॥ ५ ॥
इति संचिन्त्य चेतोऽस्य स्थितं किञ्चिन्नरान्तरम् ।
स्पन्दसंस्थानसंत्यागमात्रेणाऽऽवर्तनेऽम्बिव ॥ ६ ॥
तेन चित्तनरेणाऽथ कृतं नामाऽऽत्मवाञ्छया ।
जीवटोऽस्मीति सहसा काकतालीयवत्स्थितम् ॥ ७ ॥
जीवटो विजहाराऽथ स स्वप्नपुरुषश्चिरम् ।
स्वप्ननिर्माणनगरे कस्मिंश्चित् पुरवीथिषु ॥ ८ ॥
तत्र पानं पपौ मत्तो भृङ्गः पद्मरसं यथा ।
लीलयैव दृढं हृष्टः सुष्वाप घननिद्रया ॥ ९ ॥

उस प्रकार विचार कर रहे उस परिव्राजकको स्वतः ही यह सङ्कल्प हुआ कि मैं तत्काल ही लीलावश शास्त्रसंस्कारोंसे हीन पामरजनोंके चित्तकी चेष्टाओंकी भावना करूँ ॥ ५ ॥

श्रीरामजी, इस प्रकार विचार करनेके बाद उस परिव्राजकका चित्त किसी-एक यतिधर्मसे अनियन्त्रित अन्य पामर पुरुषके रूपमें उस प्रकार परिणत होकर स्थित हुआ, जिस प्रकार विलोडन करनेपर जल अपने पूर्वप्रवाह तथा समस्थिति को छोड़कर नाभिके आकारके सदृश 'भँवर' नामक दूसरे रूपमें परिणत होकर स्थित रहता है ॥ ६ ॥

उसमें अवश्यम्भावी नामकल्पना बतलाते हैं—'तेन' इत्यादिसे ।

उसके बाद उस चित्तपुरुषने स्वेच्छासे अपने नामकी 'मैं जीवट हूँ' इस प्रकार कल्पना की और सहसा काकतालीयन्यायसे उसी रूपका होकर स्थित हो गया ॥ ७ ॥

तदनन्तर स्वप्नपुरुष वह जीवट (भिक्षु) स्वप्नरचित किसी नगरमें नगरकी गलियोंमें चिरकालतक विहार करने लगा ॥ ८ ॥

वहाँपर [निवास कर रहा वह जीवट एक दिन] लीलावश वैसा मद्यपान कर मत्त हुआ, जैसा भँवरा कमल-मधुका पान कर मत्त होता है । उस मद्यपानसे हृष्ट हुआ वह गाढ निद्रामें सो गया ॥ ९ ॥

स्वप्ने ददर्श विप्रत्वं पाठानुष्ठानतुष्टिमत् ।
प्रतिभामात्रसम्पन्नं चित्ते देशान्तराप्तिवत् ॥ १० ॥
कदाचित् स द्विजश्रेष्ठस्त्वहर्व्यापारनिष्ठया ।
सुष्वापाऽन्तर्व्यवहृतिर्बीजतायामिव द्रुमः ॥ ११ ॥
द्विजोऽपश्यत् स्वयं स्वप्ने सामन्तत्वमथाऽऽत्मनि ।
स सामन्तः कृताहारः कदाचिद्घननिद्रया ॥ १२ ॥
अपश्यद्राजतां स्वप्ने ककुब्वलयपालिनीम् ।
लालितां भोगपूगेन पुष्पौघेण लतामिव ॥ १३ ॥
स कदाचिन्नृपः स्वस्थः सुष्वापाऽस्तमितेहितः ।
पुरोभाविनिजाचारः स्वकार्यमिव कारणे ॥ १४ ॥
अपश्यत् स्वात्मनि स्वप्ने सुरस्त्रीत्वमनिन्दितम् ।
वृक्षकोशरसोल्लासो मञ्जरीत्वमिवोदितम् ॥ १५ ॥

जिस प्रकार कल्पनामात्रसे चित्तमें देशान्तरकी प्राप्ति देखी जाती है, उसी प्रकार उस जीवटने स्वप्नमें एकमात्र कल्पनासे जनित, वेदाध्ययन तथा सत्कर्मानुष्ठान से सन्तुष्ट ब्राह्मणरूपमें अपनेको देखा ॥ १० ॥

किसी दिन विविध दैनिक व्यवहारोंमें लगे रहनेके कारण थका हुआ द्विजोंमें श्रेष्ठ वह जीवट, बीजमें संस्काररूपसे स्थित वृक्षकी नाईं, चित्तमें संस्कार-रूपसे स्थित सभी व्यवहारोंसे युक्त होकर सो गया ॥ ११ ॥

इसके बाद [गाढ़ निद्राको प्राप्त हुए] स्वयं उस द्विजराजने स्वप्नमें अपनेको मेघमाला-सी घनी हाथी, घोड़े आदि सेनाओंसे युक्त माण्डलिक राजा देखा । भोजन किये हुए उस माण्डलिक राजाने किसी एक दिन गाढ निद्रा द्वारा स्वप्नमें अपनी आत्मामें वह चक्रवर्तिता देखी, जो समस्त दिङ्मण्डलका पालन करनेमें समर्थ और पुष्प-समूहसे लताकी नाईं भोग-समूहसे युक्त थी ॥ १२,१३ ॥

कारणमें अपने कार्यकी नाईं अर्थात् बीजमें वृक्षकी नाईं भविष्यमें फल देनेके लिए उन्मुख हुए स्त्रीविषयक आसक्तिरूपी आचारसे युक्त वह सम्राट् किसी एक दिन स्वस्थ एवं समस्त चेष्टाओंसे रहित होता हुआ सो गया ॥ १४ ॥

तदनन्तर स्वप्नमें वह सम्राट् अपनी आत्मामें बहुत पुरुषों द्वारा भोग

सा सुरस्त्री रतिश्रान्ता निद्रां गाढामुपागता ।
मृगीत्वमात्मनि स्वैरमावर्तत्वमिवाऽम्बुता ॥ १६ ॥
सा मृगी लोलनयना कदाचिन्निद्रया हृता ।
स्वप्ने ददर्श वल्लीत्वं स्वाभ्यासाद्दृढमात्मनि ॥ १७ ॥
तिर्यञ्चोऽपि प्रपश्यन्ति स्वप्ने चित्तस्वभावतः ।
दृष्टानां च श्रुतानां च चेतः स्मरणमक्षतम् ॥ १८ ॥
सा बभूव लता पुष्पफलपल्लवशालिनी ।
वनदेवीवनोद्यानलतागृहविलासिनी ॥ १९ ॥
बीजान्तःस्थाङ्कुराकाररूपयेहाऽधिरूढया ।
साऽपश्यदन्तःसंवित्त्या स्फुटं लवनमात्मनः ॥ २० ॥

करनेपर भी अनिन्दित अप्सरारूपताको उस प्रकार देखने लगा, जिस प्रकार वृक्षके कोशमें स्थित रसका उल्लास * आनेमें आविर्भूत मञ्जरीत्वको देखता है ॥ १५ ॥

सुरतसे श्रान्त, अतएव गाढ निद्राको प्राप्त हुई उस देवाङ्गनाने [मृगी-नयनोंकी सौन्दर्याभिलाषरूप वासनासे] अपनी आत्मामें अभिलषित वैसे ही मृगीरूपता देखी, जैसे जलकी साम्यावस्था आवर्तरूपता देखती है ॥ १६ ॥

तदनन्तर किसी दिन चञ्चलनेत्रा एवं गाढ निद्रासे आक्रान्त हुई उस मृगीने स्वप्नमें अपनेमें वल्लीत्व देखा, जो अभ्यासवश दृढ़ हुआ था ॥ १७ ॥

'तिर्यक्-योनियोंको भी स्वप्न दीखता है या नहीं' इस प्रकार सन्देह करनेवाले पुरुषोंके प्रति निश्चय बतलाते हैं—'तिर्यञ्चोऽपि' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, चूँकि [दृष्ट एवं श्रुत विषयोंके संस्कारोंका ग्राहक होनेसे] चित्त दृष्ट एवं श्रुत विषयोंका अनुपहृत (अखण्डित) स्मरण किया करता है, इसलिए ये (तिर्यग्योनि जीव) भी चित्तके स्वभावसे संस्कारवश स्वप्न देखते हैं, इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है, यह भाव है ॥ १८ ॥

फूल, फल एवं पल्लवों में आसक्ति रखनेके कारण वनदेवियोंके वनोद्यानके मध्यमें स्थित लतागृहकी नाईं विलासोंसे युक्त वह मृगी लता हो गई ॥ १९ ॥

उस लताने कुछ समयतक साक्षिचैतन्यके द्वारा घनीभूत निद्राका

---

* रसोल्लासमें चेतनताकी कल्पनाकर अथवा लक्षणासे रसोल्लासपदसे वृक्षजीवका ग्रहणकर दर्शन-क्रियाकी उपपत्ति करनी चाहिए । इसी तरह अन्यत्र अचेतनने भी समझना चाहिए ।

कञ्चित्कालं सुषुप्तस्थं कलया जडतां घनाम् ।
अनुभूय ददर्शाऽथ स्वात्मानं भ्रमरं स्थिरम् ॥ २१ ॥
षट्पदो विजहाराऽथ वने वनलतास्वसौ ।
पद्मिनीषु च फुल्लासु तरुणीष्विव वल्लभः ॥ २२ ॥
प्रियाबिम्बाधरस्वादुरसवत् कौतुकं मधु ।
भ्रमन् कुसुमसङ्घासुमुक्तावल्लीविलासिषु ॥ २३ ॥
स बभूव सरोजिन्यां व्यसनी बिसनालगः ।
क्वचिदेव रतिं धत्ते चेतो जडमतेरपि ॥ २४ ॥
तामाजगाम नलिनीं परिलोलयितुं गजः ।
रम्यवस्तुक्षयायैव मूढानां जृम्भते पदम् ॥ २५ ॥
नलिनी मर्दिता सैव समं तेन स षट्पदः ।
गतो दन्तान्तरं व्रीहिरिव चूर्णत्वमाययौ ॥ २६ ॥

यानी सुषुप्तिका अनुभवकर, तदनन्तर बीजके अन्दर स्थित भावी अङ्कुराकार बुद्धिके सदृश स्वरूपवाली बुद्धिसे स्पष्ट अपना छेदन देखा तथा स्वप्नके प्रति उन्मुख उद्बुद्ध हुए भ्रमराकार संस्कारसे समन्वित बुद्धिसे सुषुप्तिमें स्थित अपनेको स्थिर भ्रमररूपमें देखा ॥ २०,२१ ॥

जिस प्रकार युवतियोंमें उनका प्रिय युवक विहार करता है, उसी प्रकार यह भँवरा भी वनमें स्थित वनलताओं और खिली हुई कमलिनियों में विहार करने लगा ॥ २२ ॥

पुष्प-समूहरूप सुन्दर मोतियोंकी लताओंमें विलास करनेवाले भ्रमरोंके मध्यमें घूम रहे उस भँवरेने रमणीके अधरबिम्बके सदृश स्वादयुक्त रसवाले कुसुमोंके मधुका (मकरन्दका) पान किया ॥ २३ ॥

और वह भँवरा किसी एक कमलिनीमें आसक्त होता हुआ कमलके नालमें संलग्न हो गया, क्योंकि जड़बुद्धिका चित्त कहींपर अनुराग कर ही लेता है ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, [एक समयकी बात है] उस कमलिनीको उखाड़ फेंकनेके लिए कोई एक हाथी आ धमका । ठीक ही है ! मूर्खोंकी इच्छाएँ रमणीय वस्तुओंका नाश करनेमें ही बढ़ती हैं ॥ २५ ॥

उस हाथीने भ्रमरकी आश्रय वह कमलिनी मर्दित कर ही डाली । और

भ्रमरो वारणालोकाद्वारणालोकभावनात् ।
ददर्शाऽऽत्मानमामोदमत्तहस्तितयोदितम् ॥ २७ ॥
शुष्कसागरगम्भीरे गजः खाते पपात ह ।
तमोघनघने शून्ये संसार इव जीवकः ॥ २८ ॥
बभूव वल्लभो राज्ञो महापरबलान्तकः ।
सदा मदबलक्षीबो घूर्णोऽतीव निशाचरः ॥ २९ ॥
कदाचिदसिनिस्त्रिंशच्छिन्नः सोऽस्तमुपाययौ ।
विवेकानिलनिर्लूनरूपो जीव इवाऽऽत्मनि ॥ ३० ॥
पश्यन् गजघटाकुम्भस्थलाग्रोच्चलितानलीन् ।
गण्डस्थभ्रमराभ्यासाद्गजो भूयोऽप्यभूदलिः ॥ ३१ ॥

उसी कमलिनीके नालके साथ वह भँवरा भी हाथीके दाँतोंके बीचमें पड़कर धानके पौधेके साथ कृष्ण (काले) धानकी नाईं चबाया जाता हुआ चूर-चूर हो गया ॥ २६ ॥

उस भँवरेने हाथीके दर्शनसे जनित हस्त्याकार भावनासे अपनेको गन्धविशेषसे (मदसे) उन्मत्त हाथीके रूपमें तैयार देखा ॥ २७ ॥

तदनन्तर शुष्क सागरके समान हाथियोंको फँसानेवाले पीलवानोंसे निर्मित गम्भीर एक गड्ढेमें वह हाथी ऐसे गिरा, जैसे अज्ञानान्धकारसे शृङ्खलाबन्धनसे भी कठोर शून्य संसारमें परवशता आदि दुःखोंका अनुभव कर रहा जीव गिरता है ॥ २८ ॥

शत्रुओंकी महती सेनाका नाश करनेवाला और सर्वदा मदके बलसे उन्मत्त वह हाथी [जो किसी राजाके द्वारा उस गड्ढेसे निकलवा कर शिक्षित किया जा चुका था, उस] राजाका अत्यन्त प्रीतिपात्र हुआ। किसी समय [उस राजाका किसी राजासे जब रातमें ही युद्ध ठन गया तब] रातमें निकलकर दीर्घ खड्गों एवं कृपाणों से उस प्रकार छिन्न-भिन्न होता हुआ मृत्युको प्राप्त हो गया, जिस प्रकार आत्मामें जीव (जीवोपाधि—देहाद्यभिमान-वाला जीव) विवेकरूप पवनसे छिन्न-भिन्न हो जाता है ॥ २९, ३० ॥

हस्ति-समूहोंके गण्डस्थलोंके अग्रभागोंसे उड़ी हुई भ्रमर-पङ्क्तियोंको देखता हुआ वह हाथी गण्डस्थित भ्रमरकी चिरसङ्गतिके संस्कारसे पुनः भी भँवरा हो गया ॥ ३१ ॥

सेवमानो वनलतां पुनरायात् स पद्मिनीम् ।
दुस्त्यजो हि दुरभ्यासो वासनानामबोधिनः ॥ ३२ ॥
तत्र हस्तिखुराक्रान्तः पुनः संचूर्णतां ययौ ।
पार्श्वस्थहंससंवित्त्या बभूव कलहंसकः ॥ ३३ ॥
कलहंसश्चिरतरं योनिष्वन्यासु संल्लुठन् ।
कदाचिद्बहुभिर्हंसैः सङ्गतो विजहार ह ॥ ३४ ॥
ब्राह्महंसात्मिका संवित् सशब्दार्थवती मनाक् ।
तत्र पुष्टाऽस्य तस्याऽन्तः प्रागण्डरसबर्हिवत् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर वनलताओंका सेवन कर रहा वह भँवरा पुनः कमलिनीके पास आ पहुँचा, क्योंकि अज्ञानी जीवोंकी वासनाओंका दुरभ्यास सर्वथा दुस्त्याज्य ही होता है ॥ ३२ ॥

वहाँ भी पुनः हाथीके खुरोंसे विताड़ित हुआ वह (भँवरा) चूर-चूर हो गया और समीपमें स्थित हंसके दर्शनसे यानी उससे उद्बुद्ध हुई वासनासे मधुरभाषी हंस हो गया ॥ ३३ ॥

बहुत समयतक अनेकविध योनियोंमें भटकता हुआ * वह कलहंस किसी समय एकबार पुनः हंसजन्म प्राप्त कर बहुतसे हंसोंके साथ विहार करने लगा ॥ ३४ ॥

वहाँ हंसोंकी सभामें उसने ब्रह्मदेवके हंसके गुण, आकार आदिका वर्णन सुना। उससे उसी जन्ममें हंसरूप इस भिक्षुके अन्तःकरणमें नाम और आकार से समन्वित 'मैं भी ब्राह्महंस हो जाऊँ' इस तरहकी वासना वैसे ही किञ्चित् घनीभूत हो गई, जैसे पूर्वमें वर्णित अण्डरसमें स्थित मोर ॥ ३५ ॥

---

* "योनिष्वन्यासु संल्लुठन्" इससे

'हंसः पद्मवने भूत्वा विन्ध्यकच्छे च वारणः ।
हरिणो देहयन्त्रादौ .... ॥'

इत्यादि वक्ष्यमाण रीतिसे बीचमें इसके पचासी जन्म हुए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। तथा च, उक्त दो प्रकारके हंसजन्म ग्रहण कर लेनेके बाद वह रुद्ररूप हुआ, यह—

'संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहं व्यवस्थितः' ।

इत्यादिसे आगे कहेंगे ।

स तच्चिन्तां चरन्मृतो दृढव्याधिघुणाहतः ।
तत्संविच्यनुसन्धानाज्जातः पद्मजसारसः ॥ ३६ ॥

तत्राऽतिसन्ततविवेकवतो विलासैः
सम्बोधितो विगतलौकिकवस्तुदृष्टिः ।
मुक्तः स्थितो ननु युगान्तविधौ विदेह-
मुक्तेन तेन किमु भावि विभाव्यमेतत् ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवटोपाख्याने स्वप्नशतरुद्रीये भिक्षुसंसारोदाहरणं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥६२॥

उसीका चिन्तन कर रहा वह (भिक्षु) व्याधिरूप घुनसे दृढ आहत होकर मर गया और उस ब्रह्महंसकी नाम एवं आकार उभयविषयक वासनाके अनुसन्धानसे ब्रह्मदेवका वाहन हंस बन गया ॥ ३६ ॥

श्रीरामजी, विपुल तथा सर्वदा अनुस्यूत विवेकवाले ब्रह्मदेवके अपने विवेक, वैराग्य, तत्त्वज्ञान आदि उपदेशोंके विलासोंसे उसी जन्ममें ब्रह्म-लोकमें ही भली-भाँति बोधित, अतएव भोग्य पदार्थोंमें सारदृष्टिसे शून्य होता हुआ वह हंस जीवन्मुक्त होकर स्थित हो गया । इस प्रकार जीवित रहते हुए ही जब उसने निरतिशय आनन्दरूप मोक्षसुखकी प्राप्ति कर ली और—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्याऽन्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'—इस श्रुतिके अनुसार दो परार्धवर्षके अन्तमें ब्रह्मदेवके साथ ही विदेहमुक्त भी हो गया तब उस हंसके लिए इससे अधिक साध्य ही क्या शेष रहा ? यह विद्वान् ही सोचें । तात्पर्य यह निकला कि ज्ञानसे इसी जन्ममें समूल अनर्थोंकी निवृत्ति एवं निरतिशय आनन्दप्राप्तिके सम्पादित कर लेने और उससे अतिरिक्त पुरुषार्थके शेष न रहने से वह कृतकृत्य हो गया ॥ ३७ ॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

त्रिषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स कदाचिद्ददर्शाऽथ रुद्रं रुद्रपुरे खगः ।
वैरिञ्चनलिनीनाललीलालाभेन लीलया ॥ १ ॥
तत्र बुद्धिरभूत्तस्य रुद्रोऽहमिति निश्चिता ।
प्रतिबिम्बवदादर्शे द्रागित्येव हि बिम्बिता ॥ २ ॥

तिरसठवाँ सर्ग

[रुद्ररूपताको प्राप्त हुए उस हंसको पूर्व-देहोंका ज्ञान, उनकी शतरुद्रता तथा एकरूपता—इनका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, वह हंसपक्षी अनायास ही ब्रह्मदेवके आसनभूत कमलिनीके नालमें लीलाप्राप्त करनेसे यानी ब्रह्मदेवका वाहनरूप सामीप्य एवं मुक्तिरूप पदके प्राप्त करनेसे किसी एक समय ब्रह्मदेवके साथ रुद्रपुरमें पहुँचा और वहाँ उसने भगवान् रुद्रको देखा ॥ १ ॥

वहाँपर भगवान् शङ्करमें ज्ञान, योग, ऐश्वर्य आदि सम्पूर्ण गुणोंका आधिक्य देखनेसे उस हंसको 'मैं भी रुद्राहम्भावनासे रुद्ररूप हो जाऊँ' यों दृढ बुद्धि हो गई । [शङ्का हो कि जीवन्मुक्त, अतएव वासनाशून्य उस हंसको रुद्रत्वकी इच्छा ही कैसे होगी और उस वासनाके अभ्याससे देहत्यागके साथ पुनः उसका रुद्रशरीर धारण भी कैसे होगा ? यदि इसपर कहो कि 'भरतस्य त्रिजन्मभिः' इस न्यायके अनुसार नाना देहोंसे भोग्य प्रारब्ध कर्मोंके अवशिष्ट रहनेसे वह देहान्तर धारण कर सकता था तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँपर रुद्रविषयक अहम्भाव धारण करनेका जो वर्णन किया गया है, वह निरुपयोगी हो जायगा । इसी प्रकार भगवान् रुद्रके ईश्वर होनेके कारण रुद्ररूपतामें कर्मफलत्व भी नहीं आ सकता ? इसपर कहते हैं—'प्रतिबिम्ब०' से] उसकी वह इच्छित रुद्रता दर्पणमें प्रतिबिम्बकी नाईं प्रतिबिम्बरूप ही थी । तात्पर्य यह है कि यह वर्णित रुद्रभाव मुख्य रुद्रभाव नहीं है, किन्तु प्रतिबिम्बके समान सारूप्यमुक्ति ही है, और वह कर्मोपासनाका फल भी हो सकती है । तथा च, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' यह श्रुति इस विषयमें प्रमाण है ॥ २ ॥

रुद्रभूतवपुस्तत्र तनुं तत्याज तामसौ ।
गन्धः पवनतां गच्छन् कुसुमस्तबकं यथा ॥ ३ ॥
स रुद्रो रुद्रभवने विजहार यथेच्छया ।
तैस्तैः शिवपुराचारैर्गणकोटिगरिष्ठया ॥ ४ ॥
रुद्रस्त्वनुत्तमज्ञानविलासैकतया तया ।
स्वमशेषं च वृत्तान्तमपश्यत् प्राक्तनं धिया ॥ ५ ॥
निरावरणविज्ञानवपुः स भगवांस्तदा ।
उवाच स्वयमेकान्ते स्वस्वप्नशतविस्मितः ॥ ६ ॥
अहो नु चित्रा मायेयं तता विश्वविमोहिनी ।
असत्यैवाऽपि सद्रूपा मरुभूमिषु वारिवत् ॥ ७ ॥

हंसका यह रुद्रदेहधारण जन्मान्तर नहीं है, किन्तु अवशिष्ट प्रारब्धसे उपनीत इच्छाके कारण योगियोंके समान मानस देहान्तरकी कल्पना द्वारा पूर्व-देहका त्यागमात्र ही है, इस आशयसे कहते हैं—'रुद्रभूत०' इत्यादिसे ।

वहाँपर उस हंसने [रुद्रभावनावश] रुद्रशरीर धारणकर अपने उस पूर्ववर्ती हंसशरीरका उस प्रकार त्याग कर दिया जिस प्रकार गन्ध पवनरूपताको प्राप्तकर पुष्पगुच्छोंका त्याग कर देता है ॥ ३ ॥

वह रुद्र उस रुद्रभवनमें गाणपत्यपदकी प्राप्तिके कारण उन-उन शिवपुरके आचारोंसे यथेच्छ विहार करने लगा ॥ ४ ॥

सारूप्य-मुक्तिमें यद्यपि जगत्का संहार आदि करनेका अधिकार नहीं है; तथापि ज्ञान, ऐश्वर्य आदिसे प्रसिद्ध रुद्रभगवान्का साम्य तो है ही, इस आशयसे कहते हैं—'रुद्रस्त्व०' इत्यादिसे ।

वहाँपर परम श्रेष्ठ ज्ञान एवं ऐश्वर्य आदिके विलासोंसे प्रसिद्ध रुद्रभगवान्के साथ समताविशिष्ट उस अलौकिक बुद्धिसे उस रुद्रने अपने पूर्वतन सम्पूर्ण वृत्तान्तोंका भी अवलोकन कर लिया ॥ ५ ॥

उस समय आवरणरहित, एकमात्र ज्ञानाकार भगवान् रुद्ररूप उसने, अपने सैकड़ों स्वप्नोंसे आश्चर्यचकित होते हुए अपने मनमें ही कहा ॥ ६ ॥

यह महान् आश्चर्य है कि चारों ओर फैली हुई यह माया विश्वको मोहित करनेवाली है। मरुभूमिमें जलकी नाईं यह स्वयं असद्रूपा ही है; फिर भी सद्रूप-सी भासित हो रही है ॥ ७ ॥

इति प्रथममाज्ञातं चिद्योऽहं चित्ततां गतः ।
सर्वसंपन्नसर्वज्ञगगनादिविभावनात् ॥ ८ ॥
यदृच्छया स्थितो जीवो भूततन्मात्ररञ्जितः ।
कस्मिंश्चिदभवत् सर्गे भिक्षुरक्षुभितोऽभितः ॥ ९ ॥
तेनाऽवयवबन्धेन बहिः स्वैरविहारिणी ।
लीला विलुलिताकारा यदा रम्येति भावतः ॥ १० ॥
सर्वभावोपमर्देन तदभ्यासवशात्तदा ।
तामेव सोऽन्वभूद्भिक्षुस्त्यक्त्वाऽन्यं मननोदयम् ॥११॥

आ ! मुझे स्मरण आ गया कि सर्वप्रथम प्राक्तन पारमार्थिक स्थितिसे मैं चिद्रूप ही था । तदनन्तर मायावश चित्तरूपताको ('एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इत्याकारक सृष्टिसङ्कल्प-वृत्तिताको) प्राप्त हुआ । उस तरहके सङ्कल्पसे ही मैं सम्पूर्णरूपसे सम्पन्न होता हुआ चिदंशमें सर्वज्ञ और गगन आदिकी भावनासे जडांशमें गगन आदि विभागवान् भी हो चुका हूँ ॥ ८ ॥

तदनन्तर मेरा स्वेच्छासे व्यष्टि-समष्ट्यात्मक लिङ्गदेहमें चिदात्मरूपसे प्रवेश होनेपर—स्थूलभूतों तथा सूक्ष्मतन्मात्राओं से और उन देहोंसे अभेदाध्यास होनेके कारण—तद्गत वासनाओंके वैचित्र्यसे चित्रपटकी नाईं रञ्जित होता हुआ मैं जीवरूप होकर स्थित हुआ । और अनादिकालसे जन्म-परम्पराओंका अनुभव कर रहा वह जीव भी किसी एक सर्गमें वैराग्य एवं समाधि में पटुता होनेके कारण चारों ओरसे विषयोंके क्षोभसे रहित होता हुआ संन्यासी हो गया ॥ ९ ॥

आत्मज्ञानसे शून्य उस भिक्षुमें रम्यवस्तुओंमें इदन्त्व (यह) या अहन्त्व (मैं) बुद्धि रखनेके कारण चित्तनिरोधके अभ्यासमें पटुता होनेसे पूर्वदेहादिके आत्यन्तिक विस्मरण-शक्तिकी उत्पत्ति हुई, यह दिखलाते हैं—'तेनाऽवयव०' इत्यादिसे ।

बँधे हुए पद्मासनसे स्थिरता रखनेवाले उस भिक्षुने, स्थूलदेहके अवयव तथा लिङ्गदेहके अवयव प्राण, इन्द्रिय आदिके निरोधद्वारा बाहर देवता आदि विषयोंमें चित्तकी स्वैर विहार करनेवाली मानस-पूजा आदिरूप लीला 'यह सुन्दर है' इस भावनासे ज्यों-ही अविकलरूपसे प्रारम्भ की, त्यों-ही वह (भिक्षु)

चमत्कृतिश्चेतसि या रूढा सैव विजृम्भते ।
वल्ली त्यजति नैदाघी पीतमप्यम्बु माधवम् ॥ १२ ॥
स भिक्षुर्जीवटो भूत्वा जन्तुर्जरठवासनः ।
तेषु देहेषु बभ्राम रन्ध्रेष्विव पिपीलिका ॥ १३ ॥
आत्मनि द्विजभक्तत्वात् सोऽपश्यद्द्विजतामथ ।
भावाभावविपर्यासे बलवानेव वर्धते ॥ १४ ॥
सामन्ततामवापाऽसौ विप्रः सन्ततचिन्तिताम् ।
सातत्येन रसः पीतः फलतामेति पादपे ॥ १५ ॥

उसके अभ्यासवश तत्-तत् विरुद्ध सम्पूर्ण भावोंको दबाकर, दूसरे मननोदयको छोड़कर उसी लीलाका अनुभव करने लगा ॥ १०, ११ ॥

क्योंकि पीछे जो चमत्कृति चित्तमें आरूढ होती है, वही पूर्व चमत्कृतिको दबाकर विजृम्भित होती है, [किस प्रकार दबाकर विजृम्भित होती है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—'वल्ली' से] उष्णता-चमत्कारसे व्याप्त लता वसन्तकालीन पीये हुए भी जलको यानी हरेपनके चमत्कारको छोड़ देती है अर्थात् उसे दबाकर विजृम्भित होती है ॥ १२ ॥

परम सिद्ध होते हुए भी उस भिक्षुकको अशास्त्रीय मानस-क्रीडामें प्रवृत्ति होनेपर अनर्थोंकी परम्परा प्राप्त हो गई, यह कहते हैं—'स' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार चींटी छिद्रोंमें घूमती-फिरती है, उसी प्रकार अपनी दृढ़ वासनाओंसे युक्त * भिक्षुरूप वह जीव जीवटनामधारी होकर उन योनियोंमें घूमने लगा ॥ १३ ॥

उन्हीं योनियोंका कारणप्रदर्शनपूर्वक विस्तारसे वर्णन करते हैं—'आत्मनि' इत्यादिसे ।

तदनन्तर द्विजमें अनुरक्ति होनेके कारण वह जीवट अपनेमें द्विजत्व देखने लगा यानी वह द्विज हो गया; क्योंकि भाव और अभावका वैपरीत्य सिद्ध करना हो अर्थात् उद्भूत भावनाको अनुद्भूत और अनुद्भूत भावनाको उद्भूत बनाना हो, तो जो भी वासनासमूह अभ्यास, पाटव आदिसे बलवान् (दृढ़ीभूत) होगा, वही इतरका तिरोभाव कर स्वयं कार्यरूपसे उत्पन्न होगा ॥ १४ ॥

उसके बाद उस ब्राह्मणने वह सामन्तता (माण्डलिकता) प्राप्त की, जिसका

* शास्त्रीय वासनाओंकी शिथिलता होनेपर अनादि अनर्थवासनाओंका उद्भव होना अवश्यम्भावी है—यह 'जरठवासनः' इस पदसे सूचित होता है ।

राज्यार्थं धर्मकार्याणां कर्तृत्वात् सोऽभवन्नृपः ।
स कामुकतया राजा सुरस्त्रीत्वमवाप ह ॥ १६ ॥
लोला लोचनलोभेन सा मृगी रसशालिनी ।
बभूव वासनामोहश्चाहो दुःखाय जन्तुषु ॥ १७ ॥
मृगी सा बत चित्तस्था बभूव विपिने लता ।
अवश्यम्भावि लवनं लतिका नु बभूव ह ॥ १८ ॥
अन्तःसंज्ञाचिराभ्यस्तं भ्रमरत्वमथाऽऽत्मनि ।
साऽपश्यत् सावमर्दन सदा तद्भावभाविता ॥ १९ ॥
स वारणखुरक्षोदमनुभूयाऽथ भावितम् ।
भूयो भूयः प्रबभ्राम महासंसृतिसंभ्रमान् ॥ २० ॥

वह सदा चिन्तन कर रहा था । ठीक ही है, निरन्तर पीया गया पानी वृक्षमें फलरूपसे परिणत होता ही है ॥ १५ ॥

पश्चात् राज्यके लिए धर्मानुष्ठान करनेसे वह राजा (चक्रवर्ती सम्राट्) हो गया । और उसके बाद धर्मसञ्चयसे समन्वित कामुक-वृत्ति होनेके कारण वह राजा देवाङ्गनारूप बन गया ॥ १६ ॥

मृगके लोचन-सौन्दर्यके लोभसे चञ्चल हुई वह देवाङ्गना रञ्जित मृगी हो गई । अहो ! प्राणियोंमें वासना-मोह एकमात्र दुःखके लिए ही है ॥ १७ ॥

खेद है कि वासनारूपसे चित्तमें स्थित वह मृगी लताकी वासनासे अरण्यमें लतारूप हो गई और उस लतिकाने यह समझ लिया कि मेरा छेदन अवश्यम्भावी है ॥ १८ ॥

इसके बाद वह लता, जो कि भ्रमरकी भावनासे भावित थी, छेदन तथा मर्दन से समन्वित लतादेहसे अपनी देहमें भीतरी वासनासे चिराभ्यस्त भ्रमरत्व देखने लगी ॥ १९ ॥

तदनन्तर वह भँवरा स्वयं भावित हाथीके खुरके आघातका अनुभवकर महासंसारके भ्रमोंमें पुनः-पुनः * घूमने लगा ॥ २० ॥

---

* प्रस्तुत श्लोकमें 'भूयो भूयः' पदसे बीचके हाथी, भँवरा, हंस आदि नब्बे जन्मोंका भी उसे स्मरण हुआ, यह बतलाया गया है ।

संसारशतपर्यन्ते रुद्रः सोऽहमहं स्थितः ।
अस्मिन् संसारसंरम्भे स्वमनोमात्रसंभ्रमे ॥ २१ ॥
एवमत्यन्तचित्रासु संसारारण्यभूमिषु ।
वह्वीष्वहमतिभ्रान्तस्त्वशून्यास्विव भूरिशः ॥२२ ॥
कस्मिंश्चिदभवं सर्गे त्वहं जीवटनामकः ।
कस्मिंश्चिद्ब्राह्मणश्रेष्ठः कस्मिंश्चिद्वसुधाधिपः ॥ २३ ॥
हंसः पद्मवने भूत्वा विन्ध्यकच्छे च वारणः ।
हरिणो देहयन्त्रादौ दशामहमिमां गतः ॥ २४ ॥
अत्र वर्षसहस्राणि चतुर्युगशतानि च ।
समतीतान्यनन्तानि दिनर्तुचरितानि च ॥ २५ ॥
मम प्रथममेव प्राक्चलितस्य परात्पदात् ।
तत्त्वज्ञानितया रूढो भिक्षुत्वे योग्यताक्रमः ॥ २६ ॥
भूयो भूयोऽप्यतिक्रम्य गतश्च ब्रह्महंसताम् ।
स एव प्राक्तनोऽभ्यासः फलितः सङ्गमोदयात् ॥२७॥

अपने मनोमात्रसे कल्पित इस संसाररूप संरम्भमें सौ जन्म धारणकर वही मैं भिक्षु रुद्ररूप होकर स्थित हुआ ॥ २१ ॥

इस प्रकार अत्यन्त विचित्र, तथा सत्य-सी प्रतीत हो रही अनेक संसाररूप अरण्य-भूमियोंमें मैंने अनेकबार दीर्घकालतक भ्रमण किया ॥ २२ ॥

किसी सर्गमें मैं जीवटनामधारी हुआ, किसी में विप्र (ब्राह्मणश्रेष्ठ) हुआ तो किसी सर्गमें पृथिवीपति राजा भी हुआ ॥ २३ ॥

किसी सर्गमें पद्मवनमें हंस होकर विन्ध्यके कच्छमें हाथी और हिरन हुआ। इस प्रकार देहरूप यन्त्रमें तथा मनोरूपयन्त्रमें मैं पूर्व-वर्णित दशाको प्राप्त हुआ ॥ २४ ॥

आदिसर्गसे लेकर चिदेकरस परमपदसे च्युत हुए मेरे आजतक इस संसारमें हजारों वर्ष, सैकड़ों चार युग एवं अनन्त दिन, ऋतु आदि के चरित बीत गये। और परम पदसे पहले ही विचलित हुए अपनी पूर्व भिक्षु-अवस्थामें रूढ़ भी तत्त्वज्ञानके योग्य श्रवण, मनन आदिके अभ्यास-रूप योग्यता-क्रमका प्रमादवश उल्लङ्घनकर मैं पुनः-पुनः जन्म-परम्परासे ब्रह्मदेवका हंस बन गया, वही मेरा प्राक्तन अभ्यास-क्रम भगवान् रुद्रका सान्निध्य पानेसे रुद्ररूपमें तत्त्वज्ञानरूप फलके साथ सफल हो गया २५–२७ ॥

दृढाभ्यासो य एवाऽस्य जीवस्योदेत्यविघ्नतः ।
सोऽत्यन्तमरसेनाऽपि तमेवाऽऽश्वनुधावति ॥ २८ ॥
काकतालीययोगेन कदाचित् साधुसङ्गमात् ।
अशुभो भावनाभ्यासो जीवस्य विनिवर्तते ॥ २९ ॥
सङ्गत्यधिगतं चैष केवलं स्वोदयं प्रति ।
प्राक्तनो वासनाभ्यासो हातुरुद्यममीक्षते ॥ ३० ॥
यच्चेहाऽभ्यस्यतेऽजस्रं यच्च देहान्तरेऽपि च ।
जाग्रत्स्वप्नेष्वसदपि तत्सदित्यनुभूयते ॥ ३१ ॥

अतएव शास्त्रीय उपायोंका अभ्यास हीं सर्वश्रेष्ठ है, जो कि विरुद्ध अनेक जन्मोंका व्यवधान होनेपर भी पुनः आविर्भूत होकर परम पुरुषार्थको सिद्ध ही कर देता है, यह कहते हैं—'दृढाभ्यासो' इत्यादिसे ।

इस जीवका निर्विघ्नतापूर्वक शास्त्रीय साधनोंमें जो ही दृढ़ अभ्यास उदित होता है, वह अत्यन्त नीरस हजारों जन्मोंके व्यवधानोंसे युक्त होता हुआ भी शीघ्र उस जीवके ही पीछे-पीछे दौड़ता है ॥ २८ ॥

यदि शङ्का हो कि तब तुल्ययुक्तिसे अशुभ भी भावनाभ्यास शुभ भावनाभ्याससे व्यवहित होनेपर भी पुनः उत्पन्न होगा ? तो इसपर कहते हैं—'काकतालीय०' इत्यादिसे ।

काकतालीय न्यायसे कभी महात्माओंका अचानक समागम प्राप्त हो जानेसे जीवका यह अशुभ भावनाभ्यास भलीभाँति नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

तब तो जैसे केवल पहलेके संस्कारोंसे अशुभ वासनाभ्यास उत्पन्न होता है, वैसे ही शुभ वासनाभ्यास भी स्वयं ही उत्पन्न हो जायगा, और उसीकी सामर्थ्यसे यह पुरुष (जीव) अशुभ वासनाओंको भी छोड़ देगा; अतः उसके लिए पुरुषप्रयत्नका विधान व्यर्थ ही है ? यदि ऐसी कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'सङ्गत्यधि०' इत्यादिसे ।

दुर्वासना-जालको छोड़नेकी इच्छा कर रहे पुरुषका यह पूर्वतनीय सद्वासनाका अभ्यास कालान्तरमें (विरुद्ध अनेक जन्मोंके व्यतीत हो जानेपर) अपने उद्भवके प्रति सत्सङ्गतिसे प्राप्त सत्पुरुषोंके प्रयत्नकी एकमात्र अपेक्षा रखता है, उसके बिना उत्पन्न नहीं होता, यह भाव है ॥ ३० ॥

और वह पुरुषप्रयत्न भी जब अनेक जन्मोंके अभ्यस्त एवं दृढ़ीभूत सद्वासनासे

तत्तदर्थक्रियाकारि दुःखाय च सुखाय च ।
उदेति भावनं तस्माद्भावनाभावनं जयः ॥ ३२ ॥
भावनैव स्वमात्मानं देहोऽयमिति पश्यति ।
असत्तामात्रविस्तारं गुल्मकल्पमिवाऽङ्कुरः॥ ३३ ॥

समन्वित होगा तभी दुर्वासनाका क्षय करनेमें समर्थ हो सकता है, सहसा नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'यच्चेह०' इत्यादिसे ।

जो इस देहमें तथा दूसरे देहोंमें भी जाग्रत् एवं स्वप्नमें निरन्तर अभ्यस्त किया जाता है, परमार्थतः असद्रूप भी वह सद्रूपसे अनुभूत होता है । तात्पर्य यह निकला कि मिथ्यार्थविषय देवतोपासना आदिस्वरूप प्रयत्न भी जहाँ जाग्रत् एवं स्वप्न कालमें सत्यतानुभवके योग्य देवताभाव आदि फल उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं; वहाँपर श्रवण आदि प्रयत्न, जो कि परमार्थतः सत्यवस्तु-विषयक हैं, प्रमाणगम्य परमार्थ-सत्यस्वभावके लाभके लिए समर्थ होंगे—इसमें कहना ही क्या ! यही सूचित करनेके लिए श्लोकमें 'असदपि' कहा गया है ॥ ३१ ॥

इसीलिए शास्त्रीय भी अनात्मविषयक भावनाका अभ्यास दुःखमिश्रित सुखके लिए ही होता है; अतः सर्वविध भावनाओंका उच्छेद कर देना ही आत्यन्तिक अनर्थको जीत लेना है, न कि बीचकी देवतात्वकी प्राप्ति, इस आशयसे कहते हैं—'तत्तदर्थ०' इत्यादिसे ।

देवताशरीर और उनके भोग आदिरूप अर्थक्रियाके जनक अनात्मचिन्तन दुःख और सुखके लिए ही उदित होते हैं । अतः भावनाकी अभावना करना ही सम्पूर्ण अनर्थोंपर विजय पाना है ॥ ३२ ॥

किञ्च, जब यह अनर्थ अनात्मभावनासे ही जनित है, तब भला वह अनर्थसे डरनेवालों द्वारा कैसे सेवनीय है ? इस आशयसे कहते हैं—'भावनैव' इत्यादिसे ।

यह भावना ही अपनी आत्माको 'यह देह है' इस प्रकार ऐसे देखती है, जैसे अङ्कुर एकमात्र असद्रूप विस्तारसे युक्त शाखा-प्रशाखावाली लतारूपताको देखता है ॥ ३३ ॥

भावना प्रेक्ष्यमाणैषा न किञ्चिदिह शिष्यते ।
न च विद्यत एवेति तद्भ्रमेणाऽलमस्तु नः ॥ ३४ ॥
भ्रमस्य जागतस्याऽस्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
असंवेदनमात्रैकं मार्जनायाऽलमस्तु नः ॥ ३५ ॥
असन्मयी स्वरूपैषा परं सत्त्वेव लालनी ।
वर्तते चेद्विनोदाय किञ्चित्त सा न करिष्यति ॥ ३६ ॥
तत्तान्सर्वान् स्वसंसारानुत्थायाऽऽलोकयाम्यहम् ।
सम्यगालोकदानेन तेभ्य एकीकरोम्यहम् ॥ ३७ ॥
इति संचिन्त्य रुद्रोऽसौ तं सर्गं प्रजगाम ह ।
यत्र भिक्षुर्विहारस्थः सुप्तः शव इव स्थितः ॥ ३८ ॥

वह एकमात्र तत्त्वदर्शनसे भलीभाँति छिन्न हो जाती है, यह कहते हैं—**'भावना'** इत्यादिसे ।

यह भावना तत्त्वदृष्टिसे भलीभाँति देखी जानेपर यहाँपर कुछ भी नहीं शेष रहती । [अथवा उसका छेदन भी साध्य नहीं, क्योंकि असत्‌का सर्वदा उच्छेद हुआ ही है, यह कहते हैं—'न च' से ।] अथवा वह कुछ है ही नहीं, अतः उस प्रकार भ्रम करना हमें उचित नहीं है ॥ ३४ ॥

आकाशके वर्णके समान उत्पन्न इस जगत्सम्बन्धी हम लोगोंके भ्रमके परिमार्जनके लिए एकमात्र असंवेदन ही पर्याप्त होगा ॥ ३५ ॥

अथवा, इस प्रकारके भ्रमात्मक ज्ञानका अभाव न हो, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे बाधित वस्तुका संवेदन होनेपर भी—रज्जुमें बाधित सर्पकी नाईं भय उत्पन्न करनेमें असमर्थ होनेके कारण—वह अनर्थका जनक नहीं हो सकता, प्रत्युत क्रीड़ाका एक साधन ही होगा, यह कहते हैं—**'असन्मयी'** इत्यादिसे ।

बाधित होनेसे असद्रूप, अधिष्ठानसत्तास्वरूप यह जगदाकार भावना, जो कि एकमात्र कौतुकका साधन है, यदि प्रातिभासिक सत्ताके कारण है, तो वह विनोदके लिए ही है । वह अणुमात्र भी अनर्थकी जननी न होगी ॥ ३६ ॥

इसी कौतुकवश मैं नाना प्रकारके अपने उन संसारोंको जाकर देखता हूँ । और उन्हें तत्त्वज्ञानके प्रदान द्वारा उपाधिसे पृथग्भूत अपनी आत्माको एक कर देता हूँ ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विचारकर वह रुद्र उस सर्गमें चला गया, जहाँ मठस्थित भिक्षु, मृतककी नाईं, निद्रामें स्थित था ॥ ३८ ॥

बोधयित्वाऽथ तं भिक्षुं चेतसा चेतनेन च ।
योजयामास सस्मार भिक्षुरप्यात्मनो भ्रमम् ॥ ३९ ॥
रुद्रमात्मानमालोक्य जीवटादिमयं तथा ।
बोधादविस्मयार्होऽपि स भिक्षुर्विस्मयं ययौ ॥ ४० ॥
अथ रुद्रस्तथा भिक्षुर्द्वावेवोत्थाय जग्मतुः ।
क्वाऽपि जीवटसंसारं चिदाकाशैककोणगम् ॥ ४१ ॥
तत्र तद्भुवनं गत्वा तद्द्वीपं तच्च मण्डलम् ।
विषयं तत्पुरं तच्च तं च पाणावसिग्रहम् ॥ ४२ ॥
सुप्तं ददृशतुर्नष्टसंज्ञं जीवटकं शवम् ।
स्थापयित्वा वपुर्भावं प्रभान्तं भवभूमिषु ॥ ४३ ॥

तदनन्तर उस रुद्रने उस जीवटनामधारी भिक्षुको जागृतकर स्वचित्तांश चित्त एवं अपने अंशभूत चिदाभासस्वरूप तत्त्वज्ञ जीवसे संयुक्त किया । और वह भिक्षु भी अपने भ्रमका स्मरण करने लगा *॥ ३९ ॥

अपने-आपको रुद्ररूप तथा जीवट आदिके शरीररूप में भी देखकर तत्त्वज्ञान होनेके कारण आश्चर्य करनेके अयोग्य भी वह भिक्षु [इतने थोड़े समयमें चिरकालके जन्मोंके अनुभवरूप तथा स्वाप्निक रुद्रशरीरादिकी अनुवृत्तिरूप आश्चर्यके अवलोकनसे] आश्चर्यचकित हो गया ॥ ४० ॥

तदनन्तर वह रुद्र और भिक्षु दोनों ही उठकर चिदाकाशके एक कोनेमें स्थित कहीं ब्रह्माण्डान्तरमें चले गये ॥ ४१ ॥

उस जीवटके संसाररूप ब्रह्माण्डान्तरमें लीलोपाख्यानमें वर्णित रीतिसे प्रवेशकर उसके भूलोकमें जाकर वहाँ भी उस जीवटके स्थानभूत द्वीपको और उस मण्डलको, उस मण्डलके अन्तर्गत देशको, उस पुरको और उस घरको तथा उस घरमें स्थित हाथमें तलवार धारण किये हुए जीवटको, जो कि शवकी नाईं सुस्त और नष्टसंज्ञ होकर पड़ा था, उन दोनोंने देखा । वहाँपर स्थित लोगोंके' लिए स्वयं

---

* प्रस्तुत श्लोकसे यह सूचित होता है कि रुद्रादि जीवोंके प्रवेशकी कल्पना, उनका सत्यसङ्कल्प एवं विचित्र भोगोंके जनक अवशिष्ट अदृष्टके बलसे बाधित हुए भी जीवटसे लेकर रुद्रपर्यन्त सभी शरीरों तथा उनके प्रपञ्चों की कल्पपर्यन्त अनुवृत्ति हो सकती है, इस लिए भिक्षुके जागरणसे हम लोगोंके स्वाप्निक प्रपञ्चकी नाईं उन शरीरों एवं उनके प्रपञ्चोंका निरनुवृत्तिरूप बाध नहीं होगा ।

तं प्रबोध्य नियोज्याऽऽशु चेतसा चेतनेन च ।
एकरूपास्त्रिरूपास्ते रुद्रजीवटभिक्षुकाः ॥ ४४ ॥
बोधवन्तोऽप्यबुद्धाभा विस्मिता अप्यविस्मिताः ।
बभुस्तूष्णीं स्थिताश्चित्रकृताकारा इव क्षणम् ॥ ४५ ॥
अथ जग्मुश्च ते सर्वे क्वचिद्व्योमनि संस्थितम् ।
विप्रसंसारमारब्धं परिभूतसङ्घुमम् ॥ ४६ ॥
ते तत्र भुवनं गत्वा तद्द्वीपं तच्च मण्डलम् ।
विषयं तच्च तं ग्रामं प्रापुस्तं ब्राह्मणालयम् ॥ ४७ ॥
विप्रं ते ददृशुः सुप्तं कलत्रवलितं गृहे ।
कण्ठे गृहीतं ब्राह्मण्या बहिर्जीवमिव स्थितम् ॥ ४८ ॥
तं प्रबोध्य नियोज्याऽऽशु चेतसा चेतनेन च ।
तत्स्थास्ते बहवोऽप्यन्ये सविस्मयविविस्मयाः ॥ ४९ ॥

दर्शनके अयोग्य होनेके कारण रुद्र एवं भिक्षुके शरीरके भावको (जीवटबोधनाभिप्रायको) तथा रुद्रके कोटिसूर्यके समान प्रभाके अन्तरूप सम्पूर्ण अपने प्रभावको अन्तर्धानशक्तिसे छिपाकर वे जीवटके संसृतिप्रदेशोंमें पहुँचे। और वहाँ उस जीवटको जगाकर शीघ्र ही उसे स्वचिदंश चित्तसे एवं स्वांशचिदाभासरूप तत्त्वज्ञ जीवसे संयुक्त बनाकरके भीतर एकस्वरूप और बाहर तीन रूपवाले वे रुद्र, जीवट तथा भिक्षु तत्त्वदर्शन हो जानेसे परमार्थतः तत्त्वज्ञ होते हुए भी अज्ञानी एवं विस्मयरहित होते हुए भी विस्मयसे चकित होकर चित्रलिखित पुरुषोंके समान क्षणभरतक चुपचाप स्थित रहे ॥ ४२—४५ ॥

उसके बाद वे तीनों चिदाकाशमें कहीं अध्यस्त, चारों ओर प्राणियोंसे शब्दायमान और जीवटके चित्तके परिणामस्वरूप विप्रके संसारमें चले गये ॥४६॥

लीलोपाख्यानमें वर्णित रीतिसे वे उस भूलोकमें जाकर विप्रके स्थानभूत द्वीपमें और उसके मण्डलमें, मण्डलान्तर्गत देश एवं उस ग्राममें तथा वहाँपर भी उस ब्राह्मणके घर पहुँचे ॥ ४७ ॥

उस ब्राह्मणके घरमें अपने पोष्यवर्गोंसे समन्वित, बाहर निकले हुए प्रियतम प्राणकी नाईं स्थित तथा ब्राह्मणी द्वारा कण्ठ-प्रदेशमें आलिङ्गित सोये हुए उस ब्राह्मणको उन लोगोंने देखा ॥ ४८ ॥

उसे जगाकर और स्वचिदंश चित्त एवं स्वांशचिदाभासस्वरूप तत्त्वज्ञ

अथ जग्मुश्चिदाकाशकचितं चेतितं चितेः ।
सामन्तं नृपसंसारं भ्रमणाभोगसुन्दरम् ॥ ५० ॥
ततस्ते भुवनं ग्रामास्तद्द्वीपं तच्च मण्डलम् ।
सामन्तं ददृशुर्मत्तं सुप्तं पर्यङ्कपङ्कजे ॥ ५१ ॥
हेमावदातं हेमाङ्ग्या निहितं कुचकोटरे ।
भ्रमर्येवाऽन्वितं पद्मकोशसुप्तं मधुव्रतम् ॥ ५२ ॥
कान्ताभिरभ्यावलितं मञ्जरीभिरिव द्रुमम् ।
दीपजालकमध्यस्थं रत्नौघ इव काञ्चनम् ॥ ५३ ॥
तं प्रबोध्य नियोज्याऽऽशु चेतसा चेतनेन च ।
तत्स्थास्ते बहवोऽप्येके सविस्मयविविस्मयाः ॥ ५४ ॥

जीवसे शीघ्र संयुक्तकर वहाँपर वे और बहुत-से दूसरे भी परमार्थतः विस्मयरहित होते हुए भी आश्चर्यचकित होकर स्थित हुए ॥ ४९ ॥

तदनन्तर उन लोगोंने (रुद्र, भिक्षु, जीवट और ब्राह्मण ने) चिदाकाशमें शोभित, चित्ताकारसे विवृत्त चितिके परिणामस्वरूप और भ्रमण तथा सर्वविध भोगोंसे रमणीय सामन्तरूप राज-संसारके लिए प्रस्थान किया ॥ ५० ॥

पश्चात् वे सब उस सामन्तके भूलोकको, उसके द्वीपको तथा उसके मण्डलको पहुँच गये । वहाँपर उन्होंने पलंगरूप कमलपर सोये हुए मदयुक्त उस मण्डलाधीशको देखा ॥ ५१ ॥

वह सामन्त सुवर्णके समान देदीप्यमान देहवाला था। सुवर्णाङ्गी पट्टमहिषी द्वारा अपने कुचरूप कोटरमें वह ऐसा आलिङ्गित था, जैसे भ्रमरीसे आलिङ्गित कमलकोशमें सोया हुआ भँवरा ॥ ५२ ॥

जैसे मञ्जरियोंसे वृक्ष वेष्टित रहता है, वैसे ही वह सामन्त अनेक रमणियोंसे वेष्टित था । और दीपकोंके समूहोंके बीच वह ऐसा स्थित था, जैसे रत्न-समूहोंके बीच सुवर्ण ॥ ५३ ॥

[इस प्रकार उस सामन्तको देखकर] उन सबोंने उसे जगाकर और अपने चित्त एवं तत्त्वज्ञ जीव से शीघ्र संयुक्त बनाकरके वे रुद्र आदि तथा अन्य भी बहुतसे वहाँपर स्थित जन विस्मयरहित होकर भी विस्मयसे युक्त हुए ॥ ५४ ॥

अथ ते राजसंसारं जग्मुस्तत्र विबोध्य नम् ।
चेतसैवमथाऽन्यासु भ्रेमुः संसारभूमिषु ॥ ५५ ॥
प्राप्य तां ब्रह्महंसेहां रुद्रतां सर्व एव ते ।
समाजग्मुर्विरेजुश्च रुद्राणामुत्तमं शतम् ॥ ५६ ॥
एकसंविद्भिन्नतनु चित्रचेष्टितवेष्टितम् ।
एकरूपमनेकाभं रूपं तत्पारमेश्वरम् ॥ ५७ ॥
रुद्राणां तच्छतमथ निरावरणचिन्मयम् ।
सर्वसंसारसम्बन्धि स्थितं सर्वजगत्स्थितम् ॥ ५८ ॥
शतरुद्रशतानीह सन्ति राम महान्ति हि ।
एतदेकादशं विद्धि संसारं प्रति संस्थितम् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर वे चक्रवर्ती राजाके संसारमें गये और उसे जगाकर अपने चित्त एवं चेतन से संयुक्त किया । इस प्रकार उसे रुद्ररूप बनानेके बाद आतिवाहिक देहसे ही अन्य संसारभूमियोंमें उन लोगोंने भ्रमण किया * ॥ ५५ ॥

अन्तमें वे सभी ब्रह्मदेवके हंसरूप वासनासे युक्त चित्तके परिणामस्वरूप ब्राह्महंसके संसारमें पहुँचकर रुद्ररूप हो गये । इस प्रकार रुद्रके चित्त एवं चेतनके अंशों से ही चित्त एवं चेतनसे युक्त होने से तथा ज्ञान, ऐश्वर्य आदिसे सम्पन्न होनेसे वे उत्तम शतरुद्ररूपताको प्राप्त हुए तथा शोभित होने लगे ॥ ५६ ॥

वही कहते हैं—'एक॰' इत्यादिसे ।

परमेश्वरसम्बन्धी वह रुद्रका रूप ज्ञानसे तो एक है, पर शरीरसे भिन्न-भिन्न है, चित्र-विचित्र चेष्टाओंसे वेष्टित है, एकरूप भी है और अनेकरूप भी है ॥५७॥

तदनन्तर प्रातिभासिक संसारके आधारभूत, सम्पूर्ण जगत् और उसके भीतर-स्वयं अन्तर्यामीरूपसे स्थित वे शतरुद्र आवरणशून्य चैतन्यरूप होकर स्थित हुए ॥ ५८ ॥

'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध रुद्रोंकी इसी प्रकारकी स्थिति है, यह कहते हैं—'शतरुद्र॰' इत्यादिसे ।

* इस बीचमें उन्हें जो सोये हुए मिले, उनको तो केवल जगाया और पूर्वोक्त प्रकारसे स्वात्मरूप बनाया, तथा जो मर गये थे, उन्हें तो जिलाया भी एवं पूर्वोक्त प्रकारसे स्वात्मरूप बनाया—यह ऊपरसे समझना चाहिए ।

यो योऽभितः स जीवस्य संसारः समुदेति हि ।
तत्राऽप्रबुद्धा जीवौघाः पश्यन्ति न परस्परम् ॥ ६० ॥
मिलन्ति हि मनोबुद्धास्तरङ्गा इव वारिधौ ।
अप्रबुद्धास्तु तन्मात्रनिष्ठा लोष्टवदास्थिताः ॥ ६१ ॥
यथा द्रवत्वाद्वीच्यम्बु त्वन्योन्यं संमिलत्यलम् ।
तथा प्रबुद्धा जीवौघा मिथश्चित्त्वान्मिलन्त्यलम् ॥ ६२ ॥
प्रत्येकमुदिते चैते संसारे जीवराशयः ।
चिद्धातोः सर्वगत्वेन त्वसत्याः सत्यवत्स्थिताः ॥ ६३ ॥

श्रीरामजी, आजतक यहाँ बहुतसे बड़े-बड़े सौ शतरुद्रवाले संसार हो गये हैं । भिक्षु-रुद्रसे कल्पित सौ जगत्के बीचमें यह आप और मेरे द्वारा अनुभूयमान सामने स्थित जगत् ग्यारहवां भ्रामर रुद्रका संसार है, यह आप जानिए ॥ ५९ ॥

यदि शङ्का हो कि भिक्षुके सभी स्वप्नसंसार सब लोगों द्वारा क्यों नहीं अनुभूत होते ? तो उसपर कहते हैं—'यो योऽभितः' इत्यादिसे ।

कथित लक्षणवाले जीवके जो-जो संसार चारों ओर उदित होते हैं, उन-उन संसारोंमें अज्ञानी जीव-समूह निश्चय ही परस्पर एक-दूसरेको नहीं देख पाते ॥ ६० ॥

मनसे प्रबुद्ध तत्त्वज्ञ, समुद्रमें तरङ्गकी नाईं, जीवोंके साथ मिलते ही हैं। और अज्ञानी लोग तो अपने आश्रयमात्रमें रहकर मिट्टीके ढेलेकी तरह स्थित रहते हैं ॥ ६१ ॥

और उनके (तत्त्वज्ञके) मिलनेमें कारण एकमात्र स्थूलताका अभाव ही है, इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे द्रवत्वके कारण तरङ्ग और जल परस्पर एकरूपसे अच्छी तरह मिल जाते हैं; वैसे ही प्रबुद्ध हुए जीव-समूह, चिद्रूप होनेके कारण, परस्पर एकरूपसे भलीभाँति मिल जाते हैं ॥ ६२ ॥

सम्पूर्ण जीवोंके तत्त्वभूत ब्रह्मके साथ ऐक्यलाभ ही ब्रह्मके कल्पित रूपवाले सभी जीवोंका मिलन है, इस आशयसे कहते हैं—'प्रत्येक०' इत्यादिसे ।

प्रत्येक जीवके लिए उत्पन्न हुए संसारमें ये जीव-समूह, चित्सार ब्रह्मके सर्वव्यापी होनेसे, परमार्थतः असद्रूप होनेपर भी सद्रूप-से स्थित हैं ॥ ६३ ॥

यद्यदाखन्यते भूमेस्तत्तन्नाम यथा नभः।
सर्वगायाश्चितेर्यद्यदुह्यते तत्तथैव चित्॥ ६४ ॥
सर्वप्रपञ्चभूतानि यथाऽनुभवसीह हि।
तथेह सर्वभूतात्म चित्त्वं सर्वत्र विद्यते॥ ६५ ॥
यच्छालभञ्जिका वृक्षे शैले श्वभ्रे गतेऽन्तकम्।
प्रेक्ष्यते तद्वदेकात्मा तथा चिति जगत्स्थितम्॥ ६६ ॥
अवेदने परे शुद्धे वेदनं यज्जगत्स्थितम्।
अकारणमचैतन्यं शून्यत्वेन यथा नभः॥ ६७ ॥

पृथिवीका जो-जो भाग खोदा जाता है, वह सब जिस प्रकार आकाशरूपसे ही अवशिष्ट रह जाता है; उसी प्रकार सर्वव्यापी इस चितिसे जो-जो तत्त्वज्ञानके द्वारा दूर किया जाता है, अर्थात् मिथ्या समझा जाता है वह सब कुछ एकमात्र चिद्रूप ही रह जाता है॥ ६४ ॥

आकाशकी नाईं चितिकी भी सर्वत्र सत्यता है, यह अनुभवसे सिद्ध कराते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, विभागसहित सम्पूर्ण पञ्चभूतोंका जैसे आप सर्वत्र अनुभव करते हैं, वैसे ही यहाँ भी सम्पूर्ण भूतसत्तारूप चितितत्त्व ही सर्वत्र विद्यमान है—इसका भी आप अनुभव कीजिए॥ ६५ ॥

उसके सर्वव्यापी होने और वहाँपर सम्पूर्ण पदार्थोंकी कल्पना करने में दृष्टान्त बतलाते हैं—'यच्छाल०' इत्यादिसे।

श्रीरामभद्र, जैसे वृक्षमें, लकड़ीमें, पर्वतमें या शिलास्तम्भमें शिल्पियों द्वारा टाँकीके छेदनसे तत्-तत् आकारकी प्रतिमाके अनुकूल गड्ढा बनानेपर जब वे वृक्ष आदि पुरुष, हाथी, घोड़े, आदिका आकारपरिच्छेद प्राप्त कर लेते हैं तब वे ही—पुरुष आदि विचित्र मूर्तियोंके रूपमें—हम लोगोंको दिखाई देते हैं, वैसे ही एकात्मा सम्पूर्ण जगद्रूपसे दिखाई देता है और चिद्रूप उस एकात्मामें जगत् भी वैसा ही स्थित दिखाई देता है॥ ६६ ॥

वृक्ष आदिमें तो छेनी द्वारा किये गये गड्ढेसे जनित परिच्छेद है, परन्तु यहाँपर वह किससे जनित है? यदि ऐसी शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—'अवेदने' इत्यादिसे।

विद्यते वेदनं दृश्यबन्धो मोक्षस्त्ववेदनम् ।
यदेव रुचिरं ते स्यात्तदेवाऽऽशु दृढीकुरु ॥ ६८ ॥

सर्गासर्गौ बन्धमोक्षौ वेदनावेदनात्मकौ ।
अभिन्नौ बोधनाबोधौ यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६९ ॥

असंवित्तेस्तु यन्नाऽस्ति तन्नाशे का कदर्थना ।
तूर्ष्णींभावेन यत्प्राप्यं प्राप्तमेवाऽऽशु विद्धि तत् ॥ ७० ॥

यद्वै वेदनमात्रात्म तदज्ञाऽवेदनक्षयम् ।
तद्वेदनं वेदनाया यदिष्टं तत्समाचरेत् ॥ ७१ ॥

अविषय, शुद्ध ब्रह्ममें जो विषयताका आपादन यानी अन्यथाज्ञान है, वही 'जगत्' इत्याकारक परिच्छेदका निमित्त होकर स्थित है। चिदेकरस उस ब्रह्ममें जगदाकार जो अचैतन्य अर्थात् जड़ता है, वह निर्निमित्त ही है; अतः वह आकाश-जैसे शून्यरूपसे स्थित है ॥ ६७ ॥

एवञ्च, उस प्रकारका ज्ञान करना ही इसका दृश्यसे बन्ध है और उस प्रकारके ज्ञानकी निवृत्ति ही मोक्ष है, यह फलित हुआ, इसे कहते हैं—'विद्यते' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, ब्रह्ममें अन्यथाज्ञान ही दृश्योंसे बन्ध है और अन्यथाज्ञान न होना ही मोक्ष है। इन दोनोंमें आपको जो भी अच्छा लगे, उसे ही शीघ्र दृढ़ कीजिए ॥ ६८ ॥

सर्ग और सर्गका अभाव एवं बन्ध और मोक्ष दोनों क्रमशः वेदन (अन्यथा-ज्ञान) तथा अवेदन (अन्यथाज्ञानाभाव) स्वरूप हैं। ये दोनों अपने साक्षिभूत प्रत्यगात्मासे अभिन्न ही हैं। श्रीरामभद्र, अतः आप जैसा चाहें, वैसा करें ॥ ६९ ॥

श्रीरामजी, एकमात्र न देखनेसे जो अपनी सत्ता नहीं रखता, ऐसे अनर्थके नाशके लिए प्रयास ही क्या है ? और जो सुख निश्चेष्ट होकर स्थित रहनेसे पाया जा सकता है, वह भी शीघ्र प्राप्त ही है; वहाँ भी प्रयासकी अपेक्षा नहीं है, यह आप जानिए ॥ ७० ॥

हे राघव, जो जगद्रूप एकमात्र अन्यथाज्ञानस्वरूप है, निश्चित है कि वह

वीचिर्यथाऽम्भसः स्पन्दो जगच्चैव तथा चितौ ।
एतावन्मात्र एवाऽत्र भेदो यद्रघुनन्दन ॥ ७२ ॥
देशकालस्वरूपेषु सत्सु वीच्यादिताऽम्भसि ।
जगदादौ तु देशाद्या असन्तो जगतीक्षिताः ॥ ७३ ॥
आभास्वरं त्रिजगदित्यतिभाति भास्वत्
स्वं वेदनं विदनमेव चितेः स्वरूपम् ।
वाचि स्थितं भवति चैतदुपोह भेद-
क्लिष्टं प्रशान्तवचनस्तु शिवः परात्मा ॥ ७४ ॥

उस प्रकारका ज्ञान न करनेसे क्षीण हो जाता है। उस जगद्रूप वेदनाका साक्षी-रूप जो प्रत्यक्चैतन्य है, वह प्राप्त ही है। अतः आपको जो इष्ट हो, उसे कीजिए ॥ ७१ ॥

श्रीरामजी, जैसे जलका स्पन्द तरङ्ग है, वैसे ही चितिका स्पन्द ही जगत् है। [दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में जो वैलक्षण्य है, उसे दिखलाते हैं—'एतावन्मात्र' से।] हे रघुनन्दन, यहाँपर (दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में) इतना ही और वैलक्षण्य है कि देश और काल के स्वरूपोंकी स्थिति रहते ही जलमें तरङ्ग आदिरूपता देखी गई है और यहाँ जगद्रूप विवर्तके उपादान ब्रह्ममें तो देश आदि पहले न रहते हुए बादमें आरोपित हुए ही कार्यरूप जगत्कोटियोंमें देखे गये हैं ॥ ७२,७३ ॥

श्रीरामजी, स्वप्रकाश आत्मरूप जो चैतन्य है, वही अविद्याके आवरणसे थोड़े प्रकाश-सा सम्पन्न तीनों जगत्स्वरूप अन्यथा प्रतिभासित होता है। चिद्रूप—जो कि उसका पारमार्थिक स्वरूप है—ज्ञान ही है, न कि जड़। भेदसे क्लिष्ट इन तीनों जगत्का आप 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनाऽऽपो मूलमन्विच्छ' (हे सोम्य, अन्नरूप कार्यसे जलरूप कारण खोज लो) इत्यादि श्रुतियोंमें दर्शित उपायोंसे उपसंहार कर दीजिए। उस प्रकार उपसंहृत हुआ वह 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुति द्वारा दर्शित रीतिके अनुसार वाणीमें ही स्थित होता है। वाणी जहाँ बिलकुल शान्त हो चुकी है, ऐसा वह परम शिव ही परमात्मा है ॥ ७४ ॥

संवेदनं सर्व इतीह शब्दा-
दर्थादभिन्नौ न कदाचिदेतौ ।
वीच्यम्भसी द्वे इति नोचितोक्ति-
र्यस्याऽज्ञतायां त्विदमेव युक्तम् ॥ ७५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवटोपाख्याने स्वप्नशतरुद्रीयकथनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

जीवटब्राह्मणादीनां हंसादीनां मुनीश्वर ।
भिक्षुस्वप्नशरीराणां सम्पन्नं किमतः परम् ॥ १ ॥

श्रीरामभद्र, आत्मचिति और सम्पूर्ण जगत्—ये दोनों शब्दतः और अर्थतः अभिन्न ही हैं, कभी भी इनमें द्वैत संभव नहीं है । उक्तस्वरूप आत्माकी अज्ञता-दशामें ही द्वैतज्ञान युक्त है, ज्ञान-दशामें तो वीचि और जल ये दोनों भिन्न हैं, यह उक्ति युक्त नहीं है ॥ ७५ ॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

चौसठवाँ सर्ग

[भिक्षु आदिका उन-उन देहोंसे अवशिष्ट प्रारब्ध-भोग, रुद्रगणत्वकी प्राप्ति और सङ्कल्पकी स्थिरता का वर्णन]

भिक्षुसे लेकर रुद्रपर्यन्त शरीरोंमें मध्यवर्ती अट्ठानबे शरीर हैं, उनमें भोग-सम्पादक प्रारब्ध कर्म बचते हैं या नहीं, यों संशय होनेसे श्रीरामभद्र उनका वृत्तान्त पूछते हैं—'जीव०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनीश्वर, जीवट ब्राह्मण आदि और हंस आदि भिक्षुके स्वप्नशरीरोंकी उसके बाद क्या स्थिति हुई अर्थात् स्वप्नकालीन शरीरके सदृश उनका बाध हुआ या आगे उनका व्यवहार भी चलता रहा ? ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

रुद्रेण सह संभूय प्रबुद्धाः सर्व एव ते ।
मिथश्च दृष्टसंसारा रुद्रांशाः सुस्थिताः स्थिताः ॥ २ ॥
तेन रुद्रेण तां मायामवलोक्य यथोदिताम् ।
स्वांशास्तामेव संसारस्थितिं ते प्रेषिताः पुनः ॥ ३ ॥

श्रीरुद्र उवाच

गच्छताऽऽशु निजं स्थानं तत्र भुक्त्वा कलत्रकैः ।
कञ्चित् कालं समं भोगान् मत्सकाशमुपैष्यथ ॥ ४ ॥
भविष्यथ मदंशा ये गणा मत्पुरभूषणाः ।
ततो महाप्रलयतो यास्यामस्तत्परं पदम् ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवान् रुद्रस्तेषां सोऽन्तरधीयत ।
अन्त्यसंसारसंख्यानं रुद्राणां मध्यमाययौ ॥ ६ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, रुद्रके साथ मिलकर वे सभी तत्त्वज्ञ हो गये और रुद्रके अंशस्वरूप हुए वे एक दूसरेके पूर्वोत्तर संसारको देख रहे कृतकृत्य होकर अपूर्व सुखानुभव करते हुए अवस्थित हो गये ॥ २ ॥

कौतुकप्रदर्शनके लिए पहले-पहल प्रवृत्त हुए रुद्रने पूर्वोदित उस मायाका अवलोकनकर फिर अपने अंशभूत उन रुद्रोंको उसी जीवट आदिकी संसारस्थितिकी ओर भेज दिया ॥ ३ ॥

[और उस समय उनसे] श्रीरुद्रने कहा—ऐ मेरे अंशभूत रुद्रो, तुम लोग इसी समय अपने-अपने स्थानकी ओर जाओ । वहाँ जाकर कलत्रादि परिवारके साथ कुछ कालतक नाना प्रकारके भोगोंका उपभोगकर मेरे पास फिर लौट आओ ॥ ४ ॥

मेरे अंशस्वरूप जो तुम लोग मेरे गण हो, मेरे नगरके भूषण हो जाओ । पीछे चलकर हम सब लोग दो परार्द्ध वर्षोंकी समाप्तिमें अविद्यालेशके साथ प्रारब्धका क्षय हो जानेपर उस परम पदको प्राप्त हो जायंगे ॥ ५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, यों कहकर वह भगवान आदिरुद्र उनके सामने ही अन्तर्हित हो गये । उन अंशभूत सब रुद्रोंके उस समय अन्तिम रुद्रसंसारका जो

प्रययुः स्वास्पदं तेऽपि जीवटब्राह्मणादयः ।
स्वकलत्रैः समं देहं क्षपयित्वाऽथ कालतः ॥ ७ ॥
रुद्रलोकं समासाद्य भविष्यन्ति गणोत्तमाः ।
कदाचिद्व्योम्नि दृश्यन्ते तारकाकारकारिणः ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

भिक्षुसङ्कल्परूपास्ते जीवटब्राह्मणादयः ।
कथं सत्यत्वमायाताः सङ्कल्पार्थे क्व सत्यता ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

सङ्कल्पसत्यता त्वंशे त्यज सङ्कल्पसत्यताम् ।
तत्र यन्नास्ति तन्नास्ति यतः सर्वात्म तत्पदम् ॥ १० ॥
यत्स्वप्ने दृश्यते यच्च सङ्कल्पैरवलोक्यते ।
तत्तथा विद्यते तत्र सर्वकालं तदात्मकम् ।
तद्देशकालात्मतया गत्वा देशान्तरं यथा ॥ ११ ॥

साक्षिभूत चैतन्य था, वही साक्षी चैतन्य प्रत्येक मध्यवर्ती जीवट आदिके संसारमें, जागरणमें स्वप्न-साक्षीके सदृश, प्राप्त हुआ ॥ ६ ॥

भद्र, आदिरुद्रकी आज्ञाके अनन्तर वे जीवट-ब्राह्मण आदि अपने-अपने स्थानकी ओर चल दिये। अब काल पाकर अपने कलत्र आदि परिवारोंके साथ देह नष्टकर रुद्रलोक प्राप्तकरके बड़े-बड़े गण हो जायंगे। जो कभी-कभी आकाशमें तारोंके आकारमें परिणत हुए हम लोगोंको दिखाई देते हैं ॥ ७, ८ ॥

श्रीरामभद्रने कहा—भगवन्, वे जीवट-ब्राह्मण प्रभृति, जो एक भिक्षुके सङ्कल्परूप ही थे, कैसे सत्यस्वरूप बन गये ? काल्पनिक अर्थोंमें सत्यता कहाँ देखी गई है ? ॥ ९ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, सङ्कल्पकी जो सत्यता है वह तो अधिष्ठानभूत चैतन्यांशमें ही है। इसलिए विवेकपूर्वक अध्यस्त अंशमें सङ्कल्पकी सत्यता छोड़ दीजिए। सत् और असत्से संवलित व्यावहारिक अर्थमें जो सद्भिन्न रूप पूर्वोत्तर कालमें नहीं रहता वही तीनों कालमें अस्तित्वसे रहित है और अधिष्ठानभूत वह परम पद तो सभी कालमें स्थित है, क्योंकि वह सर्वात्मक है। इन सब बातोंसे निचोड़ यह निकला कि भोगजनक अदृष्टसे उत्तेजित उन साङ्कल्पिक पदार्थोंमें अधिष्ठानकी सत्यतासे ही सत्यत्व है, स्वतः नहीं ॥ १० ॥

आयुष्मन्, जो स्वप्नमें दिखाई पड़ती है और जो सङ्कल्पों द्वारा दिखाई

देशाद्देशान्तरं यद्वन्नो गत्यात्मादिकं विना ।
न लभ्यते तथा स्वप्नो विना तत्र न लभ्यते ॥ १२ ॥
सर्वमस्ति चितः कोशे यद्यथाऽऽलोकयत्यसौ ।
चित्तथा तदवाप्नोति सर्वात्मत्वादविक्षतम् ॥ १३ ॥
सङ्कल्पः स्वप्नकस्त्वङ्ग यया च दृश्याऽऽप्यते ।
परमभ्यासयोगाभ्यां विना त्वेतन्न लभ्यते ॥ १४ ॥
येषां तु योगविज्ञानदृष्टयः फलिताः स्थिताः ।
सर्वं सर्वत्र पश्यन्ति त एते शङ्करादयः ॥ १५ ॥

पड़ती है वह वह चैतन्यात्मक वस्तु है; जो कि सब कालमें सद्रूप अधिष्ठान होकर तत्-तत् देश-कालरूपसे तत्-तत् स्थानमें निरन्तर विद्यमान रहती है। इसमें दृष्टान्त है—जाकर प्राप्त किया गया देशान्तर ॥ ११ ॥

जैसे एक स्थानसे दूसरा स्थान यानी मथुरा आदि स्थानसे पटना आदि स्थान—गमन, स्वस्थ मन, चक्षु आदि इन्द्रियों की पटुता, दिवसरूप आदि काल, उपदेष्टा विवेकी पुरुष आदि हम लोगोंकी कारण-सामग्रीके बिना—उपलब्ध नहीं होता, वैसे ही तत्-तत् देश-कालरूपसे परिणत स्वप्न भी जाग्रत् और सुषुप्ति या स्वप्नान्तरमें कारणसामग्रीके बिना उपलब्ध नहीं होता ॥ १२ ॥

चितिके कोशमें—कोशसदृश समस्त वासनाओंके आकरभूत अज्ञानमें—सब कुछ भरा पड़ा है, इसलिए भोगजनक अदृष्टसे प्रदीप्त हुई वासनाओं द्वारा चिति जिस-जिस रूपसे जिस-जिस वस्तुकी कल्पना करती है उस-उस रूपसे सम्पूर्ण विषयोंको दृश्यरूपसे प्राप्त कर लेती है, क्योंकि वह सर्वात्मक ही तो ठहरी ॥ १३ ॥

समस्त स्वप्नसङ्कल्पादिके एक साथ अवलोनमें कौन-सा उपाय है? इस प्रश्नपर उसका उपाय बतलाते हैं—'सङ्कल्पः' इत्यादिसे।

हे प्रिय, जिस उपायसे सङ्कल्प, स्वप्न आदि एक साथ दिखाई पड़ते हैं उस उपायको आप सुनिये। उत्तम अभ्यास और योगके बिना उनका एक साथ अवलोकन मिल नहीं सकता ॥ १४ ॥

हरि, हर आदि ईश्वरोंको अभ्यासके बिना भी अपने-आप ही योगसिद्धिका फल प्राप्त है, यों विशेष बतलाते हैं—'येषाम्' इत्यादिसे।

इदमग्रगतं वस्तु तथा सङ्कल्पितं मया।
नाऽऽप्यं यतोभयभ्रंशं स प्राप्नोत्युभयाश्रयात् ॥ १६ ॥
सर्वं ह्यभिमतं कार्यमेकनिष्ठस्य सिद्ध्यति।
दक्षिणां ककुभं गच्छन् कः प्राप्नोत्युत्तरां दिशम् ॥ १७ ॥
सङ्कल्पार्थपरैरेव सङ्कल्पार्थोऽवगम्यते।
अग्रस्थार्थपरैरग्रे संस्थितोऽर्थोऽवगम्यते ॥ १८ ॥
अग्रस्थे बुद्धिसंस्थे यः सङ्कल्पं प्राप्तुमिच्छति।
तदाऽसावेकनिष्ठत्वाभावात्तन्नाशयेद्द्वयम् ॥ १९ ॥

जिनकी योगविज्ञानदृष्टियां (समाधि और अध्यात्मशास्त्रज्ञानसे जनित दृष्टियाँ) फलित होकर स्वयं ही स्थित हैं वे ये शङ्कर आदि, सब वस्तुको सर्वत्र देखते-रहते हैं ॥ १५ ॥

सङ्कल्पित अर्थकी प्राप्तिमें अभ्यास और योगका जो उपयोग है वह चित्तकी एकाग्रताके सम्पादन द्वारा ही है। एकाग्रता न होनेपर चित्त अनेक अर्थोंमें आसक्त होकर किसी एक भी अपने सङ्कल्पित अर्थको प्राप्त नहीं कर सकता, यों असत्य सङ्कल्पत्व ही इसमें प्राप्त हुआ, यह कहते हैं—'इदम०' इत्यादिसे।

यह सामने यद्यपि वस्तु उपस्थित है और सङ्कल्पित भी है तथापि एकाग्रताके न रहनेसे उसे मैं प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि सङ्कल्पित और असङ्कल्पित दोनोंका आश्रयण करनेसे चित्त दोनों ओरसे भ्रष्ट हो जाता है, कहीं एक जगह स्थिर नहीं हो पाता ॥ १६ ॥

उक्त अर्थका ही उदाहरणोंसे समर्थन करते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे।

अभीष्ट सब कार्य एकनिष्ठ पुरुषको ही प्राप्त होते हैं, अन्यनिष्ठको नहीं। दक्षिण दिशाकी ओर जा रहा कौन पुरुष उत्तर दिशाको प्राप्त कर सकता है ? ॥ १७ ॥

सङ्कल्पित अर्थोंपर आरूढ़ हुए पुरुष ही सङ्कल्पित अर्थ प्राप्त करते हैं और सामने स्थित अर्थोंपर आरूढ़ हुए पुरुष सामने स्थित अर्थोंको जानते हैं ॥ १८ ॥

जो पुरुष सामने स्थित और बुद्धिमें स्थित दोनों वस्तुओंमें सङ्कल्प प्राप्त करनेकी इच्छा करता है वह एकनिष्ठता न रहनेसे उस समय उन दोनोंका नाश कर देता है ॥ १९ ॥

तस्मादेकार्थनिष्ठत्वाद्भिक्षुजीवेन रुद्रताम् ।
प्राप्य सर्वात्मना लब्धं तथा सर्वं तथास्थितेः ॥ २० ॥
भिक्षुसङ्कल्पजीवास्ते प्रत्येकं तज्जगत् पृथक् ।
पश्यन्ति चैते नाऽन्योन्यं रुद्रज्ञानादृते ततः ॥ २१ ॥
अप्रबुद्धाः प्रजायन्ते जीवा जीवान्तबोधिनः ।
तदिच्छयाऽऽशु तद्रूपा बहुरूपाश्च ते इह ॥ २२ ॥
इह विद्याधरोऽयं स्यामहं स्यामिह पण्डितः ॥ २३ ॥
इत्येकध्यानसाफल्यं दृष्टान्तोऽस्यां क्रियास्थितौ ।
एकत्वं च बहुत्वं च मौर्ख्यं पाण्डित्यमेव वा ॥ २४ ॥
देवत्वं मानुषत्वं च देशकालक्रियाक्रमैः ।
तुल्यकालमलङ्कर्तुं धारणाध्यानयत्नतः ॥ २५ ॥

इसीसे एकनिष्ठाके कारण भिक्षुक जीवने प्रसिद्ध रुद्रकी नाईं रुद्ररूपता प्राप्त कर सब कुछ सर्वात्मरूपसे प्राप्त किया, क्योंकि इसकी भी स्थिति प्रसिद्ध रुद्रकी स्थितिके सदृश ही थी ॥ २० ॥

वे अट्ठानबे मध्यवर्ती जीवट आदि भिक्षुसङ्कल्परूप जीव प्रत्येक भिन्न-भिन्न रूपसे अवस्थित थे और उनका अपना-अपना संसार भी अलग-अलग था, इसलिए वे अपनेमें रुद्रत्वसामान्य ज्ञानके बिना एक-दूसरेका साक्षात्कार नहीं कर पाते थे ॥२१॥

तब वे रुद्रकी सन्निधिमें एक-दूसरेका साक्षात्कार कैसे कर पाये, इसपर कहते हैं—'अप्रबुद्धाः' इत्यादिसे ।

भद्र, एकमात्र रुद्रकी इच्छासे ही वे सङ्कल्पजीव तत्त्वज्ञानसे रहित और जीवोंके संसारविशेषोंको जाननेवाले होते हैं तथा उसीकी इच्छासे वे यहाँ शीघ्र रुद्ररूप और अनेकरूप हो जाते हैं ॥ २२ ॥

उन सबोंके अपने-अपने संसारदर्शनमें तो उनकी इच्छा ही कारण है, यह कहते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

यहां मैं यह विद्याधर हो जाऊँ, यहां मैं पण्डित हो जाऊँ, इस प्रकारकी इच्छा ही उनके तत्-तत् रूप हो जानेमें कारण है ॥ २३ ॥

रामभद्र, इस रीतिसे किसी एक वस्तुकी तदाकारभावना सफल हो जाती है [यह आपसे मैंने कहा] । दूसरे भी जीवोंकी प्रसिद्ध तत्-तत् व्यवहारस्थितिमें यह भिक्षुसङ्कल्परूप सृष्टि ही दृष्टान्त है । देश, काल और क्रियाके क्रमसे या एक

सर्वशक्त्यः स्वरूपत्वाज्जीवस्याऽस्त्येकशक्तिता ।
अनन्तश्चाऽन्तपृक्तश्च स्वभावोऽस्य स्वभावतः ॥ २६ ॥
सविकासः ससङ्कोचोऽहिंस्रस्तेन चिदात्मनः ।
यदिच्छति तदस्याऽङ्ग जन्तुः सम्पद्यते स्वयम् ॥ २७ ॥
स्वयं सम्पादितैरेभिर्देशकालक्रियाक्रमैः ।
योगिन्यो योगिनश्चेह तिष्ठन्त्यन्यत्र यत्र च ॥ २८ ॥
इह वाऽमुत्र भोगेन दृष्टमेतदनेकशः ।
कार्तवीर्यो गृहे तिष्ठन् सर्वेषां भयदोऽभवत् ॥ २९ ॥

साथ धारणा, ध्यान एवं प्रयत्नके अनुसार एकत्व, अनेकत्व, मूर्खत्व, पाण्डित्य, देवत्व और मनुष्यत्व प्राप्त किया जा सकता है ॥ २४, २५ ॥

उसमें हेतु बतलाते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

यतः परमार्थतः अनन्त होनेसे इस जीवमें समग्र शक्तियां विद्यमान हैं और यतः एक-एक देहाभिमानरूप परिच्छेदसे श्लिष्ट हो जानेके कारण इसमें एक कार्यमात्रकी भी शक्ति विद्यमान है, इसलिए शक्तिस्वभावके अनुसार जीवमें तत्-तत् कार्यस्वभाव व्यवस्थित ही है ॥ २६ ॥

इसीलिए प्राणियोंके कर्मानुसार स्वर्ग और नरक आदि सैकड़ों अर्थानर्थोंकी सृष्टिरूपसे विकाशवान् तथा सब प्राणियोंके संहारद्वारा प्रलयरूपसे संकोचवान् यह परमात्मा हिंसाजनित विषमता आदि दोषोंसे शून्य है, क्योंकि जीवसमुदाय स्वयं जिसकी इच्छा करता है इस चिदात्माके सङ्कल्पसे तद्रूप हो जाता है; भद्र, इससे कुछ भी किसीका जगदीश्वर अनिष्ट नहीं करता ॥ २७ ॥

अब उदाहरण द्वारा धारण और ध्यानरूप प्रयत्नकी फलभूत ऐच्छिक एकरूप और अनेकरूप स्थितिका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'स्वयं सम्पादितैः' इत्यादिसे ।

स्वयं सम्पादित इन तत्-तत् देश और काल के अनुसार प्राणियोंके अनुग्रह और निग्रह रूप क्रीडा आदि अधिकारपूर्ण क्रियाक्रमोंसे योगिनियां और योगी वे सब अपने घरमें या अन्यत्र जहां भी चाहते वहां स्थित रहते हैं ॥ २८ ॥

इस लोकमें अथवा परलोकमें एक साथ वे प्रारब्धभोगसे स्थित रहते हैं। इस प्रकारका योगियोंका चरित्र अनेक जगह देखा गया है। देखिये, भगवान्

विष्णुः क्षीरोदधौ तिष्ठन् जायते पुरुषो भुवि ।
पश्वर्थं यान्ति तिष्ठन्त्यो योगिन्यो योगिनीगणे ॥ ३० ॥
शक्रः स्वर्गासने तिष्ठन् याति यज्ञार्थमुर्विकाम् ।
सहस्रमेकं भवति तथा चाऽऽस्मिञ्जनार्दनः ॥ ३१ ॥
नृणां शतानि भक्तानां मानुष्यं याति तन्नतैः ।
एकः सहस्रं भवति तथा चैष जनार्दनः ॥ ३२ ॥
अंशावतारलीलाभिः कुरुते जागतीं स्थितिम् ।
एकः कान्तासहस्राणि तुल्यकालं निमेषवत् ॥ ३३ ॥
एवं ते भिक्षुसङ्कल्पा जीवटब्राह्मणादयः ।
रुद्रविज्ञानवशतः स्वसङ्कल्पपुरीं गताः ॥ ३४ ॥

दत्तात्रेयके प्रसादसे प्राप्त हुए योगके प्रभावसे घरमें ही बैठे हुए कार्तवीर्यने सब आततायियोंके ऊपर तत्-तत् स्थानमें पहुँचकर शासन किया ॥ २९ ॥

क्षीरसागरमें सोये हुए ही भगवान् विष्णु पृथिवीपर जन्म आदि व्यापारोंसे व्यवहार करते हैं । स्वर्गमें योगिनियोंके समुदायमें विराज रही ही योगिनियां पशु, पेय आदि उपहारग्रहण करनेके लिए पृथिवीपर जाती हैं ॥ ३० ॥

स्वर्गके आसनपर विराजमान ही इन्द्र यज्ञके लिए पृथिवीपर जाते हैं । इस रामावतारमें भगवान् जनार्दन चौदह हजार राक्षसोंका नाश करनेके लिए हजार रूपके होते हुए भी फिर एक रूपधारण कर लेते हैं ॥ ३१ ॥

भगवान् जनार्दन भक्तजनोंकी नमस्कारपूर्वक प्रार्थनाओंके वशीभूत होकर सैकड़ों भक्तजनोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए यदुकुलमें मनुष्य बनकर आते हैं और कुरुसभामें दुर्योधन आदिको मोहित करनेके लिए स्वयं एक होते हुए भी अनेक रूप हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

भगवान् जनार्दन अपने अंशरूप अवतार-लीलाओंसे जगत्की स्थिति बनाये रखते हैं और स्वयं एक ही होकर एक कालमें सोलह हजार रमणियोंके साथ उस प्रकार विहार करते हैं जिस प्रकार विदेहरूपको प्राप्त हुए राजा निमि सब प्राणियोंके नेत्रोंमें रहकर एक साथ निमेष करते हैं ॥ ३३ ॥

इसी रीतिसे प्रकृतमें भी जान लेना चाहिए, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

तत्र भुक्त्वा चिरं भोगान्प्राप्य रुद्रपुरं ततः ।
गणतामावसन्तस्ते स्थास्यन्ति सपरिच्छदाः ॥ ३५ ॥
नित्यं प्रफुल्लनवकल्पलतालयेषु
रुद्रेण साकमुरुरत्नगुलुच्छकेषु ।
नानाजगत्सु च तदा शिवपत्तनेषु ।
विद्याधरीष्वमरमौलिधराश्च रेजुः ॥ ३६ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे गणत्वप्राप्तिर्नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

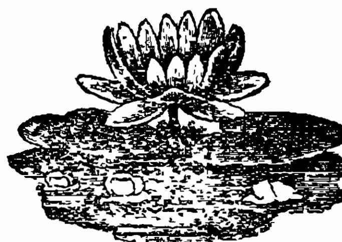
इस रीतिसे भिक्षुके सङ्कल्पस्वरूप जीवट, ब्राह्मण आदि भगवान् रुद्रकी अनुमतिसे अपने सङ्कल्परूप नगरमें चले गये ॥ ३४ ॥

वहाँपर चिर कालतक नानाविध भोगोंका उपभोग कर तदनन्तर रुद्रनगरी प्राप्त करके गणरूपमें रहते हुए वे सबके सब परिवारसहित रहने लगे ॥ ३५ ॥

उस समय उनका भी अपने घरमें और सब भुवनोंमें अनेक देहोंकी कल्पनासे इच्छानुसार विहार एक साथ चलता रहा, यह कहते हैं—'नित्यम्' इत्यादिसे ।

वे सब गण भगवान् रुद्रके साथ अनेक रत्नमय गुच्छोंसे युक्त विकसित नवीन कल्पलताओंके घरोंमें, अनेक भुवनोंमें और कैलास, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक आदि कल्याणमय नगरों में विहार करते हुए तथा गीत, वादित्र, नाट्य आदिमें कुशल विद्याधरियोंके बीचमें देवताओं द्वारा नमस्कृत होते हुए उस समय खूब सुशोभित हुए ॥ ३६ ॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त



पञ्चषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ईषद्दष्टो यथा तेन भिक्षुणा चेतसि भ्रमः ।
भूतं प्रयत्नमेवैष पृथक्कृत्वा सुपश्यति ॥ १ ॥
सर्वस्याऽऽभासजीवस्य मृतिजन्ममयी स्थितिः ।
भवत्येव चिदाकाशरूपिण्येवाऽऽकृतिं गता ॥ २ ॥
पृथक्कृत्यैक्यमभ्येति स्वात्मा संसारखण्डकम् ।
सर्व एव मृतो जन्तुः पृथक्स्वप्ननिभात्मकम् ॥ ३ ॥
एवं ततस्वरूपोऽपि देही चाऽऽमोक्षमाकुलः ।
जीवयूथं मया तुभ्यं कथितं कथयाऽनया ॥ ४ ॥
परात्प्रस्पन्दितात्मेति न भिक्षू राम केवलम् ।
मोहान्मोहान्तरं याति जीवोऽहरहरेव नः ॥ ५ ॥

पैंसठवाँ सर्ग

[सम्पूर्ण जीवोंमें भिक्षुन्यायकी समता, रात्रिमें भिक्षुका अन्वेषण और सभाका उत्थान—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, उस भिक्षुने अपने चित्तमें वर्णित प्रकार-वाला जो भ्रम आपाततः विचारा, यह भिक्षु उसी भ्रमको अपने प्राक्तन शुभाशुभ-रूप प्रयत्नको ही फलावस्थामें अपनेसे पृथक्-सा कर स्पष्ट देखता है; अणुमात्र भी दूसरा नहीं है ॥ १ ॥

प्रतिभासित हो रहे सभी जीवोंकी मरण एवं जन्ममयी स्थिति, अन्य आकारको प्राप्त हुई-सी, एकमात्र चिदाकाशरूप ही होती है ॥ २ ॥

इस संसारखण्डका पृथक्करण कर अपना आत्मा परब्रह्मके साथ एकता प्राप्त करता है । और पूर्वोक्त रीतिसे सभी मृत जीव मरणकालमें उद्बुद्ध अपने कर्मको ही स्वप्नके सदृश अपनेसे पृथक् जगद्रूपसे देखते हैं ॥ ३ ॥

भिक्षुके आत्माके सदृश अपरिच्छिन्नस्वरूप भी आत्मा देहपरिच्छिन्न-सा होकर मोक्षपर्यन्त दुःखी रहता है, इस विषयमें मैंने इस भिक्षुकी कथासे आपसे अनेक जीवोंका वृत्तान्त कह दिया है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामजी, सभी जीव पूर्णस्वरूप परमात्माके प्रस्पन्दनस्वरूप हैं, केवल

पर्वताग्रपरिभ्रष्टो ह्यधोऽध उपलो यथा ।
परमात्मपरिभ्रष्टो जीवः स्वप्नमिमं दृढम् ।
पश्यत्यस्मादपि स्वप्नाद्याति स्वप्नान्तरं पुनः ॥ ६ ॥
स्वप्नात्स्वप्ने विनिपतन् मृषैवेदं दृढं किल ।
परिपश्यति जीवोऽन्तर्मायया जर्जरीकृतः ॥ ७ ॥
क्वचित् केनचिदेवेह कदाचिदपि वा स्वयम् ।
देहनाम्नोऽहमित्यन्तो मुच्यते स्वं प्रपद्यते ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

अहो नु विषमो मोहो जीवस्याऽस्योपजायते ॥ ९ ॥
यथा सुप्तस्य स्तोकेन नानाकारविकारया ।
मिथ्याज्ञानोग्रयामिन्या मायया निपतत्यलम् ।
अहो नु खलु वैषम्यं भीमं निजवदुच्यते ॥ १० ॥

भिक्षु ही नहीं है । जीव एक मोहसे दूसरे मोहको प्राप्त करता है, यह हम लोगोंको प्रतिदिन स्वप्नमें अनुभवसिद्ध है ॥ ५ ॥

परमात्मासे अलग हुआ जीव यह दृढ़ स्वप्न देखता है । केवल स्वप्न देखता है, यही बात नहीं, किन्तु इस स्वप्नसे भी फिर दूसरे स्वप्नकी ओर उस तरह जाता है; जिस तरह पर्वतके अग्रभागसे बिछड़ा हुआ पत्थरका टुकड़ा नीचेकी ओर बराबर गिरता ही जाता है ॥ ६ ॥

एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें गिर रहा जीव असत्यभूत इस स्वप्नात्मक जगत्को भीतर अज्ञानसे जर्जर होकर देखता है ॥ ७ ॥

और जन्मादि दुःखका किसी कारणविशेषसे किसी भी समय यहां कहींपर स्वयं अनुभव करता है । इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकलता है कि देहनामक अहमभिमान ही स्वयं बद्ध और मुक्त होता है यानी उक्त अभिमान ही बन्ध है और स्वात्मलाभ ही मोक्ष है ॥ ८ ॥

कुछ पूछनेकी इच्छासे श्रीरामजी वर्णित अर्थके परिज्ञानका आश्चर्यपूर्वक स्पष्टीकरण करते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—भगवन् , महान् आश्चर्य है कि इस जीवको विषम मोह होता है । जैसे साधारण श्रम आदि हेतुओंसे सोये हुए पुरुषके मनमें स्वप्नमायावश भीषण विषमता (दुःखादि सङ्कट) उत्पन्न होती है, वैसे ही मिथ्याज्ञानात्मक उग्र रात्रि-

भगवन्सर्वदा सर्वं सर्वत्रैव जगत्स्थितौ ।
त्वया सम्भवतीत्युक्तं यथा तच्चाऽनुभूयते ॥ ११ ॥
एवं गुणविशिष्टात्मा तन्मोहात्मा स भिक्षुकः ।
क्वचिदस्ति न वाऽस्त्यन्तरालोक्य कथयाऽऽशु मे ॥१२॥

वसिष्ठ उवाच

अद्य रात्रौ समाधिस्थस्त्रिलोकीमठिकामिमाम् ।
भिक्षुरेकोऽस्ति नाऽस्तीति प्रेक्ष्य प्रातर्वदाम्यहम् ॥ १३ ॥

रूपी मायासे जीवमें भयङ्कर विषमता आ जाती है और उसको जीव सत्य कहता है, यह महान् आश्चर्य है ॥ ९, १० ॥

सर्वत्र सब कुछ सदा संभव है, यह मेरे मनमें आ गया, ऐसा कहते हैं—'भगवन्' इत्यादिसे ।

भगवन्, जैसा आपने कहा कि इस जगत्स्थितिमें सदा सर्वत्र सब कुछ संभव है, ठीक वैसा ही मैं भी अनुभव करता हूँ ॥ ११ ॥

उस प्रकार उपदिष्ट अर्थके अभिनन्दनसे गुरु महाराजको सन्तोष देकर 'आपने मुझे बोध देनेके लिए जिस भिक्षुकके विषयमें कहा' वह भिक्षुक क्या कल्पित है या वास्तवमें कहीं है भी ?, इस प्रकारके सन्देहद्वारा कौतुकपूर्वक पूछते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

महाराज, इस प्रकारके गुणोंसे युक्त तथा जीवटादिका मोहभूत वह भिक्षु कहीं है या नहीं ? इस विषयमें हृदयके अन्दर विचारकर मुझसे कहिये ॥१२॥

भीतर योगसे विचार कर आपको बोध देनेके लिए यद्यपि कल्पना करके ही मैंने भिक्षुका वर्णन किया है तथापि मेरे वाक्योंमें असत्यता न होनेसे कहीं उसकी संभावना है ही । इस समय योगसे उसका अवलोकन करनेमें देर हो जायगी, इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी तत्कालोचित वचन कहते हैं—'अद्य' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, आज रातमें समाधिनिष्ठ मैं इस त्रिलोकी-रूपी मठियाका निरीक्षणकर प्रातः कालमें उस तरहका एक भिक्षुक है कि नहीं, यह कहूँगा ॥ १३ ॥

वाल्मीकिरुवाच

मुनौ चैवं कथयति बहिर्मध्याह्नडिण्डिमः ।
उदभूत्प्रलयक्षुब्धघनगर्जितमांसलः ॥ १४ ॥
तत्यजुः पादयोस्तस्य पुष्पाञ्जलिपरम्पराः ।
नृपाः पौरा विटपिनः पुष्पं वातधुता इव ॥ १५ ॥
पूजयित्वा मुनिश्रेष्ठानुदतिष्ठन् स्वविष्टरात् ॥ १६ ॥
सभा तदनु सोत्तस्थौ सप्रणामपरम्परा ।
क्रमेण ह्यस्तनेनैव जग्मुः खेचरभूचराः ॥ १७ ॥
स्वास्पदेषु यथाशास्त्रमहर्व्यापारमादृताः ।
सर्वं सम्पादयामासुर्निजधर्मं क्रमोचितम् ॥ १८ ॥
चिन्तयन्तो मुनिप्रोक्तं महीचरनभश्चराः ।
ज्ञानं क्षपां क्षणमिव निन्युः कल्पमिवाऽपि च ॥ १९ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—मुनिवर वसिष्ठजीके यों कहते ही बाहर मध्याह्नकालकी सूचक डिण्डिम वाद्यकी ध्वनि हुई । वह ध्वनि प्रलयकालके विक्षुब्ध मेघोंके गर्जन-सी पुष्ट थी ॥ १४ ॥

उस समय महाराज वसिष्ठजीके चरणोंमें राजाओं और नागरिकोंने पुष्पाञ्जलियोंकी परम्परा उस प्रकार बखेर दी, जिस प्रकार वायुसे कम्पित वृक्ष पुष्प बखेर देते हैं ॥ १५ ॥

अनन्तर अन्यान्य श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मुनियोंकी पूजा कर वे सब अपने-अपने आसन-परसे उठ कर खड़े हो गये ॥ १६ ॥

उसके बाद वह सारी सभा परस्पर प्रणामोंके साथ उठ कर खड़ी हो गई । और पहले दिनके क्रमके अनुसार भूचर-खेचर सब अपने-अपने स्थानको चल दिये ॥ १७ ॥

सबने अपने-अपने आश्रममें शास्त्रानुसार तत्पर होकर अपना-अपना आह्निक धर्म यथाक्रम पूरा किया ॥ १८ ॥

मुनिद्वारा कहे गये शास्त्रका विचार कर रहे भूचर-खेचर सबने कल्पतुल्य भी रात क्षणभरकी नाईं बिता दी ॥ १९ ॥

प्रातः पुनः प्रसृतकार्यपरम्परेऽस्मिन्
जाते जने खचरभूचरभूतसङ्घः ।
आख्यानलोकरचनेन तथैव तस्था-
वन्योन्यसंवदनपूजितपूज्यलोकः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे विद्योचरविस्मयवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

वसिष्ठमुनिसंयुक्ता विश्वामित्रादिसंयुताः ।
स्थिताः खेचरसिद्धौघा विश्रान्ता नृपनायकाः ॥ १ ॥
सरामलक्ष्मणा सैव तथैवाऽथ सभा बभौ ।
सौम्या समसमाभोगा शान्तवातेव पद्मिनी ॥ २ ॥

भूचर-खेचर आदि प्राणिसमूह रात बिताकर प्रातः काल, जब कि सब लोग अपने-अपने कार्योंमें जुट गये थे, दशरथजीकी सभामें आकर पहले दिनकी नाईं फिर व्याख्यान सुननेके लिए योग्य सभापद्धतिका निर्माणकर परस्पर संभाषण एवं पूज्य लोगोंकी पूजा करते हुए बैठ गये ॥ २० ॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

छाछठवाँ सर्ग

[प्रयत्नपूर्वक खोजे गये भिक्षुका तथा भिक्षुसदृश भूत-भावी अन्य मुनियोंका दर्शन—यह वर्णन]

महर्षि वाल्मीकिजीने कहा—मुनि वसिष्ठजीसे समन्वित और विश्वामित्र आदि ऋषियोंसे युक्त आकाशचारी सिद्धगण पहले बैठ गये, तदनन्तर राजा लोग और उनके बाद सामन्त आदि नायक बैठ गये ॥ १ ॥

अनन्तर श्रीरामजी और लक्ष्मणके साथ वह सभा पहले-जैसी ही सौम्य होकर शोभने लगी। वह ऐसी अच्छी लगती थी मानो वायुके सम्बन्धसे रहित चिकन बराबर आकृतिवाली तलैया हो ॥ २ ॥

अनवेक्ष्य वचः प्रश्नमुवाचाऽथ मुनीश्वरः ।
बोधयन्ति बलादेव सानुकम्पा हि साधवः ॥ ३ ॥
वसिष्ठ उवाच
राजन् रघुकुलाकाशशशाङ्करघुनन्दन ।
ह्यो मया ज्ञाननेत्रेण स भिक्षुः प्रेक्षितश्चिरम् ॥ ४ ॥
ध्यानेनाऽहं चिरं भ्रान्तस्तादृग्भिक्षुदिदृक्षया ।
द्वीपानि सप्त विपुलां कुलशैलसपर्वताम् ॥ ५ ॥
यावत्कुतश्चिदप्येवं भिक्षुर्लब्धो न तादृशः ।
कथं किल मनोराज्यं बहिरप्युपलभ्यते ॥ ६ ॥
ततस्त्रिभागशेषायां रात्र्यां पुनरहं धिया ।
उत्तराशान्तरं यातो वेलावात इवाऽर्णवम् ॥ ७ ॥
जिननामैष तत्राऽस्ति श्रीमान् जनपदो महान् ।
वल्मीकोपरि तत्राऽस्ति विहारो जनसंश्रयः ॥ ८ ॥

उसके पश्चात् मुनिराज श्रीवसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीके नूतन प्रश्नकी प्रतीक्षा न करके [पहले दिन किये गये प्रश्नका उत्तर देनेकी प्रतिज्ञाके अनुसार] कहना आरम्भ कर दिया, क्योंकि स्वभावतः दयाशील महात्मा लोग अधिकारी जनोंको हठात् बोध दिया ही करते हैं ॥ ३ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे प्रकाशमान रघुकुलरूप आकाशके पूर्णचन्द्र श्रीरामजी, कल मैंने अपने ज्ञानचक्षुसे उस भिक्षुका—चिरकाल तक अन्वेषणकर—अन्तमें अवलोकन कर ही डाला ॥ ४ ॥

भद्र, ध्यानसे उस तरहके भिक्षुका अवलोकन करनेकी अभिलाषासे सातों द्वीप, कुलशैल, एवं पर्वतोंसे मण्डित विपुल भूमण्डलपर दीर्घकालतक मैंने भ्रमण किया ॥ ५ ॥

और किसी भी तरहसे मनःकल्पित वस्तु बाहर भी उपलब्ध हो सकती है या नहीं ? इस तरहका विचार करता हुआ मैं तबतक लगातार पर्यटन करता रहा, जबतक कि किसी ओरसे वैसा भिक्षु मुझे प्राप्त न हुआ ॥ ६ ॥

आखिरमें तृतीयांश रात्रिका शेष रह जानेपर समुद्रकी ओर तटवर्ती वायुके सदृश मैं उत्तर प्रदेशकी ओर जा पहुँचा और मनसे मैंने विचार किया ॥ ७ ॥

भद्र, उस दिशामें वल्मीकनामक एक प्रदेशके ऊपर आगे जाकर एक

तस्मिन्विहारे स्वकुटीकोशे कपिलमूर्धजः ।
भिक्षुर्दीर्घदृशो नाम स्थित एव समाधये ॥ ९ ॥
एकविंशतिरात्रं च तस्यैवं स्थितिशालिनः ।
दृढार्गलं गृहं ध्यानभङ्गभीता विशन्ति नो ॥ १० ॥
भृत्याः प्रियाः किल तथा संतिष्ठति स भिक्षुकः ।
अद्यैव तस्य संवेत्तुं नियतेरीदृशी स्थितिः ॥ ११ ॥
रात्रयो ध्याननिष्ठस्य गतास्तस्यैकविंशतिः ।
स तु वर्षसहस्राणि तथा चित्तेन भूतवान् ॥ १२ ॥
कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे भिक्षुरेवं पुराऽभवत् ।
अद्य त्विह द्वितीयोऽस्मिंस्तृतीयो नोपलभ्यते ॥ १३ ॥
मया तु पुनरन्विष्य चेतसा चतुरात्मना ।
तादृग् भिक्षुस्तृतीयोऽन्यो जगत्पद्मोदरालिना ॥ १४ ॥

दूसरा बड़ा प्रसिद्ध जिननामक रम्य जनपद है। उस बड़े देशमें 'विहार' नामक एक स्थान है, जहाँपर अनेक जन निवास करते हैं ॥ ८ ॥

उस विहार स्थानमें समाधिकी सिद्धिके लिए अपनी कुटीके भीतर 'दीर्घदृश' नामका एक भिक्षु स्थित है, जिसके केश बिलकुल पीले पड़ गये हैं ॥ ९ ॥

इस प्रकार समाधिमें स्थितिवाले उस भिक्षुकी आज इक्कीसवीं रात है। उसकी कुटिया दृढ़ सिकड़ोंसे बन्द है। उसके प्रिय नौकर भी ध्यानभङ्गके भयसे भीत होकर उसके भीतर प्रवेश करनेकी चेष्टा नहीं करते। केवल वह भिक्षु उसी प्रकारकी समाधिमें लगा हुआ है। आज ही उसके विदेहकैवल्यकी प्राप्तिका अन्तिम समय है, क्योंकि आयुष्यनियन्ता विधाताकी ऐसी ही उसके लिए स्थिति है ॥ १०, ११ ॥

यद्यपि ध्याननिमग्न उस भिक्षुकी अबतक इक्कीस रातें ही बिती हैं तथापि पूर्ववर्णित रीतिके अनुसार चित्तके द्वारा इन इक्कीस रातोंको ही उसने हजारों वर्षके रूपमें समझ लिया है ॥ १२ ॥

भद्र, इस प्रकारका भिक्षु पहले किसी एक पूर्वकालमें हो चुका था और आज इस कल्पमें उस प्रकारका यह द्वितीय है। इन दोनोंको छोड़कर कोई तीसरा मुझे दिखाई न पड़ा ॥ १३ ॥

जब तीसरा मुझे दिखाई न पड़ा तब मैंने चतुरतापूर्ण चित्तसे इस जगद्रूप

अस्मात्सर्गात्ततो लब्धस्तृतीयस्तादृशाशयः ।
अथाऽन्ये लीलया सर्गा मया संप्रेक्षितास्ततः ॥ १५ ॥
यावत्तस्मिंश्चिदाकाशकोशशायिनि सर्गके ।
तृतीयो विद्यते भिक्षुर्ब्राह्मश्च सदृशक्रमः ॥ १६ ॥
एवं तेनैव तेनैव सन्निवेशेन भूरिशः ।
भविष्यन्त्यभवन्सर्वे पदार्थाः सर्गसन्ततौ ॥ १७ ॥
अस्यां सभायामपि ये मुनयो ब्राह्मणास्तथा ।
भाव्यमेवं समाचारैस्तैरन्यैरप्यनेकशः ॥ १८ ॥
नारदेनाऽमुना भाव्यं पुनरन्येन चाऽमुना ।
एवं कलनकर्मभ्यां युक्तेनाऽन्येन भूरिशः ॥ १९ ॥

कमलके अन्दर भ्रमरके समान खूब परिभ्रमण किया और उस परिभ्रमणमें मैंने एक अन्य तीसरा ही भिक्षु पाया ॥ १४ ॥

हाँ, पाया तो सही, किन्तु इस सर्गमें नहीं; इसलिए इस सर्गसे भिन्न दूसरे अनेक सर्गोंका लीलावश जब मैंने अवलोकन किया तब उन्हीं सर्गोंमें मुझे तीसरा भिक्षु मिला, जो कि ठीक पहलेके समान स्वभाववाला ही है ॥ १५ ॥

चैतन्याकाशके एक कोनेमें लीन, जिस परिमाणके उस सर्गमें तृतीय भिक्षु विद्यमान है वहांपर वहांके ब्रह्माद्वारा निर्मित भुवनपद्धति इसी भुवनपद्धतिके सदृश है ॥ १६ ॥

यों ब्रह्माण्डके भेदसे जब पदार्थक्रम एक-सा है तब भिक्षु भी अनन्त हो सकते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

भद्र, उसी प्रकार उसी-उसी अवयवविन्याससे अनेक पदार्थ होंगे और हो भी चुके हैं । इस सृष्टिपरम्परामें इसी क्रमसे सब पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं ॥ १७ ॥

इस अर्थमें मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणोक्त अर्थका ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'अस्याम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, इस सभामें भी जो मुनि और ब्राह्मण हैं वे भी भिक्षुके सदृश आचरणवाले या अपने सदृश आचरणवाले होंगे तथा दूसरे भी अनेक मुनिसदृश आचरणवाले या भिक्षुसदृश आचरणवाले होंगे ॥ १८ ॥

यह भिक्षु आगे चलकर नारदके रूपमें हो जायगा और नारद भी दूसरेके रूपमें

एवं जन्मादिना भाव्यं व्यासेनाऽपि शुकेन च ।
शौनकेन पुनर्भाव्यं क्रतुना पुलहेन च ॥ २० ॥
अगस्त्येन पुलस्त्येन भृगुणाऽङ्गिरसाऽपि च ।
एत एव तथाऽन्ये च एवं रूपक्रियास्पदम् ।
चिराच्चिराद्भविष्यन्ति मायेयं वितता यतः ॥ २१ ॥
सदृशाचारजन्मानस्त एवाऽन्ये च भूरिशः ।
भूयो भूयो विवर्तन्ते सर्गेष्वप्स्विव वीचयः ॥ २२ ॥
अत्यन्तसदृशाः केचित्केचिदर्धसमक्रमाः ।
केचिदीषत्समाः केचिन्न कदाचित्पुनस्तथा ॥ २३ ॥
एवमेषाऽतिवितता महतामपि मोहिनी ।
क्षणे नेहाऽस्ति नो कर्म प्रतिपच्चिर्हि जृम्भते ॥ २४ ॥
क्वैकविंशत्यहोरात्रा अनन्ताकृतयोऽनघ ।
क्व तासामुपलम्भोऽलमहो भीमा मनोगतिः ॥ २५ ॥

हो जायँगे, इस प्रकार ज्ञान और चरित्रसे युक्त अन्यके रूपमें यह हो जायगा, यों अनेक तत्-तत् रूपमें हो जाते हैं ॥ १९ ॥

इसी प्रकार जन्मादि द्वारा व्यास भी होंगे, शुक भी होंगे, फिर शौनक भी होंगे, क्रतु भी होंगे और पुलह भी होंगे ॥ २० ॥

अगस्त्य, पुलस्त्य, भृगु और अङ्गिरस—ये एवं दूसरे इस प्रकारके स्वरूप और क्रियाके आश्रय चिर-चिर कालके अनन्तर होंगे, क्योंकि यह माया बड़ी व्यापक है ॥ २१ ॥

सृष्टिमें सदृश आचार और जन्मवाले वे ही और अनेक दूसरे भी बारबार उस प्रकार आते जाते रहते हैं, जिस प्रकार जलमें तरङ्ग ॥ २२ ॥

कोई तो अत्यन्तसदृश, कोई अर्धसदृश, कोई स्वल्पसदृश, कोई असदृश पदार्थ किसी समय बारबार उसी रूपमें उत्पन्न होते रहते हैं ॥ २३ ॥

इस प्रकार यह बड़े-बड़े लोगोंको भी मोहमें डालनेवाली अति विस्तृत माया ही जृम्भित हो रही है जो निरवयव कालात्मामें न मानस चेष्टारूप है और न देहचेष्टारूप ही है, क्योंकि यह केवल भ्रान्ति ही जृम्भित हो रही है ॥२४॥

हे पापशून्य, कहाँ इक्कीस अहोरात्र और कहाँ अनन्त जीवट आदि आकृतियां और उनकी उपलब्धियां ! अहो, यह मनोवृत्ति बड़ी भयङ्कर है ॥ २५ ॥

प्रतिभामात्रमेवेदमित्थं विकसितं स्थितम् ।
नानाकलहकल्लोलं जले प्रातरिवाऽम्बुजम् ॥ २६ ॥
जातं संवेदनादेव शुद्धादिदमशुद्धिमत् ।
संसारजालमखिलं सार्चिर्वह्निकणादिव ॥ २७ ॥
प्रत्येकमेवमुदितः प्रतिभासखण्डः
खण्डान्तरेष्वपि च तस्य विचित्रखण्डः ।
सर्वे स्वयं ननु च तेऽपि मिथो न मिथ्या
सर्वात्मनि स्फुरति कारणकारणेऽस्मिन् ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवटोपाख्याने भिक्षुसंसृतिकथनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥६६॥

भद्र, यह जगत् केवल प्रतिभास ही है और इस प्रकार विकसित होकर वैसे स्थित है, जैसे प्रातःकालमें जलमें कमल । और जिस प्रकार उक्त कालमें अनेक तरहके भ्रमरोंके कलह और जलकल्लोल विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार इस प्रतिभासात्मक जगत्में भी अनेक तरहके जीवकलह और विषयानुभवजनित कल्लोल विद्यमान रहते हैं, यह आप देखिए ॥ २६ ॥

रामभद्र, जिस प्रकार अग्निकणसे अर्चियोंसे युक्त महान् अग्नि उत्पन्न होता है, उसी प्रकार समस्त अशुद्धियोंसे निर्मुक्त विशुद्ध संवित्तिरूप परम ब्रह्मसे ही अशुद्धात्मक यह सारा संसारजाल उत्पन्न हुआ है ॥ २७ ॥

हे रघुनन्दन, जिस तरह इस भिक्षुके मनमें चित्र-विचित्र प्रतिभासात्मक अनेक जगत्खण्ड आविर्भूत हुए, उसी प्रकार प्रत्येक जीवके मनमें भी चित्र-विचित्र प्रतिभासात्मक जगत्खण्ड आविर्भूत होते हैं, और उन-उन जीवोंके मनमें उदित हुए भिन्न-भिन्न जीवांशोंमें भी चित्र-विचित्र प्रतिभासात्मक जगत् अन्य-अन्य उत्पन्न होते हैं, इस रीतिसे उत्तरोत्तर मायालम्पट जीवके लिए जगत्स्थिति कहीं शान्त ही नहीं हो सकती । वे पहलेके जगत्-खण्ड और उन जगत्-खण्डोंके अन्तर्गत दूसरे जगत्खण्ड अपनी-अपनी व्यवहारकी दृष्टिसे सत्यरूप हैं और सर्वात्मक चैतन्यस्वरूप, कारणोंके भी कारण इस परमात्मतत्त्वके तादात्म्यरूपसे प्रस्फुरित होनेपर तो सत्यरूप नहीं ही हैं ॥ २८ ॥

छाछठवाँ सर्ग समाप्त

सप्तषष्टितमः सर्गः

दशरथ उवाच

मुनिनायक तं भिक्षुं गत्वा सम्बोधयन्त्वमी ।
नरा मत्प्रहिताः शीघ्रं चाऽऽनयन्तु कुटीगतम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

राजंस्तस्य महाभिक्षोः स देहः प्राणवर्जितः ।
क्लेदो वैवर्ण्यमायातो नाऽसौ जीवितभाजनम् ॥ २ ॥
तस्य भिक्षोस्तु जीवोऽसौ भूत्वा पद्मजसारसः ।
जीवन्मुक्तः स्थितो भूयो नाऽसौ संसृतिभाजनम् ॥३॥

सड़सठवाँ सर्ग

[समाधिमें स्थित भिक्षुका देहनाश और भिक्षुभ्रमके सदृश दूसरे जीवोंको बन्धप्राप्ति और तत्त्वज्ञानसे बन्धकी निवृत्ति—यह वर्णन]

राजा दशरथजीने कहा—हे मुनिनायक, आप आज्ञा दीजिए, जिससे कि मेरे भेजे हुए ये मन्त्री आदि जन कुटीमें स्थित भिक्षुके पास जाकर समाधिसे उसे जगावें और यहाँ लावें ॥ १ ॥

उसके लिए आजका ही दिन विदेहमुक्तिके लिए निश्चित है, यह जो मैंने पहले कहा था, उसे भूलकर आप यह कह रहे हैं, यह भावभङ्गीसे सूचना कर रहे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'राजन्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राजन्, उस भाग्यवान् भिक्षुकी वह देह प्राणरहित हो गई है, प्राणोंको पकड़कर शरीरमें रखनेवाला अन्नरस उसका सूख गया है, अतः अब वह किसी तरह जीवनशक्तिका भाजन नहीं रह गया ॥ २ ॥

तब वह आपके सत्यसङ्कल्पके प्रभावसे जी जाय ? इसपर कहते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

महाराज, उस भिक्षुका तो जीव अब ब्रह्मदेवका सारस बनकर जीवन्मुक्त होकर अवस्थित हो गया, अतः फिर वह संसारका भागी नहीं हो सकता । निचोड़ यह है कि यदि उस शरीरके द्वारा भोगोपयोगी प्रारब्ध बच जाता तो मेरा सत्यसङ्कल्प काम कर जाता, परन्तु वह है नहीं ॥ ३ ॥

तद्गृहे मासपर्यन्ते यलान्निष्कासितार्गलाः ।
अन्तराले तु तिष्ठन्ति भृत्या भिक्षुदिदृक्षवः ॥ ४ ॥
ततो नष्टाङ्गसन्धानं कायं निष्काल्य ते जले ।
त्यक्ष्यन्त्यन्यं करिष्यन्ति भिक्षुमक्षुण्णमानसम् ॥ ५ ॥
अनेनैवं स देहेन भिक्षुर्मुक्तो व्यवस्थितः ।
कथं प्रबोध्यते नष्टं तद्विहारे शरीरकम् ॥ ६ ॥
एषा गुणमयी माया दुर्बोधेन दुरत्यया ।
नित्यं सत्यावबोधेन सुखेनैवाऽतिवाह्यते ॥ ७ ॥

अपि च, उस भिक्षुने अपने सेवकोंको यह आज्ञा दी है कि कोई मासभर घरका सिकड़ मत खोले, अतः उन सेवकों द्वारा दृढ़ सुरक्षित होनेके कारण आपके मन्त्री आदि वहाँ जाकर कुछ भी नहीं कर सकते, यह कहते हैं—'तद्गृहे' इत्यादिसे ।

उसकी कुटीमें मासके आखिरी दिनमें उसकी आज्ञाके अनुसार सिकड़ खोलनेवाले, बाहर द्वारके अन्तरालमें भिक्षुशरीर देखनेकी इच्छा कर रहे उसके भृत्य बैठे हुए हैं ॥ ४ ॥

तदनन्तर मासके अन्तमें अङ्गोंकी सन्धियोंसे शिथिल हुए शरीरको कुटीसे बाहर निकालकर वे भृत्य उसे जलमें डूबा देंगे और कुटीके भीतर उसके शरीरके सदृश पत्थर-प्रतिमारूप, दृढ और मनःकल्पित देवतारूप दूसरे भिक्षुकी प्रतिष्ठा करेंगे ॥ ५ ॥

राजन्, उक्त रीतिसे जब इस शरीरसे मुक्त होकर वह भिक्षु अवस्थित है, तब भला प्राण, चेष्टा आदि व्यापारोंसे शून्य (मृत) उस शरीरको किस तरह प्रबोधित करेंगे ॥ ६ ॥

प्रासङ्गिक प्रश्न कहकर अब प्रस्तावित विषयका ही अवलम्बन करते हैं—'एषा' इत्यादिसे ।

यह त्रिगुणात्मिका माया भ्रान्तियोंकी जननी विक्षेपशक्तिसे किसी भी तरह पार नहीं की जा सकती । सदासे ही एकमात्र सत्यतत्त्वके साक्षात्कारसे सुखपूर्वक दूर की जा सकती है ॥ ७ ॥

असत्येव कृतारम्भा हेम्नः कटकता यथा ।
प्रतिभासविपर्यासमात्रकारणकोदया ॥ ८ ॥
परमात्मनि वाचेयमित्थं मायाऽनुमीयते ।
तरङ्गालीव पयसि प्रेक्षामात्रविनाशिनी ॥ ९ ॥
ज्ञो हि दृश्यतया दीर्घस्वप्नात् स्वप्नान्तरं व्रजेत् ।
एवं जीवत्वमायाति विवेकात् सर्वमात्मदृक् ॥ १० ॥
यो यस्य प्रतिभासः स्यादात्मैव स स्वबोधतः ।
स एवोदेति संसारः करञ्जवनगुल्मदृक् ॥ ११ ॥
प्रत्येकं भूतमुदितं कृतं संसारमण्डलम् ।
भिक्षोः स्वप्नान्तर इव परां भङ्गिमिवाऽम्भसः ॥ १२ ॥

माया स्वरूपसे असद्रूप ही है और जगद्रूप कार्यका निर्माण करती है। जिस प्रकार सुवर्णकी कटकरूपसे विपरीतरूपता होती है, उसी प्रकार प्रतिभासकी जो विपरीतरूपता है, उसीके कारण उससे जगद्रूप विभ्रमका उदय होता है ॥८॥

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (घट आदि विकार केवल वाणीमात्र ही हैं, मृत्तिका ही सत्यरूप है) इस दृष्टान्तरूप श्रुतिवचनसे दार्ष्टान्तिक यह माया परमात्मामें मिथ्यास्वरूप ही अनुमित होती है, इस प्रकारकी अनुमित यह माया केवल तत्त्वसाक्षात्कारसे जलमें तरङ्गोंकी नाईं, तत्क्षण विलीन हो जाती है ॥ ९ ॥

अविवेकके कारण परमात्मा एक दीर्घस्वप्नसे दूसरे दीर्घस्वप्नकी ओर जाता है और जीवरूप बन जाता है। अपने विवेकसे सबको अपना स्वरूप समझकर चिन्मात्ररूप हो जाता है ॥ १० ॥

अपने तत्त्वसाक्षात्कारसे जो जिसका प्रतिभास रहता है, वह आत्मस्वरूप ही बन जाता है और अपने तत्त्वज्ञानके न रहनेसे वही प्रतिभास, करञ्जवनके पौधोंके सदृश, संसाररूपसे उदित हो जाता है ॥ ११ ॥

प्रत्येक प्राणिसमुदायके प्रति यह संसारमण्डल उस प्रकार भ्रान्तिसे उदित होता है, जिस प्रकार भिक्षुके स्वप्नके अन्दर एक स्वप्नसे दूसरा स्वप्न और जलमें एक तरङ्गसे दूसरा तरङ्ग उदित होता है ॥ १२ ॥

प्रस्तुतः पद्मजादेव जगत्स्वप्नो यथोदितः ।
तथैवाऽस्वच्छचित्तोत्थो रूढः सर्वजनं प्रति ॥ १३ ॥
पितामहवदाभाति सर्गः स्वप्नविलासवत् ।
प्रत्येकमुदितस्तेन ब्रह्माण्डानीव कोटिशः ॥ १४ ॥
स्फुरन् यथा तथा वाऽस्मिञ्जीवः पश्यति विभ्रमम् ।
हृदयेऽयं समर्थं च स्वप्नवद्दीर्घमान्तरम् ॥ १५ ॥
चित्सत्तामात्रमासाद्य प्रतीतिच्युतमात्रतः ।
जरामरणदुःखानां क्वचिद्भाजनतां गतः ॥ १६ ॥

समष्टि हिरण्यगर्भका यह जगद्रूप सर्ग केवल मनोनिर्मित होनेके कारण जब स्वप्नरूप ही सिद्ध है तब व्यष्टिजीवका भी यह सर्ग स्वप्नरूप ही सिद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं। परन्तु केवल अस्वच्छ चित्तसे उत्पन्न होनेके कारण व्यष्टिको वह दीर्घ एवं स्थिर-सा भासता है; यह कहते हैं—'प्रस्तुतः' इत्यादिसे।

भद्र, प्रस्तुत जगद्रूप स्वप्न हिरण्यगर्भसे जैसा ही उदित है वैसा ही समस्त व्यष्टि जनोंके प्रति अस्वच्छ चित्तसे उत्पन्न हुआ जगत्-स्वप्न अवस्थित है ॥१३॥

श्रीरामजी, पितामहके चित्तके सदृश चित्तशुद्धि होनेपर तो यह सृष्टि स्वाप्निक विलासके समान असद्रूप चारों ओरसे भासती है, यों उस तरहके भानसे जाना जाता है। इसीसे यह निश्चय होता है कि यह प्रत्येक सर्ग ब्रह्माण्डोंके समान करोड़ों रूपोंमें उदित हुआ है ॥ १४ ॥

यह जीव व्यष्टि-प्रपञ्चरूपसे, समष्टि-प्रपञ्चरूपसे अथवा साधारण-प्रपञ्चरूपसे या प्रत्येक असाधारण-प्रपञ्चरूपसे चाहे जिस किसी रूपसे स्फुरित हो, तथापि इस हृदयमें प्रतिभानके समर्थ, दीर्घ भीतरी विभ्रमको देखता है, इसलिए वह स्वप्नकी नाईं मिथ्या ही है ॥ १५ ॥

दीर्घ स्वप्नके दिखाई पड़नेमें कारण बतलाते हैं—'चित्सत्तामात्र०' इत्यादिसे।

अपने पारमार्थिक स्वरूपसे च्युत हुआ यह जीव एकमात्र चितिसत्ताका अवलम्बनकर किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकी देहोंमें जरा, मरण आदि दुःखों का भागी बन जाता है ॥ १६ ॥

पातालं ब्रह्मलोकं वा चित्रसुकृतशालिनी।
चित्तांशस्पन्दमात्रेण कृत्वा कृत्वेव संस्थिता ॥ १७ ॥
चित्स्पन्दरूपिणी जीवनामरूपं गताऽऽत्मनि।
अन्यत्र च विलुठति गत्वा संभ्रमहारिणी ॥ १८ ॥
चिच्चेति परमात्मा न परमात्मा न वा न किम्।
जीवदेहादिनाम्नोऽस्य प्रतिबिम्बादिवाऽर्हता ॥ १९ ॥
ब्रह्मण्येव परं ब्रह्म जगद्दृष्ट्यैव संस्थितम्।
शुद्धाकाशमिवाऽऽकाशे जले जलमिवाऽमलम् ॥ २० ॥

उस स्वप्नमें चित्र-विचित्र कर्मोंवाली यह जीवचिति अपने चित्तांशके स्पन्दमात्रसे नीचे पाताललोक या ऊपर ब्रह्मलोक की रचनाकर भोगोंका उपभोग कर रही-सी स्थित है ॥ १७ ॥

परमात्मचिति ही प्राणकी कल्पनासे उसके अधीन स्पन्दसे युक्त होकर उसीके द्वारा जीवनामक स्वरूपमें परिणत होती है। उस प्रकार जीवरूपमें परिणत हुई वह अपने भीतर देहाकार भ्रम और बाहर विषयाकार भ्रम को धारण करती हुई इधर-उधर लुढ़कती फिरती है ॥ १८ ॥

इस चितिका भ्रान्तिवश जीव आदि नामभेद भले ही हो, फिर भी यह परमात्मा ही है, क्योंकि हजारों अध्यासोंसे अधिष्ठान का भेद नहीं हो सकता, अतः परमपुरुषार्थ फल जीव-ब्रह्मैक्य ही है, इसे दृढ़ करते हैं—**चिच्चेति'** इत्यादिसे।

चित्तरूप-उपाध्याकार भ्रान्तिमात्रके अपराधसे यह प्रत्यगात्मा क्या ब्रह्म नहीं है? या ब्रह्म ही क्या प्रत्यगात्मा नहीं है? और दर्पणमें मुखके प्रतिबिम्बके समान ब्रह्ममें भी औपाधिक जीवनामकी, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि देहनामकी योग्यता क्या नहीं है? तात्पर्य यह निकला कि अभेद होनेपर भी उपाधिवश सब कुछ सम्भव है। इस विषयमें श्रुति भी प्रमाण है—'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन इति, तान्येतस्य कर्मनामान्येव ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें शुद्धाकाश स्थित है, जलमें विमल जल स्थित है, वैसे ही इस प्रकार ऐक्यदर्शन होनेके कारण व्यवहारदृष्टिसे भी जब परब्रह्म ब्रह्ममें ही स्थित

लोको ब्रह्मण एवाऽयं जगद्रूपेषु तिष्ठति ।
विभेत्यन्यतया बोधात् प्रतिबिम्बादिवाऽर्भकः ॥ २१ ॥
स्पन्देऽस्पन्दीकृते चेह स्वतः संज्ञा विलीयते ।
साऽप्यलं परिणामेन लीयतेऽग्नौ घृतं यथा ॥ २२ ॥
चित्स्पन्द एव चित्स्पन्दे सर्वात्मनि विजृम्भितः ।
स्पन्दास्पन्दौ जृम्भणादि कल्पितं नाऽत्र वास्तवम् ॥ २३ ॥
न स्पन्दोऽस्तीह नाऽस्पन्दो नैकता वाऽपि न द्विता ।
शुद्धं चिन्मात्रसर्वस्वं यथैवाऽस्ति तथा स्थितम् ॥ २४ ॥

है तब परमार्थदृष्टिसे समूल उपाधिका बाध होनेपर 'ब्रह्म ब्रह्ममें स्थित है' यह कहना ही क्या ॥ २० ॥

[किञ्च, मुखसे अत्यन्त भिन्न होनेके कारण दर्पण आदिमें स्थित मुखमें कथञ्चित् अन्यथाभ्रम हो भी सकता है; परन्तु] जीवलोक तो आत्मभूत अभय ब्रह्मके मूर्त-अमूर्त-स्वरूप जगद्रूपोंमें स्थित है, इसलिए इसमें अन्यथाभ्रमकी संभावना ही नहीं है, तथापि 'आत्मासे अन्य यह सब मेरे भयका कारण है' यों भ्रम कर यह इस प्रकार डरता है, जिस प्रकार बालक परछाईंसे डरता है ॥ २१ ॥

और भेदज्ञानमें बुद्धिका स्पन्दन कारण है, अतः समाधिके अभ्यास द्वारा बुद्धिस्पन्दके स्पन्दरहित कर दिये जानेपर भेदबुद्धिस्वरूप संज्ञा अपने-आप ही बुद्धिमें विलीन हो जाती है। और वह बुद्धि भी पूर्णब्रह्माकार चरमसाक्षात्काररूप अपने परिणामके द्वारा, अग्निमें हवन किये गये घीके-जैसे, उसीसे दीप्त ब्रह्ममें विलीन हो जाती है ॥ २२ ॥

शङ्का हो कि करोड़ों कुदारियोंसे भी दुर्भेद्य यह जगत् भला एकमात्र बोधसे कैसे विलीन हो जाता है ? तो इसपर 'वह असद्रूप चितिस्पन्दन होनेसे ही' यह समाधान करते हैं—'चित्स्पन्द' इत्यादिसे ।

सर्वात्मक चितिस्पन्दमें ही चितिस्पन्दरूप जगत् विजृम्भित (विकसित) हुआ है। इसमें स्पन्दन, स्पन्दनाभाव, विजृम्भण आदि कल्पित ही हैं, तात्त्विक नहीं ॥ २३ ॥

वे कल्पित हैं, यह भी कैसे जाना ? ऐसी शङ्का होनेपर 'तत्त्वदृष्टिसे दिखाई न पड़नेसे ही' यह समाधान करते हैं—'न' इत्यादिसे ।

सारेण तु विचारेण सर्वशब्दार्थयोः समे ।
चिन्मात्रमेव ज्ञातेऽयं नाऽस्तीत्यपि न विद्यते ॥ २५ ॥
भेदवेदनयोदेति भेदः प्रकृतिलाञ्छनम् ।
अभेदबोधादखिले गलिते शिष्यते परम् ॥ २६ ॥
नानात्वैवाऽस्य बोधेन स बोधस्त्वनवेक्षणात् ।
पृच्छकं चैवमस्त्येव तस्मान्निःशङ्कता परा ॥ २७ ॥
ततः स्वप्नो न जागर्तिर्न सुषुप्तिर्न तुर्यता ।
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति नाऽन्यथाकल्पनात्मकम् ॥ २८ ॥
शान्तिरेका जगन्नाम्नी शान्तिरेवमवस्थिता ।
अबोधोऽसत्य एवाऽतः क्व द्रष्टृदृश्यदर्शनम् ॥ २९ ॥

हे राघव, तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर न स्पन्द है और न अस्पन्द ही है। न एकत्व है और न द्वित्व ही है। किन्तु शुद्ध एकमात्रचैतन्य स्वरूप जैसा है, उसी रूपसे वह स्थित है ॥ २४ ॥

उत्तम विचारसे सर्वशब्द और उसके अर्थोंको एकरसस्वभाव जान लेनेपर तो एकमात्र चैतन्य ही परमार्थतः सत्य रह जाता है। उस समय अभावस्वरूप भी यह नहीं रहता, फिर भावकी कथा तो कोसों दूर रही, यह भाव है ॥ २५ ॥

भेदबुद्धिसे ही मायाकलङ्करूप भेद उदित होता है। और अभेदबुद्धिसे सबके शान्त हो जानेपर तो एकमात्र परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ २६ ॥

वस्तुकी सत्ता जैसी है वह उसी रूपमें है, कोई भी उसे बदल नहीं सकता, यों महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'नाना०' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, आप स्वस्वरूपके अज्ञानसे ही नानारूप हैं। आप अज्ञानस्वरूप नानात्वको न देखनेपर तो पूर्णचिद्रूप ही हैं। इस विषयमें जिसे चाहें, पूछिए। यही परमार्थ सत्य है। इसलिए आपकी, मेरी और अन्यकी सर्वथा निःशङ्कता सिद्ध ही है ॥ २७ ॥

उसी निःशङ्कताकी सामर्थ्यसे जाग्रत् आदि सभी अवस्थाओंके द्वैतका बाध प्रवृत्त हुआ है, यह कहते हैं—'ततः' इत्यादिसे।

इसी निःशङ्कतासे यह सिद्ध होता है कि परमार्थतः न तो स्वप्न है, न जाग्रत् है, न सुषुप्ति है, न तुर्यता है, न बन्ध है, न मोक्ष है और न अन्यथाकल्पनास्वरूप जगत् ही है ॥ २८ ॥

अज्ञानसे ही द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटीरूप जगत्की सत्ता है। जब वह

स्पन्दोऽप्यस्पन्द एव स्यान्निःसङ्कल्पतया च ते ।
न स्पन्दास्पन्दयोर्भिन्ना सङ्कल्परहितैव चित् ॥ ३० ॥
द्वैतैक्यविकला रूपसङ्कल्पश्चिदभावनात् ।
स च भावनमात्रेण गतो ब्रह्मैव शिष्यते ॥ ३१ ॥
चिच्चन्द्रबिम्बे सङ्कल्पकलङ्कः स्फुरतीव यः ।
नाऽसौ कलङ्कस्तद्विद्धि चिद्घनस्य घनं वपुः ॥ ३२ ॥
चिद्घनस्य न सत्ताऽसन्स्थीयतां यत्तते पदे ।
इत्यदोषमहाबोधसारसङ्ग्रहणं कुरु ॥ ३३ ॥

अज्ञान ही असत्य है तब तो शुद्धात्मस्वरूप वह शान्ति ही एकमात्र 'जगत्' नामवाली है, क्योंकि वह शान्ति ही 'गच्छति' यानी जो चारों ओरसे व्याप्त करती है—इस व्युत्पत्तिके द्वारा 'जगत्' नामसे व्यवस्थित है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन रूप त्रिपुटी कहाँ है अर्थात् अत्यन्त अप्रसिद्ध है, इसलिए वह शान्ति 'जगत्' नामवाली नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

केवल बोधसे चित्त-प्राणादिस्पन्दकी निवृत्ति कैसे होगी ? यदि ऐसी शङ्का हो तो इसपर—उसके हेतुरूप सङ्कल्पके क्षयसे ही—यह समाधान करते हैं—'स्पन्द' इत्यादिसे ।

राजन्, आपके सङ्कल्पशून्य हो जानेसे स्पन्द भी स्पन्दशून्य ही सिद्ध हो जायगा, क्योंकि सङ्कल्पशून्य चिति स्पन्द और अस्पन्दसे भिन्न कदापि नहीं है ॥ ३० ॥

चितिके अदर्शनसे द्वैतता और एकतारूप सङ्कल्प उदित होता है और वह सङ्कल्प चितिके दर्शनमात्रसे नष्ट हो जाता है, यों द्वैतता और एकतासे रहित ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ३१ ॥

चितिके दर्शनका प्रकार बतलाते हैं—'चिच्चन्द्रबिम्बे' इत्यादिसे ।

भद्र, चितिरूपी चन्द्रबिम्बमें जो एकतरहका सङ्कल्परूपी कलङ्क स्फुरित हो रहा है, वह कलङ्क नहीं है; किन्तु चिदेकरसका घन शरीर है, यह आप जान लीजिये ॥ ३२ ॥

वह कलङ्क नहीं है, इसमें युक्ति बतलाते हैं—'चिद्घनस्य' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप चिद्घनके विस्तृत पदमें स्थित हो जाइये, क्योंकि आपके पूर्णरूपमें स्थित हो जानेसे सङ्कल्पादि आपके साथ ऐक्य प्राप्तकर अलग अपना

चिच्चन्द्रबिम्बासङ्कल्पकलङ्कामृतविग्रहः ।
त्वया भव्येन संस्पृष्टो भावाभावक्षयात्मना ॥ ३४ ॥
भावाभावादिकलनां नीत्वा चिन्मयतां चितः ।
समोल्लासविलासान्तः समाश्वस यथासुखम् ॥ ३५ ॥
स्पन्दास्पन्दौ कल्पनाकल्पना वा
चित्ताम्नायो विद्धि नामाऽभिधनाम्ना ।
सर्वाकारा निर्वृतिः शान्तिसत्ता
पूर्णापूर्णे ह्येकमेवाऽऽस्थितेति ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैक्यप्रतिपादनं नाम सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

अस्तित्व नहीं रख सकते, यों आपके रूपसे तो अपना अस्तित्व रखते ही हैं, इसी युक्तिसे आत्माके साथ सम्पूर्ण वस्तुओंमें एकत्वका सम्पादन करनेवाले निर्दोष महा बोधसारका आप भलीभाँति अवलम्बन कीजिये ॥ ३३ ॥

हे चिच्चन्द्रबिम्ब, हे असङ्कल्पकलङ्क, भावाभावनाशस्वरूप भव्य बने हुए आपके द्वारा स्पृष्ट सब पदार्थ अमृतरूपी शरीरवाला हो जाता है। अहो, आपका माहात्म्य कैसा है ॥ ३४ ॥

भद्र, आप चितिकी भाव और अभाव स्वरूप कल्पनाको चिन्मयरूप बना कर तथा अपने हृदयमें उल्लास और विलासको एक-सा करके सुखपूर्वक विश्राम कीजिये ॥ ३५ ॥

स्पन्द और अस्पन्द या सङ्कल्प और विकल्प इत्यादि चित्तकी भ्रान्तिका जितना भेद है सर्वाकारात्मक सुखैकरस शान्तिसत्ता ही तत्-तत् आकारसे अवस्थित है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप आनन्दसागरनामक स्वरूपसे स्थित हो करके ये पूर्ण और अपूर्ण जो दो दशाएँ हैं, इन्हें अपना एक ही रूप समझिये ॥ ३६ ॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अष्टषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सुषुप्तमौनवान् भूत्वा त्यक्त्वा चित्तविलासिताम् ।
कलनामलनिर्मुक्तस्तिष्ठाऽवष्टब्धतत्पदः ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

वाङ्मौनमक्षमौनं च काष्ठमौनं च वेद्म्यहम् ।
सुषुप्तमौनं मौनेश ब्रह्मन् ब्रूहि किमुच्यते ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

द्विविधः प्रोच्यते राम मुनिर्मुनिवरैरिह ।
एकः काष्ठतपस्वी स्याज्जीवन्मुक्तस्तथेतरः ॥ ३ ॥
अभावितायां शुष्कायां क्रियायां बद्धनिश्चयः ।
हठाज्जितेन्द्रियग्रामो मुनिः स्यात् काष्ठतापसः ॥४॥

अड़सठवाँ सर्ग

[लक्षणोंसे चार तरहका मौन और उसमें भी सुषुप्तिसम्बन्धी मौन तुर्यातीत पदमें प्रतिष्ठित है—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, आप सुषुप्तमौनवान् होकर, चित्तकी विलासिता छोड़कर तथा कल्पनारूपी मलसे निर्मुक्त होकर उस परम पदमें अवस्थित हो जाइये ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन् ! वाङ्मौन, इन्द्रियमौन और काष्ठमौन तो मैं जानता हूँ लेकिन हे मौनेश, सुषुप्तमौन किसे कहते हैं, यह [मुझे मालूम नहीं है कृपाकर] कहिये ॥ २ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, मुनिवरोंने दो तरहके मुनि बतलाये हैं—एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त ॥ ३ ॥

उसीको प्रकट करते हैं—'अभावितायाम्' इत्यादिसे ।

आत्मतत्त्वके पर्यालोचनसे शून्य शुष्क (आत्मानुभवरससे शून्य कृच्छ्र-चान्द्रायणादि) क्रियामें बद्धनिश्चय और हठात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंको जीत रखनेवाला मुनि काष्ठतापस कहा गया है ॥ ४ ॥

यथाभूतमिदं बुद्ध्वा भावितात्माऽऽत्मनि स्थितः ।
लोकोपमोऽपि तृप्तोऽन्तर्यः स मुक्तमुनिः स्मृतः ॥ ५ ॥
एतयोर्यो भवेद्भावः शान्तयोर्मुनिनाथयोः ।
चित्तनिश्चयरूपात्मा मौनशब्देन स स्मृतः ॥ ६ ॥
चतुष्प्रकारमाहुस्तं मौनं मौनविदो जनाः ।
वाङ्मौनमक्षमौनं च काष्ठं सौषुप्तमेव च ॥ ७ ॥
वाङ्मौनं वचसां रोधो बलादिन्द्रियनिग्रहः ।
अक्षमौनं परित्यागश्चेष्टानां काष्ठसंज्ञकम् ॥ ८ ॥
मनोमौनं पञ्चमं च तन्मृतौ काष्ठतापसे ।
भावे सुषुप्तमौनाख्यं जीवन्मुक्तोऽनुजीवति ॥ ९ ॥

और यथार्थमें यह संसार क्या है, यह अच्छी तरह जानकर जो आत्मज्ञानी आत्मामें अवस्थित होता हुआ व्यवहारमें अन्य तपस्वियोंके समान रहनेपर भी नित्यनिरतिशयानन्दास्वादसे भीतर तृप्त रहता है वह जीवन्मुक्त कहा गया है ॥ ५ ॥

प्रकृत्यर्थका व्युत्पादन कर अब प्रत्ययार्थका व्युत्पादन करते हैं—'एतयोः' इत्यादिसे ।

इन दोनों शान्तात्मा श्रेष्ठ मुनियोंका जो चित्तनिश्चयरूपात्मक भाव है वह मौनशब्दसे कहा गया है ॥ ६ ॥

रामभद्र, मौनविद् लोगोंने मौन चार प्रकारका बतलाया है—वाङ्मौन, इन्द्रियमौन, काष्ठमौन और सुषुप्तमौन ॥ ७ ॥

उनमें प्रत्येकका लक्षण बतलाते हैं—'वाङ्मौनम्' इत्यादिसे ।

वाणीका निरोध वाङ्मौन, हठात् इन्द्रियोंका निग्रह इन्द्रियमौन और चेष्टाओंका त्याग काष्ठसंज्ञक मौन कहलाता है ॥ ८ ॥

इस तरह विभागके पर्यालोचनसे यद्यपि पञ्चम मनोमौन भी संभव है तथापि वह काष्ठतापस, मरण, मूर्च्छा और सुषुप्तिमें ही संभव है, अन्य किसी दूसरे कालमें नहीं । इसलिए मौनवेत्ताओंने उसकी गणना अलग नहीं की है । हे श्रीरामजी, आत्मतत्त्वानुभवमें जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है उसे सुषुप्तमौन कहते हैं ॥ ९ ॥

त्रिषु मौनविशेषेषु विषयः काष्ठतापसः ।
सुषुप्तमौनावस्थायां सा तुर्या सैव मुक्तधीः ॥ १० ॥
वाङ्मौनं मौनमित्येतत्सिद्धं तच्च मनः किल ।
मलिनं जीवबन्धाय तत्रस्थः काष्ठतापसः ॥ ११ ॥
अस्मत्संस्मरणं वाऽपि दृश्यं वाङ्मयमस्पृशन् ।
अपश्यन्नेव पश्यन्हि काष्ठमौनी तु तिष्ठति ॥ १२ ॥
प्रस्फुरच्चित्तकलनमेतन्मौनत्रयं स्मृतम् ।
भवन्ति मौनिनस्तत्र न तज्ज्ञास्तत्स्थलीलया ॥ १३ ॥

वाङ्मौन आदि तीनों मौनविशेषोंमें काष्ठतापस विषय (अधिकृत) है और सुषुप्त मौनावस्थामें वह जो चतुर्थी अवस्था है वही जीवन्मुक्तोंमें स्थिति रखनेवाली है यानी वही मुक्तधी कहलाती है ॥ १० ॥

यद्यपि तीनों मौनोंमें मौनत्व सिद्ध है तथापि वे मलिन मनका जो दृढ़ निश्चय है तत्स्वरूप ही हैं, इसलिए वे तीनों जीवके बन्धनके लिए ही समर्थ हैं, यह कहते हैं—'वाङ्मौनम्' इत्यादिसे ।

यद्यपि वाङ्मौन मौन है, यह भलीभाँति सिद्ध हो चुका है तथापि वह मलिनमनोरूप ही है यानी मलिन मनका दृढ़ निश्चयरूप है ; इसलिए वह जीवबन्धनके लिए समर्थ है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अतः काष्ठतापस भी जीवबन्धनके लिए ही स्थित हुआ है ॥ ११ ॥

ऐसी परिस्थितिमें मलिन मनके दृढ़ निश्चयरूप मौनसे युक्त काष्ठतापस समाधिमें स्थित कैसे रहता है, यह कहते हैं—'अस्मत्०' इत्यादिसे ।

भद्र, काष्ठमौनी तो समाधिमें बलपूर्वक मनोनिग्रह करके अपने हृदयके अन्दर अहंभावके अनुसन्धानका स्पर्श न करता हुआ और बाहर भी रूप एवं नाम प्रपञ्चका स्पर्श न करता हुआ तथा अज्ञानसे आवृत हुए आत्माका अवलोकन न करके सुषुप्तिवत् अविनाशी आत्मदृष्टिका अभाव न होनेसे भस्मसे ढकी हुई अग्निकी नाईं साक्षिमात्रज्योतिसे अवलोकन करता हुआ अवस्थित रहता है ॥ १२ ॥

रामभद्र, यह जो तीन प्रकारका मौन कहा गया है वह व्युत्थानकालमें प्रस्फुरित हो रहे चित्तका चलन ही है उस कालमें वे ही पूर्वोक्त तीनों मौनी स्थित रहते हैं तथा उसके जाननेवाले तो चित्तका बाध हो जानेसे वहाँपर स्थित निरोध और व्युत्थानादिकी लीलासे नहीं ठहर पाते ॥ १३ ॥

नाऽत्रोपादेयताज्ञानमेतन्मौनत्रये किल ।
लीलया कथितं तेन तज्ज्ञाः कुप्यन्तु वा न वा ॥ १४ ॥
इदं सुषुप्तमौनं तु जीवन्मुक्तमिति स्थितम् ।
अपुनर्जन्मनो जन्तोः शृणु श्रवणभूषणम् ॥ १५ ॥
नाऽत्र संयम्यते प्राणस्त्रिविधो नाऽपि योज्यते ।
नोल्लसन्ते न ग्लायन्ते समस्तेन्द्रियसंविदः ॥ १६ ॥
नानाताकलनेयं च न वल्गति न शाम्यति ।
चेतो न चेतो नाऽचेतो न सन्नाऽसन्न चेतरत् ॥ १७ ॥

अथवा पूर्णात्मस्थितिकी लीलासे पूर्वोक्त तीनों मौन बन्धनस्वरूप ही हैं, इसलिए इनका त्याग कर देना चाहिए—इस बुद्धिसे वे भले ही क्रुद्ध हों या वे पूर्वोक्त मौन चिदानन्दके विलास ही हैं, इस बुद्धिसे भले ही क्रुद्ध न हों; फिर भी उनमें यहां उपादेयताबुद्धि तो नहीं ही है ; यही मेरे कहनेका तात्पर्य है, यह कहते हैं—'नाऽत्र' इत्यादिसे ।

वहाँकी निरोध और व्युत्थानादिकी लीलासे या पूर्णात्मस्थितिकी लीलासे तीनों मौन बन्धनस्वरूप होनेके कारण त्याज्य हैं, यह जो मैंने कहा है, इससे भले ही तत्त्वस्वरूपका ज्ञान रखनेवाले लोग क्रुद्ध हों या न हों; लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि इन तीनों मौनोंमें उपादेयताबुद्धि बिलकुल नहीं है ॥ १४ ॥

और भद्र, यह सुषुप्तमौन तो जीवन्मुक्तोंके अनुभवपथमें स्थित है। इसमें स्थिति रखनेवाले जन्तुका पुनर्जन्म नहीं होता, इसलिए उसके श्रवणका यह भूषण है । अतः आप भी इसे सुनिये ॥ १५ ॥

तत्त्वसाक्षात्कारके सिद्ध हो जानेपर इसकी भी अनायास ही सिद्धि हो जाती है, अतः पूर्वोक्त मौनमें जो क्लेश होता है उसकी इसमें अपेक्षा नहीं है, यह कहते हैं—'नाऽत्र' इत्यादिसे ।

इस सुषुप्तमौनमें न तो तीन तरहके प्राणोंका संयमन (निरोध) किया जाता है और न संयोजन । इसमें सम्पूर्ण इन्द्रियसंवित्तियाँ न तो अपने विषयोंके लाभसे उत्पन्न हर्षसे उल्लसित होती हैं और न निरोधजन्य क्लेशसे ग्लानिको ही प्राप्त होती हैं ॥ १६ ॥

इस अवस्थामें यह अनेकताकी कल्पना न तो उत्थित होती है और न शान्त ही

अविभागमनभ्यासं यदनाद्यन्तमास्थितम् ।
ध्यायतोऽध्यायतश्चैतत् सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ १८ ॥
यथाभूतमिदं बुद्ध्वा जगन्नानात्वविभ्रमम् ।
यथास्थितमसन्देहं सौषुप्तं मौनमेव तत् ॥ १९ ॥
अनेकसंविद्रूपात्मशिवेनैवेदमाततम् ।
इत्यास्थितमनन्तं यत्सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ २० ॥
आकाशं नैव चाऽऽकाशं सर्वमस्ति च नाऽस्ति च ।
इति चित्तं समं शान्तं यत्तन्मौनं सुषुप्तवत् ॥ २१ ॥
सर्वशून्यं निरालम्बं शान्तिविज्ञप्तिमात्रकम् ।
न सन्नाऽसदिति यस्यामासितं मौनमुत्तमम् ॥ २२ ॥

होती है [ज्ञानसे बाधित चित्त कैसे अवस्थित रहता है, यह कहते हैं—'चेतो' से] चित्त ज्ञानसे बाधित होनेसे न चित्तरूप रहता है, न अचित्त रहता है तथा न सत्, न असत् और न अन्यस्वरूप ही रहता है ॥ १७ ॥

विभाग करनेवाले विकल्पके नाशसे विभागशून्य अतएव अभ्यासकी अपेक्षासे रहित, अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप होनेसे आदि और अन्तसे शून्य जो ध्यान कर रहे या न कर रहे पुरुषका अवस्थित रूप है, वही सुषुप्तमौन कहा जाता है ॥१८॥

संसाररूपी अनेक विभ्रमोंके अधिष्ठानभूत इस आत्मतत्त्वको यथार्थरूपसे जानकर सन्देहरहित जो रूप अवस्थित रहता है वही सुषुप्तमौन है ॥ १९ ॥

अनेक तरहके संविद्रूपोंका आत्मा जो शिव है उसीसे यह सारा जगत् परिपूर्ण है, इस तरहके ज्ञानसे युक्त जो अनन्त अवस्थान (स्थिति) है वह सुषुप्तमौन कहा जाता है ॥ २० ॥

यह सम्पूर्ण जगत् चिदाकाशका विवर्त होनेसे आकाशरूप, मूर्तिमान् होनेसे आकाशस्वरूपसे भिन्न, अधिष्ठानसत्ताकी सद्रूपसे प्रतीति होनेसे अस्तित्वसे युक्त तथा कल्पित होनेसे नास्तित्वसे युक्त है यानी यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानरूपसे सत् और कल्पित होनेसे असत् है । यों ब्रह्मसे अलग जगत्‌की सत्ता नहीं है, यह निश्चय करके जो एकाकार, निर्विकार चित्त अवस्थित रहता है वह सुषुप्तके तुल्य मौन कहा गया है ॥ २१ ॥

सर्वशून्य, आलम्बनरहित, शान्तिस्वरूप, विज्ञानमात्र तथा जीवन्मुक्तदशामें

भावाभावदशादेशविशेषैर्विततोत्थितैः ।
संविदो यदनाभासस्तन्मौनं परमं विदुः ॥ २३ ॥
अत्यन्तमसतैवाऽन्तश्चेतसाऽवृत्तिरूपिणा ।
यदनावर्तनं संविद्वृत्तेस्तन्मौनमक्षयम् ॥ २४ ॥
नाऽहमस्मि न चाऽन्योऽस्ति न मनो न च मानसम् ।
इति संविदसंविन्निरविच्छिन्नाऽतिमौनिता ॥ २५ ॥
अहमस्मि जगत्यस्मिन् स्वस्ति शब्दार्थमात्रकम् ।
सत्तासामान्यमेवेति सौषुप्तं मौनमुच्यते ॥ २६ ॥
यस्मात् संविदमेव स्यात् स्वान्यादिकलना कुतः ।
अनन्तमेव सौषुप्तं सर्वं मौनमतस्ततम् ॥ २७ ॥
सुषुप्तमौनमेवेदमनन्तत्वात् प्रबोधवत् ।
तुर्यमेवाऽमलं विद्धि तुर्यातीतमथाऽपि च ॥ २८ ॥

जो न सद्रूप और न असद्रूप अवस्थान (स्थिति) है वह उत्तममौन कहा गया है ॥ २२ ॥

विततरूप अज्ञानसे उत्पन्न भावाभावस्वरूप दशा तथा देशविशेषोंसे जो संवित्‌का अविवर्त है, उसे परममौन कहते हैं २३ ॥

बाधित होनेके कारण अत्यन्त असत् तथा बाह्याकार वृत्तिसे शून्य चित्तसे जो संविद्वृत्तिका भीतर अनावर्तन (अपरिवर्तन) है उसे अक्षयमौन कहते हैं ॥ २४ ॥

जिस दशामें 'न मैं हूँ, न अन्य है, न मन है और न मनका विकल्प है'—इस तरहके तत्त्वज्ञानसे बाधित चित्तका जो संवित्‌से अविच्छिन्न (निरन्तर—लगातार) अप्रतिभास है उसे अतिमौनिता यानी उत्तममौनिता कहते हैं ॥ २५ ॥

और इस जगत्‌में अनामय, शब्दार्थमात्र यानी सर्वात्मक तथा सत्तासामान्यस्वरूप मैं ही हूँ—इसतरहकी ज्ञानस्थितिको सौषुप्त मौन कहते हैं ॥ २६ ॥

चूँकि यह आत्मसंवित् अमा यानी सर्वबाधक स्वाकार चरमवृत्तिका भी ग्रास कर लेती है, इसलिए इसमें अपनी, दूसरेकी या भेदकी कल्पना ही कहां ? अतः सब कुछ व्याप्त अनन्त सौषुप्त मौन ही है ॥ २७ ॥

भद्र, प्रबोधयुक्त इस सुषुप्त मौनको ही अनन्त होनेसे निर्मल तुर्य पद या तुर्यातीत पद समझ लीजिये ॥ २८ ॥

सौषुप्तैकसमाधानस्तथा तुर्यसमाधिकः ।
तुर्यातीतसमाधिर्वा जाग्रत्यपि भवन्ति वै ॥ २९ ॥
तुर्यस्थ एव सकलामलशान्तिवृत्ति-
जाग्रत्यपि व्यवहरन्निपुणं समन्तात् ।
नित्यं सदेह उत वाऽपि विदेह एव
ब्रह्मनभो भवत एव किलाऽस्ति साधो ॥ ३० ॥

पूर्वमें जो सात प्रकारकी ज्ञानभूमिकाएँ कही जा चुकी हैं उनमें समाधि-भेदस्वरूप जो अन्तिम तीन भूमिकाएँ हैं वे जाग्रत् और स्वप्नावस्था में स्थित भी तत्त्वज्ञानियोंको क्रमशः हुआ करती हैं, यह कहते हैं—'सौषुप्तैक०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, सौषुप्तैकसमाधि, तुरीयसमाधि या तुर्यातीत समाधि—ये तीनों ही क्रमशः जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें स्थित भी तत्त्वज्ञानीको हुआ करती हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मभूत हे साधो श्रीरामभद्र, जाग्रदवस्थामें चारों ओर भलीभाँति व्यवहार कर रहा अथवा सब व्यवहारोंको छोड़ करके समाधिमें स्थित हो रहा देहयुक्त भी जीवन्मुक्त सम्पूर्ण निर्मल शान्तिवृत्तिसे युक्त तुरीयावस्थामें* ही स्थित एवं विदेहस्वरूप ही है । हे श्रीरामजी, यह स्थिति उसीकी है जो स्थूल और सूक्ष्म आकारोंके बाधसे निर्मल आकाशस्वरूप होकर स्थित हो गया है अथवा हे श्रीरामजी, यह स्थिति आपकी ही है, क्योंकि आप निर्मल आकाशस्वरूपसे स्थित हो चुके हैं ॥ ३० ॥

---

* यह तुरीयावस्था उपनिषद्में इस प्रकार वर्णित है—'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः' अर्थात् तुरीय उस पदका नाम है जो स्वप्नावस्थामें मनोविरचित विषयज्ञानसे शून्य है, जागरित अवस्थामें इन्द्रियजन्य विषयज्ञानशून्य है, जाग्रत् और स्वप्नकी सन्धिमें बोधरहित है, सुषुप्तावस्थामें होनेवाले जाग्रत् और स्वप्नके ज्ञानोंके घनीभावसे शून्य है, युगपत् सर्व विषयोंके ज्ञातृत्वसे शून्य है, ज्ञाना-भावरूप नहीं है, ज्ञानेन्द्रियका अविषय है, अर्थक्रियारहित है, कर्मेन्द्रियका अगम्य है, अननुमेय है, अन्तःकरणवृत्तिका अविषय है, शब्दशक्तिका अविषय है, जिसमें जाग्रदादि अवस्थाओंमें एक आत्मा ही है, इस प्रकारका ज्ञान ही प्रमाण है, जहाँ प्रपञ्चका अभाव विद्यमान है, जो विक्रियारहित है, आनन्दस्वरूप है, भेदशून्य है, स्वयं संख्याशून्य होता हुआ भी विश्वतैजस-प्राज्ञरूप तीन पादोंकी अपेक्षा चौथे रूपसे शास्त्रवेत्ताओंके द्वारा कल्पित है । 'मैं' इस प्रतीतिका विषय वह आत्मा मुमुक्षुजनोंको साक्षात् करने योग्य है ।

ओमित्युदस्तभवभावनमेकमास्व
न त्वं न चाऽहमपि नाऽन्यदिहाऽस्ति सत्यम् ।
सर्वं च विद्यत इतीह किलाऽऽन्तराभं
ज्ञस्तिष्ठ चिद्गगनकोशकलैकनिष्ठः ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे महामौनयत्नोपदेशो नामाऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

कुतः शतत्वमायातं रुद्राणां मुनिनायक ।
ये गणास्ते तु ये रुद्रा उत नेति वदाऽऽशु मे ॥ १ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, 'ॐ' इत्यादि माण्डूक्योपनिषद्में कही गई रीतिसे विराट् आदि पादमात्राओंके प्रविलापन द्वारा सांसारिक वासनाओंका उच्छेद कर आप एक तुरीयपदरूप हो जाइये। इस संसारमें न आप, न मैं और न कोई दूसरी वस्तु ही सत्य है। इस संसारमें सब कुछ विद्यमान है, यह जो प्रसिद्धि हो चुकी है इसे नाडीके भीतर अनुभूयमान स्वप्नकी नाईं मिथ्या समझ कर जीवन्मुक्त होते हुए आप चिदाकाशकोशकी कलामें स्थित हो जाइये ॥ ३१ ॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

[गणोंकी रुद्ररूपता, मुक्त लोगोंकी स्थिति, योगसे प्राणोंका विलय तथा मरणसे पुनः उत्पत्ति—इन सबका वर्णन]

'प्राप्य तां ब्रह्महंसेहां रुद्रतां सर्व एव ते। समाजग्मुर्विरेजुश्च रुद्राणामुत्तमं शतम् ॥' इस श्लोकसे सौ रुद्रोंकी उत्तम रुद्रता कही जा चुकी है। उसके बादके सर्गमें भगवान् आदि रुद्रकी आज्ञासे तत्-तत् देहोंमें प्रारब्धशेषका उपभोग कर रहे रुद्रोंके विषयमें 'तत्र भुक्त्वा चिरं भोगान् प्राप्य रुद्रपदं ततः। गणतामा-वसन्तस्ते स्थास्यन्ति सपरिच्छदाः ॥' इत्यादि जो कहा गया है, उसमें क्या सौ रुद्रोंकी मूर्तियोंमें गणत्व था या एक ही रुद्रकी मूर्ति थी ? यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'कुतः' इत्यादिसे।

वसिष्ठ उवाच

स्वप्नानां भिक्षुणा दृष्टं शतं शतशरीरकम् ।
सर्वमुद्देशतो ज्ञातं तत उक्तं न तन्मया ॥ २ ॥
य आकाराश्च ते स्वप्ने तच्चद्गणशतं स्मृतम् ।
तदेतद्रुद्रशतकं रुद्रा अपि गणा विधौ ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

एकस्माद्भगवंश्चित्तात् कथं चित्तशतं कृतम् ।
तत्स्वप्नकृतरुद्रेण दीपाद्दीपशतं यथा ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, आपने पहले कहा था कि वे भिक्षुके सङ्कल्पस्वरूप जीवट आदि सौ रुद्र हो गये, सो उनमें शतरुद्रता कैसे आई ? यानी वे सौ रुद्र कैसे हुए ? क्या गणोंके साथ परिगणन करनेसे या उन गणोंसे अतिरिक्त रुद्रोंकी गणना करनेसे ? जो आपके द्वारा गण कहे गये थे क्या वे ही रुद्र भी कहे गये थे या नहीं ? यह आप शीघ्र मुझसे कहिये ॥१॥

इसमें प्रथम विकल्पका अवलम्बन कर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'स्वप्नानाम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, भिक्षुने शतशरीररूप सौ स्वप्न देखे थे, उन्हें आपने मेरे द्वारा पहले कहे गये तत्-तत् जन्मादिके प्रस्तावसे जान ही लिया था; इसीलिए मैंने नामतः विशेषरूपसे नहीं कहा ॥ २ ॥

भिक्षुके स्वप्नमें जो जीवटादि आकार देखे गये थे वे ही शत गण कहे गये हैं । वे ही भोग और ऐश्वर्यके द्वारा रुद्रतुल्य होने तथा रुद्रके अंशस्वरूप होनेसे रुद्र कहे गये हैं । [रुद्रकी सेवा करनेवाले पार्षद गण कहे जाते हैं, तब वे मुख्य-रुद्र गण कैसे हुए ? क्योंकि स्वामिभाव और भृत्यभाव—इन दोनोंका एकत्र रहना सर्वथा असम्भव है । किञ्च, यह निश्चित है कि शततमरुद्रके मुख्य होनेके कारण वह तो गण हो नहीं सकता, फिर सौ गण हुए, यह कहना भी ठीक नहीं बनता, यदि ऐसी कोई शङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'रुद्रा अपि' से] सौ रुद्र होते हुए भी सबके सब पूर्वसिद्ध ईश्वरकोटिभूत रुद्रकी परिचर्या-विधिमें गण ही हैं, क्योंकि उनकी कर्मफलस्वरूप भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्ति उसीके अधीन है ॥ ३ ॥

'बोधयित्वा तु तं भिक्षुं चेतसा चेतनेन च' इत्यादिसे भिक्षुके स्वप्नकृत शततम

वसिष्ठ उवाच

निरावरणसद्भावा यद्यथा कल्पयन्ति हि ।
तत्तथाऽनुभवन्त्येव स्वावरणसंविदः ॥ ५ ॥
सर्वात्मनः सर्वगत्वाद्यद्यथा यत्र भाव्यते ।
तथाऽनुभूयते तत्र तत्तथा ज्ञतया धिया ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

कपालमालाभरणो भस्मशाली दिगम्बरः ।
श्मशाननिलयो ब्रह्मन् कामुकश्च किमीश्वरः ॥ ७ ॥

रुद्र द्वारा अपने चित्तसे चैतन्यप्रदान होनेसे भिक्षु आदिका जो बोधन पहले कहा गया है उसका, और कहीं दूसरी जगह दर्शन न हो सकनेसे, असम्भावन कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'एकस्मात्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, भिक्षुके स्वप्नकृत रुद्रने एक ही दीपसे सौ दीपकी नाईं एक चित्तसे सौ चित्त कैसे कर दिये ? ॥ ४ ॥

अज्ञानियोंमें उसका दर्शन न होनेपर भी मुक्तोंमें उसकी असम्भावना करना युक्त नहीं है, यों खण्डन करते हैं—'निरावरण०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानैश्वर्यसे आवरणशून्य तथा योगरूप ऐश्वर्यसे सत्यसङ्कल्पवाले महानुभाव जो कुछ जिस प्रकारसे सङ्कल्प करते हैं उसका वैसा ही—सङ्कल्पित अर्थके लाभके लिए भूमानन्दको स्वीकार करनेवाली सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वनामक मायाप्रतिबिम्बित संवित्तिके बलसे—अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥

सर्वात्मस्वरूपताके बलसे भी उन्हें सर्वविध अर्थोंकी सिद्धि होती है, यह कहते हैं—'सर्वात्मनः' इत्यादिसे ।

सर्वात्मस्वरूप आत्माके सर्वगामी होनेसे जिस वस्तुकी जहाँ-कहीं जैसे भावना की जाती है, उसकी वहींपर वैसे ही जीवन्मुक्ततावुद्धिसे अनुभव किया जाता है ॥ ६ ॥

इस तरहके ऐश्वर्यके रहते हरि, हर आदि मनुष्ययोनियोंमें अवतार तथा श्मशानमें निवास आदिका कष्ट क्यों करते हैं ? अपने लिए सर्वदा सुखकी ही कल्पना क्यों नहीं करते ? इस अभिप्रायसे श्रीरामजी पूछते हैं—'कपाल०' इत्यादिसे ।

वसिष्ठ उवाच

महेश्वराणां सिद्धानां जीवन्मुक्तशरीरिणाम् ।
न क्रियानियमोऽस्तीह स ह्यज्ञस्यैव कल्पितः ॥ ८ ॥
अज्ञस्तु दितचित्तत्वात् क्रियानियमनं विना ।
गच्छन्न्यायेन मात्स्येन परं दुःखं प्रयाति हि ॥ ९ ॥
सुज्ञास्त्विष्टेष्वनिष्टेषु न निमज्जन्ति वस्तुषु ।
यतेन्द्रियत्वाद्बुद्धत्वान्निर्वासनतया तथा ॥ १० ॥
काकतालीयवद्रूढां क्रियां कुर्वन्ति ते सदा ।
न कुर्वन्त्यपि वै किञ्चिदेषां क्वचिदपि ग्रहः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, सर्वविध शक्तियोंसे सम्पन्न होते हुए भी भगवान् शङ्करजी भस्मशाली, कपालमालाभूषणसे युक्त, दिगम्बर, श्मशानवासी तथा महाकामी क्यों बने हुए रहते हैं? अपने लिए शुभदायक सुन्दर कल्पना क्यों नहीं करते ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, महेश्वर, सिद्ध तथा जीवन्मुक्त शरीरियोंके लिए इस संसारमें क्रियाविषयक कोई नियम नहीं बना हुआ है यानी शास्त्रीय, मङ्गलात्मक तथा सुखभोग फलवाली क्रियाएँ ही करनी चाहिएँ, अन्य नहीं, ऐसा कोई नियम उनके लिए नहीं बना हुआ है, क्योंकि वे लोग विधिवाक्योंके दास नहीं हैं यानी विधि-निषेधवाक्योंसे वे परे हैं। वह क्रियाविषयक नियम तो अज्ञ जनोंके लिए ही कल्पित हुआ है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रसिद्ध मङ्गलस्वरूप जो क्रियाएँ हैं, वे ही तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें अत्यन्त अमङ्गलरूप हैं, क्योंकि अशुभ कर्मोंके अभावसे दुःखकी सामग्रीके रहते भी दुःखदायक भोगोंकी उत्पत्ति नहीं होती और उनकी दृष्टिमें सभी पदार्थ सुखरूप ही मालूम पड़ते हैं ॥ ८ ॥

राग, द्वेष, लोभ आदि हजारों दोषोंसे चित्तके खण्डित हो जनेके कारण अज्ञानी पुरुष क्रियाके नियमनके बिना मात्स्यन्यायसे जन्मपरम्पराजनित नरक आदि नानाविध दुःख प्राप्त करता है, यह शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है ॥ ९ ॥

और आत्मज्ञानी पुरुष तो जितेन्द्रिय, ज्ञानी तथा वासनारहित होनेके कारण इष्टानिष्ट वस्तुओंमें कभी नहीं डूबता यानी न तो वह कभी अभिलषित वस्तुओंमें निमग्न होता है और न अनभिलषित वस्तुओंसे उद्विग्न होता है ॥ १० ॥

वे ज्ञानी लोग सदा काकतालीयन्यायसे अकस्मात् प्रादुर्भूत हुई क्रिया

काकतालीयतो विष्णुरेवंकर्मोदितः पुरा ।
एवंकर्मा त्रिनयन एवंकर्माऽम्बुजोद्भवः ॥ १२ ॥
न निन्द्यमस्ति नाऽनिन्द्यं नोपादेयं न हेयता ।
न चाऽऽत्मीयं न च परं कर्म ज्ञविषयं क्वचित् ॥ १३ ॥
अग्न्यादीनां यथौष्ण्यादि सर्गादौ रूढिमागतम् ।
हरादीनां तथा कर्म द्विजातीनां च जातयः ॥ १४ ॥
सर्गे प्ररूढिमायाते सङ्केतवशतः पृथक् ।
अनुभूतिफलाश्चर्याः कल्पिताः कल्पिताः स्वयम् ॥ १५ ॥

करते और नहीं भी करते हैं, क्योंकि इन लोगोंको किसीमें भी आग्रह नहीं होता ॥ ११ ॥

काकतालीयन्यायसे ही भगवान् विष्णुने पूर्वमें मनुष्यादिजन्मोचित कर्मका सम्पादन किया । ऐसे ही भगवान् शङ्कर और ब्रह्माने भी किया ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई कर्म न निन्द्य है, न अनिन्द्य है और न उपादेय है । किसी कर्ममें हेयता नहीं है । ऐसा कोई भी कर्म न आत्मीय है और न परकीय, जो सिद्ध पुरुषोंका विषय हो यानी जो सिद्ध महात्माओंको फँसावे ॥ १३ ॥

तो भला बतलाइये तो सही, भगवान् शङ्करके लिए प्रसिद्ध उनके चरित्रके अनुकूल वेष तथा क्रिया का नियम कैसे बना है अथवा विष्णुभगवान्के लिए ही उनके चरित्रके अनुकूल वेष और क्रियाका नियम कैसे बना है या आप-जैसे महानुभावोंके लिए उत्तम व्रतचर्याका नियम कैसे बना है ? क्योंकि काकतालीय-न्यायसे उनका निर्माण बिलकुल असम्भव है, ऐसी आशङ्का करते हैं—'**अग्न्यादीनाम्**' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे सृष्टिके आदिमें अग्नि आदिके उष्णता आदि प्रसिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं वैसे ही भगवान् शङ्कर आदिके कर्म तथा द्विजातियोंके भी तत्-तत् जातिके योग्य कर्मोंके विधान दृढ़ताको प्राप्त हो चुके हैं । तात्पर्य यह है कि मुख्य ईश्वरकी इच्छास्वरूप अनादि नियति ही कर्मोंकी व्यवस्थापिका है ॥ १४ ॥

लेकिन अज्ञानी लोगोंकी दिनचर्याएँ अग्नि आदि क्रियाओंकी नाईं सृष्टिके आदिमें अभिव्यक्त होती हुई भी नियत नहीं हैं । वे सृष्टिके प्रौढ़ होनेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तत्-तत् वर्णविभागोंके संकेतके वशसे अलग-अलग ऐहिक और

विदेहमुक्तविषयं तुर्यमौनमतो मया ।
नोक्तं तव परं मौनं सदेहस्य रघूद्वह ॥ १६ ॥
खादप्यतितरामच्छमात्माकाशं चिदात्मकम् ।
तत्प्राप्तिः परं श्रेयः सा कथं प्राप्यते शृणु ॥ १७ ॥
सम्यग्ज्ञानावबोधेन नित्यमेकसमाधिना ।
संख्ययैवाऽवबुद्धा ये ते स्मृताः सांख्ययोगिनः ॥१८॥
प्राणाद्यनिलसंशान्तौ युक्त्या ये पदमागताः ।
अनामयमनाद्यन्तं ते स्मृता योगयोगिनः ॥ १९ ॥

पारलौकिक सुख-दुःखादिकी अनुभूतिस्वरूप फल देनेवाली हैं । जिनमें कुछ तो शास्त्रीय हैं और कुछ स्वाभाविक हैं, जो कि राग-द्वेष आदिके कारण स्वयं प्राणियों द्वारा कल्पित हुई हैं । बस, यही दोनोंमें वैषम्य है ॥ १५ ॥

इस तरह प्रश्नका समाधान देकर प्रस्तुत मौनके विषयमें अवशिष्ट वक्तव्य दिखलाते हैं—'विदेह०' इत्यादिसे ।

हे रघूद्वह, प्रसिद्ध चार प्रकारके मौनोंसे परे जो तुर्य मौन है, वह विदेह-मुक्तोंका विषय है और आप हैं सदेह, इसलिए आपसे वह मैंने नहीं कहा । अब कहता हूँ, सुनिये ॥ १६ ॥

भद्र, आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ चित्स्वरूप आत्माकाश है और उस आत्माकाशभावकी प्राप्ति ही परम श्रेय (मोक्ष) है । वह कैसे प्राप्त की जाती है, [यह मैं बतलाता हूँ, आप] सुनिये ॥ १७ ॥

सांख्य और योग उसकी प्राप्तिमें उपाय हैं, यह आगे चलकर कहनेकी अभिलाषासे महाराज वसिष्ठजी सांख्ययोगियोंका लक्षण बतलाते हैं—'सम्यग्-ज्ञाना०' इत्यादिसे ।

भलीभाँति ज्ञानके अवबोध और नित्य एक समाधिसे जो विवेकविचार-प्रयुक्त राजयोगके द्वारा प्रबुद्ध (ज्ञानी) हुए हैं वे सांख्ययोगी कहे गये हैं ॥ १८ ॥

कर्मयोगियोंका लक्षण कहते हैं—'प्राणा०' इत्यादिसे ।

जो प्राणादि वायुके शान्त हो जानेपर पूर्ववर्णित हठयोगसे अनामय, आदि-अन्तसे रहित परमपदको प्राप्त हो गये हैं वे योगयोगी कहे गये हैं ॥ १९ ॥

उपादेयं तु सर्वेषां शान्तं पदमकृत्रिमम् ।
तत्केचित्संख्यया प्राप्ताः केचिद्योगेन देहतः ॥ २० ॥
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं परं योगैस्तदेव हि ॥ २१ ॥
यत्र प्राणमनोवृत्तिरत्यन्तं नोपलभ्यते ।
वासनावागुरोत्क्रान्ता तद्विद्धि परमं पदम् ॥ २२ ॥
वासनां चित्तमेवाऽऽहुः कारणं तद्धि संसृतेः ।
तदकारणतामेति विलीयोभयकर्मसु ॥ २३ ॥

वह शान्त, अकृत्रिम पद दोनों तरहके भी योगियोंके लिए उपादेय है यानी फलीभूततत्त्वसाक्षात्कारसे प्राप्तव्य है। कुछ लोग उस पदको राजयोग द्वारा प्राप्त हो चुके हैं और कुछ लोग इसी देहसे हठयोगके द्वारा प्राप्त हो चुके हैं ॥ २० ॥

भद्र, जो सांख्य और योगको एक देखता है, वही देखता है यानी जो सांख्य और योगको एक समझता है वस्तुतः वही विद्वान् है, क्योंकि जो उत्कृष्ट स्थान सांख्योंसे प्राप्त किया जाता है वही योगोंसे भी प्राप्त किया जाता है ॥२१॥

विभिन्न रूपवाले उन दोनोंका भला एक फल कैसे हो सकता है, यदि ऐसी शङ्का हो, तो उसपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे।

जहाँ प्राण और मनकी वृत्ति बिलकुल उपलब्ध नहीं होती और जो वासना-रूपी जालसे निर्मुक्त हो गई है वही स्थिति परमपद है, तात्पर्य यह है कि प्राण और मन इन दोनोंकी भी वृत्तियोंके आत्यन्तिक विलयसे उपलक्षित होनेके कारण उभय-वासनारूपी जालसे जो स्थिति छुटकारा पा चुकी है वही परमपद है, हे श्रीरामजी, यह आप जान लीजिये ॥ २२ ॥

यदि उनका फल एक ही है, तो ओदनकी सिद्धिमें आग और जलके समुच्चयके सदृश सांख्य और योगका समुच्चय मानना ही युक्त है, विकल्प मानना युक्त नहीं है; यदि ऐसी कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'वासनाम्' इत्यादिसे।

बाहरकी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राण आदिकी चेष्टाएँ ही संसार है, उसका वासनापुञ्जस्वरूप मन ही कारण कहा गया है। वह मन सांख्य या योग दोनोंमें किसी एक से विलीन होकर तत्त्वज्ञानरूपसे परिणत हो करके इन्द्रिय और प्राण

मनः पश्यति वै देहं बालो वेतालकं यथा ।
स्वात्मानं विलयं नीत्वा न भूयस्तं प्रपश्यति ॥ २४ ॥
मनो मृषैवाऽभ्युदितमसदेवाऽनवेक्षणात् ।
स्वप्ने स्वमरणाकारं प्रेक्ष्यमाणं न विद्यते ॥ २५ ॥
मनोभवस्तु संसारः क्व ममाऽहं क्व संसृतिः ।
उपदेश्योपदेशादि बन्धमोक्षौ च तत्कृतः ॥ २६ ॥
एकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा ।
मनोविनिग्रहश्चेति मोक्षशब्दार्थसङ्ग्रहः ॥ २७ ॥

दोनोंके व्यापारोंमें अकारण बन जाता है । इस तरह एक-एकसे दोनोंके फलकी सिद्धि हो जाती है; अतः सांख्य और योग—इन दोनोंका समुच्चय नहीं है, किन्तु विकल्प ही है, यह भाव है ॥ २३ ॥

देहमें अहन्तादर्शनपूर्वक ही सब संसृतियाँ उत्पन्न होती हैं और अहन्ता-दर्शनमें मन कारण है । मनकी शान्ति हो जानेपर सब तरहकी संसृतियोंकी शान्ति हो जाती है, यह कहते हैं—'मनः' इत्यादिसे ।

मन देहको उस तरह देखता है जिस तरह बालक वेतालको । स्वात्माको विनष्ट करके तो मन फिर उसे नहीं देखता ॥ २४ ॥

तब आत्मदर्शनसे मनका नाश कैसे होता है, यदि ऐसी कोई शङ्का करे तो इस पर 'आत्माके अदर्शनसे जन्य होनेके कारण' यह कहते हैं—'मनो' इत्यादिसे ।

आत्मदर्शनके अभावसे असद्रूप ही मन मिथ्या ही उदित होता है । स्वप्नमें अपने मरणके सदृश दिखाई देता भी यह विद्यमान नहीं है ॥ २५ ॥

ज्ञानसे मनका नाश होनेपर उसके कार्य अहन्ता, ममता आदि बन्धनसे लेकर मोक्षपर्यन्त सब कल्पनाएँ बाधित हो जाती हैं, यह कहते हैं—'मनोभव०' इत्यादिसे ।

यह संसार मनसे उत्पन्न हुआ है । ज्ञानसे मनका नाश हो जानेपर उसके कार्य ममता, अहन्ता, संसृति, उपदेश्य, उपदेशादि, बन्ध और मोक्ष कहाँ किससे उत्पन्न हो सकते हैं ॥ २६ ॥

अब उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारियोंके भेदसे तीन मोक्षके साधन हैं, यह शास्त्रार्थोंके तात्पर्यसङ्ग्रह द्वारा दिखलाते हैं—'एक०' इत्यादिसे ।

श्रीराम उवाच

यदि हि प्राणविलयो मुने मोक्षस्य कारणम् ।
मृता एव विमुच्यन्ते तन्मन्ये सर्वजन्तवः ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनः प्रशमनं वरम् ।
साध्यं विद्धि तदेवाऽऽशु यथा भवति तच्छिवम् ॥ २९ ॥
यदा निर्वाणनं प्राणास्त्यजन्तीदं शरीरकम् ।
तदाऽनुभूय तन्मात्रैर्यान्ति व्योमनि सङ्गमम् ॥ ३० ॥

एक तत्त्वका (परब्रह्मका) दृढ अभ्यास, प्राणोंका विलय तथा मनका विनिग्रह—यही मोक्षशब्दके अर्थका संग्रह है यानी ये ही तीन मोक्षके साधन हैं, यह सब शास्त्रोंका निचोड़ है ॥ २७ ॥

इन तीनोंमें मध्यमके ऊपर श्रीरामचन्द्रजी आक्षेप करते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, यदि मोक्षका कारण प्राणका नाश ही है तब तो मैं समझता हूँ कि मरे हुए सभी प्राणी मुक्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

उक्त तीनों भी उपाय मनके विनाश द्वारा ही मोक्षके कारण होते हैं, मरणमें मनोनाश या प्राणनाश नहीं होता, किन्तु वहाँपर मूर्च्छाकालमें, विलीन सैन्धवकी नाईं, अविद्यामें वासनारूपसे उनकी स्थिति रहती है और उत्क्रमणकालमें फिर उनका आविर्भाव हो जाता है । एवं 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' इस श्रुतिसे तथा तृणजलायुकाका दृष्टान्त होनेसे विलीन प्राण चक्षु आदि द्वारोंसे निकल नहीं सकते । यदि शङ्का हो कि स्थूल देहरूप आश्रय न होनेके कारण बाहरमें निकले हुये प्राणोंका विलय हो जायगा तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि बाह्याकाशमें साथ-साथ निकली हुई भूतमात्राओंसे तात्कालिक व्यवहारयोग्य देहकी कल्पना हो सकती है, इस आशयसे वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'त्रिष्वेतेषु' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इन तीनों उपायोंमें मनोविनाश ही मुख्य साध्य है । मनोविनाश जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शीघ्र कल्याण होगा, यह आप जान लीजिये ॥ २९ ॥

प्राण जब घर-घर आदि शब्दोंसे शून्य इस शरीरका परित्याग करते हैं तब

वासनासात्मकान्येव विद्धि तन्मात्रकाणि वै ।
तदात्मकैर्मनोवद्भिः प्राणैः श्लिष्यन्ति नेतरैः ॥ ३१ ॥
सवासनास्तूत्पद्यन्ते प्राणा मुञ्चन्ति देहकम् ।
तद्व्योमवायुसंश्लेषं यान्ति दुःखाय गन्धवत् ॥ ३२ ॥
मनः साम्बुरिवाऽम्भोधौ न शाम्यति सवासनम् ।
नाऽमनस्काः सम्भवन्ति प्राणाः सूर्य इव त्विषः ॥ ३३ ॥

वासना एवं कर्मसे होनेवाले भावी देहस्वरूपका अनुभवकर बाह्याकाशमें उसी देहके उत्पादनमें समर्थ भूतमात्राओंसे वे सम्बन्ध करते हैं* ॥ ३० ॥

तब वे भूतमात्राएँ बाहरके अन्यजीवोंके प्राणोंके साथ सम्बद्ध क्यों नहीं होतीं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'वासना०'इत्यादिसे

तत्-तत् जीववासनामात्रस्वरूप वे भूतमात्राएँ हैं । अतः उक्त वासनावाले मनोविशिष्ट प्राणोंसे ही वे सम्बद्ध होती हैं, दूसरोंसे नहीं, अतः उक्त शङ्काका प्रकृतमें कुछ भी अवसर नहीं है ॥ ३१ ॥

दूसरे शरीरमें जो प्राण उत्पन्न होते हैं, वे पूर्व शरीरकी वासनाओंसे युक्त होकर ही उत्पन्न होते हैं । और पूर्व देहका जो परित्याग करते हैं, वे भी भावी देहकी वासनाओंसे युक्त होकर ही परित्याग करते हैं । देहान्तरमें उसके हृदयाकाश और उसके अन्तर्गत वायुओंसे उस प्रकार श्लिष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्पोंकी गन्ध तिलमें प्रविष्ट होकर तेलके साथ श्लिष्ट हो जाती है । इसी प्रकार यन्त्रनिष्पीडन दुःखकी नाईं केवल दुःख ही है ॥ ३२ ॥

इसलिए केवल मरणसे न मनोनाश होता है अथवा न प्राणनाश ही होता है, यह कहते, हैं—'मनः' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार समुद्रमें डूबा हुआ जलयुक्त घट जनोंद्वारा न देखा गया भी नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार वासनायुक्त मन कभी भी नष्ट नहीं होता । जिस प्रकार सूर्य किरणोंके बिना नहीं रहता, उसी प्रकार प्राण मनके विना कभी उत्पन्न नहीं होते ॥ ३३ ॥

---

*इस विषयमें श्रुति प्रमाण भी है—'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' 'तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते'

न जहाति मनः प्राणान् विना ज्ञानेन कर्हिचित् ।
तृणान्तरेणैव विना तृणाङ्गमिव तित्तिरिः ॥ ३४ ॥
ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
प्राणात्स्पन्दं च नाऽऽदत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ॥३५॥
ज्ञानात् सर्वपदार्थानामसत्त्वं प्रागुदेत्यलम् ।
ततोऽङ्ग वासनानाशाद्वियोगः प्राणचेतसोः ॥ ३६ ॥
ततो न पश्यति मनः प्रशान्तं देहतां पुनः ।
स्वनाशेन पदं प्राप्तं वासनैव मनो विदुः ॥ ३७ ॥
चेतो हि वासनामात्रं तदभावे परं पदम् ।
तत्त्वं सम्पद्यते ज्ञानं ज्ञानमाहुर्विचारणम् ॥ ३८ ॥
इत्यस्याः संसृते राम पर्यन्तः सम्प्रवर्तते ।
स्वयं विवेकमात्रेण रज्जुसर्पभ्रमाकृतेः ॥ ३९ ॥

ज्ञानके बिना उस प्रकार मन प्राणोंको कभी नहीं छोड़ता, जिस प्रकार तित्तिर पक्षी तृणके बिना पहले तृणके अङ्गको नहीं छोड़ता ॥ ३४ ॥

तत्त्वज्ञानसे अवासनीभावरूप (वासनारहित हो जानारूप) अपने नाशको मन प्राप्त करता है और प्राणसे स्पन्दको प्राप्त नहीं करता । परिशेषमें शान्ति ही अवशिष्ट रहती है ॥ ३५ ॥

ज्ञानसे वासनाका नाश कैसे होता है, इस शङ्कापर 'उसके हेतुभूत द्वैतके बाधसे, यह उत्तर देते हैं—'**ज्ञानात्**' इत्यादिसे ।

ज्ञानसे सभी पदार्थोंमें असत्यत्व भलीभाँति पहले सिद्ध हो जाता है और तदनन्तर हे भद्र, वासनाके विनाशसे प्राण और चित्तका विनाश हो जाता है ॥३६॥

अनन्तर प्रशान्त मन फिर देहरूपता नहीं देखता, अपने (मनके) विनाशसे ही पूर्ण पद प्राप्त हो जता है, अतः मुनिगण वासनाको ही मन जानते हैं ॥ ३७ ॥

यतः चित्तका स्वरूप केवल वासना ही है, अतः [तत्त्वज्ञानसे] चित्तका बाध हो जानेपर उत्तम स्थिति प्राप्त हो जाती है । तत्त्वज्ञान भी वासनाके साथ-साथ सभी पदार्थोंका बाध करके आत्मतत्त्वरूप बन जाता है और आत्मतत्त्व भी अविचल ज्ञानरूप ही है, यह अनुभवी विद्वानोंका मत है ॥ ३८ ॥

हे रामभद्र, इन सब बातोंसे निचोड़ यह निकला कि रज्जुमें सर्पभ्रमके सदृश

एकार्थाभ्यसनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ।
एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिद्ध्यन्ति परम्परम् ॥ ४० ॥
तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथाऽनिलः ।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ॥ ४१ ॥
प्राणः शरीरविलये प्रयाति व्योमवायुताम् ।
यथावासितमेवेदं सर्वं पश्यति तत्र वा ॥ ४२ ॥
यथा विदेहाः पश्यन्ति प्राणा व्योमनि देहकम् ।
समनस्कास्तथाचारं सर्वं चाऽनुभवन्ति ते ॥ ४३ ॥
शान्ते वातपरिस्पन्दे यथा गन्धः प्रशाम्यति ।
तथा शान्ते मनःस्पन्दे शाम्यन्ति प्राणवायवः ॥ ४४ ॥

मिथ्यारूप इस संसारका स्वयं ही विवेकज्ञानमात्रसे अच्छी तरह विनाश हो जाता है ॥ ३९ ॥

अब प्रस्तुत विषयका अवलम्बन करते हैं—'एकार्थो०' इत्यादिसे

भद्र, श्रवण आदिसे अद्वय तत्त्वका अभ्यास, प्राणनिरोध और मनोविनाश—ये जो तीन उपाय हैं, इनमेंसे किसी एककी ही सिद्धि हो जानेपर एक दूसरे सिद्ध हो जाते हैं ॥ ४० ॥

तालके पत्तोंसे निर्मित पंखेका स्पन्द जब शान्त हो जाता है, तब अपने-आप जैसे पवन शान्त हो जाता, है, वैसे ही जब प्राणरूप वायुका स्पन्दन शान्त हो जाता है, तब मन भी अपने-आप शान्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

देहके अस्तित्वमें जब प्राणका उत्क्रमण हो तब आपका यह क्रम भले ही रहे परन्तु शाप, छेदन आदिसे जब देहका अस्तित्व ही न हो तब कौन-सा क्रम माना जायगा ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'प्राणः' इत्यादिसे ।

शरीरका विलय हो जानेपर बाह्याकाशमें अवस्थित वायुमें मिल जानेके कारण प्राण बाह्याकाशस्थ वायुरूप हो जाते हैं और वहाँपर (बाह्याकाशमें) वासनानुसार ही इन सब पदार्थोंको देखते हैं ॥ ४२ ॥

बाह्याकाशमें देहशून्य प्राण मनसे युक्त होकर कर्मजनितवासनारूप जिस तरहके पशु-पक्षी, मनुष्य आदि शरीरोंको देखते हैं, उसी तरहके व्यवहारोंका भी अनुभव करते हैं ॥ ४३ ॥

जैसे वायुका चलन रुक जानेपर गन्ध रुक जाती है, वैसे ही मनका चलन रुक जानेपर प्राण-वायुओंका चलन भी रुक जाता है ॥ ४४ ॥

अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी ।
कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इव स्थिते ॥ ४५ ॥
मनसः स्पन्दनं प्राणः प्राणस्य स्पन्दनं मनः ।
एतौ विहरतो नित्यमन्योन्यं रथसारथी ॥ ४६ ॥
आधाराधेयवच्चैतावेकाभावे विनश्यतः ।
कुरुतश्च स्वनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः ।
तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ॥ ४८ ॥
विचार्य यदनन्तात्मतत्त्वं तन्मयतां नय ।
मनस्ततस्तल्लयेन तदेव भवति स्थिरम् ॥ ४९ ॥
यदेवाऽतितरां श्रेयोऽनुपलम्भोपलम्भयोः ।
द्वयोरप्यसतोस्तत्र शेषे वाऽपि स्थिरो भव ॥ ५० ॥

हे रामभद्र, सब प्राणियोंके प्राण और चित्त दोनों उस प्रकार एक दूसरेसे निरन्तर मिले-जुले रहते हैं जिस प्रकार आक्रान्तकुसुमसुगन्धवाले तिल और तेल एक दूसरेसे निरन्तर मिले-जुले रहते हैं ॥ ४५ ॥

मनका जो चलन है, वही प्राण है और प्राणका जो चलन है, वही मन है, क्योंकि रथ और सारथिकी नाईं वे दोनों एक दूसरेके स्पन्दनका सम्पादन करते हैं ॥ ४६ ॥

आधार और आधेयके सदृश अर्थात् अग्नि और उष्णताके सदृश दोनोंमें से किसी एकका विनाश हो जानेपर मन और प्राण दोनों विनष्ट हो जाते हैं और अपने विनाशके द्वारा वे दोनों एक महान् मोक्षनामक कार्य सम्पादन कर देते हैं ॥ ४७ ॥

अद्वय ब्रह्मतत्त्वके घनीभूत (दृढ) अभ्याससे वासनाशून्य हुआ मन पर्याप्त-रूपसे शिथिल हो जाता है और इससे प्राण भी शिथिल हो जाता है, क्योंकि प्राणका स्वभाव मनके साथ मिल जाना ही है ॥ ४८ ॥

रामभद्र, जो असीम आत्मतत्त्व है उसका विचारकर पहले आप मनको तद्रूप बना डालिये, फिर तो उस आत्मतत्त्वमें मनके लयसे वह आत्मरूपता ही स्थिर हो जाती है ॥ ४९ ॥

अज्ञान और अज्ञानबाधक ब्रह्माकारवृत्ति—इन दोनोंकी भी निवृत्ति हो जाने

एकस्मिन् सुदृढे तत्त्वे तावद्भावं विभावयेत् ।
भावोऽभावत्वमायाति स्वभ्यासाद्यावदाततम् ॥ ५१ ॥
प्रत्याहारवतां चेतः स्वयं भोग्यक्षयादिव ।
विलीयते सह प्राणैः परमेवाऽवशिष्यते ॥ ५२ ॥
यदेकतानं भवति चेतस्तद्भवति क्षणात् ।
शान्ताशेषविशेषौघं चिराभ्यासस्वभावतः ॥ ५३ ॥
अविद्यं तु नास्तीति बुद्ध्या युक्तियुतं धिया ।
ज्ञानादेव परावाप्तिस्तदभ्यासस्ततः परम् ॥ ५४ ॥

पर जो अत्यन्त कल्याणरूप चिन्मात्र अवशिष्ट रह जाता है, उस चिन्मात्रस्वरूप अवशेष ब्रह्ममें आप प्राणधारण द्वारा स्थिर हो जाइए ॥ ५०

कितने कालतक एकतत्त्वमें भावना करनी चाहिए, इसपर कहते हैं—'एकस्मिन्' इत्यादिसे ।

भद्र, एक सुदृढ आत्मतत्त्वमें तबतक तदाकारवृत्तिधारा करनी चाहिए जबतक कि वह वृत्तिधारा अभ्यासजनित अन्तिम साक्षात्कारसे पूर्व अभावरूप न बन जाय ॥ ५१ ॥

निग्रहवृत्तिसे युक्त पुरुषोंका चित्त, आहारक्षयसे शरीरक्षयकी नाईं, स्वयं ही प्राणोंके साथ विलीन हो जाता है और परमतत्त्व अवशिष्ट रह जाता है ॥ ५२ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन योगके पाँच अङ्गोंसे पहले मनके बाह्याकारका विनाश हो जानेपर, अनन्तर धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंसे ब्रह्मैकाग्रताकी प्राप्ति द्वारा निर्विकल्पक समाधिके परिपाकसे ब्रह्मरूपताकी सिद्धि हो जाती है, यह कहते हैं—'यदेकतानम्' इत्यादिसे ।

चित्त जिस किसी वस्तुमें रम जाता है, तद्रूप ही वह शीघ्र बन जाता है, अतः दीर्घकालतक आत्मतत्त्वके अभ्यासस्वभावसे वह समस्त विशेषोंसे शान्त होकर निर्विशेष ब्रह्मरूप ही हो जाता है ॥ ५३ ॥

जो कभी सुना नहीं गया है, जो कभी माना नहीं गया है, उसमें ध्यान, धारणा, आदिसे अभ्यास नहीं हो सकता, इसलिए श्रवण और मननसे पहले 'समस्त

चित्ते शान्ते शाम्यतीयं संसारमृगतृष्णिका ।
जरामुपगते मेघे मिहिका तन्मयी यथा ॥ ५५ ॥
चित्तमात्रमविद्येति कुरु नेनैव तत्क्षयम् ।
तद्रूपं राम चित्तात्मा नाऽभावो हि परं पदम् ॥ ५६ ॥
मुहूर्तमेव निर्वाणं यदि चेतः परे पदे ।
तत्तत्परिणतं विद्धि तत्रैवाऽऽस्वादमागतम् ॥ ५७ ॥

द्वैतप्रपञ्च अविद्यारूप ही है, यह सर्वथा असत् है, तत्त्वज्ञानसे ही आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है', इसका तबतक परिज्ञान करे जबतक कि प्रमाणप्रमेयके असम्भावनादि दोष निरस्त न हो जायँ । अनन्तर ध्यान, धारण आदिसे ज्ञानाभ्यास करना चाहिए ॥ ५४ ॥

चित्तके शान्त हो जानेपर यह संसाररूपी मृगतृष्णा उस प्रकार विलीन हो जाती है, जिस प्रकार शरत्-कालमें मेघमण्डलके शिथिल हो जानेपर मेघ-मण्डलसे आगत तन्मय कुहरा विलीन हो जाता है ॥ ५५ ॥

हे रामजी, केवल चित्त तो अविद्यारूप है, इसलिए ब्रह्माकारसे परिणत चित्तसे ही उसका विनाश कीजिये । चित्तके क्षयका असली स्वरूप चित्ताधिष्ठान आत्मा ही है, शून्यता नहीं; इसलिए चित्तका अभाव परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता ॥ ५६ ॥

यदि परमपदमें चित्त मुहूर्तमात्र भी विश्रान्त हो जाय, तब तो वह ब्रह्मरूपमें ही परिणत हो गया, यह आप जान लीजिए । अध्यस्त पदार्थका अधिष्ठानसे पृथक् स्वरूप नहीं होता, इसलिए ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें ही निरतिशय स्वप्रकाश और आनन्दका अनुभव कर रहा वह कभी भी व्युत्थान नहीं चाहता ‡ ॥ ५७ ॥

---

‡ इस विषयमें शिवधर्मोत्तरमें कहा है—

"ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत् ।
विहाय सर्वकार्याणि मनस्तत्रैव धावति ॥"

(जिस मनने एक बार भी ज्ञानरूपी अमृतरसका पान कर लिया है वह मन सब कार्य छोड़कर वहींपर दौड़ता है ।)

यदि सांख्येन विश्रान्तं चेतो योगेन वाऽपि ते ।
क्षणं तत्सत्त्वतां यातं न भूय इह जायते ॥ ५८ ॥
चेतो विगलिताविद्यं सत्त्वशब्देन कथ्यते ।
दग्धसंसारबीजं तन्न ददात्यन्तरं पुनः ॥ ५९ ॥
कश्चिद्विगलिताविद्यः सत्त्वस्थः शान्तवासनः ।
परं शून्योपमं सद्यो ज्योतिः पश्यति शाम्यति ॥ ६० ॥

यही प्रस्तुत सांख्य और योगका अभिन्न फल है, यह कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, यदि आपका चित्त सांख्योपायसे या योगोपायसे क्षणमात्र भी परमपदमें विश्रान्त हो चुका है तो वह सत्त्वरूप बन गया है; फिर वह इस संसारमें आनेवाला नहीं है ॥ ५८ ॥

अब महाराज वसिष्ठजी स्वयं ही सत्त्वशब्दका निर्वचन करते हैं—'चेतो' इत्यादिसे ।

जिसमेंसे अविद्या गल चुकी है, ऐसा विशुद्ध चित्त सत्त्वशब्दसे कहा जाता है । जिसमें संसारबीज वासना दग्ध हो गई है वह चित्त फिर कभी भी ब्रह्मरूपतासे विच्छेद नहीं करता ॥ ५९ ॥

सांख्ययोग द्वारा आत्मदर्शनमें तत्पर मनुष्य विरले ही हैं, ऐसा कहते हैं—'कश्चित्' इत्यादिसे ।

कोई एक-आध ही—जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है, जो सत्त्वभावमें अवस्थित है, जो वासनारहित हो चुका है—परमतत्त्वको, जो अज्ञानियोंकी दृष्टिमें शून्योपम और ज्ञानियोंकी दृष्टिमें * ज्योतिःस्वरूप है, देखता है और तत्काल मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥

* जो पुरुष अज्ञानी हैं, वे भ्रम आदि अनेक दोषोंसे दूषित होनेके कारण विद्यमान वस्तुको भी असम्भावना, विपरीत भावना आदिवश अविद्यमान एवं शून्योपम ही समझते हैं, उसमें तनिक भी आस्था नहीं करते और जो पुरुषधुरीण प्रणिपात, परिप्रश्न आदिसे विधिवत् गुरुसमीपमें जाकर अज्ञाननिवृत्त्यर्थ प्रयत्न करते हैं; वे दयालु गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्गसे श्रवण, मनन आदि द्वारा असम्भावना आदि समस्त दोषोंका दूरीकरण कर अज्ञान-कालमें प्रतीयमान अविद्यमान वस्तुको भी ज्ञानकालमें विद्यमान एवं ज्योतिःस्वरूप समझते हैं । इन द्विविध पुरुषोंकी दृष्टियोंका अवलम्बनकर एक ही वस्तुको शून्योपम और ज्योतिःस्वरूप कहा गया है ।

विगलितात्मपदं विगलन्मनः
सुभग सत्त्वमितीह हि कथ्यते ।
न पुनरेति कलामलिनं पदं
कनकतामिव ताम्रमुपागतम् ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे प्राणमनःसंयोगविचारणं नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जीवोऽजीवो भवत्याशु याति चित्तमचित्तताम् ।
विचारादित्यविद्यान्तो मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ १ ॥

उक्तार्थका ही अनुवादपूर्वक उपसंहार करते हैं—'विगलिता०' इत्यादिसे ।

हे भाग्यवान्, पूर्वोक्त तीनों उपायोंके अभ्याससे जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूप भ्रान्ति और तज्जनित अन्य-अन्य दर्शनोंसे रहित तथा अविद्याके विनाशसे दग्धवस्त्रके सदृश प्रतिभासमात्ररूपसे स्वयं अवशिष्ट मन जीवन्मुक्तावस्थामें 'सत्त्व' कहा जाता है । वह वासनारूप बीजशक्तिके विनष्ट हो जानेसे राग-द्वेष, अभिमान आदि कलाओंसे मलिन संसारपदको उस प्रकार प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार पारसमणिके सम्बन्धसे सुवर्णरूपताको प्राप्त हुआ ताम्र फिर कलङ्करूप कलासे मलिन ताम्ररूपताको प्राप्त नहीं होता ॥ ६१ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

[चैतन्यात्माकी शुद्धिके लिए अज्ञानजनित भ्रान्तिपरम्परामें किसी एक वेताल और राजाका संवादकथन]

'चित्ते शान्ते शाम्यतीयं संसारमृगतृष्णिका' इससे संसाररूपी मृगतृष्णाकी शान्तिमें जो चित्तशान्तिरूप उपाय बतलाया गया है उस चित्तशान्तिमें ज्ञानके आविर्भावतक किया गया विचार ही हेतु है, ऐसा कहते हैं—'जीवो०' इत्यादिसे ।

मृगतृष्णाजलमिव मनोऽहन्तादि दृश्यते ।
असदेव मनागेव तद्विचारात् प्रलीयते ॥ २ ॥
संसृतिस्वप्नविभ्रान्तौ वेतालोदाहृतानिमान् ।
प्रश्नानाकर्णय शुभान् प्रसङ्गात् स्मृतिमागतान् ॥ ३ ॥
अस्ति विन्ध्यमहाटव्यां वेतालो विपुलाकृतिः ।
स किञ्चिन्मण्डलं गर्वादाजगाम जिघांसया ॥ ४ ॥
स वेतालोऽवसत्पूर्वं कस्मिंश्चित् सज्जनास्पदे ।
बहुबल्युपहारेण नित्यतृप्ततया सुखी ॥ ५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तत्त्वविचारसे जीव तत्काल अजीवरूप हो जाता है और चित्त अचित्तरूप हो जाता है; इसलिए विचाररूप उपायसे उत्पन्न हुआ कार्य-कारणरूप अविद्याका विनाश मोक्ष है, यह तत्त्वज्ञानियों द्वारा कहा जाता है ॥ १ ॥

उक्त अर्थकी असम्भावनामें हेतुभूत जो प्रपञ्चमें दृढ़ताभ्रम है, उसका निवारण करते हैं—'मृगतृष्णा०' इत्यादिसे ।

मृगतृष्णाजलकी नाईं असद्रूप ही मन तथा अहन्ता आदि प्रपञ्च क्षणभरके लिए ही दिखाई पड़ते हैं और उक्त विचारसे विलीन हो जाते हैं ॥ २ ॥

'असदेव मनागेव' इस अर्थका समर्थन करनेके लिए कथाका आरम्भ करते हैं—'संसृति०' इत्यादिसे ।

भद्र, इस संसाररूपी स्वप्नविभ्रममें वेताल द्वारा किये गये इन उत्तम प्रश्नोंका आप श्रवण कीजिये, जो प्रसंगवश स्मृतिगोचर हुए हैं ॥ ३ ॥

विन्ध्याचलकी महाटवीमें एक दीर्घाकृति वेताल था । किसी समय वधयोग्य अज्ञानी जनोंमें अनादरके कारण उनको मार डालनेकी इच्छासे वह किसी मण्डलमें गया ॥ ४ ॥

संक्षेपतः प्रतिज्ञात वस्तुका विस्तार करनेके लिए पुनः पहलेसे आरम्भकर कहते हैं—'स' इत्यादिसे ।

पहले वह वेताल किसी एक सज्जननामक राजाके देशमें रहता था । उस किरातराज्यमें ककड़ीकी नाईं राजा द्वारा किये गये अनेक वध्य जनोंके बलियोंके उपहारसे सदा तृप्त होकर किसी प्रकारके विक्षेपके बिना समाधिसुखमें चूर रहता था ॥ ५ ॥

निर्निमित्तं निरागस्कं पुरोऽप्यस्यागतं न सः ।
क्षुधितोऽपि नरं हन्ति सन्तो हि न्यायदर्शकाः ॥ ६ ॥
स कालेनाऽटवीगेहो जगाम नगरान्तरम् ।
न्याययुक्त्या जनं भोक्तुं क्षुधा समभिचोदितः ॥ ७ ॥
तत्र प्राप स भूपालं रात्रिचर्याविनिर्गतम् ।
तमाह घनघोरेण शब्देनोग्रनिशाचरः ॥ ८ ॥

वेताल उवाच

राजंल्लब्धोऽसि भीमेन वेतालेन मयाऽधुना ।
क्व गच्छसि विनष्टोऽसि भव भोजनमद्य मे ॥ ९ ॥

राजोवाच

हे रात्रिचर निर्न्याय्यं मां चेदत्सि बलादिह ।
तत्ते सहस्रधा मूर्धा स्फुटिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

किसी कारणके बिना सामने आये हुए भी निरपराधी पुरुषको वह क्षुधित होनेपर भी मारता नहीं था, क्योंकि सन्त पुरुष न्यायके ही दर्शक होते हैं ॥ ६ ॥

किसी समयकी बात है कि जङ्गलमें वध्य जन उसे प्राप्त न हुए । उस समय अरण्यवासी वह वेताल क्षुधासे प्रेरित होकर न्यायप्राप्त मनुष्यका भक्षण करनेके लिए नगरके भीतर चला गया ॥ ७ ॥

उस नगरमें, मध्य रातमें दुष्ट जनोंके परिज्ञान और चोर आदिके विनाशके लिए कर्तव्यार्थ निकला हुआ राजा उसे मिला । उस राजासे वह उग्र निशाचर घनघोर शब्दसे कहने लगा ॥ ८ ॥

वेतालने कहा—हे राजन्, इस समय मुझ भयङ्कर वेतालके द्वारा तुम पकड़ लिये गये हो । कहाँ जा रहे हो ? अब तुम मर गये । आज तुम मेरा भोजन बन जाओ ॥ ९ ॥

राजाने कहा—हे निशाचर, यदि यहाँ बलपूर्वक अन्याय्यमार्गसे मुझे खा जाओगे तो तुम्हारा मस्तक हजारों टुकड़ोंमें फट जायगा, इसमें तनिक भी सन्देह तुम्हें नहीं करना चाहिए ॥ १० ॥

वेताल उवाच

न त्वामद्म्यहमन्यायं न्यायोऽयं हि मयोच्यते ।
राजाऽसि सकलाशाश्च पूरणीयास्त्वयार्थिनाम् ॥ ११ ॥
ममैतामर्थितां राजन् सम्भवार्थां प्रपूरय ।
प्रश्नानिमान् मयोक्तांस्त्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ १२ ॥
कस्य सूर्यस्य रश्मीनां ब्रह्माण्डान्यणवः कृशाः ।
कस्मिन्स्फुरन्ति पवने महागगनरेणवः ॥ १३ ॥
स्वप्नात् स्वप्नान्तरं गच्छञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।
त्यजन्न त्यजति स्वच्छं कः स्वरूपं प्रभास्वरम् ॥ १४ ॥
रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवं पुनः पुनः ।
अन्तरन्तस्तथान्तश्च तथा कोऽणुः स एव हि ॥ ॥ १५ ॥

वेतालने कहा—हे राजन्, मैं तुम्हें अन्यायपूर्वक नहीं खाऊँगा, परन्तु तुम्हें मैं यह न्याय बतलाता हूँ कि तुम राजा हो, इसलिए तुम्हें अर्थियोंके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करने चाहिएँ ॥ ११ ॥

यदि यह राजा अज्ञानी होगा तो उसमें सैकड़ों अपराध मिल सकते हैं और यदि ज्ञानी होगा तो वह अपराध कर ही नहीं सकता । अपि च सैकड़ों अपराध होनेपर भी ज्ञानीकी रक्षा करनी चाहिए, ऐसा मनमें निश्चयकर वेताल राजाकी परीक्षा करनेके लिए प्रश्नोत्तरकी प्रार्थना करता है—'ममैता०' इत्यादिसे ।

हे राजन्, मेरी इस अर्थिताको, जिसका अर्थ बाधित नहीं है, आप ठीक तरहसे पूर्ण कीजिये । मैं जिन प्रश्नोंका कथन कर रहा हूँ इनका भलीभाँति व्याख्यान कीजिए ॥ १२ ॥

भद्र, किस सूर्यकी किरणोंके ये ब्रह्माण्डरूपी छोटे अणु हैं और किस पवनमें महागगनरूपी त्रसरेणु परिस्फुरित होते हैं ॥ १३ ॥

एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जा रहा पुरुष पहलेके सैकड़ों या हजारों स्वप्नोंकी सत्यता छोड़ता हुआ भी किस प्रकाशक स्वच्छ सत्यात्मस्वरूपका परित्याग नहीं करता ॥ १४ ॥

जिस प्रकार केलेका खम्भा भीतरके भी भीतर और उसके भी भीतर बार-बार [देखनेसे] केवल वल्कलमात्र ही रहता है, दूसरा नहीं, उसी प्रकार सबके भीतरके

ब्रह्माण्डाकाशभूतौघसूर्यमण्डलमेरवः ।
अपरित्यजतोऽणुत्वं कस्याऽणोः परमाणवः ॥ १६ ॥
कस्याऽनवयवस्यैव परमाणुमहागिरेः ।
शिलान्तर्निबिडकान्तरूपमज्जा जगत्त्रयी ॥ १७ ॥
इति कथयसि चेन्न मे दुरात्म-
स्तदिह निगीर्य भवन्तमात्मघातिन् ।
फलमिव तव मण्डलं ग्रसेयं
प्रसभमुपेत्य जगद्यथा कृतान्तः ॥ १८ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे वेतालप्रश्नो नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

भीतर और उसके भी भीतर ऐसा कौन अणु है, जो प्रकाशक स्वच्छ आत्म-स्वरूप है ? ॥ १५ ॥

ब्रह्माण्ड, आकाश, भूतोंके आधारभूत भुवन, सूर्यमण्डल तथा मेरु—ये सब जो बड़े-बड़े महान् पदार्थ प्रसिद्ध हैं—ये अणुत्व धर्म न छोड़नेवाले ऐसे किस अणुकी (सूक्ष्मकी) अपेक्षा अत्यन्त क्षुद्र पदार्थ हैं ? ॥ १६ ॥

किस परमाणु महागिरिकी (स्वयं सूक्ष्म होते हुए भी महान् पर्वतकी), जो असलमें निरवयव ही है, शिलाके भीतर यह त्रिजगती है, जिसका सार घनीभूत अव्यभिचरित सत्तामात्र है ॥ १७ ॥

यदि इन छः प्रश्नोंका उत्तर मुझे न दोगे, तो हे देहात्मबुद्धे, हे आत्मघातक, तुम्हें पहले, फलकी नाईं, निगलकर फिर तुम्हारे मण्डलस्थ जनोंको बलपूर्वक प्राप्त कर उन्हें उस प्रकार निगल जाऊँगा, जिस प्रकार यमराज जगत्को निगल जाता है ॥ १८ ॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एकसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्तवति वेताले वक्तुं प्रश्नान्विहस्य सः ।
उवाच वचनं राजा दन्तांशुधवलाम्बरः ॥ १ ॥

राजोवाच

आस्ते कदाचिच्चेदं हि ब्रह्माण्डमजरं फलम् ।
उत्तरोत्तरं दशगुणभूतत्वक्परिवेष्टितम् ॥ २ ॥
तादृशानां सहस्राणि फलानि यत्र सन्ति हि ।
अत्युच्चैस्तादृशी शाखा विपुलाचलपल्लवा ॥ ३ ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग

[अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूप फल और वृक्ष आदिकी कल्पनाओंसे सविस्तर प्रथम प्रश्नका समाधान]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे रामभद्र, जब ऐसा कहकर वेताल चुप हो गया तब हँसकर* वह राजा, जिसके वस्त्र और आकाश दाँतोंकी किरणोंसे धवल हो गये थे, वचन बोला ॥ १ ॥

'कस्य सूर्यरश्मीनाम्' इत्यादि प्रथम प्रश्नका उत्तर देनेके लिए पहले वेतालका पाण्डित्याभिमान निरासकर रहे राजा कुछ कल्पनाचमत्कार बतलाते हैं—'आस्ते' इत्यादिसे ।

राजाने कहा—हे वेताल, किसी समय यह (तुम्हारा और मेरा आधार) जीर्णताशून्य ब्रह्माण्डरूपी फल उत्तरोत्तर दशगुण पृथिवी, जल आदि आवरणोंसे वेष्टित था ॥ २ ॥

१—यह ब्रह्माण्ड, २—ऐसे-ऐसे सैकड़ों ब्रह्माण्ड जिनके पेटमें हैं—ऐसे पञ्चीकृत महाभूत, ३—ये महाभूत जिसके पेटमें हैं वह गन्धतन्मात्रा, ४—७, उत्तरोत्तर गन्धादिमात्राओंको पेटमें रखनेवाली रसादिमात्राएँ, ८-तन्मात्राओंको उदरमें रखनेवाला हिरण्यगर्भका मन, ९—अतीत और अनागत अनन्त पदार्थोंको पेटमें रखनेवाली भूतमात्राओंकी राशियाँ, १०—इनको पेटमें रखनेवाले कल्पकाल, ११—१३, इनको उत्तरोत्तर

* प्रसिद्ध ब्रह्माण्डोंमें त्रसरेणुत्व जो तुमने कहा, वह तो अत्यन्त साधारण बात कही, किन्तु कही जानेवाली कल्पनाके अनुसार जिनके गर्भमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं, उनमें भी त्रसरेणुत्व है, इस आशयसे वेतालके कथनपर राजाको कुछ हँसी आ गई ।

ताद्दशानां सहस्राणि शाखानां यत्र सन्त्यथ ।
ताद्दशोऽस्ति महावृक्षो दुर्लक्ष्यो विपुलाकृतिः ॥ ४ ॥
ताद्दशानां सहस्राणि यत्र सन्ति महीरुहाम् ।
ताद्दशं वनमत्युच्चैरनन्ततरुगुल्मकम् ॥ ५ ॥
ताद्दशानां सहस्राणि वनानां यत्र सन्त्यथ ।
ताद्दगस्ति वृहच्छृङ्गमत्युच्चैर्भरिताकृति ॥ ६ ॥
ताद्दशानां सहस्राणि शृङ्गाणां यत्र सन्त्यथ ।
ताद्दशोऽस्त्यतिविस्तीर्णो देशो विपुलकोटरः ॥ ७ ॥
ताद्दशानां सहस्राणि देशानां यत्र सन्त्यथ ।
ताद्दगस्ति बृहद्द्वीपं महाह्रदनदीयुतम् ॥ ८ ॥

गर्भमें रखनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके आयुकाल, १४—इन अनन्तकोटि पदार्थोंमें सत्तास्फूर्ति व्यवहारका प्रवर्तक मायाशबल ब्रह्म—इन चौदह पदार्थोंका यहांपर क्रमसे फल-शाखा आदि कल्पनाओं द्वारा निर्देश करते हैं—'ताद्दशानाम्' इत्यादिसे ।

वैसे हजारों फल जहाँ विद्यमान हैं और उन्हींके अनुरूप चंचल पल्लवोंकी नाईं भुवनोंसे युक्त वहांपर बड़ी ऊँची एक शाखा है । दश, बीस शाखाएँ नहीं हैं किन्तु उस प्रकारकी बड़ी-बड़ी हजारों शाखाएँ जहाँ विद्यमान हैं, ऐसा पामरों द्वारा दुर्लक्ष्य विपुलाकृति एक महान् वृक्ष है ॥ ३, ४ ॥

इसी प्रकारके हजारों वृक्ष जिसमें हैं ऐसा एक वन है, जिसमें ऊँचे-ऊँचे असीम वृक्ष और गुल्म विद्यमान हैं ॥ ५ ॥

और उसी प्रकारके हजारों वन जहांपर हैं ऐसा, उन्नत शिखरोंसे युक्त चारों ओरसे परिपूर्ण आकारवाला एक विशाल पर्वत है ॥ ६ ॥

वैसे हजारों जहांपर पर्वत हैं ऐसा अत्यन्त विस्तीर्ण विपुल कोटरवाला एक देश है ॥ ७ ॥

वैसे हजारों देश जहांपर विद्यमान हैं ऐसा बड़े-बड़े ह्रद और नदियोंसे युक्त एक बहुत बड़ा द्वीप है ॥ ८ ॥

ताद्दशानां सहस्राणि द्वीपानां यत्र सन्त्यथ।
ताद्दगस्ति महीपीठं विचित्ररचनान्वितम् ॥ ९ ॥
ताद्दशानां सहस्राणि पृथ्वीनां यत्र सन्त्यथ।
ताद्दगस्ति महास्फारं महाभुवनडम्बरम् ॥ १० ॥
ताद्दशानां सहस्राणि जगतां यत्र सन्त्यथ।
ताद्दगस्ति महच्चाऽण्डं चण्डमम्बरपीठवत् ॥ ११ ॥
ताद्दशानां सहस्राणि यत्राऽण्डानि करण्डकाः।
ताद्दशोऽस्ति गतस्पन्दो विपुलाब्धिश्च सागरः ॥ १२ ॥
ताद्दक्सागरलक्षाणि तरङ्गो यत्र पेलवः।
ताद्दशः स्वविलासात्मा निर्मलोऽस्ति महार्णवः ॥ १३ ॥
ताद्दगब्धिसहस्राणि यस्योदरजलान्यथ।
ताद्दशोऽस्ति पुमान्कश्चिदत्युच्चैर्भरिताकृतिः ॥ १४ ॥
ताद्दशानां नृणां लक्षैर्यस्य मालोरसि स्थिता।
प्रधानं सर्वसत्तानां ताद्दशोऽस्ति परः पुमान् ॥ १५ ॥

वैसे अनन्त द्वीप जिसमें हैं ऐसा एक महीपीठ है, जिसमें चित्रविचित्र नाना-दिक रचनाएँ विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

उस प्रकारके हजारों महीपीठ जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक अत्यन्त विस्तृत महाभुवनरूप प्रपञ्च है १० ॥

उस तरहके असंख्य महाभुवन जिसमें विद्यमान हैं ऐसा विस्तृत आकाशपीठके सदृश एक महान् प्रचण्ड अण्डा है ॥ ११ ॥

इस-इस तरहके असंख्य अण्डरूपी करण्डक जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक चञ्चलतारहित असीम जलनिधि—एक सागर है ॥ १२ ॥

उस तरहके लाखों सागर जिसमें कोमल तरङ्गरूप हैं, ऐसा एक अपने स्वरूपमें विलास करनेवाला निर्मल महार्णव है ॥ १३ ॥

उस प्रकारके हजारों महार्णव जिसके उदरके जलरूप हैं, ऐसा एक कोई बड़ा भारी परिपूर्णाकृति पुरुष (विष्णु) है ॥ १४ ॥

ऐसे-ऐसे लाखों पुरुषोंकी माला जिसके वक्षःस्थलमें अवस्थित है ऐसा एक परम पुरुष (रुद्र) है, जो सब सत्ताओंका प्रधान यानी आधारभूत अधिष्ठान है ॥ १५ ॥

तादृशानां सहस्राणि पुरुषाणां महात्मनाम् ।
स्फुरन्ति मण्डले यस्य स्वतनूरुहजालवत् ॥ १६ ॥
तादृशोऽस्ति महादित्यः शतमन्यासु दृष्टिषु ।
या एताः कलनाः सर्वास्ता एतास्तस्य दीप्तयः ॥ १७ ॥
अस्याऽऽदित्यस्य दीप्तीनां ब्रह्माण्डास्त्रसरेणवः ।
मया चित्सूर्य इत्युक्तः सर्वमेतत्तपत्यसौ ॥ १८ ॥
विज्ञानात्मैव परमो भास्करो भाविताशयः ।
इमे ये भुवनाभोगास्तस्यैव त्रसरेणवः ॥ १९ ॥
विज्ञानपरमार्कस्य भासा भान्ति भवन्ति च ।
इमा जगदहर्लक्ष्म्यः क्वचिल्लक्ष्म्यो रवेरिव ॥ २० ॥

इस प्रकारके महान् आत्मशाली असंख्य पुरुष जिसके मण्डलमें शरीररोम-जालके *सदृश स्फुरित हो रहे हैं, ऐसा एक महान् आदित्य है। पराग् दृष्टिवाले जीवोंमें रुद्रसे लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त होनेवाले जो कोटि-कोटि प्रतिभास हैं ये ही सब प्राणियोंको प्रत्यक्ष इस आदित्यकी रश्मियाँ हैं ॥ १६, १७ ॥

इसी आदित्यकी दीप्तियोंके ब्रह्माण्ड ही त्रसरेणु हैं। मैंने तुमसे जिस सूर्यका कथन किया था वह यही चित्सूर्य है और इसके प्रभावसे सारा जगत् प्रकाशित होता है ॥ १८ ॥

हे वेताल, पूर्वोक्त असंख्य पदार्थ जिससे प्रकाशित होते हैं, ऐसा विज्ञान-स्वरूप परम सूर्य है और ये जो विस्तृत ब्रह्माण्ड हैं, वे उसी सूर्यके त्रसरेणु हैं ॥ १९ ॥

सर्वोत्तम विज्ञानरूपी सूर्यकी दीप्तिसे ही, कहीं साधारण सूर्यसे दिनलक्ष्मियोंके सदृश, ये जगद्रूपी दिवालक्ष्मियाँ स्फूर्ति और सत्ता प्राप्त करती हैं ॥ २० ॥

* जैसे साधारण पुरुषके शरीरमें उत्पद्यमान रोम अत्यन्त छोटे हैं, उनके स्वल्पतम परिमाणकी शरीर-परिमाणसे तुलना नहीं हो सकती, ठीक वैसे ही व्यापकशरीर आदित्य-वत् प्रकाशमान आत्मासे उत्पद्यमान असंख्य पुरुष रोमके सदृश अत्यन्त छोटे हैं, उनके परिमाणकी उस आत्मारूपी आदित्यपरिमाणसे तुलना नहीं हो सकती, यह बतलानेके लिए 'स्वतनूरुहजालवत्' कहा। श्रुति भी है—'यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्' जैसे जीवित चेतन पुरुषसे अचेतन केश उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षर चेतनसे अचेतन केशवत् विश्व उत्पन्न होता है।

विज्ञानमात्रकचितात्मनि जन्तुजाते
त्रैलोक्यमण्डपमणेरविकासभाजि ।
चिज्जन्मनोभवनसम्भ्रमतावलेखाः
सन्तीह रे नहि मनागपि शान्तमास्स्व ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाण-प्रकरणे वेतालप्रथमप्रश्नोत्तरवर्णनं नामैकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

राजोवाच

कालसत्ता नभःसत्ता स्पन्दसत्ता च चिन्मयी ।
शुद्धचेतनसत्ता च सर्वमित्यादि पावनम् ॥ १ ॥

हे वेताल, मैंने जिस मायाशबल ब्रह्मका वर्णन किया है, उस त्रैलोक्य-मण्डपमणिके (सूर्यके) पारमार्थिक स्वरूपभूत, मुख्य अधिकारियोंमें शास्त्रजनित अखण्डाकार साक्षात्कारमात्र द्वारा स्वात्मरूपसे प्रकाशित हो रहे, अनधिकारी जन्तुओंमें स्पष्टरूपसे प्रकाशित न हो रहे इस प्रत्यगात्मामें, अग्निविस्फुलिङ्गके सदृश काल्पनिक जीव जगत्‌की पृथक् सत्ता और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि असंख्य संभ्रमोंके उल्लेख हैं। वास्तवमें परमार्थदृष्टिसे तो तनिक भी परमात्मामें भ्रमका अवकाश नहीं है, इसलिए तुम निरर्थक प्रश्नोंका आडम्बर छोड़ दो ॥ २१ ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

बहत्तरवाँ सर्ग

[उत्तर सुननेके लिए सावधान वेतालको राजाद्वारा अवशिष्ट पाँच प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर देना]

इस तरह प्रथम प्रश्नका उत्तर देकर 'कस्मिन् स्फुरति पवने महागगनरेणवः' इस द्वितीय प्रश्नका राजा समाधान करते हैं। उसमें 'महागगनरेणवः' इस पदमें स्थित गगनशब्दसे तुम प्रसिद्ध आकाशका ग्रहण करो अथवा 'महत्' पदसे विशेषित होनेके कारण गौणीवृत्तिसे महाकालस्वरूप चित्संवलित महाकाशका ग्रहण करो या

परमात्ममहावायौ रजः स्फुरति चञ्चलम् ।
कुसुमाङ्ग इवाऽऽमोदस्तद्वदद्रूपकं स्वतः ॥ २ ॥
जगदाख्ये महास्वप्ने स्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजन् ।
रूपं त्यजति नो शान्तं ब्रह्म शान्त्यबृंहणम् ॥ ३ ॥
रम्भास्तम्भो यथा पत्रमात्रमेवान्तरान्तरम् ।
अन्तरन्तस्तथेदं हि विश्वं ब्रह्म विचिन्त्यपि ॥ ४ ॥

स्पन्दशक्तिप्रधान सूत्रात्माकाशका ग्रहण करो अथवा उससे निर्मुक्त शुद्धचिदाभासस्वरूप जीवाकाशका ग्रहण करो या और किसी दूसरेका ग्रहण करो, फिर भी उन सभी विकल्पोंमें अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण तत्-तत् सत्ताका ही तुमने महागगनरेणुरूपसे वर्णन किया है, यह कहते हैं—'कालसत्ता' इत्यादिसे ।

राजाने कहा—हे वेताल, कालसत्ता, आकाशसत्ता, क्रियाशक्तिप्रधान सूत्रात्माकी सत्ता तथा क्रियाशक्तिप्रधान चेतनसे निर्मुक्त जो चिदाभासरूप शुद्ध चेतन है, उसकी चिन्मयी सत्ता—इत्यादि सब सूक्ष्म होनेसे निर्दोष रज है, वह परमात्मारूपी महावायुमें कल्पित अनेक विकारोंसे चंचल होकर स्फुरित होता है। [सकल पदार्थोंमें अनुगत सत्तारूप जब परमात्मा ही है, तब परमात्मारूपी महावायुमें कालादिकी सत्ता स्फुरित होती है—इस तरह अभिन्नमें आधाराधेयभावका व्यपदेश कैसे हुआ ? यदि ऐसी कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'कुसुमाङ्ग' से।] जैसे पुष्प स्वयं अपने अङ्गमें आमोदनामक भेदकी (सुगन्धकी) अपने ही द्वारा कल्पना कर पुष्पोंमें आमोदरूपवाला वह आधेयरूपसे अवस्थित है वैसे ही परमात्मसत्ता ही अपनेमें कालादिसत्ताके भेदकी कल्पना करके अवस्थित है ॥ १, २ ॥

'स्वप्नात् स्वप्नान्तरं गच्छन्' इत्यादि तृतीय प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'जगदाख्ये' इत्यादिसे ।

'जगत्' नामक महास्वप्नमें एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जा रहा तत्-तत् स्वप्नगत दोषोंसे शून्य अर्थात् असङ्गज्योतीरूप ब्रह्म बोधमात्रसे ही शान्तत्वको बढ़ानेवाले अपने रूपको नहीं छोड़ता ॥ ३ ॥

'रम्भास्तम्भो यथा पत्रम्' इस चौथे प्रश्नका उत्तर देते हैं—'रम्भास्तम्भो' इत्यादिसे ।

जैसे केलेका स्तम्भ भीतर-भीतर ज्यो-ज्यों नोंचा जाता है त्यों-त्यों उसमें केवल

सद्ब्रह्मात्मादिभिः शब्दैर्यदेताभिर्विगीयते ।
शून्यमव्यपदेश्यं तेन तत्किञ्चिच्च किञ्चन ॥ ५ ॥
या या विभाव्यते सत्ता सा साऽनुभवनिर्मितान् ।
रम्भास्तम्भवदेतावच्चिन्मात्रममलं ततम् ॥ ६ ॥
सूक्ष्मत्वादप्यलभ्यत्वात्परमात्मा परोऽणुकः ।
अनन्तत्वादसावेव प्राप्तो मेर्वादिमूलताम् ॥ ७ ॥

पत्र ही मिलता जाता है वैसे ही ब्रह्ममें विवर्तनशील तथा अवान्तर कारणोंमें परिणामशील यह विश्व ज्यों-ज्यों भीतर-भीतर देखा जाता है, त्यों-त्यों उसमें ब्रह्ममात्र मिलता जाता है अतः वह अणु है ॥ ४ ॥

विवर्तभूत जगत्के बृंहण आदिमें निमित्त होनेसे ही वह परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दोंका विषय है, वस्तुतः वह सब धर्मोंसे शून्य होनेके कारण सत्, ब्रह्म आत्मा आदि शब्दोंका विषय नहीं है, यह कहते हैं—'सद्ब्रह्मा०' इत्यादिसे ।

विवर्तभूत जगत् आदिमें निमित्त होनेपर वह परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दोंसे कहा जाता है और सर्वधर्मातीत होनेसे 'शून्यम्, अव्यपदेश्यम्' आदि शब्दोंसे कहा जाता है, इसलिए कुछ है और कुछ नहीं भी है यानी विषय और अविषय दोनों है ॥ ५ ॥

अतएव पटसत्ता तन्तुसत्तामें, तन्तुसत्ता कपासकी सत्तामें, कपासकी सत्ता कपासके फलकी सत्तामें, फलकी सत्ता गुल्मकी सत्तामें और गुल्मकी सत्ता बीज, मिट्टी, जल आदिकी सत्तामें पर्यवसित होती है—इत्यादि क्रमसे जो-जो सत्ता विभावित होती है यानी जिस-जिस सत्ताकी भावना की जाती है वह सब तत्-तत् अनुभवसे निर्मित आकारोंको छोड़कर अन्तमें केलेके स्तम्भके तुल्य तत्-तत् अनुभवरूप चिन्मात्रमें ही पर्यवसित होती है, इसलिए जगदाकारसे वही एक निर्मल चिन्मात्र वस्तु विस्तृत हुई है ॥ ६ ॥

अणुपदकी प्रवृत्तिमें कारण बतलाते हैं—'सूक्ष्मत्वात्' इत्यादिसे ।

सूक्ष्म तथा अलभ्य होनेके कारण परमात्मा परमाणुस्वरूप है । [इस तरह परमात्माके सूक्ष्म होनेपर भी उसके पूर्णस्वरूपतामें कुछ भी हानि नहीं आती, इसलिए ब्रह्माण्डादि भी उस परमात्माकी दृष्टिसे यानी उस परमात्माकी अपेक्षा अतिपरिच्छिन्न होनेके कारण परमाणुप्राय ही हैं । इस रीतिसे 'ब्रह्माकाशभूतौघ०'

सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम् ।
तत्तथा पश्यति तदा स्वसङ्कल्पविजृम्भितम् ॥ ४१ ॥
सङ्कल्पमात्रमेवेदं जगन्मिथ्यात्वमुत्थितम् ।
असङ्कल्पनमात्रेण ब्रह्मन् क्वाऽपि विलीयते ॥ ४२ ॥
सङ्कल्पवातवलितं जन्मजालकदम्बकम् ।
असङ्कल्पानिलस्पर्शाद्विश्राम्यति परे पदे ॥ ४३ ॥
तृष्णाकरञ्जलतिकामिमां रूढिमुपागताम् ।
सङ्कल्पमूलोद्धरणात् परिशोषवतीं कुरु ॥ ४४ ॥
प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम् ।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ ४५ ॥
प्रभुरस्मीति विस्मृत्य तावच्छोचति भूमिपः ।
भूमिपोऽस्मीति सञ्जाता यावन्नाऽस्य हृदि स्मृतिः ॥ ४६ ॥

चूँकि, यह आत्मा समस्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है, अतः जब कभी वह किसी वस्तुकी जैसी भी पर्याप्तरूपसे भावना करता है, अपने संकल्पसे विजृम्भित उस वस्तुको उसी समय वैसी ही देखता है ॥ ४१ ॥

हे ब्रह्मन् , यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत् एकमात्र संकल्पात्मक ही है, अतः केवल संकल्पके अभावसे ही, न जाने, कहीं भी विलीन हो जाता है ॥४२॥

सङ्कल्परूपी पूर्वी हवासे व्यथित जन्मस्वरूप मेघोंका समूह असंकल्परूप पश्चिमी हवाके स्पर्शसे ब्रह्माकाशमें विलीन हो जाता है ॥ ४३ ॥

हे महर्षे, संकल्परूप जड़ उखाड़कर अत्यन्त दृढताको प्राप्त हुई इस तृष्णा-रूपी करंजलताको तुम सुखा डालो ॥ ४४ ॥

अविद्या, काम और संकल्प का विनाश होनेपर भी यदि जगत्का अवभास होता हो, तो वह केवल प्रतिभासरूप ही ठहरा, ऐसी स्थितिमें जीवन्मुक्तोंके अनु-भवोंसे सिद्ध दृष्टिसृष्टि-पक्ष ही अवशिष्ट रह जाता है, इस आशयसे कहते हैं— **'प्रतिभास०'** इत्यादिसे ।

जिस प्रकार गन्धर्वनगरकी उत्पत्ति और विनाश एकमात्र प्रतिभासस्वरूप ही है, उसी प्रकार यह संसाररूप विभ्रमकी उत्पत्ति और विनाश भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप ही है ॥ ४५ ॥

जबतक अज्ञान है, तभीतक जगत्का प्रतिभास शोकमें कारण है, अज्ञानका

विज्ञानमात्रकलनाकलितं जगन्ति
शान्तस्वभावसुकुमारमनन्तरूपम् ।
वेतालबालक पदं तदलङ्घनीय-
मेवं स्वयं समनुभावय शान्तमास्स्व ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे वेतालप्रश्नभेदो नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति राजमुखाच्छ्रुत्वा वेतालः शान्तिमाययौ ।
भावितात्मतया तत्र विचारोचितया धिया ॥ १ ॥
उपशान्तमना भूत्वा मत्वैकान्तमनिन्दितम् ।
बभूवाऽविचलध्यानी विस्मृत्य विषमां क्षुधाम् ॥ २ ॥

हे अज्ञानी वेताल, ये जो जगत् हैं वह विज्ञानस्वरूप आत्माके अनेकविध कौशलोंका विलास है। अनन्तस्वरूप, शान्तस्वभाव एवं अत्यन्त सुकुमार उस मदुक्त आत्मविज्ञानका तुम खण्डन नहीं कर सकते, इसलिए मेरे वचनोंके अनुसार तुम स्वयं उक्तस्वभाव आत्माको अपने अनुभवपर चढ़ाओ और दर्प छोड़कर शान्त हो जाओ ॥ ११ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

तिहत्तरवाँ सर्ग

[वेतालके प्रश्नोंका निर्णय देकर दूसरे भगीरथके वृत्तान्तका कथन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, राजाके मुखसे उस प्रकार प्रश्नोंका समाधान सुनकर वेताल शान्त हो गया, क्योंकि विचारदक्ष बुद्धिसे उसने अनुमान कर लिया कि राजामें तत्त्वज्ञता विद्यमान है ॥ १ ॥

भद्र, मनोविकारोंसे निर्मुक्त होकर अनिन्दित आत्माका मननकर और विषय-क्षुधा भूलकर वह निश्चल समाधिमें निरत हो गया ॥ २ ॥

एतद्राम मयोक्तं ते वेतालप्रश्नजालकम् ।
एवं क्रमेण चिदणौ तेनेदं संस्थितं जगत् ॥ ३ ॥
चिदणोः कोशगं विश्वं विचारेण विलीयते ।
कायो वेतालकस्येव शिष्यते यत्परं तु तत् ॥ ४ ॥
संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनाऽन्तरात्मना ।
स्वभावापतितं कुर्वन्निरिच्छन् तिष्ठ शान्तधीः ॥ ५ ॥
आकाशविशदं कृत्वा मनसैव मनो मुने ।
तिष्ठैकशमशान्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६ ॥
स्थिरबुद्धिरसंमूढो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ।
राज्ञो भगीरथस्येव दुःसाध्यमपि सिद्ध्यति ॥ ७ ॥

हे श्रीरामजी, आपको मैंने इन वेतालप्रश्नोंका दिग्दर्शन कराया। भद्र, राजा द्वारा वर्णित उक्त क्रमसे ही चिद्रूपी अणुमें यह समस्त जगत् विद्यमान है ॥ ३ ॥

चिद्रूपी अणुके एक कोशमें स्थित यह विश्व विचारके द्वारा, बालक द्वारा भ्रान्तिसे कल्पित वेतालशरीरकी नाईं, विलीन हो जाता है और जो परमार्थभूत पद* है, वह बच जाता है ॥ ४ ॥

हे रामजी, अविचल अन्तरात्मासे चित्तको सब विषयोंकी ओरसे हटाकर परमात्मामें प्रतिष्ठित करते हुए शान्तबुद्धि आप निरीह (सर्वविध इच्छाओंसे निर्मुक्त) होकर स्थित हो जाइये ॥ ५ ॥

हे मननशील रामजी, मनसे ही मनको आकाशके सदृश विशद बनाकर एक वस्तुमें समस्त वृत्तियोंका लयकर उपरतचित्त और सर्वत्र ब्रह्मदर्शनसे युक्त होकर स्थित हो जाइये ॥ ६ ॥

भद्र, निश्चलबुद्धि और मूढ़तासे शून्य होकर आप स्थिर रहिये। देहयात्रार्थ प्रारब्धवश प्राप्त हुए अर्थसे सन्तुष्ट† रहनेवाले प्रयत्नशील पुरुषके लिए, भगीरथ राजाकी नाईं, दुःसाध्य अर्थ भी प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

* परमार्थभूत पद यानी प्राप्त करने योग्य त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूप स्थान।

† शरीरकी रक्षाके लिए अपने पूर्वकर्मके अनुसार जो भी कुछ प्राप्त हो जाय, उससे शरीरकी रक्षामात्र करनी चाहिए और उसी प्राप्त अर्थमें सदा सन्तोष करना चाहिए।

सम्पूर्णशान्तमनसः परितृप्तवृत्ते-
र्नित्यं समे सुखमयात्मनि तिष्ठतोऽन्तः ।
सिद्ध्यन्ति दुर्लभतरा अपि वाञ्छितार्था
गङ्गावतार इव सागरखातवस्तु ॥ ८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे वेतालाख्यानं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

यथा चित्तचमत्कृत्या राज्ञो गङ्गावतारणम् ।
भगीरथस्य सम्पन्नं तन्मे कथय भो प्रभो ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

आसीद्भगीरथो नाम राजा परमधार्मिकः ।
भुवः समुद्रयुक्ताया मण्डलीतिलकोपमः ॥ २ ॥

भद्र, जिसका पूर्णरूपसे मन शान्त हो गया है, जिसकी वृत्तियां पर्याप्तरूपसे तृप्त हो गई हैं, जिसकी आनन्दघनस्वरूप सम ब्रह्ममें निरन्तर निष्ठा है, उस महापुरुषको आखिरमें दुर्लभतर भी अभीष्ट अर्थ उस प्रकार सिद्ध होते हैं, जिस प्रकार शान्त्यादिगुणविशिष्ट भगीरथको सगरपुत्रोंके लिए और समुद्रके लिए सञ्जीवनमणिप्राय गङ्गावतरणरूप अत्यन्त दुर्लभ अर्थ सिद्ध हुआ ॥ ८ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

[भगीरथके गुण, उसकी विचारजनित चिन्ता और उसका त्रितलके साथ हुआ संवाद—इन सबका वर्णन]

श्रीरामभद्रने कहा—हे प्रभो, राजा भगीरथको चित्तकी पूर्णतादिरूप चमत्कृतिसे गङ्गावतरणरूप दुःसाध्य भी अर्थ जिस रीतिसे सिद्ध हुआ वह मुझसे कहिए ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, चारों समुद्रोंसे युक्त पृथिवीका अत्यन्त धार्मिक एक भगीरथ नामका राजा हुआ । वह अपनी कोशलमण्डलीमें तो तिलकके समान था ॥ २ ॥

सङ्कल्पानन्तरं प्राप्ता यथाभिमतमर्थिनः ।
चन्द्रप्रसन्नवदनादस्माच्चिन्तामणेरिव ॥ ३ ॥
साधूनां यो व्ययदस्थार्थं धनान्यविरतं ददौ ।
तृणमात्रमुपादत्ते कचिच्चिन्तामणिर्यथा ॥ ४ ॥
वज्रसारमिव प्रोतमुज्ज्वलन्नेमि योऽभिनत् ।
अधोमणिरयोयन्त्रं सर्वदुर्जनचेष्टितम् ॥ ५ ॥
अधूमवह्निदेहश्रीः श्रान्तोऽपि दैन्यमप्यलम् ।
तमोऽहरन्नृणां नैशं द्युमणिर्वेश्मनामिव ॥ ६ ॥
किरन्नग्निकणासारमभितः स्वप्रतापजम् ।
मध्याह्नसूर्यकान्ताग्निरिव ज्वलति योऽरिषु ॥ ७ ॥

उसकी दानमें प्रसिद्धि बतलाते हैं—'सङ्कल्पानन्तरम्' इत्यादिसे ।

चन्द्रमाकी नाईं प्रसन्न मुखवाले, चिन्तामणिके सदृश अभीष्ट अर्थोंको देनेवाले इस राजासे याचक गण अपने सङ्कल्पके उत्तरकालमें समीपगमन, शब्दोच्चारण आदि परिश्रमके बिना अभीष्ट अर्थ प्राप्त कर लेते थे ॥ ३ ॥

वह साधुओंकी रक्षाके लिए निरन्तर धन देता था, आयस्थानोंमें से अपने धर्मके अनुसार प्राप्त हुए तृणको भी लेता था। वह अर्थियोंके लिए तो कामधेनुके सदृश था ॥ ४ ॥

वज्रके सदृश कठिन पदार्थोंको छेदन करनेवाली ऊपरकी मणि लोहेसे बँधी दूसरी नीचेकी मणिको—अपनी कान्तिसे यन्त्रचक्रनेमिको चमकाती हुई—छेदकर तागेमें गूंथनेके योग्य जैसे बना देती है, वैसे ही राजा भगीरथने अत्यन्त बलशाली भी सब दुर्जनोंके देशोंपर आक्रमण द्वारा उनके मण्डलोंको अपने प्रतापसे उज्ज्वल एवं रथनेमिसे चिन्हित बनाते हुए उनके शस्त्रास्त्रोंको छीन करके उनके पैरोंमें बेड़ी पहनाकर उनकी काली करतूतोंको एक तरहसे नष्ट करके उन्हें गुणयुक्त बनाया था ॥ ५ ॥

धूमरहित अग्निके समान शरीरकी कान्तिसे युक्त वह राजा प्रजाओंकी रक्षाके लिए रात-दिन चारों ओर खूब घूमने-फिरनेसे स्वयं थका हुआ भी मनुष्योंके अधर्ममें प्रवृत्तिकी हेतुभूत घरकी अन्धकारस्वरूप दरिद्रताका पूर्णरूपसे उस तरह अपहरण करता था, जिस तरह रातकी अन्धकाररूपी दरिद्रताका सूर्य ॥ ६ ॥

अपने प्रतापसे जनित अग्निकिरणोंकी चारों ओर घनघोर वृष्टि करता हुआ वह

मृदुशीतलसंस्पर्शो यः समाह्लादयन्मनः ।
सुज्ञानां द्रवति स्निग्धस्येन्दोरिन्दुमणिर्यथा ॥ ८ ॥
जगद्यज्ञोपवीतस्य स्वर्गपातालवाहिनः ।
गङ्गावाहस्य येनाऽस्यां तृतीयः पूरितो गुणः ॥ ९ ॥
अगस्त्यशोषितोम्भोधिर्गङ्गापूरेण पूरितः ।
येन दुष्पूरभूतोऽपि महासार्थोऽर्थिनामिव ॥ १० ॥
गङ्गासोपानपद्धत्या येन पातालवासिनः ।
योजिता ब्रह्मणो लोके बान्धवा लोकबन्धुना ॥ ११ ॥
ब्रह्माणं शङ्करं जह्नुं तपसाऽऽराधयंश्च यः ।
भूयो भूयो ययौ खेदमशून्याध्यवसायिनः ॥ १२ ॥
यौवने वर्तमानस्य तस्य भूमिपतेरपि ।
प्रविचारयतो लोकयात्रां पर्याकुलामिमाम् ॥ १३ ॥

शत्रुओंके ऊपर उस तरह प्रज्वलित रहता था, जिस तरह मध्याह्नकालमें सूर्यकान्तमणिसे उत्पन्न अग्नि तृणादिके ऊपर प्रज्वलित रहती है ॥ ७ ॥

मृदु और शीतल स्पर्शवाला वह ब्रह्मतत्त्वज्ञानियोंकी सन्निधिमें उनके चित्तको आह्लादित करता हुआ उस प्रकार पिघल जाता था, जिस प्रकार स्निग्ध चन्द्रमाकी सन्निधिमें चन्द्रकान्तमणि ॥ ८ ॥

उसने स्वर्ग और पातालमें बहनेवाले गङ्गाके प्रवाहरूपी जगत्के यज्ञोपवीतका तीसरा तन्तु इस पृथिवीपर गङ्गाके अवतारणसे पूरा किया ॥ ९ ॥

उसने अगस्त्यमुनिसे शोषित सागरको गङ्गाके प्रवाहसे उस तरह पूरा किया, जिस तरह सब दिशाओंमें एक छोरसे दूसरे छोरतक भटक रहे दुष्पूरभूत भी याचकोंके समूहको धनसे पूरा किया ॥ १० ॥

संसारके प्राणियोंके द्रोही तथा ब्रह्मशापसे भस्मीभूत होनेके कारण अधोगतिको प्राप्त हुए अपने भाइयोंको उस लोकबन्धुने गङ्गारूपी सोपानपद्धतिसे अर्थात् गङ्गारूपी सीढ़ी लगाकर ब्रह्मलोकमें पहुँचाया ॥ ११ ॥

अपनी तपस्यासे ब्रह्मा, शङ्कर और जह्नुको प्रसन्न रखता हुआ वह अविच्छिन्न दृढ़ निश्चयसे युक्त अपने मनसे बार-बार क्लेशको प्राप्त हुआ ॥ १२ ॥

हे श्रीरामजी, युवावस्थामें वर्तमान आप ही के समान भयङ्कर इस लोकयात्राका खूब विचार कर रहे उस राजाको युवावस्थामें ही, अचानक मरुस्थलमें

सुविरागचमत्कारविचारकणिकोद्गता
वयस्यपि च तारुण्ये दैवाद्वल्ली लतेव ॥ १४ ॥
एकान्ते चिन्तयामास महीपतिरिमामिति ।
जगद्यात्रामिमां नित्यमसमञ्जसमाकुलम् ॥ १५ ॥
पुनर्दिनं पुनः श्यामा दानादानशतं पुनः ।
तदेव भुक्तविरसं लक्ष्यते कर्म कुर्वताम् ॥ १६ ॥
येन प्राप्तेन लोकेऽस्मिन्न प्राप्यमवशिष्यते ।
तत्कृतं सुकृतं मन्ये शेषं कर्म विषूचिका ॥ १७ ॥
पुनः पुनः पर्युषितं कर्म कुर्वन्न लज्जते ।
मूढबुद्धिरबुद्धिस्तु कः कुर्यात् किल बालवत् ॥ १८ ॥
अथैकदोद्विग्नमनाः कदाचित्त्रितलं गुरुम् ।
एकान्तं संसृतेर्भीतः समपृच्छद्भगीरथः ॥ १९ ॥

लताकी नाईं उत्तम वैराग्यरूपी चमत्कारसे परिपूर्ण विचारकी कणिका उत्पन्न हुई ॥ १३, १४ ॥

वह राजा एकान्तमें असमञ्जसमें पड़कर व्याकुल होकरके इस संसार-यात्राका प्रतिदिन यों विचार करने लगा—॥ १५ ॥

फिर दिन और फिर वही रात, फिर वही सैकड़ों दान देना और लेना तथा सभी प्राणियोंका वही भुक्त और नीरस कर्म दिखाई पड़ता है जिसे वे पुनः पुनः करते हैं; कोई अपूर्व कर्म तो दिखाई पड़ता नहीं, जिसका फल परम पुरुषार्थ हो ॥ १६ ॥

इस संसारमें जिसके प्राप्त हो जानेसे दूसरा कोई प्राप्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता, मैं उसी कृतको सुकृत समझता हूँ। अवशेष कर्म तो विसूचिका है यानी तत्-तत् फलप्राप्तिके साधनभूत किये गये कर्मोंका फल विसूचिकाकी नाईं अशुद्धिसे ग्रस्त दुःख ही है ॥ १७ ॥

पुनः पुनः पर्युषित कर्म कर रहा मूढबुद्धि प्राणी लज्जित नहीं होता। बुद्धिशून्य कोई प्राणी तो अवश्य ही बालककी तरह बार-बार एक ही कर्म करता रहेगा ॥ १८ ॥

इस तरह चिन्ता करनेके अनन्तर संसारसे अत्यन्त डरे हुए उद्विग्न मन होकर किसी एक दिन राजा भगीरथने अपने गुरु त्रितलसे पूछा—॥ १९ ॥

भगीरथ उवाच

अन्तःशून्यासु सुचिरं भ्रमत्संसारवृत्तिषु ।
अरण्यानीषु चैतासु भृशं खिन्ना वयं विभो ॥ २० ॥
जरामरणमोहादिरूपाणां भयकारिणाम् ।
भगवन् सर्वदुःखानां कथमन्तः प्रजायते ॥ २१ ॥

त्रितल उवाच

चिरसाम्यात्मनोत्थेन निर्विभागविलासिना ।
राजन् ज्ञेयावबोधेन पूर्णेन भरितात्मना ॥ २२ ॥
क्षीयन्ते सर्वदुःखानि त्रुट्यन्ति ग्रन्थयोऽभितः ।
संशयाः समतां यान्ति सर्वकर्माणि चाऽनघ ॥ २३
ज्ञेयं विदुरथाऽऽत्मानं संशुद्धं ज्ञप्तिरूपिणम् ।
स च सर्वगतो नित्यं नाऽस्तमेति न चोदयम् ॥ २४ ॥

भगीरथने कहा—विभो, खूब भ्रमण कर रहे जीवोंके सारहीन राग, द्वेष आदिसे युक्त सांसारिक व्यवहारोंमें तथा उन व्यवहारोंके फलभूत इन स्वर्ग-नरक-मनुष्यादि-स्वरूप बड़े-बड़े जङ्गलोंमें भटक रहे हम सब अत्यन्त खिन्न हो गये हैं ॥ २० ॥

भगवन्, संसारमें फँसानेवाले जरा-मरण-मोहादिरूप सब दुःखोंका अन्त कैसे होता है ॥ २१ ॥

त्रितलने कहा—हे पापशून्य राजन्, साधनचतुष्टयसम्पन्न श्रवण, मनन आदि उपायोंके द्वारा चिरकालसे अभ्यस्त हुई विक्षेप और वैषम्यसे शून्य समाधिसे तथा अनादिसिद्ध ब्रह्माकारवृत्तिसे आविर्भूत विशेषरहित स्फुरित हो रहे, अखण्ड और व्याप्त प्रत्यक्तत्त्वके अवबोधसे सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, चारों ओरसे ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, सब संशय तथा सब कर्म समताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २२, २३ ॥

इसके बाद सुनो, हे राजन्, तत्त्वज्ञानियोंने शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्माको ही ज्ञेय बतलाया है और वह आत्मा सर्वव्यापी तथा नित्य है। न तो वह अस्त होता है और न उदयको ही प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

भगीरथ उवाच

चिन्मात्रं निर्गुणं शान्तमेवेदं निर्मलमच्युतम् ।
देहादि नेतरत्किञ्चिदिति वेद्मि मुनीश्वर ॥ २५ ॥
किं तत्र प्रतिपत्तिर्मे स्फुटता नैति तेन मे ।
एतावन्मात्रसंवित्तिः स्यामहं भगवन् कथम् ॥ २६ ॥

त्रितल उवाच

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वमेति चेतो हृदम्बरे ।
ततः सर्ववपुर्भूत्वा भूयो जीवो न जायते ॥ २७ ॥

यों गुरु द्वारा उपदेश ग्रहण कर चुके राजा भगीरथ विवेकसे अपने-आप आत्मतत्त्वका हृदयमें पर्यालोचन करके आपाततः निश्चयकर उसमें विक्षेप होनेके कारण चित्तकी स्थिति न प्राप्तकर रहे, जिस अंशका उन्हें ज्ञान हो गया था उसे गुरुजीको निवेदन करके उसके स्फुट होने तथा उसमें जो विक्षेप पड़ता है उसकी शान्तिमें उपाय पूछते हैं—'**चिन्मात्रम्**' इत्यादिसे ।

भगीरथने कहा—हे मुनीश्वर, यह तो मैं अच्छीतरह जानता हूँ कि चिन्मात्र, निर्गुण, शान्त, निर्मल और अच्युत आत्मा है तथा देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्यापर्यन्त अन्य कुछ भी आत्मा नहीं है—यह भी आपके वचनमें विश्वास होने तथा अपने अनुभवसे मैं जानता हूँ ॥ २५ ॥

अभानका उपपादक जो अज्ञानांश तथा अन्यका अवभासक जो विक्षेपांश है वह नष्ट नहीं हुआ है, यह दिखलाते हैं—'**किम्**' इत्यादिसे ।

किन्तु सत् और असत्के विवेकज्ञानके बीचमें पहली सदात्मबोधरूपा जो मेरी प्रतिपत्ति है (सत्स्वरूप आत्माके बोधमें जो मेरा ज्ञान है) वह हस्तगत आमलककी तरह बिलकुल स्पष्टताको प्राप्त नहीं हो रही है, (स्थिर प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं हो रही है) इसमें क्या कारण है ? भगवन् , मैं किस उपायसे सम्पूर्ण विक्षेपोंकी शान्तिसे युक्त केवल चिन्मात्रानुसन्धानमय होऊँ ? [कृपाकर उस उपायको बतलाइये] ॥ २६ ॥

राज्यादिमें अभिमान होनेसे तत्-तत् विषयोंमें चित्तके बराबर दौड़ते रहनेके कारण भगीरथको विक्षेप होता है, इसलिए अभिमान आदिके प्रबल होनेसे ही उन्हें स्पष्ट आत्मज्ञान नहीं हो पाता, यह निश्चय करके भगीरथके गुरु त्रितलजी महाराज गीतोक्त अमानित्वादि साधनोंका उपदेश देते हैं—'**ज्ञानेन**' इत्यादिसे ।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ २८ ॥
आत्मनोऽनन्ययोगेन तद्भावनमनारतम् ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ २९ ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं तदतोऽन्यथा ॥ ३० ॥
रागद्वेषक्षयाकारं संसारव्याधिभेषजम् ।
अहंभावोपशान्तौ तु राजन् ज्ञानमवाप्यते ॥ ३१ ॥

त्रितलने कहा—हृदयाकाशमें यह चित्त अमानित्वादि ज्ञानसे 'ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि' इत्यादि भगवान् द्वारा दिखलाये गये ज्ञेयमें स्थिरता प्राप्त करता है यानी ज्ञेयमें स्थिर हो जाता है । उसके अनन्तर पूर्णस्वभाव होकर यह जीव फिर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् पूर्णस्वभावसे च्युत नहीं होता ॥ २७ ॥

अमानित्व आदिमें से कुछ साधनोंको पृथक्कर उनका अनुवाद और व्याख्यान करते हैं—'असक्ति०' इत्यादिसे ।

विषयोंमें आसक्तिका (रागका) अभाव; पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि विषयोंमें ममताका अभाव तथा इष्ट या अनिष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिमें निरन्तर हर्ष और विषादका अभाव ॥ २८ ॥

'मयि चाऽनन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' इसका तात्पर्यार्थ दिखलाते हैं—'आत्मनो०' इत्यादिसे ।

अनन्ययोगसे यानी अभेदभावसे (आत्मा ही ब्रह्म है आत्मा-तिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इस प्रकारकी अभेदभावनासे) अविच्छिन्न आत्मामें निरन्तर ब्रह्मभावना, पवित्र निर्जनदेशका सेवन, पामर अज्ञानियोंकी सभामें अनास्था, आत्मज्ञानके साधन वेदान्तशास्त्रमें तत्परता, तत्त्वज्ञानका फल-भूत जो मोक्षरूप अर्थ है उसकी सिद्धिके लिए प्रक्रियाका निरन्तर अनुसाधन, ये सब तत्त्वज्ञानके साधन होनेसे ज्ञानरूप कहे गये हैं । इनसे भिन्न अन्यान्य विषयज्ञानसाधन आत्मज्ञानके उत्पादक न होनेके कारण अज्ञान कहे गये हैं ॥ २९, ३० ॥

हे राजन्, अहंभावकी शान्ति हो जानेपर ही राग-द्वेषका विनाश कर देने-वाला तथा संसाररूपी व्याधिका भेषज आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त होता है । आत्मज्ञानके

भगीरथ उवाच

शरीरेऽस्मिंश्चिरारूढो गिरौ तरुरिव स्वके ।
अहंभावो महाभाग वद मे त्यज्यते कथम् ॥ ३२ ॥

त्रितल उवाच

पौरुषेण प्रयत्नेन त्यक्त्वा भोगौघभावनाम् ।
गत्वा विकसितां सत्तामहङ्कारो विलीयते ॥ ३३ ॥
यन्त्रणापञ्जरं यावद्भग्नं लज्जादि नाऽखिलम् ।
अकिञ्चनत्वशेषेण स्फुटा तावदहङ्कृतिः ॥ ३४ ॥
सर्वमेतद्धिया त्यक्त्वा यदि तिष्ठसि निश्चलः ।
तदहङ्कारविलये त्वमेव परमं पदम् ॥ ३५ ॥

जितने साधन हैं, उन सबकी प्राप्तिमें मूल तो अनहंभाव ही है। यदि अहंभाव बना रहा तो कोई भी पुरुष अमानित्व आदि साधनोंकी प्राप्ति नहीं कर सकता ॥ ३१ ॥

तब अहंकार-परित्यागका उपाय ही पहले मुझसे कहिये, इस अभिप्रायसे राजा भगीरथ पूछते हैं—'शरीरे' इत्यादिसे।

भगीरथने कहा—हे महाभाग, पर्वतमें दीर्घकालसे सुदृढ हुए वृक्षकी नाईं अपने शरीरमें दीर्घकालसे सुदृढ हुआ अहंभाव मैं किस उपायसे छोड़ सकता हूँ ॥ ३२ ॥

त्रितलने कहा—हे राजन्, ज्ञानाभ्यासरूपी पौरुष प्रयत्नसे नानाविध तुच्छ लौकिक विषयोंकी भावनाका पहले परित्याग कर, फिर विषयाभिलाषाका अभाव होनेसे परिस्फुट हुई शुद्ध आत्माकारताकी प्राप्तिकर व्यवस्थित हुए पुरुषमें अहंभाव विलीन हो जाता है ॥ ३३ ॥

हे महाराज, 'राज्यका परित्याग कर देनेसे जनता मेरा आदर नहीं करेगी, शत्रु लोग हँसेंगे, सबका अभिलषित पूर्ण करनेवाला मैं लोगोंसे कैसे भिक्षा माँगूगा, खराब अन्न, पान आदिसे कैसे जीऊँगा' इत्यादि चिन्तासे जनित लज्जा, अभिमान आदिसे बना हुआ घरमें पूर्ववत् नियन्त्रणारूपी पिँजड़ा जबतक सर्वत्यागसे पूरी तरह टूट-फूट नहीं जाता, तबतक यह अहङ्कृतिरूपी नर्तकी अत्यन्त विकसित होकर नाचती रहती है ॥ ३४ ॥

हे राजन्, यदि विचारबुद्धिसे उन सबका परित्यागकर तुम निश्चल होकर स्थित रहोगे, तो अहङ्कारका विलय हो जानेपर तुम्हीं स्वयं परमपदस्वरूप (ब्रह्मरूप) बन जाओगे ॥ ३५ ॥

शान्ताशेषविशेषणो विगतभीः संत्यक्तसर्वैषणो
गत्वा नूनमकिञ्चनत्वमरिषु त्यक्त्वा समग्रां श्रियम् ।
शान्ताहङ्कृतिरस्तदेहकलनस्तेष्वेव भिक्षामटन्
मामप्युज्झितवानलं यदि भवस्युच्चैस्त्वमुच्चैरसि ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भगीरथोपदेशो नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ तस्य गुरोर्वक्त्रादित्याकर्ण्य भगीरथः ।
मनस्याहितकर्तव्यः स्वव्यापारपरोऽभवत् ॥ १ ॥

सर्वत्याग ही अवश्य कर्तव्य है, इसलिए उसीका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करते हैं—'शान्ताशेष०' इत्यादिसे ।

हे राजन्, यदि तुम्हारे छत्र, चामर आदि समस्त राजचिह्न निवृत्त हो गये हैं, यदि तुम लज्जाके भयसे निर्मुक्त हो गये हो, यदि तुमने समस्त धनादिकी इच्छाओंका परित्याग कर दिया है, यदि तुम अकिञ्चन भावको प्राप्तकर और शत्रुओंके लिए ही सर्वविध ऐश्वर्यका परित्यागकर अहम्भावसे निवृत्त हो गये हो, यदि तुम अपने देहके अभिमानसे रहित होकर उन सब शत्रुओंमें ही भिक्षार्थ अटन कर रहे हो, यदि परिपूर्णभावकी प्राप्तिके कारण मुझ गुरुको भी प्रश्नोंसे छुटकारा दे रहे हो, तो तुम समस्त मुमुक्षुगुणोंसे ऊँचे होकर सर्वोपरि ब्रह्मस्वरूप मुक्त ही हो । अब फिर तुम्हारे लिए संसारकी संभावना कभी हो ही नहीं सकती ॥ ३६ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पचहत्तरवाँ सर्ग

[राजा भगीरथका यज्ञके व्याजसे सर्वस्वत्याग, भिक्षाटन और त्रितलके साथ कहीं पर्वतमें सहवास—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, तदनन्तर उन गुरुजीके मुखसे उस प्रकारका उपदेश सुनकर राजा भगीरथ मनमें कर्तव्य निश्चित कर अपने व्यापारमें तत्पर हो गये ॥ १ ॥

ततः कतिपयेष्वेव वासरेषु गतेषु सः ।
अग्निष्टोममखं चक्रे सर्वत्यागैकसिद्धये ॥ २ ॥
गोभूम्यश्वहिरण्यादि ददौ धनमशेषतः ।
द्विजेभ्यो निजबन्धुभ्यो गुण्यगुण्यविचारयन् ॥ ३ ॥
दिवसत्रयमात्रेण सर्वमेव परित्यजन् ।
असुमात्रावशेषोऽसावासीद्राजा भगीरथः ॥ ४ ॥
अथ सर्वार्थरिक्तं तत्खिन्नप्रकृतिपौरकम् ।
सीमान्तिने तृणमिव राज्यं स्वमरये ददौ ॥ ५ ॥
आक्रान्ते द्विषता राज्ये मुनिः सद्मनि मण्डले ।
अधोवासोऽवशेषोऽसौ निर्जगाम स्वमण्डलात् ॥ ६ ॥
यत्र न ज्ञायते नाम्ना यत्र न ज्ञायते मुखात् ।
यत्र ग्रामेष्वरण्येषु दूरेषूवास धैर्यवान् ॥ ७ ॥

तदनन्तर कुछ ही दिनके व्यतीत हो जानेपर राजा भगीरथने एकमात्र सर्व-त्यागकी सिद्धिके लिए अग्निष्टोम यज्ञका (विश्वजित् तकके सभी सोमसंस्थाओंका) अनुष्ठान किया ॥ २ ॥

विलम्ब हो जानेके भयसे उसने गुणी और अगुणीका कुछ विचार न कर ब्राह्मणों तथा अपने बन्धुओं को गौ, पृथ्वी, घोड़े, सुवर्ण आदि समस्त धन दे दिया ॥ ३ ॥

केवल तीन दिनमें ही सब कुछ दे डालनेवाले उस भगीरथ राजाके पास प्राणमात्र ही बच गये थे ॥ ४ ॥

तदनन्तर उसने समस्त अर्थोंसे रहित तथा खिन्न मन्त्री, नागरिक प्रजा आदिसे युक्त अपना राज्य सीमाकी समाप्तिमें स्थित पासके अपने शत्रुको तृणकी नाईं दे दिया ॥ ५ ॥

भद्र, जब महल, मण्डल और राज्यपर शत्रुने अधिकार कर लिया तब मननशील यह राजा एकमात्र कौपीन धारण कर अपने मण्डलसे निकल गया ॥ ६ ॥

अपने मण्डलसे निकलकर धैर्यवान् उस राजाने ऐसे दूरके अरण्य और गाँवोंमें निवास किया जहाँपर देख लेनेपर भी जनता यह नहीं जानती थी कि यह भगीरथ नामवाला राजा हैं, और न जनताके मुखसे वह राजा अपना नाम ही सुनता था ॥७॥

इत्यल्पेनैव कालेन प्रशान्तसकलैषणः ।
परमेण शमेनाऽसावाप विश्रान्तिमात्मनि ॥ ८ ॥
भ्रमन् द्वीपानि भूपीठे कदाचित्कालयोगतः ।
अवशः शत्रुणाऽऽक्रान्तं स्वमेव प्राप तत्पुरम् ॥ ९ ॥
नानागारांश्च तत्राऽसौ प्रवाहपतिताञ्च तान् ।
पौरांश्च मन्त्रिणश्चैव शमी भिक्षामयाचत ॥ १० ॥
विविदुस्ते नृपं पौरा मन्त्रिणश्च भगीरथम् ।
पूजयामासुरथ तं सविषादाः सपर्यया ॥ ११ ॥
प्रभो राज्यं गृहाणेति प्रार्थितोऽप्यरिणा मुनिः ।
नाऽऽदत्तेऽनादृताशेषस्तृणमप्यशनादृते ॥ १२ ॥
कतिचिद्दिवसांस्तत्र नीत्वाऽन्यत्र जगाम सः ।
भगीरथोऽयं हा कष्टमिति लोकेन शोचितः ॥ १३ ॥
अथाऽन्यत्रोपशान्तात्मा परिविश्रान्तधीः सुखी ।
आत्मारामं कदाचित्तु स प्राप त्रितलं गुरुम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार व्यवहार कर रहा राजा थोड़े ही समयमें समस्त एषणाओंसे निर्मुक्त होकर उत्तम शमताके कारण आत्मामें विश्रान्तिको प्राप्त हो गया ॥ ८ ॥

इस भूपीठके अनेक द्वीपोंपर चक्कर लगा रहा वह भगीरथ किसी समय कालकी महिमासे परवश होकर शत्रुद्वारा आक्रान्त उस अपने ही नगरमें प्राप्त हुआ ॥ ९ ॥

वहाँ जितेन्द्रिय राजाने क्रमप्राप्त उन अनेक घरों, नागरिकों और मन्त्रियों से भिक्षाकी याचना की ॥ १० ॥

उन नागरिकों और मन्त्रियोंने राजा भगीरथको जान लिया और उन्होंने विषादयुक्त होकर पूजन-सामग्रीसे विधिवत् उसकी पूजा की ॥ ११ ॥

'हे प्रभो, 'आप अपना राज्य ले लीजिये' इस प्रकार शत्रुद्वारा प्रार्थित भी वह मननशील राजा, जिसने समस्त राज्यका परित्याग कर दिया था, भोजनके सिवा तृणमात्रका भी ग्रहण नहीं करता था ॥ १२ ॥

कुछ दिन वहाँपर बिताकर वह अन्यत्र चला गया । लोगोंने उस समय क्या ये ही भगीरथ राजा हैं, ये ही हम लोगोंको छोड़कर चले गये, अहो महान् कष्ट है, इस प्रकार उसके विषयमें शोक किया ॥ १३ ॥

तदनन्तर दूसरे स्थानोंमें विचरण कर रहे, शान्तचित्त, एकमात्र आत्मामें

स्वमेव स्वागतं कृत्वा तेन सार्धं भगीरथः ।
कञ्चित्कालमुवासाऽद्रौ वने ग्रामे पुरे जने ॥ १५ ॥
समतामुपयातौ तौ गुरुशिष्यौ समौ स्थितौ ।
कलयामासतुः स्वस्थौ विनोदं देहधारणम् ॥ १६ ॥
किमयं धार्यते देहः किंवाऽनेनोज्झितेन नः ।
यथाक्रमं यथाचारं तिष्ठत्वेष यथास्थितम् ॥ १७ ॥
इति निश्चित्य तिष्ठन्तौ तौ वनाद्वनगामिनौ ।
अनानन्दं परानन्दं नाऽसुखं न च मध्यमम् ॥ १८ ॥
धनानि वाजिविभवाद्यैश्वर्यं चाऽष्टधोदितम् ।
सिद्धैरप्यर्पितं तुष्टैर्मेनाते जर्जरं तृणम् ॥ १९ ॥

मनको लगा रहे परम सुखी उस राजाने किसी समय अपने आत्मारामी त्रितल-नामक गुरुको प्राप्त किया ॥ १४ ॥

प्रणाम आदिसे अपने गुरुका समर्चनकर उनके साथमें कुछ कालतक पर्वत वन, गाँव, नगर और अनेक सत्पुरुषों में निवास किया ॥ १५ ॥

ब्रह्मरूपताको प्राप्त हुए वे दोनों गुरु-शिष्य एकरूपसे स्थित रहे और अपने स्वरूपमें स्थित होकर वे दोनों 'देहधारण एक कौतुकमात्र है' यों विचार करते थे—॥ १६

यह शरीर यदि धारण किया जाय, तो इससे हम लोगोंकी कौन-सी भलाई है अथवा यदि यह परित्यक्त हो जाय, तो इससे हम लोगोंकी कौन-सी बुराई है ? यह शास्त्रोक्त क्रम और वृद्धप्राप्त आचारका अनुसरण कर भले ही यथावस्थित पड़ा रहे ॥ १७ ॥

यों विचारकर अवस्थित हुए वे एक वनसे दूसरे वनमें जा रहे गुरु-शिष्य विषयानन्दोंसे निर्मुक्त ऐसे परानन्दको प्राप्त कर रहे थे, जो दुःखरहित तथा सुख-दुःखकी मध्यवर्ती अवस्थासे भिन्न है ॥ १८ ॥

उन दोनोंका मानुष भोगोंके सदृश दिव्य भोगोंमें भी वैराग्य बतलाते हैं—'धनानि' इत्यादिसे ।

उन दोनोंने उत्तम धन घोड़े आदि वैभवोंको तथा चरितोंसे सन्तुष्ट ब्रह्मा आदि सिद्धों द्वारा दिये गये अणिमादि आठ तरहके ऐश्वर्योंको जर्जर तृणके सदृश तुच्छ समझ रक्खा था ॥ १९ ॥

स्वकर्मणैव देहोऽयं यावत्सत्त्वमनिच्छया ।
धारणीय इति स्वेन कर्मणैवाऽथ तस्थतुः ॥ २० ॥

अभिननन्दतुरागतमुत्तमौ
निजसमाचरणक्रमजं मुनी ।
सुखमसौख्यमभीप्सितवर्जितौ ।
समसमेऽतिसमौ शमिनौ स्वतः ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भगीरथनिर्वाणं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथैकदा पुरे श्रेष्ठे कस्मिंश्चिन्मण्डलान्तरे ।
अनपत्यं नृपं मृत्युरहन् मत्स्य इवाऽऽमिषम् ॥ १ ॥

प्रारब्ध कर्मके अनुसार ही जबतक आयु है तबतक अनिच्छासे भी यह धारण करना चाहिए, ऐसा निश्चय कर वे अपने कर्ममें स्थित थे ॥ २० ॥

भद्र, वे उत्तम दोनों मुनि अपने पूर्वके आचरणक्रमसे उत्पन्न यथासमय प्राप्त सुख और दुःख दोनोंका अभिनन्दन करते थे । वे सर्वविध इच्छाओंसे वर्जित थे और समसे भी समरूप ब्रह्ममें एकरसस्वरूप होकर ब्रह्मस्वभावसे ही परम शान्तिसे युक्त हो गये थे ॥ २१ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

छिहत्तरवाँ सर्ग

[भगीरथको पुनः राज्यप्राप्ति और ब्रह्मा, रुद्र आदिकी आराधना करनेसे गङ्गाजीका भूतलपर अवतरण]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—किसी एक अन्य मण्डलमें विद्यमान किसी एक उत्तम नगरमें पुत्ररहित राजाको मृत्युने उस प्रकार मार डाला, जिस प्रकार क्षुद्र मत्स्यको महामत्स्य मार डालता है ॥ १ ॥

तत्र प्रकृतयः खिन्ना नष्टदेशक्रमा नृपम् ।
अन्विष्यन्ति स्म संयुक्तं गुणलक्ष्म्या विशालया ॥ २ ॥
तं भगीरथमासाद्य स्थिरं भिक्षाचरं मुनिम् ।
परिज्ञाय समानीय सैन्ये चक्रुर्महीपतिम् ॥ ३ ॥
भगीरथः क्षणेनैव प्रावृषीवाऽम्बुना सरः ।
वलितः सेनया गुर्व्या झटित्याशिश्रिये गजम् ॥ ४ ॥
भगीरथो जगन्नाथो जयतीति जनारवैः ।
नीरन्ध्रतामुपाजग्मुर्गिरीन्द्राणां महागुहाः ॥ ५ ॥
तत्र तं पालयन्तं तद्राज्यं राजानमादृताः ।
आजग्मुः प्राक्प्रकृतयः प्राहुरित्थं नृपाधिपम् ॥ ६ ॥

जिनके देशकी पालनमर्यादा नष्ट हो चुकी थी, ऐसे उस देशके उदासीन अमात्य जन आदि प्रजावर्ग पालनयोग्य उदार गुण-लक्ष्मीसे युक्त किसी एक सुन्दर राजाके अन्वेषणमें थे ॥ २ ॥

योग्य राजाके अन्वेषणमें तत्पर वे अमात्यादि प्रकृतिवर्ग भिक्षाचरणमें निरत स्थिर भगीरथ मुनिके पास आकर 'प्रजापालनयोग्य समस्त शुभ गुणोंसे यह समन्वित है' यह निश्चयकर वहाँपर आये हुए सैन्यमें अभिषेककर उसे महीपति बना दिया ॥ ३ ॥

वर्षाकालमें जिस प्रकार सरोवर क्षणभरमें ही जलसे परिवृत्त हो जाता है उसी प्रकार राजा भगीरथ भी बड़े सैन्यसे परिवृत्त हो गये और तत्काल ही हाथीपर चढ़ गये ॥ ४ ॥

जगत्-स्वामी महाराज भगीरथकी जय हो, जय हो, इस प्रकार जनोंके जय-घोषोंसे पर्वतराजोंकी बड़ी-बड़ी गुफाएँ व्याप्त हो गईं ॥ ५ ॥

उसी समय दैववश कोशलराज्यका अपहरण करनेवाला राजा भी मर गया, इसलिए अयोध्यावासी जन भी भगीरथके पास आकर प्रार्थना करने लगे, यह कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

वहाँपर उस राज्यका परिपालन कर रहे राजा भगीरथके पास आदरयुक्त पहलेके अयोध्यावासी मन्त्री, पुरोहित आदि प्रकृतियाँ आईं और राजाधिराजसे यों कहने लगीं—॥ ६ ॥

प्रकृतय ऊचुः

राजन्नस्माकमधिपो यस्त्वया स पुरस्कृतः ।
मृत्युना विनिगीर्णोऽसौ मत्स्येनेवाऽऽमिषं मृदु ॥ ७ ॥
तत्तत्पालयितुं राज्यं प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
अप्रार्थितोपयातानां त्यागोऽर्थानां च नोचितः ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति संप्रार्थितो राजा तदङ्गीकृत्य तद्वचः ।
सप्तसागरचिह्नायाः स बभूव भुवः पतिः ॥ ९ ॥
समः शान्तमना मौनी वीतरागो विमत्सरः ।
प्राप्तकार्यैककरणः स तिरोहितविस्मयः ॥ १० ॥
पातालतलनष्टानां सागराकारकारिणाम् ।
पितामहानां गङ्गाम्बु शुश्रुवे तारणक्षमम् ॥ ११ ॥

प्रकृतियोंने कहा—राजन्, राज्य छोड़ते समय आपने सीमाकी समाप्तिमें स्थित अपने शत्रु राजाको राज्यदानसे पुरस्कृत किया था उसे मृत्युने उस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार कोमल छोटे मत्स्यको महामत्स्य निगल जाता है ॥ ७ ॥

हे महाराज, इस कारणसे अपने पूर्व राज्यकी रक्षा करनेके लिए आप दया कीजिये । बिना अभिलाषाके प्राप्त हुए अर्थोंका त्याग करना उचित नहीं है ॥ ८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इस प्रकार प्रकृतिवर्गसे भलीभाँति प्रार्थित हुआ राजा भगीरथ उनके वचन तथा उक्त राज्यका अङ्गीकार कर सात समुद्रोंके चिन्होंसे युक्त पृथिवीका स्वामी हुआ ॥ ९ ॥

वह सर्वत्र समभाव रखता था । उसके मनमें शान्ति विराज रही थी । उसकी मित, हित और सत्य वाणी थी । उसकी समस्त विषयोंसे प्रीति हट गई थी । उसमें मत्सरका तो नाम-निशान नहीं था । प्राप्त हुए कार्योंको एकमात्र कर डालना ही उसका स्वभाव था । बड़े-बड़े कौतुकपूर्ण अर्थोंमें उसे तत्त्वज्ञानके कारण कभी आश्चर्यताबुद्धि होती ही नहीं थी ॥ १० ॥

अश्वका अन्वेषण करनेके लिए भूमि खोदकर सागरके सदृश गर्त निर्माण करनेका जिनका स्वभाव था और जो कपिलके उद्दाम क्रोधाग्निसे पातालतलमें भस्मीभूत हो चुके थे ऐसे अपने पितामहोंका तारण करनेमें गङ्गाजल ही स्नान और

तदा किल स्वर्गनदी वहति स्म न भूतले ।
पितॄणां भूतविख्योऽभूत्तेन गङ्गाजलाञ्जलिः ॥ १२ ॥
भगीरथेन च महीमवतारयितुं दिवः ।
गङ्गां गृहीतो नियमस्ततः प्रभृति भूभृता ॥ १३ ॥
ततो राज्यं परित्यज्य मन्त्रिणां भूपतिः शमी ।
तपसे कार्यकार्येहो जगाम विजनं वनम् ॥ १४ ॥
तत्र वर्षसहस्रैश्च समाराध्य पुनः पुनः ।
ब्रह्माणं शङ्करं जह्नुं श्रुति गङ्गामयोजयत् ॥ १५ ॥
ततः प्रभृत्यमलतरङ्गभङ्गिनी
जगत्पतेः शशिविभृदङ्गसङ्गिनी
नभस्तलाभिपतति गां त्रिमार्गगा
महात्मनामिव बहुपुण्यसंततिः ॥ १६ ॥

जलाञ्जलिप्रदान द्वारा समर्थ है, प्राकृत जल नहीं, यों उसने जनपरम्परासे तार्क्ष्य-वचन सुना ॥ ११ ॥

उस समय भूतलपर गङ्गाजी तो थीं ही, फिर वहींपर पितामहोंको जलाञ्जलि उसने क्यों नहीं दी, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—'तदा' इत्यादिसे ।

भद्र, उस समय इस भूतलपर गङ्गाजी नहीं बहती थीं । इसीलिए भगीरथ द्वारा ही दूसरोंके पितरोंके लिए भी गङ्गाजलकी अञ्जलि देना प्रसिद्ध हो गया ॥ १२ ॥

उक्त जनश्रुति जिस दिन उसके कानमें आई, उसी दिनसे पृथिवीपालक राजा भगीरथने गङ्गाजीको स्वर्गसे पृथिवीपर लानेके लिए कठोर नियम धारण किया ॥ १३ ॥

तदनन्तर भूतलपर गङ्गाजीको लानेके लिए कठोरतम उपायका अवलम्बन करनेके लिए चेष्टा रखनेवाला जितेन्द्रिय पृथिवीपति भगीरथ मन्त्रियोंके सिरपर समस्त राज्यभार छोड़कर तपके लिए निर्जन अरण्यमें चला गया ॥ १४ ॥

उस विजन अरण्यमें हजार वर्षतक ब्रह्माजी, शङ्करजी और जह्नुकी बार-बार आराधना कर उसने इस पृथिवीतलपर गङ्गाजीका सम्बन्ध कराया ॥ १५ ॥

तबसे लेकर यह पुण्यतोया त्रिपथगा गङ्गाजी, जो निर्मल तरङ्गमालाओंसे रञ्जित, जगत्पति शशिभूषण शिवजीके मस्तकमें सुशोभित तथा स्वर्गवासियोंकी बड़ी पुण्यसन्ततिरूपा है आकाशतलसे पृथिवीपर गिरती हैं ॥ १६ ॥

स्फुरत्तरङ्गभङ्गिनी स्वफेनपुञ्जहासिनी
प्रसन्नपुण्यमञ्जरीयुतेव धर्मसन्ततिः ।
भगीरथे महीपतौ यशःप्रचारवीथिका
तदा हि सा त्रिमार्गगा महीतले बभूव ह ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे गङ्गावतरणं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतामवष्टभ्य दृशं भगीरथधिया धृताम् ।
समः स्वस्थो यथाप्राप्तं कार्यमाहर शान्तधीः ॥ १ ॥
इदं पूर्वं परित्यज्य क्रोडीकृत्य मनःखगम् ।
शान्तमात्मनि तिष्ठ त्वं शिखिध्वज इवाऽचलः ॥ २ ॥

चञ्चल तरङ्गमालाओंसे सुशोभित, अपने फेनपुञ्जरूप हाससे युक्त, प्रसन्न पुण्यरूपा मञ्जरीसे समन्वित तथा धर्मकी सन्ततिस्वरूप यह त्रिमार्गगामिनी गङ्गा उसी समयसे लेकर इस पृथिवीपर पृथिवीपति भगीरथके लिए समुद्रपर्यन्त कीर्ति प्रसारार्थ एकतरहकी वीथिका ही बन गई हैं॥ १७ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

[कथित अर्थकी दृढ़ताके लिए चूडालाका आख्यान, शिखिध्वजका माहात्म्य तथा विवाहक्रीडाका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, महाराज भगीरथने पीछेके राज्यकालमें जिस विचारपूर्णबुद्धिसे दृष्टि धारण की थी, उसी दृष्टिका अवलम्बन कर आप शम, स्वस्थ और प्रशान्तबुद्धि होकर प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्योंका निर्वाह कीजिए॥ १ ॥

पहले इस अपने वैभवका परित्यागकर और मनरूप पक्षीका हृदयमें निरोधकर, अविचल शिखिध्वजकी नाई, आप शान्तिपूर्वक अपने स्वरूपमें स्थित रहिये ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

कोऽसौ शिखिध्वजो नाम कथं वा लब्धवान् पदम् ।
एतन्मे कथय ब्रह्मन् भूयो बोधविवृद्धये ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

द्वापरेऽभवतां पूर्वमिदानीं च भविष्यतः ।
तेनैव संनिवेशेन दम्पती स्निग्धतां गतौ ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

यत्पूर्वमासीद्भगवंस्तदिदानीं तथैव हि ।
भविष्यति किमर्थं वै वद मे वदतां वर ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

जगन्निर्माणनियतेरस्या ब्रह्मादिसंविदः ।
ईदृश्यवस्थितिर्नित्यमनिवार्यस्वभावजा ॥ ६ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे ब्रह्मन्, यह शिखिध्वज कौन था और उसने परम पद कैसे प्राप्त किया ? गुरुवर, बोधवृद्धिके लिए उसका चरित्र फिर मुझसे कहिए ॥ ३ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, पहले कल्पमें द्वापरमें पति-पत्नीका एक जोड़ा हुआ था । अब इस अट्ठाईसवें चतुर्युगके अग्रिम द्वापरमें उसी रूपका वही एक दूसरेके प्रति स्निग्ध प्रेम रखनेवाला फिर पति-पत्नीका दूसरा जोड़ा उत्पन्न होगा ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, जो पूर्वमें जिस रूपका था, वह उसी रूपका फिर कैसे होगा ? हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ, आप उसका कारण मुझसे कहिए । तात्पर्य यह है कि भूत और भविष्यत् कालिक वस्तुओंके सादृश्यमें हेतु क्या है ॥ ५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इस जगत्के निर्माणमें नियतिरूप ब्रह्मादिकी जो सत्यसङ्कल्परूपा संविचि है, उसकी अनिवार्यस्वभावजनित ऐसी ही निरन्तर स्थिति है यानी नियतिका अनिवार्यस्वभाव ही उनके सादृश्यमें कारण है ॥ ६ ॥

यदन्यद्बहुशो भूत्वा पुनर्भवति भूरिशः ।
अभूत्वैव भवत्यन्यः पुनश्च न भवत्यलम् ।
अन्यत्प्राक्संनिवेशाढ्यं सादृश्येन विवल्गति ॥ ७ ॥
सदृशा विषमाश्चैव यथा सरसि वीचयः ।
ता एवान्याश्च दृश्यन्ते व्यवस्थाः संसृतौ तथा ॥ ८ ॥
तस्माद्राजेव भूयोऽपि वक्ष्यमाणकथेश्वरः ।
भविष्यति महातेजास्तद्वृत्तान्तमिमं शृणु ॥ ९ ॥
द्वापरे पूर्वमभवद्तीते सप्तमे मनौ ।
चतुर्युगे चतुर्थे तु सर्गेऽस्मिन्कुरुणां कुले ॥ १० ॥
जम्बूद्वीपे प्रसिद्धस्य विन्ध्यस्याऽदूरसंस्थिते ।
मालवानां पुरे श्रीमाञ्छिखिध्वज इतीश्वरः ॥ ११ ॥
धैर्यौदार्यदयायुक्तः क्षमाशमदमान्वितः ।
शूरः शुभसमाचारो मौनी गुणगणाकरः ॥ १२ ॥

इसी अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं—'यदन्य०' इत्यादिसे ।

क्योंकि देखिये—एक ही आमके वृक्षमें पहले अनेक फल उत्पन्न होकर फिर कालान्तरमें उसी रूपके अनेक फल उत्पन्न होते हैं और उसी आमके स्कन्धपर वट अभूतपूर्व ही उत्पन्न होता है । काट दिये जानेपर तो फिर वहाँ नहीं उत्पन्न होता ॥ ७ ॥

ऐसी स्थितिमें जैसे सरोवरमें तरङ्ग सदृश, विसदृश एवं पूर्वके तरङ्ग अन्यरूप दिखाई पड़ते हैं वैसे ही शिखिध्वज आदिके संसारमें भी स्थिति है ॥ ८ ॥

इसलिए भूतकालीन शिखिध्वज राजाके सदृश दूसरा महातेजस्वी राजा फिर भी होगा । वही कही जानेवाली कथाका नायक है । उसका यह वृत्तान्त आप सुनिये ॥ ९ ॥

अतीत कालीन साँतवें मनुकी चतुर्थ चतुर्युगीके द्वापर युगमें कुरुवंशमें इसी सृष्टिमें शिखिध्वज नामका राजा हुआ था ॥ १० ॥

जम्बुद्वीपमें प्रसिद्ध विन्ध्याचलके समीपमें स्थित मालवदेशकी उज्जैनी नगरीमें वह ऐश्वर्यसम्पन्न शिखिध्वजनामसे प्रसिद्ध होकर समस्त देशका नियन्त्रण करता था ॥ ११ ॥

वह धैर्य, औदार्य आदि धर्मोंसे युक्त था, उसमें क्षमा, शम, दम, विद्यमान

आहर्ता सर्वयज्ञानां जेता सर्वधनुष्मताम् ।
कर्ता सकलकार्याणां भर्ता पूर्वंवपुर्भुवः ॥ १३ ॥
पेशलस्निग्धमधुरो विदग्धः प्रीतिसागरः ।
सुन्दरः शान्तसुभगः प्रतापी धर्मवत्सलः ॥ १४ ॥
वदिता विनयार्थानां दाता सकलसम्पदाम् ।
भोक्ता सत्सङ्गसहितः सुश्रोता सकलश्रुतेः ॥ १५ ॥
वेदाऽसौ माननाशून्यः स्त्रैणं तृणवदस्पृशन् ।
पितरि स्वर्गमापन्ने बाल एवोत्तमौजसा ॥ १६ ॥
कृत्वा षोडशवर्षाणि स्वयं दिग्विजयं वशी ।
नूनं साम्राज्यसम्पत्त्या भूमण्डलमयोजयत् ॥ १७ ॥

थे, वह वीरतासे परिपूर्ण था, शुभ कर्मोंके अनुष्ठानमें निरन्तर लगा रहता था, आत्मश्लाघा आदि दोषोंसे वर्जित था, थोड़ेमें यों कहिये कि समस्त गुणगणोंका आकर था ॥ १२ ॥

समस्त यज्ञोंका निरन्तर अनुष्ठान करता था, उसने बड़े-बड़े धनुर्धारियोंका दर्पदलन किया था, बापी, कूप तडाग आदि लोकोपयोगी अनेक शुभ कार्योंका निर्माण किया था और पूर्वरूप पृथिवीका पालन करता था ॥ १३ ॥

वह देखनेमें कोमल, सम्बन्धमें स्निग्ध और वाणीमें मधुर था, लोक और शास्त्रमें निष्णात था, प्रेमका समुद्र था । वह सुन्दर, शान्त, भाग्यवान्, प्रतापी और धर्मवत्सल था ॥ १४ ॥

दूसरोंके लिए विनय आदि शिक्षाप्रद वाक्योंका प्रयोग करता था, अर्थियोंको अभीप्सित समस्त अर्थसम्पत्तियाँ देता था । वह उत्तम अर्थोंका भोक्ता, सत्संगसे युक्त और समस्त वेद-शास्त्रोंका उत्तम श्रोता था ॥ १५ ॥

वह शिखिध्वज सब कुछ जानता था, तथापि उसमें तनिक भी विज्ञताका अभिमान नहीं था । स्त्रीव्यसन आदिका तो तृणवत् उसने त्याग कर दिया था ॥ १६ ॥

बाल्यकालमें ही उसके पिता स्वर्ग चल दिये थे । तभीसे अपने बाहुबलसे जितेन्द्रिय उस शिखिध्वजने सोलह वर्षतक स्वयं ही दिग्विजयकर अखिल भूमण्डलको अपनी साम्राज्यसम्पत्तिमें परिणत कर दिया ॥ १६, १७ ॥

अतिष्ठद्विगताशङ्कं पालयन्धर्मतः प्रजाः ।
स धीमान्मन्त्रिभिः सार्धं यशसा शुक्लयन् दिशः ॥ १८ ॥
अथ गच्छत्सु वर्षेषु वसन्ते प्रोल्लसत्यलम् ।
पुष्पेषु जृम्भमाणेषु स्फुरत्सु शशिरश्मिषु ॥ १९ ॥
मञ्जरीजालदोलासु विटपान्तःपुरान्तरे ।
रजःकर्पूरधवले वलद्दलकपाटके ॥ २० ॥
आमोदविलसत्पुष्पगुलुच्छकवितानके ।
गायत्सु गहनेषूच्चैर्मिथुनेष्वलिनां मिथः ॥ २१ ॥
आवाति मधुरे वायौ शशिशीकरशीतले ।
कदलीकन्दलीकच्छतलपल्लवलासिनि ॥ २२ ॥
कान्तां प्रतिबभूवाऽस्य वसच्चेतः समुत्सुकम् ।
क्षीबं कुसुमसम्भारसौगन्ध्यमधुरासवैः ॥ २३ ॥

अनन्तर समस्त चोर आदि प्रजापीडक शत्रुओंकी शङ्कासे निर्मुक्त होकर धर्मसे प्रजाका पालन कर रहा वह बुद्धिमान् शिखिध्वज मन्त्रियोंके साथ अपने यशसे दिशाओंको धवलित करते हुए स्थित था ॥ १८ ॥

अनन्तर उसके बाल्यकालके वर्ष समाप्त हो गये और यौवनकालके वर्ष प्रारम्भ हो गये। इधर वसन्त ऋतुने भी अपना स्वरूप भलीभाँति विकसित किया। बन-उपवनमें फूल खिल रहे थे, आकाशमें चांदनी खिल रही थी। वृक्षोंकी शाखारूप अन्तःपुरके भीतर—जो रजरूपी कर्पूरसे धवलित; संवरणशील पत्ररूप कपाटोंसे युक्त तथा आमोदसे विलास कर रहे पुष्प-गुच्छोंके चँदुएसे युक्त था—विद्यमान मञ्जरियोके हिंडोलोंपर भ्रमरोंके जोड़े मिलकर गहनतम गीत गा रहे थे। एवं शशी और शीकरोंसे शीतल तथा कदली और कन्दलियोंके कच्छतल एवं पल्लवोंपर नृत्य कर रहा मधुर वायु चारों ओर बह रहा था। ऐसे समयमें इस शिखिध्वजका [किसी एक समस्तरमणीगुणोपेत पूर्वश्रुत चूडालामें] अनुरक्त हुआ चित्त कमनीय कामिनीके प्रति उत्कण्ठित हो उठा। वसन्तयुक्त वनके सदृश कुसुमसमूहोंके सौगन्ध्यरूप मधुर आसवोंसे मत्त उसका रागपल्लवित मन रमणीको छोड़कर दूसरे किसी भी विषयमें नहीं लगता था। उसकी उत्सुकता इतनी बढ़ गई थी कि रात-दिन यह चिन्तन करता था—हेमकमलोंके मुकुलोंके

मनो नाऽन्यास्पदं चक्रे मधमत्तमित्रोदितम् ।
उद्यानवनदोलासु लीलाकमलिनीषु च ॥ २४ ॥

कदा प्रणयिनीं मुग्धां हेमाब्जमुकुलस्तनीम् ।
करिष्ये कामिनीमङ्के पर्यङ्के कुङ्कुमाङ्किताम् ॥ २५ ॥

कदाक्रमलवल्लीनां दोलास्वलिरिवाऽलिनीम् ।
आलोलां तां निवेक्ष्यामि बालां भुजलतानुगाम् ॥ २६ ॥

मृणालहारकुन्देन्दुवृन्दवल्ल्यभिलाषिणी ।
मत्कृते मदनातप्ता कदा स्यादिन्दुसुन्दरी ॥ २७ ॥

इति चिन्तापरो भूत्वा कुसुमावचयोन्मुखः ।
विजहार वनान्तेषु कुसुमोपवनेषु च ॥ २८ ॥

वनोपवनलेखासु लीलाकमलिनीषु च ।
वल्लीवलयगेहेषु विविधोद्यानभूमिषु ॥ २९ ॥

सदृश स्तनवाली मुग्ध उस प्रणयिनी कामिनीको मैं कब लीलार्थ निर्मित सरोवरोंमें, उद्यान-वनके हिंडोलोंपर और पर्यङ्कपर अपने अङ्कमें कुङ्कुमाङ्कित करूँगा ॥ १९—२५ ॥

क्रमक वल्लियोंके दोलाओंपर, अलिनीको अलिके सदृश, अतिचपल उस बालाको मैं अपनी भुजलतामें अनुगत कब करूँगा ॥ २६ ॥

मेरे सदृश उस बालाको भी स्वामिलाषाजनित सन्ताप कब होगा, जिससे कि हम दोनोंका संघटन शीघ्र हो जाय, इस आशयसे कहते हैं—'मृणाल०' इत्यादिसे ।

मृणाल, हार, कुन्द और इन्दु सदृश प्रस्फुरित लताघरोंके रूपसे पुञ्जीभूत वल्लियोंकी अभिलाषिणी होकर मेरे लिए वह इन्दुसुन्दरी कान्ता मदनसन्तप्त कब होगी ! ॥ २७ ॥

इस प्रकारकी चिन्तासे व्याकुल होकर कुसुमोंके संग्रहमें उन्मुख हो वनोंमें और कुसुमपूर्ण उपवनोंमें विहार करने लगा ॥ २८ ॥

उसने अनेक वन और उपवनोंमें, लीलासरोवरोंमें, लतागृहोंमें तथा विविध उद्यान-भूमियोंमें विहार किया ॥ २९ ॥

वनोपवनविन्यासवर्णनावलितासु च ।
शृङ्गाररसगर्भासु कथास्वरमतोन्मनाः ॥ ३० ॥
हृदि हारलसत्कायविलोलालकवल्लरीः ।
कुमारीः पूजयामास सुवर्णकलशस्तनीः ॥ ३१ ॥
एतन्मन्ये विदूर्भव्या मन्त्रिणो नृपनिश्चयम् ।
इङ्गिताकारवेदित्वमेव मन्त्रिपदं परम् ॥ ३२ ॥
अथ तस्य विवाहाय मन्त्रिवर्गो विचारयन् ।
सुराष्ट्राधिपतेः कन्यां ययाचे यौवतान्विताम् ॥ ३३ ॥
नवयौवनसम्पन्नां भार्यात्वे विधिनोत्तमाम् ।
उपयेमे स तामात्मसदृशीं प्रतिमामिव ॥ ३४ ॥
चूडालेति भुवि ख्याता नाम्ना नृपतिसुन्दरी ।
सा तं भर्तारमासाद्य रेजे फुल्लेव पद्मिनी ॥ ३५ ॥
नीलनीरजनेत्रान्तां चूडालां स शिखिध्वजः ।
स्नेहाद्विकासयामास सूर्यो देवो यथाऽब्जिनीम् ॥ ३६ ॥

उन्मना होकर उसने वन और उपवनके गुणवर्णनमें सम्बद्ध और शृङ्गाररससे परिपूर्ण कथाओंमें रमण किया। उसने सुवर्णकलशके सदृश स्तनवाली, हारसे चमक रहे शरीर तथा चञ्चल मञ्जरियोंसे युक्त कुमारियोंको अपने मनमें बड़ा ऊँचा स्थान दिया ॥ ३०, ३१ ॥

चतुर मन्त्रियोंने इस प्रकारके राजाका अभिप्राय जान लिया, क्योंकि चेष्टा और आकृतिसे अभिपाय जान लेना ही मन्त्रीका दोषोंसे निर्मुक्त लक्षण है ॥३२॥

अनन्तर राजाके विवाहके लिए विचार कर रहे मन्त्रियोंने सौराष्ट्र देशके राजासे युवतीसमूहसे मण्डित कन्याकी याचना की ॥ ३३ ॥

राजा शिखिध्वजने नवीन वयसे सम्पन्न तथा प्रतिमाके सदृश स्वानुरूप उस उत्तम कन्याका विधिपूर्वक भार्यारूपमें स्वीकार किया ॥ ३४ ॥

राजा शिखिध्वजकी सुन्दरी पृथिवीतलपर चूडाला नामसे विख्यात थी। वह अपने अनुरूप पति प्राप्तकर, विकसित पद्मिनीके सदृश, राजित हो रही थी ॥३५॥

वह शिखिध्वज राजा नीलकमलसदृश नेत्रवाली उस चूडालाको स्नेहसे उस प्रकार प्रसन्न रखता था, जिस प्रकार भगवान् सूर्यदेव कमलिनीको विकासद्वारा प्रसन्न रखते हैं ॥ ३६ ॥

अवर्धत तयोः प्रीतिरन्योन्यार्पितचेतसोः ।
हावभावविलासाढ्यैरङ्गैर्नवलतेव सा ॥ ३७ ॥
सुमन्त्र्यर्पितसर्वार्थः स सुखी सुस्थितप्रजः ।
राजहंस इवाऽब्जिन्या रेमे दयितया तया ॥ ३८ ॥
अन्तःपुरेषु दोलासु लीलाकमलिनीषु च ।
उद्यानेषु विहारेषु लतापुष्पगृहेषु च ॥ ३९ ॥
कदम्बवनलेखासु चन्दनागुरुवीथिषु ।
मन्दारदामलोलासु कदलीकन्दलीषु च ॥ ४० ॥
पुरान्तेषु वनान्तेषु दिगन्तेषु सरस्सु च ।
जङ्गलेषु जनान्तेषु जम्बूजम्बीरजातिषु ॥ ४१ ॥
बभूवाऽऽह्लादकं सर्वं तयोरन्योन्यचेष्टितम् ।
सद्वर्षयोर्धुरवरैर्द्युभूम्योरिव कान्तयोः ॥ ४२ ॥

एक दूसरेके प्रति अर्पित चित्तवाले उन दोनोंकी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी। हाव, भाव, विलास आदि-शृङ्गार चेष्टाविशेषोंसे परिपूर्ण अङ्गोंके कारण वह चूडाला सुन्दर नवलता-सी शोभती थी ॥ ३७ ॥

शिखिध्वज राजाको राजचित्तानुवर्ती अनुरक्त मन्त्रियों द्वारा सभी उपभोग-सामग्री समय-समयपर समर्पित की जाती थी अथवा धार्मिक मन्त्रियों द्वारा उसके याचकोंको अभिलषित अर्थोंकी पूर्ति की जाती थी, उसकी प्रजा सुव्यवस्थित थी, अतएव परम सुखी वह राजा कमलिनीके साथ राजहंसके सदृश उस दयिताके साथ रमण करता था ॥ ३८ ॥

अन्तःपुरमें, दोलाओंमें, लीलासरोवरोंमें, उद्यानोंमें, विहारोंमें, लता और पुष्पोंसे शोभित घरोंमें, कदम्बवनकी श्रेणियोंमें, चन्दन और अगुरुसे सुगन्धित वीथियोंमें, मन्दारमाला-सी चञ्चल कदली और कन्दलियोंमें, नगर-प्रान्तोंमें, वन-प्रान्तोंमें, दिगन्तोंमें, सरोवरोंमें तथा जामुन, नीबू एवं जातिवृक्षोंसे युक्त निर्जन वनोंमें उस कमनीय दम्पतीकी प्रमोदजनक सभी ऐसी परस्पर चेष्टाएँ हुईं, जैसी बैलों द्वारा हलसे जोते गये खेतोंके लिए लाभदायक वृष्टिवाले, मेघ एवं शस्य सम्पत्तिसे कमनीय आकाश और पृथिवीकी लोकप्रमोदजनक अन्योन्य चेष्टाएँ होती हैं ॥ ३९—४२ ॥

नित्यमेवाऽवियुक्तत्वात्प्रियत्वाच्चेष्टितस्य च ।
मिथः कलाकलापस्य कोविदौ तौ बभूवतुः ॥ ४३ ॥
स्वरूपमेकमेवैतौ दधतुर्मित्रतां गतौ ।
अन्योन्यहृदयस्थत्वादिव सङ्क्रान्तमक्षतम् ॥ ४४ ॥
सर्वशास्त्रार्थवैदग्ध्यं चित्राद्यपि मुखात्प्रभोः ।
बालः कालादिवाऽगृह्य साऽऽसीत्सर्वार्थपण्डिता ॥ ४५ ॥
नृत्यवाद्यादि यावच्च चूडालावदनादसौ ।
अशिक्षत बभूवाऽथ कलानामतिकोविदः ॥ ४६ ॥
अमावास्यामिवेन्द्वर्कावन्योन्यविलसत्कलौ ।
मिथो हृदयसंस्थौ तौ द्वावप्यैक्यमुपागतौ ॥ ४७ ॥

वे दोनों निरन्तर एक दूसरेसे मिले हुए थे, एक दूसरेकी चेष्टाएँ उन्हें प्रिय लगती थीं। एक दूसरेसे शिक्षाग्रहण और एक दूसरेकी समान-अर्थिता होनेसे वे दोनों अशेष कलाओंके विज्ञाता हो गये थे ॥ ४३ ॥

इसीलिए सब गुणोंकी समानता होनेसे और अनुरागके कारण तद्रूपता आ जानेसे वे दोनों मानो एक ही जीव थे, ऐसा कहते हैं—'स्वरूप०' इत्यादिसे।

परस्पर अत्यन्त मित्रताको प्राप्त हुए वे दोनों एक दूसरेके हृदयमें बस जानेके कारण दो देहोंमें सङ्क्रान्त (प्रविष्ट) अविनाशी एक ही जीवस्वरूप धारण करते थे ॥ ४४ ॥

जैसे बटु 'द्वादश वर्षपर्यन्त वेदके लिए ब्रह्मचर्य है' इस शास्त्रसे निर्धारित नियत कालतक गुरुमुखसे अध्ययन द्वारा समस्त शास्त्रार्थमें वैचक्षण्य प्राप्त कर पण्डित हो जाता है, वैसे ही कुछ नियत कालतक अपने स्वामीके मुखसे अध्ययन कर समस्त शास्त्रार्थमें वैचक्षण्य और तत्-तत् शिल्पशास्त्रोंके पण्डितोंके मुखसे चित्रकला आदिमें भी चातुर्य प्राप्त कर चूडाला अशेष अर्थोंमें पण्डिता हो गई थी ॥ ४५ ॥

तथा चूडालाके मुखसे इस शिखिध्वजने भी नृत्य, वाद्य आदि जितने कलाकौशल हैं उन सबका शिक्षण ग्रहण किया और कलाओंका पारङ्गत महाविद्वान् हो गया ॥ ४६ ॥

अमावास्या प्राप्त कर जैसे सूर्य और चन्द्र एक दूसरेमें अपनी-अपनी कलाका संमिश्रण कर एकरूप हो जाते हैं, वैसे ही एक-दूसरेके हृदयमें स्थित हो रहे वे दोनों भी एकरूप हो गये थे ॥ ४७ ॥

तौ संस्थितावेकरसावन्योन्यदयितावुभौ ।
पुष्पामोदाविवाऽभिन्नौ भूतलस्थौ शिवाविव ४८ ॥
वैदग्ध्यसुन्दरमती सर्वशास्त्रार्थपण्डितौ ।
कार्यार्थे च सुत्रं प्राप्तौ कमलाकमलाधवौ ॥ ४९ ॥
स्नेहात्प्रसन्नमधुरौ समविज्ञातवादिनौ ।
अनुवृत्तिपरावास्तां लोकवृत्तान्ततद्विदौ ॥ ५० ॥
कलाकलापसम्पन्नौ लसद्रसरसायनौ ।
शीतलस्निग्धमुग्धाङ्गौ शशाङ्कौ द्वाविवोदितौ ॥ ५१ ॥

वे दोनों परस्पर एक दूसरेके प्रेमी, मिश्रित क्षीर और नीरकी नाईं, एकरसस्वरूप होकर अवस्थित थे और पुष्प और सुगन्धकी नाईं अभिन्नस्वरूप वे भूतलपर अवतीर्ण गौरी और शङ्करके सदृश लगते थे* ॥ ४८ ॥

उन दोनोंकी बुद्धि लोक और शास्त्रके चातुर्यसे अत्यन्त परिष्कृत थी। समस्त शास्त्रीय विषयोंमें उनके पाण्डित्यकी धाक जमी थी। केवल किसी एक खास कार्यके लिए, कमला और कमलापतिकी नाईं, पृथिवीपर वे दोनों अवतीर्ण हुए थे ॥ ४९ ॥

वे दोनों स्नेहसे प्रसन्न और मधुर लगते थे। पूछे गये सन्दिग्ध विषयोंके और शास्त्ररहस्योंके निर्णयार्थ एक ही कालमें उन दोनोंका एक ही ज्ञानतत्त्वका कथन करनेका स्वभाव था। निरन्तर वे दोनों एकमात्र गुरु, द्विज और विद्वानोंकी अनुवृत्ति करते थे। उनसे प्रिय, हित, विनय आदि सदाचारका व्यवहार करते थे। लोकवृत्तान्त एवं एकमात्र शास्त्रसे बोधित होनेवाले धर्मरहस्यका वे दोनों ही परिपक्व परिज्ञान रखते थे ॥ ५० ॥

वे समस्त कलाओंसे परिपूर्ण थे। शृङ्गारादि नवरसरूपी रसायनोंसे वे राजित थे। उनका अङ्ग शीतल, स्निग्ध और मोहक था, इसलिए वे ऐसे लगते थे मानो दो चन्द्रमा उदित हुए हों ॥ ५१ ॥

* भगवान् शङ्करका अर्धनारीश्वर नाम है, चूडाला और शिखिध्वज भी स्वरूपतः, स्वभावतः एक दूसरे से मिलजुल गये थे, इसलिए वे भी ठीक भगवान् शङ्कर और गौरीसे मिश्रित अर्धनारीश्वरस्वरूपके जैसे लगते थे।

रेजे लसच्च रतिभोगविलासकान्त-
मन्तःपुरेषु मिथुनं तदनुत्तमश्रि ।
ब्रह्माण्डखण्डकुहरेष्विव राजहंस-
युग्मं विकासि मदमन्मथमन्दचारि ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चूडालोपाख्याने शिखिध्वजविलासकथनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥७७॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं बहूनि वर्षाणि मिथुनं निर्भरस्पृहम् ।
रेमे यौवनलीलाभिरमन्दाभिर्दिने दिने ॥ १ ॥
अथ यातेषु बहुषु वर्षेष्वावृत्तिशालिषु ।
शनैर्गलिततारुण्ये भिन्नकुम्भादिवाम्भसि ॥ २ ॥

भद्र, जिनकी शोभा अनुपम थी तथा जो रतिभोगोंके विलासोंसे कमनीय थे उन चूडाला और शिखिध्वज दोनोंका मनोहर जोड़ा अन्तःपुरमें ऐसे शोभित हो रहा था जैसे ब्रह्माण्डखण्डरूप सत्यलोकके गम्भीर सरोवरोंमें चमक रहा मद एवं मन्मथसे मन्द-मन्द गमन कर रहा राजहंसी और राजहंसका जोड़ा ॥ ५२ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

[क्रमसे उनके वैराग्य, सत् शास्त्रके अभ्यासमें उनकी निष्ठा तथा चूडालाके विवेक और ज्ञानलाभका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे रामभद्र, इसी प्रकार अनेक वर्षोंतक दृढ़ प्रेमसे सम्पन्न उस दम्पतीने दिन-पर-दिन होनेवाली यौवनकी अमन्द लीलाओंसे रमण किया ॥ १ ॥

अनन्तर एकके पीछे एक यों आवृत्तिशील अनेक वर्ष बीत गये और फूटे हुए घड़ेसे जलकी नाईं धीरे-धीरे गल रहा तारुण्य देखकर उन्होंने विचार किया—॥ २ ॥

तरङ्गनिकराकारभङ्गुरव्यवहारिणि ।
पातः पक्वफलस्येव मरणं दुर्निवारणम् ॥ ३ ॥
हिमाशनिरिवाऽम्भोजे जरा निपतनोन्मुखी ।
आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ॥ ४ ॥
प्रावृषीव लता तुम्बी तृष्णैका दीर्घतां गता ।
शैलनद्या रय इव सम्प्रयात्येव यौवनम् ॥ ५ ॥
इन्द्रजालमिवाऽसत्यं जीवनं जीर्णसंस्थिति ।
सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुश्च्युताः ॥ ६ ॥
पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवाऽमिषम् ।
बुद्बुदः प्रावृषीवाऽप्सु शरीरं क्षणभङ्गुरम् ॥ ७ ॥
रम्भागर्भ इवाऽसारो व्यवहारो विचारगः ।
सत्वरं युवता याति कान्तेवाऽप्रियकामिनः ॥ ८ ॥

तरङ्गसमूहोंके सदृश अतिचपल आकृतिवाले, भङ्गुर शरीरसे व्यवहार कर रहे जीवका, पक्व फलके पतनकी नाईं, देहवियोग किसी भी प्रकार हटाया नहीं जा सकता ॥ ३ ॥

कमलपर हिमरूपी वज्रकी नाईं इस देहपर अब जरा गिरनेके लिए उन्मुख हो ही रही है, क्योंकि करतलसे जलकी नाईं निरन्तर आयु गलती ही जाती है ॥४॥

वर्षाकालमें कटु तुम्बी लताके सदृश एकमात्र भोग और उसके साधनोंकी तृष्णा बढती जाती है और पर्वतनदीके वर्षाकालिक पूरकी नाईं वेगपूर्वक यौवन बहता ही जाता है ॥ ५ ॥

यह जीर्ण स्थितिवाला शरीर आदि रूप जीवन, इन्द्रजालके सदृश, असत्य ही है और धनुषसे छूटे हुए बाणोंके सदृश विषयसुख दूर-दूर भागते जा रहे हैं ॥६॥

आमिषके ऊपर झपट झपटकर गीध उसे जैसे नोचते हैं वैसे ही आध्यात्मिक आदि दुःख और तृष्णा चित्तके ऊपर झपट-झपटकर उसे नोचते हैं और यह शरीर वर्षाकालमें जलके बुद्बुदके सदृश क्षणभरमें ही विलीन हो जानेवाला है ॥७॥

विचारकोटिमें प्रविष्ट हुआ यह व्यवहार कदलीगर्भके सदृश निःसार ही ठहरता है और सपत्नी चाहनेवाले पुरुषकी प्रियतमाके सदृश यह यौवनावस्था शीघ्र छोड़कर भागती जाती है ॥ ८ ॥

बलादरतिरायाता वैरस्यमिव पादपम् ।
तदिह स्याच्छुभाकारं स्थिरं किमतिशोभनम् ।
यदासाद्य पुनश्चेतो दशासु न विदूयते ॥ ९ ॥

इति निर्णीय युग्मं तत्संसारव्याधिभेषजम् ।
चिरं विचारयामास शास्त्रमध्यात्मसम्मतम् ॥ १० ॥

आत्मज्ञानैकमात्रेण संसृत्याख्या विषूचिका ।
संशाम्यतीति निश्चित्य तावास्तां तत्परायणौ ॥ ११ ॥

तच्चित्तौ तद्गतप्राणौ तन्निष्ठौ तद्विदाश्रयौ ।
तदा तदर्चनपरौ तदीहौ तौ विरेजतुः ॥ १२ ॥

तत्रैवाऽतिघनाभ्यासौ बोधयन्तौ परस्परम् ।
तत्प्रीतौ तत्समारम्भावन्योन्यं तौ बभूवतुः ॥ १३ ॥

वृक्षमें रसशोषणके सदृश जबरदस्ती इष्ट विषयोंके अलाभसे जनित दौर्मनस्य प्राप्त होता है, इसलिए इस संसारमें ऐसी कौन वस्तु है जो शुभाकृति, सुस्थिर एवं अत्यन्त सुन्दर हो और जिसकी प्राप्ति कर यह चित्त फिर जन्म-मरण आदि दशाओंमें पीड़ित न हो ॥ ९ ॥

उस दम्पतीने इस प्रकार विचारकर यह निश्चय किया कि संसाररूपी व्याधिका असली औषध अध्यात्मशास्त्र ही है, इसलिए उसीका दीर्घकालतक विचार किया ॥ १० ॥

केवल आत्मज्ञानसे ही संसाररूपी महामारी शान्त हो जाती है, यह निर्णय कर वे दोनों आत्माका ज्ञान सम्पादन करनेके लिए तत्पर हो गये ॥ ११ ॥

अध्यात्मशास्त्रमें ही उनका चित्त लग गया था, प्राण भी उसीमें थे, उसीमें उनकी निष्ठा थी, अध्यात्मशास्त्रवेत्ताकी ही उन्होंने शरण ली थी, उसीकी अर्चनामें निरत रहते थे, उनकी इच्छा भी अध्यात्मशास्त्रकी ही रहती थी और उस समय इस संसारसे वे दोनों विरक्त हो उठे थे ॥ १२ ॥

उन्होंने अध्यात्मशास्त्रमें ही दृढ़ अभ्यास बढ़ा लिया था, वे एक दूसरेको अध्यात्मशास्त्रका ही स्मरण कराते थे, उनकी प्रीति उसी शास्त्रमें थी एवं परस्पर उनका समस्त आरम्भ (श्रवण, प्रबोधन आदि) उसीमें होता था ॥ १३ ॥

अथ साऽविरतं राम रमणीयपदक्रमान् ।
श्रुत्वाऽध्यात्मविदां वक्त्राच्छास्त्रार्थांस्तारगक्षमान् ॥१४॥
इत्थं विचारयामास स्वमात्मानमहर्निशम् ।
अव्यापृता व्यापृता वा धिया धवलयेद्धया ॥ १५ ॥
प्रेक्षे तावत्स्वमात्मानं किमहं स्यामिति स्वयम् ।
कस्याऽयमागतो मोहः कथमभ्युत्थितः क्व वा ॥ १६ ॥
देहस्तावज्जडो मूढो नाऽहमित्येव निश्चयः ।
आबालमेतत्संसिद्धं मतौ चैवाऽनुभूयते ॥ १७ ॥
कर्मेन्द्रियगणश्चाऽस्मादभिन्नावयवात्मकः ।
अवयवावयविनोर्न भेदो जड एव च ॥ १८ ॥

हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह चूडाला — अध्यात्मशास्त्रके तत्त्ववेत्ताओंके मुखसे संसार दुःखसमुद्रसे पार करनेमें समर्थ सुन्दर आत्मज्ञानोपयोगी रमणीय पदक्रमोंसे संयुक्त शास्त्रार्थोंका निरन्तर श्रवण कर— बाह्य शरीरके व्यापारोंका परित्यागकर और धवल उग्र बुद्धिसे युक्त होकर अपनी आत्माके विषयमें इस प्रकार अहर्निश विचार करने लगी—॥ १४, १५ ॥

अब मैं स्वयं विवेक कर अपने आत्माको देखती हूँ कि मैं क्या हूँ यानी इस कार्यकरण-संघातरूप शरीरमें ऐसा कौन पदार्थ है, जो चेतन हो सकता है। यह संसाररूप मोह किसको प्राप्त होता है यानी मोह जिसको प्राप्त होता है, वही उसके निवारणमें समर्थ होगा, परन्तु वह कौन है, किस हेतुसे कहाँ मोह प्राप्त हुआ, मोहका मूल क्या है, क्योंकि मूलका ज्ञान होनेपर ही मूलोच्छेदद्वारा मोहका निरास अनायास सिद्ध हो जाता है ॥ १६ ॥

देह तो जड़ और अत्यन्त मूढ है, इसलिए वह चेतन नहीं हो सकती, यह अटल निश्चय है, इस प्रकारका निश्चय साधारण बालक तकको भी अवगत है और मैं स्थूल हूँ, मैं गौर हूँ, इत्यादि बुद्धिवृत्ति होनेपर ही देहादिका अनुभव होता है, स्वतः नहीं, इसलिए उसमें जड़ता स्वतःसिद्ध ही है ॥ १७ ॥

हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियसमुदाय भी इस शरीरसे अभिन्न अवयवरूप ही हैं। कभी अवयव और अवयवीमें भेद नहीं रहता, इसलिए शरीररूप अवयवीके सदृश वह भी जड़ ही है ॥ १८ ॥

बुद्धीन्द्रियगणोऽप्येवं जड एवेति दृश्यते ।
प्रेर्यते मनसा यस्माद्यष्टयेव भुवि लोष्टकः ॥ १९ ॥
मनश्चैवं जडं मन्ये सङ्कल्पात्मकशक्ति यत् ।
क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धिनिश्चयैः ॥ २० ॥
बुद्धिर्निश्चयरूपैवं जडा सत्त्वैव निश्चयः ।
खातेनेव सरिन्नूनं साऽहङ्कारेण वाह्यते ॥ २१ ॥
अहङ्कारोऽपि निःसारो जड एव शवात्मकः ।
जीवेन जन्यते यक्षो बालेनेव भ्रमात्मकः ॥ २२ ॥
जीवश्च चेतनाकाशो वातात्मा हृदये स्थितः ।
सुकुमारोन्तरन्येन केनाऽपि परिजीवति ॥ २३ ॥

ज्ञानेन्द्रियसमुदाय भी शरीरावयवरूप ही है, इसलिए वह भी जड़ ही है,† यह दीख पड़ता है, क्योंकि मन आदिसे जड़ देह आदिमें प्रेरणा मिलनेके कारण उनके साथ संयोगयोग्यद्रव्यरूपता होनेसे, पृथिवीपर ढेलेकी प्रेरक यष्टिके सदृश, उनमें जड़ता ही है ॥ १९ ॥

सङ्कल्पात्मक शक्ति रखनेवाला जो मन है उसे भी मैं जड़ ही मानती हूँ। जैसे गोफनसे पाषाण प्रेरित होता है वैसे ही मन भी बुद्धिके निश्चयोंसे प्रेरित होता है ॥ २० ॥

इस तरह निश्चयरूपा बुद्धि जड़तास्वभावसे ओत-प्रोत है, यह अटल निश्चय है। दो तटोंके मध्यवर्ती ढालू प्रदेशसे जैसे नदी बहती है वैसे ही अहङ्कारसे वह बुद्धि बहती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ २१ ॥

अहङ्कार भी सारशून्य तथा मुर्देके सदृश है, इसलिए वह जड़ ही है ; क्योंकि बालक द्वारा जनित भ्रमरूप यक्षके सदृश प्राणयुक्त चिदाभास द्वारा वह जनित है ॥ २२ ॥

चेतनाकाशरूप जीव प्राणरूप उपाधिसे युक्त होकर हृदयमें रहता है। वह भीतर इतना सुकुमार है कि दूसरे अपने अन्तर्यामी दिव्य चैतन्यसे दीप्त होकर जीता है ॥ २३ ॥ ॥

---

† यद्यपि 'अणवश्च' इस सूत्रमें सूत्रकार बादरायणने सूक्ष्मभूत इन्द्रिय, प्राण आदि लिङ्गदेहके अवयव बतलाये हैं, इसलिए वे स्थूल शरीरके अवयव नहीं हो सकते, तथापि ज्ञानी और अज्ञानी सभी जन उनका देहावयवरूपसे एवं देहसम्बन्धिरूपसे अनुभव करते हैं, इसलिए उनमें जड़ता है ही, यह भाव है।

अहो नु ज्ञातमेतेन चेत्योल्लेखकलङ्किना ।
जीवो जीवति जीवेन चिद्रूपेणाऽस्मरूपिणा ॥ २४ ॥
चेत्यभ्रमवता जीवश्चिद्रूपेण च जीवति ।
आमोदः पवनेनेव स्वानेनेव सरिद्रयः ॥ २५ ॥
असत्यजडचेत्यांशचयनाच्चिद्वपुर्जडम् ।
महाजलगतो ह्यग्निरिव रूपं स्वमुज्झति ॥ २६ ॥
सद्वाऽसद्वा यदाभाति चित्समाधौ सति स्वतः ।
स्वरूपमलमुत्सृज्य तदेव भवति क्षणात् ॥ २७ ॥
एवं चिद्रूपमप्येतच्चेत्योन्मुखतया स्वयम् ।
जडं शून्यमसत्कल्पं चैतन्येन प्रबोध्यते ॥ २८ ॥

अहा, मैं समझ गई। साक्षीका स्वरूप धारण कर विषयोंका प्रकाशन करना ही इस चेतनका चेत्योल्लेख कलङ्क है, इस कलङ्कसे दूषितप्राय हो करके यह सबको जान लेता है और अनादिभूत चैतन्यरूपसे ही यह जीव प्रस्फुरित होता रहता है ॥ २४ ॥

जैसे आमोद पवनसे और नदीका वेग पुष्करिणीसे परिचालित होता है, वैसे ही यह जीव चेत्यभ्रमोंसे युक्त चैतन्यसे ही परिचालित होता है ॥ २५ ॥

इस विषयमें युक्ति बतलाते हैं—'असत्य०' इत्यादिसे।

चैतन्यशरीर आत्मा मिथ्याभूत जड़ विषयोंके साथ अध्यास (संसर्गाध्यास और तादात्म्याध्यास) करके ही जड़ जैसा बन जाता है और अपने असली प्रकाशमान धवलस्वरूपका उस प्रकार परित्याग कर देता है, जिस प्रकार तप्तजल या समुद्रजलमें गिरा हुआ पावक अपने भास्वर प्रकाशमान स्वरूपका परित्याग कर देता है [इसलिए सत्तांशमें चैतन्यभिन्नताके सदृश प्राप्त हुई 'घट सत् है, पट सत् है' इस प्रकारकी सत्ता अचित् घटादिविषयोंके साथ एकताका अनुभव करती है और घटादिका लय होनेपर 'घट नष्ट हो गया' पट नष्ट हो गया' इस प्रकार सत्ताके अभावका भी अनुभव करती है] ॥ २६ ॥

विषयोंके साथ एकाग्रता होनेपर जो भी कोई—चाहे वह सद्रूप हो या असद्रूप हो—वासनावेष्टित होकर स्वतः दीख पड़ता है, वही एक क्षणमें पूर्णस्वरूपका परित्यागकर तत्स्वरूप हो जाता है ॥ २७ ॥

उक्त रीतिसे परमार्थतः चित्स्वरूप भी अविद्याके आवरणसे अध्यासपरम्परया

इति सञ्चिन्त्य चूडाला केनैषा चित्प्रचेतनी ।
इति सञ्चिन्तयामास चिरायेत्थं व्यबुद्ध्यत ॥२९॥
अहो नु चिरकालेन ज्ञातं ज्ञेयमनामयम् ।
यद्वै विज्ञयतां कृत्वा न कश्चिद्धीयते पुनः ॥ ३० ॥
एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः ।
असन्तः सर्व एवाऽहो द्वितीयेन्दुपदस्थिताः ॥ ३१॥
महाचिदेकैवाऽस्तीह महासत्तेति योच्यते ।
निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहङ्काररूपिणी ॥ ३२ ॥

जड़शून्य और असत्सदृश उत्पन्न जगत्का स्वरूप बुद्धिमें अनावृतस्वभाव चैतन्यसे ही तत्तदाकारवृत्तिव्याप्ति एवं मूलाविद्यारूप आवरणके भङ्ग द्वारा जाना जाता है ॥ २८ ॥

उस तरहका पहले विचारकर फिर उस चूडालाने यह विचारा कि किस उपायसे मूलाविद्याके आवरणसे रहित चिति दृश्यस्वप्नका परित्यागकर प्रबुद्ध होवे । और तदनन्तर दीर्घकालके बाद कहे जानेवाले प्रकारसे आत्मतत्त्वको उसने पहचाना ॥ २९ ॥

उसे बड़ा ही आनन्द मिला और कहने लगी कि अहो, दीर्घकालके बाद मैंने सर्वविध उपद्रवोंसे शून्य ऐसी ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त किया, जिसे जान लेनेपर पुरुष फिर पुरुषार्थसे च्युत नहीं होता अथवा किसी भी काम्य अर्थकी हानि नहीं होती, क्योंकि उसकी प्राप्तिसे ही समस्त कामनाओंकी परिपूर्ति हो जाती है। अथवा दुःखका साधन समझकर किसी पदार्थका परित्याग नहीं करता, क्योंकि उस समय सभी पदार्थोंमें आनन्दात्मक परब्रह्मरूपता ही प्राप्त हो जाती है ॥ ३० ॥

अहो, ये जितने मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पदार्थ हैं, वे सबके सब चिद्विलासको परिच्छिन्न बना देनेमें केवल कारणरूप ही हैं, वे स्वयं असत्स्वरूप ही हैं और उनका स्थान नेत्रपर अङ्गुली रखनेपर दिखाई दे रहे द्वितीय चन्द्रमाका ही है अर्थात् वे भ्रान्तिमात्रसे परिकल्पित हैं ॥ ३१ ॥

वास्तवमें सर्वविध आवरणादिसे निर्मुक्त अकेली महाचिति ही इस संसारमें सब कालमें अपना अस्तित्व रखती है । जिसको महासत्ता भी कहते हैं । यह कलङ्कोंसे शून्य, समानरूप, विशुद्ध, और अहङ्कारवर्जित स्वरूपवाली है ॥ ३२ ॥

शुद्धसंवेदनाकारा शिवं सन्मात्रमच्युतम् ।
सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती सदा ॥ ३३ ॥
सा ब्रह्मपरमात्मादिनामभिः परिगीयते ।
चेत्यचेतनचित्तादि नाऽस्याः भिन्नं न मानतः ॥ ३४ ॥
तथैषा चेत्यते चिच्छ्रीः सैषाऽऽद्या चिदिति स्मृता ।
अचेत्यं यदिदं चित्त्वं तत्तस्या रूपमक्षतम् ॥ ३५ ॥
मनोबुद्धीन्द्रियाद्यर्थरूपैः सैव विजृम्भते ॥ ३६ ॥
तरङ्गकणकल्लोलकलनेयं चिदात्मनि ।
जगद्रूपपदार्थानां सत्ता स्फुरति मातरि ॥ ३७ ॥
यदिदं तत्परं रूपं तस्याः खलु महाचितेः ।
शुद्धचिन्मणिवत् सा हि सेयं समसमोदिता ॥ ३८ ॥

उसका स्वरूप शुद्ध विज्ञान ही है, भूमानन्दरूप होनेसे वह परम मङ्गलात्मक सन्मात्ररूप है। भूमानन्दरूप स्वभावसे वह कभी भी च्युत नहीं होती। मूलाविद्यारूप आवरणके भङ्गसे एकबार उसका यदि साक्षात्कार हो जाय, तो वह फिर कदापि आवृत नहीं होती। इसलिए वह वेदान्त आदि अध्यात्मशास्त्रोंमें लक्षणावृत्तिसे नित्य उदयवती कही जाती है ॥ ३३ ॥

उसीका ब्रह्म, परमात्मा आदि नामोंसे सर्वत्र गान किया जाता है। चेत्य (ज्ञेय) आदि त्रिपुटीसमूह इससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, क्योंकि यह त्रिपुटी साक्षीरूप उसीसे प्रकाशित होती है। यह साक्षीस्वरूपा चिति किसी दूसरे प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, क्योंकि त्रिपुटीप्रवृत्तिके पहले ही वह स्वयंसिद्ध है, अतः वह आद्या चिति कही गई है। चेत्यशून्य जो यह चिद्रूपता है, वह उसका अविनाशी रूप है ॥ ३४, ३५ ॥

मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पदार्थोंके स्वरूपोंसे वह चिति ही विवर्तित होती है ॥ ३६ ॥

मन, बुद्धि आदि विवर्तोंसे चैतन्यात्मा जब प्रमातृरूपता प्राप्त करता है, तब उसमें तरङ्गकणोंके कल्लोलोंके सदृश यह जगद्रूप भूत-भौतिक पदार्थोंकी अस्तिता स्फुरित होती है ॥ ३७ ॥

जो यह जगत्सत्ताका रूप प्रसिद्ध है, वही अधिष्ठानभूत महाचितिका दूसरा स्वरूप है, क्योंकि वह सत्तारूप चिति स्फटिकमणिके सदृश जगत्का प्रतिबिम्ब

अनन्ययैव या शक्त्या जगज्जृम्भिकया स्थिता ।
सत्ता मायातिरेकेण नाऽन्या सम्भवतीह हि ॥ ३९ ॥
विचित्रतेव भाण्डानां ननु हेमतया यथा ।
सा तथोदेति तद्रूपमात्मानं चेतति स्वयम् ॥ ४० ॥
स्वचित्तेन द्रवत्वेन तरङ्गादित्वमम्बुषु ।
महाचितौ जगच्चित्तादुदेतीवाऽनुदेत्यपि ॥ ४१ ॥
तदात्मैव यथा यातो रूपवान् जलधौ द्रवात् ।
एवं चिन्मात्रमेवाऽहमनहम्भावमाततम् ॥ ४२ ॥

असङ्ग होकर ही धारण करती है, और यह जगत्सत्ता तो व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक पदार्थोंमें अपने-अपने अधिष्ठानके अनुसार उदित है ॥ ३८ ॥

इन कारणोंसे जगत्‌की सत्ताका अधिष्ठानसत्तासे पृथक् निरूपण न हो सकनेके कारण यह केवल मायारूप ही है, यह कहते हैं—'अनन्ययैव' इत्यादिसे ।

जगत्‌का निर्म्माण करनेवाली ब्रह्माभिन्न शक्तिसे जो अधिष्ठानसत्ता विद्यमान है, उसीसे जगत्-सत्ता अतिरिक्त-सी भासती है, यहाँ मायासे अतिरिक्त किसी दूसरी सत्ताका संभव है ही नहीं ॥ ३९ ॥

इसीलिए नाम, रूप विशेषोंका प्रलय होनेपर जगत्-सत्ता मायाशबल ब्रह्मात्मना ही अवस्थित रह जाती है और मायाका बाध होनेपर आनन्दैकरसस्वरूप सन्मात्रात्मक आत्मतत्त्वका वह स्वयं अनुभव करती है, ऐसा कहते हैं—'विचित्रतेव' इत्यादिसे ।

अलङ्कार आदिकी जो विचित्रता है, वह जैसे अलङ्कारोंका विनाश हो जानेपर सुवर्णसत्तात्मना ही उदित होती है, वैसे ही जगत्‌का विलय हो जानेपर जगत्‌की सत्ता मायाशबल ब्रह्मात्मरूपसे उदित होती है और मायाका बाध हो जानेपर सच्चिदानन्दरूप आत्मसत्ताका स्वयं अनुभव करती है ॥ ४० ॥

जैसे स्वप्न तथा इन्द्रजाल आदिमें द्रवरूपसे परिणत अपने चित्तसे सिद्ध समुद्रके जलमें तरङ्ग आदि वास्तवमें अनुदित भी उदित होते हैं, वैसे ही महाचितिमें वास्तवमें अनुदित भी जगत् आदि समष्टिचित्तके कारण उदित होते हैं ॥ ४१ ॥

जैसे स्वप्नमें चिद्रूप आत्मा ही जलधिमें द्रवके कारण चित्तकल्पित जलरूपसे तरङ्ग आदि रूपवान् पदार्थ होता है, आत्मासे अतिरिक्त वहां कुछ नहीं रहता, वैसे ही

न तस्य जन्ममरणे न तस्य सद्सद्गती ।
न नाशः सम्भवत्यस्य चिन्मात्रनभसः क्वचित् ॥४३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं चिदादित्योऽतिनिर्मलः ।
अहो नु चिरकालेन शान्ताऽस्मि परिनिर्वृता ॥ ४४ ॥
निर्वामि भ्रमनिर्मुक्तमासे निर्मन्दराब्धिवत् ।
असदाभासमत्यच्छमनन्तमजमच्युतम् ॥ ४५ ॥
आत्माकाशमनाबाधममलं परमं चिरम् ।
अनन्तमिदमाकाशं फलौघाश्चाऽफलादिकाः ॥ ४६ ॥
सुरासुरयुतं विश्वमेतन्मयमकृत्रिमम् ।
पुंस्त्वकर्ममयी सेना सर्वं मृन्मात्रकं यथा ॥ ४७ ॥
द्रष्टृदृश्यमयी सत्ता चिन्मात्रैक्यमयी तथा ।
इदमैक्यमिदं द्वित्वमहं नाऽहमितीति च ॥ ४८ ॥

चिन्मात्र ही मैं जगद्रूपसे सम्पन्न हूं, परमार्थतः पूर्णचिदात्मक मुझसे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, इस प्रकार अहंभावका भी परिशेष न रहनेसे अनहंभाव चिन्मात्र ही विस्तीर्ण है ॥ ४२ ॥

इस चिन्मात्रस्वरूप आकाशके जन्म, मरण, सद्गति, असद्गति (स्वर्ग-नरक) या नाशका कहीं सम्भव ही नहीं है ॥ ४३ ॥

यह आत्मा छेदनके योग्य नहीं है, दाहके योग्य नहीं है, यह चितिरूपी आदित्य अतिनिर्मल है । अहा, मैं दीर्घकालके बाद शान्त होकर चारों ओरसे परम सुखी हुई हूँ ॥ ४४ ॥

अब मैं सर्वविध भ्रमोंसे निर्मुक्त होकर विचरण कर रही हूँ, मन्दराचलसे शून्य प्रशान्त सागरके सदृश अवस्थित हूँ । ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त जितने भी प्राणियोंके कर्मफल हैं, जितने भी उनके साधनभूत व्यापार हैं एवं जो भी निष्फल वृथा चेष्टाएँ हैं, वे सब उस अनन्त आकाशस्वरूप चैतन्यात्माके स्वरूप हैं; जो दृश्याभाससे शून्य, अत्यन्त स्वच्छ, अनन्त, अज, अच्युत, कालपरिच्छेदसे शून्य, देश और वस्तु कृत परिच्छेदसे शून्य, आकाशरूप, निर्मल, बाधरहित और परम है ॥ ४५,४६ ॥

कुलाल आदि पुरुषजातिसे बनाई गई मृत्तिकाकी सेना जैसे मृत्तिकारूप ही है, वैसे ही सुर, असुर आदिसे युक्त यह विश्व अकृत्रिम परब्रह्मस्वरूप ही है ॥ ४७ ॥

उसी प्रकार द्रष्टा एवं दृश्यरूप सत्ता भी एकमात्र चैतन्यरूप ही है । यह

क इव भ्रमसंमोहः कथं कस्य कुतः क्व वा ।
स्वमनन्तमनायासमुपशान्ताऽस्मि संस्थिता ॥ ४९ ॥
निर्वाणपरिनिर्वाणा गतमासे गतज्वरम् ।
अचेतनं चेतनं वा योऽयमाभाति चेतति ॥ ५० ॥
भासमानात्मतद्रूपं खं महाचिति संस्थितम् ।
नेदं नाऽहं न चाऽन्यच्च न भावाभावसम्भवः ।
शान्तं सर्वं निरालम्बं केवलं संस्थितं परम् ॥ ५१ ॥
इत्थं विचारणपरा परमप्रबोधा-
द्बुद्ध्वा यथास्थितमिदं परमात्मतत्त्वम्
संशान्तरागभयमोहतमोविलासा
शान्ता बभूव शरदम्बरलेखिकेव ॥ ५२ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
चूडालाप्रबोधो नाम अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

ऐक्य है, यह द्वैत है, यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, इत्यादि भ्रमजनित मोह है कौन चीज; वह किस तरह हुआ, किसको हुआ और कहाँसे आया ? अर्थात् यह सब मिथ्या ही है। अपने अन्दर अनन्त प्रारमार्थिक स्वरूपकी अनायास प्राप्तिकर अब शान्त होकर अवस्थित हूँ ॥ ४८, ४९ ॥

अब मैं मोक्षसुखमें अच्छी तरह विश्रान्त हूँ, संसाररूप ज्वरसे वर्जित भूले हुए हारकी प्राप्तिके सदृश प्राप्त हुए स्वरूपमें अब बैठ गई हूँ। अचेतन या चेतन जो भी कुछ जगत् प्रकाशित होता है अथवा जो भी कुछ उसके भोक्तारूपसे प्रकाशित हो रहा है वे दोनों भासमान आत्मासे अभिन्न जो ब्रह्म है, तद्रूप आकाशस्वरूप ही हैं। न तो इदं है, न अहं है और न दूसरा है एवं न तो भाव और अभावका संभव है। सब कुछ शान्त, निरालम्ब केवल परब्रह्मरूप ही होकर स्थित है ॥ ५०, ५१ ॥

इस प्रकार आत्माके विचारमें परायण वह चूडाला मोहरूपी निद्राका आत्यन्तिक विनाश हो जानेके कारण यथास्थित इस परम आत्मतत्त्वका भलीभाँति परिज्ञानकर राग, भय, मोह आदि अज्ञानविलासोंके शान्त होनेसे उस प्रकार शान्त हो गई, जिस प्रकार शरत्-कालीन आकाशकी लेखा ॥ ५२ ॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एकोनाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

दिनानुदिनमित्येषा स्वात्मारामतया तया ।
नित्यमन्तर्मुखतया बभूव प्रकृतिस्थिता ॥ १ ॥
नीरागा निरुपासङ्गा निर्द्वन्द्वा निःसमाहिता ।
न जहाति न चाऽऽदत्ते प्रकृताचारचारिणी ॥ २ ॥
परितीर्णभवाम्भोधिः शान्तसन्देहजालिका ।
परमात्ममहालाभपरिपूर्णान्तरात्मना ॥ ३ ॥
विश्रान्ता सुचिरं श्रान्ता घनलब्धपदान्तरे ।
सर्वोपमातीततया जगामऽव्यपदेश्यताम् ॥ ४ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग

[अपूर्वशोभासम्पन्न देखकर राजा शिखिध्वजसे पूछी गई चूडाका द्वारा अपनी शोभामें हेतु आत्मज्ञानका वर्णन]

इस प्रकार विचारसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानकी—अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें—प्रतिष्ठा हुई, यह कहते हैं—'दिनानुदिनम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, उस प्रकारकी यह चूडाला दिनक्रमसे अभ्यास द्वारा अपने स्वाभाविक स्वरूपमें अवस्थित हो गई, क्योंकि वह निरन्तर अन्तर्मुखवृत्तिसे युक्त और प्रसिद्ध आत्मारामसे सम्पन्न थी ॥ १ ॥

उसके रागादि दोष निकल गये थे । उसका समीपस्थ किन्हीं पदार्थोंसे संग नहीं था । सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे वह निर्मुक्त हो चुकी थी, वह स्वर्गादिकी इच्छाओंसे और तदनुकूल चेष्टाओंसे विरत हो चुकी थी, वह न किसी पदार्थका ग्रहण करती थी और न किसीका परित्याग करती थी । केवल समयानुसार प्राप्त आचारमात्रको निभाती थी ॥ २ ॥

संसाररूपी महासमुद्रको वह तैर गई थी, सन्देहरूपी जाल उसके कट गये थे । उसका प्रत्यगात्मा परमात्माके महान् लाभसे परिपूर्ण हो गया था ॥ ३ ॥

दीर्घकालसे संसारमें भ्रमण करनेसे श्रान्त हुई वह चूडाला ज्ञानलब्ध आनन्दघन

इति सा भामिनी तस्य चूडाला वरवर्णिनी ।
स्वल्पेनैव हि कालेन ययौ विदितवेद्यताम् ॥ ५ ॥
यथाऽयमागतः कश्चिज्ञागतः स्पन्दविभ्रमः ।
तथा विलीयते सर्वं तत्त्वज्ञानवति स्वयम् ॥ ६ ॥
अदृष्टसकले शान्ते पदे विश्रान्तिमेत्य सा ।
रराज शरदच्छाभ्रमालेव गतसंभ्रमा ॥ ७ ॥
अनाकुला समालोकमसम्बन्धात्मनाऽऽत्मनि ।
जरद्गवीव शैलाग्रं सतृणं प्राप्य संस्थिता ॥ ८ ॥
स्वविवेकघनाभ्यासवशादात्मोदयेन सा ।
शुशुभे शोभना पुष्पलतेवाऽभिनवोद्गता ॥ ९ ॥

परमपद्में अब विश्राम कर रही थी । संसारकी सभी उपमाओंसे परे हो जानेके कारण वह अव्यपदेश्य हो गई थी ॥ ४ ॥

इस प्रकार सुन्दरवर्णवाली उस शिखिध्वजकी उत्तम पत्नी वह चूडाला स्वल्प कालमें ही विदितवेद्य बन गई ॥ ५ ॥

अल्पकालिक बोधसे अनादि महत्तम भ्रमकी निवृत्ति कैसे होगी ? इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे अनिर्वचनीयस्वरूप स्पन्दविभ्रम अज्ञानीमें अकस्मात् ही आ जाता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुषमें सबकी अकस्मात् ही निःशेषरूपसे निवृत्ति हो जाती है ॥ ६ ॥

जहाँपर समस्त द्वैत दृष्ट नहीं होता, ऐसे सर्वोपद्रवशून्य परम पद्में विश्रान्ति पाकर वह चूडाला भ्रमशून्य होती हुई शरत्कालीन स्वच्छ मेघपङ्क्तिकी सदृश शोभने लगी ॥ ७ ॥

दुःखपूर्वक चढ़ने योग्य, तृण और जलसे युक्त तथा आतप एवं चन्द्रिकासे युक्त शैलशिखरको विधिवश प्राप्तकर बूढ़ी गाय जैसे स्वास्थ्यपूर्वक स्थित रहती है वैसे ही चूडाला भी जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंमें एकरूपसे प्रकाशित हो रहे प्रत्यगात्माको जाग्रदादि अवस्थाओंसे सम्बद्ध न होनेवाले स्वभावसे प्राप्तकर उसी आत्मामें अनाकुलतापूर्वक स्थित हुई ॥ ८ ॥

अपने विवेकके दृढ़ अभ्याससे जनित आत्मतत्त्वदर्शनसे हुए पूर्णानन्द स्वरूपके आविर्भावसे वह नवीन उत्पन्न सुन्दर पुष्पलताके सदृश शोभने लगी ॥ ९ ॥

अथ तामनवद्याङ्गीं कदाचित् स शिखिध्वजः ।
अपूर्वशोभामालोक्य स्मयमान उवाच ह ॥ १० ॥
भूयो यौवनयुक्तेव मण्डितेव पुनः पुनः ।
अधिकं राजसे तन्वि जगद्राजवती यथा ॥ ११ ॥
प्रपीतामृतसारेव लब्धालभ्यपदेव च ।
आनन्दापूरपूर्णेव राजसे नितरां प्रिये ॥ १२ ॥
उपशान्तं च कान्तं च दधाना सुन्दरं वपुः ।
अभिभूयेन्दुमायासि श्रियं कामपि कामिनि ॥ १३ ॥
अभोगकृपणं शान्तमूर्जितं समतां गतम् ।
गम्भीरं च प्रशान्तं च चेतः पश्यामि ते प्रिये ॥ १४ ॥
तृणीकृत्य त्रिभुवनं पीताखिलजगद्रसम् ।
अनन्तोड्डामरं सौम्यं मनः पश्यामि ते प्रिये ॥ १५ ॥
न केनचिन्महाभागे विभवानन्दवस्तुना ।
चेतस्तव तुलामेति मरुक्षीराब्धिसुन्दरम् ॥ १६ ॥

अनन्तर किसी एक समय उस पूताङ्गी अपूर्वशोभासम्पन्न चूडालाको देख-कर विस्मयसे प्रसन्नानन वह शिखिध्वज कहने लगा—॥ १० ॥

हे तन्वि, इस समय तुम पुनः यौवनयुक्त-सी तथा पुनः पुनः आभूषणोंसे भूषित-सी होकर उस प्रकार अधिक शोभ रही हो, जिस प्रकार पूर्णचन्द्रसे युक्त पृथिवी ॥ ११ ॥

हे प्रिये, इस समय तुम ऐसे परिपूर्णरूपसे शोभित हो रही हो, जैसे कि मानो तुमने अमृतका सार पी लिया हो या अलभ्य पदकी ही तुमने प्राप्ति कर ली हो । आनन्दप्रवाहसे तुम परिपूर्ण हो गई हो ॥ १२ ॥

हे कामिनि, शान्तिसम्पन्न तथा कान्तिपूर्ण सुन्दर शरीर धारण कर रही तुम चन्द्रमाका भी तिरस्कार कर किसी अपूर्व शोभाकी ओर जा रही हो ॥१३॥

हे प्रिये, इस समय भोगके कार्पण्यसे रहित, शान्त, विवेकसे बलिष्ठ, समताको प्राप्त, गम्भीर और चञ्चलतारहित तुम्हारा चित्त मैं देख रहा हूँ ॥ १४ ॥

हे प्रिये, त्रिभुवनको तृण बना करके जगद्रसायनका पान करनेवाला, अनन्त, उच्चतायुक्त तथा सौम्य तुम्हारा मन मैं देखता हूँ ॥ १५ ॥

हे महाभागे, मरु और क्षीरसागरके सदृश सुन्दर तुम्हारा मन किसी भी विभवानन्दकी वस्तुसे उपमाको प्राप्त नहीं होता ॥ १६ ॥

तैरेव बालकदलीमृणालाङ्कुरकोमलैः ।
अङ्गैः स्थितिमनुप्राप्तैर्वृद्धिं यातेव लक्ष्यसे ॥ १७ ॥
तथा तेनैव तेनैव सन्निवेशेन संस्थिता ।
अन्यतामुपयाताऽसि लतेव ऋतुपर्यये ॥ १८ ॥
किं त्वया पीतममृतं प्राप्तं साम्राज्यमेव वा ।
अमृत्युमेव सम्प्राप्ता प्रयोगायोगयुक्तितः ॥ १९ ॥
राज्याच्चिन्तामणेर्वापि त्रैलोक्याद्वा त्वयाऽधिकम् ।
अप्राप्तं किमनुप्राप्तं नीलोत्पलविलोचने ॥ २० ॥

चूडालोवाच

नाकिञ्चित्किञ्चिदाकारमिदं त्यक्त्वाऽहमागता ।
न किञ्चित्किञ्चिदाकारं तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥ २१ ॥

हे बाले, अचपलताको प्राप्त हुए उन्हीं पूर्वोक्त अवयवोंसे, जो बाल-कदली, मृणाल एवं बालाङ्कुरके सदृश कोमल हैं, तेजकी अधिकतासे मानो वृद्धिगत हो गई हो ॥ १७ ॥

शिशिर ऋतुका अतिक्रमण हो जानेपर जिस प्रकार लता प्राक्तन अवयवोंसे युक्त होती हुई भी अन्यरूप हो जाती है उसी प्रकार उन-उन प्राक्तन अवयवोंसे अवस्थित होती हुई भी तुम अन्यरूप हो गई हो ॥ १८ ॥

भद्रे, क्या तुमने अमृत तो नहीं पी लिया है या किसी साम्राज्यकी ही तो प्राप्ति नहीं कर ली है या रसायन आदिके प्रयोग तथा मन्त्र आदिकी सिद्धि, राजयोग आदि उपायोंसे क्या अमृत्युका ही तो लाभ नहीं कर लिया है ? ॥१९॥

हे नीलकमलके सदृश नेत्रवाली, क्या तुमने राज्य, चिन्तामणि और त्रैलोक्य से भी ऊँचा कोई अप्राप्त पदार्थ तो प्राप्त नहीं कर लिया है ? ॥ २० ॥

इस प्रकार राजा द्वारा पूछी गई चूडाला परिच्छिन्न देहात्मतात्याग और पूर्ण अद्वितीय ब्रह्मात्मलाभ अपनी अधिक शोभामें हेतु है, यों गूढोक्तिसे पहला उत्तर देती है—'नाकिञ्चिद्०' इत्यादिसे ।

चूडालाने कहा—आर्य, मैं इस मूढ़ जनोंमें प्रसिद्ध सम्पूर्ण देहात्मरूपताका परित्याग कर तत्त्वज्ञानसे अशेष नामरूपाकारोंसे निर्मुक्त, परम ब्रह्मभावको प्राप्त हो गई हूँ । मन्त्र, रसायनादि साधनोंसे तुच्छ तत्तत् सिद्ध्याकारको प्राप्त मैं नहीं हूँ, इसलिए मैं दिव्यातिदिव्य श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ ॥ २१ ॥

इदं सर्वं परित्यज्य सर्वमन्यन्मयाऽऽश्रितम् ।
यत्तत्सत्यमसत्यं च तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥२२॥
यत्किञ्चिद्यन्न किञ्चिच्च तज्जानामि यथास्थितम् ।
यथोदयं यथानाशं तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥ २३ ॥
भोगैरभुक्तैस्तुष्यामि भुक्तैरिव सुदूरगैः ।
न हृष्यामि न कुप्यामि तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥२४॥
एकैवाऽऽकाशसंकाशे केवले हृदये रमे ।
न रमे राजलीलासु तेनाऽस्मि श्रीमती स्थिता ॥ २५ ॥
आत्मन्येव हि तिष्ठामि ह्यासनोद्यानसद्मसु ।
न भोगेषु न लज्जासु तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥ २६ ॥

कथित अर्थका ही प्रकारान्तरसे कथन करते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

इस समस्त परिच्छिन्न वस्तुका परित्यागकर अपरिच्छिन्न अबाधित मूर्त और अमूर्तसे रहित जो अन्य सब वस्तु है उसका मैंने आश्रयण किया है, इसलिए कान्तिमती होकर मैं अवस्थित हूँ ॥ २२ ॥

'न किञ्चित् किञ्चिदाकारं' इस अपनी उक्तिका प्रकारान्तरसे वर्णन करती है—'यत्' इत्यादिसे ।

सृष्टिका अतिक्रमण न कर जो वस्तु है अर्थात् सृष्टिदृष्टिसे दृश्यमान जो किञ्चित् परिच्छिन्न वस्तु और जो प्रलयदृष्टिसे दृश्यमान न किञ्चिद्रूप वस्तु है उसको कूटस्थभूमानन्दस्वभावसे स्थित मैं जानती हूँ, इसलिए शोभायुक्त होकर मैं स्थित हूँ ॥ २३ ॥

हे प्रिय, भुक्त भोगोंके सदृश दूरवर्ती अभुक्त भोगोंसे भी मैं सन्तुष्ट रहती हूँ। न तो मैं कुपित होती हूँ और न मैं हृष्ट होती हूँ, इसलिए मैं श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ ॥ २४ ॥

एकमात्र आकाशसदृश विमल अद्वितीय केवल हार्द ब्रह्ममें अकेली ही मैं रमण करती हूँ। राजलीलाओंमें मैं कभी रमण नहीं करती, इसलिए मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ ॥ २५ ॥

आसन, उद्यान और घरोंमें देहके स्थित होनेपर भी मैं पूर्णात्मरूपमें ही स्थित रहती हूँ। कभी भी भूषण, सम्मान आदि शारीरिक-मानसिक भोगोंमें या

जगतां प्रभुरेवाऽस्मि न किञ्चिन्मात्ररूपिणी ।
इत्यात्मन्येव तुष्यामि तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥२७॥
इदं चाऽहमिदं नाऽहं सत्या चाऽहं न चाप्यहम् ।
सर्वमस्मि न किञ्चिच्च तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥२८॥
न सुखं प्रार्थये नाऽर्थं नाऽनर्थं नेतरां स्थितिम् ।
यथाप्राप्तेन हृष्यामि तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥ २९ ॥
तनुविद्वेषरागाभिः प्रज्ञाभिः शास्त्रदृष्टिभिः ।
रमे सह वयस्याभिस्तेनाऽहं श्रीमती स्थिता ॥ ३० ॥

उनकी अप्राप्तिसे जनित लज्जामें स्थित मैं नहीं रहती हूँ' इसीसे मैं शोभायुक्त होकर स्थित हूँ ॥ २६ ॥

मैं समस्त भुवनोंकी नियामिका हूँ, तुच्छ विषयरूप नहीं हूँ, ऐसा विचार कर मैं अपनी आत्मामें ही सन्तुष्ट रहती हूँ; इसलिए शोभासम्पन्न होकर स्थित हूँ ॥ २७ ॥

ये देह आदि अधिष्ठानदृष्टिसे * मेरे स्वरूप ही हैं और आरोपितदृष्टिसे मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं पारमार्थिक दृष्टिसे सत्यस्वरूप हूँ और अपारमार्थिक दृष्टिसे मैं नहीं भी हूँ। मैं सर्वस्वरूप हूँ और किञ्चित्स्वरूप भी नहीं हूं; इस विचारसे मैं श्रीमती बनकर बैठी हूँ ॥ २८ ॥

मैं सुख नहीं चाहती, अर्थ नहीं चाहती, अनर्थका परिहार नहीं चाहती और दूसरी किसी प्रकारकी भी स्थिति नहीं चाहती। प्रारब्धवश प्राप्त किसी भी अर्थसे सन्तुष्ट रहती हूँ, इसीसे मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ ॥ २९ ॥

राग और विद्वेषको क्षीण कर देनेवाली आत्मबुद्धि और शास्त्रदृष्टिरूपी सखियोंके साथ मैं खेल करती हूँ, इसलिए मैं श्रीमती होकर स्थित हूँ ॥ ३० ॥

---

* वेदान्तशास्त्रमें अधिष्ठान वह वस्तु है जिसमें भ्रमका आरोप हो, जैसे रज्जुमें सर्प और शुक्तिमें रजतका। यहाँपर रज्जु और शुक्ति—ये दोनों अधिष्ठान हैं, क्योंकि इन्हींमें सर्प और रजतका भ्रम होता है। देखिये शेषनागविरचित परमार्थसार—'मृगतृष्णायामुदकं शुक्तौ रजतं भुजङ्गमो रज्ज्वाम्। तैमिरिकचन्द्रयुगवद् भ्रान्तमखिलं जगद्रूपम् ॥' वेदान्तशास्त्रमें आरोपका अर्थ है—(१) मिथ्याध्यास, (२) झूठी कल्पना, (३) एक पदार्थमें दूसरे पदार्थके धर्मकी कल्पना। जैसे—असङ्ग जीवात्मामें कर्तृत्व धर्मका आरोप। (४) एक पदार्थमें दूसरे पदार्थके आरोपसे उत्पन्न मिथ्या ज्ञान।

पश्यामि यन्नयनरश्मिभिरिन्द्रियैर्वा
चित्तेन चेह हि तदङ्ग न किञ्चिदेव ।
पश्यामि तद्विरहितं तु न किञ्चिदन्तः
पश्यामि सम्यगिति नाथ चिरोदयाऽस्मि ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चूडालात्मलाभो नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवमात्मनि विश्रान्ता वदन्तीं तां वराननाम् ।
अबुध्वा तद्गिरामर्थं विहस्योवाच भूपतिः ॥ १ ॥

शिखिध्वज उवाच

असम्बद्धप्रलापाऽसि बालाऽसि वरवर्णिनि ।
रमसे राजलीलाभी रमस्वाऽवनिपात्मजे ॥ २ ॥

हे स्वामिन् , इस जगत्में नेत्ररश्मियोंसे, दूसरी इन्द्रियोंसे या चित्तसे जो कुछ भी मैं देखती हूँ वह अनृत रहता ही नहीं यानी वह सब कुछ सत्य ही रहता है । उन इन्द्रियादिदृश्य पदार्थोंसे भिन्न निष्प्रपञ्च वस्तुको मैं अपने भीतर देखती हूँ । इस रीतिसे चूँकि मैं बाहर-भीतर अबाधितवस्तुस्वरूप निरन्तर देखती रहती हूँ, इसलिए हे नाथ, सतत परमाभ्युदयरूप अपूर्व शोभासे मैं शोभित हूँ ॥ ३१ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सी सर्ग

[अब राजा द्वारा चूडालाके वचनोंमें असम्बद्धत्व और खेचरत्व आदि सिद्धियोंके बीजका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, उस रीतिसे अपनी शोभाकी अधिकतामें कारण बतला रही, अपने स्वरूपभूत आत्मामें विश्रान्त कान्तवदन उस चूडालाके प्रति हँस कर उसके वचनोंका भाव न जानकर राजा शिखिध्वज बोला ॥ १ ॥

शिखिध्वजने कहा—हे सुरूपे राजपुत्रि, तुम प्रौढ़ नहीं हुई हो—

किञ्चित्त्यक्त्वा न किञ्चिद्यो गतोऽप्रत्यक्षसंस्थितम् ।
त्यक्तप्रत्यक्षसद्रूपः स कथं किल शोभते ॥ ३ ॥
भोगैरभुक्तैस्तुष्टोऽहमिति भोगान् जहाति यः ।
रुषेवाऽऽसनशय्यादीन् स कथं किल शोभते ॥ ४ ॥
भोगाभोगे परित्यज्य खे शून्ये रमते तु यः ।
एक एवाऽखिलं त्यक्त्वा स कथं किल शोभते ॥५॥
वसनाशनशय्यादीन् सर्वान्सन्त्यज्य धीरधीः ।
यस्तिष्ठत्यात्मनैवैकः स कथं किल शोभते ॥ ६ ॥

दूसरेको समझानेमें उपयोगी वाक्य बोलनेमें अपटु हो, इसीलिए असम्बद्ध प्रलाप करती हो । तुम जिन राजलीलाओंसे रमण करती हो उन्हींसे रमण किया करो ॥ २ ॥

'नाकिञ्चित् किञ्चिदा०' इत्यादि वाक्यमें असम्बद्धप्रलापत्व बतलाते हैं— 'किञ्चित्त्यक्त्वा' इत्यादिसे ।

भद्रे, बतलाओ तो सही, जो वस्तु आकारसामान्यका परित्याग कर कभी भी प्रत्यक्ष न होनेवाली निराकारताको प्राप्त हो चुकी है, वह प्रत्यक्ष और अस्तित्वसे शून्य वस्तु कैसे शोभित हो सकती है ॥ ३ ॥

'भोगैरभुक्तैस्तुष्यामि' यह तुम्हारा वचन भी असम्बद्ध ही है, ऐसा कहते हैं—'भोगै०' इत्यादिसे ।

जो पुरुष क्रोधसे आसन, शय्या आदिके परित्यागकी नाईं भोगोंका 'अभुक्त भोगोंसे ही मैं तुष्ट हूं' इस बुद्धिसे परित्याग करता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ॥ ४ ॥

'एकैवाकाशसङ्काशे केवले हृदये रमे' यह जो तुमने कहा है वह भी असङ्गत है । साक्षात् भोजन और मित्र, भृत्य प्रभृतिका भोजन—इनका परित्याग कर तथा भोजनसाधन धनादि समस्त वस्तुओंका परित्याग कर जो एक शून्य आकाशमें ही पिशाचवत् रमण करता है, वह शोभित होता है; यह कहना कैसे संगत हो सकता है ॥ ५ ॥

कौवीकी नाईं धैर्यमात्रका अवलम्बन कर शीत, उष्ण, क्षुधा, तृष्णा आदिका सहन करनेवाला पुरुष वसन, अशन, शय्या आदि सर्वविध साधनोंका परित्याग कर जो अकेला स्वरूपसे ही स्थित रहता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ॥ ६ ॥

नाऽहं देहोऽन्यथा चाऽहं न किञ्चित्सर्वमेव च ।
एवं प्रलापो यस्याऽस्ति स कथं किल शोभते ॥ ७ ॥
यत्पश्यामि न पश्यामि तत्पश्याम्यन्यदेव यत् ।
प्रलाप इत्यसन् यस्य स कथं किल शोभते ॥ ८ ॥
तस्माद्बालाऽसि मुग्धाऽसि चपलाऽसि विलासिनि ।
नानालापविलासेन क्रीडामि क्रीड सुन्दरि ॥ ९ ॥
प्रविहस्याऽट्टहासेन शिखिध्वज इति प्रियाम् ।
मध्याह्ने स्नातुमुत्थाय निर्जगामाङ्गनागृहात् ॥ १० ॥
कष्टं नाऽऽत्मनि विश्रान्तो मद्वचांसि न बुद्धवान् ।
राजेति खिन्ना चूडाला स्वव्यापारपराऽभवत् ॥ ११ ॥

'इदं चाहमिदं नाहम्' इत्यादि वचनमें भी असम्बद्धत्व बतलाते हैं—'नाऽहम्' इत्यादिसे ।

मैं देह नहीं हूं, मैं कुछ और ही हूं, घटादि पदार्थ हैं ही नहीं, सब कुछ परिपूर्णात्मक है—इस प्रकार जिसका प्रलाप है, वह कैसे शोभित हो सकता है ॥ ७ ॥

'पश्यामि यन्नयनरश्मिभिः' यह जो तुमने अन्तमें कहा है वह भी बिलकुल असङ्गत है, इसलिए तुम्हारे द्वारा उक्त ये अर्थ शोभाके हेतु नहीं हैं, यों उपसंहार करते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

जो मैं इन्द्रियवृत्तियोंसे यह देखती हूं उसे पारमार्थिकरूपसे नहीं देखती हूं । जिसे मैं पारमार्थिकरूपसे देखती हूं वह कोई और ही चीज है । इस प्रकारका जो प्रलाप है, उसे त्यागे बिना वह कौन है, जो शोभित हो सकता है ॥ ८ ॥

इसलिए हे सुन्दरी, तुम बाला हो, मुग्धा हो और हो चपल । हे विलासिनि, अनेक प्रकारके आलापविलासोंसे जिस तरह मैं क्रीड़ा करता हूं, उसी तरह तुम भी क्रीड़ा करो ॥ ९ ॥

राजा शिखिध्वजने उस प्रकार अपनी प्रिया चूडालाके प्रति अट्टहास-से हँस कर मध्याह्नमें स्नान करनेके लिए उठकर चूडालाके घरसे प्रस्थान किया ॥१०॥

बड़े दुःखका विषय है कि अभीतक राजा अपने स्वरूपमें स्थित नहीं

तदा तथाङ्ग तत्राऽथ तादृगाशययोस्तयोः ।
ताभिः पार्थिवलीलाभिः कालो बहुतिथो ययौ ॥ १२ ॥
एकदा नित्यतृप्ताया निरिच्छाया अपि स्वयम् ।
चूडालाया बभूवेच्छा लीलया खगमागमे ॥ १३ ॥
खगमागमसिद्ध्यर्थमथ सा नृपकन्यका ।
सर्वभोगाननादृत्य समागम्य च निर्जनम् ॥ १४ ॥
एकैवैकान्तनिरता स्वासनावस्थिताङ्गिका ।
ऊर्ध्वगप्राणपवनचिराभ्यासं चकार ह ॥ १५ ॥

श्रीराम उवाच

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
स्पन्दच्युतं क्रियानाम्नः कथमित्यनुभूयते ॥ १६ ॥

हुआ है । मेरे वचनोंको भी वह न समझ सका—इस प्रकार विचारसे खिन्न हुई वह चूडाला अपने कार्यमें संलग्न हो गई ॥ ११ ॥

हे रामभद्र, तदनन्तर वहींपर उस प्रकारके भिन्न-भिन्न आशयसे युक्त उन दोनोंका उस समय भी पहलेकी पार्थिवलीलाओंसे उसी तरह बहुत काल चला गया ॥ १२ ॥

एक समयकी बात है कि नित्यतृप्त और निरीह भी चूडालाको लीलावश आकाशमें देवताओंके सदृश गमनागमन करनेकी स्वयं इच्छा हुई ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह राजकन्या आकाशमें यथेष्ट संचारकी सिद्धिके लिए सर्वविध विषयोंका अनादर कर और निर्जन स्थानमें आकर स्वयं अकेली ही एकान्तमें निरत तथा अपने आसनके ऊपर उचित अङ्गोंसे अवस्थित हो ऊर्ध्वगामी प्राणपवनका दीर्घ आकाशसंचारकी सिद्धिके अनुकूल भ्रूमध्य आदि देशमें निरोध करनेके लिए अभ्यास करने लगी ॥ १४, १५ ॥

खेचरसिद्धिमें हेतुभूत क्रियाके प्रसङ्गसे श्रीरामभद्र सामान्यक्रियामें निमित्तकी जिज्ञासासे आक्षेप करते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, यह जो कुछ स्थावर और जङ्गम जगत् है वह सब क्रियासे ही उत्पादित मालूम होता है [क्योंकि कर्ता आदि कारकोंकी क्रियाके बिना किसीकी उत्पत्ति देखी नहीं जाती है, ऐसी स्थितिमें यह एक

कस्य स्पन्दविलासस्य घनाभ्यासस्य मे वद ।
ब्रह्मन् खगमनाद्येतत्फलं यत्नैकशालिनः ॥ १७ ॥
आत्मज्ञो वाऽप्यनात्मज्ञः सिद्ध्यर्थं लीलयाऽथवा ।
कथं संसाधयत्येतद्यथा तद्वद मे प्रभो ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

त्रिविधं सम्भवत्यङ्ग साध्यं वस्त्विह सर्वतः ।
उपादेयं च हेयं च तथोपेक्ष्यं च राघव ॥ १९ ॥

स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि] क्रियानामक स्पन्दकी उत्पत्ति किससे हुई ? उसकी उत्पत्ति सक्रियसे होगी, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि इस समाधानमें आत्माश्रय और अनवस्था दोनों दोष स्थित हैं । यदि कूटस्थसे उसकी उत्पत्ति होती है, यह कहकर समाधान करें, तो उसमें व्याघात, अविराम और फलानवस्था— ये तीन दोष आ जायंगे । इसलिए हे महाराज, क्रियानामक वस्तुकी उत्पत्ति अनुभवपथपर कैसे आती है ? उसे कहिये ॥ १६ ॥

इस प्रकार आक्षेप कर प्रस्तुत विषय पूछते हैं—'कस्य' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन् , यह जो आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं वे घनाभ्यस्त किस प्रयत्नशाली स्पन्दविलासके फल हैं, यह मुझसे कहिये ॥ १७ ॥

हे प्रभो, जो अनात्मज्ञ पुरुष हैं वे अपनी सिद्धिके लिए अथवा जो आत्मज्ञ हैं वे एकमात्र लीलाके लिए किस क्रमसे इन सिद्धियोंको सिद्ध करते हैं, वह जैसा है, मुझसे कहिये ॥ १८ ॥

रामभद्र, जो आपने क्रियाकी उत्पत्तिके विषयमें आत्माश्रय, अनवस्था आदि दोषोंका उद्भावन किया है वह तब घटता, जब केवल क्रियास्वरूपकी सिद्धिके लिए कारकोंकी अपेक्षा होती । परन्तु यहाँ बात वैसी नहीं है । बात यह है— क्रियासाध्य फलके लिए कारकोंकी अपेक्षा होती है । फलकी उत्पत्तिके लिए प्रवृत्त हुए कारक नान्तरीयकरूपसे क्रियाका अवलम्बन करते हैं । इसी क्रियाके आधारपर फलमें साध्यता और कारकोंमें साधनता कही जा सकती है । इस रीतिसे निष्कर्ष यह निकला कि साध्य और साधन दोनोंसे विलक्षण क्रिया साध्यमें अपेक्षित साधनोंसे भिन्न किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं करती, इसलिए क्रियामें सक्रिय कारण है या कूटस्थ ? इस विकल्पका प्रसङ्ग ही नहीं आता, इस आश-

आत्मभूतं प्रयत्नेन उपादेयं च साध्यते ।
हेयं सन्त्यज्यते ज्ञात्वा उपेक्ष्यं मध्यमेतयोः ॥ २० ॥
यद्यदाह्लादनकरमादेयं यच्च सन्मते ।
तद्विरुद्धमनादेयमुपेक्ष्यं मध्यमं विदुः ॥ २१ ॥
सन्मतेर्विदुषो ज्ञस्य सर्वमात्ममयं यदा ।
त्रय एते तदा पक्षाः सम्भवन्ति न केचन ॥ २२ ॥
केवलं सर्वमेवेदं कदाचिल्लीलया तया ।
उपेक्षापक्षनिक्षिप्तमालोकयति वा न वा ॥ २३ ॥

यसे वसिष्ठजी आगेके प्रश्नोंके समाधानमें गौण-मुख्यसाधारण क्रियासाध्यको विभागपूर्वक दर्शाते हैं—'त्रिविधम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे प्रिय राघव, इस जगत्‌में सभी जगह साध्य वस्तु तीन तरहकी होती है—उपादेय, हेय और उपेक्ष्य* ॥ १९ ॥

उनमें फलवैलक्षण्य दर्शाते हैं—'आत्मभूतम्' इत्यादिसे ।

अपने अनुकूल उपादेय अर्थका प्रयत्नपूर्वक निष्पादन किया जाता है। अपने प्रतिकूल जानकर हेय वस्तुका त्याग किया जाता है। हेय और उपादेय दोनोंके बीचका अर्थ उपेक्ष्य होता है ॥ २० ॥

हे सद्बुद्धे, जो वस्तु साक्षात् या परम्परया सुखके अनुकूल होती है वह उपादेय होती है और जो वस्तु सुखविघातक होती है वह हेय होती है एवं जो वस्तु इन दोनोंके बीचकी होती है वह उपेक्ष्य होती है, ऐसा अनुभवी लोगोंका कहना है ॥ २१ ॥

ये तीनों साध्यभेद अज्ञानियोंके लिए ही हैं, यह कहते हैं—'सन्मते' इत्यादिसे ।

सन्मति तत्त्वज्ञ विद्वान्‌की दृष्टिमें जब यह सब आत्मस्वरूप हो जाता है तब इन तीनों पक्षोंमेंसे कोई भी पक्ष नहीं ठहरता ॥ २२ ॥

विद्वानके लिए यदि तीसरा कल्प मान भी लिया जाय, तो भी कोई दोष नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'केवलम्' इत्यादिसे ।

---

* ग्रहणबुद्धिकी विषयभूत वस्तु उपादेय है, यह प्रवृत्तिकी विषय है। त्यागबुद्धिकी विषय वस्तु हेय कहलाती है, यह निवृत्तिकी विषय है। उपेक्षाबुद्धिकी विषय वस्तु उपेक्ष्य है।

ज्ञस्योपेक्षात्मकं नाम मूढस्याऽऽदेयतां गतम् ।
हेयं स्फारविरागस्य शृणु सिद्धिक्रमः कथम् ॥ २४ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यसाधनाः सर्वसिद्धयः ।
जीवमाह्लादयन्तीह वसन्त इव भूतलम् ॥ २५ ॥
मध्ये चतुर्णामेवैषां क्रियाप्राधान्यकल्पना ।
सिद्ध्यादिसाधने साधो तन्मयास्ते यतः क्रमाः ॥ २६ ॥
गुटिकाञ्जनखड्गादिक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
तत्राऽसतां च दोषोऽत्र विस्तारः प्रकृतार्थहा ॥ २७ ॥

किसी समय ज्ञानी उस लीलासे ही इस समस्त जगत्को उपेक्षापक्षमें रखकर केवल देखता है और नहीं भी देखता है ॥ २३ ॥

एक ही वस्तु एक पुरुषके बोध, राग और वैराग्य अवस्थाके भेदसे तीन प्रकारकी हो जाती है, ऐसा कहते हैं—'ज्ञस्य' इत्यादिसे ।

एक ही वस्तु ज्ञानीकी दृष्टिमें उपेक्षात्मक, मूढ़की दृष्टिमें उपादेयात्मक और उत्तमवैराग्यसम्पन्न पुरुषकी दृष्टिमें हेयात्मक हो जाती है । हे रामभद्र, आकाश-गमनसिद्धि आदिका क्रम कैसा है, उसे आप अब सुनिये ॥ २४ ॥

सिद्धिके तारतम्यमें तथा चिरकालिक एवं अचिरकालिक प्रयत्नकी आवश्य-कतामें उपाय बतलाते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

देश, काल, क्रिया एवं द्रव्यकी अपेक्षा रखनेवाली सब तरहकी सिद्धियाँ यहाँपर, भूतलको वसन्तके सदृश, जीवको मोहित करती हैं ॥ २५ ॥

ये जो देश आदि सिद्धिके चार साधन हैं उनमें श्रीशैल आदि उत्तमोत्तम देश आदि चार साधनोंके मिल जानेपर शीघ्र सिद्धियोंका लाभ हो जानेसे योग, मन्त्र, जप आदि क्रियाओंमें दूसरे देशमें अनुष्ठित क्रियाओंकी अपेक्षा प्रधान उत्कर्षकी कल्पना होती है और तदनुसार ही फलोत्कर्ष भी होता है, यह कहते हैं—'सिद्ध्यादि०' इत्यादिसे ।

हे साधो, सिद्धि आदिके साधनमें ये जो चार हेतु हैं उनमें श्रीशैल आदिमें अनुष्ठित योग आदि क्रियामें उत्कर्षकी कल्पना होती है, क्योंकि फलोत्कर्षक्रम जितने हैं वे सभी उन क्रियाओंके उत्कर्षके अनुसार ही होते हैं ॥ २६ ॥

ठीक है, हमने वैसा मान लिया, इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'गुटिका०' इत्यादिसे ।

रत्नौषधितपोमन्त्रक्रियाक्रमनिरूपणम् ।
आस्तामेव किलैषोऽपि विस्तारः प्रकृतार्थहा ॥ २८ ॥
श्रीशैले सिद्धदेशे च मेर्वादौ वा निवासतः ।
सिद्धिरित्यपि विस्तारः कृतार्थ प्रकृतार्थहा ॥ २९ ॥
तस्माच्छिखिध्वजकथाप्रसङ्गपतितामिमाम् ।
प्राणादिपवनाभ्यासक्रियां सिद्धिफलां शृणु ॥ ३० ॥

उड्डामरतन्त्र, योगिनीकल्प आदि बड़े-बड़े अनेक ग्रन्थोंमें आकाशगमन आदिके साधन ये भी प्रसिद्ध हैं—सिद्धगुटिका, सिद्धाञ्जन, सिद्धखड्ग, सिद्ध-पादुका आदि। 'कथं संसाधयत्येतत्' यह जो आपने प्रश्न किया है उसका अभिप्राय यदि उन क्रियाक्रमोंका निरूपण करनेमें है, तो अविस्तृत कथनसे उनका निरूपण न हो सकनेके कारण कथनका विस्तार अवश्य करना होगा। उससे सिद्धियोंके विषयमें जिज्ञासा न रखनेवाले अतत्त्वज्ञ श्रोताओंकी दैववश इच्छा हो जायगी और उनमें वे प्रवृत्ति करने लग जायँगे, इससे बड़ा अनर्थ हो जायगा। आपके लिए भी वह विस्तार प्रकृत आत्मश्रवणमें विघ्नरूप हो जानेसे विघातक ही है, इसलिए प्रकृतमें उसका निरूपण उचित नहीं है ॥ २७ ॥

यही न्याय मणि, मन्त्र आदिसे होनेवाले सिद्धिक्रमके निरूपणमें तथा श्रीशैल आदि सिद्ध देशमें निवाससे सिद्ध होनेवाले सिद्धिक्रमके निरूपणमें भी लगाना चाहिए, यह कहते हैं—'रत्नौषधि०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

हे रामभद्र, मणि, औषधि, तप, मन्त्र और क्रियासे होनेवाली सिद्धिके क्रमका निरूपण भी दूर ही रहे, क्योंकि उसका विस्तारपूर्वक निरूपण करना भी प्रकृत आत्मतत्त्वरूप अर्थका विघातक ही है ॥ २८ ॥

हे कृतार्थ श्रीरामजी, सिद्धदेशसे प्रसिद्ध श्रीशैल अथवा मेरु पर्वतपर निवास कर रहे पुरुषको सिद्धि होती है—इसका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करना आपके जैसे सिद्धियोंमें तुच्छत्व बुद्धि रखनेवाले पुरुषोंके लिए प्रकृत आत्मचिन्तन-रूप अर्थका विघातक ही सिद्ध होगा ॥ २९ ॥

तब तो मेरा प्रश्न बिलकुल निरर्थक ही है—इस विचारसे श्रीरामचन्द्रजी-को किसी तरहका दुःख न हो, इसलिए प्रस्तुत ज्ञानकी दृढ़तामें उपयोगी, आनुषङ्गिक आकाशगमनादि सिद्धियोंमें साधनभूत तथा वर्णन की जा रही कथासे सम्बद्ध प्राणायामक्रम संक्षेपसे सुनाते हैं—'तस्मा०' इत्यादिसे।

अन्तस्था ह्यखिलास्त्यक्त्वा साध्यार्थेतरवासनाः ।
गुदादिद्वारसङ्कोचान् स्थानकादिक्रियाक्रमैः ॥ ३१ ॥
भोजनासनशुद्ध्या च साधुशास्त्रार्थभावनात् ।
स्वाचारात् सुजनासङ्गात् सर्वत्यागात् सुखासनात् ॥ ३२ ॥
प्राणायामघनाभ्यासाद्राम कालेन केनचित् ।
कोपलोभादिसंत्यागाद्भोगत्यागाच्च सुव्रत ॥ ३३ ॥
त्यागादाननिरोधेषु भृशं यान्ति विधेयताम् ।
प्राणाः प्रभुत्वात्तज्ज्ञस्य पुंसो भृत्या इवाऽखिलाः ॥ ३४ ॥
राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः ।
देहानिलविधेयत्वात् साध्याः सर्वस्य राघव ॥ ३५ ॥

इसलिए हे श्रीरामजी, शिखिध्वजकी कथाके प्रसङ्गसे प्राप्त सिद्धिरूपी फलसे युक्त इस प्राणादि वायुकी अभ्यासक्रियाका आप श्रवण कीजिये ॥ ३० ॥

साध्यार्थ और साधनार्थ अखिल अन्तस्थ वासनाओंका त्यागकर गुदा आदि द्वारोंके सङ्कोचसे, सिद्धादि आसन, काय, मस्तक और गर्दनकी समता, निश्चलता, तथा नासिकाके अग्रभागमें अवलोकनादि योगशास्त्रोक्त क्रियाक्रमोंसे; भोजन और आसनकी शुद्धिसे, भलीभाँति योगशास्त्रके परिशीलनसे, उत्तम आचारसे, सज्जनोंके सङ्गसे, सर्वत्यागसे, सुखासनसे, कुछ कालतक प्राणायामके दृढ़ अभ्याससे, क्रोध, लोभ आदिके बिलकुल त्यागसे तथा भोगोंके त्यागसे हे सुव्रत श्रीरामचन्द्रजी, रेचक, पूरक और कुम्भक का अच्छी तरह अभ्यास हो जानेपर प्राणोंका स्वामी हो जानेके कारण योगियोंके सब प्राण उस तरह उसके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजाके भृत्य ॥ ३१–३४ ॥

प्राणोंके अपने अधीन हो जानेपर यानी प्राणोंके ऊपर अपना सब नियन्त्रण हो जानेपर उनसे सम्बद्ध सिद्धियां भी अपने अधीन हो जाती हैं—यह कहते हैं—'राज्या०' इत्यादिसे ।

हे राघव, देहके वायुके अपने अधीन हो जानेसे यानी देहस्थ वायुके ऊपर अपना नियन्त्रण हो जानेसे राज्यसे लेकर मोक्षपर्यन्त सभी सम्पत्तियां सबको सुखसाध्य हो जाती हैं ॥ ३५ ॥

परिमण्डलिताकारा मर्मस्थानं समाश्रिता ।
आन्त्रवेष्टनिका नाम नाडी नाडीशताश्रिता ॥ ३६ ॥
वीणाग्रावर्तसदृशी सलिलावर्तसन्निभा ।
लिप्याद्योंकारसंस्थाना कुण्डलावर्तसंस्थिता ॥ ३७ ॥
देवासुरमनुष्येषु मृगनक्रखगादिषु ।
कीटादिष्वब्जजान्तेषु सर्वेषु प्राणिषूदिता ॥ ३८ ॥

अब, देहस्थ वायुके अपने अधीन हो जानेसे सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, यह जो कहा गया, इसका उपपादन करनेके लिए सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई बहत्तर हजार शाखाओंवाली प्रधान सौ नाडियोंकी आश्रित, मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सात चक्रोंमें प्रविष्ट होकर निकली हुई तथा मूलाधारमें साढ़े तीन वलयके वेष्टनके भीतर सोई हुई कुण्डलिनीकी शक्तिसे सम्पन्न सुषुम्ना नाडीका वर्णन करते हैं—'परिमण्डलिताकारा' इत्यादिसे ।

चारों ओरसे फैली हुई शाखाओंसे परिवेष्टित होनेके कारण मण्डलित आकारसे युक्त, मर्मस्थानमें समाश्रित, सौ नाडियोंकी आश्रय आन्त्रवेष्टनिका (सुषुम्ना) नामकी नाडी है [चूँकि आँतोंकी नाडियोंसे वह बिल्कुल घिरी हुई है, इसलिए उसका नाम आन्त्रवेष्टनिका पड़ा है] ॥ ३६ ॥

मूलाधारमें स्वान्तर्गत कुण्डलिनीके स्थानकी अनुकूलतासे उसका वर्णन करते हैं—'वीणा०' इत्यादिसे ।

वीणादण्डके मूलभागमें प्रसिद्ध रेखास्वरूप आवर्तके [तन्त्रीके मूलमें परिवर्तनरूप जो आवर्त होता है उसके तुल्य अथवा जलपरिवर्तनस्वरूप जो आवर्त होता है उसके तुल्य, द्रविडाक्षरमें लिखकर देखनेमें ॐकारके पूर्वार्द्धके समान और नागरी लिपिमें तो ॐकारके उत्तरार्द्धके समान तथा कुण्डल एवं आवर्तके तुल्य वह सुषुम्ना नाडी स्थित है ॥ ३७ ॥

यह केवल मनुष्योंके ही शरीरमें होती हो, यह बात नहीं है, किन्तु सभी जीवोंके शरीरोंमें यह एक-सी ही होती है, यह कहते हैं—'देव०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, देव, असुर, मनुष्य, मृग, नक्र, खग आदिमें, कीट, पतङ्ग आदिसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सब प्रकारके प्राणियोंमें वह नाडी उदित है ॥ ३८ ॥

शीतार्तसुप्तभोगीन्द्रभोगवद्बद्धमण्डला ।
सिता कल्पाग्निविगलदिन्दुवद्बद्धकुण्डली ॥ ३९ ॥
ऊरोर्भ्रूमध्यरन्ध्राणि स्पृशन्ती वृत्तिचञ्चला ।
अनारतं च सस्पन्दा पवमानेन तिष्ठति ॥ ४० ॥
तस्यास्त्वभ्यन्तरे तस्मिन् कदलीकोशकोमले ।
या परा शक्तिः स्फुरति वीणावेगलसद्गतिः ॥ ४१ ॥

शीतजन्य पीड़ाके निवारणके लिए गेंडुरी मारकर (गोलाई बाँधकर) सोये हुए सर्पराजके शरीरकी नाईं बद्धमण्डल, शुभ्र तथा प्रलयाग्निसे गल रहे चन्द्रमाके तुल्य बद्धकुण्डली वह नाडी है ॥ ३९ ॥

गुदासे लेकर भौंहके बीच तक सब छिद्रोंका स्पर्श कर रही वह सुषुम्ना नाडी मनकी वृत्तियोंसे भीतर चञ्चल और बाहर प्राणादिसे स्पन्दयुक्त होकर सदा अवस्थित रहती है ॥ ४० ॥

उसके मूलमें साढ़े तीन वलयके आकारसे युक्त कुण्डलिनी संज्ञावाली चिच्छक्ति है, यह दर्शाते हैं—'तस्या०' इत्यादिसे ।

उसके आभ्यन्तरमें यानी कदलीकोशके सदृश मूलाधारमें वीणाके मूलमें दुर्लक्ष्य तारोंके वेगसे विलास कर रही-सी परम-सूक्ष्म पराशक्ति नामकी सकल शब्दोंकी मूलभूत शब्दब्रह्मात्मिका जो स्फूर्ति है वही प्राणसङ्गसे नाभि, हृदय और कण्ठ प्रदेशोंमें उत्तरोत्तरको अत्यन्त व्यक्त होकर देखती हुई मध्यमा, वैखरी इत्यादि भेदोंको प्राप्त करती है * ॥ ४१ ॥

* ऐसा ही मन्त्रशास्त्रमें कहा गया है—

'चैतन्यसर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति यद्विदुः ।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ॥
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥' इत्यादि ।

वाग्मने भी कहा है—

'या स. मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं
वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते ।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितं मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥'

सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकारवाहिनी ।
प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिजवप्रदा ॥ ४२ ॥
अनिशं निःश्वसद्रूपा रूषितेव भुजङ्गमी ।
संस्थितोर्ध्वीकृतमुखी स्पन्दनाहेतुतां गता ॥ ४३ ॥
यदा प्राणानिलो याति हृदि कुण्डलिनीपदम् ।
तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः ॥ ४४ ॥
यथा कुण्डलिनी देहे स्फुरत्यब्ज इवाऽलिनी ।
तथा संविदुदेत्यन्तर्मृदुस्पर्शवशोदया ॥ ४५ ॥

चूँकि वह कुण्डलाकारवाहिनी है, इसलिए, कुण्डली नामसे कही गई है। वह सब प्राणियोंकी परमा शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सब शक्तियों-की सत्तास्फूर्तिकी प्रवृत्तिमें निर्वाहक होनेसे वेगप्रदान करनेवाली है ॥ ४२ ॥

उनमें प्राणशक्तिको वेगप्रदान करनेवाली कैसे है, यह कहते हैं—'अनिशम्' इत्यादिसे ।

वही अपने मुखसे प्राणवायुको ऊपर फेंकती है और अपानको नीचे खींचती है, इसलिए सदा साँस खींचती हुई स्पन्दनमें हेतु बनी हुई ऊपरकी ओर मुँह करके क्रुद्ध साँपिनकी नाईं अवस्थित रहती है ॥ ४३ ॥

बुद्धिशक्तिको वेगप्रदान करनेवाली कैसे है, यह कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब हृदयमें स्थित प्राणवायु कुण्डलिनीसे आकृष्ट होकर अपानवृत्ति द्वारा कुण्डलिनी पदको प्राप्त होता है तब अपञ्चीकृत भूतोंसे जनित अन्तःकरणमें विद्यमान जीवसंवित् स्मृति, सङ्कल्प, अध्यवसाय, अभिमान, राग आदि वृत्तियोंके भेदोंसे अन्दर उदित होती है ॥ ४४ ॥

कैसे इन्द्रियशक्तिको वेगप्रदान करती है, यह बतलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

इस तरह प्राण और बुद्धिको ज्ञान और क्रिया शक्ति प्रदान करनेवाली कुण्डलिनी कोमल स्पर्शवाली (विषय सन्निकर्षवाली) चक्षु आदि इन्द्रियोंसे उदय प्राप्त करती हुई, कमलमें भ्रमरकी नाईं, देहमें जैसे-जैसे (जिस तरहके भोजकके अदृष्ट या दृष्ट सामग्रीके वैचित्र्यसे) स्फुरित होती है वैसे-वैसे अन्तः

स्पर्शनं मृदुनाऽन्योन्यालिङ्गिका तत्र यन्त्रयोः ।
यथा संविदुदेत्युच्चैस्तथा कुण्डलिनी जवात् ॥ ४६ ॥
तस्यां समस्ताः सम्बद्धा नाड्यो हृदयकोशगाः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते महार्णव इवाऽऽपगाः ॥ ४७ ॥
नित्यं पातोत्सुकतया प्रवेशोन्मुखया तथा ।
सा सर्वसंविदां बीजं ह्येका सामान्युदाहृता ॥ ४८ ॥

श्रीराम उवाच

आकल्पादनवच्छिन्ना चित्संवित्सर्वमस्ति हि ।
तस्मात्कुण्डलिनीकोशात्केनार्थेनोदयः स्फुटः ॥ ४९ ॥

-करणमें तत्-तत् इन्द्रियोंसे अर्थविशेषोंमें स्फूर्तिस्वरूप तत्-तत् फलभोगादिरूप संवित् उदित होती है ॥ ४५ ॥

कैसे वह इन्द्रियसन्निकर्षोंकी वशवर्तिनी है, यह कहते हैं—'स्पर्शनम्' इत्यादिसे ।

ज्यों-ज्यों चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ विषयस्पर्श प्रथम उत्पन्न होता जाता है त्यों-त्यों कार्यकरणसंघातरूप यन्त्रके प्रेरक वृत्ति द्वारा बाहर निकले हुए प्रमाताकी बाह्य विषयोंके साथ परस्पर आलिङ्गन करानेवाली संवित् कुण्डलिनी अत्यन्त स्पष्ट होती जाती है ॥ ४६ ॥

मूलाधारमें स्थित कुण्डलिनीकी सब नाड़ियां चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रवर्तनमें द्वार हैं, इस आशयसे कहते हैं—'तस्याम्' इत्यादिसे ।

उस कुण्डलिनीमें हृदयकोशकी समस्त नाड़ियां सम्मिलित हैं । वे सब नाड़ियां, सागरमें नदियोंकी नाईं, उसीसे बारबार उत्पन्न होती हैं तथा उसीमें विलीन हो जाती हैं ॥ ४७ ॥

वे कैसे बारबार उसीसे उत्पन्न होती हैं तथा उसीमें विलीन हो जाती हैं, यह कहते हैं—'नित्यम्' इत्यादिसे ।

प्राणरूपसे उसके ऊर्ध्वगमनमें उत्सुक होने तथा अपानरूपसे अधःप्रवेशकी ओर उन्मुख होने से सम्पूर्ण ज्ञानोंकी एक वही साधारण बीज कही गई है ॥४८॥

अपरिच्छिन्न चितिका—मूलाधार नाडीमूलमें परिच्छिन्न कुण्डलिनीनामक

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वदा सर्वं चित्संविद्विद्यतेऽनघ।
किन्त्वस्या भूततन्मात्रवशादभ्युदयः क्वचित् ॥ ५० ॥
सर्वत्र विद्यमानापि देहेषु तरलायते।
सर्वगोऽप्यातपः सौरो भित्त्यादौ वै विजृम्भते ॥ ५१ ॥

अपने अंशसे—उदय कैसे और किस लिए होता है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'आकल्पाद०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, जब वस्तु और कालसे* अपरिच्छिन्न सर्वात्मक चितिसंवित् है, तब उस कुण्डलिनीकोशसे ही सब तरहकी संवित्‌का स्फुट उदय होता है, यह कैसे और किसलिए ? ॥ ४९ ॥

जब देशकृत परिच्छेदाभाव वस्तुकृत परिच्छेदाभावमें अन्तर्भूत है तब तो कालकृत परिच्छेदाभाव भी वस्तुकृत परिच्छेदाभावमें अन्तर्भूत ही है, फिर उसका पृथक् उपादान व्यर्थ है। यदि यह कहिये कि स्पष्टीकरणके लिए उसका अलग उपादान किया गया है, तो देशकृत परिच्छेदाभावमें भी यह कह सकते हैं—यों तीनोंके अनुवादके व्याजसे दिखलाते हुए, निराकार और निर्विषयक चितिकी—जीवाकारस्वरूपसे या घटादिविषयकस्वरूपसे—अभिव्यक्ति बतलानेके लिए 'तदा संविदुदेत्यन्तर्भूततन्मात्रबीजभूः' इत्यादि जो पहले कहा गया था उसी अर्थकी विस्तारसे व्याख्या करनेकी इच्छा कर रहे महाराज वसिष्ठजी—स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहोंके आकारमें परिणत भूतोंसे सापेक्ष ही चितिकी विशेषाभिव्यक्ति होती है—यह बतलाते हैं—'सर्वत्र' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप रामजी, यद्यपि सब जगह सदा चितिसंवित् ही सब कुछ है, तथापि भूततन्मात्राओंके कारण इसका उदय कहींपर ही होता है ॥ ५० ॥

संविद्‌में देशकृत परिच्छेदाभाव होनेपर वह सर्वत्र भासित होने लगेगी, ऐसी आशङ्का करके केवल उपाधिके कारण ही उसका उदय होता है, यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'सर्वत्र' इत्यादिसे।

---

* देशकृत परिच्छेदाभावका भी वस्तुकृत परिच्छेदाभावमें ही अन्तर्भाव है, इस आशयसे यहाँ काल और वस्तुकृतपरिच्छेदाभावका उपादान किया गया है।

क्वचिन्नष्टं क्वचित्स्पष्टं क्वचिदुच्छन्नतां गतम् ।
वस्तु वस्तुनि दृष्टं तत्तत्सद्भावैर्विजृम्भितम् ॥ ५२ ॥
एतद्भूयः क्रमेणाऽहं शृणु वक्ष्यामि तेऽनघ ।
देहे स्वे च यथोदेति भृशं संविन्मयक्रमः ॥ ५३ ॥
चेतनाचेतनं भूतजातं व्योम तथाऽखिलम् ।
सर्वं चिन्मात्रसन्मात्रं शून्यमात्रं यथा नभः ॥ ५४ ॥
तद्धि चिन्मात्रसन्मात्रमविकारं स्वनामयम् ।
क्वचित्स्थितं संविदेव भूततन्मात्रपञ्चकम् ॥ ५५ ॥

सर्वत्र विद्यमान रहता हुआ भी सूर्यका आतप जैसे भित्ति, दर्पण, जल आदिमें विशेषरूपसे अवभासित होता है वैसे ही सर्वत्र देहोंमें विद्यमान रहती हुई भी चितिसंवित् बुद्धिके चाञ्चल्यसे चञ्चल अवभासित होती है ॥ ५१ ॥

वह चितिवस्तु कहीं मिट्टी, पत्थर आदि वस्तुओंमें अविद्यारूपी जड़तासे तिरोहित हो जानेके कारण गरम जलमें छोड़े गये ठण्डे जलकी नाईं अदृष्ट है। कहीं देव, मनुष्य आदि लिङ्गोंमें तो वह स्पष्ट ही अभिव्यक्त है और कहीं वृक्षादिलिङ्गोंमें विवेकज्ञानसे शून्य तथा तत्-तत् पदार्थोंकी सत्तारूपसे विजृम्भित दृष्ट है ॥ ५२ ॥

जो अभिव्यक्तितारतम्य अभी कहा गया है, उसीका इस सर्गकी समाप्तितक क्रमशः निरूपण करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'एतद्भूयः' इत्यादिसे ।

हे पापशून्य श्रीरामजी, पशुओंसे लेकर स्थावर आदि देहोंमें तथा मनुष्यादि-शरीरोंमें जिस तारतम्यसे संविन्मयक्रम उदित होता है, यह फिर मैं आपसे क्रमशः कहता हूं, आप खूब सुनिये ॥ ५३ ॥

स्थूल और सूक्ष्म भूतोंके अध्यासका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिए उपोद्घात द्वारा सबके अधिष्ठान, सच्चिदेकरस, समस्त प्रपञ्च और उसके धर्मोंसे शून्य उस आत्मतत्त्वका सबसे पहले निर्देश करते हैं—'चेतना०' इत्यादिसे ।

जैसे आकाश शून्यमात्र है वैसे ही यह सम्पूर्ण चेतन और अचेतन भूतोंका समूह तथा आकाश जो कुछ भी भासता है वह सब असङ्ग, विभु और सूक्ष्म चिन्मात्र ही है ॥ ५४ ॥

उस चिन्मात्रके उसी तरहसे स्थित रहनेपर माया द्वारा कल्पित एक देशमें

तत्पञ्चधा गतं द्वित्वं लक्षसे त्वं स्वसंविदम् ।
अन्तर्भूतविकारादि दीपाद्दीपशतं यथा ॥ ५६ ॥
स्वसत्तामात्रकेणैव सङ्कल्पलवरूपिणा ।
पञ्चकानि व्रजन्तीह देहत्वं तानि कानिचित् ॥ ५७ ॥
कानिचित्तिर्यगादित्वं हेमादित्वं च कानिचित् ।
कानिचिद्देशतादित्वं द्रव्यादित्वं च कानिचित् ॥ ५८ ॥
एवं हि पञ्चकस्पन्दमात्रं जगदिति स्थितम् ।
चित्संविदत्र सर्वत्र विद्यते रघुनन्दन ॥ ५९ ॥

आकाशादि सूक्ष्म भूतोंका अध्यास होनेसे वही भूततन्मात्ररूपसे अवस्थित है, यह कहते हैं—'तद्धि' इत्यादिसे ।

वह सन्मात्र, चिन्मात्र, विकारशून्य और अनामय संविद् ही कहीं माया द्वारा कल्पित एक देशमें भूत और पञ्चतन्मात्राओंके रूपसे अवस्थित है ॥ ५५ ॥

प्राण, मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—इस पञ्चप्रकारको प्राप्त लिङ्ग-शरीरमें प्रतिबिम्बरूपसे प्रवेश करके सम्पन्न हुए हे श्रीरामचन्द्रजी, जन्मादि विकार तथा जाग्रदादि अवस्थाओंके भेद जिसमें अन्तर्भूत हैं ऐसे स्वसंविद्रूप जीवभावको आप उस तरह लक्षित करते हैं, जिस तरह एक दीपसे सौ दीप ॥ ५६ ॥

लिङ्गारम्भसे परिशिष्ट कुछ ऐसे भी तन्मात्रपञ्चक हैं, जो इस संसारमें देव-मनुष्यादि आकारकी वासनाओंके अनुसार कुछ सङ्कल्पस्वरूप अपनी सत्तामात्रसे ही केवल पञ्चीकरण द्वारा स्थूल देहभावको प्राप्त होते हैं ॥ ५७ ॥

कोई तन्मात्रपञ्चक पशु-पक्षी आदि तिर्यग्देहभावको प्राप्त होते हैं ; कोई सुवर्ण, रजत और खर्परसे उपलक्षित ब्रह्माण्डभाव तथा उसके अन्तर्गत भुवनादि-भोग्यभावको प्राप्त होते हैं, कोई देशादिभावको और कोई द्रव्यादिभावको प्राप्त होते हैं ॥ ५८ ॥

ठीक है, बात ऐसी ही है, किन्तु इससे प्रकृतमें आया क्या ? इसपर कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

हे रघुनन्दन, इस तरह यह संसार पञ्चतन्मात्रका केवल स्पन्दनमात्र ही सिद्ध है [ठीक है, तब तो अधिष्ठानचैतन्य सर्वत्र विद्यमान है, फिर घटादि चेतन

केवलं पञ्चकवशाद्देहादौ चेतनाभिधा ।
जडस्पन्दाभिधा क्वाऽपि स्थावरादौ जडाभिधा ॥ ६० ॥
यथा स्तब्धः स्थितो वीचिरिव स्थलमिवाऽऽस्थितः ।
पञ्चकेषु तथैवचिल्लोलरूपा जडान्विता ॥ ६१ ॥
इतः सौम्य इतो लोलः किमब्धिरिति नो यथा ।
विकल्पादौ तथैवैतत्पञ्चकं हि जडाजडम् ॥ ६२ ॥

क्यों नहीं है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'चित्' से] और वह चितिसंवित् ही यहाँ सर्वत्र विद्यमान है ॥ ५९ ॥

किन्तु केवल चैतन्याभिव्यञ्जक प्राणादिपञ्चक (प्राण, मन, बुद्धि, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय) के कारण लिङ्गशरीरकी प्रधानतासे मनुष्यादिदेहोंमें मुख्यचेतन-नामवाली, कहीं (तिर्यगादिमें) लिङ्ग और स्थूल देहकी प्रधानतामें समता होनेसे जड़चेतननामवाली और स्थावरादिमें तो लिङ्गशरीरके अन्तःसंवेदनमात्र होनेसे बाहर मनुष्यों द्वारा चैतन्यकी भावना न होनेसे वह चितिसंवित् केवल जड़नाम-वाली प्रसिद्ध है ॥ ६० ॥

तीनोंमें भी वह चिति किस तरह तारतम्यसे स्थित है ? इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे दिनमें पिघला हुआ घीका समुद्र सायंकालमें शीतल पवनके स्पर्शसे तटपर धीरे-धीरे गाढ़ हो जानेसे निश्चल होकर द्रवस्थानमें तरङ्गके समान चञ्चल, कुछ घनीभूत प्रदेशमें कुछ चञ्चल और अत्यन्त घनीभूत प्रदेशमें स्थलकी नाईं अचल स्थित रहता है, वैसे ही यह चितिसंवित् नर, तिर्यक् और स्थावरादि देहरूप पञ्चकोंमें क्रमसे चञ्चल, कुछ चञ्चल तथा अत्यन्त जड़तासे युक्त अर्थात् बिलकुल निश्चल स्थित रहती है ॥ ६१ ॥

जैसे कहीं घनीभाव होनेसे चाञ्चल्यके अभावमें भी सागरके सागरत्वमें क्षति नहीं होती, वैसे ही स्थावरादिभावमें भी चितिकी चिद्रूपतामें कुछ भी क्षति नहीं होती, यह कहते हैं—'इतः' इत्यादिसे ।

सागर कहींसे शान्त और कहींसे चञ्चल रहे, तो क्या वह सागर नहीं कहा जाता ? अर्थात् वह जैसे सागर ही कहा जाता है, वैसे ही सुर, नर, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें चञ्चलताका न्यूनाधिकभाव होनेपर भी चैतन्य

देहादिपञ्चकं जीवः स्पन्दः शैलादिकं जडम् ।
स्थावराद्यनिलस्पन्दि स्वभाववशतोऽनघ ॥ ६३ ॥
वाचः पर्यनुयोक्तव्याः स्वभावाद्रघुनन्दनः ।
शीतोष्णादि हिमाग्न्यादि वाक्चेति परिदृश्यते ॥ ६४ ॥
गृहीतवासनांशनां पुष्टाभावविकारिणाम् ।
स्थितयः पञ्चकानां हि योज्याः पर्यनुयोजने ॥ ६५ ॥

सब जगह अक्षत है, क्योंकि यह सम्पूर्ण भूततन्मात्रपञ्चक जड़ और अजड़ है । तात्पर्य यह है कि यह जड़ाजड़विकल्प, चितिमें अध्यस्त भूततन्मात्रपञ्चकका धर्म है, चितिका धर्म नहीं है; क्योंकि वह चिति तो निर्धर्मक है ॥ ६२ ॥

भूततन्मात्रपञ्चकमें स्वभावके वशसे इस तरहके अनेकों विकल्प देखे गये हैं, यह कहते हैं—'देहादिपञ्चकम्' इत्यादिसे ।

हे पापशून्य श्रीरामजी, देहादि आकारमें परिणत पञ्चक—प्राणधारणके अधीन स्पन्दन और चैतन्यके कारण—जीव (चेतन) कहलाता है, उससे स्पन्द होता है और शैल आदि तो केवल जड़ ही हैं । स्थावरादि शरीर तो बाहरकी वायुसे स्पन्दनशील (चेष्टावान्) होते हैं तथा अ:तकरण ही चेतन है, इत्यादि स्वभावके ही वशसे होते हैं ॥ ६३ ॥

हे रघुनन्दन, यदि आप यह आक्षेप करे कि जो स्वभाव यानी स्वात्मक भाव है वह विरुद्धविकल्पात्मक कैसे हो सकता है, क्योंकि विरोध परसापेक्ष और स्वभाव अनन्यापेक्ष होता है । यदि आप यह कहें कि स्वीय यानी अपना जो भाव वह स्वभाव है, तो भी वह स्वमात्रसापेक्ष ही हुआ, परसापेक्ष नहीं; इसलिए वह परसापेक्ष विकल्पका स्वरूप या निमित्त कैसे हो सकेगा ? तो मैं आपसे यह पूछता हूँ कि स्वभावको छोड़कर (स्वभावके विषयमें किसी तरहका आक्षेप न कर) पहले आपको वाणियोंके विषयमें ही आक्षेप करना चाहिए, क्योंकि वे चित्-जड़ादिशब्दस्वरूप ही हैं । अपने पुनरुक्तिदोषकी निवृत्तिके लिए वे स्वार्थकी व्यावृत्ति करती हुई चैतन्य और जाड्यको विरुद्ध बनाती हैं । एवं शीतोष्णादि धर्मपरक और हिमपावकादि धर्मिपरक सम्पूर्ण वाणियाँ भी, जो इसी तरहकी हैं, सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं ॥ ६४ ॥

अथवा वाणीके विषयमें भी आपको आक्षेप न करना चाहिए, क्योंकि वह वासनाकल्पित विकल्पकी नाई पञ्चकार्थानुवादी होनेके कारण पराधीन बन

वासनास्तु विपर्यस्ता इतो नेतुमितश्च ताः ।
पुंसा प्राज्ञेन शक्यन्ते सुखं पर्यनुयोजितुम् ॥ ६६ ॥
अशुभे वा शुभे वाऽपि तेन पर्यनुयोज्यते ।
प्रबुद्धवासनं चान्यत्पञ्चकं सुप्तवासनम् ॥ ६७ ॥
यत्र पर्यनुयोगस्य फलं समनुभूयते ।
तत्र तं संप्रयुञ्जीत नाऽऽकाशं मुष्टिभिः क्षिपेत् ॥ ६८ ॥
तृणाग्रनिष्ठा मेर्वाद्याः पञ्चकानां हि राशयः ।
विवेकनिष्ठाः कीटाद्या एते स्थावरजङ्गमाः ॥ ६९ ॥

चुकी है। किन्तु तत्-तत् विरुद्ध विकल्पभावसे वासनांशका ग्रहण करनेवाले विकारयुक्त लिङ्गात्मक पञ्चकोंकी केवल स्थितिके विषयमें ही आक्षेप करना चाहिए, यह कहते हैं—'गृहीत०' इत्यादिसे।

अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, जिन्होंने वासनांशका ग्रहण किया है ऐसे परिपुष्ट विरुद्धविकारोंसे युक्त पञ्चकोंकी स्थितिके विषयमें ही आक्षेप करनेमें आपको अधिक योग देना चाहिए ॥ ६५ ॥

अथवा उन पञ्चतत्त्वोंकी स्थितिका भी कोई अपराध नहीं है, क्योंकि वे पूर्व-पूर्व हजारों विरुद्ध विकल्पोंकी वासनाओंका अनुसरण करनेवाली हैं; इसलिए चित्तको इधर-उधर दौड़ानेमें समर्थ तथा चारों ओर खूब बिखरी हुई वासनाओंके ही विषयमें विरुद्ध विकल्प कल्पनाओंकी जड़ खोज रहे बुद्धिमान् पुरुष आनन्द-पूर्वक आक्षेप कर सकते हैं, स्वभावादिके विषयमें नहीं ॥ ६६ ॥

देवादि शुभभावमें प्रबुद्धवासनायुक्त तथा तिर्यक् स्थावर आदि अशुभभावमें सुप्तवासनायुक्त अन्य पञ्चक अवस्थित रहता है, इसलिए वासना ही पञ्चकोंकी स्थितिमें कारण है, ऐसा आक्षेप कर सकते हैं ॥ ६७ ॥

जिस वासनाके विषयमें आक्षेप करनेसे उसका क्षयरूप फल अच्छी तरह अनुभूत होता है उसीके विषयमें आक्षेप करना चाहिए, मुट्ठीमें धूलि उठाकर आकाशमें नहीं फेंकना चाहिए। तात्पर्य यह कि स्वभावादिके विषयमें किसी तरहके आक्षेप करनेका कोई फल नहीं है ॥ ६८ ॥

यही कारण है कि वासनाका क्षय हो जानेपर पूर्णात्मलाभ होनेसे मेरु

प्रसुप्तवासनाः केचिद्यथा स्थावरजातयः ।
प्रबुद्धवासनाः केचिद्यथा नरसुरादयः ॥ ७० ॥
सवासनाविलाः केचिद्यथैते तिर्यगादयः ।
प्रक्षिप्तवासनाः केचिद्यथैते मोक्षगामिनः ॥ ७१ ॥
अथ स्वास्वेव संवित्सु मनोबुद्ध्यादिकाः कृताः ।
हस्तपादादिसंयुक्तैः संज्ञाः पञ्चकराशिभिः ॥ ७२ ॥
तिर्यगादिभिरप्यन्यैरन्याः संज्ञाः प्रकल्पिताः ।
स्थावरादिभिरप्यन्यैरन्यान्याः संविदः कृताः ॥ ७३ ॥

आदि सुवर्णकी राशियां भी तृणाग्रके समान तुच्छ मालूम पड़ने लगती हैं। और विवेकनिष्ठ ये सब स्थावर-जङ्गम आदि भी कीट, पतङ्ग आदिके समान अत्यन्त तुच्छ भासित होने लगते हैं ॥ ६९ ॥

वासनाके स्वाप और प्रबोधके तारतम्यसे पञ्चकोंमें स्थावरादिकी विचित्रता कैसे उत्पन्न होती है, यह उदाहरण देकर दिखलाते हैं—'प्रसुप्तवासनाः' इत्यादिसे ।

और इनमें कोई-कोई जैसे स्थावरादिजाति प्रसुप्तवासनावाले हैं और कोई-कोई जैसे नर-सुर आदि प्रबुद्धवासनावाले हैं ॥ ७० ॥

कोई-कोई जैसे ये पशु, पक्षी आदि वासनाओंके कारण अस्वच्छ चित्तसे युक्त हैं और कोई-कोई जैसे ये मोक्षगामी, वासनाओंको त्याग चुके हैं ॥ ७१ ॥

वासनाकी विचित्रतासे ही देव, नर आदि पञ्चतत्त्वराशि, आकाश तथा भूमिपर गमन आदि विचित्र व्यवहारके योग्य हस्त, पाद आदि तथा इनसे कल्पित कर्मेन्द्रियोंसे युक्त देव, नर आदि पञ्चकराशियों द्वारा अपनी-अपनी संवित्में मनुष्यादि-व्यवहारके योग्य मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसना, त्वक् आदि आभ्यन्तर और बाह्य करणरूप संज्ञाएँ की गई हैं, यही कारण है कि प्रत्येक प्राणीमें विचित्र स्वभावकी वे संज्ञाएँ दिखाई देती हैं ॥ ७२ ॥

पशु आदिने अन्य ही संज्ञाओंकी कल्पना की है अर्थात् चार पैर, दो सींग तथा एक पुच्छकी ; पक्षियोंने चोंच, पाँख, पोंछ और पैरोंकी ; साँपोंने फण, भोग और पूँछकी तथा कृमि, कीट, दंश, मशक आदिने अपनी-अपनी वासनाओंके

इति साधो स्फुरन्तीमे चित्राः पञ्चकराशयः ।
रूपैराद्यन्तमध्येषु चलाचलजडाजडैः ॥ ७४ ॥
एषामेकोऽभिसङ्कल्पः परमाणुर्महीपते ।
बीजमाकाशवृक्षाणां सर्गाणां तेष्विमानि तु ॥ ७५ ॥
इन्द्रियाणि च पुष्पादि विषयामोदवर्ति हि ।
इच्छा भ्रमर्यो राजन्त्यो मञ्जर्यश्चञ्चलक्रियाः ॥ ७६ ॥
लोकान्तराणि स्वच्छानि गुल्मा मूलं सुमेरवः ।
पल्लवा नीलजलदा लता लोला दिशो दश ॥ ७७ ॥

अनुरूप व्यवहारके योग्य अवयवादि संज्ञाओंकी कल्पना की है। इसी तरह स्थावरादि दूसरोंने भी अन्यान्य संविदोंकी कल्पनाएँ की हैं ॥७३॥

हे साधो श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरह काल्पनिक स्वस्वरूपसे आदि, अन्त और मध्यमें विकारी और जड़ तथा अधिष्ठानसद्रूपसे अचल और अजड़रूप से ये विचित्र भूतपञ्चकोंकी राशियाँ स्फुरित हो रही हैं ॥ ७४ ॥

यों अनन्त पञ्चकभेदोंका वर्णन करके अब महाराज वसिष्ठजी—उनमें कर्मोपासनाओंके समूहोंके अनुष्ठानके फलस्वरूप समष्ट्यहंभावको प्राप्त हुए किसी एकका कोई एक सङ्कल्पपरमाणु ही इस संसाररूपी आकाशवृक्षोंका बीज है—यह बतलाते हैं—'एषाम्' इत्यादिसे ।

हे महीपते, समष्टिविषयक होनेके कारण इनमें किसी-एकका सर्वत्र अभिव्याप्त सङ्कल्पात्मक कोई एक परमाणु ही सृष्टिरूपी आकाशवृक्षोंका बीज है और उन सृष्टिरूपी आकाशवृक्षोंमें ही ये भूतपञ्चक हैं ॥ ७५ ॥

सृष्टियोंमें जो आकाशवृक्षता कही गई है, उसका—फूल और गन्ध आदिकी कल्पना द्वारा—उपपादन करते हैं—'इन्द्रियाणि' इत्यादिसे ।

उनमें इन्द्रियां विषयरूपी सुगन्धप्रधान पुष्प आदि हैं, इच्छाएँ भौरियाँ हैं और चञ्चल कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाएँ मञ्जरियोंके रूपमें शोभित होती हैं ॥७६॥

स्वच्छ स्वर्गादि लोकान्तर विटप हैं, सुमेरुसहित सभी पर्वत मूल हैं। काले बादल पल्लव हैं और दसों दिशाएँ चञ्चल लताएँ हैं ॥ ७७ ॥

वर्तमानानि भूतानि भविष्यन्ति च यानि तत् ।
जयन्ति तान्यसंख्यानि फलानि रघुनन्दन ॥ ७८ ॥
पञ्चबीजास्त एते हि राम पञ्चकपादपाः ।
स्वयं स्वभावाज्जायन्ते स्वयं नश्यन्ति कालतः ॥ ७९ ॥
स्वयं नानात्वमायान्ति चिरं जाड्यात्स्फुरन्ति च ।
स्वविविक्ताः शमं यान्ति तरङ्गा इव वारिधौ ॥ ८० ॥
इतो यान्ति समुत्सेधमितो यान्ति शमं स्वयम् ।
एते जाड्यविवेकाभ्यां तरङ्गा इव तोयधौ ॥ ८१ ॥
ये विवेकवशमालयं गता
राम पञ्चकविलासराशयः ।
ते न भूय इह यान्ति संस्थितिं
प्रभ्रमन्ति जगतीतरे मुहुः ॥ ८२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाण-प्रकरणे पञ्चकविलासो नामाऽशीतितमः सर्गः ॥ ८० ॥

हे रघुनन्दन, वर्तमान और भविष्यत् चार प्रकारके जो शरीर हैं वे सब उस वृक्षके अनन्त फलके रूपमें विराजमान हैं ॥ ७८ ॥

हे श्रीरामजी, इस तरह ये पञ्चबीज तथा पञ्चवृक्ष अपने विवेकशून्य आत्मासे स्वयं उत्पन्न होते हैं और समय पाकर स्वयं नष्ट भी हो जाते हैं ॥ ७९ ॥

ये स्वयं नानाभावको प्राप्त होते हैं, जड़ताके कारण चिरकालतक स्फुरित होते रहते हैं और समुद्रमें तरङ्गकी नाईं अपनेसे विवेकदृष्टिसे दृष्ट होनेपर शान्त हो जाते हैं ॥ ८० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे समुद्रमें तरङ्ग एक ओर उत्पन्न होते हैं और दूसरी ओर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये सब जड़ताके कारण एक ओर उन्नतिको प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर विवेकके कारण स्वयं नष्ट हो जाते हैं ॥ ८१ ॥

हे श्रीरामजी, जो पञ्चकविलासकी राशियाँ निर्वासन नाशपर्यन्त विवेकके वशमें चली गई हैं वे इस संसारमें पुनः जन्म-मरण देहधारणादिरूप संस्थितिको प्राप्त नहीं होतीं और दूसरी पञ्चकविलासकी राशियाँ तो निरन्तर इस संसारमें भ्रमण किया करती हैं ॥ ८२ ॥

अस्सी सर्ग समाप्त

एकाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतत्पञ्चकबीजं तु कुण्डलिन्यां तदन्तरे ।
प्राणमारुतरूपेण तस्यां स्फुरति सर्वदा ॥ १ ॥
साऽन्तः कुण्डलिनी स्पन्दस्पर्शसंवित्कलामला ।
कलोक्ता कलनेनाऽऽशु कथिता चेतनेन चित् ॥ २ ॥
जीवनाज्जीवतां याता मननाच्च मनः स्थिता ।
सङ्कल्पाच्चैव सङ्कल्पा बोधाद्बुद्धिरिति स्मृता ॥ ३ ॥

एकासी सर्ग

[कुण्डलिनीके प्रसङ्गसे रोगोंकी उत्पत्ति और उनके नाशके क्रम तथा सिद्धि और सिद्धोंके दर्शनके उपाय आदि का वर्णन]

'यदा प्राणानिलो याति हृदि कुण्डलिनीपदम् । तदा संविदुदेत्यन्तर्भूत-तन्मात्रबीजभूः ॥' (हृदयमें जब प्राणवायु कुण्डलिनीस्थानतक पहुँच जाती है, तब भीतरमें भूत और तन्मात्राकी बीजभूमि संवित् उदित होती है) इससे बुद्धिशक्तियोंमें स्फूर्तिप्रदातृत्वका उपपादन करते समय 'भूततन्मात्रबीजभूः' इस अंशको स्पष्ट समझानेके लिए जो स्थूल और सूक्ष्म पञ्चभूतोंका विचार किया गया था, उसकी सङ्गति दिखलाते हुए आकाशगमनादि सिद्धियोंमें बीजभूत प्राणाभ्यासमें उपयुक्त, प्रस्तुत कुण्डलिनीमें प्राणादिकी उत्पत्तिका प्रकार दिखलाते हैं—'एतत्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, स्थूलशरीरात्मक पञ्चकके मूलाधार उस कुण्डलिनीमें, जिसका हमने पहले वर्णन किया था, इस लिङ्गात्मक पञ्चकका उपादान कारण भूतसूक्ष्म सदा पाँच प्राणवायुओंके रूपसे स्फुरित होता है ॥१॥

प्राणरूपसे अन्दर स्फुरित हुई वह कुण्डलिनी वायुधर्म और स्वधर्म से स्पन्द, स्पर्श और संवित्—इन तीन रूपोंकी कल्पनास्वरूप बनकर कला, चित्, जीव, मन, सङ्कल्प, बुद्धि, अहङ्कार, पुर्यष्टक, लिङ्ग—इत्यादि नामोंको कलनादिव्यापारोपाधियोंसे प्राप्त करती है, यह कहते हैं—'साऽन्तः' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

वह कुण्डलिनी प्राणरूपसे अन्दर स्फुरित होकर वायुके धर्मसे तथा अपने

अहङ्कारात्मतां याता सैषा पुर्यष्टकाभिधा ।
स्थिता कुण्डलिनी देहे जीवशक्तिरनुत्तमा ॥ ४ ॥
अपानतामुपागत्य सततं प्रवहत्यधः ।
समाना नाभिमध्यस्था उदानाख्योपरि स्थिता ॥ ५ ॥
अधस्त्वपानरूपैव मध्ये सौम्यैव सर्वदा ।
पुष्टाप्युदानरूपैव पुंसः स्वस्थैव तिष्ठति ॥ ६ ॥
सर्वयत्नमधो याति यदि यत्नान्न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ ७ ॥

धर्मसे स्पन्द, स्पर्श और संवित्—इन तीन रूपोंकी निर्मल कल्पनास्वरूप बनकर शीघ्र सङ्कल्प करनेसे कला और चेतनसे चित् कही गई है । जीवनधारण करनेसे वह जीवस्वरूपताको प्राप्त है तथा मनन करनेसे मनरूपसे वह स्थित है । सङ्कल्प करनेसे सङ्कल्पा और बोध करनेसे बुद्धि कही गई है ॥ २,३ ॥

यह अहङ्कार करनेके कारण अहङ्कारस्वरूपताको प्राप्त हो चुकी है । पुर्यष्टकनामधारिणी यह कुण्डलिनी देहमें सर्वोत्तम जीवशक्तिरूपसे स्थित है ॥ ४ ॥

शरीरमें प्रधानरूपसे स्पन्दशक्ति कहाँ रहती है, इस अभिप्रायसे उसके तीन स्थान दिखलाते हैं—'अपानताम्' इत्यादिसे ।

अपानवायु होकर वह सदा नीचेकी ओर बहती है । वह समाननामसे नाभिके बीचमें तथा उदाननामसे ऊपर स्थित रहती है ॥ ५ ॥

वृत्तिभेदका यानी भिन्न-भिन्न स्थानोंमें उसके रहनेका प्रयोजन कहते हैं—'अध०' इत्यादिसे ।

अधोदेशमें बहनेसे वह अपानस्वरूप है । मध्यदेशमें अपान और उदानसे स्वयं खींची जा रही भी वह सदा निश्चल ही रहती है तथा इन दोनोंसे अवष्टब्ध रहनेके कारण ही वह पुष्ट (बलवती) होती हुई भी पुरुषके लिए उदानस्वरूपा होकर स्वस्थ ही रहती है, तात्पर्य यह कि लिङ्गका बाहर उत्क्रमण नहीं कराती । उसके भिन्न-भिन्न देशमें रहनेका प्रयोजन केवल अपानन आदि ही समझना चाहिए ॥ ६ ॥

यदि सामान्यवृत्ति उसे न पकड़ रक्खे, तो अपानवृत्तिसे सब प्रयत्नपूर्वक खूब खींची जा रही भी वह जीवसंवित् अधोमार्गसे बाहर निकल जाती है और बलपूर्वक उसके निकल जानेसे तो मनुष्य मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

समस्तैवोर्ध्वमायाति यदि युक्त्या न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ ८ ॥
सर्वथाऽऽत्मनि तिष्ठेच्चेत्यक्त्वोर्ध्वाधो गमागमौ ।
तज्जन्तोर्हीयते व्याधिरन्तर्मारुतरोधतः ॥ ९ ॥
सामान्यनाडीवैधुर्यात् सामान्यव्याधिसम्भवः ।
प्रधाननाडीवैधुर्यात् प्रधानव्याधिसम्भवः ॥ १० ॥

श्रीराम उवाच

किंविनाशाः किमुत्पादाः शरीरेऽस्मिन् मुनीश्वर ।
आधयो व्याधयश्चैव यथावत् कथयाऽऽशु मे ॥ ११ ॥

यदि युक्तिपूर्वक सामान्यवृत्तिसे पकड़ न रक्खी जाय, तो वह पूरी जीवसंवित् सर्वप्रयत्नसे ऊपर चली जाती है तथा बलपूर्वक उसके निकल जानेसे तो मनुष्य मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

अतएव प्राण और अपान वायुके गतिनिरोधके अभ्याससे सब अङ्गोंके अन्दर सामान्यवृत्तिसे अन्यवृत्तिके ऊपर विजय होनेपर सम्पूर्ण व्याधियोंका नाश किया जा सकता है तथा मृत्युपर भी विजय पायी जा सकती है, यह कहते हैं—'सर्वथा०' इत्यादिसे ।

सर्वथा अन्तर्वायुके निरोधसे ऊपर-नीचेका गमनागमन छोड़कर यदि सामान्यवृत्तिसे जीवसंवित् शरीरमें स्थित रहे, तो जन्तुकी सब व्याधियां नष्ट हो जाती हैं ॥ ९ ॥

एक सौ प्रधान नाड़ियां हैं और सामान्यनाड़ियां तो उनकी शाखाएँ हैं, उनमें अन्नरस पहुँचानेवाली समानवृत्तिवाली नाड़ीका कफ और पित्त बढ़ जानेसे जहांपर व्यापार रुक जाता है वहींपर इतर वायुओंसे वैषम्य आ जानेके कारण अन्नरसको खींच लेनेसे छोटे और बड़े रोगोंकी उत्पत्ति होती है, यह कहते हैं—'सामान्य०' इत्यादिसे ।

सामान्य नाड़ियोंके व्यापारका अभाव हो जानेसे अन्नरसकी अपरिपक्वतासे सामान्य रोगोंकी उत्पत्ति होती है और प्रधान नाड़ियोंके व्यापारका अभाव हो जानेसे प्रधान रोगोंकी उत्पत्ति होती है ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनीश्वर, इस शरीरमें शारीरिक और मानसिक

वसिष्ठ उवाच

आधयो व्याधयश्चैव द्वयं दुःखस्य कारणम् ।
तन्निवृत्तिः सुखं विद्यात्तत्क्षयो मोक्ष उच्यते ॥ १२ ॥
मिथः कदाचिज्जायेते कदाचित्सममेव च ।
पर्यायेण कदाचिच्च आधिव्याधी शरीरके ॥ १३ ॥
देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम् ।
मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः ॥ १४ ॥
अतत्त्वज्ञानवशतः स्वेन्द्रियाक्रमणं विना ।
हृदि तानवमुत्सृज्य रागद्वेषेष्वनारतम् ॥ १५ ॥
इदं प्राप्तमिदं नेति जाड्याद्वा घनमोहदाः ।
आधयः सम्प्रवर्तन्ते वर्षासु मिहिका इव ॥ १६ ॥

रोग किससे उत्पन्न होते हैं तथा किससे विनष्ट होते हैं ? यह शीघ्र मुझसे ठीक-ठीक आद्योपान्त कहिये ॥ ११ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, आधि और व्याधि—ये दोनों दुःखके कारण हैं और औषधादि द्वारा इनकी निवृत्तिसे सुख प्राप्त होता है तथा ज्ञानद्वारा इनका समूलनाश ही मोक्ष कहलाता है ॥ १२ ॥

शरीरके अन्दर आधि और व्याधियां कदाचित् परस्पर एक दूसरेके कारण बन जानेसे उत्पन्न होती हैं, कदाचित् एक साथ और कदाचित् सुखके अनन्तर क्रमसे उत्पन्न होती हैं ॥ १३ ॥

शारीरिक दुःखको व्याधि कहते हैं और वासनामय मानसिक दुःखको आधि। हे रामजी, यह जान लेना चाहिए कि अज्ञान ही इन दोनोंका मूलकारण है। तत्त्वज्ञान होनेपर इनका नाश अनिवार्य है ॥ १४ ॥

आधियोंकी उत्पत्तिमें कारण बतलाते हैं—'अतत्त्वज्ञान०' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञान और इन्द्रियनिग्रह के अभावसे चित्तमें निश्चलतारूप स्वास्थ्यकी हेतु सूक्ष्मताका त्यागकर राग-द्वेषमें फँस जानेसे तथा यह प्राप्त हो गया लेकिन यह अभी बाकी है—इस तरह रात-दिन चिन्ता करनेसे जड़ताके कारण महामोहदायिनी आधियाँ (मानसिक व्यथाएँ) ऐसे प्रवृत्त होती हैं, जैसे वर्षा ऋतुमें पत्थर—ओले ॥ १५,१६ ॥

भृशं स्फुरन्तीष्विच्छासु मौर्ख्ये चेतस्यनिर्जिते ।
दुरन्नाभ्यवहारेण दुर्देशाक्रमणेन च ॥ १७ ॥
दुष्कालव्यवहारेण दुष्क्रियास्फुरणेन च ।
दुर्जनासङ्गदोषेण दुर्भावोद्भावनेन च ॥ १८ ॥
क्षीणत्वाद्वा प्रपूर्णत्वान्नाडीनां रन्ध्रसन्ततौ ।
प्राणे विधुरतां याते काये तु विक्लीकृते ॥ १९ ॥
दौस्थित्यकारणं दोषाद्व्याधिर्देहे प्रवर्तते ।
नद्याः प्रावृण्निदाघाभ्यामिवाऽऽकारविपर्ययः ॥ २० ॥
प्राक्तनी चैहिकी वाऽपि शुभा व्याप्यशुभा मतिः ।
यैवाऽधिका सैव तथा तस्मिन्योजयति क्रमे ॥ २१ ॥
आधयो व्याधयश्चैव जायन्ते भूतपञ्चके ।
कथं शृणु विनश्यन्ति राघवाणां कुलोद्वह ॥ २२ ॥

अब शारीरिक व्याधियोंकी उत्पत्तिमें कारण बतलाते हैं—'भृशम्' इत्यादिसे ।

प्रबल इच्छाओंके पुनः पुनः स्फुरित होनेसे, मूर्खतासे, चित्तके न जीतनेसे, दुष्ट अन्न खानेसे, तथा श्मशान आदि निकृष्ट जगहोंमें निवास करनेसे शरीरमें व्याधि प्रवृत्त होती है ॥ १७ ॥

आधी रातमें तथा प्रदोषादि कालमें भोजन एवं मैथुनादि व्यवहारसे, दुष्कर्म करनेसे, दुर्जनोंकी सङ्गतिरूप दोषसे तथा विष, सर्प, व्याघ्र और चोर आदिकी मनमें शङ्का करनेसे शरीरमें व्याधि प्रवृत्त होती है ॥ १८ ॥

और छिद्रोंमें अन्नरसका प्रवेश न होनेके कारण नाड़ियोंके क्षीण होनेसे अथवा छिद्रोंमें अन्नरस, वात आदिका द्विगुणित प्रवेश हो जानेके कारण नाड़ियोंके परिपूर्ण हो जानेसे कफ, पित्त आदिके प्रकोपसे प्राणके व्याकुल होनेसे तथा चोर आदिके द्वारा शरीरके विकल हो जानेसे अनेक दोषोंके द्वारा अस्वस्थता-के कारण शरीरके आकारका विपर्ययरूप रोग उस प्रकार देहमें प्रवृत्त होता है, जिस प्रकार वर्षा और गरमीमें नदियोंके आकारका विपर्यय ॥ १९,२० ॥

पूर्वजन्म या इस जन्मकी शुभ या अशुभ जो बुद्धि अधिक होती है वही उस व्याधिके क्रममें नियुक्त करती है ॥ २१ ॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह भूतपञ्चकमें आधि और व्याधियां

द्विविधो व्याधिरस्तीह सामान्यः सार एव च ।
व्यवहारस्तु सामान्यः सारो जन्ममयः स्मृतः ॥ २३ ॥
प्राप्तेनाऽभिमतेनैव नश्यन्ति व्यावहारिकाः ।
आधिक्षयेणाऽऽधिभवाः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम् ॥ २४ ॥
आत्मज्ञानं विना सारो नाऽऽधिर्नश्यति राघव ।
भूयो रज्ज्ववबोधेन रज्जुसर्पो हि नश्यति ॥ २५ ॥
आधिव्याधिविलासानां राम साराधिसंक्षयः ।
सर्वेषां मूलहा प्रावृण्नदीव तटवीरुधाम् ॥ २६ ॥
अनाधिजा व्याधयस्तु द्रव्यमन्त्रशुभक्रमैः ।
चिकित्सकादिशास्त्रोक्तैर्नश्यन्त्यन्यैरिहाऽथवा ॥ २७ ॥
स्नानमन्त्रौषधोपाया वक्तुश्चाऽधिगतानि च ।
त्वया चिकित्साशास्त्राणि किमन्यदुपदिश्यते ॥ २८ ॥

उत्पन्न होती हैं। अब वे कैसे नष्ट होती हैं ? वह भी सुनिये ॥ २२ ॥

इस संसारमें दो तरहकी व्याधियां होती हैं—एक सामान्य यानी कोमल और दूसरी सार यानी दृढ़तर। इनमें क्षुधा, तृष्णा, स्त्री-पुत्र आदिकी लालसासे उत्पन्न जो व्यवहार है वह सामान्य व्याधि कही गई है तथा जो जन्मादि विकारोंकी जड़ है वह सार (दृढ़तर) व्याधि कही गई है ॥ २३ ॥

अभिमत पदार्थोंकी प्राप्ति होनेसे क्षुधा, तृष्णा तथा स्त्री-पुरुष आदि जनित व्यावहारिक व्याधियां तथा आधिके क्षयसे आधिभव (मानसिक) व्याधियां भी भली-भाँति नष्ट हो जाती हैं ॥ २४ ॥

हे राघव, आत्मज्ञानके बिना जन्मादिविकारोंकी जड़ सार व्याधि नष्ट नहीं होती, क्योंकि रज्जुके भलीभाँति अवबोधसे ही रज्जुका सर्प नष्ट होता है ॥२५॥

हे श्रीरामजी, जैसे वर्षाकालकी नदी अपने तटके सभी वृक्षोंको जड़से उखाड़ फेंकती है वैसे ही सम्पूर्ण आधि और व्याधियोंके विलासोंको जड़से उखाड़ फेंकने-वाला जन्मादि विकारोंकी मूल अज्ञानरूपी व्याधिका क्षय ही है ॥ २६ ॥

सामान्य व्याधियां तो आयुर्वेदोक्त औषधियों तथा मन्त्रादि शुभ कर्मोंसे अथवा वृद्धोंकी परम्परासे कथित औषधोंसे नष्ट होती हैं ॥ २७ ॥

हे श्रीरामजी, लोलार्क आदि तीर्थोंमें स्नान, मन्त्र, औषध आदि उपाय,

श्रीराम उवाच

आधेः कथं भवेद्व्याधिः कथं च स विनश्यति ।
द्रव्यादितरया युक्त्या मन्त्रपुण्यादिरूपया ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

चित्ते विधुरिते देहः सङ्क्षोभमनुयात्यलम् ।
तथाहि रुषितो जन्तुरग्रमेव न पश्यति ॥ ३० ॥
अनवेक्ष्य पुरो मार्गममार्गमनुधावति ।
प्रकृतं मार्गमुत्सृज्य शरार्तो हरिणो यथा ॥ ३१ ॥
संक्षोभात्साम्यमुत्सृज्य वहन्ति प्राणवायवः ।
देहे गजप्रविष्टेन पयांसीव सरित्तटे ॥ ३२ ॥

वृद्धजनोंसे प्राप्त हुई औषधियां तथा आयुर्वेदशास्त्र तो आप स्वयं खूब जानते हैं । इनसे अतिरिक्त और मैं क्या आपको उपदेश दूँ ॥ २८ ॥

आधियोंसे (मानसिक पीड़ाओंसे) व्याधियां कैसे उत्पन्न होती हैं और उनकी कैसे चिकित्सा की जाती है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'आधेः' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, आधिसे कैसे व्याधि उत्पन्न होती है और औषधसे भिन्न मन्त्र, पुण्य आदिरूप युक्तिसे वह कैसे नष्ट होती है ॥ २९ ॥

आधिसे व्याधि कैसे उत्पन्न होती है ? पहले यही बतलाते हैं—'चित्ते' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, मानसिक पीड़ाओंसे चित्तके व्याकुल हो जानेपर शरीर अत्यधिक क्षुब्ध हो जाता है, इसीलिए क्रोधी जन्तु अपने आगेका प्रशस्त मार्ग नहीं देख पाता ॥ ३० ॥

सम्मुख मार्गको न देखकर कुमार्गकी ओर उस तरह दौड़ता है जिस तरह बाणसे घायल हुआ हरिण अपने प्रकृत मार्गको छोड़कर अन्य मार्गकी ओर दौड़ता है ॥ ३१ ॥

मानसिक पीड़ाओंसे संक्षुब्ध हुए प्राणवायु अपनी समताको छोड़कर शरीरमें विरुद्ध मार्गमें ऐसे बहते हैं जैसे हाथीके प्रवेशसे क्षुब्ध हुए जल नदीके तटमें विरुद्ध मार्गमें बहते हैं ॥ ३२ ॥

असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम् ।
असम्यक् संस्थिते भूपे यथा वर्णाश्रमक्रमाः ॥ ३३ ॥
काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम् ।
प्राणाविधुरिते देहे सर्वतः सरितो यथा ॥ ३४ ॥
कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्वमेव वा ।
दोषायैव प्रयात्यन्नं प्राणसञ्चारदुष्क्रमात् ॥ ३५ ॥
यथा काष्ठानि नयति प्राचीदेशं सरिद्रयः ।
तथाऽन्नानि नयत्यन्तः प्राणवातः स्वमाश्रयम् ॥ ३६ ॥
यान्यन्नानि निरोधेन तिष्ठन्त्यन्तःशरीरके ।
तान्येव व्याधितां यान्ति परिणामस्वभावतः ॥ ३७ ॥
एवमाधेर्भवेद्व्याधिस्तस्याऽभावाच्च नश्यति ।
यथा मन्त्रैर्विनश्यन्ति व्याधयस्तत्क्रमं शृणु ॥ ३८ ॥

प्राण-वायुके विषम बहनेपर कफ, पित्त आदिके भर जानेसे विषम स्थानमें नाड़ियां ऐसे पहुँच जाती है जैसे राजाके अव्यवस्थित हो जानेपर वर्णाश्रमकी मर्यादा विषम स्थानमें पहुँच जाती है ॥ ३३ ॥

प्राणवायुकी विषमता द्वारा शरीरके विह्वल कर दिये जानेपर नदीके स्रोतकी नाईं कोई नाड़ियां तो अत्यधिक पूर्ण हो जाती हैं और कोई बिलकुल खाली पड़ जाती हैं ॥ ३४ ॥

प्राणवायुके सञ्चारका क्रम बिगड़ जानेसे भोजन किया गया अन्न कुजीर्णता, अजीर्णता या अतिजीर्णतारूप दोषको ही प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

समाननामक प्राणवायु भुक्त अन्नोंको रस बनाकर सम्पूर्ण शरीरमें अपनी-अपनी जगहमें ठीक तरहसे ऐसे पहुँचा देता है जैसे नदीका वेग पूर्वदिशामें काष्ठको पहुँचा देता है ॥ ३६ ॥

निरोधसे जो अन्न शरीरके भीतर स्थित रहते हैं वे ही व्याधिरूपमें परिणत हो जाते हैं, क्योंकि धातुकी विषमतारूप परिणाम कर देना उनका स्वभाव है ॥ ३७ ॥

इस तरह आधिसे व्याधि उत्पन्न होती है और आधिके अभावसे व्याधि भी नष्ट हो जाती है। और हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस प्रकार मन्त्रोंसे व्याधियां विनष्ट होती हैं वह भी क्रम आप सुन लीजिये ॥ ३८ ॥

यथा विरेकं कुर्वन्ति हरीतक्यः स्वभावतः ।
भावनावशतः कार्यं तथा यरलवादयः ॥ ३९ ॥
शुद्धया पुण्यया साधो क्रियया साधुसेवया ।
मनः प्रयाति नैर्मल्यं निकषेणेव काञ्चनम् ॥ ४० ॥
आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव ।
पूर्णेन्दावुदिते ह्यत्र नैर्मल्यं भुवने यथा ॥ ४१ ॥
सत्त्वशुद्ध्या वहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः ।
जरयन्ति तथाऽन्नानि व्याधिस्तेन विनश्यति ॥ ४२ ॥
आधिव्याध्योरिति प्रोक्तौ नाशोत्पत्तिक्रमौ त्वयि ।
कुण्डलिन्याः कथायोगादधुना प्रकृतं शृणु ॥ ४३ ॥

जिस तरह हर्रेके फल स्वभावतः विरेचनरूप कार्य करते हैं यानी दस्त पैदा करते हैं उसी तरह वायु, अग्नि, पृथिवी, जल आदिके बीजरूप यरलव आदि मन्त्रोंके वर्ण भी मान्त्रिक भावनाके वशसे नाडियोंमें रोगाकार परिणत अन्नरसोंका उत्सारण, पाचन आदि कार्य करते हैं ॥ ३९ ॥

आधियोंके उपशमका उपाय बतलाते हैं—'शुद्धया' इत्यादिसे ।

हे साधो, शुद्ध और पवित्र साधुसेवनरूप क्रियासे मन ऐसे निर्मलताको प्राप्त होता है, जैसे कसौटीसे सुवर्ण ॥ ४० ॥

हे राघव, चित्तके शुद्ध हो जानेपर शरीरमें आनन्द ऐसे बढ़ता है, जैसे पूर्णचन्द्रमाके उदित होनेपर इस भुवनमें निर्मलता ॥ ४१ ॥

सत्त्वकी (अन्तःकरणकी) शुद्धिसे ये प्राणवायु अपने क्रमसे बहते हैं और अन्नका परिपाक करते हैं, इससे सब व्याधियां नष्ट हो जाती हैं ॥ ४२ ॥

प्रासङ्गिक प्रश्नका उत्तर देकर अब जो प्रकृत सिद्धिमें हेतु है, उसका निरूपण आरम्भ करते हैं—'आधि०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, कुण्डलिनीके कथाप्रसङ्गसे आधि और व्याधिके नाश तथा उत्पत्ति के क्रमका वर्णन मैंने आपसे इस तरह कर दिया, अब आप प्रकृत प्रसङ्ग सुनिये ॥ ४३ ॥

पुर्यष्टकपराख्यस्य जीवस्य प्राणनामिकाम् ।
विद्धि कुण्डलिनीमन्तरामोदस्येव मञ्जरीम् ॥ ४४ ॥
तां यदा पूरकाभ्यासादापूर्य स्थीयते समम् ।
तदैति भैरवं स्थैर्यं कायस्याऽऽपीनता तथा ॥ ४५ ॥
यदा पूरकपूर्णान्तरायतप्राणमारुतम् ।
नीयते संविदेवोर्ध्वं सोढुं घर्मक्लमं श्रमम् ॥ ४६ ॥
सर्पीव त्वरितैवोर्ध्वं याति दण्डोपमां गता ।
नाड्यः सर्वाः समादाय देहबद्धा लतोपमाः ॥ ४७ ॥
तदा समस्तमेवेदमुत्प्लावयति देहकम् ।
नीरन्ध्रं पवनापूर्णं भस्त्रेवाऽम्बुगता नरम् ॥ ४८ ॥

हे राघव, पुर्यष्टकनामक लिङ्गात्मक जीवकी आधारभूत कुण्डलिनीको आप सुगन्धकी आधारभूत पुष्पमञ्जरीकी नाईं जानिये ॥ ४४ ॥

पूरकके अभ्याससे जब प्राणी कुण्डलिनीको भर करके यानी कूर्माकार नाड़ीमें प्राणवायुको रोक करके समरूपसे स्थित होता है तब मेरुपर्वतके समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा कायकी गुरुता (गरिमा नामक सिद्धि) उसे प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥

जिस समय पूरकसे पूर्ण शरीरके भीतर मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त लम्बा करके प्राणवायुको ऊपर खींचकर प्राणवायुके निरोधसे उत्पन्न गरमी और तत्प्रयुक्त शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करनेके लिए संवित् (कुण्डलिनी) ऊपरकी ओर पहुँचाई जाती है ॥ ४६ ॥—

उस समय प्राणवायुको ऊपर खींचनेसे डण्डेकी नाईं लम्बी होकर वह कुण्डलिनी देहमें बँधी हुई, लताके समान सब नाड़ियोंको अपने साथ लेकर अधिक अभ्यास होनेके कारण सांपिनकी तरह शीघ्र ऊपर चली जाती है ॥४७॥

वह कुण्डलिनी ऊपर कैसे चली जाती है, यह कहते हैं—'तदा' इत्यादिसे।

और उस समय नाड़ियोंमें वायु भर जानेसे अवकाशरहित पैरसे लेकर मस्तकतक बिलकुल हलके हुए इस शरीरको कुण्डलिनी इस तरह ऊपर उठा ले जाती है जिस तरह पवनपूर्ण जलगत भाथी नरको जलके ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियोंका आकाशगमन है ॥ ४८ ॥

इत्यभ्यासविलासेन योगेन व्योमगामिना ।
योगिनः प्राप्नुवन्त्युच्चैर्दीना इन्द्रदशामिव ॥ ४९ ॥
ब्रह्मनाडीप्रवाहेण शक्तिः कुण्डलिनी यदा ।
बहिरूर्ध्वं कपाटस्य द्वादशाङ्गुलमूर्द्धनि ॥ ५० ॥
रेचकेन प्रयोगेण नाड्यन्तरनिरोधिना ।
मुहूर्तं स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगदर्शनम् ॥ ५१ ॥

श्रीराम उवाच

दर्शनं कीदृशं ब्रह्मन्नयनांशुगणं विना ।
अदिव्यानामिन्द्रियाणां तत्त्वमेवं कथं भवेत् ॥ ५२ ॥

इस तरह अभ्यासरूप विलाससे युक्त आकाशगामी योगसे* अर्थात् आकाशके साथ शरीरका सम्बन्ध रखनेके लिए किये गये संयमरूप योगसे योगी लोग ऊपर गतिको ऐसे प्राप्त हो जाते हैं, जैसे भिखारी लोग [किसी पुण्यके योगसे] इन्द्रपदवीको । तात्पर्य यह है कि जैसे गरीब आदमी किसी पुण्यके योगसे इन्द्रपदवी प्राप्त कर मारे आनन्दके उड़ने लगता है वैसे ही योगी लोग अपने योगके बलसे आकाशमें जाकर आनन्दसे उड़ने लगते हैं ॥ ४९ ॥

आकाशगामी सिद्धोंके दर्शनमें उपाय बतलाते हैं—'ब्रह्मनाडीप्रवाहेण' इत्यादिसे ।

जिस समय दूसरी नाड़ियोंके व्यापारको रोक देनेवाले रेचक प्राणायामके प्रयोगसे ऊपरकी ओर खींच ली गई कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्ति सुषुम्ना नाड़ीके भीतर प्राणवायुके प्रवाहसे मस्तकके दोनों कपालोंकी सन्धिरूप कपाट (केवाड़ी) के बाहर बारह अङ्गुलके षोडशान्तनामक स्थानमें मुहूर्तभरके लिए स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धोंका दर्शन होता है † ॥ ५०,५१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, हम लोगोंकी इन्द्रियोंसे अदिव्यताके कारण ही सन्निकर्ष रहनेपर भी जब सिद्धोंका दर्शन नहीं होता तब [आप कृपाकर बतलाइये कि] चाक्षुषप्रभासन्निकर्षके बिना षोडशान्तनामक स्थानमें केवल प्राणधारणसे सिद्धोंका दर्शन कैसे होगा और फिर वह किस तरहका होगा ॥ ५२ ॥

* देखिये भगवान् पतञ्जलिमुनिका योगसूत्र—
'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ।'

† देखिये योगसूत्र—'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्' ।

वसिष्ठ उवाच

न केन च महाबाहो भूचरेण नभस्वतः ।
अदिव्येनाऽऽश्रिताज्ञानैर्दृश्यन्ते पुरुषेन्द्रियैः ॥ ५३ ॥

विज्ञानाद्दूरसंस्थेन बुद्धिनेत्रेण राघव ।
दृश्यन्ते व्योमगाः सिद्धाः स्वप्नवत्स्वार्थदा अपि ॥ ५४ ॥

स्वप्नावलोकनं यद्वत्तद्वत्सिद्धावलोकनम् ।
केवलोऽथ विशेषोऽयं सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता ॥ ५५ ॥

मुखाद्बहिर्द्वादशान्ते रेचकाभ्यासयुक्तितः ।
प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरीम् ॥ ५६ ॥

इन दोनोंमें पहले 'कैसे होगा ?' इस अंशका इष्टापत्तिसे महाराज वसिष्ठजी परिहार करते हैं—'न केन' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, यह तो आपने ठीक ही कहा है कि अज्ञानका आश्रयण करनेवाले मलिन पुरुषेन्द्रियोंसे या दूसरे किसी अदिव्य उपायसे इस पृथिवीपर विचरण करनेवाला कोई भी पुरुष वायुस्वरूप आकाशगामी सिद्धोंको कभी नहीं देख सकता ॥ ५३ ॥

तो फिर वे किससे दिखाई देते हैं, यह कहते हैं—'विज्ञानाद्' इत्यादिसे।

हे राघव, योगके अभ्याससे मनके संस्कृत हो जानेके कारण विषयोंसे दूर संस्थित बुद्धिरूपी नेत्रसे स्वप्नकी नाईं आकाशगामी सिद्ध दिखाई देते हैं और वे अभीष्ट अर्थोंको देते भी हैं ॥ ५४ ॥

सिद्धोंका वह दर्शन 'किस तरहका होगा' इस प्रश्नांशका उत्तर कहते हैं—'स्वप्नावलोकनम्' इत्यादिसे।

जिस तरह स्वप्नमें पदार्थोंका अवलोकन होता है उसी तरह सिद्धोंका भी अवलोकन होता है केवल स्वप्नकी अपेक्षा विशेष यही है कि सिद्धोंकी प्राप्तिमें संवाद, वरदान आदि फलरूप पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ॥ ५५ ॥

जिस उपायसे दूसरोंके शरीरमें प्रवेशकी सिद्धि होती है, अब वह उपाय बतलाते हैं—'मुखाद्' इत्यादिसे।

रेचक प्राणायामके अभ्यासरूप युक्तिसे मुखसे बाहर बारह अङ्गुलपरिमित

श्रीराम उवाच

वद स्वभावस्य कथं ब्रह्मन्नचलसंस्थितिः ।
वक्तारः सानुकम्पा हि दुष्प्रश्नेऽपि न खेदिनः ॥ ५७ ॥

वसिष्ठ उवाच

शक्तिर्या तु स्वभावाख्या यथा स्फुरति चाऽऽत्मनः ।
सर्गादिषु तथैवाऽसौ स्थितिं यातीति निश्चयः ॥ ५८ ॥
अवस्तुत्वादविद्याया वस्तुशक्तिरपि क्वचित् ।
भिद्यते दृश्यते ह्यङ्ग वसन्ते शारदं फलम् ॥ ५९ ॥

देशमें प्राणको चिरकालतक स्थित रखनेपर योगी अन्य शरीरमें प्रवेश कर सकता है ॥ ५६ ॥

'केवलोऽथ विशेषोऽयं सिद्धप्राप्तौ स्थिरार्थता' यह जो आपने कहा, उसमें स्वभाव ही कारण है, यह कहना चाहिए, और आप ही पहले अनेक बार 'घटस्य पटता दृष्टा' इत्यादि श्लोकोंसे यह भी कह चुके हैं कि मायामय होनेके कारण सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति अनियत है, तो फिर इस विषयमें आप कृपाकर बतलाइये कि एकमात्र स्वभावकी स्थिति नियत कैसे है? यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'वद' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, एक स्वभावकी चिरकालतक अचल स्थिति कैसे रहती है, यह कृपाकर आप बतलाइये, क्योंकि अपने शिष्योंके ऊपर दया रखनेवाले प्रवचनशील महात्मा लोग कठिन प्रश्न पूछनेपर भी खेद नहीं करते ॥ ५७ ॥

सत्यसङ्कल्प परमेश्वरकी सृष्टिकालमें सङ्कल्पप्रयुक्त वस्तुस्वभावकी नियति भी सृष्टिकालतक ही नियत रहती है, फिर प्रलय होनेपर वह नहीं रहती—इस तरह सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वभावकी नियतिके भङ्गमें किसी तरहका विरोध नहीं है, इस आशयसे अपने पूर्वोक्तका स्मरण दिलाते हुए महाराज वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी-के प्रश्नका उत्तर देते हैं—'शक्तिर्या' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, सत्यसङ्कल्प परमात्माकी स्वभावनामक शक्ति जो सर्गादिमें जिस तरह स्फुरित होती है उसी तरह वह सर्गके प्रलयतक स्थित रहती है, यह निश्चय है ॥ ५८ ॥

काल और देशके भेदसे भी वस्तुओंकी शक्तिमें अनियतता (अनिश्चितता) देखी गई है, इसे कहते हैं—'अवस्तुत्वाद०' इत्यादिसे ।

सर्वमेवमिदं ब्रह्म नानानानातया स्थितम् ।
जृम्भते व्यवहारार्थं केवलं कथितस्थिति ॥ ६० ॥

श्रीराम उवाच

सूक्ष्मच्छिद्रादिगत्यर्थं पूरणार्थं च खस्य वा ।
अणुतां स्थूलतां वाऽपि कायोऽयं नीयते कथम् ॥ ६१ ॥

वसिष्ठ उवाच

काष्ठक्रकचयोः श्लेषाद्यथा छेदः प्रवर्तते ।
द्वयोः संघर्षणादग्निः स्वभावाज्जायते तथा ॥ ६२ ॥

हे रामजी, अविद्याके अवस्तुरूप होनेसे वस्तुओंकी शक्ति भी कहीं-कहीं अर्थात् कामरूपदेश आदिमें भिन्न-भिन्न स्वरूपकी होती है, वसन्त ऋतुमें शरत्कालीन व्रीहि आदि फल भी दिखाई देता है ॥ ५९ ॥

नाना और अनानारूप अनियत स्वभावसे स्थित यह सब कुछ ब्रह्म ही है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मस्वभावसे ही यह सम्पूर्ण जगत् निश्चित एकरूपवाला है, न कि दूसरे स्वभावसे। प्राणियोंके कर्म और उनके फलोपभोग-व्यवहारके लिए केवल अज्ञात ब्रह्म ही कुछ कालतक नियतस्थिति धारण करके जृम्भित (विकसित) होता है ॥ ६० ॥

अब, अणिमा और महिमा नामक सिद्धिकी किस उपायसे सिद्धि होती है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'सूक्ष्म०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, सूक्ष्म छिद्रोंमें गमन करनेके लिए इस देहको अणु तथा आकाशको पूर्ण करनेके लिए इस देहको स्थूल योगी लोग कैसे बना डालते हैं ॥ ६१ ॥

अगले सर्गमें इस प्रश्नका उत्तर विस्तारपूर्वक बतलानेकी अभिलाषा रखते हुए उसकी भूमिकारूपसे यहींपर देहमें अग्निषोमव्याप्तिका निरूपण करनेके लिए प्राण और अपान वायुके सङ्घर्षसे मध्यमें जठराग्निकी निष्पत्तिमें दृष्टान्त देते हैं—'काष्ठ०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जिस तरह लकड़ी और आरेके सङ्घर्षसे लकड़ीके दो हिस्से हो जाते हैं उसी तरह प्राण और अपानवायुके सङ्घर्षसे जठराग्नि स्वभावतः उत्पन्न हो जाती है ॥ ६२ ॥

मांसं कुयन्त्रजठरे स्थितं श्लिष्टमुखं मिथः ।
ऊर्ध्वाधःसम्मिलत्स्थूलद्वयमभःस्थैरिव वैतसम् ॥ ६३ ॥
तस्य कुण्डलिनी लक्ष्मीर्निलीनान्तर्निजास्पदे ।
पद्मरागसमुद्गस्य कोशे मुक्तावली यथा ॥ ६४ ॥
आवर्तफलमालेव नित्यं सलसलायते ।
दण्डाहतेव भुजगी समुन्नतिविवर्तिनी ॥ ६५ ॥
द्यावापृथिव्योर्मध्यस्था क्रियेव स्पन्दधर्मिणी ।
संविन्मधुविबोधार्को हृत्पद्मपुटषट्पदी ॥ ६६ ॥

प्राण और अपानवायुके संघर्षकी उपपत्तिके लिए परस्पर एक दूसरेको अपनी ओर जो खींचते हैं, उसमें कारण कहते हैं—'मांसम्' इत्यादिसे ।

कुत्सित इस देहरूपयन्त्रके उदर-प्रदेशमें नाभिके ऊपर तथा नीचे मिल रहे अतएव परस्पर जुट रहे मुखवाले आमाशय और पक्वाशयरूपी दो भाथीके सदृश स्थूल मांस काँपता हुआ ऐसे स्थित है जैसे ऊपर आकाशमें स्थित तथा नीचे जलमें निमग्न परस्पर जुट रहे अपने दो हिस्सोंसे युक्त नीचे जलसे और ऊपर वायुसे खींचा जा रहा बेंतोंका कुञ्ज ॥ ६३ ॥

ठीक है, उससे प्रकृतमें क्या आया? इस पर कहते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

उस मांसके नीचेके हिस्सेमें स्थित जो भाथीके सदृश एक भाग है उसके मूलभागस्वरूप मूलाधारमें सब कार्यकारणसंघातकी प्राणप्रद होनेसे लक्ष्मीके सदृश पूर्वोक्त कुण्डलिनी भीतर उस तरह निलीन रहती है जिस तरह पद्मरागके बक्सके भीतर मुक्तावली ॥ ६४ ॥

जपकालमें घूमाई जा रही रुद्राक्षमालाकी नाईं वह सदा सरसराती रहती है यानी प्राणोद्गिरण द्वारा कम्पनसे अव्यक्त ध्वनि करती है तथा दण्डसे आहत साँपिनकी तरह वह ऊर्ध्वमुखसे परिवर्तन किया करती है ॥ ६५ ॥

पृथिवी और आकाशके मध्यमें प्राणियोंकी ऊर्ध्व और अधोगतिकी हेतु विहित और निषिद्ध क्रीयाकी नाईं प्राण और अपान वायुकी ऊर्ध्व और अधो-गतिकी हेतु होनेसे वह स्पन्द-धर्मिणी है यानी संचरणशील है; चाक्षुषादि संविद्रूपी मधुका यानी रूपादिविषयोंके आस्वादका परिज्ञान करानेमें सूर्य है और हृदयरूपी कमल सम्पुटकके भीतरकी वह भ्रमरी है ॥ ६६ ॥

तत्सर्वं शक्तिपद्मादि बाह्येनाभ्यन्तरैस्तथा ।
हृदि व्याधूयते वातैः पत्रवृन्दमिवाऽभितः ॥ ६७ ॥
यद्वद्व्योम स्फुरत्यङ्ग स्वभावात्तत्र वायवः ।
बलवन्मृदु यत्किञ्चिद्भृशं कवलयन्ति तत् ॥ ६८ ॥
वातैराहन्यमानं तत्पद्मादि तरलायते ।
हृद्यन्यान्येति कार्येण पल्लवादि यथा तरोः ॥ ६९ ॥
देहेष्वाजरणं सर्वरसानां पवनोऽन्वहम् ।
जनयत्यग्निमन्योन्यसङ्घर्षाद्विनवेणुवत् ॥ ७० ॥

वे सब ज्ञान और कर्मेन्द्रिय आदिकी शक्तियाँ, पूर्वोक्त हृदयकमल एवं नाडीसमूह आभ्यन्तरके वातों द्वारा हृदयमें चारों ओर उस तरह कम्पित किये जाते हैं जिस तरह चारों ओर बाहरके पवन द्वारा वृक्षोंके पत्तोंके समूह ॥ ६७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो यह विशाल बाह्याकाश स्फुरित हो रहा है, उसमें बलवान् काष्ठ, पाषाण आदि तथा कोमल पत्तों और तृण आदिको जैसे वायु स्वभावतः जीर्ण बना डालती हैं वैसे ही हृदयाकाशमें भी प्राणवायु भुक्त अन्नादिको जीर्ण यानी परिपक्व बना डालती हैं ॥ ६८ ॥

जीर्ण बनानेकी विधि बतलाते हैं—'वातैः' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त हृदयपद्म तथा नाडीरूपी भाथी प्राणवायुसे आहत होकर लोहारकी भाथीकी नाई कम्पित होती है, काँप रही उस भाथीके भीतर प्रविष्ट अन्नका पहले रस बनता है, रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे त्वचा, त्वचासे मेदा, मेदासे मज्जा, मज्जासे हड्डियाँ और हड्डियोंसे शुक्र तैयार होता है—यों विचित्र ढंगसे अन्य पदार्थकी अन्य परिणति ऐसे होती है जैसे वसन्त ऋतुमें वृक्षके भीतर प्रविष्ट पृथिवीके रसकी पल्लव, मञ्जरी, पुष्प और फल आदि ॥ ६९ ॥

उन सातों धातुओंके स्थानमें उत्तरोत्तर परिणामकी सिद्धिके लिए परस्पर एक दूसरेके सङ्घर्षसे जठराग्निकी अभिव्यक्ति होती है, इस आशयसे कहते हैं—'देहेष्वा०' इत्यादिसे ।

देहमें प्राणवायु प्रतिदिन सब रसोंके अन्तिम धातु शुक्रके परिणाम तक यानी जबतक शुक्र तैयार नहीं हो जाता तबतक, परस्पर सङ्घर्षसे अग्नि उत्पन्न करनेवाले जङ्गली बाँसकी नाईं, अग्नि उत्पन्न करती है ॥ ७० ॥

स्वभावशीतवातात्मा देहस्तेनौष्ण्यमेत्यथ ।
उदितेन स सर्वाङ्गे भुवनं भानुना यथा ॥ ७१ ॥
सर्वतो विचरेदस्मिंस्तत्तेजस्तारकाकृति ।
हृत्पद्महेमभ्रमरो योगिनां चिन्त्यतां गतम् ॥ ७२ ॥
तत्प्रकाशमयं ज्ञानं चिन्तितं सत्प्रयच्छति ।
येन योजनलक्षस्थं वस्तु नित्यं हि दृश्यते ॥ ७३ ॥
तस्याग्नेर्वाडवस्येव जलं संशुष्कमिन्धनम् ।
मांसपङ्कजखण्डाढ्यं हृत्सरःकोशवासिनः ॥ ७४ ॥
यदच्छं शीतलत्वं च तदस्याऽऽत्मेन्दुरुच्यते ।
इतीन्दोरुत्थितः सोऽग्निरग्नीषोमौ हि देहकः ॥ ७५ ॥

सारे शरीरमें प्रदीप्त उस जाठराग्निसे स्वभावतः शीत-वातात्मक वह शरीर ऐसे उष्णताको प्राप्त होता है जैसे सूर्यसे तीनों लोक ॥ ७१ ॥

सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त उसी जाठराग्निकी योगी लोग हृदय-कमलमें तारोंके आकारसे उपासना करते हैं, यह कहते हैं—'सर्वतो' इत्यादिसे ।

तारोंके आकारके समान तथा हृदयपद्ममें सुवर्णभ्रमरके सदृश वह तेज इस शरीरमें चारों ओर विचरता है, जो योगियोंकी चिन्त्यदशाको प्राप्त है अर्थात् जिसकी योगी लोग उपासना करते हैं ॥ ७२ ॥

चिद्रूपसे उपास्यमान वही तेज व्यवहित और दूर दूरके सम्पूर्ण पदार्थोंको देखनेकी सामर्थ्य उत्पन्न करता है, यह कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपासित हुआ वह तेज वह प्रकाशस्वरूप ज्ञान प्रदान करता है, जिससे लाख योजनकी दूरीपर स्थित वस्तु सदा आँखोंके सामने दिखाई देती है ॥ ७३ ॥

उस अग्निका इन्धन बतलाते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस तरह वड़वाग्निका इन्धन समुद्रका जल है उसी तरह मांसरूपी सरोवरके भीतर रहनेवाली उस जठराग्निका भी जलने योग्य इन्धन शरीरमें वर्तमान अन्नरसरूप जल है ॥ ७४ ॥

देहमें स्थित इन्धनभूत चन्द्रांशका लक्षणसे विभाग करके 'यह शरीर अग्नि और सोम स्वरूप है' यह कहते हैं—'यद०' इत्यादिसे ।

सर्वं तूष्णात्मकं किञ्चित्तेजोऽर्काग्न्यभिधं विदुः ।
शीतात्मकं तु सोमाख्यमाभ्यामेव कृतं जगत् ॥ ७६ ॥
विद्याविद्यास्वरूपेण सर्वं सदसदात्मना ।
जगद्वा येन निर्वृत्तं तदेवैवं विभज्यते ॥ ७७ ॥
संवित्प्रकाशं विद्यादि सूर्यमग्निं विदुर्बुधाः ।
अतज्जाड्यं तमो विद्याद्याहुः सोमं मनीषिणः ॥ ७८ ॥

श्रीराम उवाच

वह्निर्वाय्वात्मनः सोमादुदेतीति मुनीश्वर ।
सोमस्योत्पत्तिमधुना वद मे वदतां वर ॥ ७९ ॥

इस शरीरमें जो स्वच्छता और शीतलता वर्तमान है, उसकी आत्मा चन्द्रमा ही कही जाती है, यानी वे चन्द्रमाके अंश हैं चन्द्रमासे वह अग्नि उत्पन्न है, इसलिए यह शरीर अग्नि और चन्द्रस्वरूप है ॥ ७५ ॥

शरीरके बाहर भी संसारमें प्रकाश और गर्मीसे तथा शीतता और जड़तासे अग्नि और चन्द्रका ज्ञान करना चाहिए, यह कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

बाहर यह जो सब कुछ उष्णस्वरूप दिखाई देता है इसे तेज, सूर्य या अग्निके नामसे विद्वान् लोग जानते हैं तथा जो कुछ शीतात्मक वस्तु दिखाई देती है उसे चन्द्र नामसे । इन्हीं दोनोंसे यह संसार बनाया गया है ॥ ७६ ॥

अथवा चित् और जड़—इन दोनोंसे मिला हुआ, सत् और असत् स्वरूप, अविद्याशबल ब्रह्म ही जगद्रूप बन गया है, अतः वही इस तरह प्रकाश और जड़-स्वरूपताके कारण अग्नि और चन्द्रके रूपसे विभक्त किया गया है, यह कहते हैं—'विद्या०' इत्यादिसे ।

अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, विद्या और अविद्या स्वरूप, सद् और असद् रूप जो ब्रह्म सम्पूर्ण जगद्रूप बन गया है, वही इस तरह अग्नि और सोमके रूपसे विभक्त किया गया है ॥ ७७ ॥

आत्मतत्त्वस्फूर्तिरूप संवित्प्रकाश तथा बाह्य पदार्थोंके प्रकाशको पण्डित लोग सूर्य और अग्नि कहते हैं तथा असत् जड़ता, तम, अविद्या आदिको विद्वान् लोग चन्द्रमा कहते हैं ॥ ७८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ मुनीश्वर, 'देहेष्वाजरणं

वसिष्ठ उवाच

अग्नीषोमौ मिथः कार्यकारणे च व्यवस्थिते ।
पर्यायेण समं चैतो प्रजीवेते परस्परम् ॥ ८० ॥

जन्माङ्गबीजाङ्कुरवत्तथा दिवसरात्रिवत् ।
स्थितिश्छायातपसमा केवला सैतयोर्भवेत् ॥ ८१ ॥

तुल्यकालोपलम्भासावित्थं छायातपस्थितिः ।
केवलैकोपलम्भाढ्या स्थितिर्दिवसरात्रिवत् ॥ ८२ ॥

कार्यकारणभावश्च द्विविधः कथितोऽनयोः ।
सद्रूपपरिणामोत्थो विनाशपरिणामजः ॥ ८३ ॥

सर्वरसानां पवनोऽन्वहम् । जनयत्यग्निमन्योऽन्यसङ्घर्षाद्वनवेणुवत् ॥' इत्यादि आपके कथनसे और प्रत्यक्ष अग्नि और सूर्य आदिकी उत्पत्ति वायुके अधीन देखी भी जाती है, इससे वायुस्वरूप चन्द्रमासे अग्नि उत्पन्न होती है, यह तो मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया; अब आप कृपाकर सोमकी उत्पत्ति मुझसे कहिये ॥ ७९ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, अग्नि और चन्द्रमा परस्पर कार्यकारणरूपसे व्यवस्थित हैं तथा वे दोनों क्रमशः या एकसाथ परस्पर एक दूसरेके उपजीवक हैं ॥ ८० ॥

इन दोनोंकी उत्पत्तिमें बीज और अङ्कुरकी नाईं परस्पर एक दूसरा उपादान-कारण तथा दिन और रातके तुल्य परस्पर एक दूसरा निमित्तकारण है । परन्तु इन दोनोंकी स्थिति तो छाया और आतपके समान परस्पर एक दूसरेकी हत्या करनेवाली है ॥ ८१ ॥

दृष्टान्तभेदके उपन्यासका यानी भिन्न-भिन्न दृष्टान्त देनेका दूसरा तात्पर्य बतलाते हैं—'तुल्य०' इत्यादिसे ।

एक ही समयमें इन दोनोंकी उपलब्धि यदि हो जाय तो इन दोनोंकी स्थिति छाया और आतपके समान समझनी चाहिए और यदि केवल एककी ही उपलब्धि हो जाय तो रात और दिनके समान इनकी स्थिति समझनी चाहिए ॥ ८२ ॥

दो दृष्टान्त कार्यकारणभावके लिए हैं, इस पक्षमें भी अवान्तर दो भेदोंमें दो तात्पर्य हैं ही, यह कहते हैं—'कार्यकारणभावश्च' इत्यादिसे ।

एकस्माद्यद्द्वितीयस्य सम्भवोऽङ्कुरबीजवत् ।
कार्यकारणभावोऽसौ सद्रूपपरिणामजः ॥ ८४ ॥
एकनाशे द्वितीयस्य यद्भावो दिनरात्रिवत् ।
कार्यकारणभावोऽसौ विनाशपरिणामजः ॥ ८५ ॥
सद्रूपपरिणामस्य मृद्घटक्रमसंस्थितेः ।
अक्षोपलम्भादितरत्प्रमाणं नोपयुज्यते ॥ ८६ ॥
विनाशपरिणामस्य दिनरात्रिक्रमस्थितेः ।
अभावोऽप्येकवस्तुस्थो गतो मुख्यप्रमाणताम् ॥ ८७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन दोनोंमें जो कार्यकारणभाव है वह भी दो तरहका कहा गया है—एक सद्रूप परिणामसे उत्पन्न और दूसरा विनाशरूप परिणामसे उत्पन्न ॥ ८३ ॥

उपर्युक्त दो कार्य-कारणभावोंमें पहलेका उपपादान करते हैं—'एकस्माद्' इत्यादिसे ।

जहाँपर अङ्कुरसे बीजकी नाईं एकसे दूसरेकी उत्पत्ति होती है वह कार्यकारण-भाव सद्रूप परिणामसे उत्पन्न कहा जाता है ॥ ८४ ॥

दूसरेका उपपादान करते हैं—'एकनाशे' इत्यादिसे ।

जहाँ एकका नाश होनेपर दूसरेकी दिन और रातकी नाईं उत्पत्ति होती है वह कार्य-कारणभाव विनाशरूप परिणामसे उत्पन्न कहा जाता है ॥ ८५ ॥

प्रथम पक्षमें, कार्यकी उत्पत्तिदशामें कारणकी सत्ता विद्यमान रहती है, इसमें 'अयं घटः मृदात्मकः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण दिखलाते हैं—'सद्रूप०' इत्यादिसे ।

क्रमशः मिट्टीसे घटकी जो स्थिति होती है, उस स्थितिरूप सद्रूपपरिणामको जाननेमें इन्द्रियोपलब्धिके सिवा—इन्द्रियसन्निकर्षके सिवा—अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणसे* अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रमाण उपयुक्त नहीं है ॥ ८६ ॥

---

* यद्यपि अनुमानादिका भी संभव है तथापि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध पदार्थोंमें उनकी खोज नहीं की जाती। इस विषयमें, न्यायवाचस्पत्यमें कहा है—'न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमते मिमातारः' (अनुमान करनेवाले विद्वान् लोग अपनी आँखोंसे हाथी देख लेनेपर उसके चीत्कारसे उसका अनुमान नहीं करते कि यह हाथी है), क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा पदार्थों की सिद्धि हो जानेसे वहाँ पक्षतारूप कारणका अभाव रहता है, यह तात्पर्य है ।

अनास्था नास्ति कर्तृत्वमित्याद्यायुक्तिवादिनः ।
अवज्ञया बहिष्कार्याः स्वानुभूत्यपलापिनः ॥ ८८ ॥

इसी प्रकार दूसरे पक्षमें भी, कार्यकी उत्पत्ति-दशामें कारणकी सत्ता विद्यमान नहीं रहती, इसमें 'हम दिनमें रातकी उपलब्धि नहीं करते' इत्यादि अनुपलब्धि प्रमाण दिखलाते हैं—'विनाश०' इत्यादिसे ।

दिन और रातके क्रमकी जो स्थिति है तद्-रूप विनाशपरिणाममें मुख्य प्रमाण एक वस्तुमात्रका ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाणसे अविरुद्ध अभाव है ही । तात्पर्य यह कि विनाशरूप परिणाममें एकमात्र अनुलब्धि ही प्रमाण है ॥ ८७ ॥

जो वस्तु कार्यका सम्पादन करती हुई दिखाई पड़ती है, उसे ही कारण कहते हैं और कारणमें कार्यकर्तृत्व कार्याभिनिवेशरूप आस्थाके रहते ही देखा जाता है । केवल प्रकाशन कर उपक्षीण हुए दिनमें रातके निर्माणके लिए आस्था नहीं है, इस-लिए दिनमें रात्रि-निर्माणकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता, ऐसे ही रातमें भी दिननिर्माण-कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता—इस स्थितिमें अभावपरिणामसे कार्यकारणभावका समर्थन करना बिलकुल निर्मूल है । इसी रीतिसे अचेतन मिट्टी आदिमें भी घटादिके निर्माण करनेकी आस्था नहीं रह सकती, क्योंकि वह आस्था तो चेतनका धर्म है । किञ्च, पैरोंसे खूब नहीं रौंदे गये मृत्पिण्डसे घटकी निष्पत्ति कभी नहीं होती । पैरोंसे रौंदनेपर तो मृत्पिण्ड नष्ट ही हो जाता है, इसलिए कौन वस्तु सद्रूपसे परिणत होगी । यह तो आप कह नहीं सकते कि उस मिट्टीके पिण्ड और घटसे अलग एक तीसरी ही दोनोंमें अनुगत मिट्टी नामकी चीज है । किञ्च, यदि आप यह कहें कि बीज तो अङ्कुर पैदा करेगा ही चाहे वह भले ही किसी एक जगह रख दिया गया हो, नष्ट होने चाहता हो, नष्ट हो रहा हो या बिलकुल नष्ट ही हो गया हो; तो इसमें आपका प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आपके मतसे कोठारमें रखा हुआ बीज भी अङ्कुर पैदा करने लगेगा । दूसरा और तीसरा भी नहीं बनता, क्योंकि जो स्वयं अपनी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है, वह दूसरा बच्चा पैदा करेगा—यह आपकी कौन-सी युक्ति है ? अब रह गया एक चौथा पक्ष, वह तो संसारमें सबके अनुभवसे बाधित है; इसलिए यह सिद्ध है कि किसीसे किसीकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता, किन्तु स्वभावतः सब पदार्थ उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं । इसमें पूर्वापरका अवलोकन करनेसे

प्रत्यक्षवदभावोऽपि प्रमैव रघूनन्दन ।
अग्न्यभावोऽपि शीतस्य प्रमाणं सर्वजन्तुषु ॥ ८९ ॥
अग्निर्धूमतया भागार्धां प्रयाति पयोदताम् ।
सद्रूपपरिणामेन तदग्निः सोमकारणम् ॥ ९० ॥
अग्निर्नष्टतया शैत्यादसावेव प्रयाति यत् ।
विनाशपरिणामेन तदग्निः सोमकारणम् ॥ ९१ ॥
सप्ताम्बुधिपयः पीत्वा धूमोद्गारेण वाडवः ।
पयोदतां प्रयातेन तदेव जनयत्यलम् ॥ ९२ ॥

अविवेकियोंको ही कार्यकारणभावके विषयमें विकल्प होते हैं, विवेकियोंको नहीं, अतः दुर्युक्तिपूर्वक बोलनेवालोंको स्वानुभव विरोधके उद्भावनसे ही विद्वत्समाजसे निकालकर बाहर कर देना चाहिए, यह कहते हैं—'अनास्था' इत्यादिसे ।

चूँकि आस्था नहीं है, इसलिए कर्तृत्व भी नहीं है, इत्यादि दुर्युक्तिपूर्वक बोलनेवालोंको, जो स्वयं अपने अनुभवका अपलाप करते हैं, तिरस्कारके साथ यानी कान पकड़कर विद्वानोंकी भरी सभासे बाहर कर देना चाहिए, क्योंकि उनके मतमें भी अनास्थादियुक्तिबुद्धि अकर्तृत्वादिबुद्धि उत्पन्न करती है, यह कार्य-कारणभाव अन्तमें निकल ही जाता है ॥ ८८ ॥

अनुपलब्धि प्रमाण नहीं है—इस संदेहका निवारण करते हैं—'प्रत्यक्ष-वद्'० इत्यादिसे ।

हे रघुनन्दन, प्रत्यक्षके समान अभाव भी प्रमाण ही है, क्योंकि यह सब जन्तुओंको भली भाँति विदित है कि शीतके परिज्ञानमें तेजका अभाव भी प्रमाण होता है ॥ ८९ ॥

शरीरके बाहर जगत्में सद्रूपपरिणामसे चन्द्रका कारण अग्नि है, इसमें उदाहरण देते हैं—'अग्नि०' इत्यादिसे ।

धूमरूपसे विभक्त हो जानेके कारण अग्नि जो चन्द्रात्मक जलरूपताको प्राप्त हो जाती है, उसमें सद्रूपपरिणामसे अग्नि चन्द्रका कारण है ॥ ९० ॥

अभावपरिणामसे भी उसका उदाहरण देते हैं—'अग्नि०' इत्यादिसे ।

नष्ट होनेसे शीतताको प्राप्त होनेके कारण वही अग्नि जो वायुरूपताको प्राप्त होती है वहाँ भी विनाशरूप परिणामसे अग्नि ही चन्द्रका कारण है* ॥९१॥

सद्रूपपरिणामसे अग्नि और चन्द्र—ये दोनों परस्पर एक दूसरेके कारण

---

* इसमें 'यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति' यह श्रुति प्रमाण है ।

अर्कः पीत्वा निशानाथमामावास्यं पुनः पुनः ॥
उद्गिरत्यमले पक्षे मृणालमिव सारसः ॥ ९३ ॥
पीत्वाऽमृतोपमं शीतं प्राणः सोममुखागमे ।
अभ्रागमात्पूरयति शरीरं पीनतां गतः ॥ ९४ ॥
जलमप्युदपां भोगे प्रयात्यर्कस्य रश्मिताम् ।
सद्रूपपरिणामेन तज्जलं वह्निकारणम् ॥ ९५ ॥

हैं, इनका एक-एक जगह उदाहरण देते हैं—'सप्त' इत्यादिसे ।

वडवानल सातों समुद्रका जल पीकर धूमके उद्गिरण द्वारा मेघ बन करके उसी मेघरूपसे फिर सातों समुद्रमें जलात्मक चन्द्रको ही उत्पन्न करता है ॥९२॥

सूर्यात्मक तेज अमावास्यातक चन्द्रमाको बारबार यानी बिल्कुल पीकर शुक्ल पक्षमें उस तरह उगिल देता है, जिस तरह सारस कमलदण्डको ॥९३॥

सुखके सदृश सुशोभित हो रहे चन्द्रमासे युक्त वसन्त और ग्रीष्म ऋतुके आनेपर गरमीसे युक्त वायु पृथिवीका अमृतके तुल्य शीतल जल पीकर वर्षा-ऋतुमें मेघके आगमनसे (उसका वेश धारण करनेसे) स्थूल होकर वृष्टिसे जगत्के शरीरको परिपूर्ण कर देता है। अथवा—आध्यात्मिक प्राण ही* सोम-सुखसे अन्नपानादिका उदरमें आगमन होनेपर अमृतके तुल्य उनका रस पीकर परिपुष्ट होकर अभ्रके समान व्याप्त सम्पूर्ण नाडियोंमें आगमन करके शरीरको भर देता है। यही इसका पुनः सोमपरिणाम है—यह अर्थ है ॥९४॥

यदि आप यह समझते हों कि वायु पृथिवीका रस नहीं सोखता, किन्तु सूर्यकी किरणें ही उसे पी जाती हैं, क्योंकि रातमें भी उनकी उष्णरूपसे सत्ता रहती ही है। तब तो ऐसी दशामें वे ही उदाहरण हैं, यह कहते हैं—'जलम०' इत्यादिसे ।

सूर्यकी किरणोंसे जलपान किया जाता है, यदि यह कल्पना की जाय, तो भी

* 'सोमं सुखागमे' इस पाठमें तो—अग्निस्वरूप यजमानरूपी प्राण यज्ञमें अमृतके तुल्य शीतल सोमरसका पान करके अन्तमें धूमादिमार्गसे स्वर्ग पहुँचनेमें चन्द्रमाके समीप आकाशरूपी मार्गकी सन्धि मिल जानेसे चन्द्रमाको प्राप्त करके चन्द्रस्वरूप बन जाता है और कलाओंसे अपना शरीर भर लेता है, वही इसका पूर्णिमाके दिन पुनः स्थूल बना हुआ सोमपरिणाम है, यह अर्थ है ।

नाशात्मकतया तोयमौष्ण्यत्वादेति ह्यग्नितास् ।
विनाशपरिणामेन तच्चोयं वह्निकारणम् ॥ ९६ ॥
अग्नेर्विनाशे सद्रूप-परिणामो निशाकरः ।
इन्दोर्विनाशे सद्रूपपरिणामो हुताशनः ॥ ९७ ॥
हुताशो नाशमागत्य सोमो भवति वै तथा ।
दिवसो नाशमागत्य रात्रिर्भवति वै यथा ॥ ९८ ॥
तमःप्रकाशयोच्छायातपयोर्दिनरात्रयोः ।
मध्ये विलक्षणं रूपं प्राज्ञैरपि न लभ्यते ॥ ९९ ॥
सन्धिरप्यविलोपः स्यादेतयोरेव तद्वपुः ।
भावाभावैर्यथैकास्थानिष्ठावेतौ तथैव हि ॥ १०० ॥

इस कल्पनामें यह मानना चाहिए कि जल सूर्यकी किरणताको सद्रूपपरिणामसे प्राप्त करता है, इसलिए वह जलरूप चन्द्रमा अग्निका कारण हुआ ॥९५॥

और उसमें जो शैत्य और द्रवत्वका नाश तथा उष्णता और रूक्षताकी जो उत्पत्ति है, उस अंशमें विनाशपरिणामता भी है ही, इसलिए यह उदाहरण दोनों परिणामोंका है, यह कहते हैं—'नाशात्मकतया' इत्यादिसे ।

नाशात्मकरूपसे उष्णस्वरूप होनेके कारण जल भी अग्निरूपताको प्राप्त हो जाता है, अतः विनाशपरिणामसे वह जलरूप चन्द्रमा अग्निका कारण है ॥९६॥

सर्वत्र अग्नि और चन्द्रस्वरूप परिणाममें उभयरूप सङ्कीर्णता भी सूक्ष्म दृष्टिसे अच्छी तरह देखी जा सकती है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'अग्ने०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

और अग्निके विनाशमें सद्रूप परिणाम चन्द्रमा है तथा चन्द्रमाके विनाशमें सद्रूप परिणाम अग्नि है ॥९७॥

जैसे दिन नाशको प्राप्त होकर रात हो जाता है वैसे ही पावक नाशको प्राप्त होकर चन्द्र हो जाता है ॥९८॥

तम और प्रकाश, छाया और आतप तथा दिन और रातके बीचमें विलक्षण सद्रूप ब्रह्म बड़े-बड़े बुद्धिमानोंको भी प्राप्त नहीं होता ॥९९॥

तम और प्रकाशकी जो सन्धि है, वह तो उभयविलोपात्मक एक शून्यरूप ही

द्वाभ्यां चैतन्यजाड्याभ्यां भूतानि प्रस्फुरन्ति हि ।
यथा तमःप्रकाशाभ्यामहोरात्रा महीतले ॥ १०१ ॥
चिद्रूपजडरूपाभ्यामारब्धेयं जगत्स्थितिः ।
जलामृताभ्यां मिश्राभ्यां शीता तनुरिवैन्दवी ॥ १०२ ॥
प्रकाशमनलं सूर्यं चिद्रूपं विद्धि राघव ।
जडात्मकं तमोरूपं विद्धि सोमशरीरकम् ॥ १०३ ॥

है, अतः उसमें उन दोनोंसे विलक्षण तीसरा कोई रूप नहीं रहता, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—'सन्धि०' इत्यादिसे ।

तम और प्रकाश इन दोनोंकी सन्धि भी अशून्यस्वरूप ही है, क्योंकि वह सन्धि इन दोनोंका ही परस्पर संलग्न स्वरूप है । [यह बात समझ लेनेकी है कि शून्य वस्तुओंकी सन्धि नहीं होती और न सद्रूप वस्तुओंमें निमित्तरहित शून्यता ही रहती है । वे दोनों सन्धिमें वर्तमान कैसे हैं, यदि ऐसी आशङ्का हो, तो उसका उत्तर यह है कि] जैसे भाव और अभावरूपसे निरूपित तम और प्रकाश* के दो दो स्वरूप एक वस्तुरूप होनेसे एक स्थानमें वर्तमान हैं वैसे ही वे दोनों सन्धिमें भी वर्तमान हैं, अणुमात्र भी अन्यथाभूत नहीं हैं; यह भाव है ॥१००॥

जैसे पृथिवीपर तम और प्रकाशसे रात और दिन हो रहे हैं वैसे ही चेतनता और जड़ता इन दोनोंसे संसारके जीव स्फुरित हो रहे हैं ॥१०१॥

जैसे मिश्रित जल और अमृतसे चन्द्रमाकी शीतल देह निर्मित है वैसे ही चिद्रूप और जडरूपसे यह जगत्‌की स्थिति निर्मित है ॥ १०२ ॥

प्रकाश और अप्रकाश रूपसे आविर्भूत हुए चित् और जड़ इन दोनोंके अंशोंसे ही जगत् अग्नि और चन्द्रस्वरूप है, यह कहते हैं—'प्रकाश०' इत्यादिसे ।

हे राघव, अग्नि, प्रकाश या सूर्यको आप चिद्रूप समझिये तथा चन्द्रमाको जडात्मा और तमोरूप जानिये ॥ १०३ ॥

---

* अर्थात् परस्पर निरपेक्ष निरूपण करनेसे भावरूप तथा परस्पर सापेक्ष निरूपण करनेसे अभावरूप तम एवं प्रकाशाभावस्वरूप एक ही वस्तु है और इसी तरह प्रकाश एवं अन्धकाराभाव भी एक वस्तु है ।

चित्सूर्ये निर्मले दृष्टे नाम नश्येद्भवोदयम् ।
व्योमसूर्ये बहिर्दृष्टे यथा कृष्णनिशातमः ॥ १०४ ॥

सोमदेहे जडे दृष्टे चिन्निजे सत्यवद्भवेत् ।
निशीथे विलसत्यब्जे यथा सौरप्रभाभरः ॥ १०५ ॥

सोमं प्रकटयत्यग्निश्चिद्देहस्य चिरं प्रभाम् ।
स्वसंविन्मयमिन्दुश्चिद् देहस्थं रूपमर्कजम् ॥ १०६ ॥

बाहर सूर्यके उदयसे जैसे तमकी निवृत्ति होती है वैसे ही अन्दर चरमवृत्तिसे चिदादित्यके उदयसे जगत्के बीजभूत अज्ञानरूप तमकी निवृत्ति होती है, यह कहते हैं—'चित्सूर्ये' इत्यादिसे ।

जिस तरह बाहर आकाशमें सूर्यके दिखाई पड़नेपर काली रातका अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी तरह निर्मल चित्सूर्यके अन्दर दिखाई पड़नेपर जगत्के मूल कारण अज्ञानका नाश हो जाता है ॥ १०४ ॥

भद्र, जैसे आधी रातमें कमलके अन्दर चन्द्रके विलास करनेपर कमलके अन्दर प्रवेश कर स्फुरित हो रहा सूर्यप्रभासमूह चन्द्रधर्म चन्द्रिकात्वरूपसे सम्पन्न होकर चन्द्रसत्तासे सत् होता हुआ अपनी सत्तासे असत्-सा हो जाता है वैसे ही प्रत्यगात्माके जड़ सोमात्मक देहके अन्दर दृष्ट हो जानेपर जड़देहतादात्म्यसे स्फुरित हो रही भी चिति शरीरगुणरूपताको प्राप्त होकर गुणान्तरोंके सदृश शरीर-गुणसत्तासे सत् होती हुई भी अपनी सत्तासे असत्-सी हो जाती है ॥ १०५ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनोंमें युक्ति और फल बतलाते हैं—'सोमम्' इत्यादिसे ।

चन्द्रमण्डलमें प्रविष्ट हुई सूर्यप्रभारूप अग्नि जलमय चन्द्रबिम्बको प्रकाशमय कर देती है और देहमें जीवभावसे प्रविष्ट हुई चिति जीवनपर्यन्त देहको अहम्भावादिरूपसे प्रकाशित करती है, यों एक दूसरेका सम्मेलन होनेपर तादात्म्याध्याससे सूर्यमण्डल-जनित प्रभामण्डलात्मकरूप चन्द्रस्वरूप हो जाता है और चिति अपने संवित्स्वरूप 'अहं मनुष्यः, अहं चेतनः' इत्यादि अनुभवके अनुसार देहस्वरूप हो जाती है ॥ १०६ ॥

चिन्निष्क्रियात्वनाम्ना सा केवला नोपलभ्यते ।
आलोक इव दीपेन देहेनैवाऽवगम्यते ॥ १०७ ॥
चितश्चेत्योन्मुखत्वेन लाभः सैव च संसृतिः ।
निश्चेत्यायाः शुभो लाभो निर्वाणं वा तदेव हि ॥ १०८ ॥
अन्योन्यलब्धसद्वाक्यावेवं कुड्यप्रकाशवत् ।
अग्नीषोमाविमौ ज्ञेयौ सम्पृक्तौ देहदेहिनौ ॥ १०९ ॥
अतिशायिनि निर्वाणे जाड्ये चैवाऽतिशायिनि ।
अग्नीषोमस्य चैवाऽङ्ग स्थितिर्भवति केवला ॥ ११० ॥
प्राणोऽग्निरुष्णप्रकृतिरपानः शीतलः शशी ।
छायातपवदित्येतौ संस्थितौ मुखमार्गगौ ॥ १११ ॥

इससे भी चितिको देहधर्मोंका भ्रम हो जाता है, यह कहते हैं—'चिन्निष्क्रिया०' इत्यादिसे ।

क्रिया और उपाधिसे शून्य वह केवल चिति उपलब्ध नहीं होती। जैसे दीप द्वारा प्रकाशका भान होता है वैसे ही देह द्वारा ही चितिका भान होता है ॥ १०७ ॥

अज्ञानसे आवृत चितिको विषयोंकी ओर उन्मुख होनेसे अनर्थप्राप्ति होती है, वही अनर्थप्राप्ति संसृति (संसार) है तथा विषयशून्य चितिका जो स्वरूप है वही शुभ, लाभ या मोक्ष है ॥ १०८ ॥

हे श्रीरामजी, उक्त रीतिसे यह आपको जान लेना चाहिए कि भित्ति और सूर्यप्रकाशकी नाईं परस्पर मिले हुए रहनेके कारण सद्रूपसे वाग्व्यवहारके विषय बने हुए देह और देही (चिति) ये दोनों अग्नि और चन्द्रस्वरूप हैं ॥१०९॥

इन दोनोंकी परस्पर न मिली हुई स्थिति कहाँ प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'अतिशायिनि' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपाधिकी निवृत्तिसे आत्यन्तिक आनन्दका आविर्भाव होनेपर अग्निकी तथा आत्यन्तिक जाड्यका आविर्भाव होनेपर चन्द्रकी केवल (न मिली हुई) स्थिति होती है ॥ ११० ॥

प्राण और अपान वायु अग्नि और चन्द्र स्वरूप हैं, यह जो पहले कहा गया था, उसका प्रकृतमें उपयोगके लिए स्मरण दिलाते हैं—'प्राणो०' इत्यादिसे ।

अपाने शीतले सत्तामेत्युष्णः प्राणपावकः ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽदर्शे स च तस्मिंस्तथैव हि ॥ ११२ ॥
चिदग्निः पद्मपत्रस्थं सोमं वाचात्मकं त्विषा ।
जनयत्यनुभूत्येह कुड्यालोकं यथा बहिः ॥ ११३ ॥
संसृत्यादौ यथा काचित्संविच्छीतोष्णरूपिणी ।
अग्नीषोमाभिधां प्राप्ता सैव सर्गे नृणामिह ॥ ११४ ॥
यत्र सोमकला ग्रस्ता क्षणं सूर्येण षोडशी ।
मुखाद्बितस्तिमात्रं स्यात्तत्र बद्धपदो भव ॥ ११५ ॥

उष्णप्रकृति प्राणवायु अग्निस्वरूप है तथा शीतलप्रकृति अपानवायु चन्द्रस्वरूप है। छाया और आतपकी नाईं ये दोनों मुखरूप मार्गमें स्थित रहते हैं ॥ १११ ॥

भित्ति और प्रकाशके तुल्य इन दोनोंकी परस्परतादात्म्यस्थितिका अवलोकन कराते हैं—'अपाने' इत्यादिसे ।

अपान वायुके शीतल होनेपर उष्णप्रकृति प्राणरूप अग्नि अपनी सत्ताको प्राप्त होती है और दर्पणमें प्रतिबिम्बकी नाईं प्राणवायुके उष्ण होनेपर अपान भी सत्ताको प्राप्त होता है ॥ ११२ ॥

मूल प्राण कुण्डलिनीरूप चिदग्नि मूलाधारसे लेकर कण्ठपर्यन्त चार दलवाले कमलमें स्थित परासे लेकर वैखरी पर्यन्त वाणीरूप चन्द्रमाको अर्थप्रकाशनरूप शक्तिसे (अनुभवसे) इस तरह उत्पन्न करती है, जिस तरह बाहर भित्तिप्रकाशको सूर्य ॥ ११३ ॥

जैसे सर्गके प्रारम्भमें मायाशबल कोई ब्रह्म-संवित् शीतोष्णरूप ब्रह्माण्डाकारसे अग्नि और चन्द्र नामको प्राप्त हो गई है वैसे ही मनुष्योंके यानी व्यष्टिदेहोंके सर्गमें भी वही संवित् व्यष्ट्याकारसे अग्नि और चन्द्र नामको प्राप्त हो गई है ॥ ११४ ॥

ठीक है, ब्रह्माण्डकी नाईं अग्नि और चन्द्रस्वरूप शरीर भी रहे, लेकिन उससे कौन कार्य सिद्ध होगा ? इसपर कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जहाँ मुखसे बाहर सूर्यसे ग्रस्त हुई ध्रुवा नामक सोमकी (अपानकी) सोलहवीं कला * प्राण (सूर्य) से उगिल दी गई कलाओंसे पूर्ण

* जैसे आकाशमें कृष्णपक्षमें अग्निस्वरूप सूर्य चन्द्रमाकी शीतल पन्द्रह कलाओंका प्रतिपदा-द्वितियिोंमें क्रमशः ग्रासकर केवल एक ध्रुवा नामक कला छोड़ देता है। उसके बाद शुक्लपक्षमें

नूनं सूर्यपदं प्राप्तो यत्र सोमो हृदम्बरे ।
नूनं केवलया स्थित्या तत्र बद्धपदो भव ॥ ११६ ॥
उष्णमग्निश्चिदादित्यः शैत्यं सोम उदाहृतम् ।
यत्रैतौ प्रतिबिम्बस्थौ तत्र बद्धपदो भव ॥ ११७ ॥
शरीरे सोमसूर्याग्निसङ्क्रान्तिज्ञो भवाऽनघ ।
तत्र सङ्क्रान्तिकाला हि बाह्यास्तृणसमाः स्मृताः ॥११८॥

होकर क्षण भरमें, पूर्व दिशामें पूर्णिमाके चन्द्रकी नाईं, एक बिंबकी तैयार हो जाती है वहींपर बाह्य कुम्भकसे आप स्थिर हो जाइये ॥ ११५ ॥

तथा जहाँ हृदयाकाशमें कलाग्रास द्वारा क्रमशः ग्रसित हो रहा चन्द्रमा सूर्यके स्थानमें पहुँचकर, जैसे कि अमावास्या आनेपर, केवल यानी शुद्धचिद्रूप ध्रुवा नामकी कलात्मक स्थितिसे स्थित रहता है वहाँपर अन्तःकुम्भकसे आप स्थिर हो जाइये ॥ ११६ ॥

अब अर्धरेचक या अर्धपूरकसे मध्यमें दोनों ओरसे प्राणके निरोध द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्बकी तरह उनकी तुल्यरूपता कहकर धारणा कहते हैं—'उष्ण०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चिदादित्य उष्ण और अग्निस्वरूप तथा चन्द्रमा शीतल कहा गया है जहाँपर अर्थात् अर्धरेचक और अर्धपूरकसे अन्तरालमें ये दोनों अग्नि और चन्द्र या प्राण और अपान प्रतिबिम्बरूपमें स्थित हैं वहाँपर आप स्थिर हो जाइये ॥ ११७ ॥

हे पापशून्य श्रीरामजी, जैसे वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरत् ऋतुओंमें

फिर क्रमशः उष्ण कलाएँ उगिल देता है, उनसे क्रमशः पूर्ण होती हुई ध्रुवानामकी कला पूर्ण चन्द्रस्वरूप हो जाती है, वैसे ही हृदयमें स्थित प्राणरूपी सूर्य अपानरूपी चन्द्रकी मुख और नासिका द्वारा प्रविष्ट हुई शीतल पन्द्रह कलाओंका ग्रास करके मुखसे बाहर ध्रुवानामक केवल एक कलाको छोड़कर फिर उन उष्ण कलाओंको उगिल देता है। उनसे परिपूर्ण होती हुई ध्रुवा नामकी कला बाहर चन्द्रस्वरूप हो जाती है जिसका दूसरा नाम अपान है। बाहर प्राण और अपानकी जो सन्धि है वह पूर्णिमा तथा हृदयमें अमावास्या कहलाती है। अन्तराल देशमें इडा और पिङ्गलाकी प्रत्येक ऊपर-नीचे स्थित शाखाओंकी छः नाड़ियोंमें प्राणरूपी सूर्यके प्रवाहसे दो अयन होते हैं। मेष, वृष आदि बारह महीने और इन दोनोंके बीचमें संक्रान्तियाँ होती हैं। अपानरूपी चन्द्रके प्रवाहसे चैत्र, वैशाख आदि महीने, विष्कम्भ आदि योग तथा भिन्न-भिन्न नामके पर्व हुआ करते हैं—यह योगियोंको प्रत्यक्ष है। दूसरे विद्वानोंको भी, जिन्हें योगशास्त्रका ज्ञान नहीं है, स्वरोदयादि शास्त्रोंसे इनका परिज्ञान कर लेना चाहिए।

संक्रान्तिमुत्तरमथायनमङ्ग सम्य-
कालं तथा विषुवतौ यदि देहवातैः ।
अन्तर्बहिष्ठमिव वेत्सि यथाऽनुभूतं
तच्छोभसेऽत्र न पुनः परमभ्युपेतः ॥११९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अग्नीषोमविचारणं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥८१॥

क्रमशः शीतका उष्णतासे ग्रास हो जानेके कारण सोम (चन्द्र) की अग्नि-सङ्क्रान्ति होती है और शरत्, हेमन्त तथा शिशिर ऋतुओंमें क्रमशः उष्णताका शीतसे ग्रास हो जानेके कारण अग्निकी चन्द्रमङ्क्रान्ति होती है एवं इन दोनोंकी सन्धिमें सूर्यकी मेषादि सङ्क्रान्ति होती है वैसे ही इस शरीरमें भी अपानकी शीतताका जठराग्निसे ग्रास होनेपर चन्द्रमाकी अग्निमङ्क्रान्ति होती है और प्राणकी उष्णताका बाह्य शीततासे ग्रास होनेके कारण अग्निकी चन्द्रसङ्क्रान्ति होती है। सूर्यकी संक्रान्तियाँ तो पहले ही बतला दी गई हैं, इसलिए हे श्रीरामजी, आप इनके विशेषज्ञ हो जाइये, क्योंकि इस शरीरके अन्दर मुख्य संक्रान्तिकाल ये ही हैं, बाह्यसंक्रान्तिकाल तो तृणके समान कहे गये हैं ॥११८॥

हे श्रीरामजी, बाहर प्रसिद्ध संवत्सरमें स्थित संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, संवत्सरात्मक काल तथा विषुवत् रेखा आदिकी नाईं इस शरीरके अन्दर भी स्थित संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, संवत्सरात्मक काल तथा विषुवत् रेखा आदिको देहके प्राण और अपान वायुके द्वारा स्थित यदि आप योगाभ्यासके कारण प्रत्यक्ष अनुभूत घट, पटादिके समान भलीभाँति जानते हैं, तो योगियोंकी कथाओंमें शोभते हैं। यदि मेरे उपदेशके ऊपर ध्यान न देकर कहीं अन्यत्र प्रवृत्त हैं, तब तो फिर आप नहीं शोभते ॥ ११९ ॥

एकासी सर्ग समाप्त

द्व्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अणुतां स्थूलतां वाऽपि यथा गच्छति योगिनाम् ।
देहो नाम तथा सम्यग्वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ १ ॥
हृद्यब्जचक्रकोशोर्ध्वं प्रस्फुरत्याऽऽनलः कणः ।
हेमभ्रमरवत्सान्ध्यविद्युल्लव इवाऽम्बुदे ॥ २ ॥
स प्रवर्द्धनसंवित्त्या वात्ययेवाऽऽशु वर्द्धते ।
संविद्रूपतया नूनमर्कवद्याति चोदयम् ॥ ३ ॥

बयासी सर्ग

[अणुता और स्थूलतासिद्धिके उपाय, ज्ञानसाध्य वस्तु, योगियोंके परकायमें प्रवेश तथा भोग आदिका युक्तिपूर्वक वर्णन]

इस तरह देह आदि अग्नि और चन्द्रस्वरूप हैं, इसका परिज्ञानकर तीनों धारणाओंके अभ्याससे परिष्कृत हुए प्राण, मन और शरीरसे युक्त; चन्द्र, सूर्य और अग्निके सङ्क्रमण आदिका अवलोकन करनेवाले योगीको देहमें अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति कैसे होती है, यह कहनेके लिए महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'अणुताम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, योगियोंकी देह जिस तरह अणुता या स्थूलताको प्राप्त होती है, वह सब अच्छी तरह मैं कहूँगा, आप सुनिये ॥ १ ॥

उनमें सबसे पहले, अणुत्वकी प्राप्तिके लिए देहका विलोप कर देना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए हृदय-कमल-नालके सूक्ष्म छिद्रों द्वारा हृदयाकाशमें प्रवेश कर नाभिके ऊपर जलती हुई जठराग्निकी—हृदयकमलके छत्तेमें परमात्माकी आसनस्वरूप—शिखा दिखलाते हैं—'हृद्यब्ज०' इत्यादिसे ।

हृदयमें कमलचक्रकी कर्णिकाके (छत्तेके) ऊपर अग्निका कण उस तरह चमकता है, जिस तरह सुवर्णका भ्रमर या सायंकालको बादलमें बिजलीकी लेखा ॥२॥

जैसे लौकिक अग्निकण झंझावातसे शीघ्र वृद्धि प्राप्त करता है और सारे

सन्ध्याभ्रप्रथमार्काभो वृद्धिमभ्यागतः क्षणात् ।
गालयत्यखिलं साङ्गं देहं हेम यथाऽनलः ॥ ४ ॥

जलस्पर्शासहो युक्त्या गलयेत्प्रपदादपि ।
बाह्य एवाऽनलस्पर्शात् स्वान्ते वस्तुविशेषतः ॥ ५ ॥

स शरीरद्वयं पश्चाद्विधूय क्वाऽपि लीयते ।
विक्षोभितेन प्राणेन नीहारो वात्यया यथा ॥ ६ ॥

आधारनाडीनिर्हीना व्योमस्थैवाऽवशिष्यते ।
शक्तिः कुण्डलिनी वह्नेर्धूमलेखेव निर्गता ॥ ७ ॥

शरीरमें व्याप्त होकर उसे जला देता है, वैसे ही झंझावातके सदृश प्रवर्द्धनके उपायभूत ज्ञानसे वह संविद्रूप अग्निकण शीघ्र बढ़ता है और वह बढ़कर लौकिक अग्निकणकी तरह देहको जलाता नहीं, किन्तु संविद्रूप होनेसे सूर्यके समान देहको अतिशय प्रकाशसे युक्त बना देता है ॥ ३ ॥

प्रातःकालमें आकाशमें पहले-पहल उदित सूर्यकी कान्तिके समान क्षणभरमें ही वृद्धिको प्राप्त होकर वह अग्निकण हाथ, पैर आदि अङ्गोंके साथ सम्पूर्ण शरीरको इस तरह गला देता है, जिस तरह सुवर्णको अग्नि। अर्थात् वह पार्थिव गन्ध और कठिनताको जलमें उपसंहृत कर देता है ॥ ४ ॥

इस तरह पैरके अग्रभागतकको भी वह युक्तिसे गला देता है। उसके बाद शोषणयुक्तिसे अपने अग्निस्वभावके कारण जलस्पर्शको न सह सकनेवाला वह पावक अपनी उष्णताके बलसे द्रवत्वोपसंहाररूप युक्तिसे जलको भी सुखा देता है। इस रीतिसे देहसे बाहर हुआ वह मनोरूप आतिवाहिक देहमात्रमें अवस्थित रहता है ॥ ५ ॥

यों पार्थिव तथा जलमय दोनों शरीरोंको गलाकर वह अग्नि पीछे विक्षोभित प्राणवायुके द्वारा उपसंहृत होकर कहीं इस तरह विलीन हो जाती है, जिस तरह झंझावातसे नीहार ॥ ६ ॥

उस समय कुण्डलिनी शक्ति भी मूलाधारस्थ सुषुम्ना नाड़ीसे हीन होकर सुषुम्नाके संस्कारसे युक्त आतिवाहिक देहाकाशमें ऐसे अवस्थित हो जाती है, जैसे अग्निसे निकली हुई धूमकी लेखा ॥ ७ ॥

क्रोडीकृतमनोबुद्धिमयजीवाद्यहङ्कृतिः ।
अन्तःस्फुरच्चमत्कारा धूमलेखेव नागरी ॥ ८ ॥
बिसे शैले तृणे भित्तावुपले दिवि भूतले ।
सा यथा योज्यते यत्र तेन निर्यात्यलं तथा ॥ ९ ॥
संवित्तिः सैव यात्यङ्ग रसाद्यन्तं यथाक्रमम् ।
रसेनाऽपूर्णतामेति तन्त्रीभार इवाऽम्बुना ॥ १० ॥
रसापूर्णा यमाकारं भावयत्याऽऽशु तत्तथा ।
धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम यथाकृतिम् ॥ ११ ॥
दृढभाववशादन्तरस्थीन्याप्नोति सा ततः ।
मातृगर्भनिषण्णेषु सुसूक्ष्मेवाऽङ्कुरस्थितिः ॥ १२ ॥

और आतिवाहिक देहाकाशमें स्थित हुई; मन, बुद्धि, जीव आदिसे घटित लिङ्ग शरीरमें अहङ्कारको संकलित करनेवाली तथा आभ्यन्तरमें स्वेच्छाविहारशक्ति एवं चित्-चमत्कारसे युक्त वह कुण्डलिनी इस तरह शोभित होती है, जिस तरह नगरकी धूमलेखा ॥ ८ ॥

तथा कमलनाल, पर्वत, तृण, भित्ति, पत्थर, स्वर्ग और भूतल आदि जिस किसी जगह जिस रीतिसे प्रविष्ट होकर निकल जानेके लिए उद्युक्त की जाती है उस जगह उस रीतिसे वह प्रविष्ट होकर ठीक तरह निकल जाती है ॥ ९ ॥

यों सूक्ष्म शरीर कैसे किया जाता है, यह कहकर स्थूलभावसे अपनी इच्छाके अनुसार नानाविध शरीरोंकी कैसे कल्पना की जाती है, यह बतलाते हैं—'संवित्तिः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वही कुण्डलिनी शक्ति (योगीकी जीवशक्ति) अग्निमें पहले उपसंहृत जलभागको जब छोड़ देती है तब पुनः रससे उस तरह पूर्ण हो जाती है, जिस तरह कूपमें ढील दिया गया मोट ॥ १० ॥

इस तरह रससे परिपूर्ण हुई वह कुण्डलिनी पहले उपसंहृत पार्थिव भागको जिस आकारमें परिणत करनेके लिए भावना करती है, योगशक्तिसे वैसा ही आकार बनाकर शीघ्र उसे धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

हड्डी आदिकी कल्पनाका प्रकार बतलाते हैं—'दृढ०' इत्यादिसे ।

और उसके बाद वही कुण्डलिनी दृढ़ भावनाके वशसे भीतर हड्डी आदिको

यथाभिमतमाकारं प्रमाणं वेत्ति राघव ।
जीवशक्तिरवाप्नोति सुमेर्वादितृणादि च ॥ १३ ॥
श्रुतं त्वया योगसाध्यमणिमाद्यर्थसाधनम् ।
ज्ञानसाध्यमिदानीं त्वं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ १४ ॥
एकं चिन्मात्रमस्तीह शुद्धं सौम्यमलक्षितम् ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं शान्तं न जगन्न जगत्क्रिया ॥ १५ ॥
तच्चिनोत्यात्मनात्मानं सङ्कल्पोन्मुखतां गतम् ।
यदा तदा जीव इति प्रोक्तमाविलतां गतम् ॥ १६ ॥

इस तरह प्राप्त हो जाती है, जिस तरह माताके गर्भमें विद्यमान कललोंमें * स्थित अस्थि, हाथ, पैर आदि अङ्कुरोंकी आधारभूत अगम्य अत्यन्त सूक्ष्म बीजशक्ति ॥ १२ ॥

हे राघव, अपनी इच्छाके अनुसार वह जीवशक्ति सुमेरु आदिके तुल्य महान् या तृण आदिके तुल्य लघु आकार या परिमाणकी भावना करती है तदनुसार सुमेरु आदि या तृणादिरूप हो जाती है ॥ १३ ॥

योगसिद्धिके अनुसार कहे गये स्थूल और सूक्ष्म भावप्राप्तिक्रमोंका उपसंहार कर उनसे विलक्षण प्रकृतमें परमोपयोगी ज्ञानसाध्य क्रमका श्रवण कराते हैं—'श्रुतम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, योगसे साध्य अणिमादि पदार्थोंका साधन आप सुन चुके, अब श्रवणभूषण ज्ञानसाध्य क्रम आप सुनिये ॥ १४ ॥

एक, शुद्ध, सौम्य, अलक्षित, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर और शान्त चिन्मात्र वस्तु इस संसारमें है और न यह जगत् है न इसकी कोई क्रिया है ॥ १५ ॥

वह चिन्मात्र जब अभ्याससे अपनेको स्वयं सङ्कल्पकी ओर उन्मुख करता है उस समय कलुषताको प्राप्त हुआ 'जीव' कहा जाता है ॥ १६ ॥

---

* कलल = गर्भाशयमें रज और वीर्यकी वह अवस्था, जिसमें एक पतली झिल्ली-सी बन जाती है और जो कलनके उपरान्त होती है। सुश्रुतके अनुसार जब ऋतुमती स्त्रीका स्वप्नमैथुन द्वारा रज उसके गर्भाशयमें प्रवेश करता है, तब भी उससे हड्डी आदिसे रहित एक बुलबुला-सा बनकर रह जाता है, वह भी कलल कहलाता है।

असत्यमेव सङ्कल्पभ्रमेणेदं शरीरकम् ।
जीवः पश्यति मूढात्मा बालो यक्षमिवोद्धतम् ॥ १७ ॥
यदा तु ज्ञानदीपेन सम्यगालोक आगतः ।
सङ्कल्पमोहो जीवस्य क्षीयते शरदभ्रवत् ॥ १८ ॥
शान्तिमायाति देहोऽयं सर्वसङ्कल्पसंक्षयात् ।
तदा राघव निःशेषं दीपस्तैलक्षये यथा ॥ १९ ॥
निद्राव्यपगमे जन्तुर्यथा स्वप्नं न पश्यति ।
जीवो हि भाविते सत्ये तथा देहं न पश्यति ॥ २० ॥
अतत्त्वे तत्त्वभावेन जीवो देहावृतः स्थितः ।
निर्देहो भवति श्रीमान् सुखी तत्त्वैकभावनात् ॥ २१ ॥
अनात्मनि शरीरादावात्मभावनमङ्ग यत् ।
सूर्याद्यालोकदुर्भेदं हार्दं तद्दारुणं तमः ॥ २२ ॥
आत्मन्येवाऽऽत्मभावेन सर्वव्यापि निरञ्जनम् ।
चिन्मात्रममलोऽस्मीति ज्ञानादित्येन नश्यति ॥ २३ ॥

और वही जीव असत्य ही इस शरीरको सङ्कल्पभ्रमसे उस तरह देखता है, जिस तरह मूढात्मा बालक उद्धत यक्षको ॥ १७ ॥

जब ज्ञानदीपसे उत्तम प्रकाश हो जाता है तब इस जीवका सङ्कल्प-मोह उस तरह क्षीण हो जाता है, जिस तरह शरत्कालमें मेघ ॥ १८ ॥

हे राघव, तब सङ्कल्पके क्षयसे यह स्थूल शरीर सर्वथा उस तरह शान्तिको प्राप्त हो जाता है, जिस तरह तैलका क्षय होनेपर दीपक ॥ १९ ॥

निद्राका नाश होनेपर जैसे प्राणी स्वप्न नहीं देखता, वैसे ही सत्यका साक्षात्कार होनेपर जीव देहको नहीं देखता ॥ २० ॥

अतत्त्वभूत शरीर आदिमें तत्त्वकी भावनासे यह जीव देहसे आवृत होकर स्थित रहता है और एक ब्रह्मतत्त्वकी भावनासे देहशून्य श्रीमान् और सुखी रहता है ॥ २१ ॥

हे रामभद्र, अनात्म शरीर आदिमें जो आत्माकी भावना है वह हृदयगत भयङ्कर तम है । वह सूर्य आदिके प्रकाशसे दूर नहीं किया जा सकता ॥ २२ ॥

तब किस सूर्यसे उसका नाश होता है, उसे कहते हैं—'आत्मन्येवा०' इत्यादिसे ।

अन्ये च विदितात्मानो भावयन्ति यथैव यत् ।
तत्तथैवाऽऽशु पश्यन्ति दृढभावनया तया ॥ २४ ॥
दृढभावानुसन्धानाद्विमूढा अपि राघव ।
विषं नयन्त्यमृतताममृतं विषतामपि ॥ २५ ॥
एवं यथा यदेवेह भाव्यते दृढभावनात् ।
भूयते हि तदेवाऽऽशु तदित्यालोकितं मुहुः ॥ २६ ॥
सत्यभावनदृष्टोऽयं देहो देहो भवत्यलम् ।
दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः ॥ २७ ॥

आत्मामें ही आत्मभावनासे 'सर्वव्यापक, निरञ्जन और निर्मल चिन्मात्र मैं ही हूँ' इस ज्ञानरूपी सूर्यसे ही नष्ट होता है ॥ २३ ॥

इस ज्ञानसिद्धिके दृढ़ हो जानेपर भी जीवन्मुक्त महात्माओंको ऐच्छिक विनोदके लिए स्थूलसूक्ष्म प्रातिभासिक देहकी कल्पना सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'अन्ये च' इत्यादिसे ।

अन्य तत्त्वज्ञानी महात्मा लोग जिस पदार्थकी जिस रीतिसे भावना करते हैं, वे उस पदार्थको उसी रीतिसे शीघ्र अपनी उस दृढ़ भावनाके बलसे देख लेते हैं ॥ २४ ॥

हे राघव, दृढ़ भावनाके अनुसन्धानसे विमूढ़ (विषकीट आदि) प्राणी भी विषको अमृतके समान आहाररूपमें पहुँचा देते हैं और अमृतको भी यानी अमृतके समान दुग्ध, अन्न आदिको भी 'इनमें विष मिला हुआ है' इस दृढ़ भावनासे विष बना डालते हैं । तात्पर्य यह है कि विषको अमृत समझकर पी जाते हैं और अमृतको भी विष समझकर छोड़ देते हैं ॥ २५ ॥

इस तरह दृढ़ भावनासे जिस प्राणीके द्वारा जिस पदार्थकी जिस रीतिसे भावना की जाती है, शीघ्र वह प्राणी उसी रीतिसे वही बन जाता है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनेक उदाहरण इस संसारमें देखे गये हैं ॥२६॥

सत्यकी भावनासे देखा गया यह शरीर ठीक शरीर हो जाता है और असत्यकी भावनासे देखा गया यही शरीर ब्रह्माकाशताको प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ॥

अणिमादिपदप्राप्तौ ज्ञानयुक्तिरिति श्रुता ।
भवता साधुना राम युक्तिमन्यामिमां शृणु ॥ २८ ॥
रेचकाभ्यासयोगेन जीवः कुण्डलिनीगृहात् ।
उद्धृत्य योज्यते यावदामोदः पवनादिव ॥ २९ ॥
त्यज्यते विरतस्पन्दो देहोऽयं काष्ठलोष्टवत् ।
देहेऽपि जीवेऽपि मतावासेचक इवाऽऽदरः ॥ ३० ॥
स्थावरे जङ्गमे वाऽपि यथाऽभिमतयेच्छया ।
भोक्तुं तत्सम्पदं सम्यग्जीवोऽन्तर्विनिवेश्यते ॥ ३१ ॥
इति सिद्धिश्रियं भुक्त्वा स्थितं चेत्तद्वपुः पुनः ।
प्रविश्यते स्वमन्यद्वा यद्यचात विरोचते ॥ ३२ ॥

वह ब्रह्माकाशता ही इसकी निरतिशय अणिमादि सर्वसिद्धियाँ है, इस अभिप्रायसे उपसंहार करते हैं—'अणिमादि०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अणिमादि पदकी प्राप्तिमें साधु-स्वभाव आपने इस प्रकारसे ज्ञानयुक्ति तो सुन ली, अब आप यह दूसरी युक्ति यानी दूसरेके शरीरमें प्रविष्ट होकर भोगप्राप्ति कैसे होती है, यह युक्ति सुनिये ॥ २८ ॥

सर्वप्रथम पूर्व देहके परित्यागमें उपाय बतलाते हैं—'रेचकाभ्यास०' इत्यादिसे ।

जिस तरह पवनसे पुष्पमेंसे मोद खींचकर घ्राणेन्द्रियमें सम्बद्ध किया जाता है उस तरह रेचकके अभ्यासरूप योगसे कुण्डलिनीरूप घरसे बाहर निकालकर ज्यों ही दूसरे शरीरमें जीव सम्बद्ध किया जाता है, त्यों ही यह शरीर परित्यक्त हो जाता है, जीवरहित यह देह नैकविध चेष्टाओंसे निवृत्त होकर काठ और मिट्टीके ढेलेके सदृश जड़ हो जाती है । जैसे सिंचन करनेवाला पुरुष अपने हाथमें लिये हुए जलपूर्ण कुम्भसे जिस वृक्ष और लताको सींचनेकी इच्छा करता है उसे ही सींचता है, वैसे ही अपनी रुचिके अनुसार देह, जीव, बुद्धि, स्थावर और जङ्गम सबमें भी उनकी सम्पत्तिका भोग करनेके लिए अपना जीव प्रवेशित किया जाता है और उनमें आदर करता है ॥ २९-३१ ॥

उक्त प्रणालीसे परदेहमें सिद्धिश्रीका उपभोगकर अवस्थित हुआ योगी यदि अपना पहला शरीर विद्यमान रहा तो उसमें प्रविष्ट हो जाता है और यदि न रहा

देहादयस्तथा बिम्बान् व्याप्नवत्याखिलानथ ।
संविदा जगदापूर्य सम्पूर्ण स्थीयतेऽथवा ॥ ३३ ॥

ज्ञात्वा सदाभ्युदितमुज्झितदोषमीशो
यद्यद्यथा समभिवाञ्छति चित्प्रकाशः ।
प्राप्नोति तत्तदचिरेण तथैव राम
सम्यक् पदं विदुरनावरणत्वमेव ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चूडालोपाख्याने अणिमादिलाभयोगोपदेशो नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥८२॥



तो दूसरे शरीरमें जबतक उसकी रुचि रहती है, तबतक उसमें प्रविष्ट होकर स्थित रहता है ॥ ३२ ॥

अथवा यह भी एक बात हो सकती है—परदेहमें उपभोगके बाद योगी अपने अन्तःकरणमें विपुलतासम्पादन द्वारा समस्त जगत्को व्याप्त कर स्थावर-जङ्गम समस्त देह आदि प्रतिबिम्बोपाधि, उन स्थावर आदि उपाधियोंमें पड़े हुए प्रतिबिम्बभूत जीव, बिम्बभूत चैतन्यकी उपाधिरूप सत्त्व आदि गुण एवं सत्त्वादि गुणोंसे युक्त चैतन्यरूप बिम्ब—इन सभीको व्याप्त करनेवाली अपनी आत्म-संवित्तिसे पूर्णात्मना होकर स्थित रहता है ॥ ३३ ॥

उपसंहार करते हैं—'ज्ञात्वा' इत्यादिसे ।

रामभद्र, योगरूप ऐश्वर्यसे सम्पन्न जीवात्मारूप चित्प्रकाश सदा उदित सनातन स्वप्रकाशस्वरूप सर्वविध दोषशून्य आत्म-तत्त्वको जानकर जो भी कुछ जैसा चाहता है वह वैसा ही उसे तत्काल प्राप्त कर लेता है, इसलिए तत्त्वज्ञ लोग छोटी-छोटी सिद्धियोंको अधिक महत्त्व नहीं देते, किन्तु अनावरणतारूप निरतिशयानन्द उत्तम पदको ही महत्त्व देते हैं, यों अनुभवी लोग कहते हैं ॥ ३४ ॥

बयासी सर्ग समाप्त

त्र्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अणिमादिगुणैश्वर्ययुक्ता सा नृपभामिनी ।
एवं बभूव चूडाला घनाभ्यासवती सती ॥ १ ॥
जगामाऽऽकाशमार्गेण विवेशाऽम्बुधिकोटरम् ।
चचार वसुधापीठं गङ्गेवाऽमलशीतला ॥ २ ॥
क्षणमप्यगता भर्तुर्वक्षसश्चेतसस्तथा ।
सर्वेषूवास राज्येषु लक्ष्मीरिव जगत्सु च ॥ ३ ॥
आकाशगामिनी श्यामा विद्युत्प्रारम्भभूषणा ।
बभ्राम मेघमालेव गिरिमालामहीतले ॥ ४ ॥

तिरासी सर्ग

[चूडालाकी सिद्धिका वैभव, राजा शिखिध्वजका अज्ञान तथा गुरुके उपदेशकी सफलतामें किराटका आख्यान]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त रीतिसे प्राणधारणादिके घनाभ्याससे युक्त वह राजपत्नी सती चूडाला अणिमादि सिद्धियोंके गुणोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो गई ॥ १ ॥

उसके ऐश्वर्यका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'जगामा०' इत्यादिसे ।

मोहरूप कालुष्य और तीनों तापोंका उपशम (नाश) हो जानेसे गङ्गाकी नाईं विमल और शीतल वह चूडाला कभी आकाश मार्गसे गमन करती थी, कभी समुद्रके कोटरमें प्रवेश करती थी तथा अपनी इच्छाके अनुसार कभी इस पृथिवीके ऊपर विचरण करती थी ॥ २ ॥

उसके कल्पित कायव्यूहादि ऐश्वर्यका वर्णन करते हैं—'क्षणम०' इत्यादिसे ।

वह अपने पतिके वक्षःस्थल तथा चित्त से क्षणभरके लिए भी अलग नहीं होती थी तथा सब राज्यों एवं सम्पूर्ण भुवनोंमें लक्ष्मीकी नाईं निवास करती थी ॥ ३ ॥

बिजलीके उन्मेषकी नाईं चमक रहे आभूषणोंसे युक्त वह श्यामा चूडाला

काष्ठं तृणोपलं भूतं खं वातमनलं जलम् ।
निर्विघ्नमविशत्सर्वं तन्तुर्मुक्ताफलं यथा ॥ ५ ॥
मेरोरुपरि शृङ्गाणि लोकपालपुराणि च ।
दिग्व्योमोदररन्ध्राणि विजहार यथासुखम् ॥ ६ ॥
तिर्यग्भूतपिशाचाद्यैः सह नागामरासुरैः ।
विद्याधराप्सरःसिद्धैर्व्यवहारं चकार सा ॥ ७ ॥
यत्नेन तं च भर्तारमात्मज्ञानामृतं प्रति ।
बहुशो बोधयामास चूडाला न विवेद सः ॥ ८ ॥
कलाविदग्धा मुग्धा च बालेयं गृहिणी मम ।
इत्येवं केवलं राजा स चूडालां विवेद ताम् ॥ ९ ॥
एतावतापि कालेन तामेवं गुणशालिनीम् ।
बालो विद्यामिव नृपश्चूडालां न विवेद सः ॥ १० ॥

आकाशगामिनी होकर उस तरह घूमती-फिरती थी, जिस तरह गिरिमालाओंसे युक्त पृथिवीपर श्यामा मेघमाला ॥ ४ ॥

काष्ठ, तृण, पत्थर, भूत, आकाश, वायु, अग्नि और जल सबमें निर्विघ्नतापूर्वक उसने, मोतियोंमें सूतकी नाईं, प्रवेश किया ॥ ५ ॥

सुमेरु पर्वतके ऊपर चोटियोंपर, लोकपालोंके नगरोंमें तथा दिशा और आकाशके उदरमें जितने भुवन-छिद्र प्रसिद्ध हैं उन सबोंमें उसने सुखपूर्वक विहार किया ॥ ६ ॥

पशु-पक्षी, भूत, पिशाच आदि; नाग, देव, असुर, विद्याधर; अप्सरा और सिद्ध पुरुषोंके साथ उसने सम्भाषण आदि व्यवहार किये ॥ ७ ॥

और बड़े यत्नके साथ, अनेक बार उस चूडालाने अपने स्वामीको ज्ञानामृतका उपदेश दिया, परन्तु वह कुछ भी समझ न सका ॥ ८ ॥

उस चूडालाके विषयमें—सम्पूर्ण कलाओंमें विदग्धा, मुग्धा तथा यह मेरी गृहिणी है, केवल इतना ही वह राजा शिखिध्वज जानता था ॥ ९ ॥

इतना लम्बा समय निकल जानेपर भी इस तरह अनेक अणिमादि सिद्धिरूप गुणोंसे सुशोभित उस चूडालाको वह राजा उस तरह नहीं जान पाया, जिस तरह वेदाध्ययन करते समय बालक वेदविद्याको गुणशालिनी यानी सम्पूर्ण पुरुषार्थोंमें अनुकूल अर्थप्रकाशन आदि गुणोंसे शोभित नहीं जान पाता ॥ १० ॥

साऽप्यलब्धात्मविश्रान्तेस्तां सिद्धिश्रियमात्मनः ।
दर्शयामास नो राज्ञः शूद्रस्येव मखक्रियाम् ॥ ११ ॥

श्रीराम उवाच

महत्याः सिद्धयोगिन्यास्तस्या अपि शिखिध्वजः ।
यत्नेन प्राप नो बोधं बुध्यतेऽन्यः कथं प्रभो ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम् ।
ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव राघव ॥ १३ ॥
न श्रुतेन न पुण्येन ज्ञायते ज्ञेयमात्मनः ।
जानात्यात्मानमात्मैव सर्पः सर्पपदानि व ॥ १४ ॥

आत्मविश्रान्ति न पाये हुए राजाको उस चूड़ालाने भी अपनी अणिमादि सिद्धियोंकी वह अलौकिक श्री उस तरह नहीं दिखलायी, जिस तरह शूद्रको यज्ञक्रिया नहीं दिखलायी जाती ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, बहुत बड़ी सिद्धयोगिनी उस चूडालाके भी यत्नसे जब राजा शिखिध्वजको ज्ञान प्राप्त न हो सका, तब भला दूसरेको कैसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है ? ॥ १२ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, गुरुजी द्वारा उपदेश प्राप्त करनेका क्रम तो केवल 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (आत्मविज्ञानके लिए गुरुके ही समीप पहुँचे) इत्यादि शास्त्रीय मर्यादाका पालनमात्र ही है, अतः वह अनधिकारी पुरुषमें जबरदस्ती ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता । हे राघव, ज्ञानका कारण तो शिष्यकी विशुद्ध बुद्धि ही है ॥ १३ ॥

तर्कादि अनात्मशास्त्रोंमें प्रवीणता, किसी पुण्यसे यानी चित्तशुद्धिके अङ्गभूत श्रौत कर्मवर्गसे अपना तत्त्वभूत ज्ञेय ब्रह्म नहीं जाना जाता—इतर वस्तुओंकी तरह विषयीभूत नहीं किया जाता । तात्पर्य यह हुआ कि जैसे काम्य पुण्य कर्मोंसे बिना विचारके ही स्वर्ग मिल जाता है, वैसे हजारों पुण्य कर्म करनेपर भी बिना आत्मविचारके ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । किन्तु तर्कादि अनात्मशास्त्रोंमें प्रवीणता तथा निष्काम पुण्य कर्म—इन दोनोंसे आत्मविचारके उत्पन्न हो जानेपर चरमवृत्तिमें आरूढ़ हुआ आत्मा ही आत्माको उस तरह जानता है जिस तरह सर्प सर्पबिलको जानता है ॥ १४ ॥

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते वाऽथ मुने कथमेतज्जगत्स्थितौ ।
क्रमो गुरूपदेशाख्यः स्वात्मज्ञानस्य कारणम् ॥ १५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अत्यन्तकृपणः कश्चित्किराटो धनधान्यवान् ।
अस्ति विन्ध्याटवीकक्षे कुटुम्बी ब्राह्मणो यथा ॥ १६ ॥
तस्यैकदा निपतिता गच्छतो विन्ध्यजङ्गले ।
एका वराटिका राम तृणजालकसंवृते ॥ १७ ॥
कार्पण्यात् स प्रयत्नेन सर्वं तृणतुषादिकम् ।
कपर्दिकार्थमभितो दुधाव दिवसत्रयम् ॥ १८ ॥
कपर्दिकाः स्युर्भवता चत्वारोऽष्टौ च कालतः ।
ततः शतं सहस्रं च सहस्रे चेति चेतसा ॥ १९ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, जब ऐसी स्थिति विद्यमान है, तब भला आप ही बतलाइये कि इस जगत्की स्थितिमें स्वात्मज्ञानका कारण गुरूपदेशका क्रम है, यह किस तरह उपपन्न होगा ॥ १५ ॥

स्थूलारुन्धतीन्यायसे शिष्यकी बुद्धिको आत्मामें व्यस्त कर गुरुका उपदेश ज्ञानका कारण होता है, यह कहनेके लिए महाराज वसिष्ठजी किराटोपाख्यान कहते हैं—अत्यन्तकृपणः' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, विन्ध्याचलके प्रदेशमें धनधान्यसे सम्पन्न अत्यन्त कृपण कोई एक किराट (देहाती बनिया) उस तरह रहता था, जिस तरह कोई एक सपरिवार ब्राह्मण रहता हो ॥ १६ ॥

हे श्रीरामजी, विन्ध्याचलके जंगलमें जाते हुए उसकी एक कौड़ी किसी तृणसमूहोंसे संवृत स्थानमें गिर पड़ी ॥ १७ ॥

अपनी कृपणताके कारण उस एक कौड़ीके लिए यह बड़े प्रयत्नसे तीन दिनतक चारों ओर तृण-फूस आदि सबकी सफाई करता रहा ॥ १८ ॥

वह किस अभिप्रायसे एक कौड़ी इतने परिश्रमसे ढूँढ़ रहा था, यह बतलाते हैं—'कपर्दिकाः' इत्यादिसे ।

यदि यह कौड़ी मेरे हाथमें आ जाय तो इस एक कौड़ीसे मैं कोई चीज

कलयन् जङ्गले दीनो रात्रिंदिवमतन्द्रितः ।
जनहाससहस्राणि बुबुधे न परन्तु सः ॥ २० ॥
ततो दिनत्रयस्यान्ते तेन तस्माच्च जङ्गलात् ।
पूर्णेन्दुबिम्बप्रतिमो लब्धश्चिन्तामणिर्महान् ॥ २१ ॥
तं प्राप्य तुष्टहृदयः समागम्य गृहं सुखम् ।
प्राप्ताखिलजगद्भूतिः शान्तसर्वतया स्थितः ॥ २२ ॥
एवं यथा किराटेन कपर्दान्वेषणेन तत् ।
रत्नं लब्धं जगन्मूल्यमहोरात्रमखेदिना ॥ २३ ॥
तथा श्रुतोपदेशेन स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
अन्यदन्विष्यते चाऽन्यल्लभ्यते हि गुरुक्रमात् ॥ २४ ॥

खरीद लेता और उसे बेच डालता, उस खरीद और बिक्रीसे चार कौड़ियाँ मेरे पास हो जातीं। उनसे फिर समय पाकर आठ, उनसे सौ, सौ कौड़ियोंसे हजार और फिर उनसे दो हजार कौड़ियां मेरे पास आ जातीं; यों अपने चित्तसे विचार करता हुआ वह कृपण रात-दिन आलस्यरहित होकर जङ्गलमें उस एक कौड़ीकी खोज करता रहा। उसने मनुष्योंके हजारों हास्योंकी तनिक भी परवा न की ॥ १९,२० ॥

तदनन्तर तीन दिनके कड़े परिश्रमके अन्तमें उसी जङ्गलमें उसने पूर्ण चन्द्र-बिम्बके सदृश एक महान् चिन्तामणिकी प्राप्ति की ॥ २१ ॥

उस चिन्तामणिको ले करके सन्तुष्टहृदय हो घर आकर वह कृपण किराट सांसारिक सम्पूर्ण भोगसमूहोंकी प्राप्ति हो जाने तथा अपने सब दारिद्र्यादि अनर्थोंकी समाप्ति हो जानेके कारण सुख-पूर्वक स्थित रहने लगा ॥ २२ ॥

इस तरह रात-दिन घोर परिश्रमके साथ खेदरहित किराटने जिस तरह एक कौड़ी खोजनेमें चिन्तामणि रत्न पाया, जिसका मूल्य जगत् ही है, उसी तरह श्रुतोपदेशसे स्वात्मज्ञान भी प्राप्त किया जाता है। गुरुके उपदेश-क्रमसे दूसरे शब्दजन्य परोक्ष ज्ञानका अन्वेषण होता है और दूसरे नित्य अपरोक्ष आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ २३, २४ ॥

ब्रह्म सर्वेन्द्रियातीतं श्रुतादीन्द्रियसंविदः।
तेनोपदेशादनघ नाऽऽत्मतत्त्वमवाप्यते ॥ २५ ॥
गुरूपदेशं च विना नाऽऽत्मतत्त्वागमो भवेत्।
केन चिन्तामणिर्लब्धः कपर्दान्वेषणं विना ॥ २६ ॥
तत्त्वस्याऽस्य महार्थस्य गुरूपकथनं गतम्।
अकारणं कारणतां मणेरिव कपर्दकः ॥ २७ ॥
पश्य राघव मायेयं मोहनी महतामपि।
अन्यदन्विष्यते यत्नादन्यदासाद्यते फलम् ॥ २८ ॥
अन्यत्करोति पुरुषः फलमन्यदेव
प्राप्नोति यत्त्रिषु जगत्स्ववलोक्यते च।

हे पापशून्य श्रीरामजी, ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियोंसे अतीत है और उपदेशसे तो शब्द-श्रवण एवं श्रवण-जन्य शाब्दबोध आदि इन्द्रियसम्प्रयोज्य चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। गुरुके उपदेशसे जो शाब्दवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उनमें अत्यन्त स्वच्छ चरमवृत्तिमें नित्य अपरोक्ष ब्रह्मका जो स्फुरण होता है वह तो शिष्योंकी स्वच्छ-बुद्धि और ब्रह्मस्वभाव प्रयुक्त ही होता है। इसलिए गुरुके उपदेशसे आत्मतत्त्व प्राप्त नहीं किया जाता अर्थात् आत्मज्ञानमें उपदेश कारण नहीं है ॥ २५ ॥

तथापि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि श्रुतिसे गुरुका उपदेश आवश्यक है, यह कहते हैं—'गुरूपदेशम्' इत्यादिसे।

फिर भी गुरुके उपदेशके बिना आत्मतत्त्वकी प्राप्ति भी नहीं होती, क्योंकि कौड़ीकी खोजके बिना चिन्तामणिकी प्राप्ति किसने की ॥२६॥

इस महान् अर्थरूप तत्त्वमें गुरुका उपदेश कारण न होता हुआ भी कारणताको उस तरह प्राप्त हो गया है, जिस तरह चिन्तामणिका कदर्पक। तात्पर्य यह है कि कौड़ीके अन्वेषणकी नाईं मनन द्वारा गुरुका उपदेश, कारण न होता हुआ भी, अवश्य फलके दर्शनसे कारणताको प्राप्त हो गया है ॥ २७ ॥

हे राघव, देखिये—यह माया महात्माओंको भी मोहित करनेवाली है। बड़े यत्नसे अन्य वस्तुका अन्वेषण किया जाता है और फल प्राप्त होता है कोई दूसरा ही ॥ २८ ॥

इस तरह कारण न होता हुआ भी गुरूपदेश आदि आत्मलाभमें कारण

तस्मादनन्तरभवस्य जगद्भ्रमस्य
श्रेयोऽतिवाहनमसङ्गमनिच्छयैव ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे किराटोपाख्यानं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततः शिखिध्वजो राजा तत्त्वज्ञानपदं विना ।
आजगाम परं मोहं तमोन्धत्वमिवाऽप्रजः ॥ १ ॥

बन गया है। आत्मलाभ हो जानेपर तो प्रारब्धशेषसे जो कुछ जागतिक भ्रम अवशिष्ट रहता है उसका एकमात्र उपेक्षासे ही नाश सिद्ध है, इसलिए उसके नाशके लिए किसी तरहके दूसरे यत्नकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं—'अन्यत्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मनुष्य बड़े परिश्रमके साथ अन्य कार्य करता है और उस कार्यका फल उसे प्राप्त होता है अन्य ही। चूँकि तीनों जगत्में ऐसा ही देखा और सुना जाता है, इसलिए आत्मलाभके अनन्तर प्रारब्धशेष रहनेसे उपस्थित जागतिक भ्रमको असङ्ग और अनिच्छासे ढोते चलना ही कल्याणप्रद है ॥ २९ ॥

तिरासी सर्ग समाप्त ।

चौरासी सर्ग

[शिखिध्वजका वैराग्य, चूडालाका आश्वासन, रातमें राजा शिखिध्वजका सोई हुई अपनी प्रियाको छोड़ कर चुपचाप जङ्गलमें भाग जाना और मन्दराचलमें स्थिति—इन सबका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, उसके बाद राजा शिखिध्वज तत्त्वज्ञानरूप विश्रान्तिस्थानके बिना परम मोहको उस तरह प्राप्त हो गया, जिस तरह सन्ततिशून्य पुरुष शोकादिरूप तमसे अन्धताको ॥ १ ॥

दुःखाग्निदीपितमना मनागपि विभूतिषु ।
तास्वभीष्टोपनीतासु न रेमेऽग्निशिखास्विव ॥ २ ॥
एकान्तेषु दिगन्तेषु निर्झरेषु गुहासु च ।
आजगाम रतिं जन्तुर्मुक्तेषुर्व्याधतो यथा ॥ ३ ॥
राघव त्वमिवाऽशेषाः सान्त्वानुनयबोधनैः ।
प्रार्थितः कार्यते भृत्यैर्महीपो दिवसक्रियाः ॥ ४ ॥
नित्यमुद्दामवैराग्यः परिव्राडिव शान्तधीः ।
खिद्यते च महाभोगान् स भोक्तुं च श्रियं स्थितः ॥ ५ ॥
ददावतितरां दानं गोभूमिकनकादिकम् ।
देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च स्वजनेभ्यश्च मानद ॥ ६ ॥
चचार च तपः कर्तुं कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम् ।
परिबभ्राम तीर्थानि वनान्यायतनानि च ॥ ७ ॥

दुःखरूप अग्निसे सन्तप्त मनवाला वह शिखिध्वज सामन्त आदि प्रियवर्ग द्वारा लाई गई रत्नादि बहुमूल्य सम्पत्तियोंमें, अग्निशिखाकी नाईं, तनिक भी रमण नहीं करता था ॥ २ ॥

व्याध द्वारा बाण छोड़े जानेपर भी भाग्यवश घायल न हुआ हरिण व्याधसे डरकर जैसे एकान्त स्थलमें निवासके लिए प्रेम करता है वैसे ही वह राजा एकान्त दिगन्तोंमें, निर्झरोंमें और गुहाओंमें निवासके लिए प्रेम करने लगा ॥ ३ ॥

हे राघव, तुम्हारे समान सान्त्वन, अनुनय एवं बोधनसे भृत्यों द्वारा प्रार्थित वह राजा समस्त दिवसकर्मका सम्पादन करता था ॥ ४ ॥

प्रतिदिन उसका वैराग्य तीव्रतम होता जाता था, वह एक तरहसे संन्यासी-सा स्थित था, उसकी बुद्धि अत्यन्त शान्त थी, इसलिए बड़े-बड़े भोग और विषयोंका उपभोग करनेमें उसका चित्त खिन्न हो जाता था ॥ ५ ॥

हे मानद, उसने गो, भूमि, सुवर्ण आदिका देवताओं, ब्राह्मणों और स्वजनोंको खूब दान दिया ॥ ६ ॥

तप करनेके लिए कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतोंका आचरण किया । उसने तीर्थोंमें, वनोंमें और आश्रमोंमें परिभ्रमण किया ॥ ७ ॥

स तथापि विशोकत्वं न मनागपि लब्धवान् ।
अनिधानां खनन् भूमिं निधानार्थी निधिं यथा ॥ ८ ॥
रात्रिंदिवं महानेष शुष्यत्येव कृशानुना ।
चिन्तया चिन्तयामास संसारव्याधिभेषजम् ॥ ९ ॥
चिन्तापरवशो दीनो राज्यं स्वस्य विषोपमम् ।
महाविभवमप्यग्रे नाऽपश्यत्खिन्नया धिया ॥ १० ॥
अथैकदैकान्तगतां चूडालामङ्कमागताम् ।
इदं मधुरया वाचा समुवाच शिखिध्वजः ॥ ११ ॥

शिखिध्वज उवाच

भुक्तं राज्यं चिरं कालं भुक्ता विभवभूमयः ।
अधुनाऽस्मि विरागेण युक्तो गच्छामि काननम् ॥ १२ ॥
न सुखानि न दुःखानि नाऽऽपदो न च सम्पदः ।
क्रोडीकुर्वन्ति तन्वङ्गि मुनिं वननिवासिनम् ॥ १३ ॥

जिस प्रकार निधि चाहनेवाला पुरुष निधिशून्य भूमिको खोदकर निधि प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार वह राजा तप एवं अरण्यादिभ्रमण करनेपर भी शोकशून्य स्थितिको तनिक भी प्राप्त नहीं हुआ ॥ ८ ॥

रात-दिनकी चिन्तारूपी अग्निसे वह महान् भी राजा शिखिध्वज सूखने लगा और संसाररूपी व्याधिका औषध विचारने लगा ॥ ९ ॥

चिन्तापरवश होकर वह दीन बन गया। अपना राज्य उसे विषके सदृश मालूम पड़ने लगा। सामने बड़े-बड़े रखे गये विभवोंको भी खिन्न बुद्धिके कारण वह नहीं देख पाता था ॥ १० ॥

अनन्तर एकान्तमें स्थित और अङ्कारूढ़ चूडालासे वह शिखिध्वज राजा मधुर शब्दोंसे यह कहने लगा—॥ ११ ॥

शिखिध्वजने कहा—भद्रे, चिरकालपर्यन्त राज्यका उपभोग किया। तरह-तरहके विभवपूर्ण पदोंका भी भोग किया। अब मैं विरागसे युक्त हो गया हूँ, इसलिए अरण्यकी ओर जाता हूँ ॥ १२ ॥

हे तन्वङ्गि, अरण्यनिवासी मुनिको न सुख, न दुःख, न आपत्तियाँ और न सम्पत्तियाँ ही कुछ कर पाती हैं ॥ १३ ॥

न देशभङ्गसंमोहो न सङ्ग्रामे जनक्षयः ।
राज्याद्प्यधिकं मन्ये सुखं वननिवासिनाम् ॥ १४ ॥
स्तबकस्तनधारिण्यो रक्तपल्लवपाणयः ।
मञ्जरीजालहारिण्यो लोलशुभ्राम्बुदांशुकाः ॥ १५ ॥
स्वपरागाङ्गरागिण्यः कृतकौसुममण्डनाः ।
आसेव्यकाञ्चनशिलानितम्बतटशोभिताः ॥ १६ ॥
तरङ्गमौक्तिकप्रोतसरिन्मुक्तालतावृताः ।
लतावयस्यावलिता मुग्धमुग्धमृगात्मजाः ॥ १७ ॥
स्वभावोद्दामसौगन्ध्या वितीर्णफलभोजनाः ।
षट्पदश्रेणिनयनाः पुष्पापूरलताङ्गिकाः ॥ १८ ॥
आस्वाद्यस्यन्दतां याताः शीतलामलगात्रिकाः ।
रमयन्ति त्वमिव मां वनवीथ्यो वरानने ॥ १९ ॥

न तो उन्हें देशके विनाशसे कोई मोह होता है और न सङ्ग्राममें जनका क्षय ही होता है, इसलिए अरण्यवासी मुनियोंके सुखको राज्यकी अपेक्षा भी मैं अधिक मानता हूँ ॥ १४ ॥

अब वनराजिका चूडालाकी उपमासे वर्णन करते हैं—'स्तबक०' इत्यादि पाँच श्लोकोंसे ।

[हे वरानने, अब हमें तुम्हारे सदृश वनपङ्क्तियाँ ही रमण कराती हैं, वे वनपङ्क्तियाँ] स्तबकरूप स्तन धारण करती हैं, रक्त पल्लव ही उनके हाथ हैं, नानाविध मञ्जरियाँ ही उनके हार हैं, चञ्चल धवल मेघ ही उनके चीनाम्बर हैं । हैं । अपना पराग ही उनका अङ्गराग है, कुसुमोंसे वे अपना अलङ्कार निर्माण करती हैं । उपभोग करने योग्य सुवर्णशीलारूप नितम्बतटोंसे वे सुहावनी लगती हैं, वे तरङ्गरूप मोतियोंसे पिरोयी गई सरित्‌रूपी मुक्तालताओंसे परिवृत रहती हैं, उनके चारों ओर लतारूपी सखियाँ राजित रहती हैं, उनके शिशु मुग्ध-मुग्ध मृग हैं, वे स्वभावतः ही उत्कट सौगन्धसे परिपूर्ण रहती हैं, क्षुधितोंको भोजनके लिए निरन्तर फल प्रदान करती हैं, भ्रमरपङ्क्तियाँ ही उनके नेत्र हैं, कुसुमपूर्ण लताएँ ही उनके बाहु आदि अङ्ग हैं । तुम्हारे अधरके सदृश पानके योग्य तरङ्गपूर्ण झरनोंके रूपमें परिणत हुई वे निरन्तर शीतल और निर्मल गात्रोंसे अत्यंत

यथा विविक्तमेकान्ते मनो भवति निर्वृतम् ।
न तथा शशिबिम्बेषु न च ब्रह्मेन्द्रसद्मसु ॥ २० ॥
अस्मिन्सन्मन्त्रणे तन्वि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ।
भर्तुर्विघटयन्तीच्छां न स्वप्नेऽपि कुलस्त्रियः ॥ २१ ॥

चूडालोवाच

प्राप्तकालं कृतं कार्यं राजते नाथ नेतरत् ।
वसन्ते राजते पुष्पं फलं शरदि राजते ॥ २२ ॥
जराजरठदेहानां युक्तो वनसमाश्रयः ।
न यूनां त्वादृशामेव तेनैतन्मे न रोचते ॥ २३ ॥
यौवनेन महाराज न यावद्वयमुज्झिताः ।
पुष्पौघेणेव तरवस्तावच्छोभामहे गृहे ॥ २४ ॥

कमनीय लगती हैं, इसलिए हे सुमुखि, अब वनराजियाँ ही तुम्हारे सदृश मुझे रमण कराती हैं ॥ १५-१९ ॥

हे तन्वि, विरक्त हुआ मन जैसा एकान्तमें सुखानुभव करता है वैसा न तो शशिबिम्बोंमें और न ब्रह्मा एवं इन्द्रके आश्रय स्थानोंमें सुखानुभव करता है ॥२०॥

हे कोमलाङ्गि, यह जो मैंने वन जानेका उत्तम विचार किया है, उसमें तुम किसी प्रकारकी बाधा मत पहुँचाओ, क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ स्वप्नमें भी पतिकी इच्छाका विघटन नहीं करतीं ॥ २१ ॥

पतिको वैराग्य दृढ़ हुआ है या नहीं, इसकी परीक्षा कर रही चूडाला पहलेकी कामासक्तिका ही, अवस्थानुरूपता वर्णन द्वारा मानो अनुमोदन करती हुई स्थूणानिखनन न्यायसे, निरास करती है—'प्राप्त०' इत्यादिसे ।

चूडालाने कहा—हे नाथ, जिसके लिए समय आ चुका हो वही कार्य यदि किया जाय तो शोभित होता है, दूसरा नहीं । फूल वसन्तमें ही शोभता है और फल शरत्कालमें ही भला लगता है ॥ २२ ॥

वृद्धावस्थासे ठिठुरे हुए शरीरवाले पुरुषोंके लिए ही वनका आश्रय लेना युक्त है, परन्तु आपके सदृश युवकोंके लिए कदापि युक्त नहीं है, इसलिए आपका यह विचार मुझे पसन्द नहीं है ॥ २३ ॥

महाराज, पुष्पसमूहोंसे वृक्षोंकी नाईं जबतक हम लोग यौवनसे त्यक्त नहीं होते, तबतक घरमें ही शोभित रहें—निवास करें ॥ २४ ॥

पुष्पधाना पुष्पमितजरसा सह काननम् ।
समं गृहाद्गमिष्यामो हंसा इव सरोवरात् ॥ २५ ॥
अप्राप्तकालं नृपतेः प्रजापालनमुज्झतः ।
राजन्यस्यैव रन्ध्रस्य महदेनो भविष्यति ॥ २६ ॥
अप्राप्तकारिणं भूपं रोधयन्ति च वै प्रजाः ।
रोधयन्ति ह्यकार्येभ्यः प्रभुं भृत्याः परस्परम् ॥ २७ ॥

शिखिध्वज उवाच

अलमुत्पलपत्राक्षि विघ्नेनाऽभिमतस्य मे ।
विद्धि मां गतमेवेतो दूरमेकान्तकाननम् ॥ २८ ॥
बाला त्वमनवद्याङ्गि नाऽऽगन्तव्यं वनं त्वया ।
पुंसामपि हि मृद्वङ्गि दुर्विगाह्यो वनाश्रयः ॥ २९ ॥

पुष्पोंको धारण करनेवाली लताओंके मस्तकपर झूम रहे सफेद फूलोंसे उपमित बुढ़ापाके साथ यानी वृद्धावस्था आनेपर जब हम दोनोंके मस्तकके केश पुष्पयुक्त लताओंके समान बिलकुल सफेद हो जायँगे, तब हम दोनों एक ही साथ, सरोवरसे हंसोंकी नाईं, गृहसे निकलकर जंगलमें चल चलेंगे ॥ २५ ॥

हे राजन्, बिना समय आये प्रजापालनका त्याग कर रहे राजाको राज्य-विनाशनिमित्तक बहुत बड़ा पाप लगेगा ही ॥ २६ ॥

समयप्राप्तिके बिना कार्य करनेवाले राजाको प्रजाएँ अवश्य ही रोकती हैं और अकार्योंसे भृत्य अपने स्वामीको तथा स्वामी भृत्योंको, यों परस्पर रोकते ही हैं ॥ २७ ॥

इस तरह विचलित किये जानेपर भी अविचलित वैराग्यसे सम्पन्न राजा शिखिध्वज अपनी प्रियभार्या चूडालासे अनुनय करते हैं—'अलम्' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे कमलपत्राक्षि, मेरे अभिमत कार्यमें विघ्न मत डालो । अब तुम मुझे यहाँसे दूर एकान्त जङ्गलमें गया हुआ ही समझो ॥ २८ ॥

हे अनिन्दित अङ्गवाली, तुम अभी बिलकुल बच्ची हो, तुम्हें जङ्गलमें नहीं आना चाहिए, क्योंकि हे कोमलाङ्गि, जङ्गली प्रदेशमें प्रवेश पुरुषोंके लिए भी अतिकठिन है ॥ २९ ॥

समर्था न वनावासे योषितः कठिना अपि ।
कानने पुष्पमञ्जर्यः सोढुं शस्त्रालिमक्षमाः ॥ ३० ॥
भवत्या पालयन्त्येह राज्ये स्थातव्यमुत्तमे ।
कुटुम्बभारोद्वहनं पत्यौ याते व्रतं स्त्रियः ॥ ३१ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा दयितां राजा तामिन्दुवदनां वशी ।
उत्तस्थौ स्नातुमखिलं दिनकार्यं चकार च ॥ ३२ ॥
अथोज्झितप्रजाचेष्टो रविरस्ताचलं ययौ ।
शिखिध्वजो वनमिव समस्तजनदुर्गमम् ॥ ३३ ॥
संहृत्य विततं रूपं तमेवाऽनुययौ प्रभा ।
नाथं भवननिष्क्रान्तं चूडालेवाऽनुरागिणी ॥ ३४ ॥

कठोरसे भी कठोर अङ्गवाली स्त्रियाँ जङ्गलके निवासमें किसी तरह समर्थ नहीं हो सकतीं, क्या कहीं उपवनमें उत्पन्न पुष्पमञ्जरियाँ शस्त्रोंको सहन कर सकती हैं ॥ ३० ॥

यह जो तुमने कहा है कि समय प्राप्त हुए बिना प्रजापालनका त्याग करनेवाले राजाओंको राज्यविनाशनिमित्तक बहुत बड़ा पाप लगेगा सो इस दोषका परिहार भी तुम्हें ही करना पड़ेगा, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'भवत्या' इत्यादिसे ।

हे उत्तमे, प्रजाओंका भलीभाँति पालन करती हुई तुम राज्यमें स्थित रहना, क्योंकि पतिके चले जानेपर कुटुम्बके भारका उद्वहन करना स्त्रियोंका धर्म है ॥ ३१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, शशिमुखी उस अपनी दयितासे इतनी बातें कहकर जितेन्द्रिय राजा शिखिध्वज स्नान करनेके लिए उठ गया और उसने अपने सम्पूर्ण दैनिक कार्योंका सम्पादन किया ॥ ३२ ॥

इसके अनन्तर सब प्रजाओंकी चेष्टाओंका त्यागकर भगवान् सूर्य अस्ताचलको उस तरह चल पड़े, जिस तरह राजा शिखिध्वज अपनी सम्पूर्ण प्रजाओंकी चेष्टाओंका त्यागकर समस्त जनोंसे दुर्गम जङ्गलको ॥ ३३ ॥

अपने व्यापक रूपका उपसंहार कर अनुरागिणी प्रभा भी भगवान् सूर्यके

आययौ यामिनी श्यामा भुवनं भस्मधूसरम् ।
धृतव्योमापगं शर्वं संश्लेषा यमुनेव सा ॥ ३५ ॥
दिक्षु संध्याभ्रदन्तासु स्थितासु कृतमण्डलम् ।
तमालबालकाङ्कासु ज्योत्स्नाहासोदयाङ्कितम् ॥ ३६ ॥
गच्छतोरपरं पारं दम्पत्योर्मैरवं पदम् ।
देवोद्यानमयं रन्तुं दिनश्रीदिननाथयोः ॥ ३७ ॥
आगच्छतोरिदं पारं ह्यघतीक्ष्णकरोज्झितम् ।
निशानिशानायकयोर्दम्पत्योर्मैरवं पुनः ॥ ३८ ॥
तारागणोऽथ ददृशे विकीर्णो व्योमकुट्टिमे ।
मुक्तो मङ्गललाजानां दिग्वधूभिरिवाञ्जलिः ॥ ३९ ॥
चन्द्रानना तमःश्यामा श्रान्ता कुसुमहासिनी ।
यामिनी यौवनं प्राप सरोजमुकुलस्तनी ॥ ४० ॥

पीछे-पीछे उस तरह चली गई, जिस तरह राजमहलसे निकले हुए अपने स्वामीके पीछे-पीछे अनुरागिणी चूडाला ॥ ३४ ॥

भस्मसे (धूलिसे) धूसर भुवनके पास श्यामा (काली) रात्रि उस प्रकार आ गई, जिस प्रकार अपनी प्रियसखी गङ्गाको धारण किये हुए भगवान् शङ्करके पास स्वयं कामसे वशीभूत होकर आलिङ्गन करनेकी इच्छासे मानो यमुना आ गई हो ॥ ३५ ॥

सब दिशाओंके—सन्ध्याकालीन मेघरूपी दाँतोंसे युक्त तथा तमालरूपी बच्चोंको अपनी गोदमें लेकर यमुनाके चरित्रके अवलोकनसे मानो चाँदनीरूपी हाससे समन्वित तथा चारों ओर घेरा बाँधकर—स्थित होनेपर, दिनश्री और दिन-नाथरूपी दम्पतियोंके देवताओंके उद्यानमय मेरु पर्वतके उत्तरार्धमें रमण करनेके लिए चले जानेपर तथा घर्मरूपी पापों एवं तन्निमित्तक तीक्ष्ण किरणोंसे त्यक्त निशा और निशानायकरूपी दम्पतियोंके मेरु पर्वतके इस पारमें विहार करनेके लिए आ जानेपर, दिशारूपी स्त्रियों द्वारा फेंकी गई माङ्गलिक लावोंकी नाईं, आकाशरूपी फर्शके (गचके) ऊपर बिखरे हुए तारोंके गण दीख पड़े ॥ ३६–३९ ॥

चन्द्ररूपी आननसे सुशोभित, अन्धकारसे श्यामवर्णा, अपने प्रिय चन्द्रके

कृतसन्ध्यासमाचारः सह चूडालयेष्टया ।
सुष्वाप शयने भूयो मैनाक इव सागरे ॥ ४१ ॥
अथाऽर्धरात्रसमये देशे निःशब्दतां गते ।
घननिद्राशिलाकोशनिलीने सकले जने ॥ ४२ ॥
स तस्यां सम्प्रसुप्तायां शयने कोमलांशुके ।
भृशं निद्राविमूढायां भ्रमर्यामिव पङ्कजे ॥ ४३ ॥
तत्याज दयितां सुप्तामङ्काद्राजा शिखिध्वजः ।
स्वैरं स्वैरं मुखं राहोर्दिशं चान्द्रप्रभामिव ॥ ४४ ॥
उत्तस्थौ शयनाल्लीनवधूकार्धाञ्चलांशुकात् ।
सलक्ष्मीकान्तिलोलोर्मेर्हरिः क्षीरार्णवादिव ॥ ४५ ॥
वीरक्रमार्थं यामीति तत्रैवाऽनुचरव्रजम् ।
योजयित्वा जगामाऽसौ पुरान्निर्गत्य पूर्णधीः ॥ ४६ ॥

अन्वेषण तथा उनके उदयकी प्रतीक्षासे श्रान्त हुई, कुमुद आदि कुसुमोंसे हासवती तथा कमल कुड्मलरूपी स्तनोंसे सुशोभित रात्रि अपनी युवावस्थाके फलको प्राप्त हुई ॥ ४० ॥

सन्ध्याकालीन सब कार्योंका सम्पादन करके वह राजा शिखिध्वज अपनी प्रिय-पत्नी चूडालाके साथ शयनस्थानमें उस तरह गाढ़ सो गया, जिस तरह मैनाक पर्वत समुद्रमें ॥ ४१ ॥

इसके बाद आधी रातके समय जब सारा देश निःशब्दताको प्राप्त हो गया तथा जब सघननिद्रारूपी पाषाणकोशके भीतर सकल जन विलीन हो गये, तब उस राजा शिखिध्वजने, कमलके ऊपर सोई हुई निद्रासे अत्यन्त विमूढ़ भ्रमरीके समान, कोमल वस्त्रोंसे सुसज्जित पलंगपर सोई हुई उस चूडालाके निद्रासे अत्यन्त विमूढ़ हो जानेपर धीरे-धीरे अपनी गोदसे सोई हुई प्रियाको उस तरह त्याग दिया, जिस तरह राहुका मुख पूर्व दिशामें चन्द्रमाकी प्रभाको ॥ ४२-४४ ॥

वह राजा उस पलंगसे, जिसके ऊपर बिछाये गये चादरके आधे हिस्सेपर उसकी प्रिय पत्नी गाढ़ निद्रामें सोई हुई थी, उस तरह उठ गया ; जिस तरह लक्ष्मीकी कान्तियोंसे युक्त चञ्चल तरङ्गोंसे समन्वित क्षीरसागरसे भगवान् विष्णु उठ जाते हैं ॥ ४५ ॥

चोर आदि दुष्ट लोगोंको पकड़नेके लिए 'मैं बाहर जा रहा हूँ' यह कहकर

राज्यलक्ष्मि नमस्तुभ्यमित्युक्त्वा मण्डलाद्गतः ।
विवेशोग्रामरण्यानीमेको नद इवाऽर्णवम् ॥ ४७ ॥
घनान्धकारगुल्माढ्या क्षुद्रभूतौघकर्कशा ।
साऽरण्यानीनिशा सार्धं समं तेनाऽतिवाहिता ॥ ४८ ॥
प्रातः शून्यामरण्यानीं स नीत्वा विततं दिनम् ।
सममर्केण कस्याञ्चिद्विशश्राम वनावनौ ॥ ४९ ॥
भानावदृश्यतां याते तत्र स्नानादिपूर्वकम् ।
किञ्चित्फलादिकं भुक्त्वा तां निनाय तमस्विनीम् ॥ ५० ॥
पुनः प्रातः पुराण्युर्वीमण्डलानि गिरीन्नदीः ।
जवादुल्लङ्घयामास राजा द्वादशशर्वरीः ॥ ५१ ॥
ततो मन्दरशैलस्य तटस्थं जनदुर्गमम् ।
प्राप काननमत्यन्तदूरस्थजनतापुरम् ॥ ५२ ॥

तथा अपने अनुचरोंको भी उसी कार्यमें नियुक्त करके वह निःस्पृह राजा शिखिध्वज नगरसे निकलकर चल दिया ॥ ४६ ॥

हे राजलक्ष्मि, तुम्हें नमस्कार है, यों कहकर वह अकेला अपने मण्डलसे चला और चलते-चलते एक भयङ्कर बहुत बड़े जङ्गलमें उस तरह प्रविष्ट हो गया, जिस तरह, नद महासमुद्रमें ॥ ४७ ॥

घनान्धकार और गुल्मोंसे पूर्ण तथा क्षुद्र जीवोंसे अत्यन्त कर्कश उस बड़े जङ्गल तथा रात्रिको उसने साथ-साथ पार किया ॥ ४८ ॥

और सबेरा होनेपर वह उस शून्य बड़े जङ्गलमें खूब चलता रहा। चलते-चलते संम्पूर्ण विस्तृत दिन गवाँकर भगवान् सूर्यदेवके साथ ही कहीं जङ्गलकी भूमिमें उसने विश्राम किया ॥ ४९ ॥

भगवान् भास्करके अदृश्य हो जानेपर वहाँ स्नान, सन्ध्यावन्दन आदि कर लेनेके बाद कुछ फलादि खा करके उसने वह रात गवाँ दी ॥ ५० ॥

फिर प्रातःकाल होनेपर बड़े वेगसे चलता हुआ वह राजा शिखिध्वज बड़े-बड़े नगरों, मण्डलों, पर्वतों तथा नदियोंको बारह दिनमें लाँघ गया ॥ ५१ ॥

तदनन्तर वह मन्दराचलके तटपर स्थित मनुष्योंसे दुर्गम एक वनमें पहुँचा, जहाँसे जनसमूह और नगर बहुत ही दूर स्थित थे ॥ ५२ ॥

रटत्प्रणालसलिलवापीबलितपादपम् ।
शीर्णवेद्यालयज्ञातभूतपूर्वद्विजाश्रमम् ॥ ५३ ॥
क्षुद्रप्राणिविनिर्मुक्तसिद्धसेव्यलतालयम् ।
आपूर्णपादपलतं प्राणवृत्तिकरैः फलैः ॥ ५४ ॥
तत्रैकस्मिन् समे शुद्धे स्थले सलिलमालिते ।
शीतले शाद्वलश्यामे स्निग्धे सफलपादपे ॥ ५५ ॥
स मञ्जरीभिर्वल्लीभिः स चकारोटजालयम् ।
प्रावृट्कालः सविद्युद्भिर्नीलाभ्रैरिव पञ्जरम् ॥ ५६ ॥
मसृणं वैणवं दण्डं फलभोजनभाजनम् ।
अर्घपात्रं पुष्पभाण्डमक्षमालां कमण्डलुम् ॥ ५७ ॥
कन्थां शीतापनोदाय बृसीं चैव मृगाजिनम् ।
आनीयाऽयोजयत्तस्मिन्मठिकामन्दिरे नृपः ॥ ५८ ॥
यत्किञ्चिदन्यद्वा वस्तु योग्यं तापसकर्मणि ।
तत्तत्र स्थापयामास जगतीव क्रमं विधिः ॥ ५९ ॥

जहाँपर वापियों द्वारा, जिससे बाँसोंकी नालियोंसे शब्दपूर्वक जल बह रहे थे, अत्यन्त बलवान् बनाये गये असंख्य वृक्ष उपस्थित थे ; जहाँपर जीर्ण-शीर्ण वेदियों और घरोंसे सहजमें यह अनुमान हो रहा था कि यहाँपर पहले ब्राह्मणोंके अवश्य ही अनेक आश्रम थे ॥ ५३ ॥

और जो क्षुद्र जन्तुओंसे शून्य, सिद्ध लोगोंसे सेवनीय, लताघरोंसे समन्वित तथा प्राणवृत्ति करनेवाले फलोंसे नीचेसे ऊपरतक परिपूर्ण वृक्षों और लताओं से भरा हुआ था ॥ ५४ ॥

उसी जङ्गलमें किसी एक चौरस, शुद्ध, जलसे वेष्टित, शीतल, हरे-हरे घासोंसे युक्त प्रदेशोंसे श्याम, स्निग्ध, तथा फलसम्पन्न वृक्षोंसे युक्त स्थानमें मञ्जरीसहित लताओंसे उस राजाने एक पर्णशालारूपी घर उस तरह बनाया, जिस तरह वर्षाकाल बिजली सहित नील मेघोंसे पञ्जर बनाता है ॥ ५५, ५६ ॥

चिक्कन बाँसका दण्ड, फल-भोजन पात्र, अर्घपात्र, पुष्पपात्र, कमण्डलु, रुद्राक्षकी माला, शीतसे अपनी रक्षाके लिए कन्था, और व्रतियोंका आसन मृगचर्म—ये सब वस्तुएँ लाकर उस राजाने अपने मठिकारूपी मन्दिरमें सजा दीं ॥५७,५८॥

इनके अतिरिक्त और भी दूसरी कोई वस्तु, जो तापसकर्मोपयोगी मालूम

संध्यापूर्वं जपं प्रातः प्रहरे स तदाऽकरोत् ।
पुष्पोच्चयं द्वितीये तु स्नानं देवार्चनं ततः ॥ ६० ॥
पश्चाद्वनफलं किञ्चिद्वनकन्दं बिसादि च ।
भुक्त्वा जप्यपरो भूत्वा निनायैको निशां वशी ॥६१॥
इति दिवसमखेदं मन्दरोपान्तकच्छे
विरचित उटजेऽन्तर्मालवेशो निनाय ।
नवनृपतिविलासं तं न सस्मार कं वा
स्फुरति हृदि विवेके राज्यलक्ष्म्यो हरन्ति ॥६२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजप्रव्रज्या नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥८४॥



पड़ी, राजाने लाकर अपनी कुटियामें उस तरह स्थापित की, जिस तरह विधाता अपने द्वारा सृष्ट ब्रह्माण्डमें व्यवहार-साधनोंको स्थापित करता है ॥ ५९ ॥

उसने दिनके प्रथम प्रहरमें प्रातःकाल सन्ध्यापूर्वक जप, द्वितीय प्रहरमें पुष्प आदिका संचय और उसके बाद स्नान, देवार्चन आदि कार्य किये ॥ ६० ॥

तदनन्तर जङ्गली फल, कन्दमूल तथा कमलदण्डादि खाकर जपमें तत्पर होकर जितेन्द्रिय उस राजाने अकेले रात बितायी ॥ ६१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मन्दराचलके तटपर विरचित पर्णशालाके भीतर स्थित उस मालवेश शिखिध्वजने खेदशून्य होकर जपादि करते हुए अनेक दिन बिता दिये । उसने पूर्वानुभूत अपने नूतन राजविलासोंका तनिक भी स्मरण नहीं किया, क्योंकि हृदयमें विवेकके स्फुरित होनेपर राज्यलक्ष्मियाँ वाञ्छाजनन द्वारा क्या किसी दरिद्रको भी अपने वशमें कर सकती हैं ? तात्पर्य यह कि वे किसी भी विवेकीको वशमें नहीं कर सकतीं ॥ ६१, ६२ ॥

चौरासी सर्ग समाप्त

पञ्चाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं शिखिध्वजः पूर्णमठिकायां वने स्थितः ।
इदानीं शृणु चूडाला सा किं कृतवती गृहे ॥ १ ॥
तत्राऽर्द्धरात्रसमये दूरं याते शिखिध्वजे ।
हरिणीग्रामसुप्तेव चूडाला बुबुधे भयात् ॥ २ ॥
अपश्यत्पतिनिर्हीना शयनं शून्यतां गतम् ।
अभास्करमपूर्णेन्दु शान्तशोभमिवाऽम्बरम् ॥ ३ ॥
उत्तस्थौ किञ्चिदाम्लानवदना खेदशालिनी ।
कुसिक्तेव महावल्ली निरुत्साहाऽङ्गपल्लवा ॥ ४ ॥

पचासी सर्ग

[सोकर उठी हुई चूडाला द्वारा राजाका अन्वेषण, मार्गमें दर्शन, राजाके भावी अर्थों का अवलोकन तथा समय पाकर ज्ञान दिलाना—इन सबका वर्णन]

कही गई बातोंका अनुवाद करके आगे कही जानेवाली कथासे मेल दिखलाते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह राजा शिखिध्वज एक तपस्वीको जिन वस्तुओंकी अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है उन सब वस्तुओंसे पूर्ण अपनी जङ्गलकी कुटियामें स्थित रहा, अब उस चूडालाने घरमें क्या किया ? सो आप सुनिये ॥ १ ॥

उस आधी रातके समय राजा शिखिध्वजके बहुत दूर निकल जानेपर, गाँवमें सोई हुई हरिणीकी नाईं, वह चूडाला भयसे अचानक जाग गई ॥ २ ॥

पतिसे त्यक्त उस चूडालाने अपने शून्य शयनको, सूर्यसे शून्य तथा अपूर्ण चन्द्रमासे युक्त आकाशकी नाईं, शोभाहीन देखा ॥ ३ ॥

कुछ मलिनवदन, खेदयुक्त तथा उत्साहहीन, अङ्गरूपी पल्लवोंसे युक्त वह चूडाला, क्षार और कर्दम आदिसे मिश्रित जलसे सींची गई महावल्लीकी नाईं, अपने बिस्तरसे उठी ॥ ४ ॥

न प्रसन्ना न विमला बभूवाऽऽकुलतां गता ।
दिनश्रीरिव नीहारधूसरा सा व्यतिष्ठत ॥ ५ ॥
क्षणं शय्योपविष्टैव चिन्तयामास चिन्तया ।
कष्टं राज्यं प्रभुस्त्यक्त्वा वनं यातो गृहादिति ॥ ६ ॥
तन्मयेहाऽद्य किं कार्यं तत्समीपं व्रजाम्यहम् ।
भर्तैव गतिरुद्दिष्टा विधिना प्रकृता स्त्रियः ॥ ७ ॥
इति सञ्चिन्त्य भर्तारमनुगन्तुं समुत्थिता ।
चूडाला वातरन्ध्रेण निर्गत्याऽम्बरमाययौ ॥ ८ ॥
बभ्रामाऽम्बरमार्गेण वातस्कन्धेन योगिनी ।
कुर्वती सिद्धसार्थस्य मुखेनाऽन्येन्दुविभ्रमम् ॥ ९ ॥
ददर्शाऽथ यथायातं रात्रौ खड्गधरं पतिम् ।
भ्रमन्तमेकमेकान्ते वेतालसमयोदितम् ॥१०॥

व्याकुलताको प्राप्त वह चूडाला प्रसन्न न थी, विमल न थी, किन्तु नीहारसे धूसर दिनकी शोभाकी नाईं वह अवस्थित थी ॥ ५ ॥

अपनी शय्यापर बैठी हुई ही चिन्तासे व्याकुल उस चूडालाने क्षणभरतक विचार किया कि—बड़े दुःखकी बात है कि आज मेरे पति राज्य छोड़कर घरसे जङ्गलमें चले गये ॥ ६ ॥

इसलिए अब मुझे यहाँ क्या करना है, मैं भी अपने स्वामीके समीप चलूँ, क्योंकि शास्त्र द्वारा पति ही स्त्रीका प्रथम शरणस्थान विहित है। तात्पर्य यह कि पतिके न रहनेपर ही पुत्र आदि स्त्रीके शरणस्थान कहे गये हैं ॥ ७ ॥

यों विचार करके अपने पतिके समीप जानेके लिए चूडाला उठी, वह छोटी खिड़कीके रास्ते निकलकर आकाशमें चली गई ॥ ८ ॥

सिद्ध समूहोंको अपने मुखसे द्वितीय चन्द्रभ्रान्ति पैदा करती हुई वायु द्वारा उस योगिनीने आकाशमार्गसे भ्रमण किया ॥ ९ ॥

अनन्तर रातमें खड्ग लेकर जा रहे तथा एकान्त स्थानमें वेतालोंके घूमने योग्य समयमें यानी रातमें प्रकाशमान अकेले भ्रमण कर रहे अपने पतिको उसने देखा ॥ १० ॥

ताद्दशं पतिमालोक्य स्थित्वा गगनकोटरे ।
भविष्यच्चिन्तयामास सर्वं भर्तुरखण्डितम् ॥११॥
यथा येन यदा यत्र यावत्कार्यं यथोदयम् ।
यथा च निर्वृतिः स्फारा गन्तव्या तेन राघव ॥१२॥
अवश्यं भवितव्यं तद्भर्तुर्दृष्ट्वा पुरः स्थितम् ।
तदेव संवादयितुं गमनात्सा न्यवर्तत ॥१३॥
आस्तां ममाऽद्य गमनं कालेनाऽतिचिरेण हि ।
मयाऽस्य पार्श्वे गन्तव्यं नियतेरेष निश्चयः ॥१४॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला प्रविश्याऽन्तःपुरं पुनः ।
सुष्वाप शयने शम्भोः शिरसीवैन्दवी कला ॥१५॥
केनचित्कारणेनाऽसौ गतः सम्प्रति भूपतिः ।
इति पौरं जनं सर्वमाश्वास्याऽतिष्ठदङ्गना ॥१६॥

आकाशकोटरमें स्थित होकर उस तरह अकेले निर्जन वनमें भटक रहे अपने स्वामीको देखकर वह चूडाला भलीभाँति अपने स्वामीके भविष्यत्कालीन सब पदार्थोंके विषयमें विचार करने लगी ॥ ११ ॥

हे राघव, जैसे, जिस निमित्तसे, जिस देश और जिस कालमें, जितने कार्यका जिस रीतिसे अभ्युदय और जिस प्रकार निरतिशय भूमानन्दविश्रान्ति प्राप्त करनी होगी—इत्यादि जो कुछ अपने पतिका अवश्य भवितव्य था, सबको योगबलसे प्रत्यक्ष देखकर वह चूडाला उसीके अनुकूल आचरण करनेके लिए आकाशसे लौट आई ॥ १२, १३ ॥

अब आगे मेरा गमन न हो, क्योंकि अति चिरकालके बाद मुझे अपने पतिके पास जाना पड़ेगा, यही नियतिका निश्चय है ॥ १४ ॥

यों सोचकर चूडालाने फिर अपने अन्तःपुरमें प्रवेश कर, भगवान् शङ्करके मस्तकपर चन्द्रकलाकी नाईं, अपने बिस्तरपर आकर सो गई ॥ १५ ॥

किसी कारणविशेषसे यह राजा इस समय कहीं बाहर चले गये हैं—यों सब नागरिक जनोंको आश्वासन देकर वह अङ्गना निश्चिन्त अवस्थित हो गई ॥ १६ ॥

राज्यं ररक्ष भर्तुस्तत्क्रमेण समदर्शनात् ।
यथा कालेन केदारं पक्वं कलमगोपिका ॥१७॥
तयोस्तदावहत्कालो दम्पत्योः स्थितयोस्तथा ।
अदृष्टान्योन्यमुखयो राज्यकाननपालयोः ॥१८॥
जगामाऽथ दिनं पक्षो मासोऽथ ऋतुवत्सरः ।
शिखिध्वजस्य विपिने चूडालायाः स्वमन्दिरे ॥१९॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन वर्षाण्यष्टादशाङ्गना ।
चूडालोवास सदने वनगुच्छे शिखिध्वजः ॥२०॥
अथ यातेषु बहुषु वर्षेषु जरसाऽऽवृते ।
शिखिध्वजे महाशैलतटकोटरवासिनि ॥ २१ ॥
भर्तुः कषायपाकं तदालक्ष्य पालितं चिरात् ।
तदा तस्याऽथ यातेषु वर्षेषु जरसा वने ॥ २२ ॥

जिस तरह धानकी रखवाली करनेवाली स्त्री समयसे पके हुए धानके खेतकी रक्षा करती है, उसी तरह वह चूडाला समदृष्टिसे अपने स्वामीके उसी क्रमसे राज्यकी रक्षा करने लगी ॥ १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय एक दूसरेका मुख न देखनेवाले, राज्य और जङ्गलके पालनमें तत्पर हुए उस तरहसे स्थित उन दोनों स्त्री और पुरुषका काल व्यतीत हो रहा था ॥ १८ ॥

राजा शिखिध्वजका जङ्गलमें तथा चूडालाका अपने घरमें दिनके पीछे पक्ष, पक्षके पीछे मास और मासके पीछे वर्ष बीतता चला जा रहा था ॥ १९ ॥

हे रामभद्र, अधिक यहां आपसे कहनेकी क्या आवश्यकता ? अट्ठारह वर्षतक अङ्गना चूडालाने अपने सदनमें और राजा शिखिध्वजने वनके गुच्छोंमें निवास किया ॥ २० ॥

इसके बाद अनेक वर्षोंके लगातार व्यतीत हो जानेपर महाशैल तटके कोटरमें निवास कर रहे राजा शिखिध्वजको वृद्धावस्थाने आकर घेर लिया ॥२१॥

अपने स्वामीकी रागादि वासनाओंके पाकको दृष्टिमें रखकर चूडालाने उतने कालकी खूब प्रतीक्षा की । इसके बाद वृद्धावस्थासे युक्त राजा शिखिध्वजके अनेक वर्ष वनमें जब व्यतीत हो गये ॥ २२ ॥

तदा तस्यात्मकार्यस्य भवितव्यतया तथा ।
भर्तुः समीपगमने मम कालोऽयमित्यथ ॥ २३ ॥
सञ्चिन्त्य मन्दरोपान्तं गन्तुं बुद्धिं चकार सा ।
चचारान्तःपुराद्रात्रौ ततार नभसः पथम् ॥ २४ ॥
जगाम वातस्कन्धेन गच्छन्ती खे ददर्श सा ।
कल्पवृक्षांशुकच्छन्नरत्नस्तवकभूषिताः ।
नन्दनोद्याननिलया रक्ताः सिद्धाभिसारिकाः ॥ २५ ॥
परामृष्टेन्दुशकलान्प्रालेयकणवर्षिणः ।
सिद्धोत्तमाचसौगन्ध्यान् स्पर्शयामास मारुतान् ॥ २६ ॥
चन्द्रबिम्बामृताम्भोधेर्महावीचिपरम्पराम् ।
अपश्यन्निर्मलज्योत्स्नामम्बरान्तरतां गता ॥ २७ ॥
मेघान्तरेण गच्छन्ती मेघलग्नाश्च विद्युतः ।
अवियुक्ताः स्वभर्त्रा सा भूयो भूयो व्यलोकयत् ॥ २८ ॥
उवाच चाऽऽत्मनैवाऽहो यावज्जीवं शरीरिणाम् ।

तब पतिके बोधनरूप आत्मकार्यकी वैसी भवितव्यतासे उसको यह विचार हुआ कि पतिके समीप गमनका मेरा यही समय है ॥ २३ ॥

ऐसा सोचकर उसने मन्दराचलके वनमें जानेके लिए बुद्धि की और रातमें अन्तःपुरसे निकलकर आकाशमार्गमें उड़ गई ॥ २४ ॥

वायुमण्डलमें होकर वह गई। आकाशमार्गमें जा रही उसने कल्पवृक्षके वस्त्रोंसे आच्छन्न तथा रत्नस्तवकोंसे विभूषित, नन्दनवनकी निवासिनी अपने प्रेमियोंमें अनुरक्त सिद्धोंकी अभिसारिकाओंका अवलोकन किया ॥ २५ ॥

चन्द्रकलाओंका स्पर्श करनेवाले, हिमकणके वर्षी, उत्तम सिद्धोंके द्वारा मन्दारमाला, हरिचन्दन, कस्तूरी आदिकी सुगन्धताका ग्रहण करनेवाले मारुतोंका उसने स्पर्श किया ॥ २६ ॥

चन्द्रबिम्बरूपी पीयूषसिन्धुकी महातरङ्गोंकी परम्पराभूत निर्मल ज्योत्स्नाका—आकाशके बीचमें जाकर—उसने अवलोकन किया ॥ २७ ॥

मेघोंके भीतरसे जा रही उस चूडालाने मेघोंमें संलग्न तथा अपने स्वामीसे अवियुक्त विद्युतोंका उसने बार-बार अवलोकन किया ॥ २८ ॥

और अपने मन-ही-मन वह बोलने लगी—अहो, जीवनपर्यन्त देहधारियोंका

न स्वभावः शमं याति ममाऽप्युत्कण्ठितं मनः ॥ २९ ॥
कदा मृगेन्द्रस्कन्धं तं प्रणयप्रवणं पुनः ।
पश्यामि कान्तमित्युक्तं ममाऽप्युत्कण्ठते मनः ॥ ३० ॥
मञ्जरीजालवलितास्तरुं वल्ल्यः स्वकं पतिम् ।
न मुञ्चन्ति क्षणमिति ममाऽप्युत्कण्ठते मनः ॥ ३१ ॥
यथेयमग्रजा कान्तमेति सिद्धाभिसारिका ।
तथा कदाऽहमेष्यामि ममाऽपीति मनः स्थितम् ॥ ३२ ॥
इमे मन्दाश्च मरुत एते च शशिनः कराः ।
वनराजय एताश्च मामप्युत्कण्ठयन्त्यहो ॥ ३३ ॥
हे चित्ताज्ञ मुधैवाऽन्तः किं त्वं ताण्डवितं स्थितम् ॥ ३४ ॥
सा व्योमनिर्मला साधो क्व ते याता विवेकिता ।
अथवा चित्त भर्तारं स्वं प्रत्युत्कण्ठसे सखे ॥ ३५ ॥

स्वभाव कभी शान्त नहीं होता । आज मेरा भी मन उत्कण्ठित हो ही गया ॥ २९ ॥

अहो, प्रेममें प्रवण तथा मृगेन्द्रकी नाईं स्कन्धवाले अपने कान्तको पुनः मैं कब देखूँगी ? अहो, विवेकादिके द्वारा बोधित हो रहा भी मेरा मन आज यों उत्कण्ठित हो रहा है ॥ ३० ॥

अहा, मञ्जरियोंके जालोंसे वेष्टित लताएँ अपने वृक्षरूपी पतिको क्षणभरके लिए भी नहीं छोड़तीं, इसलिए मेरा भी मन उत्कण्ठित हो रहा है ॥ ३१ ॥

जैसे देवयोनिमें उत्पन्न यह सिद्धाभिसारिका (अप्सरा) अपने कान्तके पास जा रही है, वैसे ही मैं भी कब अपने कान्तके पास जाऊँगी ? इसी विचारमें मेरा भी मन लगा हुआ है ॥ ३२ ॥

अहो, ये मन्द-मन्द पवन, ये चन्द्रकिरण और ये वनकी राजियाँ मुझे भी उत्कण्ठित कर रही हैं ॥ ३३ ॥

हे अज्ञ चित्त, व्यर्थ ही हृदयमें ताण्डवित होकर तू क्यों स्थित है ॥ ३४ ॥

हे साधो, तुम्हारी आकाशकी तरह निर्मल विवेकिता कहाँ चली गई ? अथवा हे सखे चित्त, तुम्हारा यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि तुम अपने स्वामीके प्रति उत्कण्ठित हो रहे हो ॥ ३५ ॥

तिष्ठोत्कण्ठाभिवलितं किं समुत्कण्ठितेन मे ।
किं वृथोत्कण्ठसे वामे भर्ता यातो जरां भवेत् ॥ ३६ ॥
तपस्वी कृशगात्रश्च भवेन्निर्वासनस्तथा ।
मनो राज्याद्यभोगेभ्यो मन्येऽस्यामूलतां गतम् ॥ ३७ ॥
वासनालतिका प्रावृण्नदी नद्गता यथा ।
एकान्तरत एकात्मा नीरसः शान्तवासनः ॥ ३८ ॥
मन्ये भवति मे भर्ता शुष्कवृक्षसमास्थितिः ।
तथापि चित्त कोत्कण्ठा भवतोत्कण्ठयान्वितम् ॥
मतिमुद्बोध्य योगेन श्लेषयिष्याम्यहं पतिम् ॥ ३९ ॥
प्रमृष्टकलनं भर्तुः समीकृत्य मनो मुनेः ।
राज्य एव नियोक्ष्यामि निवत्स्यावः सुखं चिरम् ॥४०॥

हे चित्त, तुम उत्कण्ठासे परिपूर्ण होकर बैठे रहो, तुम्हारे उत्कण्ठित होनेसे मेरा क्या ? [अब अपने शरीरसे कहती है—'किम्' इत्यादि] हे स्त्रीशरीर, जिसके आलिङ्गनके लिए समुत्सुक हो रहे हो, वह तुम्हारा स्वामी तुम्हारी तनिक भी परवा न कर अब बिलकुल वृद्ध हो गया होगा ॥ ३६ ॥

वह तपस्वी कृशशरीर तथा वासनाशून्य हो गया होगा । मैं समझती हूँ, अब उसका मन राज्यादिके अभोगके लिए निर्मूलताको पहुँच गया होगा ॥३७॥

तथा जैसे वर्षाकालकी क्षुद्र नदी महानदमें मिलकर उससे पृथक् नहीं रहती, वैसे ही उसकी वासनारूप लतिका महान् आत्मामें मिलकर अब उससे पृथक् नहीं रहती होगी । वह एकान्तमें आसक्त अतएव एकात्मा हो गया होगा, उसकी इच्छाएँ समाप्त हो गई होंगी तथा वह वासनाओंसे शून्य हो गया होगा ॥ ३८ ॥

मैं समझती हूँ, यद्यपि मेरा स्वामी अब शुष्क वृक्षके समान स्थितिवाला हो गया होगा यानी वह बिलकुल बोधशून्य हो गया होगा, तथापि हे चित्त, तुम्हें उत्कण्ठित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ! क्योंकि मैं योगसे यानी आगे कहे जानेवाले उपायसे स्वामीकी बुद्धिको तत्त्वज्ञ बनाकर प्रारब्धशेषोपभोगकी उत्कण्ठासे युक्त उन्हें तुम्हारे साथ संश्लिष्ट करा दूँगी, तुम उत्कण्ठा मत करो ॥३९॥

उसकीको स्पष्ट कहती है—'प्रमृष्ट०' इत्यादिसे ।

अहो नु चिरकालेन मनोरथमिमं शुभम् ।
अहमासादयिष्यामि यद्भर्ता समचिन्तितः ॥ ४१ ॥

समग्रानन्दवृन्दानामेतदेवोपरि स्थितम् ।
यत्समानमनोवृत्तिसङ्क्रमास्वादने सुखम् ॥ ४२ ॥

इति चिन्तयती व्योम्ना चूडालोल्लङ्घ्य पर्वतान् ।
देशानब्दान् दिगन्तांश्च प्राप मन्दरकन्दरम् ॥ ४३ ॥

अदृश्यैव नभःस्थैव प्रविवेश वनान्तरम् ।
वात्येव पादपलतास्पन्दवेद्यगमागमा ॥ ४४ ॥

वनैकदेशे कस्मिंश्चित्कृतपर्णोटजे पतिम् ।
दृष्ट्वा योगेन बुबुधे देहान्तरमिवाऽऽस्थितम् ॥ ४५ ॥

हारकेयूरकटककुण्डलादिविभूषितः ।
अभवन्मेरुकान्तिर्यस्तमेवाऽत्र ददर्श सा ॥ ४६ ॥

मैं अपने मुनि हुए स्वामीके मनको सम बनाकर राज्य करनेमें ही नियुक्त करूँगी और उसके बाद हम दोनों सुखसे चिरकालतक निवास करेंगे ॥ ४० ॥

अहो, चिरकालके बाद मैं इस शुभ मनोरथको प्राप्त करूँगी, क्योंकि मैं अपने स्वामीको तत्त्वबोधसे अपने ही समान आभ्यन्तर और बाह्य अर्थोंमें विचार-युक्त प्राप्त करूँगी ॥ ४१ ॥

जो समान मनकी वृत्तियोंके सङ्क्रमके आस्वादनमें सुख मिलता है वही समग्र आनन्दसमूहोंके ऊपर स्थित है ॥ ४२ ॥

यों चिन्तन कर रही चूडाला आकाशमार्गसे पर्वतों, देशों, मेघों तथा दिगन्तोंको लाँघ करके मन्दराचलकी कन्दरामें जा पहुँची ॥ ४३ ॥

अदृश्यरूपसे आकाशमें स्थित हुई ही वह चूडाला जङ्गलके मध्यमें उस तरह प्रविष्ट हो गई, जिस तरह वृक्षों और लताओंके स्पन्दसे अनुमेय गमना-गमनवाली वात्या ॥ ४४ ॥

वनके किसी एक कोनेमें पर्णकुटी बनाकर ठहरे हुए अपने पतिको देखकर उसने समाहित चित्तसे अन्य शरीरमें स्थित-जैसा समझा ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पहले हार, केयूर, कटक और कुण्डल आदिसे

कृशाङ्गं कृष्णवर्णं च जीर्णपर्णमिव स्थितम् ॥ ४७ ॥
कज्जलाम्बुभरस्नातं भृङ्गीशमिव निस्पृहम् ।
चीराम्बरधरं शान्तमेकाकिनमवस्थितम् ॥ ४८ ॥
स्थलीनिषण्णं पुष्पाणि ग्रथयन्तं जटाङ्कितम् ।
तमालोक्याऽनवद्याङ्गी चूडाला पीवरस्तनी ॥ ४९ ॥
किञ्चिज्जातविषादैवमुवाचाऽऽत्मनि चेतसा ।
अहो नु विषमं मौर्ख्यं तदनात्मज्ञतात्मकम् ॥ ५० ॥
एवंविधाः समायान्ति दशा मौर्ख्यप्रसादतः ।
अयं स राजा लक्ष्मीवान्यतो मेऽतिप्रियः पतिः ॥५१॥
हृदि मोहघनक्षुण्णामिमामभ्यागतो दशाम् ।
तदवश्यमिहाऽद्यैव नाथं विदितवेद्यताम् ।
नयाम्यत्र न संदेहो भोगमोक्षश्रियं तथा ॥ ५२ ॥
इदं रूपं परित्यज्य रूपेणाऽन्येन केनचित् ।
सकाशमस्य गच्छामि बोधं दातुमनुत्तमम् ॥ ५३ ॥

विभूषित सुमेरुके समान कान्तियुक्त रहता था, उसीको यहां उस चूडालाने कृशगात्र, कृष्णवर्ण और जीर्णपत्र-सा अवस्थित देखा ॥ ४६, ४७ ॥

काजलमय जलमें स्नान किये हुए-जैसे, इच्छाओंसे शून्य, भगवान् शङ्करके प्रसिद्ध द्वारपाल भृङ्गीशके सदृश अवस्थित, वल्कल वस्त्रधारी, शान्त, अकेले जमीनपर बैठकर देवताओं और अतिथियोंकी पूजाके लिए फूलोंकी माला गूँथ रहे, जटाओंसे चिह्नित उस अपने पतिको देखकर सर्वाङ्गसुन्दरी तथा स्थूल स्तनवाली चूडाला कुछ उदास-सी होकर अपने मन-ही-मन यों कहने लगी—अज्ञानभरी कैसी विषम मूर्खता है ॥ ४८—५० ॥

मूर्खताके प्रसादसे ऐसी ही दशाएँ आया करती हैं । चूँकि यह लक्ष्मीवान् राजा मेरा अतिप्रिय पति हृदयमें गाढ़ मोहसे आहत इस दशाको प्राप्त हो गया है, इसलिए इस पर्णकुटीमें आज ही अवश्य अपने नाथको आत्मज्ञानी बनाऊँगी तथा भोग और मोक्षश्री दिलाऊँगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥५१,५२॥

इस रूपको छोड़कर अन्य किसी दूसरे रूपसे सर्वोत्तम ज्ञान देनेके लिए अब मैं इनके समीप चलती हूँ ॥ ५३ ॥

बालेयं मम कान्तेति मदुक्तं न करोत्यलम् ।
तस्मात्तापसरूपेण बोधयामि पतिं क्षणात् ॥ ५४ ॥

भर्ता कषायपाकेन परिपक्वमतिः स्थितः ।
चेतस्यस्याऽद्य विमले स्वं तत्त्वं प्रतिबिम्बति ॥ ५५ ॥

इति सञ्चिन्त्य चूडाला बभूव द्विजदारकः ॥ ५६ ॥

ईषद्ध्यानाद्गतान्यत्वं क्षणादम्बुतरङ्गवत् ।
पपात विपिने तस्मिन्द्विजपुत्रकरूपिणी ॥ ५७ ॥

भर्तुरध्याजगामाऽग्रं मन्दस्मितलसन्मुखी ।
ददर्श द्विजपुत्रं तं पुरो यातं शिखिध्वजः ॥ ५८ ॥

इस रूपका क्यों परित्याग कर देना चाहिए, इसपर कहते हैं—'बालेयम्' इत्यादिसे ।

यदि मैं इसी रूपसे इसके पास जाती हूँ तो यह बाला मेरी कान्ता है, यह समझकर मेरा कहना अच्छी तरह नहीं करेगा, इसलिए तपस्वीके रूपसे सामने जाकर क्षणभरमें ही पतिको बोधित करती हूँ ॥ ५४ ॥

पहले ही तपस्वीके वेषसे उसे क्यों नहीं बोधित किया, इसपर कहते हैं—'भर्ता' इत्यादिसे ।

अब मेरा स्वामी रागादि वासनाओंके परिपाकसे परिपक्वमति होकर स्थित है । इसके विमल चित्तमें आत्मतत्त्व भलीभाँति प्रतिबिम्बित होगा, यों विचारकर चूडाला ब्राह्मणपुत्र बन गई ॥ ५५, ५६ ॥

वह चूडाला ब्राह्मणकुमार कैसे बन गई, यह बतलाते हैं—'इषद्ध्याना' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त अग्नि और चन्द्रकी धारणारूप किञ्चित् ध्यानसे एक ही क्षणमें जलतरङ्गकी नाई पुरुषरूपताको प्राप्त हो गई और ब्राह्मणकुमारका रूप धारण करके वह चूडाला उसी जंगलमें जा गिरी ॥ ५७ ॥

मन्द मुसकानसे शोभ रहे मुखवाली वह चूडाला अपने स्वामीके आगे आ धमकी और शिखिध्वजने अपने सामने आकर खड़े हुए उस ब्राह्मणकुमारको देखा ॥ ५८ ॥

वनान्तरादुपायातं तपोमूर्तिमिवाऽऽस्थितम् ।
द्रवत्कनकगौराङ्गं मुक्ताहारविभूषितम् ॥ ५९ ॥
शुक्लयज्ञोपवीताङ्गं शुक्लाम्बरयुगावृतम् ।
कमण्डलुधरं कान्तं पुरो यातं शिखिध्वजः ॥ ६० ॥
व्याप्तप्रकोष्ठद्विगुणेनाऽक्षसूत्रेण चारुणा ।
भूमावलग्नगात्रेण किष्कुमात्रेण च स्थितम् ॥ ६१ ॥
कुन्तलव्याप्तमूर्धानं सालिमालमिवाऽम्बुजम् ।
भासयन्तं प्रदेशं तं शारीरैर्दीप्तिमण्डलैः ॥ ६२ ॥
कुण्डलाभूषितमुखं नवमर्कमिवोदितम् ॥
शिखासम्प्रोतमन्दारं शृङ्गस्थेन्दुमिवाऽचलम् ॥ ६३ ॥
कान्तोपशान्तवपुषमूर्जितं विजितेन्द्रियम् ।
हिमाभभस्मतिलकं भूषितालोकसुन्दरम् ॥ ६४ ॥
मेरुहेमतटीलीनपूर्णेन्दुमिव चञ्चलम् ।
तमालोक्य द्विजसुतं समुत्तस्थौ शिखिध्वजः ॥ ६५ ॥

जो एक दूसरे जङ्गलसे आए हुये मूर्तिमान् तपके सदृश अवस्थित, पिघल रहे सुवर्णके समान गौराङ्ग, मोतियोंके हारसे विभूषित, शुक्ल यज्ञोपवीतसे विराजमान, शुक्ल दो वस्त्रोंसे आवृत, कमण्डलधारी तथा अत्यन्त कान्तिसे युक्त सामने आकर खड़ा था ॥ ५९, ६० ॥

मणिबन्धसे नीचे द्विगुण बाह्य प्रदेशको व्याप्त करनेवाली, हस्तप्रमाण, बहुत लम्बी न होनेके कारण भूमिमें न लगी हुई सुन्दर अक्षमालासे सुशोभित, भ्रमरोंकी मालासे व्याप्त कमलकी नाईं कुन्तलों (सिरके बालों) से व्याप्त मस्तकवाले, शरीरके दीप्तिमण्डलोंसे उस प्रदेशको प्रकाशित कर रहे, कुण्डलोंसे विभूषित मुखवाले, नवीन उदित सूर्यके समान, अपनी शिखामें मन्दारकी माला पिरोये हुए, अतएव जिसके शिखरपर चन्द्रमा स्थित है ऐसे पर्वतकी नाईं स्थित, कान्त तथा उपशान्त शरीरधारी, बलशाली, जितेन्द्रिय, हिमके समान कान्तिसे युक्त भस्मतिलकसे सुशोभित, अतएव भूषित आलोककी नाईं सुन्दर तथा सुमेरु पर्वतकी सुवर्णतटीमें अवस्थित गङ्गाप्रवाहमें प्रतिबिम्बित पूर्ण चन्द्रमाकी नाईं चञ्चल उस ब्राह्मणकुमारको देखकर राजा शिखिध्वज उठ खड़ा हो गया ॥ ६१–६५ ॥

देवपुत्रागमधिया सम्परित्यक्तपादुकः ।
देवपुत्र नमस्कार इदमासनमास्यताम् ॥ ६६ ॥
इत्यस्य दर्शयामास पाणिना पत्रविष्टरम् ।
ददौ च द्विजपुत्रस्य पुष्पमुष्टिं करोत्करे ।
चन्द्रः कुमुदखण्डस्य प्रालेयमिव पल्लवे ॥ ६७ ॥
हे राजर्षे नमस्तुभ्यमिति द्विजसुतोऽवदत् ।
गृहीत्वा कुसुमान्यस्माद्विवेश पत्रविष्टरे ॥ ६८ ॥

शिखिध्वज उवाच

देवपुत्र महाभाग कुत आगमनं कृतम् ।
दिवसः सफलो मन्ये यत्त्वामद्याऽस्मि दृष्टवान् ॥ ६९ ॥
इदमर्घ्यमिदं पाद्यं पुष्पाणीमानि मानद ।
इमा प्रग्रथिता माला गृह्यन्तां भद्रमस्तु ते ॥ ७० ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा पाद्यमर्घ्यं च मालां पुष्पाणि चाऽनघ ।
शिखिध्वजस्तदिष्टायै ददौ देव्यै यथाखिलम् ॥ ७१ ॥

देवपुत्रके आगमनकी बुद्धिसे अपनी खड़ाऊँ छोड़कर राजा शिखिध्वजने कहा—हे देवपुत्र, आपको नमस्कार है, यह आपके लिए आसन है, कृपाकर इसपर बैठ जाइये ॥ ६६ ॥

यों कहकर अपने हाथसे उसको पत्रनिर्मित आसन दिखलाया और उस ब्राह्मणकुमारके करतलमें पुष्पमुष्टि उस तरह दी, जिस तरह कुमुदखण्डके पल्लवमें चन्द्रमा हिमकणजाल देता है। उस ब्राह्मणकुमारने भी कहा—हे राजर्षे, तुम्हें नमस्कार है ॥ ६७, ६८ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे महाभाग देवपुत्र, आपने कहाँसे आगमन किया ? मैं आजका दिन सफल समझता हूँ, क्योंकि आज मैंने आपका दर्शन किया है ॥ ६९ ॥

हे मानद, यह अर्घ्य है, यह पाद्य है, ये फूल हैं और गूँथी हुई ये मालाएँ हैं, लीजिए, आपका कल्याण हो ॥ ७० ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे पापशून्य श्रीरामचन्द्रजी, यों कहकर ब्राह्मण-

चूडालोवाच

सुबहूनि परिभ्रान्तो भूतलायतनान्यहम् ।
त्वत्तः पूजा यथा प्राप्ता मयेयं न तथाऽन्यतः ॥ ७२ ॥
पेशलेनाऽनुरूपेण प्रश्रयेणाऽमुनाऽनघ ।
मन्येऽहं नूनमत्यन्तचिरंजीवी भविष्यसि ॥ ७३ ॥
शान्तेन मनसोदारमारादुन्मुक्तकल्पनम् ।
निर्वाणार्थं तपः साधो कच्चित्संभृतवानसि ॥ ७४ ॥
असिधारासमं सौम्य शान्तव्रतमिदं तव ।
स्फीतं यद्राज्यमुत्सृज्य महावननिषेवणम् ॥ ७५ ॥

शिखिध्वज उवाच

जानासि भगवन् सर्वं देवस्त्वं कोऽत्र विस्मयः ।
श्रियेव लोकोत्तरया ज्ञायसे चिह्नरूपया ॥ ७६ ॥

कुमार वेषधारी उस अपनी प्रियतमाको राजा शिखिध्वजने अर्घ्य, पाद्य, माला और पुष्पादि शास्त्रोक्त विधिसे दिये ॥ ७१ ॥

चूडालाने कहा—हे राजर्षे, इस भूतलपर मैंने अनेक जगहोंमें परिभ्रमण किया परन्तु जैसी पूजा मैंने तुमसे प्राप्त की, वैसी किसी दूसरेसे नहीं ॥ ७२ ॥

हे अनघ, तुम्हारे इस कोमल अनुरूप विनयसे मैं समझता हूँ कि तुम निश्चय अत्यन्त चिरजीवी होओगे ॥ ७३ ॥

हे साधो, क्या शान्त मनसे उदार तप, जहाँ फलके सङ्कल्प बहुत दूर फेंक दिये गये हैं, तुमने मोक्षके लिए सञ्चित किया है ः ॥ ७४ ॥

हे सौम्य, यह जो तुमने अपने विस्तृत राज्यको छोड़ कर इस महा जङ्गलका सेवन किया है वह क्रोधशून्य, वनस्थ यतियोंका व्रत तलवारकी धारके समान है ॥ ७५ ॥

राज्यका परित्याग और मोक्षके लिए तपस्याका आचरण—इन दोनोंकी अज्ञात दशामें प्रशंसा नहीं हो सकती, इसलिए तपस्या द्वारा उसमें सर्वज्ञताकी सम्भावना करता हुआ राजा शिखिध्वज रूपादिसम्पत्तिसे उस ब्राह्मणकुमारकी प्रशंसा करता है—'जानासि' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—भगवन्, आप देव हो, सब कुछ जानते हो,

एतान्यङ्गानि ते चन्द्राद्घटितानीति मे मतिः ।
अथवा किं समालोकादमृतेनेव सिञ्चसि ॥ ७७ ॥
अस्ति मे दयिता कान्ता पाति मद्राज्यमद्य तत् ।
तवेव तस्या दृष्टानि तान्यङ्गानीह सुन्दर ॥ ७८ ॥
उपशान्तं च कान्तं च वपुरापादमस्तकम् ।
शृङ्गं शुभ्राम्बुदेनेव पुष्पेणाच्छादयाऽमुना ॥ ७९ ॥
निष्कलङ्केन्दुसङ्काशमङ्गमादित्यतेजसा ।
मन्ये ते ग्लानिमायाति सुमनः पत्रपेलवम् ॥ ८० ॥
देवार्चनायोपरिचितमिदमित्थं सितं मया ।
अङ्ग त्वदङ्गसङ्गेन तत्प्रयातु कृतार्थताम् ॥ ८१ ॥
जीवितं याति साफल्यं स्वमभ्यागतपूजया ।
देवादप्यधिकं पूज्यः सतामभ्यागतो जनः ॥ ८२ ॥

इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अपने लोकोत्तर चिह्नयुक्त सौन्दर्यसे ही आप महाप्रभावशाली मालूम पड़ते हो ॥ ७६ ॥

मेरी बुद्धि तो यह कह रही है कि ये आपके सब अङ्ग अमृतमय चन्द्रमासे विरचित हैं अथवा मेरा अधिक कहना व्यर्थ है, आप अपने सम्यक् वीक्षण और देहकी कान्तिसे मानो अमृतसे मुझे सींच रहे हो ॥ ७७ ॥

हे सुन्दर, मेरी प्रियपत्नी है, जो आजकल मेरे उस राज्यकी रक्षा कर रही है। उसके समान आपके ही वे अङ्ग मुझे यहाँ दीख पड़े हैं ॥ ७८ ॥

मस्तकसे लेकर पैरतक यह आपका उपशान्त तथा कमनीय शरीर है, इसे आप मेरे द्वारा दी गई मालासे, शुभ्र मेघसे मेरुशिखिरकी नाईं, ढक दीजिये ॥ ७९ ॥

कलङ्कशून्य चन्द्रमाके समान तथा पुष्पदलकी नाईं कोमल आपका यह अङ्ग सूर्यके तेजसे ग्लानिको प्राप्त हो रहा है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ८० ॥

हे सुन्दर, यह ऐसी सफेद फूलकी माला मैंने देवार्चनके लिए गूँथी है, वह आपके अङ्गके सङ्गसे कृतार्थताको प्राप्त हो जाय ॥ ८१ ॥

अतिथिपूजन देवार्चनसे भी बढ़कर है, इसलिए अकेला अतिथिपूजन ही जन्मसाफल्यमें हेतु है, फिर आपकी पूजामें तो मुझे दोनोंकी प्राप्ति एक साथ

तत्कस्त्वं कस्य पुत्रस्त्वं किमायातोऽस्यनुग्रहात् ।
एतन्मे संशयं छिन्धि विमलेन्दुसमानन ॥ ८३ ॥

ब्राह्मण उवाच

राजन्मे शृणु वक्ष्यामि यथापृष्टमखण्डितम् ।
को नाम परिपृच्छन्तं विनीतं वञ्चयेत्पुमान् ॥ ८४ ॥

अस्त्यस्मिञ्जगतीकोशे शुद्धात्मा नारदो मुनिः ।
पुण्यलक्ष्म्या मुखे कान्ते कर्पूरतिलकोपमः ॥ ८५ ॥

स कदाचिन्मुनिर्देवो गुहायां ध्यानमास्थितः ।
तत्र हेमतटे गङ्गा वहत्युरुतरङ्गिणी ॥ ८६ ॥

मेरुलक्ष्म्या स्फुरद्रूपा भाति हारलता यथा ।
एकदा नारदमुनिर्ध्यानान्ते स सरित्तटे ॥ ८७ ॥

हो गई, अतः मेरा जीवन तो सफल है ही, इस आशयसे कहते हैं—'जीवितम्' इत्यादिसे ।

अपने निकट आये हुए अतिथिकी पूजासे जीवन सफल हो जाता है, क्योंकि सज्जनोंको अभ्यागत जन देवतासे भी अधिक पूज्य हैं ॥ ८२ ॥

हे विमलचन्द्रके तुल्य मुखवाले, मेरे द्वारा समर्पित पूजा ग्रहणके बाद, आप मेरे इस सन्देहको दूर कीजिये कि आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और इस दीनके ऊपर दया करके कहाँसे किसलिए आये हैं ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणने कहा—हे राजन्, जैसा आपने मुझसे पूछा है वह सब मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये । भला ऐसा कौन पुरुष है, जो एक विनम्र प्रश्नकर्ताको ठगे—धोखा दे ॥ ८४ ॥

पुण्यलक्ष्मीके कमनीय मुखमें सुगन्धित कर्पूरके तिलकके सदृश गौराङ्ग शुद्धात्मा नारदमुनि इस जगतीकोशमें हैं ॥ ८५ ॥

वह देवमुनि (नारद) सुमेरु पर्वतकी गुहामें किसी समय ध्यानावस्थित थे । वहाँ सुमेरुतटमें विशाल तरङ्गवाली गङ्गाजी बहती हैं ॥ ८६ ॥

जो मेरुके सौन्दर्यसे प्रकाशमान रूपवाली गङ्गा हारलताकी नाई भासित होती हैं । उसी गङ्गा नदीके तटपर एक समय ध्यानके अन्तमें नारदमुनिने

ध्वनद्वलयमश्रौषील्लीलाकलकलारवम् ।
किमेतदित्यसौ किञ्चिज्जातप्रायकुतूहलः ॥ ८८ ॥
हेलयाऽऽलोकयन्नद्यामपश्यल्ललनागणम् ।
रम्भातिलोत्तमाप्रायं निर्यातं जललीलया ॥ ८९ ॥
क्रीडन्तं त्यक्तवसनं देशे पुरुषवर्जिते ।
काञ्चनाम्भोजमुकुलसङ्काशैः स्तनमण्डलैः ॥ ९० ॥
परिवेल्लितमन्योन्यं फलकान्तं द्रुमं यथा ।
द्रुतहेमरसापूरनिर्भराभोगभासुरैः ।
कुर्वन्तमूरुभिः काममन्दिरस्तम्भसञ्चयम् ॥ ९१ ॥
निर्मलीकृतचन्द्रेण व्याप्तां व्योमविलासिनीम् ।
लावण्यरसपूरेण तर्जयन्तमिवाऽऽपगाम् ॥ ९२ ॥
प्राकारैरमरोद्यानरथचक्रैर्मनोभुवः ।
उत्पथार्पितगङ्गाम्बुनितम्बतटसेतुभिः ॥ ९३ ॥

शब्द कर रहे कङ्कणोंसे युक्त जलक्रीड़ाकी कोलाहलध्वनि सुनी और यह क्या सुनाई दे रहा है, यों कुछ कौतूहलसे युक्त हो गये ॥ ८७, ८८ ॥

कौतुकसे नदीकी ओर देखते हुए उन्होंने जलसेचनादि क्रीड़ा करके जलसे निकले हुए रम्भा, तिलोत्तमा आदि ललनाओंका (अप्सराओंका) समूह देखा ॥ ८९ ॥

स्वर्णकमलके कुड्मलोंके सदृश स्तनमण्डलोंसे अलङ्कृत वह पुरुषरहित प्रदेशमें वस्त्र छोड़कर क्रीड़ा कर रहा था। परस्पर एक दूसरेसे मिल जानेके कारण वह फलोंसे सुशोभित वृक्षकी नाईं, प्रतीत हो रहा था, पिघले हुए सुवर्णरसके प्रवाहातिशयके सदृश कान्तिसंस्थानसे प्रकाशमान जंघाओंसे अपने काममन्दिरके लिए मानो खम्भोंका सञ्चय कर रहा था ॥ ९०, ९१ ॥

वह अपने जलकी निर्मलतासे निर्मल बनाये गये चन्द्रमासे सर्वत्र व्याप्त व्योमविलासिनी मन्दाकिनीको भी अपने देहलावण्यरसप्रवाहसे मानो तिरस्कृत कर रहा था ॥ ९२ ॥

नन्दनवनमें कामदेवकी क्रीडाके साधनभूत रथके चक्रभूत नितम्बतटरूप सेतुओंसे प्रवाहका निरोध हो जानेके कारण वह गङ्गाजलको भी उलटे मार्गमें पहुँचा रहा था ॥ ९३ ॥

सर्वत्र दृष्टसर्वाङ्गं विश्वरूपमिव स्थितम् ।
प्रतिबिम्बितसर्वाङ्गमन्योन्यादर्शतां गतम् ॥ ९४ ॥
कालकल्पतरोर्वर्षविटपात्पक्षपल्लवात् ।
विविधर्तुलताजालाद्दिनश्रीकलिकाकुलात् ॥ ९५ ॥
आलोकपुष्परजसो जाताद्गगनकानने ।
स्फुरज्जलखगप्रोतात्सप्ताब्ध्येकालवाडकात् ॥ ९६ ॥
स्तनस्तबकवृन्देषु स्पर्धयाऽतिरसान्वितम् ।
उद्धृत्योद्धृत्य सम्पूर्णदलिताम्भोजपल्लवम् ॥ ९७ ॥
आलोलालककेशाक्षितारकादिमधुव्रतम् ॥ ९८ ॥
अमृतापद्विघाताय कोशसञ्चयकारिभिः ।
दुष्प्रापे भूतसङ्घानां विकसत्कनकाम्बुजे ॥ ९९ ॥

उस यूथमें विद्यमान प्रत्येक अप्सरा इतनी निर्मल थी कि एक दूसरेके लिए दर्पण बन गई थी। अतएव उनके समस्त अङ्ग चारों ओर एक दूसरेमें प्रतिबिम्बित हो गये थे। सभी जगह उनके समस्त अङ्ग दिखाई पड़ते थे। इसलिए 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्' इसमें प्रसिद्ध कालात्मा भगवान्‌से उत्पन्न विश्वरूपसे वह स्थित था। [समस्त सङ्कल्पित फलोंका दाता होनेसे गीतोक्त कालात्मा भगवान्‌का कल्पतरुरूपसे वर्णन करते हैं—'वर्ष०' से] कालात्मारूपी कल्पतरुके प्रभव आदि साठ संवत्सर ही शाखा हैं, पक्ष ही पल्लव हैं, विविध ऋतु उसकी लताएँ हैं, दिनश्री उसकी कलिकाएँ हैं, आलोक ही कुसुमरज हैं, गगन-काननमें (नन्दन वनमें) वह उत्पन्न है, वह चमकीले जलमय शरीरवाले देवरूपी पक्षियोंसे चारों ओर व्याप्त है, सात समुद्र ही उसकी क्यारियाँ हैं, ऐसे कल्पतरुरूप व्यापक विष्णुसे उत्पन्न विश्वरूप-सा वह ललनागण स्थित था ॥ ९४–९६ ॥

एक-दूसरेके स्तनरूपी स्तबकोंमें तथा कमलमुकुलोंमें समान सौन्दर्यका अनुभव होनेके कारण उत्पन्न स्पर्धासे नालदण्डसे उखाड़-उखाड़ कर छिलानेके कारण अतिरसपूर्ण कमल-पल्लवोंको उस यूथने विदलित कर दिया था ॥ ९७ ॥

उसके मुखरूपी कमलोंमें चञ्चल लट, दीर्घकेश, अक्षितारे तथा ललाटमें गूँथे हुए नीलमणि भ्रमररूपसे राजित थे ॥ ९८ ॥

अमृतनिधिका सञ्चय करना ही जिनका स्वभाव है, ऐसे देवताओं द्वारा—

पद्मिनीपल्लवाच्छन्ने गुप्ते मेरोर्गुहान्तरे ।
शीतले स्वर्धुनीतीरे तोयोन्मृष्टमले सुरैः ॥ १०० ॥
चन्द्रबिम्बकलापूरमेकत्रैवोपसंहृतम् ।
स्त्रैणमालोक्य तत्कान्तं सहसैव मनो मुनेः ।
अनाश्रितविवेकांशं बभूवाऽऽनन्दितं स्फुरत् ॥ १०१ ॥
आनन्दवलिते चित्ते क्षुब्धे प्राणानिले स्थिते ।
बभूव तस्य हृष्टस्य मदनस्खलितं तदा ॥ १०२ ॥
फलं रसापूर्णमिव ग्रीष्मान्त इव तोयदः ।
प्रत्यग्रपादपच्छिन्नलतावृन्त इवोत्तम ॥ १०३ ॥
अवश्यायकणस्पन्दी शशाङ्क इव वा मुनिः ।
बिसं द्विधापातमिव गलत्साररसोऽभवत् ॥ १०४ ॥

शिखिध्वज उवाच

तादृशोऽपि बहुज्ञोऽपि जीवन्मुक्तोऽप्यसौ मुनिः ।
निरिच्छोऽपि निरागोऽपि न किञ्चिदुपमोऽप्यलम् ॥१०५ ॥

अमृतका अपहरण करनेवाले राहु आदि द्वारा—सम्भावित विपत्तिका विनाश करनेके लिए एकान्त सुमेरुगुहाके अन्दर; जो गुहा साधारण प्राणिकी अगम्य, खिल रहे सुवर्ण कमलके सदृश सुशोभित, पद्मिनीके पल्लवोंसे ढकी, शीतल गङ्गाजीके किनारेपर विद्यमान तथा उसके जलसे क्षालितमल थी;—मानो एकत्र बटोरे गए चन्द्रबिम्बकी कलाओंके पुञ्जरूपसे स्थित उन सुन्दर स्त्रियोंका अवलोकन कर तत्काल ही मुनिका मन उनमें आसक्त हो गया और विवेककी मात्राका परित्याग कर प्रमत्त हो स्फुरित होने लगा ॥ ९९–१०१ ॥

हे राजन्, जब मुनिका चित्त आनन्दसे सराबोर हो गया और चित्तविकृतिके कारण प्राणवायुमें क्षोभ हुआ, तब उस हृष्टचित्त नारदका वीर्य उस प्रकार स्खलित हो गया, जिस प्रकार रससे परिपूर्ण फल, ग्रीष्मकी समाप्तिमें मेघ तथा विच्छिन्न शाखा-मूलवाला नवीन वृक्ष अपने स्थानसे स्खलित हो जाता है ॥ १०२, १०३ ॥

जलकण बरसानेवाले चन्द्रमाके सदृश वह मुनि उस प्रकार गलितशुक्र हुए, जिस प्रकार द्विधा खण्डित मृणालतन्तु गलितशुक्र (सार) होता है ॥ १०४ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे ब्रह्मन्, नारदजी समस्त लोकमें विख्यात

स बाह्याभ्यन्तरं नित्यमाकाशविशदोऽपि च ।
नारदोऽपि कथं ब्रह्मन् मदनस्खलितोऽभवत् ॥ १०६ ॥

चूडालोवाच

सर्वस्या एव राजर्षे भूतजातेर्जगत्त्रये ।
देवादेरपि देहोऽयं द्वयात्मैव स्वभावतः ॥ १०७ ॥
अज्ञमस्त्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकम् ।
सर्वमेव जगत्यङ्ग सुखदुःखमयं स्मृतम् ॥ १०८ ॥
तृप्त्यादिना पदार्थेन केनचिद्वर्धते सुखम् ।
आलोक इव दीपेन महाम्बुधिरिवेन्दुना ॥ १०९ ॥
क्षुधादिना पदार्थेन दुःखं केनचिदेव हि ।
तमो मेघपटेनेव स्वभावो ह्यत्र कारणम् ॥ ११० ॥

भी हैं, सर्वज्ञ भी हैं, जीवन्मुक्त भी हैं, निरीह भी हैं, रागरहित भी हैं, मुनियोंमें उनकी बराबरीका कोई है भी नहीं, बाहर और भीतर आकाशके सदृश विशद भी हैं, फिर ऐसे मुनि दर्शनमात्रसे विकृतचित्त होकर स्खलितवीर्य कैसे हुए ॥ १०५, १०६ ॥

प्रबलतर प्रारब्धसे तत्त्वज्ञानियोंकी भी विवेकमात्रा तिरोहित हो जाती है, इसलिए किसी समय देहधर्मोंके वशवर्ती वे हो ही जाते हैं, ऐसा कहते हैं—'सर्वस्या' इत्यादिसे ।

चूडालाने कहा—हे राजर्षे, तीनों जगत्‌में सभी भूतजातिका, देव आदिका भी यह शरीर स्वभावतः दो रूपवाला ही है ॥ १०७ ॥

हे प्रिय, इस जगत्‌में चाहे अज्ञानी हों या ज्ञानी। अपने विनाशपर्यन्त सभी शरीर सुख-दुःखात्मक ही कहे जाते हैं ॥ १०८ ॥

सुख-दुःखरूपता ही दृष्टान्तसे बतलाते हैं—'तृप्त्यादिना' इत्यादिसे ।

राजन, तृप्ति आदिके साधन किसी पदार्थसे सुख उस प्रकार बढ़ता है, जिस प्रकार दीपकसे आलोक और चन्द्रमासे महासागर ॥ १०९ ॥

क्षुधा आदि किसी पदार्थसे दुःख उस प्रकार बढ़ता है, जिस प्रकार मेघरूपी पटसे रातमें अन्धकार बढ़ता है, इन सब विषयोंमें केवल स्वभाव ही एकमात्र कारण है ॥ ११० ॥

स्वरूपे निर्मले सत्ये निमेषमपि विस्मृते ।
दृश्यमुल्लासमाप्नोति प्रावृषीव पयोधरः ॥ १११ ॥
अनारतानुसन्धानादप्युन्मेषमविस्मृते ॥ ११२ ॥
यथा तमःप्रकाशाभ्यामहोरात्रौ स्थितिं गतौ ।
तथैव सुखदुःखाभ्यां शरीरं स्थितिमागतम् ॥ ११३ ॥
एवं हि सुखदुःखे द्वे जन्मकारणदर्शनात् ।
अज्ञस्य गाढतां याते पटे कुङ्कुमवद्दृढम् ॥ ११४ ॥
तज्ज्ञस्य त्वङ्ग लगतो मनागपि न तद्वशात् ।
यथा शुभाशुभौ रागादिनाऽऽक्रान्ततरौ मणेः ॥ ११५ ॥

जब ज्ञानियोंको भी क्षणभर आत्मविस्मृति होनेपर ऐसी अनर्थपरम्परा आती है तब अज्ञानियोंकी तो बात ही क्या है, इस आशयसे कहते हैं—'स्वरूपे' इत्यादिसे ।

एक निमेष मात्रके लिए भी सत्य निर्मल स्वरूप यदि विस्मृत हो जाय, तो वर्षाकालमें मेघके सदृश यह दृश्यरूप अनर्थ उल्लसित हो उठता है ॥ १११ ॥

निरन्तर आत्मतत्त्वका अनुसन्धान करनेसे जब उन्मेषमात्र भी आत्मतत्त्व-स्वरूप विस्मृत नहीं होता, तब यह दृश्यरूपी पिशाच चित्तमें उल्लसित नहीं होता। निष्कर्ष यह निकला कि किसी समय भी दृश्य उल्लसित न हो जाय, इसलिए निरन्तर ही समाधिसे अपने स्वरूपका स्मरण करते रहना ही चाहिए ॥११२॥

जैसे अन्धकार और प्रकाशके कारण दिन और रात अपनी-अपनी स्थिति प्राप्त किये हुए हैं वैसे ही सुख और दुःखसे यह शरीर अपनी स्थिति किये हुए है ॥ ११३ ॥

यों ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंमें प्रारब्धफलभोग एक-सा होनेपर भी राग-अरागजनित विशेष है ही, इसका दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं— 'एवम्' इत्यादिसे ।

यों देहमें ही आत्मरूपताका अवलोकन करनेके कारण सुख-दुःख दोनों अज्ञानियोंमें ऐसे दृढ़रूपताको प्राप्त हो गये हैं ; जैसे पटमें केसर दृढ़रूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ ११४ ॥

हे प्रिय, आत्मतत्त्वज्ञानके प्रभावसे तत्त्वज्ञानीमें तनिक भी ये सुख-दुःख उस

पुरःस्थवस्तुभावेन रञ्जनां स्फटिको यथा।
तज्ज्ञस्तथा नैति बोधाज्जीवन्मुक्तमतिर्मुनिः ॥ ११६ ॥
वस्तुनः श्लेषमात्रेण घनरञ्जितमेति धीः।
गतेऽपि वस्तुनि दृढं बुद्धिर्या परितापिता ॥ ११७ ॥
गतेऽपि कुङ्कुमे वस्त्रं तदीयमनुरञ्जनम्।
न जहाति यथा मूढस्तथा विषयरञ्जनम् ॥ ११८ ॥
अनेनैव क्रमेणैतौ बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ।
भावनातानवं मोक्षो बन्धो हि दृढभावना ॥ ११९ ॥

प्रकार नहीं लगते, जिस प्रकार स्फटिक मणिमें केसर आदि रङ्गोंका सम्बन्ध होनेपर भी केसर आदि रङ्ग नहीं लगते ॥ ११५ ॥

अब स्फटिककी अपेक्षा भी ज्ञानीमें अधिक स्वच्छता होनेसे विशेष बतलाते हैं—'पुरःस्थ०' इत्यादिसे।

राजन्, जैसे समीपमें विद्यमान जपाकुसुम आदि रञ्जक द्रव्योंके कारण स्फटिक मणि लालिमा आदि कुछ कालके लिए धारण करता है, वैसे आत्मतत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त मुनि बोधके प्रभावसे समीपमें पदार्थोंके रहनेपर भी उनसे सुख-दुःख आदिका सम्बन्ध प्राप्त नहीं करता ॥ ११६ ॥

अज्ञानियोंको सुख-दुःख घनरूपसे प्राप्त होते हैं, यह जो पहले कहा था, उसका वर्णन करते हैं—'वस्तुनः' इत्यादिसे।

चूँकि अज्ञानियोंकी बुद्धि वस्तुओंके हट जानेपर भी अत्यन्त सन्तप्त रहती है, इसलिए वस्तुओंके सम्बन्धमात्रसे उनकी बुद्धि दृढ़ आसक्त हो जाती है, यह निश्चित ही है ॥ ११७ ॥

जैसे केसरका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जानेपर भी वस्त्र उसका रङ्ग नहीं छोड़ता, वैसे ही वस्तुका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जानेपर भी विषयोंका अनुराग अज्ञानी नहीं छोड़ता ॥ ११८ ॥

हे राजन्, इसी क्रमसे ये बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थित हैं। विषयभावनाका विनाश ही मोक्ष है और विषयोंकी दृढ़ भावना ही बन्ध है ॥ ११९ ॥

शिखिध्वज उवाच

स्वोत्पत्तिकारणप्राप्तौ कथं दुःखं सुखं च वा ।
अभ्युदेतीति वद मे दूरस्थानामपि प्रभो ॥ १२० ॥
अत्युदारमतीवाऽच्छं बह्वर्थं वचनं तव ।
श्रोतुं तृप्तिं न गच्छामि मयूरोऽभ्ररवेष्विव ॥ १२१ ॥

चूडालोवाच

स्वोत्पत्तिकारणं हृद्यं लब्ध्वा कायाक्षिपाणिभिः ।
सुखसंविदियं बाला नूनमुल्लसति स्वतः ॥ १२२ ॥
हृद्गता क्षोभमायाता जीवं कुण्डलिनीगतम् ।
जीवस्य नियता नाड्यः पृथग्देहे स्थितिं गताः ॥ १२३ ॥
प्राणावपूरिता नाडीर्जीव आक्रामति स्फुरन् ।
संस्पर्शैकप्रबुद्धात्मा रसो द्रुमलता इव ॥ १२४ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे प्रभो, दूरस्थ या समीपस्थ राज्य या पुत्र आदिके लाभसे सुख और उनके विनाशसे दुःख होता है। सुख और दुःखकी उत्पत्तिमें हेतुभूत इष्टप्राप्ति और इष्टविनाश रूप कारणका लाभ होनेपर उत्पद्यमान सुख और दुःख जीवमें कैसे आ जाते हैं ? यह मुझसे कहिए ॥१२०॥ हे प्रभो, आपका वचन अनेक अर्थोंसे परिपूर्ण, अत्यन्त उदार और अतिस्वच्छ (अतिस्पष्टार्थक) होता है, इसलिए घनगर्जनमें मयूरकी नाईं आपके वचनोंके श्रवणमें तृप्ति ही नहीं होती ॥ १२१ ॥

सबसे पहले सुखोत्पत्तिका प्रकार बतलाते हैं—'स्वोत्पत्ति०' इत्यादिसे ।

चूडालाने कहा—समीपस्थलमें शरीर, चक्षु, हाथ आदि साधनोंसे तथा दूर स्थानमें अनुमान आदि साधनोंसे अपनी उत्पत्तिमें कारणभूत अभीष्ट वस्तुका लाभ कर अपने व्यापकस्वरूपको न जाननेवाली यह बाला सुखसंवित्ति अपने-आप ही उल्लसित होती है। बुद्धिमें अवस्थित आत्मसुखसंवित्ति बुद्धिके क्षोभसे स्वयं क्षुब्ध होकर कुण्डलिनीगत जीवके प्रति स्वयं ही अग्निविस्फुलिङ्गके सदृश आविर्भूत हो जाती है। जीवके लिए देहमें अवस्थित नाड़ियाँ पृथक् रूपसे नियत हैं। प्राणसे पूरित हुई उन नाड़ियोंके अन्दर, विषयस्पर्शसे प्रबुद्ध हुआ स्फुरणशील जीव उस प्रकार प्रविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार मूलमें सींचा गया जल नाली द्वारा समस्त द्रुमलताओंके अन्दर प्रविष्ट हो जाता है ॥ १२२–१२४ ॥

सुखप्रबोधसञ्चारे दुःखबोधागमे तथा ।
जीवस्य नियता नाड्यः पृथग्देहस्थितिं गताः ॥ १२५ ॥
सुखिनः प्रस्फुरत्येषा धीरताऽऽशु न दुःखिनः ।
ये हि मार्गाः सुवेषस्य कुवेषस्य न ते शुभाः ॥ १२६ ॥
यावत्प्रमाणं जीवोऽयं संशाम्यत्यपरिस्फुरन् ।
तावत्प्रमाणमेवैनं मुक्तं मुक्तमवेहि वै ॥ १२७ ॥
यावत्प्रमाणमधिकं स्फुरति क्षुब्धमारुतम् ।
तावत्प्रमाणमेवैनं बद्धं बद्धमवेहि मे ॥ १२८ ॥
सुखदुःखकलास्पन्दो बन्धो जीवस्य नेतरः ।
तदभावे हि मोक्षः स्यादिति द्वेधा व्यवस्थितिः ॥१२९॥
सुखदुःखदशे यावदानोते नेन्द्रियैः शठैः ।
तावत्सुखसमः सौम्यो जीवस्तिष्ठति शान्तवत् ॥ १३० ॥

सुखसंविचिके संचरणमें तथा दुःखसंविचिके आगमनमें देहमें विद्यमान नाड़ीमार्ग अलग-अलग ही जीवके लिए नियत हैं, एक नहीं ॥ १२५ ॥

निरन्तर सुखानुभव करनेवाले राजा आदिमें यह स्वस्थता जैसी स्फुरित होती है, वैसी दुःखानुभव करनेवाले पुरुषमें स्फुरित नहीं होती । ठीक ही है, लोकमें भी देखा जाता है—शोभन वेषवाले राजा प्रभृतिके लिए कपूर, चन्दन आदिसे सुगन्धित जलसे सींचे गये जो मनोहर मार्ग होते हैं वे अशोभन वेषवाले निम्न श्रेणीके जीवोंके लिए नहीं होते ॥ १२६ ॥

जिस समय यह जीव उन तरलतर नाड़ी मार्गोंमें प्रविष्ट न होकर अस्फुरणशील हो जाता है, उस दशामें ही सर्वविध प्रपञ्च दुःखोंसे निर्मुक्त इसे मुक्त जानिये॥१२७॥

और जबतक तरलतर नाड़ी मार्गोंमें प्रविष्ट होकर क्षुब्ध-प्राण हो खूब स्फुरित होता रहता है तभीतक सर्वविध प्रपञ्च दुःखोंसे बद्ध इसे बद्ध जानिये ॥ १२८ ॥

राजन्, सुख और दुःखके अनुभवके लिए चित्तका बाहर जो स्पन्दन है वही जीवका बन्ध है, दूसरा नहीं, इसलिए इस स्पन्दका अभाव हो जानेपर जीवका मोक्ष हो ही जायगा, यों संसरण और असंसरण द्वारा बन्ध और मोक्षकी दो तरहसे व्यवस्थिति है, यह मैंने कहा ॥ १२९ ॥

इन शठ इन्द्रियों द्वारा जबतक सुख और दुःखकी अवस्था लायी नहीं जाती तबतक जीव शान्त-सा सुखपूर्ण और सौम्य रहता है ॥ १३० ॥

सुखमालोक्य वा दुःखमक्षातीतश्चलद्वपुः ।
समुल्लसति जीवोऽन्तर्दृष्टेन्दुमिव तोयधिः ॥ १३१ ॥
जीवः क्षुभ्यति दृष्टेन संविदाङ्ग सुखादिना ।
आमिषणेव मार्जारो मौर्ख्यमेवाऽत्र कारणम् ॥ १३२ ॥
शुद्धेन बोध्यबोधेन स्वात्मज्ञानमयात्मना ।
सुखदुःखादि नास्तीति तेनाऽसौ याति सौम्यताम् ॥१३३॥
न तत्सुखादि नो तन्मे मुधा चाऽयमहं स्थितः ।
इति जीवः प्रबुद्धो हि निर्वाणं याति शाम्यति ॥ १३४ ॥
सुखाद्यवस्त्वतद्रूपमित्यन्तर्बोधसंविदा ।
न तदुन्मुखतां याति जीवः शाम्यति केवलम् ॥ १३५ ॥
सर्वमेव चिदाकाशं ब्रह्मेति घननिश्चये ।
स्थितिं याते शमं याति जीवो निःस्नेहदीपवत् ॥ १३६॥

सुख और दुःखको देखकर यह स्वप्रकाशात्मा जीव चञ्चलरूप होकर उस प्रकार भीतर उल्लसित हो उठता है, जिस प्रकार चन्द्रको देखकर समुद्र ॥१३१॥

हे प्रिय, इस सुख आदिकी सामग्रीसे या सुख-साधन धन आदिमें प्रियत्व-ज्ञानसे जीव, आमिषसे मार्जारकी नाईं, जो क्षुब्ध हो उठता है, इसमें कारण केवल अपने स्वरूपको न जानना ही है ॥ १३२ ॥

विशुद्ध, स्वात्मज्ञानस्वरूप अवश्य ज्ञातव्य आत्माके बोधसे सुख और दुःख आदिका अस्तित्व उड़ जाता है, इसलिए उसीसे यह जीव विश्रान्तिकी ओर जा सकता है ॥ १३३ ॥

न तो वास्तवमें वे सुख आदि हैं, न वे मुझको लगते ही हैं। निरर्थक ही यह मैं उनके चक्करमें आकर स्थित हूँ, यों तत्त्वज्ञानसे जब जीव प्रबुद्ध हो जाता है तब वह मुक्ति प्राप्त करता है और शान्त हो जाता है ॥ १३४ ॥

सुख आदि कोई वस्तु हैं ही नहीं, इसलिए वे आत्मस्वरूप कभी नहीं हो सकते, इस प्रकारके भीतरी आत्मबोधरूप संविचिसे जब जीव सुखादिकी ओर ताकता नहीं, तब वह विशुद्धरूपसे शान्त हो जाता है ॥ १३५ ॥

यह सब कुछ चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, इस प्रकारका अखण्ड निश्चय जब स्थिति प्राप्त कर लेता है तब, तेलशून्य दीपककी तरह, जीव निर्वाणको प्राप्त हो जाता है ॥ १३६ ॥

दीपवच्छममायाति सुखादिस्नेहसंक्षये ॥ १३७ ॥
सर्वमेवमिति ज्ञानाज्जीवोऽद्वित्वविभावनात् ।
सर्वमाकाशमेवेति बुद्ध्वा क्षोभं न गच्छति ॥१३८॥
जीवस्याऽनेन शून्यस्य कः किल क्षोभविभ्रमः ।
जीवेनेदृग्विधेनैव यथा प्रथमसर्गतः ।
स्वयं संविदितो मार्गस्तेनैवाऽद्याऽपि गच्छति ॥ १३९ ॥

शिखिध्वज उवाच

सुखसञ्चारयोग्यासु जीवे सरति नाडिषु ।
देवपुत्र भवत्येव तद्वीर्यच्यवनं कथम् ॥ १४० ॥

चूडालोवाच

जीवः क्षोभयति क्षुब्धः प्राणादिपवनावलिम् ।
संविदाज्ञांशमात्रेण सेनामिव महीपतिः ॥ १४१ ॥

सुख आदि स्नेहका विनाश हो जानेपर दीपकके समान जीव शान्त हो जाता है ॥ १३७ ॥

यह दृश्यमान समस्त जगत् ब्रह्मस्वरूप है, इस प्रकारकी अखण्डाकारवृत्तिसे जनित जो ऐक्यभावना है, उस भावनासे पुरुष सम्पूर्ण जगत्में शून्यरूपताका अनुभव कर कदापि क्षोभको प्राप्त नहीं करता ॥ १३८ ॥

अद्वितीय ब्रह्मभावनाके कारण भेदशून्यत्व और बन्धशून्यत्वरूपसे जाने गये जीवमें क्षोभविभ्रम हो ही कैसे सकता है ? [तब जीवमें क्षोभविभ्रम आया कहाँसे ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'जीवेन' से] हे प्रिय, इस प्रकारके कल्पित प्रथम जीवात्मा हिरण्यगर्भने ही 'सब जीवोंके रूपमें यों मैं संसारी होऊँगा एवं अपने तत्त्वज्ञानसे मैं क्रमशः मुक्त भी हो जाऊँगा' इस तरहकी अपनी कल्पनासे बन्ध और मोक्षमार्गकी कल्पना कर आदि सर्गसे जो प्रथा चलाई है, उसीका यह व्यष्टि जीव भी अनुकरण करता है ॥ १३९ ॥

हे देवपुत्र, सुखपूर्वक संचरण करने योग्य नाडियोंमें जब जीव संचरण करता है, तब उसका वीर्य गिरता ही कैसे है ? अर्थात् इस सामान्य प्रश्नके व्याजसे प्रकृतमें नारदजीका वीर्यक्षरण कैसे हुआ ? यह विशेष प्रश्न पूछा गया ॥ १४० ॥

चूडालाने कहा—राजन्, स्त्रीपिण्डके अवलोकनके बाद रागवासनाके

वातस्पन्देन मेदोन्तर्मज्जासारश्च संस्थितः ।
त्यजत्याशु प्रसौगन्ध्यं रजः पत्रफलादिकम् ॥ १४२ ॥
चलितं तत्त्वधो याति गर्जादिव घनादि खे ।
देहनाडीप्रणालेन याति शुक्रं बहिः स्वतः ॥ १४३ ॥

शिखिध्वज उवाच

देवपुत्र महाज्ञोऽसि वेत्सि पूर्वां जगत्स्थितिम् ।
ज्ञायसे वचनादेव स्वभावोऽहि किमुच्यते ॥ १४४ ॥

चूडालोवाच

आद्य सर्गे यथा सद्यः स्फुरितं ब्रह्म ब्रह्मणि ।
घटावटपटाद्यात्म तथैवाऽद्य व्यवस्थितम् ॥ १४५ ॥

उद्बुद्ध हो जानेके कारण क्षुब्ध हुआ जीव, सेनाको राजाके समान, अधिष्ठानभूत मोक्तृचैतन्यकी सम्मतिमात्रसे प्राण आदि वायुओंको क्षुब्ध कर देता है ॥ १४१ ॥

तदनन्तर मेद, अस्थि आदिके अन्दर संचरण करनेवाले व्यानवायुकी प्रेरणासे समस्त अङ्गोंमें विद्यमान मेदाका अन्तर्गत सारभूत सार मज्जासार उत्तम सौगन्ध्यके सदृश अनुगत रजोभागको (सूक्ष्म अंशको) तत्क्षण उस प्रकार छोड़ देता है, जिस प्रकार डंठलसे तोड़ा गया पत्र, फल आदि अपने अन्दर स्थित जलभागको अन्दरके वायुस्पन्दसे छोड़ देता है ॥ १४२ ॥

वह छोड़ा गया रज (सूक्ष्म अंश) सब अङ्गोंसे विचलित होकर नाडियों द्वारा नीचे मूलाधार स्थानतक ऐसे आता है, जैसे आकाशमें विद्यमान मेघ आदि पुरोवातसे वर्षणोन्मुख होकर नीचे भूतलपर आते हैं। फिर मूलाधारमें आनेके बाद नाडी द्वारा स्वभावतः ही बाहर निकल जाता है ॥ १४३ ॥

'देवादेरपि देहोऽयं द्रुयात्मैव स्वभावतः' यह जो आपने पहले कहा था, उसमें स्वभाव शब्दार्थ क्या है ? यों राजा पूछते हैं—'देवपुत्र' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे देवपुत्र, वचनोंसे जाने जाते हैं कि आप बड़े ही तत्त्वज्ञानी हैं, आत्मज्ञान होनेके पूर्वकी जो संसारकी स्थिति थी, उसे भी तर्कादिसे आप जानते हैं, इसलिए आप कृपाकर बतलाइए कि 'स्वभाव' शब्दसे क्या कहा जाता है ॥ १४४ ॥

सृष्टिके आरम्भमें सृष्टिके उत्पादनमें उत्सुक ब्रह्म प्राणियोंके प्राक्तन कर्मोंवे

काकतालीयवद्वारिबुद्बुदोत्पत्तिनाशवत् ।
घुणाक्षरवदुच्छूनं तं स्वभावं विदुर्बुधाः ॥ १४६ ॥
अस्मिन्स्वभाववशतो जगति प्ररूढे
देहा भ्रमन्ति परितो विविधा विकाराः ।

अनुसार जिस-जिस धर्मवाले जिस-जिस पदार्थके रूपसे अपने आपमें स्फुरित होता है, उस उस पदार्थका प्रलयतक उस उस धर्मसे युक्त रहना ही स्वभाव शब्दका अर्थ है, यह कहते हैं—'आद्यसर्गे' इत्यादिसे ।

चूडालाने कहा—प्रिय, सृष्टिके आरम्भमें सृष्टिके उत्पादनके लिए उन्मुख हुआ ब्रह्म अपने आपमें जिस घट, कुण्ड, पट आदि रूपसे प्रस्फुरित हुआ था, उसी रूपसे आज भी व्यवस्थित है ॥ १४५ ॥

वर्तमान समयमें घट आदिमें स्वभावका वैचित्र्य कारण-सामग्रीके वैचित्र्यसे कदाचित् हो सकता है, परन्तु सृष्टिके आरम्भमें तो कारण-सामग्रीका निरूपण कर ही नहीं सकते, इसलिए 'तालवृक्षके नीचे कौएके आगमनकालमें ही दैववश तालफलका गिरना और उससे तत्काल उसका मर जाना जैसे अदृष्ट-जनित है, वैसे ही, वह सब आद्यवैचित्र्य अदृष्टाधीन है, इसे बतलानेके लिए ही आदि सर्गका यहाँ कथन किया गया है, इस आशयसे कहते हैं—'काक०' इत्यादिसे ।

काकतालीय न्यायके सदृश या जलमें बुद्बुदोंकी उत्पत्ति और विनाशके सदृश या घुणाक्षरके सदृश सर्गारम्भमें घट, पट आदि चित्र-विचित्र पदार्थोंके रूपमें जिस किसी वस्तुविशेषसे ब्रह्म प्रस्फुरित हुआ, उसीको विद्वान् स्वभाव कहते हैं * ॥ १४६ ॥

उक्त अनिर्वचनीय स्वभावके बलसे उत्पन्न हुए इस जगत्में अण्डज आदि चार प्रकारके विविध विकारात्मक जो देह यत्र तत्र चारों ओर घूम रहे हैं, उनमें कोई ज्ञानवान् देह समस्त वासनाओंके क्षीण हो जानेके कारण फिर जन्म धारण

* इस श्लोकमें वर्तमानकालिक प्रत्येक वस्तुमें जो नियत स्वभाववैचित्र्य है, उसमें सामग्रीकी इयत्ताका निरूपण नहीं कर सकते, इस अभिप्रायसे 'वारिबुद्बुद' यह दूसरा दृष्टान्त दिया गया है । अथवा मायारूप होनेसे वैचित्र्योत्पत्ति आकस्मिक है, इस अभिप्रायसे घुणाक्षरका तीसरा दृष्टान्त दिया गया है ।

प्रक्षीणवासनतया न भवन्ति केचिद्
भूयो भवन्ति च पुनस्त्वितरे घनास्थाः ॥ १४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे सुखविचारयोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥८५॥

षडशीतितमः सर्गः

चूडालोवाच

आत्मस्वभाववशतो जातं जगदिदं महत् ।
स्थितिं वासनयाऽभ्येत्य धर्माधर्मवशे स्थितम् ॥ १ ॥
वासनाह्रासमानीय धर्माधर्मैर्न गृह्यते ।
ततो न जायते जन्तुरिति नो दर्शनं मुने ॥ २ ॥

नहीं करते और अज्ञानयुक्त देह तो फिर जन्म-धारण करते हैं, क्योंकि अज्ञानी भोगोंमें ही दृढ़ आस्था रखते हैं ॥ १४७ ॥

पचासी सर्ग समाप्त

छियासी सर्ग

[कुम्भसे कुम्भकी उत्पत्ति, वृद्धि, ब्रह्माके साथ उसका समागम तदनन्तर उसकी सर्वज्ञता आदिका वर्णन]

चूडालाने कहा—हे राजन्, मैंने प्रलयपर्यन्त सब वस्तुओंमें रहनेवाले जिस स्वभावका वर्णन किया है तथा मायाशबल आत्माके जिस स्वभावकी श्रुतियोंमें प्रसिद्धि है, उस स्वभावके वशसे यह असीम जगत् उत्पन्न हुआ है। केवल वासनासे अपना अस्तित्व प्राप्त कर पुण्य-अपुण्य कर्मके अधीन होकर वह स्थित रहता है ॥ १ ॥

हे मुने, अनेक तरहकी ये जो वासनाएँ हैं, उनका विनाश कर देनेसे प्राणी धर्म या अधर्मके फंदेमें नहीं फँसता और उससे वह इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता, यह हम लोगोंका साक्षात् अनुभव है ॥ २ ॥

शिखिध्वज उवाच

अत्युदारं महार्थं च वक्षि त्वं वदताम्वर ।
अनुभूतिमुपारूढं गूढं च परमार्थवत् ॥ ३ ॥
त्वद्वाक्यविभवेनाऽद्य श्रुतेनाऽनेन सुन्दर ।
पीतेनेवाऽमृतेनाऽहमन्तर्यातोऽस्मि शीतताम् ॥ ४ ॥
तत्समासेन तां तावदात्मोत्पत्तिं वदाऽऽशु मे ।
ततः श्रोष्यामि यत्नेन ज्ञानगर्भां गिरं तव ॥ ५ ॥
तेन पद्मजपुत्रेण मुनिना नारदेन तत् ।
क्व कृतं वीर्यमार्येण कथयाऽद्य यथास्थितम् ॥ ६ ॥

चूडालोवाच

ततो निबध्नता तेन मनो मत्तमतङ्गजम् ।
विवेकविपुलालाने शुद्धया धीवरत्रया ॥ ७ ॥
तद्वीर्यं कल्पकालाग्निगलितेन्दुद्रवोपमम् ।
रसानां पारदादीनां दिव्यानामनुरञ्जनम् ॥ ८ ॥

वासनाओंके विनाशसे जन्तु संसारमें नहीं आता, इस अनुभवमें विशेष जाननेकी इच्छासे प्रस्तावित कथाकी संक्षेपतः समाप्तिके लिए प्रार्थना करते हैं— 'अत्युदारम्' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे बड़े-बड़े वाग्मियोंमें श्रेष्ठ, आप जो वचन कहते हैं, वह अत्यन्त उदार भावसे भरा, अर्थ रखनेवाला, गूढ़, अनुभवपर तत्क्षण चढ़ जानेवाला और पारमार्थिक होता है ॥ ३ ॥

हे रमणीय, आपका वचनवैभव आज जो सुना गया है, उससे मैं अपनी आत्माके भीतर उत्तम शान्तिका अनुभव उस प्रकार कर रहा हूँ, जिस प्रकार अमृतका पान करनेपर आत्माके अन्दर शान्तिका अनुभव होता है ॥ ४ ॥

इसलिए आप अपनी प्रसिद्ध उत्पत्तिके विषयमें मुझसे कुछ कहिए, तदनन्तर प्रयत्नपूर्वक आपकी ज्ञानगर्भित वाणीका मैं श्रवण करूँगा ॥ ५ ॥

अपिच, ब्रह्माजीके पुत्र, उन आर्य नारदमुनिने उस निर्गत वीर्यका किस स्थानमें स्थापन किया ? यह भी यथावत् आज मुझसे कहिए ॥ ६ ॥

चूडालाने कहा—हे मुने, तदनन्तर अपने मनरूपी उन्मत्त हाथीको विशुद्ध

मुनिना पार्श्वगे कुम्भे स्फाटिके विलसद्रुचौ ।
अद्भुते विद्रुताकारं चन्द्रे चन्द्र इवाऽर्पितम् ॥ ९ ॥

तत्र शैले बृहत्कान्ते स्थूलः पार्श्वेषु चाऽभितः ।
गम्भीरकुक्षिः सुदृढश्चोपलाहननक्षमः ॥ १० ॥

सङ्कल्पितेन क्षीरेण स कुम्भस्तेन पूरितः ।
अमृतापूरभिन्नेन विधिनेवाऽमृतार्णवः ॥ ११ ॥

तत्र मासाद्गतो वृद्धिं मुनिमन्दाहुतिक्रमः ।
अमृताब्धौ शुभो गर्भ इन्दोरिन्दुरिवाऽनुजः ॥ १२ ॥

इन्दुं मास इवाऽऽपूर्णं कालेन सुषुवे घटः ।
गर्भं कमलपत्राक्षं प्रसूनमिव माधवः ॥ १३ ॥

बुद्धिरूपी सुदृढ़ चर्मरज्जुसे विशाल विवेकरूपी आलानमें (गजबन्धन-स्तम्भमें) बाँध रहे उन नारदजीने उस द्रवीभूत वीर्यको—जो कल्पकालकी अग्निसे गलित हुए चन्द्रके द्रवके सदृश और पारद, सुवर्ण आदि शम्भुके दिव्य वीर्यके सदृश था—पासमें पड़े हुए कान्तिमान् अद्भुत स्फटिक कुम्भमें उस प्रकार स्थापित किया, जिस प्रकार चन्द्रमें दूसरा चन्द्र स्थापित किया जाय ॥ ७—९ ॥

उस विशाल कमनीय मेरुपर्वतपर पड़ा हुआ वह कुम्भ कक्षके अधोभागोंमें चारों ओर विपुल, गम्भीर पेटवाला, सुदृढ़ तथा पत्थरपर टक्कर लग जानेपर भी न टूटनेवाला था ॥ १० ॥

नारदमुनिने उस कुम्भको सङ्कल्पजनित उस क्षीररूप वीर्यसे उस प्रकार भर दिया, जिस प्रकार अपने सङ्कल्पसे रचित पृथक् अमृत-प्रवाहसे ब्रह्माजीने ब्रह्मलोकके अमृत-सागरको भर दिया था ॥ ११ ॥

कुछ ही दिनोंमें उस घटमें स्थित, हवन आदि क्रियाओंमें नारद मुनिको मन्द कर देनेवाला वह शुभ गर्भ, अमृत-सागरमें चन्द्रमाके प्रतिबिम्बके सदृश बढ़ने लगा ॥ १२ ॥

समय पाकर उस घटने कमलपत्रके सदृश नेत्रवाले गर्भका उस प्रकार प्रसव किया, जिस प्रकार मास परिपूर्ण चन्द्रमाका और वसन्त कुसुमोंका प्रसव करती है ॥ १३ ॥

परिपूर्णसमस्ताङ्गकुम्भाद्गर्भो विनिययौ ।
इन्दुः सूक्ष्मादिवाऽम्भोधेरपरः क्षयवर्जितः ॥ १४ ॥
दिनैः कतिपयैरेव वृद्धिमभ्याजगाम सः ।
अप्रमेयाङ्गसौन्दर्यः शुक्लपक्षे शशी यथा ॥ १५ ॥
सर्वसंस्कारसम्पन्ने स तस्मिन्नारदो मुनिः ।
भाण्डाद् भाण्ड इवाऽशेषं विद्याधनमयोजयत् ॥ १६ ॥
दिनैः कतिपयैरेव विज्ञाताशेषवाङ्मयम् ।
चकारैनं मुनिवरः प्रतिबिम्बमिवाऽऽत्मनः ॥ १७ ॥
तेनाऽराजत पुत्रेण मुनिना मुनिनायकः ।
रत्नादौ प्रतिबिम्बेन सन्ध्योदित इवोडुराट् ॥ १८ ॥
अथैनं पुत्रमादाय ब्रह्मलोकं स नारदः ।
जगामाऽथ स्वपितरं ब्रह्माणं चाऽभ्यवादयत् ॥ १९ ॥

कुम्भसे वह गर्भ समस्त अङ्गोंसे परिपूर्ण होकर उस प्रकार निकला, जिस प्रकार घटादिपरिच्छिन्न क्षीरसागरसे क्षयवर्जित दूसरा चन्द्रमा ॥ १४ ॥

वह कुछ ही दिनोंमें शुक्लपक्षमें चन्द्रमाकी नाईं बढ़ गया । उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें ऐसा सौन्दर्य निखर रहा था, जिसका निरूपण नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

जब उसके सभी जातकर्म आदि संस्कार हो चुके, तब उन नारदजीने उस बालकमें विद्यारूपी धन उस प्रकार उड़ेल दिया, जिस प्रकार एक पात्रसे दूसरे पात्रमें धन ॥ १६ ॥

थोड़े ही दिनोंमें उसने यावत् विद्यास्थानोंका भलीभाँति ज्ञान कर लिया । थोड़ेमें मुनिश्रेष्ठ नारदजीने उस बालकको ठीक अपने प्रतिबिम्बके समान बना डाला ॥ १७ ॥

पुत्ररूपी दूसरे मुनिके साथ मुनिनायक नारदजी उस प्रकार सुशोभित होने लगे, जिस प्रकार स्फटिक पर्वतमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके साथ सन्ध्याकालके पूर्ण-चन्द्र सुशोभित होते हों ॥ १८ ॥

अनन्तर वे नारदजी अपने पुत्रको लेकर ब्रह्मलोकमें गये और अपने पिता ब्रह्माजीको उससे अभिवादन कराया ॥ १९ ॥

कृताभिवन्दनं ब्रह्मा पौत्रमादाय तं तदा ।
अभिवादितवेदादिं स्वयमङ्के न्यवेशयत् ॥ २० ॥
अथाऽऽशीर्वादमात्रेण सर्वज्ञं ज्ञानपारगम् ।
पौत्रं तं कुम्भनामानं चकार कमलोद्भवः ॥ २१ ॥
साधो सोऽहमयं कुम्भः पौत्रोऽहं पद्मजन्मनः ।
पुत्रोऽहं नारदमुनेः कुम्भनामाऽस्मि कुम्भजः ॥ २२ ॥
निवसाम्यब्जजपुरे पित्रा सह यथासुखम् ।
चत्वारः सुहृदो वेदा मम लीलाविलासिनः ॥ २३ ॥
मातृष्वसा मे गायत्री मम माता सरस्वती ।
ब्रह्मलोके मम गृहं पौत्रस्तत्राऽस्मि सुस्थितः ॥ २४ ॥
यथाकाममशेषेण जगन्ति विहराम्यहम् ।
लीलया परिपूर्णत्वान्न तु कार्येण केनचित् ॥ २५ ॥

अभिवादन कर चुके पौत्रको ब्रह्माजीने लेकर उससे सब वेदादि शास्त्रोंके विषयमें परीक्षार्थ प्रश्न पूछे। उनका समुचित उत्तर सुनकर उसे अपने गोदमें स्वयं बैठा लिया ॥ २० ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने उस कुम्भनामक पौत्रको केवल आशीर्वादसे सर्वज्ञ और तत्त्वज्ञानमें परिनिष्ठित बना डाला ॥ २१ ॥

हे साधो, वह जो ब्रह्माजीका पौत्र कुम्भ हुआ, वही यह तुम्हारे सामने उपस्थित है। मैं ही नारदजीका पुत्र कुम्भनामका हूँ और कुम्भसे उत्पन्न हुआ हूँ ॥ २२ ॥

साधो, मैं ब्रह्मलोकमें पिताजीके साथ सब सुखोंसे पूर्ण होकर रहता हूँ। क्रीडाके समय विलास कर रहे चार वेद मेरे मित्र हैं ॥ २३ ॥

मेरी मौसी गायत्री है, मेरी माँ सरस्वती है, मेरा घर ब्रह्मलोकमें है, वहीं भगवान् ब्रह्माका पौत्र होकर मैं सुस्थिर रहता हूँ ॥ २४ ॥

इच्छाके अनुसार सब लोकमें मैं विहार करता हूँ। सब इच्छाओंसे परिपूर्ण होनेके कारण घूमनेमें मेरा प्रयोजन केवल लीला ही है। किसी कार्यविशेषसे मैं विहार नहीं करता ॥ २५ ॥

धरां पतति मे पादौ पततो न महीतले।
रजः स्पृशन्ति नाऽङ्गानि ग्लानिं नाऽऽयाति मे वपुः ॥२६॥
अद्याऽऽकाशमथाऽऽगच्छन् दृष्टवांस्त्वामहं पुरः।
इह तेनाऽऽगतोऽस्म्यङ्ग सर्वं कथितवानिति ॥ २७ ॥
एषोऽहमित्यखिलमेव यथानुभूतं
ते वर्णितं ननु मया वनवासतज्ज्ञ।
सन्तो हि संकथनमार्यजनोत्तमेषु
निर्मान्त्यलं सुभग संव्यवहारदक्षाः ॥ २८ ॥
वाल्मीकिरुवाच
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ २९ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
कुम्भजननकथनं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥
॥ सप्तदशो दिवसः ॥

जब मैं भूलोकमें विचरण करता हूँ तब मेरे पैर भूमिमें नहीं लगते, अङ्ग धूलिकणोंका स्पर्श नहीं करते और मेरा शरीर कभी ग्लानि नहीं करता ॥२६॥

हे प्रिय, आज मैं जब आकाशमार्गसे जा रहा था, तब मैंने आपको सामने देखा, इसलिए यहाँ मैं आ गया और आपसे पूर्वका सब वृतान्त कहा ॥ २७ ॥

अब अपनी उक्तिका उपसंहार करते हैं—'एषो०' इत्यादिसे।

वनवासके गुणोंको तथा उसके फल चित्तशुद्धिको जाननेवाले हे महात्मन्, आपने जो कुछ पूछा, उन सबका ही मैंने अनुभवके अनुसार आपसे वर्णन किया। हे भाग्यशालिन्, उत्तम आर्यजनोंके प्रश्न करनेपर सत्पुरुष संभाषण करते ही हैं, क्योंकि वे आर्यजनोंके साथ प्रश्न और उत्तर करनेके व्यवहारमें बड़े ही पटु होते हैं ॥ २८ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—भद्र, तदनन्तर वसिष्ठ मुनिजीके ऐसा कहनेपर दिवस बीत गया, सूर्य भगवान् अस्ताचलकी ओर चले गये, वसिष्ठ मुनिको नमस्कार कर

सप्ताशीतितमः सर्गः

शिखिध्वज उवाच

सर्गे स्फुरद्भिर्मत्पुण्यैर्मन्ये सम्प्रेषितो भवान् ।
अलक्ष्यैः सम्भृतैरद्रौ बृहद्वातैरिवाऽम्बुदः ॥ १ ॥
अद्य तिष्ठाम्यहं साधो धन्यानां धुरि धर्मतः ।
अमृतस्यन्दिवचसा यत्त्वयाऽस्मि समागतः ॥ २ ॥
न केचन तथा भावाश्चेतः शीतलयन्ति मे ।
राज्यलाभादयोऽप्येते यथा साधुसमागमः ॥ ३ ॥

सायंकालकी विधिके लिए सभा स्नानार्थ चली गई और रात बीत जानेपर सूर्यकी किरणोंके साथ-साथ ही सभामण्डपमें वह फिर आ गई ॥ २९ ॥

छियासी सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ दिन

सतासी सर्ग

[राजा शिखिध्वज द्वारा कुम्भकी प्रशंसा, अपना दुःख रोना, शिष्यत्वस्वीकार तथा उपदेश्य अर्थमें विश्वासप्रदर्शन आदिका वर्णन]

राजा शिखिध्वजने कहा—महात्मन्, अनेक जन्मात्मक संसारमें अनुष्ठित—एक साथ परिपक्व हो जानेके कारण फलदानके लिए स्फुरित हो रहे मेरे संचित अप्रत्यक्ष—पुण्यों द्वारा ही सचमुच इस मन्दराचल पर्वतपर, पूर्वी वायु द्वारा मेघके सदृश, आप भेजे गये हैं, यह मैं मानता हूँ ॥ १ ॥

आपके उपदेशसे मैं अवश्य कृतार्थ हो जाऊँगा, यह सूचित करनेके लिए 'मैं कृतार्थ हो ही गया' यों सिद्ध-सा मानकर कहते हैं—'अद्य' इत्यादिसे ।

हे साधो, चूँकि अमृत बहानेवाली वाणी बोलनेवाले आपके साथ मेरा समागम हुआ, इसलिए आज तो मैं बड़े-बड़े धर्मानुष्ठानसे धन्य हुए पुरुषोंमें सबसे प्रथम स्थानमें अवस्थित हो गया हूँ ॥ २ ॥

सज्जनोंका समागम अन्तरात्मामें जैसी शान्ति पहुँचाता है, वैसी शान्ति ये राज्यलाभ आदि बड़े-बड़े कोई भी पदार्थ नहीं पहुँचाते ॥ ३ ॥

निरर्गलरसो यत्र सामान्येन विजृम्भते ।
मुक्तरागादिमननं तत्कल्पनसुखावहम् ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं वादिनि सैवाऽस्य वाक्यमाक्षिप्य भूपतेः ।
भूयः प्रोवाच चूडाला मुनिदारकरूपिणी ॥ ५ ॥

चूडालोवाच

आस्तामेषा कथा तावत् सर्वं ते वर्णितं मया ।
त्वं मे कथय हे साधो कस्त्वमद्रौ करोषि किम् ॥ ६ ॥
कियत्पर्यवसानेयं भवतो वनवासिता ।
सत्यं कार्यं च नोऽसत्यं वक्तुं जानन्ति तापसाः ॥७॥

राज्य-लाभ आदिकी अपेक्षा साधु-समागममें महत्त्व दिखलाते हैं—'निरर्गल०' इत्यादिसे ।

साधु पुरुषोंका समागम होनेपर तत्काल ही अपरिमित ब्रह्मानन्दरूप सुख—धनी, दरिद्र आदि सबमें सर्वसाधारणरूपसे—स्फुरित होने लग जाता है, वहाँ राग, द्वेष आदिका विचार ही नहीं रहता । राज्यलाभ आदि तो तुच्छसुख प्रदान करता है, यहाँ अपरिमित आनन्दकी न संभावना है और न सर्वसाधारणको सुलभ ही है ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, शिखिध्वज यों कह ही रहे थे कि बीचमें ही उस राजाके वाक्यको रोककर नारदमुनिके बच्चेके रूपमें विद्यमान चूडाला बोलने लगी ॥ ५ ॥

चूडालाने कहा—साधो, अब मेरी प्रशंसार्थ जो कुछ वचन आप कह रहे हैं, उसे रहने दीजिए । आपने जो कुछ पूछा, उसका मैंने वर्णन किया । अब मुझसे कहिए कि आप हैं कौन और इस पर्वतपर क्या कर रहे हैं ॥ ६ ॥

आपका यह अरण्यवास कितने कालका हुआ यानी आपको अरण्यवास करते-करते कितना समय बीत गया । वनवास कर कौन कार्य सिद्ध करना चाहते हैं, यह सत्य-सत्य कहिए, छिपाइए मत, क्योंकि तपस्वी लोग असत्य बोलना जानते ही नहीं ॥ ७ ॥

शिखिध्वज उवाच

देवपुत्रोऽसि जानासि सर्वमेव यथास्थितम् ।
लोकवृत्तान्ततज्ज्ञोऽसि किमन्यत्कथयाम्यहम् ॥ ८ ॥
संसारभयभीतत्वान्निवसामि वनान्तरे ।
जानतोऽपि हि मामार्य कथयाम्येव ते मनाक् ॥ ९ ॥
शिखिध्वजोऽहं भूपालस्त्यक्त्वा राज्यमिहाऽऽस्थितः ।
भृशं भीतोऽस्मि तत्त्वज्ञ संसृतौ जन्मतः पुनः ॥ १० ॥
सुखं पुनः पुनर्दुःखं पुनर्मरणजन्मनी ।
भवतस्तेन तप्येऽहं तत्त्वज्ञ वनवीथिषु ॥ ११ ॥
भ्रमन्नपि दिगन्तेषु चरन्नपि परं तपः ।
नासादयामि विश्रान्तिमेकां निधिमिवाऽधनः ॥ १२ ॥
अयत्नोऽप्यफलोऽप्येको ह्यपूर्णोऽप्यस्तसङ्गतिः ।
शुष्याम्यत्र वने साधो घुणक्षुण्ण इव द्रुमः ॥ १३ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—मुनिवर, आप देवपुत्र हैं, सभी कुछ ठीक-ठीक जानते हैं । लोकवृत्तान्त और परमार्थवृत्तान्त भी जानते हैं, फिर भी आपके जानने योग्य और दूसरी कौन-सी वस्तु कहूँ ॥ ८ ॥

हे आर्य, केवल संसाररूपी भयसे भीत हो जानेके कारण मैं इस वनके अन्दर रहता हूँ । यद्यपि आप तो मुझे जानते ही हैं, फिर भी मैं आपसे कुछ संक्षेपतः कह रहा हूँ ॥ ९ ॥

मैं शिखिध्वजनामक राजा हूँ, राज्य छोड़कर यहाँपर वास करके तप कर रहा हूँ । हे तत्त्वज्ञ, मैं संसारमें पुनर्जन्मसे अत्यन्त डर गया हूँ ॥ १० ॥

पहले सुख फिर दुःख, पहले मरण फिर जन्म—यह फिर-फिर उत्पन्न हुआ ही करता है । इसलिए हे तत्त्वज्ञ, संसारसे सन्तप्त होकर इन वनवीथियोंमें तप कर रहा हूँ ॥ ११ ॥

चारों ओर दिशाओंमें घूम भी रहा हूँ, कठोर तप भी कर रहा हूँ, फिर भी जैसे निर्धन निधि प्राप्त नहीं करता, वैसे ही मैं असक्त शान्ति प्राप्त नहीं कर रहा हूँ ॥ १२ ॥

यद्यपि यहाँपर मेरा प्रयत्न कुण्ठित हो गया है, मैंने कोई फल भी प्राप्त

इमामखण्डितां सम्यक् क्रियां सम्पादयन्नपि ।
दुःखाद् गच्छामि दुःखौघममृतं मे विषं स्थितम् ॥ १४ ॥

चूडालोवाच

पितामहमहं पूर्वं कदाचित्पृष्टवानिदम् ।
यत्क्रियाज्ञानयोरेकं श्रेयस्तद् ब्रूहि मे प्रभो ॥ १५ ॥

ब्रह्मोवाच

ज्ञानं हि परमं श्रेयः कैवल्यं तेन वेत्त्यलम् ।
कालातिवाहनायैव विनोदायोदिता क्रिया ॥ १६ ॥

नहीं किया है, मैं असहाय भी हूँ, राज्यकालकी साधुसङ्गति आदिसे वञ्चित भी हो गया हूँ, फिर भी इस वनमें, घुनसे क्षीण वृक्षकी नाईं, सूख रहा हूँ ॥ १३ ॥

उपवास, देवता और अतिथि की पूजादिरूप यह नियतक्रिया ठीक-ठीक रूपसे करते-करते भी एक दुःखसे दूसरे अनेक दुःखोंकी ओर जा रहा हूँ। हे तत्त्वज्ञ, शास्त्रानुमोदित उक्त क्रिया—विश्रान्तिरूप अमृतकी हेतु होनेपर भी उसे न देकर—मेरे लिए जो विष बनकर स्थित है, उसमें कारण क्या है, उसे कहिए अर्थात् कर्मसमुच्चित उपासना अमृतकी हेतु है, यह 'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है, उसीके आधारपर मैंने भी विश्रान्तिके लिए कर्मोंके साथ-साथ उपासनाका अवलम्बन किया, पर उससे विश्रान्ति न मिलकर दुःखपरम्परा ही मिल रही है, मेरे लिए कर्मसमुच्चित उपासना विष ही बनकर बैठ गई, अतः उसके विषरूप बननेमें हेतु क्या है, कहिए ॥ १४ ॥

कर्मसमुच्चित उपासनासे मुक्ति होती है, यह जो राजाको भ्रम हो गया है, वह जबतक निवृत्त नहीं किया जाता, तबतक आत्माका उपदेश देनेपर भी आत्मा जानेगा नहीं, इसलिए भ्रमनिवारणार्थ अपनेको जिस क्रमका पितामहने उपदेश दिया था, उसका श्रवण कराते हैं—'पितामह०' इत्यादिसे ।

चूडालाने कहा—साधो, किसी समय पहले मैंने अपने पितामह ब्रह्माजीसे यह प्रश्न किया था कि हे प्रभो, ज्ञान और कर्म—इन दोनोंमें जो भी कोई एक मुक्तिका कारण हो, उसे मुझसे कहिए ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—हे पौत्र, ज्ञान ही परम श्रेय है यानी उत्तम आत्मतत्त्वका

अलब्धज्ञानदृष्टीनां क्रिया पुत्र परायणम् ।
यस्य नास्त्यम्बरं पट्टं कम्बलं किं त्यजत्यसौ ॥ १७ ॥

वासनामात्रसारत्वादज्ञस्य सफलाः क्रियाः ।
सर्वा एवाऽफला ज्ञस्य वासनामात्रसंक्षयात् ॥ १८ ॥

कारण है । केवल उसीसे भलीभाँति आत्माका साक्षात् अनुभव हो जाता है । श्रुतियोंमें जो क्रियाओंका उल्लेख किया गया है, वह तो कालयापनार्थ विनोद-मात्रके लिए ही है । तात्पर्य यह है कि स्वर्गादि सुखभोगरूप विनोदके लिए यद्यपि क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, तथापि परिणाममें स्वर्गभोगके विरस होनेके कारण वह मुख्य पुरुषार्थ नहीं हो सकता, अतः किन्हीं दूसरे प्रकारके भयङ्कर अनर्थोंकी उत्पत्तिके निवारणार्थ आयुष्यकालयापन करनेके लिए ही उक्त श्रुतिमें क्रियाका उल्लेख किया गया है ॥ १६ ॥

इसलिए 'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि श्रुति ज्ञानके अधिकारी जनोंके लिए ही प्रवृत्त है । उस श्रुतिमें 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' यह जो मृत्युतरण तथा अमृतत्व कहा गया है, उसका अभिप्राय स्वाभाविक दुश्चेष्टानिवृत्तिमें तथा आपेक्षिक अमृतत्वमें है, इस आशयसे कहते हैं—'अलब्ध०' इत्यादिसे ।

[पौत्र भी पुत्ररूप होता है, इस अभिप्रायसे ब्रह्माजी कहते हैं—] हे पुत्र कुम्भ, जिन जीवोंको ज्ञानरूपा दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है, उन लोगोंके लिए क्रिया ही सबसे बढ़-चढ़ कर अवलम्बन है । जिसके पासमें पट्ट अम्बर (महर्घ पट्टू) नहीं रहता, क्या वह साधारण कम्बल कहीं छोड़ सकता है ? ॥ १७ ॥

तत्त्वज्ञानी भी वर्णाश्रमक्रमानुसार कर्मकलाप करते देखे जाते हैं, फिर आप कैसे कहते हैं कि कर्मकलाप अज्ञानियोंके लिए सबसे बढ़-चढ़कर शरण है ? इसपर कहते हैं—'वासना०' इत्यादिसे ।

हाँ, ज्ञानी कर्म करता है, परन्तु उसकी क्रियाएँ निष्फल हैं यानी जन्म-मरण आदिके चक्रमें उसे नहीं डालती, क्योंकि उसकी समस्त वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं और जो अज्ञानी है उसके सभी कर्म सफल हैं यानी जन्म-मरणके चक्रमें उसे डालते ही हैं, क्योंकि कर्मोंकी सफलतामें प्रयोजक वासनाएँ उसमें बनी हुई हैं ॥ १८ ॥

सर्वा हि वासनाभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः ।
अशुभाः फलवन्त्योऽपि सेकाभावे लता इव ॥ १९ ॥
ऋत्वन्तरे यथा याति विलयं पूर्वमार्तवम् ।
तथैव वासनानाशे नाशमेति क्रियाफलम् ॥ २० ॥
न स्वभावेन फलति यथा शरलताफलम् ।
क्रियानिर्वासना पुत्र फलं फलति नो तथा ॥ २१ ॥
सयक्षवासनो बालो यक्षं पश्यति नाऽन्यथा ।
सदुःखवासनो मूढो दुःखं पश्यति नाऽन्यथा ॥ २२ ॥

क्या तब ज्ञानीकी अशुभ क्रियाएँ भी वैसी ही हैं, यों कहते हैं—'सर्वा' इत्यादिसे ।

सभी क्रियाएँ चाहे वे शुभ हों चाहे अशुभ, वासनाके अभावमें निष्फल ही हो जाती हैं । फलदानमें तत्पर भी अशुभ क्रियाएँ एकमात्र बाधितानुवृत्तिसे, सेचनके अभावसे सफल शुष्क लताके सदृश, शुष्क ही है । तात्पर्य यह निकला कि जिस ज्ञानीमें प्रारब्धफलक भी क्रियाएँ बाधितानुवृत्तिके कारण सफल शुष्क लताके सदृश रहती हैं, उस ज्ञानीमें अनारब्धफलक क्रियाएँ शुष्क रहती हैं, इसमें तो कहना ही क्या ? जहाँ बड़े-बड़े वृक्ष दग्ध हो जाते हों, वहाँ साधारण तृणके विषयमें तो कहना ही क्या ? ॥ १९ ॥

जिस प्रकार दूसरी ऋतुमें पहलेकी ऋतुमें होनेवाले नीहार आदि विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार वासनाका विनाश हो जानेपर सभी क्रियाओंके फल विलीन हो जाते हैं ॥ २० ॥

वासनासे शून्य क्रिया क्यों फल पैदा नहीं करती ? इस प्रश्नपर काशलताके सदृश स्वभावसे ही, यों उत्तर देते हैं—'न स्वभावेन' इत्यादिसे ।

हे पुत्र, जैसे काशकी लता स्वभावसे ही कोई फल नहीं देती, वैसे ही वासनाशून्य क्रिया स्वभावसे ही कोई फल नहीं देती ॥ २१ ॥

सुख-दुःखके भोगके लिए मैं योग्य हूँ, इस प्रकारकी वासना ही, बाल-भ्रान्तिमें हेतु यक्षवासनाके सदृश, तत्-तत् सुख आदिमें कारण है, यों कहते हैं—'सयक्ष०' इत्यादिसे ।

जब बालक यक्षकी वासनासे युक्त रहता है, तभी यक्षको देखता है, अन्यथा

आकारभासुराऽप्युच्चैर्न ददाति फलं क्रिया ।
शुभाशुभा वा तज्ज्ञस्य फुल्ला शरलता यथा ॥ २३ ॥
वासना चेह नाऽस्त्येव साऽहङ्कारादिरूपिणी ।
असत्यैवोदिता मौर्ख्यान्मरुभूमाविवाऽम्बुधिः ॥ २४ ॥
यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेतिभावनात् ।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाऽम्बुधिर्मरौ ॥ २५ ॥
वासनामात्रसंत्यागाज्जरामरणवर्जितम् ।
पदं भवति जीवोऽन्तर्भूयो जन्मविवर्जितम् ॥ २६ ॥
सवासनं मनो ज्ञेयं ज्ञानं निर्वासनं मनः ।
ज्ञानेन ज्ञेयमभ्येत्य पुनर्जीवो न जायते ॥ २७ ॥

नहीं, बस इसी रीतिसे जब पुरुष दुःख आदिकी वासनासे युक्त रहता है, तभी दुःख आदिका अनुभव करता है, अन्यथा नहीं ॥ २२ ॥

उन्नत और आकार-प्रकारसे धवल भले ही शुभाशुभ क्रिया हो, परन्तु आत्मज्ञानीको वह ऐसे फल नहीं देती, जैसे विकसित धवल शरलता फल नहीं देती ॥ २३ ॥

अज्ञदशामें अर्थक्रियामें समर्थ सत्यभूत वासनाका ज्ञानसे बाध कैसे होगा, इसपर कहते हैं—'वासना' इत्यादिसे ।

हे साधो, अज्ञानदशामें भी वासना वास्तवमें नहीं रहती, परन्तु मूर्खताके कारण अहङ्कार आदिका रूप धारण कर असत्यरूपसे ऐसे उदित हुई है, जैसे मरुभूमिमें असत्यरूपसे जल ॥ २४ ॥

पहलेकी वासनाका नाश होनेपर भी ज्ञानकी उत्पत्तिके समय उत्पन्न हुई वासना तो क्रियारूप फलका प्रसव करेगी ही, इसपर कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

'सब कुछ ब्रह्मरूप ही है' इस भावनासे जिसकी अज्ञानरूपिणी मूर्खता विनाशको प्राप्त हो गई, उसको वासना ऐसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे मरुभूमिके स्वरूपको जाननेवाले प्राज्ञ पुरुषको मरुभूमिमें जलसागरकी भ्रान्ति नहीं होती ॥ २५ ॥

अपने अन्दर एकमात्र वासनाका त्याग कर देनेसे ही जरा और मरणसे रहित तथा पुनर्जन्मसे रहित परमार्थ वस्तुरूप जीव बन जाता है ॥ २६ ॥

पितामहकी उक्तिका उपसंहार करते हैं—'सवासनम्' इत्यादिसे ।

चूडालोवाच

ज्ञानमेव परं श्रेय इति ब्रह्मादयोऽपि ते ।
प्राहुर्महान्तो राजर्षे त्वं किमज्ञानवान् स्थितः ॥ २८ ॥
इतः कमण्डलुरितो दण्डकाष्ठमितो वृसी ।
इत्यनर्थविलासेऽस्मिन् रमसे किं महीपते ॥ २९ ॥
कोऽहं कथमिदं जातं कथं शाम्यति चेति भो ।
राजन्नाऽवेक्षसे कस्मात्किमज्ञ इव तिष्ठसि ॥ ३० ॥
कथं बन्धः कथं मोक्ष इति प्रश्नानुदाहरन् ।
पारावारविदां पादान् कस्माद्राजन्न सेवसे ॥ ३१ ॥

वासनायुक्त मन ज्ञेय है और वासनाशून्य मन ज्ञान है, यह जानना चाहिए। जब ज्ञान द्वारा ज्ञातव्य ब्रह्म वस्तु प्राप्त हो जाती है, तब जीव दूसरी बार जन्मधारण नहीं करता ॥ २७ ॥

चूडालाने कहा—हे राजर्षे, प्रसिद्ध बड़े-बड़े ब्रह्मा आदि भी जब ज्ञान ही परम मोक्षका साधन होनेसे कल्याणरूप है, यह निःसंदिग्ध कहते हैं, तब आप ज्ञान छोड़कर 'तप ही मोक्षका हेतु है' यों निश्चय कर क्यों अवस्थित हैं ॥ २८ ॥

विवेकशून्य बहिर्मुख जो पुरुष हैं, उनके लिए दण्ड, कमण्डलु आदि साधारण वस्तुएँ भी, ममता उत्पन्न कर, पर्याप्त अनर्थफल दे सकती हैं, इस आशयसे कहते हैं—'इतः' इत्यादिसे ।

हे महीपते, यहां दण्ड है, यहां कमण्डलु है, यहां आसन है इत्यादि विचारसे अनर्थोंसे पूर्ण इस संसारमें क्यों भ्रान्त हो रहे हैं ! ॥ २९ ॥

यदि तपश्चर्या अनर्थ और हेय है, तो किसका अवलम्बन करना चाहिए, इसपर कहते हैं—'कोऽहम्' इत्यादिसे ।

हे राजन्, मैं कौन हूँ, यह अनर्थात्मक जगत् किस तरह उत्पन्न हुआ, इसकी शान्ति किस उपायसे होगी, इस तरह तो आप विचार नहीं करते और अज्ञानीकी तरह क्यों रहते हैं ॥ ३० ॥

विचारके सदृश गुरुके पास जाना, उनकी सेवा करना, उनसे आत्माके विषयमें प्रश्न करना आदि भी उपादेय हैं, यह दिखलाते हैं—'कथम्' इत्यादिसे ।

दुःस्पन्दसंविदा शैलकोटरे क्रिययाऽनया ।
जीवितं क्षिपयन् किं त्वं शिलाकीटवदास्थितः ॥ ३२ ॥

साधूनां समदृष्टीनां परिप्रश्नेन सेवया ।
सङ्गमेन च सा युक्तिर्लभ्यते मुच्यते यया ॥ ३३ ॥

साधुनैव समं ग्रासं भुञ्जानो वनकोटरे ।
तिष्ठाऽवष्टब्धदुश्चेष्टो धराविवरकीटवत् ॥ ३४ ॥

वसिष्ठ उवाच

कान्तया देवरूपिण्या तयैवं प्रतिबोधितः ।
अश्रुपूर्णमुखो वाक्यं शिखिध्वज उवाच ह ॥ ३५ ॥

यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ, मोक्ष किस उपायसे होगा इत्यादि प्रश्न करते हुए आप पर तत्पदार्थ और अपर त्वंपदार्थको एकरूपसे जाननेवाले तत्त्वज्ञ गुरुओंके पास जाकर उनके चरणोंकी सेवा क्यों नहीं करते ॥ ३१ ॥

व्रत, उपवास, शीत, उष्ण आदि सुख-दुःखात्मक प्रवृत्तिमें उत्सुक आत्म-चैतन्य जिसमें रहता है, ऐसी इस तपरूप क्रियासे पर्वतकोटरमें, शास्त्रके कीटके सदृश, आप अपनी आयु क्यों व्यतीत कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

सम (ब्रह्म) दृष्टि साधु पुरुषोंके पास आत्मकल्याणार्थ प्रश्न, उनकी सेवा तथा समागम करनेसे वह युक्ति (आपकी अभीष्ट विश्रान्तिसुखदायिनी ज्ञान-युक्ति) प्राप्त हो जाती है, जिससे तत्काल संसारबन्धसे पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

तब अबसे मुझे कैसे रहना चाहिए ? यह बतलाते हैं—'साधुनैव' इत्यादिसे ।

हे राजन, तपश्चर्या आदि बहिर्मुख दुःखप्रद चेष्टाओंसे विरत होकर आप गुरुजीके साथ ही आहार खाते हुए इस वनकोटरमें, धराछिद्रमें रहनेवाले कीटके समान, निश्चल होकर स्थित रहिए ॥ ३४ ॥

वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, देवताका रूप धारण की हुई उस कान्ता (चूडाला) द्वारा प्रबोधित वह राजा शिखिध्वज आँसुओंसे पूर्ण मुख होकर यह वचन कहने लगे ॥ ३५ ॥

शिखिध्वज उवाच

अहो नु बोधितोऽस्म्यद्य चिरात्सुरसुत त्वया ।
मौर्ख्यादार्यसमासङ्गं मुक्त्वाऽहमवसं वने ॥ ३६ ॥
अहो नु मे क्षयं यातं मन्ये पापमशेषतः ।
यत्त्वमेव समागत्य सम्प्रबोधयसीह माम् ॥ ३७ ॥
गुरुस्त्वं मे पिता त्वं मे मित्रं त्वं मे वरानन ।
शिष्यो नमस्करोम्यद्य पादौ तव कृपां कुरु ॥ ३८ ॥
यदुदारतमं वेत्सि यस्मिन् ज्ञाते न शोच्यते ।
भवामि निर्वृतो येन तद्ब्रह्मोपदिशाऽऽशु मे ॥ ३९ ॥
घटज्ञानादयो ज्ञाने विभागाः सन्त्यनेकशः ।
ज्ञानानां परमं ज्ञानं कतरत्तारकं भवेत् ॥ ४० ॥

चूडालोवाच

यद्युपादेयवाक्योऽहं राजर्षे तद्वदामि ते ।
यथाज्ञानमिदं किञ्चिन्न वक्ष्ये स्थाणुकाकवत् ॥ ४१ ॥

शिखिध्वजने कहा—देवपुत्र, आश्चर्य है कि बहुत समयके बाद आज आपके द्वारा मैं जगाया गया हूँ । मूर्खतासे ही साधुसमागम छोड़कर मैं इतने समय तक वनमें रहा ॥ ३६ ॥

अहो, मेरा पाप सम्पूर्ण नष्ट हो गया, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि आप ही यहां आकर मुझे जगा रहे हैं ॥ ३७ ॥

हे सुन्दरानन, आप ही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं, आप ही मेरे मित्र हैं, शिष्यरूप मैं आपके चरणोंको प्रणाम करता हूँ, कृपा कीजिए ॥ ३८ ॥

जिस उदारतम वस्तुको आप जानते हैं, जिसके ज्ञात हो जानेपर प्राणी फिर शोक नहीं करता, जिससे मैं सुखमें विश्रान्त हो जाऊँ, उस ब्रह्मरूप वस्तुका मुझे उपदेश दीजिए ॥ ३९ ॥

मुनिवर, ज्ञानमें तो घटज्ञान, पटज्ञान आदि अनेक तरहके भेद पाये जाते हैं, इसीलिए आपने 'ज्ञान ही कल्याणकारक है' इससे जो परम तारकज्ञान कहा वह घटज्ञानादिमें से कौन ज्ञान है ॥ ४० ॥

चूडालाने (कुम्भने) कहा—हे राजर्षे, यदि मैं उपादेयवाक्य हूँ, यानी मेरे

अनुपादेयवाक्यस्य वक्तुः पृष्टस्य लीलया ।
व्रजन्त्यफलतां वाचस्तमसीवाऽक्षसंविदः ॥ ४२ ॥

शिखिध्वज उवाच

यद्वक्षि तदुपादेयं मया विधिरिव श्रुतेः ।
अविचारितमेवाऽऽशु सत्यमेतद्वचो मम ॥ ४३ ॥

चूडालोवाच

यथा बालः पितुर्वाक्यं मुक्तहेतूपपादनम् ।
आदत्ते हि तथैव त्वं गृहाणैतद्वचो मम ॥ ४४ ॥
श्रवणानन्तरं बुद्ध्या शुभमित्येव भावयन् ।
शृणु गीतमिव त्यक्त्वा हेत्वर्थित्वं वचो मम ॥ ४५ ॥

वाक्यमें तुम्हें श्रद्धा है, तो तत्त्वज्ञान जैसा है, वैसा ही मैं तुमसे कहूँगा, यदि मेरे वाक्यमें तुम्हे श्रद्धा नहीं है, तो मैं नहीं कहूँगा, क्योंकि श्रद्धाशून्य जनोंके सामने कहा गया उत्तम वाक्य भी ठूँठके सामने कहे गये कौएके शब्दके समान निरर्थक एवं निन्दनीय होता है । अतः तुम्हें पहले श्रद्धालु हो जाना चाहिए ॥ ४१ ॥

जिसके वाक्यमें श्रोताको श्रद्धा नहीं रहती ऐसे लीलावशसे पूछे गये वक्ताके वाक्य उस प्रकार निष्फल हो जाते हैं, जिस प्रकार अन्धकारमें इन्द्रियोंके सम्बन्ध निष्फल हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, जिस तरह श्रुतिकी 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि निर्दोष प्रामाण्यसे निश्चित विधि शिष्ट पुरुषों द्वारा निःसन्देह गृहीत की जाती है, उसी तरह आप जो कुछ भी कहेंगे, उसे मैं तत्काल ही ग्रहण कर लूँगा, यह मेरा वाक्य आप सत्य ही जानिये ॥ ४३ ॥

चूडालाने कहा—राजन्, जैसे बालक हेतुओंसे उपपत्तिशून्य अपने पिताके वचनोंको प्रमाणबुद्धिसे ग्रहण करता है, वैसे ही आप मेरे इन वचनोंको ग्रहण कीजिए ॥ ४४ ॥

राजन्, सुननेके बाद 'इसमें मेरा हित ही है' इस प्रकारकी बुद्धिपूर्वक भावना करते हुए आप तर्कवादका परित्याग कर 'मधुर गीतकी नाईं' मेरे इन वचनोंको प्रीतिसे सुनिए और उनको प्रामाण्यबुद्धिसे ग्रहण कीजिए ॥ ४५ ॥

स्वचरितसदृशं तथोदयन्त्या-
श्चिरसमयेन विबोधनं च बुद्धेः ।
भवभयसुतरं महामतीनां
शृणु कथयामि कथाक्रमं मनोज्ञम् ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजावबोधो नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमः सर्गः

चूडालोवाच

अस्ति कश्चित्पुमान् श्रीमान् स्थानं नित्यविरुद्धयोः ।
गुणलक्ष्म्योरशेषेण यथाऽब्धिर्वाडवाम्बुनोः ॥ १ ॥

देहादिमें अभिमानका त्याग करानेके लिए तथा दुःखोंका निदान दिखलानेके लिए मणि-काचके उपाख्यान तथा हस्तिपकके आख्यानका श्रवण करानेके लिए चूडाला अवतरण बाँधती है—'स्वचरित०' इत्यादिसे ।

राजन्, मैं एक ऐसा मनोहर कथाक्रम कहता हूँ, जो आपके चरितके सदृश है, मन्दमतियोंकी भी चिरकालके बाद विचारोदय द्वारा उदयको प्राप्त कर रही बुद्धिको बोध देनेवाला है तथा महामतियोंको तो शीघ्र ही संसारके भयसे पार कर देनेवाला है, आप उसे सुनिये ॥ ४६ ॥

सतासी सर्ग समाप्त

अठासी सर्ग

[चिर कालकी तपस्यासे प्राप्त हुए चिन्तामणिको किसीने अपनी मूर्खतासे छोड़कर मणिकी भ्रान्तिसे काचको अपनाया, यह कथा]

चूडालाने कहा—कोई एक श्रीमान् पुरुष था । वह अनादि कालसे ही एक दूसरेके स्थानमें न रहनेवाले अत्यन्त विरुद्ध गुण और लक्ष्मीका आश्रय था यानी उसके पास औदार्य, वैराग्य, सर्वस्वत्याग आदि उत्तम गुण और धन-

कलावानस्त्रकुशलो व्यवहारविचक्षणः ।
सर्वसङ्कल्पसीमान्तो न तु जानाति तत्पदम् ॥ २ ॥

अनन्तयत्नसंसाध्ये स चिन्तामणिसाधने ।
प्रवृत्तो वाडवो वह्निरब्धिसंशोषणे यथा ॥ ३ ॥

तस्य यत्नेन महता कालेनाऽध्यवसायिनः ।
सिद्धचिन्तामणिः किं वा न सिद्ध्यत्युद्यतात्मनाम् ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिमुद्यमं प्रज्ञां प्रयुङ्क्ते चेदखेदवान् ।
अकिञ्चनाऽपि शक्तत्वं समवाप्नोत्यविघ्नतः ॥ ५ ॥

धान्यादि प्रचुर सम्पत्तियां थीं। संसारमें गुण और सम्पत्ति दोनोंका एक ही स्थान विरल रहता है। जहां गुण रहता है वहां सम्पत्ति नहीं रहती और जहां सम्पत्तियां रहती हैं वहां गुण नहीं रहते। इसलिए वह वड़वाग्नि और जल—इन परस्पर विरुद्ध दोनोंके आश्रय सागरके सदृश प्रतीत हो रहा था ॥ १ ॥

वह चौसठ कलाओंसे पूर्ण था, अस्त्रविद्यामें पटु था, व्यवहारशास्त्रमें विचक्षण था और सङ्कल्पित समस्त कार्योंके पार हो जाता था यानी वह जिन-जिन कार्योंका सङ्कल्प करता था, उन्हें तत्काल ही कर डालता था। उसके लिए कोई भी असाध्य कार्य नहीं था। इतना सब होते हुए भी वह परम पदको नहीं जानता था ॥ २ ॥

उसने क्या किया, यह कहते हैं—'अनन्त०' इत्यादिसे।

तदनन्तर जैसे वाडवाग्नि समुद्रका पूरी तरहसे शोषण करनेमें प्रवृत्त हुआ था, वैसे ही वह तप, जप, देवतास्तवन आदि अनन्त उपायोंसे सिद्ध होनेवाले चिन्तामणिकी प्राप्तिके लिए तपश्चर्यामें प्रवृत्त हुआ ॥ ३ ॥

दृढ निश्चयवाले उस पुरुषके तीव्र प्रयत्नसे थोड़े ही समयमें चिन्तामणि सामने उपस्थित हो गया। उद्योगी पुरुषोंके लिए ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सिद्ध न हो जाय ॥ ४ ॥

दुःखको न गिनता हुआ यदि पुरुष उत्तम बुद्धिका अवलम्बन कर प्रवृत्ति और उद्यम करता है, तो वह दरिद्र होता हुआ भी निर्विघ्नतापूर्वक बड़ी भारी सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

मणिमग्रे स्थितप्रायं हस्तप्राप्यं ददर्श सः ।
मेरावुदयशृङ्गस्थो मुनिरिन्दुमिवोदितम् ॥ ६ ॥
बभूव मणिराजेन्द्रे न तु निश्चयवानसौ ।
राज्ये द्रागिति सम्प्राप्ते सुदीन इव पामरः ॥ ७ ॥
इदं सञ्चिन्तयामास मनसा स्मयशालिना ।
सम्प्राप्तोपेक्षया दीर्घदुःखसम्भ्रमशालिना ॥ ८ ॥
अयं मणिर्मणिर्नाऽयं मणिश्चेत्तद्भवेन्न सः ।
स्पृशामि न स्पृशाम्येनं कदाचित्स्पर्शतो व्रजेत् ॥ ९ ॥
नैतावतैव कालेन मणीन्द्रः किल सिद्ध्यति ।
यत्नेन जीवितान्तेन सिद्ध्यतीत्यागमक्रमः ॥ १० ॥
कृपणः कूणितेनाक्ष्णा लोलालातलतोपमम् ।
रत्नालोकं प्रपश्यामि द्विचन्द्रत्वमिव भ्रमात् ॥ ११ ॥

सामने उपस्थित हुए हाथसे ग्रहण करने योग्य चिन्तामणिको उसने उस प्रकार देखा, जिस प्रकार मेरु पर्वतपर उदय शिखरके ऊपर स्थित मुनि उदित चन्द्रमाको ॥ ६ ॥

बड़े-बड़े मणिराजोंके ईश्वर उस चिन्तामणिके विषयमें यह उस प्रकार निश्चय न कर सका, जिस प्रकार दरिद्रतम पामर तत्काल प्राप्त राज्यके विषयमें निश्चय नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

दीर्घकालके दुःखसे भ्रान्त तथा विस्मयसे युक्त मनसे—प्राप्त भी चिन्तामणिकी उपेक्षा कर—उसने यह विचार किया ॥ ८ ॥

क्या यह चिन्तामणि है या चिन्तामणि नहीं है। यदि चिन्तामणि होता, तो मुझे वह प्रत्यक्ष ही नहीं होता। क्या मैं इसे छूऊँ या न छूऊँ ? यदि मैं इससे छू जाऊँ, तो भाग्यहीन मेरे स्पर्शसे यह अदृश्य हो जायगा ॥ ९ ॥

इतने थोड़े समयमें ही मणियोंका राजा चिन्तामणि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इतिहासपरम्परा यही है कि जीवनपर्यन्त यत्न करनेसे ही चिन्तामणि सिद्ध होता है ॥ १० ॥

मैं कृपण हूँ, इसलिए भ्रान्तिसङ्कुचित नेत्रसे चञ्चल आलातचक्रमें कल्पित लताके सदृश रत्नप्रकाशको, भ्रमसे दो चन्द्रमाकी नाईं, देखता हूँ ॥ ११ ॥

कुत एतावती स्फीता भाग्यसम्पन्ममाऽऽगता ।
अधुनैव यदाप्नोमि मणीन्द्रं सर्वसिद्धिदम् ॥ १२ ॥
केचिदेव महान्तस्ते महाभाग्या भवन्ति हि ।
येषामल्पेन कालेन भवन्त्यभिमुखाः श्रियः ॥ १३ ॥
अहमल्पतपाः साधुवराको मानुषः किल ।
सिद्धयः कथमायान्ति मामभाग्यैकभाजनम् ॥ १४ ॥
एवं विकल्पसङ्कल्पैश्चिरमज्ञः परामृशन् ।
न मणिग्रहणे यत्नमकार्षीन्मौर्ख्यमोहितः ॥ १५ ॥
न यदा येन लब्धव्यं न तत्प्राप्नोत्यसौ तदा ।
चिन्तामणिरवाप्तोऽपि दुर्धिया हेलयोज्झितः ॥ १६ ॥
इति तस्मिन्स्थिते यातो मणिरुड्डीय सिद्धयः ।
त्यजन्ति ह्यवमन्तारं शरो गुणमिवोज्झितः ॥ १७ ॥

मेरी इतनी विशुद्ध भाग्यसम्पत्ति ही कहाँसे आयी, जिससे मैं समस्त सिद्धियोंके दाता चिन्तामणि इतने थोड़े समयमें ही प्राप्त कर लूँ ॥ १२ ॥

थोड़े ही ऐसे बड़े भाग्यवान् महात्मा होते हैं, जिनके सामने सम्पत्तियाँ स्वल्प समयमें उपस्थित हो जाती हैं ॥ १३ ॥

मैं तो साधारण ही तपवाला हूँ, साधुओंमें तुच्छ मनुष्य हूँ, इसलिए भाग्यरहित मेरे यहाँ सिद्धियाँ कैसे आ सकती हैं ॥ १४ ॥

इस प्रकार सङ्कल्प-विकल्पोंसे दीर्घकालतक विचारविमर्श कर रहे उस अज्ञानी पुरुषने मूर्खतासे मुग्ध होकर मणि लेनेमें कुछ भी यत्न नहीं किया ॥ १५ ॥

उसने क्यों नहीं यत्न किया, इसपर कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जो वस्तु जिस समय जिसको प्राप्त होने योग्य नहीं रहती, वह वस्तु उस समय वह प्राप्त कर सकता ही नहीं । अतः प्राप्त हुआ भी चिन्तामणि दुर्बुद्धिके कारण उपेक्षासे उसने छोड़ दिया ॥ १६ ॥

उस प्रकार अज्ञानजनित विचारविमर्शमें जब वह पुरुष स्थित ही रहा तब अन्तमें वह मणि उड़कर वहाँसे चला गया, क्योंकि अवहेलना करनेवालेको

हत्वा प्राज्ञपदं पुंसः संयान्ति किल सिद्धयः ।
आगताः संप्रयच्छन्ति सर्वं यान्त्यसहृत्यलम् ॥ १८ ॥
पुमान् भूयः क्रियायत्नं चक्रे रत्नेद्रसाधने ।
नोद्विजन्ते स्वकार्येषु जना अध्यवसायिनः ॥ १९ ॥
ददर्शाऽथ कचद्रूपं काचखण्डमखण्डितम् ।
हसद्भिर्वञ्चकैः सिद्धैः पुरस्कृतमलक्षितैः ॥ २० ॥
अयं चिन्तामणिरिति मूढस्तस्मिन् सवस्तुताम् ।
बुबुधे मोहितो ह्यज्ञो मृदं हेमेति पश्यति ॥ २१ ॥

सिद्धियाँ उस प्रकार छोड़ देती हैं, जिस प्रकार धनुषसे निर्मुक्त बाण डोरीको छोड़ देता है ॥ १७ ॥

आपने तो कथाके आरम्भमें कहा था कि वह पुरुष व्यवहारमें निपुण था, फिर मणिप्राप्तिकालमें उसकी वह निपुणता कहाँ चली गई, इसपर कहते हैं—'हत्वा' इत्यादिसे ।

सिद्धियाँ प्राप्त होकर पुरुषको विचक्षणता देती हैं और उपेक्षा करनेवाले पुरुषके पास आकर भी वापस चली जाती हैं तथा वापस जाती हुई वे सिद्धियाँ पुरुषमें रहनेवाली विचक्षणताका विनाश कर डालती हैं, इस विषयमें प्राचीन लोगोंने कहा है कि 'न देवा दण्डमादाय दण्डयन्त्यपराधिनम् । बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति तेनाऽसौ दण्ड्यते स्वतः ॥' (देवता दण्ड लेकर अपराधी पुरुषको दण्ड नहीं देते, किन्तु उसकी बुद्धि हर लेते हैं, इससे स्वयं ही वह दण्डित हो जाता है) ॥ १८ ॥

वह पुरुष फिर चिन्तामणिके साधनमें कर्म और यत्न करने लगा, क्योंकि अटल निश्चयवाले लोग अपने कार्योंमें उद्वेग नहीं प्राप्त करते ॥ १९ ॥

तदनन्तर चमकीले रूपसे युक्त अखण्डित काँचका एक टुकड़ा उसने देखा । वह टुकड़ा परिहासमें तत्पर वञ्चक अलक्षित सिद्धोंने उसके सामने रख दिया था ॥ २० ॥

यही चिन्तामणि है, ऐसा निश्चय कर उस अज्ञानी पुरुषने उसमें उपादेयता जान ली, क्योंकि मोहग्रस्त अज्ञानी मिट्टीको सोनेके रूपमें देखता है ॥ २१ ॥

अष्टौ षष्ठं द्विषं मित्रं रज्जुं सर्पं स्थलं जलम् ।
चन्द्रौ द्वौ कुरुते चित्तगतो मोहोऽमृतं विषम् ॥ २२ ॥
तं दग्धमणिमादाय प्राक्तनीं च श्रियं जहौ ।
सर्वं चिन्तामणेरस्मात् प्राप्यते किं धनैरिह ॥ २३ ॥
देशोऽयमसुखो रूक्षो जनैः पापिभिरावृतः ।
किं तद्देहं गतप्रायं किं नाम मम बन्धवः ॥ २४ ॥
दूरं गत्वा यथाकामं सुखं तिष्ठामि सम्पदा ।
इत्यादाय मणिं मूढः शून्यकाननमाययौ ॥ २५ ॥
तत्र काचकणेनाऽसौ तेन तामापदं ययौ ।
कज्जलाद्रेरिव निभा मौर्ख्यस्यैवाऽङ्ग या समा ॥ २६ ॥
दुःखानि मौर्ख्यविभवेन भवन्ति यानि
नैवाऽऽपदो न च जरामरणेन तानि ।

हे साधो, चित्तमें रहनेवाला मोह किसी समय आठ पदार्थोंको छः, शत्रुको मित्र, डोरीको सर्प, स्थलको जल, एक चन्द्रको दो चन्द्र और अमृतको विष बना देता है ॥ २२ ॥

उस दरिद्र मणिको लेकर उसने अपनी पूर्वकी सारी सम्पत्ति छोड़ दी, क्योंकि मोहवश उसने यह समझ लिया कि अब इस चिन्तामणिसे ही सब कुछ प्राप्त हो जायगा, इन सम्पत्तियोंसे क्या प्रयोजन ॥ २३ ॥

यह देश, सुखसे शून्य, स्नेही जनोंसे रहित और पापात्मा जीवोंसे आक्रान्त है, जीर्ण-शीर्ण वह घर भी निष्प्रयोजन है और मेरे बन्धु भी क्या हैं यानी इनसे क्या प्रयोजन है ॥ २४ ॥

अब तो दूर जाकर यथेच्छ सुखपूर्वक सम्पत्तियोंसे युक्त होकर रहूँगा, यों विचारकर उस काचखण्डको लेकर निर्जन अरण्यमें वह मूढ़ चला आया ॥ २५ ॥

हे प्रिय, वहाँ जङ्गलमें जाकर उस काचके खण्डसे वह मूढ़ ऐसी विपत्तिमें फँस गया, जो कज्जल पर्वतकी कान्तिके सदृश गहरी नीलिमासे युक्त और मूर्खताके अनुरूप थी ॥ २६ ॥

इन सब बातोंसे यह निष्कर्ष निकला कि एकमात्र मूर्खता ही दुःखके कारणोंमें सबसे बढ़-चढ़कर कारण है, ऐसा उपसंहार करते हैं—'दुःखानि' इत्यादिसे ।

सर्वापदां शिरसि तिष्ठति मौर्ख्यमेकं
कृष्णं जनस्य वपुषामिव केशजालम् ॥२७॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये मणिकाचोपाख्यानं नाम अष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमः सर्गः

चूडालोवाच

अथेममपरं रम्यं वृत्तान्तं शृणु भूमिप ।
परं प्रबोधनं बुद्धेः साधो सदृशमात्मनः ॥ १ ॥

मूर्खताके विभवसे जो दुःख उत्पन्न होते हैं वे दुःख सर्वस्वनाश आदि बड़ी-बड़ी आपत्तियोंसे या बुढ़ौतीसे या मरणसे नहीं होते, क्योंकि तत्त्ववेत्ताओंको सैकड़ों आपत्तियोंके आनेपर भी दुःख दिखाई नहीं देता और सोनेके पलंगोंपर सो रहे राजाधिराजको भी मूर्खताके कारण सैकड़ों दुःख दिखाई देते हैं, इससे सम्पूर्ण आपत्तियोंके सिरपर एकमात्र मौर्ख्य उस प्रकार अवस्थित रहता है, जिस प्रकार पुरुषके सिरपर काला केशजाल ॥ २७ ॥

अठासी सर्ग समाप्त

नवासी सर्ग

[विन्ध्याचलमें बाँधे गये हाथीका बन्धन प्रयत्नपूर्वक काट दिये जानेपर भी उपस्थित शत्रुको न मारनेके कारण उसका गड्ढेमें पतन]

प्रकृत विषयमें हाथीका उपाख्यान भी दृष्टान्त है, इसलिए उसे भी सुनिये, यह कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

चूडालाने कहा—हे राजन्, अब यह दूसरा सुन्दर उपाख्यान आप सुनिये । हे साधो, यह आपके ही अनुरूप तथा बुद्धिमें उत्तमरूपसे स्फूर्ति देनेवाला है ॥ १ ॥

अस्ति विन्ध्यवने हस्ती महायूथपयूथपः ।
आगस्त्या शुद्धया बुद्ध्या विन्ध्येनेवोदितः स्वतः ॥ २ ॥
वज्रार्चिर्विषमौ दीर्घौ तस्याऽऽस्तां दशनौ सितौ ।
कल्पानलशिखातुल्यौ सुमेरून्मूलनक्षमौ ॥ ३ ॥
स बद्धो लोहजालेन हस्तिपेन किलाऽभितः ।
मुनीन्द्रेणेव विन्ध्याद्रिरुपेन्द्रेणेव वा बलिः ॥ ४ ॥
निबद्धो यन्त्रणामाप शस्त्रकुम्भार्दितो गजः ।
तां जगाम व्यथां धीरो नवाग्नौ पुरमेति याम् ॥५॥
रिपौ हस्तिपके दूरादपश्यति स वारणः ।
अयःसमुद्गके यस्मिन् निनाय दिवसत्रयम् ॥ ६ ॥
खेदान्निगडनिर्भेदे यत्नवान् स मतङ्गजः ।
चकार किङ्किणीक्वाणं मुखोद्घातैरथाऽन्यदा ॥ ७ ॥

विन्ध्याचलके अरण्यमें बड़े-बड़े झुण्डपतियोंके झुण्डोंका स्वामी एक हाथी रहता था। दीर्घकालतक आज्ञाका परिपालन करनेके कारण अनुग्रहयुक्त हुई अगस्त्य महामुनिकी बुद्धिसे अपने पूर्व उन्नतरूपसे प्रकट हुआ वह विन्ध्याचल ही मानो लगता था ॥ २ ॥

उसके दो धवल दीर्घ दाँत वज्रकी ज्वालाके समान तीक्ष्ण थे, महाप्रलयकी अग्निशिखाके सदृश पर्वतराज सुमेरुको भी उखाड़ फेंकनेमें वे समर्थ थे ॥ ३ ॥

पीलवान्‌ने चारों ओरसे लोहमय जालसे उसको उस तरह बाँध रखा था, जिस तरह अगस्त्यने विन्ध्याद्रिको और उपेन्द्रने बलिराजको बाँध रखा था ॥४॥

लोहजालमें बाँधा गया तथा अङ्कुश आदि शस्त्रोंसे गण्डस्थलमें पीडित किया गया वह हाथी बड़ी यन्त्रणाको प्राप्त हुआ और धीर उस हाथीने वह व्यथा प्राप्त की, जो महादेवजीकी बाणाग्नि लगनेपर त्रिपुरासुरने प्राप्त की थी ॥ ५ ॥

दूरीके कारण उसका शत्रु पीलवान् उसे नहीं देख रहा था, इस दशामें उस हाथीने लोहमय जालमें तीन दिन बिताये। तदनन्तर तीन दिनोंके बाद अत्यन्त खेदसे वह हाथी जाल तोड़नेमें प्रयत्न करने लगा और मुखके उन्नत आघातोंसे घण्टीके सदृश ध्वनि करने लगा ॥ ६,७ ॥

दन्ताभ्यां यत्नतस्ताभ्यां मुहूर्तद्वितयेन सः ।
बभञ्ज शृङ्खलाजालं स्वर्गार्गलमिवाऽसुरः ॥ ८ ॥
तं तस्य निगडच्छेदमपश्यद् दूरतो रिपुः ।
बलेः स्वर्गात्रदलनं हरिर्मेरुतलादिव ॥ ९ ॥
तस्य विच्छिन्नपाशस्य मूर्ध्नि तालतरो रिपुः ।
पपात क्रमतः स्वर्गे हरिर्मेरोर्बलेरिव ॥ १० ॥
स पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः ।
पपातोर्व्यां फलं पक्वं वाताहतमिवाऽऽकुलः ॥ ११ ॥
तं पुरः पतितं दृष्ट्वा महेभः करुणां ययौ ।
स्फुरत्स्फारगुणाः सन्तः सन्ति तिर्यग्गतावपि ॥ १२ ॥

दो मुहूर्तोंमें बड़े प्रयत्नसे उस हाथीने अपने उन समर्थ दो दाँतोंसे उस शृङ्खलाजालको उस प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया, जिस प्रकार बलिराजने स्वर्गपुरी अमरावतीके किवाड़के सिकड़को छिन्न-भिन्न कर दिया था ॥ ८ ॥

दूरसे शत्रुने उसका वह जाल-छेदन उस प्रकार देखा, जिस प्रकार श्रीहरिने मेरुतलसे बलिका स्वर्ग-छेदन देखा था ॥ ९ ॥

जिसका फन्दा विच्छिन्न हो गया था, उस हाथीके सिरपर वह शत्रु ताल-वृक्षके ऊपर पहले चढ़कर फिर वहाँसे उस प्रकार गिरा, जिस प्रकार क्रमसे * मेरुपर्वतपरसे भगवान् वामन बलिके सिरपर गिरे थे ॥ १० ॥

गिर रहा वह अपने चरण कमलोंसे हाथीका सिर न प्राप्त कर व्याकुल होता हुआ पृथिवीपर उस प्रकार गिरा, जिस प्रकार वायुसे आहत पका फल पृथिवीपर गिरता है ॥ ११ ॥

सामने गिरे हुए उस शत्रुको देखकर महान् हाथी करुणासे भर गया, क्योंकि तिर्यक् योनियोंमें जानेपर भी सन्त लोग प्रकाशशील अपने विशुद्ध गुणसे युक्त ही रहते हैं ॥ १२ ॥

* बलिराजके यज्ञमें तीन पैरमात्र भूमिका प्रतिग्रह कर पहले पैरसे समस्त पृथिवी, दूसरे से स्वर्ग—इस प्रकार क्रमशः तीसरे पैरकी पूर्तिके लिए मेरुसे बलिके सिरपर भगवान् वामन जैसे गिरे, वैसे ही पीलवान् क्रमशः पहले तालवृक्षपर चढ़ा और फिर हाथीके सिरपर गिरा, यह तात्पर्य है ।

पतितं दलयामीति किंनाम मम पौरुषम् ।
वारणोऽपीति कलयन्न जघान स तं रिपुम् ॥ १३ ॥
केवलं निगडव्यूहं विदार्याऽभिजगाम ह ।
विततं सेतुमुत्सार्य विपुलौघ इवाऽम्भसः ॥ १४ ॥
दयामाश्रित्य मातङ्गो भङ्क्त्वा जालं जगाम ह ।
विदार्य मेघसङ्घातं नभसीव दिवाकरः ॥ १५ ॥
गते गजे समुत्तस्थौ हस्तिपः स्वस्थदेहधीः ।
गजेनैव समं तस्य व्यथा दूरतरं गता ॥ १६ ॥
प्रोच्चलत्तालशिखरात् स तथा पतितोऽपि सन् ।
न भेदमाप दुर्भेदा मन्ये देहा दुरात्मनाम् ॥ १७ ॥
वर्धते प्रावृषीवाऽभ्रं कुकार्येष्वसतां बलम् ।
आसीदधिकमुत्साही स च चङ्क्रमणे तदा ॥ १८ ॥
वारणारिरसिद्धाङ्गो गतेभो दुःखमाययौ ।
आगत्योपगतेऽन्तर्धिं निधान इव वर्धनः ॥ १९ ॥

गिरे हुएको यदि मैं मार डालूँ, तो उसमें मेरा पुरुषार्थ ही क्या ? इस प्रकार उस हाथीने विचारकर उस शत्रुको न मारा ॥ १३ ॥

एकमात्र लोहमय जालका विदारण कर वह उस प्रकार चला गया, जिस प्रकार विस्तृत पुलका विदारण कर जलका महान् प्रवाह चला जाता है ॥ १४ ॥

दयाका आश्रय कर शृङ्खला जालका भेदनकर हाथी ऐसे चला गया, जैसे आकाशमें मेघोंका भेदनकर सूर्य चला जाता है ॥ १५ ॥

जब हाथी चला गया तब पीलवान् स्वस्थमति होकर उठा । उसकी व्यथा हाथीके साथ-साथ ही दूर भाग गई ॥ १६ ॥

उत्तुङ्ग ताल वृक्षके शिखरसे उस प्रकार गिरा हुआ भी वह सिर, पैर आदि अंगोंसे विकृत न हुआ । मेरा मत है कि दुष्ट चेताओंकी देह दुर्भेद्य ही होती है ॥ १७ ॥

वर्षाकालमें मेघोंकी नाईं कुकर्मोंमें असत् पुरुषोंका बल बढ़ता है । वह पैरोंसे चलनेमें अत्यन्त उत्साही था ॥ १८ ॥

हाथीका शत्रु वह पीलवान् अपने उपायोंमें निष्फल सिद्ध हुआ । उसके

सोऽन्वियेष गजं यत्नाद्गुल्मकान्तरितं वने ।
पयोदपिण्डितं भोक्तुं राहुरिन्दुमिवाऽम्बरे ॥ २० ॥
चिरेणाऽऽलभतेभेन्द्रं कस्मिंश्चित् कानने स्थितम् ।
विश्रान्तं तं तरुतले समरादिव निर्गतम् ॥ २१ ॥
अथ यत्र स्थितो नागस्तत्र तद्बन्धनक्षमम् ।
परया राजसामग्र्या गजलम्पटभूमया ॥ २२ ॥
स खातवलयं चक्रे हस्तिपः काननेऽभितः ।
सर्वदिक्कं विधिर्भूमौ समुद्रवलयं यथा ॥ २३ ॥
उपर्यस्थगयद्बाललतौघेन स तं शठः ।
शून्यतातन्तुजालेन शरत्काल इवाम्बरम् ॥ २४ ॥
दिनैः कतिपयैरेव वारणो विहरन् वने ।
तस्मिन्निपतितः खाते शुष्काब्धाविव पर्वतः ॥ २५ ॥

हाथसे हाथी चला गया । वह उस प्रकार दुःखी हुआ, जिस प्रकार हाथमें निधिके आकर चले जानेपर व्यापारी वैश्य दुःखी होता है ॥ १९ ॥

अन्तमें बहुत परिश्रमसे वह अरण्यमें झाड़ियोंमें छिपे हुए हाथीका उस प्रकार अन्वेषण करने लगा, जिस प्रकार खा जानेके लिए आकाशमण्डलमें मेघोंसे छिपे हुए चन्द्रमाका राहु अन्वेषण करता है ॥ २० ॥

बहुत कालके बाद युद्धभूमिसे मानो निकला हुआ किसी एक जङ्गलमें स्थित वृक्षके नीचे विश्राम कर रहा वही गजेन्द्र उसे फिर मिला ॥ २१ ॥

तदनन्तर जहाँ वह हाथी खड़ा था, वहींपर समीपमें अनेक गजलम्पट जनोंसे युक्त उत्तम गड्ढा खोदनेकी राजसामग्रीसे उस पीलवान्ने गजबन्धनमें समर्थ चारों ओर गोल जङ्गलमें गड्ढेका निर्माण किया । वह ऐसा लगता था, मानो भूमिमें ब्रह्माजी द्वारा निर्मित सर्वदिग्व्यापी गोल समुद्र हो ॥ २२, २३ ॥

उस वञ्चक पीलवानने उस गड्ढेको कोमल लताओंसे उस प्रकार ऊपरसे ढक दिया, जिस प्रकार शरत्काल शून्यतापिधायक शुभ्र मेघपटलसे आकाशको ढक देता है ॥ २४ ॥

कुछ ही दिनोंके अनन्तर वनमें विहार कर रहा वह हाथी, शुष्क सागरमें पर्वतकी नाईं, उस गड्ढेमें गिर गया ॥ २५ ॥

व्रजन् पर्याकृतौ कूपे पातालतलभीषणे ।
खातशुष्काब्ध्यधो भागे गजरत्नसमुद्गके ॥ २६ ॥
इति भूयो दृढं बद्धस्तेन हस्तिपकेन सः ।
तिष्ठत्यद्याऽपि दुःखेन भूसद्मनि यथा बलिः ॥ २७ ॥
अहनिष्यत्पुरैवाऽसौ यद्यग्रे पतितं रिपुम् ।
तन्नाऽलप्स्यत्ततो दुःखं गजः खातनिबन्धनम् ॥ २८ ॥
मौर्ख्यादागामिनं कालं वर्तमानक्रियाक्रमैः ।
अशोधयन्नरो दुःखं याति विन्ध्यगजो यथा ॥ २९ ॥
मुक्तोऽस्मि शस्त्रनिगडादिति तुष्टो हि वारणः ।
दूरस्थोऽपि पुनर्बद्धो मौर्ख्यं क्व च न बाधते ॥ ३० ॥

गजरूप रत्नके आश्रय तथा पातालतलके सदृश अतिभीषण वलयाकार कुएँके शुष्क सागर-जैसे गड्ढेके नीचे भागमें इस रीतिसे पुनः उस पीलवान्ने उस हाथीको सुदृढ़रूपसे बाँध दिया, जो आज भी बलिके सदृश भूगर्भमें दुःख-पूर्वक अवस्थित है ॥ २६, २७ ॥

यदि पहले यह हाथी अपने सामने गिरे हुए शत्रुको मार डालता, तो कूप-बन्धनरूप दुःख प्राप्त नहीं करता ॥ २८ ॥

इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको इसी समय शास्त्रीय पुरुषप्रयत्नोंसे दुःखोत्पादक बीजोंका दूरीकरण कर आगामी कालका शोधन करना चाहिए, यों कहते हैं— 'मौर्ख्या०' इत्यादिसे ।

मूर्खताके कारण जो पुरुष वर्तमान समयमें शास्त्रीय क्रियाक्रमोंसे भविष्य-कालका शोधन नहीं करता, वह विन्ध्यगजके सदृश दुःख पाता है ॥ २९ ॥

जबतक सब दुःखोंका मूल अज्ञान नष्ट नहीं होता, तबतक सैकड़ों प्रयत्नोंसे किया गया दुःखविनाश भी व्यर्थ ही है, इस आशयसे कहते हैं— 'मुक्तोऽस्मि' इत्यादिसे ।

मैं शृङ्खलाबन्धनसे निर्मुक्त हो गया, इस बुद्धिसे सन्तुष्ट हुआ हाथी दूर भाग जानेपर भी फिर अज्ञानके कारण बन्धनमें पड़ गया । मूर्खता कहाँ बाधा नहीं पहुँचाती अर्थात् सर्वत्र बाधा पहुँचाती ही है ॥ ३० ॥

मौर्ख्यं हि बन्धनमवेहि परं महात्मन्
बद्धो न बद्ध इति चेतसि तद्विमुक्त्यै ।
आत्मोदयं त्रिजगदात्ममयं समस्तं
मौर्ख्ये स्थितस्य सहसा ननु सर्वभूमिः ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे हस्तिकोपाख्यानं नाम एकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥



नवतितमः सर्गः

शिखिध्वज उवाच

मणिसाधकविन्ध्येभबन्धनाद्यमरात्मज ।
सूचितं यत्कथाजालं पुनर्मे प्रकटीकुरु ॥ १ ॥

इससे अज्ञान ही मूलभूत बन्ध है, उसकी निवृत्ति अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञानसे ही होती है, यह दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—'मौर्ख्यम्' इत्यादिसे ।

हे महात्मन्, 'सदा बन्धनशून्य भी मैं बद्ध हूँ' इस प्रकारके चित्तगत मौर्ख्यको ही आप सबसे बढ़ा-चढ़ा बन्धन समझिये । अतः उससे विमुक्त होनेके लिए आत्मासे उत्पन्न आध्यात्मिक आदि समस्त तीनों जगत्को आत्मस्वरूप ही समझिये । इस तरह समझ जानेपर आत्मातिरिक्त किसी वस्तुके न रहनेसे पुरुष नित्यमुक्त हो जाता है । जिसे इस तरहका ज्ञान नहीं है और जो मूर्खतामें ही अवस्थित रहता है उस पुरुषके लिए तो स्वयं आत्मा ही तत्काल समस्त बन्धनोंके बीजोंकी भूमि हो जाती है ॥ २१ ॥

नवासी सर्ग समाप्त

नब्बे सर्ग

[कुम्भरूपिणी चूडाला द्वारा चिन्तामणि और कांचके सुन्दर आख्यानका विस्तारसे तात्पर्यवर्णन]

राजा शिखिध्वजने कहा—हे देवपुत्र, चिन्तामणिके साधक तथा विन्ध्याचलके हाथीके बन्धन आदिका जो कथाजाल आपने सूचित किया है, उसे फिर मेरे सामने

चूडालोवाच

वाक्यार्थदृष्टेर्निष्पत्त्या हृद्गृहे चित्तभित्तिषु ।
शृणु स्वयं कथां चित्रां चित्रमुन्मीलयामि ते ॥ २ ॥
योऽसौ शास्त्रार्थकुशलस्तत्त्वज्ञाने त्वपण्डितः ।
रत्नसंसाधकः प्रोक्तः स त्वमेव महीपते ॥ ३ ॥
तज्ज्ञो भवसि शास्त्रेषु रविर्मेरुतटेष्विव ।
तत्त्वज्ञाने तु विश्रान्तो न त्वं दृषदिवाम्भसि ॥ ४ ॥
विद्धि चिन्तामणिं साधो सर्वत्यागमकृत्रिमम् ।
तमन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः ॥ ५ ॥

प्रकट कीजिये, क्योंकि वह मेरे चरित्रसे कुछ मिलता-जुलता-सा है, इस तरहकी पूर्वोक्तिसे आपने सूचित किया कि वह मेरे ज्ञानका उपायस्वरूप है ॥ १ ॥

चूडालाने कहा—राजन्, आपके हृदयरूपी घरमें चित्तरूपी भित्तियोंके ऊपर मैंने वाक्यार्थज्ञानसम्पादन द्वारा विचित्र कथारूपी चित्रकी केवल रेखा ही खींच दी थी, अब उसे मैं व्याख्यारूपी विचित्र वर्णोंसे (रंगोंसे) रङ्ग रहा हूँ। आप स्वयं सुनिये ॥ २ ॥

उन कथाओंमें सर्व प्रथम 'अस्ति कश्चित् पुमान् श्रीमान्' (कोई एक श्रीमान् पुरुष था) इत्यादिसे मैंने जिस चिन्तामणिसाधकका आपसे वर्णन किया है, वह आप ही हैं, यह कहते हैं—'योऽसौ' इत्यादिसे ।

हे राजन्, शास्त्रार्थमें कुशल, किन्तु तत्त्वज्ञानमें अपण्डित जिस चिन्तामणि-रत्नके साधकका मैंने आपसे वर्णन किया है वह आप ही हैं ॥ ३ ॥

'कलावान् शास्त्रकुशलः' इत्यादि जो कुछ लक्षण मैंने कहे हैं, वे सब आपमें घटते हैं, यह कहते हैं—'तज्ज्ञो' इत्यादिसे ।

जिस तरह भगवान् सूर्य सुमेरुके तटोंके विषयमें तत्त्वज्ञ हैं उसी तरह आप शास्त्रोंके विषयमें तो तत्त्वज्ञ हैं ही, किन्तु आत्मतत्त्वज्ञानमें उस तरह विश्रान्त नहीं हैं, जिस तरह जलमें पत्थर ॥ ४ ॥

भला बतलाइये तो सही, वह चिन्तामणि कौन है, जिसके साधनमें मैं प्रवृत्त हूँ, उसे कहते हैं—'विद्धि' इत्यादिसे ।

हे साधो, अकृत्रिम सर्वत्यागको ही आप चिन्तामणि जानिये। सम्पूर्ण दुःखोंके विनाशक उसी चिन्तामणिको तो आप सिद्ध कर रहे हैं ॥ ५ ॥

सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ ।
सर्वत्यागो हि साम्राज्यं किं चिन्तामणितो भवेत् ॥ ६ ॥
सिद्धः सर्वपरित्यागः साधो संसाध्यतस्तव ।
खर्वीकृतजगद्भूतिर्विद्यास्वात्मोदयस्तथा ॥ ७ ॥
सन्त्यक्तं भवता राज्यं सदारधनबान्धवम् ।
ब्रह्मणेव जगत्सर्गव्यापारः स्वनिशागमे ॥ ८ ॥
स्वदेशस्याऽतिदूरस्थमागतोऽसि ममाश्रमम् ।
भुवोऽन्तमिव विश्रान्त्यै वैनतेयः सकच्छपः ॥ ९ ॥
केवलं सर्वसन्त्यागे शेपिताऽहंमतिस्त्वया ।
मृष्टाखिलकलङ्केन स्वसत्तेवाऽनिलेन खे ॥ १० ॥

सर्वत्यागमें चिन्तामणित्वका उपपादन करते हैं—'सर्वत्यागेन' इत्यादिसे ।

हे निष्पाप राजन्, शुद्ध सर्वत्यागसे ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि सर्वत्याग ही साम्राज्य—आत्यन्तिक पूर्णकामता है । चिन्तामणिसे क्या होता है ॥ ६ ॥

हे साधो, साधना करते हुए आपका वह सर्वपरित्याग सिद्ध हो चुका है, जो जगत्‌के प्रसिद्ध ऐश्वर्य-परम्पराओंसे लेकर हिरण्यगर्भके पदतकके ऐश्वर्यको भी तुच्छ कर देनेवाला तथा जो विद्यारूपी निरतिशयानन्द आत्मज्ञानका उदय-कारक है ॥ ७ ॥

कैसे सिद्ध हो गया, यह कहते हैं—'सन्त्यक्तम्' इत्यादिसे ।

आपने स्त्री, धन और बन्धुओंके साथ-साथ अपने सम्पूर्ण राज्यका परित्याग उस तरह कर दिया, जिस तरह अपनी रात आनेपर ब्रह्मा जागतिक सृष्टिके व्यापारका परित्याग कर देते हैं ॥ ८ ॥

स्वदेशसे बहुत दूरमें स्थित आप मेरे आश्रममें विश्रान्तिके लिए ऐसे आ गये हैं, जैसे कच्छप, गज आदि भोजनके साथ गरुड़ भगवान् विश्रान्तिके लिए पृथिवीकी अन्त सीमामें आ गये थे* ॥ ९ ॥

आपने सर्वत्यागमें केवल अभिमानरूप अविद्याको ही उस तरह बचा रखा

---

* महाभारत आदिमें भगवान् गरुड़की यह कथा प्रसिद्ध है ।

मनोमात्रे हृदस्त्यक्ते जगदायाति पूर्णताम् ।
त्यागात्यागविकल्पैस्त्वं खमम्भोदैरिवाऽऽवृतः ॥ ११ ॥
नाऽयं स परमानन्दः सर्वत्यागो महोदयः ।
कोऽप्युच्चैरन्य एवाऽसौ चिरसाध्यो महानिति ॥ १२ ॥
चिन्तयेति गते वृद्धिं सङ्कल्पग्रहणे शनैः ।
वात्ययेव वनस्पन्दे त्यागः प्रोड्डीय ते गतः ॥ १३ ॥
त्यागिता स्यात्कुतस्तस्य चिन्तामप्यावृणोति यः ।
पवनस्पन्दयुक्तस्य निःस्पन्दत्वं कुतस्तरोः ॥ १४ ॥

है, जिस तरह मेघ, नीहार आदि सब कलङ्कोंको धो डालनेवाला शरत्कालीन वायु आकाशमें अपनी सत्ताको ॥ १० ॥

अहङ्कारका परित्याग हो जानेपर अवशिष्ट रहा पूर्णानन्दस्वरूप परमपुरुषार्थ अपने-आप हृदयमें साक्षात् स्फुरित होने लगता है, इसलिए सर्वत्याग ही मोक्ष सिद्ध हुआ। परमानन्द ही चिन्तामणि है। चिन्तामणि मिल जानेपर उसकी उपेक्षा करके किसी और दूसरी वस्तुका अन्वेषण नहीं करना चाहिए, यह कहते हैं—'मनोमात्रे' इत्यादिसे ।

हृदयसे मनोमात्रके त्यक्त हो जानेपर सारा संसार पूर्णानन्द ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, लेकिन आप तो मेघोंसे आवृत आकाशकी नाईं त्याग और अत्यागके विकल्पोंसे आवृत हैं, क्योंकि 'मैंने सब कुछ छोड़ दिया' यह अभिमान तो अभी आपमें बचा ही है ॥ ११ ॥

विकल्पवशके ही कारण तो सर्वत्याग होनेपर भी आपको अभीतक अविश्वास बना हुआ है कि यह सर्वत्याग प्रसिद्ध महोदय स्वरूप और परमानन्दस्वरूप नहीं है। महान् तो कोई बहुत उन्नत चिरकालसाध्य अन्य ही है ॥ १२ ॥

इस चिन्तासे सङ्कल्पग्रहणके वृद्धिगत हो जानेपर आपका वह सर्वत्याग उड़कर कहीं उस तरह चला गया, जिस तरह आँधीसे जङ्गली वृक्षोंके हिल जानेपर उनके पक्षी वहाँसे उड़कर कहीं अन्यत्र निर्वात प्रदेशमें आश्रय पानेके लिए चले जाते हैं ॥ १३ ॥

उस पुरुषका त्याग भला कैसे सिद्ध हो सकता है, जो चिन्ताको तनिक भी अपनाता है। पवनके स्पन्दसे युक्त वृक्षमें निश्चलता कैसे हो सकती है ॥ १४ ॥

चिन्तैव चित्तमित्याहुः सङ्कल्पेतरनामकम् ।
तस्यामेव स्फुरन्त्यां तु चित्तं त्यक्तं कथं भवेत् ॥ १५ ॥
चित्ते चिन्तागृहीते तु त्रिजगज्जालकेक्षणात् ।
कथमासाद्यते साधो सर्वत्यागो निरञ्जनः ॥ १६ ॥
सङ्कल्पग्रहणेनाऽन्तस्त्यागः प्रोड्डीयते गतः ।
शब्दसंश्रवणेनाङ्ग यथा ग्रामविहङ्गमः ॥ १७ ॥
निश्चिन्तत्वं परं सर्वं त्याग आदाय ते गतः ।
आमन्त्र्याऽपूजितो जन्तुः स दुःखं न करोति किम् ॥ १८ ॥

चित्तत्याग ही मुख्य सर्वत्याग है, लेकिन चिन्ताके रहते चित्तका त्याग अत्यन्त कठिन है। चित्तने तो अपने सङ्कल्प द्वारा जगत्को ही बटोर लिया है, इसलिए हे राजन्, अभी आपने किसीका भी त्याग सिद्ध नहीं किया, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'चिन्तैव' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

चिन्ताको ही चित्त कहते हैं, इसीका दूसरा नाम सङ्कल्प है। उस चिन्ताके स्फुरित रहते चित्तका त्याग कैसे हो सकता है ॥ १५ ॥

हे साधो, तीनों जगत्के जालके आधारभूत चित्तके क्षण भरमें ही चिन्तासे गृहीत हो जानेपर निरञ्जन सर्वत्यागकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ॥ १६ ॥

हे राजन्, जैसे गाँवके पक्षी कबूतर आदि शब्दश्रवणसे उड़कर कहीं चले जाते हैं, वैसे ही आपका त्याग आन्तरिक सङ्कल्पके ग्रहणसे उड़कर चला गया है ॥ १७ ॥

उड़कर भाग रहा त्याग सर्वत्यागके फल निश्चिन्तताको लेकर मानो चला गया, यह उत्प्रेक्षा करते हैं—'निश्चिन्तत्वम्' इत्यादिसे।

हजारों प्रार्थना करनेके बाद आया हुआ आपका त्याग पूजित न होनेसे आपकी उत्कृष्ट सारी निश्चिन्तता लेकर चला गया, क्योंकि निमन्त्रण देकर बुलाया गया प्राणी पूजित न होनेपर क्या वह दुःख नहीं देता। तात्पर्य यह है कि दक्षप्रजापतिके यज्ञमें बिना निमन्त्रणके पहुँचे हुए पूज्यकी पूजा न होनेपर जब अनर्थप्राप्ति प्रसिद्ध ही है, तब हजारों प्रार्थनाओंसे बुलाये जानेपर आये हुए पूज्यकी पूजा न होनेपर अनर्थकी प्राप्ति होती है, इसमें तो कहना ही क्या? अनादृत हुआ वह अवश्य दुःख उत्पन्न करेगा ही, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ १८ ॥

सर्वत्यागमणावेवं गते कमललोचन ।
तपः काचमणिर्दृष्टस्त्वया सङ्कल्पचक्षुषा ॥ १९ ॥
त्वया तस्मिंस्तपस्येव दुःखे दृष्टिभ्रमोदिते ।
ग्राह्यैकभावना बद्धा जलेन्दौ शशिनो यथा ॥ २० ॥
अवासनमनासक्त्या कृताऽनन्ता सवासना ।
आद्यन्तमध्यविषमा दुःखायैव तपःक्रिया ॥ २१ ॥
अमितानन्दमुत्सृज्य सुसाध्यं यः प्रवर्तते ।
मिते वस्तुनि दुःसाध्ये स्वात्महा स शठः स्मृतः ॥ २२ ॥
सर्वत्यागं समारभ्य न चैष साधितस्त्वया ।
तथा दुःखैकताज्ञानबद्धेन वनसद्मनि ॥ २३ ॥

अच्छा, तो अब आप मुझे यह बतलाइये कि काँचका वह कौन टुकड़ा था, जिसे मैंने चिन्तामणि देख कर ले लिया था; यह बतलाते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे।

हे कमललोचन, इस तरह सर्वत्यागरूपी चिन्तामणिके चले जानेपर आपने अपने सङ्कल्परूपी नेत्रसे तपरूपी काँचको चिन्तामणि देखा ॥ १९ ॥

जैसे दृष्टिके भ्रमसे उदित हुए जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें सत्यचन्द्रमाकी भावना बाँध ली जाती है वैसे ही आपने दुःखके हेतु होनेसे दुःखरूप उस तपमें ही 'मुझे यही ग्राह्य है' ऐसी दृढ़ भावना बाँध ली है ॥ २० ॥

पहले वासनासे शून्य सर्वत्यागका अनासक्तियोगसे उपक्रम कर पीछे वासनायुक्त अनन्त तपकी जो क्रिया आपने की है, वह बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि आदिमें गृह, धन, दार आदिके त्यागसे, अन्तमें फलकी आसक्तिसे और मध्यमें वनवास, शीत आदिके सहनसे वह अत्यन्त विषम (भयङ्कर) हो गई है, अतः वह एकमात्र दुःखके लिए ही है ॥ २१ ॥

अपरिमित आनन्द देनेवाले और सुसाध्य सर्वत्यागको छोड़कर परिमित और दुःसाध्य तप आदि वस्तुमें जो पुरुष प्रवृत्त होता है वह शठ, अपरिमित आत्मस्वरूपका विघातक होनेसे, आत्मघाती कहा जाता है ॥ २२ ॥

जङ्गली घरके अन्दर उपर्युक्त तपस्याजन्य दुःखोंसे तथा दुःखोंके साथ एकताके प्रयोजक अज्ञानसे बँधे हुए आपने सर्वत्यागका आरम्भ करके इसे फिर सिद्ध नहीं किया ॥ २३ ॥

राज्यबन्धाद्विनिष्क्रम्य प्रसरद्दुःखपूरितात् ।
वनवासाभिधैः साधो बद्धोऽसि दृढबन्धनैः ॥ २४ ॥
द्विगुणा एव ते चिन्ताः शीतवातातपादयः ।
बन्धनादधिकं मन्ये वनवासमजानताम् ॥ २५ ॥
चिन्तामणिर्मया प्राप्त इत्यलं बुद्धवानसि ।
न लब्धवान्भवान्साधो स्फटिकस्याऽपि खण्डिकाम् ॥२६॥
इत्येतदङ्ग मणियत्नकथासमानं
सम्यङ् मया प्रकथितं तव पद्मनेत्र ।
तद्बोध्यमेवममलं स्वयमेव बुद्ध्वा
यद्वेत्सि तत्परिणतिं नय चित्तकोशे ॥ २७ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
चिन्तामणिसाधकवृत्तान्तविवरणं नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

हे साधो, प्रतिदिन आगे बढ़ रहे दुःखोंसे भरे हुए राज्यरूप बन्धनसे भलीभाँति निकलकर आप वनवासनामक दृढ़ बन्धनोंसे बँध गये हैं ॥ २४ ॥

शीत, वात, आतप आदिकी आपको द्विगुण चिन्ता है । इसलिए मैं तो ऐसा समझता हूँ कि पहलेसे अनुभव न रखनेवाले सुकुमार पुरुषोंका वनवास बन्धनसे भी अधिक दुःखदायी है ॥ २५ ॥

मैंने चिन्तामणि पाया, यह तो आप अच्छी तरह समझ चुके हैं, परन्तु हे साधो, [यह भी समझ लीजिये कि] अभीतक आपने स्फटिकका एक टुकड़ा भी नहीं पाया ॥ २६ ॥

पूर्वोक्त चिन्तामणिके साधकके चरित्रकी समताका उपसंहार करते हैं— 'इत्येतदङ्ग' इत्यादिसे ।

हे पद्मनेत्र महीपते, इस तरह चिन्तामणिके प्रयत्नकी कथाके समान आपके चरित्रको मैंने अच्छी तरह प्रकट कर दिया, अब आप मेरे कहनेके अनुसार स्वयमेव अपनी बुद्धिसे निर्मल उस बोध्य वस्तुका तत्त्वतः विचारकर सर्वत्याग या तप—इनमें चिन्तामणिके समान जिसे निर्दोष समझिये, उसीको अपने चित्तकोशके भीतर रखकर फलप्राप्तिपर्यन्त परिणतिमें पहुँचाइये ॥ २७ ॥

नब्बे सर्ग समाप्त

एकनवतितमः सर्गः

चूडालोवाच

इदानीं राजशार्दूल वस्तु सम्प्रतिपत्तये।
शृणु विन्ध्येभवृत्तान्तविवृतिं स्मयकारिणीम्॥ १॥
योऽसौ विन्ध्यवने हस्ती सोऽस्मिन् भूमितले भवान्।
यौ वैराग्यविवेकौ तौ द्वौ तस्य दशनौ सितौ॥ २॥
यश्चाऽसौ वारणाक्रान्तितत्परो हस्तिपः स्थितः।
तदज्ञानं तवाऽऽक्रान्तितत्परं तव दुःखदम्॥ ३॥
अतिशक्तोऽप्यशक्तेन दुःखाद्दुःखं भयाद्भयम्।
हस्ती हस्तिपकेनेव राजन् मौर्ख्येण नीयसे॥ ४॥
यल्लोहवज्रसारेण वारणः परियन्त्रितः।
तदाशापाशजालेन भवानापदमावृतः॥ ५॥

इक्यानबे सर्ग

[तत्त्वज्ञानसम्पादक सर्वत्यागकी सिद्धिके लिए विन्ध्यगजवृत्तान्तरूपी दृष्टान्तका राजा शिखिध्वजके चरित्रमें समन्वय]

चूडालाने कहा—हे राजशार्दूल, पूर्णतत्त्वबोधके लिए अब आप विन्ध्याचलके हाथीके वृत्तान्तकी विस्मय उत्पन्न करनेवाली विवृति सुनिये॥ १॥

विन्ध्यवनमें रहनेवाले जिस हाथीका मैंने आपसे पहले वर्णन किया था, वह इस पृथिवीतलपर आप ही हैं। उस हाथीके जो सफेद दो दाँत हैं वे ही आपके वैराग्य और विवेक हैं॥ २॥

हाथीकी आक्रान्तिमें यानी हाथी पकड़नेमें तत्पर जो वह पीलवान् स्थित था, वह आपकी आक्रान्तिमें तत्पर आपको दुःख देनेवाला आपका अज्ञान है॥ ३॥

हे राजन्, आप अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हाथीके सदृश रहते हुए भी दुर्बल मौर्ख्यरूपी पीलवान्के द्वारा एक दुःखसे दूसरे दुःखमें तथा एक भयसे दूसरे भयमें पहुँचाये जा रहे हैं॥ ४॥

जो लोहवज्रसारसे हाथी बाँधा गया था, सो आशापाशजालसे पैरसे लेकर मस्तकतक आवृत हुए (बाँधे गये) आप ही हैं॥ ५॥

आशा हि लोहरज्जुभ्यो विषमा विपुला दृढा ।
कालेन क्षीयते लोहं तृष्णा तु परिवर्धते ॥ ६ ॥
यद्द्वन्द्वे प्रेक्षते वैरी गजमाराद्लक्षितः ।
प्रेक्षते त्वां तदज्ञानं क्रीडार्थं बद्धमेककम् ॥ ७ ॥
यद्भभञ्ज गजः शत्रोः शृङ्खलाजालबन्धनम् ।
तत्तत्याज भवान् भोगभूमिं राज्यमकण्टकम् ॥ ८ ॥
कदाचित्सुकरं शस्त्रशृङ्खलाबन्धभेदनम् ।
न त्वस्य मनसः साधो भोगाशाविनिवारणम् ॥ ९ ॥
यदिभे पाटयत्युच्चैर्बन्धं हस्तिपकोऽपतत् ।
त्वयि त्यजति तद्राज्यमज्ञानपतितं कृतम् ॥ १० ॥

आशा तो लोहेकी जंजीरसे भी बढ़कर भयङ्कर, विशाल और दृढ़ है, क्योंकि काल पाकर लोहेकी जंजीर टूट जाती है, परन्तु तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है ॥ ६ ॥

'रिपौ हस्तिपके दूरादपश्यति स वारणः' (दूरीके कारण न देख रहा उसका शत्रु पीलवान् जब चिन्तन कर रहा था, तब उस हाथीने) इससे सूचित उसके चिन्तनका उदाहरण देते हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

जो एकान्तमें छिपकर शत्रु पीलवान् हाथीका चिन्तन कर रहा था वह आपका अज्ञान ही * एकान्तमें अकेले बँधे हुए क्रीडाके लिए आपका चिन्तन कर रहा था ॥ ७ ॥

'दन्ताभ्यां यत्नतस्ताभ्याम्' (बड़े प्रयत्नसे उस हाथीने अपने समर्थ उन दोनों दाँतोंसे) इस उक्तिका तात्पर्य कहते हैं—'यद्बभञ्ज' इत्यादिसे ।

जो अपने शत्रुके शृङ्खलाजालबन्धनको हाथीने तोड़ दिया, वह आपने भोगभूमि अकण्टक अपने राज्यका त्याग कर दिया ॥ ८ ॥

हे साधो, कदाचित् शस्त्र और शृङ्खला बन्धनका भेदन सहजमें हो सकता है, परन्तु भोगोंकी आशाका निवारण इस मनसे सहजमें नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

'स पतन्पादपद्माभ्यामप्राप्य करिणः शिरः' (गिर रहा वह अपने चरण-

---

* यह अज्ञानमें चेतनत्वका आरोप करके कहा है ।

यदा विरक्तः पुरुषो भोगाशां त्यक्तुमिच्छति ।
तदा प्रकम्पतेऽज्ञानं छेद्ये वृक्षे पिशाचवत् ॥ ११ ॥
यदा विवेकी पुरुषो भोगान् संत्यज्य तिष्ठति ।
तदा पलायतेऽज्ञानं छिन्ने वृक्षे पिशाचवत् ॥ १२ ॥
भोगौघे नूनमुन्मुक्ते पतत्यज्ञानसंस्थितिः ।
पादपे क्रकचच्छिन्ने कुलायस्तद्गतो यथा ॥ १३ ॥
यदा वनं प्रयातस्त्वं तदा ज्ञानं क्षतं त्वया ।
पतितं सन्न निहतं मनस्त्यागमहासिना ॥ १४ ॥
तेन भूयः समुत्थाय स्मृत्वा परिभवं कृतम् ।
तपःप्रपञ्चखातेऽस्मिन् गहने त्वं नियोजितः ॥ १५ ॥

कमलोंसे हाथीका सिर न भाषकर) इससे जो कहा गया है वह भी अज्ञानमें दिखलाते हैं—'यदिमे' इत्यादिसे ।

हाथीके दृढ़ बन्धन तोड़ देनेपर जो पीलवान् गिर पड़ा था वह आपके राज्य छोड़ देनेपर अज्ञान ही गिराया गया था ॥ १० ॥

जब विरक्त पुरुष भोगोंकी आशा छोड़ देना चाहता है तब अज्ञान, काटे जा रहे वृक्षके ऊपर रहनेवाले पिशाचकी नाईं, खूब काँपने लगता है ॥ ११ ॥

जब विवेकी पुरुष भोगोंका बिलकुल त्याग कर बैठ जाता है तब अज्ञान, वृक्ष कट जानेपर पिशाचकी नाईं, भाग जाता है ॥ १२ ॥

भोगसमूहके उन्मुक्त होनेपर अज्ञानकी संस्थिति वैसे गिर जाती हैं, जैसे वृक्षके आरासे कट जानेपर उसके ऊपर बना हुआ चिड़ियोंका घोंसला ॥ १३ ॥

जिस समय आप जङ्गलको चले, उसी समय आपने अज्ञानको घायल कर दिया, लेकिन घायल होकर गिरे हुए उसको आपने तत्त्वज्ञानके द्वारा मनके त्यागरूप महा खड्गसे मार नहीं डाला । तात्पर्य यह है कि उसी समय आपको चूडालाके उक्तिश्रवणके बाद तत्त्वज्ञानके लिए एक बहुत सुन्दर अवसर मिला था, लेकिन आपने उसे खो दिया ॥ १४ ॥

यही कारण है कि उस अज्ञानने फिर उठकर आपके द्वारा की गई अपनी पराजयका स्मरण करके इस तपःप्रपञ्चरूपी (विस्तृत तपरूपी) गहन गड्ढेमें आपको ढकेल दिया है ॥ १५ ॥

तदैवाऽऽघातयिष्यस्त्वं यद्यज्ञानं तथागतम् ।
राज्यत्यागविधौ तत्त्वां नाऽहनिष्यत्क्षयं गतम् ॥ १६ ॥
यत्खातवलयस्तेन वैरिणा हस्तिनः कृतः ।
तत्तपोदुःखमखिलमज्ञानेन तवाऽर्पितम् ॥ १७ ॥
या तस्य राजराजश्रीर्गजारेर्नृपसत्तम ।
सा त्वदज्ञाननृपतेश्चिन्ताभ्यन्तरचारिणी ॥ १८ ॥
त्वं गजेन्द्रस्त्वयं साधो दीर्घे वनेऽगजोऽपि सन् ।
अज्ञानवैरिणा तेन निक्षिप्तस्तरसाऽभितः ॥ १९ ॥
यत्खातवलयो बाललताभिरवगुण्ठितः ।
आवृतं तत्तपोदुःखमीषत्सज्जनवृत्तिभिः ॥ २० ॥

राज्यका त्याग करते समय ही घायल होकर गिरे हुए अज्ञानको यदि आप ज्ञानसे मार दिये होते, तो उसी समय बिल्कुल नष्ट हुआ वह अज्ञान आपको यों तपरूपी गड्ढेमें ढकेलकर नहीं मारता ॥ १६ ॥

'स खातवलयं चक्रे' (उस पीलवान्‌ने गोल गड्ढेका निर्माण किया) इस उक्तिका तात्पर्य कहते हैं—'यत्खात०' इत्यादिसे ।

हे राजन्, हाथीके शत्रु उस पीलवान्‌ने जो गोल गड्ढेका निर्माण किया था, वह आपके अज्ञानने तपरूपी सम्पूर्ण दुःखोंका एक गोल गड्ढा अर्पित किया है ॥ १७ ॥

'परया राजसामग्र्या गजलम्पटभूमया' इससे सूचित अनेक गजलम्पट जनोंसे युक्त उत्तम राजसामग्रीको स्पष्टरूपसे बतलाते हैं—'या तस्य' इत्यादिसे ।

हे श्रेष्ठ राजन्, जो उस हाथीके शत्रुकी उत्तम राजसामग्री है, वह अवज्ञान-रूपी राजाकी अन्तःकरणमें चारों ओर घूमनेवाली चिन्ता है और वह राजा हैं आप ॥ १८ ॥

हे साधो, गज न होते हुए भी आप उक्त विवेकसे सम्पन्न गजेन्द्र हैं । इस दीर्घ जङ्गलमें इस अज्ञानरूपी शत्रु पीलवान्‌ने आपको तपरूपी गड्ढेमें बहुत शीघ्र फेंक दिया है ॥ १९ ॥

'उपर्यस्थगयद्बाललतौघेन स तं शठः' (उस वञ्चक पीलवान्‌ने उस गड्ढेको कोमल बाललताओंसे उस प्रकार ऊपरसे ढक दिया) इसका स्पष्टरूपसे तात्पर्य कहते हैं—'यत्खातवलयो' इत्यादिसे ।

इत्यद्याऽपि तपःखाते दुःखे ह्यस्मिन् सुदारुणे ।
स्थितोऽसि पातालतले नृप बद्धो यथा बलिः ॥ २१ ॥

गजस्त्वमाशा निगडानि वैरी
मोहो निखातः पुनरुग्रबन्धः ।
महीतलं विन्ध्य उदन्त इत्थं
त्वदीय उक्तः कुरु यत्करोषि ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे हस्तिकाख्यानतात्पर्यविवरणं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

कोमल लताओंसे जो गोल गड्ढा अवगुण्ठित (ढका) है वह आपका तपोदुःख ही शान्ति आदि गुणों और सज्जनोंके समागमोंसे थोड़ा-सा आवृत है ॥ २० ॥

'इति भूयो दृढं बद्धस्तेन हस्तिपकेन सः । तिष्ठत्यद्यापि दुःखेन भूसद्मनि यथा बलि ॥' (इस रीतिसे पुनः उस पीलवान्‌ने उस हाथीको सुदृढ़रूपसे बाँध दिया, जो आज भी बलिके सदृश भूगर्भमें अवस्थित है) इस उपसंहारका तात्पर्य कहते हुए उपसंहार करते हैं—'इत्यद्यापि' इत्यादिसे ।

हे नृप, इस तरह आज भी अतिदारुण और दुःखदायक तपरूपी खन्दकमें आप ऐसे बँधे हुए अवस्थित हैं, जैसे पातालतलमें राजा बलि ॥ २१ ॥

कहे या न कहे गये सबको एकमें मिलाकर कहते हैं—'गज०' इत्यादिसे ।

हे राजन्, आप हैं गज ; आशाएँ हैं जंजीर, शत्रु पीलवान् है मोह, उग्र तपस्यामें आग्रह है गड्ढा, विन्ध्याचल है यह महीतल । इस तरह आपका वृत्तान्त मैंने हाथीके आख्यान द्वारा कह दिया । इसे अच्छी तरह जानकर तपस्यारूपी गड्ढेसे निकल कर उस अपने शत्रुके नाशके लिए जो कुछ कर सकते हैं, उसे शीघ्र कीजिये, देरी मत कीजिये ॥ २२ ॥

इक्यानबे सर्ग समाप्त

द्विनवतितमः सर्गः

चूडालोवाच

यदुक्तं नयशालिन्या तया विदितवेद्यया ।
तदा चूडालया ज्ञानं तत्कस्मान्नोररीकृतम् ॥ १ ॥
सा हि तत्त्वविदां मुख्या यद्यद्वक्ति करोति च ।
तत्सर्वं सत्यमेवाऽङ्ग तदनुष्ठेयमादरात् ॥ २ ॥
अथ चेद्वचनं तस्यास्त्वया नाऽनुष्ठितं नृप ।
तत्सर्वसम्परित्यागः कस्मान्न निपुणीकृतः ॥ ३ ॥

बानवे सर्ग

[कुम्भरूपिणी चूडालाकी ऐसी बातें सुनकर सर्वत्यागमें तत्पर हुए उस राजाने वन आदिका त्याग कर तपस्यामें उपयोगी अपने सम्पूर्ण पात्रोंको अग्निमें झोंक दिया—यह वर्णन]

'जब आप जङ्गलको चले, उसी समय मूर्च्छित होकर गिरे हुए अज्ञानको आपने ज्ञानसे नहीं मारा' यह जो आपने कहा, यह ठीक है, परन्तु उस समय मुझे मनस्त्यागका किसने उपदेश दिया ? जिसकी कि मैंने उपेक्षा की ? इस प्रकार राजाकी शङ्काका तर्क कर रही कुम्भरूपिणी चूडाला कहती है—'यदुक्तम्' इत्यादिसे ।

चूडालाने कहा—हे राजन्, नीतिनिपुण उस चूडालाने, जिसने ज्ञेय वस्तुका अच्छी तरह ज्ञान कर लिया था, उस समय जिस ज्ञानका आपको उपदेश दिया, आपने उसे क्यों नहीं स्वीकार किया ॥ १ ॥

इसलिए नहीं किया कि वह अतत्त्ववित् और मिथ्यावादिनी थी, इस शङ्काका वारण करते हैं—'सा हि' इत्यादिसे ।

हे राजन्, वह तत्त्वविज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ है । वह जो-जो कहती और करती है, वह सब सत्य ही रहता है, अतः आपको आदरके साथ उसका अनुष्ठान करना चाहिए था ॥ २ ॥

'आत्मबुद्ध्या चिरं जीवेद् गुरुबुद्ध्या विशेषतः । परबुद्धिर्विनाशाय स्त्रीबुद्धिः प्रलयङ्करी ॥' इस वचनके अनुसार स्त्रीबुद्धिकी उपेक्षाकर अपनी बुद्धिसे निश्चित सर्वत्यागको ही यदि आपने महत्त्वपूर्ण समझा, तो फिर आपने उसीको स्थिर क्यों नहीं किया ? यह कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

शिखिध्वज उवाच

राज्यं त्यक्तं गृहं त्यक्तं देशस्त्यक्तस्तथाविधः ।
दारास्त्यक्तास्तथाप्यङ्ग सर्वत्यागो न किं कृतः ॥ ४ ॥

चूडालोवाच

धनं दारा गृहं राज्यं भूमिश्छत्रं च बान्धवाः ।
इति सर्वं न ते राजन् सर्वत्यागो हि कस्तव ॥ ५ ॥

हे नृप, यदि आपने उस चूडालाके कथनका पालन नहीं किया, तो फिर सर्वत्यागका ही पूर्णरूपसे आश्रय क्यों नहीं लिया ॥ ३ ॥

'सिद्धः सर्वपरित्यागः साधो संसाध्यतस्तव । खर्वीकृतजगद्भूतिर्विद्यास्वात्मोदयस्तथा ॥' (हे साधो, साधना कर रहे आपका वह सर्वपरित्याग सिद्ध हो चुका, जो जगत्के प्रसिद्ध हिरण्यगर्भ पदतकके ऐश्वर्योंको भी तुच्छ कर देनेवाला तथा विद्यारूपी निरतिशयानन्द आत्मज्ञानको उत्पन्न करनेवाला है ।) इत्यादिसे तो आपने ही कहा था कि राज्यादिके परित्यागमात्रसे आपका सर्वत्याग सिद्ध हो चुका और जिस राज्य आदिका परित्याग कर दिया है उसका फिर मैंने स्वीकार भी नहीं किया, ऐसी स्थितिमें आप बतलाइये कि मैंने सर्वत्यागका पूर्णरूपसे अवलम्बन क्यों नहीं किया ? यों राजा शिखिध्वज पूछते हैं—'राज्यम्' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे प्रिय, यद्यपि राज्य छोड़ा, घरबार छोड़ा, उसी प्रकार सारा देश छोड़ दिया, स्त्री भी छोड़ दी, तथापि आप कहते हैं कि आपने सर्वपरित्याग नहीं किया, यह क्यों ? ॥ ४ ॥

'केवलं सर्वत्यागे शेषिताहंमतिस्त्वया' (आपने सर्वत्यागमें केवल अभिमानरूप अविद्याको उस तरह बचा रखा है) इससे तो मैंने पहले ही इसका उत्तर दे दिया है । परन्तु विवेक न होनेके कारण यह उसे समझ नहीं सका, इसलिए जङ्गलमें निवास, कमण्डलु आदि अवशिष्ट परिग्रहका भी पूर्णरूपसे त्याग करा दिये जानेपर किसी तरह विवेक प्राप्त कर अहङ्कारग्रन्थि तोड़ करके यह परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हो जायगा—ऐसा सोचती हुई धीरे-धीरे राजा शिखिध्वजकी बुद्धिको विचारपथपर उतार रही कुम्भरूपिणी चूडाला गूढ़ अभिप्रायसे कहती हैं—'धनम्' इत्यादिसे ।

तवाऽस्त्येवाऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
तं परित्यज्य निःशेषमायास्यसि विशोकताम् ॥ ६ ॥

शिखिध्वज उवाच

राज्यं चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं वनमेव मे ।
शैलवृक्षादिगुल्माढ्यं तदप्येतत्त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे राजन्, धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि, छत्र और बान्धव—ये सब आपके तो हैं ही नहीं, फिर आपका सर्वत्याग हुआ कौन ? तात्पर्य यह कि जो अपना सम्बन्धी और सब है उसीका त्याग होनेपर सर्वत्यागकी सिद्धि होगी, परन्तु राज्यादि तो न आपके सम्बन्धी हैं और न सब हैं, क्योंकि 'राज्य आदि मेरे हैं' ऐसी कल्पना कर रहा अहङ्कार ही अपनेको इनका स्वामी मानता है, आत्मा नहीं मानता ; अतः आपमें सम्बन्धिता न होनेसे आपका सर्वत्याग सिद्ध नहीं हुआ ॥ ५ ॥

अहङ्कारमें तादात्म्यारोपसे आत्मा ही राज्यादि सबका स्वामी बन बैठा है, यदि आप यह कहें, तब तो एक उसीके त्यागसे सर्वत्याग सिद्ध हो जायगा, दूसरेके त्यागसे नहीं । और आपने तो उस अहङ्कारका त्याग अभीतक किया ही नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'तवाऽस्त्येवा०' इत्यादिसे ।

हे राजन्, सबसे उत्तम भाग जो आपका मन या अहङ्कार है वह तो अभीतक अपरित्यक्त ही है । उसका पूर्णरूपसे परित्यागकर आप शोकशून्य होंगे ॥ ६ ॥

कथित आशयको न जानकर राजा शिखिध्वज चूडालाका यह आशय समझ रहे हैं कि मैंने पहले राज्य आदिका त्याग कर दिया है, इसलिए इस समय राज्यादिका सम्बन्ध न होनेसे वे त्यागके पात्र हैं ही नहीं और पर्वत, वृक्ष आदिका इस समय सम्बन्ध होनेके कारण उनके त्यागके बिना सर्वत्यागकी सिद्धि नहीं हो सकती, यह कहते हैं—'राज्यम्' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—यदि आप मानते हैं कि मेरा राज्य सब कुछ नहीं है तो यह पर्वत, वृक्ष, गुल्म आदिसे भरपूर वन ही मेरा इस समय सब कुछ है, इसलिए इसका मैं त्याग करता हूँ ॥ ७ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति राम वदन्नेव कुम्भवाक्यप्रणोदितः।
निमेषान्तरमात्रेण वशी वीरः शिखिध्वजः॥ ८॥
प्रममार्ज वनास्थां तां कृतः सुदृढनिश्चयः।
प्रावृडोघस्तटगतां रजोलेखामिवाऽऽत्मना॥ ९॥

शिखिध्वज उवाच

सवृक्षाद्रिवनश्वभ्राद्विपिनादपि वासना।
परित्यक्ता मया नूनं परित्यागः स्थितो मम॥ १०॥

कुम्भ उवाच

अद्रेस्तटं वनं श्वभ्रं सलिलं पादपस्थलम्।
इत्यादि तव नो सर्वं सर्वत्यागः कथं तव॥ ११॥
तवाऽस्त्येवाऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः।
तं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम्॥ १२॥

शिखिध्वज उवाच

एतच्चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं स्वाश्रमो मम।
वापीस्थलोटजयुतस्तमेवाऽऽशु त्यजाम्यहम्॥ १३॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, कुम्भके वाक्यसे प्रेरित होकर उस तरह कह रहे वीर जितेन्द्रिय शिखिध्वजने दूसरे ही निमेषमें उस वनासक्तिको ऐसे धो डाला, जैसे वर्षाका प्रवाह तटगत धूलिलेखाको, क्योंकि ऐसा करनेके लिए उसने दृढ़ निश्चय कर लिया था॥ ८,९॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे प्रिय, अनेक जङ्गली वृक्षों, पर्वतों और गड्ढोंसे युक्त विपिनसे भी मैंने अपनी वासनाका (ममताका) परित्याग कर दिया, अब तो मेरा सर्वत्याग सम्पन्न है न॥ १०॥

कुम्भने कहा—हे राजन्, यह पर्वतका तट, वन, श्वभ्र, जल और वृक्षोंके नीचेकी सुन्दर भूमि—ये सब तो आपके हैं ही नहीं, फिर आपका सर्वत्याग कैसे सम्पन्न हुआ॥ ११॥

हे राजन्, सबसे उत्तम भागका तो आपने अभी परित्याग ही नहीं किया है, उसका आप भलीभाँति त्याग करके उत्कृष्ट अशोकताको प्राप्त होंगे॥ १२॥

यद्यपि त्याग करनेके कारण वन आदि आपके सब हैं नहीं, यह मैं मानता हूँ,

वसिष्ठ उवाच

इति राम वदन्नेव कुम्भवाक्यप्रबोधितः ।
निमेषध्यानमात्रेण वशी वीरः शिखिध्वजः ॥ १४ ॥
ममतामाश्रमास्थां तां संविदा शुद्धया हृदि ।
स्फुरन्तीं स्फुरणेनैव रजोलेखामिवाऽनिलः ॥ १५ ॥

शिखिध्वज उवाच

सवृक्षोटजवीरुत्काद्वासना स्वाश्रमादपि ।
परित्यक्ता मया नूनं सर्वत्यागः स्थितो मम ॥ १६ ॥

कुम्भ उवाच

वृक्षो वापी स्थलं गुल्ममुटजं व्रततीवृतिः ।
इति किञ्चिन्न ते सर्वं सर्वत्यागः कुतस्तव ॥ १७ ॥

तथापि आश्रमका अस्तित्व होनेसे आपका सर्वत्याग सम्पन्न हुआ कैसे, यह कुम्भ मुनि अब मुझसे कह रहे हैं, यों मान रहे राजा शिखिध्वज कहते हैं—'एतच्चेन्मम' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—त्यागके कारण यदि ये वन आदि मेरे सब नहीं हैं तो यह जो वापी, स्थल, उटज आदिसे युक्त मेरा अपना आश्रम तो सब कुछ है, उसका भी अभी मैं त्याग कर देता हूँ ॥ १३ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, ऐसा कहते हुए कुम्भवाक्यसे प्रबोधित जितेन्द्रिय वीर राजा शिखिध्वजने निमेषभर ध्यान करके हृदयमें स्फुरित हो रही उस आश्रमकी अपनी ममताको शुद्ध संवित्से उस प्रकार धो डाला, जिस प्रकार अनिल स्फुरणमात्रसे धूलिलेखाको धो डालता है ॥ १४, १५ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे प्रिय, वृक्ष, उटज, लता आदिसे सम्पन्न इस अपने आश्रमसे भी अपनी ममता मैंने छोड़ दी । अब तो मेरा सर्वत्याग सिद्ध हो गया न ॥ १६ ॥

कुम्भने कहा—हे राजन्, वृक्ष, वापी, स्थल, गुल्म, उटज और ये लताएँ—ये सब तो आपके कुछ भी नहीं हैं, फिर आपका सर्वत्याग कैसे सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

तवाऽस्त्यन्यो परित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
तं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥ १८ ॥

शिखिध्वज उवाच

एतच्चेन्मम नो सर्वं तत्सर्वं भाजनादि मे ।
चर्मकुड्यकुटीरादि तत्तावत्संत्यजाम्यहम् ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा स समुत्तस्थावविक्षुब्धमतिः शमी ।
विष्टरादवदातात्मा शृङ्गादिव शरद्घनः ॥ २० ॥
कुम्भस्त्वालोकयन्नेव तत्क्रियाः सस्मितः स्वयम् ।
आसने लोककार्येषु स्वस्यन्दन इवांशुमान् ॥ २१ ॥
यत्करोति करोत्वेतदस्यैतत्पावनं परम् ।
इति तूष्णीं स्थितः कुम्भः शिखिध्वजमवेक्षत ॥ २२ ॥
शिखिध्वजस्तु तत्सर्वं भाण्डोपस्करमाश्रमात् ।
एकत्रैवाऽऽनयामास भुवो वार्यब्धिभूरिव ॥ २३ ॥

सबसे उत्तम भागका तो अभी आपने त्याग ही नहीं किया है, उसका पूर्णरूपसे परित्यागकर आप उत्कृष्ट अशोकताको प्राप्त होंगे ॥ १८ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे प्रिय, यदि ये सब मेरे नहीं हैं, तो भाजन आदि तथा मृगचर्म, भीत, कुटीर आदि तो मेरे सब हैं, इन्हींको पहले छोड़ता हूँ ॥ १९ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, यह कहकर अविक्षुब्धमति, शमी तथा शुद्धात्मा वह राजा शिखिध्वज अपने आसनसे उस तरह उठ गया, जिस तरह पर्वतके शृङ्गसे शरत्कालीन मेघ ॥ २० ॥

अपने आसनपर स्थित वह कुम्भ ऋषि मुसकुराता हुआ राजा शिखिध्वजकी सारी क्रियाएँ उस तरह देख रहा था, जिस तरह अपने रथपर अवस्थित हुए भगवान् सूर्यदेव लोकके कार्य देखते रहते हैं ॥ २१ ॥

जो यह करता है, यह करे। इसके लिए यही परम पावन है, ऐसा विचार कर चुपचाप अवस्थित हो वह कुम्भ ऋषि राजा शिखिध्वजकी ओर देखता रहा ॥ २२ ॥

राजा शिखिध्वजने भाण्डादि उन सब वस्तुओंको अपने आश्रमके भीतरसे

तत्संस्थाप्येन्धनैः शुष्कैर्ज्वालयामास पावकम् ।
करैः सङ्क्रान्तभानुकः सूर्यकान्तपदं यथा ॥ २४ ॥
भाण्डोपस्करजालं तदग्नौ त्यक्त्वा निवेश सः ।
ध्वंसिकायां जगद्धुत्वा मेरुशृङ्गे यथा रविः ॥ २५ ॥
एतावन्तं मया कालं वृत्ता यत्त्वं पतिप्रिये ।
अज्ञातबुद्धिभेदेन तेनैव कृतमस्तु ते ॥ २६ ॥
भ्रान्तौ तु विनिवर्तिन्यां नाऽधुनोपकरोषि माम् ।
मन्त्राटव्यां चिरं भ्रान्तं विहृतं कार्यवर्त्मसु ॥ २७ ॥

लाकर उन्हें एक ही जगह उस तरह रख दिया, जिस तरह समुद्रके उदरकी नीची भूमि उन्नत पृथिवीसे नदी आदिके जलको ॥ २३ ॥

उन्हें एक जगह करके सूखी लकड़ियोंके द्वारा अग्निको उस तरह प्रज्वलित किया, जिस तरह अपनी किरणोंसे सङ्क्रान्त सूर्य सूर्यकान्तमणिके स्थानमें अग्निको ॥ २४ ॥

भाण्ड आदि उन सब वस्तुओंको अग्निमें छोड़कर वह अपने आसनपर उस तरह आसीन हो गया, जिस तरह मन्वन्तरके सन्धिप्रलयमें भगवान् सूर्यदेव स्वप्रज्वलित अग्निमें संसारका हवनकर सुमेरु शिखरपर आसीन हो गये थे ॥ २५ ॥

अब अक्षमाला छोड़नेकी इच्छासे किये गये उपकारको भूल जाना जो एक दोष है उसका परिहार कर रहे राजा शिखिध्वज उस अक्षमालासे कहते हैं—'एतावन्तम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे पतिप्रिये, मेरे इस कार्यसे दूसरेको अवश्य क्लेश होगा, ऐसा विचारकर मैंने अपनी स्वार्थसाधनकी बुद्धिका कभी उच्छेद न करके तुम्हें इतने समयतक जो परिवर्तनरूपी श्रममें पहुँचाया, उसीसे आवश्यकतासे अधिक तुम मेरी सेवा कर चुकी हो, अतः उतनी ही रहे ॥ २६ ॥

अब तो तप, जप आदि कर्तव्यारूपी भ्रान्तिके दूर चले जानेपर तुम मेरा उपकार नहीं कर सकती, इसलिए तुम्हें श्रम देना मैं उचित नहीं समझता । मैं तुम्हारे साथ मन्त्ररूपी जङ्गलमें तथा क्रियासे साध्य होनेवाली छोटी-छोटी सिद्धियोंके पथपर बहुत दिनोंतक भटकता रहा ॥ २७ ॥

दृष्टानि धर्मस्थानानि विश्राम्याम्यधुना सखि ।
इत्यक्षमालां ज्वलने चिक्षेपोक्त्वा शिखिध्वजः ।
कल्पान्ताग्नाविव व्योमतारालीं पवनोऽमलाम् ॥ २८ ॥
मया नरमृगेण त्वं चिरं वनमृगाच्च्युतम् ।
अबोधेन धृतं बृस्यामिदमेव मृगाजिनम् ॥ २९ ॥
इदानीं गच्छ तुच्छाय पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
वह्निना व्योमतां गच्छ सतारं व्योम ते समम् ॥ ३० ॥
तद्बृस्यङ्गात्कराभ्यां स धृत्वा चर्माऽजहादिति ।
नृपोऽग्नावम्बुधेर्वातो द्ववह्नाविवाऽचलात् ॥ ३१ ॥
महावृत्तेन भवता त्वया वारि धृतं मम ।
साधो कमण्डलो सम्यङ् न ते प्रतिकृतं कृतम् ॥३२॥

हे सखि, मैंने अनेक धर्मस्थान देख लिये, अब विश्राम ले रहा हूँ—यह कहकर राजा शिखिध्वजने अक्षमाला आगमें उस तरह फेंक दी, जिस तरह प्रलयकालाग्निमें पवन आकाशकी नक्षत्रमाला * फेंक देता है ॥ २८ ॥

अब मृगचर्मके प्रति कहते हैं—'मया' इत्यादिसे ।

हे मृगाजिन, मनुष्यरूपी मृग मैंने जङ्गली मृगसे प्राप्त हुए तुम्हें बहुत दिनोंतक अपने अज्ञानसे इस कुशासनके ऊपर बिछाया, अब यही तुम्हारा उपकार मेरे जीवनमें सदाके लिए बना रहे ॥ २९ ॥

अब तुम अपने मूलकारण मायास्वभावके लिए चले जाओ, तुम्हारे अवान्तर कारणप्रविलयस्वरूप मार्ग तुम्हें कल्याणदायक हों । तुम सफेद बिन्दुओंसे चित्रित हो, अतः अग्निके रास्ते तुम आकाशस्वरूपमें मिल जाओ, यह आकाश भी तुम्हारे ही सदृश सफेद चमकीले तारोंसे चित्रित है, यह कहकर उस राजाने कुशासनसे उस मृगचर्मको खींचकर अपने दोनों हाथोंसे अग्निमें उस तरह छोड़ दिया, जिस तरह प्रलयकालीन वायु पर्वतोंको समुद्रसे खींचकर दावाग्निमें छोड़ देता है ॥३०,३१॥

अब कमण्डलु छोड़नेकी इच्छा कर रहे राजा शिखिध्वज अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करनेके लिए उसकी प्रशंसा करते हैं—'महावृत्तेन' इत्यादिसे ।

हे साधो कमण्डलो, तुम सुन्दर गोल-मटोल आकारसे युक्त बनकर मेरे लिए जल रखते रहे । तुम्हारी इस सुन्दर मैत्री और स्थिर सौजन्यका मैं अच्छी तरह

* नक्षत्रमालाकी उपमासे मालूम पड़ता है कि यह अक्षमाला स्फटिककी थी ।

सौहृदस्य मनोज्ञस्य सौजन्यस्य स्थिरस्य च ।
साधुत्वस्य च सर्वस्य त्वमेव परमास्पदम् ॥ ३३ ॥
येनैव वह्निना देहं संशोध्याऽभ्यागतोऽसि माम् ।
तेनैव गच्छ हे मित्र पन्थानः सन्तु ते शिवाः ॥ ३४ ॥
इत्युक्त्वा श्रोत्रियायैव कमण्डलुमदात्तदा ।
अग्नये महते वाऽपि दातव्यं साधु यद्भवेत् ॥ ३५ ॥
मूर्खस्येव मतिर्गुप्ते नित्यमेव पतस्यधः ।
उचिता ते गतिः सैव बृसीके भस्मतां व्रज ॥ ३६ ॥
इत्युक्त्वाऽऽदाय बृसिकामग्नावेव स मृद्विकाम् ।
शुद्ध्यर्थमासनार्थं वै चिति तत्याज भासुरे ॥ ३७ ॥
यत्त्याज्यमचिरेणैव त्यक्तव्यं किल तत्सदा ।
विस्तरः क्रियते मद्भिरुपादेये इति स्थितिः ॥ ३८ ॥

प्रत्युपकार न कर सका—बदला न चुका सका। सम्पूर्ण साधुत्वका परम आस्पद तुम्हीं हो। हे मित्र, जिस अग्निपथसे देहको शोधित कर मेरे पास आये हो, उसी पथसे फिर चले जाओ। मित्र, तुम्हारे मार्ग सुखदायक हों ॥ ३२–३४ ॥

यह कहकर उसी समय राजा शिखिध्वजने श्रोत्रिय ब्राह्मणको कमण्डलु दे दिया*। जो कोई अच्छी वस्तु हो, वह किसी महात्माको दे देनी चाहिए या अग्निमें जला देनी चाहिए, ऐसा नियम है। हे आसन, जिस तरह मूर्ख पुरुषकी बुद्धि अधोगतिके हेतु प्रच्छन्न पापमें गिरती है, उसी तरह तुम भी सदा अपनेसे प्रच्छन्न अधोदेशमें ही गिरते हो, इसलिए हे आसन, तुम्हारी भी वही दाहसन्तापगति उचित है, अतः भस्मरूप हो जाओ, यह कहकर उस राजाने उस कोमल आसनको चित्तकी शुद्धिके लिए तथा ब्रह्मचैतन्यमें विश्रान्तिके लिए धधकती आगमें छोड़ दिया ॥ ३५–३७ ॥

अब कुम्भके प्रति कहते हैं—'यत्त्याज्य०' इत्यादिसे।

हे साधो, जो वस्तु त्याज्य है उसका सदा शीघ्र त्याग कर देना चाहिए,

---

* राजा शिखिध्वजने अग्निमें शुद्ध करके किसी एक श्रोत्रिय ब्राह्मणसे वह कमण्डलु लिया था, अब फिर अग्निमें उसे शुद्ध करके किसी एक दूसरे श्रोत्रिय ब्राह्मणको दे दिया, यह 'येनैव' इत्यादिसे मालूम पड़ता है।

शीघ्रमग्नाविदं सर्वं भाण्डजातं त्यजाम्यहम् ।
एकवारं दहत्यग्निर्दार्ढ्यं भवति तुष्टये ॥ ३९ ॥
साधो क्रियोपकरणं निष्क्रियाय त्यजाम्यहम् ।
न खेदस्तत्र कर्तव्यो नन्वयोग्यं बिभर्ति कः ॥ ४० ॥

इत्युक्तवान् झटिति भोजनभाजनाद्यं
सर्वं जुहाव वनवासविलासयोग्यम् ।
तद्भाण्डजालमनले सममेव राजा
कल्पान्ततेजसि जगज्ज्वलतीव कालः ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे सर्वत्यागकरणं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥९२॥



क्योंकि विद्यमान उन सभी वस्तुओंसे संग्रह करने योग्य दूसरी वस्तुमें भी विस्तार किया जाता है, ऐसी लोकमें वस्तुस्थिति प्रसिद्ध है; इसलिए मैं इन सभी वस्तुओंको शीघ्र ही आगमें छोड़ देता हूँ। यदि इन सबको आग एक ही बारमें जला देती है, तो मेरे सर्वत्यागरूपी सन्तोषके लिए बिलकुल ठीक है ॥ ३८, ३९ ॥

हे साधो कुम्भ, मैं निष्क्रिय होनेके लिए क्रियोपयोगी सभी वस्तुओंको छोड़ रहा हूँ, इसलिए मेरे द्वारा किये गये सर्वत्यागके विषयमें मित्र, तुम खेद न करना; क्योंकि इस संसारमें अयोग्य वस्तुको (बिना कामके पदार्थको) कौन ढोते-फिरता है—अयोग्यकी कहीं पूछ नहीं रहती ॥ ४० ॥

हे श्रीरामजी, यह कहकर सम्पूर्ण भोजनपात्र आदि उस भाण्डसमूहको, जो वनवासविलासके योग्य था, एक ही साथ आगमें राजाने उस तरह हवन कर दिया, जिस तरह धधक रही कल्पान्तकी आगमें काल सम्पूर्ण संसारको एक ही साथ हवन कर देता है ॥ ४१ ॥

बानबे सर्ग समाप्त

त्रिनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथोत्थाय ददाहाऽसौ शुष्कं तत्तृणमन्दिरम् ।
अज्ञेन स्वेन मनसा वृथा सङ्कल्पकल्पितम् ॥ १ ॥
शिष्टं यत्किञ्चिदभवत्तत्सर्वं स शिखिध्वजः ।
असंरब्धमना मौनी क्रमेण समया धिया ॥ २ ॥
ददाह च स चिक्षेप तत्याज च बभञ्ज वा ।
भाण्डजातं स्ववसनं भोजनाद्यपि तुष्टवत् ॥ ३ ॥
स बभूवाऽऽश्रमस्तस्य दृष्टनष्टजनस्थितिः ।
वीरभद्रबलध्वस्तदक्षयज्ञाश्रमोपमः ॥ ४ ॥
आश्रमात्ते मृगगणास्त्यक्तरोमन्थमुद्ययुः ।
साग्निदाहात् पुरवराद्भीतभीतजना इव ॥ ५ ॥

तिरानबे सर्ग

[सारी सामग्री जलाकर देहको छोड़ देनेके लिए तैयार राजा शिखिध्वजको रोककर कुम्भ द्वारा चित्तत्यागके लिए उपदेश देना]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, इसके बाद उठकर राजा शिखिध्वजने अज्ञानी अपने मिथ्याभूत मनसे सङ्कल्प द्वारा समर्थित उस कुटीरूप शुष्क तृणमन्दिरको जला दिया ॥ १ ॥

जो कुछ वस्तुएँ वहाँ बच गई थीं उन सबको—असंरब्धमना मौनी उस राजा शिखिध्वजने क्रमशः समान बुद्धिसे युक्त होकर—जला डाला, इधर-उधर फेंक दिया, किसीको दे दिया या तोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया। हे श्रीरामजी, आपसे क्या कहूँ, अन्तमें उसने अपनी लँगोटी तथा भोजनपात्रको भी नहीं रहने दिया ॥ २, ३ ॥

राजा शिखिध्वजके उस आश्रमसे, जहाँ अनेक जन पहले देखे गये थे, आज वे सब लोग विलुप्त हो गये; वह वीरभद्रके बलसे ध्वस्त दक्षके यज्ञके आश्रमके सदृश हो गया ॥ ४ ॥

वे मृगोंके झुण्ड जुगाली छोड़-छोड़कर आश्रमसे उस प्रकार भागने लगे,

भाण्डजातं दहत्यग्नौ सह शुष्केन्धनेन तत् ।
केवलाकृतिरस्नेहस्तुष्टिमानाह भूपतिः ॥ ६ ॥

शिखिध्वज उवाच

वासनां तत्र संत्यज्य सर्वत्यागी स्थितो ह्यहम् ।
अहो नु चिरकालेन देवपुत्र प्रबोधितः ॥ ७ ॥
संपन्नः केवलः शुद्धः सुखेनोद्बोधवाहनम् ।
किं नाम किल वस्त्वेतद्भवेत्साङ्कल्पिकक्रमम् ॥ ८ ॥
यावद्यावत्प्रहीयन्ते विविधा बन्धहेतवः ।
तावत्तावत्ममायाति परमां निर्वृतिं मनः ॥ ९ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखितोऽस्मि जयाम्यहम् ।
विबन्धाः प्रक्षयं याताः सर्वत्यागो मया कृतः ॥ १० ॥

जिस प्रकार अग्निदाहसे युक्त किसी श्रेष्ठनगरसे अत्यन्त भयसे भीत होकर मनुष्य भागने लगते हैं ॥ ५ ॥

सूखी लकड़ीके साथ जब वह सम्पूर्ण पात्र आदि अग्निमें जल रहा था तब देहमात्रावशिष्ट, स्नेहशून्य और सन्तुष्ट राजा बोलने लगा ॥ ६ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे देवपुत्र, अहो, चिरकालके बाद आपसे ज्ञान पाकर सब वस्तुओंमें ममता छोड़कर अब मैं सर्वत्यागी बनकर स्थित हो गया हूँ ॥ ७ ॥

अब मैं केवल, शुद्ध सुखसे सम्पन्न ज्ञानवान् हो गया हूँ। ममतासङ्कल्प-प्रयुक्त संग्रहक्रम जिसमें उपस्थित है, ऐसा यह सब सामान किस कामका ! कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थमें कुछ सार नहीं है वह पासमें रखने योग्य नहीं है ॥ ८ ॥

वस्तुओंके त्यागसे जो सुख हुआ, उसका अभिनय कर रहे राजा शिखिध्वज कहते हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

ज्यों-ज्यों विविध बन्धनके हेतु विषय छूटते जाते हैं, त्यों-त्यों मेरा मन परम आनन्दको प्राप्त होता जाता है ॥ ९ ॥

हे भगवन्, मैं शान्ति प्राप्त कर रहा हूँ, परमानन्द स्वरूपको प्राप्त कर रहा हूँ और विजयी हो रहा हूँ, अतः मैं अब खूब सुखी हूँ। मेरे विविध बन्धन नष्ट हो चुके। अब मैंने सर्वत्याग किया ॥ १० ॥

दिगम्बरो दिक्सदनो दिक्समोऽयमहं स्थितः ।
देवपुत्र महात्यागात्किमन्यदवशिष्यते ॥ ११ ॥

कुम्भ उवाच

सर्वमेव न सन्त्यक्तं त्वया राजन् शिखिध्वज ।
सर्वत्यागपरानन्दे मा मुधाऽभिनयं कुरु ॥ १२ ॥
तवाऽस्त्येवाऽपरित्यक्तः सर्वस्माद्भाग उत्तमः ।
यं परित्यज्य निःशेषं परामायास्यशोकताम् ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति श्रुतवता तेन किञ्चित्सञ्चिन्त्य भूभृता ।
इदमुक्तं महाबाहो राम राजीवलोचन ॥ १४ ॥

शिखिध्वज उवाच

इन्द्रियव्यालसंघातो रक्तमांसमयाकृतिः ।
शिष्यते सर्वसन्त्यागे देहो मे देवतात्मज ॥ १५ ॥

हे देवपुत्र, देखिये, अब मैं दिगम्बर हूँ, दिक्सदन हूँ और दिशाओंके समान यह स्थित हो गया हूँ । कहिए, महात्याग करनेसे अब और अधिक क्या बाकी बचा है ? ॥ ११ ॥

बाह्य पदार्थोंके त्यागमात्रसे, भ्रान्तिसे बालककी नाईं, उस राजा शिखिध्वजके सर्वत्यागजन्य सुखाभिनयको न सह रहे कुम्भ कहते हैं—'सर्वमेव' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे राजन् शिखिध्वज, अभी आपने सभी पदार्थोंका अच्छी तरह त्याग नहीं किया । सर्वत्यागजन्य परमानन्दमें झूठ-मूठका अभिनय मत कीजिए ॥ १२ ॥

सबसे उत्तम भागका तो अभी आपने त्याग ही नहीं किया, जिसका त्याग कर आप परम निःशेष विशोकताको प्राप्त होंगे ॥ १३ ॥

महाराज श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे महाबाहो, हे राजीवलोचन श्रीरामजी, यह सुनकर उस महीपतिने कुछ सोचकर यह कहा ॥ १४ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे देवपुत्र, इन्द्रियरूपी दुष्ट साँपोंके समूहसे युक्त तथा रक्त-मांसमय आकारवाला यह मेरा शरीर अभी सर्वत्यागमें बाकी रह

तदुत्थाय पुनर्देहं भृगुपातादविघ्नतः ।
विनाशात्मकतां नीत्वा सर्वत्यागी भवाम्यम् ॥ १६ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा देहमग्रस्थे श्वभ्रे त्यक्तुमसौ जवात् ।
करोति यावदुत्थानं तावत्कुम्भोऽप्युवाच ह ॥ १७ ॥

कुम्भ उवाच

राजन्किमिति देहं त्वं निरागस्कं महावटे ।
त्यजस्यज्ञो हि वृषभः कुपितो हन्ति तर्णकम् ॥ १८ ॥

जडो वराको मूकात्मा ध्यानवानवतिष्ठते ।
न कश्चन तवैतस्मिन्मा मुधैव तनुं त्यज ॥ १९ ॥

आत्मन्येवैष मूकात्मा ध्यानवानवतिष्ठते ।
सञ्चाल्यते परेणैव तरङ्गेणेव काष्ठकम् ॥ २० ॥

गया है, इसलिए फिर उठकर बिना विघ्नके इस शरीरको भृगुपातसे विनाशरूपतामें पहुँचाकर मैं सर्वत्यागी हो रहा हूँ ॥ १५, १६ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह कहकर अपना शरीर छोड़नेके लिए सामने स्थित खन्दकमें गिरनेके लिए ज्योंही राजा शिखिध्वज उठ कर झोंकसे बढ़े, त्योंही कुम्भऋषि बोले ॥ १७ ॥

कुम्भ ऋषिने कहा—हे राजन्, क्यों इस निरपराधी देहको इतने बड़े भयङ्कर खन्दकमें छोड़ रहे हैं। आप तो, उस अज्ञानी क्रोधी बैलके सदृश मालूम पड़ते हैं, जो अपने बछड़ेको ही मारता है ॥ १८ ॥

शरीरका कोई अपराध नहीं है, यह दिखलाते हैं—'जडो' इत्यादिसे।

यह बेचारा तपस्वी शरीर तो जड़ और मूकात्मा है। इसने आपका कोई अपराध नहीं किया है, अतः व्यर्थ ही इस शरीरका त्याग मत कीजिये ॥ १९ ॥

यह मूकात्मा अपने आत्मामें ही ध्यानवान् होकर अवस्थित रहता है। यह दूसरेके ही द्वारा उस तरह सञ्चालित किया जाता है, जिस तरह तरङ्गसे काष्ठ ॥ २० ॥

क्षोभयत्यन्य एवैनं निग्रहार्हो मुहुर्बलात् ।
तपस्विनं यथैकान्तं संस्थितं मत्ततस्करः ॥ २१ ॥

सुखदुःखादिभूत्या हि नाऽपराधि शरीरकम् ।
नाऽऽत्मनः फलवानात्मस्पन्दे वृक्षोऽपराधवान् ॥ २२ ॥

वातः फलशिरःपुष्पपातनं कुरुते स्फुरन् ।
तरुणा साधुना साधोरपराद्धं किमात्मनः ॥ २३ ॥

त्यक्तेनाऽपि शरीरेण किल तामरसेक्षण ।
सर्वत्यागो न ते याति निष्पत्तिं विषमो हि सः ॥ २४ ॥

जिसका अपराध है, उस अन्य व्यक्तिको दिखलाते हैं—'क्षोभयत्यन्यः' इत्यादिसे ।

जैसे एकान्तमें अवस्थित तपस्वीको उन्मत्त चोर बलपूर्वक बारबार क्षोभ पहुँचाता है, वैसे ही इस आत्माको भी कोई दूसरा ही बारबार बलपूर्वक उन्मत्त चोर क्षोभ पहुँचाता है, अतः वही दण्ड देने योग्य है ॥ २१ ॥

सुख और दुःखकी उत्पत्तिका स्थान होनेसे शरीर अपराधी क्यों नहीं है, इसपर कहते हैं—'सुख०' इत्यादिसे ।

सुख, दुःख आदिका उद्भवस्थान होनेमात्रसे शरीर अपराधी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें दृष्टान्त है—फलवान् वृक्ष । वायु द्वारा आत्मस्पन्दन (फल आदिका पतन) होनेपर फलवान् वृक्षके अभिमानी आत्माका कोई अपराध माना नहीं जा सकता ॥ ॥ २२ ॥

स्पन्दनशील वायु ही, फल, ऊपरके पल्लव, पुष्प आदिको बलपूर्वक गिरा देता है, इसलिए वायुका ही अपराध मानना चाहिए, बेचारे साधु वृक्षका क्या अपराध ? बस, इसी तरह साधु शरीरने साधु आत्माका कौन अपराध किया ? ॥ २३ ॥

हे कमलनेत्र, शरीरका त्याग करनेसे भी तुम्हारा सर्वत्याग सिद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि वह विषम है अर्थात् देहत्यागरूप सर्वत्याग करनेपर अधिकारी देह न मिलनेके कारण ज्ञानकी सम्भावना हो ही नहीं सकती, इसलिए उसका त्याग करना नितान्त अयोग्य है ॥ २४ ॥

भृगौ केवलमेतत्त्वं निरागस्कं शरीरकम् ।
मुधा क्षिपसि नो देहत्यागे तत्त्यागिता भवेत् ॥ २५ ॥
येनाऽयं क्षोभ्यते देहो मत्तेभेनेव पादपः ।
तत्संत्यजसि चेत्पापं तन्महात्यागवान् भवान् ॥ २६ ॥
तस्मिंस्त्यक्ते भवेत्त्यक्तं सर्वं देहादि भूपते ।
नो चेन्निमग्नमप्येतत्तद्भूयो भूयः प्ररोहति ॥ २७ ॥

शिखिध्वज उवाच

केनाऽयं चाल्यते देहः किं बीजं जन्मकर्मणाम् ।
कस्मिंस्त्यक्ते परित्यक्तं सर्वं भवति सुन्दर ॥ २८ ॥

कुम्भ उवाच

साधो न देहत्यागेन न राज्यत्यजनेन च ।
न चोटजादिशोषेण सर्वत्यागो भवेन्नृप ॥ २९ ॥
यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन्सर्वैककारणे ।
सर्वस्मिन्सम्परित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥ ३० ॥

हे साधो, आप निरपराधी इस शरीरको व्यर्थ ही खन्दकमें फेंक रहे हैं, क्योंकि देह छोड़ देनेपर देहक्षोभक अहङ्कारका त्याग सिद्ध नहीं होता ॥ २५ ॥

मत्त हाथी जैसे वृक्षको क्षुब्ध करता है वैसे ही जिसके द्वारा देह क्षुब्ध हो जाती है उस पापात्माका यदि त्याग करते हैं, तो सचमुच आप बड़े ही त्यागी हैं ॥ २६ ॥

हे राजन्, उस पापका परित्याग करनेपर ही देह आदि सब कुछ अपने-आप परित्यक्त हो जाता है। यदि उसका परित्याग नहीं करते, तो भृगुपात आदिसे नाशित भी देह आदि उस देहक्षोभक जन्मादिके हेतु पापात्मा अहङ्कारसे बार-बार उत्पन्न होता ही रहेगा ॥ २७ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे सुन्दर, यह देह किसके द्वारा चालित होती है, जन्मादिविकारोंका बीज क्या है, और किसका त्याग कर देनेपर सब कुछ परित्यक्त हो जाता है ॥ २८ ॥

कुम्भ ऋषिने कहा—हे साधो, हे राजन्, देहके त्यागसे, राज्यके त्यागसे और कुटिया नष्ट कर देनेसे सर्वत्याग सिद्ध नहीं होगा। परन्तु जो समस्त वासनाओंका आश्रय होनेके कारण सर्वात्मक है, सब विषयोंमें जिसकी पहुँच

शिखिध्वज उवाच

सर्वं सर्वगतं सर्वहेयं त्याज्यं च सर्वदा।
सर्वं किमुच्यते ब्रूहि सर्वतत्त्वविदां वर ॥ ३१ ॥

कुम्भ उवाच

साधो सर्वगताकारं जीवप्राणादिनामकम्।
न जडं नाऽजडं भ्रान्तं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥ ३२ ॥
चित्तमेव भ्रमं विद्धि विद्धि चेतो नरं नृप।
चित्तं विद्धि जगज्जालं चित्तं सर्वमिति स्मृतम् ॥ ३३ ॥
राज्यादेरथ देहादेराश्रमादेर्महीपते।
सर्वस्यैव मनो बीजं तरुबीजं तरोरिव ॥ ३४ ॥
सर्वस्य बीजे सन्त्यक्ते सर्वं त्यक्तं भवत्यलम्।
सम्भवासम्भवाद्भूप सर्वत्यागो भवेदिति ॥ ३५ ॥

होनेके कारण जो सर्वव्यापी है, उस सङ्कल्पके द्वारा सबके एकमात्र कारणभूत सर्वात्माका परित्याग कर देनेपर सर्वत्याग सिद्ध होगा ॥ २९,३० ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे सर्व तत्त्वविदोंमें श्रेष्ठ ऋषे, सब जगह छोड़ने योग्य और सर्वदा त्यागने योग्य जो सर्वगत सर्वात्मक वस्तु है, वह सर्वात्मक वस्तु कौन कही जाती है, उसे कहिए ॥ ३१ ॥

कुम्भ ऋषिने कहा—हे साधो, सर्वव्यापी आकारवाला तथा जीव, प्राण आदि नामवाला (चितिकी प्रधानतासे जीवनामवाला और क्रियाकी प्रधानतासे प्राणनामवाला) जो चित्त है, यह सर्वशब्दसे कहा गया है। यह चित्त न जड़ है, न अजड़ है, किन्तु अनेक भ्रमोंसे व्याप्त है ॥ ३२ ॥

हे राजन्, आप चित्तको ही भ्रम जानिये, चित्तको ही व्यवहार करनेवाला पुरुष समझिये और चित्तको ही जगज्जाल जानिए। यह चित्त ही सर्वात्मक वस्तु कही गई है ॥ ३३ ॥

हे महीपते, जिस तरह वृक्षका बीज वृक्ष है उसी तरह यह मन राज्य आदि, देह आदि तथा आश्रम आदि सबका बीज है ॥ ३४ ॥

हे भूप, सबके बीजभूत उस मनका त्याग हो जानेपर सबका बिलकुल त्याग हो जाता है। उसके त्यागसे सर्वत्यागका संभव है और उसके अत्यागसे सर्वत्यागका संभव नहीं है ॥ ३५ ॥

सर्वधर्मा अधर्मा वा राज्यादि विपिनादि वा ।
सचित्तस्य परं दुःखं निश्चित्तस्य परं सुखम् ॥ ३६ ॥
इदं विवर्तते सर्वं चित्तमेव जगत्तया ।
देहाद्याकारजालेन बीजं वृक्षतया यथा ॥ ३७ ॥
पादपः पवनेनेव भूकम्पेनेव पर्वतः ।
भस्त्रा भस्त्राभरेणाऽयं देहश्चित्तेन चाल्यते ॥ ३८ ॥
सर्वभूतोपभोगानां जरामरणजन्मनाम् ।
महामुनीनां सुदृढं चित्तं विद्धि समुद्गकम् ॥ ३९ ॥
इदं प्रवर्तते सर्वं चित्तमेव जगत्तया ।
देहाद्याकारजालेन चित्तं जीवो मनोमयम् ॥ ४० ॥
बुद्धिर्महदहङ्कारः प्राणाश्चेत्यादिभिर्मुने ।
क्रियानुरूपैरभिधाव्यापारैः शान्तमुच्यते ॥ ४१ ॥

हे राजन्, समस्त धर्म या अधर्म, राज्य या जङ्गल आदि—ये सब सचित्त पुरुषके लिए केवल दुःखरूप ही हैं और चित्तहीन पुरुषके लिए तो ये सबके सब परम सुखस्वरूप हैं ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण जगत् तथा देहादि आकारके समूहरूपसे यह सब चित्त ही उस तरह परिणत होता है, जिस तरह वृक्षरूपसे बीज परिणत होता है ॥ ३७ ॥

जिस तरह पवनसे वृक्ष, भूकम्पसे पर्वत और लोहारसे भाथी सञ्चालित होती है, उसी तरह चित्तसे यह देह सञ्चालित होती है ॥ ३८ ॥

सम्पूर्ण जीवोंके उपभोग, जरा, मरण आदि देहके धर्मों और महामुनियोंके शम, दम आदि धर्मों की सुदृढ़ पिटारी आप चित्तको ही जानिये ॥ ३९ ॥

हे राजन्, जगत् तथा देहादि आकारके समूहरूपसे यह सब चित्त ही परिणत होता है । चित्त ही मनोमय जीव है । तात्पर्य यह है कि अशान्त चित्त ही मनन करनेसे मनोमय और आभ्यन्तर प्राणकी चेष्टासे जीव बनकर बाहर स्थूल शरीर तथा शारीरिक व्यवहारादि आकारके समूहरूपसे परिणत होता है ॥ ४० ॥

वही अन्तःकरण शान्त, बुद्धि, महत्, अहङ्कार, प्राण और प्राज्ञात्मा इत्यादि क्रियाके अनुरूप नाम-व्यापारोंसे लोकमें कहा जाता है ॥ ४१ ॥

चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तस्मिंस्त्यक्ते महीपते ।
सर्वाधिव्याधिसीमान्तः सर्वत्यागः कृतो भवेत् ॥ ४२ ॥
चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं त्यागविदां वर ।
तस्मिन् सिद्धे महाबाहो सत्यं किं नाऽनुभूयते ॥ ४३ ॥
चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः ।
शिष्यते परमं शान्तमच्छमेकमनामयम् ॥ ४४ ॥
अस्याश्चित्तं विदुः क्षेत्रं संसृतेः सस्यसन्ततेः ।
क्षेत्रे त्वक्षेत्रतां याते शालेः क इव सम्भवः ॥ ४५ ॥
चित्तमेव विचित्रेहं भावाभावविलासिना ।
विवर्ततेऽर्थभावेन जलमूर्मितया यथा ॥ ४६ ॥
चित्तोत्सादनरूपेण सर्वत्यागेन भूपते ।
सर्वमासाद्यते सम्यक्साम्राज्येनेव सर्वदा ॥ ४७ ॥

हे महीपते, चूँकि चित्त ही सब कुछ कहा गया है, अतः उसके त्यक्त हो जानेसे समस्त आधि और व्याधिकी सीमाका विनाशरूप सर्वत्याग सिद्ध हो जाता है ॥ ४२ ॥

हे त्यागविदोंमें श्रेष्ठ राजन्, चित्तके त्यागको सर्वत्याग कहते हैं, इसलिए हे महाबाहो, उसके सिद्ध हो जानेपर परमार्थभूत भूमानन्दस्वरूप सत्य पदार्थका क्या अनुभव नहीं होता ? अर्थात् अवश्य ही होता है ॥ ४३ ॥

चित्तके त्यक्त हो जानेपर कार्यविभागके आविर्भावकी परम्परारूप द्वैत और कारणमें तिरोभावका क्रमरूप ऐक्य भी चारों ओरसे लयको प्राप्त हो जाता है और परम शान्त, स्वच्छ तथा निरामय एक पद अवशिष्ट रह जाता है ॥ ४४ ॥

चित्तको ही इस संसाररूपी सस्यसन्ततिका खेत कहते हैं । यदि खेत अखेत-रूपमें परिणत हो जाय तो धानकी उत्पत्ति कहाँसे होगी ॥ ४५ ॥

विचित्र चेष्टाओंसे युक्त यह चित्त ही भाव और अभावका आकार धारण करनेवाले पदार्थोंके रूपसे उस तरह परिणत होता है, जिस तरह जल तरङ्गरूपसे परिणत होता है ॥ ४६ ॥

हे भूपते, चित्तनाशरूप सर्वत्यागसे सर्वदा सब कुछ अच्छी तरह ऐसे प्राप्त किया जा सकता है, जैसे साम्राज्यसे ॥ ४७ ॥

सर्वत्यागस्य विषयो यथैवाऽन्योऽस्ति ते तथा ।
त्वमप्यन्यस्य भवसि त्यागिन् गृह्णासि वै नृप ॥ ४८ ॥
सूत्रं मुक्ताफलेनेव जगज्जालं त्रिकालकम् ।
सर्वमन्तःकृतं तेन येन सर्वं समुज्झितम् ॥ ४९ ॥
येन सर्वं परित्यक्तं तस्मिञ्छून्येऽपि संस्थितम् ।
जगत्सर्वं त्रिकालस्थं तन्तौ मुक्तावली यथा ॥ ५० ॥

वह सर्वत्याग परिच्छिन्न आत्माका ग्रहण करनेपर सिद्ध नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

हे त्यागिन् नृप, परिच्छिन्नात्मक आपके सर्वत्यागका विषय जैसे अन्य है, वैसे ही आपको त्याग देनेवाले किसी दूसरे त्यागीके त्यागके विषय आप भी हैं। ऐसी दशामें त्याज्यका ही आत्मरूपसे आप ग्रहण कर रहे हैं, इसीसे आपका सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता ॥ ४८ ॥

अपरिच्छिन्न आत्माका ग्रहण करनेपर तो आप ही सबकी आत्मा ठहरते हैं, इसलिए किसी दूसरेके द्वारा आपका त्याग न होनेके कारण त्याज्यकोटिमें अप्रविष्ट आप जब सर्वत्याग करने लगेंगे, तब सबको आपने अधीन बनाकर ग्रहण कर ही लिया, यह कहते हैं—'सूत्रम्' इत्यादिसे ।

जैसे मुक्ताफल सूतको अपने अन्दर कर लेता है वैसे ही जिसने सर्वत्याग किया है उसने तीनों कालके समस्त जगत्को अपने भीतर कर लिया है ॥ ४९ ॥

जो सब छोड़ रहा है उसने तो सबकी शून्यता ही मान ली, फिर सब उसके अधीन बनकर लब्ध कैसे होंगे, इसपर कहते हैं—'येन' इत्यादिसे ।

जिसने सर्वत्याग किया है उस शून्यस्वरूपमें, तन्तुमें मोतियोंकी तरह, तीनों कालोंमें अवस्थित सम्पूर्ण जगत् अवस्थित है। निष्कर्ष यह है कि सब कुछ छोड़ कर वह त्यागी यद्यपि सर्वशून्यस्वरूप हो गया है, तथापि उसके द्वारा छोड़ा गया जगत्—अन्य आश्रय न मिलनेके कारण—उसीका आश्रयण कर व्यवहारपर्यन्त सत्तास्फूर्ति प्राप्त करता है, इसलिए व्यवहारियोंकी दृष्टिसे त्रिकालमें रहनेवाले सब पदार्थोंको वही प्राप्त करता है, यों कहा जाता है ॥ ५० ॥

अस्नेहेनेव दीपेन येन सर्वं समुज्झितम् ।
सस्नेहेनेव दीपेन तेन सर्वं प्रकाशितम् ॥ ५१ ॥
स्थितं सर्वं परित्यज्य यः शेतेऽस्नेहदीपवत् ।
स राजते प्रकाशात्मा समः सस्नेहदीपवत् ॥ ५२ ॥
समस्तवस्तुनिष्कासे यथा त्वमवशिष्यसे ।
सर्वत्यागे कृते तादृग्विज्ञानमवशिष्यते ॥ ५३ ॥
समस्तवस्तुदाहेऽपि यथा त्वं नेतरो नृप ।
सर्वत्यागत एवाऽङ्ग तथा निर्वाणमुच्यते ॥ ५४ ॥
सर्वत्यागे हि शून्यात्मा आश्रयः सर्वसंविदाम् ।
अनन्तानामुदाराणां खमिवेदं दिवौकसाम् ॥ ५५ ॥

इसीलिए सर्वत्याग होनेपर सबका बाध हो जानेके कारण परमार्थदृष्टिसे आत्यन्तिक स्नेहका क्षय होनेसे बुझे हुए दीपकका दृष्टान्त तथा सर्वगतस्वरूपकी ज्योतिसे सम्पूर्ण व्यवहारोंका प्रकाश होनेके कारण व्यवहारदृष्टिसे स्नेहसहित दीपकका दृष्टान्त कहते हैं—'अस्नेहेन' इत्यादिसे ।

स्नेहरहित दीपककी नाईं निर्वाणपदको प्राप्त हुए जिसने अनासक्तिसे सबको छोड़ दिया, स्नेहसहित दीपककी नाईं प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप उसने सबको प्रकाशित किया ॥ ५१ ॥

उसीको फिर स्पष्ट करते हैं—'स्थितम्' इत्यादिसे ।

प्रतीयमान सबका परित्याग करके जो स्नेहरहित दीपककी नाईं निर्वाणपदमें अवस्थित रहता है, सर्वरूप प्रकाशात्मा वह स्नेहसहित दीपककी नाईं प्रकाशता है ॥५२॥

सर्वत्यागमें शून्यतापत्तिका वारण करते हैं—'समस्त०' इत्यादिसे ।

राज्यादि सम्पूर्ण वस्तुओंका त्याग कर देनेपर जैसे अकेले आप अवशिष्ट रह गये हैं वैसे ही सबका त्याग कर देनेपर विज्ञानात्मा ही एक अवशिष्ट रह जाता है ॥ ५३ ॥

परिशिष्ट चिति अपनेसे अतिरिक्त है, अतः उससे अपना कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होता है, इसपर कहते हैं—'समस्त०' इत्यादिसे ।

हे राजन् , समस्त वस्तुओंके जल जानेपर भी जैसे आप अन्य नहीं हुए, वैसे ही सर्वत्यागसे होनेवाला परम पुरुषार्थरूप मोक्ष भी आपसे भिन्न नहीं होगा, ऐसा हम कहते हैं ॥ ५४ ॥

पुरुषार्थके परित्यक्त सब पदार्थोंसे शून्य होनेपर भी सम्पूर्ण संविदोंका उसमें

सर्वत्यागरसापाने जरामरणभीतयः ।
न काश्चन प्रबाधन्ते खस्येव व्योमलेखिकाः ॥ ५६ ॥
सर्वत्यागो महत्त्वस्य कारणं निर्मलद्युतेः ।
सर्वं त्यजसि चेद्यस्माद्बुद्धिस्थैर्यं बृहत्तमम् ॥ ५७ ॥
सर्वत्यागः परानन्दो दुःखमन्यत्सुदारुणम् ।
इत्योमित्युररीकृत्य यदिच्छसि तदाचर ॥ ५८ ॥
सर्वं त्यजति यस्तस्य सर्वमेवोपतिष्ठते ।
यथैवाऽम्बु विशत्यग्नौ तथैवाऽऽयाति वारिधौ ॥ ५९ ॥

अन्तर्भाव है ही, इसलिए उसमें जाड्यकी प्रसक्ति नहीं है, यह कहते हैं—'सर्वत्यागे' इत्यादिसे ।

समस्त प्रपञ्चोंका त्याग कर देनेपर शून्यात्मक हुआ वह चितिस्वरूप मोक्ष सम्पूर्ण संविदों (ज्ञानों) का आश्रय उस प्रकार है, जिस प्रकार अनन्त, उदार सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि देवताओंका आश्रयस्थान यह आकाश है ॥ ५५ ॥

सर्वत्यागरूपी रसका थोड़ा भी आस्वाद लेनेपर पुरुषको जरा-मरणकी भीतियाँ उस तरह किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचातीं, जिस तरह असङ्ग और उदासीन आकाशको कोई भी टाँकियाँ किसी तरहकी बाधा नहीं पहुँचातीं ॥५६॥

हे राजन्, जिससे निर्मल स्वरूपस्फूर्ति प्राप्त होती है उस महत्त्वका कारण सर्वत्याग ही है । चूँकि आप सबका त्याग कर रहे हैं, इसीलिए आपकी बुद्धिमें बहुत भारी स्थिरता आ रही है ॥ ५७ ॥

सर्वत्याग ही परमानन्द है, इसके अतिरिक्त और सब कुछ भयङ्कर दुःखरूप है—इसे विचारपूर्वक 'ॐ' यों स्वीकार कर आप उसीका आचरण कीजिए, जिसे चाह रहे हैं ॥ ५८ ॥

सर्वत्यागमें वैभवकी हानि होती है, इसका खण्डन करते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

जो पुरुष सबका त्याग कर देता है उसके पास प्रारब्ध द्वारा सम्पूर्ण विभव-समूह उस तरह उपस्थित होता है, जिस तरह ज्यों-ज्यों वड़वाग्निमें जल प्रविष्ट होता है, त्यों-त्यों समुद्रमें नदियोंसे जल आता ही रहता है ॥ ५९ ॥

सर्वत्यागान्तरेऽत्राऽस्ति ज्ञानमात्मप्रसादकम् ।
यच्छून्यं किल भाण्डस्य तत्र रत्नादि तिष्ठति ॥ ६० ॥
सर्वत्यागवशादेव हतकाले कलावपि ।
शाक्येन विगताशङ्कं मुनिना मेरुवत् स्थितम् ॥ ६१ ॥
सर्वत्यागो महाराज सर्वसम्पत्समाश्रयः ।
न गृह्णाति हि यत्किञ्चित्सर्वं तस्मै प्रदीयते ॥ ६२ ॥
कृत्वा सर्वपरित्यागं शान्तः स्वस्थो वियत्समः ।
सौम्यो भवसि यद्रूपस्तद्रूपो भव भूपते ॥ ६३ ॥
सर्वं परित्यज्य महास्वभाव
त्यजस्यथो येन च तद्विहाय ।
त्यागाभिमानं च मलं विमुच्य
विमुक्तरूपो भव भूमिपाल ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजावबोधनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

अज्ञान और उसके कार्यका जो त्याग है उसके भीतर आत्मप्रसादक ज्ञान अवश्य उपस्थित रहता है। हे राजन्, यह प्रसिद्ध है कि पात्रके भीतर जो शून्य स्थान होता है वहीं रत्नादि रहता है ॥ ६० ॥

अत्यन्त पापिष्ठ कलिकालमें भी वेदोंसे बहिष्कृत होनेके कारण अति नीच भी वह शाक्य मुनि सर्वत्यागके कारण ही निःशङ्क होकर सुमेरुके समान अवस्थित था। [हे राजन्, तब तो इस पुण्यमय द्वापर कालमें वेदमार्गका अवलम्बन करनेवाले पुण्यतम आपको निःशङ्क होकर आकाशके समान अवस्थित रहना ही चाहिए, इस विषयमें अधिक हम क्या कहें] ॥ ६१ ॥

हे महाराज, सर्वत्याग सम्पूर्ण सम्पत्तियोंका निवासस्थान है, क्योंकि जो कुछ नहीं लेता उसे सब कुछ दिया जाता है ॥ ६२ ॥

हे भूपते, सबका परित्याग करके शान्त, स्वस्थ और आकाशके समान सौम्य जो रूप आप हो रहे हैं तद्रूप ही हो जाइये ॥ ६३ ॥

हे भूमिपाल, आप पहले जो त्याज्य पदार्थ हैं उन सबका मनसा परित्याग

चतुर्नवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एवं वदति वै कुम्भे चित्तत्यागं मुहुर्मुहुः ।
अन्तर्विचारयन् सौम्यो राजा वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

शिखिध्वज उवाच

हृदयाकाशविहगो हृदयद्रुममर्कटः ।
भूयो भूयो निरस्तं हि समभ्येत्येव मे मनः ॥ २ ॥
जानामि चैतदादातुं मत्स्यं जाल इवाऽऽकुलम् ।
त्यागमस्य न जानामि चित्तं द्रव्यमिवोत्तम ॥ ३ ॥

कर, अनन्तर जिस मनसे परित्याग कर रहे हैं उस मनका त्यागकर उसके बाद त्यागाभिमानरूप अहङ्कार मलका भी त्यागकर जीवन्मुक्तरूप हो जाइये ॥ ६४ ॥

तिरानबे सर्ग समाप्त

चौरानबे सर्ग

[चित्तका परित्याग करनेके लिए उसके मूलकी परिशुद्धि करनेपर देह आदि वेद्य पदार्थोंका बाध और तदनन्तर पूर्ण चितिका अवशेष, यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह चित्तके परित्यागका उपाय कुम्भ ऋषिके बतलानेपर अपने अन्तःकरणमें बार-बार विचार कर रहा वह सौम्य राजा शिखिध्वज यह वचन बोला ॥ १ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, हृदयरूपी आकाशका पक्षी और अन्तःकरणरूपी वृक्षका बन्दर यह मन बार-बार मेरे द्वारा दूर कर दिये जानेपर भी फिर समीपमें आ ही जाता है ॥ २ ॥

हे उत्तम, जाल जैसे व्याकुल मछली पकड़ लेता है वैसे ही इस चित्तको पकड़ लेना तो मैं जानता हूँ, परन्तु इसका त्याग मैं, द्रव्यकी नाईं इसमें मूर्तत्वका अभाव होनेसे, नहीं जानता ॥ ३ ॥

चित्तस्याऽऽदौ स्वरूपं मे यथावद्भगवन् वद ।
ततश्चित्तपरित्यागं यथावद्वद मे प्रभो ॥ ४ ॥

कुम्भ उवाच

वासनैव महाराज स्वरूपं विद्धि चेतसः ।
चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ॥ ५ ॥
त्यागस्तस्याऽतिसुकरः सुसाध्यः स्पन्दनादपि ।
राज्यादप्यधिकानन्दः कुसुमादपि सुन्दरः ॥ ६ ॥
मूर्खस्य तु मनस्त्यागो नूनं दुःसाध्यतां गतः ।
पामरस्येव साम्राज्यं तृणस्येव सुमेरुता ॥ ७ ॥

शिखिध्वज उवाच

स्वरूपं वेद्मि चित्तस्य वासनामयमाकुलम् ।
त्यागः स मन्ये दुःसाध्यो वज्रनिर्गिलनादपि ॥ ८ ॥

हे भगवन्, सबसे पहले तो आप मुझसे चित्तका क्या स्वरूप (त्यागके योग्य निष्कृष्ट सामान्य रूप) है, यह ठीक-ठीक कहिये । इसके बाद हे प्रभो, चित्तके परित्यागकी यथावत् विधि बतलाइये ॥ ४ ॥

कुम्भ ऋषि उसीको कहते हैं—'वासनैव' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे महाराज, वासना ही चित्तका स्वरूप है, यह जान लीजिये । चित्तशब्द तो वासनाका पर्याय कहा गया है ॥ ५ ॥

उसका त्याग अत्यन्त सुकर है यानी केवल औदासीन्यका अवलम्बन करनेमात्रसे उसकी सिद्धि हो जाती है, अतएव स्पन्दनकी अपेक्षा भी वह सुखसाध्य है, राज्यकी अपेक्षा उसमें अधिक आनन्द है और कुसुमकी अपेक्षा अधिक सुन्दर भी है ॥ ६ ॥

तब क्यों उसका सब लोग सम्पादन नहीं करते, इसपर कहते हैं—'मूर्खस्य' इत्यादिसे ।

मूर्खके लिए तो चित्तका परित्याग करना उतना दुःसाध्य है, जितना कि पामरके लिए साम्राज्य और तृणके लिए सुमेरुरूपता प्राप्त करना दुःसाध्य है ॥ ७ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, आपके वचनसे चित्तका स्वरूप वासनामय

संसृत्यामोदपुष्पस्य दुःखदाहानलस्य च ।
जगदब्जमृणालस्य मोहमारुतखस्य च ॥ ९ ॥
शरीरयन्त्रवाहस्य हृत्पद्मभ्रमरस्य च ।
अयत्नाच्चेतसस्त्यागो यथा भवति तद्वद ॥ १० ॥

कुम्भ उवाच

सर्वनाशोऽस्य यः साधो चेतसः संसृतिक्षयः ।
स एव चित्तसंत्याग इत्युक्तं दीर्घदर्शिभिः ॥ ११ ॥

शिखिध्वज उवाच

चित्तत्यागादहं मन्ये चित्तनाशः सुसिद्धये ।
अभावः शतशो व्याधेः कथमस्याऽनुभूयते ॥ १२ ॥

तथा विविध उपद्रवोपपादक है, यह तो जानता हूँ, परन्तु उसका परित्याग वज्रको निगल जानेकी अपेक्षा भी अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ, क्योंकि मूर्खताकी स्थितिमें औदासीन्यावलम्बन किसी तरह हो ही नहीं सकता ॥ ८ ॥

हे मुने, यह चित्त संसाररूपी आमोदयुक्त पुष्प और दुःखरूपी दाहजनक अग्नि है तथा जगद्रूपी कमलका मृणाल है, मोहरूपी वायुका आकाश है, शरीररूपी यन्त्रका चालक है और हृदयरूपी कमलका भ्रमर है। इसका अनायास त्याग जिस तरह होता हो, वह कहिये ॥ ९, १० ॥

कुम्भने कहा—हे साधो, अङ्कुर, शाखा, पल्लव आदिसे युक्त मूलसहित इस चित्तका नाश ही संसारका भी नाश है, वही चित्तका सम्यक् त्याग है। बाह्य पदार्थोंके त्यागके सदृश केवल ममताकी निवृत्ति चित्तका सम्यक् त्याग नहीं है—ऐसा अपरिच्छिन्न आत्मदर्शियोंने कहा है ॥ ११ ॥

उक्त अर्थका विमर्शकर अनुवादपूर्वक उसका अनुमोदन कर रहे राजा शिखिध्वज उसमें उपपत्ति बतलाते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, उत्तम सिद्धिके लिए मैं चित्तत्यागसे तो अच्छा चित्तनाश ही समझता हूँ, परन्तु सैकड़ों व्याधिका मूलस्थान इस चित्तका अभाव कैसे अनुभूत होता है सो कहिए अर्थात् चित्त एक तरहकी व्याधि है और व्याधिका अभाव सैकड़ों बार ममतानिवृत्तिरूपी त्यागसे किसी तरह दूर हुआ अनुभूत नहीं होता, किन्तु चिकित्सा द्वारा नाश कर देनेसे ही अनुभूत होता है अतः उसके विनाशके लिए उसके मूल, शाखा और पल्लव आदि सब कहिए ॥ १२ ॥

कुम्भ उवाच

अहंबीजश्चित्तद्रुमः सशाखाफलपल्लवः ।
उन्मूलय समूलं तमाकाशहृदयो भव ॥ १३ ॥

शिखिध्वज उवाच

चेतसः किं मुने मूलं कोऽङ्कुरः कोऽस्य सम्भवः ।
काः शाखाः के च वा स्कन्धाः कथमुन्मूल्यते च सः ॥१४॥

कुम्भ उवाच

अहमर्थोदयो योऽयं स चित्तावेदनात्मकः ।
एतच्चित्तद्रुमस्याऽस्य विद्धि बीजं महामते ॥ १५ ॥
परमात्मपदं क्षेत्रं क्षेत्रं मायामयस्य तत् ।
एतस्मात्प्रथमोद्भिन्नादङ्कुरोऽनुभवाकृतिः ॥ १६ ॥

कुम्भने कहा—हे राजन्, शाखा, फल और पल्लवोंसे युक्त चित्तरूपी वृक्षका अज्ञात आत्मा ही बीज है । अतः आप समूल उस वृक्षको उखाड़ फेंकिये और अपना हृदय आकाशके सदृश आवरणशून्य बना डालिये ॥ १३ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, चित्तका मूल क्या है, अङ्कुर क्या है और इसका कौन-सा खेत है । इसकी शाखाएँ और स्कन्ध कौन हैं तथा यह भी कहनेकी कृपा कीजिये कि यह समूल कैसे उखाड़ कर फेंक दिया जाता है ॥ १४ ॥

कुम्भने कहा—हे महामते, अहमर्थसे—अज्ञातात्मासे—उदित जो यह हृदयवेदनात्मक अभिमानी प्रसिद्ध है, वही इस चित्तरूपी वृक्षका बीज (मूल) है, इसे आप जान लीजिये ॥ १५ ॥

परमात्माकी माया ही इस मायामय प्रपञ्चका खेत है । चूँकि सब मायामय प्रपञ्चका खेत वह है, इसलिए इस चित्तका भी वही खेत है । परमात्मपद यानी माया, यह भाव है । [इसका कौन अङ्कुर है, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'एतस्मात्' से] इस प्रथम उत्पन्न मूलसे परिच्छिन्न 'मैं' इस तरहका निश्चय-रूप, चिदाभाससे व्याप्त होनेके कारण, अनुभव ही इसका अङ्कुर होता है ॥१६॥

निश्चयात्मा निराकारो बुद्धिरित्येव सोच्यते ।
अस्य बुद्ध्यभिधानस्य याऽङ्कुरस्य प्रपीनता ॥ १७ ॥
सङ्कल्परूपिणी तस्याश्चित्तनाम मनोऽभिधा ।
जीवो मिथ्योपलम्भात्मा शून्यात्मा ह्युपलोपमः ॥ १८ ॥
स्तम्भः कायोऽयमेतस्य स्नाय्वस्थिरसरञ्जितः ।
देशान्तरेऽङ्कुरोद्देशे कालस्पन्दोऽस्य वासना ॥ १९ ॥
शाखा याश्चित्तवृक्षस्य दीर्घा दूरगतास्तताः ।
इन्द्रियाण्यल्पभोगाश्च भावाभावात्मयोनयः ॥ २० ॥
विटपौघा महान्तोऽस्य शुभाशुभफलाकुलाः ।
ईदृशस्याऽस्य चित्तस्य दुर्वृक्षस्य प्रतिक्षणम् ॥
शाखाविलवनं कुर्वन् मूलकाषे भरं कुरु ॥२१॥

उस अङ्कुरकी ही वृद्धिसे चित्तरूपी वृक्षके रूपमें परिणति होती है, यह कहते हैं—'निश्चयात्मा' इत्यादिसे ।

निर्विकार निश्चयात्मक जो अनुभव है वही बुद्धि कही जाती है। इस बुद्धि-नामधारी अङ्कुरकी जो सङ्कल्पस्वरूप पीनता उत्पन्न होती है उसका चित्त और मन नाम पड़ा हुआ है। परमार्थतः विकाररहित होनेसे सर्वविकारशून्यस्वरूप अतएव पत्थरकी उपमावाला यानी पत्थरके सदृश तथा मिथ्याभूत चित्त और चित्तके धर्मोंके सम्बन्धका जो साक्षी है वही इसका साक्षी है ॥१७॥१८॥

इसका स्तम्भ यानी मूलसे लेकर शाखापर्यन्त मध्य-प्रदेश यह शरीर ही है, जो कि नाडियों, हड्डियों और रसों-(रक्तों) से रञ्जित है। मूलस्तम्भप्रदेशसे आगेके प्रदेशमें स्कन्ध, शाखा आदिके प्ररोहके लिए अङ्कुरारम्भ करनेकी इच्छा होनेपर वसन्तादिकालकी नाईं तत्-तत् भोगप्रद कर्मोंके परिपाककालमें राग, द्वेष, प्रवृत्ति आदि अङ्कुर, पल्लव आदिके आकारमें जो रस स्पन्दित होता है वह इसकी वासना ही है ॥ १९ ॥

इस चित्तरूपी वृक्षकी जो लम्बी-लम्बी दूरतक पहुँची हुई विस्तृत शाखाएँ हैं वे तो इन्द्रियाँ हैं और जन्म-मरणात्मक हजारों अनर्थोंके कारण शुभ और अशुभरूप फलोंसे परिपूर्ण जो तुच्छ भोग हैं वे इसकी बड़ी बड़ी अवान्तर शाखाएँ हैं ॥ २० ॥

इस तरहके इस दुष्ट चित्तरूपी वृक्षकी शाखाओंका प्रतिक्षण छेदन (विषय-

शिखिध्वज उवाच

चित्तद्रुमस्य शाखादेः कुर्वाणोऽहं विकर्तनम् ।
कथं करोमि मूलस्य निःशेषकषणं मुने ॥ २२ ॥

कुम्भ उवाच

वासना विविधाः शाखाः फलस्पन्दादिनाऽन्विताः ।
अभाविता भवन्त्यन्तर्लूनाः संविद्बलेन ते ॥ २३ ॥
असंसक्तमना मौनी शान्तवादविचारणः ।
सम्प्राप्तकारी यः सोऽन्तर्लूनश्चित्तलतो भवेत् ॥ २४ ॥
चित्तद्रुमलताजालं पौरुषेण विकर्तयन् ।
यस्तिष्ठति स मूलस्य योग्यो निकषणे भवेत् ॥ २५ ॥

भोगोंमें आसक्तिका छेदन) कर रहे आप उसके मूलको उखाड़ फेंक देनेवाले आत्मदर्शनमें खूब प्रयत्न कीजिए ॥ २१ ॥

अब शाखाओंके छेदन और मूलके छेदनमें उपाय पूछते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, चित्तरूपी वृक्षकी शाखा आदिका छेदन कर रहा मैं उसके मूलका अशेषरूपसे उत्पाटन किस तरह करूँ ॥ २२ ॥

शाखाओंके छेदनका उपाय बतलाते हैं—'वासनाः' इत्यादिसे ।

फल और स्पन्दन आदिसे समन्वित विविध वासनाएँ ही चित्तरूपी वृक्षकी शाखाएँ हैं । आसक्तिके परित्याग द्वारा अनुद्बुद्ध की गई वे वासनारूपी शाखाएँ भीतर सदसद्विचारजनित संवित्तिके बलसे विच्छिन्न हो जाती हैं ॥२३॥

उक्त अर्थका ही जीवन्मुक्तोंमें लक्षणरूपसे दिग्दर्शन कराते हैं—'असंसक्त०' इत्यादिसे ।

जिसका मन किसी विषयमें आसक्त नहीं है, जिसका अनुचित वाग्व्यापार सर्वदा निवृत्त रहता है, जो जय-पराजयकी अभिलाषासे शून्य होकर प्रशान्त वादविचारमें निरत रहता है, जो प्राप्त हुए कार्यको कर डालता है उस पुरुषकी चित्तरूपी लता भीतर विच्छिन्न हो जाती है ॥ २४ ॥

शाखाच्छेदनका अभ्यास दृढ़ हो जानेपर पुरुष मूलोच्छेदनमें योग्य हो जाता है, यह कहते हैं—'चित्तद्रुमलता०' इत्यादिसे ।

गौणं शाखाविलवनं मुख्यं मूलविकर्तनम् ।
चित्तवृक्षस्य तेन त्वं मूलकाषपरो भव ॥ २६ ॥
मुख्यत्वेन महाबुद्धे मूलदाहमलं कुरु ।
चित्तकण्टकखण्डस्य भवत्येवमचित्तता ॥ २७ ॥

शिखिध्वज उवाच

अहम्भावात्मनश्चित्तद्रुमबीजस्य हे मुने ।
कोऽनलो दहनाख्येऽस्मिन् कर्मण्यर्थकरो भवेत् ॥ २८ ॥

कुम्भ उवाच

राजन् स्वात्मविचारोऽयं कोऽहं स्यामिति रूपधृक् ।
चित्तदुर्द्रुमबीजस्य दहने दहनः स्मृतः ॥ २९ ॥

शिखिध्वज उवाच

मुने मया स्वया बुद्ध्या बहुशः प्रविचारितम् ।
यावन्नाऽहं जगन्नोर्वीवनमण्डलमण्डितम् ॥ ३० ॥

जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे चित्तरूपी लताओंको कतरता हुआ स्थित रहता है वह मूलका उच्छेद करनेके लिए योग्य हो जाता है ॥ २५ ॥

चित्तकी शाखाओंका छेदन करना तो गौण है और मूलका छेदन करना प्रधान है, इसलिए आप मूलका उच्छेद करनेमें तत्पर हो जाइये ॥ २६ ॥

हे महाबुद्धे, मुख्यरूपसे इस चित्तरूपी काञ्जवनका निःशेष मूलदाह कीजिए, ऐसा करनेसे अचित्तता हो जायगी ॥ २७ ॥

मूलदहन प्रसिद्ध अग्निसे नहीं हो सकता, इसलिए दूसरी अग्नि जाननेकी इच्छासे राजा पूछते हैं—'अहंभावा०' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, अहंभावात्मक चित्तरूपी वृक्षके बीजके दहननामक इस कर्ममें कौन-सी अग्नि समर्थ होगी अर्थात् चित्तरूपी दुष्ट वृक्षके बीजको जलानेमें कौन अग्नि समर्थ होगी ॥ २८ ॥

कुम्भने कहा—हे राजन्, 'मैं यह कौन हूँ' इस तरहका आरम्भसे लेकर आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त स्वात्मविचार ही चित्तरूपी निकृष्ट वृक्षके बीजके दहनमें अग्नि कही गई है ॥ २९ ॥

यद्यपि मैंने अपनी बुद्धिसे बाह्य पदार्थोंका तथा देहसे लेकर अहङ्कारतक आध्यात्मिक पदार्थोंका अनात्मस्वरूपसे तथा मिथ्यारूपसे ज्ञान कर लिया

नाऽद्रेस्तटं न विपिनं न पर्णस्पन्दनादि च ।
जडत्वान्न च देहादि न मांसास्थ्यसृगादि च ॥ ३१ ॥
कर्मेन्द्रियाण्यपि न च न च बुद्धीन्द्रियाणि च ।
न मनो नाऽपि च मतिर्नाऽहङ्कारश्च जाड्यतः ॥ ३२ ॥
कटकत्वं यथा हेम्नि तथाऽहन्त्वं चिदात्मनि ।
जडं त्वसद्रूपतया तेन तन्नास्ति हे मुने ॥ ३३ ॥
सन्निवेशनिवासात्मा सर्वार्थादिः परे पदे ।
विद्यते नाऽन्यदन्यत्वान्नभसीव महाद्रुमः ॥ ३४ ॥

है तथापि आन्तरिक आत्मतत्त्वका परिचय न होनेसे जड़ भी इस अहङ्कारमें पुनः पुनः जो मुझे आत्मताभ्रान्ति हो रही है वह किसी तरह दूर नहीं होती और इसीसे मुझे विश्रान्ति नहीं मिल रही है, यह कहते हैं—'मुने' इत्यादि छः श्लोकोंसे।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, मैंने अनेक बार अपनी बुद्धिसे सारे जगत्‌के विषयमें अच्छी तरह विचार कर लिया है—मैं अहंकार नहीं हूँ और न पृथ्वी और उसके अन्तर्गत वनमण्डलादिसे मण्डित जगत् ही हूँ। जड़ होनेके कारण मैं पर्वतका तट नहीं हूँ, विपिन नहीं हूँ, पत्र, स्पन्दन आदि नहीं हूँ, देहादि मैं नहीं हूँ, मांस नहीं हूँ, हड्डी नहीं हूँ और रक्त आदि भी मैं नहीं हूँ। मैं न तो कर्मेन्द्रिय हूँ और न ज्ञानेन्द्रिय हूँ। मैं मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ और जड़ होनेके कारण न मैं अहङ्कार ही हूँ ॥ ३०–३२ ॥

अहङ्कारमें जड़ता नहीं है, इस शङ्काका विवर्तत्व हेतुसे निवारण कर रहे राजा शिखिध्वज—जड़में स्वतः सिद्ध होनेकी शक्ति न होनेसे चितिके अध्याससे उसकी सिद्धि होनेपर उसमें मिथ्यात्व ही अन्तमें चलकर आ जाता है—यह कहते हैं—'कटकत्वम्' इत्यादिसे।

हे मुने, जैसे सुवर्णमें कटकत्व है यानी सुवर्णसे अलग कटक कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु सुवर्णका ही विवर्त कटक है; वैसे ही चिदात्मामें अहन्ता है यानी चिदात्मासे अलग अहन्त्व कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु चिदात्माका ही विवर्त अहन्त्व है। और जड़ (शुक्ति-रजत, मृगतृष्णा आदि) तो असद्रूपसे प्रसिद्ध हैं ही, इससे यानी जड़त्व हेतुसे अहन्त्वादि नहीं है अर्थात् मिथ्या ही हैं ॥ ३३ ॥

उक्त ब्रह्माण्ड आदि जड़वर्ग, अधिष्ठानसद्रूपसे अन्य होनेके कारण भी, असत् है, यह कहते हैं—'सन्निवेश०' इत्यादिसे।

ज्ञानमपीति भगवन्नहन्त्वमलमार्जनम् ।
अन्तर्यज्ज्ञं न जानामि तेन तप्ये चिरं मुने ॥ ३५ ॥

कुम्भ उवाच

एतावन्मात्रकं वृन्दं यदि न त्वं महीपते ।
जडत्वात्तन्महाबुद्धे योऽसि तद्वद मेऽनघ ॥ ३६ ॥

शिखिध्वज उवाच

चिन्मात्रमहमच्छात्मवेदनं विदुषां वर ।
यत्र भावाः स्वदन्ते ते निर्णीयन्ते च येन वा ॥ ३७ ॥
एवंरूपस्य मे लग्नं नूनं मलमकारणम् ।
सकारणं वाऽहमिति यत्पदं च न वेद्म्यहम् ॥ ३८ ॥

आकाशमें आकाशसे भिन्न दूसरे महावृक्षकी नाईं परमपद चितिमें चैतन्यसे भिन्न कोई दूसरा ब्रह्माण्ड आदि पदार्थ, अन्यत्वहेतुसे ही नहीं रहता, [यदि यह कहिये कि ऐसा क्यों, तो इसका उत्तर यह है] ब्रह्माण्डादि जड़वर्ग—चौदह भुवन आदि अवयवोंका आधार तथा समस्त शब्द आदि विषयोंका—कारण है। और चिदात्मा तो विभागशून्य सत्तासामान्यस्वरूप होनेके कारण विभक्तस्वभाव नहीं है ॥३४॥

हे भगवन्, इस तरह अहन्तारूपी मलका परिमार्जन जान रहा भी मैं प्रत्यगेकरस जो साक्षिचैतन्य है उसको नहीं जानता। यही कारण है कि हे मुने, मैं अधिक दिनसे सन्तप्त हो रहा हूँ ॥ ३५ ॥

अब एकमात्र परिशेषसे ही साक्षिचैतन्यका परिचय दिलानेकी इच्छा कर रहे कुम्भ कहते हैं—'एतावन्मात्रकम्' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे निष्पाप, हे महीपते, आप यदि जड़रूप होनेके कारण अहङ्कारपर्यन्त दृश्यसमूहस्वरूप नहीं हैं तो हे महाबुद्धे, आप जिस रूपके हैं, उस रूपको मुझसे कहिए ॥ ३६ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे विद्वद्वर, मैं उस चिन्मात्र स्वच्छ आत्मसंवेदनका स्वरूपभूत हूँ, जिस अज्ञातृत्व, भोक्तृत्व आदिरूपसे प्रसिद्ध अवान्तर अवान्तर कोशपरम्पराकी अवधिभूत आनन्दैकरस चिन्मात्रस्वरूपके रहते आनन्दशून्य शब्द आदि विषय आस्वादित होते हैं और जिसके बुद्धिवृत्तिपर चढ़ जानेसे शब्दादि विषयोंमें इष्टानिष्ट विभाग निर्णीत होते हैं ॥ ३७ ॥

विवेकदृष्टिसे पर्यालोचन करनेपर ऐसे शुद्धस्वरूप मुझे देह आदि कोशोंमें

असदेतदनात्मीयं प्रमार्ष्टुं मलमात्मनः ।
मुने यदा न शक्नोमि तेन तप्ये सुदारुणम् ॥ ३९ ॥

कुम्भ उवाच

ब्रूहि किं तन्महाबाहो लग्नं तव मलं महत् ।
स्थितोऽसि येन संसारी सता वाऽप्यथ वाऽसता ॥ ४० ॥

शिखिध्वज उवाच

चित्तद्रुमस्य यद्बीजमहम्भावश्च मे मलम् ।
तच्च त्यक्तुं न जानामि त्यक्तं त्यक्तमुपैति माम् ॥ ४१ ॥

कुम्भ उवाच

कारणाज्जायते कार्यं यत्तत्सर्वत्र सम्भवेत् ।
अन्यत्त्वसद्द्विचन्द्राभं दृष्टमेतन्न विद्यते ॥ ४२ ॥

अहमभिमानरूप मल लग गया है वह सकारण है या अकारण ? उसे मैं नहीं जानता और न परब्रह्मको ही जानता हूँ ॥ ३८ ॥

हे मुने, यह असत्यस्वरूप और आत्माके साथ तनिक भी सम्बन्ध न रखनेवाले मलको धो डालनेमें मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ, इसलिए दारुणरूपसे मैं सन्तप्त हो रहा हूँ ॥ ३९ ॥

कुम्भने कहा—हे महाबाहो, सत्यस्वरूप हो अथवा असत्यस्वरूप हो, जिस मलके प्रभावसे आप संसारी बनकर बैठे हैं वह लगा हुआ आपमें बड़ा मल क्या है, उसे बतलाइये ॥ ४० ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे भद्र, वह मल सत्य है या असत्य, इसे तो नहीं जानता हूँ, परन्तु समस्त अनर्थरूप फल देनेवाले चित्तरूपी वृक्षका वह मूल है, यों सामान्यरूपसे उसे तो मैं जानता ही हूँ, विशेषरूपसे भी वह अहंभाव एवं ममभाव रूप है, यों जानता हूँ । इस तरह सामान्य और विशेषरूपसे जानता हुआ भी उस मलको छोड़नेके लिए मैं कोई उपाय नहीं जानता । यद्यपि 'अहं, मम' बुद्धिके अभावसे उस मलका बार-बार मैंने परित्याग किया, तथापि उसके मूलका उच्छेद न होनेके कारण बार-बार आकर वह मुझे लग जाता है, अतः उसके मूलके उच्छेदका उपाय मुझसे कहिए, यह निष्कर्ष है ॥ ४१ ॥

कूटस्थ होनेसे सत्य वस्तु कारण हो ही नहीं सकती । असत्य वस्तु कारण

कारणाज्जायते कार्यमहम्भावाद्भवाङ्कुरः ।
इति कारणमन्विष्य कथयस्व ममाऽधुना ।। ४३ ।।

शिखिध्वज उवाच

मुनेऽहमिति दोषस्य वेदनं वेद्मि कारणम् ।
तद्यथोपशमं याति तन्मे वद मुनीश्वर ।। ४४ ।।
चितश्चेत्योन्मुखत्वेन दुःखायाऽयमहं स्थितः ।
चेत्योपशमनं ब्रूहि मुने तदुपशान्तये ।। ४५ ।।

है, यह कहना तो असत्यभूत कारणमें कार्य उत्पन्न हुआ, इस अर्थमें पर्यवसित होकर कार्यकी असत्यताको ही सिद्ध करता है। इस तरह पर्यवसित हुए आत्माके एकत्वरूप रहस्यको राजाकी बुद्धिके अनुसार ही समझानेवाले कुम्भ—लोकप्रसिद्धिके अनुरूप अहङ्कारका कारण आप ही अपनी बुद्धिसे खोज कर कहिए—यह कहते हैं—'कारणात्' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

कुम्भने कहा—हे राजन्, जो कार्य कारणसे उत्पन्न होता है वह सर्वत्र ही उत्पन्न होगा और जो कारणके बिना कार्य उत्पन्न होता है वह द्वितीय चन्द्रके सदृश असत्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि भली-भाँति विचार करनेसे ऐसे कार्यकी सत्ता प्रतीत ही नहीं होती ॥ ४२ ॥

जैसे अहम्भावरूप कारणसे मन आदि रूप संसारका अङ्कुर कार्य उत्पन्न होता है वैसे अपनी बुद्धिसे विचार कर अहम्भावरूप कार्य जिस कारणसे होता है वह कारण अब मुझसे कहिए ॥ ४३ ॥

इस प्रकार पूछे गये राजाने बहुत देर तक अपनी बुद्धिसे अन्वेषण कर यह निश्चय किया कि देहादि आकृतियोंका परिज्ञान न होनेपर उनमें अहन्ताभिमान किसी तरह नहीं हो सकता, इसलिए उनका परिज्ञान ही अहन्ताभिमानमें कारण है, यही कहते हैं—'मुने' इत्यादिसे।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, शरीर आदिमें अहन्ताभिमानरूप जो दोष है उसका कारण शरीर आदिका परिज्ञान ही है, यह मैं जानता हूँ। हे मुनीश्वर, वह जिस उपायसे शान्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिए ॥ ४४ ॥

चितिको चेत्योन्मुख बनाकर (दृश्यकी ओर आकृष्ट कर) अहम्भावसे

कुम्भ उवाच

कारणं कारणज्ञोऽस्मि वेदनस्य वदाऽऽशु मे ।
ततस्त्वां बोधयिष्यामि कारणाकारणक्रमम् ॥ ४६ ॥
वेद्यवेदनरूपस्य चेत्यसंचेतनस्य मे ।
अकारणं कारणतां यद्यातं तव तद्वद ॥ ४७ ॥

शिखिध्वज उवाच

चेत्यचेतनरूपस्य वेद्यसंवेदनाकृतेः ।
इयं पदार्थसत्तेह देहादिः कारणं मुने ॥ ४८ ॥

अवस्थित हुए ये देह आदि केवल दुःखके लिए ही तत्पर हैं, इसलिए हे मुनीश्वर, चेत्योन्मुखताजनित दुःखकी शान्तिके लिए चेत्यवर्गकी जिस उपायसे शान्ति होती हो, वह मुझसे कहिये ॥ ४५ ॥

कुम्भने कहा—साधो, 'चितिकी चेत्योन्मुखतामें देह आदि वेद्य पदार्थ ही कारण हैं' इस प्रकारका कारणज्ञान आप यदि रखते हैं, तो आप मुझे शीघ्र बतलाइये कि वह आपका अभिमत कारण कौन है । तदनन्तर आपका अभिमत कारण जिस क्रमसे अकारणरूप ही बन जायगा उस क्रमको मैं आपसे कहूँगा ॥ ४६ ॥

स्पष्टीकरणके लिए पूछे गये अर्थका फिर अनुवाद करते हैं—'वेद्य०' इत्यादिसे ।

सामान्यतः विषयज्ञानका स्वरूप और विशेषतः विषयज्ञानका स्वरूप—इन दोनोंके प्रति मिथ्या होनेसे कारणताके लिए सर्वथा असमर्थ ही विषय कारणताको प्राप्त हुआ है, इसलिए यहाँपर जो आपका अभिमेत कारण है, उसे कहिए ॥ ४७ ॥

पूछे जानेपर राजा शिखिध्वज अपना अभिमेत बतलाते हैं—'चेत्य०' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, सामान्यतः विषयज्ञानका स्वरूप और विशेषतः विषयज्ञानका स्वरूप—इन दोनोंके प्रति यह देह आदि बाह्य आध्यात्मिक पदार्थ-सत्ता ही यहां कारण है ॥ ४८ ॥

शरीरादितयोदेति वेदनं वस्तुसत्तया ।
असत्याभासया स्पन्दो यथा पवनलेखया ॥ ४९ ॥
असत्तां वस्तुसत्ताया नाऽवगच्छाम्यहं यथा ।
अहन्त्ववेदनं चित्तबीजं समुपशाम्यति ॥ ५० ॥

कुम्भ उवाच

विद्यते यदि देहादिवस्तुसत्ता तदस्ति ते ।
अभावाद्देहसत्तादेः किंनिष्ठं तव वेदनम् ॥ ५१ ॥

शिखिध्वज उवाच

यस्योपलभ्यते किञ्चित्स्वरूपं कलनात्मकम् ।
असद्रूपं कथं तत्स्यात्प्रकाशः स्यात्कथं तमः ॥ ५२ ॥

ज्ञानके प्रति देह आदिकी सत्ता कैसे कारण होगी, इसपर कहते हैं—'शरीरादि०' इत्यादिसे ।

असत्यरूपसे भासित होनेवाली शरीर आदि वस्तुकी सत्तासे ज्ञान ऐसे उत्पन्न होता है * जैसे वायुकी लेखासे वृक्षादिमें सञ्चलन ॥ ४९ ॥

अहन्ताज्ञानस्वरूप चित्तका बीज जिस रीतिसे देहादिसत्तामें असत्त्व जाननेपर शान्त होता है उस रीतिसे देहादिवस्तुमें सत्ताका असत्त्व मैं नहीं जानता [अतः वह असत्त्व जिस रीतिसे जाना जाता हो, उस रीतिका मुझे उपदेश दीजिए, यह प्रकृतमें राजाका भाव है] ॥ ५० ॥

इस तरह पूछे गये कुम्भ—विषयाकारसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, इस तरहका जो भ्रम राजा शिखिध्वजके हृदयमें बैठा हुआ है उसका निवारण करनेके लिए देहादि दृश्य पदार्थोंमें सत्त्व नहीं है, यों प्रतिज्ञा करते हैं—'विद्यते' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे राजन्, यदि देहादि वस्तुओंकी सत्ता रहती तब तो आपका अभिमत ज्ञान अपने निमित्तभूत देहादि आकारवाला होता यानी देहादि आकारसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती, किन्तु देहादिकी सत्ताका अभाव होनेसे वह ज्ञान किंविषयक होगा ? अर्थात् जब देह आदिकी सत्ता ही नहीं है तब उस ज्ञानका विषय होगा ही कौन ? अर्थात् ज्ञान निर्विषयक ही होगा ॥ ५१ ॥

प्रत्यक्ष उपलब्ध हो रहे देहादिका आप कैसे अपलाप करते हैं !

---

* निमित्तभूत शरीर आदि वस्तुओंकी सत्तासे स्वयं ज्ञान भी, सोना आदि गलानेकी घरियामें निषिक्त धातुओंके द्रवकी नाईं, शरीर आदि आकारसे उदित होता है, यह तात्पर्य है ।

हस्तपादादिसंयुक्तः क्रियाफलविलासवान् ।
सदाऽनुभूयमानोऽयं देहो नास्ति कथं मुने ॥ ५३ ॥

कुम्भ उवाच

कारणं यस्य कार्यस्य भूमिपाल न विद्यते ।
विद्यते नेह तत्कार्यं तत्संवित्तिस्तु विभ्रमः ॥ ५४ ॥
कारणेन विना कार्यं शरीरं न कदाचन ।
विद्यते यस्य नो बीजं तद् द्रव्यं क्व जायते ॥ ५५ ॥
अकारणं तु यत्कार्यं सदिवाऽग्रेऽनुभूयते ।
तद्द्रष्टुर्विभ्रमाद्विद्धि मृगतृष्णाजलोपमम् ॥ ५६ ॥

यों राजा शिखिध्वज पूछते हैं—'यस्योपलभ्यते' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, जिस पदार्थका प्रत्यक्षात्मक कोई एक स्वरूप उपलब्ध हो रहा है वह असत्स्वरूप कैसे है ? [सद्रूपसे उपलब्ध हो रहे पदार्थमें असत्की प्रतिज्ञा विरुद्ध है—इसको दृष्टान्तसे भी बतलाते हैं—'प्रकाशः' से] आप कहिये तो, प्रकाश भला तम कैसे हो सकता है ॥ ५२ ॥

हे मुने, हाथ, पैर आदिसे संयुक्त तथा क्रिया-फलरूप विलास आदिसे समन्वित सदा हम लोगोंसे अनुभूत हो रहा यह शरीर कैसे नहीं है ॥ ५३ ॥

भ्रान्तिग्रस्त उपलब्ध हुए पदार्थोंमें व्यभिचार होनेके कारण एकमात्र उपलब्धिसे दृश्य पदार्थोंकी सत्ताका निर्णय नहीं किया जा सकता, किन्तु कारणोंके विद्यमान रहते जिस कार्यकी उपलब्धि होती है उसीकी सत्ता मानी जाती है। और वे कारण इसमें विद्यमान नहीं हैं, यह कहते हैं—'कारणम्' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

कुम्भने कहा—हे भूमिपाल, इस संसारमें जिस कार्यका कारण विद्यमान नहीं है वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता, फिर उसका ज्ञान तो विभ्रम ही है ॥ ५४ ॥

बिना कारणके यह शरीररूपी कार्य नहीं रह सकता। जिस द्रव्यका बीज नहीं है उसकी उत्पत्ति कहां कभी होती है ! ॥ ५५ ॥

हे राजन्, बिना कारणके जो कार्य सामने सत्की नाईं अनुभूत होता है उसे मृगतृष्णाजलके सदृश देखनेवालेके विभ्रमसे उत्पन्न समझिए ॥ ५६ ॥

अविद्यमानमेव त्वं विद्धि मिथ्याभ्रमोदितम् ।
नाऽतियत्नवतोऽप्येतन्मृगतृष्णाम्बु लभ्यते ॥ ५७ ॥

शिखिध्वज उवाच

असतो द्वीन्दुबिम्बादेर्न युक्तं कारणेक्षणम् ।
वन्ध्यातनयसर्वाङ्गमण्डनं कस्य राजते ॥ ५८ ॥

कुम्भ उवाच

कारणेन विना कार्यं शरीराद्यस्थिपञ्जरम् ।
अविद्यमानमेवेदं विद्ध्यसम्भवतो नृप ॥ ५९ ॥

शिखिध्वज उवाच

हस्तपादादियुक्तस्य शरीरस्य मुनीश्वर ।
नित्यमालक्ष्यमाणस्य पिता कस्मान्न कारणम् ॥ ६० ॥

मिथ्याभ्रमसे उदित हुए शरीर आदिको आप अविद्यमान ही जानिये, क्योंकि अत्यधिक यत्नशील मनुष्यको भी यह मृगतृष्णाजल लब्ध नहीं होता ॥५७॥

तब क्या ये देह आदि वन्ध्यापुत्रकी देहकी नाईं अत्यन्त असत् ही होंगे, यह राजा शिखिध्वज आशङ्का करते हैं— 'असतो' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुने, असद्रूप दो चन्द्रबिम्ब आदिके कारणका न दिखाई पड़ना तो युक्त ही है, क्या किसीके सामने वन्ध्यापुत्रके सारे अङ्गोंमें आभूषण शोभित होते हैं ! ॥ ५८ ॥

'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाण होनेसे तथा वैसा ही विद्वानोंका अनुभव होनेसे एवं कारणका निरूपण न होनेसे यह आपके द्वारा की गई आपत्ति इष्ट है, ऐसा कुम्भ कहते हैं—'कारणेन' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे राजन्, शरीर आदि अस्थिपञ्जररूपी यह कार्य बिना कारणके ही अनुभूत हो रहा है, इसलिए असंभव (किसीसे उत्पन्न न) होनेके कारण इसे अविद्यमान ही जानिये ॥ ५९ ॥

इतिहास, अनुमान, आप्त पुरुषोंकी उक्ति तथा अनुगत स्थानसाम्यरूप हेतु आदि प्रमाणसे इस शरीरका कारण पिता तो अवश्य ज्ञात है, फिर इसका आप कैसे अपलाप करते हैं ! यों राजा शिखिध्वज आशङ्का करते हैं—'हस्त०' इत्यादिसे ।

कुम्भ उवाच

कारणाभावतो राजन्पिता नाम न विद्यते ।
असतो यत्तु संजातमसदेव तदुच्यते ॥ ६१ ॥
पदार्थानां च कार्याणां कारणं बीजमुच्यते ।
सम्भवत्यङ्ग जगति न बीजेन विनाऽङ्कुरः ॥ ६२ ॥
तस्मान्न कारणं यस्य कार्यस्येहोपपद्यते ।
बीजाभावे हि तन्नास्ति तत्संवित्तिस्तु विभ्रमः ॥ ६३ ॥
अवश्यं खलु यन्नास्ति निर्बीजं तन्मतिभ्रमः ।
द्वीन्दुत्वमरुभूम्यम्बुवन्ध्यापुत्रदशासमम् ॥ ६४ ॥

शिखिध्वज उवाच

पितामहानां पुत्राणां पितॄणां च जगत्त्रये ।
आद्यः पितामहः कस्मात्पूर्वोत्पत्तौ न कारणम् ॥ ६५ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुनीश्वर, हाथ, पैर आदिसे युक्त प्रतिदिन दिखाई दे रहे इस शरीरका भला पिता कारण कैसे नहीं है ॥ ६० ॥

उसकी भी कोई सत्ता नहीं है, दोनोंमें एक ही न्याय समानरूपसे लगता है, इस गूढ़ अभिप्रायसे युक्त कुम्भ ऋषि उसी उत्तरको फिर कहते हैं—**'कारणा०'** इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे राजन्, कारणका अभाव होनेसे सचमुच पिता भी नहीं है । जो पदार्थ असत्से उत्पन्न हुआ रहता है वह भी असद्रूप ही कहा जाता है॥६१॥

कार्यभूत पदार्थोंका कारण बीज कहा जाता है । हे राजन्, इस संसारमें बिना बीजके अङ्कुर नहीं उत्पन्न होता ॥ ६२ ॥

इसलिए जिस कार्यका कारण नहीं है वह कार्य भी बीजका अभाव रहनेसे नहीं है । जो उसका ज्ञान मनुष्यको होता है वह तो बिल्कुल विभ्रम है ॥ ६३ ॥

अवश्य ही जो वस्तु बीजशून्य है वह है ही नहीं । अतः उसका जो मनुष्यको ज्ञान होता है वह—दो चन्द्र, मरुभूमिमें जल और वन्ध्यापुत्रकी दशाके समान—बुद्धिविभ्रम है ॥ ६४ ॥

गूढ़ अभिप्रायको न समझ रहे राजा शिखिध्वज आशङ्का करते हैं—**'पितामहानाम्'** इत्यादिसे ।

कुम्भ उवाच

आद्यः पितामहो यः स्यात्सोऽपि नास्त्येव भूपते ।
कारणाभावतो नित्यं यदा भावो न कस्यचित् ॥ ६६ ॥
कारणस्य स्वबीजस्य नित्याभावात्पितामहः ।
अन्यः स दृश्यमानोऽपि भ्रमादन्यो न विद्यते ॥ ६७ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुनीश्वर, तीनों लोकमें प्रजा उत्पन्न करनेवाले दक्ष प्रजापति आदि पितामहों, उनके लड़कों और पिता आदि पूर्वोंकी उत्पत्तिमें आद्य पितामह (हिरण्यगर्भ) कारण क्यों नहीं है? अर्थात् सूक्ष्मभूत लिङ्गसमष्टिरूप वह हिरण्यगर्भ पुत्र, पिता और पितामह आदि सम्पूर्ण व्यष्टि और समष्टिरूप स्थूलोंकी उत्पत्तिमें कारण क्यों नहीं है ॥ ६५ ॥

उसका भी कारण बतलाना अत्यन्त कठिन है, हम कह नहीं सकते, अनिर्वचनीय है, अतः उसकी भी असत्तामें समान ही न्याय लगता है, इस अत्यन्त गूढ़ अभिप्रायको उत्तररूपसे कहते हैं—'आद्यः' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे भूपते, जब कारणके अभावमें किसीका भी भाव नहीं रहता यानी किसीकी भी सत्ता नहीं ठहरती, यह सदा नियम है तब पितामह यानी हिरण्यगर्भ जो कारण है, वह भी नहीं ही है ॥ ६६ ॥

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्ति ॥' (जो महर्षि रुद्र सम्पूर्ण देवताओंका प्रभव और उद्भव है, विश्वमें सबसे श्रेष्ठ तथा जो उत्पन्न हो रहे हिरण्यगर्भको देखता है वही देव हम लोगोंको शुभ स्मृतिसे संयुक्त करता है) इत्यादि मन्त्रवर्णोंमें उसका उत्पादक तथा उत्पन्न हो रहे उसको कृपादृष्टिसे देख रहा ईश्वर कारण प्रसिद्ध ही है, फिर उसका अपलाप कैसे करते हैं, इस आशङ्काका परिहार करते हुए गूढ़ अभिप्रायको खोलते हैं—'कारणस्य' इत्यादिसे ।

ठीक है, यद्यपि ईश्वर है तथापि माया द्वारा अपनेमें भेदकी उसने कल्पना कर ली है अतः माया द्वारा भ्रम हो जानेके कारण अन्यरूपसे दिखाई दे रहा भी वह पितामह उस ईश्वरसे अन्य नहीं है। यदि आप पूछें कि ऐसा क्यों, तो इसका उत्तर हम आगे चलकर आपको बतलायेंगे कि सत्यस्वरूप चिदंशके

मृगतृष्णाम्बुवद्भ्रान्तिरूप एवाऽवभासते ।
पितामहार्थकारित्वमपि तस्य भ्रमात्मकम् ॥ ६८ ॥
पितामहादेरेतस्य मिथ्याग्रन्थयतः स्थितिः ।
घना तव निवृत्तैव मार्जयिष्याम्यथेतरत् ॥ ६९ ॥

तस्माच्चिदात्मकतयाऽऽत्मनि चित्ततोऽयं
नित्यं स्वयं कचति भूमिप देवदेवः ।

परिणामी न होनेसे वह कारणशून्य है। परिशेषमें मायांश जड़को ही उसका कारण कहना पड़ेगा, क्योंकि अविद्यारूप उस अपने कारणके नित्य उदित विद्या द्वारा बाधित होनेके कारण उसका ईश्वरमें सदा ही अभाव रहता है ॥ ६७ ॥

इस रीतिसे पितामहकी भुवनादि सर्गोंमें जो अर्थक्रियाकारिताका प्रतिभास है उसकी भी व्याख्या हो चुकी, यह कहते हैं—'मृगतृष्णा०' इत्यादिसे।

इस रीतिसे आपके पितामहकी जो भुवनादिसृष्टिमें अर्थक्रियाकारिता है वह भी मृगतृष्णाजलकी नाईं भ्रान्तिरूप ही अवभासित होती है, क्योंकि वह बिलकुल भ्रमात्मक है ॥ ६८ ॥

इस तरह मेरी युक्तिपूर्ण उक्तिसे जनित—पितामहके शरीरतक यह सम्पूर्ण कार्य-परम्पराप्रबन्ध मिथ्या है, इस तरहके तुम्हारे यौक्तिक बोधसे—उसकी सत्यत्वेन अत्यन्त दृढ़ बनाई गई स्थिति बहुत दूर हटा दी गई। अब दूसरा जो प्रतिभा-समात्ररूपसे अवशिष्ट अंश है उसका भी तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्त आपको उपदेश देकर परिमार्जन करता हूँ ॥ ६९ ॥

उक्त अर्थका ही संग्रह कर उपसंहार करते हैं—'तस्मा०' इत्यादिसे।

हे भूमिप, मेरी कही गई युक्तिसे चितिसे व्यतिरिक्त किसी अन्यकी सत्ता न होनेके कारण चिद्रूप ही यह देवाधिदेव पूर्वोक्त ईश्वर हिरण्यगर्भसे लेकर स्तम्बपर्यन्त सृष्टिपरम्परारूपसे जो स्फुरित होता है वह चिदात्मकरूपसे अपने स्वरूपमें ही स्फुरित होता है, अणुमात्र भी न तो किसी दूसरेका सम्पादन करता है और न स्वयं किसी दूसरेसे सम्पादित होता है। उसीने स्वयं अपने-आपको आत्मा, स्वरूप, पद्मज आदि नाम और रूपोंकी कल्पनासे 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते' (सम्पूर्ण रूपोंका विरचन करके उनका फिर

तेनैव पद्मज इति स्वयमात्मनाऽऽत्मा
प्रोक्तः स्वरूप इति शान्तमिदं समस्तम् ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजावबोधनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥



पञ्चनवतितमः सर्गः

शिखिध्वज उवाच

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यद्ययं भासते भ्रमः ।
अर्थक्रियासमर्थश्च तत्कथं दुःखकारणम् ॥ १ ॥

नामकरण कर व्यवहार कर रहा जो धीर स्थित है) इत्यादि श्रुतियोंसे कहा है । इस तरह पर्यालोचन करनेपर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि यह समस्त द्वैत-प्रपञ्च शान्त ब्रह्म ही अवस्थित है ॥७०॥

चौरानबे सर्ग समाप्त

पंचानबे सर्ग

[अविद्याकी शान्तिका उपाय तथा आत्मज्ञानसे चिर विश्रान्तिका वर्णन]

पहले यह जो कहा गया था कि यह सारा प्रपञ्च मृगतृष्णाजलके सदृश भ्रान्तिरूप ही प्रतीत होता है, इसपर यह शङ्का होती है कि यह दृष्टान्त देना बिलकुल असङ्गत है, क्योंकि मृगतृष्णाजलसे न स्नान होता है या न तो उसका पान ही होता है, किसी तरह उसमें अर्थक्रियाकारिता है नहीं और इस प्रपञ्चमें तो सब तरहकी अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध है, यों राजा प्रश्न करते हैं—'आब्रह्म' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे ब्रह्मवित्, ब्रह्मासे लेकर स्तम्बतक जो कुछ यह संसार प्रतिभासित होता है, वह यदि भ्रमरूप है, तो वह अर्थक्रियासमर्थ और दुःखका कारण कैसे है, भ्रमात्मक वस्तु तो अर्थक्रियासमर्थ और दुःखहेतु दिखाई नहीं पड़ती ॥ १ ॥

कुम्भ उवाच

एवं जगद्भ्रमस्याऽस्य भावनं तावदाततम् ।
शिलीभूतस्य शीतेन सलिलस्येव रूक्षता ॥ २ ॥
अज्ञानं शिथिलीभूतमेवं नष्टं विदुर्बुधाः ।
न नाशेन विनोदेति पूर्वसंस्थानविच्युतिः ॥ ३ ॥

सत्यसंकल्पभावनासे दृढ़ किया गया मिथ्याभूत अर्थ अर्थ-क्रियासमर्थ और दुःखका उत्पादक होता है, यह बात देव या असुरोंकी मायासे निर्मित शस्त्र, अस्त्र, हाथी, घोड़ा, सेना आदिमें जब प्रसिद्ध ही है, तब जगदीश्वरकी मायासे बनाये गये प्रपञ्चके लिए तो कहना ही क्या ? इस आशयसे कहते हैं— 'एवम्' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—भद्र, यह जो सृष्टिरूपी जगत्की भ्रान्ति है, उसमें प्राणियोंके प्राक्तन कर्मोंकी उपभोगार्थता होनेसे, आपकी कथित प्रणालीके अनुसार अर्थ-क्रियासामर्थ्य और दुःख आदिकी हेतुता है, क्योंकि सत्यसङ्कल्प परमात्माकी भावना ही तत्-तत् अर्थक्रियादिरूपसे तथाकथित सृष्टिमें परिणत हुई है, इसमें दृष्टान्त है—जल । जैसे जलमें रूक्षता या पीठ बननेकी योग्यता है नहीं, परन्तु शीतके कारण पत्थररूप (बर्फरूप) बने हुए जलमें, दीर्घकालके बाद स्फटिक आदिरूपमें परिणाम हो जानेपर रूक्षता, पीठ आदि बन जानेकी अर्थक्रिया प्रसिद्ध है । बस यही प्रकार इस भ्रमात्मक सृष्टिके विषयमें भी जानना चाहिए ॥२॥

यही कारण है कि ज्ञानाभ्यासके परिपाकक्रमसे मूलाज्ञानका शैथिल्य हो जानेपर जगत्की क्रमशः सूक्ष्मता हो जानेसे अज्ञानके साथ-साथ जगत्का भी नाश हो जाता है, यह कहते हैं—'अज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यदि अज्ञान ज्ञानादिके अभ्याससे शिथिल हो गया, तो उस प्रकारका अज्ञानजनित भ्रमात्मक संसार भी नष्ट ही हो गया, यह ज्ञानियोंका मत है । क्योंकि अज्ञानका विनाश न होनेपर जगत्-रूप आकारका विच्छेद किसी कालमें नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

अज्ञानको शिथिल बना देनेमें एकमात्र कारण है—इन्द्रियनिरोधके अभ्याससे बाह्यवृत्तियोंका शिथिलीकरण, यह कहते हैं —'तनुत्वम्' इत्यादिसे ।

तनुत्वं सर्वबोधस्य यत्तदेव हि कारणम् ।
सर्गोपशमसम्पत्तौ प्रतिपन्ने परे पदे ॥ ४ ॥
तानवं दृश्यते यस्य तस्याऽनुक्रमतः स्वयम् ।
पूर्वसंस्थानविगमात्प्रशमोऽप्युपपद्यते ॥ ५ ॥
अनेनैव क्रमेणैवं त्वमादिपुरुषो नृपः ।
भ्रमाकारोदयं विद्धि मृगतृष्णाम्बुवत्स्थितम् ॥ ६ ॥
एषा पितामहाभावेऽप्यसती भूतसन्ततिः ।
न कदाचन तत्सिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ॥ ७ ॥

समस्त बाह्याकार वृत्तियोंका जो अपक्षय है, वही क्रमशः तत्त्वज्ञानके सम्पादन द्वारा परम पदका साक्षात्कार हो जानेपर इस भ्रमात्मक प्रपञ्चकी शान्तिमें कारण हो जाता है ॥ ४ ॥

लोकमें भी अपक्षयपूर्वक ही स्थूल भावोंका विनाश प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'तानवम्' इत्यादिसे ।

व्यवहारमें भी जिन देह आदिका अपक्षय हो जाता है, क्रमशः उनका, पूर्व अवयवोंके विनाशसे, स्वयं विनाश भी उपपन्न हो जाता है ॥ ५ ॥

दर्शित रीतिसे क्रमशः अज्ञानकी शिथिलता द्वारा जगत्का बाध हो जानेपर ही अपने नित्यसिद्ध पूर्णतारूप पुरुषस्वभावमें प्रतिष्ठा हो जाती है, यह कहते हैं—'अनेनैव' इत्यादिसे ।

हे राजन्, इसी अज्ञाननाशक्रमसे ही पूर्णतास्वभाववाले आप आदि पुरुष हैं । अतः यह सारा प्रपञ्च मृगतृष्णाजलकी नाईं केवल भ्रमके स्वरूपमें उदित होकर अवस्थित है, यह आप जानिए ॥ ६ ॥

शङ्काके बाद उपसंहारकर प्रस्तुत विषयका निगमन करते हुए कहते हैं—'एषा' इत्यादिसे ।

वास्तवमें जो सृष्टि बनानेवाले आदि ब्रह्मा पितामह हैं, उनकी भी सत्ता है नहीं, इसलिए उनके द्वारा निर्मित प्रपञ्चकी सत्ता हो ही कैसे सकती है । जो वस्तु असत् वस्तुसे सिद्ध की जाती हो, वह त्रिकालमें भी सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ७ ॥

उसका फल दिखलाते हैं—'अयम्' इत्यादिसे ।

अयं भूतोपलम्भो हि मृगतृष्णाम्बुवोदितः ।
विचाराद्विलयं याति शुक्तौ रजतधीरिव ॥ ८ ॥
कारणाभावतः कार्यमभूत्वा भवतीति यत् ।
मिथ्याज्ञानादृते तस्य न रूपमुपपद्यते ॥ ९ ॥
मिथ्यादृष्टिप्रेक्षितं तु न कदाचन विद्यते ।
मृगतृष्णाम्भसा केन घटकाः परिपूरिताः ॥ १० ॥

शिखिध्वज उवाच

स्रष्टुराद्यस्य परमं ब्रह्म कस्मान्न कारणम् ।
अनन्तमजमव्यक्तमम्बरं शान्तमच्युतम् ॥ ११ ॥

हे भद्र, यह जो भूत-सृष्टि दिखाई पड़ती है, वह मृगतृष्णाजलके सदृश मिथ्या ही उदित हुई है, इसलिए शुक्तिमें रजतज्ञानके सदृश विचारसे ही उसका विलय हो जाता है ॥ ८ ॥

यही कारण है कि जगत्‌का स्वरूप भ्रान्ति ही है, दूसरा नहीं—यह कहते हैं—'कारणा०' इत्यादिसे ।

कारणका अस्तित्व न होनेसे कार्यकी सत्ता हो ही नहीं सकती, असत् कारणसे असत् कार्यकी जो उत्पत्ति होती देखी जाती है, उसका स्वरूप मिथ्याज्ञानके सिवा और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता ॥ ९ ॥

इसलिए विचार द्वारा मिथ्यारूपसे देखा गया पदार्थ अर्थक्रियाके साथ स्वरूपसे भी वंचित हो जाता है, यह कहते हैं—'मिथ्यादृष्टि०' इत्यादिसे ।

मिथ्याज्ञानके कारण दिखाई पड़नेवाला पदार्थ किसी कालमें भी अस्तित्व नहीं रख सकता, क्या कहीं किसीने मृगतृष्णाजलसे घड़े भरे हैं ॥ १० ॥

तब तो पितामहके प्रति निर्विशेष ब्रह्म ही कारण क्यों नहीं होता ? यदि कहो कि परिणामी होनेपर वह अनित्य हो जायगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि क्रमशः हुए सब परिणामोंमें अनुवृत्ति होनेके कारण घटत्वादिरूप जातिके सदृश उसकी नित्यता आ सकती है, यों राजा शङ्का करते हैं—'स्रष्टु०' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मुनिवर, आदि सर्जक हिरण्यगर्भका अनन्त, अजन्मा, अव्यक्त, चिदाकाश, अविनाशी, सर्वोपद्रवशून्य, सर्वातिशायी, निर्विशेष ब्रह्म कारण क्यों नहीं है ॥ ११ ॥

कुम्भ उवाच

हेतुत्वाभावतो ब्रह्म कार्यत्वाभावतस्तथा ।
अद्वैतेनाऽतिगन्तात्मा न च कार्यं न कारणम् ॥ १२ ॥
अकर्तृकर्मकरणमकारणमबीजकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्म कर्तृ कथं भवेत् ॥ १३ ॥
अकारणत्वात्कार्यत्वरहितं तज्जगद्भवेत् ।
अद्वैतैक्यमनाद्यन्तं तदाद्यमुपलम्भनम् ॥ १४ ॥
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं यच्छिवं शान्तमव्ययम् ।
तत् कथं कस्य केनैव कर्तृ भोक्तृ कदा भवेत् ॥ १५ ॥

श्रुति, युक्ति और अनुभवका विरोध होनेसे हिरण्यगर्भका कारण निर्विशेष ब्रह्म नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'हेतुत्वा०' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे राजन्, शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही है, क्योंकि 'तदेतद्ब्रह्मा पूर्वमनपरम्' इस श्रुतिसे पूर्वत्वरूप कारणत्वका और अपरत्वरूप कार्यत्वका निषेध किया गया है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुतिसे द्वैतमात्रका निषेध किया गया है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे उसकी अनुवृत्तिका निषेध किया गया है और कूटस्थका परिणाम न बननेके कारण वह सर्वप्रपञ्चसे निर्मुक्त है ॥ १२ ॥

अन्य कारकोंकी अप्रसिद्धि होनेसे उनको लेकर इसमें स्वातन्त्र्यरूप अकर्तृत्व भी नहीं आ सकता, यह कहते हैं—'अकर्तृ०' इत्यादिसे ।

ब्रह्म न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। उसका न कोई निमित्त है और न कोई उपादान है। उसमें न तर्कोंका स्थान है और न इन्द्रियवृत्तियाँ ही गमन कर सकती हैं। ऐसी परिस्थितिमें आप बतलाइये तो ब्रह्म किस तरह कारण बनेगा ॥ १३ ॥

ब्रह्म निर्धर्मक होनेसे ही यदि अकारण है, तो इससे वह कार्यत्वरूप लक्षण या धर्मसे शून्य ही होगा। ऐसी परिस्थितिमें यदि आप यह सम्भावना करें कि कार्यकारणात्मक जगत् ही है, तब तो वह जगत् वस्तुकृतपरिच्छेद और देश-काल कृतपरिच्छेदसे रहित होकर चिदेकरसस्वरूप ब्रह्म ही बन गया, यह भी साथ-साथ भावना कर लीजिए। फिर जगद्भाव और कार्यकारणता रही ही कहाँ ॥ १४ ॥

इसी रीतिसे जीवरूपताकी भ्रान्तिके कारण उसमें प्राप्त हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्वका भी निरास करना चाहिए, यह कहते हैं—'अप्रतर्क्य०' इत्यादिसे ।

अतो नेदं कृतं किञ्चिज्जगदादि न विद्यते।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि सर्वं शान्तमजं शिवम् ॥ १६ ॥
कारणाभावतः कार्यं न कस्यचिदिदं जगत्।
अकारणत्वात् कार्यत्वं भ्रमाद्विद्धि त्विदं जगत् ॥ १७ ॥
अकार्यत्वञ्च नास्त्येतत्सर्ग इत्थं न विद्यते।
यदा न कस्यचित्कार्यं कारणस्य जगत्तदा ॥ १८ ॥
पदार्थाभावसंसिद्धिस्तत्सिद्धौ कस्य वेदनम्।
एवं तु वेदनाभावे नाऽस्त्यहंत्वस्य कारणम्।
अतः शुद्धो विमुक्तोऽसि कैवोक्तिर्बन्धमोक्षयोः ॥ १९ ॥

जो अतर्क्य, अविज्ञेय, शान्त, विकारशून्य और कल्याणरूप है उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस तरह, किसका, किससे और किस समय होगा ? बतलाइये ॥ १५ ॥

निष्कर्ष बतलाते हैं—'अतः' इत्यादिसे।

इसलिए यह जगत् न किसीसे कुछ किया गया है और न इसकी सत्ता ही है। परिपूर्णस्वभाववाले आप न कर्ता हैं और न भोक्ता हैं। जहाँ हाथ डालिए वहाँ आपको सब कुछ शान्त अजन्मा, आनन्दात्मक केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, यह मिलेगा ॥ १६ ॥

कारणकी सत्ता ही नहीं है, इसलिए यह जगत् किसीका भी कार्य नहीं है। कारणका स्वरूप न रहनेसे जो कार्यस्वरूप दिखाई देता है वह केवल भ्रमसे ही, इसलिए यह जगत् भ्रमात्मक ही है, यह जानिये ॥ १७ ॥

किसीका कार्य न होनेसे यह सारी सृष्टि तीनों कालमें असत् है। इस रीतिसे यह जगत् जब किसी भी कार्यका कारण नहीं है तब अनायास समस्त पदार्थोंकी असत्ता सिद्ध हो जाती है। पदार्थोंकी असत्ता सिद्ध हो जानेपर फिर ज्ञान किसका, और इस रीतिसे जब ज्ञानका ही अभाव सिद्ध हो गया तब अहङ्कारका कोई कारण ही नहीं रहता। [इस रीतिसे अहम्भावकानिरास करनेके लिए उपाय बतलाकर अन्तमें अवशिष्ट हुए आत्मतत्त्वका अनुभव कराते हैं—'अतः'से] इसलिए हे राजन्, आप सर्वविध मलोंसे निर्मुक्त परममुक्त ही हैं। बन्ध और मोक्षकी कथासे आपको प्रयोजन ही कौन है ॥ १८,१९ ॥

शिखिध्वज उवाच

बुद्धोऽस्मि भगवन् युक्तियुक्तमुक्तं त्वयोत्तमम् ।
कारणाभावतः कर्तृ नेदं ब्रह्मेति वेद्म्यहम् ॥ २० ॥
कर्त्रभावाज्जगन्नास्ति तेन नास्ति पदार्थदृक् ।
नातश्चित्तादि तद्बीजं नाऽतोऽहन्तादिकिञ्चन ॥ २१ ॥
एवं स्थिते विशुद्धोऽस्मि विबुद्धोऽस्मि शिवोऽस्मि वा ।
नमो मह्यं परं चेत्यं न किञ्चिदिति बोधितः ॥ २२ ॥
पदार्थवेदनादित्थमसदेवाऽवभासते ।
अहमाद्यन्तमेतेन शान्तमासे खकोशवत् ॥ २३ ॥
जगत्पदार्थप्रविभागदृष्टिः
सदेशदिक्कालकलाक्रियौघा ।

उपदिष्ट अर्थका अपने अनुभवसे अनुमोदन कर रहे राजा—युक्तिपूर्वक आपने उपदेश दिया—यों कहते हुए अनुवाद करते हैं—'बुद्धोऽस्मि' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे भगवन्, असलियत मैं जान गया । आपने बहुत ही उत्तम और युक्तियुक्त कहा । कारण न होनेसे यह ब्रह्म जगत्का उत्पादक नहीं हो सकता है, यह भी जानता हूँ ॥ २० ॥

कर्ताके अभावसे जगत्का अभाव है, जगत्के अभावसे नाम-रूपात्मक दृष्टिका अभाव है, इससे उसके बीज चित्त आदिका भी अभाव है और इसीसे अहन्ता आदि कुछ भी सत्ता नहीं रखते ॥ २१ ॥

इस प्रकारकी स्थिति होनेपर मैं निर्मल ही हूँ, सर्वज्ञ हूँ और दिव्यस्वरूप हूँ । मैं अपने आपको ही प्रणाम करता हूँ, क्योंकि चितिस्वरूपसे भिन्न दूसरा चेत्य-विषय है ही नहीं, यह आपने मुझे बतला दिया ॥ २२ ॥

आपकी बतलाई हुई युक्तिसे विचारपूर्वक सब पदार्थोंका स्वरूप जाननेसे 'अहम्' आदिसे लेकर अन्ततकके जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब असद्रूप ही भासते हैं, इसलिए सब द्वैतके बाधसे मैं आकाशमण्डलकी नाईं विक्षेपशून्य होकर अवस्थित हूँ ॥ २३ ॥

उसी स्थितिका अभिनयपूर्वक उपसंहार करते हैं—'जगत्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

अहो नु कालेन चिरेण शान्ता
ब्रह्मैव शान्तं स्थितमव्ययात्म ॥ २४ ॥
शाम्यामि निर्वामि परिस्थितोऽस्मि
न यामि नोदेमि न चाऽस्तमेमि ।
तिष्ठामि तिष्ठ स्वयथास्थितात्मा
शिवं शुभं पावनमौनमस्मि ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजविश्रान्तिर्नाम पञ्चनवतितमः सर्गः ॥९५॥



षण्णवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति ब्रह्मणि विश्रान्तिमवाप्य स शिखिध्वजः ।
मुहूर्तमासीत्संशान्तमना निर्वातदीपवत् ॥ १ ॥

अत्यन्त आश्चर्य है कि, देश, काल, कला एवं क्रियाओंसे युक्त यह जो जगत्के पदार्थोंकी विभक्त दृष्टि थी वह दीर्घकालके अनन्तर शान्त हो गई। अब विकारशून्य केवल ब्रह्म ही बच गया ॥ २४ ॥

अब मैं शान्तिका अनुभव करता हूँ, मुक्त हो गया हूँ, सब ओरसे पूर्ण स्वभाव होकर स्थित हूँ, न जाता हूँ, न उदित होता हूँ और न अस्त होता हूँ। हे भगवन्, मैं जैसे इस रूपमें हूँ वैसे आप भी चिदेकरस यथास्थित आत्मस्वरूप होकर स्थित हो जाइये, क्योंकि उस प्रकारकी स्थितिमें आपका स्वरूप बनकर मैं परम पुरुषार्थरूप शुद्ध वाणीसे अगम्य निरतिशय सुख ही बनकर विराजित हूँ ॥ २५ ॥

पंचानबे सर्ग समाप्त

छानबे सर्ग

[प्रबुद्ध हुए राजाको दृश्य-सत्ताका परिमार्जन, जिस उपायसे हो सकता है उस उपायका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, राजा शिखिध्वज पूर्वोक्त रीतिसे

निर्विकल्पसमाधानपरेणाऽऽशु विविक्षितम् ।
स्वलीलयेति कुम्भेन झटित्येव प्रबोधितः ॥ २ ॥

कुम्भ उवाच

राजन्नज्ञाननिद्रातः प्रबुद्धोऽसि शिवः स्थितः ।
कार्यं नास्तमयेनैव न चाऽनस्तमयेन ते ॥ ३ ॥
सकृदेव विभातात्मा नष्टानिष्टपदात्मकः ।
कलाकलननिर्मुक्तो जीवन्मुक्तोऽङ्ग साम्प्रतम् ॥ ४ ॥

परब्रह्ममें विश्रान्ति पाकर वायुशून्य प्रदेशमें स्थित दीपके सदृश मुहूर्त कालतक निश्चलरूपसे स्थित हो गये । अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिका उदय होनेसे उनका मन तुच्छ बाह्य वृत्तियोंसे निर्मुक्त होकर प्रसन्न हो गया था ॥ १ ॥

अनन्तर राजा शिखिध्वजने, जो निर्विकल्पसमाधिमें तत्पर थे, अखण्डाकार-वृत्तिरूप विकल्पको भी तिरस्कृत कर—क्षीरसमुद्रमें गिरे हुए जलबिन्दुके सदृश, अन्तःकरणको ब्रह्मरूप बनाकर ब्रह्ममें एकरूपसे जब प्रविष्ट होनेकी इच्छा की, तभी उस अवस्थाको ताड़कर अपनी सहज लीलाभरी वाणीसे कुम्भने उन्हें तत्काल जगाया ॥ २ ॥

समस्त दृश्योंके, अधिक क्या कहें, अखण्डाकार वृत्तिके भी विलयके साथ हम निरतिशय ब्रह्मानन्दके सागरमें प्रविष्ट होनेकी इच्छा कर रहे थे, आपने बीचमें व्यर्थ ही व्युत्थित कर विघ्न डाला, अब हमें वहाँ प्रवेश मिलेगा ही नहीं, इस तरह राजाकी कहनेकी इच्छा जानकर कुम्भ कहते हैं—'राजन्' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे राजन्, अब आप अज्ञानरूपी निद्रासे जाग गये हैं और निरतिशयानन्दरूप बनकर स्थित हैं, इसलिए अब न तो आपको समस्त दृश्योंके विनाशसे कोई मतलब है और न उनके अविनाशसे ही कोई मतलब है, अर्थात् अज्ञान रहनेपर परब्रह्मरूपी आनन्दसमुद्रमें प्रवेश नहीं हो सकता । जब अज्ञानका विनाश हो गया, तब तो दृश्योंका विनाश हो चाहे न हो, एकबार देखा गया ब्रह्म सदा ही अनावृत और सुलभ रहता है ॥ ३ ॥

हे प्रिय, एकबार विस्पष्टरूपसे देखा गया आत्मा समस्त अनिष्टकारक वस्तुओंका आश्रय नहीं रहता यानी उस आत्मामें दुःखप्रद प्रपञ्चका सम्बन्ध रहता

वसिष्ठ उवाच

कुम्भेन बोधितस्त्वेवं स बभूवाऽवबोधवान् ।
विनिर्गतो रराजोच्चैर्महामोहसमुद्गकात् ॥ ५ ॥
विश्रान्तधीः क्षणेनैव पश्यन् दृश्यस्य वस्तुनः ।
असत्तामेव मुक्तात्मा लीलया समुवाच ह ॥ ६ ॥

शिखिध्वज उवाच

ज्ञातप्रायमपीदं तु यत्पृच्छामि तदुच्यताम् ।
भूयो निपुणबोधाय मम मानद मोदद ॥ ७ ॥
शिवे शान्ते निराभासे पदेऽनुल्लसितात्मनि ।
द्रष्टृदर्शनदृश्याख्यो विश्वात्मा प्रत्ययः कुतः ॥ ८ ॥

ही नहीं, अब आप समस्त कल्पनारूपी कलङ्कोंसे निर्मुक्त होकर जीवन्मुक्त बन गये हैं ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, जब मुनिश्रेष्ठ उस कुम्भने राजा शिखिध्वजको उस तरह समझाया, तब वह बोधपूर्ण हो गया और महामोहरूपी पिटारीसे बाहर निकल कर खूब शोभने लगा ॥ ५ ॥

यद्यपि उसकी बुद्धि पूर्ण विश्रान्त हो चुकी थी, व्युत्थानकालमें भी क्षणमात्रमें ही उसने समस्त दृश्योंकी असत्ता जान ली थी, तथापि उस मुक्तात्माने लीलासे यानी कुम्भके परिपक्व बोधके साथ अपने बोधकी तुलना करनेकी लीलासे कुम्भसे कहा ॥ ६ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे मानदी, हे आनन्ददायक, यद्यपि यह सब कुछ मेरा एक तरहसे ज्ञातप्राय ही हो गया है, तथापि बोधकी दृढ़ताके लिए मैं आपसे जो कुछ प्रश्न करता हूँ, उसे फिर मेरे समक्ष कहिए ॥ ७ ॥

ब्रह्मरूप पद निरतिशय सुखरूप, दुःखशून्य और अशुद्ध चेताओंसे अगम्य है, उस पदके अविद्यासे आवृत होनेपर उसमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन नामक यह विश्वरूप ज्ञान किस निमित्तसे होता है ? क्या वह सत् निमित्तसे होता है या असत् निमित्तसे ? सत् निमित्तसे तो हो नहीं सकता, कारण कि सत्-वस्तुमें विकार आदि नहीं रहते, असत्से भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस बोधमें सत्त्वका जो परिज्ञान होता है, वह होगा ही नहीं ॥ ८ ॥

कुम्भ उवाच

साधु पृष्टं महाराज राजसे वाऽथ भास्वरः ।
एतदेव हि ते शिष्टं ज्ञातुं यत्तदिदं शृणु ॥ ९ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥ १० ॥
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
महाकल्पविलासान्ते सत्सारमवशिष्यते ॥ ११ ॥
चिन्मात्रममलं शान्तमाभातं परमं नभः ।
समस्तकलनोन्मुक्तं युक्तं परमया धिया ॥ १२ ॥

इस प्रकार पूछे गये, तथा अध्यास द्वारा उन दोनोंकी उपपत्ति करनेवाले कुम्भमुनि—आपका प्रश्न युक्ति-पूर्ण है और प्रश्नकर्ता आप कहे जानेवाले अर्थके अवधारणमें पटु भी हैं, यों प्रशंसा करते हैं—'साधु' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे महाराज, मैंने पहले जिस आत्मतत्त्वका उपदेश दिया था उसे ग्रहण कर अज्ञानरूपी आवरणसे निर्मुक्त हो जानेके कारण आप देदीप्यमान होकर खूब शोभ रहे हैं । अब आपको जाननेके लिए जो यह कुछ बच गया है उसे सुनिये ॥ ९ ॥

सबसे पहले अध्यासकी सामग्री बतलानेके लिए अध्यारोप कर संस्कारसहकृत अज्ञानशबल अधिष्ठानका दिग्दर्शन करानेवाले कुम्भमुनि पूर्वसृष्टिका प्रलय दर्शाते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

राजन्, यह जो कुछ भी स्थावर, जङ्गम नानाविध आकार-प्रकारसे भरा हुआ जगत् दिखाई पड़ता है वह सब कल्पकी समाप्तिमें विनष्ट हो जाता है ॥१०॥

कल्पान्तमें एकमात्र बाकी बचे हुए अधिष्ठानको दिखलाते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

तदनन्तर जब कि महाकल्पका ताण्डव समाप्त हो जाता है, तब एकमात्र प्रसन्न गम्भीर व्यापकरूप सारवस्तु (परब्रह्म-तत्त्व) अवशिष्ट रह जाती है, वह न तो तेजसे तुलित की जा सकती है और न घन अन्धकारसे तुलित की जा सकती है ॥ ११ ॥

वह वस्तु चिन्मात्रस्वरूप है, उसमें किसी तरहका मल नहीं है, शान्तिका

यदेकोदितमत्यच्छं शान्तमाततमुज्ज्वलम् ।
परमात्मात्मकं तेजस्तिमितं ज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १३ ॥
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं समं शिवमनिन्दितम् ।
ब्रह्मनिर्वाणमापूर्णमापूर्णोदितसंविदा ॥ १४ ॥
अणीयसामणीयश्च स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १५ ॥
ईदृशं तत्परं सूक्ष्मं तस्याऽग्रे यदिदं नभः ।
अणोः पार्श्वे महामेरुरिव स्थूलात्म लक्ष्यते ॥ १६ ॥
ईदृशं तत्परं स्थूलं यस्याऽग्रे यदिदं जगत् ।
परमाणुवदाभाति क्वचिदेव न भाति च ॥ १७ ॥

आधार है, चारों ओर चमकता निरवधि आकाश है, उसमें किसी प्रकारकी कल्पना की ही नहीं जा सकती। जिसके विषयमें मैं कुछ कह रहा हूँ, वह केवल स्वस्वरूपका साक्षात्कार करनेवाली बुद्धिसे युक्त होकर जब प्रकाशित होने लग जाती है, तब अज्ञानकालमें प्रतीत अज्ञान आदि मल उसमें नहीं रहते, अतः अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है। क्रोधादिविकार उसमें रहते नहीं, चारों ओर उसकी सत्ता है, उज्ज्वल परमात्मस्वरूप वही प्रसन्न ज्ञानरूप तेज है। उसमें अनुमानादि तर्कोंका प्रसर होता नहीं। वह बाह्य इन्द्रियोंकी विषय नहीं है, वह सम, शिव और अनिन्दित है। जिसको ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं, वह वही है। सर्वत्र पूर्णरूपसे उदित आत्म-ज्ञानसे नितान्त पूर्ण है ॥ १२-१४ ॥

जितने छोटेसे-छोटे पदार्थ हैं, उनमें सबसे छोटा (सूक्ष्म) यही है, जो स्थूलसे भी स्थूल पदार्थ हैं, उनमें सबसे स्थूल यही है। गुरुतम पदार्थोंमें सबसे गुरुतम और श्रेष्ठोंमें सबसे बढ़कर श्रेष्ठ भी यही है ॥ १५ ॥

महात्मन्, यह इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म है कि इसके सामने यह जो आकाश है, वह अणुके सामने स्थित स्थूलरूप महामेरुके समान स्थूल मालूम पड़ता है ॥ १६ ॥

और वह इतना अत्यन्त स्थूल है कि उसके सामने यह सारा ब्रह्माण्ड परमाणुके सदृश सूक्ष्मरूपसे कहीं भासता है और कहीं भासता भी नहीं ॥ १७ ॥

विश्वात्मकचनं नाम पदेऽसम्भववेधसः ।
तदहंवेदनं विद्धि विराडात्मा जगत्स्थितम् ॥ १८ ॥
वातस्य वातस्पन्दस्य यथा भेदो न विद्यते ।
शून्यत्वखत्वोपमयोश्चिन्मात्राहन्त्वयोस्तथा ॥ १९ ॥
जलेऽस्ति देशकालान्ते यथोर्म्यादि सकारणम् ।
परेऽस्त्यदेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ २० ॥

इस तरहका मायाशबल जो अधिष्ठानरूप पद है, उसमें पूर्वके संस्कारोंके उद्‌बोधसे उद्भूत हुआ तत्-तत् प्राणियोंके कर्मको अनुसरण करनेवाला अध्यास-जनित जो विश्वरूपका प्रकाश है वही नारायणसे उत्पन्न हिरण्यगर्भका अहंभावरूप ज्ञानाध्यास है, यह आप जानिए। उस ज्ञानाध्यासमें विषयरूपसे स्थित जगत् ही विराड्रूपी विषयाध्यास है ॥ १८ ॥

अध्यासपक्षमें अधिष्ठानकी सत्ता हीसे कार्य और कारण दोनोंमें सत्ताका निर्वाह हो जानेके कारण उनमें सत्ताकी प्रतीति, ज्ञानसे उसका बाध और सत् वस्तुकी कूटस्थता अनुपपन्न नहीं हो सकती, यह आशय रखकर दृष्टान्तपूर्वक अध्यस्तकी अधिष्ठानसे अभिन्नता बतलाते हैं—'वातस्य' इत्यादिसे।

महात्मन्, जैसे वायु और वायुका स्पन्दन—इन दोनोंमें भेद नहीं है, वैसे ही शून्यरूपता और आकाशरूपताके सदृश चैतन्यरूपता और अहंरूपतामें भेद नहीं है* ॥ १९ ॥

यह असत् कार्यवादियोंके मतमें दीक्षित न हो जाय, इस अभिप्रायसे केवल अधिष्ठानसत्तासे ही कार्यकी ब्रह्ममें त्रैकालिक सत्ता है, यह भी दृष्टान्त देकर बतला रहे कुम्भ विशेषज्ञातव्य दर्शाते हैं—'जले' इत्यादिसे।

देश और कालसे परिच्छिन्न (भेद प्राप्त) जलमें विद्यमान तरङ्ग आदि जलरूप कारणको लेकर जैसे सहेतुक हैं, उनकी जलसत्तासे अतिरिक्त सत्ता जैसे नहीं है, वैसे देश और कालसे अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें प्रतीयमान जगत् सहेतुक नहीं है, क्योंकि तरङ्गादिस्थलमें आन्तरालिक जलकारणताके सदृश

* यहाँ पहला संसर्गाध्यासमें दृष्टान्त है और दूसरा तादात्म्याध्यासमें दृष्टान्त है, निरपेक्ष होनेके कारण वायु और आकाशत्व अधिष्ठानके दृष्टान्त हैं तथा देशसापेक्ष होनेके कारण स्पन्द और शून्यता अध्यस्तके दृष्टान्त हैं, यह जानना चाहिए।

हेम्न्यस्ति देशकालान्ते कटकादि सकारणम् ।
ब्रह्मण्यदेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ २१ ॥
ईदृशं तद्वरिष्ठं च जगद्राज्यं तदक्षतम् ।
न द्वैतममलं शान्तं जगत्तृणलवायते ॥ २२ ॥
ईदृशं तत्परं श्रेयस्तस्मिन्सति यदीश्वरे ।
जगत्पदार्थसार्थश्रीः सा सत्तामेति वेदनात् ॥ २३ ॥
तत्सारमेकमेवेह विद्यते भूपते ततम् ।
एकमेकान्तचित्कान्तं नैकमप्यद्वितावशात् ॥ २४ ॥
तस्माद्द्वितीया कलना काचिन्नाम न विद्यते ।
आत्मतत्त्वमलं भातं तदेवाऽऽपूर्णमक्षयम् ॥ २५ ॥

यहाँ कोई आन्तरालिक कारण नहीं है, ब्रह्म तो मूलकारण ही है, अतः निर्हेतुककी पृथक् सत्ता कैसे होगी ? किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकती ॥ २० ॥

देश-काल-परिच्छिन्न सुवर्णमें कटक आदि सुवर्णरूप कारणको लेकर सकारण हैं, उनकी जैसे पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही देशकालादि परिच्छेदसे शून्य ब्रह्ममें विद्यमान निर्हेतुक जगत्‌की भी ब्रह्मसे पृथक् सत्ता नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

इसी तरह वह ब्रह्मरूप सारवस्तु श्रेष्ठ है, उसका समस्त जगत्‌के ऊपर साम्राज्य है, वह अविनाशी, अद्वैत, निर्मल और परम शान्त है, समस्त जगत् उसके सामने तिनकेके टुकड़ेके सदृश अति तुच्छ है ॥ २२ ॥

इसी प्रकार यह पर वस्तु ऐसी कल्याणरूप है, ईश्वररूप जिसके अस्तित्वसे प्रसिद्ध यह जगत्पदार्थोंकी शोभा अस्तित्व धारण करती है ॥ २३ ॥

हे राजन्, कल्पप्रलयके अनन्तर अवशिष्ट रहनेवाली वह सारभूत वस्तु इस समस्त ब्रह्माण्डमें एक ही है, केवल वह चिन्मात्रस्वरूप है, निरुपाधि प्रेमका आस्पद है। द्वितीयकी सहिष्णुता न होनेसे यद्यपि वह एक है, तथापि एकत्वकी आश्रय नहीं है ॥ २४ ॥

इसलिए हे राजन्, कोई भी दूसरी कल्पना इस संसारमें है ही नहीं। जो आपको निर्मल आत्मतत्त्व अवगत हुआ है, वही परिपूर्ण और अविनाशी है ॥ २५ ॥

संस्थितं सर्वदा सर्वं सर्वाकारमिवोदितम् ।
अदृश्यत्वादलभ्यत्वान्न तत्कार्यं न कारणम् ॥ २६ ॥
प्रत्यक्षादेरगम्यत्वात्किमप्येव तदुत्तमम् ।
सर्वं सर्वात्मकं सूक्ष्ममच्छानुभवमात्रकम् ॥ २७ ॥
आख्यानाख्यास्वरूपस्य निराभासप्रभादृशः ।
सतो वाप्यसतो वाऽथ कथं कारणता भवेत् ॥ २८ ॥
यद्वै न कस्यचिद्बीजमनाख्यत्वान्न कारणम् ।
न किञ्चिज्जायते तस्मात्प्रमाणादि ततात्मनः ॥ २९ ॥
अकर्तृकर्मकरणं सत्यं चिद्घनमक्षतम् ।
आत्मरूपमनाभासं स्वयं वेदनमक्षतम् ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण आकार-प्रकारोंसे युक्त होकर मानो उदित हुआ वह सर्वस्वरूप होकर सदा ही स्थित रहता है। इन्द्रियोंसे दृश्य न होनेके कारण तथा हाथ आदिसे प्राप्य न होनेके कारण वह न कार्य (ज्ञान और कर्मसे जनित अतिशयका आधार) है और न कारण (ज्ञान और कर्मका सम्पादक) है ॥२६॥

प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणोंसे वेद्य न होनेके कारण वह स्वानुभवमात्र-गम्य कुछ अनिर्वचनीय ही उत्तम (निरतिशयानन्दात्मक) वस्तु है, वह सबकी आत्मा है और सब इसकी आत्मा हैं। अतिसूक्ष्म, स्वच्छ तथा अनुभव-मात्ररूप है ॥ २७ ॥

व्यवहारकी दृष्टिमें शब्द और शब्दार्थभूत समस्त पदार्थोंका ही वह स्वरूप-भूत है, अतः अपने आप ही अपना कारण कैसे होगा ? परमार्थदृष्टिमें अगम्य अति उत्कृष्ट अद्वितीय प्रकाशका स्वरूपभूत है, अतः अद्वितीय वस्तु कारण किस द्वितीयके लिए होगी ? अपि च व्यवहारमें अद्वैत असत् है और द्वैत सत् है, परमार्थमें तो अद्वैत सत् और द्वैत असत् है, ऐसी परिस्थितिमें सत् और असत्का परस्पर कार्यकारणभाव हो ही कैसे सकता है ॥ २८ ॥

वास्तवमें जो किसीका बीज नहीं है और जो शब्दागम्य होनेके कारण कारण नहीं होता, उस व्यापक वस्तुसे प्रमाण-प्रमेयरूप जगत् कुछ भी उत्पन्न नहीं होता ॥ २९ ॥

वह न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। केवल वह सत्य, चिद्घन

तस्मान्न जायते किञ्चित्परस्माद्ब्रह्मणो मुने ।
कथं किं लभ्यते केन यथोर्म्यादि सकारणम् ।
परेऽस्तदेशकालान्ते तथा जगदकारणम् ॥ ३१ ॥

शिखिध्वज उवाच

जलादौ यत्तरङ्गादि तत्सकारणमस्ति हि ।
परे जगदहन्तादि नाऽकारणमवैम्यहम् ॥ ३२ ॥

कुम्भ उवाच

इदानीं तत्त्वतो ज्ञातमेतत्सत्यं महीपते ।
इदं जगदहन्तादि नेह किञ्चिन्न विद्यते ॥ ३३ ॥

और विकृतिशून्य है । आत्मरूप, अन्यप्रमाणोंसे अगम्य तथा अविनाशी स्वात्मानुभवरूप भी वही है ॥ ३० ॥

इन सब बातोंसे अध्यासपक्षमें किसीको भी जन्म आदि विकारकी प्रसक्ति नहीं होती, केवल कूटस्थत्व ही सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

हे मुने, इससे यह सिद्ध हुआ कि परब्रह्मसे किसीकी भी उत्पत्ति नहीं होती, क्या कोई भी पुरुष किसी तरहसे क्या सकारण तरङ्ग आदिको जलादिसे पृथक् प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता, बस इसी तरह देश-कालके परिच्छेदसे शून्य ब्रह्ममें अकारणक जगत् भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं रह सकता । निष्कर्ष यह है कि लोकमें यह प्रसिद्ध है कि तरङ्गके प्रति जल कारण है, परन्तु विमर्शकालमें सकारण तरङ्ग जलसे भिन्न नहीं ठहरता, इसी प्रकार परिच्छेदशून्य ब्रह्ममें विचारकालमें जगत्कारणता ठहर नहीं सकती ॥ ३१ ॥

'जलेऽस्ति देशकालान्ते' इत्यादि जो पहले कहा गया था, उसीका आपने यहाँपर उपसंहार किया, परन्तु उसमें ऊपर नीचे उक्तिका जो वैषम्य आपने किया है, उसका तात्पर्य क्या है, यों राजा पूछते हैं—'जलादौ' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुनिश्रेष्ठ, जल आदिमें जो तरङ्ग आदि हैं, वे तो सकारणक हैं, यह मैं मानता हूँ, परन्तु यह नहीं मानता कि परब्रह्ममें अहन्ता आदि जगत् अकारणक है ॥ ३२ ॥

समुद्र पञ्चीकृत जलका कार्य है, अतः पञ्चीकृत जलके कारण भूतोंके द्वारा तथा वायु आदि अन्य निमित्तोंके द्वारा जलके परिणामभूत तरङ्ग आदि सकारणक

जगच्छब्दार्थरहितं जगदस्ति शिवात्मकम् ।
व्योम्न्येव निर्मितं शान्तं व्योम्ना सूक्ष्मतरेण च ॥ ३४ ॥
यथा नभसि शून्यत्वं तथेदं जगदीश्वरे ।
सदृशं स्वस्वरूपेण न वा रूपेण केनचित् ॥ ३५ ॥
एवंरूपं जगदिदं सम्यग्ज्ञातं शिवं भवेत् ।
सम्यग्ज्ञानप्रभावेण विषमप्यमृतायते ॥ ३६ ॥

हैं, परन्तु ब्रह्मका तो कोई कारण प्रसिद्ध है नहीं और न कोई उसका सहकारी कारण है, इसलिए ब्रह्मविवर्त जगत् अकारणक कहा, यही वैषम्य मेरा अभिप्रेत है। इस तरह वैषम्य तत्त्वज्ञानके पूर्व कोई समझ नहीं सकता, परन्तु आपने तो तत्त्व अब जान लिया है, अतः आपके लिए वह सुबोध है, इस आशयसे कुम्भ कहते हैं—'इदानीम्' इत्यादिसे।

कुम्भने कहा—हे राजन्, आपका कथन सत्य है, परन्तु आपने तो अब तत्त्वतः सब कुछ जान लिया है, इसलिए उस वैषम्यका परिज्ञान आपसे दूर नहीं रह सकता। यह अहन्ता आदि जगत् इस ब्रह्ममें कुछ अस्तित्व ही नहीं रखता ॥ ३३ ॥

सब द्वैतका बाध हो जानेके कारण यदि आप 'जगत् अकारणक है' यों कहते हैं, तो 'ब्रह्ममें जगत् है' यह क्यों कहते हैं, ऐसा कहनेमें तात्पर्य क्या है' इसपर कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे।

'जगत्' शब्दका प्रसिद्ध जो अर्थात्मकस्वरूप है, उससे निर्मुक्त परम शान्त कल्याणमय परमात्मा ही जगत् है, उससे अतिरिक्त कुछ है नहीं। आकाशमें सूक्ष्मतर आकाशने ही उसका निर्माण किया है अर्थात् जैसे आकाशमें सूक्ष्मभूत मायारूप आकाशसे गन्धर्वादि नगर निर्मित होते हैं, वैसे ही ब्रह्माकाशमें भी सूक्ष्मभूत मायासे जगत्का निर्माण हुआ है, वास्तवमें कुछ नहीं है ॥ ३४ ॥

जैसे आकाश शून्यरूप नहीं है, परन्तु प्रतीयमान विरुद्ध शून्यत्व आकाशकी सत्तासे सत्ता प्राप्त करता है, वैसे ही परमेश्वरमें अविद्यमान जगत् उसकी सत्तासे सत्ता प्राप्त करता है, वह चैतन्यैकरूपसे सदृश और जड़रूपसे विसदृश भी है ॥ ३५ ॥

उस प्रकारका यह जगत् भलीभाँति जान लिये जानेपर परम शिवरूप हो जाता है, क्योंकि उत्तमज्ञानके प्रभावसे विष भी अमृत हो जाता है ॥ ३६ ॥

असम्यग्ज्ञातमशिवं जगद्दुःखप्रदं परम् ।
विषबुद्ध्याऽमृतमपि भुक्तं विषरसायते ॥ ३७ ॥
ईदृशश्च यथा वेत्ति यद्यदेष चिदीश्वरः ।
तत्तथैवाऽऽशु भवति तादृग्रूपतया शिवः ॥ ३८ ॥
यथा ज्वाला भ्रमाज्जाता विचित्राकारविभ्रमैः ।
तिष्ठत्यनन्यरूपैव ब्रह्मसत्ता तथैव हि ॥ ३९ ॥
यत्परं चित्स्वरूपेण स्थितमात्मनि मन्थरम् ।
तत्तेन देहदेह्यादिर्जगदादीव लक्ष्यते ॥ ४० ॥
केवलं परमेवेत्थं परमं भासते शिवम् ।
अतो जगदहन्तादि प्रश्न एवात्र नोचितः ॥ ४१ ॥

यदि जगत् भलीभाँति न जाना गया तो वह भयङ्कर दुःख देनेवाला होता है, ठीक ही है—विषबुद्धि यदि अमृतमें हो जाय, तो वह खाया गया भी विषके रसमें ही परिणत हो जाता है—खानेवालेको मार डालता है ॥३७॥

विद्याकी सहायतासे या अविद्याकी सहायतासे युक्त होकर जो कोई भी पुरुष जिस प्रकारसे जिस-जिस वस्तुको चैतन्य परमात्मारूप जानता है, उस पुरुषको उस प्रकारसे वह-वह वस्तु तत्काल ही उक्तरूप ईश्वरात्मक बन जाती है ॥ ३८ ॥

जैसे नेत्रोंके दोष-विभ्रमोंसे ज्वाला केशोण्डू आदि रूपोंमें चित्र-विचित्ररूपसे आविर्भूत हुई भी वास्तवमें वह अपने ही स्वरूपसे रहती है, वैसे ही दोष-विशेषसे अन्यान्य रूपोंमें आविर्भूत भी ब्रह्मसत्ता अपने ही असली रूपसे अवस्थित रहती है ॥ ३९ ॥

साधो, जो सर्वोत्कृष्ट परब्रह्म चैतन्यस्वरूपसे अवस्थित है, वही अपने विषयमें मन्दबुद्धि बनकर उस मन्दबोधके कारण देह, देही आदि जगत्के रूपमें मानो लक्षित होता है ॥ ४० ॥

चूँकि अबोधवश ही इस जगद्रूपसे विशुद्ध परम आनन्दरूप परमात्मा भासता है, इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि अहन्ता आदि जगत्को लेकर प्रश्न करना प्रकृतमें अनुचित है ॥ ४१ ॥

यद्वस्तु विद्यमानं सत्प्रश्नस्तत्र विराजते ।
प्रेक्षितं यत्तु नास्त्येव प्रेक्षाप्रश्ने न तत्र किम् ॥ ४२ ॥
सन्निवेशं विना सत्ता यथा हेम्नोन विद्यते ।
तथा जगदहंभावं विना नेशस्य संस्थितिः ॥ ४३ ॥
अकारणत्वान्नास्तीदं ब्रह्मैवेत्थं विजृम्भते ।
अजृम्भमाणमेवेदं जगत्त्वेनेव संस्थितम् ॥ ४४ ॥
यन्मया एव तेनैव मिथः सम्प्रेरिताशयम् ।
चमत्कुर्वन्त्यमी भावाः पञ्चके मिथुनौघवत् ॥ ४५ ॥

जो वस्तु सत् होकर विद्यमान है, उसीके विषयमें प्रश्न करना शोभता है, परन्तु भलीभाँति विचारा गया भी जो विद्यमान है नहीं, उसके विषयमें विचारार्थ प्रश्न ही क्या ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार अवयवोंकी असत्ता-दशामें सुवर्णकी स्थितिके विषयमें प्रश्न करना अयोग्य है, वैसे ही अहम्भाव आदि जगत्की असत्ता-दशामें ईश्वरकी स्थितिके विषयमें प्रश्न करना भी अयोग्य है ॥ ४३ ॥

विमर्श करनेपर जगत्का कोई भी कारण नहीं है, अतः यह तीनों कालमें है ही नहीं। केवल अज्ञानके कारण इस तरह जगत्के रूपमें ब्रह्म ही स्फुरित होता है। ब्रह्मका स्वरूपतः जब परिज्ञान नहीं रहता, तब अपरिज्ञात ब्रह्म ही जड़ जगत्का यह बृहदाकार धारण कर अवस्थित हो जाता है ॥ ४४ ॥

यदि पृथिवी आदिका वास्तवमें अस्तित्व है नहीं, तो 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपादित जो यह सिद्धान्त है कि अन्तर्यामी ईश्वर द्वारा प्रेरित हुए ही सम्पूर्ण पदार्थ एक दूसरेके कार्यमें समर्थ होते हैं, उसकी उपपत्ति कैसे होगी ? इसपर कहते हैं—'यन्मया' इत्यादिसे ।

मायाशबल परमात्माके स्वरूपभूत समस्त पदार्थ उसीसे (मायाशबल परमात्मासे) माया द्वारा परस्पर मिलनेके लिए सामग्रीरूपसे प्रेरित होकर पञ्चभूतात्मक पिण्डमें मायिक ही तत्-तत् कार्यरूप चमत्कार उस प्रकार करते रहते हैं, जिस प्रकार यौवनमें स्त्री-पुरुषके जोड़े कामसे प्रेरित होकर पुत्रादि कार्यरूप चमत्कार करते रहते हैं ॥ ४५ ॥

चिन्मात्र एव चिन्मात्रं चिन्मात्रेणाऽवधीयते ।
नानात्मनैव नानेव स्वात्मज्ञानात्मनात्मवत् ॥ ४६ ॥
पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात्पूर्णानि चक्रिरे ।
भवन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवाऽवशिष्यते ॥ ४७ ॥
चिन्मात्रमेव कचति यच्चिन्मात्रमयात्मनि ।
अकचित्वैव तन्नाम कचितं सर्गवेदनम् ॥ ४८ ॥
अहं चिता चिदेवाऽऽदौ भवतीव स्वयं ततः ।
अभवन्त्येव रूपं स्वमत्यजन्ती निरामयम् ॥ ४९ ॥

आवृत चैतन्यभाव ही मायिक नानारूपसे अनेक-सा बनकर तत्-तत् कार्य-रूपसे उस प्रकार परिच्छिन्न हो जाता है, जिस प्रकार वही आवृत चैतन्यमात्र स्वात्मज्ञानरूपत्वसे व्याप्त होकर परमार्थरूपसे चमत्कार करता है ॥ ४६ ॥

ब्रह्मके ही ब्रह्मभूत सृष्टिरूपसे मायिक चमत्कारमें और तत्त्वज्ञानसे परमार्थिक-रूपकी प्राप्तिरूप चमत्कारमें 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि श्रुतिका उदाहरण देते हैं—'पूर्णात्' इत्यादिसे ।

प्रलयकालमें केवल वासना छोड़कर जब सब उपाधियाँ विलीन हो जाती हैं, तब मायाशवल ब्रह्ममें एकीभूत हुए जीव कल्पके प्रारम्भमें भोगजनक अदृष्टका परिपाक होनेपर फिर अपनी-अपनी व्यष्टि-समष्टि उपाधियोंका सृष्टि द्वारा जो उद्धार करते हैं, वह अपरिच्छिन्न ब्रह्मसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप ही कार्योंका मायासे उद्धार करते हैं, स्थितिकालमें वे जीव अवान्तर कार्योंको ऐहिक आमुष्मिक भोग-साधन जो बनाते हैं, वह भी पूर्ण अपरिच्छिन्न ब्रह्मसे पूर्णरूप ही बनाते हैं। अनन्तर जो तत्त्वज्ञानसे मुक्त होते हैं, वह भी पूर्णसे ही, मायाके अपच्छेदसे ; पूर्णरूप हो जाते हैं, क्योंकि मायाका विनाश हो जानेपर पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ४७ ॥

हे साधो, जो चिन्मात्ररूप वस्तुमें चिन्मात्र ही सृष्टिज्ञान प्रथित होता है, वह वास्तवमें प्रथित न होकर ही प्रथित होता है, यह महान् आश्चर्य है ॥ ४८ ॥

अहं प्रत्यगात्मरूप चिति ही सृष्टिके आरम्भमें अपना निर्विकार, तेजोमय आद्यन्तशून्य स्वरूप न छोड़ती हुई ही और न होती हुई ही स्वयं चैतन्यके द्वारा

तेजोमयमनाद्यन्तं मनोरूपमनन्तकम् ।
सम्राट्संसारमाभासि भवतीव स्वयं वपुः ॥ ५० ॥

पश्यत्यथ सदेवेदं स्वरूपत्वात् सदेव वा ।
भावनाद्भूततामेति दृश्यं भवति च क्षणात् ॥ ५१ ॥

शान्तं जगत्प्रसररूपतया स्वभाव-
शब्दार्थमुक्तमिदमव्यपदेश्यमेकम् ।
वस्तु स्थितं निजचमत्करणावलोक-
रूपं जगत्स्वरहितानुभवात्मतत्त्वम् ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजावबोधनं नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥



अनन्त मनोरूप मानो बन जाती है । तदनन्तर स्थूलताकी कल्पनासे आभासशील होकर वह स्वतः स्वयंभूका विराट्-रूप संसार बन जाती है ॥ ४९,५० ॥

तदनन्तर व्यष्टिजीवका स्वरूप धारणकर भ्रान्तिसे जगत्में सत्यता ही देखती है और परमार्थदशामें अधिष्ठानकी सत्यता देखती है । पृथ्वी आदि भूतोंकी भावनासे पृथ्वी आदि चार प्रकारके भूत बन जाती है और दृश्यभावनासे तत्क्षण दृश्यरूप बन जाती है ॥ ५१ ॥

उक्तार्थका उपसंहार करते हैं—'शान्तम्' इत्यादिसे ।

हे महात्मन्, प्रशान्त, स्वभावसे ही शब्दों और अर्थोंसे निर्मुक्त, अतएव व्यपदेशशून्य, स्वप्रकाशरूप अनुभवात्मक, अद्वितीय वस्तु माया एवं मायिकावलोक-रूप हो रही जगत्के विस्ताररूपसे जगत्-सी होकर अवस्थित है ॥ ५२ ॥

छियानबे सर्ग समाप्त

सप्तनवतितमः सर्गः

कुम्भ उवाच

हेम्न्यस्ति देशकालान्ते इत्थं जन्यजनिक्रमः ।
न किञ्चिज्जायते शान्तान्न किञ्चित्प्रविलीयते ॥ १ ॥
स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम् ।
शुद्धानुभवमात्रं तत्तस्मादन्यन्न विद्यते ।
किञ्चिज्जगदहन्तादि तदेवाऽनन्तमस्ति हि ॥ २ ॥

शिखिध्वज उवाच

शिवे जगदहन्तादि मुने नास्तीति वेद्म्यहम् ।
सर्गवेदनमाभाति कथमेतद्वदाऽऽशु मे ॥ ३ ॥

सत्तानवे सर्ग

[पूर्व सर्गमें कारणशून्य दृश्य उत्पन्न ही नहीं हुआ है, यह कहकर दृश्यका परिमार्जन किया गया, अब चितिके दृश्यज्ञानत्वका प्रयत्नपूर्वक परिमार्जन किया जाता है]

इस प्रकार पूर्व सर्गके बीसवें श्लोकमें कहा गया समुद्रतरङ्गदृष्टान्त और उसका अवान्तर वैषम्य दृश्यमार्जनमें उपयोगी है, यों कहकर उसका उपपादन किया, अब इक्कीसवें श्लोकमें उक्त सुवर्णकटक दृष्टान्त और उसके अवान्तर वैषम्य-का उसी प्रकार उपपादन करना चाहिए, यह कहनेके लिए कुम्भ अनुवाद करते हैं—'हेम्न्यस्ति' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे महाराज, देश और कालसे परिच्छिन्न सुवर्णमें इसी तरहका कल्पित जन्यजनक क्रम है यानी कटकादिको लेकर जन्यजनकभावकी उपपत्ति की गई है । शान्त स्वभावसे विचारनेपर तो न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ विलीन ही होता है ॥ १ ॥

अपनी ही सत्तामें अवस्थित ब्रह्म न किसीका उपादान कारण है और न किसीका निमित्त कारण है, वह केवल विशुद्ध अनुभवरूप है, अनुभवरूप उससे भिन्न दूसरा कुछ भी पदार्थ है नहीं, जो कुछ अहन्ता आदि जगत् पदार्थ भासता है, वह भी असीम ब्रह्मरूप ही है ॥ २ ॥

दृश्यकी असत्ता भले ही हो, परन्तु उसकी असत्ता होनेपर विशुद्ध चैतन्यमें

कुम्भ उवाच

विस्तारं तदनाद्यन्तं तत्संविदिव तिष्ठति।
तत्तद्भुवनमत्यच्छं तत्तन्मात्रं जगद्वपुः ॥ ४ ॥
न विज्ञानमयोऽर्थोऽस्ति न बाह्यो नाऽपि शून्यता।
वेदनामात्रसारत्वाद्यथा चित्सार उच्यते ॥ ५ ॥

दृश्यानुभवरूपताकी जो प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति कैसे होगी ? यों राजा प्रश्न करते हैं—'शिवे' इत्यादिसे।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुनिवर, मैं मानता हूँ कि आनन्दात्मक चैतन्यमें अहन्तादि दुःखप्रचुर जगत् नहीं रहता, परन्तु उसमें जो सर्गवेदन भासित होता है, वह किस कारणसे होता है, उसे शीघ्र मुझसे कहिए ॥ ३ ॥

आकाशमें विस्तृत सूर्यप्रकाशमें अध्यस्त गन्धर्वनगर आदिकी प्रकाशरूपता जैसे प्रतीत होती है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए, इस आशयसे कुम्भ कहते हैं—'विस्तारम्' इत्यादिसे।

कुम्भने कहा—साधो, असीम जगत्‌का विस्तार करनेवाला जो अधिष्ठान सद्रूप अनादि अनन्त ब्रह्म है, वह सृष्टिके ज्ञानके सदृश बनकर अवस्थित है, अतः उसमें अध्यस्त भुवन विशुद्ध अधिष्ठानसन्मात्रस्वरूप है, इसीलिए वही जगत्-शरीर कहा जाता है ॥ ४ ॥

इस विषयमें विज्ञानवादी बौद्धोंका यह मत है—भुवन आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब भीतरी ज्ञानके परिणामरूप हैं, अज्ञानवश उनका बाह्यार्थवत् ज्ञान होता है, वास्तवमें बाह्यार्थरूप हैं नहीं। गौतम, कणाद आदि पृथ्वी आदि पाँच भूतरूप बाह्य अर्थोंको परमार्थमें भी सत्यरूप मानते हैं, माध्यमिकका कहना है कि शून्य ही बाह्य-आभ्यन्तर ग्राह्यग्राहकरूपसे अज्ञानवश स्फुरित होता है, वास्तवमें कुछ भी है नहीं—इन मतोंका खण्डन कर रहे कुम्भ कहते हैं—'न' इत्यादिसे।

भद्र, न तो विज्ञानरूप अर्थ है, न बाह्य अर्थ है और शून्यरूप ही अर्थ है, क्योंकि सभी वादियोंकी कल्पनाएँ ज्ञानके रहते ही हो सकती हैं, ज्ञानके अभावमें नहीं, इसलिए ज्ञानकी शून्यता, क्षणिकता, जन्यता, विनाशिता या परिणति कोई भी किसी तरहसे नहीं कह सकता, अतः वही सारभूत वस्तु है।

द्रवत्वं सलिलस्येव चिदचित्त्वमकारणम् ।
स्वात्मनीशमनन्तं तद्यथास्थितमवस्थितम् ॥ ६ ॥
प्रतियोगिव्यवच्छेदाभावतः सत्त्वभावयोः ।
असत्त्वात्तेन परमे स्वच्छभावव्यवस्थता ॥ ७ ॥
यदि कारणतापत्तियोग्यं शान्तं पदं भवेत् ।
अनिङ्गितमनाभासमप्रतर्क्यं कथं भवेत् ॥ ८ ॥

चैतन्यसारका जिस तरहसे उपपादन किया जा सकता है, उस तरहसे मैं उपपादन करता हूँ, आप उसमें दृष्टान्तका श्रवण कीजिए ॥ ५ ॥

जिस तरह जलमें द्रवत्व सारभूत वस्तु है, उसी तरह सब पदार्थोंकी सारभूत वस्तु चैतन्य ही है। यदि चैतन्यनामकी वस्तु नहीं होगी, तो साधकके अभावसे सब जगत् 'है या नहीं है' इस प्रकारके व्यपदेशके लिए क्या अयोग्य होगा, यह विचार करनेकी बात है। इसी तरह रसभूत चितिकी अचितिता कारणके बिना निरूपित नहीं की जा सकती। वह अनन्त चितिरूप माया द्वारा अपने स्वरूपमें जगत्के आकारसे या परमार्थ चैतन्यमात्ररूपसे प्रकाशित करनेमें समर्थ है, अतः वह विद्यायुक्त या अविद्यायुक्त जैसा भी रहता है, वैसा ही प्रतीतिसे भी अवस्थित है ॥ ६ ॥

यदि वह स्वच्छ और अस्वच्छ दोनों स्वभावोंसे रहता है, तो उसमें स्वच्छस्वभावमात्रताकी व्यवस्था कैसे होगी, इसपर कहते हैं—'प्रतियोगि०' इत्यादिसे।

सत्त्वमात्रका जो स्वभाव है, वही स्वच्छभाव है और सत्त्वका विरुद्धभाव अस्वच्छभाव है, अस्वच्छभाव अपने विरोधी सत्त्वका हनन करे चाहे न करे— दोनों ओरसे उसकी सिद्धि ही नहीं है अतः सत्त्व और उसके विरोधी अस्वच्छभाव एवं असत्त्वकी, प्रतियोगी और व्यवच्छेदका अभाव होनेसे, अस्वच्छता न होनेके कारण परा चितिमें स्वच्छभावकी व्यवस्था स्वभावतः सिद्ध हो जाती है ॥ ७ ॥

यदि शङ्का हो कि अस्वच्छभावका सर्वथा अपलाप क्यों करते हैं—स्वच्छचिद्रूप ही अस्वच्छ जगत्भावके प्रति कारण बनने योग्य है, यों कल्पना क्यों नहीं करते, तो इसपर कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे।

भद्र, यदि प्रशान्त ब्रह्मरूप पद अस्वच्छ जगत्के प्रति कारण बननेके लिए

अतो न कारणं नैव बीजं ब्रह्म कदाचन।
कार्यस्य कस्यचिन्नाम तेन सर्गो न विद्यते ॥ ९ ॥
न चाऽन्यथोपपत्तिर्हि सर्गस्याऽस्योपपद्यते।
चिन्मात्रकादृते तस्माज्जडसर्गो न विद्यते ॥ १० ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चित्तच्चिद्घनमिवोत्थितम्।
अहंभावजगच्छब्दशब्दार्थरसरञ्जनम् ॥ ११ ॥
कार्यं न कारणाभावात्पदार्थे तूपपद्यते।
द्वित्वैक्याद्यात्मकं व्योम पुष्पवत्स्वानुभूतितः ॥ १२ ॥
वस्तुनाशैकनिष्ठत्वान्न वा ज्ञप्तुपपद्यते।
उपलम्भकरो नाशो जन्मनस्तस्य वा कुतः ॥ १३ ॥

योग्य है, तो श्रुति आदिमें निष्क्रिय, अगम्य, अप्रतर्क्य आदि शब्दोंसे जो वह कहा गया है, उसकी उपपत्ति किस तरह होगी ॥ ८ ॥

इन सब युक्तियोंसे यह निश्चित होता है कि किसी भी कार्यका ब्रह्म न निमित्त कारण है और न उपादान कारण ही है, अतः इस सर्गका अस्तित्व किसी कालमें है ही नहीं ॥ ९ ॥

चितिके अध्यासके बिना दूसरे किसी भी उपायसे सृष्टिकी उपपत्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं—'न च' इत्यादिसे।

चैतन्यके अध्यासके बिना इस सृष्टिकी दूसरी कोई उपपत्ति है ही नहीं, जिससे कि उसका उपपादन किया जाय, इससे जड़सर्गका अस्तित्व रहता ही नहीं ॥ १० ॥

जो भी कुछ यह नेत्रके सामने नृत्य करता है, वह एक तरहसे अज्ञानवश चैतन्यघन ही स्फुरित हो रहा है। वही अहम्भाव, जगत् आदि शब्द और शब्दार्थरूप रसोंसे रञ्जित-सा होकर भासता है ॥ ११ ॥

तब अकारणक ही यह जगत् माना जाय, इस तरहके यदृच्छावादिपक्षका निरास करते हैं—'कार्यम्' इत्यादिसे।

कारणका अभाव रहनेपर किसी भी पदार्थमें कार्य उत्पन्न नहीं होता। जगत्में द्वित्व, एकत्व आदिका जो भान होता है, वह आकाशपुष्पके सदृश विकल्पमात्र ही है ॥ १२ ॥

तब चिद्रूप ही जगत् और उसका कारण चिद्रूप ही ब्रह्म है। यदि कहो कि

अथ चैनं सदा सन्तं नित्यं नष्टं च वेत्सि वा ।
पदार्थौघं तदेवेत्थमेकरूपेऽपि किं व्यथा ॥ १४ ॥
उपलम्भस्तु यश्चाऽयमेषा चित्तचमत्कृतिः ।
चित्त्वमात्रसत्ताऽस्ति द्वित्वमैक्यं च नाम्त्यलम् ॥ १५ ॥

चिद्रूपकी एकतामें यह कार्य और यह कारण, यों विभाग करनेवाला कौन होगा, तो जन्म और नाश ही कार्य-कारणका विभाग करनेवाले होंगे, इसपर कहते हैं—'वस्तु०' इत्यादिसे ।

घट, पट आदि जागतिक वस्तु चिद्रूप नहीं हो सकती, क्योंकि जागतिक वस्तुओंका नाश अवश्यम्भावी है । चितिका नाश चितिसे तो हो नहीं सकता, क्योंकि नाशकालमें यदि चितिकी सत्ता मान ली जाय, तो 'चितिनाश' शब्दका कोई विषय ही नहीं होगा । जड़वस्तुसे भी चितिका नाश नहीं माना जा सकता, क्योंकि जड़वस्तु चितिनाशमें समर्थ नहीं है । यदि कहो कि चितिका नाश भी चिद्रूप ही है, अतः अपने और दूसरेके प्रकाशनमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि चिद्रूप चितिविनाश स्वोत्पत्ति और स्वप्रतियोगीका प्रकाशक किस तरह हो सकेगा ? अपनी उत्पत्ति और उत्पत्ति-पूर्वकालिक प्रतियोगी चैतन्य दोनोंका उक्त नाश परिज्ञान कर नहीं सकता । अपनी उत्पत्ति और प्रतियोगीके ज्ञानके सिवा उसका नाश स्वयं उत्पन्न हुआ, यह नहीं कहा जा सकता । साक्षीसे स्वोत्पत्ति और स्वप्रतियोगीका ज्ञान तो हो नहीं सकता, क्योंकि चितिका विषय चिति नहीं होगी, अतः उसके वेद्यभूत उत्पत्तिविनाश और जगत्में जड़ता ही सिद्ध है, इस प्रकार जगत्में जड़ता सिद्ध हो जानेपर कारणका निरूपण न होनेसे कारणके बिना यदि उत्पत्ति मानी जाय, तो सदा ही जन्म और सदा ही विनाश होने लगेगा, क्योंकि जन्म और विनाशका निवारक तो कोई है नहीं ॥ १३ ॥

यदि आप (स्वभाववादी) पदार्थोंको यों ही प्रमाणशून्य एवं अनुभव-विरुद्ध नित्य-उत्पत्तिस्वभाव और नित्य विनाशस्वभाव मानते हैं, तो श्रुति-प्रमाणानुसार एवं विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध अखण्ड चैतन्यैकरूप स्वीकार करनेमें आपको कौन पीड़ा है, यह बतलाइए ॥ १४ ॥

यदि सब कुछ चैतन्यैकरसस्वरूप है, तब चित और अचित यों

अतः पदार्थसत्ताया अभावे सति भूपते ।
असम्भवाद्भावनस्य नाऽहन्ताभावनाऽस्ति ते ॥ १६ ॥
अहम्भावासम्भवतश्चित्तमन्यत्किमुच्यते ।
इति चित्तमहंरूपं नास्त्यतो न च भिन्नता ॥ १७ ॥
निर्वासनः शान्तमना मौनी परनभोमयः ।
सदेहो वा विदेहो वा भावस्थोऽप्यचलोपमः ॥ १८ ॥
सम्बन्धाच्छुद्धचिद्दृष्टेः पदार्थाभावसिद्धितः ।
भावनाभावतश्चित्ते नास्त्येवाऽहमिति स्वयम् ॥ १९ ॥
एवं ब्रह्मेति वेदार्थभावनादनुभूतितः ।
चेतितार्थैकसत्यत्वाच्चिन्ता नाम क्व विद्यते ॥ २० ॥

द्विविध उपलम्भ कैसे होता है, इसपर कहते हैं—'उपलम्भस्तु' इत्यादिसे ।

साधो, यह चित् है और यह अचित् है, इस प्रकारका यह जो उपलम्भ होता है वह केवल चित्की चमत्कृति है, दूसरा कुछ भी नहीं है। संसारमें केवल चितितत्त्वकी ही सत्ता है। द्वित्व और एकत्व कुछ नहीं है, केवल कल्पनामात्र है ॥ १५ ॥

हे राजन्, इससे पदार्थसत्ताका अभाव होनेपर उनकी भावनाकी असत्ता अनायास सिद्ध हो जाती है। सम्पूर्ण भावनाओंकी असत्ता होनेपर तो आपकी अहम्भावनाका अस्तित्व कैसे रह सकता है ॥ १६ ॥

अहम्भावके असम्भवसे फिर दूसरा बचता ही कौन है ! जिसे कि चित्त कहा जाय। इसलिए चित्त ही अहंरूप है, अहमर्थसे भिन्न दूसरा चित्तनामक पदार्थ है ही नहीं और जीव-ब्रह्मभेद तथा दृश्य-दृक्का भेद भी नहीं है ॥ १७ ॥

अतः वासनासे रहित, शान्त मनसे युक्त और बाहरकी वाणीसे रहित हो जानेपर आप परम चिदाकाशमय होकर अवशिष्ट हो जाते हैं, आप सदेह होवें, चाहे विदेह होवें, चाहे अनेक पदार्थोंके बीचमें रहें, तो भी पर्वतके समान अटलरूप ही हैं, आपमें कुछ भी विक्रिया नहीं है ॥ १८ ॥

शुद्ध चैतन्यदृष्टिके सम्बन्धसे, जड़ पदार्थकी कदापि सिद्धि न होनेके कारण, जड़ पदार्थोंकी भावनाका भी अभाव हो जानेसे भावनाजनित जीवरूप रहता ही नहीं, केवल स्वयं आत्मा ही अवशिष्ट रहता है ॥ १९ ॥

'सब ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्यादि वेदार्थभावनासे जनित ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा

तेनाऽसि निर्मलमकारणमादिमुक्तं
तद्ब्रह्म शाश्वतमशेषमनेकमेकम् ।
शून्यं निरामयमसत्सदनादिमध्यं
सर्वं जगच्चिदपि ब्रह्म यथास्थितं तत् ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजप्रबोधनं नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥



अष्टनवतितमः सर्गः

शिखिध्वज उवाच

चित्तं नास्तीति मे बोधो यथा युक्त्या स्फुटं भवेत् ।
तामन्यामथवा ब्रूहि बुद्धं न निपुणं मया ॥ १ ॥

केवल ब्रह्मरूप अर्थके ही प्रकाशित हो जानेपर फिर बेचारी चिन्ताका अस्तित्व ही कहाँ रहा ? ॥ २० ॥

उक्त अर्थका फलसे उपसंहार करते हैं—'तेनाऽसि०' इत्यादिसे ।

सब द्वैतका बाध हो जानेके कारण आप ब्रह्मरूप ही हैं, यह ब्रह्म निर्मल, कारणशून्य और आरम्भसे मुक्त है, वह शाश्वत है, निरामय है, आदि और मध्यसे रहित है । वह एक होता हुआ भी अनेकरूप हुआ है, वास्तवमें जगत् असत् और शून्य है । जगत्प्रतिभासरूप चिति भी अविकृत ब्रह्म ही है, अतः अन्तमें वही अवशिष्ट रहता है, यह तात्पर्य है ॥ २१ ॥

सत्तानबे सर्ग समाप्त

अट्ठानबे सर्ग

[चित्त है ही नहीं, इस ज्ञानको दृढ़ बनानेके निमित्त विषयकी असत्तासे चित्तका अभाव और अन्तमें अकेले सत् ब्रह्मकी सत्ताका सविस्तर वर्णन]

प्रकाशके रहते ही रूप आदिका जैसे प्रकाश देखा जाता है, वैसे ही चित्तके रहते ही चितिका या दूसरे पदार्थका प्रकाश देखा जाता है, अन्यथा नहीं; इस

कुम्भ उवाच

चित्तं नास्त्येव हे राजन् कदाचित्किञ्चन क्वचित् ।
यच्चेदं चित्तवद्भाति तद्ब्रह्माभिधमव्ययम् ॥ २ ॥

परिस्थितिमें यदि ब्रह्माकारवृत्तियुक्त चित्त बाधित हो जायगा, तो दीपनाश होनेपर जैसे अन्धकार हो जाता है, वैसे ही अन्धकार हो जायगा। दूसरी बात यह है—जो सचित्त हैं, वे ही सचेतन हैं और जो अचित्त हैं, वे चेतनशून्य हैं, यह लोकमें प्रसिद्ध है, अतः जीवन्मुक्त यदि नष्टचित्त होंगे, तो मृत्तिकाके सदृश अचेतन ही हो जायँगे, परन्तु वैसा देखा तो जाता नहीं। अपि च चित्तके रहते ही निरतिशयानन्दरूपी परमपुरुषार्थ—शास्त्रफल—का अनुभव किया जा सकता है, चित्तके अभावमें नहीं, अननुभूत कोई भी पुरुषार्थ नहीं होता। किञ्च, एक प्रश्न भी होता है, वह यह कि क्या ब्रह्माकार चित्त ही चित्तका बाध करेगा या दूसरा ? पहला तो कर नहीं सकता, क्योंकि स्वात्मामें क्रियाविरोध है; यह कहीं नहीं दृष्ट है कि काठ आदि दाह्य वस्तुका दहन कर रही अग्नि अपने आपमें भी दाह करे। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा बाधित होनेवाला जगत् उसका बाधक हो नहीं सकता। चित्तवृत्तिसे अतिरिक्त लोकमें बाधक अप्रसिद्ध होनेसे सुन्दोपसुन्दन्यायका अवसर भी नहीं लाया जा सकता। ब्रह्म तो अनादि है, अतः वह सबका साधक होनेके कारण बाधक नहीं हो सकता, इसलिए चित्तबाध निरर्थक, दुष्कर और सर्वानुभवसे विरुद्ध है, -इत्यादि आशङ्काओंके निरसन द्वारा बोधकी दृढ़ता चाहनेवाले राजा शिखिध्वज पूछते हैं—'चित्तम्' इत्यादिसे।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुनिवर, चित्तका अस्तित्व ही नहीं है, इस प्रकारका बोध मुझे युक्तिसे जिस तरह विस्पष्ट हो, उसे कहिए। चाहे वह युक्ति पूर्वोक्त ही हो चाहे दूसरी हो, क्योंकि अभीतक चित्त नहीं है, यह हमने दृढ़ता-पूर्वक नहीं जाना है ॥ १ ॥

समस्त दोषोंका परिहार कर जो युक्ति चित्तकी बाधक है, उसे कहनेके लिए कुम्भमुनि चित्तका असत्त्व है और चित्तके अधिष्ठानभूत ब्रह्मका ही केवल सत्त्व है, यों प्रतिज्ञा करते हैं—'चित्तम्' इत्यादिसे।

कुम्भने कहा—हे राजन्, चित्तनामका पदार्थ किसी कालमें, किसी देशमें

अतोऽज्ञानात्मकं यत्तज्जगदेव न विद्यते ।
तत्राऽहं त्वं तदित्यादि कल्पिताः कलनाः कुतः ॥ ३ ॥
नास्त्येव जगदेवेदं यच्चेदं किञ्चनोदितम् ।
ब्रह्मैवाऽस्तीह सकलं केन तद् बुध्यते कथम् ॥ ४ ॥

या किसी वस्तुरूपमें कहीं है ही नहीं और जो यह चित्त-सा मालूम पड़ रहा है, वह ब्रह्मनामकी अविकारी वस्तु ही है ॥ २ ॥

चूँकि सम्पूर्ण चित्त आदि प्रपञ्च अज्ञानात्मक है, इसलिए उसका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि जो अज्ञानात्मक वस्तु रहती है, उसका ज्ञानसे बाध हो जाता है। अतः अधिष्ठान ब्रह्ममें अहम्, त्वम्, तत् इत्यादि कल्पित सजावट कैसे रह सकती है। निचोड़ यह है—स्वात्मामें तभी क्रियाविरोध होता, जब कि अज्ञान-बाधके सिवा दूसरा कोई चित्तादिका बाध होता, किन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि अज्ञानबाध ही अज्ञानकार्य आदिकी निवृत्तिरूप है, अतः अज्ञानबाधकी स्थितिमें चित्तका अस्तित्व ठहर सकता ही नहीं। अतएव फिर अन्धत्व आदि दोष हो भी सकते नहीं, क्योंकि अज्ञान ही सर्वान्धत्वका प्रयोजक है; अज्ञानबाध होनेपर स्वप्रकाश पूर्णानन्दका अवशेष रहनेसे निरतिशय पुरुषार्थ सिद्ध ही हो जाता है। चित्तके अधीन चैतन्य है भी नहीं, किन्तु अभिव्यक्त चितिके अधीन चैतन्य है, इस प्रकारका चैतन्य जीवन्मुक्तोंमें, चित्तका नाश होनेपर भी है ही; अतः जीवन्मुक्त अचेतन नहीं हो सकते। चित्तका विनाश हो जानेपर चित्तकृत चितिकी अभिव्यक्ति भाग जायगी, यह कहना तो सुविचारमूलक हो नहीं सकता, क्योंकि अनभिव्यक्ति अज्ञानरूप आवरणके ही कारण रहती है। जब आवारक अज्ञान ही हट गया, तब चितिकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक होनेसे उसकी अन-भिव्यक्ति हो ही नहीं सकती, मेघावरणका विनाश कर वायु द्वारा की गई सूर्याभिव्यक्ति शरत्कालमें वायुके न रहनेपर क्या नष्ट हो जाती है? अर्थात् नहीं, सूर्याभिव्यक्ति बनी ही रहती है, बस यही न्याय प्रकृतमें है ॥ ३ ॥

जो कुछ भी यह उदित जगत् है, वह कुछ है ही नहीं, यहां यदि कुछ है, तो सब ब्रह्म ही है, अतः किससे क्या किस तरह जाना जाय ॥ ४ ॥

महाप्रलयसर्गादावेवेदं नोदितं जगत् ।
निर्देशस्त्विदमित्यत्र त्वद्बोधाय मया कृतः ॥ ५ ॥
उपादानात्मकादीनां कारणानामभावतः ।
अकारणं च भावानामशेषाणां त्वसम्भवात् ॥ ६ ॥
एवमज्ञानबुद्ध्यात्म जगत्तस्मान्न विद्यते ।
तस्माद्यदिदमाभाति भासनं ब्रह्म नेतरत् ॥ ७ ॥
अनाख्येऽनाकृतौ देवे करोतीदमिति त्वसत् ।
भाषितं नोपपत्त्यात्म न सत्यं नाऽनुभूयते ॥ ८ ॥

उक्त अर्थमें 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुतिका प्रमाणरूपसे उद्धरण करते हैं—'महाप्रलय०' इत्यादिसे ।

प्राकृत प्रलयके अनन्तर पुराण आदिमें प्रसिद्ध जो सृष्टि है, उस सृष्टिके आरम्भमें ही यह चित्त आदि जगत् उत्पन्न नहीं है, इसलिए मैंने 'यह चित्त-सा मालूम' पड़ता है, इत्यादिरूपसे जो कहीं-कहीं निर्देश किया है, वह केवल आपके बोधके लिए ही किया है ॥ ५ ॥

प्रकृत अर्थके साधनमें पूर्वोक्त युक्ति भी समर्थ है, यह कहते हैं—'उपादाना०' इत्यादिसे ।

उपादान आदि कारणरूपसे जो प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है, और जितने भावरूपसे प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है, इसलिए ब्रह्म कारण नहीं है और इस जगत्का भी कोई कारण नहीं है ॥ ६ ॥

यों अज्ञानजनित भ्रान्तिरूप ही जगत् है, इसलिए उसकी किसी कालमें सत्ता नहीं है । अतः यह जो दिखाई पड़ता है, वह भासनात्मक ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं ॥ ७ ॥

यदि सर्ग आदि वास्तवमें नहीं हैं, तो 'तदात्मानं स्वयमकुरुत', 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा', 'एकं बीजं बहुधा यः करोति', 'कर्ता भोक्ता महेश्वरः' इत्यादि श्रुति-स्मृति-वचनोंका प्रयोजन क्या ? यदि यह शङ्का हो, तो उसका समाधान यह है कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुतिमें अपेक्षित निषेध्यका समर्पण कर अद्वैततत्त्वका व्युत्पादन करना ही उनका प्रयोजन है, तत्त्वार्थता उनमें नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'अनाख्येऽ०' इत्यादिसे ।

जो देव नामरहित और रूपरहित है, उस ब्रह्मरूप देवके विषयमें कहना

अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः ।
स करोति जगदिति हासायैव वचोऽधियाम् ॥ ९ ॥
अनेनैव प्रयोगेण राजंश्चित्तं न विद्यते ।
जगदेव न सत्साधो कुतश्चित्तादि तद्गतम् ॥ १० ॥
चेतो हि वासनामात्रं वास्ये तु सति वासना ।
वास्यं जगत्तदेवासदतश्चित्तास्तिता कुतः ॥ ११ ॥
यदिदं कचति ब्रह्म स्वयमात्मात्मनात्मनि ।
कृतं तस्यैव तेनैव चित्तमित्यादिनामकम् ॥ १२ ॥

कि यह देव इस असदात्मक जगत्का जो निर्माण करता है वह न तो युक्त्यात्मक है, न सत्य है और वैसा न तो लोगोंका अनुभव है ॥ ८ ॥

जो स्वात्मा ईश्वर है, वह निराकार, अनाम और किसी दूसरेसे आहत न होनेवाला है, इसलिए वह जगत् करता है, इत्यादि जो तात्पर्यशून्य अर्थवादोंकी सर्वज्ञके विषयमें उक्ति है, वह केवल उपहासके लिए ही है ॥ ९ ॥

इस प्रकार जगदुत्पत्तिकी असिद्धि होनेपर प्रतिज्ञात अर्थकी सिद्धि अनायास सिद्ध है, यह कहते हैं—'अनेनैव' इत्यादिसे ।

हे राजन्, इसी प्रयोगसे चित्तका अस्तित्व नहीं रहता, हे साधो, जब जगत्का ही अस्तित्व है नहीं, तब जगत्के अन्तर्गत चित्तका अस्तित्व तो कैसे रह सकता है ॥ १० ॥

जगत्की असत्तामें विषयोंकी असत्तासे भी चित्तकी सत्ता नहीं है, यह कहते हैं—'चेतो हि' इत्यादिसे ।

चित्त तो वासनामात्ररूप है, वासना तब होती है, जब कि वास्य यानी वासनाका कर्म (विषय) रहे । परन्तु वासनाका कर्म जो जगत् है, वह तो स्वयं असत् है, अतः चित्तका अस्तित्व ही कहां ॥ ११ ॥

तब चित्तादिव्यवहारका विषय कौन है ? मायासे उपहित ब्रह्म ही है, यह कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

जो यह स्वयं ब्रह्मस्वरूप आत्मा अपने ही स्वरूपसे अपनेमें स्फुरित होता है, उसीके चित्त आदि नाम हैं और उसीने उनकी रचना भी की है ॥१२॥

जगद्दृश्यमिदं वास्यं तदेवोत्पन्नमेव नो ।
कारणाभावतः पूर्वमेवातश्चित्तता कुतः ॥ १३ ॥
अतश्चिद्व्योममात्रात्म परमाकाशनामकम् ।
स्फारं वेदनमेवेदं कचत्यस्ति कुतो जगत् ॥ १४ ॥
यत्किञ्चित्परमाकाश ईषत्कचकचायते ।
चिदादर्शेन जातत्वान्न चित्तं नो जगत्क्रिया ॥ १५ ॥
अहं त्वं जगदित्येषा प्रतिपत्तिर्न वास्तवी ।
मिथ्या स्वप्न इवाऽऽभाति नूनं मेऽशेषकारिणी ॥ १६ ॥
वास्यस्य जगतोऽभावाद्यतो नास्त्येव वासना ।
अतस्तदात्मकं चित्तं कीदृशं क्व कुतः कथम् ॥ १७ ॥

'चेतो हि वासनामात्रम्' इत्यादि श्लोककी व्याख्या करते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

पहले तो कारणके अभावसे ही यह दृश्य वासनाका विषय जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है, अतः चित्तरूपता आई कहाँसे ? ॥ १३ ॥

'यदिदं कचति' इत्यादि श्लोकका भी, परमार्थदृष्टिसे उसके फल-वर्णनमें तात्पर्य है, यों व्याख्यान करते हैं—'अत०' इत्यादिसे ।

अतः केवल चिदाकाशस्वरूप परमाकाशनामक विशुद्ध विज्ञान ही यह स्फुरित हो रहा है, इसलिए जगत्की सत्ता कहाँसे आई ॥ १४ ॥

मायातत्त्वदृष्टिसे भी उसकी व्याख्या करते हैं—'यत्किञ्चित्' इत्यादिसे ।

परमाकाशस्वरूप चितिदर्पणमें जो कुछ अनिर्वचनीय मायारूप थोड़ा-सा स्फुरित हो रहा है, वह चिदादर्शके कारण ही उत्पन्न है, अतः असलमें न चित्त है और न जगत्-क्रिया है ॥ १५ ॥

समस्त अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाली अहम्, त्वम्, जगत् इत्यादि जो यह प्रतिपत्ति (ज्ञान) होती है, वह वास्तविक नहीं है, किन्तु साक्षीरूप मुझमें स्वप्नके सदृश मिथ्यारूप ही भासती है ॥ १६ ॥

चूँकि वासनाके विषय जगत्की असत्ता होनेसे वासनाकी सत्ता नहीं है, इसलिए वासनात्मक चित्त ही कैसा, कहाँ, किससे और किस तरहसे हो सकता है ॥ १७ ॥

अप्रबुद्धैरवगतं चित्तं दृश्यमिदं जगत् ।
असच्चित्तं निराकारं पूर्वमुत्पन्नमेव नो ॥ १८ ॥
नोत्पन्नं कारणाभावात्सर्गादावेव सर्वदा ।
लोकशास्त्रानुभवतो न च दृश्यस्य वस्तुनः ॥ १९ ॥
अनादित्वमजत्वं वा स्थैर्यं वाऽप्युपपद्यते ।
साकारस्याऽस्य जगतः स्थूलस्य प्रतिघाकृतेः ॥ २० ॥
समस्तकारणाभावाल्लोकशास्त्रानुभूतिभिः ।
युज्यन्ते च निराकर्तुं न महाप्रलयादयः ॥ २१ ॥
शास्त्रानुभववेदार्थसिद्धान्तैस्ते त्रयोऽपि वा ।
प्रलयाश्च न सन्तीति वक्त्युन्मत्तक एव च ॥ २२ ॥
लोकशास्त्राणि वेदाश्च प्रमाणं यस्य नो मतेः ।
असद्ध्यो ह्यतिमूढः स सज्जनस्तं न संश्रयेत् ॥ २३ ॥

जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं है, वे ही चित्त और इस दृश्य जगत्को सद्रूप जानते हैं, वस्तुतः चित्त असत् है, उसका कोई आकार नहीं है और न पहले उत्पन्न ही हुआ है ॥ १८ ॥

चित्त इसलिए पहले उत्पन्न नहीं हुआ कि सर्गके आरम्भमें ही उसे पैदा करनेवाला कोई कारण न था । अपि च लोक, शास्त्र और अनुभवसे दृश्य वस्तुमें अनादिता, अजता और स्थिरताकी उपपत्ति कभी हो नहीं सकती । साकार, स्थूल तथा प्रतिघातयोग्य आकृतिवाले इस जगत्के लोक, शास्त्र और अनुभवसे सिद्ध जो ये महाप्रलय आदि यानी प्रलयान्त विकार हैं, उनका निराकरण करना योग्य नहीं है, क्योंकि निराकरण करनेमें उपपादक जो हेतु हो सकते हैं, वे हैं ही नहीं ॥ १९–२१ ॥

शास्त्र, अनुभव और वेदार्थ सिद्धान्तोंके ऊपर दृष्टिपात करनेसे वे प्राकृत आदि तीन प्रलय हैं ही नहीं, यह कहनेवाला उन्मत्त ही हो सकता है ॥ २२ ॥

जिसकी बुद्धिमें लोक, शास्त्र और वेद प्रमाण नहीं हैं, वह केवल लोकका आश्रयण करनेवाले असत् चार्वाक आदिसे भी अत्यन्त मूर्ख है, अतः सज्जनको उसका कभी अवलम्बन नहीं करना चाहिए ॥ २३ ॥

न च सप्रतिघस्याऽस्य दृश्यस्याऽप्रतिघं क्वचित् ।
कारणं भवितुं शक्तं साकारस्य निराकृति ॥ २४ ॥
इत्थमालक्ष्यमाणं तत्तदेवं सततं मुने ।
न च नाऽर्थक्रियाकारि भवेन्नेत्थमिदं जगत् ॥ २५ ॥
तस्मादिदं निरंशस्य चिद्व्योम्नोऽप्रतिघाकृतेः ।
निराकृतेरनन्तस्य पूर्वात्पूर्वनिरंशतः ॥ २६ ॥
ब्रह्मणः सर्वरूपस्य शान्तस्याऽऽत्तस्य यत्समम् ।
स्वत एवाऽऽत्मकचनं सर्गप्रलयरूपधृक् ॥ २७ ॥

तब श्रुतिमें उक्त ब्रह्मकारणतापक्षका ही अवलम्बन कीजिए, इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

साकार तथा प्रतिघातयुक्त इस दृश्य जगत्का कहींपर भी निराकार प्रतिघात-शून्य ब्रह्म कारण नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

निराकार ब्रह्ममें कारणत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका तात्पर्य 'तद-नन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इत्यादि बादरायणन्यायसे जगत् तत्त्वतः ब्रह्मरूप ही है, इस अर्थमें पहले कहा ही जा चुका है । इस तरह ब्रह्मरूपसे लक्ष्यमाण जगत् व्यवहारमें, मूर्तरूपताका विनाश न होनेसे, अर्थक्रियामें समर्थ है ही, इसलिए लोकविरोध नहीं हो सकता । परमार्थसे तो ब्रह्मरूप ही जगत् है, मूढ-दृष्टिवालोंके मतमें प्रसिद्ध जो उसका रूप है, तद्रूप नहीं, अतः वेदविरोध भी नहीं है, इस आशयसे कहते हैं —'इत्थ०' इत्यादिसे ।

हे मुने, इस तरह अप्रसिद्धरूपसे (अकारणत्वादिरूपसे) लक्ष्यमाण ब्रह्म सदा ही तत्स्वरूप है । इस तरह सिद्धान्त होते हुए भी व्यवहारमें जगत् अर्थक्रियामें समर्थ नहीं है, यह भी नहीं है और परमार्थमें जगत् ब्रह्मरूप नहीं है, यह भी नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

अब समस्त सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियोंका और 'नेति नेति' इत्यादि सृष्टि-निराकरण करनेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य, मिलाकर, कहते हैं—'तस्मादिदम्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

इससे अंशशून्य, प्रतिघातरहित, चिदाकाश, निराकार, अनन्त, पूर्वसे पूर्व होते हुए भी निरंश, पूर्णस्वभाव, सदाप्राप्त ब्रह्मका—जो यह समस्वरूप स्वतः

स्वकं वपुश्च तेनैव ज्ञातं जगदिव क्षणात् ।
क्षणान्तरात्तु बुद्धं सद्ब्रह्मैवाऽऽस्ते निरात्मनि ॥ २८ ॥

ब्रह्मैवेदमतः सर्वं क्वचिन्न जगदादिधीः ।
क्वाऽचित्तादि क्व चित्तादि क्व द्वैतैक्यादिकल्पना ॥ २९ ॥

सर्वं निरालम्बमजं प्रशान्त-
मनादिरित्यात्म यथास्थितं सत् ।
इदं तु नानेव न चाप्यनाना
यथास्थितं तिष्ठ सुकाष्ठमौनम् ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजावबोधनं नाम अष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥



अपना कथन है, वह अपना स्वरूप ही सर्ग-प्रलयरूपधारी जगत्के रूपमें जबतक अज्ञान रहता है तबतक जाना जाता है, यह सृष्टि-श्रुतियोंका तात्पर्य है और वही एकक्षणके बाद 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रोंके अनुसार ज्ञात हुआ सत् ब्रह्मरूप होकर द्वैत-निर्मुक्त स्वभावमें स्थित हो जाता है, यह सृष्टिनिराकरण करनेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य है ॥ २६–२८ ॥

शास्त्रीय बोधसे सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, न तो कहीं जगत् आदिका ज्ञान है, न कहीं चित्तका अभाव है, न कहीं चित्त आदि हैं और न कहीं द्वैत-ऐक्य आदिकी कल्पना ही है ॥ २९ ॥

उस प्रकार जाना गया समस्त जगत् उपद्रवनिर्मुक्त होकर निराधार, अजन्मा, अनादि, स्वात्मरूप यथास्थित सद्ब्रह्मरूप ही हो जाता है । यह जो अज्ञानियों द्वारा देखे गये रूपसे युक्त जगत् है, वह न नाना है और न अनाना ही है, अतः यथास्थितका व्यवहार कर रहे आप उत्तम काठके सदृश वाग् आदि व्यापारोंसे निर्मुक्त होकर स्थित रहिए ॥ ३० ॥

अट्ठानबे सर्ग समाप्त

नवनवतितमः सर्गः

शिखिध्वज उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्महामुने ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहो विश्रान्तमतिरात्मवान् ॥ १ ॥
ज्ञातज्ञेयो महामौनी तीर्णमायामहार्णवः ।
शान्तोऽहमनहंरूपो ज्ञः स्थितोऽस्मि निरामयः ॥ २ ॥
अहो नु सुचिरं कालं प्रभ्रान्तोऽहं भवाम्बुधौ ।
स्थानमक्षयमक्षुब्धमधुना प्राप्तवानहम् ॥ ३ ॥
एवं स्थिते मुने नास्ति साहन्तादिजगत्त्रयम् ।
मूर्खबुद्धमिदं भाति यत्तद्ब्रह्मेति वेद्म्यहम् ॥ ४ ॥

निनानबे सर्ग

[स्थूणानिखनन न्यायसे बोधको सुदृढ़ बनानेके लिए प्रबुद्ध हुए भी राजा शिखिध्वजको कुम्भ द्वारा पुनः बोधित करना]

इस तरह बोधित हुए राजा शिखिध्वज—उपदेशजन्य ज्ञानसे सम्पूर्ण सन्देह आदिका बीज मेरा अज्ञान नष्ट हो गया—यों शब्दोचारण कर दिखलाते हैं—'नष्टो' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे महामुने, आपकी दयासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे स्मृति (विस्मृत हुए आत्माका साक्षात्कार) लब्ध हो गई, मेरा सन्देह दूर हो गया; मेरी बुद्धि विश्रान्त हो गई, मैं आत्मवान् होकर अब स्थित हूँ ॥ १ ॥

भगवन्, अब मैंने ज्ञेय वस्तुका ज्ञान कर लिया, महामौनी हो गया, मायारूपी महासमुद्रको पार कर गया; अब मैं शान्त हूँ, मैं अहङ्कारस्वरूप नहीं हूँ, आत्मज्ञानी बनकर सर्वविध विकारोंसे शून्य होकर अवस्थित हूँ ॥ २ ॥

अहो, अति चिरकाल तक मैं भवसागरमें परिभ्रमण करता रहा, परन्तु अभी मैं अक्षुब्ध अक्षय स्थानको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ३ ॥

हे मुने, इस तरह अवस्थित होनेपर मूर्खोंसे अवबुद्ध अहन्तासहित ये तीनों

कुम्भ उवाच

जगदेव न यत्राऽऽस्ते तत्राऽहं त्वं विभासनम् ।
इत्थमम्बरसंसारः क्व: कुतः कीदृशः कथम् ॥ ५ ॥
यथास्थितव्यवहृतिर्मौनी शान्तमना मुनिः ।
सौम्यार्णवोदरावर्तपरिस्पन्दवदास्स्व भोः ॥ ६ ॥
ब्रह्मरूपमिदं शान्तमित्थमस्ति यथास्थितम् ।
अहं जगदिदं चेति शब्दार्थात्म नभोमयम् ॥ ७ ॥
इदमाद्यन्तरहितं सर्वसंसारनामकम् ।
चिच्चमत्कृतिनामात्म नभः कचकचायते ॥ ८ ॥
सन्निवेशदृशः शान्तौ तदस्ति कनकं यथा ।
जगदाद्यर्थसंशान्तौ ब्रह्मेदं विद्यते तथा ॥ ९ ॥

जगत् नहीं हैं। जो कुछ यह भासित हो रहा है उसे मैं भ्रमरूप ही जानता हूँ ॥ ४ ॥

राजा शिखिध्वज द्वारा कही गई बातोंका अनुमोदन कर रहे कुम्भ ऋषि कहते हैं—'जगदेव' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे राजन्, आपका कथन सत्य है। जिस चिदाकाशमें यह जगत् ही नहीं है वहाँ इस तरहका 'अहं त्वम्' आदि भानात्मक गन्धर्व-नगर-व्यवहार कैसा ? कहाँ, किस निमित्तसे और किस प्रकार हो सकता है ॥ ५ ॥

हे राजन्, आप यथाप्राप्त व्यवहार करते हुए शान्तमना, मौनी मुनि बनकर प्रशान्त सागरके उदरमें शान्त हुए आवर्तपरिस्पन्दनके सदृश अवस्थित रहिये ॥६॥

यह सब यथास्थित शान्त ब्रह्म-स्वरूप ही इस तरह अवस्थित है। मैं और यह सब जगत्-शब्दार्थस्वरूप आकाशमय ही है यानी शून्य ही है ॥ ७ ॥

यह सब संसार आदि और अन्तसे शून्य चिच्चमत्कृतिनामक जो आत्म-स्वरूप आकाश है वही अपने चाकचक्यसे दीपित हो रहा है ॥ ८ ॥

जैसे कुण्डल आदि रचनाविशेषदृष्टिके शान्त हो जानेपर सुवर्णमात्र अवशिष्ट रह जाता है वैसे ही जगदादि अर्थोंके शान्त हो जानेपर एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ९ ॥

यथा स्वयम्भूः सङ्कल्पः स्वयं नाम तथैव हि ।
एतौ स्ववेदनायत्तौ बन्धमोक्षौ व्यवस्थितौ ॥ १० ॥
अहमित्येव सङ्कल्पो बन्धायाऽतिविनाशिने ।
नाऽहमित्येव सङ्कल्पो मोक्षाय विमलात्मने ॥ ११ ॥
यद्बन्धमोक्षसङ्कल्पशब्दार्थानां सदा सताम् ।
स्वरूपवेदनं तत्सत्केवलत्वं च कथ्यते ॥ १२ ॥
अनहंवेदनं सिद्धिरहंवेदनमापदः ।
सोऽहमेवाऽनहमिति शुद्धबोधो भवाऽऽत्मवान् ॥ १३ ॥
असङ्कल्पनमात्रेण सम्यग्ज्ञानोदयात्मना ।
सङ्कल्पः क्षीयते सिद्ध्यै स्वयमेवाऽसदात्मकः ॥ १४ ॥

जैसे समष्टि-अहङ्कारात्मक स्वयम्भू सङ्कल्पमात्र हैं वैसे ही स्वयं व्यष्टि-अहङ्कार भी सङ्कल्पमात्र है। समष्टि और व्यष्टिका बन्ध और मोक्ष—ये दोनों क्रमशः अभिमान और अभिमान-परित्यागसे जनित आत्म-वेदनके अधीन होकर व्यवस्थित हैं ॥ १० ॥

उसीको स्पष्टरूपसे बतलाते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

'देह आदि मैं हूँ' इस तरहका सङ्कल्प अत्यन्त विनाशी बन्धनके लिए होता है तथा 'देहादिरूप मैं नहीं हूँ' इस तरहका सङ्कल्प विमलात्मक मोक्षके लिए होता है ॥ ११ ॥

मोक्ष क्या है, यह कहते हैं—'यद्बन्ध०' इत्यादिसे ।

सदा क्रमशः हो रहे बन्ध-मोक्ष तथा सङ्कल्पादि शब्दार्थोंका साक्षिभूत जो स्वरूप-ज्ञान है वही सद्ब्रह्म और कैवल्य कहा जाता है ॥ १२ ॥

अहङ्कारज्ञानका अभाव मोक्ष है तथा अहङ्कारज्ञान ही बन्ध है। इसलिए हे राजन्, 'मैं वह ब्रह्म ही हूँ, अहं पदार्थ मैं नहीं हूँ' इस तरहके शुद्ध कैवल्यात्मक बोधसे युक्त होकर आत्मवान् बन जाइये ॥ १३ ॥

शुद्ध कैवल्यात्मक बोध सङ्कल्पके क्षयसे सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'असङ्कल्पन०' इत्यादिसे ।

सम्यग् ज्ञानोदयमें हेतुभूत सङ्कल्पके त्यागमात्रसे मोक्षकी सिद्धिके लिए असदात्मक सङ्कल्प अपने आप ही नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

अप्रतर्क्ये स्वरूपे हि नास्ति कारणता शिवे ।
कारणाभावतः कार्यपदार्थोऽपि न विद्यते ॥ १५ ॥
पदार्थाभावसंसिद्धौ वेदनं नोपपद्यते ।
कारणाभावतो नित्यमहम्भावस्य नोदयः ॥ १६ ॥
अहम्भावानुदयतः संसारः कस्य कीदृशः ।
संसाराभावतः सर्वं परमेवाऽवशिष्यते ॥ १७ ॥
यदिदं भासते तत्सत्परमेवाऽऽत्मनि स्थितम् ।
परं परे परापूर्णं सममेव विजृम्भते ॥ १८ ॥
तेन निस्तिमितं सर्वं शिलाकीर्णमिवाऽचलम् ।
विद्धि रश्मिमयाकारमिव ब्रह्म जगत्स्थितम् ॥ १९ ॥

शुद्ध ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, इससे दृश्य पदार्थोंका अभाव है—दृश्य पदार्थोंका अभाव निश्चित होनेसे सङ्कल्पका क्षय हो जाता है, सङ्कल्पके क्षयसे अहम्भावका क्षय हो जाता है और अहम्भावके क्षयसे जीवभावादिरूप संसारका क्षय हो जाता है; उसके बाद एकमात्र ब्रह्म अवशिष्ट रह जाता है, इस क्रमको बतलाते हैं—'अप्रतर्क्ये' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

अप्रतर्क्यस्वरूप शिवमें कारणता नहीं है, कारणके अभावसे कार्य पदार्थ भी नहीं है, कार्य पदार्थोंके अभावकी सिद्धि होनेपर उनका ज्ञान (सङ्कल्प) सिद्ध नहीं है और सङ्कल्परूप कारणके अभावसे अहम्भावका भी उदय नहीं हो सकता । अहम्भावका उदय न होनेसे किसका कैसा संसार ? और संसारके अभावसे सर्वात्मक केवल परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ १५–१७ ॥

ज्ञानसे पहले भी जो यह जगद्रूपसे अवभासित होता था वह परमार्थरूपसे ब्रह्म ही उस तरहसे अवस्थित था । तत्त्वबोधसे कोई अपूर्व नहीं प्रकट होता, किन्तु परब्रह्मस्वरूप स्वभावमें स्थित परब्रह्म ही परब्रह्मसे अपूर्व स्वरूप ही प्रकट होता है ॥ १८ ॥

उस (सदैकरूपत्व) हेतुसे जो सर्वात्मक वस्तु है, वह वज्रशिलासे निबिडित (परिपूर्ण) यानी वज्रशिलाके उदरकी नाईं दृढ़ और स्थिर है, उसमें स्थित जो जगत् है, उसे वज्रमणिके रश्मिमय हजारों प्रतिबिम्बोंके आकारोंके सदृश जानिये ॥१९॥

पुरः सङ्कल्पके नष्टे सङ्कल्पनगरस्य यत् ।
रूपं तद्विद्धि जगतः खादच्छं सदसन्मयम् ॥ २० ॥
छायापुरुषवत्स्पन्दि शान्तं निर्मननं जगत् ।
जगच्छब्दार्थरहितं यः पश्यति स पश्यति ॥ २१ ॥
रूपालोकमनस्कारा नीरसागमभावना ।
सम्यग्ज्ञानावबोधस्य निर्वाणं वै विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥
यथाऽस्ति वातो निःस्पन्दो यथाऽस्ति खगतोऽपि वा ।
यथा हेमासन्निवेशमस्ति ब्रह्म जगत्तथा ॥ २३ ॥
नीरसा असदाभासा जगत्प्रत्ययकारिणः ।
रूपालोकमनस्काराः सन्तीमे ब्रह्मरूपिणः ॥ २४ ॥

अब वह मुक्तिमें कैसे स्थित है, उसे कहते हैं—'पुरः' इत्यादिसे ।

सङ्कल्पके नष्ट हो जानेपर सामने स्थित सङ्कल्पनगरका जो रूप रहता है उसे आप आकाशसे भी बढ़कर अत्यन्त स्वच्छ सदसन्मय इस जगत्‌का रूप समझिये ॥ २० ॥

तब अचल ब्रह्ममें जगत्-स्पन्दनका प्रत्यय कैसे होता है, इसपर कहते हैं—'छाया०' इत्यादिसे ।

जैसे वज्रशिलाके उदरमें प्रतिबिम्बात्मक पुरुष स्पन्दनशील न होता हुआ भी स्पन्दित होता है वैसे ही स्पन्दनशील, मनन-रहित शान्त और जगत्-शब्दार्थसे रहित इस जगत्‌को जो देखता है वही देखता है ॥ २१ ॥

सम्यग् ज्ञानका उदय होनेपर बाह्य रूपदर्शन तथा आन्तरिक मानसिक कल्पनाएँ निःसार हैं, ऐसी आगमप्रमाणसे उत्पन्न जो स्थिर भावना उत्पन्न होती है उसीको विद्वान् लोग निर्वाणकी हेतु होनेसे निर्वाण (मोक्ष) कहते हैं ॥२२॥

'जगच्छब्दार्थरहितं यः पश्यति स पश्यति' यह जो कहा है उसकी दृष्टान्त-पूर्वक व्याख्या करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे स्पन्दशून्य वायु, दीपादि आकारविशेषसे शून्य आकाशगत प्रकाश अथवा कटक आदि रचनाविशेषसे शून्य सुवर्ण है वैसे ही जगत् भी किसी रचनाविशेषसे शून्य ब्रह्म ही है, ऐसी सम्भावना अवश्य करनी चाहिए ॥ २३ ॥

'रूपालोकमनस्काराः' इसकी भी व्याख्या करते हैं—'नीरसाः' इत्यादिसे ।

ऊर्मिशब्दार्थरहितं यादृगम्बु बहून्यपि ।
सर्गशब्दार्थरहितं तादृग्ब्रह्म निसर्गवत् ॥ २५ ॥
सर्ग एव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गदृक् ।
सर्गशब्दार्थरहितो वाक्यार्थस्त्वेष शाश्वतः ॥ २६ ॥
ब्रह्मशब्दार्थसम्पत्तौ सर्वशब्दार्थधीः कृता ।
सर्गशब्दार्थसंसिद्धौ ब्रह्म शब्दार्थधीः कृता ॥ २७ ॥
समस्तशब्दशब्दार्थभावनाभावनोदयम् ।
शुद्धं तिष्ठति चिद्व्योम ब्रह्मशब्देन कथ्यते ॥ २८ ॥

बोधसे ब्रह्मरूप जगत्‌के ये बाह्य रूपदर्शन तथा आन्तरिक मानसिक कल्पनाएँ, जो जगत्‌की प्रतीति करानेवाली हैं; नितान्त नीरस असद्रूपसे अवभासित हो जाती हैं ॥ २४ ॥

जिस तरह समुद्रमें अनेक भी तरङ्ग आदि तरङ्गशब्दार्थसे रहित जलमात्र ही हैं; उसी तरह बहुत-सी वस्तुएँ ज्ञानका उदय होनेपर सर्गशब्दार्थसे रहित सर्गशून्य एकमात्रब्रह्म ही हैं ॥ २५ ॥

'सर्ग' शब्दके अर्थभूत भेदका बाध हो जानेपर सृष्टि और परब्रह्ममें ऐक्य ही भासित होता है, इसको व्यतिरेकसे दृढ़ करते हैं—'सर्ग एव' इत्यादिसे ।

यह सृष्टि ही सृष्टिशब्दके अर्थसे (भेदसे) रहित परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है,' क्योंकि यही शाश्वत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसी श्रुतिका वाक्यार्थ है ॥ २६ ॥

सबका उपबृंहण करता है, इसलिए 'ब्रह्म' है, इस प्रकार ब्रह्मशब्दकी अर्थसम्पत्ति होनेपर ही लोकमें सर्गशब्दार्थकी बुद्धि की गई है और सर्गशब्दार्थकी संसिद्धि होनेपर यानी सर्ग—नाम और रूपका विसर्ग (त्याग)—इस तरह सर्गशब्दार्थकी सम्पत्ति होनेपर त्रिविध परिच्छेदकी निवृत्ति हो जानेसे 'बृह' धातुके अनुसार ब्रह्मशब्दका अर्थ निकलता है, इसलिए सर्गशब्द और ब्रह्मशब्द दोनों एकार्थक ही हैं ॥ २७ ॥

तब अशब्द वस्तुमें ब्रह्मशब्दकी प्रवृत्ति कैसे होती है, इसपर कहते हैं—'समस्त०' इत्यादिसे ।

सम्यग्दर्शनसंसिद्धावुभयोरप्यवेदने ।
यच्छिष्टमजरं शान्तं ततो वाग्विनिवर्तते ॥ २९ ॥

स शान्तसर्वात्मकवेदनौघ-
मस्तीदमेकात्मकस्वस्वरूपम् ।
यथास्थितं सर्वजगत्स्वरूपं
पाषाणरूपं च परं ज्ञरूपम् ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजावबोधनं नाम नवनवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥



समस्त शब्दभावना और समस्त शब्दार्थभावनासे अभिव्यक्त शुद्ध चिदाकाश ही अवस्थित रहता है वही ब्रह्मशब्दसे कहा जाता है। थोड़े भी परिच्छेदका स्वीकार कर लेनेपर 'बृह' धातुके अर्थमें संकोच हो जायगा, अतः अशब्द शब्दसे जैसे कहा जाता है वैसे ही ब्रह्मशब्दसे भी वही कहा जाता है, यह भाव है ॥ २८ ॥

अथवा जगत्-शब्दके सदृश ब्रह्मशब्दका जो वाच्यभूत अर्थ है उसको जान लेनेके बाद लक्षणा द्वारा अखण्डार्थरूप सम्यग्ज्ञान सिद्ध हो जानेपर जो अवशिष्ट अज, शान्त आत्मवस्तु रहती है उससे ब्रह्मशब्दादि वाणी भी निवृत्त हो जाती है ॥ २९ ॥

हे राजन्, तत्त्वज्ञान हो जानेपर यह समस्त जगत्स्वरूप जो यथास्थित है, वह अतिदृढ़ वज्रपाषाणरूप परब्रह्मस्वरूप ही है। और जिस दशामें अज्ञानके कारण 'मैं सर्वात्मक हूँ' यह ज्ञान नहीं हुआ, उस दशामें भी एकात्मक स्वस्वरूप होकर रहता ही है, इसलिए ब्रह्म और जगतकी एक ही सत्ता है ॥ ३० ॥

निनानबे सर्ग समाप्त

शततमः सर्गः

शिखिध्वज उवाच

एवं चेत्तन्महाबुद्धे यादृशं कारणं परम् ।
कार्यं तादृशमेवेदं जगदित्येव वेद्म्यहम् ॥ १ ॥

कुम्भ उवाच

यत्र कारणता तस्य कार्यं तदुपपद्यते ।
यन्न कारणमेवाऽऽदौ तस्मात्कार्यं कुतो भवेत् ॥ २ ॥
नेहाऽस्ति कारणं किञ्चिन्न च कार्यं कदाचन ।
विद्यमानमिदं सर्वं सर्वं शान्तमजं जगत् ॥ ३ ॥

सौ सर्ग

[ब्रह्मसत्तासे ब्रह्मके सदृश जगत्‌की पृथक् सत्ताका निषेध तथा जन्म आदि विकारोंसे रहित ब्रह्मकी स्वतः सत्ताका विधान]

यदि ब्रह्म और जगत् इन दोनोंकी एक ही सत्ता है तब उसी सत्तासे ब्रह्मकी नाईं जगत् भी परमार्थ सत्य क्यों नहीं होगा, मिथ्या वस्तुके कारणका तो निरूपण अत्यन्त कठिन है, परन्तु सत्य वस्तुका तुल्यस्वरूप होनेके कारण ब्रह्म कारण हो सकता है, यों राजा शिखिध्वज आशङ्का करते हैं—'एवं चेत्त०' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे महाबुद्धे, यदि ऐसी बात है तो जिस तरह परब्रह्मरूप कारण सत्य है वैसे ही यह जगत् कार्य भी सत्य है, यह मैं जानता हूँ ॥ १ ॥

कुम्भने कहा—हे राजन्, जिसमें कारणता है उसका वैसा कार्य हो सकता है। परन्तु जो निर्गुण ब्रह्म है वह तो पहलेसे ही कारण नहीं है, फिर उससे कार्य होगा ही कैसे ॥ २ ॥

ठीक है, तब निर्विशेष ब्रह्ममें स्थित मायाशबल ही जगत्‌का कारण है, यदि ऐसा कहें, तो इसपर कहते हैं—'नेहाऽस्ति' इत्यादिसे ।

इस निर्विशेष ब्रह्ममें कोई मायाशबल कारण और कोई उसका कार्य जगत् किसी समय है ही नहीं। मायादृष्टिसे ही माया, मायाशबल और उसके कार्योंकी

जायते कारणात्कार्यं यत्तत्कारणवद्भवेत् ।
यन्न जायत एवेह तस्मिन् सदृशता कुतः ॥ ४ ॥
बीजमेव न यस्याऽस्ति तत्कथं वद जायते ।
अप्रतर्क्यमनाख्यं च यत्तस्य क्वेव बीजता ॥ ५ ॥
देशकालवशात्सर्वे हेतुमन्तः प्रमाणगाः ।
अकर्तृब्रह्मविषयः प्रमा कारणयोः कथम् ॥ ६ ॥

स्थिति रहती है। परमार्थदृष्टिसे तो यह सम्पूर्ण विद्यमान जगत् सर्वात्मक शान्त और अज ही है । इस विषयमें वार्तिकमें कहा गया है—'अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते । ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते ॥ यानी अविद्या है, यह भी अविद्यामें रहकर ही कल्पना की जाती है, ब्रह्मदृष्टिसे तो यह अविद्या किसी तरह युक्तिसिद्ध हो ही नहीं सकती ॥ ३ ॥

अजन्मा होनेसे इसमें सादृश्यप्रसक्ति अवश्य होगी, यह कहते हैं—'जायते' इत्यादिसे ।

जो कार्य कारणसे उत्पन्न होता है वह कारणके सदृश होता है । जो यहाँ उत्पन्न ही नहीं होता, उसमें भला सादृश्य आयगा ही कहाँसे ॥ ४ ॥

उत्पन्न क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'बीजमेव' इत्यादिसे ।

हे राजन्, भला आप बतलाइये तो सही, जिसका कोई बीज है ही नहीं, वह उत्पन्न कैसे होगा ? [बीजके अभावसे वही बीज क्यों नहीं होगा, इसपर कहते हैं—'अप्रतर्क्य०' से] हे राजन्, जो वस्तु अप्रतर्क्य और अगम्य है, उसमें बीजता ही कहाँ ठहरेगी ॥ ५ ॥

उसमें बीजादि हेतुओंका अभाव कैसे है, यदि ऐसी शङ्का हो, तो इसका उत्तर यह है कि प्रमाणसे सिद्ध उसके उचित देश और काल नहीं हैं, इसीको कहते हैं—'देशकाल०' इत्यादिसे ।

देश और कालके वशसे सभी पदार्थ कारणसे युक्त और प्रमाणसे गम्य होते हैं । [तब तो ब्रह्मविषयक प्रमामें ही निमित्त और उपादान कारण विषय रहें; तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि विरोध है, यह कहते हैं—'अकर्तृ०' से] जिस प्रमाणका कर्ता आदि कारकमात्रका विरोधी ब्रह्म विषय है, उससे हेतु और उपादान कारणकी प्रमा उत्पन्न होती है, यह कैसे बोल सकते हैं ॥ ६ ॥

अकर्तृकर्मकरणे नास्ति कारणता शिवे।
तस्मात्तत्कारणं नास्ति जगच्छब्दार्थवेदनम् ॥ ७॥
ब्रह्मैव त्वं स्वरूपं सद्यत्स्थितं धारयस्व तत्।
असम्यग्दर्शिविषयं तदेव जगदाचितम् ॥ ८॥
चिन्मात्रमजरं शान्तं यदेकं तत्प्रमीयते।
तेनैवाऽयं जगद्ब्रह्म सच्छान्तं बुध्यते वपुः ॥ ९॥
अन्यथैव च यो भावश्चेतसः पृथिवीपते।
स एव नाशः कथितः स्वानुभूतश्च पण्डितैः ॥ १०॥
चित्तं नाशस्वभावं तद्विद्धि नाशात्मकं नृप।
क्षणनाशो यतः कल्पचिरशब्देन कथ्यते ॥ ११॥

चूँकि कर्ता, कर्म और कारणशून्य परमशिवमें कारणता नहीं है, इसलिए जगत् शब्दार्थज्ञानका वह कारण नहीं है ॥ ७ ॥

अतएव हे राजन्, शुद्ध आकाशसदृश, सदात्मक निर्विशेष जो ब्रह्मवस्तु स्थित है उसीको आप अपने हृदयमें 'मैं वही शुद्ध ब्रह्म हूँ' यों तत्त्वदृष्टिसे धारण कीजिये। वही असम्यग् दर्शियोंका विषय असीम जगत् है ॥ ८ ॥

चिन्मात्ररूप प्रमासे ही यह जगद्-ब्रह्मरूप बन जाता है और अतत्त्वाकार मनकी भ्रान्तिसे ब्रह्म जगद्रूप बन जाता है, यह कहते हैं—'चिन्मात्र०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

चिन्मात्र अजर शान्त जो एक वस्तु है वही प्रमाकी विषयकी जाती है, उसीसे यह जगत् सत्, शान्त ब्रह्मरूप जाना जाता है [तथा ब्रह्म ही अतत्त्वाकार मनकी भ्रान्तिसे जगद्रूपसे अवबुद्ध होता है] ॥ ९ ॥

हे पृथिवीपते, चित्तका जो अन्यथाभाव है वही ब्रह्मस्वरूपहानि कही गयी है, जो पण्डितोंसे स्वानुभूत है ॥ १० ॥

उसीको स्पष्ट बतलाते हैं—'चित्तम्' इत्यादिसे।

हे नृप, नाशस्वभाव उस चित्तको नाशात्मक जानिये, क्योंकि क्षणभरके लिए भी आत्मस्वरूपविस्मरणरूप वह नाश कल्पकालपर्यन्त विस्मृत चित्तशब्दसे कहा जाता है ॥ ११ ॥

असङ्कल्पनमात्रेण सम्यग्ज्ञानोदयात्मना ।
सङ्कल्पः क्षीयते सिद्ध्यै स्वयमेवाऽसदात्मकः ॥ १२ ॥
नाम्नैवाऽङ्गीकृताभावं यदि विश्वं हि कथ्यते ।
विद्यमानं कथं तत्स्यान्नु तामरसेक्षण ॥ १३ ॥
हस्तावुत्क्षिप्य यो ब्रूते शूद्रोऽस्मीति भृशं गिरा ।
कथं स विप्रो भवति विप्रत्वं त्वस्य कीदृशम् ॥ १४ ॥
विवृत्तधातुरत्युच्चैर्मृतोऽस्मीति विरौति यः ।
मृतिमेवागतं विद्धि जीवनं तस्य संभ्रमः ॥ १५ ॥

असङ्कल्प द्वारा पर्यवसित तत्त्वज्ञानसे वह चित्त नष्ट हो जाता है, यह कहते हैं—'असङ्कल्पन०' इत्यादिसे ।

सम्यग् ज्ञानोदयके हेतुभूत असङ्कल्पमात्रसे असदात्मक सङ्कल्पस्वरूप चित्त स्वयं ही मोक्षसिद्धिके लिए क्षीण हो जाता है ॥ १२ ॥

ठीक है, सङ्कल्पका नाश हो जाय, फिर भी विश्वकी निवृत्ति कैसे होगी, यदि ऐसी आशङ्का की जाय, तो उसका उत्तर यह है कि मिथ्या होनेसे ही । 'विशति परमात्मन्येकीभवति न वस्त्वन्तरतयाऽवतिष्ठत इति विश्वम्' (जो परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है—एकरूपसे मिल जाता है, न कि किसी दूसरी वस्तुके रूपसे रहता है उसका नाम है—विश्व) ऐसे विश्वशब्दके निवर्चनको हृदयमें रखकर कहते हैं—'नाम्नैवा०' इत्यादिसे ।

अपने अधिष्ठान ब्रह्ममें प्रविष्ट होनेवाला, यह विश्वशब्दका अर्थ है—इसके अनुसार यदि अपने नामसे ही अपना अभाव स्वीकार करनेवाला यह विश्व कहा जाता है, तो हे कमलनेत्र, [आप बतलाइये तो सही] यह विद्यमान कैसे हो सकता है ॥ १३ ॥

इसमें लोकवृत्तको प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हैं—'हस्ता०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे राजन्, दोनों हाथ उठाकर जो ऊँचे स्वरसे बार-बार यह कहता है कि मैं शूद्र हूँ, वह भला विप्र कैसे हो सकता है और उसका विप्रत्व है कैसा ॥१४॥

सन्निपातसे कुपित धातुवाला जो मनुष्य बार-बार ऊँचे स्वरसे चिल्लाता है

भ्रमाकृति यदस्तीह दृश्यतेऽलातचक्रवत् ।
मृगतृष्णाद्विचन्द्रादिवालवेतालकादिवत् ॥ १६ ॥
तत्कथं किल नाम स्यात्सत्यं भ्रमभरात्मकम् ।
अज्ञानभ्रान्तिरेवाऽन्तश्चित्तमित्येव कथ्यते ॥ १७ ॥
अज्ञानमुच्यते चित्तमसत्सदिव संस्थितम् ।
असंवेदनमज्ञानं ज्ञानं संवेदनं भवेत् ॥ १८ ॥
अज्ञानसत्वसंवित्तेर्ज्ञानात्संवेदनात्क्षयः ।
जलज्ञानं मुधा भ्रान्तिः साधो मरुमरीचिषु ॥ १९ ॥

कि मैं मर गया, मैं मर गया; हे राजन्, उसे आप जान लीजिये कि वह मृत्युकी गोदमें सो गया है, उसका जीवन एक भ्रममात्र है ॥ १५ ॥

तब चित्त आदि हैं, इस अनुभवकी क्या दशा होगी, यदि ऐसी आशङ्का हो, तो उसका उत्तर यह है कि वह सब बिलकुल भ्रान्तिमात्र है, इसे अनेक दृष्टान्तोंसे बतलाते हैं—'भ्रमाकृति' इत्यादिसे ।

अलातचक्रके सदृश भ्रमाकृति जो यहाँ जगत्, चित्त आदि दिखाई देता है वह मृगतृष्णाजल, दो चन्द्र आदिकी भ्रान्ति तथा बालकल्पित वेताल आदिकी नाई है ॥ १६ ॥

ठीक है, तब तो भ्रान्तिके एक बहुत बड़े पुञ्जरूप उसे सत् ही मान लीजिये ? नहीं, ऐसा कहते हैं—'तत्कथम्' इत्यादिसे ।

हे महीपते, जो सर्वथा भ्रमपुञ्जस्वरूप है वह भला सत्य नामसे कैसे कहा जा सकता है ? अज्ञानजनित भ्रान्ति ही अन्तःकरण और चित्तादिशब्दोंसे कही जाती है ॥ १७ ॥

सत्की नाईं अवस्थित असत् अज्ञान ही चित्त कहा जाता है । अज्ञान असंवेदनस्वरूप है और ज्ञान है संवेदनरूप ॥ १८ ॥

तब अज्ञानरूपसे ही चित्तादिको सत्य कहा जाय, इसपर कहते हैं— 'अज्ञान०' इत्यादिसे ।

संवेदनरूप ज्ञानसे अज्ञानमें सत्त्वबुद्धिका नाश हो जाता है हे साधो, मरुमरीचिमें जलज्ञान व्यर्थ भ्रान्ति ही है ॥ १९ ॥

नैतज्जलमिति ज्ञानात्संवित्तेः प्रविलीयते ।
इदं चित्तमिति प्रौढं यदज्ञानमलं हृदि ।
नाऽस्ति चित्तमिति ज्ञानात्तत्समूलं विनश्यति ॥ २० ॥
यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वमज्ञानभ्रमसम्भवम् ।
न सर्पोऽयमितिज्ञानाद्धृदि रूढात्प्रणश्यति ॥ २१ ॥
तथाऽऽत्मनि मनोभूतमज्ञानभ्रमसंभवम् ।
चित्तं नास्तीति विज्ञानाद्धृदि रूढाद्विनश्यति ॥ २२ ॥
चित्तं मनोऽहमित्यन्तर्यावदज्ञानसंभवम् ।
न चित्तमस्ति नो चैवमहङ्कारादिसंयुतम् ॥ २३ ॥
किञ्चिदेव जगत्यस्मिन् संविदेकान्तनिर्मला ।
तया सङ्कल्पचित्तादि कृतमासीद्विमूढया ॥ २४ ॥
अद्याऽसङ्कल्पतः सर्वं परित्यक्तं प्रबुद्धया ॥ २५ ॥
सङ्कल्पेन यदायाति त्वसङ्कल्पेन गच्छति ।
पवनेन महाबाहो ज्वालाजालमिवाऽनले ॥ २६ ॥

जैसे मरुमरीचिमें हुआ जलज्ञान 'यह जल नहीं है', इस ज्ञानसे नष्ट हो जाता है वैसे ही 'यह चित्त है' इस रूपसे हृदयमें हुआ संवित्का जो प्रौढ़ अज्ञानात्मक मल है वह 'यह चित्त नहीं है' इस ज्ञानसे समूल विनष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

जैसे अज्ञानभ्रमसे उत्पन्न हुआ रज्जुमें सर्परूपता 'यह सर्प नहीं है' इस तरहके हृदयमें रूढ़ ज्ञानसे नष्ट हो जाती है, वैसे ही आत्मामें अज्ञानभ्रमसे उत्पन्न हुआ मनोरूप चित्त 'यह चित्त नहीं है' इस तरहके हृदयमें रूढ़ विज्ञानसे विनष्ट हो जाता है ॥ २१,२२ ॥

चित्त, मन, अहङ्कार आदि सकल पदार्थ हृदयमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः इस जगत्में चित्त नहीं है और इसी तरह अहङ्कारादिसे संयुक्त देहादि कुछ भी नहीं है, किन्तु एकान्त निर्मल एक संवित् ही है। विमूढ़ उस संवित्के द्वारा ही सङ्कल्प, चित्त आदिकी रचना की गई थी ॥ २३, २४ ॥

आज प्रबुद्ध हुई संवित्ने सङ्कल्पके अभावसे उन सबका परित्याग कर दिया ॥ २५ ॥

हे महाबाहो, जैसे पवनसे अग्निमें ज्वालाजाल ऊपर उठता है और उसके

आत्मतत्त्वैकघनया ततया ब्रह्मसत्तया ।
जगत्सर्वमिति व्याप्तं समुद्र इव वारिणा ॥ २७ ॥
नाऽहमस्मि न चाऽन्योऽस्ति न त्वं नेमे न चित्तकम् ।
नेन्द्रियाणि न चाऽऽकाशमात्मा त्वेकोऽस्ति निर्मलः ॥ २८ ॥
घटाद्याकाररूपेण स एवाऽयं विलोक्यते ।
इदं चित्तमयं चाऽहमिति कैव कुकल्पना ॥ २९ ॥
न जायते न म्रियते किञ्चिदस्मिञ्जगत्त्रये ।
केवलोऽयं चिदुल्लासः सदसद्भावनात्मना ॥ ३० ॥
सर्वमात्मा परं ब्रह्म सकृत्प्रकटमाततम् ।
द्वित्वैकत्वे न विद्येते न भ्रान्तिर्न च सम्भ्रमः ॥ ३१ ॥
सर्वेन्द्रियगणाकारे सन्नेवाऽसि सखे ततः ।
न दह्यसे महाबुद्धे न च क्वचन लिप्यसे ॥ ३२ ॥

अभावसे फिर नष्ट हो जाता है वैसे ही सङ्कल्पसे जो पदार्थ आता है वह सङ्कल्पके अभावसे चला जाता है ॥ २६ ॥

जैसे जलसे समुद्र ग्रस्त है वैसे ही आत्मतत्त्वसे अत्यन्त घनीभूत विस्तृत ब्रह्मसत्तासे यह सारा संसार व्याप्त (ग्रस्त) है ॥ २७ ॥

मैं नहीं हूँ, अन्य नहीं है, न आप हैं, न ये सब पदार्थ हैं, न चित्त है, न इन्द्रियाँ हैं और न आकाश ही है। केवल एक निर्मल आत्मा ही है ॥ २८ ॥

तब जीवन्मुक्त लोग घटादि-आकारसे किसको देखते हैं, इसपर कहते हैं— 'घटाद्याकाररूपेण' इत्यादिसे ।

घटादिके आकाररूपसे एक वह आत्मा ही जीवन्मुक्तोंको दिखाई देता है। यह चित्त है, यह मैं हूँ, इत्यादि कुकल्पना उन्हें कैसी ॥ २९ ॥

हे महीपते, इस त्रैलोक्यमें न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता ही है। सत् और असत् भावनारूप यह केवल चितिका उल्लास मात्र है ॥ ३० ॥

यह सर्वात्मक व्यापक ब्रह्म परमात्मा ही जब एक बार प्रकट हुआ, तब द्वित्व और एकत्व रहता ही नहीं। भ्रम तथा मृत्यु आदिका भय भी नहीं रहता ॥ ३१ ॥

इसलिए हे मित्र, आप सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें तथा इन्द्रियोंसे ग्राह्य बहि

न ते विनश्यति सखे न च किञ्चिद्विवर्धते ।
निर्मलाकाशरूपस्य कैवल्यानन्तरूपिणः ॥ ३३ ॥

इच्छानिच्छात्मिके शक्ती येतरापि त्वमेव च ।
न ह्यंशुव्यतिरेकेण शशाङ्क उपलभ्यते ॥ ३४ ॥

अजमजरमनाद्यजस्वभावं
सकृदमलं विलसत्सदैकरूपम् ।
विगलितकलनं कलाख्यलीलं
सदुदितमाद्यमजं तदात्मतत्त्वम् ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
शिखिध्वजपरमावबोधनं नाम शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

आदिके आकारोंमें सन्मात्रस्वरूपसे व्याप्त हैं, अतः हे महाबुद्धे, आप दाहहेतु आध्यात्मिकादि भावोंसे दग्ध नहीं हो सकते और न आप कहीं छिन्न ही हो सकते हैं ॥ ३२ ॥

हे मित्र, निर्मल आकाशस्वरूप तथा कैवल्यानन्तरूप आपका न तो कुछ विनष्ट हो सकता है और न कुछ बढ़ ही सकता है ॥ ३३ ॥

इच्छा और अनिच्छा स्वरूप शक्तियाँ तथा क्रियाशक्ति भी आप ही हैं, क्योंकि हे मित्र, अपनी कलाओंसे पृथक् चन्द्रमा उपलब्ध नहीं होता ॥ ३४ ॥

हे महीपते, अजन्मा, अजर, अनादि अजस्वभाव* निर्मल, सदा एकरूप, सकृत् प्रकाशस्वरूप, कलनारहित, अपने स्वरूपका परिचय करानेवाली लीलासे युक्त, सन्मात्रसे उदित, सम्पूर्ण व्यवहारोंसे पूर्व सिद्ध जो अज वस्तु है वही आत्मतत्त्व है ॥ ३५ ॥

सौ सर्ग समाप्त

---

* यहाँपर तीन 'अज' पदोंसे जन्म, वृद्धि और विपरिणामका खण्डन किया गया है तथा 'सदा एकरूप' इस विशेषणसे अन्य विकारोंका खण्डन किया गया है, यह समझ लेना चाहिए ।

एकाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति कुम्भवचो राजा भावयंस्तदकृत्रिमम् ।
स्वयमात्मपदे तस्मिन् क्षणं परिगतोऽभवत् ॥ १ ॥
बभूवामीलितमनोलोचनः शान्तवाङ्मुनिः ।
शिलातलादिवोत्कीर्णो निस्पन्दावयवाकृतिः ॥ २ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण प्रबुद्धं स्फुरितेक्षणम् ।
तमुवाच महाबाहो चूडाला कुम्भरूपिणी ॥ ३ ॥

कुम्भ उवाच

कच्चिदस्मिन्पदे स्फारे शुद्धे विततनिर्मले ।
सुतल्पे निर्विकल्पानां सुखं विश्रान्तवानसि ॥ ४ ॥
कच्चिदन्तःप्रबुद्धोऽसि कच्चिद्भ्रान्तिस्त्वयोज्झिता ।
कच्चिज्ज्ञेयं परिज्ञातं दृष्टं द्रष्टव्यमेव वा ॥ ५ ॥

एक सौ एक सर्ग

[ज्ञानकी दृढ़तासे राजा शिखिध्वजकी कृतकृत्यता, जीवन्मुक्तिमें अचित्तता तथा तत्त्वकी स्थितिका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह अकृत्रिम कुम्भके उस कथनका विचार कर रहे राजा शिखिध्वज अपने पूर्व भावको छोड़कर क्षणभर स्वयं उस आत्मपदमें प्राप्त हो गये ॥ १ ॥

शिलातलमें खोदी गई स्पन्दनशून्य अवयवोंसे युक्त आकारवाली प्रतिमाकी नाईं वह राजा मन और नेत्रके व्यापारोंको बन्दकर शान्तवाक् मुनि हो गये ॥ २ ॥

हे महाबाहो, उसके बाद एक मुहूर्तमें प्रबुद्ध हुए अतएव विकसित नेत्रवाले उस राजासे कुम्भरूपिणी चूडाला बोल उठी—॥ ३ ॥

कुम्भने कहा—हे महाबाहो, स्फार, शुद्ध, विस्तृत, निर्मल तथा योगियोंके सुन्दर तल्पभूत इस निरतिशयानन्द पदमें क्या आप विश्रान्त हो चुके ॥ ४ ॥

राजन्, क्या आप अन्तःकरणसे प्रबुद्ध हो चुके, क्या आपने अपनी भ्रान्ति

शिखिध्वज उवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादेन महाविभवभूमिका ।
महती पदवी दृष्टा सर्वस्योर्ध्वं स्थिता मया ॥ ६ ॥
सतां विदितवेद्यानामहो बत महात्मनाम् ।
अपूर्वैकामृतमयः सङ्गः सारफलप्रदः ॥ ७ ॥
जन्मनापि मया लब्धं यन्नाम न महामृतम् ।
तदद्य त्वत्समासङ्गात्तेनैवाऽऽसादितं स्वयम् ॥ ८ ॥
अनन्तमाद्यममृतं चैतत्कमललोचन ।
कथं नाऽऽसादितमभूत्पूर्वमात्मपदं मया ॥ ९ ॥

कुम्भ उवाच

मनस्युपशमं याते त्यक्तभोगैषणे स्थिते ।
कषायपाके निर्वृत्ते सर्वेन्द्रियगणस्य च ॥ १० ॥

छोड़ दी, क्या आपने ज्ञेय पदार्थका अच्छी तरह ज्ञान कर लिया, क्या आपने द्रष्टव्य वस्तु देख ली ॥ ५ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे भगवन्, आपकी दयासे मैंने वह महती आत्मपदवी देख ली, जो निरतिशयानन्दरूपी भूमिका तथा हिरण्यगर्भके आनन्दतक विषयानन्दसमूहके ऊपर (उत्कर्षकी पराकाष्ठामें) अवस्थित है ॥ ६ ॥

अहो, वेद्य वस्तुको जान लेनेवाले सज्जन महात्माओंका सङ्ग इस अनादि संसारमें कभी भी अनुभूत न होनेवाला जो निरतिशयानन्द है तत्प्रचुर है, अतः सर्वोत्कृष्ट फलका प्रदाता है ॥ ७ ॥

सामान्यरूपसे कही गई बातकी विशेषरूपसे व्याख्या करते हैं— 'जन्मनाऽपि' इत्यादिसे ।

भगवन्, जिस महा अमृतकी प्राप्ति महा अमृतस्वरूप ही मैंने अज्ञानवश सारे जन्ममें नहीं की, आज आपके समागमसे उसकी मैंने स्वयं अनायास ही प्राप्ति की ॥ ८ ॥

हे कमललोचन, अनन्त और आद्य इस अमृतरूपी आत्मपदको मैंने पहले ही क्यों नहीं प्राप्त किया ॥ ९ ॥

विषयगत कषायोंका (वासनाओंका) परिपाक न होनेसे पहले आप ज्ञान प्राप्त

यान्ति चेतसि विश्रान्तिं विमला देशिकोक्तयः ।
यथा सितांशुके शुद्धे बिन्दवः कुङ्कुमाम्भसः ॥ ११ ॥
कषायाणामनन्तानां संभृतानां शरीरकैः ।
स्ववासनास्वरूपाणामद्य पाकस्तवोदितः ॥ १२ ॥
देहान्मलानि सर्वाणि कालेन कमलेक्षण ।
साधो वृक्षात्फलानीव पाकेन विगलन्त्यधः ॥ १३ ॥
वासनात्मसु यातेषु मलेषु विमलं सखे ।
यद्वक्ति गुरुरन्तस्तद्विशतीषुर्यथा बिसे ॥ १४ ॥
कषायपाके सम्पन्ने त्वं मयाऽद्य निबोधितः ।
तेनाऽद्यैव तवाऽज्ञानक्षयो जातो महामते ॥ १५ ॥

न कर सके, इस समय तो तपस्याके द्वारा उनका परिपाक हो जानेसे आपने प्राप्त कर लिया, इस आशयसे कुम्भ उत्तर देते हैं—'मनस्युपशमम्' इत्यादिसे ।

कुम्भने कहा—हे राजन्, भोगकी इच्छाओंका त्याग कर चुके मनके उपशान्त होकर अवस्थित हो जानेपर सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनके भोगरूप कषायोंका पाक सम्पन्न हो जानेसे चित्तमें उपदेशकी विमल उक्तियाँ उस तरह स्थितिको प्राप्त होती हैं, जिस तरह सफेद शुद्ध वस्त्रके ऊपर कुङ्कुम जलके बिन्दु* ॥ १०, ११ ॥

हे राजन्, आपके अनन्त स्ववासनास्वरूप कषायोंका, जो अनेक जन्मके शरीरों द्वारा एकत्र किये गये थे, आज परिपाक उदित हुआ है ॥ १२ ॥

हे कमललोचन साधो, कालसे पककर लिङ्ग देहसे सम्पूर्ण मल† उस तरह गिर जाते हैं, जिस तरह कालसे पककर वृक्षोंसे उनके फल नीचे गिर जाते हैं ॥ १३ ॥

हे मित्र, वासनात्मक मलोंके शरीरसे दूर चले जानेपर गुरु जो विमल उपदेश देते हैं, वह अन्तःकरणमें उस तरह शीघ्र प्रविष्ट हो जाता है, जिस तरह धानुष्क परिकल्पित मृणालरूप लक्ष्यमें बाण ॥ १४ ॥

हे महामते, कषायोंका पाक सम्पन्न हो जानेपर आज आप मेरे द्वारा

---

* देखिये स्मृति—

'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञाने तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रजायते ॥'

† रागादि कषाय और पाप ।

अद्य पक्वकषायस्त्वमद्यैव ज्ञानसंकथाम् ।
अद्येह सोपदेशस्त्वमद्यैवाऽसि प्रबुद्धवान् ॥ १६ ॥
शुभाशुभानां सर्वेषां कर्मणामद्य संक्षयः ।
सत्सङ्गव्यपदेशेन तव निष्पत्तिमागतः ॥ १७ ॥
यावदस्य दिनस्यैष पूर्वभागो महीपते ।
तावच्चेतोऽहंममेति तवाऽज्ञानं बभूव ह ॥ १८ ॥
इदानीं मद्वचोबोधाच्चेतसि क्षयमागते ।
हृदयात्संपरित्यक्ते संप्रबुद्धोऽसि भूपते ॥ १९ ॥
हृदि यावन्मनःसत्ता तावदज्ञानसंस्थितिः ।
चित्तेऽचित्ततया त्यक्ते ज्ञानस्याऽभ्युदयो भवेत् ॥ २० ॥

विबोधित हुए हैं, इसलिए आज ही आपके अज्ञानका सर्वथा नाश हुआ ॥ १५ ॥

आज आपके कषायोंका खूब परिपाक हो गया । आज ही आपने ज्ञानार्थ उपदेशका तात्पर्यरूपसे अवधारण किया है । उपदिष्ट अर्थोंका अपने हृदयमें धारण करनेसे आप इस समय इस संसारमें उपदेशसे समन्वित हो गये । उपदेश-फलस्वरूप साक्षात्कारज्ञानवान् भी अभी आप हुए हैं ॥ १६ ॥

हे राजन्, सत्सङ्गके बहाने आज आपके शुभ और अशुभ सब तरहके कर्मोंका बिलकुल क्षय सम्पन्न हो गया ॥ १७ ॥

आपका अज्ञान आज ही मध्याह्नकालमें क्षीण हुआ है, यह मुझे अच्छी तरह मालूम है, यह कहते हैं—'यावदस्य' इत्यादिसे ।

हे महीपते, जबतक आजके दिनका यह पूर्वभाग अवशेष था, तभीतक आपको चित्तमें 'अहं, मम' इत्यादिरूप अज्ञान भी बना हुआ था, यह मुझे खूब मालूम है ॥ १८ ॥

हे भूपते, आज ही मध्याह्नमें मेरे वचनोंके ज्ञानसे हृदयसे बिलकुल हटा दिये गये आपके चित्तके क्षीण होनेपर आप प्रबुद्ध (आत्मज्ञानसे सम्पन्न) हुए हैं ॥ १९ ॥

जबतक हृदयमें मनकी सत्ता बनी रहती है तबतक अज्ञानकी संस्थिति जमी रहती है । अचित्तरूपसे (निःस्वरूपताबुद्धिसे) चित्तका परित्याग हो जानेपर ज्ञानका अभ्युदय होता है ॥ २० ॥

द्वित्वैकत्वदृशौ चित्तं तदेवाऽज्ञानमुच्यते ।
एतयोर्यो लयो दृष्टेस्तज्ज्ञानं सा परा गतिः ॥ २१ ॥
प्रबुद्धोऽसि विमुक्तोऽसि त्यक्तं चित्तं त्वया नृप ।
सदसत्तामयत्वं हि त्वया त्यक्तमसत्पदम् ॥ २२ ।
वीतशोको निरायासो निःसङ्गोऽनन्य आत्मवान् ।
महोदयो मुनिर्मौनी स्वरूपे तिष्ठ निर्मले ॥ २३ ॥

शिखिध्वज उवाच

एवं हि भगवन् जन्तोर्मूर्खस्यैवाऽस्ति चित्तभूः ।
प्रबुद्धस्य न तज्ज्ञस्य चित्तं नाम किल प्रभो ॥ २४ ॥
जीवन्मुक्तास्तदेते हि विहरन्ति कथं वद ।
अविद्यमानमनसो युष्मदाद्यास्तथा नराः ॥ २५ ॥

द्वित्व और एकत्वकी दृष्टि ही चित्त है वही अज्ञान कहा जाता है परमात्माकी अभिव्यक्तिसे जो इन दोनोंका लय है वही ज्ञान है और परा गति है ॥ २१ ॥

हे राजन्, अब आप प्रबुद्ध हो चुके, विमुक्त हो चुके, क्योंकि आत्म एक दूसरेके परस्पर अध्याससे सत् और असद्रूप चित्तका आपने परित्याग किया, जो जगत्की कल्पनाका स्थान है ॥ २२ ॥

हे महीपते, अब आप शोकशून्य, आयासरहित, निःसङ्ग, अनन्य, आत्मज्ञ सम्पन्न और महान् उदयसे युक्त मौनी बनकर निर्मल स्वरूपमें अवस्थि रहिये ॥ २३ ॥

चित्तका परित्याग हो जानेपर जीवन्मुक्त पुरुषोंको किस अन्तःकरण व्यवहारकी सिद्धि होती है, यह पूछनेके लिए राजा भूमिका बाँधते हैं 'एवं हि' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुनिवर, यों आपके कहनेके अनुसार मूर्ख जन्तु लिए ही चित्तकी भूमि है, प्रबुद्ध हुएके लिए नहीं। हे प्रभो, यदि आत्मज्ञानीके चित्त नहीं है तो कृपाकर आप बतलाइये कि ये अविद्यमान मनवाले जीवन्मुक्त आपसे लेकर और दूसरे पुरुष—इस संसारमें कैसे विहार करते हैं तथा हे मुनी आप मुझे अच्छी तरह समझाकर इसको पूर्ण रीतिसे कहिए और इस तर

इति मे कथयाऽशेषमन्यैः स्ववचनांशुभिः ।
हार्दं तमो मे निपुणमेवंप्रायैः प्रमार्जय ॥ २६ ॥

कुम्भ उवाच

यथा वदसि तत्त्वज्ञ तत्तथैव हि नाऽन्यथा ।
चित्तं हि जीवन्मुक्तानां नास्त्यङ्कुर इवाऽश्मनाम् ॥ २७ ॥
पुनर्जननयोग्या या वासना घनवासना ।
सा प्रोक्ता चित्तशब्देन न सा तज्ज्ञस्य विद्यते ॥ २८ ॥
यया वासनया तज्ज्ञा विहरन्तीह कर्मसु ।
तां त्वं सत्त्वाभिधां विद्धि पुनर्जननवर्जिताम् ॥ २९ ॥
जीवन्मुक्ता महात्मानः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः ।
विहरन्ति गतासङ्गं न चित्तस्थाः कदाचन ॥ ३० ॥

दूसरी यानी सूर्य आदिकी किरणोंसे विलक्षण अपनी वचनरूपी किरणोंसे मेरे हृदयके अन्धकारको, जो प्रसिद्ध अन्धकारसे विलक्षण है, भलीभाँति दूर कर दीजिये ॥ २४–२६ ॥

कुम्भने कहा—हे तत्त्वज्ञ, जैसा आप कह रहे हैं, ठीक वह वैसा ही है उससे विपरीत तनिक भी नहीं है। जिस तरह पत्थरमें अङ्कुर नहीं रहता वैसे ही जीवन्मुक्तोंमें चित्त नहीं रहता ॥ २७ ॥

पुनः उत्पन्न होने योग्य जो घनवासना रहती है वह चित्तशब्दसे कही जाती है, वह आत्मज्ञानीमें नहीं रहती ॥ २८ ॥

हे राजन्, जिस वासनासे तत्त्वज्ञानी यहां कर्मोंमें विहार करते हैं, पुनर्जन्मसे रहित उसे आप सत्त्वनामधारिणी जानिये। तात्पर्य यह है कि जैसे भूना हुआ तथा छिलकारहित धान धानशब्दसे नहीं कहा जाता और वह अङ्कुर पैदा करनेमें समर्थ भी नहीं रहता वैसे ही तत्त्वज्ञानसे भूना गया आवरण शून्य सत्त्व मनशब्दसे नहीं कहा जाता और न वह पुनर्जन्मके समर्थ ही रहता है ॥ २९ ॥

जीवन्मुक्तोंके व्यवहाराभासमें वही कारणाभास है, यह कहते हैं—'जीवन्मुक्ताः' इत्यादिसे।

जितेन्द्रिय जीवन्मुक्त महात्मा लोग सत्त्वमें स्थित होकर आसक्ति छोड़ करके विहार करते हैं, चित्तमें स्थित होकर कभी नहीं ॥ ३० ॥

मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते ।
अप्रबुद्धा हि चित्तस्थाः सत्त्वस्थास्तु महाधियः ॥ ३१ ॥
भूयः प्रजायते चित्तं सत्त्वं भूयो न जायते ।
अप्रबुद्धस्य बन्धोऽस्ति न प्रबुद्धस्य भूपते ॥ ३२ ॥
सत्त्ववानसि संजातो महात्यागी स्थितो भवान् ।
अशेषेण त्वया चित्तं त्यक्तमद्येति वेद्म्यहम् ॥ ३३ ॥
समस्तवासनोन्मुक्तो राजन्नद्यैव राजसे ।
आकाशसाम्यमायातं मन्ये तव मुने मनः ॥ ३४ ॥
शमं प्राप्तोऽसि परमं सिद्धः समसमस्थितिः ।
अयं हि स महात्यागः सर्वं यच्चत्समुज्झितम् ॥ ३५ ॥
स्वर्गापवर्गविद्यादि तपोदानफलाद्यपि ।
प्रबुद्धमेधया साधो धिया परमबोधया ॥ ३६ ॥

मूढ़ चित्तको चित्त कहते हैं और प्रबुद्ध चित्तको सत्त्व कहते हैं, अप्रबुद्ध (अज्ञानी) लोग चित्तमें स्थित रहते हैं और महाबुद्धिमान् (ज्ञानी) लोग सत्त्वमें स्थित रहते हैं ॥ ३१ ॥

चित्त पुनः उत्पन्न होता है, लेकिन सत्त्व फिर उत्पन्न नहीं होता । हे भूपते, अप्रबुद्धको बन्ध है, प्रबुद्धको नहीं ॥ ३२ ॥

आपका भी सत्त्वके बलसे ही जीवनपर्यन्त व्यवहार चलता रहेगा, इस आशयसे कहते हैं—'सत्त्ववानसि' इत्यादिसे ।

हे महीपते, महात्यागी बनकर आप सत्त्वसम्पन्न हो चुके हैं । आज आपने पूर्णरूपसे अपने चित्तका परित्याग कर दिया, यह मैं जानता हूँ ॥ ३३ ॥

हे राजन् , आज ही तो आप सम्पूर्ण वासनाओंसे निर्मुक्त होकर सुशोभित हो रहे हैं । हे मुने, अब आपका मन आकाशके समान स्वच्छ हो गया, यह मैं मानता हूँ ॥ ३४ ॥

हे राजन् , आप परम शमको प्राप्त हो चुके हैं । आप सिद्ध होकर समसे भी सम स्थितिमें पहुँच गये हैं । जो महात्याग आपको पहले अभिलषित था वह यही है कि सर्वस्वरूप उस चित्तका आपने परित्याग कर दिया ॥ ३५ ॥

चित्तके परित्यागमें तप, दान, आदि सम्पूर्ण कर्म अन्तर्भूत हैं और उसके

तपो नाम कियन्मात्रदुःखक्षयकरं भवेत् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं यत्सुखं शमतामयम् ॥ ३७ ॥
तत्सत्यद्वस्तु तत्किञ्चिन्न तु स्वर्गादि भङ्गुरम् ।
भावाभावैरुपारूढं स्थिताधिगतवेदनम् ॥ ३८ ॥
स्वर्गो नाम किमानन्दः सोऽपि सन्देहसंस्थितः ।
अप्राप्तस्वात्मसंसिद्धेः क्रियाकाण्डः शुभो भवेत् ॥ ३९ ॥

फलमें धन, स्वर्ग, अपवर्ग आदि सब तप आदिके फल अन्तर्भूत हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'स्वर्गा०' इत्यादिसे ।

हे साधो, उपदिष्ट अर्थ ग्रहण करनेमें अतिसमर्थ अतएव परम बोधवती अपनी बुद्धिसे किया गया चित्तका परित्याग ही तप, दान आदि तथा उनके फल स्वर्ग, अपवर्ग, धन आदि भी है ॥ ३६ ॥

तप आदिके फलमें ज्ञानके फलका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इस आशयसे कहते हैं—'तपो नाम' इत्यादिसे ।

हे भूपते, तप कितने दुःखोंका नाश कर सकता है, क्योंकि चित्तत्यागरूप समतासे प्राप्त जो ज्ञानका फल मोक्षसुख है वह क्षयसे अतिशय निर्मुक्त है यानी उसमें क्षयका अत्यन्ताभाव है ॥ ३७ ॥

असत्य और अनित्य वस्तुमें सत्य और नित्य वस्तुके अन्तर्भावकी संभावना भी नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'तत्सत्यद्वस्तु' इत्यादिसे ।

ज्ञानका फल सत्य और शाश्वत है । जो कुछ थोड़ा-बहुत स्वर्गादि फल है वह तो सत्य है ही नहीं, वह क्षणभङ्गुर है । वह आविर्भाव और तिरोभावसे—उत्पत्ति और विनाशसे—आक्रान्त होनेके कारण भूत और भविष्यत् कालमें अनुभूत नहीं होता, केवल वर्तमानकालमें अवस्थित हुआ ही स्वप्नवत् अनुभूत होता है॥ ३८ ॥

तुच्छ और अत्यन्त परिश्रमसे प्राप्त होनेवाला स्वर्गादि सुख है, वह अज्ञानियोंको बड़ा लगता है । वह तत्त्वविदोंको नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'स्वर्गः' इत्यादिसे ।

हे महीपते, स्वर्गनामका कौन-सा सुख है ? वह भी तो हजारों अवर्जनीय धर्मकीर्तन आदि अपराधों द्वारा सन्देहसे ही स्थित है । जिस पुरुषको आत्मज्ञानकी सिद्धि प्राप्त नहीं है उसीको क्रियाकाण्ड शुभफल प्रदान करनेवाला होता है ॥३९॥

येन नाऽऽसादितं हेम रीतिं किं स परित्यजेत् ।
चूडालादिसमासङ्गाद्भवेज्ज्ञत्वं सुखेन ते ॥ ४० ॥
तत्किमर्थमनर्थेऽस्मिन्निमग्नस्त्वं तपोमये ।
आश्रमादिविकल्पांशसाध्यस्याऽद्य कुकर्मणः ॥ ४१ ॥
आद्यन्तावस्य सुमते मध्य एव सुखं स्म भोः ।
यतस्ते समयो जातो यस्मिन्परिणमन्ति च ।
तपोरूपा विकल्पांशास्तत्र बद्धपदो भव ॥ ४२ ॥

ज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ होनेसे अज्ञानियोंको तुच्छ स्वर्गादि फलके लिए यत्न करना ठीक ही है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'येन' इत्यादिसे ।

हे राजन्, जिसने सुवर्णकी प्राप्ति नहीं की वह क्या पित्तल छोड़ देगा ? [आपको तो पहले ज्ञान दुर्लभ नहीं था, तथापि आप व्यर्थ ही तपरूपी क्लेशमें फँस गये, यह कहते हैं—'चूडाला०' से] आपको तो चूडाला आदिकी सत्सङ्गतिसे सुखपूर्वक ज्ञान मिल सकता था ॥ ४० ॥

फिर आप क्यों इस कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तपःक्लेशप्रचुर अनर्थमें अभीतक निमग्न हैं, जो कि वानप्रस्थ आश्रम आदिके अभिमान आदि हजारों विकल्पविक्षेपांशोंसे साध्य कुत्सित कर्मका ही एक सम्बन्धी है ॥ ४१ ॥

स्वर्गादि महासुखकी हेतु तपस्या अनर्थरूप कैसे है, इसपर कहते हैं—'आद्यन्ता०' इत्यादिसे ।

हे सुमते, इस तपस्याका आदि भाग आचरणावस्था है और अन्तिम भाग फलक्षयावस्था है, इसलिए इसके आदि और अन्त दोनों भाग दुःखरूप हैं। केवल इसका मध्य जो स्वर्गादि भोगावस्था है उसीमें कुछ सुख है [तब क्या मैंने व्यर्थ ही तपस्या की, इसपर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'यत०' से] चूँकि तपस्याके द्वारा ही आपके चित्तगत कषायोंका परिपाक होनेसे इस समय तत्त्वज्ञानका समय प्राप्त हुआ है, इसलिए सभी तपोरूप विकल्पांश जिस अविकल्प तत्त्वज्ञानमें परिणत होते हैं और जिसके फलसे फलवान् भी बनते हैं, उस ज्ञानमें आप स्थिर हो जाइये। भाव यह है कि 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादि श्रुतिप्रमाण होनेसे तत्त्वज्ञानप्राप्तिरूप फलसे ही आपकी तपस्याकी सफलता है ॥ ४२ ॥

चिद्व्योम्नो नभसोऽप्यच्छात्सर्वे भावाः समुत्थिताः ।
तथैव परिदृश्यन्ते तत्रैव विलयं गताः ॥ ४३ ॥
इदं कार्यमिदं नेति सङ्कल्पा ब्रह्मबिन्दवः ।
वन्ध्यं शिखिध्वज त्यक्त्वा पूर्णमेव समाश्रय ॥ ४४ ॥
इष्टं मे प्रार्थयस्वेति यथैव प्रार्थ्यते सखे ।
स्त्रिया तथैव न कथं दयितः प्रार्थ्यते स्वयम् ॥ ४५ ॥
सङ्कल्परचितानेतान् भावानापद्भासुरान् ।
गृह्णन्ति न महात्मानः प्राज्ञा जलरवीनिव ॥ ४६ ॥

ज्ञानके फल चिदाकाशका लाभ होनेसे सभीका लाभ हो गया, क्योंकि सम्पूर्ण जगत्की एक उसीसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, ऐसी श्रुति है, इस आशयसे कहते हैं—'चिद्व्योम्नो०' इत्यादिसे ।

आकाशसे भी अति स्वच्छ उस चिदाकाशसे सभी पदार्थ समुत्पन्न होकर दिखाई पड़ते हैं तथा उसी चिदाकाशमें विलयको भी प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

हे मित्र शिखिध्वज, यद्यपि यह कार्य है और यह कार्य नहीं है इत्यादि सभी तरहके सङ्कल्प ब्रह्मरूपी समुद्रके बिन्दु ही हैं तथापि तुच्छ होनेसे वे निष्फल हैं, इसलिए इन सबको छोड़कर पूर्णका ही (समुद्रस्थानीय निर्विशेषका ही) समाश्रयण कीजिये ॥ ४४ ॥

हे सखे, जैसे कोई स्त्री, जिसको अभीतक पति प्राप्त नहीं हुआ है, प्राप्त करने योग्य पतिके प्रति 'मेरे इष्टकी सिद्धिके लिए थोड़ी-सी प्रार्थना कर दो' यों दूसरी प्रार्थना करती है, वैसे ही स्वयं उस पतिकी ही क्यों नहीं प्रार्थना करती ? तात्पर्य यह कि स्वाधीनतापूर्वक उस पतिका लाभ हो जानेपर तो उसके अधीनमें रहनेवाली वस्तुओंका अपने-आप ही लाभ हो जायगा ॥ ४५ ॥

आत्मातिरिक्त अभिलषित पदार्थोंमें पुरुषार्थता स्वीकार कर, लब्ध होनेके कारण ही, वे अप्रार्थनीय हैं, यों बतलाया । वस्तुतस्तु तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें तुच्छ होनेके कारण वे अग्राह्य ही हैं, यह कहते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

हे मित्र, सङ्कल्पसे रचित हुए आपत्तिकी नाईं अरमणीय इन पदार्थोंका आत्मज्ञानी महात्मा लोग, जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान, ग्रहण नहीं करते ॥ ४६ ॥

स्वर्गमोक्षादिफलदं यत्किञ्चित्सर्वमेव तत् ।
त्यक्त्वा समसमाभासो योऽस्यसावेव वै भव ॥ ४७ ॥
सत्त्वं सत्त्वेन नाशेन नाश्यं हि विगतस्पृहः ।
पदार्थौघमिमं गृह्णंस्तिष्ठास्पन्दितचित्तभूः ॥ ४८ ॥
अपरिस्पन्दचित्तस्य संसृतिर्नेह धावति ।
पौरुषप्रभवा साधो विपत्तिर्हि मतौ यथा ॥ ४९ ॥
यानि यानीह दुःखानि प्रस्फुरन्ति जगत्त्रये ।
चेतश्चापलजान्येव तानि तानि महीपते ॥ ५० ॥
स्थिरं शान्तं गतस्पन्दं यस्य चित्तमचापलम् ।
सदैव स महानन्दी साम्राज्यस्य स भाजनम् ॥ ५१ ॥

ज्ञानप्राप्तिके अनन्तर स्वर्गादि-साधनोंके समान अपवर्गके साधन भी हेय ही हो जाते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'स्वर्ग०' इत्यादिसे ।

स्वर्ग और मोक्ष आदि फल प्रदान करनेवाले जो कुछ कर्म हैं, उन सबका त्याग कर सबमें समानरूपसे भासमान जो आप हैं वही आप निश्चित बने रहिये ॥ ४७ ॥

चित्तकी चञ्चलताके बिना समस्त पदार्थोंमें सद्-अंशका सत्त्वरूपसे और असद्-अंशका नित्य नष्टस्वरूपसे ग्रहण करना चाहिए, इसे कहते हैं—'सत्त्वम्' इत्यादिसे ।

हे राजन्, समस्त अभिलाषाओंको छोड़कर इन सब पदार्थोंमें सत्त्वका सत्त्वरूपसे और नाश्यका नाशरूपसे ग्रहण करते हुए आप अपने चित्तको परिस्पन्दनशून्य बनाकर अवस्थित रहिये ॥ ४८ ॥

'अस्पन्दितचित्तभूः' इस कथनका प्रयोजन बतलाते हैं—'अपरिस्पन्द०' इत्यादिसे ।

क्योंकि अपरिस्पन्दित चित्तवाले पुरुषको संसारकी प्राप्ति उस तरह नहीं होती, जिस तरह विवेकज्ञानका उदय होनेपर स्वाभाविक प्रवृत्तिरूपी पुरुषके अपराधसे उत्पन्न विपत्ति प्राप्त नहीं होती ॥ ४९ ॥

हे महीपते, इन तीनों जगत्में जो-जो दुःख मनुष्योंके निकट पहुँचते हैं वे सबके सब चित्तकी चपलतासे ही उत्पन्न हुए रहते हैं ॥ ५० ॥

इसलिए जिसका चित्त स्थिर, शान्त, स्पन्दनशून्य और अचपल है वही

अथ चेतसि तत्त्वज्ञ स्पन्दास्पन्दौ त्वमेकताम् ।
नीत्वा तिष्ठ यथाकाममैक्यमागत्य शाश्वतम् ॥ ५२ ॥

शिखिध्वज उवाच

कथमैक्यं विभो यातः स्पन्दास्पन्दाविमावुभौ ।
सर्वसंशयविच्छेदकारिन्नेतद्वदाऽऽशु मे ॥ ५३ ॥

कुम्भ उवाच

एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारिवाम्बुधिः ।
तदेव स्पन्दते धीभिः शुद्धवारिव वीचिभिः ॥ ५४ ॥
ब्रह्मचिन्मात्रममलं सत्त्वमित्यादि नामकम् ।
यद्गीतं तदिदं मूढाः पश्यन्त्यङ्ग जगत्तया ॥ ५५ ॥

पुरुष सदा परमानन्दी है तथा वही आवरणशून्य होनेके कारण साम्राज्यका (आत्मसाक्षात्कारका) भाजन है ॥ ५१ ॥

हे तत्त्वज्ञ, आप स्पन्द और अस्पन्दको साक्षिमात्रस्वरूपके अवलोकनसे एक बनाकर उस साक्षीको भी शाश्वत ब्रह्मात्माके साथ एकतामें पहुँचाकर भूमानन्द-भावसे पूर्णकाम होकर अवस्थित रहिये ॥ ५२ ॥

स्पन्द और अस्पन्द विरुद्ध धर्मवाले इन दोनोंको एकत्र कैसे किया जा सकता है, यह राजा शिखिध्वज पूछते हैं—'कथम्' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे सम्पूर्ण संशयोंका विच्छेद करनेवाले विभो, आप कृपाकर मुझे शीघ्र बतलाइये कि स्पन्द और अस्पन्द ये दोनों ऐक्यको कैसे प्राप्त होते हैं ॥ ५३ ॥

इन दोनोंमें स्वरूपतः ऐक्य विरोध होनेपर भी अधिष्ठान साक्षिचिन्मात्ररूपसे विरोध नहीं है, यों अपना अभिप्राय प्रकाशित करते हुए कुम्भऋषि कहते हैं—'एकम्' इत्यादिसे ।

कुम्भऋषिने कहा—जैसे सागर जलरूपसे एक है वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् चिन्मात्रस्वरूपसे एक वस्तु है । जैसे शुद्ध जल ही तरङ्गोंसे स्पन्दित होता है वैसे ही वही अधिष्ठानचिन्मात्र बुद्धिवृत्तियोंसे स्पन्दित होता है, अर्थात् स्पन्दस्वरूपसे विवर्तित होता है ॥ ५४ ॥

हे राजन्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंने जिसे ब्रह्म, चिन्मात्र,

चित्स्पन्द एव सर्वस्वं सर्गे तस्माद्धि संसृतिः ।
परिस्पन्दो हि विन्ध्यादिशब्दस्पन्दसमं परम् ॥ ५६ ॥
चितः स एव चेत् स्पन्दस्तथा स्पन्दश्च भावितः ।
एकरूपतया नाम तत्रेदममलं शिवम् ॥ ५७ ॥
सर्गश्चित्स्पन्दमात्रात्मा सम्यग्दृष्टौ विलीयते ।
उदेत्यसम्यग्दृष्टीनां रज्ज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ ५८ ॥
सस्पन्दा चित्तदभिधा निःस्पन्दा त्वियमातता ।
तुर्यातीतपदारूढा वाचा वक्तुं न पार्यते ॥ ५९ ॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कसन्तताभ्यासयोगतः ।
कालेनाऽमलतां याते चेतसीन्दाविवोदिता ॥ ६० ॥

अमल, सत्त्व इत्यादि नामोंसे कहा है उस ब्रह्मको ही मूढ़ लोग जगद्रूपसे देखते हैं ॥ ५५ ॥

स्पन्द और अस्पन्दमें एकताका उपपादन करते हैं—'चित्स्पन्द' इत्यादिसे।

इस सृष्टिमें जो सर्वस्व है वह चितिका स्पन्द ही है, क्योंकि उसीसे संसार उत्पन्न होता है। संसारमें विन्ध्यादिरूप जो परिस्पन्द है वह द्वितीय शब्दस्पन्दके समान है। तात्पर्य यह कि वह केवल नाममात्रका परिस्पन्द है और कुछ नहीं॥५६॥

ठीक है, ऐसा ही सही। फिर भी स्पन्द और स्पन्दशून्यमें एकता कैसे, इसपर कहते हैं—'चितः' इत्यादिसे।

यदि तत्-तत् साक्ष्यात्मा ही चितिका स्पन्द और अस्पन्द है तथा एकरूपसे भावित है तो ऐसी स्थितिमें वहाँ केवल यह निर्मल आत्मस्वरूप शिव ही अवशेष रहता है ॥ ५७ ॥

तब सृष्टि कहाँ जायगी, इसपर कहते हैं—'सर्ग०' इत्यादिसे।

यह सर्ग चितिका स्पन्दमात्रस्वरूप है। चूँकि यह असम्यक् दृष्टिवाले पुरुषोंको भ्रान्तिसे, रज्जुमें सर्पभ्रमकी नाईं, उदित होता है, अतः सम्यग् दृष्टिसे ही इसका विलय होता है ॥ ५८ ॥

स्पन्दनयुक्त चिति सर्गनामसे कही जाती है और स्पन्दनशून्य चिति तो तुर्यातीतपदमें आरूढ है। इस व्यापक चितिको हम वाणीसे कहनेमें पार नहीं पा सकते ॥ ५९ ॥

वह कब उदित होती है, उसे कहते हैं—'शास्त्र०' इत्यादिसे।

एतत्केवलमाभातं स्वानुभूतिभिराततम् ।
कथ्यते स्वानुभूतेषु स्वयं स्वं रूपमात्मना ॥ ६१ ॥

प्राप्तोऽसि सारं स्वमनादिमध्य-
मत्रैव तिष्ठ स्वपदे निविष्टः ।
नो रूपनिर्भेदमहाचिदात्मा
जातोऽसि साधो खलु वीतशोकः ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजबोधनं नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

शास्त्रोंके निरन्तर अभ्यासके योगसे तथा सज्जन पुरुषोंके सम्पर्कसे जैसे तिमिर दोषके विनाशसे नेत्रके निर्मल बन जानेपर नित्य सिद्ध ही चन्द्रैकता उदित होती है वैसे ही समयसे चित्तके निर्मल बन जानेपर यह चिति उदित होती है ॥ ६० ॥

यदि आप इस चितिका वाणीसे कथन करनेमें समर्थ नहीं हैं तो फिर आप मेरे सदृश लोगोंसे कहते ही कैसे हैं, इसपर कहते हैं—'एतत्' इत्यादिसे ।

जिन लोगोंने स्वयं अपने स्वरूपका अनुभव किया है उन लोगोंसे अपनी अनुभूतियोंके द्वारा ही एकमात्र प्रकाशित इस विस्तृत आत्मस्वरूपका अपने-आप लोकदृष्टिसे वर्णन किया जाता है ॥ ६१ ॥

आप भी स्वानुभूतिकी प्राप्ति कर चुके हैं, इसलिए मेरे वचनसे केवल उसे स्थिर कर लीजिये, यह कहते हैं—'प्राप्तोऽसि' इत्यादिसे ।

आदि और मध्यसे शून्य स्वरूपको आप प्राप्त हो चुके हैं, अतः आप अपने इसी पदमें निविष्ट होकर अवस्थित रहिये । भेदक देहादिरूपोंका अभाव होनेसे ही सब देहोंमें आपका भेद नहीं है । यही कारण है कि आप महान् चितिस्वरूप तत्त्वबोधसे प्रादुर्भूत हुए हैं । इसीलिए हे साधो, आप शोकशून्य हैं ॥ ६२ ॥

एक सौ एक सर्ग समाप्त



द्व्यधिकशततमः सर्गः

कुम्भ उवाच

इति ते कथितं सर्वं शिखिध्वज महीपते ।
यथेदमुत्थितं सर्वं यथा च प्रविलीयते ॥ १ ॥
एतच्छ्रुत्वा च बुद्ध्वा च मत्वा च मुनिनायक ।
यथेच्छसि तथा तिष्ठ दृष्टे स्पष्टे परे पदे ॥ २ ॥
स्वर्गं गच्छाम्यहं पर्वकालेऽस्मिन्नारदो मुनिः ।
ब्रह्मलोकात् समायातो भवत्यमरसंसदि ॥ ३ ॥
न मां पश्यति चेत्तत्र तत्कोपमुपगच्छति ।
नोद्वेजनीया भव्येन गुरवो हि कदाचन ॥ ४ ॥
त्यक्तसङ्कल्पलेखेन न किञ्चिदभिवाञ्छता ।
त्वया सदैव वस्तव्यं दृष्टिरेषैव पावनी ॥ ५ ॥

एक सौ दो सर्ग

[अनुज्ञा लेकर कुम्भ ऋषिके अन्तर्हित हो जानेपर विस्मित हुए राजा शिखिध्वजकी चिरकालतक विचार करनेके बाद समाधिमें विश्रान्ति]

कुम्भ ऋषिने कहा—हे महीपते शिखिध्वज, जिस तरह यह सब विश्व उत्पन्न होता है तथा जिस तरह प्रविलयको प्राप्त होता है, वह सब कुछ अध्यारोप और अपवादसे पूर्ण ब्रह्मतत्त्व ही मैंने आपसे कहा है ॥ १ ॥

हे मुनिनायक, इसको गुरु और शास्त्रसे सुनकर तथा अपने विचारसे मनन-कर भली-भाँति समझ करके साक्षात् दृष्ट तथा आवरणका नाश हो जानेसे स्पष्ट हुए परमपदमें किसी समय समाधिकी प्रधानतासे तथा किसी समय व्यवहारसे जैसा आप चाहें वैसा ही अवस्थित रहिये ॥ २ ॥

अब तो मैं इन्द्रकी सभामें जा रहा हूँ। इस पर्वकालमें भगवान् नारदमुनि इन्द्रकी सभामें ब्रह्मलोकसे आ गये होंगे ॥ ३ ॥

यदि वहाँ मुझे वे न देख पायँगे, तो बहुत क्रुद्ध होंगे। भव्य पुरुषको कभी भी गुरुओंको उद्वेजित (क्रुद्ध) नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

सङ्कल्पकी लेखा छोड़कर किसी भी वस्तुकी अभिलाषा न रखते हुए

वसिष्ठ उवाच

इति यावत्प्रतिवचः पुष्पहस्तः शिखिध्वजः ।
प्रणामाय ददात्येष तावदन्तर्धिमाययौ ॥ ६ ॥
प्रतिभानगतं वस्तु यथैवाऽन्ते न दृश्यते ।
न दृष्टवांस्तथा कुम्भमग्रे राजशिखिध्वजः ॥ ७ ॥
गते कुम्भे महीपालः परं विस्मयमाययौ ।
तमेव चिन्तयंश्चित्रं चित्रार्पित इवाऽभवत् ॥ ८ ॥
इदं संचिन्तयामास चित्रं विलसितं विधेः ।
यत्कुम्भव्यपदेशेन बोधितोऽस्मि चिरोदयम् ॥ ९ ॥
क्व नारदसुतः कुम्भः क्वाऽहं नाम शिखिध्वजः ।
केवलं कालयुक्त्यैव सोऽहं सम्परिबोधितः ॥ १० ॥

आप सदा आत्मदृष्टिमें ही अवस्थित रहियेगा, क्योंकि यही एक परम पवित्र दृष्टि है, जिसका मैंने आपको उपदेश दिया है ॥ ५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यों कहकर वह कुम्भरूपिणी चूडाला—हाथमें फूल लेकर कुम्भको प्रणाम करनेके लिए राजा शिखिध्वज ज्यों ही प्रतिवचन बोलना चाहते हैं त्यों ही—अन्तर्हित हो गई * ॥ ६ ॥

जैसे स्वप्न आदिमें प्रतिभामें आयी हुई घानादि वस्तु अन्तमें (जागनेपर) दिखाई नहीं देती वैसे ही राजा शिखिध्वजने अपने आगे अवस्थित कुम्भको नहीं देखा ॥ ७ ॥

कुम्भ ऋषिके चले जानेपर राजा शिखिध्वज परम विस्मयको प्राप्त हो गया। उसी आश्चर्यको सोच रहा वह चित्रलिखितकी नाईं स्थित हो गया ॥ ८ ॥

राजा शिखिध्वजने यह विचार किया कि यह विधाताकी ही विचित्र लीला है कि कुम्भके व्याजसे सदा अभ्युदयस्वरूप ब्रह्मका मुझे बोध कराया गया ॥ ९ ॥

कहाँ तो नारदमुनिका पुत्र कुम्भ और कहाँ मैं तुच्छ शिखिध्वज ? केवल यह भाग्योदयकालके संयोगसे ही वह मैं भली-भाँति बोधित हुआ ॥ १० ॥

---

*'साध्वी स्त्रियों द्वारा पतिकृत नमस्कारके ग्राह्य न होनेसे' वह कुम्भरूपिणी चूडाला नहीं चाहती थी कि मेरा स्वामी मुझे नमस्कार करे, इसलिए वह स्वयं प्रणाम कर शीघ्र अन्तर्हित हो गई।

अहो नु सम्यक्कथितं देवपुत्रेण युक्तिमत् ।
अहो नु सम्प्रबुद्धोऽस्मि मोहनिद्राकुलश्चिरात् ॥ ११ ॥
क्वाऽहमासं विनिर्मग्नः क्रियाजालकुकर्दमे ।
इदं कार्यमिदं नेति मिथ्याविभ्रमचक्रके ॥ १२ ॥
अहो नु शीतला शुद्धा शान्तेयं पदवी निजा ।
रसायनोद्भवाकारा सत्त्वं शीतयतीह मे ॥ १३ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
तृणाग्रमपि नेच्छामि संस्थितोऽस्मि यथास्थितम् ॥ १४ ॥
एवं संचिन्तयन् राजा नूनं निर्वासनाशयः ।
शैलादिव समुत्कीर्णो मौनमेवाऽवतस्थिवान् ॥ १५ ॥
तस्मिन्नेव ततो मौने निःसङ्कल्पे निराश्रये ।
प्रतिष्ठां निश्चलां प्राप्य स तस्थौ गिरिशृङ्गवत् ॥ १६ ॥

अहो, देवपुत्रने कैसा सर्वाङ्ग सुन्दर युक्तियुक्त कहा, अहो, मोहनिद्रामें व्याकुल पड़ा हुआ मैं अब चिरकालके बाद प्रबुद्ध हुआ ॥ ११ ॥

मैं कहाँ क्रियाजालरूप कुत्सित कीचड़में फँस गया था, जो यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए, इत्यादि विभ्रमका चक्ररूप था ॥ १२ ॥

अहो, यह प्रत्यक्ष की गई आत्म-स्वरूप विशुद्ध और शीतल साम्राज्यपदवी अमृतोद्भव सुधाकरकी आकृतिसे युक्त है । यह वासनाशून्य मेरे मनको यहाँ खूब शीतल कर रही है ॥ १३ ॥

उसीसे अपनी पूर्णकामताका वर्णन करते हैं—'शाम्यामि' इत्यादिसे ।

मैं शान्तिका अनुभव कर रहा हूँ, मैं खूब तृप्त हो रहा हूँ तथा एकमात्र सुखसे अवस्थित हूँ । तृणका अग्रभाग भी अब मैं नहीं चाहता । मैं जैसा हूँ वैसा ही अपने स्वरूपमें अवस्थित हूँ ॥ १४ ॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यों सोच रहा, वासनाओंसे शून्य अन्तः-करणसे युक्त वह राजा शिखिध्वज, पत्थरमें खुदी गई प्रतिमाके समान, वागादि चेष्टाओंसे रहित होकर समाधिमें अवस्थित हो गया ॥ १५ ॥

उसके बाद निर्विकल्पक और उसी समाधिमें अचल प्रतिष्ठा प्राप्तकर वह राजा शिखिध्वज पर्वतके शिखरके सदृश अवस्थित हो गया ॥ १६ ॥

स तत्र संशान्तभयोऽचिरेण
चिरेण विश्रान्तमतिः समात्मा ।
चिरेण सम्प्राप्तनिजामलात्मा
योगेन सुष्वाप ततोऽदितात्मा ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजसमाधानं नाम द्व्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥



त्र्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

निर्विकल्पसमाधानात् काष्ठकुड्योपमस्थितिः ।
एवं शिखिध्वजो राजा चूडालामधुना शृणु ॥ १ ॥
शिखिध्वजं तं भर्तारं कुम्भवेषेण तेन सा ।
प्रबोध्याऽन्तर्धिमागत्य ततार तरसा नभः ॥ २ ॥

वह राजा शिखिध्वज उस समाधिमें अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त कर समरस बन करके चिरकालके बाद विश्रान्तमति होनेसे शीघ्र ही समस्त भयोंसे छुटकारा पाकर चिरकालसे चले आ रहे योगके द्वारा परिपूर्णस्वभाव होकर सो गया अर्थात् सुषुप्तकी नाईं विश्राम करने लगा ॥ १७ ॥

एक सौ दो सर्ग समाप्त

एक सौ तीन सर्ग

[चूडालाका अपने घरमें जाकर पुनः तीन दिनके बाद वहाँसे लौट आना, बड़े यत्नके साथ समाधिसे राजाको उठाना तथा तत्त्ववर्णन करना]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, उक्त रीतिसे वह राजा शिखिध्वज सो निर्विकल्पक समाधिमें अवस्थित होनेसे काष्ठ और भीतके सदृश अवस्थित हो गया, परन्तु उस चूडालाकी क्या दशा हुई, अब उसे आप सुनिये ॥ १ ॥

उस कुम्भ ऋषिके वेषसे वह चूडाला अपने पति उस राजा शिखिध्वजको प्रबोधित करके स्वयं अन्तर्हित हो आकाशमें बड़े वेगसे उड़ गई ॥ २ ॥

देवपुत्राकृतिं व्योम्नि जहौ मायाविनिर्मिताम् ।
विदग्धमुग्धमाकारं स्त्रैणं जग्राह सुन्दरम् ॥ ३ ॥

नभसा स्वपुरं प्राप विवेशाऽन्तःपुरं क्षणात् ।
दृश्या बभूव लोकस्य नृपकर्म चकार च ॥ ४ ॥

वासरत्रितयेनाऽथ पुनरम्बरमेत्य सा ।
बभूव कुम्भो योगेन शिखिध्वजवनं ययौ ॥ ५ ॥

तथा तत्रैव तं भूपमपश्यद्वनभूमिगा ।
निर्विकल्पसमाधिस्थं समुत्कीर्णमिव द्रुमम् ॥ ६ ॥

अहो नु खलु भो दिष्ट्या विश्रान्तोऽयमिहाऽऽत्मनि ।
स्थितः स्वस्थः समः शान्त इत्युवाच पुनः पुनः ॥ ७ ॥

तदेनं तावदेतस्माद्बोधयामि परात्पदात् ।
इदानीमेव किं देहत्यागमेष करोति वै ॥ ८ ॥

मायासे विरचित देवपुत्रकी आकृतिको उसने आकाशमें ही छोड़ दिया और सुन्दर विदग्ध मुग्ध स्त्रीशरीररूप आकारका धारण कर लिया ॥ ३ ॥

आकाश मार्गसे अपने नगरमें पहुँचकर शीघ्र ही अन्तःपुरके भीतर प्रविष्ट हो गई । बादमें, सबके सामने प्रकट हुई और प्रजानुरञ्जनरूप राज्यकार्य करने लग गई ॥ ४ ॥

तदन्तर तीन दिनके बाद वह फिर आकाशमें आकर योगसे कुम्भ ऋषि बन गई और कुम्भ ऋषिका वेष धारणकर राजा शिखिध्वजके जङ्गलमें पहुँची ॥ ५ ॥

जङ्गलकी भूमिपर उतरकर चूडालाने उसी जगह उसी रूपसे उस राजाको निर्विकल्पक समाधिमें स्थित प्रतिमाकार-निर्मित काठकी नाईं निश्चल देखा ॥ ६ ॥

अहो, यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि यह राजा शान्त, सम और स्वस्थरूपसे आत्मामें विश्रान्ति लाभकर अवस्थित है, यों उसने बार-बार कहा ॥ ७ ॥

इसलिए इसे परमपदसे बोधित कर दूँ—जगा दूँ, क्योंकि प्रारब्धकर्मके अवशेष रहते अभी यह देहका त्याग क्यों करे ॥ ८ ॥

किञ्चित्कालं स्फुरत्वेष राज्येन विपिनेन वा ।
सममेव गमिष्यावस्त्यक्तदेहाविमौ समौ ॥ ९ ॥
तस्योपदेशो विषमः परिणामं न गच्छति ।
अनेनाऽभ्यासयोगेन तावदाबोधयाम्यहम् ॥ १० ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला सिंहनादं चकार सा ।
भूयो भूयः प्रभोरग्रे वनेचरभयप्रदम् ॥ ११ ॥
न चचाल शिलेवाऽद्रौ यदा नादेन तेन सः ।
भूयो भूयः कृतेनाऽपि तदा सा तं व्यचालयत् ॥ १२ ॥
चालितः पातितोऽप्येष यदा न बुबुधे नृपः ।
तदा संचिन्तयामास चूडाला कुम्भरूपिणी ॥ १३ ॥
अहो परिणतः साधुः स्वपदे भगवानयम् ।
तदेनं हि कया युक्त्या साम्प्रतं बोधयाम्यहम् ॥ १४ ॥

राज्यके साथ या जबतक विपिनके भोगजनक कर्मका क्षय नहीं हो जाता तबतक जङ्गलके साथ कुछ दिन और चेष्टाएँ किया करे। फिर तो हम दोनों देह छोड़कर तुल्यस्वभाव हो करके एक ही साथ कैवल्य धामको प्राप्त होंगे ॥ ९ ॥

मैंने इसको जो पहले उपदेश दिया है वह विषम हो जायगा, क्योंकि उसका अभी देह छोड़नेसे परिणाम (सप्तम भूमिकामें अवस्थिति तक परिपाक) नहीं हो सकता अतः जीवन्मुक्तिसुखानुभवके लिए इसे जगाना उचित है। इसलिए इस समाधिके अभ्यासयोगसे इसे मैं अब उठाती हूँ ॥ १० ॥

यों विचारकर उस चूडालाने अपने स्वामीके आगे वनचरोंको भी भयप्रदान करनेवाला बार-बार सिंहनाद किया ॥ ११ ॥

बार-बार किये गये उस सिंहनादसे भी वह राजा, पर्वतमें शिलाकी नाईं जब विचलित नहीं हुआ, तब उस चूडालाने उसको हाथसे खूब इधर-उधर हिलाया-डुलाया ॥ १२ ॥

हाथसे इधर-उधर खूब हिलाने-डुलाने और गिरानेपर भी जब राजा न जाग सका तब कुम्भरूपिणी चूडाला सोचने लगी— ॥ १३ ॥

अहो, यह साधु भगवान् अपने स्वरूपमें सप्तभूमिका-प्रवेशतक परिणत हो चुका है, इसको किस युक्तिसे अब मैं जगाऊँ ॥ १४ ॥

अथवैनं महात्मानं किमर्थं बोधयाम्यहम् ।
विदेहं बोधमासाद्य तिष्ठत्वेष यथासुखम् ॥ १५ ॥
अहमप्यङ्गनादेहमिमं त्यक्त्वा परं पदम् ।
अपुनर्जननायैव गच्छामीह हि किं समम् ॥ १६ ॥
इति संचिन्त्य देहं स्वं त्यक्तुमभ्युद्यता सती ।
पुनः सञ्चिन्तयामास चूडाला सा महामतिः ॥ १७ ॥
आलोकयामि चैतावदेनं देहं महीपतेः ।
यद्यस्य सत्त्वशेषोऽस्ति बोधबीजं हृदम्बरे ॥ १८ ॥
तत्कालेनैष भगवान् सम्प्रबोधमुपैष्यति ।
मूलकोशरसालीनं पुष्पजालमिव द्रुमे ॥ १९ ॥
तदेवं विहरन् जीवन्मुक्त एव भवत्यलम् ।
मुक्तो भवत्यथ यदि मन्ये गच्छामि तत्समम् ॥ २० ॥

अथवा इस महात्माको मैं क्यों जगाऊँ ? विदेहमुक्ति प्राप्तकर सुखपूर्वक अवस्थित रहे न ॥ १५ ॥

मैं भी अब यह महिलाका शरीर छोड़कर अपुनर्जन्मके लिए साथ ही चली जाऊँ, इस जीवनमें कौन-सा अधिक सुख रखा है ॥ १६ ॥

यों सोचकर अपना शरीर छोड़नेके लिए वह सती चूडाला जब बिलकुल तैयार हो गई तब एक बार फिर उसने विचार किया, क्योंकि वह एक महाबुद्धिमती* थी ॥ १७ ॥

पहले राजाके इस शरीरको तो देख लूँ कि इसमें बोधके बीजभूत वासनाशून्य मनका संस्कारलेशरूपसे कुछ शेष यदि प्रारब्धसे बची हुई मायाके लेशसे उपहित हार्द आकाशमें है तब तो उसके उद्भवका समय आनेपर यह भगवान् स्वयं प्रबोधको उस प्रकार प्राप्त होगा, जिस प्रकार वसन्तके आरम्भमें वृक्षके मूलप्रदेशमें अवस्थित पृथिवीके रसमें सूक्ष्मभावसे लीन भावि पुष्पसमूह ॥ १८, १९ ॥

इसलिए मेरे द्वारा प्रबोधित होकर मेरे ही समान जीवन्मुक्तरूपसे विहार कर

---

* अवश्य भोक्तव्य उसके शेष प्रारब्ध कर्मको अपनी बुद्धिसे देखकर उस चूडालाने फिर विचार किया, यह सूचित करनेके लिए 'महामति' यह विशेषण दिया गया है ।

इति सञ्चिन्त्य चूडाला स्पर्शनेन नयेन च ।
पतिमालोक्य साशङ्कमुवाच वरवर्णिनी ॥ २१ ॥
अस्त्येव सत्त्वशेषोऽस्य हृदि सम्बोधकारणम् ।
सम्बोधहेतूदयेन सत्त्वशेषं व्यबुध्यत ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

भृशं संशान्तचित्तस्य काष्ठलोष्टसमस्थितेः ।
सत्त्वशेषः कथं ब्रह्मन् ज्ञायते ध्यानशालिनः ॥ २३ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्रबोधकारणं यस्य दुर्लक्ष्याणुवपुर्हृदि ।
विद्यते सत्त्वशेषोन्तर्बीजे पुष्पफलं यथा ॥ २४ ॥

रहा यह स्थित रहे । यदि यह मैं समझ लेती हूँ कि यह मुक्त हो गया है तो मैं अभी इसके साथ चली जाती हूँ ॥ २० ॥

यों विचारकर सुन्दरवर्णवाली, उस चूडालाने स्पर्शरूप हेतु द्वारा देहकी गरमी जानकर अभी जीता है—यों अपने पतिको आशङ्कापूर्वक देखकर जागनेके जो कारण होते हैं उनके लाभसे जान लिया कि इसमें सत्त्व अभी अवशिष्ट है । और उसने यह कहा कि इसके हृदयमें अभी सत्त्व तो बचा हुआ है ॥ २१, २२ ॥

'स्पर्शनेन नयेन च'—यह जो कहा गया इसमें नयशब्दार्थकी जिज्ञासा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'भृशम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, अत्यन्त शान्तचित्त, काष्ठ और लोष्टके समान स्थितिवाले ध्यानशाली प्राणीका सत्त्वशेष कैसे जाना जाता है ॥ २३ ॥

देहमें वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय आदि विकारोंका अनुदय सत्त्वशेषमें हेतु है, ऐसा उत्तर देनेके लिए हेतुगम्यका अनुवाद करते हैं—'प्रबोध०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे बीजके अन्दर पुष्प और फल दुर्लक्ष्य अणुके सदृश ही विद्यमान रहता है वैसे ही जिस किसी ध्यानशाली प्राणीमें जगानेके कारण हैं उसके हृदयमें अणुकी नाईं अगम्य सत्त्वशेष विद्यमान रहता है ॥ २४ ॥

चित्तस्पन्दवियुक्तस्य तस्याऽस्पन्दितमचितः ।
द्वित्वैकत्वविहीनस्य समस्याऽचलसंस्थितेः ॥ २५ ॥
कायः समसमाभोगो न ग्लायति न हृष्यति ।
नाऽस्तमेति न चोदेति सममेवाऽवतिष्ठते ॥ २६ ॥
द्वित्वैकत्वादियुक्तस्य यस्य प्रस्पन्दते मनः ।
तस्य देहोऽन्यतामेति नाऽस्पन्दस्य कदाचन ॥ २७ ॥
चित्तस्पन्दो हि सर्वेषां कारणं जगतः स्थितेः ।
राम भावविकाराणां कुसुमानां यथा मधुः ॥ २८ ॥
अस्मिन्प्रयास्यतो देहे चेतसो हि मुहुर्मुहुः ।
हर्षः कोपो न संमोहो वशमेति रघूद्वह ॥ २९ ॥
चित्ते प्रशममायाते कायो यः सत्त्ववर्जितः ।
बाधते नाऽम्बरस्येव तस्य भावविकारभूः ॥ ३० ॥

चित्तके विकारसे शून्य, निश्चल सत्-चिद्रूप बन गये, निर्विकल्प, सर्वस्वरूप और अचल पर्वतकी नाईं संस्थितिवाले उस पुरुषका शरीर, सबमें एकरूपसे रहनेवाले आत्मामें सदा तृप्त रहनेके कारण, न तो आनन्दित होता है, न ग्लानिको प्राप्त होता है, न अस्त होता है और न उदयको ही प्राप्त होता है, किन्तु समानरूप होकर अवस्थित रहता है ॥ २५, २६ ॥

द्वित्व और एकत्व आदिसे युक्त जिस पुरुषका मन चञ्चल रहता है उसीका शरीर अन्यरूपताको प्राप्त हो जाता है, चञ्चलतारहित पुरुषका कभी नहीं ॥२७॥

वह क्यों, इसपर कहते हैं—'चित्तस्पन्दो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जगत्के व्यवहारके हेतुभूत सम्पूर्ण भावविकारोंका कारण चित्तस्पन्द उस तरह है, जिस तरह कुसुमोंका वसन्त ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, इसलिए इस देहसे देहान्तरमें जानेवाले चित्तका इस देहमें बार-बार प्रयत्नपूर्वक निगृहीत किया जा रहा भी हर्ष, कोप और सम्मोह रोका नहीं जा सकता, यही दूसरे जन्ममें हेतु है ॥ २९ ॥

चित्तमें हर्षादि विकारोंका उपशम हो जानेपर शरीरमें भी विकार निवृत्त हो जाते हैं—'चित्ते' इत्यादिसे ।

चित्तकी शान्ति हो जानेपर निर्वासन चित्त द्वारा अस्मरणसे त्यागी गई

वीच्यादि न यथोदेति समाया जलसन्ततेः ।
तथा न दृश्यते दोषः समाया सत्त्वसन्ततेः ॥ ३१ ॥
सत्त्वस्याऽनुपलम्भोऽस्ति न तस्योपशमादृते ।
यावद्भाति समं तत्त्वं कालाच्छाम्यति केवलम् ॥ ३२ ॥
देहे यस्मिंस्तु नो चित्तं नाऽपि सत्त्वं च विद्यते ।
स तापे हिमवद्राम पञ्चत्वेन विलीयते ॥ ३३ ॥
शिखिध्वजस्य देहोऽसौ निश्चित्तस्तेजसोर्जितः ।
सत्त्वांशेन च संयुक्तस्तेन न ग्लानिभाजनम् ॥ ३४ ॥

भी भावविकारोंकी जननी यह देह आकाशकी नाई पुरुषको बाधित नहीं करती। निष्कर्ष यह निकला कि चित्तका अहन्त्वरूपसे स्वीकार ही देहमें वृद्धि आदि विकारोंका कारण है ॥ ३० ॥

जैसे समान जलसन्ततिमें तरङ्ग आदिकी उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही समान वासनारहित चित्तसन्ततिदशामें जरा आदि विकार या राग आदि द्वेष नहीं दिखाई पड़ते ॥ ३१ ॥

कितने समयतक जीवन्मुक्त निर्वासन मनको देखते हैं, ऐसी यदि शङ्का हो, तो अवशिष्ट प्रारब्धके क्षय द्वारा जबतक उसका विनाश न हो तबतक, यों उत्तर देते हैं—'सत्त्वस्या०' इत्यादिसे ।

सत्त्वके उपशमके बिना सत्त्वका अनुपलम्भ नहीं होता। जब प्रातिभासिक वैषम्यसे निर्मुक्त तत्त्व दिखाई पड़ता है तभी अवशिष्ट प्रारब्धविनाशकालमें वह पूर्णरूपसे विलीन हो जाता है ॥ ३२ ॥

निर्वासन मनका विनाश हो जानेपर मृत देह भी विलीन हो जाती है, यह कहते हैं—'देहे' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जिस देहमें न तो चित्त और न निर्वासन मन ही रहता है वह तापमें हिमकी नाईं मरण द्वारा विलीन हो जाती है ॥ ३३ ॥

शिखिध्वजकी देहमें तो जीवनहेतुओंका चूडालाने अवलोकन किया, यह कहते हैं—'शिखिध्वजस्य' इत्यादिसे ।

शिखिध्वजकी यह देह चित्तशून्य तो थी, परन्तु वह गरमीसे युक्त और निर्वासन मनसे युक्त थी, इससे वह ग्लानिकी पात्र नहीं थी ॥ ३४ ॥

तं तथाभूतमालोक्य भर्तुर्देहं वराङ्गना ।
अनुज्झितवती देहं चिन्तयामास सत्वरम् ॥ ३५ ॥
चित्तत्त्वं सर्वगं शुद्धं प्रविश्याबोधयाम्यहम् ।
भविष्यद्बोधनं कान्तमथ तत्र हि संस्थिता ॥ ३६ ॥
न बोधयामि यद्येनं चिरात्तद्बुध्यते स्वयम् ।
किमेकैवाऽवतिष्ठेऽहमित्येवं बोधयाम्यहम् ॥ ३७ ॥
इति संचिन्त्य चूडाला देहं कारणपञ्जरम् ।
संत्यज्य प्राप चित्तत्वे स्थितिमाद्यन्तवर्जिते ॥ ३८ ॥
तत्र सा चेतनास्पन्दं कृत्वा सत्त्ववतः प्रभोः ।
स्वं विवेश पुनर्देहं स्वं नीडमिव पक्षिणी ॥ ३९ ॥

प्रश्नका समाधान कर प्रस्तुत विषयका अनुसन्धान करते हैं—'तं तथा०' इत्यादिसे ।

अपने स्वामीकी उस तरहसे अवस्थित देहको देखकर अपने शरीरका त्याग न करती हुई सुन्दर अङ्गोंसे सुशोभित उस चूडालाने शीघ्र विचार किया ॥३५॥

सर्वव्यापक विशुद्ध चितितत्त्वमें प्रविष्ट होकर अर्थात् अपने स्वामीके कायमें प्रवेश द्वारा स्वामीके ही हार्द ब्रह्ममें प्रविष्ट होकर वहाँ स्थित होती हुई मैं चिरकालके बाद जागनेवाले अपने स्वामीको जगाती हूँ ॥ ३६ ॥

चिरकालके बाद तो यह स्वयं समाधिसे उठ जायगा, इसे जगानेके लिए शीघ्रता करनेकी मुझे क्या आवश्यकता, इसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

यदि मैं इसे न जगाती हूँ तो भी यह चिरकालके बाद स्वयं जाग जायगा, लेकिन मैं यों अकेली हो क्यों अवस्थित रहूँ, इसलिए इसे जगाती हूँ ॥ ३७ ॥

यों विचारकर इन्द्रियपञ्जररूपी अपनी देहको छोड़ करके स्वामीकी देहमें प्रविष्ट होकर आदि और अन्तसे वर्जित अपने स्वामीके हार्द ब्रह्मस्वरूप चिति-तत्त्वमें चूडाला स्थितिको प्राप्त हो गई ॥ ३८ ॥

वहाँ पहुँचकर सत्त्वसम्पन्न अपने स्वामीकी निर्विकल्पक समाधिसे जल और दूधकी नाईं एकरस बनी हुई चेतनाका स्पन्दन कर वह चूडाला फिर अपनी देहमें उस तरह प्रविष्ट हो गई, जिस तरह अपने घोंसलेमें चिड़िया ॥ ३९ ॥

कुम्भाकृतिरथोत्थाय निविष्टा कुसुमस्थले ।
साम गातुं प्रवृत्ता सा भ्रमरीवृन्दनिःस्वना ॥ ४० ॥
तं सामस्वनमाकर्ण्य चित्सत्त्वगुणशालिनी ।
बुबुधे भूपतेर्देहे वसन्त इव पद्मिनी ॥ ४१ ॥
दृशं विकासयामास तां तदार्क इवाऽब्जिनीम् ।
गृहीतसत्त्वसम्पत्तिः शिखिध्वजमहीपतिः ॥ ४२ ॥
अपश्यत्कुम्भमग्रस्थं सामगायनतत्परम् ।
परेण वपुषा युक्तं सामवेदमिवाऽपरम् ॥ ४३ ॥
अहो बत वयं धन्याः पुनः प्राप्तो मुनिः स्वतः ।
इत्येवोदाहरन् राजा कुम्भाय कुसुमं ददौ ॥ ४४ ॥
दिष्ट्योदिताः स्मो भगवंस्तव चेतसि पावने ।
के नाम वा महासत्त्वाः प्रसादेष्वङ्ग नो स्थिताः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर कुम्भस्वरूपिणी वह चूडाला वहांसे उठकर कुसुमपूर्ण स्थानमें जाकर बैठ गई और वहीं बैठी हुई भ्रमरियोंके गुञ्जारको तिरस्कृत कर रही वह चूडाला सामगानमें प्रवृत्त हो गई ॥ ४० ॥

उस सामस्वरको सुनकर सत्त्वगुणसे सम्पन्न चिदाभाससे युक्त राजाकी बुद्धि नखाग्रसे लेकर मस्तकतक देहमें अहंभावकी व्याप्तिसे युक्त होकर ऐसे अवबुद्ध हुई, जैसे वसन्तमें पद्मिनी ॥ ४१ ॥

जिस तरह सूर्य कमलिनीको विकसित करते हैं वैसे ही सत्त्वसम्पत्तिसे युक्त राजा शिखिध्वजने समाधिमें निमीलित अपने नेत्रको विकसित किया ॥ ४२ ॥

राजा शिखिध्वजने सामके गानमें तत्पर अपने आगे स्थित कुम्भऋषिको दिव्य शरीरसे युक्त दूसरे सामवेद-जैसा देखा ॥ ४३ ॥

अहो, हम धन्य हैं कि यह मुनि स्वयं यहां पुनः प्राप्त हैं, इतनी बात कह रहे राजा शिखिध्वजने कुम्भको पुष्पाञ्जलि समर्पित की * ॥ ४४ ॥

भगवन्, यह हमारे सौभाग्यकी बात है कि आपके पावन चित्तमें हम पुनः उदित हुए हैं। अथवा हे मुने, हम अपने भाग्यकी क्या सराहना करें, भला ऐसे

---

* इससे तपस्याके प्रभावसे पूर्वसंचित फूलोंमें अम्लानता प्रकट होती है।

अस्मत्पवित्रीकरणमेवाऽऽगमनकारणम् ।
न चेत्किं चाऽऽगमे ब्रूहि द्वितीयं कारणं भवेत् ॥ ४६ ॥

कुम्भ उवाच

यतः प्रभृति यातोऽस्मि त्वत्सकाशादनिन्दितः ।
ततः प्रभृति चेतो मे त्वयैवेह समं स्थितम् ॥ ४७ ॥
रम्ये स्वर्गे न तिष्ठामि समीपे तव साम्प्रतम् ।
अभीष्टमुद्यदेवाऽङ्ग रम्याणां तत्पुरः स्थितम् ॥ ४८ ॥
त्वादृशो बन्धुराप्तश्च सुहृन्मित्रं तथा सखा ।
विश्वास्यो वाऽपि शिष्यश्च मन्ये जगति नाऽस्ति मे ॥ ४९ ॥

शिखिध्वज उवाच

अहो नु फलितं पुण्यपादपैनः कुलाचले ।
यस्माद्भवानसङ्गोऽपि वाञ्छत्यस्मत्समागमम् ॥ ५० ॥

महासत्त्वशाली कौन हैं, जो अपने आप ही दूसरोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए सदा प्रस्तुत नहीं रहते ? ॥ ४५ ॥

हे भगवन्, हमें पवित्र करनेके लिए ही आपका यहाँ आगमन हुआ है। यदि यह बात न हो, तो फिर आप ही कृपाकर बतलाइये कि यहाँ आपके आनेमें दूसरा कौन-सा कारण है ॥ ४६ ॥

कुम्भने कहा—हे राजन्, अनिन्दित होकर मैं आपके यहाँसे जबसे गया तभीसे मेरा चित्त आपके साथ यहीं स्थित रहा ॥ ४७ ॥

यही कारण है कि मैं रम्य स्वर्गमें भी नहीं ठहर सका और आपके समीप इस समय ठहरा हुआ हूँ। हे महीपते, बहुत-सी रम्य वस्तुओंके बीचमें चित्तको जो सबसे अच्छी मालूम पड़ती है वह बड़े उद्योगसे ही प्राप्त होकर सामने स्थित मिलती है, बिना उद्योगके कभी नहीं, इसलिए आपके दर्शनके उद्योगवशसे ही यहाँ मेरा आगमन हुआ है ॥ ४८ ॥

मुझमें जो आपकी इतनी प्रीति बढ़ गई है, इसका अतिशय कारण क्या है, इसपर कहते हैं—'त्वादृशः' इत्यादिसे।

हे राजन्, इस जगत्में मेरा आपके सदृश बन्धु, आप्त, सुहृद्, मित्र, सखा अथवा विश्वसनीय कोई शिष्य भी नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ४९ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—अहो, आज इस मन्दराचलके ऊपर हमारे

इदं वनमिमे वृक्षा भृत्योऽयमहमादृतः ।
रोचते तेन चेत्स्वर्गस्तदिह स्थीयतां प्रभो ॥ ५१ ॥

भवद्वितीर्णया योगयुक्त्या विश्रान्तवानहम् ।
यथा साधो तथा मन्ये स्वर्गे विश्रमणं कुतः ॥ ५२ ॥

तामेव संस्थितिं स्वच्छामवलम्ब्य प्रकाशिनीम् ।
विहरेह यथाकामं स्वर्गे भूमितले तथा ॥ ५३ ॥

कुम्भ उवाच

परे पदे महानन्दे कच्चिद्विश्रान्तवानसि ।
इदं भेदमयं दुःखं कच्चित्संत्यक्तवानसि ॥ ५४ ॥

कच्चिदापातरम्येभ्यः सङ्कल्पेभ्यो रतिर्भृशम् ।
निर्मूलतां गता राजन् भोगनीरसमेव ते ॥ ५५ ॥

पुण्यवृक्ष फल गये, क्योंकि असङ्ग हुए भी आप हमारा समागम चाह रहे हैं ॥ ५० ॥

हे प्रभो, मुझमें प्रीति होनेके कारण यदि आपको स्वर्ग अच्छा नहीं जान पड़ता, तो यहीं मेरे निकट रहिये । आपके लिए यह जङ्गल है, ये वृक्ष हैं और यह मैं हूँ उपस्थित आपका आदृत सेवक ॥ ५१ ॥

आपके द्वारा बतलाई गई समाधिसे जनित जो सुख है, उससे तृप्त मुझे भी स्वर्गमें इच्छा नहीं होती, इसे कहते हैं—'भवद्वितीर्ण०' इत्यादिसे ।

आपके द्वारा बतलाई गई योगयुक्तिसे जैसे मैं विश्राम ले रहा हूँ, हे साधो, मैं समझता हूँ कि स्वर्गमें भला वैसा विश्राम कहाँसे होगा ॥ ५२ ॥

जिस भूमानन्द संस्थितिका आपने मुझे उपदेश दिया है उसी स्वच्छ स्वप्रकाशस्वरूप स्थितिका अवलम्बनकर आप यहाँ यथेच्छ स्वर्ग या भूतलमें विहार कीजिये ॥ ५३ ॥

कुम्भने कहा—हे राजन्, परमानन्द परमपदमें क्या आप विश्राम ले चुके, क्या इस भेदमय दुःखका आप भलीभाँति त्याग कर चुके ॥ ५४ ॥

हे राजन्, ऊपर-ऊपरसे रमणीय दिखाई दे रहे इन सङ्कल्पोंसे भोगोंकी नीरसतापूर्वक आपका प्रेम क्या बिलकुल निर्मूलताको प्राप्त हो गया ॥ ५५ ॥

हेयादेयदशातीतं शान्तं शमसमस्थिति ।
यथाप्राप्तेष्वनुद्वेगं कच्चित्तव मनः स्थितम् ॥ ५६ ॥

शिखिध्वज उवाच

त्वत्प्रसादेन भगवन् दृष्टा दृश्यातिगा गतिः ।
प्राप्तः संसारसीमान्तो लब्धो लब्धव्यनिश्चयः ॥ ५७ ॥

चिरादतिचिरेणैव विश्रान्तोऽस्मि निरामयः ।
लब्धं लब्धव्यमखिलं तृप्तः संश्चिरसंस्थितः ॥ ५८ ॥

नोपदेष्टव्यमस्माकं किञ्चिदप्युपयुज्यते ।
सर्वत्रैवाऽतितृप्तोऽस्मि संस्थितोऽस्मि गतज्वरः ॥ ५९ ॥

ज्ञातमज्ञातमप्राप्तं त्यक्तं त्यक्तव्यमाश्रितम् ।
तत्त्वं परत्वं सत्त्वं मे त्वस्यैवाऽस्ति न किञ्चन ॥ ६० ॥

हेय और उपादेय दशाको अतिक्रान्त कर गया, शमसे समस्थितिसे युक्त शान्त आपका मन क्या प्रारब्धवश प्राप्त विषयोंमें उद्वेगशून्य होकर अवस्थित हो गया ॥ ५६ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे भगवन्, आपकी दयासे मैंने वह गति देख ली, जो दृश्योंको अतिकान्त कर चुकी है; मैंने संसारकी सीमाका अन्त पाया और लाभ करने योग्य वस्तुका लाभ कर लिया ॥ ५७ ॥

चिरकालके बाद थोड़े समयतक ही यानी केवल तीन दिनतक ही निरामय होकर मैंने विश्राम किया, प्राप्त करने योग्य सब प्राप्त कर लिया, अब मैं तृप्त होकर चिरकालके लिए स्थित हूँ ॥ ५८ ॥

अब हमें किसी तरहका उपदेश देना उपयुक्त नहीं है। सर्वत्र ही मैं अतितृप्त हो गया हूँ। सन्तापादि सांसारिक ज्वरसे शून्य होकर मैं अवस्थित हूँ ॥ ५९ ॥

मैंने अज्ञातका ज्ञान कर लिया, अप्राप्तकी प्राप्ति कर ली, छोड़ने योग्य वस्तु छोड़ दी तथा मेरा मन वासनाशून्य हो गया और मैंने आत्माके ही तत्त्वरूपी परत्वका आश्रयण कर लिया। अब मुझसे अतिरिक्त कोई अवशिष्ट नहीं है ॥ ६० ॥

निःसंसृतिर्विगतमोहभयो निरागो
नित्योदितः समसमाशयसर्वसौम्यः ।
सर्वात्मकः सकलसङ्कलनावियुक्त
आकाशकोशविशदः सममास्थितोऽस्मि ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे कुम्भपुनरागमनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥



चतुरधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्यध्यात्मविचित्राभिः कथाभिस्तौ परस्परम् ।
आसाते वेद्यवेत्तारौ मुहूर्तत्रितयं वने ॥ १ ॥
तत उत्थाय कस्मिंश्चित्स्नानौ सरससारसे ।
सरोवरे वने चैव विहृतौ नन्दनेऽनने ॥ २ ॥

यदि आपसे भिन्न कोई दूसरा है ही नहीं, तो आप फिर किस स्वरूपर अवशिष्ट हैं, इसपर कहते हैं—'निःसंसृति०' इत्यादिसे ।

संसारशून्य, मोह और भयसे रहित, रागादि दोषोंसे मुक्त, नित्यप्रकाशरूप सर्वत्र एकरूपकी भावनासे युक्त, सब तरहसे सौम्य, सर्वस्वरूप, सकल कल्पनाओं निर्मुक्त, आकाशकोशके समान स्वच्छ मैं एकरूप होकर स्थित हूँ ॥ ६१ ॥

एक सौ तीन सर्ग समाप्त

एक सौ चार सर्ग

[कुम्भके रमणसे राजाकी संभोगेच्छा, स्वर्गके बहाने नगरमें जाना और खिन्न होकर वहाँसे फिर लौट आना]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यों अध्यात्मविषयक विचित्र कथाओंको परस्पर कह रहे वे दोनों तत्त्वज्ञानी तीन मुहूर्ततक वनमें स्थित रहे ॥ १ ॥

उसके बाद वहाँसे उठकर फल-मूल आदिके द्वारा रक्षा करनेवाले, आनन्ददायक

तेनाऽऽचारेण ताभिश्च कथाभिस्तौ वने ततः ।
नीतवन्तौ दिनान्यष्टौ तासु काननवीथिषु ॥ ३ ॥
अथ कुम्भ उवाचाऽन्यद्वनं यावो गिराविति ।
तदोमिति नृपो मत्वा तावुभौ प्रविचेरतुः ॥ ४ ॥
वनान्यनेकरूपाणि जङ्गलानि तटानि च ।
सरांसि गुल्मजालानि शृङ्गाणि गहनानि च ॥ ५ ॥
नदीर्देशांस्तथा ग्रामान्नगराणि वनानि च ।
मञ्जुघोषान् गिरीन्कुञ्जांस्तीर्थान्यायतनानि च ॥ ६ ॥
सममेव समस्नेहौ समवेतौ स्थितावुभौ ।
समसत्त्वौ समोत्साहौ संशान्तौ तस्थतुः सदा ॥ ७ ॥
आनर्चतुः पितॄन्देवान्बुभुजाते च राघव ।
समं तप्ते च सिक्ते च समबुद्धी बभूवतुः ॥ ८ ॥

किसी पर्वतकी चोटीपर जाकर विहार करने लगे, जहाँ सरस कमल और सारस पक्षियोंके जोड़े सुशोभित हो रहे थे ॥ २ ॥

फिर वहाँसे उठकर उस महारण्यकी उन वनवीथियोंमें जीवन्मुक्तोंके प्रसिद्ध आचारके अनुसार व्यवहार करते हुए तथा अध्यात्मविषयक विचित्र कथाओंसे परस्पर संलाप करते हुए उन दोनोंने आठ दिन गवाँ दिये ॥ ३ ॥

उसके अनन्तर कुम्भने कहा—राजन्, चलिए, किसी दूसरे जङ्गलमें किसी पर्वतके ऊपर चलें। राजाने उसे स्वीकार कर लिया, तब वे दोनों वहाँसे चल पड़े ॥ ४ ॥

अनेक तरहके वनों, जङ्गलों, नदीके तटों, अनेक तालाबों, गुल्मसमूहों (कुञ्जों), गहन पर्वतकी चोटियों, बहुत-सी नदियों, नाना देशों, ग्रामों, नगरों, उपवनों, मनोहर शब्दवाले पर्वतों, कुञ्जों, तीर्थों और आश्रमोंमें पहुँचकर समानस्नेहसे युक्त, वे दोनों मिलकर तुल्यचित्तवृत्तिसे युक्त होकर परस्पर एक दूसरेसे अपना अनुभव कहते थे, वे दोनों समानचित्त तथा समान उत्साह वाले थे ॥ ५–७ ॥

हे राघव, वे दोनों पितर और देवताओंकी एक साथ पूजा करते थे, एक ही साथ वे दोनों भोजन करते थे। सन्तप्त तथा जलार्द्र शीतल प्रदेशोंमें उन दोनोंकी बुद्धि समान थी ॥ ८ ॥

तमालवनखण्डेषु मन्दारगहनेषु च ।
दम्पती स्निग्धहृदयौ सुहृदौ तौ विरेजतुः ॥ ९ ॥
इदं गेहमिदं नेति विकल्पकलना मनः ।
न जहार तयो राम वात्येव विबुधाचलम् ॥ १० ॥
विचेरतुस्तौ सुहृदौ क्वचिद्धूलिविधूसरौ ।
क्वचिच्चन्दनदिग्धाङ्गौ क्वचिद्भस्मानुरञ्जितौ ॥ ११ ॥
क्वचिद्दिव्याम्बरधरौ चित्राम्बरधरौ क्वचित् ।
क्वचित्पल्लवसंछन्नौ क्वचित्कुसुममण्डितौ ॥ १२ ॥
दिनैः कतिपयैरेव समचित्ततया तया ।
सत्त्वोदात्ततया चैव राजा कुम्भवदाबभौ ॥ १३ ॥
अथ तं सुरगर्भाभं चूडाला सा शिखिध्वजम् ।
दृष्ट्वा शोभामुपगतं चिन्तयामास मानिनी ॥ १४ ॥

स्निग्धहृदय वे दोनों मित्र स्त्री-पुरुष तमालवनखण्डोंमें और मन्दारके जङ्गलोंमें विहार करते-फिरे ॥ ९ ॥

बिना घरकी स्थितिका लक्षण बतलाते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यह घर है, यह घर नहीं है, इस तरहकी विकल्प-कल्पना उन दोनोंके मनको उस प्रकार न हर सकी, जिस प्रकार झंझावात विबुधाचल (सुमेरु पर्वत) को ॥ १० ॥

उनमें प्रिय और अप्रियका विकल्प भी नहीं था, इसे कहते हैं—'विचेरतु०' इत्यादिसे ।

वे दोनों मित्र कहीं तो धूलिसे धूसरगात्र, कहीं चन्दनसे चर्चित अङ्ग और कहींपर तो भस्मसे विभूषितगात्र होकर विचरण करते-फिरते थे ॥ ११ ॥

वे दोनों कहीं दिव्य वस्त्र धारण किये हुए; कहीं चित्रविचित्र वस्त्रसे शोभित हुए, कहीं पल्लवोंसे आच्छन्न और कहीं कुसुमोंसे मण्डित हुए विचरते थे ॥ १२ ॥

हे श्रीरामजी, कुछ इने-गिने ही दिनोंमें समानचित्त हो जानेसे तथा उस निर्वासन मनके कारण उत्कृष्ट हो जानेसे राजा शिखिध्वज कुम्भके समान शोभित होने लगा ॥ १३ ॥

अनन्तर, देवसन्तानके समान कान्तिसे युक्त तथा अपूर्व शोभाको प्राप्त उस

अयं पतिरदीनात्मा रम्याश्च वनभूमयः ।
इयं स्थितिरनायासा या न कामेन वञ्चिता ॥ १५ ॥
जीवन्मुक्तधियां भोगं यथाप्राप्तमतिष्ठताम् ।
एकाग्रहात्मिका तुच्छा मूढतैवोदिता भवेत् ॥ १६ ॥
निजः पतिरुदारात्मा निराधिश्च नवं वयः ।
गृहाणि पुष्पजालानि सा हता या न कामिनी ॥ १७ ॥
वनपुष्पलतागेहे स्वायत्ते भर्तरि प्रिया ।
रमते या न निर्दुःखा सा हतैव दुरङ्गना ॥ १८ ॥

राजा शिखिध्वजको देखकर मानिनी चूडाला विचार करने लगी ॥ १४ ॥

एक ओर तो सामने यह उदारात्मा मेरे स्वामी हैं और दूसरी ओर ये मनोहर काननकी भूमियाँ हैं, फिर यह अनायासप्राप्त जो हम लोगोंकी स्थिति है. वह कामसे (रतिसुखसे) वञ्चित नहीं रह सकती ॥ १५ ॥

प्रारब्ध-प्राप्त भोगोंके प्रति अनिवृत्त गतिवाले यानी बे-रोक-टोक प्रारब्धसे प्राप्त हुए सुख-दुःखोंका अनुभव करनेवाले जीवन्मुक्त महात्मा यदि केवल एक भोग-निवृत्ति करनेमें ही आग्रह कर लें, तो वह उनकी तुच्छ मूढ़ता ही होगी ॥ १६ ॥

अधर्म, रोग और श्रम आदिके कारणभूत भोगोंसे लोकसंग्रहके लिए दूर हट जाना चाहिए, यह ठीक है, परन्तु यहाँ उनकी प्रसक्ति है ही नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'निजः' इत्यादिसे ।

यह अपना स्वामी उदारात्मा है, रोगनिर्मुक्त है, इसकी नयी अवस्था है और ये सब कुसुमसमूह घर हैं, इस तरहकी सब सामग्रियोंके उपस्थित रहते भी जो स्त्री अपने स्वामीमें अनुरागवती नहीं होती वह यदि अजीवन्मुक्ता है तो अपने स्वामीके उपभोगके विनाशसे जनित पापसे बिलकुल नष्ट हो चुकी है और यदि वह जीवन्मुक्ता है, तो लोकसंग्रहके भङ्गसे जनित निन्दा आदिके द्वारा नष्ट हो चुकी है ॥ १७ ॥

उक्तको ही स्पष्टरूपसे कहते हैं—'वन०' इत्यादिसे ।

वनपुष्पलताओंके घरमें स्वाधीन पतिके रहते जो प्रिया सुखपूर्वक रमण नहीं करती वह दुष्ट अङ्गना मर चुकी है ॥ १८ ॥

रम्यं विवाहितं कान्तं पतिमासाद्य निर्जने ।
स्त्री सती या न रमते तां धिगस्तु दुरङ्गनाम् ॥ १९ ॥
समुज्झता यथाप्राप्तमपि वेद्यविदा सदा ।
अनिन्द्यं स्वमुदारार्थं किं तज्ज्ञेन कृतं भवेत् ॥ २० ॥
तत्किञ्चिद्रचयाम्याशु प्रपञ्चं प्रेक्षया वने ।
येनाऽयं भूपतिर्भर्ता रमते मयि मानदः ॥ २१ ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला कुम्भवेषधरा पतिम् ।
प्राह काननगुल्मस्था कोकिलं कोकिला यथा ॥ २२ ॥

कुम्भ उवाच

चैत्रमासस्य शुक्लोऽयं प्रतिपद्दिवसो महान् ।
अद्याऽऽस्थानं महारम्भं स्वर्गे भवति वै हरेः ॥ २३ ॥
सन्निधानं मया तत्र कर्तव्यं पितुरग्रतः ।
यथास्थिता हि नियतिर्न सन्त्याज्या कदाचन ॥ २४ ॥

एकान्त स्थानमें सर्वाङ्गसुन्दर रमणीय अपने विवाहित पतिको पाकर जो सती स्त्री रमण नहीं करती उस दुष्ट महिलाको धिक्कार है ॥ १९ ॥

उदार अर्थसे भरे यथाप्राप्त भी अनिन्द्य अपने भोगका सदा त्याग कर रहे, वेद्य पदार्थका ज्ञान रखनेवाले तत्त्वज्ञानी पुरुषने कौन सा अधिक फल उत्पन्न किया। तात्पर्य यह कि यथाप्राप्त भोगोंका त्याग करके ज्ञानी कुछ भी अधिक फल उत्पन्न नहीं कर सकता ॥ २० ॥

इसलिए मैं अपनी बुद्धिसे इस काननमें शीघ्र कुछ प्रपञ्चकी रचना करूँ, जिससे कि यह मानप्रदान करनेवाला मेरा पति राजा मुझमें रति सुखका लाभ करे ॥ २१ ॥

यों विचारकर काननकुञ्जमें बैठी हुई कुम्भवेषधारिणी चूडालाने अपने पतिसे उस तरह कहा, जिस तरह कोकिला अपने पति कोकिलसे कहती हो ॥ २२ ॥

कुम्भने कहा—हे राजन्, यह चैत्रमासका शुक्ल पक्ष है और महान् प्रतिपद् दिवस है। आज स्वर्गमें इन्द्रकी समारोहपूर्वक बड़ी सभा होगी, जिसमें सब देवर्षियोंका समागम होगा ॥ २३ ॥

मुझे अपने पिताजीके सामने वहां पहुँच कर उनका साक्षात्कार करना

प्रतिपालयितव्यं मे त्वयेह च वनावनौ ।
क्रीडता नवपुष्पायां समुद्वेगमगच्छता ॥ २५ ॥
आगच्छामि दिनान्तेऽद्य निर्विकल्पं नभस्तलात् ।
स्वर्गादतितरामेव त्वत्सङ्गो मम तुष्टये ॥ २६ ॥
इत्युक्त्वा मञ्जरीं कुम्भो ददौ मित्राय कौसुमीम् ।
प्रीतये स्वामिव प्रीतिं कान्तां नन्दनवृक्षजाम् ॥ २७ ॥
आगन्तव्यं त्वया शीघ्रमेवं वदति भूपतौ ।
पुप्लुवेऽथ वनाद्व्योम शरन्मुखपयोदवत् ॥ २८ ॥
पुष्पाञ्जलिं जहौ व्योम व्रजन् कुसुमदामजम् ।
विसारि वनवातेन हिमं हैम इवाऽम्बुदः ॥ २९ ॥
शिखिध्वजो व्रजन्तं तं ददर्शाऽऽदर्शनं तदा ।
उन्निद्रोऽब्दं यथा बर्हो धीमत्प्रीतिर्हि दुस्त्यजा ॥ ३० ॥

ही चाहिए, क्योंकि यथास्थित नियतिका कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए ॥ २४ ॥

हे राजन्, नवीन पुष्पोंसे शोभित इस वन-भूमिमें किसी तरहके उद्वेगको न प्राप्त कर विहार करते हुए आप सायंकालतक मेरी अवश्य प्रतीक्षा कीजियेगा ॥ २५ ॥

हे राजन्, आज सायंकालको स्वर्गसे मैं निश्चित आ जाऊँगा, क्योंकि मेरे आत्मसन्तोषके लिए आपका साथ मुझे स्वर्गसे भी बढ़कर प्रिय है ॥ २६ ॥

यों कहकर अपनी प्रीति-जैसी कल्पतरुके कुसुमकी मनोहर मञ्जरी कुम्भने अपने मित्र राजा शिखिध्वजको उसकी प्रसन्नताके लिए दे दी ॥ २७ ॥

हे प्रिय मित्र, यहाँ शीघ्र आना, यों राजा शिखिध्वजके कहते ही वह कुम्भ वनसे आकाशमें, शरत्कालीन निर्जल मेघकी नाईं, उड़ गये ॥ २८ ॥

आकाशमें जा रहे उस कुम्भने पुष्पमालाकी पुष्पाञ्जलि, जो वनवायुसे चारों ओर प्रसरण शील हो रही थी, ऐसे छोड़ दी, जैसे हिमकालका मेघ हिम ॥ २९ ॥

जैसे मयूर तबतक मेघको लगातार देखते ही रहता है जबतक कि वह मेघ उसकी आँखोंसे ओझल नहीं हो जाता, वैसे ही उस समय आकाशमें जा रहे अपने मित्रको राजा शिखिध्वज तबतक उन्निद्र होकर देखते रहे जबतक कि कुम्भ

शिखिध्वजदृशामन्ते व्योम्नि कुम्भवपुर्जहौ ।
शान्तावर्तेव वारिश्रीर्मुग्धा स्वं रूपमाययौ ॥ ३१ ॥
प्राप मञ्जरिताकारकल्पवृक्षोपमं पुरम् ।
स्फुरत्पताकमात्मीयं स्वर्गरम्यं दिवः पथा ॥ ३२ ॥
अन्तःपुरमदृश्यैव विवेश ललनाकुलम् ।
मधुमासमहालक्ष्मीर्लसल्लतमिव द्रुमम् ॥ ३३ ॥
राजकार्याणि सर्वाणि तत्र सम्पाद्य सत्वरम् ।
शिखिध्वजस्य पुरतः पपात फलपुष्पवत् ॥ ३४ ॥
तत्र कालद्युति मुखं चकाराऽऽखिन्नमानसा ।
इन्दुं सनीहारमिव श्यामा खिन्नमिवाऽम्बुजम् ॥ ३५ ॥
तं दृष्ट्वा तादृशाकारं समुत्तस्थौ शिखिध्वजः ।
बभूव खिन्नचेताश्च समुवाचेदमादृतः ॥ ३६ ॥

आँखोंसे ओझल नहीं हो गये, क्योंकि बुद्धिमानोंकी प्रीति दुस्त्याज्य होती है—छोड़ते नहीं बनती ॥ ३० ॥

शिखिध्वजकी दृष्टिके बाहर जाकर आकाशमें चूडालाने अपने कुम्भशरीरका परित्याग कर दिया और वह मुग्धा अपने पूर्वरूपमें उस तरह आ गई जिस तरह आवर्तके शान्त हो जानेपर जलश्री ॥ ३१ ॥

आकाश-पथसे वह चूडाला स्वर्गके समान रमणीय अपने नगरमें पहुँच गई, जहाँ पताका फहरा रही थी अतएव जो मञ्जरीयुक्त आकारवाले कल्पवृक्षके सदृश मालूम हो रहा था ॥ ३२ ॥

स्त्रियोंसे भरे हुए अपने अन्तःपुरमें अदृश्यरूपसे वह चूडाला उस तरह प्रविष्ट हो गई, जिस तरह लताओंसे शोभित वृक्षमें वसन्तकी महालक्ष्मी ॥३३॥

वहाँ झटपट सब राज्यकार्योंका सम्पादन कर वह चूडाला, जैसे वृक्षसे फल या पुष्प गिरता है, वैसे ही राजा शिखिध्वजके आगे आकर गिरी ॥ ३४ ॥

हिमयुक्त चन्द्र जैसे कमलको खिन्न बना देता है वैसे ही अत्यन्त खिन्न मनवाली श्यामा उस चूडालाने अपने स्वामीकी सन्निधिमें अपने मुखको श्याम-द्युतिसे युक्त खिन्न बना दिया ॥ ३५ ॥

उस तरहके आकारसे युक्त उसे देखकर राजा शिखिध्वज उठकर खड़ा हो

देवपुत्र नमस्तेऽस्तु विमना इव लक्ष्यसे।
कुम्भस्त्वं त्यज संरम्भमिदमासनमास्यताम् ॥ ३७ ॥
सन्तो विदितवेद्या ये ते हि हर्षविषादजाम्।
नाऽऽश्रयन्ति स्थितिं स्वस्थाः पद्मा इव जलार्द्रताम् ॥ ३८ ॥
वसिष्ठ उवाच
तेन क्ष्मापतिनेत्युक्ते कुम्भ आहाऽऽसने विशन्।
गिरा विषण्णया शीर्णवंशस्वनसमानया ॥ ३९ ॥
यावद्देहमवस्थासु समचित्ततयैव ये।
कर्मेन्द्रियैर्न तिष्ठन्ति न ते तत्त्वविदः शठाः ॥ ४० ॥
ये ह्यतत्त्वविदो मूढा राजन् बालतयैव ते।
अवस्थाभ्यः पलायन्ते गृहीताभ्यः स्वभावतः ॥ ४१ ॥

गया और खिन्नचित्त हो गया। खिन्नचित्त उस राजाने बड़े आदरके साथ यह कहा— ॥ ३६ ॥

देवपुत्र, आपको नमस्कार है। आपके मुखमें म्लानि झलक रही है, अतः आप खिन्न चित्त दीख रहे हैं। आप तो कुम्भ हैं। इस मानसिक तापको दूर कर दीजिए और इस आसनपर बैठ जाइये ॥ ३७ ॥

मित्र, कमल जैसे जलकी आर्द्रताका आश्रयण नहीं करते, वैसे ही जो अपने स्वरूपमें स्थित सन्त महानुभाव वेद्य वस्तुका ज्ञान किये हुए रहते हैं वे हर्ष और विषाद जनित स्थितिका आश्रयण नहीं करते ॥ ३८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यों राजा शिखिध्वजके कहनेपर आसनपर बैठते-बैठते कुम्भने फटे बाँसकी ध्वनिके समान विषादभरी वाणीसे कहा ॥ ३९ ॥

'वेद्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त किये हुए पुरुष हर्ष और विषाद जनित स्थितिका आश्रयण नहीं करते' यह जो राजाने कहा है उसमें कुछ विशेष कहनेकी इच्छा कर रहे कुम्भ कहते हैं—'यावद्देहम्' इत्यादिसे।

जबतक देहकी स्थिति रहती है तबतक आनेवाली हर्ष-शोक आदि अवस्थाओंमें ज्ञानजनित समचित्तताके कारण कर्मेन्द्रियोंकी चेष्टाओंमें जो अवस्थित नहीं रहते वे तत्त्वज्ञानी प्रारब्धप्राप्त कर्मेन्द्रियोंकी चेष्टाओंका उद्भव हो जानेमात्रसे शठ नहीं हो जाते ॥ ४० ॥

अतत्त्वज्ञोंमें ऐसी बात नहीं है, यह कहते हैं—'ये ह्यतत्त्व०' इत्यादिसे।

यावत्तिलं यथा तैलं यावद्देहं तथा दशा।
यो न देहदशामेति सच्छिनत्त्यसिनाऽम्बरम् ॥ ४२ ॥
एष देहदशादुःखपरित्यागो ह्यनुत्तमः।
यत्साम्यं चेतसो योगान्न तु कर्मेन्द्रियस्थितेः ॥ ४३
यावद्देहं यथाचारं दशास्वङ्ग विजानता।
कर्मेन्द्रियैर्हि स्थातव्यं न तु बुद्धीन्द्रियैः क्वचित् ॥ ४४ ॥

हे राजन्, जो अतत्त्वज्ञानी मूढ हैं वे बालचित्त होनेसे ही यानी उनमें सम-चित्तरूपताका अभाव होनेसे ही हठात् गृहीत तत्-तत् कर्मेन्द्रियोंकी निग्रहा-वस्थाओंसे स्वभावतः (अज्ञानस्वभावसे ही) च्युत हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

जबतक देह रहेगी तबतक प्रारब्धप्रयुक्त कर्मेन्द्रियोंमें हर्ष-ग्लानि आदि दशा ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंमें एक-सी रहेगी ही, इसी आशयसे दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—'यावत्तिलम्' इत्यादिसे।

जैसे जबतक तिल है तबतक तेल भी है ही, वैसे ही जबतक देह रहेगी तबतक कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हर्ष और ग्लानि आदिकी दशा रहेगी ही। [उसीको व्यतिरेकी दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—'यो न'से] जो देहदशाको प्राप्त नहीं होता वह खड्गसे आकाशका छेदन करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानियोंको भी देहदशाका अतिक्रमण होता ही नहीं, अतः मैं भी उसका अनुकरण करूँ तो क्या दोष है ॥ ४२ ॥

ऐसी स्थितिमें चित्तकी समतासे देहगत दुःखोंका समाधिके कारण अदर्शन होना ही उनका परित्याग है, जबर्दस्ती कर्मेन्द्रियोंके निग्रहसे उन्हें सहन करना उनका परित्याग नहीं, यह निष्कर्ष है, इसे कहते हैं—'एषः' इत्यादिसे।

समाधिसे चित्तकी जो समता है यही देहमें प्राप्त दुःखोंका सर्वोत्तम परित्याग है। कर्मेन्द्रियोंकी संस्थितिसे यानी कर्मेन्द्रियोंके निग्रहसे उन्हें सहन करना उनका परित्याग नहीं है ॥ ४३ ॥

हे राजन्, तत्त्वज्ञानीको तबतक सभी दशाओंमें यथाप्राप्त सदाचारका कर्मेन्द्रियोंके द्वारा परिपालन करते हुए ही अवस्थित रहना चाहिए, जबतक कि इस देहकी स्थिति बनी हुई है। ज्ञानेन्द्रियों तथा मन आदिसे तो सदा समचित्त होकर ही अवस्थित रहना चाहिए, कभी भी वैषम्यभावको प्राप्त होकर नहीं ॥४४॥

परमेष्ठिप्रभृतयः सर्वे एवोदिताशयाः ।
देहावस्थासु तिष्ठन्ति नियतेरेष निश्चयः ॥ ४५ ॥
अज्ञतत्त्वज्ञभूतानि दृश्यजातमिदं हि यत् ।
तत्सर्वमेव नियतिं धावत्यम्बु यथाऽम्बुधिम् ॥ ४६ ॥
तज्ज्ञा बुद्ध्यादिसाम्येन पाण्यादिचलनेन च ।
नियतिं यापयन्तीमां यावद्देहमखण्डिताम् ॥ ४७ ॥
अज्ञास्तु सर्वक्षोभेण सुखदुःखदशाहताः ।
नियतिं यापयन्त्यङ्ग देहलक्षैर्विखण्डिताम् ॥ ४८ ॥
इत्थं सुखेषु ननु दुःखदशासु चेत्थं
स्थातव्यमित्यधिगतं यदिहाऽङ्ग जीवैः ।

कर्मेन्द्रियोंके द्वारा देहदशाओंमें अनिषिद्धका अनुवर्तन ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण जीवन्मुक्तोंमें प्रसिद्ध ही है, यह कहते हैं—'परमेष्ठि०' इत्यादिसे ।

ब्रह्मा आदि सभी उदित हृदयसे युक्त (जीवन्मुक्त) ज्ञानी लोग देहकी अवस्थाओंमें अवस्थित रहते हैं, यही प्रारब्धकर्मरूप नियतिका निश्चय है ॥ ४५ ॥

प्रारब्धकर्मरूपी नियतिका उल्लङ्घन अज्ञ या तत्त्वज्ञ किसीसे नहीं किया जा सकता, इसे कहते हैं—'अज्ञ०' इत्यादिसे ।

अज्ञ या तत्त्वज्ञ सर्वविध प्राणियोंसे समन्वित जो यह दृश्यसमूह है वह सब नियतिकी ही ओर उस तरह दौड़ता है, जिस तरह जल सागरकी ओर ॥४६॥

तब क्या तत्त्वज्ञानी और मूर्ख दोनों बराबर ही हैं, नहीं, ऐसा उत्तर देते हैं—'तज्ज्ञाः' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी लोग बुद्धि आदिके साम्य तथा हाथ, पैर आदिके सञ्चालनसे जबतक प्राप्त एक अन्तिम देहका पतन नहीं हो जाता तबतक इस नियतिको पूर्णतः बिताते चलते हैं ॥ ४७ ॥

परन्तु अज्ञानी वैसा नहीं करते, यह कहते हैं—'अज्ञास्तु' इत्यादिसे ।

परन्तु अज्ञानी सब तरहके क्षोभसे सुख-दुःखकी दशाओंमें आहत होकर लाखों शरीरोंके द्वारा नियतिको अपूर्णरूपसे बिताते चलते हैं ॥ ४८ ॥

प्रारब्धकर्मरूपी नियतिके स्वरूपको दिखला रहे कुम्भ ऋषि उसकी सबसे दुर्लङ्घ्यताका अनुवाद कर उपसंहार करते हैं—'इत्थम्' इत्यादिसे ।

अज्ञज्ञभूतनिवहस्फुरितस्तदेवं ।
दुर्लङ्घ्य एष नियतो नियतेर्विलासः ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तव्यवहारप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥१०४॥



पञ्चाधिकशततमः सर्गः

शिखिध्वज उवाच

एवं स्थिते महाभाग कथमुद्वेगमीदृशम् ।
लब्धवानसि देवोऽपि वद वेद्यविदां वर ॥ १ ॥

कुम्भ उवाच

शृणु कार्यमिदं चित्तं मदीयं वसुधाधिप ।
कथयामि तवाऽशेषं सर्गे यद्वृत्तमद्य मे ॥ २ ॥

हे राजन्, इस प्राणीको इस जन्ममें इस रीतिसे सुखोंमें और इस रीतिसे दुःखकी दशाओंमें अवस्थित रहना चाहिए। अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जीवोंको जैसा ललाटाक्षर प्राप्त है तत्-तत् विषयमें अज्ञ या ज्ञानी सब भूतोंमें वैसा ही यह नियति (प्रारब्धकर्म) का नियत विकास है, जो पूर्वोक्त रीतिसे दुर्लङ्घ्य है ॥४९॥

एक सौ चार सर्ग समाप्त

एक सौ पाँच सर्ग

[दुर्वासा मुनिके शापसे रात्रिमें स्त्रीत्वप्राप्तिका कुम्भ द्वारा कथन तथा परस्पर समाधानोंसे सन्तुष्ट हुए उन दोनोंकी स्थितिका वर्णन]

राजा शिखिध्वजने कहा—हे महाभाग, हे वेद्यविदोंमें श्रेष्ठ, अपने-अपने भाग्यचक्रके अनुसार जो ये सब जीव स्थित हैं, उनमें यद्यपि आप देवता हैं, तो भी इस तरहके विषादके हेतु उद्वेगको किस कारण प्राप्त किये हैं, यह आप मुझसे कहिए ॥ १ ॥

कुम्भने कहा—हे भूमिपाल, यह मेरा चित्त जो विकृत हुआ है, उसके

सुहृद्यावेदितं दुःखं परमायाति नानवम् ।
घनं जडं कृष्णमपि मुक्तवृष्टिरिवाऽम्बुदः ॥ ३ ॥
सुहृदा पृच्छता साधु चेतो याति प्रसन्नताम् ।
स्वच्छतोपगतेनाऽऽशु कतकेन जलं यथा ॥ ४ ॥
अहं तावदितो यातो भवते पुष्पमञ्जरीम् ।
दत्वा गगनमुल्लङ्घ्यसम्प्राप्तश्च त्रिविष्टपम् ॥ ५ ॥
ततः पित्रा महेन्द्रस्य सभास्थाने यथाक्रमम् ।
स्थित्वोत्थाय तथोत्थानकालेपित्रा विवर्जितः ॥ ६ ॥
इहाऽऽगन्तुमहं त्यक्त्वा स्वर्गं सम्प्राप्तवान्नभः ।
दिवाकरहयैः सार्धं वहाम्यनिलवर्त्मनि ॥ ७ ॥
अथैकत्र गतो भानुरेकेनाऽन्येन वर्त्मना ।
आगच्छाम्यहमाकाशं सागरापतिताकृतिः ॥ ८ ॥

विषयमें आज इस संसारमें मेरे लिए जो घटना घटी, उसे पूरी तरह मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये ॥ २ ॥

भद्र घन, जड़ और काला होते हुए भी मेघ मुक्तवृष्टि होकर जैसे हलका हो जाता है, वैसे सुहृद्‌जनोंमें प्रकाशित किया गया दुःख अत्यन्त हलका हो जाता है ॥३॥

पूछ रहे मित्रके कारण अन्तःकरण भली भाँति प्रसन्नता (स्वच्छता] उस तरह प्राप्त करता है, जिस तरह स्वच्छताके लिए प्राप्त हुए कतक-रजके कारण जल स्वच्छताको प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

आपको पुष्पाञ्जलि समर्पित कर यहांसे पहले निकला और फिर आकाशको लांघकर मैं स्वर्गमें पहुँच गया ॥ ५ ॥

वहाँ पहुँचकर पिताजीके साथ महेन्द्रके सभास्थानमें क्रमानुसार बैठ गया और तदनन्तर उत्थान-समयमें पिताजीसे अलग हुआ मैं उठकर यहां आनेके लिए स्वर्गका परित्याग कर आकाशमण्डलमें आ गया। मैं सूर्यके घोड़ोंके साथ-साथ अपने अनुकूल प्रवहनामक वायुके मार्गसे उसके प्रवाहसे ही अभिमत देशमें आया ॥ ६, ७ ॥

अपने अभिमत देशमें आनेके बाद प्रवहनामक वायु द्वारा आगे ले जाये जा रहे भगवान् सूर्य एकमार्गसे एक ओर गये और मैं दूसरे मार्गसे समुद्रमें मानो तैरता हुआ आकाशकी ओर जा रहा था ॥ ८ ॥

अथाऽग्रे वारिपूर्णानां मेघानां मध्यवर्त्मना ।
अपश्यं मुनिमायान्तमहं दुर्वाससं जवात् ॥ ९ ॥
पयोधरपटच्छन्नं विद्युद्वलयभूषितम् ।
अभिसारिकया तुल्यं धाराधौताङ्गचन्दनम् ॥ १० ॥
स्थितां सुतरुसुच्छायामापगां वसुधातले ।
वेगेनाऽभिसरन्तं तां तपोलक्ष्मीमिव प्रियाम् ॥ ११ ॥
तस्य कृत्वा नमस्कारमुक्तं खे वहता मया ।
मुने नीलाभ्रवस्त्रस्त्वमभिसारिकया समः ॥ १२ ॥
इत्याकर्ण्य मुमोचाऽसौ मयि मानद शापकम् ।
स्तनकेशवती कान्ता हावभावविलासिनी ।
गच्छाऽनेन दुरुक्तेन रात्रौ योषा भविष्यसि ॥ १३ ॥
इति श्रुत्वाऽशुभं वाक्यमुत्थितं जर्जरद्विजात् ।
विमृशामि मनाग्यावत्तावदन्तर्हितो मुनिः ॥ १४ ॥

अनन्तर मैंने जलपूर्ण मेघोंके मध्यमार्गसे वेगपूर्वक सामने चले आ रहे महान् दुर्वासा मुनिको देखा ॥ ९ ॥

दुर्वासा मुनिको मेघसदृश नीले वस्त्रोंने ही ढाँक रखा था और विद्युत्‌के सदृश चमकीले कङ्कणने उन्हें सुशोभित किया था। जिस दशामें मैंने उन्हें देखा, उस दशामें वे ठीक अभिसारिका-से लगते थे। उनके अङ्गोंके चन्दनको यानी अङ्गरागको ओसकी धाराने धो डाला था ॥ १० ॥

भूमिपर राजित अतएव तीरस्थ वृक्षोंकी सुन्दर छायासे समन्वित अपनी प्रिय तपोलक्ष्मीके सदृश अवस्थित प्रसिद्ध भागीरथीकी ओर वेगसे वे इसलिए दौड़े जा रहे थे कि सन्ध्यावन्दनका समय बीत न जाय ॥ ११ ॥

आकाशमें विचरण कर रहे मैंने उन मुनिको नमस्कार कर कहा कि हे मुनिवर, नीलमेघके सदृश वस्त्र धारण करनेके कारण आप अँधेरी रातकी अभिसारिकाके सदृश लगते हैं ॥ १२ ॥

हे मानद, महाराज दुर्वासाने उस वाक्यको सुनकर मेरे ऊपर शाप छोड़ा, जाओ, तुम इस दुरुक्तिके कारण हाव-भावविलासोंसे पूर्ण, स्तनकेशवाली कमनीय रमणी आजसे प्रत्येक रातमें हो जाया करोगे ॥ १३ ॥

जीर्ण-शीर्ण ब्राह्मण दुर्वासा मुनिके मुखसे निकले उस अशुभ वाक्यको सुनकर

इत्युद्वेगमनाः साधो सम्प्राप्तोऽहं नभस्तलात् ।
एतत्ते कथितं सर्वं सम्पन्नोऽस्मि निशाङ्गना ॥ १५ ॥
अतिवाह्यं दिनान्तेषु स्त्रीत्वमेतन्मया कथम्
योषित् स्तनवती रात्रौ वक्तव्यं किं मया पितुः ॥ १६ ॥
संसृतौ भवितव्यानामहो नु विषमा गतिः ।
अहमप्यद्य यद्दैवाद्यूनामामिषतां गतः ॥ १७ ॥
कष्टं मदपहारेण कलहो जायतेऽधुना ।
दिवि देवकुमाराणां कामाकुलधियामिह ॥ १८ ॥
गुरुदेवद्विजातीनां लज्जापरवशात्मना ।
कथमग्रे मया सम्यग्वस्तव्यं यामिनीस्त्रिया ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा क्षणमेकं सा तूष्णीं स्थित्वा मुनिस्थितौ
धैर्यमाश्रित्य कुम्भोऽत्र पुनराह रघूद्वह ॥२०॥

ज्यों-ही मैं कुछ विचारता हूँ, त्यों-ही वे मुनि अन्तर्हित हो गये ॥ १४ ॥

हे साधो, उस प्रकार मैं आकाशतलसे ही उद्विग्न-मन होकर यहाँ आया हूँ। आपसे मैंने सब कुछ कह दिया कि मैं रात्रिमें अङ्गना हो गया हूँ ॥ १५ ॥

यह स्त्रीभाव रात्रियोंमें मैं कैसे निभा सकूँगा। हा! मैं रातमें स्तनधारिणी योषित् हो जाऊँगा। पिताजीके सामने मैं क्या कहूँगा ॥ १६ ॥

अहो, इस संसारमें भवितव्योंकी बड़ी ही विचित्र गति है, क्योंकि मैं भी आज दैवसे युवकोंके लिए आमिष बन गया यानी गृध्रामिषन्यायसे अनेक युवकोंमें परस्पर कलहको पैदा करनेवाला हो गया ॥ १७ ॥

उसी न्यायका स्पष्टीकरण करते हैं—'कष्टम्' इत्यादिसे।

महान् कष्ट यह हो गया कि अब मेरे अपहरणके लिए यहाँ स्वर्गमें काम-व्याकुलमति देवकुमारोंका संघर्ष छिड़ जायगा ॥ १८ ॥

गुरुजन, देवता एवं ब्राह्मणोंके सामने रातमें लज्जापरवश स्त्रीरूप मैं किस तरहसे निराबाध वास कर सकूँगा ॥ १९ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, उस तरह कहकर वह कुम्भ एक क्षणतक चित्तकी एकाग्रतामें चुपचाप स्थित होकर इस विषयमें धैर्य धारणकर फिर बोलने लगा ॥ २० ॥

किमज्ञ इव शोचामि किं मम क्षतमात्मनः ।
यथागतमयं देहो मत्तोऽन्यो तु भविष्यति ॥ २१ ॥

शिखिध्वज उवाच

परिदेवनया कोऽर्थो देवपुत्र तथैतया ।
यदायाति तदायातु देहस्याऽऽत्मा न लिप्यते ॥ २२ ॥
कानिचिद्यानि दुःखानि सुखानि विहितानि च ।
तानि सर्वाणि देहस्य देहिनो न तु कानिचित् ॥ २३ ॥
यदि त्वमपि कार्याणामखेदार्होऽपि खिद्यसे ।
तदन्येषामुपायः स्यात् क इवाऽऽगमभूषणः ॥ २४ ॥
खेदे खेदोचितं वाच्यमिति किञ्चित्त्वमुक्तवान् ।
इदानीं समतामेत्य तिष्ठाऽखिन्नो यथास्थितम् ॥ २५ ॥

अज्ञानीकी तरह मैं क्यों सोच रहा हूँ, मेरी आत्माका इससे क्या बिगड़ा। प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए स्त्रीभावका मुझसे अन्य यह शरीर ही अनुभव करेगा। इससे असङ्ग चिन्मात्रस्वरूप मेरी क्षति ही क्या हुई ॥ २१ ॥

राजा भी उसके कथनका अनुमोदन कर कहते हैं—'परिदेवनया' इत्यादिसे।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे देवपुत्र, उस तरहकी इस परिदेवनासे (व्यर्थ चिन्तासे) कौन अर्थ सिद्ध होनेवाला है। प्रारब्धवश जो आता है, उसे आने दीजिए, उससे देहकी आत्मा लिप्त नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

जो भी कुछ सुख या दुःख आते जाते हैं, वे सब देहके लिए ही आते-जाते हैं, उनमेंसे कोई भी देही आत्माके (देहोपलक्षित चैतन्यात्माके) लिए नहीं ॥ २३ ॥

मुनिवर, अवश्य प्राप्त होनेवाले प्रारब्धकर्म-फलोंके विषयमें कभी खेद न करनेवाले आप भी यदि खेद करने लग जायँगे, तो अविवेकी पुरुषोंको अविवेकजनित खेदकी चिकित्साके लिए आपके सदृश शास्त्रीय तत्त्वका अनुभव करानेवाला दूसरा कौन चिकित्सक शरण देगा अर्थात् कोई भी नहीं देगा ॥ २४ ॥

मैं तो समझता हूँ कि यह आपका खेद नहीं है, किन्तु केवल खेदोचित वाणीका ही लोकाचारका वर्णन करनेके लिए उपयोग कर रहे हैं, यह कहते हैं—'खेदे' इत्यादिसे।

वसिष्ठ उवाच

तावेवमादिभिर्वाक्यैरन्योन्याश्वासनं स्वयम् ।
कृत्वा स्थितौ वनस्निग्धौ सुहृदौ खेदिनौ मिथः ॥ २६ ॥
अथाऽर्कोऽप्यस्य कुम्भस्य स्त्रीत्वमुत्पादयन्निव ।
जगामाऽस्तं जगद्दीपो दीपः स्नेहक्षयादिव ॥ २७ ॥
व्यवहारभरैः सार्धं पद्माः संकोचमाययुः ।
मार्गाश्च पथिकैः सार्धं पान्थस्त्रीहृदयानि च ॥ २८ ॥
दाशवद्विहगान्सर्वान् कुर्वदेकत्र सञ्चितान् ।
तारकारत्नजालाढ्यं भुवनं साम्यतां ययौ ॥ २९ ॥

खेदके विषयमें खेदोपयोगी कुछ कहना चाहिए, इस अभिप्रायसे आपने कुछ कहा, यह मेरा मन्तव्य है । अब आप समता धारण कर प्रकृतिस्थ हो अखिन्न-रूपसे स्थित हो जाइए ॥ २५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, उस तरहके अनेक वाक्योंके द्वारा वे दोनों परस्पर अपने-आप आश्वासन कर स्थित हो गये । उन दोनोंको अरण्यसे बड़ा प्रेम था, वे एक दूसरेके अभिन्न मित्र थे और परस्पर एक दूसरेके दुःखसे दुःखी रहनेवाले थे ॥ २६ ॥

परस्पर आश्वासन ग्रहण करनेके बाद कुम्भमें स्त्रीरूपताका मानो उत्पादन कर रहे जगत्‌के दीपकरूप भगवान् सूर्य भी, तेलके क्षयसे दीपककी नाईं, अस्ता-चलकी ओर चल दिये ॥ २७ ॥

जगत्‌के समस्त व्यवहारोंके साथ-साथ कमल संकुचित होने लगे, पथिकोंके साथ-साथ मार्ग अन्धकारके कारण अस्फुट होने लगे, पथिक और पथिकस्त्रियोंके अन्तःकरण वियोगशोकरूप अन्धकारसे आक्रान्त होने लगे ॥ २८ ॥

समुद्रके द्वीपमें रहनेवाले धीवर लोग जालोंसे पक्षी, मछलियों और समुद्रस्थ रत्नोंको एकत्रित करते हैं, इसलिए समुद्रद्वीपमें रहनेवाले धीवरोंके सदृश एक-जगह सब पक्षियोंको बटोर रहा नीचेका भुवन और एक जगह तारकरूपी रत्नोंको इकट्ठा कर रहा ऊपरका भुवन—ये दोनों एक दूसरेकी समता करने लग गये ॥ २९ ॥

खं हसदिव ताराढ्यं विकासि कुमुदाकरम् ।
ययावुन्नादचक्राह्वभ्रमद्भ्रमरपेटकम् ॥ ३० ॥
सुहृदौ तावथोत्थाय सन्ध्यामुद्यन्निशाकराम् ।
वन्दयित्वा तथा कृत्वा जप्यं गुल्मान्तरे स्थितौ ॥ ३१ ॥
ततः कुम्भः शनैस्तत्र स्त्रैणमभ्याहरन्वपुः ।
शिखिध्वजं पुरःसंस्थं प्रोवाच गलदक्षरम् ॥ ३२ ॥
पतामीव स्फुरामीव द्रवामीवाऽङ्गयष्टिभिः ।
लज्जयैव च ते राजन् मन्ये स्त्रीत्वं व्रजाम्यहम् ॥ ३३ ॥
पश्येमे परिवर्धन्ते राजन् मम शिरोरुहाः ।
प्रस्फुरत्तारकामाला दिनान्ततिमिरा इव ॥ ३४ ॥
पश्येमौ मम जायेते प्रोन्मुखावुरसि स्तनौ ।
कोरकाविव पद्मिन्या वसन्ते गगनोन्मुखौ ॥ ३५ ॥

विकसित कुमुदोंके आकर अतएव हँस रहे पुरुषके सदृश स्थित तारोंसे परिपूर्ण आकाशकी ओर चक्रवाक और घूम रहे भ्रमरोंके झुण्ड-के-झुण्ड उत्ताल निनादध्वनि करते हुए उड़ने लगे ॥ ३० ॥

वे दोनों मित्र उठकर उदयोन्मुख निशाकरसे युक्त सन्ध्याको अभिवादन कर तथा जपकर्म कर एक गुल्मके (लतागृहके) भीतर बैठ गये ॥ ३१ ॥

तदनन्तर, वहाँ धीरे-धीरे क्रमशः स्त्रीके अङ्गोंमें परिवर्तित होनेवाले कुम्भ सामने बैठे हुए राजा शिखिध्वजसे सगद्गद कहने लगे ॥ ३२ ॥

हे राजन्, अब मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं अपने शरीरकी अङ्ग-लताओंके साथ भूमिपर मानो गिर रहा हूँ, स्फुरित हो रहा हूँ और विगलित होने लग गया हूँ । अब मानता हूँ कि आपके सामने लज्जाके साथ ही मैं स्त्रीरूप बनता जा रहा हूँ ॥ ३३ ॥

हे राजन्, देखिये, ये मेरे केश—दिनकी समाप्तिमें बढ़नेवाले घने अँधेरेके सदृश—स्फुरणशील तारोंकी मालासे मालित होकर यानी मोती आदिकी मालाओंसे समन्वित होकर—बढ़ रहे हैं ॥ ३४ ॥

महाराज, देखिये तो सही, वसन्तकालमें गगनकी ओर मुख किये कमलिनीके कोरकोंके (कलियोंके) सदृश मेरी छातीमें ऊर्ध्वमुख स्तन निकल रहे हैं ॥ ३५ ॥

आगुल्फमेव लम्बानि सम्पद्यन्तेऽम्बराणि मे ।
देहादेव सखे पश्य स्त्रिया इव शनैः शनैः ॥ ३६ ॥
भूषणान्युत रत्नानि माल्यानि विविधानि च ।
पश्येमान्यङ्ग जायन्ते स्वाङ्गेभ्यो वृक्षपुष्पवत् ॥ ३७ ॥
पश्याऽयं स्वयमेवाऽद्य चन्द्रांशुकरशोभनः ।
मूर्ध्नि पट्टांशुको जातो नीहारोऽद्राविवाऽङ्ग मे ॥ ३८ ॥
सर्वाणि कान्तालिङ्गानि जातानि मम मानद ।
हा धिक्कष्टं विषादो मे किं करोम्यङ्गनाऽस्म्यहम् ॥ ३९ ॥
हा धिक्कष्टमहो साधो स्थित एवाऽहमङ्गना ।
संविदानुभवाम्यन्तर्नितम्बजघने त्विमे ॥ ४० ॥
विपिने कुम्भ इत्युक्त्वा तुष्णीं खिन्नो बभूव ह ।
राजाऽपि च तमालोक्य तथैवाऽऽसीद्विषण्णधीः ॥ ४१ ॥
मुहूर्तमात्रेणोवाच शिखिध्वज इदं वचः ।
कष्टं सोऽयं महासत्त्वः सम्पन्ना वरवर्णिनी ॥ ४२ ॥

हे मित्रवर, यह देखिये, मेरी देहसे ही स्त्रियोंके-जैसे धीरे-धीरे एड़ीतक मेरे लिए लम्बे-लम्बे वस्त्र निकल रहे हैं ॥ ३६ ॥

हे प्रिय मित्र, देखिये, मेरे अङ्गोंसे ही, वृक्षसे उसके अङ्गोंसे (शाखाओंसे) फूलोंकी नाईं, भूषण, रत्न और विविध मालाएँ निकल रहीं हैं ॥ ३७ ॥

प्रिय, यह देखिये, हिमांशुकी किरणोंके सदृश मनोहर मेरे मस्तकपर अपने आप ही, पर्वतपर कुहरेकी नाईं, पट्टवस्त्र निकल रहा है ॥ ३८ ॥

हे मानद, मुझे सभी तरहके स्त्रियोंके चिह्न उत्पन्न हो गये, मुझे धिक्कार है, महान् कष्ट है, मैं महान् विषादका अनुभव करता हूँ, क्या करूँ, अब मैं स्त्री बन गया ॥ ३९ ॥

हे साधो, हा धिक्कार है, कष्ट है, अब मैं पूर्ण स्त्रीरूप ही होकर स्थित हूँ, प्रत्यक्षतः भीतर नितम्ब और मांसल इन जङ्घाओंका मैं अनुभव करता हूँ ॥ ४० ॥

उस तरह कहकर जङ्गलमें खिन्न हो वह कुम्भ चुपचाप हो गया। उसे देखकर राजा भी उसी तरह विषादयुक्त होकर अवस्थित थे ॥ ४१ ॥

मुहूर्तकाल तक विचार कर राजा शिखिध्वज यह वचन बोले—कष्टका

साधो विदितवेद्यस्त्वं जानासि नियतेर्गतिम् ।
अवश्यभाविन्यर्थेऽस्मिन् मा खिन्नहृदयो भव ॥ ४३ ॥
आपतन्ति दशास्तास्ताः सुधियां देहमात्रके ।
न चेतस्यधियां त्वेताश्चित्तं यान्ति न देहकम् ॥ ४४ ॥

कुम्भ उवाच

एवमस्त्वनुतिष्ठामि यामिनीस्त्रीत्वमात्मनः ।
न खेदमनुगच्छामि नियतिः केन लङ्घ्यते ॥ ४५ ॥
इति निर्णीय तौ खेदं तं नीत्वा तनुतामिव ।
एकतल्पे निशां तूष्णीं नीतवन्तौ चिरेण ताम् ॥ ४६ ॥
अथ प्रभाते तत्स्त्रैणं वपुरुत्सृज्य यौवनम् ।
बभूव कुम्भः कुम्भाभःकुचप्रोज्झितमूर्तिमान् ॥ ४७ ॥

विषय है कि प्रसिद्ध यह निर्मलचित्त महामुनि कुम्भ वरवर्णिनी (रमणी) बन गये ॥ ४२ ॥

हे साधो, आप तो जानने योग्य सब कुछ जानते हैं, इसलिए भावीकी गति आपसे अपरिचित है नहीं। अतः इस अवश्यंभावी विषयमें आप अपने हृदयमें खेद मत कीजिए ॥ ४३ ॥

हे ज्ञानपूर्ण, तत्-तत् जो अवश्यंभाविनी सुख-दुःखात्मक दशाएँ हैं, वे तत्त्ववेत्ताओंको केवल शरीरमें ही आती हैं, अन्तःकरणमें नहीं और अज्ञानियोंको तो ये दशाएँ शरीरमें तथा वासनारूपसे अन्तःकरणमें भी आती हैं ॥ ४४ ॥

कुम्भने कहा—हे राजन्, आपका कथन सत्य है, अवश्यंभावी आया हुआ अपना स्त्रीपन अब तो रातोंमें निभा ही लेता हूँ और खेद छोड़ देता हूँ, क्योंकि भाग्यचक्रका उल्लङ्घन कौन कर सकता है ॥ ४५ ॥

उस प्रकार निर्णयकर और उस खेदको कुछ हलका-सा बनाकर एक ही शय्यापर उन दोनोंने उस रात्रिको बहुत देरमें बिताया* ॥ ४६ ॥

अनन्तर कुम्भ प्रातःकालमें युवती स्त्रीके स्वरूपका परित्याग कर कुम्भसदृश स्तनोंसे रहित शरीरवाले असली कुम्भ बन गये ॥ ४७ ॥

* राजाको कुम्भके ऊपर आई हुई विपत्तिकी चिन्तासे और रानी चूडालाको अपने स्वामीके समागमकी उत्कण्ठासे निद्रा न आनेके कारण उन्होंने रात्रि बहुत देरमें बिताई, यह तात्पर्य है।

इति सा राजमहिषी चूडाला वरवर्णिनी ।
कुम्भत्वमास्थिता भर्तुः पश्चात्स्त्रीत्वमुपागता ॥ ४८ ॥
विजहार वनान्तेषु कुमारीधर्मिणी निशि ।
कुम्भरूपधरा चाऽह्नि भर्त्रा मित्रेण संयुता ॥ ४९ ॥
कैलासमन्दरमहेन्द्रसुमेरुसह्य-
सानुष्वविस्खलितयोगगमागमा सा ।
साकं प्रियेण सुहृदा भवता यथेच्छं
स्रग्दामहारवलिता विजहार नारी ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे कुम्भस्य स्त्रीत्वलाभो नाम पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

इस तरह राजरानी वह वरवर्णिनी (सुरूपा) चूडाला अपने पतिके सामने पह कुम्भ मुनिके रूपमें बनी और पीछे स्त्रीके रूपमें बनी ॥ ४८ ॥

वनोंके अन्दर रातमें कुमारीधर्मसे युक्त वह चूडाला विचरण करती र और दिनमें कुम्भका रूप धारणकर मित्र पतिके साथ विचरण करती रही ॥ ४९

किस-किस स्थानमें किस-किस तरह उसने विहार किया ? यह कहते हैं— 'कैलास०' इत्यादिसे ।

कैलास, मन्दराचल, महेन्द्राचल, सुमेरु तथा सह्याद्रि आदि पर्वतोंके शिखरोंप योगबलसे अस्खलित गमनागमन कर रही अपने अनुकूल वर्ताव कर रहे प्रि मित्र पतिके साथ वह नारी चूडाला पुष्प मालाओं और हारोंसे अलङ्कृत होक इच्छानुसार विहार करती थी ॥ ५० ॥

एक सौ पाँच सर्ग समाप्त

षडुत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततः कतिपयेष्वेव दिवसेषु गतेषु तम् ।
इदं प्रोवाच भर्तारं कुम्भरूपधरा सती ॥ १ ॥

राजन् राजीवपत्राक्ष ममेदं वचनं शृणु ।
निशायां प्रत्यहं तावत्स्थित एवाऽहमङ्गना ॥ २ ॥

तदिच्छाम्यङ्गनाधर्मे निपुणीकर्तुमीदृशम् ।
भर्त्रे कस्मैचिदात्मानं विवाहेन ददाम्यहम् ॥ ३ ॥

तद्भवानेव मे भर्ता रोचते भुवनत्रये ।
गृहाण मां विवाहेन भार्यात्वे निशि सर्वदा ॥ ४ ॥

अयत्नोपनतं साधो प्रियेण सुहृदा सह ।
स्त्रीसुखं भोक्तुमिच्छामि मा मे विघ्नकरो भव ॥ ५ ॥

एक सौ छः सर्ग

[महेन्द्रपर्वतपर अग्निके सामने उन दोनोंका विवाह और सुवर्ण गुफामें पुष्पशय्यापर समागम—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, तदनन्तर कुछ ही दिनोंके बीत जानेपर वह कुम्भरूपधारिणी चूडाला अपने पतिसे यह कहने लगी ॥ १ ॥

कमलपत्रके सदृश विशाल नेत्रवाले हे राजन्, मेरा यह वचन आप सुनिये। प्रतिदिन मैं रातमें स्त्री ही बनकर रहता हूँ ॥ २ ॥

इसलिए मैं ऐसे स्त्रीरूपको सफल बनाना चाहता हूँ, अतः किसी स्वामीको मैं उस अपने स्त्रीशरीरका विवाह द्वारा प्रदान करूँगा ॥ ३ ॥

इस त्रिलोकीमें आप ही एक भर्ताके रूपमें मुझे पसन्द पड़ रहे हैं। अतः रातमें विवाह द्वारा अपनी भार्याके रूपमें मेरा सदा स्वीकार कीजिए ॥ ४ ॥

हे साधो, अपने प्रियमित्रके साथ अनायासप्राप्त हुआ स्त्रीसुख भोगनेकी इच्छा कर रहा हूँ, अतः आप मेरी प्रार्थनाका खण्डनकर मेरे विघ्नकारक मत बनिये ॥ ५ ॥

क्रमप्रवृत्तमासृष्टेः सुखं साध्यं मनोरमम् ।
अकृतं कुर्वतः कार्यं दोषः क इव जायते ॥ ६ ॥
इच्छानिच्छे फले त्यक्त्वा समन्तात्सर्ववस्तुषु ।
वयं न सेच्छा नाऽनिच्छाः कुर्मस्तेनेदमीप्सितम् ॥ ७ ॥

शिखिध्वज उवाच

कृतेनाऽनेन कार्येण न शुभं नाऽशुभं सखे ।
पश्यामि तन्महाबुद्धे यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ८ ॥
समतां सम्प्रयातेन चेतसेदं जगत्त्रयम् ।
स्वरूपमेव पश्यामि यथेच्छसि तदाचर ॥ ९ ॥

कुम्भ उवाच

यद्येवं तन्महीपाल लग्नमद्यैव शोभनम् ।
राकेयं श्रावणस्याऽस्य ह्यः सर्वं गणितं मया ॥ १० ॥
रात्रावद्योदिते चन्द्रे परिपूर्णकलामले ।
जन्यत्रो नौ महाबाहो द्वयोरेव भविष्यति ॥ ११ ॥

राजन्, सृष्टिके आरम्भसे लेकर आजतक देवता, ऋषि आदि सबमें चले आ रहे और बिना बाधाके हो रहे इस प्रस्तुत विवाह कार्यको यदि आप करें, तो वैसा कर रहे आपको क्या दोष लगेगा अर्थात् कुछ नहीं ॥ ६ ॥

सब वस्तुओंमें इच्छा, अनिच्छा और तज्जनित फलोंका चारों ओरसे त्याग करके हम लोग न तो इच्छावाले हैं और न अनिच्छावाले हैं, इसलिए इस अभीष्ट कार्यको करें, कुछ भी बिगड़ेगा नहीं ॥ ७ ॥

शिखिध्वजने कहा—हे सखे, इस विवाहकार्यको करनेसे न शुभफल या न अशुभ फल देखता हूँ, इससे हे महाबुद्धे, आप जैसा चाहें, वैसा करें ॥ ८ ॥

समरूप बन गये इस चित्तमें मैं ये तीनों जगत् अपना ही रूप जानता हूँ, अतः जैसा चाहें, वैसा करें ॥ ९ ॥

कुम्भने कहा—हे महीपाल, यदि यह बात है, तो आज ही शुभ लग्न है। यह चल रहे श्रावणकी पूर्णिमा है। कल ही मैंने विवाहलग्न आदि सबका गणित कर लिया है ॥ १० ॥

हे महाबाहो, आज रातमें ही जब कि समस्त कलाओंसे परिपूर्ण निर्मल चन्द्रमा उदित होंगे, तब ही अपने दोनोंका गान्धर्वविधिसे विवाह होगा ॥ ११ ॥

महेन्द्राद्रिशिरःशृङ्गसानावद्य मनोरमे ।
रत्नदीपप्रकाशाढ्ये मणिकन्दरमन्दिरे ॥ १२ ॥
पुष्पभारानतोत्तुङ्गवृक्षराजिविराजिते ।
वनपुष्पलतालास्यनारीनृत्यमनोहरे ॥ १३ ॥
निशि व्योमगतास्तारा भर्ता पूर्णेन्दुना सह ।
आवयोः परिपश्यन्तु कर्णान्तायतलोचन ॥ १४ ॥
उत्तिष्ठाऽऽत्मविवाहार्थं कुर्वः काननकोटरात् ।
राजंश्चन्दनपुष्पादिसम्भारं रत्नसंभृतम् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वा कुम्भ उत्थाय सह तेन महीभृता ।
कुसुमावचयं चक्रे तथा रत्नादिसञ्चयम् ॥ १६ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण रत्नसानौ समे शुभे ।
समालम्भनपुष्पाणां ताभ्यां वै राशयः कृताः ॥ १७ ॥
हाराम्बरमणीन्द्रादिराशयस्त्वपरेऽजिरे ।
सौभाग्यस्येव कामेन कोशाः कालेन सम्भृताः ॥ १८ ॥

हे कानतकके लम्बे-लम्बे नेत्रोंवाले महाराज, यह जो मनोरम, महेन्द्रपर्वतके माथेके ऊपर सींग-जैसा उन्नत शिखर है, जहाँ रत्नरूपी दीपकोंका पूर्ण प्रकाश पड़ता है, मणिमय कन्दरारूपी अनेक मन्दिर हैं, जो पुष्पोंके बोझोंसे झुके हुए ऊँचे-ऊँचे अनेक वृक्षोंसे सुशोभित है, जङ्गली फूलोंकी लताओंके विलासपूर्ण रमणी-नृत्योंसे लुभावना लगता है, उस शिखरपर अपने प्रिय पति पूर्णचन्द्रके साथ आकाशगत तारिकाएँ रातमें हम दोनोंका विवाह देखें ॥ १२—१४ ॥

हे राजन्, अब आप उठिये, जङ्गलके कोटरोंसे विवाहके लिए हम लोग रत्नोंके साथ चन्दन, पुष्प आदि सामग्रीको एकत्र करें ॥ १५ ॥

यों कहकर कुम्भ उठे और उस राजाके साथ फूलोंको बिनने तथा रत्न आदिका संचय करने लग गये ॥ १६ ॥

तदनन्तर एक मुहूर्तमें उन दोनोंने सुन्दर चिकने उस रत्नप्रचुर शिखरपर एक स्थानमें देवता, अग्नि आदिका पूजन करनेके लिए पुष्पोंके ढेरके-ढेर बना डाले ॥ १७ ॥

दूसरे स्थानमें भी हार, अम्बर, उत्तम मणि आदिके यथेच्छ ढर-के-ढर उस प्रकार

तथा जन्यत्रसम्भारं कृत्वा काञ्चनकन्दरे ।
ययतुस्तौ महामित्रे स्नातुं मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १९ ॥
तत्रैनं स्नापयामास महाराजं महादरात् ।
गजकुम्भोपमस्कन्धं कुम्भो मङ्गलपूर्वकम् ॥ २० ॥
भविष्यद्दयितारूपां भविष्यद्दयितोऽङ्गनाम् ।
चूडालां स्नापयामास कुम्भरूपधरां प्रियाम् ॥ २१ ॥
पूजयामासतुः स्नातौ तत्र देवपितॄन्मुनीन् ।
यथा क्रियाफलेऽनिच्छौ क्रियात्यागे तथैव तौ ॥ २२ ॥
नित्यज्ञानरसातृप्तौ व्यवस्थायां जगत्स्थितेः ।
चक्राते भोजनं भव्यं तावन्योन्यसमीहितम् ॥ २३ ॥
कल्पवृक्षदुकूलानि परिधाय सितानि तौ ।
फलानि भुक्त्वा जन्यत्रस्थानमाययतुः क्रमात् ॥ २४ ॥

लगा दिये, जिस प्रकार पुण्यके परिपाक-कालसे मानो सौभाग्यके यथेच्छ ढेर-के-ढेर लगा दिये गये हों ॥ १८ ॥

उस प्रकार सुवर्णकी गुफामें विवाहकी सामग्री एकत्रित कर वे दोनों महामित्र गङ्गानदीमें स्नानके लिए चले गये ॥ १९ ॥

वहाँ कुम्भने गजराजके गण्डस्थलके सदृश सुदृढ़ कन्धोंवाले महाराज शिखिध्वजको बड़े ही आदरसे दही, दूध, अक्षत आदि मङ्गल द्रव्योंसे स्नान कराया ॥२०॥

भविष्यकालकी दयिता कुम्भरूप धारण की हुई प्रिय अङ्गना चूडालाको भविष्यके स्वामी राजा शिखिध्वजने भी मङ्गलस्नान कराया ॥ २१ ॥

अनन्तर, वहाँपर स्नान किये उन दोनोंने देवता, पितर और ऋषियोंकी पूजा की। ज्ञानी होते हुए भी उनकी पूजामें प्रवृत्ति इसलिए हुई कि वे जैसे क्रियाजनित फलोंमें अनिच्छा रखते थे, वैसे ही क्रियाफलोंके त्यागमें भी अनिच्छा रखते थे ॥ २२ ॥

यद्यपि वे शाश्वत आत्मज्ञानरूपी रससे पूरी तरह तृप्त थे, तथापि इस जगतीस्थितिकी व्यवस्थाके लिए उन्होंने सिद्धिके प्रभावसे निर्मित अन्न आदिका भव्य भोजन किया ॥ २३ ॥

तदनन्तर धवल, कल्पवृक्षके वस्त्रोंका परिधानकर वे दोनों कल्पवृक्षके फल खाकर शास्त्रोक्त क्रमसे विवाहकी वेदीकी ओर बढ़ आये ॥ २४ ॥

एतावताऽथ कालेन तयोर्जन्यत्रसोत्कयोः ।
प्रियं कर्तुमिवाऽस्ताद्रिं द्रागित्येवाऽविशद्रविः ॥ २५ ॥

अथ संध्याक्रमे वृत्ते कृते जप्याघमर्षणे ।
विवाहदर्शनायैव ताराजाले समागते ॥ २६ ॥

मिथुनैकसखी यामा कुमुदोत्करहासिनी ।
प्रालेयजालप्रकरं विकिरन्ती समाययौ ॥ २७ ॥

रत्नदीपान् बहून्सानौ कुम्भः सम्यगयोजयत् ।
ज्योतींषीन्द्वर्कयुक्तानि पद्मोद्भव इवाऽम्बरे ॥ २८ ॥

भूषयामास राजानं स्त्रीत्वं गच्छन्निशागमे ।
चन्दनागुरुकर्पूरपूरैर्मृगजकुङ्कुमैः ॥ २९ ॥

हारकेयूरकटकैस्तथा कल्पलतांशुकैः ।
स्रगुद्दामावतंसैश्च माल्यैश्च विविधोचितैः ॥ ३० ॥

इधर इतने समयसे विवाहके लिए उत्कण्ठित हो रहे उन दोनोंका मानो प्रिय करनेके लिए तत्काल ही भगवान् भास्करने अस्ताचलकी ओर प्रस्थान किया ॥ २५ ॥

अनन्तर उनकी सन्ध्यावन्दन आदि विधि समाप्त हो गई, मन्त्र-जप, अघमर्षण आदि भी उन्होंने कर लिया । इधर उनका विवाह देखनेके लिए आकाशमण्डलमें समस्त तारे भी आ धमके ॥ २६ ॥

इधर स्त्री-पुरुषके जोड़ोंमें प्रीति पैदा करानेवाली सखी त्रियामा रात्रि भी कुइयोंके हाससे युक्त हो तुषारसमूह बरसाती हुई आ गई ॥ २७ ॥

जिस तरह आकाशमण्डलमें ब्रह्माजीने चन्द्र और सूर्यसे संयुक्त जोतिश्चक्रकी योजना की है, उसी तरह मुनिवर कुम्भने भी इधर शिखरपर अनेक जातिके रत्नोंसे दीपकोंकी योजना की ॥ २८ ॥

रात्रिके आगमनपर स्त्रीरूप धारण करनेवाले कुम्भने राजाको अनेक भूषणोंसे सजाया । उसे चन्दन, अगुरु और कपूरसे मिश्रित केसर और कस्तूरीसे; हार, केयूर और कङ्कणोंसे ; कल्पलतासे उत्पादित वस्त्रोंसे ; मालाओंके कारण उत्कृष्ट शोभावाले रत्नगुच्छे आदि उत्तम आभूषणोंसे; विविध भूषणोंके लिए योग्य कण्ठादि-

तथा कल्पलतागुच्छैर्मन्दारैः पारिजातकैः ।
सन्तानैर्बहुरत्नैश्च मौलिना चेन्दुरूपिणा ॥ ३१ ॥
एतावताऽथ कालेन वधूत्वं कुम्भ आययौ ।
घनस्तनभराक्रान्तो बभूवाऽऽशु विलासवान् ॥ ३२ ॥
इदं सञ्चिन्तयामास सम्पन्नोऽयमहं वधूः ।
कामायात्मा मया देयः कार्यं कालोचितं किल ॥ ३३ ॥
इयमस्मि वधूः कान्ता भर्ता त्वं मे पुरः स्थितः ।
गृहाण काम मामेहि कालोऽयं तव हृच्छयः ॥ ३४ ॥
इति संचिन्त्य भर्तारमग्रस्थगहनस्थितम् ।
उद्यन्तमिवाऽऽदित्यं रतिः काममिवाऽभ्यगात् ॥ ३५ ॥
अहं मदनिका नाम भार्याऽस्मि तव मानद ।
पादयोस्ते प्रणामोऽयं सस्नेहं क्रियते मया ॥ ३६ ॥

मालाओंसे; कल्पलताओंके गुच्छोंसे; मन्दार, पारिजात और सन्तान नामक देवतरुके फूलोंसे; बड़े-बड़े अनेक रत्नोंसे तथा चन्द्रके सदृश कान्तिमान् चूड़ामणिसे खूब सजा दिया ॥ २९–३१ ॥

इतने ही समयमें महामुनि कुम्भ वधूरूपमें परिणत हो गये, घन स्तनमण्डलके भारसे भरित और तत्क्षण ही विलासी हो गये ॥ ३२ ॥

अनन्तर उन्होंने विचारा कि मैं यह वधू अब बन गया, अब यह कामरूप वरको शरीर दे देना चाहिए और कालोचित कृत्य अवश्य कर देना चाहिए ॥ ३३ ॥

इसीलिए कामरूपसे स्वामीकी कल्पना कर मनमें कहते हैं—'इयम्' इत्यादिसे ।

यह मैं कमनीय वधू हूँ और हृदयस्थ आप भर्ताके रूपमें सामने अवस्थित हैं, अतः हे कामरूप, आप आइये, मुझे स्वीकार कीजिए, यह आपका अवसर है ॥३४॥

यों मनमें विचारकर सामने वनवेदी-प्रदेशमें अवस्थित उदीयमान आदित्यके सदृश तेजस्वी भर्ताकी ओर, कामकी ओर रतिके सदृश, बढ़ गई ॥ ३५ ॥

हे मानद, आपकी मैं मदनिका नामकी भार्या हूँ, आपके चरणोंमें अनुरागपूर्वक प्रणाम करती हूँ ॥ ३६ ॥

इत्युक्त्वा साऽनवद्याङ्गी लज्जावनमितानना ।
लोलालकेन शिरसा प्रणनाम लसत्पतिम् ॥ ३७ ॥
उवाचेदं च हे नाथ त्वं मां भूषय भूषणैः ।
क्रमेणाऽग्निं च संज्वाल्य मत्पाणिग्रहणं कुरु ॥ ३८ ॥
राजसेऽतितरां राजन् मां करोषि स्मरातुराम् ।
रतेर्विवाहे मदनमभिभूयाऽधितिष्ठसि ॥ ३९ ॥
इन्दोरिवांशुजालानि राजन् माल्यानि तानि ते ।
मेरुगङ्गाप्रवाहाभां धत्ते हारस्तवोरसि ॥ ४० ॥
मन्दारकुसुमप्रोतैः कुन्तलैर्नृप राजसे ।
कनकाब्जमिवोल्लोलैर्भृङ्गैः खचितकेसरैः ॥ ४१ ॥
रत्नांशुजालैः कुसुमैः श्रिया स्थैर्येण तेजसा ।
रत्नस्थानं विभो मेरुमभिभूयाऽवतिष्ठसे ॥ ४२ ॥

यों कहकर निर्दोष अङ्गोंवाली तथा लज्जासे विनम्र मुखवाली उस मदनिकाने चञ्चल केशवाले मस्तकसे अपने शोभ रहे पतिको प्रणाम किया ॥ ३७ ॥

फिर उसने कहा—हे स्वामिन्, पहले मुझे अलङ्कारोंसे अलङ्कृत कीजिए तदनन्तर अग्नि प्रज्वलित कर शास्त्रोक्त प्रक्रियासे मेरा पाणिग्रहण कीजिए ॥ ३८ ॥

हे राजन्, आप इस समय खूब सुन्दर लग रहे हैं, मुझे कामपीडित कर रहे हैं। अधिक क्या कहूँ ! रतिके विवाहमें प्रसिद्ध कामदेवका भी अपनी शोभासे तिरस्कार कर आप स्थित हैं ॥ ३९ ॥

राजाकी उक्त शोभाका ही वर्णन करते हैं—'इन्दो०' इत्यादिसे ।

हे राजन्, आपकी प्रसिद्ध जो ये मालाएँ हैं, वे इन्दुकी किरणों-सी मालूम पड़ती हैं और आपके गलेका यह जो हार है, वह मेरुपर्वतपरके गङ्गाप्रवाहकी शोभा धारण कर रहा है ॥ ४० ॥

हे नृप, मन्दार-पुष्पोंसे गूँथे गये केशोंसे आप ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे केशरोंसे युक्त चञ्चल भ्रमरोंसे सुवर्ण कमल शोभते हों ॥ ४१ ॥

हे प्रभो, रत्नकिरणों, कुसुमों तथा स्थिर तेजोलक्ष्मीके कारण आप रत्नोंके स्थानभूत मेरुपर्वतका भी अतिक्रमण कर अवस्थित हैं ॥ ४२ ॥

एवमादि वदन्तौ तौ भविष्यन्नवदम्पती ।
प्रच्छन्नपूर्वदाम्पत्यौ मिथस्तुष्टौ बभूवतुः ॥ ४३ ॥
महाराज्ञीं मदनिकां महाराजः शिखिध्वजः ।
काञ्चनोपलपर्यङ्के निविष्टोऽभूषयत्स्वयम् ॥ ४४ ॥
अवतंसैस्तथा माल्यैर्मणिरत्नविभूषणैः ।
वस्त्रैर्विलेपनैः पुष्पै रुचिरस्थानकार्पितैः ॥ ४५ ॥
सा बभौ भूषिता तन्वी मदनी मददायिनी ।
गिरिजेव विवाहोत्का कामकान्तेव कामिनी ॥ ४६ ॥
महाराजो महाराज्ञीं भूषयित्वेदमाह ताम् ।
राजसे मृगशावाक्षि लक्ष्मीरिव नवोदिता ॥ ४७ ॥
शक्रेण सह यच्छच्या यल्लक्ष्म्या हरिणा सह ।
यद्गौर्याः शम्भुना सार्धं तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ४८ ॥

उस तरहके विविध वर्णन कर रहे वे कुछ ही क्षणमें होनेवाले दम्पती, जिनका कि पहलेसे ही गुप्त दाम्पत्य था, एक दूसरेसे अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहे थे ॥ ४३ ॥

इधर सुवर्णपत्थरके आसनपर बैठे हुए महाराज शिखिध्वजने महारानी मदनिकाको स्वयं खूब सजाया ॥ ४४ ॥

तत्-तत् विभूषणके लिए उपयोगी अङ्गोंमें समर्पित नानाविध अलङ्कारोंसे, चमकीले मणि, रत्न आदि विभूषणोंसे युक्त मालाओंसे, वस्त्रोंसे, अङ्गरागोंसे तथा फूलोंसे वह कोमलाङ्गी, मददायिनी मदनिका विवाहके लिए उत्कण्ठित गिरिजा और कामकी पत्नी कामिनी रतिके सदृश शोभने लगी ॥ ४५, ४६ ॥

महारानी मदनिकाको सजाकर महाराजा शिखिध्वजने कहा—हे मृगके बच्चेके सदृश नेत्रोंवाली, अब तुम नवोत्पन्न लक्ष्मीकी नाईं शोभित हो रही हो ॥ ४७ ॥

इन्द्रके साथ इन्द्राणीका जो सौभाग्य है, भगवान् विष्णुके साथ लक्ष्मीका जो सौभाग्य है, शम्भुके साथ गौरीका जो सौभाग्य है, वही सौभाग्य मेरे साथ तुम्हारा होवे ॥ ४८ ॥

पद्मकोशाङ्कुरहृदा लोलनीलोत्पलेक्षणा ।
आमोदशुभझाङ्कारा ख्यातस्थिता पद्मिनीव सा ॥ ४९ ॥
सुरक्तपल्लवकरा स्तनस्तबकधारिणी ।
त्वमनेकफला मन्ये कामकल्पतरोर्लता ॥ ५० ॥
हिमशीतावदाताङ्गी ज्योत्स्नाप्रसरहासिनी ।
पूर्णेन्दुश्रीरिवोद्युक्ता हृष्टैवाऽऽह्लादयस्यलम् ।
तदुत्तिष्ठ वरारोहे वेदीं वैवाहिकीं स्वयम् ॥ ५१ ॥

वसिष्ठ उवाच

तत्र पुष्पलताजालैः काण्डं प्रति शिलाङ्कितैः ।
मुक्ताकुसुमजालानां प्रकरैः स्तबकोपमैः ॥ ५२ ॥
चतुर्दिक्कं चतुर्भिश्च नालिकेरमहाफलैः ।
पूर्णकुम्भैस्तथा गङ्गावारिपूर्णैः प्रकल्पितैः ॥ ५३ ॥

स्तनके सदृश पद्मकोश और अनुरागके सदृश अङ्कुरोंसे युक्त हृदयवाली; नेत्रोंके सदृश चञ्चल नीलोत्पलवाली और आमोदोंके कारण मधुर भ्रमरझाङ्कारोंवाली विख्यात पद्मिनीके सदृश तुम अवस्थित हो ॥ ४९ ॥

अब कल्पलताके रूपमें उसका वर्णन करते हैं—'सुरक्त०' इत्यादिसे ।

हे मदनिके, तुम्हें मैं कल्पतरु वृक्षकी लता ही मानता हूँ, क्योंकि तुम्हारे हाथ ही सुन्दर लाल पल्लव हैं, ये स्तन ही तुमसे स्तवकोंके रूपमें धारण किये गये हैं और तुम अनेक फलोंसे लदी हो ॥ ५० ॥

भद्रे, तुम्हारे अङ्ग हिमके सदृश शीतल और निर्मल हैं, तुम्हारा हास्य ज्योत्स्नाका अनुकरण कर रहा है—इन सबके कारण तुम उदित पूर्णचन्द्रकी शोभाके सदृश हृष्ट होकर सुन्दर आह्लाद दे रही हो । हे वरारोहे, अब चलो, तुम स्वयं ही विवाहकी वेदीको अलङ्कृत करो ॥ ५१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, तदनन्तर उन दोनोंने वेदीमें लगे हुए जो खम्भे थे, उन्हें फूलवाली लताओंसे सजाया । उन लताओंमें फलोंके गुच्छोंकी तरह दिखाई पड़नेवाले हीरा, मानिक आदि नव तरहके रत्नपाषाणोंके गुच्छे लगाये गये थे । उसकी चारों दिशाएँ चार नारियलके फलोंसे तथा गङ्गाजलसे परिपूर्ण नवरचित चार घड़ोंसे सुशोभित की गई थीं ॥ ५२, ५३ ॥

ज्वालयामासतुस्तस्या मध्ये चन्दनदारुभिः ।
ज्वलनं ज्वालितज्वालं दक्षिणस्थं प्रदक्षिणम् ॥ ५४ ॥
पूर्वाभिमुखमेवाऽग्नेरग्रे पल्लवविष्टरे ।
नियोज्य दम्पती कान्तौ तयोर्विविशतुः स्वयम् ॥ ५५ ॥
स हुत्वा तिललाजानि पावकाय शिखिध्वजः ।
उत्थायोत्थाय कान्तां स पाणिभ्यां स्वयमाददे ॥ ५६
अन्योन्यं शोभमानौ तौ भवाविव वने शिवौ ।
चक्रतुर्दम्पती तस्य पावकस्य प्रदक्षिणम् ॥ ५७ ॥
स्वदायं ज्ञानसर्वस्वं हृदयं प्रेमचापलम् ।
ददतुस्तौ मिथोऽन्योन्यस्मितकान्तमुखश्रियौ ॥ ५८ ॥
प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा लाजांस्त्यक्त्वाऽथ वह्नये ।
भार्यावरौ समं तुष्टौ करौ तत्यजतुः क्रमात् ॥ ५९ ॥

उसके बाद वेदीके बीचमें विवाहके लिए अग्निकी स्थापना करके उसे चन्दनकी लकड़ियोंसे उन्होंने प्रज्वलित किया। ज्वालाके प्रज्वलित हो जानेपर दाहिने ओर स्थित उसकी प्रदक्षिणा की। फिर उसके आगे पल्लवोंके आसनपर पूर्वाभिमुख होकर वे स्वयं बैठ गये। उस समय वे दोनों दम्पती बड़े ही कमनीय लगते थे ॥ ५४, ५५ ॥

दोनोंमेंसे उस शिखिध्वजने स्वयं तिल और लाजाका अग्निमें होमकर बारबार उठ कर अपने हाथोंसे उस कान्ता मदनिकाका परिग्रह किया ॥ ५६ ॥

अरण्यमें गौरी और शङ्करकी नाईं परस्पर सुशोभित हो रहे मङ्गलस्वरूप उस दम्पतीने अग्निकी प्रदक्षिणा की ॥ ५७ ॥

एक दूसरेको शरीर देनेमें उन्होंने एक दूसरेको दान क्या दिया ? इसपर कहते हैं—'स्वदायम्' इत्यादिसे।

एक दूसरेके प्रेमके लिए लोलुप, ज्ञानरूप सर्वोपरि धनसे परिपूर्ण अपना-अपना हृदय ही उन्होंने एक दूसरेको अपने-अपने दायके रूपमें दान दिया। एक दूसरेके प्रति किये गये स्मित हाससे उनके कमनीय मुखमण्डलमें महती शोभा झलक रही थी ॥ ५८ ॥

उन्होंने अग्निकी पहले तीन प्रदक्षिणाएँ कीं, फिर उसमें लाजाहोम किया।

स्मयमानमुखौ कान्तौ चन्द्राविव नवोदितौ ।
पूर्वोपरचिते पुष्पतल्पे विविशतुर्नवे ॥ ६० ॥
एतस्मिन्नन्तरे चन्द्रश्चतुर्भागं नभस्तलात् ।
शनैराक्रमयामास शोभां द्रष्टुमिवाऽनयोः ॥ ६१ ॥
तस्मिंश्च ललनाछिद्रं द्रष्टुं दृष्टिरिवाऽभितः ।
लोलः सञ्चारयामास करानिन्दुर्लतागृहे ॥ ६२ ॥
तैस्तैर्नवकथालापैरिन्दावभ्युदिते त्वथ ।
तावासाञ्चक्रतुः कान्तौ दम्पती सुमुहूर्तकम् ॥ ६३ ॥
अथोत्थाय ज्वलद्रत्नदीपां काञ्चनकन्दराम् ।
स्वयं पूर्वोपरचितां गुप्तां विविशतुः प्रियौ ॥ ६४ ॥

इस वैवाहिक विधिसे बराबर सन्तुष्ट होकर उस वर-वधूने एक दूसरे द्वारा ग्रहण किया गया अपना-अपना हाथ छुड़ा लिया ॥ ५९ ॥

उनके कान्तिपूर्ण, स्मित कर रहे मुख नवीन उदित दो चन्द्रमाके सदृश लग रहे थे । अनन्तर पहलेसे निर्मित नूतन फूलोंके पलंगपर वे सोनेके लिए चले गये ॥ ६० ॥

इसी बीच चन्द्रने, आकाशतलसे मानो इनकी शोभा निहारनेके लिए, धीरे-धीरे रात्रिके चतुर्थभागपर आक्रमण किया यानी वैवाहिक कृत्य करते-करते रात्रिका प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया ॥ ६१ ॥

जैसे चपल कामुक जनकी दृष्टि ललनाओंका छिद्र देखनेके लिए एकान्तमें अपनी किरणें फेंकती है, वैसे ही चपल चन्द्रमाने ललनाका छिद्र देखनेके लिए लतागृहमें पुष्पशय्यापर अपनी किरणें फेंकीं ॥ ६२ ॥

अनन्तर पूर्णरूपसे चन्द्रके उदित हो जानेपर सङ्गमके लिए शुभ मुहूर्तकी प्रतीक्षा कर रहे उस सुशोभित दम्पतीने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नवीन वार्तालापोंसे स्वल्प समयतक विश्राम लिया ॥ ६३ ॥

अनन्तर उठकर उन दोनों प्रेमियोंने सुवर्णमय गुफामें, जिसमें कि चमकीले रत्नरूपी दीपक जल रहे थे, प्रवेश किया । इस गुफाका पहलेसे ही उन्होंने स्वयं निर्माण कर रखा था । वह इतनी गुप्त थी कि इसमें चन्द्रके किरणोंकी गति भी नहीं हो सकती थी ॥ ६४ ॥

ददर्शतुर्नवं तत्र तल्पं कुसुमकल्पितम् ।
परितो व्याप्तमुत्कीर्णैर्हेमपङ्कजराशिभिः ॥ ६५ ॥
मन्दारादिभिरन्यैश्च पुष्पैर्ग्लानिविवर्जितैः ।
उच्चकैः सुप्रमाणेन निर्मितैः कुसुमैः समैः ॥ ६६ ॥
दीर्घेन्दुबिम्बप्रतिमैस्तुषारस्थलशीतलैः ।
क्षीरोदजलधाराभं ज्योत्स्नासम्पिण्डसुन्दरम् ॥ ६७ ॥
प्रतिबिम्बमनङ्गस्य नतं भित्ताविव स्थितम् ।
सुगन्धमुन्नतं कान्तं चिरादन्यतयोत्थितम् ॥ ६८ ॥
मिथुनं पुष्पराशौ तन्न्यषीदत्परितोऽमले ॥
तस्मिन्समसमाभोगे क्षीरोदे मन्दरो यथा ॥ ६९ ॥
तैस्तैर्मिथः प्रणयपेशलवाग्विलासै-
स्तत्कालकार्यसुभगैः प्रणयोपचारैः ।

प्रवेश करनेके बाद उन्होंने वहाँपर कुसुमोंसे बना हुआ एक नवीन पलंग देखा। वह चारों ओर खोदे गये सुवर्णमय कमलोंसे, दूसरे मन्दार आदि अम्लान पुष्पोंसे, शय्या जितनी ऊँची होती है, उतने ऊँचे सुन्दर बराबर सजाये गये कुसुमोंसे—जो कि शय्याके सदृश लम्बे चन्द्रबिम्बके सदृश प्रतीत हो रहे थे और तुषार-स्थलीके सदृश शीतल थे—व्याप्त था। अधिक क्या कहें, वह सुन्दर तल्प क्षीरसागरकी जलधाराके सदृश धवल था, चन्द्रज्योत्स्नाके पिण्डके समान सुन्दर आह्लाद उत्पन्न करनेवाला था, भीतमें पड़ा हुआ कामदेवका मानो प्रतिबिम्ब ही था, उसमें सुगन्ध तो भरी पड़ी थी, यथा-प्रमाण ऊँचा था, बड़ा ही रमणीय था। पूर्णरूपसे निर्मल उस पुष्पराशिपर (पलंगपर) वह नवीन जोड़ा—जो कि राज छोड़नेके समयसे लेकर अभीतक वह भ्रान्ति-वश अपनेको दम्पती नहीं जान रहा था—बैठ गया। दोनोंको समानरूपसे सुखानुभव देनेवाले उस पलंगपर वे, क्षीरसागरमें मन्दराचलकी नाईं, शोभ रहे थे ॥ ६५–६९ ॥

भद्र, परस्पर अनिर्वचनीय प्रेमभरी मनोहर उन-उन वाणीके विलासोंसे तथा उस समयके लिए उचित आलिङ्गन आदि कृत्योंसे सुहावने गन्ध, माल्य, ताम्बूलके

सत्कान्तयोर्नवनवेन तयोः सुखेन
दीर्घा मुहूर्त इव सा रजनी जगाम ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे लीलाविवाहो नाम षडुत्तरशततमः सर्गः ॥१०६॥



सप्तोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ सूर्याख्यरङ्गेण रञ्जिते भुवनोदरे ।
शिखिध्वजाङ्गना प्रातर्मदनी कुम्भतां ययौ ॥ १ ॥

एवं महेन्द्रदर्यां तावुभौ कुम्भशिखिध्वजौ ।
स्वयं विवाहिताविष्टौ सम्पन्नौ देवदम्पती ॥ २ ॥

विलेमतुर्विचित्रासु प्रत्यहं वनराजिषु ।
प्रपक्वफलभारासु पुष्पपल्लविनीषु च ॥ ३ ॥

समर्पण आदि शुभ आचारोंसे जनित नवीन-नवीन संभोगसुखसे उस निर्मल दम्पतीकी लम्बी वह रात मुहूर्तके सदृश बीत गई ॥ ७१ ॥

एक सौ सात सर्ग

[अनेक पर्वतोंपर विहार, राजाकी अनासक्तिकी परीक्षाके लिए मायासे इन्द्रदर्शन कराना तथा स्वर्गको बुलाना आदि—इन सबका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, रात बीत जानेके बाद, जब कि प्रभातमें अंशुमाली सूर्यके लाल रङ्गने समस्त भुवनका कोना-कोना रँग दिया, तब शिखिध्वजकी भार्या मदनिका अपने पहलेके कुम्भरूपमें आ गई ॥ १ ॥

श्रीरामजी, मैंने आपसे जैसे कहा, वैसे वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज स्वतः विवाहित हो गये और देवताओंके सदृश भोगसामग्रीसे पूर्ण होनेके कारण वे प्रिय देवदम्पती ही बन गये ॥ २ ॥

प्रतिदिन ऐसी चित्रविचित्र वनपंक्तियोंमें विलास करते थे, जहाँ कि पके-पके फलोंके समूह भरे पड़े रहते थे और पल्लवोंकी अनोखी शोभा निखरती रहती थी ॥३॥

दिवा प्रीततरौ मित्रे यामिन्यामिष्टदम्पती ।
प्रभादीपाविव श्लिष्टौ न वियुक्तौ बभूवतुः ॥ ४ ॥
रेमाते वनकुञ्जेषु गुहासु च महीभृताम् ।
तमालजालखण्डेषु मन्दारगहनेषु च ॥ ५ ॥
सह्यदर्दुरकैलासमहेन्द्रमलयेषु च ।
गन्धमादनविन्ध्याद्रिलोकालोकतटेषु च ॥ ६ ॥
दिनैस्त्रिभिस्त्रिभिर्गत्वा निद्रां गतवति प्रिये ।
चूडाला राजकार्याणि कृत्वा स्वभ्याययौ पुनः ॥ ७ ॥
तौ दिवा सुहृदौ मित्रे दम्पती कुम्भभूमिपौ ।
नानाकुसुमसंवीतौ तस्थतुर्मुदितौ मिथः ॥ ८ ॥
मासमेकं महेन्द्राद्रौ रम्ये सरलसङ्कुले ।
रत्नकुड्ये गुहागेहे पूजितौ सुरकिन्नरैः ॥ ९ ॥

दिनमें तो वे अत्यन्त प्रिय मित्र बन जाते थे और रातमें प्रिय पतिपत्नी बन जाते थे । प्रभा और दीपककी नाईं इतने वे मिले-जुले थे कि कभी अलग होते ही नहीं थे ॥ ४ ॥

उन्होंने अरण्यके कुञ्जोंमें, पर्वतोंकी गुफाओंमें, मन्दारवृक्षोंसे अतिगहन (घने) तमालवृक्षोंकी झाड़ियोंमें, सह्याद्रि, दर्दुर, कैलास, महेन्द्र, मलय, गन्धमादन, विन्ध्याचल तथा लोकालोक पर्वत और नदियोंके तटोंमें रमण किया ॥ ५, ६ ॥

तीन दिन बीत जानेके बाद जब कि उसके पति निद्रा ले रहे थे, तब वह चूडाला अपने नगरकी ओर जाकर वहाँ राजकार्योंका सम्पादन कर फिर वापस आ गई ॥ ७ ॥

वे कुम्भ और शिखिध्वज, जो दिनमें स्वच्छहृदय मित्र और रातके प्रिय पति-पत्नी थे, अनेक तरहके पुष्पोंसे मालित होकर परस्पर अत्यन्त मुदित रहते थे ॥ ८ ॥

किस-किस स्थानमें कितने-कितने समयतक वे रहे, यह बतलाते हैं—'मासमेकम्' इत्यादिसे ।

महीनेभर तो उन्होंने महेन्द्र पर्वतके ऊपरके गुफाघरमें निवास किया ।

हस्तलभ्योदितामोघमन्दारवनमालिते ।
एवं शुक्तिमतः पृष्ठे पक्षं कल्पलतागृहे ॥ १० ॥
मासद्वयं पक्षवतो गिरेर्दक्षिणदिक्तटे ।
पारिजातवने देवपुष्पस्तबकमण्डपे ॥ ११ ॥
जम्बूखण्डतले मेरोः पादे जम्बूनदीतटे ।
जाम्बूनदमये मासं जम्बूफलरसासवैः ॥ १२ ॥
दशोत्तरकुरूणां च मण्डले दिवसानि तौ ।
कोसलेषूत्तरस्थेषु सप्तविंशतिवासरान् ॥ १३ ॥
एवमन्येषु देशेषु विचित्रेषु महीभृताम् ।
स्थितवन्तौ महाभागौ सुहृदौ निशि दम्पती ॥ १४ ॥

वह घर अत्यन्त रमणीय था, उसके चारों ओर चीड़के ऊँचे वृक्ष लगे थे, उसकी दीवारें रत्नशिलाओंकी बनी थीं। वहांपर देवता और किन्नर उनका आगत-स्वागत खूब किया करते थे ॥ ९ ॥

उसके बाद उन्होंने उसी तरह पन्द्रह दिनतक शुक्तिमान् पर्वतके पृष्ठके, जो कि हाथोंसे लेने योग्य, अनेक दुःखोंके विनाशक फल, पुष्प आदिसे युक्त मन्दारोंके कारण वनमालासे मालित हो गया था, कल्पवल्लीके कुञ्जमें निवास किया ॥ १० ॥

दो मासतक मैनाक पर्वतके दक्षिणके तटपर पारिजात वनमें, जो कि देवताओंके भोग्य फूलोंके गुच्छोंका मण्डप ही था, रहकर विहार किया ॥ ११ ॥

तदनन्तर मेरुपर्वतके दक्षिण भागकी ओर स्थित जामुनके वृक्षोंके वनखण्डके नीचे विद्यमान जम्बू नदीके किनारे, जो कि हाथीके जैसे बड़े-बड़े जामुनोंके रसरूपी आसवोंके कारण जामुनोंका नदरूप हो गया था, मासभर निवास किया ॥ १२ ॥

उत्तरी कुरुओंके मण्डलमें वे दस दिनतक रहे और सत्ताईस दिनतक उत्तरके कोशल देशमें रहे ॥ १३ ॥

रातमें पति-पत्नीरूप हो जानेवाले उन महाभाग्यवान् मित्रोंने उसी तरह दूसरे-दूसरे चित्र-विचित्र देशोंमें और पर्वतोंपर रहकर खूब विहार किया ॥ १४ ॥

ततो यातेषु मासेषु शनैः कतिपयेषु सा ।
चूडाला चिन्तयामास देवपुत्रकरूपिणी ॥ १५ ॥
सुरूपभोगभारेण परीक्षेऽहं शिखिध्वजम् ।
मा कदाचन चेतोऽस्य भोगेषु रतिमेष्यति ॥ १६ ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला मायया विपिनावनौ ।
आगतं दर्शयामास ससुराप्सरसं हरिम् ॥ १७ ॥
इन्द्रमभ्यागतं दृष्ट्वा परिवारसमन्वितम् ।
यथावत् पूजयामास वनसंस्थः शिखिध्वजः ॥ १८ ॥

शिखिध्वज उवाच

आत्मना किं कृता दूरादभ्यागमकदर्थना ।
देवराज यथा तन्मे प्रसादाद्वक्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

इन्द्र उवाच

इमे वयमिहाऽऽयातास्त्वद्गुणातिशयेन खात् ।
हृदि लग्नेन सूत्रेण खगा वनगता इव ॥ २० ॥

तदनन्तर धीरे-धीरे कुछ महीनोंके व्यतीत हो जानेके पश्चात् देवपुत्रका स्वरूप धारण की हुई वह चूडाला विचार करने लगी ॥ १५ ॥

अब मैं सुन्दर-सुन्दर नानाविध उपभोगोंसे शिखिध्वजकी परीक्षा करूँगी। परीक्षाके द्वारा इसकी अनासक्ति में जब दृढ़ कर दूँगी, तभी यह फिर कभी भोगोंमें प्रेम नहीं करेगा ॥ १६ ॥

यों विचार कर चूडालाने जङ्गलभूमिमें अपनी मायासे देवताओं और अप्सराओंके साथ-साथ आये हुए इन्द्रको दिखलाया ॥ १७ ॥

अपने परिवारके साथ आये हुए इन्द्रको देखकर वनमें वास किये हुए राजा शिखिध्वजने पहले उनकी यथा-विधि अर्घ्य, पाद्य आदिसे पूजा की [, फिर उनसे प्रश्न किया] ॥ १८ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे देवराज, आपने स्वयं इतने दूरसे यहाँ आनेका परिश्रम क्यों उठाया। जिस प्रयोजनको लेकर आप यहाँ पधारे हों, उसे प्रसन्नता-पूर्वक कहिए ॥ १९ ॥

इन्द्रने कहा—हे राजन्, हम लोगोंके हृदयमें लगे हुए सूत्ररूपी आपके

उत्तिष्ठ स्वर्गमागच्छ तत्र सर्वे त्वदुन्मुखाः ।
त्वद्गुणश्रवणाश्चर्याः स्थिता देवाङ्गनागणाः ॥ २१ ॥
पादुकागुटिकाखड्गरसादीदमथापि च ।
गृहीत्वा सिद्धमार्गेण स्वीकुरु स्वर्गमण्डलम् ॥ २२ ॥
आगत्य विविधा भोगास्त्वया विबुधसद्मनि ।
जीवन्मुक्तेन भोक्तव्यास्तेन त्वामहमागतः ॥ २३ ॥
विमानयन्ति संप्राप्तां न तिरस्करणैः श्रियम् ।
नाभिवाञ्छन्ति न प्राप्तां त्वादृशाः साधु साधवः ॥ २४ ॥
अविघ्नमागतेनाऽद्य सुखं विहरता त्वया ।
स्वर्गः पवित्रतां यातु हरिणेव जगत्रयम् ॥ २५ ॥

सद्गुणोंके आधिक्यसे वशीभूत होकर ये हम यहां उस तरह आ गये हैं, जिस तरह हृदयमें बँधे हुए सूत्रसे वशीभूत होकर अरण्यके पक्षी आ जाते हैं ॥ २० ॥

राजन्, उठिये और स्वर्ग चलिये, क्योंकि वहांपर आपके गुणोंके श्रवणसे जनित महान् आश्चर्यसे चकित हुए समस्त देवता और देवाङ्गनाएँ आपके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ २१ ॥

आकाशमें गमन करनेकी तो मुझमें शक्ति है नहीं, फिर मैं स्वर्गमें कैसे आऊँ, इसपर कहते हैं—'पादुका०' इत्यादिसे ।

राजन्, और भी इन सिद्धपादुका, गुटिका, खड्ग, पारद आदिका स्वीकार कर सिद्धोंके मार्गसे आप स्वर्गमण्डलमें आनेका अङ्गीकार कीजिए ॥ २२ ॥

हे राजन्, देवताओंके वासस्थान स्वर्गमें आकर आप जीवन्मुक्त रह कर ही अनेक तरहके सुखोपभोग भोगें, इसी हेतुसे मैं आपके समीप आया हूँ ॥ २३ ॥

हे तत्त्वज्ञ, आपके सरीखे जो साधु महात्मा हैं, वे अपने पास आई हुई लक्ष्मीका अस्वीकार कर अपमान नहीं करते और अप्राप्त लक्ष्मीकी अभिलाषा भी नहीं करते ॥ २४ ॥

महात्मन्, जिस तरह भगवान् नारायणके आगमनसे तीनों लोक पवित्र होते हैं, वैसे ही निर्विघ्न सुखपूर्वक विहार कर रहे आपके आगमनसे आज ही स्वर्ग पवित्र हो जाय ॥ २५ ॥

शिखिध्वज उवाच

सर्वं स्वर्गसमाचारं वेद्मि देवाधिनायक ।
किन्तु सर्वत्र मे स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित् ॥ २६ ॥
सर्वत्रैव हि तुष्यामि सर्वत्रैव रमे प्रभो ।
अवाञ्छनत्वान्मनसः सर्वत्रानन्दवानहम् ॥ २७ ॥
नियतं किञ्चिदेकत्र स्थितं स्वर्गकमीदृशम् ।
शक्र गन्तुं न जानामि त्वदाज्ञां न करोम्यहम् ॥ २८ ॥

शक्र उवाच

साधो विदितवेद्यानां परिपूर्णधियां समम् ।
सज्जनाचरितं युक्तं मन्ये भोगोपसेवनम् ॥ २९ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे देवताओंके अधिनायक, मेरा मन्तव्य तो यह है कि सभी स्थल (देश) स्वर्गके सदृश ही सुखप्रद हैं; क्योंकि मैं जिस भूमानन्दात्मक परम आत्माको स्वर्ग मानता हूँ, उसकी सर्वत्र सत्ता है। मेरे लिए कहींपर परिच्छिन्न स्वर्ग है नहीं ॥ २६ ॥

पूर्णकाम होनेसे भी मेरे लिए सर्वत्र सुख है, यों कहते हैं—'सर्वत्रैव' इत्यादिसे ।

हे प्रभो, मैं सभी जगह सन्तुष्ट रहता हूँ, सभी जगह विहरण करता हूँ। मेरे मनमें कोई भी इच्छा नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ, वहाँ सर्वत्र ही मैं आनन्दसे परिपूर्ण रहता हूँ ॥ २७ ॥

हे इन्द्र, इन सब बातोंसे मैं परिच्छिन्न किसी एक स्थानमें रहनेवाले ऐसे तुच्छ स्वर्गके प्रति जानेकी सम्भावना ही नहीं कर सकता। अतः लाचारी है कि मैं आपकी आज्ञाका पालन नहीं कर सकूँगा। जो विषय असम्भव है, उसके लिए आपको आज्ञा देना ही अनुचित है, अतः आज्ञापालन न करना मेरा अपराध नहीं हो सकता, यह तात्पर्य है ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—हे साधो, जिन लोगोंने जानने योग्य तत्त्व जान लिया है और जिनकी बुद्धि परिपूर्ण हो गई है, वे भोग भोगें चाहे न भोगें, दोनों ही बराबर हैं। ऐसा होनेपर भी विषयोपभोग सज्जनोंने अपने प्रारब्धका क्षय करनेके लिए किया ही है और मैं भी उसे अच्छा ही मानता हूँ ॥ २९ ॥

देवेशे प्रोक्तवत्येवं तूष्णीमेव स्थिते नृपे ।
किमितो नापयाम्येष त्वमिति प्रोक्तवान् हरिः ॥ ३० ॥
नाऽहमद्यैव कालेन वदतीति शिखिध्वजे ।
कल्याणं तेऽस्तु कुम्भेति वदन्नन्तर्धिमाययौ ॥ ३१ ॥
तद्देववृन्दमखिलं त्रिदशेशयुक्तं
तत्र क्षणादलमदृश्यमभूद्द्वितीयम् ।
कल्लोलराशिरिव वारिनिधौ प्रशान्ते
वाते स्फुरन्मकरफेनफणीन्द्रवृन्दः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शक्रगमनं नाम सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥



यद्यपि इस तरह दूसरी बार इन्द्रने राजासे कहा तथापि स्वर्ग जानेकी इच्छा न रहनेके कारण राजा शिखिध्वज प्रत्युत्तर न देकर जब चुपचाप मौन ही रहे, तब पुनः सखेद देवराजने कहा—राजन् यदि आप स्वर्गके लिए निरपेक्ष ही हैं, तो मैं ही यहाँसे क्यों न चला जाऊँ। क्योंकि मेरे आनेमें जो प्रयोजन रहा, उसकी सिद्धि तो आपसे हो नहीं रही है ॥ ३० ॥

उसके बाद जब कि राजा अपनी अर्ध स्वीकृति दे कर कह रहे थे कि मैं आज तो स्वर्ग नहीं आऊँगा, परन्तु फिर राज्यगद्दीपर बैठकर पहलेकी तरह आपके शत्रुओंको मारनेके लिए स्वर्गमें आ जाऊँगा। तब 'हे राजन्, आपको राज्यप्राप्तिरूप कल्याण शीघ्र हो' यों आशीर्वाद देते हुए देवराज इन्द्र अन्तर्हित हो गये ॥ ३१ ॥

देवराज इन्द्रके अदृश्य हो जानेपर उनके साथका दूसरा देवसमूह भी ऐसे अदृश्य हो गया, जैसे समुद्रमें वायुके अदृश्य हो जानेपर व्याकुल हुए मगर, फेन, सर्प आदिसे युक्त तरङ्गसमूह अदृश्य हो जाता है ॥ ३२ ॥

एक सौ सात सर्ग समाप्त

अष्टोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तां मायां शममानीय चूडाला समचिन्तयत् ।
दिष्ट्या भोगेच्छया नाऽयं ह्रियते वसुधाधिपः ॥ १ ॥
शान्तः समसमाभोग एवं शक्रसमागमे ।
असंरम्भमहेलं च कृतवान् व्यावहारिकम् ॥ २ ॥
भूय एव प्रपञ्चेन विमृशाम्येव सादरम् ।
रागद्वेषप्रधानेन केनचिद्बुद्धिहारिणा ॥ ३ ॥
इति सञ्चिन्त्य सा रात्राविन्दावभ्युदिते वने ।
गृहीतमञ्जनारूपं कान्ता मदनिका सती ॥ ४ ॥

एक सौ आठ सर्ग

[क्रोधकी परीक्षा करनेके लिए मायासे चूडालाका राजाको उपपतिसमागम दिखलाना तथा अन्तमें अपना असली रूप दिखलाना—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, इन्द्रके आनेकी मायाका उपसंहार कर चूडाला विचारने लगी—सौभाग्यका विषय है कि यह भूमिपति विषयभोगोंकी लालसाओंसे आकृष्ट तो नहीं हुआ ॥ १ ॥

इन्द्रके आनेपर भी यह इस प्रकार शान्त रहा और उसके मुख आदि अवयवोंकी स्थिति भी आकाशके सदृश विशुद्ध रही । इसने इन्द्रका अर्घ्य, पाद्य आदिसे पूजन भी किसी तरहके क्षोभके बिना शिष्टोंके-जैसा उचितरूपसे किया ॥ २ ॥

अब मैं दूसरी बार भी इसकी राग-द्वेषसे भरे, बुद्धिमें क्षोभ पैदा करानेवाले किसी मायाप्रपञ्चको रचकर आदरपूर्वक परीक्षा करती हूँ [देखें, उत्तीर्ण होता है कि नहीं] ॥ ३ ॥

इस प्रकार विचार कर वह रात्रिमें चन्द्रमाका उदय हो जानेपर कमनीय सती मदनिकाके रूपमें परिवर्तित हो गई । उस समय जब कि अरण्यमें खिले फूलोंसे युक्त वृक्ष और लताओंकी समृद्धिसे परिपूर्ण, मधुर सुगन्धसे भरपूर मलय-पर्वतकी वायु बह रही थी, राजा शिखिध्वज भी सन्ध्याकालके जपकर्ममें तत्पर

वाते वहति फुल्लाढ्ये मधुरामोदमांसले ।
सन्ध्याजप्यपरे नद्यास्तीरसंस्थे शिखिध्वजे ॥ ५ ॥
सन्तानकलतागेहं नीरन्ध्रैः पुष्पगुच्छकैः ।
शुद्धान्तं वनदेवीनां प्रविवेश मदान्विता ॥ ६ ॥
तत्र सङ्कल्पिते पुष्पशयने माल्यमालिता ।
कण्ठे सङ्कल्पितं कान्तं खिङ्गमादाय संस्थिता ॥ ७ ॥
आगत्याऽन्विष्य कुञ्जात्स प्रददर्श शिखिध्वजः ।
लतागेहे मदनिकां कण्ठे खिङ्गं मनोहरम् ॥ ८ ॥
कुन्तलावलितस्कन्धं समालब्धं च चन्दनैः ।
शयनावृत्तिनिक्षेपपर्याकुलितशेखरम् ॥ ९ ॥
हेमाभे द्विगुणाकारबालाबाहूपधानके ।
संसक्तश्रवणापाङ्गकपोलतलकुन्तलम् ॥ १० ॥

होकर भागीरथीके तटपर स्थित थे, तब सघन फूलोंके गुच्छोंसे युक्त, वनदेवियोंके अन्तःपुररूपी देवतरुओंके छोटे-छोटे लताकुञ्जमें उसने काममदसे युक्त होकर प्रवेश किया। वहाँ मालाओंसे अलङ्कृत होकर वह मदनिका सङ्कल्पसे रचित पुष्पशय्यापर मायासे बनाये गये अपने अनुरूप युवा जार पुरुषको—जिसको कि दाढ़ी-मूँछ निकली नहीं थी अतएव जो दाढ़ी-मूँछवाले शिखिध्वजकी अपेक्षा अधिक सुन्दर लगता था, जिसे लताकुञ्जमें प्रवेशके पहलेसे ही उसने अपने गले लगाया था—लेकर लेट गई ॥ ४—७ ॥

जपकर्मके अनन्तर सन्ध्याके स्थान कुञ्जसे उठकर राजाने मदनिकाका अन्वेषण आरम्भ किया। अन्वेषण करनेपर उसने लताकुञ्जमें मदनिकाको और उसके गले लगे सुन्दर जार पुरुषको देखा ॥ ८ ॥

उस जार युवाके कन्धे मदनिकाके केशोंसे और उसके अपने दीर्घकेशों वेष्टित हो गये थे। उसका सारा शरीर चन्दनोंसे अवलिप्त था। उसके माथेपर केश-भूषण शय्यापर बार-बार इधर-उधरके परिवर्तन एवं परस्परके मर्दनों अस्त-व्यस्त हो गये थे ॥ ९ ॥

सुवर्णके सदृश कान्तिवाले, मोड़नेके कारण आकारमें द्विगुण हुए मदनिका भुजरूपी तकियेपर वह जार अपना कान, आँखका आखिरी भाग, कपोलतल व केश रखकर लेट रहा था ॥ १० ॥

मिथुनं तद्ददर्शाऽथ मिथः प्रहसिताननम् ।
अन्योन्यवदनासक्तं छन्नं कल्पलतांशुकैः ॥ ११ ॥
आलोलमाल्यशयनं मदनातुरमाकुलम् ।
अङ्गलग्नच्छलेनाऽऽत्मरागमन्योन्यमर्पयत् ॥ १२ ॥
अभ्युन्मुखं समानन्दमुद्दाममदमन्थरम् ।
परस्पराहतं पुष्पैर्वक्षोभ्यां पीडितस्तनम् ॥ १३ ॥
तदालोक्याऽविकारेण चेतसाऽलं तुतोष सः ।
अहो सुखं स्थितौ खिन्नावित्याह स शिखिध्वजः ॥ १४ ॥
तिष्ठताऽङ्ग यथाकामं सुखं खिन्नौ यथास्थितम् ।
विघ्नं माकरवं भीतावित्युक्त्वा निर्जगाम सः ॥ १५ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण प्रपञ्चं तमुपेक्ष्य सा ।
निर्ययौ दर्शयन्ती स्वं रतिफुल्लाकुलं वपुः ॥ १६ ॥

शिखिध्वजने तदनन्तर यह भी देखा कि स्त्री-पुरुष दोनोंके मुख परस्परके हाससे पूर्ण हैं। एक दूसरेका मुख एक दूसरेके मुखसे लगा हुआ है। इन्होंने कल्पलताके वस्त्र पहिने हैं ॥ ११ ॥

उन्होंने चञ्चल माल्ययुक्त पुष्पशय्यापर शयन किया है, ये कामसे आतुर और पूर्ण व्याकुल हैं, अपने अङ्गोंके आलिङ्गनके बहाने एक दूसरेको अपना प्रेम समर्पण कर रहे हैं ॥ १२ ॥

ये एक दूसरेके सामने ही मुख किये हुए हैं, बड़े आनन्दमें मस्त हैं, प्रबल काममदके कारण इनको बाह्यवस्तुकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं है, फूलोंसे एक दूसरेका ताडन कर रहे हैं और छातियोंसे ही स्तनोंका मर्दन कर रहे हैं ॥ १३ ॥

यह सब देखकर राजा क्रोधरूपी विकारसे रहित अन्तःकरणसे अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और उसने यह कहा—बहुत ही आनन्दका विषय है कि ये दोनों व्यभिचारी कैसे आनन्दपूर्वक अवस्थित हैं ॥ १४ ॥

अकस्मात् आये हुए अपनेको देखकर डरे हुए उन दोनोंके प्रति राजाने कहा—हे प्रिये, तुम दोनों अपनी इच्छाके अनुसार सुखसे जैसे स्थित हो, उसी तरह स्थित रहो, मैं तुम लोगोंके कार्यमें विघ्न क्यों डालूँ। यों कहकर वे राजा वहांसे हट गये ॥ १५ ॥

तदनन्तर एक मुहूर्तमात्रमें उस मायाजालका उपसंहार कर प्रिय उपपतिके

उपविष्टं ददर्शैनं नृपं हेम शिलातले ।
समाधिसंस्थमेकान्ते मनाग्विकसितेक्षणम् ॥ १७ ॥
तं प्रदेशमुपागम्य लज्जावनमितानना ।
तूष्णीमासीत् क्षणं खिन्ना म्लाना मदनिकाऽङ्गना ॥ १८ ॥
क्षणाच्छिखिध्वजो ध्यानाद्विरतस्तामुवाच ह ।
अत्यन्तमधुरं वाक्यमिदमक्षुब्धया धिया ॥ १९ ॥
तन्वि किं शीघ्रमेव त्वं विघ्नितानन्दमागता ।
आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानिचित् ॥ २० ॥
भूयस्तोषय तं गच्छ कान्तं प्रणयवृत्तिभिः ।
परस्परेप्सितस्नेहो दुर्लभो हि जगत्त्रये ॥ २१ ॥
अहमेतेन चाऽर्थेन नोद्वेगं यामि मानिनि ।
यद्यदिष्टतमं लोके तत्तदेवं विजानता ॥ २२ ॥

साथ संभोग करनेके कारण विकसित शरीरको दिखलाती हुई वह चूड़ाला लता-कुञ्जसे बाहर निकल आई ॥ १६ ॥

इस राजाको उसने सुवर्णकी शिलापर बैठे हुए देखा । वे एकान्तमें समाधि लगाकर बैठे थे, उनके नेत्र कुछ-कुछ विकसित (खुले हुए) थे ॥ १७ ॥

जहाँ राजा बैठे हुए थे, उस प्रदेशमें जाकर लज्जासे विनम्रमुख होकर अङ्गना मदनिका क्षणभर चुपचाप खड़ी हो गई । उस समय उसके मनमें अपने पापकर्मके लिए भारी खेद था और उसका मुख फीका पड़ गया था ॥ १८ ॥

एक क्षणके बाद ध्यानसे उठकर राजा शिखिध्वज उस मदनिकाके प्रति क्षोभ-रहित अन्तःकरणसे अत्यन्त मधुर यह वाक्य बोले ॥ १९ ॥

हे तन्वि, क्या शीघ्र ही किसीने तुम्हारे आनन्दमें बाधा पहुँचाई, अच्छा, कहो, तुमने आनन्दका उपभोग तो किया न । समस्त प्राणी केवल एकमात्र आनन्दके लिए ही जिस-किसी वस्तुके ग्रहणमें प्रयत्न करते हैं ॥ २० ॥

हे विलासिनि, जाओ, फिर उस अपने कान्तको प्रेमभरी चेष्टाओंसे सन्तुष्ट करो, क्योंकि तीनों जगत्में परस्पर स्वाभाविक स्नेह बड़ा दुर्लभ होता है ॥ २१ ॥

हे मानिनि, तुम्हारे इस कार्यसे मैं किसी तरहके उद्वेगका अनुभव नहीं करता, क्योंकि संसारकी वस्तुस्थिति जो जानते हैं, उन्होंने जानना चाहिए—इस संसारमें

अहं कुम्भश्च तन्वङ्गि वीतरागाविहेनग ।
दुर्वासःशापजा बाला त्वं यदिच्छसि तत्कुरु ॥ २३ ॥
मदनिकोवाच
एवमेष महाभाग स्त्रीस्वभावो हि चञ्चलः ।
कामो ह्यष्टगुणः स्त्रीणां न कोपं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥
अबलाऽहमनेनाऽस्मि रात्रौ गहनकानने ।
त्वयि सन्ध्याजपपरे किं करोमि वराकिका ॥ २५ ॥
अबला वा कुमारी वा जारेण रतिरोधनम् ।
करोति परिखिन्नेन नाङ्गे स्वे विनिवेशितम् ॥ २६ ॥
स्त्रियः सुन्दरतां याताः पुरः पुंसामसङ्गमे ।
मन्युर्निषेध आक्रन्दः सतीत्वं किं करिष्यति ॥ २७ ॥

जो जो वस्तु इष्टतम (अति प्यारी) है, वह सब वस्तु तुम्हारे सदृश ही है यानी दूसरेके उपभोगके योग्य है । इसलिए तुम्हारे कार्यसे मेरी कुम्भमें श्रद्धा नष्ट नहीं हो सकती ॥२२॥

हे कोमलाङ्गि, मैं और कुम्भ दोनों तो यहां किसी तरहके रागसे छूये ही नहीं गये हैं । तुम तो उन दोनोंसे भिन्न कोई तीसरी दुर्वासा मुनिके शापसे पैदा हुई बाला हो । अतः तुम जो चाहो, वह बे-रोक-टोक कर सकती हो ॥ २३ ॥

मदनिकाने कहा—हे महाभाग, आप जो कह रहे हैं, वह सब ठीक ही कह रहे हैं, क्योंकि यह स्त्रीका स्वभाव ही महान् चञ्चल है । स्त्रियोंमें आठगुना काम रहता है, अतः महाराज, आप मेरे ऊपर क्रोध न करें ॥ २४ ॥

महाराज, मैं तो अबला हूँ, आप जब सन्ध्या-जपमें बैठे हुए थे, तब इस गहन काननमें रात्रिमें इस कामी पुरुषने मुझसे प्रार्थना की । मैं बेचारी दीन अबला क्या कर सकती हूँ ॥ २५ ॥

राजन्, जिसका विवाह हो गया है, वह पति-पराधीन होनेके कारण स्वातन्त्र्यबलसे हीन ही है—इस तरहकी अबला और अविवाहित तारुण्ययुत कुमारी—दोनों भी एकान्तमें कामी जनको पाकर रतिका निरोध नहीं ही कर सकतीं, यह स्त्रियोंका स्वभाव है । यदि दैववश रतिमें बाधा पहुँची, तो कामी पुरुष अपने शरीरमें मन आदिकी स्थिरता नहीं कर सकता यानी चञ्चलतर हुए मन आदिसे युक्त वह सन्तप्त होने लगता है ॥ २६ ॥

ऐसी स्त्रियां परपुरुषका समागम नहीं कर सकतीं, जिनके पास पुरुषोंको वशमें

अबला स्त्री तथा बाला मूढाऽहमपराधिनी ।
क्षन्तुमर्हसि नाथ त्वं क्षमावन्तो हि साधवः ॥ २८ ॥

शिखिध्वज उवाच

मन्युर्मम न बालेऽन्तर्विद्यते ख इव द्रुमः ।
केवलं साधुनिन्द्यत्वान्नेच्छामि त्वामहं वधूम् ॥ २९ ॥
सुहृत्त्वेन वनान्तेषु पूर्ववत् सुखमङ्गने ।
वीतरागतया नित्यं सममेव रमावहे ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं समतया तत्र स्थिते तस्मिञ्छिखिध्वजे ।
चूडाला चिन्तयामास तत्सत्त्वेनोदिताशया ॥ ३१ ॥

करनेवाला सौन्दर्य नहीं है और जिनके पास वैसा सौन्दर्य है, वे यदि एकान्तमें परपुरुषके सामने हो जायँ, तो उनका समागम न होनेमें कोई कारण ही मालूम नहीं पड़ता। ऐसी स्थितिमें स्वामीका क्रोध; शास्त्रीय निषेध, जनापवाद, सतीत्व आदि क्या कर सकेंगे यानी प्रबलतर रतिरागसे बाधित हुए वे क्रोध आदि एकान्तमें जारके साथ नाता जोड़नेमें बाधक नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

हे स्वामिन्, मैं अबला स्त्री हूँ, बाला हूँ, मूर्ख हूँ, मैंने भयङ्कर अपराध किया है; आप क्षमा प्रदान कीजिए, क्योंकि साधु पुरुष क्षमाशील ही हुआ करते हैं ॥ २८ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे बाले, मेरे अन्तःकरणमें तो तुम्हारे कृत्यसे, आकाशमें वृक्षकी नाईं, तनिक भी क्रोध नहीं है। केवल शिष्टजनोंकी निन्दाके भयसे मैं तुम्हें अपनी वधूके रूपमें अब नहीं चाहता ॥ २९ ॥

हे अङ्गने, अब हम दोनों केवल मित्रतासे इन वनप्रान्तोंमें पहलेकी नाईं रागनिर्मुक्त होकर निरन्तर साथ-साथ ही सुखपूर्वक खेल-कूद किया करेंगे ॥ ३० ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, वहाँपर उस तरह अविकृत रूपसे जब राजा शिखिध्वज स्थित थे, तब परीक्षित उसके राग-द्वेषकी वासनाओंसे निर्मुक्त अन्तःकरणसे अत्यन्त प्रसन्न हुई वह चूडाला अपने मनमें विचार करने लगी ॥ ३१ ॥

अहो बत परं साम्यं भगवानयमागतः ।
वीतरागतयाऽक्रोधो जीवन्मुक्तोऽवतिष्ठते ॥ ३२ ॥
नैनं हरन्ति ते भोगा न महत्योऽपि सिद्धयः ।
न सुखानि न दुःखानि नाऽऽपदो न च सम्पदः ॥ ३३ ॥
चिन्तिताः सकला एकं प्रयन्त्येनमनिन्दिताः ।
मन्ये महर्धयः कान्ता नारायणमिवाऽपरम् ॥ ३४ ॥
आत्मवृत्तान्तमखिलं तमेनं स्मारयाम्यहम् ।
कुम्भरूपमिदं त्यक्त्वा चूडालैव भवाम्यहम् ॥ ३५ ॥
इति सञ्चिन्त्य चूडाला चूडालावपुरक्षता ।
दर्शयामास तत्राऽऽशु त्यक्त्वा मदनिकावपुः ॥ ३६ ॥

अहो ! निश्चय ही ये मेरे भगवान् शिखिध्वज सर्वोच्च समभावको प्राप्त हो गये हैं । रागसे निर्मुक्त हो जानेके कारण इनमें क्रोधका तो नामो-निशान नहीं रहा, ये सचमुच जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं ॥ ३२ ॥

इन्द्रके द्वारा जो उत्तमोत्तम भोग और बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ दी जा रही थीं, उन भोगोंने और सिद्धियोंने इनको अपनी ओर तनिक भी नहीं खींचा । इनको न सुख, न दुःख, न आपत्तियाँ और न सम्पत्तियाँ ही अपनी ओर खींच सकती हैं ॥ ३३ ॥

मैं जिन्हें जीवन्मुक्तोंका लक्षण मानती हूँ, वे सब शान्ति, क्षमा, धीरज, तृप्ति आदि प्रशंसित और कमनीय बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ इस समय अकेले इन्हींका आश्रयण कर रही हैं । अब मैं इन्हें दूसरे नारायणके रूपमें मान रही हूँ ॥ ३४ ॥

बड़े-बड़े विशिष्ट गुणोंकी स्थिति हो जानेके कारण इन्हें मेरे वृत्तान्तका यदि स्मरण दिलाया जाय, तो बहुत अच्छा हो । चूँकि ये पूर्णरूपसे योग्य हो चुके हैं, इसलिए मैं अपना समस्त वृत्तान्त इन्हें स्मरण कराती हूँ । अब मैं इस कुम्भरूपका परित्याग कर चूडाला बन जाती हूँ ॥ ३५ ॥

ऐसा विचारकर अटल निश्चयवाली चूडालाने मदनिकाके शरीरका त्याग कर राजाको वहांपर तत्क्षण ही चूडाला शरीर बतलाया॥ ३६ ॥

तस्मान्मदनिकादेहाच्चूडाला निर्गतेव सा ।
बभावस्य पुरो युक्ता निर्गतेव समुद्गकात् ॥ ३७ ॥
तां ददर्शाऽनवद्याङ्गीं पुनः प्रणयपेशलात् ।
कान्तां मदनिकामेव चूडालां दयितां स्थिताम् ॥ ३८ ॥

समुदितामिव माधवपद्मिनी-
मुपगतामिव भूमितलाच्छ्रियम् ।
प्रकटितामिव रत्नसमुद्गका-
त्परिददर्श निजां दयितां नृपः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चूडालास्वरूपदर्शनं नाम अष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥



उस समय ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानो मदनिकाके शरीरसे चूडाला निकली हो और राजाके सामने योगधारणासे युक्त वह ऐसी शोभने लगी जैसे किसी पिटारीमेंसे निकली हुई कोई रत्नश्री किसीके सामने शोभती हो ॥ ३७ ॥

राजा शिखिध्वजने निर्मल अङ्गोंसे सुशोभित, फिर स्वामीके चित्तको अनुरक्त करनेमें चतुर, कमनीय मदनिकाको ही, अपनी पूर्व-प्रियभार्या चूडालाके रूपमें देखा ॥ ३८ ॥

वसन्तकालमें खिली हुई सुन्दर पद्मिनीकी नाईं (अथवा आविर्भूत विष्णुकी पद्महस्ता लक्ष्मीकी नाईं), जब रामावतारकी समाप्ति हो जानेपर श्रीरामचन्द्र विष्णुरूप बन गये थे तब पहले सीताके रूपमें भूमिके गर्भमें प्रविष्ट हुई और फिर उससे निकली हुई लक्ष्मीकी नाईं तथा पिटारीसे प्रकट हुई रत्नशोभाकी नाईं उस राजाने अपनी भार्या चूडालाको देखा ॥ ३९ ॥

एक सौ आठ सर्ग समाप्त

नवाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ तां दयितां दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्ललोचनः ।
शिखिध्वज उवाचेदमाश्चर्याकुलया गिरा ॥ १ ॥
का त्वमुत्पलपत्राक्षि कुतः प्राप्ताऽसि सुन्दरि ।
किमिहासि कियत्कालं किमर्थमिह तिष्ठसि ॥ २ ॥
अङ्गेन व्यवहारेण स्मितेनाऽनुनयेन च ।
मम जायाविलासेन तत्कलेवोपलक्ष्यसे ॥ ३ ॥

चूडालोवाच

एवमेव प्रभो विद्धि चूडालाऽस्मि न संशयः ।
अकृत्रिमेण देहेन लब्धोऽस्यद्य मया स्वयम् ॥ ४ ॥
कुम्भादिदेहनिर्माणैस्त्वां बोधयितुमेव मे ।
प्रपञ्चः शतशाखस्त्वमिह यातो वनान्तरे ॥ ५ ॥

एक सौ नव सर्ग

[बार बार देखकर और ध्यानसे सब कुछ जानकर अत्यन्त आश्चर्यचकित और सन्तुष्ट हुए राजाका प्रशंसापूर्वक चूडालाको आलिङ्गन करना और रात्रि बिताना]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, तदनन्तर अपनी पहलेकी भार्या देखकर आश्चर्यके मारे राजा शिखिध्वजके नेत्र विकसित हो गये और वह विस्मययुक्त वाणीसे यह कहने लगे ॥ १ ॥

कमलके पत्तोंके समान विशाल नेत्रवाली हे सुन्दरि, तुम कौन हो, कहाँसे आई हो, क्या तुम ही कुम्भ आदिका रूप धारण कर यहाँ रहती हो, कितने समय तक यहाँ रहोगी और मेरे पास आनेका क्या प्रयोजन है ? ॥ २ ॥

हे सुन्दरि, अवयवोंके गठनसे, उनकी चेष्टाओंसे, स्मितसे, प्रेमभरी वाणी बोलनेकी शैलीसे और मेरी भार्याके जैसे तुम्हारे विलाससे तुम चूडालाकी मूर्तिके ही सदृश देखाई दे रही हो ॥ ३ ॥

चूडालाने कहा—प्रभो, हाँ ऐसा ही जानिए, मैं बिना किसी संशयसे चूडाला ही हूँ । स्वाभाविक शरीरसे ही मैंने आज आपकी प्राप्ति की है ॥ ४ ॥

महाराज, इस अरण्यमें कुम्भ आदिके शरीरोंके निर्माण द्वारा मेरा जो माया

यदा राज्यं परित्यज्य मोहेन तपसे वनम् ।
त्वमागास्तत्प्रभृत्येव त्वद्बोधायाऽहमुद्यता ॥ ६ ॥
अनेन कुम्भदेहेन मयैव त्वं विबोधितः ।
कुम्भादिदेहनिर्माणं त्वां बोधयितुमेव मे ।
मायया न तु कुम्भादि किञ्चित्सत्यं महीपते ॥ ७ ॥
अथो विदितवेद्यस्त्वं ध्यानेनैतदखण्डितम् ।
सर्वं पश्यसि तत्त्वज्ञ ध्यानेनाऽऽश्ववलोकय ॥ ८ ॥
अथ चूडालयेत्युक्तो बद्ध्वा परिकरं नृपः ।
आत्मोदन्तं विशेषेण ध्यानेनाऽमलमैक्षत ॥ ९ ॥
अभिराज्यपरित्यागाच्चूडालादर्शनावधि ।
सर्वं मुहूर्तध्यानेन चाऽऽत्मोदन्तं ददर्श सः ॥ १० ॥
आराज्यसम्परित्यागाद्वर्तमानक्षणक्रमम् ।
सर्वमालोक्य भूपालो विरराम समाधितः ॥ ११ ॥

प्रपञ्च सैकड़ों शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें आपके सामने आया, वह केवल आपव बोध देनेके लिए ही मैंने रचा था ॥ ५ ॥

मोहवश राज्य छोड़कर जबसे तपके लिए वनमें आप आये, तभीसे मैं आप ज्ञान देनेके लिए प्रयत्नशील रही ॥ ६ ॥

राजन्, इस कुम्भके शरीरसे मैंने ही आपको बोधित किया है । मैंने माय जिन कुम्भ आदि शरीरोंका निर्माण किया था, वह केवल आपको ज्ञान दें लिए ही था । वास्तवमें कुम्भ आदि कुछ भी सत्य नहीं थे ॥ ७ ॥

हे महाराज, अब तो आप ज्ञेय वस्तुको जान चुके हैं, इसलिए आप पूर्व योग-धारणासे अविकल सब देख लेंगे । हे तत्त्वज्ञ, आप शीघ्र ही ध्यान ल कर देखिए ॥ ८ ॥

जब चूडालाने वैसा राजासे कहा तब योगधारणाके अनुकूल आसन बाँ ध्यानसे अपना विशेष सब हाल अच्छी तरहसे जान लिया ॥ ९ ॥

राज्यपरित्यागसे लेकर चूडालाके साक्षात्कारतक जितनी अपने लिए घट घटी थीं, उन सबका राजाने मुहूर्तमात्रके ध्यानसे प्रत्यक्षतः ज्ञान कर लिया ॥

राज्यत्यागसे लेकर वर्तमान क्षणपर्यन्त हुई यावत् घटनाओंका साक्षात्का लेनेके बाद राजा समाधिसे विरत हो गये ॥ ११ ॥

समाधिविरतौ हर्षविकासिनयनाम्बुजः ।
विसार्य तरसा बाहू पुलकोज्ज्वलतां गतौ ॥ १२ ॥
गलदङ्गं घनस्नेहं प्रस्रद्बाष्पं स्फुरत्स्पृहम् ।
आलिलिङ्ग चिरं कान्तां नकुलो नकुलीमिव ॥ १३ ॥
तयोरालिङ्गने तस्मिंस्तत्र भावो बभूव यः ।
न स वासुकिजिह्वाभिर्वक्तुं हर्षेण शक्यते ॥ १४ ॥
दिविस्थाविव पङ्केन कृताविव मिलत्तनू ।
शैलाविव समुत्कीर्णौ श्लिष्टावास्तां चिरं प्रियौ ॥ १५ ॥
मुहूर्तेन गलद्धर्मजलौ पुलकपीवरौ ।
बाहू विश्लथतामीषन्निन्यतुस्तौ शनैः प्रियौ ॥ १६ ॥
अमृतापूर्णहृदयौ मंशून्यहृदयोपमौ ।
उन्मुक्तभुजमास्तां तावलक्ष्यस्थितलोचनम् ॥ १७ ॥

जब समाधि टूट गई, तब हर्षके मारे विकसित हुए नेत्रकमलवाले राजाने वेगपूर्वक रोमाञ्चोंके कारण उज्ज्वलता प्राप्त किये हाथोंको फैलाकर अपनी कान्ता चूडालाको दीर्घकालके बाद ऐसे आलिङ्गन किया, जैसे नकुल नकुलीका आलिङ्गन करे। उस समय उसके अङ्ग विदीर्ण हो रहे थे, घन-स्नेह टपक रहा था, आंसुओंकी धारा बह रही थी और अनुराग स्फुरित हो रहा था ॥ १२, १३ ॥

हर्षसे पूर्ण उनके उस आलिङ्गनमें जो अनिर्वचनीय परमानन्दरूप शृङ्गारका भाव व्यक्त हो रहा था, उसका शेषनाग भी अपनी जिह्वाओंसे वर्णन नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

जैसे अमावास्याके दिन सूर्य और चन्द्रमा एक दूसरेके शरीरमें मिले हुए रहते हैं वैसे; गीली मिट्टीसे बनाये गये मिले जोड़के-जैसे, पाषाणशिलापर बनाई गई परस्पर आलिङ्गन की हुई दो श्लिष्ट मूर्तियोंके-जैसे परस्पर आलिङ्गन किये हुए वे दोनों प्रीतिपूर्ण पति-पत्नी बहुत देरतक मिलित ही रहे ॥ १५ ॥

एक मुहूर्तके बाद जिनमेंसे स्वेदजल टपक रहा था, जो रोमाञ्चोंसे स्थूल हो गये थे, ऐसे अपने दोनों हाथोंको उस स्निग्ध दम्पतीने (पति-पत्नीने) धीरे-धीरे कुछ शिथिल किया ॥ १६ ॥

उनके हृदय आनन्दामृतसे पूर्ण थे, आनन्दके आधिक्यसे उनका मन ऐसा

घनानन्दक्षणं स्थित्वा तूष्णीं प्रणयपेशलम् ।
कान्तां चिबुकसंलग्नकरः प्रोवाच भूपतिः ॥ १८ ॥
अत्यन्तमधुरस्निग्धः कान्तः स्वकुलयोषिताम् ।
पुण्यश्चरति निष्पन्दः स्वादुर्नामामृतादपि ॥ १९ ॥
कियत्प्रमाणस्तन्वङ्ग्या त्वया बालेन्दुमुग्धया ।
अनुभूतश्चिरं क्लेशो भर्तुरर्थेन दारुणः ॥ २० ॥
एवं दुरुत्तरात्तस्मात्संसारकुहरादहम् ।
उत्तारितो यया बुद्ध्या सा हि केनोपमीयते ॥ २१ ॥
अरुन्धती शची गौरी गायत्री श्रीः सरस्वती ।
समस्ताः पेलवायन्ते तव तन्व्या गुणश्रिया ॥ २२ ॥

जड़ बना था कि उसका परिज्ञान करनेमें कोई हेतु दूसरा प्रतीत नहीं हो रहा था अतएव वे एक तरहसे ठीक शून्यहृदय हो गये थे। अपना-अपना हाथ छुड़ाकर और किसी खास लक्ष्य स्थानमें नयनोंको न लगाकर यों ही वे कुछ कालतक स्थित रहे ॥ १७ ॥

घने आनन्दसे विभोर क्षणभर मौन रहकर राजा शिखिध्वज चिबुकपर हाथ लगा कर चूडालासे प्रेममृदु वाणी कहने लगे ॥ १८ ॥

अहा ! अत्यन्त मधुर और स्नेहप्रचुर, कुलीन स्त्रियोंका अनुराग कितना व्यापक रहता है, इसका वर्णन किसी तरह नहीं हो सकता, वह बड़ा सुन्दर और अमृतसे भी स्वादिष्ट रहता है, साक्षात् पुण्य ही अनुरागके रूपमें अनुभूत होता है ॥ १९ ॥

हे भद्रे, तुम्हारे सूक्ष्म अङ्ग हैं, तुम बाल चन्द्रमाके सदृश अत्यन्त मुग्ध हो, अपने स्वामीके हेतु तुमने दीर्घकालतक कितना बड़ा दारुण क्लेश सहा ॥ २० ॥

प्रिये, इस तरह तुम्हारी जिस बुद्धिके द्वारा (स्वामीके प्रति स्नेहबुद्धिके द्वारा) दुस्तर उस संसाररूपी अन्धकारसे मैं पार करा दिया गया, उसकी उपमा किससे दी जा सकती है अर्थात् किसीसे भी नहीं ॥ २१ ॥

हे कृशाङ्गि, अरुन्धती, इन्द्राणी, गौरी, गायत्री, लक्ष्मी, सरस्वती आदि बड़ी-बड़ी पुण्यस्त्रियां कोमल अङ्गवाली तुम्हारी गुणसम्पत्तिसे सब नीचे ही हैं ॥ २२ ॥

धीः श्रीः कान्तिः क्षमा मैत्री करुणाद्यास्तु सुन्दरि ।
कान्तास्वाकारकान्तासु प्रथमेवाऽभिलक्ष्यसे ॥ २३ ॥
परेणाऽध्यवसायेन त्वयाऽहमवबोधितः ।
केन प्रत्युपकारेण परितुष्यति ते मनः ॥ २४ ॥
मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि ।
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥ २५ ॥
शास्त्रार्थगुरुमन्त्रादि तथा नोत्तारणक्षमम् ।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तॄणां कुलयोषितः ॥ २६ ॥
सखा भ्राता सुहृद्भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम् ।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ॥ २७ ॥
सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः ।
लोकद्वयसुखं सम्यक्सर्वं यासु प्रतिष्ठितम् ॥ २८ ॥

हे सुन्दरि, स्त्रियोंमें अपने अलौकिक सौन्दर्यके कारण प्रसिद्ध हुई जो धी, श्री, कान्ति, क्षमा, मैत्री, करुणा आदि सर्वोत्तम दक्षकन्याएँ हैं, उनमें भी तुम, सतीकी नाईं, सर्वप्रथम ही मालूम हो रही हो ॥ २३ ॥

बड़ा भारी सतत प्रयत्न करके जो तुमने अलौकिक बोध देकर मेरा उपकार किया है, उसके लिए किस प्रत्युपकारसे तुम्हारा मन सन्तुष्ट होगा । तुम कृतार्थ हो चुकी हो, तुम्हारा मन जिस प्रत्युपकारसे सन्तुष्ट हो सकता है, वैसा प्रत्युपकार ही संसारमें दुर्लभ है ॥ २४ ॥

अनादिकालसे चले आ रहे अनन्त गहनसे भी गहन मोहसे संसार-सागरमें गिरे हुए स्वामीको प्रयत्नशील कुलस्त्रियां ही पार करा देती हैं ॥ २५ ॥

स्वामियोंको संसार-सागरसे पार करानेमें शास्त्रार्थ, गुरु, मन्त्र आदि वैसी शक्ति नहीं रखते, जैसी कि स्नेहशालिनी ये कुलस्त्रियां रखती हैं ॥ २६ ॥

स्वामीके लिए कुलीन स्त्रियां ही सखा, बन्धु, सुहृद्, भृत्य, गुरु, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, घर, दास आदि सब कुछ हैं ॥ २७ ॥

सब तरहके प्रयत्नोंसे कुलीन स्त्रियोंका निरन्तर पूजन करना चाहिए, क्योंकि इह लोक और परलोक—दोनोंका सम्पूर्ण सुख स्त्रियोंमें ही भलीभाँति निहित है ॥ २८ ॥

निरिच्छायाः प्रयातायाः पारं संसारवारिधेः ।
कथमस्योपकारस्य करिष्ये ते प्रतिक्रियाः ॥ २९ ॥
मन्ये कुलाङ्गनां लोके लोके सर्वास्त्वयाऽधुना ।
नारीसौजन्यचर्चासु व्यपदेश्या भविष्यसि ॥ ३० ॥
त्वां निर्मितवतो धातुर्गुणजालातिशायिनीम् ।
मन्ये प्रकुपिता नूनमरुन्धत्यादिकाः स्त्रियः ॥ ३१ ॥
सती त्वं रूपसौजन्यगुणरत्नसमुद्गिके ।
एहि मे त्वद्गुणोत्कस्य पुनरालिङ्गनं कुरु ॥ ३२ ॥
वसिष्ठ उवाच
इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीं चूडालां तां शिखिध्वजः ।
आलिलिङ्ग पुनर्गाढं नकुलो नकुलीमिव ॥ ३३ ॥

निरीह और कृतकृत्य तुम्हारा प्रत्युपकार करनेमें मैं असमर्थ हूँ, यों राजा कहते हैं—'निरिच्छायाः' इत्यादिसे ।

सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित और संसाररूपी महान् दुस्तर सागरसे पार हो चुकी तुम्हारे लिए इस महान् उपकारका प्रत्युपकार किस तरह मैं कर सकूँगा ॥ २९ ॥

हे प्रिये, तुम्हें मैं कुलाङ्गना मानता हूँ, इस लोकमें लोकप्रसिद्ध जितनी कुलाङ्गनाएँ हैं, उनके ऊपर इस समय तुमने विजय प्राप्त की । अबसे स्त्रियोंके सौजन्यकी जब प्रशंसा होगी, तब तुम्हारी ही सर्वप्रथम गणना होगी ॥ ३० ॥

हे मानिनि, अपनी अपेक्षा उत्तम गुणोंमें बढ़ जानेवाली तुम्हारी रचना करनेवाले ब्रह्माजीके ऊपर निश्चय ही अरुन्धती आदि स्त्रियाँ क्रुद्ध होती होंगी, यह मैं मानता हूँ ॥ ३१ ॥

रूप, सौजन्य और उत्तमोत्तम गुणरूपी रत्नोंकी निधिभूत हे चूडाले, तुम सती (पतिव्रता) हो, आओ, तुम्हारे गुणोंसे उत्साहित हुए मेरा तुम फिर आलिङ्गन करो ॥ ३२ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, उस प्रकार कहकर राजा शिखिध्वजने—मृगके बच्चेके सदृश विशाल नेत्रवाली उस चूडालाका—फिर गाढ़ ऐसे आलिङ्गन किया, जैसे नकुलीका नकुल ॥ ३३ ॥

चूडालोवाच

देव शुष्कक्रियाजालपरे त्वय्याकुलात्मनि ।
भूयो भूयो भृशमहं त्वदर्थं दुःखिताऽभवम् ॥ ३४ ॥
तेन त्वदवबोधात्मा स्वार्थ एवोपपादितः ।
मया तदत्र किं देव करोषि मम गौरवम् ॥ ३५ ॥

शिखिध्वज उवाच

त्वया यथा वरारोहे स्वार्थः सम्पाद्यते शुभः ।
तमिदानीं तथा सर्वाः साधयन्तु कुलाङ्गनाः ॥ ३६ ॥

चूडालोवाच

बुध्यसे कान्त विश्रान्तो जगज्जालतटे विभो ।
अद्य तं प्राक्तनं किञ्चिन्मोहं समनुपश्यसि ॥ ३७ ॥
इदं करोमि नेदं तु प्राप्नोमीदमिति स्थितिम् ।
अन्तर्हससि तां कच्चिद्दशापेलवतां धियः ॥ ३८ ॥
तास्तुच्छतृष्णाकलनास्ताः सङ्कल्पकुकल्पनाः ।
त्वयि नाऽद्यावलोक्यन्ते देव व्योम्नीव पर्वताः ॥ ३९ ॥

चूडालाने कहा—हे देव, शुष्क क्रियाओंके चक्करमें निरत और व्याकुलमति आपको बार-बार देखकर मैं अत्यन्त दुःखित होती थी ॥ ३४ ॥

इसलिए हे देव, आपको तत्त्वज्ञान देकर मैंने वह अपना स्वार्थ ही सिद्ध किया है । इस विषयमें आप मेरा गौरव व्यर्थ ही बढ़ा रहे हैं ॥ ३५ ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे वरारोहे, तुम जिस तरहसे शुभ स्वार्थ सिद्ध कर रही हो, उसी तरहसे अब सभी कुलीन स्त्रियाँ स्वार्थ सिद्ध करें, यह मैं चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

चूडालाने कहा—हे कान्त, हे विभो, अब आप इस जगत्-रूपी जालके एकदम किनारेपर आकर विश्रान्त हो गये हैं । आज अपना वह पयोव्रत, उपवास आदि पहलेका तुच्छ मोह क्या आप देख रहे हैं ? ॥ ३७ ॥

यह करूँ, यह न करूँ, यह प्राप्त करूँ—इस तरही बुद्धिकी अपक्वदशाजनित कोमलतारूप जो स्थिति थी, उसके प्रति क्या आप अपने मनमें अब हँसते हैं कि नहीं ॥ ३८ ॥

हे देव, जैसे आकाशमें पर्वत नहीं दिखाई देते, वैसे अब आपमें वे पहलेकी

किं त्वमद्याऽङ्ग सम्पन्नः किंनिष्ठोऽसि किमीहसे ।
कथं पश्यसि पाश्चात्यं देहचेष्टाक्रमं विभो ॥ ४० ॥

शिखिध्वज उवाच

सुमनःपूर्णनीलाब्जमालासारविलोचने ।
त्वमेव यस्य यस्याऽन्तस्तत्तस्याऽहमुपास्थितः ॥ ४१ ॥

निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि नभःस्वच्छोऽस्मि निस्पृहः ।
शान्तोऽहमर्थरूपोऽस्मि चिरायाऽहमहं स्थितः ॥ ४२ ॥

तां दशामुपयातोऽस्मि यतश्चित्तैकवर्त्मनि ।
प्रतिषेधन्ति सहसा न यां हरिहरादयः ॥ ४३ ॥

तुच्छ तृष्णाओंके संग्रह और तुच्छ संकल्परूपी कल्पनाएँ नहीं दिखाई देतीं ॥३९

प्रिय, आज आप किसके स्वरूप बन गये हैं, किस वस्तुमें आपकी नि है, आप क्या चाहते हैं। हे विभो, आप पहलेकी शारीरिक चेष्टाओंको स देखते हैं या असत्य (तुच्छ) देखते हैं ॥ ४० ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—सुमनोंसे (फूलोंसे) पूर्ण नीलकमलमालाका अनुसर करनेवाले नेत्रोंसे सुशोभित हे चूडाले, मेरे आत्मस्वरूपभूत हुई तुम जि जिसके अन्दर (मोह, विवेक, तत्त्वज्ञान आदिके अन्दर) प्रकाशकरूपसे विद्यम हो; उस-उसके अन्दर मैं भी प्रकाशकरूपसे विद्यमान हूँ, इसलिए अब तु जिस तरह देखती हो, वैसे ही मैं भी देखता हूँ, अपने अनुभवसे ही तुम्हें म निष्ठा जान लेनी चाहिए ॥ ४१ ॥

उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'निरीहोऽस्मि' इत्यादिसे।

मुझे किसी विषयकी इच्छा नहीं है, मेरा कोई अंश नहीं है, आकाशके सदृश अत्यन्त निर्मल हूँ, निस्पृह हूँ, शान्त हूँ, परमार्थ सत्स्वरूप देह आदिमें अहंभावका भ्रम छोड़कर, बहुत काल बीत जानेके पीछे, वास्त मैं जिस रूपका था, उस रूपका ही बनकर अब स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

आत्मामें निरन्तर आसक्त हुए चित्तपर ही मैं अवलम्बित रहता हूँ, इसी मैंने वह अलौकिक आनन्ददशा प्राप्त कर ली है, जिससे कि हजारों प्रयत्न हरि, हर आदि महामहिमशाली देवता भी मुझे अलग नहीं कर सकते ॥ ४३

नकिञ्चिन्मात्रचिन्मात्रनिष्ठोऽस्मि स्वस्थ आस्थितः ।
भ्रमेणाऽहं विमुक्तोऽस्मि संसारेणाऽलिलोचने ॥४४॥
न तुष्टोऽस्मि न खिन्नोऽस्मि नाऽयमस्मि न चेतरत् ।
न स्थूलोऽस्मि न सूक्ष्मोऽस्मि सत्यमस्मि च सुन्दरि ॥४५॥
तेजोबिम्बात् प्रयातेन भित्तावपतितेन च ।
क्षयातिशयमुक्तेन प्रकाशेनाऽस्मि वै समः ॥ ४६ ॥
शान्तोऽस्मि साम्यनेताऽस्मि स्वस्थोऽस्मि विगताशयः ।
परिनिर्वाण एवाऽस्मि सदृशोऽस्मि पतिव्रते ॥ ४७ ॥
यत्तदस्मि तदेवाऽस्मि वक्तुं शक्नोमि नेतरत् ।
तरङ्गतरलापाङ्गि गुरुस्त्वं मे नमोऽस्तु ते ॥ ४८ ॥
प्रसादेन विशालाक्ष्यास्तीर्णोऽस्मि भवसागरात् ।
पुनर्मलं न गृह्णामि शतध्मातसुवर्णवत् ॥ ४९ ॥

हे भ्रमरलोचने, समस्त परिच्छेदोंसे निर्मुक्त यानी परिपूर्ण विशुद्ध चिन्मात्र आत्मामें मैं स्थित हो गया हूँ, मैं अब अपने वास्तवरूपमें स्थित होकर बैठा हूँ और संसाररूपी भ्रमसे एकदम अलग हो गया हूँ ॥ ४४ ॥

हे सुन्दरि, न तो मैं तुष्ट हूँ, न खिन्न हूँ, न कार्य हूँ, न कारण हूँ, न स्थूल हूँ और न सूक्ष्म हूँ, किन्तु मैं केवल अबाधित (जिसका किसी कालमें बाध नहीं होता) वस्तु ही हूँ ॥ ४५ ॥

हे चूडाले, सूर्यबिम्बसे निकले हुए तथा भीतपर न गिरे हुए यानी केवल आकाशमें फैले हुए, क्षय और अतिशयसे रहित विशुद्ध प्रकाशके समान अब मैं बन गया हूँ ॥ ४६ ॥

हे पतिव्रते, मैं शान्त हूँ, जगत्का वैषम्य निकालकर साम्य प्राप्त किये हूँ, स्वरूपनिष्ठ हूँ, बिना मनका हूँ, व्यापक मोक्ष भी मैं हूँ और सम हूँ ॥ ४७ ॥

तरङ्गके सदृश चञ्चल कटाक्षवाली हे प्रिये, जो 'तत्' वस्तु है, वही मैं हूँ, अब दूसरा कुछ नहीं कह सकता हूँ, तुम मेरी गुरु हो, तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४८ ॥

विशाल नेत्रवाली तुम्हारे प्रसादसे ही मैं भवसागरसे पार उतर गया । अब मैं, अग्निमें सौ बार शुद्ध किये गये सोनेके सदृश फिर मल ग्रहण नहीं कर सकता ॥ ४९ ॥

शान्तः स्वस्थो मृदुर्यत्तो वीतरागो निरंशधीः ।
सर्वातीतः सर्वगश्च खमिवाऽयमहं स्थितः ॥ ५० ॥

चूडालोवाच

एवं स्थिते महासत्त्व प्राणेश हृदयप्रिय ।
किमिदानीं प्रभो ब्रूहि रोचते ते महामते ॥ ५१ ॥

शिखिध्वज उवाच

प्रतिषेधं न जानामि न जानाम्यभिवाञ्छितम् ।
यदाचरसि तन्वि त्वं कदाचिद्वेद्मि तत्तथा ॥ ५२ ॥
यद्यन्मतं ते सकलं तथाऽस्त्वविकलं प्रिये ।
न किञ्चिदनुसन्धातुं जानाम्यम्बरसुन्दरः ॥ ५३ ॥
यदेव किञ्चिज्जानासि तदेव कुरु सुन्दरि ।
तदेव धारयिष्यामि प्रतिबिम्बं यथा मणिः ॥ ५४ ॥

शान्त, स्वस्थ, कोमल, स्वरूपस्थितिमें अत्यन्त उद्योगी, वीतराग, वासना-शून्य अन्तःकरणसे युक्त, सबसे परे और सर्वव्यापक होकर, आकाशकी नाईं, यह मैं तुम्हारे सामने अवस्थित हूँ ॥ ५० ॥

चूडालाने कहा—हे महासत्त्व, हे प्राणेश, हे हृदयप्रिय, हे प्रभो, हे महामते, जब कि आप उस प्रकारकी स्थितिमें स्थित हैं, तब अब आपको क्या रुचता है, कहिए ॥ ५१ ॥

शिखिध्वजने कहा—हे तन्वि, यह अच्छा नहीं लगता, इस प्रकार जिस वस्तुका निरादर किया जाता है, उस वस्तुको मैं नहीं जानता और यह अभीष्ट है, इस प्रकार जिस वस्तुकी चाहना की जाती है उसे भी मैं नहीं जानता । तुम जिस तरहसे जो आचरण करती हो, व्युत्थानकालमें उसे मैं उसी तरहका जानता हूँ ॥ ५२ ॥

हे प्रिये, जो जो वस्तु जिस तरहसे तुम्हें अभिमत है, वह सब उसी तरहकी अविकलरूपसे रहे । मैं तो आकाशके सदृश निर्लेप, औदासीन्य और पूर्णतारूप सौन्दर्यसे युक्त हो गया हूँ, इसलिए किसी भी वस्तुका अनुसन्धान करना नहीं जानता ॥ ५३ ॥

हे सुन्दरि, जो ही कुछ तुम कर्तव्यरूपसे जानती हो, उसीको तुम करो ।

चेतसा गलितेष्टेन यथाप्राप्तमनिन्दितम् ।
न स्तौमि न च निन्दामि यदिच्छसि तदाचर ॥ ५५ ॥

चूडालोवाच

यद्येवं तन्महाबाहो समाकर्णय मन्मतम् ।
आकर्ण्य जीवन्मुक्तात्मंस्तदेवाहर्तुमर्हसि ॥ ५६ ॥
सर्वत्रैक्यावबोधेन मौर्ख्यक्षयगुणान्विताः ।
निरिच्छास्तावदाकाशविशदाः संस्थिता वयम् ॥ ५७ ॥
यादृगेषणमस्माकं तादृशं तदनेषणम् ।
यत्प्राणानेषणे कोऽत्र चिन्मात्रोऽभ्यसते हि कः ॥ ५८ ॥

मैं भी मणि जिस तरह अपने भीतर प्रतिबिम्ब धारण करता है उसी तरह उसे अपने हृदयमें धारण करूँगा ॥ ५४ ॥

इच्छा, अनिच्छा और उनके विषयोंसे निर्मुक्त चित्तके कारण मैं प्रारब्ध-प्राप्त अनिन्दित या निन्दित वस्तुकी न स्तुति करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ, इसलिए तुम जैसा चाहो वैसा करो ॥ ५५ ॥

चूडालाने कहा —हे महाबाहो, यदि ऐसी बात है, तो पहले आप मेरा मत सुनिये और हे जीवन्मुक्तस्वरूप, सुननेके अनन्तर उसीका आप आचरण कीजिये ॥ ५६ ॥

महाराज, अज्ञानका विनाश करनेवाले सर्वत्र अद्वैतबोधसे सम्पन्न हम लोग सभी तरहकी इच्छाओंसे निर्मुक्त और आकाशके सदृश विशद होकर अवस्थित हो गये हैं ॥ ५७ ॥

हे राजन्, हम लोगोंके लिए जैसी अनुपकारक राज्यभोगादिकी अपेक्षा है वैसी ही अनुपकारक उनकी उपेक्षा भी है, क्योंकि चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय और मुख्य प्राण अपने-अपने उचित विषयोंकी यदि अनिच्छा करें, तो उससे आत्मामें कौन-सा उपकार होगा ? ज्ञानियोंको अज्ञानियोंकी तरह देहादि-अध्यास तो है नहीं, जिससे कि विषयोपभोगसे देहादिके मलिन हो जानेपर आत्मा भी मलिन हो जाय। जो तत्त्ववित् है वह तो निष्क्रिय असङ्ग चिन्मात्रस्वरूप ही है, इसलिए ऐसा कौन तत्त्वज्ञानी होगा, जो विषयोपभोगोंका अभ्यास करेगा ॥ ५८ ॥

तस्मादाद्यन्तमध्येषु ये वयं पुरुषोत्तम ।
शेषमेकं परित्यज्य त एवेमे स्थिता वयम् ॥ ५९ ॥
राज्येन साम्प्रतेनेमं कालं नीत्वा क्रमेण वै ।
विदेहतां प्रयास्यामः प्रभो कालेन केनचित् ॥ ६० ॥

शिखिध्वज उवाच

वयमाद्यन्तमध्येषु कीदृशास्तरले वद ।
शेषमेकं परित्यज्य तिष्ठामः कथमेव वा ॥ ६१ ॥

चूडालोवाच

वयमाद्यन्तमध्येषु राजानो राजसत्तम ।
मोहमेकं परित्यज्य भवामः पुनरेव ते ॥ ६२ ॥

इसलिए हे पुरुषोत्तम, प्रारब्धके केवल उपभोगसे आत्मामें मलिनताकी प्राप्ति न होनेके कारण प्रारब्धभोगके आरम्भमें, अन्तमें और मध्यमें हम लोग जिस स्वभावके हैं, उसी स्वभावके होकर केवल अवशिष्ट प्रारब्धका भोगसे विनाशकर स्थित रहें, इससे न तो हम विपरीत हो जायँगे और न दूसरे ही बन जायँगे ॥ ५९ ॥

हे प्रभो, वर्तमान समयमें यह जो अपना अवशिष्ट आयुकाल है, उसको राज्यभोगसे बिताकर क्रमशः कुछ समयके बाद हम लोग विदेहमुक्त हो जायँगे ॥ ६० ॥

'तस्मादाद्यन्तमध्येषु' इस उक्तिके अर्थान्तरकी भी संभावना कर रहे राजा शिखिध्वज जिज्ञासु होकर पूछते हैं—'वयमा०' इत्यादिसे ।

राजा शिखिध्वजने कहा—हे चञ्चले, प्रारब्धभोगके आदि, मध्य और अन्तमें हम लोग किस तरहके हैं और अवशिष्ट प्रारब्धका भोग द्वारा विनाश कर किस तरहसे स्थित रहेंगे, यह कहो ॥ ६१ ॥

राजाके अभिप्रायके अनुसार ही चूडाला भी उस उक्तिका अर्थ कहती है—'वयमा०' इत्यादिसे ।

चूडालाने कहा—हे राजश्रेष्ठ, हम लोग आदि, अन्त और मध्यमें राजा ही हैं, इसलिए केवल मोह छोड़कर फिर उस राजरूपमें ही हो जायँ ॥ ६२ ॥

स्व एव नगरे राजा भव त्वं स्वासने स्थितः ।
ललामो ननु कान्तानां महिषी ते भवाम्यहम् ॥ ६३ ॥
सनृपा मत्तवास्तव्या नृत्यन्नवनवाङ्गना ।
सपताकाध्वनत्तूर्या पुष्पप्रकरिणी पुरी ॥ ६४ ॥
लसद्वल्ल्या समञ्जर्या रणत्पुष्पालिमालया ।
मधुमासलतालक्ष्म्या चिराद्भवतु सा समा ॥ ६५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति चूडालया प्रोक्तो विहस्य स शिखिध्वजः ।
प्रोवाच मधुरं वाक्यमक्षुब्धं विगतज्वरः ॥ ६६ ॥
एवं चेत्तद्विशालाक्षि स्वायत्ता नस्त्रिविष्टपे ।
सिद्धभोगश्रियस्तासु निवसामि न किं प्रिये ॥ ६७ ॥

चूडालोवाच

न राजन् मम भोगेषु वाञ्छा नाऽपि विभूतिषु ।
स्वभावस्य वशादेव यथाप्राप्तेन मे स्थितिः ॥ ६८ ॥

अपने ही नगरमें सिंहासनपर आरूढ़ आप राजा बन जाइये और अन्तःपुरकी सब स्त्रियोंकी भूषणरूप मैं आपकी पटरानी बन जाऊँ ॥ ६३ ॥

और हे राजन्, अपनी जो नगरी है वह दीर्घकालके बाद अनेक राजाओंसे युक्त, प्रसन्न प्रजावर्गसे पूर्ण, नाच रही नई-नई अङ्गनाओंसे शोभित, ध्वजाओं एवं बज रहे नगाड़ोंसे व्याप्त और नानाविध फुलवाड़ियोंसे सुहावनी होकर अब फिर लहलहा रही लता, मञ्जरी, एवं गुंजार कर रही मकरन्दासक्त भ्रमरपंक्तियोंसे युक्त वसन्तकी लतालक्ष्मीके सदृश हो जाय ॥ ६४,६५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, चूडालाने उस प्रकार जब राजा शिखिध्वजसे कहा, तब वे हँसकर निःशङ्क हो चूडालासे क्षोभरहित और मधुर-वाक्य कहने लगे ॥ ६६ ॥

हे विशालाक्षि, हे प्रिये, यदि यही बात है, तो स्वर्गमें हम लोगोंको जो स्वाधीन सिद्ध भोगलक्ष्मियाँ मिल रहीं हैं, उन्हींमें निवास क्यों न करें ॥६७॥

चूडालाने कहा—हे राजन्, हमको तो न भोगोंकी इच्छा है और न विभूतियोंकी ही इच्छा है । मेरी स्थिति तो स्वभावके वशसे जो भी कुछ प्राप्त हो जाता है, उसीके अनुसार रहती है ॥ ६८ ॥

न सुखाय मम स्वर्गो न राज्यं नाऽपि च क्रिया ।
यथास्थितमविक्षुब्धं तिष्ठामि स्वस्थचेष्टिता ॥ ६९ ॥
इदं सुखमिदं नेति मिथुने क्षयमागते ।
सममेव पदे शान्ते तिष्ठामीह यथासुखम् ॥ ७० ॥

शिखिध्वज उवाच

युक्तमुक्तं विशालाक्षि त्वयैतत्समया धिया ।
को वार्थः किल राज्यस्य ग्रहे त्यागेऽपि वा भवेत् ॥ ७१ ॥
सुखदुःखदशाचिन्तां त्यक्त्वा विगतमत्सरम् ।
यथासंस्थानमेवेमौ तिष्ठावः स्वस्थतां गतौ ॥ ७२ ॥
इति तत्र कथालापकथनेन तयोर्द्वयोः ।
कान्तयोश्चिरदम्पत्योर्वासरस्तनुतां ययौ ॥ ७३ ॥
अथोत्थाय दिनाचारं यथाप्राप्तमनिन्दितौ ।
सोत्कण्ठावप्यनुत्कण्ठौ चक्रतुः कार्यकोविदौ ॥ ७४ ॥

मेरे सुखके लिए न तो स्वर्ग है, न राज्य है और न क्रियाकलाप ही है। केवल अपने स्वरूपमें स्थितिके अनुकूल व्यापारोंसे युक्त होकर मैं स्थितिके अनुसार किसी तरहके क्षोभके बिना स्थित रहती हूँ ॥ ६९ ॥

यह सुख है और यह दुःख है, इस तरहके द्वन्द्वोंका जब विनाश ही हो गया है, तब उसीके साथ-साथ इस शान्त पदमें सुखपूर्वक स्थित ही हूँ ॥ ७० ॥

राजा शिखिध्वजने कहा—हे विशालाक्षि, निर्विकार बुद्धिसे तुमने जो यह कहा है वह ठीक ही है, क्योंकि राज्यका ग्रहण करें या त्याग करें आत्माका कौन-सा उपकार होगा ॥ ७१ ॥

हे भद्रे, सुख-दुःखकी अवस्थाओंके विषयमें चिन्ताका परित्याग कर मात्सर्यसे रहित होकर हम लोग जिस तरहसे स्थित हैं उसी तरहसे अपने स्वरूपमें निष्ठ होकर स्थित रहें ॥ ७२ ॥

इस प्रकार वहाँपर परस्पर वार्तालापके कथनसे रमणीय उन दोनों पति-पत्नीका दिन समाप्तप्राय हो गया। तदनन्तर उठकर दोषनिर्मुक्त उन दोनोंने शास्त्रविहित सायंसन्ध्या की। वे परस्पर अभीष्ट भोगके लिए उत्कण्ठित होते हुए भी वासना न रहनेके कारण उत्कण्ठासे रहित थे और तत्-तत् समयमें प्राप्त कार्यके ज्ञाता थे ॥ ७३, ७४ ॥

स्वर्गसिद्धिमनादृत्य तस्थतुः पूर्णचेतसौ ।
एकस्मिन्नेव शयने तैस्तैः प्रणयचेष्टितैः ।
सा व्यतीयाय रजनी तयोर्जीवद्विमुक्तयोः ॥ ७५ ॥

तद्भोगमोक्षसुखमुत्तमयोः स्वयं स-
माशंसतोः प्रणयवाक्यविलाससंगमैः ।
उत्कण्ठतां प्रणयिनोर्धियमानयन्ती
दीर्घा मुहूर्तवदसौ रजनी जगाम ॥ ७६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे चूडालाप्रकटीकरणं नाम नवाऽधिकशततमः सर्गः ॥१०९॥



दशोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततः समुदिते सूर्ये वितमस्यम्बरे स्थिते ।
समुद्गकादिव जगन्मणौ तस्मिन् विनिर्गते ॥ १ ॥

स्वर्गकी सिद्धिका अनादर कर पूर्णचित्त होकर वे दोनों एक ही शय्यापर सो गये और उन-उन प्रणय चेष्टाओंसे जीवन्मुक्त उन दोनोंकी वह रात्रि व्यतीत हो गई ॥ ७५ ॥

परस्परके अनुभवसे सिद्ध जो भोग और मोक्षरूप सुख था, उसकी—प्रणय-वचनोंके विलासोंके संमिश्रणसे—प्रशंसा कर रहे उत्तम प्रेमी उस दम्पतीकी बुद्धिमें उत्कण्ठा पैदा करानेवाली वह लम्बी रात भी मुहूर्तकी नाईं व्यतीत हो गई ॥७६॥

एक सौ नव सर्ग समाप्त



एक सौ दस सर्ग

[सङ्कल्पकी सेना और हाथीके साथ वे दोनों अपने नगरमें आ गये तथा चिरकालतक राज्य करनेके बाद वे दोनों विदेहमुक्तिको प्राप्त हो गये, यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, रात बीत जानेपर पिटारीसे निकले हुए जगत्‌के प्रकाशक मणिके सदृश प्रसिद्ध सूर्य भगवान्‌का उदय हो जानेपर

विकसत्यरुणोपान्ते चक्षुषीवाऽम्बुजाकरे ।
आचारेष्विव लोकेषु प्रसृतेष्वर्करश्मिषु ॥ २ ॥

दम्पती तौ समुत्थाय कृतसन्ध्याक्रमौ स्थितौ ।
पत्रासने मृदुस्निग्धे कान्तौ काञ्चनकन्दरे ॥ ३ ॥

अथोत्थायाऽत्र चूडाला रत्नकुम्भं पुरःस्थितम् ।
कान्ता सङ्कल्पयामास पूर्णं सप्ताब्धिवारिभिः ॥ ४ ॥

तेन मङ्गलकुम्भेन तं पूर्वाभिमुखं स्थितम् ।
भार्या भर्तारमेकान्ते स्वराज्येऽभिषिषेच सा ॥ ५ ॥

सङ्कल्पोपगते हैमे स्वभिषिक्तं स्वविष्टरे ।
स्थितं प्रोवाच तन्वी सा चूडाला देवरूपिणी ॥ ६ ॥

केवलं मौनमुत्सृज्य तेजः शान्तमिदं प्रभो ।
अष्टानां लोकपालानां तेजस्त्वं भर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

जब आकाश बिल्कुल अन्धकारसे शून्य हो गया—साफ हो गया, जब मनुष्योंके लाल-लाल नेत्रोंके सदृश कमलोंका वन खिलने लगा और सम्पूर्ण लोकोंमें फैले हुए आचारोंकी नाईं जब सूर्यकी किरणें चारों ओर दूरतक फैल गईं तब वे दोनों स्त्री-पुरुष उठ गये। उठकर सन्ध्याक्रमका सम्पादन करके वे दोनों काञ्चनकी गुफामें जाकर कोमल, चिकने तथा मनोहर पत्तोंके बनाये गये आसनपर बैठ गये ॥ १—३ ॥

तदनन्तर उठकर राजा शिखिध्वजकी कान्ता चूडालाने अपने सामने स्थित सात समुद्रोंके जलसे पूर्ण रत्नकुम्भको राज्याभिषेकके लिए संकल्पित किया ॥ ४ ॥

पूर्वकी ओर मुँह करके बैठे हुए अपने स्वामी राजा शिखिध्वजको जलसे भरे हुए उस मङ्गल घड़ेसे राजपत्नी चूडालाने अपने निष्कण्टक स्वराज्यमें अभिषिक्त किया ॥ ५ ॥

सङ्कल्पमात्रसे उपस्थित अपने सुवर्णके सिंहासनपर अभिषिक्त होकर बैठे हुए राजासे देवरूपिणी पतले सुन्दर अङ्गोंवाली उस चूडालाने कहा ॥ ६ ॥

हे प्रभो, केवल मुनियोंके योग्य इस शान्त तेजको छोड़कर अब आपको शासन करनेके योग्य इन्द्रादि अष्टपालोंका तेज धारण करना चाहिए ॥ ७ ॥

चूडालयेति सम्प्रोक्तो वने राजा शिखिध्वजः ।
वदन्नेवं करोमीति महाराजत्वमाययौ ॥ ८ ॥
अथ प्रतीहारपदे तिष्ठन्तीमाह मानिनीम् ।
अद्य देवीपदे राज्ञीं त्वां करोम्यभिषंकिनीम् ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वा सरसि स्नाप्य महादेवीपदे तथा ।
अभिषिक्तां नृपः कृत्वा स तामाह निजां प्रियाम् ॥ १० ॥
प्रिये कमलपत्राक्षि क्षणात्सङ्कल्पसम्भवम् ।
महाविभवमुद्दामसैन्यमाहर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥
इति कान्तवचः श्रुत्वा चूडाला वरवर्णिनी ।
सैन्यं सङ्कल्पयामास प्रावृड्घनमिवोद्भटम् ॥ १२ ॥
सैन्यं ददृशतुस्तत्तौ वाजिवारणसङ्कुलम् ।
पताकापूरिताकाशं नीरन्ध्रीकृतकाननम् ॥ १३ ॥

चूडाला द्वारा वनमें यों कहनेपर ठीक है, ऐसा ही करता हूँ—इस तरह बोल रहे राजा शिखिध्वजने महाराजके स्वरूपको धारण कर लिया ॥ ८ ॥

तदनन्तर पट्टाभिषेक न होनेके कारण द्वारपालके स्थानपर बड़े विनयके साथ स्थित उस मानिनी चूडालासे राजाने कहा—हे मनोरमे, अब तुम्हें महारानीके पदपर अभिषिक्त कर पटरानी बनाता हूँ ॥ ९ ॥

इस तरह कहकर तालाबमें स्नान कराकर तथा महारानीके पदपर अभिषिक्त करके राजाने अपनी उस प्रियासे कहा— ॥ १० ॥

हे कमलपत्र-सी आँखोंवाली प्रिये, तुम योगसिद्धिके द्वारा अपने सत्यसंकल्पसे उत्पन्न, नानाविध अलङ्कार, शस्त्रास्त्र आदि महाविभवसे युक्त बड़ी भारी सेना क्षणभरमें एकत्र कर सकती हो ॥ ११ ॥

अपने स्वामीका ऐसा वचन सुनकर सुन्दर रंगवाली उस चूडालाने, वर्षा-कालके मेघके सदृश, रणोद्भट सैन्यका सङ्कल्प किया ॥ १२ ॥

तदनन्तर उन दोनोंने वह सेना देखी, जो हाथी-घोड़ोंसे व्याप्त थी, जिसने पताकाओंसे आकाशको भर दिया था और जिसने सारे जंगलको अवकाशसे शून्य बना दिया था ॥ १३ ॥

तूर्यरवध्वनच्छैलगुहागहनकोटरम् ।
मौलिरत्नमहोद्योतविचूर्णिततमःपटम् ॥ १४ ॥

तत्र गन्धद्विपवरे कृतपार्थिवमण्डले ।
रक्षिते हृष्टसामन्तैरारूढौ नृपदम्पती ॥ १५ ॥

ततः शिखिध्वजो राजा महिष्या सममिष्टया ।
पदातिरथसम्बाधं कर्षन्नतिबलो बलम् ॥ १६ ॥

चचालाऽचलचालिन्या सेनया स ततो वनात् ।
भिन्दन्निव रसाशैलं वात्ययेवाऽऽशु भौमया ॥ १७ ॥

तस्मान्महेन्द्रशैलेन्द्राच्चलितः स महीपतिः ।
पथि पश्यन्गिरीन्देशान्नदीग्रामान्सजङ्गलान् ॥ १८ ॥

दर्शयन् स्वप्रियायास्तमात्मवृत्तान्तसञ्चयम् ।
प्रागल्पेनैव कालेन स्वां पुरीं स्वर्गशोभनाम् ॥ १९ ॥

जिसके तुरही आदिके शब्दोंसे पर्वतकी गुफाएँ तथा गहनकोटर प्रतिध्वनि कर रहे थे और मस्तकके रत्नोंके महाप्रकाशसे अन्धकारके समूहको जिसने चूर्ण-चूर्ण बना दिया था ॥ १४ ॥

राजाओंके बनाये गये अनेक समूहोंसे युक्त उस सेनामें, जिसके मदगन्धको दूसरे हाथी नहीं सह सकते, ऐसे एक सुन्दर मदगन्धवाले हाथीके ऊपर वे राज-दम्पती (वे राजा और रानी) सवार हुए ॥ १५ ॥

तदनन्तर अपनी प्रियतमा महारानीके साथ महाबलवान् वह राजा शिखि-ध्वज पैदल और रथसे व्याप्त उस बड़ी भारी सेनाको खींचता हुआ तथा पर्वतोंको हिला देनेवाली उस सेनासे, भूमिसे उठी हुई महावायु-जैसी, रसाशैलको (पृथ्वीरूप पहाड़को) भेदन करता हुआ उस वनसे शीघ्र चल दिया ॥ १६, १७ ॥

उस महेन्द्र पर्वतसे राजा शिखिध्वज चल पड़ा । रास्तेमें पर्वतों, अनेक देशों, नदियों और जङ्गलोंके साथ-साथ अनेक गाँवोंको देख रहे तथा राज्यपरित्याग कर अपने नगरसे बाहर निकलनेपर तत्-तत् देशवासियोंके साथ जो-जो घटनाएँ जहाँपर अपने ऊपर घटी थीं उन्हें अपनी प्रियाको दिखला रहे राजा शिखिध्वजने थोड़े ही समयमें स्वर्ग-सी सुन्दरी अपनी नगरीमें प्रवेश किया ॥ १८, १९ ॥

तत्र ते तस्य सामन्तास्तदागमनमादृताः ।
विविदुर्जयशब्देन निर्जग्मुश्चोदिताशयाः ॥ २० ॥
एकतां सम्प्रयातेन तारतूर्यनिनादिना ।
बलद्वयेन तेनाऽसौ विवेश नगरं नृपः ॥ २१ ॥
लाजपुष्पाञ्जलिव्रातैराकृष्टः पौरयोपिताम् ।
वणिङ्मार्गमसौ पश्यन्परम्परमनुत्तमम् ॥ २२ ॥
पताकाध्वजसम्बाधं मुक्ताजालमनोरमम् ।
नृत्यगेयपरस्त्रीकं स्वभूभावचलस्थितम् ॥ २३ ॥
प्रविश्याऽथ गृहं तैस्तैः संयुतं नृपमङ्गलैः ।
सम्यक्सम्मानयामास प्रणतं प्रकृतिव्रजम् ॥ २४ ॥
पुरोत्सवं भृशं कृत्वा दिनसप्तकमुत्तमम् ।
अकरोद्राजकार्याणि स्वानि स्वान्तःपुरे नृपः ॥ २५ ॥

वहाँ उसके संमानित उन सामन्तों (सरदारों) ने जयशब्दसे उसके आगमनको जाना और जानते ही वे उत्कण्ठितचित्त होकर उसकी अगवानीके लिए नगरसे शीघ्र बाहर निकल आये ॥ २० ॥

नगाड़े आदिकी उन्नत ध्वनिसे युक्त तथा एक दूसरेमें मिल गई उन दोनों सेनाओंके साथ वह राजा शिखिध्वज अपने नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥ २१ ॥

नगरकी स्त्रियों द्वारा जिसके ऊपर लाजाञ्जलियों और पुष्पाञ्जलियोंसे वृष्टि की गई थी, ऐसे उस राजाने व्यापारियोंके मार्गको, जो उत्तरोत्तर अत्यन्त रमणीय था, देखते हुए अपने राजमहलमें—जो छोटी-छोटी पताकाओं तथा ध्वजाओंसे खूब सजाया गया था, मोतियोंके तोरणोंसे मनोहर था, जहाँ परस्त्रियां नृत्य और गान कर रही थीं, जो अपने स्थानपर कैलास पर्वतकी नाईं उन्नत था—प्रवेश कर उसने लोक-शास्त्र प्रसिद्ध दही, दूर्वा, अक्षत, शंख, वीणा, छत्र, चँवर आदि राजाके योग्य माङ्गलिक तत्-तत् वस्तुओंसे युक्त विनीत अपने अमात्य आदि प्रकृतिसमूहका भलीभांति सम्मान किया ॥ २२–२४ ॥

सात दिनतक नगरमें खूब उत्तम उत्सव करके अपने अन्तःपुरमें राजाने अपने राजकार्योंका सम्पादन किया ॥ २५ ॥

दशवर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा महीतले ।
सह चूडालया राम विरतो देहधारणात् ॥ २६ ॥
देहमुत्सृज्य निर्वाणमस्नेह इव दीपकः ।
अपुनर्जन्मने राम जगामेति महामतिः ॥ २७ ॥
दशवर्षसहस्राणि समदृष्टितया तया ।
राज्यं तया रमय्यापि निर्वाणं पदमाप्तवान् ॥ २८ ॥
विगतभयविषादो मानमात्सर्यमुक्तः
प्रकृतसहजकर्मा मुक्तनीरागबुद्धिः ।
इति समसमदृष्टिर्मृत्युमार्योऽथ जित्वा
दशशिशिरसहस्राण्येकराज्यं चकार ॥ २९ ॥
भुक्त्वा भोगाननेकान् भुवि सकलमहीपालचूडामणित्वे
स्थित्वा वै दीर्घकालं परममृतपदं प्राप्तवान् सत्त्वशेषः ।

हे श्रीरामजी, इस पृथिवीतलके ऊपर दश हजार वर्षोंतक चूडालाके साथ राज्य करके वह राजा शिखिध्वज इस देहधारणसे विरत हो गया ॥ २६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस शरीरका त्याग कर फिर जन्म न लेनेके लिए, तेलरहित दीपककी नाईं, वह महामति राजा शिखिध्वज निर्वाणको (कैवल्य मुक्तिको) प्राप्त हो गया ॥ २७ ॥

उस तरहकी समदृष्टिसे दश हजार वर्षों तक राज्य करके तथा उस अपनी प्रिया चूडालाके साथ खूब रमण करके वह राजा निर्वाणको प्राप्त हो गया ॥२८॥

हे श्रीरामजी, भय और विषादसे शून्य, मान और मात्सर्यसे मुक्त तथा उपस्थित सहज कर्मोंका सम्पादन करनेवाले, भोगोंमें वैराग्यबुद्धि रखकर सबमें समरूप ब्रह्मदृष्टिसे युक्त होते हुए उस आर्य शिखिध्वजने उपर्युक्त बोधके द्वारा कामस्वरूप मृत्युको जीतकर दश हजार वर्षोंतक जम्बूद्वीपमें एकच्छत्र राज्य किया ॥२९॥

श्लोकके पूर्वार्धसे शिखिध्वजकी स्थितिका अनुवाद करके उत्तरार्धसे उसी स्थितिका रामचन्द्रके लिए कर्तव्यरूपसे उपदेश करते हैं—'भुक्त्वा' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, इस तरह सम्पूर्ण राजाओंके मस्तकके चूडामणिरूपसे स्थित होकर दीर्घकालतक इस भूतलपर नानाविध अनेक भोगोंका उपभोग कर सन्मात्ररूप अवशिष्ट वह राजा शिखिध्वज अजर परमपदमें

एवं रामाऽऽगतं त्वं प्रकृतमनुसरन् कार्यजातं विशोक-
स्तिष्ठोत्तिष्ठ स्वयं वा प्रममनुभवन् भोगमोक्षादिलक्ष्मीः ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे शिखिध्वजनिर्वाणं नाम दशोत्तरशततमः सर्गः ॥११०॥

चूडालोपाख्यानं समाप्तम्

एकादशोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतत्ते सर्वमाख्यातं शिखिध्वजकथानकम् ।
अनेन गच्छन् मार्गेण न कदाचन खिद्यसे ॥ १ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य रागद्वेषविनाशिनीम् ।
नित्यं नीरागया बुद्ध्या तिष्ठाऽवष्टब्धतत्पदः ॥ २ ॥

अवस्थित हो गया । हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरह आप भी प्रारब्ध-प्राप्त प्रकृत कार्योंका अनुसरण करते हुए शोक-शून्य होकर समाधिमें स्थित रहिये अथवा स्वयं खूब भोग-मोक्षलक्ष्मीका अनुसरण करते हुए आप सभी व्यवहारोंमें स्थित रहिये । मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि आपकी समाधि और व्युत्थानके फलमें कोई भेद नहीं है ॥ ३० ॥

एक सौ दस सर्ग समाप्त

चूडालाका आख्यान समाप्त

एक सौ ग्यारह सर्ग

[जैसे चूडाला रानीने राजाको सबका त्याग कराया, वैसे ही कचनामक अपने पुत्रको बृहस्पतिने सबका त्याग कराया और अन्तमें अहङ्कारके त्यागसे वह पूर्ण आत्मज्ञानी बन गया—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, यह शिखिध्वजकी छोटी-सी कहानी मैंने आपसे आद्योपान्त कही । इस मार्गका अनुसरण कर रहे आप कभी भी खिन्न नहीं होंगे यानी आपकी सारी चिन्ताएँ निकल जायँगी ॥ १ ॥

भद्र, राग और द्वेषका नामो-निशान मिटा देनेवाली, शिखिध्वजकी वृत्तिका

यथा शिखिध्वजो राज्यं कृतवानेवमीदृशम् ।
राम व्यवहरन् राज्ये भोगमोक्षमयो भव ॥ ३ ॥
शिखिध्वजक्रमेणैव यथा बोधमवाप्तवान् ।
कचो बृहस्पतेः पुत्रस्तथा बुध्यस्व राघव ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

बृहस्पतेर्भगवतः पुत्रोऽसौ भगवान् कचः ।
यथा प्रबुद्धो भगवन् समासेन तथा वद ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राजन् कथां श्रीमाञ्छिखिध्वजवदेव सः ।
प्रबोधं परमं यातो देवदेशिकजः कचः ॥ ६ ॥
बालभावात् समुत्तीर्णः संसारोत्तरणोन्मुखः ।
कचः पदपदार्थज्ञो बृहस्पतिमभाषत ॥ ७ ॥

अवलम्बन कर राग-द्वेषसे निर्मुक्त बुद्धिसे प्रत्यक्ष किये गये पारमार्थिक पूर्णानन्द पदसे सुशोभित होकर निरन्तर स्थित रहिए ॥ २ ॥

हे रामभद्र, जिस प्रकार राजा शिखिध्वजने उस तरह व्यवहार करते हुए राज्य किया, उसी प्रकारसे आप भी राज्यमें व्यवहार करते हुए भोग और मोक्षसे भरपूर रहिए ॥ ३ ॥

हे राघव, शिखिध्वजके प्रसिद्ध सर्वत्यागरूप उपायसे ही जैसे बृहस्पतिके पुत्र कचने ज्ञान प्राप्त किया, वैसे ही आप भी ज्ञान प्राप्त कीजिए ॥ ४ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, बृहस्पतिके पुत्र समस्त वैभवोंसे परिपूर्ण कचने जिस क्रमसे ज्ञान प्राप्त किया उस क्रमको संक्षेपतः मुझसे कहिए ॥ ५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे रामजी, देवताओंके आचार्य बृहस्पतिके पुत्र श्रीमान् कचने राजा शिखिध्वजकी नाईं ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया, इसकी कथा आप सुनिये ॥ ६ ॥

कचका अभी बाल्यकाल समाप्त ही हुआ था और ज्यों ही यौवन आरम्भ हुआ, त्यों ही वह संसारसागरको तर जानेके लिए कटिबद्ध हो गया। वह पद और पदार्थका उत्तम ज्ञाता था। वह अपने पिता बृहस्पतिसे कहने लगा ॥ ७ ॥

कच उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ कथं संसृतिपञ्जरात् ।
अस्मान्निर्गम्यते ब्रूहि जन्तुना जीवतन्तुना ॥ ८ ॥

बृहस्पतिरुवाच

अनर्थमकरागारादस्मात् संसारसागरात् ।
उड्डीयते निरुद्वेगं सर्वत्यागेन पुत्रक ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्याकर्ण्य कचो वाक्यं पितुः परमपावनम् ।
सर्वमेव परित्यज्य जगामैकान्तकाननम् ॥ १० ॥
बृहस्पतेस्तद्गमनं नोद्वेगाय बभूव ह ।
संयोगे च वियोगे च महान्तो हि महाशयाः ॥ ११ ॥
अथ वर्षेषु जातेषु त्रिषु पञ्चसु सोऽनघ ।
पुनः प्राप महारण्ये कस्मिंश्चित् पितरं कचः ॥ १२ ॥

कचने कहा— हे भगवन्, हे सब धर्मोंका ज्ञान रखनेवाले पिताजी, तन्तुके सदृश हजारों बन्धनोंको देनेवाले जीवसे युक्त मेरे-जैसा जन्तु इस संसाररूपी पिंजड़ेसे कैसे बाहर निकल सकता है, यह आप कहिये ॥ ८ ॥

बृहस्पतिने कहा—हे पुत्र, अनर्थरूप हजारों मगरोंके निवासस्थानभूत इस संसाररूपी सागरसे किसी तरहके उद्वेगके बिना किये गये सर्वत्यागसे तत्काल ही जन्तु निकल जा सकता है ॥ ९ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, अपने पिताका परम पवित्र उस तरहका वचन सुनकर कच सभीका परित्याग करके एकान्तवनमें चला गया ॥ १० ॥

पुत्रके चले जानेसे बृहस्पतिको चित्तमें कुछ भी उद्वेग नहीं हुआ, क्योंकि जो महान् होते हैं, वे संयोग और वियोग दोनोंमें सुमेरु पर्वतके सदृश निश्चल मनवाले होते हैं यानी उन दोनों दशाओंमें महात्माओंके मनमें कुछ भी उद्वेग आदि विकार नहीं होते ॥ ११ ॥

हे पापशून्य, वनमें जानेके अनन्तर उसे जब आठ वर्ष व्यतीत हो गये, तब किसी महारण्यमें उस कचने अपने पिताजीको—जो कि उसके चित्तका परिपाकतारतम्य जानकर बचे हुएका त्याग करानेके लिए ही आये थे—फिर प्राप्त किया ॥ १२ ॥

परिपूज्याऽभिवाद्यैनं समालिङ्गितपुत्रकम् ।
अपृच्छद्वाक्पतिं भूयः स कचः कान्तया गिरा ॥ १३ ॥

कच उवाच

अद्येदमष्टमं वर्षं सर्वत्यागः कृतो मया ।
तथापि तात विश्रान्तिं नाऽधिगच्छाम्यनिन्दिताम् ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवमार्तवचस्तस्मिन्कचे वदति कानने ।
सर्वमेव त्यजेत्युक्त्वा वाक्पतिर्दिवमुद्ययौ ॥ १५ ॥
गते तस्मिन् कचो देहाद्वल्कलाद्यप्यथाऽत्यजत् ।
गतेन्द्वभ्रार्कतारेण शरद्व्योम्ना समोऽभवत् ॥ १६ ॥
पुनर्वर्षत्रयेणैष कस्मिंश्चित् काननान्तरे ।
तत्याजाऽम्बुदवर्षादि शरदीव नभस्तलम् ॥ १७ ॥
उवासैको दिगन्तेषु शान्तशून्यवपुः श्वसन् ।
दूयमानमनाः प्राप तमेव पितरं गुरुम् ॥ १८ ॥

कचने पहले अपने पिताजीकी विधिपूर्वक पूजा की, फिर उन्हें प्रणाम किया। बृहस्पतिने भी अपने पुत्रका आलिङ्गन किया। इतना होनेके बाद अत्यन्त मधुर-वाणीसे उस कचने बृहस्पतिसे पुनः पूछा ॥ १३ ॥

कचने कहा—हे तात, मैंने जो सर्वत्याग किया है, उसका आज यद्यपि आठवां वर्ष है, तथापि निर्मल शान्ति मैं प्राप्त नहीं कर रहा हूँ ॥ १४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, अरण्यमें उस तरहके दीन वचन कच बोल रहा ही था कि 'सभीका त्याग करो' यों कहकर बृहस्पति आकाशमें अदृश्य हो गये ॥ १५ ॥

बृहस्पतिके चले जानेके अनन्तर कचने अपने शरीरपरसे वल्कल आदिका भी परित्याग कर दिया और यह चन्द्र, बादल, तारे और सूर्यसे रहित शरत् कालके आकाशकी (जब सूर्योदयकाल समीप रहता है, तबके आकाशकी) नाईं दिगम्बर हो गया ॥ १६ ॥

शरत्-कालमें आकाशतलकी नाईं उसने वर्षाकालमें गुफा आदिका आश्रयण कर मेघवर्षण आदिका परित्याग कर दिया। शरद् आदि ऋतुओंमें गुफा आदिका

कृतपूजाक्रमो भक्त्या समालिङ्गितपुत्रकम् ।
अपृच्छत्स कचो भूयः खेदगद्गदया गिरा ॥ १९ ॥

कच उवाच

तात सर्वं परित्यक्तं कन्थावेणुलताद्यपि ।
तथापि नास्ति विश्रान्तिः स्वपदे किं करोम्यहम् ॥ २० ॥

बृहस्पतिरुवाच

चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तत्त्यक्त्वा पुत्र राजसे ।
चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं सर्वविदो जनाः ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा वाक्पतिः पुत्रं पुप्लुवे तरसा नभः ।
अन्वियेष कचश्चित्तं परित्यक्तुमखिन्नधीः ॥ २२ ॥
चिन्तयन्नप्यसौ चित्तं न यदा वेद कानने ।
तदा सञ्चिन्तयामास धियैव पितरं ययौ ॥ २३ ॥

परिहार कर अनावृत दिशाओंमें रहने लगा। उसका शरीर शान्त और सन्न हो गया था तथा वह साँसमात्र ले रहा था। तीन वर्षके बाद किसी एक जङ्गलमें फिर अपने गुरु उसी पिताजीको खिन्न-चित्त उसने प्राप्त किया ॥ १७, १८ ॥

भक्तिसे उसने अपने पिताजीका पूजन, अभिवादन आदि किया, पिताने भी अपने पुत्रका आलिङ्गन किया, अनन्तर खेदके कारण गद्गद वाणीसे वह कच पूछने लगा ॥ १९ ॥

कचने कहा—तातचरण, मैंने सबका त्याग कर दिया। कन्था, दण्ड, कमण्डलु आदिका भी त्याग कर दिया, तथापि अपने आत्मपदमें मेरी स्थिति नहीं हुई, अब मैं क्या करूँ ॥ २० ॥

बृहस्पतिने कहा—पुत्र, चित्त ही सब कुछ है, अतः उसीका त्याग कर तुम अपने स्वरूपमें विराजित हो जाओगे। सर्वज्ञ लोग चित्तत्यागको ही सर्वत्याग कहते हैं ॥ २१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, पुत्रसे ऐसा कहकर बृहस्पति शीघ्रतासे आकाशमें उड़ गये, अनन्तर अन्तःकरणसे खेद निकाल कर वह कच छोड़नेके लिए चित्तकी खोज करने लगा ॥ २२ ॥

खोज करनेपर भी जब उसे चित्तकी प्राप्ति नहीं हुई, तब वह सोचने

पदार्थवृन्दं देहादि न चित्तमिति कथ्यते ।
तदेतत्किं क वा व्यर्थं निरागस्कं त्यजाम्यहम् ॥ २४ ॥
पितुः सकाशं गच्छामि ज्ञातुं चित्तं महारिपुम् ।
ज्ञात्वा तत्सन्त्यजाम्याशु ततस्तिष्ठामि विज्वरः ॥ २५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति सञ्चिन्त्य स कच उज्जगाम त्रिविष्टपम् ।
वाक्पतिं प्राप्य सस्नेहं ववन्दे प्रणनाम च ॥ २६ ॥
अपृच्छच्चैनमेकान्ते किं चित्तं भगवन् वद ।
स्वरूपं ब्रूहि चित्तस्य येन तत्सन्त्यजाम्यहम् ॥ २७ ॥

बृहस्पतिरुवाच

चित्तं निजमहङ्कारं विदुश्चित्तविदो जनाः ।
अन्तर्योऽयमहम्भावो जन्तोस्तच्चित्तमुच्यते ॥ २८ ॥

लगा और बुद्धिसे ही अपने पिताजीके समीप गया यानी पिताजीका स्मरण किया ॥ २३ ॥

त्रिपुरका दाह करनेपर जैसे असुरोंका स्वयं दाह हो गया, उस तरह देह, इन्द्रिय आदिका त्याग करनेपर चित्तका स्वयं त्याग हो जायगा, इसपर कहते हैं—'पदार्थ०' इत्यादिसे ।

देह आदि जो कुछ ये प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे तो चित्त नहीं कहे जा सकते और उनमें चित्त कहाँ रहता है, इसका भी निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए बेचारे अपराधशून्य देह आदिका मैं व्यर्थ क्यों त्याग करूँ ॥ २४ ॥

इस परिस्थितिमें अब चित्तस्वरूप महाशत्रुको जाननेके लिए पिताजीके पास ही जाता हूँ । जानकर मैं उसका त्याग करूँगा । तदनन्तर जल्द ही समस्त शोकोंसे निर्मुक्त हो जाऊँगा ॥ २५ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—रघुवर, ऐसा विचार कर वह कच स्वर्गमें चला गया तथा बृहस्पतिके पास जाकर स्नेहपूर्वक वन्दना और प्रणाम किया ॥ २६ ॥

एकान्तमें उसने उनसे पूछा—हे भगवन्, चित्त क्या है, इसका आप मुझे उपदेश दीजिए और चित्तका स्वरूप भी बतलाइये, जिससे कि मैं उसका त्याग करूँ ॥ २७ ॥

बृहस्पतिने कहा—आयुष्मन्, चित्ततत्त्वज्ञ महानुभाव अपने अहङ्कारको ही

कच उवाच

त्रयस्त्रिंशन्महाकोटिप्रमाणस्य महामते ।
गुरो गीर्वाणवृन्दस्य कथमेतद्वदेति मे ॥ २९ ॥
मन्येऽस्य दुष्करत्यागो न सिद्धिमुपगच्छति ।
कथमेष किल त्यक्तुं शक्यते योगिनां वर ॥ ३० ॥

बृहस्पतिरुवाच

अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात् ।
सुकरोऽहङ्कृतेस्त्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि ॥ ३१ ॥
यथैतदेवं तनय तथा शृणु वदामि ते ।
अज्ञानमात्रसंसिद्धं वस्तु ज्ञानेन नश्यति ॥ ३२ ॥

चित्त जानते हैं, अतः जन्तुका जो यह भीतरी अहम्भाव है, वही चित्त कहा जाता है ॥ २८ ॥

कचने कहा—हे तैंतीस करोड़ देवताओंके गुरो, हे महामते, अहम्भाव ही चित्तरूप कैसे हो सकता है, उसे मुझसे कहिए, क्योंकि लोकमें अहङ्कारकी आत्माके रूपमें प्रसिद्धि है, यदि उसका त्याग कर देंगे, तो शून्यता ही हो जायगी ॥२९॥

और आत्माका त्याग भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह त्यागका विषय है ही नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'मन्ये' इत्यादिसे ।

हे योगियोंमें श्रेष्ठ, मैं तो मानता हूँ कि इसका त्याग इतना असम्भव-सा है कि किसी तरह सिद्ध हो ही नहीं सकता, इसलिए इसका त्याग कैसे होगा ॥ ३० ॥

सत्य है, जबतक उसके साक्षीका परिचय नहीं हो जाता, तबतक उसका परित्याग करना असम्भव है, परन्तु जब साक्षीका परिचय हो जाता है, तब उसका त्याग कर सकते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'अपि' इत्यादिसे ।

बृहस्पतिने कहा—हे पुत्र, अहङ्काररूप चित्तका त्याग तो फूलोंके मर्दनसे भी और नेत्रोंके मीलनसे भी अत्यन्त सुलभ है, अतः इसके त्यागमें तनिक भी क्लेश नहीं है ॥ ३१ ॥

हे तनय, इसका त्याग जिस उपायसे सुलभ होता है, उस उपायको तुम्हें कहता हूँ, सुनो । जो वस्तु केवल अज्ञानसे उत्पन्न होती है, उसका ज्ञानसे

वस्तुतो नास्त्यहङ्कारः पुत्र मिथ्याभ्रमो यथा ।
असन्सन्निव सम्पन्नो बालवेतालवत्स्थितः ॥ ३३ ॥
यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वं मरावम्बुमतिर्यथा ।
मिथ्यावभासः स्फुरति तथा मिथ्याऽप्यहङ्कृतिः ॥ ३४ ॥
असदेव यथा द्वित्वं मोहादिन्दौ विलोक्यते ।
तथा स्फुरत्यहङ्कारो न सत्यो नाऽप्यसन्न च ॥ ३५ ॥
एकमाद्यन्तरहितं चिन्मात्रममलान्तरम् ।
खादप्यतितरामच्छं विद्यते सर्ववेदनम् ॥ ३६ ॥
सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकाशं सर्वजन्तुषु ।
तदेवैकं कचत्यम्बु विलोलास्वब्धिवीचिषु ॥ ३७ ॥

विनाश हो जाता है, यह अहङ्कार शुद्ध साक्षीके अपरिचयरूप मोहसे उत्पन्न हुआ है, अतः साक्षीका परिचय हो जानेपर नष्ट हो जायगा ॥ ३२ ॥

हे पुत्र, जैसे मिथ्या भ्रम कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही अहङ्कार भी वास्तवमें कुछ है ही नहीं। अज्ञानियोंकी दृष्टिसे यह उस प्रकार असत् होता हुआ उत्पन्न हुआ है, जिस प्रकार बालककी दृष्टिसे असत् वेताल उत्पन्न होता है ॥ ३३ ॥

जैसे डोरीमें अज्ञानसे साँप मिथ्या भासता है अथवा जैसे शुष्क मरुभूमिमें अज्ञानसे मिथ्या पानीका ज्ञान होता है, वैसे ही अज्ञानसे अहङ्कार भी मिथ्या ही भासता है ॥ ३४ ॥

जैसे चन्द्रमा एक ही है, परन्तु उसमें मोहसे असत्य द्वित्व दिखाई देता है, वैसे ही यह अहङ्कार मोहसे ही दिखाई देता है। वह न तो सत्य है, न असत्य ही है और न सत्यासत्य ही है ॥ ३५ ॥

सब प्रपञ्च यदि मिथ्या है, तो कौन-सी चीज सत्य है, इसे कहते हैं—'एक०' इत्यादिसे।

एक, आदि और अन्तसे रहित, चैतन्यमात्र, सभी ओरसे निर्मल, आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ सर्वानुभवरूप आत्मा ही सत्य वस्तु है ॥ ३६ ॥

यदि उसकी सत्ता न मानी जाय, तो जगत्‌का प्रकाश ही नहीं हो सकेगा, अतः उसका अस्तित्व है, यह कहते हैं—'सर्वत्र' इत्यादिसे।

सभी जगह और सभी प्राणियोंमें निरन्तर सब ओरसे प्रकाश करनेवाला वही

अत्र कोऽयमहम्भावः कुतो वा कथमुत्थितः ।
काऽप्सु जातो रजोराशिः काऽनलादुत्थितं जलम् ॥३८॥
अयं सोऽहमिति व्यर्थं प्रत्ययं त्यज पुत्रक ।
तुच्छं परिमिताकारं दिक्कालविवशीकृतम् ॥ ३९ ॥
दिक्काल्लाद्यनवच्छिन्नं स्वच्छं नित्योदितं ततम् ।
सर्वार्थमयमेकार्थचिन्मात्रममलं भवान् ॥ ४० ॥
फलकुसुमदलानां सर्वदिक्संस्थितानां
रस इव जगतां त्वं संस्थितः सर्वदैव ।

एक आत्मवस्तु उस प्रकार चमकता है, जिस प्रकार चञ्चल, समुद्रकी तरङ्गोंमें जल ही जल चमकता रहता है ॥ ३७ ॥

ऐसी स्थितिमें द्रष्टा और दृश्योंके बीचमें यह अहङ्कार है कौन, किस निमित्तसे उत्पन्न हुआ, और किस तरहका है, यह कहना अत्यन्त ही विचारणीय है यानी कह ही नहीं सकते, ऐसा कहते हैं—'अत्र' इत्यादिसे ।

द्रष्टा और दृश्यके बीचमें यह कौन-सी अहङ्कार नामकी वस्तु है, किस हेतुसे उत्पन्न हुई और उसका स्वरूप क्या है ? कोई कह सकता है ? कोई भी नहीं । क्या कहीं जलमें शुष्क धूलिराशि या अग्निसे उत्पन्न जल किसीने देखा अर्थात् किसीने भी नहीं ॥ ३८ ॥

हे पुत्र, यह पिता आदिसे उत्पन्न हुआ देह आदि मैं हूँ, इस व्यर्थ बुद्धिको, जो कि तुच्छ, परिमिताकार और देश-कालके द्वारा हुए वृद्धि आदि विकारोंसे परिणत हुई है, छोड़ दो ॥ ३९ ॥

तब मैं कौन हूँ ? इसपर कहते हैं—'दिक्काला०' इत्यादिसे ।

देश, काल आदि परिच्छेदोंसे शून्य, स्वच्छ, निरन्तर उदयस्वभाव, व्यापक सब पदार्थोंके रूपसे भासमान, निर्मल अद्वय चिन्मात्रस्वरूप तुम हो ॥ ४० ॥

'सर्वार्थमयम्' इस शब्दका सब पदार्थोंका सारभूत भी अर्थ है, इसको दृष्टान्तपूर्वक दर्शाते हुए प्रकृतका उपसंहार करते हैं—'फल०' इत्यादिसे ।

जैसे चारों दिशाओंमें स्थित फल, पुष्प और पत्तोंका हेतुभूत एवं सारभूत वृक्षोंमें रहनेवाला रस है, वैसे ही तुम समस्त जगत्‌का कारणभूत और सारभूत

विमलतरचिदात्मा नित्यमेवाऽस्त्यनन्तः
क इव कच तवाऽहंनिश्चयो भावमूर्तेः ॥४१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे कचोपाख्याने कचप्रबोधो नामैकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥१११॥



द्वादशोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति प्राप्य परं योगमुपदेशमनुत्तमम् ।
जीवन्मुक्तो बभूवाऽसौ ततो देवगुरोः सुतः ॥ १ ॥
निर्ममो निरहङ्कारश्छिन्नग्रन्थिः प्रशान्तधीः ।
कचो यथास्थितो राम तथा तिष्ठाऽविकारवान् ॥ २ ॥
अहङ्कारमसद्विद्धि मैनमाश्रय मा त्यज ।
असतः शशशृङ्गस्य किल त्यागग्रहौ कुतः ॥ ३ ॥

भीतर रहनेवाला सर्वदा ही स्थित, अत्यन्त विमल, अनन्त, नित्य चिदात्मस्वरूप ही हो। हे कच, अखण्ड-अद्वय सन्मात्रस्वरूप बने हुए तुम्हारी यह परिच्छिन्न अहंबुद्धि कौन-सी चीज है अर्थात् कोई नहीं ॥ ४१ ॥

एक सौ ग्यारह सर्ग समाप्त



एक सौ बारह सर्ग

[कचकी आख्यायिकासे प्रबुद्ध हुए रामजीके प्रश्नसे वसिष्ठजी द्वारा आकाशकी रक्षा करनेवाले मिथ्यापुरुषका आख्यान-कथन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, उस देवगुरुसे अपनी आत्माको परमात्माके साथ एकरूपतासे सम्पन्न करानेवाला उत्तमोत्तम उस प्रकारका परम उपदेश पाकर उनका पुत्र जीवन्मुक्त हो गया ॥ १ ॥

हे रामजी, जिस प्रकार बृहस्पतिका पुत्र कच ममतारहित, अहङ्कारशून्य, मोहरूपी गाँठसे निर्मुक्त और शान्तबुद्धि होकर स्थित रहा उसी प्रकार आप भी निर्विकार होकर स्थित हो जाइए ॥ २ ॥

भद्र, इस अहङ्कारको आप असत् जानिये, इसका न तो आश्रयण कीजिए और

असम्भवत्यहङ्कारे क्व ते मरणजन्मनी ।
नभःक्षेत्रे तथा व्युप्तं केन सङ्गृह्यते फलम् ॥ ४ ॥
निरंशं शान्तसङ्कल्पं सर्वभावात्मकं ततम् ।
परमाद्प्यणोः सूक्ष्मं चिन्मात्रं त्वमनोमयम् ॥ ५ ॥
यथाऽम्भसस्तरङ्गादि यथा हेम्नोऽङ्गदादि च ।
तदेवाऽतदिवाभासं तथाऽहम्भावभावितः ॥ ६ ॥
अबोधेन जगत्सर्वं मायामयमिव स्थितम् ।
बोधेन सकलं ब्रह्मरूपं सम्पद्यतेऽनघ ॥ ७ ॥

न त्याग ही कीजिए, क्योंकि असत् खरगोशके सींगोंका कहीं आश्रयण और त्याग किसीसे किया जा सकता है ॥ ३ ॥

यत्नसे जबतक उसका निवारण नहीं किया जायगा, तबतक कैसे जन्म-मरणका भय निकलेगा, इसपर कहते हैं—'असम्भव०' इत्यादिसे ।

जब अहङ्कार ही असम्भव है, तब आपके जन्म-मरण ही कैसे ? ऐसा कौन है, जो आकाशमें पेड़ लगाकर फल बटोरता हो । अहङ्काररूपी खेतके रहनेपर ही कामादि वासनाएँ अङ्कुरित हो सकती हैं, परन्तु उसका बाध हो जानेपर वे कुछ नहीं कर सकतीं, यह भाव है ॥ ४ ॥

अहङ्कारका बाध हो जानेपर अवशिष्ट हुआ मैं किस प्रकारका हूँ, इसपर कहते हैं—'निरंशम्' इत्यादिसे ।

जब अहङ्कारका बाध हो जाता है, तब आप अंशशून्य, सङ्कल्प-विकल्पोंसे रहित, समस्त पदार्थरूप, व्यापक, परमाणुसे भी सूक्ष्म, मनसे रहित चिन्मात्रस्वरूप होकर रह जाते हैं ॥ ५ ॥

उक्त चिन्मात्ररूप मैं अहम्भावसे युक्त होकर किस तरहका हो गया ? इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे जलके तरङ्ग आदि जलरूप होते हुए भी जलसे भिन्नकी नाईं भासते हैं अथवा जैसे सुवर्णके कटक आदि सुवर्णरूप होते हुए भी सुवर्णसे भिन्नकी नाईं भासते हैं, वैसे ही आप चिन्मात्र होते हुए भी अहम्भावसे युक्त होकर उससे भिन्नकी नाईं भासने लग गये हैं ॥ ६ ॥

हे पापशून्य, सम्पूर्ण जगत् आत्माके अज्ञानसे ही मायामय बनकर मानो स्थित

द्वित्वैकत्वमती त्यक्त्वा शेषस्थः सुखितो भव ।
मा दुःखितो भव व्यर्थं त्वं मिथ्यापुरुषो यथा ॥ ८ ॥
मायेयमतिदुष्पारा सांसारी गाढतां गता ।
शरदा मिहिकेवाऽऽशु बोधेनाऽऽयाति तानवम् ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

परमामागतोऽस्म्यन्तस्तृप्तिं ज्ञानामृतेन ते ।
अवग्रहभयाक्रान्तः स्वासारेणेव चातकः ॥ १० ॥
अमृतेनेव सिक्तोऽहमन्तर्गच्छामि शीतताम् ।
उपर्यपि समस्तानां तिष्ठाम्यतुलसम्पदाम् ॥ ११ ॥
न तृप्तिमनुगच्छामि वचांसि वदतस्तव ।
ऐन्दवीनां मरीचीनां चकोरस्तृषितो यथा ॥ १२ ॥

हो जाता है और आत्माके ज्ञानसे वह सब ब्रह्मरूप बनकर स्थित हो जाता है ॥ ७ ॥

श्रीरामजी, यह कार्य है और यह कारण है—इन दोनों बुद्धियोंका त्याग कर उनमें अनुगत सन्मात्रको बचाकर उसीमें अपनी स्थिति बनाइए और सुखी हो जाइए। जिस तरह मिथ्यापुरुष अनुगत बची हुई वस्तुमें प्रतिष्ठित न होकर दुःखी हुआ, उस प्रकार व्यर्थ दुःखी मत होइए ॥ ८ ॥

यह अत्यन्त गाढ़ जो संसारकी माया है, उसका पार पाना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, तथापि जैसे शरद् ऋतु कुहरेको काट डालती है, वैसे ही उसे आत्मज्ञान शीघ्र काट डालता है ॥ ९ ॥

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, आपके ज्ञानरूपी अमृतसे मैं अपने अन्दर ऐसे परम सन्तुष्ट हो गया हूँ, जैसे वृष्टिके प्रतिबन्धसे (अभावसे) भयभीत हुआ चातक दैवसे प्राप्त हुई वृष्टिसे सन्तुष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

महाराज, अमृतके सदृश ज्ञानसे अभिषिक्त हुआ मैं भीतर शीतलताका महान् अनुभव कर रहा हूँ और हिरण्यगर्भकी सम्पत्तिपर्यन्त जितनी उत्तमोत्तम सम्पत्तियाँ हैं उन सबके सिरपर रहनेवाली निरतिशय आनन्दरूपी सम्पत्तिके ऊपर मैं अपना आधिपत्य जमा कर स्थित हूँ ॥ ११ ॥

परन्तु मधुर बचन कह रहे आपकी उक्तियोंके आस्वादसे मुझे ऐसे तृप्ति

तृप्तोऽपि भूयः पृच्छामि त्वां प्रश्नमिममीश्वरः ।
को नाम तृप्तोऽप्यग्रस्थं न पिबत्यमृतासवम् ॥ १३ ॥
किमुच्यते मुनिश्रेष्ठ मिथ्यापुरुषनामकम् ।
वस्त्ववस्तुकृतं जगद्वस्तु जातं वदाऽऽशु मे ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

मिथ्यापुरुषबोधाय शृणु राघव शोभनाम् ।
इमामाख्यायिकां हासजननीं मदुदीरिताम् ॥ १५ ॥
अस्ति कश्चिन्महाबाहो मायायन्त्रमयः पुमान् ।
बालपेलवधीमूढो गूढो मौर्ख्येण केवलम् ॥ १६ ॥
स एकान्ते क्वचिज्जातः शून्ये तत्रैव तिष्ठति ।
केशोण्ड्रकमिव व्योम्नि मृगतृष्णेव वा मरौ ॥ १७ ॥

नहीं होती, जैसे चन्द्रमाकी किरणोंके आस्वादसे तृषार्त चकोरको तृप्ति नहीं होती ॥ १२ ॥

भगवन्, ज्ञातव्य तत्त्वके ज्ञानसे यद्यपि मैं तृप्त तो हो गया हूँ, तथापि आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ । भला बतलाइये तो सही कि कौन ऐसा प्राणी है, जो तृप्त होता हुआ भी सामने पड़े हुए अमृतरूपी पेयको न पीता हो ॥ १३ ॥

इस प्रकार प्रशंसासे अभिमुख किये गये गुरुजीके प्रति 'मा दुःखितो भव व्यर्थं त्वं मिथ्यापुरुषो यथा' इत्यादिसे पहले सूचित हुए मिथ्यापुरुषका कुतूहलसे श्रीरामजी आख्यान पूछते हैं—'किमुच्यते' इत्यादिसे ।

हे मुनिश्रेष्ठ, मुझसे शीघ्र कहिए कि कौन वस्तु मिथ्यापुरुष नामकी कही जाती है, जिसने कि वस्तुको अवस्तु बना दिया और अवस्तुभूत समस्त जगत्को वस्तु बना डाला ॥ १४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, मिथ्यापुरुषको जाननेके लिए यह सुन्दर आख्यायिका आप सुनिये, जो मेरे द्वारा कही जाती है और हास्यप्रद है ॥ १५ ॥

हे महाबाहो, कोई एक मायायन्त्रसे भरा पुरुष था, वह केवल बालकके सदृश कोमल बुद्धिसे विक्षिप्त और अज्ञानसे आवृत था ॥ १६ ॥

मनुष्योंकी जहां दृष्टि नहीं जाती, ऐसे एकान्त स्थानमें भी वह स्वरूपतः मिथ्या ही था, यह कहते हैं—'सः' इत्यादिसे ।

तस्मादन्यन्न तत्राऽस्ति यदस्ति च स एव तत् ।
यच्चान्यत्तत्तदाभासं न च पश्यति दुर्मतिः ॥ १८ ॥
सङ्कल्पस्तस्य सञ्जातस्तत्र वृद्धिमुपेयुषः ।
खस्याऽहं खमहं खं मे खं रक्षामीति निश्चलः ॥ १९ ॥
खं स्थापयित्वा रक्षामि वस्त्विष्टं स्वयमादरात् ।
इति सञ्चिंतयन् व्योमरक्षार्थं सोऽकरोद्गृहम् ॥ २० ॥
तस्य कोशे बबन्धाऽऽस्थां रक्षितं खं मयेत्यसौ ।
गृहाकाशेन संतुष्टस्ततः स रघुनन्दन ॥ २१ ॥
अथ कालेन तत्तस्य गृहं नाशमुपाययौ ।
ऋत्वन्तरेणाऽब्द इव वातेनेव तरङ्गकः ॥ २२ ॥

वह किसी एक निर्जन एकान्त प्रदेशमें उत्पन्न हुआ था और उसी शून्य-प्रदेशमें रहता था । वह वास्तवमें आकाशमें केशोण्ड्रकके सदृश और मरुभूमिमें मृगतृष्णाजलके सदृश मिथ्या ही था ॥ १७ ॥

उस मिथ्यापुरुषको छोड़कर उस स्थानमें दूसरा कुछ है नहीं और जो कुछ भी वहांपर यदि प्रतीत होता है, तो अकेला वही प्रतीत होता है । यदि वह किसी दूसरेको देखता है, तो वह भी उसीकी भ्रान्तिसे ही देखता है, यह सब होते हुए भी वह 'मैं ही यहां सब कुछ हूँ' यों नहीं देखता, क्योंकि वह दुर्मति है ॥ १८ ॥

वहां वृद्धिको प्राप्त हुए उस मिथ्यापुरुषको मनमें एक सङ्कल्प हुआ, वह यह कि इस आकाशका मैं ही कारण हूँ और आकाश मेरा कार्य है, अतः आकाशरूप मैं ही निश्चल होकर उसको व्याप्त कर उसकी रक्षा करता हूँ ॥१९॥

मेरी प्रियसे प्रिय वस्तु आकाश है, अतः उसे कहींपर रखकर स्वयं मैं ही उसकी बड़े आदरसे रक्षा करूँ, इस तरह विचारकर आकाशकी रक्षाके लिए उसने एक घरका निर्माण किया ॥ २० ॥

हे रघुनन्दन, तदनन्तर उस घरके अन्दर उसने यह आस्था बाँध ली कि यह आकाश मेरा है और इसकी मैंने रक्षा की है और गृहाकाशसे वह सन्तुष्ट हो गया ॥ २१ ॥

अनन्तर कुछ कालके बाद वह उसका घर उस प्रकार नष्ट हो गया, जिस

हा गृहाकाश नष्टं त्वं हा क्व यातमसि क्षणात् ।
हा हा भग्नमसि स्वच्छमित्येवैतच्छुशोच सः ॥ २३ ॥
इति शोकशतं कृत्वा पुनस्तत्रैव दुर्मतिः ।
कूपं चक्रे खरक्षार्थं कूपाकाशपरोऽभवत् ॥ २४ ॥
ततो नाशं स कालेन नीतः कूपोऽपि तस्य वै ।
कूपाकाशे गते शोकनिमग्नोऽसौ ततोऽभवत् ॥ २५ ॥
कूपाकाशप्रलापान्ते कुम्भं शीघ्रमथाऽकरोत् ।
कुम्भाकाशपरो भूत्वा स्वयं निर्वृतिमाययौ ॥ २६ ॥
कुम्भोऽपि तस्य कालेन नाशं नीतो रघूद्वह ।
यामेव दिशमादत्ते दुर्भगः सा हि नश्यति ॥ २७ ॥

प्रकार दूसरी ऋतुसे यानी शरत् ऋतुसे मेघ या वायुसे छोटे-छोटे तरङ्ग नष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

जब वह नष्ट हो गया तब मिथ्यापुरुष इस प्रकार शोक करने लगा, हा गृहाकाश, तुम नष्ट हो गये, अरे तुम एक ही क्षणमें कहां चले गये, हा हा, तुम टूट गये, तुम बड़े अच्छे रहे ॥ २३ ॥

इस प्रकार सैकड़ों बार शोक कर फिर उस दुर्बुद्धि मिथ्यापुरुषने वहांपर आकाशकी रक्षा करनेके लिए एक कूपका निर्माण किया और उसी कूपाकाशमें पहलेके-जैसी आस्था बाँधकर रहने लगा ॥ २४ ॥

अनन्तर कुछ समयके बाद उसका वह कूप भी नाशको प्राप्त हो गया यानी मिट्टी आदिसे ढह गया । जब कूपाकाश नष्ट हो गया, तब वह उससे महान् शोकसागरमें निमग्न हो गया ॥ २५ ॥

कूपाकाशके लिए शोक कर चुकनेके अनन्तर उसने तत्काल ही एक घड़ेका निर्माण किया और घटाकाशकी रक्षामें तत्पर होकर स्वयं उसके अभिमान-सुखको प्राप्त हुआ ॥ २६ ॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ, कालसे उसका वह घर भी नष्ट हो गया । भाग्यहीन जिस किसी दिशाका ग्रहण करता है, वह नष्ट ही हो जाती है ॥ २७ ॥

कुम्भाकाशप्रलापान्ते खरक्षार्थं चकार सः ।
कुण्डं तथैव तेनाऽसौ कुण्डाकाशपरोऽभवत् ॥ २८ ॥
कुण्डमप्यस्य कालेन केनचिन्नाशमाययौ ।
तेजसेव तमस्तेन कुण्डाकाशं शुशोच सः ॥ २९ ॥
कुण्डाकाशस्य शोकान्ते खरक्षार्थं चकार सः ।
चतुःशालं महाशालं तदाकाशमयोऽभवत् ॥ ३० ॥
तदप्यस्य जहाराऽऽशु कालः कवलितप्रजः ।
जीर्णपर्णं यथा वातस्ततः शोकपरोऽभवत् ॥ ३१ ॥
स चतुःशालशोकान्ते खरक्षार्थं चकार ह ।
कुसूलमम्बुदाकारं तदाकाशपरः स्थितः ॥ ३२ ॥
तदप्यस्य जहाराऽऽशु कालो वात इवाऽम्बुदम् ।
कुसूलनाशशोकेन तेनाऽसौ पर्यतप्यत ॥ ३३ ॥

घड़ेके आकाशका शोक कर लेनेके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिए कुण्डका निर्माण किया और उसी प्रकार उसी अभिमानसे कुण्डाकाशकी रक्षाके लिए तत्पर हो गया ॥ २८ ॥

कुछ कालके बाद वनगज आदिके गिरने आदिसे इसका कुण्ड भी विनाशको उस प्रकार प्राप्त हो गया, जिस प्रकार तेजसे अन्धकार विनाशको प्राप्त हो जाता है। कुण्डाकाशके विषयमें भी उसने महान् शोक किया ॥ २९ ॥

कुण्डके आकाशका शोक करनेके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिए एक ऐसे घरका निर्माण किया, जिसमें चारों दिशाओंमें कमरे तथा बीचमें एक समाकार कमरा था। फिर उसीके आकाशकी रक्षामें तन्मय हो गया ॥३०॥

जिसने अनेक प्रजाओंका ग्रास कर लिया है, उस कालने इसका भी ऐसे अपहरण कर लिया, जैसे वायु जीर्ण पत्तेका अपहरण कर लेती है। उससे भी वह शोकनिमग्न हो गया ॥ ३१ ॥

उस चतुःशाल घरके शोकके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिए मेघाकार कुसूल (धान्य रखने का कोठार) बनाया और फिर उसीके आकाशकी रक्षामें निरत हो गया ॥ ३२ ॥

उसके उस कुसूलको भी कालने ऐसे अपहृत कर दिया जैसे वायु मेघको

एवं गृहचतुःशालकुम्भकुण्डकुसूलकैः ।
तस्याऽपर्यवसानात्मा कालोऽयमतिवर्तते ॥ ३४ ॥

एवं स्थितः स विवशो गगनं गुहायां
गृह्णन् गृहेण गहनेन किलाऽऽत्मबुद्ध्या ।
दुःखान्तराद्धनतरादुघनदुःखजात
मायाति याति च गतागतिसक्तमूढः ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे मिथ्या-पुरुषोपाख्याने आकाशरक्षणं नाम द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥११२॥



अपहृत कर देता है । उस कुसूलविनाशके शोकसे वह खूब ही सन्तप्त हो गया ॥ ३३ ॥

इस प्रकार घर, चतुःशाल, कुण्ड और कुसूल आदिसे आकाशकी रक्षा कर रहे उस मिथ्यापुरुषका यह कभी समाप्त न होनेवाला काल बीतता ही जाता था ॥ ३४ ॥

अब उपसंहार करते हैं—'एवं स्थितः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस रीतिसे गहन घर, कूप, कुण्ड आदि उपाधियोंसे आकाशको आत्मबुद्धिसे उदरमें पकड़कर स्थित रहा वह मिथ्यापुरुष गमना-गमनकी आसक्तिसे मूढ़ अतएव विवश होकर उनके अभिमानसे ही घर आदिका निर्माण, रक्षण और विनाश होनेपर एक दुःखसे अति कठिन दूसरे दुःखमें आता और जाता रहता है ॥ ३५ ॥

एक सौ बारह सर्ग समाप्त



त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

मिथ्यानरप्रसङ्गेन किं मायापुरुषः प्रभो ।
कथितोऽयं त्वया व्योमरक्षणं च किमुच्यते ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम यथाभूतमेतत्प्रकटयामि ते ।
मिथ्यापुरुषवृत्तान्तकथा या कथिताऽधुना ॥ २ ॥
मायायन्त्रमयः प्रोक्तो यः पुमान् रघुनन्दन ।
एनं त्वं तमहङ्कारं विद्धि शून्याम्बरोत्थितम् ॥ ३ ॥
यस्मिन्नाकाशकोशेऽस्मिन् साधो जगदिदं स्थितम् ।
तदनन्तमसच्छून्यं सर्गादौ भवति स्वयम् ॥ ४ ॥
अन्तःस्थितसुदुर्लक्ष्यब्रह्मव्योम्नोऽथ शब्दवत् ।
तस्मादुदेत्यहङ्कारः पूर्वं स्पन्द इवाऽनिलात् ॥ ५ ॥

एक सौ तेरह सर्ग

['मिथ्यापुरुष' शब्द आदिका अर्थ और उक्त आख्यायिकाका साम्यवर्णन द्वारा तात्पर्य-कथन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, मिथ्यापुरुषके प्रसङ्गसे आपने जिस मायामय पुरुषका कथन किया, वह किस अभिप्रायसे किया है और उसके द्वारा किये आकाशरक्षणका भी क्या अभिप्राय है, यह मुझसे कहिए ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, सुनिए, अभी जो मैंने मिथ्यापुरुषकी कथा आपसे कही है, उसका असली तात्पर्य आपसे प्रकट करता हूँ ॥ २ ॥

हे रघुनन्दन, मैंने मायायन्त्रमय जिस पुरुषका उस कथामें उल्लेख किया है, इसे आप अहङ्कार ही जानिए, वही मायारूप आकाशमें उत्पन्न हुआ है ॥ ३ ॥

हे साधो, जिस इस मायामय आकाशके एक कोनेमें यह जगत् अवस्थित है, वह स्वयं सृष्टिके पहले भी असीम, असत् और शून्यरूप ही रहता है ॥ ४ ॥

क्या अधिष्ठानरहित मायाकाशसे यह जगत् उत्पन्न होकर उसमें स्थित है ? नहीं, ऐसा कहते हैं—'अन्तः०' इत्यादिसे ।

वृद्धिं यातः स गगने कल्पयत्यात्मतां गतः ।
अनात्मात्माभिधानेन तेनाऽसौ यतते ततः ॥ ६ ॥
अनात्माऽऽत्मैकरक्षार्थं देहाऽऽनाविधानमौ ।
भूयो भूयो विनाशेऽपि सृजत्याकुलतां गतः ॥ ७ ॥
स एव मायापुरुषो मिथ्यापुरुष एव सः ।
असदेवोदितो व्यर्थोऽप्यहङ्कारो हि मायया ॥ ८ ॥
कूपकुण्डचतुःशालकुम्भादीन्देहकानसौ ।
कृत्वा रक्षित आत्मेति याति तद्व्योम्नि भावनम् ॥ ९ ॥

भद्र, उस मायाकाशके अन्दर पामरोंसे अत्यन्त अगम्य परमब्रह्म अधिष्ठान रूपसे विराजित है और आकाशसे शब्दकी नाईं उस ब्रह्मरूप अधिष्ठानवाले मायारूप आकाशसे पहले-पहल अहङ्कारका ऐसे उदय होता है, जैसे वायुसे पहले-पहल स्पन्दनका उदय होता है ॥ ५ ॥

वास्तवमें अहङ्कार आत्मा तो है नहीं, परन्तु भ्रान्तिसे स्वयं अपनेको आत्मा ही समझकर अपने कारणभूत मायाकाशमें बढ़ जाता है और अनेक सङ्कल्प-विकल्पोंसे किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानने लगता है। तदनन्तर उसी कल्पित 'अहम्' इस अपने अभिधानसे यह इष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्टके परिहारके लिए सतत प्रयत्न करता-रहता है ॥ ६ ॥

अनात्मा होते हुए भी आत्माकी रक्षा करनेमें व्याकुलमति हुआ यह अहङ्कार पूर्व-पूर्व शरीरोंका नाश हो जानेपर उत्तरोत्तर काम, कर्म तथा वासनाके अनुसार बार-बार अनेक तरहके शरीरोंकी रचना किया करता है ॥ ७ ॥

वह अहङ्कार ही पूर्वोक्त कथाका मायापुरुष है और वही मिथ्यापुरुष है, क्योंकि मायासे जो अहङ्कार उत्पन्न हुआ है, वह असत् एवं मिथ्यारूप ही है ॥८॥

कुँआ, घड़ा आदि शब्दोंसे भी ऊँच-नीच शरीर ही लक्षणासे मैंने कहे हैं, यह कहते हैं—'कूप०' इत्यादिसे ।

कुँआ, कुण्ड, चतुःशाल, घड़ा आदि यानी ऊँच-नीच शरीरोंकी रचना कर मैंने आत्माकी रक्षा की, यों चैतन्ययुत मायामय आत्मामें आत्मभावना कर लेता है ॥ ९ ॥

अहङ्कारस्य तस्याऽस्य नामानीमानि राघव ।
शृणु यैर्जगदाकारविभ्रमैर्मोहयत्यसौ ॥ १० ॥
जीवोबुद्धिर्मनश्चित्तं माया प्रकृतिरित्यपि ।
सङ्कल्पः कलना कालः कला चेत्यपि विश्रुतैः ॥ ११ ॥
एवमाद्यैस्तथाऽन्यैश्च नामभिर्बहुतां गतैः ।
सहस्ररूपोऽहङ्कारः कल्पितार्थैर्विजृम्भते ॥ १२ ॥
भूताकाशे तते शून्ये जगन्निर्भित्ति निश्चितम् ।
सुखदुःखान्यनुभवन्मिथ्यैव पुरुषः स्थितः ॥ १३ ॥

हे राघव, जिन-जिन जगदाकाररूप विभ्रमोंसे यानी क्रियारूप उपाधियोंसे यह अहङ्कार आत्माको मोहित करता है, उसके नानाविध क्रियाओंके कारण पड़े हुए ये यौगिक नाम आप सुनिए ॥ १० ॥

*जीव, बुद्धि, मन, चित्त, माया, प्रकृति सङ्कल्प† तथा कलना, काल और कला इत्यादि प्रसिद्ध नामोंसे एवं दूसरे भी अनेक नामोंसे हजारों रूपोंको धारण किया हुआ अहङ्कार कल्पित अर्थोंको लेकर इस संसारमें अपनी धाक जमाकर अवस्थित है ॥ ११, १२ ॥

'तस्मादन्यं न तत्राऽस्ति' यह जो पूर्व सर्गमें कहा गया है उसे अनुभवपर चढ़ाते हैं—'भूताकाशे' इत्यादिसे ।

पूर्णात्मा परब्रह्ममें अपनेसे ही पहले-पहल शून्यस्वरूप भूताकाश जब विस्तृत हुआ है, तब उसमें वायु आदिकी कल्पनाओंसे कल्पित हुआ जगत् युक्तिपूर्वक विचार करनेसे गन्धर्वनगरके सदृश भित्ति आदि आवरणसे शून्य ही निश्चित होता है । छिद्ररहित ब्रह्मसे ब्रह्ममें छिद्ररूप आकाशकी पहले उत्पत्ति नहीं हो सकती । शून्यस्वरूप अविविस्तृत अचल आकाश तदनन्तर चलनात्मा वायु कैसे

* प्राणधारणसे जीव, बाह्य अर्थोंके निश्चयसे बुद्धि, उनके मननसे मन, उनके चिन्तनसे चित्त, असत्कल्पनासे माया, परिणामी स्वभावसे प्रकृति, सङ्कल्पनसे सङ्कल्प, सङ्कल्पित अर्थके आकलनसे कलन, सङ्कल्पित अर्थके विपरिणाम आदिमें हेतु होनेसे काल तथा उसमें एकदेशरूप भेदकी कल्पनासे कला—यों तत्-तत् क्रियाभेदके कारण अहङ्कारके ये नाम पड़े हैं, यह जान लेना चाहिए ।

† काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा आदि श्रुति-स्मृति प्रसिद्ध नामोंसे ।

यथैव मिथ्यापुरुषो रक्षन्व्योमात्मशङ्कया ।
घटाकाशादिषु क्लिष्ट एवं मा क्लेशवान्भव ॥ १४ ॥
आकाशादपि विस्तीर्णः शुद्धः सूक्ष्मः शिवः शुभः ।
य आत्मा स कथं केन गृह्यते रक्ष्यतेऽथवा ॥ १५ ॥
हृदयाकाशमात्रस्य शरीरक्षयसंक्षये ।
व्यर्थं भूतानि शोचन्ति नष्ट आत्मेति शङ्कया ॥ १६ ॥
घटादिषु प्रणष्टेषु यथाकाशाद्यखण्डितम् ।
तथा देहेषु नष्टेषु देही नित्यमलेपकः ॥ १७ ॥
शुद्धचिन्मात्र आत्मायमाकाशादप्यणोरणुः ।
स्वानुभूत्यंशमात्रं हि खवद्राम न नश्यति ॥ १८ ॥

हो सकता है । नीरूप अनुष्ण वायु में स्वविरुद्ध तेजोरूप कैसे हो सकती है ? दाहस्वभाव उष्ण तेज स्वविरुद्ध जलस्वरूप कैसे हो सकता है एवं जल भी कठिन पृथिवीरूप कैसे हो सकता है ? इन सब बातोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि वास्तवमें इस जगत्की कोई नींव है ही नहीं । उसीमें वह पुरुष मिथ्या ही सुख-दुःखका अनुभव करता हुआ स्थित था ॥ १३ ॥

श्रीरामजी, जिस तरह आकाशमें आत्मबुद्धिकी शङ्कासे आकाशकी रक्षा करते हुए उस मिथ्यापुरुषने घट आदिका निर्माण कर उनके आकाशोंका रक्षण करनेमें अनेक तरहके क्लेशोंका अनुभव किया, उस तरह आप क्लेशोंका अनुभव न कीजिये ॥ १४ ॥

भद्र, जो आत्मा है वह तो आकाशसे भी बड़ा है, परमशुद्ध है, अत्यन्त सूक्ष्म है, परम कल्याणरूप तथा शुभ है । उसको कौन पकड़ सकता है और कौन उसकी रक्षा कर सकता है ॥ १५ ॥

जब इस शरीररूप आश्रयका विनाश हो जाता है, तब आत्मा नष्ट हो गया, इस शङ्कासे केवल हृदयाकाशके लिए ये प्राणी निरर्थक शोक किया करते हैं ॥१६॥

जैसे घट आदिके विनष्ट हो जानेपर घटादिका आकाश कभी नष्ट नहीं होता वैसे ही देहोंके नष्ट हो जानेपर देहीका यानी देहोपलक्षित आत्माका कभी विनाश नहीं होता ॥ १७ ॥

हे रामजी, चूँकि यह आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप आकाश और अणुसे भी सूक्ष्म

न जायते न म्रियते क्वचित् किञ्चित्कदाचन ।
जगद्विवर्तरूपेण केवलं ब्रह्म जृम्भते ॥ १९ ॥
सत्यमेकं पदं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तमिति मत्वा सुखी भव ॥ २० ॥
सर्वापदां निलयमध्रुवमस्वतन्त्र-
मासन्नपातमविवेकमनार्यमज्ञम् ।
बोधादहङ्कृतिपदं सकलं विमुच्य
शेषे सुबद्धपदमुत्तमतां प्रयासि ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे मिथ्या-पुरुषोपाख्यानं नाम त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ॥११३॥

—०—

तथा अहङ्कारसे निर्मुक्त केवल स्वप्रकाश चित् ही है, इसलिए आकाशके समान उसका नाश नहीं होता ॥ १८ ॥

कहीं किसी समय न कुछ उत्पन्न होता है और न मरता ही है, केवल जगदात्मक विवर्तरूपसे वह ब्रह्म ही चमकता है ॥ १९ ॥

श्रीरामजी, आत्मा सत्यरूप है, एक है, प्राप्यस्थान है, शान्त है, आदि, मध्य और अन्तसे निर्मुक्त है तथा सत्ता और असत्तासे रहित है, ऐसा निश्चय कर परम सुखी हो जाइये ॥ २० ॥

पूर्व सर्गमें वर्णित मिथ्यापुरुषरूप अहङ्कारका परित्याग कराते हुए श्रीवसिष्ठजी आखिरमें बचे हुए चैतन्यमात्रमें आप स्थिर हो जाइये, इस तरहके उपदेशके साथ-साथ उपसंहार करते हैं—'सर्वापदाम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सम्पूर्ण आपत्तियोंके आधार, चञ्चल, पारतन्त्र्यके उत्पादक, तत्क्षण ही नरकमें गिरानेवाले विवेकके शत्रु निन्द्य, अज्ञानसे भरे अहङ्कार स्थानको देह, इन्द्रिय आदि कलाओंके साथ-साथ तत्त्वज्ञानसे मूलोच्छेदपूर्वक छोड़कर यदि आप अवशिष्टविशुद्ध चिन्मात्रस्वरूपमें दृढ़तापूर्वक स्थित हो जायँगे, तो सबसे उत्तमता प्राप्त करेंगे ॥ २१ ॥

एक सौ तेरह सर्ग समाप्त



चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

परस्माद्ब्रह्मणः पूर्वं मनः प्रथममुत्थितम् ।
मननात्मकमाभोगि तत्स्थमेव स्थितिं गतम् ॥ १ ॥

पुष्पकोश इवाऽऽमोदो महोर्मिरिव सागरे ।
रश्मिजालमिवाऽऽदित्ये मनो ब्रह्मणि राघव ॥ २ ॥

तस्याऽदृश्यात्मतत्त्वस्य विस्मृत्यैव गतं स्थितिम् ।
नाऽन्यस्मादागतं राम जगद्रज्जुभुजङ्गवत् ॥ ३ ॥

एक सौ चौदह सर्ग

[अनेक दृष्टान्तोंसे सत् और असत्का स्वरूप बतलाकर असद्रूपके निरास द्वारा सद्रूपमें स्थिरताका वर्णन]

समस्त जगत् केवल मनका सङ्कल्प-विकल्प ही है, इसलिए निर्विकल्प चैतन्य-वस्तुके प्रदर्शनसे ही उसका निरास सुलभ है, यह समझानेके लिए पहले पर-ब्रह्ममें मनकी कल्पना कहते हैं—'परस्मात्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, सृष्टिके आदिकालमें समस्त कल्प-नाओंसे पहले सङ्कल्प-विकल्पात्मक इस विशाल जगत्की रचनामें समर्थ मन उत्पन्न हुआ । वह तभीसे उस परब्रह्ममें अभिन्न सत्तासे स्थित हुआ ही अनेक भिन्न-भिन्न कल्पनाओंका निमित्त बनकर आजतक विद्यमान है ॥ १ ॥

अभिन्नसत्तासे परब्रह्ममें हुई उसकी स्थितिमें दृष्टान्त बतलाते हैं—'पुष्पकोशे' इत्यादिसे ।

हे राघव, फूलोंमें जैसे सुगन्ध, सागरमें जैसे बड़े-बड़े तरङ्ग और सूर्यमें जैसे किरणें अभिन्न सत्तासे रहती हैं, वैसे ही ब्रह्ममें मन भी अभिन्न सत्तासे रहता है ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी, इन्द्रियोंसे अगम्य उस आत्मतत्त्वके एकमात्र अज्ञानसे ही मनने उसमें समस्त जगत्के कारणरूपसे स्थिति प्राप्त की है । इसलिए यह जगत् रज्जुसर्पके सदृश कहीं किसी दूसरे कारणसे प्राप्त नहीं हुआ है ॥ ३ ॥

आदित्यव्यतिरेकेण यो भावयति राघव ।
रश्मिजालमिदं ह्येतत्तस्याऽन्यदिव भास्वतः ॥ ४ ॥
कनकव्यतिरेकेण केयूरं येन भावितम् ।
केयूरमेव तत्तस्य न तस्य कनकं हि तत् ॥ ५ ॥
आदित्याव्यतिरेकेण रश्मयो येन भाविताः ।
आदित्य एव ते तस्य निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ६ ॥
सलिलव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भावितः ।
तरङ्गबुद्धिरेवैका स्थिता तस्य न वारिधीः ॥ ७ ॥
सलिलाव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भाव्यते ।
अम्बुसामान्यताबुद्धिर्निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ८ ॥

ऐसी परिस्थितिमें जगत्‌की जब चिन्मात्रसे अलग भावना की जाती है तब वह अलग ही भासता है और जब चिन्मात्ररूपसे भावना की जाती है तब चिद्रूप ब्रह्म ही हो जाता है, यों दृष्टान्तोंसे उपपादन करते हैं—'आदित्य०' इत्यादिसे ।

हे राघव, जो पुरुष इन किरणोंकी आदित्यसे अलग भावना करता है उस पुरुषके लिए ये किरणें आदित्यसे अलग ही हो जाती हैं ॥ ४ ॥

जिसने केयूरकी सुवर्णसे पृथक्-रूपसे भावना की, उसकी दृष्टिमें सुवर्णसे पृथक् ही केयूर प्रतीत होता है, क्योंकि उसकी भावनामें केयूर सुवर्ण नहीं है ॥ ५ ॥

जिसने किरणोंकी आदित्यस्वरूपसे ही भावना की, उसकी दृष्टिमें वे किरणें आदित्यरूप ही ठहरती हैं और वह यह कहता है कि आदित्य रश्मिभेदोंसे शून्य ही है यानी आदित्य और किरणोंका परस्पर कोई भेद नहीं है ॥ ६ ॥

जिसने तरङ्गकी जलभिन्नरूपसे भावना की, उसमें एकमात्र तरङ्गबुद्धि ही स्थित रहती है, जलबुद्धि नहीं ॥ ७ ॥

जो पुरुष तरङ्गकी जलरूपतासे भावना करता है उसे सामान्य जलबुद्धि ही होती है। ऐसा पुरुष जल और तरङ्गके भेदसे निर्मुक्त निर्विकल्पक कहा जाता है ॥ ८ ॥

कनकाव्यतिरेकेण केयूरं येन भाव्यते ।
कनकैकमहाबुद्धिर्निर्विकल्पः स उच्यते ॥ ९ ॥
पावकव्यतिरेकेण ज्वालाली येन भाविता ।
तस्याऽग्निबुद्धिर्गलति ज्वालाधीरेव तिष्ठति ॥ १० ॥
ज्वालाजालाभ्रलेखेव रञ्जिता सा तथा स्थितिः ।
तामेवाऽऽस्थां समादत्ते तद्गतान्याकुला मतिः ॥ ११ ॥
पावकाव्यतिरेकेण ज्वालाली येन भाव्यते ।
तस्याऽग्निबुद्धिरेकाऽस्ति निर्विकल्पः स उच्यते ॥ १२ ॥
यो निर्विकल्पः स महान्सोऽसंक्षीणमहामतिः ।
प्राप्तव्यं तेन सम्प्राप्तं नाऽसौ वस्तुषु मज्जति ॥ १३ ॥
नानातामखिलां त्यक्त्वा शुद्धचिन्मात्रकोटरे ।
संवेद्येन विनिर्मुक्ते संवित्तत्त्वे स्थितो भव ॥ १४ ॥

जो पुरुष केयूर कनकसे भिन्न नहीं है, ऐसी भावना करता है वह सामान्य कनकबुद्धिवाला भेदशून्य निर्विकल्प कहा जाता है ॥ ९ ॥

ज्वालापङ्क्ति अग्निसे भिन्न है, ऐसी जो पुरुष भावना करता है उसे अग्नि-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, केवल ज्वालाबुद्धि ही रहती है ॥ १० ॥

कल्पित आकारोंसे युक्त बुद्धि कल्पित आकारोंमें ही आस्था बाँधकर अनेक तरहकी कल्पना करती है, यह कहते हैं—'ज्वाला०' इत्यादिसे ।

अभ्रपङ्क्तिके सदृश ज्वालापङ्क्तिके आकारको प्राप्त हुई उक्त बुद्धिवृत्ति ज्वालामें आस्था बाँधती है, ज्वालापङ्क्तिमें स्थित चलन, ऊर्ध्वगमन आदिकी कल्पना करती है तथा व्याकुल हो जाती है ॥ ११ ॥

ज्वालाकी पङ्क्ति अग्निसे भिन्न नहीं है, इस तरहकी जो भावना करता है उसको केवल अग्निबुद्धि ही रहती है और वह निर्विकल्पक कहा जाता है ॥१२॥

जो पुरुष निर्विकल्पक यानी ग्राह्य और ग्राहककी द्विधासे निर्मुक्त हो जाता है वही महान् है । उसकी आत्मबुद्धि कभी क्षीण नहीं होती । इस जगत्में प्राप्त करनेके योग्य जो कुछ भी है, वह सब उसने प्राप्त कर लिया । वह इन मनके विकल्पोंसे जनित पदार्थोंमें सत्यत्वबुद्धिसे कभी नहीं फसता ॥ १३ ॥

दृष्टान्तमें जो विकल्पत्यागकी शैली युक्तिपूर्वक सिद्ध की गई है, उसका दार्ष्टान्तमें उपदेश देते हैं—'नानाता०' इत्यादिसे।

स्वयमेवाऽऽत्मनैवाऽऽत्मा शक्तिं सङ्कल्पनामिकाम् ।
यदा करोति स्फुरता स्पन्दशक्तिमिवाऽनिलः ॥ १५ ॥
तदा पृथगिवाभासं सङ्कल्पकलनामयम् ।
मनो भवति विश्वात्मा भावयन् स्वाकृतिं स्वयम् ॥ १६ ॥
तत्सङ्कल्पात्मकं चेतो यथेदमखिलं जगत् ।
सङ्कल्पयति सङ्कल्पैस्तथैव भवति क्षणात् ॥ १७ ॥
कीटत्वमब्जजत्वं च मेरुत्वं मरुतां तथा ।
मनो जीवमहङ्कारबुद्धिचित्तादिनामकम् ॥ १८ ॥
सङ्कल्पतो द्वितैकत्वमेत्य चेतो जगत् स्थितिम् ।
तनोति तस्यां तदनु नानातां गच्छति स्वयम् ॥ १९ ॥
सङ्कल्पमयमेवेदं जगदाभोगि दृश्यते ।
न सत्यं न च मिथ्यैव स्वप्नजालमिवोत्थितम् ॥ २० ॥

हे रामभद्र, सम्पूर्ण नानारूपताका (द्वैतभावका) परित्याग कर विषय-सम्बन्धसे निर्मुक्त चेतनतत्त्वभूत विशुद्ध चिन्मात्र जो भीतरका आत्मतत्त्व है उसमें स्थित हो जाइये ॥ १४ ॥

स्वप्रकाश स्वयमात्मा ही अपने-आप जब, स्पन्दनशक्तिको वायुके सदृश, सङ्कल्पनात्मक शक्तिको उत्पन्न करता है तब भिन्नकी तरह भासनेवाला सङ्कल्प-कलनात्मक मनरूप हो जाता है और विश्वाकार अपनी आकृतिकी भावना कर रहा वह समष्टि मन बन जाता है ॥ १५, १६ ॥

वह विश्वाकार सङ्कल्परूप समष्टिचित्त इस जगत्‌की जिस रूपसे कल्पना करता है तत्क्षण ही सङ्कल्पोंसे उस रूपका हो जाता है ॥ १७ ॥

वही मन कीटरूप, ब्रह्मरूप, सुमेरुरूप एवं मरुभूमिरूप हो जाता है, उसीके जीव, अहङ्कार, बुद्धि, चित्त आदि नाम हैं ॥ १८ ॥

वही चित्त सङ्कल्पसे द्वित्व और एकत्व प्राप्त कर जगत्‌की व्यवस्था बनाता है और उसके बाद उसीमें नानारूप स्वयं हो जाता है ॥ १९ ॥

यह जो जगद्रूप विशाल आकार देखा जाता है, वह सब मनका सङ्कल्प ही है, वह न सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु स्वप्नोंके सदृश अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ है ॥ २० ॥

जन्तोर्यथा मनोराज्यं विविधारम्भभासुरम् ।
ब्राह्मं तथेदं विततं मनोराज्यं विराजते ॥ २१ ॥
यथाभूतार्थभावित्वात्तदेतत्प्रविलीयते ।
परमार्थेन दृष्टं चेत्तदिदं नैव किञ्चन ॥ २२ ॥
दृश्यं त्वपरमार्थेन प्रयाति शतशाखताम् ।
जलमूर्मितरङ्गादिकलनार्हं परिस्फुरन् ॥ २३ ॥
यथाम्बुधिर्वपुर्धत्ते स्वभावेन तथा चितः ।
कुर्वन् कर्मसहस्राणि ह्यणुचित्स्पन्दनादृते ॥ २४ ॥
नाऽपूर्वं कुरुते किञ्चित् किञ्चिद्भेदमतस्त्यजन् ।
गच्छन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्वदन्व्यवहरन्स्वपन् ।
नाऽपूर्वं विद्यते किञ्चित्सत्यमित्येव भावयन् ॥ २५ ॥

जैसे साधारण प्राणीका मनोराज्य विविध सामग्रीरचनाओंसे सुन्दर है, वैसे ही हिरण्यगर्भका भी यह व्यापक मनोराज्य सुन्दर है ॥ २१ ॥

मिथ्या होनेसे ही जब तत्त्वज्ञानसे 'जगद् ब्रह्मरूप है', ऐसी भावना की जाती है तब उसका मायिक रूप नष्ट हो जाता है, यह कहते हैं—'यथाभूता०' इयादिसे ।

जगत् परब्रह्मस्वरूप है, इस प्रकारकी भावना करनेपर प्रसिद्ध यह जगत् विलीन हो जाता है। परमार्थतः जगत् यदि देखा जाय, तो कुछ भी नहीं है ॥ २२ ॥

तत्त्वसाक्षात्कार न होनेपर जगत्का क्या स्वरूप रहता है, उसे कहते हैं—'दृश्यम्' इत्यादिसे ।

यदि दृश्य जगत्को अपरमार्थतः देखा जाय, तो हजारों शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त हो जाता है। जैसे समुद्र जलरूप ही होता हुआ ऊर्मि, तरङ्ग आदि कल्पनायोग्य रूपका परिग्रहण कर प्रत्यक्ष समुद्रस्वरूप धारण करता है, वैसे ही हजारों कर्म कर रहा भी पुरुष चिदाभासयुक्त मनके स्पन्दनके बिना कूटस्थ चैतन्यका अपूर्व कुछ भी विकार आदि नहीं कर सकता, इसलिए आप भी तुच्छतर दृश्यभेदका त्याग कर जाना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, बोलना, व्यवहार करना, सोना आदि व्यवहार करते हुए भी अभिनव जगद्रूप कुछ सत्य

यद्यत्करोषि तद्विद्धि चिन्मात्रममलं ततम् ।
ब्रह्म प्रबृंहिताकारं तस्मादन्यन्न विद्यते ॥ २६ ॥
पदार्थजाते सर्वस्मिन्संवित्सारमये स्थिते ।
संविदेवेदमखिलं जगन्नान्याऽस्ति कल्पना ॥ २७ ॥
संवित्स्फुरणमात्रेऽस्मिन् जगज्जालकनामनि ।
इदमन्यदिदं चाऽन्यदिति मिथ्याग्रहः कुतः ॥ २८ ॥
सम्भवादखिलाकारेष्वेकस्या एव संविदः ।
संवेद्यमपि नास्त्येव बन्धमोक्षावतः कथम् ॥ २९ ॥
मोक्षोऽयमेष खलु बन्ध इति प्रसह्य
चिन्तां निरस्य सकलां विफलाभिमानाम् ।
मौनी वशी विगतमानमदो महात्मा
कुर्वन्स्वकार्यमनहङ्कृतिरेव तिष्ठ ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमार्थोपदेशो नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥११४॥

नहीं है, किन्तु पूर्वसिद्ध ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, इस प्रकारकी भावना कीजिये और स्थित रहिये ॥ २३—२५ ॥

आप जो कुछ करते हैं उसे निर्मल चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही जानिये, क्योंकि ब्रह्म ही जगत्के रूपमें विवर्तित होकर उपबृंहित है। अतः जगत् उससे भिन्न नहीं है ॥ २६ ॥

समस्त पदार्थ जब चैतन्य-साररूप ही स्थित है तब समस्त जगत् संविद्रूप ही है, यह मानना चाहिए, दूसरी कल्पना नहीं है ॥ २७ ॥

जगज्जालके नामसे जब यह केवल संवित्का स्फुरण ही विद्यमान है तब यह दूसरा है, यह उससे भिन्न है, इत्यादि मिथ्याज्ञान कहाँसे उत्पन्न हुआ ॥ २८ ॥

जितने आकार हैं उन सबमें एक संवित्का ही अस्तित्व होनेसे न संवेद्यका अस्तित्व है और न उसके मूलका ही अस्तित्व है, इसलिए बन्ध और मोक्ष ही किस तरहके ॥ २९ ॥

हे श्रीरामजी, यह मोक्ष है, यह बन्ध है इत्यादि समस्त निष्फल अभिमानरूप चिन्ताओंका बलपूर्वक त्याग कर वाक् आदि समस्त इन्द्रियोंके ऊपर विजय

पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

महाकर्ता महाभोक्ता महात्यागी भवाऽनघ ।
सर्वाः शङ्काः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

किमुच्यते महाकर्ता महात्यागी किमुच्यते ।
किमुच्यते महाभोक्ता सम्यक्कथय मे प्रभो ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतद्व्रतत्रयं राम पुरा चन्द्रार्धमौलिना ।
भृङ्गीशाय तु सम्प्रोक्तं येनाऽसौ विज्वरः स्थितः ॥ ३ ॥

पाकर मौनी, जितेन्द्रिय तथा मान और मदसे रहित होकर अपने योग्य राज्य आदि कार्योंको करते हुए अहङ्काररहित आप महात्मा ही बनकर स्थित रहिये ॥ ३० ॥

एक सौ चौदह सर्ग समाप्त

एक सौ पन्द्रह सर्ग

[महाकर्ता आदि शब्दोंकी व्याख्याओंसे भृङ्गीशके प्रति महादेवजीके द्वारा जीवन्मुक्तोंके लक्षणोंका निरूपण]

महाराज श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे अनघ, आप पुण्य-पाप आदिकी शङ्काओंका परित्याग कर और निर्भय अविनाशी कूटस्थ आत्मभावका अवलम्बन कर महाकर्ता, महाभोक्ता एवं महात्यागी हो जाइये ॥ १ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे प्रभो, किस लक्षणकी प्राप्ति होनेपर पुरुष महाकर्ता कहा जाता है, किस लक्षणकी प्राप्ति होनेपर पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है तथा किस लक्षणकी प्राप्ति होनेपर पुरुष महात्यागी कहा जाता है, यह भली-भाँति मुझसे कहिये ॥ २ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, पहले भगवान् महादेवजीने ये तीन व्रत भृङ्गीशसे कहे थे और इन्हीं तीनों व्रतोंके प्रभावसे भृङ्गीश संसारज्वरसे निर्मुक्त हो गया था ॥ ३ ॥

सुमेरावुत्तरे शृङ्गे पूर्वं शशिकलाधरः ।
अतिष्ठदग्निसंकाशे समग्रपरिवारवान् ॥ ४ ॥
तमपृच्छन्महातेजास्तनुविज्ञानवान् स्थितः ।
भृङ्गीशः प्रणतो राम बद्धाञ्जलिरुमापतिम् ॥ ५ ॥

भृङ्गीश उवाच

भगवन् देवदेवेश सर्वज्ञ परमेश्वर ।
यदहं परिपृच्छामि कृपया तद्वदाऽऽशु मे ॥ ६ ॥
संसाररचनां नाथ तरङ्गतरलामिमाम् ।
अवलोक्य विमुह्यामि तत्त्वविश्रान्तिवर्जितः ॥ ७ ॥
कमन्तर्निश्चयं कान्तमुररीकृत्य सुस्थितम् ।
अस्मिन् जगज्जीर्णगृहे तिष्ठामि विगतज्वरम् ॥ ८ ॥

ईश्वर उवाच

सर्वाः शङ्काः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।
महाभोक्ता महाकर्ता महात्यागी भवाऽनघ ॥ ९ ॥

किसी समयकी बात है कि सुमेरु पर्वतके अग्नि सदृश उत्तरीय शिखरपर अपने समस्त परिवारसे युक्त होकर भगवान् शङ्कर विराजमान थे ॥ ४ ॥

हे श्रीरामजी, अपने परिवारके साथ बैठे हुए उमापतिसे साधारण आत्मज्ञान रखनेवाला महान् तेजस्वी विनम्र भृङ्गीशने, जो वहींपर उपस्थित था, अञ्जलि बाँधकर पूछा ॥ ५ ॥

भृङ्गीशने कहा—हे भगवन्, हे देवताधीशोंके स्वामी, हे सर्वज्ञ, हे परमेश्वर, जो मैं आपसे पूछता हूँ, उसे कृपाकर मुझसे शीघ्र कहिये ॥ ६ ॥

हे नाथ, तरङ्गके सदृश थोड़े समयमें नष्ट हो जानेवाली इस सृष्टिरचनाका अवलोकन कर मैं बड़ा मुग्ध हो गया हूँ। यद्यपि साधारणरूपसे तत्त्वका परिज्ञान होते हुए भी उससे विश्रान्ति मुझे नहीं मिल रही है ॥ ७ ॥

महाराज, इस जगद्रूपी जीर्ण-शीर्ण घरके अन्दर विश्रान्तिसुखसे रमणीय किस आन्तर निश्चयका अवलम्बन कर मैं समग्र चिन्ताज्वरसे निर्मुक्त होकर निश्चलरूपसे स्थित रह सकता हूँ ॥ ८ ॥

ईश्वरने कहा—हे अनघ, तुम यत्र-तत्रकी समस्त शङ्काओंका पिण्ड छोड़कर

भृङ्गीश उवाच

किमुच्यते महाकर्ता महाभोक्ता किमुच्यते।
किमुच्यते महात्यागी सम्यक्कथय मे प्रभो ॥ १० ॥

ईश्वर उवाच

धर्माधर्मौ महाभाग शङ्काविरहिताशयः।
यः करोति यथाप्राप्तौ महाकर्ता स उच्यते ॥ ११ ॥
रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले।
यः करोत्यनपेक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ १२ ॥
मौनवाग्निरहम्भावो निर्मलो मुक्तमत्सरः।
यः करोति गतोद्वेगं महाकर्ता स उच्यते ॥ १३ ॥
शुभाशुभेषु कार्येषु धर्माधर्मैः कुशङ्कया।
मतिर्न लिप्यते यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ १४ ॥

अविनाशी निर्भय कूटस्थ आत्मभावका अवलम्बन कर महाभोक्ता, महाकर्ता और महात्यागी हो जाओ ॥ ९ ॥

भृङ्गीशने कहा—हे प्रभो, ऐसे कौनसे लक्षण हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर पुरुष महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी कहा जा सकता है, उन्हें मुझसे भलीभाँति कहिये ॥ १० ॥

'समस्त शङ्काओंका पिण्ड छोड़कर', यह जो अंश कहा गया है, उसीकी विशद व्याख्या करते हैं—'धर्माधर्मौ' इत्यादिसे।

हे महाभाग, आत्मा न तो कर्ता है, और न भोक्ता ही है, इस प्रकारके निश्चयसे कर्तृत्व आदि शङ्काओंसे रहित मनवाला होकर समयानुसार प्राप्त धर्म और अधर्मका जो पुरुष अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ ११ ॥

जो पुरुष राग-द्वेष पैदा करनेवाली चेष्टा और सुख-दुःखकी प्रयोजक धर्मा-धर्मरूप क्रियाका—फलाफलकी इच्छासे रहित मनसे—एकमात्र लोकसंग्रहार्थ आचरण करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १२ ॥

अहम्भावसे शून्य, निर्मल और मात्सर्यनिर्मुक्त जो पुरुष उद्वेगको छोड़कर मुनिकी क्रियाओंसे युक्त होकर मनन आदि क्रियाओंका अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १३ ॥

प्रारब्धसे अनुष्ठित हुए अश्वमेध आदि सत्कर्म और कलञ्जभक्षण आदि अस-

सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः ।
निरिच्छं वर्तते कार्ये महाकर्ता स उच्यते ॥ १५ ॥
उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
न शोचते यो नोदेति महाकर्ता स उच्यते ॥ १६ ॥
यथार्थकाले मतिमानसंसक्तमना मुनिः ।
कार्यानुरूपवृत्तस्थो महाकर्ता स उच्यते ॥ १७ ॥
उदासीनः कर्तृतां च कर्माकर्माऽऽचरंश्च यः ।
समं यात्यन्तरत्यन्तं महाकर्ता स उच्यते ॥ १८ ॥
स्वभावेनैव यः शान्तः समतां न जहाति वै ।
शुभाशुभं ह्याचरन् यो महाकर्ता स उच्यते ॥ १९ ॥
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च ।
सममेव मनो यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ २० ॥

त्कर्मोंकी दशामें 'मैं धार्मिक हूँ, मैं अधार्मिक हूँ', इत्यादि कुशङ्कासे कल्पित धर्म और अधर्मके द्वारा जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥१४॥

जो कहींपर भी स्नेह नहीं रखता, जो साक्षीके सदृश निर्विकार रहता है, और जो प्राप्त कार्यका निरीह होकर बर्ताव करता है, वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है ॥ १५ ॥

उद्वेग और आनन्दसे रहित जो पुरुष निर्मल समबुद्धिसे शोकजनक परिस्थितियोंमें शोक नहीं करता और हर्षजनक परिस्थितियोंमें हर्ष नहीं करता, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १६ ॥

अपने प्रारब्धसे जिस समयमें जो भी कोई उचित कार्य प्राप्त हो जाय, उस समयमें उस कार्यके लिए चेष्टा करनेमें तत्पर रहनेवाला, आसक्तिशून्य जो बुद्धिमान् मुनि है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १७ ॥

उदासीन होकर विहित और निषिद्ध कर्मोंका स्वयं आचरण या दूसरोंको आचरण करानेके लिए प्रेरणा कर रहा जो पुरुष—मनमें आत्माके अकर्तृत्व-निश्चयसे—दोनों जगह समभावसे युक्त रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥१८॥

जो स्वभावसे ही शान्त है, जो मित्र और शत्रुओंमें शुभाशुभका आचरण करनेपर भी समता नहीं छोड़ता, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ १९ ॥

जन्म, स्थिति, विनाश आदि भावविकारोंमें तथा वृद्धि एवं ह्राससे युक्त

न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदभिकाङ्क्षति ।
भुङ्क्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ २१ ॥
नाऽऽदत्तेऽप्याददानश्च नाचरत्याचरन्नपि ।
भुञ्जानोऽपि न यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ २२ ॥
साक्षिवत्सकलं लोकव्यवहारमखिन्नधीः ।
पश्यत्यपगतेच्छं यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ २३ ॥
सुखैर्दुःखैः क्रियायोगैर्भावाभावैर्भ्रमप्रदैः ।
यस्य नोत्क्रामति मतिर्महाभोक्ता स उच्यते ॥ २४ ॥
जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव यो वेत्ति महाभोक्ता स उच्यते ॥ २५ ॥

शरीरोंमें आत्मबुद्धिके कारण जिसका मन एकरूप ही रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है ॥ २० ॥

महाभोक्ताके लक्षण कहते हैं—'न किञ्चन' इत्यादिसे ।

जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो किसीकी अभिलाषा नहीं करता और जो प्रारब्धसे प्राप्त हुए सुख, दुःख आदि सबका उपभोग करता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २१ ॥

जो पुरुष इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण कर रहा भी अद्वय, असङ्ग आत्मामें निष्ठाके कारण वास्तवमें ग्रहण नहीं करता; हाथ, पैर आदिसे आदान, गमन आदिका आचरण कर रहा भी जो आत्मबुद्धिसे आचरण नहीं करता एवं उपभोग कर रहा भी नित्यतृप्त आत्माके दर्शनके कारण उपभोग नहीं करता—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २२ ॥

जो पुरुष खिन्नबुद्धि न होकर उदासीन साक्षीके सदृश समस्त लोकव्यवहारोंको किसी प्रकारकी इच्छाके बिना देखता रहता है—वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २३ ॥

विक्षेपके हेतु सुख-दुःखोंसे; जय, पराजय आदि क्रिया-योगोंसे तथा भावाभावोंसे जिस पुरुषका चित्त विक्षेपको प्राप्त नहीं होता—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २४ ॥

जो पुरुष जरा, मरण, आपत्ति, राज्य और दारिद्र्य आदि सबको ब्रह्मदृष्टिसे रम्य ही समझता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २५ ॥

महान्ति सुखदुःखानि यः पयांसीव सागरः ।
समं समुपगृह्णाति महाभोक्ता स उच्यते ॥ २६ ॥
अहिंसा समता तुष्टिश्चन्द्रबिम्बादिवांऽशवः ।
नोप यस्माच्चोपयाता महाभोक्ता स उच्यते ॥ २७ ॥
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमुत्तमम् ।
अधमं योऽत्ति साम्येन महाभोक्ता स उच्यते ॥ २८ ॥
सरसं नीरसं चैव सुरतं विरतं तथा ।
यः पश्यति समं सौम्यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ २९ ॥
क्षारे खण्डप्रकारे च शुभे वाऽप्यशुभे तथा ।
समता सुस्थिरा यस्य महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३० ॥
इदं भोज्यमभोज्यं चेत्येवं त्यक्त्वा विकल्पितम् ।
गताभिलाषं यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३१ ॥

जैसे समुद्र भिन्न-भिन्न जलोंको समानरूपसे ग्रहण करता है वैसे ही जो मनुष्य बड़े-बड़े सुख-दुःखोंको भोग लिए समानरूपसे (तुल्यवृत्तिसे) ग्रहण करता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २६ ॥

चन्द्रबिम्बसे जैसे किरणें उदित न होती हुई भी उदित होती हैं वैसे ही जिस पुरुषसे अहिंसा, समता, सन्तुष्टि आदि गुण वस्तुतः उदित न होते हुए भी उदित होते हैं—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २७ ॥

कडुआ, खट्टा, नमकीन, तीता, अदिव्य, दिव्य, उत्तम (सुस्वाद) या अधम (अस्वादु निकृष्ट) भी अन्न जो पुरुष समान बुद्धिसे खा लेता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २८ ॥

सरस और नीरस तथा सुरत और विरतको (रतिविघातको) जो सौम्य पुरुष एक-सा देखता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ २९ ॥

क्षारयुक्त तथा चीनीसे बनाये गये नानाविध भक्ष्य पदार्थोंमें एवं शुभ या अशुभ वस्तुओंमें जिस पुरुषकी निश्चल समता रहती है, वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ ३० ॥

यह पदार्थ भोजन करने योग्य है और यह भोजन करने योग्य नहीं है, इस तरहकी विकल्पभावनाको छोड़ करके जो पुरुष अभिलाषाओंसे शून्य होकर भोजन करता है—वह महाभोक्ता कहा जाता है ॥ ३१ ॥

आपदं सम्पदं मोहमानन्दमपरं परम् ।
यो भुङ्क्ते समया बुद्ध्या महाभोक्ता स उच्यते ॥ ३२ ॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
धिया येनेति संत्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ ३३ ॥
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३४ ॥
देहस्य मनसो दुःखैरिन्द्रियाणां मनःस्थितेः ।
नूनं येनोज्झिता सत्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३५ ॥
न मे देहो न जन्माऽपि युक्तायुक्ते न कर्मणी ।
इति निश्चयवानन्तर्महात्यागी स उच्यते ॥ ३६ ॥
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
सर्वमन्तःपरित्यक्तं महात्यागी स उच्यते ॥ ३७ ॥

आपत्ति, सम्पत्ति, मोह तथा आनन्ददायक उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट अन्न या वस्तुका जो—सर्वत्र एकरूप ब्रह्मदृष्टिसे—उपभोग करता है—वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है ॥ ३२ ॥

धर्म, अधर्म, सुख, दुःख तथा जन्म एवं मरणका जिस पुरुषने निरतिशया-नन्द पूर्णाद्वयात्म बुद्धिसे त्याग कर दिया है—वह महात्यागी कहा जाता है ॥३३॥

सम्पूर्ण इच्छाओं, समस्त शङ्काओं, वाणी, मन और शरीरकी सभी चेष्टाओं तथा सर्वविध निश्चयोंका जिस पुरुषने अपनी बुद्धिसे भलीभाँति त्याग कर दिया है—वह महात्यागी कहा जाता है ॥ ३४ ॥

देह, मन, इन्द्रियों तथा मनकी स्थितिकी सत्ताका तत्-तत् दुःखोंके साथ जिसने मिथ्यात्वबुद्धिसे परित्याग कर दिया है—वह महात्यागी कहा जाता है ॥३५॥

शरीर मेरा नहीं है, मेरा जन्म भी नहीं हुआ है, इष्ट और अनिष्टके आचरणरूप विहित और निषिद्ध कर्म भी मेरे नहीं हैं—यों अपने हृदयमें जिस पुरुषने दृढ़ निश्चय कर लिया है—वह महात्यागी कहा जाता है ॥ ३६ ॥

जिस पुरुषने धर्म और अधर्म (शारीरिक) तथा वाणी आदि द्वारा चेष्टित (मानसिक) सब विषयोंका परित्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है ॥ ३७ ॥

यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
सा येन सुष्ठु संत्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ ३८ ॥
इत्युक्तं देवदेवेन भृङ्गीशाय पुराऽनघ ।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य तिष्ठ राम गतज्वरः ॥ ३९ ॥
नित्योदितं विमलरूपमनन्तमाद्यं
ब्रह्माऽस्ति नेतरकलाकलनं हि किञ्चित् ।
इत्येव भावय निरञ्जनतामुपेतो
निर्वाणमेहि सकलामलशान्तवृत्तिः ॥ ४० ॥
अनामयं ब्रह्म समस्तकल्प-
कार्यैकबीजं परमात्मरूपम् ।
बृहच्च तद्बृंहितसर्वभावं खमस्ति
भातीह यदङ्ग किञ्चित् ॥ ४१ ॥

जितनी यह सम्पूर्ण दृश्य कलना दिखाई दे रही है उसका जिस पुरुषने अच्छी तरहसे त्याग कर दिया है—वह महात्यागी कहा जाता है ॥ ३८ ॥

अब उपसंहार करते हैं—'इत्युक्तम्' इत्यादिसे ।

हे अनघ, देवदेवेश भगवान् शङ्करने बहुत दिन पहले भृङ्गीशको इस तरहका (पूर्वोक्त रीतिका) उपदेश दिया था । हे रामजी, आप भी इसी दृष्टिका अवलम्बन कर सांसारिक तापोंसे शून्य होकर अवस्थित रहिये ॥ ३९ ॥

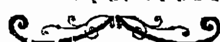
जिस भावनासे पुरुष अनायास महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी बन जाता है, उस भावनाका श्रीरामजीको उपदेश देते हैं—'नित्योदितम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, अज्ञानरूप अञ्जनसे शून्य निर्मल स्थितिको प्राप्तकर आप यह भावना कीजिये कि सदा प्रकाशमान, निर्मलस्वरूप, आदि और अन्तसे शून्य केवल परब्रह्म ही अन्तमें विद्यमान रहता है, ब्रह्मसे अतिरिक्त कल्पनाजनित कुछ भी पदार्थ नहीं है । इस प्रकारकी निरन्तर भावना कर कल्पनारूपी मलोंसे निर्मुक्त वृत्तिवाले होकर निर्वाण पदको प्राप्त कीजिये ॥ ४० ॥

हे प्रिय, इस संसारमें जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह सब कल्पोंमें प्रसिद्ध कार्य और कारणका मूल कारण निर्विकार परमात्मस्वरूप परब्रह्म ही है । वह बड़े-बड़े अनेक सर्गोंसे विशाल आकारवाला होनेपर भी असलमें आकाशरूप ही है, मानो सम्पूर्ण विकल्पोंसे निर्मुक्त ही है ॥ ४१ ॥

अन्यत्क्वचित्किञ्चिदिदं कदाचि-
न्न संभवत्येव सदप्यसच्च ।
इत्येव साधो दृढनिश्चयोऽन्तः
स्थित्वा गताशङ्कविलासमास्स्व ॥ ४२ ॥
अन्तर्मुखः सन्सततं समस्तं
कुर्वन्बहिष्ठं खलु कार्यजातम् ।
न खेदमायासि कदाचिदेव
निराकृताहङ्कृतितामुपैषि ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे व्रतत्रयनिरूपणं नाम पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥११५॥



षोडशाधिकशततमः सर्गः

राम उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ चित्तेऽहङ्कारनामनि ।
गलिते वा गलद्रूपे लिङ्गं सत्त्वस्य किं भवेत् ॥ १ ॥

चूँकि कहींपर कुछ भी पदार्थ चाहे वह स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो या चाहे कारणरूप हो, सदैकरस परब्रह्मसे भिन्न किसी तरह नहीं हो सकता, इसलिए हे साधो, आप 'मैं सद्रूप ब्रह्म हूँ', इस प्रकारका अपने अन्दर निश्चय करके सर्वप्रथम समाधिके अभ्यासका बल प्राप्त कर स्थित रहिये । तदनन्तर फिर क्रमसे सप्तम भूमिकाके ऊपर चढ़कर सम्पूर्ण आशङ्काओंके विलासको छोड़कर बैठ जाइये ॥४२॥

हे साधो, यदि आप अन्तर्मुख होकर अहङ्कारशून्य स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं, तो बाहरके समस्त कार्योंका निरन्तर सम्पादन करते हुए भी आप कभी भी खेदको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

एक सौ पन्द्रह सर्ग समाप्त

एक सौ सोलह सर्ग

[गल रहे तथा गलित हुए चित्तके लक्षणोंका वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे सर्वधर्मज्ञ, हे भगवन्, अहङ्कारनामक चित्त जिस

वसिष्ठ उवाच

बलादपि हि संजाता न लिम्पन्त्याशयं सितम् ।
लोभमोहादयो दोषाः पयांसीव सरोरुहम् ॥ २ ॥
मुदिताद्याः श्रियो वक्त्रं न मुञ्चन्ति कदाचन ।
गलत्यहङ्कारमये चित्ते गलति दुष्कृते ॥ ३ ॥
वासनाग्रन्थयश्छिन्ना इव त्रुट्यन्त्यलं शनैः ।
कोपस्तानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति ॥ ४ ॥
कामः क्लमं गच्छति च लोभः क्वाऽपि पलायते ।
नोल्लसन्तीन्द्रियाण्युच्चैः खेदः स्फुरति नोच्चकैः ॥ ५ ॥

समय गलित हो जाता है या गलने लग जाता है उस समय हुए वासनाशून्य मनका क्या स्वरूप होता है ॥ १ ॥

यों श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा पूछे जानेपर, लोभ, मोह आदि दोषोंका क्षय ही पहले मुख्य स्वरूप है, ऐसा महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'बलादपि' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, शुभ्र (वासनाशून्य) मनको —परीक्षा करनेके लिए दूसरोंके द्वारा जबर्दस्ती पैदा कराये गये भी—लोभ, मोह आदि दोष उस तरह लिप्त नहीं कर सकते, जिस तरह जल कमलको लिप्त नहीं कर सकते ॥ २ ॥

सदा मुखकी प्रसन्नता भी उसका लक्षण है, यह कहते हैं—'मुदिताद्याः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, ज्ञानाग्निसे विषादहेतु पापरूप अहङ्कारनामक चित्तके विलीन हो जानेपर प्रसन्नता आदि शोभाएँ मुखको नहीं छोड़ती ॥ ३ ॥

कही हुई बातोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहे महाराज वसिष्ठजी दूसरे लक्षण भी कहते हैं—'वासना०' इत्यादिसे ।

[चित्तके नष्ट हो जानेपर] वासनाओंकी गाँठे छिन्न-भिन्न-सी होकर धीरे-धीरे बिलकुल टूटने लग जाती हैं । क्रोध कम होने लग जाता है और मोह तो निःसन्देह मन्दताको प्राप्त हो जाता है ॥ ४ ॥

काम थक जाता है और लोभ तो न जाने कहाँ भाग जाता है, इन्द्रियाँ खूब उल्लसित नहीं होतीं और न खेद ही अधिक स्फुरित होता है ॥ ५ ॥

न दुःखान्युपबृंहन्ति न वल्गन्ति सुखानि च ।
सर्वत्र समतोदेति हृदि शैत्यप्रदायिनी ॥ ६ ॥
सुखदुःखादयस्त्वेते दृश्यन्ते यदि वा मुखे ।
दृश्यन्त एव तुच्छत्वान्नाऽनुलिम्पन्ति ते मनः ॥ ७ ॥
चित्ते गलति गीर्वाणगणस्य स्पृहणीयताम् ।
साधुर्गच्छत्युदेत्यस्य समता शीतचन्द्रिका ॥ ८ ॥
उपशान्तं च कान्तं च सेव्यमप्रतिरोधि च ।
निभृतं चोर्जितं स्वच्छं वहतीत्थं महद्वपुः ॥ ९ ॥

उस समय दुःख बढ़ते नहीं और सुख बलबलाते नहीं हैं। हृदयमें ठण्डक पहुँचानेवाली सब जगह समता उदित होती है ॥ ६ ॥

ज्ञानियोंके मुखपर भी सुख-दुःखके चिह्न प्रसाद और मालिन्य आदि किसी समय दिखाई देते हैं जैसे कि दुर्वासाऋषिका शाप सुननेपर कुम्भ तथा राजा शिखिध्वजके मुखपर अथवा विश्वामित्रके द्वारा हरिश्चन्द्रको ठगनेपर तथा पुत्रको मारनेपर वसिष्ठजीके मुखपर उदासी साफ झलक रही थी, ऐसी दशामें 'प्रसन्नता आदि शोभाएँ मुँहको नहीं छोड़ती' यह आपका लक्षण कैसे घटता है ? यदि ऐसी आशङ्का की जाय, तो उसपर कहते हैं—'सुखदुःखादयः' इत्यादिसे ।

ये सुख, दुःख आदि यदि दिखाई देते भी हैं, तो फिर वे दिखाईमात्र ही देते हैं, क्योंकि ऐसे पुरुषकी दृष्टिमें तुच्छ होनेके कारण उसके मनको वे लिप्त नहीं कर पाते हैं। भोग करानेवाले प्रबल प्रारब्धसे दुःख और दुःखके चिह्न मालिन्याभासका कभी उदय होनेपर भी अगले क्षणमें ही मिथ्यात्वबुद्धिसे उनके बाधित हो जानेपर ज्ञानी पुरुषके चित्तको वे लिप्त नहीं कर पाते, इसलिए ज्ञानियोंके मुखपर जो स्वाभाविक प्रसन्नता रहती है, उसका विघात नहीं होता, यह तात्पर्य है ॥ ७ ॥

चित्त गल जानेपर साधु पुरुष देवताओंका भी स्पृहणीय बन जाता है। इस पुरुषके हृदयमें शीतल चाँदनीरूपी समता उदित होती है ॥ ८ ॥

ऐसा साधु पुरुष यों ही स्वभावतः उपशान्त, कमनीय, सेव्य, अप्रतिरोधी (दूसरेकी अभिलाषाका विघात न करनेवाले) विनीत, बलशाली, स्वच्छ और महान् शरीरको धारण करता है ॥ ९ ॥

भावाभावविरुद्धोऽपि विचित्रोऽपि महानपि ।
नाऽऽनन्दाय न खेदाय सतां संसृतिविभ्रमः ॥ १० ॥
बुद्ध्यालोकेन साध्येऽस्मिन् वस्तुन्यस्तमितापदि ।
प्रवर्तते न यो मोहात्तं धिगस्तु नराधमम् ॥ ११ ॥
विश्रान्तिमाप्तुमुचितां चिरमङ्ग दुःख-
रत्नाकरं जननसागरमुत्तितीर्षोः ।
कोऽहं कथं जगदिदं च परं च किं स्या-
त्किमोगकैरिति मतिः परमोऽभ्युपायः ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे गलित-चित्तलक्षणकथनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥



विभव और दरिद्रतासे विषम, विचित्र और महान् होता हुआ भी यह संसारविभ्रम गलित-अहङ्कारवाले सज्जनोंके प्रति न तो आनन्दके लिए है और न खेदके ही लिए है ॥ १० ॥

अब आत्मलाभकी अत्यन्त सुलभता दर्शा रहे महाराज वसिष्ठजी उसके लिए प्रवृत्त न हुए पुरुषोंकी निन्दा करते हैं—'बुद्ध्यालोकेन' इत्यादिसे ।

बुद्धिरूपी प्रकाशसे लभ्य इस परमात्मवस्तुमें, जिसका लाभ होनेपर समस्त आपत्तियाँ अस्त हो जाती हैं, जो मनुष्य मोहके कारण प्रवृत्त नहीं होता, उस नराधमको धिक्कार है ॥ ११ ॥

तब उसकी प्रवृत्तिमें कौन-सा प्रथम उपाय है, यदि ऐसी कोई आशङ्का करे, तो उसपर—विवेक और वैराग्य ही उसकी प्रवृत्तिमें प्रथम उपाय हैं—यह कहते हैं—'विश्रान्ति०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, दुःखरूपी रत्नोंका आकर, जन्म और मरणसे युक्त संसार-सागरको पार करनेकी इच्छा रख रहे पुरुषके लिए निरतिशयानन्द आत्मामें चिरकालतक समुचित विश्रान्ति पानेमें 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत् क्या है' परमात्मतत्त्व कैसा है ? इन तुच्छ भोगोंसे कौन-सा फल मिलेगा' यों निरन्तर खूब अभ्यस्त हुई विचार और वैराग्यरूपिणी मति ही परम उपाय अभिमत है, इसलिए उसीका आश्रयण करना चाहिए, यह भाव है ॥ १२ ॥

एक सौ सोलह सर्ग समाप्त



सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भवतामादिपुरुष इक्ष्वाकुर्नाम भूपतिः ।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यथा मुक्तस्तथा शृणु ॥ १ ॥
इक्ष्वाकुर्नाम भूपालः स्वराज्यं परिपालयन् ।
कदाचिदेकान्तगतो मनसा समचिन्तयत् ॥ २ ॥
जरामरणसंक्षोभसुखदुःखभ्रमस्थितेः ।
अस्य दृश्यप्रपञ्चस्य को हेतुः स्यादिति स्वयम् ॥ ३ ॥
जगतो न विवेदाऽसौ कारणं चिन्तयन्नपि ।
अथैकदाऽपृच्छदसौ ब्रह्मलोकागतं मनुम् ।
पूजितं स्वसभासंस्थं भगवन्तं प्रजापतिम् ॥ ४ ॥

इक्ष्वाकुरुवाच

मां योजयति धार्ष्ट्येन भगवन्करुणानिधे ।
भवत्प्रसाद एवाऽयं भवन्तं प्रष्टुमञ्जसा ॥ ५ ॥

एक सौ सत्रह सर्ग

[मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है, इस विचारमें दृष्टान्तभूत मनु भगवान् द्वारा वर्णित इक्ष्वाकुके विवेकका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इक्ष्वाकु वंशमें समुत्पन्न आपके मूलपुरुष इक्ष्वाकुनामक राजा जिस तरहके विचारसे मुक्त हो गये, उस विचारको आप सुनिये ॥ १ ॥

अपने राज्यका परिपालन कर रहे इक्ष्वाकुनामक राजा किसी समय एकान्तमें जाकर अपने मनसे स्वयं यह विचार करने लगे ॥ २ ॥

बुढ़ापा, मृत्यु, संक्षोभ, सुख, दुःख तथा नानाविध भ्रमोंसे पूर्ण स्थितिवाले इस दृश्य प्रपञ्चका हेतु क्या है ॥ ३ ॥

विचार कर रहे भी वह राजा जब जगत्के कारणको न समझ सके तब उन्होंने एक दिन ब्रह्मलोकसे आये हुए सभामें बैठे तथा पूजित हुए अपने पिता प्रजापति मनुसे पूछा ॥ ४ ॥

इक्ष्वाकुने कहा—हे भगवन्, आपकी दया ही आपसे धृष्टतापूर्वक पूछनेके

कुतः सर्गोऽयमायातः स्वरूपं चाऽस्य कीदृशम् ।
कियदेतज्जगत्कस्य कदा केनेति कथ्यते ॥ ६ ॥
अहं कथं च विषमादस्मात्संसृतिविभ्रमात् ।
विमुच्येय घनास्तीर्णाज्जालादिव विहङ्गमः ॥ ७ ॥

मनुरुवाच

अहो नु चिरकालेन विवेके सुविकासिनि ।
वितथानर्थविच्छेत्ता सारः प्रश्नस्त्वया कृतः ॥ ८ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चित्तन्नास्ति नृप किञ्चन ।
यथा गन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले ॥ ९ ॥
यत्तु नो दृश्यते किञ्चित्तन्न किञ्चिदिव स्थितम् ।
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं यत्स्यादपि न किञ्चन ॥ १० ॥

लिए मुझे प्रेरित कर रही है। हे करुणानिधे, यह सृष्टि कहांसे आई है, इसका स्वरूप कैसा है, यह संख्या और परिमाणसे कितना बड़ा है, किस भोक्ता तथा स्वामीका यह भोग्य बना हुआ है। कब किसने इसकी रचना की है—इत्यादि सब आप वैदिक रीतिसे अच्छी तरह कहिये। अर्थात् वेद आदिके आधारपर चले आ रहे उपदेशपरम्परारूप सम्प्रदायके अनुसार जो आपको मालूम हुआ हो उसीका आप वर्णन कीजिये, तर्कसे नई कल्पना करके कुछ कहनेकी दया न कीजिये। हे भगवन्, सघन दूरतक बिछाये गये जालसे पक्षीकी नाईं इस विषम संसारजालसे मैं किस तरह मुक्त हो सकूँगा। ॥ ५–७ ॥

मनुने कहा—हे राजन्, अहो चिरकालके बाद सुन्दर विकासयुक्त विवेक होनेपर तुमने यह ऐसा प्रश्न किया है, जो मिथ्याभूत अनर्थोंका उच्छेद करनेवाला तथा सब प्रश्नोंका सार है ॥ ८ ॥

उन प्रश्नोंमें सर्वप्रथम तत्त्वोपदेशमें अत्यन्त उपयोगी होनेके कारण 'स्वरूपं चास्य कीदृशम्' (इस जगत्का स्वरूप कैसा है) इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे।

हे महीपते, जो कुछ यह दिखाई दे रहा है, वह वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह गन्धर्वनगर तथा मरुस्थलमें जल जैसा अवस्थित है। भाव यह कि मिथ्याभूत जगत्का जो असत्स्वरूप है वह सर्वथा असत् ही है ॥ ९ ॥

अपने उपादान कारणमें परमसूक्ष्मरूपसे स्थित कार्य ही अपने कारणोंके

अविनाशं तदस्तीह तत्सदात्मेति कथ्यते ॥ ११ ॥
इयं तु सर्वदृश्याढ्या राजन् सर्गपरम्परा ।
तस्मिन्नेव महादर्शे प्रतिबिम्बमुपागता ॥ १२ ॥
भाःस्वभावसमुत्पन्ना ब्रह्मस्फुरणशक्तयः ।
काश्चिद्ब्रह्माण्डतां यान्ति काश्चिद्गच्छन्ति भूतताम् ।
अन्यास्त्वन्यत्वमायान्ति भवत्येवं जगत्स्थितिः ॥ १३ ॥

द्वारा आविर्भूत होता है—ऐसा सांख्य लोग कहते हैं और वेदान्ती लोग कहते हैं कि सद्ब्रह्म ही जगद्रूपसे सृष्टिमें सम्पन्न होता है। ऐसी स्थितिमें यह कैसे कहते हैं कि जगत् कुछ भी नहीं है ? इन दोनोंमें सांख्यवादीके प्रति कहते हैं—'यत्तु' इत्यादिसे ।

साक्षी या इन्द्रियोंके द्वारा जो वस्तु दिखाई नहीं देती वह किसी भी रूपसे, प्रमाण न होनेके कारण, अपने उपादान कारणमें स्थित नहीं है। षष्ठ मननात्मक इन्द्रियसे अतीत होनेके कारण उसकी सम्भावना भी नहीं है ॥ १० ॥

वेदान्तीके प्रति कहते हैं—'अविनाशम्' इत्यादिसे ।

हाँ, इस सृष्टिमें अविनाशी जो पर वस्तु है, वह तो स्थित है ही, वही 'सत्', 'आत्मा' इत्यादि नामोंसे कही जाती है ॥ ११ ॥

हे राजन्, यह सम्पूर्ण दृश्योंसे भरी हुई सृष्टिपरम्परा उसी सदात्मस्वरूप महान् दर्पणमें प्रतिबिम्बको प्राप्त हो गई है * ॥ १२ ॥

तब 'बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि सङ्कल्प करके ब्रह्ममें जगत् और जीवभावका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका क्या अभिप्राय है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'भाः स्वभाव०' इत्यादिसे ।

तेजके स्वभावसे उत्पन्न हुई ब्रह्मकी स्फुरणशील कोई शक्तियाँ तो स्थूल-समष्टिके अभिमानसे ब्रह्माण्डरूपमें विवर्तित हो जाती हैं; कोई पृथिवी आदिके अभिमानसे प्राणिरूपताको प्राप्त हो जाती हैं और इनसे अतिरिक्त जो कोई

* दर्पणकी सत्ता जैसे प्रतिबिम्बोंमें है वैसे ही संसर्गाध्याससे ब्रह्मकी सत्तासे अनुविद्ध यद्यपि जगत् है, तथापि इसकी स्वतः सत्ता नहीं ही है, इसलिए 'तन्नास्ति नृप किञ्चन' यह जो कहा गया है वह बिलकुल ठीक ही है, यह भाव है ।

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति ब्रह्मैवाऽस्ति निरामयम् ।
नैक्यमस्ति न च द्वित्वं संवित्सारं विजृम्भते ॥ १४ ॥

एकं यथा स्फुरति वारि तरङ्गभङ्गै-
रेवं परिस्फुरति चिन्न च किञ्चिदेव ।
त्वं बन्धमोक्षकलने प्रविमुच्य दूरे
स्वस्थो भवाऽभवभयोऽभयसार एव ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकुमनुसंवादे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

शक्तियां हैं वे अन्यताको यानी चार तरहके प्राणियोंके रूपमें प्राप्त हो जाती हैं—इस तरह जगत्की स्थिति होती है ॥ १३ ॥

मिथ्याभूत उपाधियोंमें भ्रान्तिके कारण चिदाभासोंकी कल्पना की गई है, वस्तुतः उनकी प्रसक्ति नहीं है, इसको कहते हैं—'न बन्धोऽस्ति' इत्यादिसे ।

इस संसारमें न तो किसीका बन्ध है और न मोक्ष है, केवल एकमात्र सब विकारोंसे शून्य ब्रह्म ही है । इसमें न तो ऐक्य है और न द्वित्व ही है, केवल संवित्सार ही विजृम्भित हो रहा है ॥ १४ ॥

उक्त द्वितीय प्रश्नके उत्तरका उपसंहार करते हैं—'एकम्' इत्यादिसे ।

जैसे एक जल तरङ्गभेदोंसे स्फुरित होता है वैसे ही चिद्रूप ब्रह्म भी जगत्के नानाभेदोंसे स्फुरित होता है और वह मायामात्र होनेसे कुछ भी नहीं है, इसलिए हे राजन्, बन्ध और मोक्षके भ्रमको दूर फेंककर जिसको संसारका भय है ही नहीं, ऐसा तुम अभयरूप ब्रह्मसार ही हो जाओ ॥ १५ ॥

एक सौ सत्तरह सर्ग समाप्त



अष्टदशोत्तरशततमः सर्गः

मनुरुवाच

सङ्कल्पोन्मुखतां याताः सत्यश्चिन्मात्रसंविदः ।
आपस्तरङ्गत्वमिव यान्ति भूमिप जीवताम् ॥ १ ॥
ते जीवाः संसरन्तीह संसारे पूर्वमुत्थिते ।
सुखदुःखदशामोहो मनस्येवाऽस्ति नाऽऽत्मनि ॥ २ ॥
अदृश्यो दृश्यते राहुर्गृहीतेन यथेन्दुना ।
तथाऽनुभवमात्रात्मा दृश्येनाऽऽत्माऽवलोक्यते ॥ ३ ॥
न शास्त्रैर्नाऽपि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः ।
दृश्यते स्वात्मनैवाऽऽत्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया ॥ ४ ॥

एक सौ अठारह सर्ग

[कहाँसे कब किसकी किसके द्वारा यह सृष्टि हुई है—इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर तथा आत्मदर्शनके उपायोंका मनु द्वारा वर्णन]

सबसे पहले शुद्धसंवित्के जीवभावमें निमित्त बतलाते हैं—'सङ्कल्पो०' इत्यादिसे ।

मनुने कहा—हे भूमिप, जैसे जल तरङ्गरूपताको प्राप्त होता है, वैसे ही तत्-तत् संस्कारोंसे विचित्र अविद्यामें शुद्धचैतन्यकी प्रतिबिम्बस्वरूप संवित्तियाँ सङ्कल्पकी ओर उन्मुख होती हुई जीवस्वरूपताको प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

उपाधिरूपसे आविर्भूत हुए इस संसारमें (समष्टि और व्यष्टिरूप मनके कार्यमें) वे जीव चक्कर काटते-फिरते हैं । यदि सचमुच पूछा जाय, तो सुख-दुःखकी दशाओंका मोह मनमें रहता है, आत्मामें नहीं ॥ २ ॥

अदृश्य आत्मा दृश्य मनमें या सांसारिक दुःखोंसे पूर्ण प्राणी अविवेक रहनेपर अथवा विवेक होनेपर संसारके दुःखोंसे विमुक्त हुआ जीव कैसे दिखाई देता है, यदि ऐसी आशङ्का की जाय, तो उसपर कहते हैं—'अदृश्यः' इत्यादिसे ।

जैसे ग्रसित हुए चन्द्रमाके कारण अदृश्य भी राहु दिखाई देता है वैसे ही दृश्य अन्तःकरण तथा चरमसाक्षात्काररूप उसके परिणामके कारण अनुभवमात्रस्वरूप आत्मा भी दिखाई देता है ॥ ३ ॥

परमेश्वर न तो अनेक शास्त्रोंके द्वारा दिखाई देता है और न गुरुके द्वारा

पथिकाः पथि दृश्यन्ते रागद्वेषविमुक्तया ।
यथा धिया तथैवेते द्रष्टव्याः स्वेन्द्रियादयः ॥ ५ ॥

एतेषु नाऽऽदरः कार्यः सता नैवाऽवधीरणम् ।
पदार्थमात्रताविष्टास्तिष्ठन्त्वेते यथासुखम् ॥ ६ ॥

पदार्थमात्रं देहादि धिया सन्त्यज्य दूरतः ।
आशीतलान्तःकरणो नित्यमात्ममयो भव ॥ ७ ॥

देहोऽहमिति या बुद्धिः सा संसारनिबन्धनी ।
न कदाचिदियं बुद्धिरादेया हि मुमुक्षुभिः ॥ ८ ॥

नकिञ्चिन्मात्रचिन्मात्ररूपोऽस्मि गगनादणुः ।
इति या शाश्वती बुद्धिः सा न संसारबन्धनी ॥ ९ ॥

ही दिखाई देता है वह तो अपनी सत्त्वस्थ (अहन्ता-ममतासे शून्य) बुद्धिसे ही अपने आप दिखाई देता है ॥ ४ ॥

देहेन्द्रियादिमें अहन्ता और ममताकी शून्यता किस तरह देखनी चाहिए, इसे दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट बतलाते हैं—'पथिकाः' इत्यादिसे ।

जैसे मार्गमें राग-द्वेषशून्य बुद्धिसे पथिक देखे जाते हैं वैसे ही अपनी सत्त्वस्थ बुद्धिसे ही इन अपनी इन्द्रिय आदिका अवलोकन करना चाहिए ॥५॥

सज्जनोंको इनमें आदरबुद्धि कभी न रखनी चाहिए और न इन्हें उपवास आदिके द्वारा सताना चाहिए । पदार्थमात्रतामें आविष्ट वे सुखपूर्वक रहा करें ॥ ६ ॥

हे राजन्, अपनी बुद्धिसे देहादि पदार्थमात्रका (उदासीन पदार्थ साधारणका) दूरसे ही त्याग कर अपने अन्तःकरणको शीतल बनाकर शुद्ध आत्मदृष्टिसे आत्मभावप्रचुर हो जाओ ॥ ७ ॥

'देह मैं ही हूँ' यह जो बुद्धि है वह संसारमें फँसानेवाली है, इसलिए मुमुक्षु पुरुषोंको ऐसी बुद्धि कभी नहीं अपनानी चाहिए ॥ ८ ॥

किञ्चिन्मात्र भी कलङ्क जिसमें नहीं ऐसा जो चिन्मात्रस्वरूप है उसी रूपका मैं आकाशसे भी सूक्ष्म हूँ—यह जो नित्य बुद्धि है वह संसारमें फँसानेवाली नहीं है ॥ ९ ॥

यथा विमलतोयानां बहिरन्तश्च भावनम् ।
तेजस्तिष्ठति सर्वत्र तथाऽऽत्मा सर्वजन्तुषु ॥ १० ॥
सन्निवेशांशवैचित्र्यं यथा हेम्नोऽङ्गदादिता ।
आत्मनस्तदतद्रूपा तथैव जगदादिता ॥ ११ ॥
विनाशवाडवाक्रान्तं भीमं कालमहार्णवम् ।
जगज्जालतरङ्गिण्यो यान्ति भूततरङ्गिकाः ॥ १२ ॥
तथाप्यद्याप्यपूर्णस्य यः पाता कालवारिधेः ।
तमात्मानं महागस्त्यं राजन् भावय सर्वदा ॥ १३ ॥
अनात्मन्यात्मतामस्मिन्देहादौ दृश्यजालके ।
त्यक्त्वा सत्त्वमुपारूढो गूढस्तिष्ठ यथासुखम् ॥ १४ ॥

बाहर और भीतर असङ्ग चितिके प्रवेशसे जड़ जगत्‌के स्फुरणमें अनुरूप दृष्टान्त बतलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे निर्मल जलके बाहर और भीतर सब जगह प्रकाशक तेज रहता है, वैसे ही सब वस्तुओंमें बाहर और भीतर सब जगह आत्मा रहता है ॥ १० ॥

जैसे अङ्गद (केयूर) आदिरूप आभूषणोंका आकार सुवर्णके ही अ:यवोंका एक वैचित्र्य है, वैसे जगत् तथा इसकी जड़ मायारूप आकार भी आत्माके ही कलाओंका एक वैचित्र्य है ॥ ११ ॥

कालरूपी समुद्रके लिए आत्मामें अगस्त्य मुनिका आरोप करना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए कालको ही जगद्रूपी नदियोंका उपसंहारस्थान (समुद्र) कहते हैं—'विनाश०' इत्यादिसे ।

विनाशरूपी वाडवाग्निसे आक्रान्त भयङ्कर कालरूपी सागरमें प्राणिसमूहरूपी तरङ्गोंवाली जगज्जालरूपी नदियाँ यद्यपि मिल जाती हैं ॥ १२ ॥

तथापि सम्पूर्ण जगज्जालका भक्षक होनेपर भी आजतक जिसकी तृप्ति न हो सकी, ऐसे कालरूपी सागरका जो पानकर्ता है, उस आत्मस्वरूपी महाअगस्त्यकी—हे राजन्, आप सदा—भावना करते रहिये ॥ १३ ॥

अनात्मभूत इस देहादि दृश्यसमूहमें आत्मताका त्याग कर यानी इस देहादि दृश्यसमूहको आत्मा न समझ कर निर्वासनभावमें उपारूढ़ हो करके गूढ़रूपसे सुखपूर्वक स्थित रहिये ॥ १४ ॥

कुचकोटरसंसुप्तं विस्मृत्य जननी सुतम् ।
यथा रोदिति पुत्रार्थं तथाऽऽत्मार्थमयं जनः ॥ १५ ॥

अजरामरमात्मानमबुद्ध्वा परिरोदिति ।
हा हतोऽहमनाथोऽहं नष्टोऽस्मीति वपुर्व्यये ॥ १६ ॥

यथा वारि परिस्पन्दान्नानाकारं विलोक्यते ।
तथा सङ्कल्पवशतश्चिद्ब्रह्म परिबृंहति ॥ १७ ॥

संस्थाप्य सङ्कल्पकलङ्कमुक्तं
चित्तं त्वमात्मन्युपशान्तकल्पः ।
स्पन्देऽप्यसंस्पन्दमिवेह तिष्ठ
स्वस्थः सुखी राज्यमिदं प्रशाधि ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
इक्ष्वाकुमनुसंवादे अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

नित्यस्वरूप आत्माका लाभ होनेपर भी उसकी अलब्धताकी भ्रान्तिसे मनुष्यको शोक होता है, इसको कहते हैं—'कुचकोटर०' इत्यादिसे ।

जैसे स्तनकोटरके ऊपर सोये हुए बच्चेको भूलकर उसकी माँ अपने बच्चेके लिए रोती है वैसे ही आत्माके लिए यह मनुष्य रोता है ॥ १५ ॥

शरीरके नष्ट हो जानेपर यह प्राणी आत्माको अजर और अमर न जानकर हा, मैं मर गया, मैं अनाथ हो गया, हा अब तो मैं बिलकुल नष्ट ही हो गया—यों विलाप करता है ॥ १६ ॥

जैसे परिस्पन्दके कारण एक ही जल नाना प्रकारके आकारोंमें दिखाई देता है वैसे ही सङ्कल्पवशसे यह चिद्रूप ब्रह्म ही नानाप्रकारके आकारोंमें कार्य-परम्परासे बढ़ता है ॥ १७ ॥

हे पुत्र, तुम सङ्कल्परूपी कलङ्कोंसे निर्मुक्त चित्तको आत्मामें स्थापित करके फिर उपशान्त-से होते हुए [क्योंकि उस समय समूल सम्पूर्ण संसारकी उपशान्ति हो जानेपर भी प्रारब्ध भोगके उपयोगी उसके प्रतिभासका अवशेष रह जाता है] व्यवहारके लिए देहेन्द्रियादिका स्पन्दन होनेपर भी उसकी आभासमात्रता होनेसे

एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः

मनुरुवाच

सर्गात्मभिर्विभुः स्पन्दैः क्रीडते बालवत्स्वयम् ।
संहारात्मकशक्त्याऽथ संहृत्याऽऽत्मनि तिष्ठति ॥ १ ॥
स्वयमस्य तथा शक्तिरुदेत्याबध्यते यया ।
स्वयमस्य तथा शक्तिरुदेत्युन्मुच्यते यया ॥ २ ॥

संस्पन्दशून्य ब्रह्मकी नाईं इस व्यवहारपूर्ण भूमिमें स्वस्थ और सुखी होकर स्थित रहो और इस राज्यका परिपालन करते रहो ॥ १८ ॥

एक सौ अठारह सर्ग समाप्त



एक सौ उन्नीस सर्ग

[विद्या और अविद्यारूपी आत्मशक्तियोंके द्वारा सत्य और असत्यका निश्चय हो जानेसे बन्ध और मोक्षमें पुरुषकी स्वतन्त्रता रहती है, यह वर्णन]

'स्पन्देऽप्यसंस्पन्दमिवेह तिष्ठ' (इस व्यवहारभूमिमें देहेन्द्रियादिस्पन्द होने-पर भी स्पन्दशून्य ब्रह्मके सदृश स्वस्थ और सुखी बनकर रहो) इत्यादि जो कहा गया है सो यहांपर ब्रह्म माया द्वारा किसलिए स्पन्दित होता है और किसलिए संस्पन्दसे शून्य स्थित रहता है, इस तरहकी इक्ष्वाकुकी जिज्ञासाको चेष्टाओंसे समझकर मनु महाराज कहते हैं—'सर्गात्मभि०' इत्यादिसे ।

मनुने कहा—सर्वव्यापक यह परमात्मा प्रसवधर्मिणी अविद्याशक्तिसे अवि-द्वानोंके सामने स्वयं सृष्टिरूप क्रियाओंसे बच्चोंकी नाईं क्रीड़ा किया करता है और विद्वानोंके सामने सृष्टिसंहाररूप विद्याशक्तिसे समूल सृष्टिका संहार करके कूटस्थ अद्वय आत्मामें सदैव स्थित रहता है ॥ १ ॥

रागसे प्रवृत्त हुए चेतनमें जैसे सृष्टिशक्तिका उदय अपने आप होता है वैसे ही वैराग्यसे निवृत्त हुए चेतनमें संहारशक्तिका उदय भी अपने आप ही होता है, इसे कहते हैं—'स्वयमस्य' इत्यादिसे ।

रागसे प्रवृत्त इसमें स्वयं ही ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे कि

चन्द्रार्कवह्नितप्तायोरत्नादीनां यथाऽर्चिषः ।
यथा पत्रादि वृक्षाणां निर्झराणां यथा कणाः ॥ ३ ॥
तथेदं ब्रह्मणि स्फारे जगद्बुद्ध्यादिकल्पितम् ।
दुःखप्रदमतज्ज्ञानां तदेवाऽतदिव स्थितम् ॥ ४ ॥
अहो नु चित्रा मायेयं तात विश्वविमोहिनी ।
सर्वाङ्गप्रोतमप्यात्मा यदात्मानं न पश्यति ॥ ५ ॥
चिदादर्शमयं सर्वं जगदित्येव भावयन् ।
यस्तिष्ठत्युपशान्तेच्छं स ब्रह्मकवचः सुखी ॥ ६ ॥

यह संसारके बन्धनमें फँस जाता है तथा स्वयं ही वैराग्यसे निवृत्त हुए उसमें ऐसी भी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कि यह मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

जिस ज्ञातात्माकी जीव, जगत् दोनोंमें साधारण एक सत्तारूपसे संभावना की जा रही है, उसमें होनेवाली विशेष बाह्य, आध्यात्मिक पदार्थोंकी कल्पनामें दृष्टान्त देते हैं—'चन्द्रार्क०' इत्यादिसे ।

चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तप्तलोह एवं रत्न आदिकी प्रभा या ज्वाला; वृक्षोंके पत्ते आदि तथा झरनोंके कण जैसे कल्पित हैं, वैसे ही बृहत् इस ब्रह्ममें जगत्की तथा जगत्-ग्राहक बुद्धिकी विचित्रता भी कल्पित ही है। वही ब्रह्म अब्रह्म-जैसा होकर अज्ञानियोंके लिए दुःखप्रद होकर अवस्थित है ॥ ३, ४ ॥

सर्वव्यापक स्वयंप्रकाश आत्माका दर्शन न होना तथा असद्रूप एवं प्रकाश-शून्य जगत्का दर्शन होना, यह एक बड़ा भारी आश्चर्य है और इस तरहका आश्चर्य एकमात्र अघटितघटनापटीयसी मायाके बलसे ही हुआ है, इसे कहते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

हे तात, अहो ! विश्वको मोहमें डाल देनेवाली यह माया कैसी विचित्र है, जिसके बलसे सम्पूर्ण अङ्गोंमें (बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंमें) भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त भी आत्माको यह जीव नहीं देख पाता ॥ ५ ॥

तब किस भावनासे आत्माको देखकर यह जीव सुखी होगा ? ऐसा प्रश्न होनेपर उस भावनाको कहते हैं—'चिदादर्शमयम्' इत्यादिसे ।

यह सारा संसार चिद्रूपी आदर्शमय है, (दर्पणमें जैसे नगर आदि प्रातिभासिक हैं वैसे ही ब्रह्ममें यह जगत् प्रातिभासिक ही है वास्तविक नहीं है)

अहमर्थविमुक्तेन　　भावेनाऽभावरूपिणा ।
सर्वं शून्यं निरालम्बं चिद्रूपमिति भावयेत् ॥ ७ ॥
इदं रम्यमिदं नेति बीजं ते दुःखमन्ततः ।
तस्मिन्साम्याग्निना दग्धे दुःखस्याऽवसरः कुतः ॥ ८ ॥
राजन्नभावनास्त्रेण　रम्यारम्यविभागिता ।
पौरुषातिशयेनाऽऽशु स्वेनैवाऽन्तर्विलूयताम् ॥ ९ ॥
अभावनेन भावनं विलूय कर्मकाननम् ।
परं समेत्य तानवं विशोक एव तिष्ठ भोः ॥ १० ॥
भरितभुवनाभोगो भूत्वा विभागबहिष्कृतो
गलितकलनाभासोल्लासो विवेकविलासवान् ।

इस तरहकी भावना कर रहा जो प्राणी अपनी सारी इच्छाएँ नष्ट कर मोहरूपी हजारों बाणोंसे कभी भी न टूटनेवाले ब्रह्मरूपी कवच पहिने हुए रहता है वही सुखी है ॥ ६ ॥

[इस दुस्तर संसारसागरको पार कर जानेकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक प्राणीको चाहिए कि वह] अहमर्थसे यानी अहङ्कारसे विमुक्त तथा निर्मल सात्त्विक अन्तःकरणसे 'सभी पदार्थ आकाशके सदृश निराधार चिद्रूप ब्रह्म ही हैं' ऐसी भावना करे ॥ ७ ॥

भद्र, यह अच्छा है और यह अच्छा नहीं है, इस प्रकारकी भावना ही आपके दुःखकी कारण है । जब वह भावना सर्वत्र समदृष्टिरूपी अग्निसे जल गई, तब दुःखकी प्राप्ति ही कहां ॥ ८ ॥

हे राजन्, समाधिके अभ्याससे सभी पदार्थोंकी विस्मृति हो जाती है, इस विस्मृतिरूपी शस्त्रसे प्रियाप्रियरूप विषमताकी कल्पनाको समदृष्टिकी दृढ़ता द्वारा आप स्वयं ही काट डालो, क्योंकि वही राग-द्वेषकी हेतु है ॥ ९ ॥

हे राजन्, तुम पहले समाधिसे बाह्य अर्थोंकी भावनाका और उसके हेतु धर्माधर्मके जङ्गलका छेदन करो फिर उत्तम सूक्ष्मता (ब्रह्मभाव) प्राप्त कर शोकरहित हो जाओ ॥१०॥

हे पुत्र, सबसे पहले तुम सदसद्वस्तुके विवेकके विलाससे युक्त होकर समाधिसे समस्त बाह्य कल्पनाओंसे निर्मुक्त हो जाओ तथा समस्त इन विशाल-भुवनोंको अपने पूर्ण आत्माके स्वरूपसे ओत-प्रोत कर दो । तदनन्तर असीम

अधिगतपरानन्दस्पन्दश्चिराय निरामयः
शमसमसितस्वच्छाभोगो भवाऽभयचिद्वपुः ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकुमनुसंवादे एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः ॥११९॥

—।-※-।—

विंशत्युत्तरशततमः सर्गः

मनुरुवाच

शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत् ।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः ॥ १ ॥

ब्रह्मरूप सुखके अभ्युदयको प्राप्त होकर उसके साथ एकरूप होते हुए संसाररूप रोगसे शून्य होकर पांचवीं और छठी भूमिकाओंमें दीर्घकालतक स्थिर रहो और अन्तमें सातवीं भूमिकामें विक्षेपरूप विषमताकी आत्यन्तिक शान्तिसे जनित सम, शुभ्र और निर्मल आकारसे युक्त हो तुम निर्भय चैतन्यशरीर बन जाओ ॥ ११ ॥

एक सौ उन्नीस सर्ग समाप्त

एक सौ बीस सर्ग

[मुक्ति चाहनेवाले पुरुषके लिए आरम्भकी तीन, मुक्त होनेवालेके लिए चौथी और मुक्त हुए पुरुषके लिए आगेकी तीन—यों सात भूमिकाओंका वर्णन]

'परं समेत्य तानवम्' इस पहले सर्गके श्लोकांशसे भूमिकाके अभ्यासका जो फल कहा गया है उस फलकी प्राप्तिमें कारणभूत जो अलग-अलग भूमिकाएँ हैं उनका वर्णन करते हैं—'शास्त्र०' इत्यादिसे ।

मनु महाराजने कहा—हे राजन्, सबसे पहले शास्त्र और सज्जनोंकी सङ्गतिसे अपनी बुद्धि बढ़ानी चाहिए, यही योगकी या योगीकी पहली भूमिका कही गई है । निष्कर्ष यह है कि साधनचतुष्टयकी प्राप्ति तथा गुरु एवं सतीर्थ्य (सहपाठी) आदिकी सहायता लेकर किया गया श्रवण ही पहली भूमिका है और यही उत्पत्तिप्रकरणमें दर्शायी गई है ॥ १ ॥

विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना ।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका ॥ २ ॥
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी ।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥ ३ ॥
स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका ।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः ॥ ४ ॥
तुर्यावस्थोपशान्ताऽथ मुक्तिरेवेह केवलम् ।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ॥ ५ ॥

मनन दूसरी भूमिका है, असङ्ग अद्वितीय आत्माकी भावना यानी निदिध्यासन तीसरी भूमिका है और तत्त्वसाक्षात्कारसे अज्ञान आदि निखिल प्रपञ्चकी निवृत्ति करनेवाली विलापनी नामकी चौथी भूमिका है, यही चौथी भूमिका अविद्याविलयरूप कही जाती है ॥ २ ॥

समाधिके परिपाकसे हुआ विशुद्ध संविद्रूप प्रकाशमय जो आनन्द है उस आनन्दकी स्वरूपभूत पाँचवीं भूमिका है, इस भूमिकामें जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये या जागे हुए पुरुषके सदृश रहता है; जैसे निद्राशेषसे आधा सोया हुआ पुरुष या आधा जागा हुआ पुरुष बाहरके शब्द आदिको जानते हुए भी भीतर निद्रासुखमें आसक्त होकर उत्तर-प्रत्युत्तर करनेकी इच्छा नहीं करता वैसे ही व्यवहारदशामें भी योगी इसी भूमिकामें आसक्त होकर बाह्य व्यवहारोंसे उदासीन ही रहता है ॥ ३ ॥

छठी भूमिका स्वसंवेदनरूप होती है यानी छठी भूमिकाका स्वरूप स्वभावतः ही नष्ट न होनेवाली ब्रह्माकारानुभववृत्ति है । इसका आकार एकमात्र आनन्दघन है और इसकी स्थिति सुषुप्त पुरुषकी-सी रहती है ॥ ४ ॥

ब्रह्माकारानुभवात्मक वृत्तिरूप तुर्यावस्था * (छठी भूमिका) भी जिसमें विलीन हो जाती है, ऐसी मुक्तिरूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है, यही अवस्था समता, स्वच्छता और परिपूर्णतारूप है, इसमें केवल पूर्णस्वप्रकाशस्वरूप परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ५ ॥

* आरम्भकी तीन भूमिकाओंको एक मानकर छठी भूमिकाके लिए चतुर्थार्थक तुर्यशब्दका प्रयोग किया गया है ।

तुर्यातीता तु याऽवस्था परा निर्वाणरूपिणी ।
सप्तमी सा परिप्रौढा विषयः स्यान्न जीवताम् ॥ ६ ॥
पूर्वावस्थात्रयं त्वत्र जाग्रदित्येव संस्थितम् ।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत् ॥ ७ ॥
आनन्दैकघनीभावात् सुषुप्ताख्या तु पञ्चमी ।
असंवेदनरूपाऽथ षष्ठी तुर्यपदाभिधा ॥ ८ ॥
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा ।
मनोवचोभिरग्राह्या स्वप्रकाशपदात्मिका ॥ ९ ॥
अन्तःप्रत्याहृतिवशाच्चेत्यं चेन्न विभावितम् ।
मुक्त एवाऽस्यसन्देहो महासमतया तया ॥ १० ॥
यद्भोगसुखदुःखांशैरपरामृष्टपूर्णधीः ।
सशरीरोऽशरीरो वा भवत्येवंमतिः पुमान् ॥ ११ ॥

सबसे उत्तम मुक्तिरूप जो तुर्यातीत अवस्था है, वह जब विदेहमुक्तिमें पर्यवसित हो जाती है, तब जीवित योगियोंकी विषय नहीं होती ॥ ६ ॥

इन सातोंमें जो पहलेकी तीन भूमिकाएँ विद्यमान हैं, वे जाग्रद्रूप ही हैं और चौथी जो भूमिका है वह तो स्वप्न ही कही गई है, क्योंकि उसमें जगत् स्वप्नके सदृश रहता है ॥ ७ ॥

आनन्दके साथ एकीभाव हो जानेसे पाँचवीं अवस्था सुषुप्तरूप है तथा अन्य पदार्थोंके ज्ञानसे रहित एकमात्र स्वसंवेदनरूप छठी भूमिका तुर्यशब्दसे कही जाती है ॥ ८ ॥

तुर्यातीत शब्दसे कहलानेवाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अन्तिम है। यह अवस्था मन और वाणीसे परे है तथा केवल स्वप्रकाश परब्रह्मरूप ही है ॥९॥

सातवीं भूमिकामें ही सब दृश्योंका प्रत्यगात्मामें ठीक-ठीक विलय हो जानेके कारण आत्यन्तिक जीवन्मुक्तता है, यह कहते हैं—'अन्तः' इत्यादिसे ।

हे राजन्, प्रसिद्ध सप्तम भूमिकाके अवलम्बनसे सब दृश्योंका प्रत्यगात्मामें विलयकर तुमने यदि चेत्यकी भावना न की तो निश्चय मुक्त ही हो जाओगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥ १० ॥

क्योंकि शरीर रहे चाहे शरीर न रहे, इस निश्चयसे विषय और विषयसङ्गसे जनित सुख दुःखोंसे जिसकी बुद्धि आकृष्ट नहीं होती, वह जीवन्मुक्तमति पुरुष है, यह अटल सिद्धान्त है ॥ ११ ॥

न म्रिये न च जीवामि नाऽहं सन्नाऽप्यसन्मयम् ।
आत्मारामो नरस्तिष्ठेज्जीवन्मुक्तत्वमुदाहृतम् ॥ १२ ॥
व्यवहार्युपशान्तो वा गृहस्थो वाऽथवैकक: ।
अहं न किञ्चिच्चिदिति मत्वा जीवो न शोचति ॥ १३ ॥
अलेपकोऽहमजरो नीराग: शान्तवासन: ।
निर्मलोऽस्मि चिदाकाशमिति मत्वा न शोचति ॥ १४ ॥
अहमन्तादिरहित: शुद्धो बुद्धोऽजरामर: ।
शान्त: समासमाभास इति मत्वा न शोचति ॥ १५ ॥
तृणाग्रेष्वम्बरे भानौ नरनागामरेषु च ।
यत्तदस्ति तदेवेति मत्वा भूयो न शोचति ॥ १६ ॥

सातवीं भूमिकामें जीवन्मुक्तको कैसा अनुभव होता है, इसे कहते हैं—'न म्रिये' इत्यादिसे ।

मैं न तो मरता हूँ, न जीता हूँ, यह मैं न तो सत् हूँ या न असत् हूँ, ऐसे सुदृढ़ अनुभवसे अपने स्वरूपमें ही आराम करता हुआ वह पुरुष सप्तम भूमिकामें स्थित रहता है । यही उसका मुक्त स्वरूप कहा गया है ॥ १२ ॥

व्यवहार करता हो, चाहे व्यवहारसे विरत हो, गृहस्थ हो, चाहे अकेला विचरण करनेवाला यति हो, परन्तु पुरुष 'मैं असत् दृश्यरूप नहीं हूँ, किन्तु विशुद्ध चैतन्यरूप हूँ', ऐसा निश्चय करनेसे सदा शोकसे निर्मुक्त ही रहता है ॥ १३ ॥

मैं लिप्त नहीं हूँ, अजर हूँ, नीराग हूँ, वासनाओंसे शून्य हूँ और निर्मल चैतन्यरूप आकाश हूँ, ऐसा मानकर पुरुष शोकसे छूट जाता है ॥ १४ ॥

मैं अन्त और आदिसे रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ, शान्त हूँ, सम-विषम सभी पदार्थोंमें एक रूपसे प्रकाशमान हूँ, ऐसा मानकर पुरुष शोकसे परे हो जाता है ॥ १५ ॥

अत्यन्त तुच्छ तृणोंके अग्रभागमें, असीम आकाशमें, अत्यन्त प्रकाशशील सूर्यमें, मनुष्योंमें, नागोंमें, देवताओंमें जो प्रसिद्ध सन्मात्रस्वरूप है, प्रत्यक्-चिन्मात्र स्वरूप वही मैं हूँ, यों जानकर फिर इस संसाररूप शोकसे ग्रस्त नहीं होता ॥ १६ ॥

तिर्यगूर्ध्वमधस्तान्मे व्यापको महिमा चितः ।
तस्याऽनन्तविलासस्य ज्ञात्वेति क इव क्षयी ॥ १७ ॥
बद्धवासनमर्थो यः सेव्यते सुखयत्यसौ ।
यत्सुखाय तदेवाऽऽशु वस्तु दुःखाय नाशतः ।
अविनाभावनिष्ठत्वं प्रसिद्धं सुखदुःखयोः ॥ १८ ॥
तनुवासनमर्थो यः सेव्यते वा विवासनम् ।
नाऽसौ सुखायते नाऽसौ नाशकाले न दुःखदः ॥ १९ ॥
क्षीणवासनया बुद्ध्या यत्कर्म क्रियतेऽनघ ।
तद्दग्धबीजवद्भूयो नाऽङ्कुरं प्रतिमुञ्चति ॥ २० ॥
देहेन्द्रियादिना कर्म करणौघेन कल्प्यते ।
एकः कर्ता च भोक्ता च क इवाऽङ्गोपपद्यते ॥ २१ ॥

ऊपर, नीचे एवं अगल-बगल सर्वत्र चिद्रूप मेरी ही महिमा व्यापकरूपसे विद्यमान है, इस प्रकार असीम विलासोंवाले उस परमात्माकी महिमा जानकर कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जन्म-मरण आदि दुःखोंसे युक्त रहेगा ॥ १७ ॥

जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं, उनका भी जीवन विषयोपभोगके अधीन है, अतः विषयका नाश होनेपर जैसे अज्ञानीको दुःख प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञानीको भी दुःख प्राप्त होगा, ऐसी आशङ्का कर कुछ विशेष कहनेके लिए विषयका नाश होनेपर अज्ञानीको दुःखकी उत्पत्ति किस रीतिसे होती है, उसे बतलाते हैं— 'बद्धवासन०' इत्यादिसे ।

दृढ़ आसक्ति लेकर अज्ञानी पुरुष जिस अर्थका सेवन करता है वह उसे आपाततः सुख देता है । जो ऐसा अर्थ आपाततः सुखजनक होता है वह तत्क्षण ही नाशसे दुःखजनक भी हो जाता है । इस रीतिसे यह बात सिद्ध हो गई कि सुख और दुःख साथ-साथ ही चलते हैं ॥ १८ ॥

चतुर्थादि भूमिकाओंमें स्वल्प वासनासे युक्त हो या सप्तम भूमिकामें बिलकुल वासनारहित होकर जो पुरुष जिस अर्थका सेवन करता है वह अर्थ उस पुरुषके लिए न सुखजनक होता है और न नाशकालमें दुःखजनक ही होता है ॥ १९ ॥

हे अनघ, वासनानिर्मुक्त बुद्धिसे जो कर्म किया जाता है वह कर्म जले हुए बीजके सदृश रहता है वह फिर अङ्कुर पैदा नहीं करता ॥ २० ॥

हे प्रिय, देह, इन्द्रिय आदि भिन्न-भिन्न जो करण हैं उन्हींके द्वारा क

भावनां सर्वभावेभ्यः समुन्मृज्य समुत्थितः ।
शशाङ्कशीतलः पूर्णो भाति भासेव भास्करः ॥ २२ ॥
क्रियमाणा कृता कर्मतूलश्रीर्देहशाल्मलेः ।
ज्ञानानिलसमुद्धूता प्रोड्डीय क्वाऽपि गच्छति ॥ २३ ॥
सर्वैव हि कला जन्तोरनभ्यासेन नश्यति ॥ २४ ॥
एषा ज्ञानकला त्वन्तः सकृज्जाता दिने दिने ।
वृद्धिमेति बलादेव सुक्षेत्रव्युप्तशालिवत् ॥ २५ ॥

एकः स्फुरत्यखिलवस्तुषु विश्वरूप
आत्मा सरस्सु जलधिष्विव तोयमच्छम् ।
संशान्तसङ्कलनभूरिकलापमेकं
सत्तांशमात्रमखिलं जगदङ्ग विद्धि ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे सप्तभूमिकाविभागो नाम विंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥१२०॥

किये जाते हैं । ऐसी स्थितिमें एक कर्ता और एक भोक्ताकी उपपत्ति कैसे हो सकती है यानी जो समुदाय कर्म करता है वह समुदाय ही उस कर्मफलका भोक्ता हो सकता है, असङ्ग अद्वितीय एक आत्मा नहीं ॥ २१ ॥

समस्त देह, इन्द्रिय आदि पदार्थोंसे अहन्ताध्यासको भलीभाँति हटाकर अलग हुआ चन्द्रके सदृश शीतल परिपूर्ण ज्ञानीपुरुष दीप्तिसे सूर्यके सदृश चमकने लग जाता है ॥ २२ ॥

देहरूपी सेमलके वृक्षसे की जा रही और की गई कर्मरूपी तूलश्री ज्ञानरूपी वायुसे कम्पित होकर न जाने उड़कर कहाँ चली जाती है ॥ २३ ॥

राजन्, जितने अज्ञानके अंश हैं, वे सब यदि बार-बार उनका परिशीलन न किया जाय तो, नष्ट हो जाते हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ २४ ॥

किन्तु यह जो ज्ञानकला है, वह यदि भीतर एकबार उत्पन्न हो जाय, तो उर्वरा भूमिमें बोये गये धानके सदृश बलपूर्वक दिनपर दिन बढ़ती ही जाती है, नष्ट नहीं होती ॥ २५ ॥

जैसे सरोवरोंमें या समुद्रमें तरङ्ग आदिके रूपमें केवल स्वच्छ जल ही जल

एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः

मनुरुवाच

यावद्विषयभोगाशा जीवाख्या तावदात्मनः ।
अविवेकेन सम्पन्ना साऽप्याशा हि न वस्तुतः ॥ १ ॥
विवेकवशतो याता क्षयमाशा यदा तदा ।
आत्मा जीवत्वमुत्सृज्य ब्रह्मतामेत्यनामयः ॥ २ ॥
ऊर्ध्वादधस्तथाऽधस्तात्पुनरूर्ध्वं व्रजंश्चिरम् ।
मा संसारारघट्टस्य चिन्तारज्ज्वां घटीभव ॥ ३ ॥

स्फुरित होता है, वैसे ही समस्त वस्तुओंमें विश्वरूप एक आत्मा ही स्फुरित होता है, दूसरा नहीं, अतः हे प्रिय, यह जो सारा संसार है, उसे तुम तत्त्वज्ञानसे अशेष सङ्कल्पोंसे रहित सत्यरूप अद्वितीय ब्रह्म ही जानो ॥ २६ ॥

एक सौ बीस सर्ग समाप्त

एक सौ इक्कीस सर्ग

[जिस भावनासे आकृष्ट होकर जीव संसारमें फँस जाता है और जिस भावनासे दूर होकर जीव संसारसे मुक्त हो जाता है उन दोनों भावनाओंका मनु महाराज द्वारा उत्तम निरूपण]

यदि आत्मा निरतिशयानन्दरूप ब्रह्म ही है, तब उसका जीवनाम कबतक रहता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'यावत्' इत्यादिसे ।

मनु महाराजने कहा—'हे राजन्, पुरुषको (आत्माको) जबतक विषय-भोगकी अभिलाषा बनी रहती है, तभीतक उसका जीवनाम रहता है। यह अभिलाषा भी अविवेकके कारण ही उसे होती है, वास्तवमें नहीं ॥ १ ॥

जब विवेकसे विषयभोगकी अभिलाषा नष्ट हो जाती है, तब आत्मा अपना जीवरूप छोड़कर निर्विकार होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥ २ ॥

एकमात्र भोगकी अभिलाषा ही जीवको स्वर्ग, नरक आदिमें खींच ले जाती है, अतः उसे छोड़ देना चाहिए, यों कहते हैं—'ऊर्ध्वाद्०' इत्यादिसे ।

इदं ममाऽहमस्येति व्यवहारघनभ्रमम् ।
ये मोहात्परिसेवन्ते अधस्ताद्यान्त्यधः शठाः ॥ ४ ॥
अस्याहमेष मे सोऽयमहमेवं तु यैः किल ।
मोहो बुद्ध्या परित्यक्त ऊर्ध्वादूर्ध्वं प्रयान्ति ते ॥ ५ ॥
स्वप्रकाशं स्वमात्मानमवलम्ब्याऽविलम्बितम् ।
आस्स्व संपूरिताकाशं जगन्ति नृप पश्य हे ॥ ६ ॥
यदैवैवं चितो रूपं ततं बुद्धमखण्डितम् ।
तदैव तीर्णः संसारः परमेश्वरतां गतः ॥ ७ ॥
ब्रह्मेन्द्रविष्णुवरुणा यद्यत्कर्तुं समुद्यताः ।
तदहं चिद्वपुः सर्वं करोमीत्येव भावयेत् ॥ ८ ॥

हे राजन्, कर्मवशसे ऊपरके लोकसे नीचेके लोकमें तथा नीचेके लोकसे ऊपरके लोकमें दीर्घ कालतक आवागमन कर रहे तुम संसाररूपी अरहट्टकी भोगचिन्तारूपी रज्जुमें घड़ेके सदृश फँस मत जाओ ॥ ३ ॥

चिन्ता रज्जुका विषयोंके साथ बन्धन बतलाते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

'ये पुत्र, कलत्र आदि मेरे हैं और मैं इन पुत्र, कलत्र आदिका हूँ' इस तरहके मोहसे व्यवहाररूपी दृढ़ भ्रमका जो शठ सेवन करते हैं, वे नीचेसे भी नीचेकी ओर जाते हैं ॥ ४ ॥

बन्धनका अनुवाद कर, उसके मूल कारण तादात्म्याध्यासको भी छुड़ा रहे मनु महाराज अध्यासत्यागका फल सर्वोत्कर्ष बतलाते हैं—'अस्या०' इत्यादिसे ।

'पुत्र, कलत्र आदिका मैं सम्बन्धी हूँ और पुत्र, कलत्र आदि परिवार मेरा सम्बन्धी है, मैं ऐसा हूँ' इस तरहका मोह जिन लोगोंने बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया है, वे महानुभाव ऊपरसे भी ऊपरकी ओर जाते हैं ॥ ५ ॥

हे नृप, अपने आप ही प्रकाशित हो रहे अपने स्वरूपका शीघ्र ही आश्रयण कर बैठ जाओ और समस्त जगत्को परिपूर्ण चिदाकाशरूप ही देखो ॥ ६ ॥

जिस समयमें ही तुम उस प्रकारके पूर्ण तथा अखण्डित चैतन्यात्माका स्वरूप जान जाओगे, उसी समय संसार तर जाओगे और परमेश्वररूप हो जाओगे ॥ ७ ॥

जीवात्मा जगत्का तो कर्ता है नहीं, फिर वह परमेश्वररूप कैसे बन जायगा ? इस शङ्कापर कहते हैं—'ब्रह्मेन्द्र०' इत्यादिसे ।

येषु येषु यदा यद्यद्दर्शनेषु निगद्यते ।
सर्वमेवाऽङ्ग तत्सत्यं चिद्विलासो ह्यनङ्कुशः ॥ ९ ॥
चिन्मात्रत्वं प्रयातस्य तीर्णमृत्योश्चेतसः ।
यो भवेत्परमानन्दः केनाऽसावुपमीयते ॥ १० ॥
नाप्यशून्यं न शून्यं च नाऽचिद्रूपं न चिन्मयम् ।
नाऽऽत्मरूपं नाऽन्यरूपं भुवनं भावयन्भव ॥ ११ ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु और वरुण जिस-जिस वस्तुका निर्माण करनेके लिए उद्यत हैं, उन सबका चिद्रूप मैं ही निर्माण करता हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए ॥ ८ ॥

ये जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब असत्य हैं, उनमें तत्त्ववित् पुरुष अपनी कर्तृताकी कैसे भावना करेगा, ऐसी यदि किसीको आशङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि जितनी कल्पनाएँ हैं, वे आत्माकी सत्यतासे सत्य हैं, इस आशयसे कहते हैं—'येषु' इत्यादिसे ।

जो-जो दर्शनशास्त्र हैं, चाहे वे वैदिक हों चाहे अवैदिक, उनमें जिस समय जिस-जिस मतका प्रतिपादन किया जाता है, हे पुत्र, वह सब सत्य ही है, क्योंकि चिद्-विलासपर किसी तरहका अङ्कुश नहीं है ॥ ९ ॥

संसारके पार हो जानेसे कौन-सा लाभ है, इसपर कहते हैं—'चिन्मात्रत्वम्' इत्यादिसे ।

जो पुरुष ब्रह्मचैतन्यस्वरूप बन गया है, अतएव जो संसाररूपी मृत्युसे पार हो चुका है और जिसका चित्त विलीन हो गया है, ऐसे महापुरुषको जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसकी उपमा किस आनन्दसे दी जा सकती है यानी उसकी उपमा हो ही नहीं सकती । निष्कर्ष यह हाथ लगा कि संसारके पार हो जानेसे पुरुषको निरुपम परमानन्दकी प्राप्ति उत्तम लाभ है ॥ १० ॥

ब्रह्मकी सत्यताको लेकर यदि आप जगत्को शून्यरूप नहीं मानते, तो द्वैतरूप आपत्ति आ जायगी । यदि 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतिके आधारपर जगत्को शून्यरूप मानते हैं, तो सबको पैदा करनेवाले परमेश्वरकी रूपता नहीं बन सकती । अपि च यदि जगत् चैतन्यका रूप नहीं है, तो चैतन्यका कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि नीरूपका कहींपर भी ज्ञान नहीं होता । यदि जगत्को चैतन्यका रूप मान लिया जाय, तो चैतन्य सविकार हो जायगा । अपि च जगत्

एतत्स्वरूपमासाद्य प्रकृतिः परिशाम्यति ।
न देशो मोक्षनामाऽस्ति न कालो नेतरा स्थितिः ॥१२॥
अहङ्कृतेर्विमोहस्य क्षयेणेयं विलीयते ।
प्रकृतिर्भावनानाम्नी मोक्षः स्यादेष एव सः ॥ १३ ॥
प्रशान्तशास्त्रार्थविचारचापलो
निवृत्तनानारसकाव्यकौतुकः ।
निरस्तनिःशेषविकल्पविप्लवः
समः सुखं तिष्ठति शाश्वतात्मकः ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकुमनुसंवादो नाम एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२१॥

—:*:—

आत्मरूप न माना जाय, तो असङ्ग आत्माके साथ उसका सम्बन्ध न हो सकने आत्माकी सत्ता और स्फूर्ति जगत्‌में हो नहीं सकेगी। यदि आत्मरूप मानें, जगत्‌का ज्ञानसे बाध नहीं हो सकेगा, इत्यादि दोषोंका—अनिर्वचनीयतावाद अवलम्बनकर—परिहार करते हैं—'नाप्य०' इत्यादिसे।

यह जगत् न तो अशून्यरूप है, न शून्यरूप है, न अचिद्रूप है, न चिद् है, न आत्मरूप है और न अनात्मरूप ही है, किन्तु अनिर्वचनीय है, यों भाव करते हुए तुम स्थित रहो ॥ ११ ॥

तब जगत् किस तरहसे शान्त हो जाता है, इसपर कहते हैं—'एत इत्यादिसे।

इस आत्माका पारमार्थिक स्वरूप प्राप्त कर यानी प्रत्यक्ष कर अवि शान्त हो जाती है। कोई मोक्षनामका न तो प्रदेश है, मोक्षनामका न क काल है और न कोई स्थिति ही मोक्ष नामवाली है ॥ १२ ॥

यह जो वासनारूपी प्रकृति (अविद्या) है, वह अहङ्काररूपी मोहके विनाश विलीन हो जाती है और यह अविद्याविलय ही प्रसिद्ध मोक्ष है ॥ १३ ॥

जब अविद्याका नाश हो जाता है, तब पुरुषकी स्थिति कैसी रहती इसपर कहते हैं—'प्रशान्त०' इत्यादिसे।

द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः

मनुरुवाच

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी च स सम्राडिव राजते ॥ १ ॥
वर्णधर्माश्रमाचारशास्त्रयन्त्रणयोज्झितः ।
निर्गच्छति जगज्जालात्पञ्जरादिव केसरी ॥ २ ॥

जब योगी पुरुषकी अविद्या नष्ट हो जाती है, तब उसकी नाना प्रकारके शास्त्रार्थोंके विचारकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है, काव्य, नाटक आदि विषयोंकी उत्कण्ठा नष्ट हो जाती है और उसके सारे विकल्पविभ्रम विलीन हो जाते हैं। वह केवल समभावमें निष्ठा रखकर ब्रह्मरूप होकर सुखपूर्वक अवस्थित रहता है ॥ १४ ॥

एक सौ इक्कीस सर्ग समाप्त

एक सौ बाईस सर्ग

[सुदृढ़ आत्मबोधसे सम्पन्न तथा तुरीयातीत पदमें स्थित जीवन्मुक्त यतिकी दिनचर्याका लक्षणोंसे मनु द्वारा वर्णन]

'निरस्तनिःशेषविकल्पविप्लवा' (उसके सारे विकल्पविभ्रम विलीन हो जाते हैं।) इत्यादिसे जो योगीकी स्थिति कही गई है, उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'येन केनचिदा०' इत्यादिसे ।

मनुने कहा—जिस किसी पुरुषके द्वारा वस्त्रोंसे ढक दिया गया, जिस किसी पुरुषके द्वारा खिला दिया गया तथा जहाँ-कहीं सो जानेवाला योगी, सम्राट्की नाईं,* सुशोभित होता है ॥ १ ॥

उसके अर्थसिद्ध विद्वत्संन्यासका वर्णन करते हैं—'वर्ण०' इत्यादिसे ।

---

* सम्राट्की नाईं यानी मनुष्योंके आनन्दकी परमावधिमें पहुँचे हुए राजाकी नाईं। यह उपमा अज्ञानियोंकी दृष्टिसे दी गई है, तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिसे तो उस तरहके जीवन्मुक्त यतिके आनन्दकी उपमा ही नहीं है; क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतिसे हिरण्यगर्भके आनन्दतक विषयानन्दरूपी जलबिन्दुओंका महासागर बतलाकर उस परमानन्दकी कोई सीमा है ही नहीं, यह प्रतिपादन किया गया है ।

वाचामतीतविषयो विषयाशादशोज्झितः ।
काममभ्युपगतः शोभां शरदीव नभस्तलम् ॥ ३ ॥
गम्भीरश्च प्रसन्नश्च गिराविव महाह्रदः ।
परानन्दरसाक्षुब्धो रमते स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ४ ॥
सर्वकर्मफलत्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
न पुण्येन न पापेन लिप्यते नेतरेण च ॥ ५ ॥
स्फटिकः प्रतिबिम्बेन यथाऽऽयाति न रञ्जनम् ।
तज्ज्ञः कर्मफलेनाऽन्तस्तथा नाऽऽयाति रञ्जनम् ॥ ६ ॥
विहरञ्जनतावृन्दे देहकर्तनपूजनैः ।
खेदाह्लादौ न जानाति प्रतिबिम्बगतैरिव ॥ ७ ॥

वर्णों एवं आश्रमोंके धर्मों तथा आचारोंसे रहित और शास्त्रोंके नियमनसे वर्जित वह संन्यासी जगज्जालसे यानी ऐहिक और पारलौकिक क्रियाओंके कर्तृत्वकी तथा उनके फलभोक्तृत्वकी वासनाओंसे, पिंजड़ेसे सिंहकी नाईं, निकल जाता है ॥ २ ॥

एकमात्र निरतिशयानन्दके अनुभवका विषय यानी निरतिशयानन्दरूप अतएव विषयाशादशाओंसे निर्मुक्त यानी अत्यन्त विरक्त हुआ पुरुष, शरत्-कालमें आकाशकी नाईं, किसी निरुपाधिक शोभाको प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

पर्वतके ऊपर स्थित महाह्रदकी तरह गम्भीर और प्रसन्न तथा निरन्तर परानन्दके आस्वादनसे च्युत न हुआ योगी अपनी आत्मामें ही अपने स्वरूपसे रमण करता रहता है ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करनेवाला नित्यतृप्त और निराश्रय वह योगी पुरुष न तो पुण्यसे, न पापसे और न हर्ष-विषाद आदिसे ही लिप्त होता है ॥ ५ ॥

जैसे स्फटिक मणि किसी प्रतिबिम्बभूत नील, पीत आदि द्रव्यविशेषसे रंजनको प्राप्त नहीं होता यानी प्रतिबिम्बभूत किसी द्रव्यके रंगको धारण नहीं करता वैसे ही ब्रह्मज्ञानी भी कर्मफलसे अपने अन्तःकरणमें किसीके रंगको धारण नहीं करता ॥ ६ ॥

उसीको स्पष्ट बतलाते हैं—'विहरन्०' इत्यादिसे ।

भिन्न-भिन्न जातिके जनसमूहके व्यूहमें विहार कर रहा, भेद और अभिमानसे

निःस्तोत्रो निर्विकारश्च पूज्यपूजाविवर्जितः ।
संयुक्तश्च वियुक्तश्च सर्वाचारनयक्रमैः ॥ ८ ॥
तस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च सः ।
रागद्वेषभयानन्दैस्त्यज्यतेऽपि च युज्यते ॥ ९ ॥
प्रमेये कस्यचिदपि न रोहति महाशयः ।
प्रमेयीक्रियते चापि बालेनाप्यदुराशयः ॥ १० ॥
तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽपि वा ।
मा कदाचन वा राजन्वर्तमानेऽपि वा क्षणे ॥
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥ ११ ॥

रहित ब्रह्मज्ञानी, प्रतिबिम्बिमें किये गये छेदन पूजनकी नाईं, अपनी देहके छेदन और गन्ध-पुष्प आदिके द्वारा पूजनसे खेद और आह्लादको नहीं जानता। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानी देहके छेदनसे किसी तरहके खेदका या गन्धादिके द्वारा पूजनसे किसी तरहके आह्लादका अनुभव नहीं करता, कारण कि वह छेदन और पूजन दोनोंको देहके प्रतिबिम्बके समान मिथ्या समझता है ॥ ७ ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुष पूजित होनेपर भी पूजा करनेवालेकी स्तुति नहीं करता तथा पूजासे रहित हुआ भी वह किसी तरहके विकारको प्राप्त नहीं होता। वह सम्पूर्ण आचारों और सब नीतियोंके क्रमोंसे कभी संयुक्त और कभी वियुक्त रहता है ॥ ८ ॥

उस ब्रह्मज्ञानी पुरुषसे संसार उद्वेजित नहीं होता—भय नहीं करता और न वही संसारसे उद्वेजित होता है। राग-द्वेषके कारण विषयोंसे उत्पन्न भय और आनन्दसे वह कदाचित् प्रबल प्रारब्ध रहनेके कारण संयुक्त और वियुक्त भी रहता है ॥ ९ ॥

वह महान् आशयवाला ब्रह्मज्ञानी कुशलबुद्धि पुरुषके भी प्रमितिविषयमें स्वयं अन्तर्भूत नहीं होता अर्थात् बड़े-बड़े तीक्ष्ण बुद्धिवाले पुरुष भी तत्त्वतः उस ब्रह्मज्ञानीकी इयत्ता जान नहीं सकते। किन्तु व्यवहारतः तो एक छोटा बच्चा भी उसे प्रमितिका विषय बना डालता है यानी थोड़ेसे भी अनुवर्तनसे उसको अपने वशमें कर डालता है। इसमें कारण यह है कि शुद्धचित्त होनेके कारण वह ब्रह्मवित् अत्यन्त सरल है ॥ १० ॥

ज्ञानकालमें ही मुक्ति तथा देहादिका बाध हो जानेसे ज्ञानीको फिर मुक्तिके लिए

अहंभ्रान्तिर्हि बन्धाय मोक्षो ज्ञानेन तत्क्षयः ॥ १२ ॥
स पूजनीयः स स्तुत्यो नमस्कार्यः स यत्नतः ।
स निरीक्ष्योऽभिवाद्यश्च विभूतिविभवैषिणा ॥ १३ ॥

न यज्ञतीर्थैर्न तपःप्रदानै-
रासाद्यते तत्परमं पवित्रम् ।
आसाद्यते क्षीणभवामयानां
भक्त्या सतामात्मविदां यदङ्ग ॥ १४ ॥

किसी तीर्थ आदिकी या देह-त्यागकी चिन्ता ही नहीं रहती, यह कहते हैं—'तनुम्' इत्यादिसे ।

हे राजन्, वह ज्ञानी पुरुष अपने शरीरका किसी पुण्य तीर्थमें त्याग कर दे या किसी चाण्डालके घरमें भी जाकर त्याग कर दे अथवा कभी भी शरीरका त्याग न करे या वर्तमान क्षणमें ही त्याग कर दे, फिर भी वह अन्तःकरणशून्य पुरुष ज्ञानप्राप्तिकालमें पहले ही मुक्त और विदेह हो चुका है ॥ ११ ॥

उसके उपपादनके लिए बन्ध और मोक्षका स्वरूप कहते हैं—'अहं-भ्रान्तिर्हि' इत्यादिसे ।

क्योंकि अहङ्कारकी भ्रान्ति सांसारिक बन्धनके लिए है यानी अहंभ्रान्ति बन्ध है और ज्ञानसे अहङ्कारका नाश मोक्ष है ॥ १२ ॥

विभूति और वैभव चाहनेवाले पुरुषको यत्नपूर्वक उस ब्रह्मज्ञानीकी पूजा, स्तुति, नमस्कार, दर्शन और अभिवादन करना चाहिए ॥ १३ ॥

उस जीवन्मुक्त ज्ञानीका पूजन ही परम पुरुषार्थ दिखानेवाले ज्ञानमें हेतु भी है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

हे प्रिय पुत्र, जिनके सांसारिक रोग क्षीण हो गये हैं ऐसे जीवन्मुक्त सज्जनोंके पूजनसे जो परम पवित्र पद ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जाता है वह न तो यज्ञों और तीर्थोंसे प्राप्त किया जाता है एवं न तपस्याओं तथा दानोंसे ही प्राप्त किया जाता है ॥ १४ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान्मनुर्ब्रह्मगृहं ययौ ।
इक्ष्वाकुरपि तां दृष्टिमवष्टभ्य स्थिरोऽभवत् ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकु-मनुसंवादे इक्ष्वाकुप्रबोधनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२२॥



त्रयोविंशत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते हि भगवञ्जीवन्मुक्तस्य सन्मतेः ।
अपूर्वोऽतिशयः कोऽसौ भवत्यात्मविदांवर ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

ज्ञस्य कस्मिंश्चिदेवांशे भवत्यतिशयेन धीः ।
नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा स आत्मन्येव तिष्ठति ॥ २ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यों कहकर मनुभगवान् मेरु शिखरके ऊपर चले गये और इक्ष्वाकु भी उस दृष्टिका अवलम्बन कर स्थिर हो गये ॥ १५ ॥

एक सौ बाईस सर्ग समाप्त



एक सौ तेईस सर्ग

[अज्ञानी अन्य सिद्धोंकी अपेक्षा ज्ञानीके परिपूर्ण होनेसे उसको आकाशगमन और अणिमादि सिद्धियोंमें इच्छा ही नहीं होती, इस विशेष बातका वर्णन]

कहे गये लक्षणोंवाले जीवन्मुक्त पुरुषमें मणि, मन्त्र आदिके द्वारा सिद्ध हुए पुरुषोंकी नाईं आकाशगमन आदि सिद्धिरूप भी कोई विशेष है या नहीं इस तरहके सन्देहसे युक्त श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवन्, जैसा कि आपने जीवन्मुक्तोंके लक्षणोंका वर्णन किया है वैसा ही यदि है, तो आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषमें [अन्य सिद्धोंकी अपेक्षा] कौन-सा विशेष रहता है ? ॥ १ ॥

उस जीवन्मुक्त पुरुषमें अन्य सिद्धों द्वारा अनुभूत न होनेवाला निरतिशया-

मन्त्रसिद्धैस्तपःसिद्धैस्तन्त्रसिद्धैश्च भूरिशः ।
कृतमाकाशयानादि का तत्र स्यादपूर्वता ॥ ३ ॥
अणिमाद्यपि सम्प्राप्तं तादृशैरेव भूरिशः ।
यत्नेन साधितत्वात्तैर्नेतरेणाऽऽत्मदर्शिना ॥ ४ ॥
एष एव विशेषोऽस्य न समो मूढबुद्धिभिः ।
सर्वत्रास्थापरित्यागान्नीरागममलं मनः ।
भवेत्तस्य महाबुद्धेर्नासौ वस्तुषु मज्जति ॥ ५ ॥

नन्दका अनुभव ही विशेष है, इस आशयसे उत्तर देते हैं—'ब्रह्मस्य' इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुषकी बुद्धि अन्यसिद्धोंके अगम्य विषयमें (परमात्मतत्त्वांशमें ही) दृढ़रूपसे जम जाती है, यही कारण है कि नित्यतृप्त शान्तचित्त होकर वह अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है और कुछ नहीं चाहता ॥ २ ॥

मन्त्रसिद्धि आदिसे सिद्ध हुए पुरुषोंके रूपसे भी मैं ही अवस्थित हूँ, इस तरहकी सर्वात्मबुद्धि होनेके कारण उन सिद्धों द्वारा प्राप्त आकाशगमन आदि सिद्धियोंकी भी ज्ञानीने प्राप्ति कर ही ली है, इसलिए उन सिद्धियोंमें उसे कुछ भी अपूर्वता प्रतीत नहीं होती, यह कहते हैं—'मन्त्रसिद्धैः' इत्यादिसे ।

मन्त्रकी सिद्धिसे, तपकी सिद्धिसे एवं तन्त्रकी सिद्धिसे युक्त सिद्धोंके द्वारा प्राप्त की गई जो नानाविध आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं उनमें सर्वात्मभाव रखनेवाले ज्ञानीके लिए कौन-सी अपूर्व बात है ॥ ३ ॥

यदि अणिमा आदि सिद्धियोंको दूसरे प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए उनमें अपूर्व शब्दका अर्थ (अनन्यप्राप्तत्व) भी घटता है, तथापि अनेक मन्त्रसिद्ध आदि पुरुषों द्वारा उनकी प्राप्ति की गई है; इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है, यह कहते हैं—'अणिमाद्यपि' इत्यादिसे ।

मन्त्रसिद्धि आदिसे युक्त उन्हीं नानाविध सिद्धोंने प्रयत्नपूर्वक साधन कर जिन अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति की है उन सिद्धियोंकी भी आत्मज्ञानी विद्वान्‌ने अनायास ही प्राप्ति कर ली है, इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है ॥४॥

तब तत्त्ववित् पुरुषमें सिद्धोंकी अपेक्षा विशेष क्या है, इस प्रश्नपर कहते हैं—'एष' इत्यादिसे ।

यही इसमें विशेष है कि यह मूढ़बुद्धि पुरुषोंके समान नहीं रहता यानी

एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्तेः
संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य ।
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह-
लोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम् ॥ ६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अज्ञादेर्ज्ञस्य विशेषकथनं नाम त्रयोविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२३॥



चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्रो दुरीहया ।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञान ही इसमें विशेष है । इस प्रसिद्ध महाबुद्धिका मन सर्वत्र बाह्य वस्तुओंमें आसक्तिके परित्यागसे निरन्तर रागशून्य तथा निर्मल ही बना रहता है और यह ज्ञानी पुरुष कभी भी भोग्य विषयोंमें नहीं फँसता ॥ ५ ॥

रागशून्य होनेसे जो फल होते हैं उनका तत्त्वज्ञानीके लक्षणोंके रूपमें वर्णन करते हुए महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं—'एतावदेव' इत्यादिसे ।

जिसका स्वरूप समस्त धर्मोंसे रहित ब्रह्मचैतन्य बन गया है तथा तत्त्वज्ञानसे दीर्घकालिक सांसारिक भ्रमकी निवृत्ति हो जानेके कारण जो विश्रान्त हो चुका है ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषका इतना ही लक्षण है कि उसमें काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ आदि आपत्तियोंका प्रतिदिन अत्यन्त अपक्षय ही रहता है ॥ ६ ॥

एक सौ तेईस सर्ग समाप्त

एक सौ चौबीस सर्ग

[जीवोंकी निष्कारणता, रागसे बद्धता तथा अवस्था आदिका वर्णन]

दूसरी सिद्धियोंकी अपेक्षा आत्मज्ञानका उत्कर्ष इसलिए है कि वह नित्य निरतिशयानन्दानुभवरूप है और प्रत्यगात्माकी निरतिशयानन्दरूपता इसलिए

भूतानि द्विविधान्येव प्रतिसर्गं स्फुरन्ति वै ।
आद्यविस्पन्दजातानि तानि निष्कारणानि वै ॥ २ ॥
ईश्वरात्समुपागत्य पुनर्जन्मान्तराणि च ।
भूतान्यनुभवन्त्यङ्ग स्वकृतैरेव कर्मभिः ॥ ३ ॥

है कि वह ब्रह्मरूप है, इस बातको युक्तिपूर्वक सिद्ध करनेके लिए ब्रह्म ही अपने स्वरूपकी उपेक्षासे जीवरूपको प्राप्त करता है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ;

महाराज वसिष्ठजीने कहा— हे श्रीरामभद्र, जैसे कोई ब्राह्मण नीच स्त्रीकी अपेक्षाकर अपने स्वभावसिद्ध सात्त्विक ब्राह्मणधर्मका धीरे-धीरे उल्लङ्घन कर दीर्घकालके बाद नीचरूपताका अङ्गीकार करता है वैसे ही परब्रह्म परमात्मा भी बुद्धि आदिके सङ्गसे बुद्धिजनित भोगकी इच्छासे अपने नित्यसिद्ध पूर्णानन्द स्वभावका उल्लङ्घन कर जीवरूपताका अङ्गीकार करता है ॥ १ ॥

प्रत्येक सृष्टिमें दो तरहके (उपाधिकी प्रधानतासे भोग्य और उपहितकी प्रधानतासे भोक्ता—यों दो तरहके) पदार्थ आविर्भूत होते हैं । वे दोनों तरहके पदार्थ मायामें रहनेवाले अनादि दो तरहकी संस्कारपरम्पराका अनुसरण कर रहे हिरण्यगर्भके प्रथम स्पन्दसे उत्पन्न होते हैं और मिथ्यारूप होनेके कारण वे किसी प्रकारकी असली सामग्रीकी अपेक्षा नहीं करते । ठीक ही है कि स्वप्नके घट आदि पदार्थ दण्ड, चक्र आदि सामग्रीकी अपनी उत्पत्तिमें अपेक्षा नहीं रखते ॥ २ ॥

श्रुतियोंमें जन्म और कर्मका, बीजाङ्कुरके सदृश, अनादि परस्पर कार्यकारणभाव बतलाया गया है । ऐसी परिस्थितिमें कर्मशून्य ईश्वरका जीवरूपसे प्रथम सृष्टिमें प्रादुर्भाव कैसे होता है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'ईश्वरात्' इत्यादिसे ।

हे प्रिय, उपहित चैतन्यके द्वारा सम्पादित कर्मोंसे ही प्राणी ईश्वरसे निकल कर भिन्न-भिन्न अनेक तरहके जन्मोंका अनुभव करते हैं । निष्कर्ष यह निकला कि ईश्वरको जीवरूप बननेमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु जीवरूप बन जानेके बाद शरीर आदिके उत्पादनमें पूर्व-पूर्व देह आदिसे जनित कर्मोंकी अपेक्षा होती है । जलमें प्रतिबिम्ब पड़नेमें सूर्यको चलनादि क्रियाकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु सूर्य प्रतिबिम्बको भिन्न-भिन्न तरङ्गोंमें संक्रान्त होनेके लिए या तत्-तत् तरङ्ग आदि गत प्रतिबिम्बके विकारका अनुभव

कार्यकारणभावोऽयमीदृशो जन्मकर्मणोः ।
अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात्पदात् ॥ ४ ॥
पश्चात्तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः ।
आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः सङ्कल्पः कर्मकारणम् ॥ ५ ॥
सङ्कल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ।
मोक्षस्तु निःसङ्कल्पित्वं तदभ्यासपरो भव ॥ ६ ॥
सावधानो भव त्वं च ग्राह्यग्राहकसम्भ्रमे ।
अजस्रमेव सङ्कल्पदशाः परिहरञ्छनैः ॥ ७ ॥
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ ८ ॥

करनेके लिए उपाधिक्रियाकी अपेक्षा होती है, यह नियम है। इसी नियमके अनुसार ईश्वरको प्रकृतमें कर्मकी अपेक्षा नहीं होती ॥ ३ ॥

उसीको स्पष्ट रूपसे कहते हैं—'कार्यकारण०' इत्यादिसे।

जन्म और कर्मका परस्पर यह कार्यकारणभाव इसी तरहका है। समस्त जीव परमपिता परमात्मासे निष्कारण ही चले आ रहे हैं ॥ ४ ॥

परमपिता परमात्मासे निकलनेके बाद उन जीवोंके अपने-अपने जो कर्म हैं वे सुख और दुःखके कारण होते हैं तथा अपने-अपने ज्ञानके अनुसार उत्पन्न हुआ जो सङ्कल्प और विकल्प रहता है वही दुःखादिजनक कर्मोंका कारण होता है ॥ ५ ॥

भद्र, चूँकि इस संसाररूपी बन्धनका एकमात्र सङ्कल्प ही कारण है, इसलिए आप उसका परित्याग कर दीजिये। और चूँकि सङ्कल्पका अभाव ही मोक्ष है, इसलिए आप सङ्कल्पविनाशके अभ्यासमें तत्पर हो जाइये ॥ ६ ॥

श्रीरामजी, धीरे-धीरे निरन्तर सङ्कल्प-विकल्पकी अवस्थाओंका परिहार करते हुए आप विषय और इन्द्रियोंके विभ्रमोंसे सावधान हो जाइये, क्योंकि विषय और इन्द्रियोंका विभ्रम होनेपर ही किसीमें अनुकूलता और किसीमें प्रतिकूलता समझ कर प्रवृत्ति और निवृत्तिका सङ्कल्प हुआ करता है तथा फिर पुरुष विषय-बन्धनोंमें फँस जाता है, इसलिए सङ्कल्पकी जड़ खोदनेमें सावधान होना परम-आवश्यक है ॥ ७ ॥

राघव, न तो आप अपनेको ग्राह्य विषयरूप समझिये और न ग्राहक इन्द्रिय

अजस्रं यं यमेवार्थं पतत्यक्षगणोऽनघ ।
बद्ध्यते तत्र रागेण तत्राऽरागेण मुच्यते ॥ ९ ॥
किञ्चिद्यद्रोचते तुभ्यं तद्बद्धोऽसि भवस्थितौ ।
न किञ्चिद्रोचते चित्ते तन्मुक्तोऽसि भवस्थितौ ॥ १० ॥
तस्मात्पदार्थनिचयात्सह स्थावरजङ्गमात् ।
तृणादेर्देवकायान्तात्मा किञ्चिन्न रोचताम् ॥ ११ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि तत्र मुक्तमतिः शमी ॥ १२ ॥

आदि रूप ही समझिये । आप समस्त विषयोंकी चिन्ताका परित्याग कर परम सीमामें विद्यमान रहनेवाला जो साक्षी स्वरूप है तद्रूप बन जाइये ॥ ८ ॥

यदि असावधानी रखेंगे, तो अनुकूल विषयमें प्रीति अवश्य होगी; इस बातको दर्शाते हुए महाराज वसिष्ठजी वैराग्यके अभ्यासकी भी आवश्यकता बतलाते हैं—'अजस्रम्'-इत्यादिसे ।

हे निष्पाप रामभद्र, जो इन्द्रियोंका समुदाय है वह जिस-जिस अर्थकी ओर निरन्तर दौड़ता है उस-उस अर्थमें राग द्वारा बद्ध हो जाता है, इसलिए उन-उन अर्थोंमें राग न करनेवाला पुरुष ही मुक्त होता है ॥ ९ ॥

राग और विरागका अलग-अलग स्वरूप बतलाते हुए उनसे क्रमशः बन्ध और मोक्ष होता है, यह बतलाते हैं—'किञ्चित्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, इस संसारस्थितिमें यदि आपको कोई चीज अच्छी लगती है, तो आप बद्ध हैं और यदि आपको अपने चित्तमें कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है, तो आप मुक्त हैं, यह जान लीजिये ॥ १० ॥

इसलिए हे रामभद्र, तुच्छातितुच्छ तृणसे लेकर उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट हिरण्यगर्भ-शरीरतकके जितने स्थावर-जङ्गमरूप पदार्थ हैं उनमेंसे कोई भी आपको रुचिकर न हो ॥ ११ ॥

यह मान लिया कि उत्तम वैराग्यसे भोक्तृत्वजनित बन्धके ऊपर मनुष्य विजय पा सकता है, तथापि जीवित पुरुष स्नान-भोजन आदि क्रियाओंका किसी तरह परित्याग नहीं कर सकता । ऐसी परिस्थितिमें स्नान आदि क्रियाओंसे जनित बन्धन तो रहेगा ही, इस प्रश्नपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

सन्तोऽतीतं न शोचन्ति भविष्यच्चिन्तयन्ति नो ।
वर्तमानं च गृह्णन्ति कर्म प्राप्तमखण्डितम् ॥ १३ ॥
मनसि ग्रथिता भावास्तृष्णामोहमदादयः ।
मनसैव मनो रामच्छेदनीयं विजानता ॥ १४ ॥
विवेकेनाऽतितीक्ष्णेन बलादय इवाऽयसा ।
मनसैव मनश्छिन्धि सर्वभ्रमस्य शान्तये ॥ १५ ॥
क्षालयन्ति मलेनैव मलं क्षालनकोविदाः ।
वारयन्त्यस्त्रमस्त्रेण विषं प्रतिविषेण च ॥ १६ ॥

जो कुछ आप करते हैं, जो कुछ आप खाते हैं, जो कुछ होमते हैं, जो कुछ देते हैं; उन सब क्रियाओंमें जितेन्द्रिय और कूटस्थ-आत्मामें प्रविष्टमति हो जानेपर न आप कर्ता होते हैं और न भोक्ता ही होते हैं ॥ १२ ॥

इष्ट वस्तुके वियोगसे अनिष्टकी संभावना है और उससे उत्पन्न शोकसे बन्धनकी प्राप्ति—यों आशङ्का कर कहते हैं—'सन्तः' इत्यादिसे ।

जो उत्तम पुरुष हैं वे न तो गयी-गुजरी वस्तुके विषयमें शोक करते हैं और न भविष्यके विषयमें चिन्ता ही करते हैं । वे तो वर्तमानकालमें जो कुछ कर्म प्राप्त हो जाता है उसीका यथावत् अङ्गीकार कर लेते हैं ॥ १३ ॥

सब बन्धनोंपर विजय पानेके लिए एकमात्र मनपर विजय पाना ही उपाय है और मनपर विजय मनसे ही हो सकती है, यह कहते हैं—'मनसि' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तृष्णा, मोह, मद आदि जितने हेय भाव हैं वे सब मनमें ही गुथे हुए रहते हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको अपने मनसे ही मनको कुचल देना चाहिए ॥ १४ ॥

जिस उपायके द्वारा मनसे मनके ऊपर विजय पायी जाती है उस उपायको कहते हैं—'विवेकेना०' इत्यादिसे ।

जैसे अति तीक्ष्ण लोहेसे लोहा काटा जाता है वैसे ही सब भ्रमोंकी शान्तिके लिए अतितीक्ष्ण विवेकयुक्त मनसे दोषयुक्त मन काटा जाता है ॥ १५ ॥

मनसे मनपर विजय पानेमें प्राप्त आत्माश्रय दोषका वारण करते हैं—'क्षालयन्ति' इत्यादिसे ।

जीवस्य त्रीणि रूपाणि स्थूलसूक्ष्मपराणि च ।
तत्राऽस्य यत्परं रूपं तद्भज द्वे परित्यज ॥ १७ ॥
पाणिपादमयो योऽयं देहो भोगाय वल्गति ।
भोगार्थमेतज्जीवस्य रूपं स्थूलमिहाऽऽस्थितम् ॥ १८ ॥
स्वसङ्कल्पमयाकारं यावत्संसारभाति यत् ।
चित्तं तद्विद्धि जीवस्य रूपं रामाऽऽतिवाहिकम् ॥ १९ ॥
आद्यन्तरहितं सत्यं चिन्मात्रं निर्विकल्पकम् ।
यत्तद्विद्धि परं रूपं तृतीयं विश्वरूपकम् ॥ २० ॥
एतत्तुर्यपदं शुद्धमत्र बद्धपदो भव ।
संपरित्यज्य पूर्वे द्वे मा तत्राऽऽत्ममतिर्भव ॥ २१ ॥

मल हटानेका विज्ञान रखनेवाले विद्वान् लोग मलसे ही मलको धो डालते हैं, अस्त्रसे अस्त्रोंका वारण करते हैं और विषसे विषको दूर करते हैं ॥१६॥

जीव तो मनसे वेष्टित रहता है, उसमेंसे कितना अंश अलग करके मनसे काट देना चाहिए, यह बतलानेके लिए जीवके स्वरूपोंका विभाग करते हैं—'जीवस्य' इत्यादिसे ।

जीवके तीन रूप हैं—एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म और तीसरा पर । उनमेंसे इसका तीसरा जो पर रूप है उसका तो आप आश्रयण कीजिये और बाकी बचे दो रूपोंको मनसे काट दीजिये ॥ १७ ॥

उन्हीं रूपोंको दिखलाते हैं—'पाणि०' इत्यादिसे ।

हाथ-पैरवाला जो यह शरीर भोगके लिए निरन्तर लालायित रहता है वही यहाँ भोगार्थ इस जीवका स्थूल स्वरूप स्थित है ॥ १८ ॥

हे रामजी, सङ्कल्पप्रचुर रूप धारण करनेवाला तथा संसारस्थितितक रहनेवाला जो चित्त है उस चित्तको ही इस जीवका आतिवाहिक दूसरा रूप समझिये ॥१९॥

भद्र, आदि और अन्तसे निर्मुक्त, अबाधित, चैतन्यमात्र, समस्त विकल्पोंसे निर्मुक्त तथा समस्त विश्वका प्रकाश करनेवाला जो रूप है वही इसका तीसरा रूप है, यह आप जानिये ॥ २० ॥

हे राघव, यही परमपवित्र तुर्यपद है । इसीमें आप अपनी स्थिति बाँध लीजिये, पहलेके दो रूपोंका परित्यागकर उनमें आत्मबुद्धि मत कीजिये ॥२१॥

श्रीराम उवाच

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु स्थितं त्रिष्वप्यलक्षितम् ।
तुर्यं ब्रूहि विशेषेण विविच्य मुनिनायक ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ २३ ॥
या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः ।
साक्ष्यवस्था व्यवहृतौ सा तुर्यकलनोच्यते ॥ २४ ॥
नैतज्जाग्रन्न च स्वप्नं सङ्कल्पानामसम्भवात् ।
सुषुप्तभावो नाप्येतदभावाज्जडतास्थितेः ॥ २५ ॥

जाग्रत् और स्वप्नमें जीवके स्थूल और सूक्ष्म दो रूप प्रसिद्ध हैं ही। उनका परित्याग कर देनेपर भी तो जीवकी भलीभाँति परिशुद्धि नहीं हो सकती, इसलिए जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-- इन तीनों अवस्थाओंसे परेकी जिज्ञासा करते हुए श्रीरामजी पूछते हैं—'जाग्रत्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित (सङ्कीर्ण) अतएव स्पष्टरूपसे न देखा गया जो तुर्यरूप है उसे विशेषरूपसे खूब अच्छी तरह विचार करके कहिये ॥ २२ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे रामभद्र, अहंभाव तथा सत् और असत्का त्याग करके जो असक्त, सम और स्वच्छ स्वरूप स्थित रहता है वही तुर्यरूप है ॥ २३ ॥

जीवन्मुक्तोंमें जिसकी अन्तिम स्थिति है, जो स्वच्छ, समरूप और शान्त है, जो व्यवहारकालमें 'साक्षीकी अवस्था' प्रसिद्ध है वही तुर्यावस्था कही जाती है ॥ २४ ॥

जाग्रत् आदि अवस्थाओंसे उसके साङ्कर्यका निवारण करते हैं—'नैत०' इत्यादिसे ।

सङ्कल्पोंका अभाव रहनेसे यह अवस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और अज्ञानका अभाव रहनेसे यह न सुषुप्त ही है ॥ २५ ॥

शान्तसम्यक्प्रबुद्धानां यथास्थितमिदं जगत् ।
विलीनं तुर्यमेवाऽऽहुरबुद्धानां स्थिरं स्थितम् ॥ २६ ॥
अहङ्कारकलात्यागे समतायाः समुद्गते ।
विशरारौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ॥ २७ ॥
अथेमं शृणु दृष्टान्तं कथ्यमानं मयाऽधुना ।
प्रबुद्धोऽपि यथा बोधमुपैषि विबुधोपम ॥ २८ ॥
कस्मिंश्चित्काननाभोगे महामौनं व्यवस्थितम् ।
दृष्ट्वाऽद्भुतमिदं किञ्चिन्मुनिं पप्रच्छ लुब्धकः ।
पश्चादुपगतो बाणभिन्नं मृगमभिद्रुतम् ॥ २९ ॥
मुने मदीयबाणेन विद्धो मृग इहाऽऽगतः ।
क्व प्रयातो मृग इति प्रत्युवाच स तं मुनिः ॥ ३० ॥

अद्वितीय तुरीय अवस्था जाग्रदादि द्वैतकालमें जीवन्मुक्तोंको भी कैसे हो सकती है ? यदि ऐसी कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'शान्त०' इत्यादिसे ।

सामने दिखाई दे रहा यह जो जगत् है, उसकी ज्ञानसे हुई जो निवृत्ति है, उसीको शान्त एवं अच्छी तरह प्रबुद्ध हुए (ज्ञानी) पुरुषोंका तुर्यपद कहते हैं, यही संसार अप्रबुद्ध (अज्ञानी) पुरुषोंके लिए स्थिररूपसे अवस्थित है ॥ २६ ॥

अहङ्कारका त्याग होनेपर जब समताकी उत्पत्ति हो जाती है तब जलमें विलीन हुए नमकके टुकड़ेके समान चित्तके गल जानेपर तुर्यावस्था उपस्थित हो जाती है ॥ २७ ॥

हे देवोपम श्रीरामजी, इसके अनन्तर अब आप इस दृष्टान्तको सुनिये, जो मैं कह रहा हूँ, उससे प्रबुद्ध हुए भी आप और अधिक बोधको प्राप्त हो जायँगे ॥ २८ ॥

किसी एक विस्तृत घने जङ्गलमें महामौन धारण कर बैठे हुए किसी एक अद्भुत मुनिको देखकर बाणसे विद्ध अतएव भागे हुए मृगके पीछे दौड़े आ रहे एक व्याधने उस मुनिसे यह पूछा—॥ २९ ॥

हे मुने, मेरे बाणके द्वारा घायल हुआ एक मृग यहाँ आया था, वह कहाँ चला गया ? इस तरहका उस व्याधका प्रश्न सुनकर उस मुनिने उस व्याधको उत्तर दिया ॥ ३० ॥

समशीला वयं साधो मुनयो वनवासिनः ।
नाऽस्माकमस्त्यहङ्कारो व्यवहारेषु यः क्षमः ॥ ३१ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि करोति हि सखे मनः ।
अहङ्कारमयं तन्मे नूनं प्रगलितं चिरम् ॥ ३२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्या दशा वेद्मि न काश्चन ।
तुर्य एव हि तिष्ठेऽहं तत्र दृश्यं न विद्यते ॥ ३३ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा मुनिनाथस्य राघव ।
लुब्धकोऽर्थमविज्ञाय जगामाऽभिमतां दिशम् ॥ ३४ ॥
अतो वच्मि महाबाहो नास्ति तुर्येतरा दशा ।
निर्विकल्पा हि चित्तुर्यं तदेवाऽस्तीह नेतरत् ॥ ३५ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ।
घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचित्तमिहाऽऽस्थितम् ॥३६॥
घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम् ।
मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ॥ ३७ ॥

हे साधो, हम जङ्गलके निवासी मुनि सब समानशीलवाले होते हैं। व्यवहारोंमें समर्थ जो अहङ्कार रहता है वह हम लोगोंमें है नहीं ॥ ३१ ॥

हे सखे, सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य अकेला अहङ्काररूप मन ही करता है और वह मेरा मन निःसन्देह चिरकालसे बिलकुल गलित हो चुका है ॥ ३२ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त नामक किसी भी दशाको मैं नहीं जानता, एकमात्र उसी तुर्यपदमें मैं अवस्थित रहता हूँ, जहाँ दृश्य नहीं रहता ॥ ३३ ॥

हे राघव, उस मुनिश्रेष्ठका ऐसा वचन सुनकर वह बहेलिया उसके अर्थको न समझकर अपनी अभीष्ट दिशाकी ओर चला गया ॥ ३४ ॥

इसीलिए मैं कहता हूँ कि हे महाबाहो, तुर्यसे अन्य कोई दशा नहीं है। निर्विकल्पक चित् ही तुर्य है और वही यहाँपर विद्यमान है, अन्य कुछ नहीं ॥३५॥

क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त—ये ही तीनों चित्तके रूप हैं। [रज आदि गुणोंकी प्रधानतासे तीन विभाग करके तीन अवस्थाओंको दर्शाते हैं—'घोरम्' से] घोर, शान्त और मूढ़—यों तीन रूपसे अपना चित्त यहाँपर अवस्थित है ॥ ३६ ॥

जाग्रत् अवस्थाका चित्त घोर है, स्वप्नअवस्थाका चित्त शान्त है और

यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ।
तदेव योगिनः सर्वे यत्नात्सम्पादयन्ति हि ॥ ३८ ॥

समस्तसङ्कल्पविलासमुक्ते
तुर्ये पदे तिष्ठ निरामयात्मा ।
यत्र स्थिताः साधु सदैव मुक्ताः
प्रशान्तभेदा मुनयो महान्तः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे मृगव्याधीयं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥

———o———

सुषुप्त भावमें स्थित है मूढ़ चित्त । रज आदि तीन गुणोंवाली मायाका उच्छेद हो जानेपर इन तीनोंसे हीन हुआ चित्त मृत है ॥ ३७ ॥

योगियोंके अवशिष्ट प्रारब्धके भोगके लिए, भस्ममें शुक्लताकी नाईं, मृतचित्तमें केवल सत्त्वांश ही बच जाता है, रज और तमके अंशका तो लेश भी नहीं रहता, यह कहते हैं—'यच्च' इत्यादिसे ।

जो मृत चित्त है उसमें एकमात्र सत्त्व ही, भस्ममें शुक्लताकी नाईं, समरूपसे स्थित रहता है । इसीका समस्त योगी जन समाधिके अभ्याससे बड़े यत्नके साथ सम्पादन करते हैं—उपार्जन करते हैं, क्योंकि वैसे चित्तमें निर्मलता अधिक रहनेसे स्वात्मसुखका सदा ही आविर्भाव रहता है ॥ ३८ ॥

हे रामचन्द्रजी, समस्त सङ्कल्पोंके विलासोंसे मुक्त उस तुर्यपदमें अपनी सांसारिक आत्माको सब विकारोंसे शून्य बनाकर आप स्थित रहिये; जिसमें भलीभाँति स्थित रहकर अनेक बड़े-बड़े मुनिजन भेदको शान्त करके सदा ही मुक्त हो चुके हैं ॥ ३९ ॥

एक सौ चौबीस सर्ग समाप्त

पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि ।
नाविद्याऽस्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्रमम् ॥ १ ॥
शान्त एव चिदाभासे स्वच्छे समसमात्मनि ।
समग्रशक्तिखचिते ब्रह्मेति कलिताभिधे ॥ २ ॥

एक सौ पचीस सर्ग

[द्वैतके अपलापरूप तथा सिद्धान्तभूत तुर्यपदमें, जहाँ सभी वादियोंको भ्रम होता है, स्थिरताका उपायपूर्वक वर्णन]

आत्माको ले करके प्रवृत्त हुए श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि समस्त शास्त्रोंका परम सिद्धान्त सम्पूर्ण द्वैतका अपलाप करना ही है, वह द्वैत चाहे जीवका अविद्याके साथ अवस्थात्रयरूप हो, चाहे ईश्वरका मायाके साथ आकाश आदि प्रपञ्चरूप हो, न कि उनका सिद्धान्त वस्तुतत्त्वको प्रकाशित करना है; क्योंकि स्वप्रकाशस्वरूप आत्मवस्तुके स्वतःसिद्ध होनेसे उसकी सिद्धिके लिए किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता ही नहीं है, यही कहते हैं—'सिद्धान्तोऽ०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, समस्त द्वैतका अपलाप करना ही सकल अध्यात्म शास्त्रोंका परम सिद्धान्त है । यहाँ न तो अविद्या है और न माया ही है, किन्तु शास्त्रोंसे * जिसका परिज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा सम्पूर्ण उपद्रवोंसे रहित नित्य अपरोक्ष ब्रह्म ही है ॥ १ ॥

श्रुति आदिके सिद्धान्तोंका परिज्ञान न होनेसे ही अपनी बुद्धिके वैभवसे जगत्के मूलका अन्वेषण करनेवाले वादियोंकी—'ब्रह्म' शब्दसे वाच्य सम्पूर्ण शक्त्यात्मक मायाशबल ब्रह्मके विषयमें बुद्धिमें विचित्र दोष आ जानेके कारण अनेक तरहकी—कल्पनाएँ हुआ करती हैं, यह कहते हैं—'शान्त' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

---

* इसमें 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' यह श्रुति प्रमाण है । द्रविडाचार्यने भी इस विषयमें कहा है—'यद्यप्रमेयं ब्रह्म किमर्थं शास्त्रमिति चेत्, सिद्धं तु निवर्तकत्वात् ।'

निर्णीय केचिच्छून्यत्वं केचिद्विज्ञानमात्रताम् ।
केचिदीश्वररूपत्वं विवदन्ते परस्परम् ॥ ३ ॥
सर्वमेव परित्यज्य महामौनी भवाऽनघ ।
निर्वाणवाग्निर्मननः क्षीणचित्तः प्रशान्तधीः ।
आत्मन्येवाऽऽस्स्व शान्तात्मा मूकान्धबधिरोपमः ॥ ४ ॥
नित्यमन्तर्मुखो भूत्वा स्वात्मनाऽन्तः प्रपूर्णधीः ।
जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि राघव ॥ ५ ॥
अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथागतम् ॥ ६ ॥
चित्तसत्ता परं दुःखं चित्तासत्ता परं सुखम् ।
अतश्चित्तं चिदेकात्मा नय क्षयमवेदनात् ॥ ७ ॥

शान्त, चिदाभासरूप, स्वच्छ, सर्वत्र एकरूपसे विद्यमान तथा समग्र शक्तियोंसे समन्वित 'ब्रह्म' इस कल्पित नाममें ही अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार अनेक तरहके सिद्धान्तोंकी कल्पना करके कोई शून्य, कोई विज्ञानमात्र और कोई ईश्वररूप कहते हुए आपसमें विवाद किया करते हैं ॥ २,३ ॥

हे अनघ, मायापर्यन्त सभी इस दृश्य समूहका परित्याग करके मनके साथ-साथ सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारोंके उपरमसे महामौनी बन जाइये। तदनन्तर मननरहित, क्षीणचित्त और प्रशान्तबुद्धि होकर पूर्णानन्दरूप चिदात्मामें एकरूप होते हुए गूँगे, अन्धे और बधिरके सदृश शान्तात्मा बनकर आप अपने स्वरूपमें ही स्थित रहिये ॥ ४ ॥

हे राघव, अपने-आप नित्य अन्तर्मुख तथा अपने अन्दर पूर्णबुद्धि होकर पञ्चमादि भूमिकाओंको जीत लेनेके कारण जाग्रदवस्थामें स्थित होते हुए भी सुषुप्त-जैसे स्थित होकर आप कर्म करते चलिये ॥ ५ ॥

भीतरसे सबका परित्याग करते हुए आप बाहरसे प्रारब्ध-प्राप्त कार्योंको करते रहिये ॥ ६ ॥

चित्तकी सत्ता ही परम दुःख और चित्तकी असत्ता ही परमसुख है, इसलिए हे राघव, चिदेकरूप होते हुए आप प्रिय और अप्रियका अनुसन्धान न करके चित्तका नाश कर दीजिये ॥ ७

दृष्ट्वा रम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत्समम् ।
एतावताऽऽत्मयत्नेन जिता भवति संसृतिः ॥ ८ ॥

संवेदनीयं न सुखं नाऽसुखं न च मध्यमम् ।
एतावताऽऽत्मयत्नेन दुःखान्तोऽनन्त आप्यते ॥ ९ ॥

आपीनमण्डलशशाङ्कवदन्तरेव
श्रीमद्रसायनमयः सुखमेति तज्ज्ञः ।
विज्ञातसर्वभुवनत्रयवस्तुसारः
कुर्वन्न नाम कुरुते परमभ्युपेतः ॥ १० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे तुर्यैस्थैर्योपायकथनं नाम पञ्चविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२५॥

प्रिय और अप्रियका अनुसन्धान न करके यह जो कहा है, उसीको स्पष्ट करते हैं—'दृष्ट्वा' इत्यादिसे ।

रम्य या अरम्य वस्तुको देखकर पत्थरके समान समभावमें स्थित रहना चाहिए । बस, इतने ही अपने यत्नसे यह संसार जीत लिया जाता है ॥ ८ ॥

सुख-दुःख और इन दोनोंके साधनोंकी [संसार-सागरको पार कर जानेकी इच्छा रखनेवाले प्राणीको] कभी भी चिन्ता न करनी चाहिए । बस, इतने ही अपने यत्नसे अनन्त सुख प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

जिसने तीनों लोकोंकी सभी वस्तुओंके सारका ज्ञान कर लिया है अतएव जो चारों ओर स्वतः फैले हुए प्रकाशसे शोभायमान निरतिशय सुखस्वरूप तथा अमृतमय बन गया है, अतएव जो खूब परिपुष्ट हुए मण्डलवाले शशाङ्कके यानी पूर्णचन्द्रके सदृश हो गया है, ऐसा परमात्मस्वरूपको प्राप्त हुआ तत्त्वज्ञ अपने अन्दर जीवन्मुक्तिसुखको प्राप्त करता है । प्रारब्धप्राप्त कार्योंका बाहरसे सम्पादन करता हुआ भी वह भीतरसे कुछ नहीं करता ॥ १० ॥

एक सौ पचीस सर्ग समाप्त



षड्विंशत्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

सप्तानां योगभूमीनामभ्यासः क्रियते कथम् ।
कीदृशानि च चिह्नानि भूमिकां प्रति योगिनः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्रवृत्तश्च निवृत्तश्च भवति द्विविधः पुमान् ।
स्वर्गापवर्गोन्मुखयोः शृणु लक्षणमेतयोः ॥ २ ॥

एक सौ छब्बीस सर्ग

[योगभूमियोंका अभ्यासक्रम तथा लक्षण, मध्यमें मृत्यु हो जानेपर भोग एवं जन्मान्तरमें जय आदिका वर्णन]

'जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि राघव' (हे राघव, जाग्रत् कालमें ही सुषुप्तिमें स्थित-जैसे होकर आप सभी कर्म करते चलिए) इत्यादिसे चतुर्थ भूमिकामें आरूढ़ हुए रामजीको पञ्चमादि भूमिकाओंमें स्थिति सम्पादन करनेकी जो सलाह दी गई है, तदनुसार उन भूमिकाओंमें अपनी स्थिति बनानेकी इच्छा करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनेसे जीत ली गई या जीती जानेवाली भूमिकाओंका विभाग जाननेके लिए उनके लक्षण और अभ्यासक्रमको पूछते हैं—'सप्तानाम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, सातों भूमिकाओंका अभ्यास कैसे किया जाता है तथा प्रत्येक भूमिकामें योगीके चिह्न किस तरहके होते हैं ॥ १ ॥

पूछे गये भूमिकाओंके अभ्यासक्रमको कहनेकी इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी 'उसका अधिकारी प्रवृत्तिशास्त्रके अधिकारीसे भिन्न है, यों दिखलानेके लिए दोनों अधिकारियोंका विभाग करके उनके भिन्न-भिन्न लक्षण कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—'प्रवृत्तश्च' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे रामजी, वेदमार्गमें स्थित पुरुष दो तरहके होते हैं—एक प्रवृत्त और दूसरा निवृत्त। [प्रवृत्तिमार्गका पथिक स्वर्गकी अभिलाषा रखनेवाला तथा निवृत्तिमार्गका पथिक मोक्षका अभिलाषी होता है ।] स्वर्ग और अपवर्गकी ओर उन्मुख हुए इन दोनोंका लक्षण [मैं कहता हूँ,] आप सुनिये ॥ २ ॥

कियत्तन्नाम निर्वाणं वरं संसृतिरेव मे ।
इति कर्तव्यकर्ता यः स प्रवृत्त इति स्मृतः ॥ ३ ॥
चलार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवाप्रवेशवत् ।
अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान् ॥ ४ ॥

पहले रागादि दोषोंके कारण विपरीत बुद्धिवाले कर्मोंमें प्रवृत्त हुए पुरुषका लक्षण कहते हैं—**'कियत्तन्नाम०'** इत्यादिसे ।

जो सम्पूर्ण विषयोंसे शून्य है, वह प्रसिद्ध निर्वाण पदार्थ चीज ही क्या है ? तात्पर्य यह कि भोगोंमें प्रेम रखनेवाले पुरुष उसे कुछ नहीं समझते । थोड़े-बहुत उत्तम या अधम भोगोंसे सम्पन्न यह संसार ही मेरे लिए सबसे अच्छा है,* यों-निश्चयकर वेदप्रतिपादित नित्यनैमित्तिक काम्य कर्मोंको जो करता है वह पुरुष प्रवृत्त कहा गया है ॥ ३ ॥

निवृत्त पुरुषका लक्षण करनेकी इच्छा रखते हुए महाराज वसिष्ठजी निवृत्तिमें हेतुरूप विवेकका वर्णन करनेके लिए उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—**'चला०'** इत्यादिसे ।

जैसें लवणसागरमें स्थित बड़े कछुएकी गर्दन अनेक बार कण्ठके छेदमें प्रविष्ट होकर उससे बाहर निकलनेपर भी लवणसमुद्रके रसका ही आस्वाद लेती तथा उसीको सर्वश्रेष्ठ रस मानती हुई क्षीरसागरके रसको कुछ नहीं जान पाती, किन्तु प्रलयकालके समय क्षार और क्षीर दोनों सागरोंके एक जगह मिलनेका अवसर आनेपर उन दोनोंके उदररूपी छिद्रमें ग्रीवाका प्रवेश होनेपर क्षीरसागरके रसका आस्वाद लेकर 'क्षारसागरके रसकी अपेक्षा क्षीरसागरका रस कहीं अधिक स्वादयुक्त है'—यों विवेकसम्पन्न होकर वह ग्रीवा उस क्षीरसागरके रसमें ही आसक्त हो जाती है; वैसे ही जीव भी पहले विषयरसास्वादको ही सर्वश्रेष्ठ रसास्वाद मानता हुआ अनेक जन्मोंके बाद अन्तमें भाग्योदय होनेपर अध्यात्मशास्त्रके रसका आस्वाद लेकर विवेकी बनकर उसमें आसक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

---

* इस विषयमें एक बड़ी अच्छी उक्ति है, सुनिये—

'अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स वाञ्छति ।
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम ॥'

असारा बत संसारव्यवस्थाऽलं ममैनया ।
किं कर्मभिः पर्युषितैर्दिनं तैरेव नीयते ॥ ५ ॥
क्रियातिशयनिर्मुक्तं किं स्याद्विश्रमणं परम् ।
इति निश्चयवान्योऽन्तः स निवृत्त इति स्मृतः ॥ ६ ॥
कथं विरागवान् भूत्वा संसाराब्धिं तराम्यहम्
एवं विचारणपरो यदा भवति सन्मतिः ॥ ७ ॥
विरागमुपयात्यन्तर्भावनास्वनुवासरम् ।
क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ ८ ॥
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सति ।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥ ९ ॥

इसको किस तरहका विवेक उत्पन्न होता है, यह कहते हैं—'असारा' इत्यादिसे ।

अहो, संसारकी यह व्यवस्था बिलकुल असार है। इस व्यवस्थासे मुझे क्या मतलब है, अनुचित परिणामवाले इन कर्मोंसे ही मैं अपना दिन क्यों गँवाता हूँ ॥ ५ ॥

क्रियाजनित उत्पत्ति, प्राप्ति और विकृतिरूप संस्कारोंसे निर्मुक्त (कूटस्थ) परम विश्रान्तिका स्थान कौन हो सकता है ? यों विचारकर जो अपने अन्तःकरणमें 'मुझे इसका अवश्य सम्पादन करना चाहिए'—इस तरहके निश्चयसे युक्त रहता है वह पुरुष निवृत्त कहा गया है ॥ ६ ॥

निवृत्त पुरुषकी प्रथम भूमिकाप्राप्तिका क्रम कहते हैं—'कथम्' इत्यादिसे ।

मैं विरागी बनकर किस तरह संसारसागरको तैर जाऊँ, इस तरहके विचारमें तत्पर जब सद्बुद्धि प्राणी होता है ॥ ७ ॥

तब भोग और उसके साधनोंकी चिन्ताओंमें प्रतिदिन हृदयके अन्दर उसको नीरसता उत्पन्न होती है, चित्तशुद्धिके अनुकूल शौच, सत्सङ्ग, ईश्वरोपासना, जप आदिरूप क्रियाओंमें वह पुरुष संसक्त होता है और प्रतिदिन चित्तशुद्धिकी वृद्धिसे तृष्णाका क्षय हो जानेके कारण वह प्रसन्न होता है ॥ ८ ॥

ग्राम्य जड़ चेष्टाओंमें वह निरन्तर घृणा करने लग जाता है, दूसरोंके छिपे हुए दोषोंका वह उद्‌घाटन नहीं करता और स्वयं पुण्य कर्मोंका ही सेवन करता है ॥ ९ ॥

मनोऽनुद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते ।
पापाद्बिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ १० ॥
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च ।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ ११ ॥
तदाऽसौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम् ।
मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते ॥ १२ ॥
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते ।
एवं विचारवान्यः स्यात्संसारोत्तारणं प्रति ॥ १३ ॥
स भूमिकावानित्युक्तः शेषः स्वार्थ इति स्मृतः ।
विचारनाम्नीमितरामागतो योगभूमिकाम् ॥ १४ ॥

अपने तथा दूसरोंके मनमें उद्वेग न पहुँचानेवाले एवं थोड़े परिश्रमसे महाफलवाले यम, नियम आदि कर्मोंका वह सेवन करता है, पापसे सदा डरता है और भोगोंमें पाप अवश्य होनेके कारण वह उनकी कभी अभिलाषा नहीं करता ॥ १० ॥

वह स्नेह और प्रणयसे पूर्ण, कोमल, सत्य, प्रिय और हितकारक तथा देश और कालके उपयुक्त वचन बोलता है ॥ ११ ॥

इस तरहके गुणोंसे विशिष्ट पुरुष सच्छास्त्रश्रवणाधिकाररूप प्रथम भूमिकामें अवतरित होता है, यह कहते हैं—'तदाऽसौ' इत्यादिसे।

जिस समय पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त होता है उस समय वह पहली शुभेच्छा नामक एक भूमिकामें प्राप्त होता है तथा मन, कर्म एवं वाणीसे शान्ति, दान्ति, ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न सज्जन पुरुषोंकी सेवा करता है ॥ १२ ॥

जिस-किसी जगहसे उन सज्जनोंकी सेवाके अनुकूल धन आदि साधन जुटाकर उनकी सेवा करता हुआ वह उनके मुखसे ज्ञानदायक शास्त्रोंका यानी पुराणों एवं मोक्षधर्मका प्रतिपादन करनेवाली अध्यात्म-संहिताओंका श्रवण करता है। संसारसागरको तैर जानेके लिए इस तरहके विचारसे सम्पन्न जो पुरुष होता है ॥ १३ ॥

वह प्रथम भूमिकामें प्रविष्ट हुआ कहा गया है, किन्तु उक्त साधनचतुष्टय आदि सम्पत्तिसे जो हीन पुरुष है वह तो अध्यात्मशास्त्रोंके अवलोकनमें आसक्त

श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणाम् ।
मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्छ्रयते श्रेष्ठपण्डितान् ॥ १५ ॥
पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतश्रव्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ १६ ॥
मदाभिमानमात्सर्यमोहलोभातिशायिताम् ।
बहिरप्याश्रितामीषत्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ १७ ॥
इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवनात् ।
स रहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ १८ ॥

होता हुआ भी राग आदिके कारण अनधिकारी पुरुषको ठग-ठग कर उनके द्वारा प्राप्त धनादिसे अपना केवल पेट पालन करता है, इसलिए वह वञ्चक कहा गया है। इसके बाद अधिकारकी प्राप्ति होनेसे वह विचारनामक दूसरी योगभूमिकामें अवतीर्ण होता है ॥ १४ ॥

वहाँ वह क्या करता है, सो बतलाते हैं—'श्रुति०' इत्यादिसे।

उस समय वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्मोंमें तत्पर रहनेवालोंके मध्यमें अध्यात्म शास्त्रोंकी प्रशस्त व्याख्या करनेके कारण, जिन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है ऐसे श्रेष्ठ पण्डितोंका आश्रयण करता है अर्थात् श्रवण-मननादि विचारके लिए आत्मतत्त्वके अनुभव और उपदेशमें अत्यन्त कुशल होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ गुरुओंकी* शरणमें आता है ॥ १५ ॥

स्वयं व्याकरण आदि षडङ्गोंका अच्छा ज्ञाता होनेके कारण पदों तथा वाच्य-लक्ष्य आदिरूप उनके अर्थों एवं लक्षणा, व्यञ्जना आदि उनके विभागोंका जिसे खूब ज्ञान हो चुका है—ऐसा विवेकी शिष्य अपने गुरुके मुखसे अध्यात्मशास्त्रका श्रवण कर कार्य और अकार्यका विनिर्णय तत्त्वतः ऐसे जान लेता है, जैसे घरका मालिक अपना घर ॥ १६ ॥

लोकमर्यादाके अनुसार बाहर जो कुछ भी थोड़ी-सी आश्रित मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह और लोभकी अधिकता रहती है उसे भी वह उस तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप केंचुलको ॥ १७ ॥

यों पूर्वोक्त सद्वासनाओंसे वासित अन्तःकरणवाला वह पुरुष, जो कि दूसरी

---

* देखिये श्रुति—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' इत्यादि।

असंसङ्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम् ।
ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवाऽमलाम् ॥ १९ ॥
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलम् ।
तापसाश्रमविश्रामैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥ २० ॥
संसारनिन्दकैस्तद्वद्वैराग्यकरणक्रमैः ।
शिलाशय्यासमासीनो जरयत्यायुराततम् ॥ २१ ॥
वनवासविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
असङ्गसुखसौम्येन कालं नयति नीतिमान् ॥ २२ ॥
अभ्यासात्सानुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम् ।
जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ॥ २३ ॥

भूमिकामें पहुँच चुका है, शास्त्र, गुरु और सज्जनोंकी सेवासे पूर्णपरमतत्त्वको अच्छी तरह जान जाता है ॥ १८ ॥

इस तरह दूसरी भूमिकामें पहुँचे हुए पुरुषका तीसरी भूमिकामें प्रवेश बतलाते हैं—'असंसङ्गा०' इत्यादिसे ।

इसके अनन्तर असङ्गनामक अन्य तीसरी योग्य भूमिकामें वह पुरुष ऐसे प्रविष्ट होता है, जैसे कान्त अपनी कान्ताकी निर्मल पुष्पशय्यापर ॥ १९ ॥

अध्यात्मविषयक शास्त्रोंके आत्माद्वैतरूप वाक्यार्थमें ('अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यार्थमें) अपनी बुद्धिको निश्चलतापूर्वक स्थापित कर तपस्वियोंके आश्रमोंमें विश्रामोंसे, अध्यात्मशास्त्रोंकी कथाओंके क्रमोंसे तथा वैसे ही संसारकी निन्दा करनेवाले वैराग्यके साधनक्रमोंसे पत्थरकी चट्टानरूपी शय्यापर आसीन हो अपनी सारी आयु गँवाता है* ॥ २०, २१ ॥

चित्तके उपशमसे शोभित होनेवाले तथा असङ्गताके सुखसे सौम्य वनवासके विहारसे वह नीतिमान् अपने कालको बिताता है, क्योंकि गाँवमें रहनेपर अधिक विक्षेप होनेके कारण समाधिके अभ्यासका भलीभाँति निर्वाह नहीं हो सकता है ॥ २२ ॥

चित्तके प्रसन्न होनेपर व्युत्थानकालमें पूर्वकी दो भूमिकाओंके धर्मोंका अनुसरण भी अत्यन्त आवश्यक है, इसे दिखलाते हैं—'अभ्यासात्' इत्यादिसे ।

---

* ये दोनों श्लोक पूर्वभूमिकाओंके अनुवादरूप हैं ।

तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुधोऽनुभवति स्वयम् ।
द्विःप्रकारमसंसङ्गं तस्य भेदमिमं शृणु ॥ २४ ॥
द्विविधोऽयमसंसङ्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च ।
नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः ॥ २५ ॥
इत्यसञ्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ।
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव च ॥ २६ ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं कैवाऽत्र मम कर्तृता ।
भोगाभोगा महारोगाः सम्पदः परमापदः ॥ २७ ॥
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियः ।
कालः कवलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् ॥ २८ ॥

अध्यात्मविषयक सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा पुण्यकर्मोंके निमित्तसे जीवकी यह आत्मदृष्टि यथार्थ प्रफुल्लित होती है ॥ २३ ॥

'असङ्गताके सुखसे सौम्य' इस उक्तिकी विभागकर व्याख्या करते हैं—'तृतीयाम्' इत्यादिसे ।

तीसरी भूमिकामें पहुँचकर ज्ञानी पुरुष दो तरहके असंङ्गका स्वयं अनुभव करता है । हे श्रीरामजी, आप उसके इस भेदको सुनिये ॥ २४ ॥

यह असङ्ग दो तरहका है—एक सामान्य (पूर्व भूमिकाके समान साधारण) और दूसरा श्रेष्ठ । अपनी देहकी क्रियाओंका कर्ता तथा उन क्रियाओंके फलोंका भोक्ता मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं निष्क्रिय तथा नित्यतृप्त हूँ । दूसरोंकी क्रियाओं तथा उनके फलोंका भी मैं बाध्य और बाधक नहीं हूँ, क्योंकि मैं व्यापार-शून्य हूँ ॥ २५ ॥

इस तरहके निश्चयसे दृश्य पदार्थोंमें संसक्त न होना ही सामान्य असङ्ग कहा गया है । सुख या दुःख सब कुछ पूर्वकर्मसे निर्मित और ईश्वरके अधीन है । इसमें मेरी कर्तृता कैसी ? ये विस्तृत भोग (विषय) अन्तमें परितापी होनेके कारण महारोग हैं तथा ये सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं, क्योंकि इनके उपार्जन और रक्षणके लिए मनुष्योंको नाना प्रकारके क्लेश सहने पड़ते हैं । संयोग सब वियोगके लिए ही हैं और ये मानसिक चिन्ताएँ बुद्धिकी व्याधियाँ हैं, सब पदार्थोंको विनाशके गड्ढेमें ढकेल रहा काल तो उन्हें निगल

अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् ।
वाक्यार्थलग्नमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः ॥ २९ ॥
अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
वियोगेनाऽसतामन्तः प्रयोगेणाऽऽत्मसंविदाम् ॥ ३० ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन सन्तताभ्यासयोगतः ।
करामलकवद्वस्तुन्यागते स्फुटतां दृढम् ॥ ३१ ॥
संसाराम्बुनिधेः पारे सारे परमकारणे ।
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्कृतं मम ॥ ३२ ॥
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३३ ॥
यन्नान्तर्न बहिर्नाधो नोर्ध्वं नाऽऽशासु नाम्बरे ।
न पदार्थे नाऽपदार्थे न जडे न च चेतने ॥ ३४ ॥

जानेके लिए ही सदा प्रस्तुत रहता है। इस तरह अनास्था होनेसे 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थोंमें संलग्न चित्तवाले पुरुषकी सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो आन्तरिक अभावना है वही सामान्य असङ्ग कहलाता है ॥ २६—२९ ॥

पूर्व भूमिकाओंमें सत्सङ्ग आदि उपायोंसे इसी असङ्गका भलीभाँति अभ्यास करना चाहिए, यह कहते हैं—'अनेन' इत्यादिसे।

इसी पूर्वोक्त अभ्यासयोगसे, महात्माओंकी सङ्गतिसे, दुर्जनोंकी असङ्गतिसे, श्रवण-मननात्मक आत्मविचारोंके अन्तःकरणमें प्रयोगसे (आवर्तनसे)* तथा लगातार अभ्यासयोग द्वारा अपने पुरुषप्रयत्नसे संसारसागरके पार, सबके सार, परम कारणभूत आत्मतत्त्वके—प्रमाण और प्रमेयकी असंभावनाके निरास द्वारा हस्तामलकवत् दृढ़रूपसे खूब—स्पष्ट हो जानेपर यानी ठीक ऐसा ही आत्मवस्तु है, इस विश्वासका विषय हो जानेपर मैं कर्ता नहीं हूँ, किन्तु ईश्वर ही कर्ता है; पूर्वजन्ममें किया गया या वर्तमानकालमें किया जा रहा मेरा कोई कर्म नहीं है इत्यादि अभाव और उसके प्रतियोगी आदिके विषयमें विकल्प करनेवाली शब्दार्थभावनाको भी बहुत दूर फेंककर जो शान्त मौनरूपसे रहना है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहलाता है ॥ ३०—३३ ॥

न भीतर, न बाहर, न ऊपर, न नीचे, न दिशाओंमें, न आकाशमें, न

* देखिये भगवान् बादरायणका सूत्र—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'।

आसितं मासनं शान्तमभासं नभसा समम् ।
अनाद्यन्तमजं कान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३५ ॥
सन्तोषामोदमधुरः सत्कार्यामलपल्लवः ।
चित्तनालाग्रसंलीनविघ्नकण्टकसङ्कटः ॥ ३६ ॥
विवेकपद्मो रूढोऽन्तर्विचारार्कविकासितः ।
फलं फलत्यसंसङ्गां तृतीयां भूमिकामिमाम् ॥ ३७ ॥
समवायाद्विशुद्धानां सञ्चयात्पुण्यकर्मणाम् ।
काकतालीययोगेन प्रथमोदेति भूमिका ॥ ३८ ॥

पदार्थोंमें, न अपदार्थोंमें, न जड़में और न चिदाभासमें यानी बाहर या भीतर आदि सभी वस्तुओंमें आलम्बनशून्य होकर स्थित जो स्वप्रकाशचिद्रूप, शान्त, अन्य प्रकाशकसे शून्य, आकाशके समान स्वच्छ, एकरस और गम्भीर, आदि-अन्तसे रहित तथा जो अत्यन्त कान्त ब्रह्म है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहा जाता है ॥ ३४, ३५ ॥

यह समाधि सदाचारसे उपवर्धित विवेक-ज्ञानका फल है, यह कहनेके लिए विवेकका पद्मरूपसे निरूपण करते हैं—'सन्तोषा०' इत्यादिसे ।

सन्तोषरूपी सुगन्धसे मधुर (अथवा सन्तोषजनित हर्षसे मधुर-मकरन्दवाला), उपासना, गुरुशुश्रूषा, श्रवण आदि निष्काम कर्मरूपी निर्मल पल्लवोंसे युक्त और चित्तरूपी नालके अग्र भागमें संलीन हुए रागादि वासनाओंसे उत्पन्न अनेक तरहके विघ्नरूपी कण्टकोंसे सङ्कीर्ण विचाररूपी सूर्यसे विकासको प्राप्त हुआ यह विवेकरूपी कमल हृदयमें रूढ़ होकर असङ्गनामक यह तृतीय भूमिकारूप फल फलता है ॥ ३६, ३७ ॥

अनेक जन्मोंके संचित सुकृतोंके परिपाक तथा इस लोकके पुण्योंके संचयसे दैववश कहीं पहली भूमिका ही यदि अङ्कुरित हो गई, तो बड़े प्रयत्नके साथ सज्जनोंकी सङ्गति आदि करके उसकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि यदि वह कहीं रक्षित रह गई तो, फिर वही द्वितीय आदि भूमिकाओंमें अनायास परिणत हो जायगी, इसलिए उसीकी रक्षामें अधिक यत्न करना चाहिए, यह उपदेश देते हैं—'समवाया०' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके समवायसे यानी दान, मान, भजन आदि उपायोंके द्वारा सम्मेलनसे तथा पुण्य कर्मोंके संचयसे दैववश कहीं पहली भूमिका उत्पन्न होती है ॥ ३८ ॥

भूमिः प्रोदितमात्रा तैरमृताङ्कुरिकेव सा ।
विवेकेनाऽम्बुसेकेन रक्ष्या पाल्या प्रयत्नतः ॥ ३९ ॥
येनांशेनोल्लसत्येषा विचारेणोदयं नयेत् ।
तमेवाऽनुदिनं यत्नात् कृषीवल इवाङ्कुरम् ॥ ४० ॥
एषा हि परिमृष्टान्तरन्यासां प्रसवैकभूः ।
द्वितीयां भूमिकां यत्नात् तृतीयां प्राप्नुयात्ततः ॥ ४१ ॥
श्रेष्ठाऽसंसङ्गनाम्नी ह्येषा तृतीया भूमिकाऽत्र हि ।
भवति प्रोज्झिताशेषसङ्कल्पकलनः पुमान् ॥ ४२ ॥

श्रीराम उवाच

मूढस्याऽसत्कुलोत्थस्य प्रवृत्तस्याऽधमस्य च ।
अप्राप्तयोगिसङ्गस्य कथमुत्तरणं भवेत् ॥ ४३ ॥

थोड़ी-सी शुभ प्रवृत्तिमें उन्मुख होनेके कारण, मेघोंसे अङ्कुरित भूमिकी नाईं, तत्त्वज्ञानियोंसे अङ्कुरित उस प्रथम भूमिकाकी प्रतिदिन विवेकोपदेशरूपी जलके सिञ्चनसे इस तरह प्रयत्नपूर्वक रक्षा और पालन करना चाहिए कि वह म्लान न होने पावे ॥ ३९ ॥

शुभेच्छानामक यह पहली भूमिका चार साधनोंके मध्यमें वैराग्यरूपी या शान्त्यादिरूपी जिसी अंशसे सर्वप्रथम अङ्कुरित होकर उल्लसित होती है उसी अंशको बड़े यत्नके साथ प्रतिदिन अभिवृद्धिमें ऐसे पहुँचाना चाहिए, जैसे कृषक धान आदिके अङ्कुरको अभिवृद्धिमें पहुँचाता है ॥ ४० ॥

अभिवर्द्धित वह एक ही अंश अन्य उत्तरकी भूमिकाओंका स्वयं साधन करेगा, यह कहते हैं—'एषा' इत्यादिसे ।

अन्तःकरणमें विचार द्वारा उदयको प्राप्त हुई यह पहली भूमिका ही अन्य भूमिकाओंकी उत्पत्तिका स्थान बन जाती है । इसी भूमिकाके कारण द्वितीय और तृतीय भूमिकाको भी यत्नसे विवेकी पुरुष प्राप्त कर सकता है ॥ ४१ ॥

उपायोंके साथ वर्णित सफल तृतीय भूमिकाका उपसंहार करते हैं—'श्रेष्ठा०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यही श्रेष्ठ असङ्गनामक तीसरी भूमिका है । इस भूमिकामें वर्तमान पुरुष सम्पूर्ण सङ्कल्पकी कल्पनाओंसे शून्य हो जाता है ॥४२॥

प्रसङ्गवश, बीचमें मूर्खोंके ऊपर दया आ जानेसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—

एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां चेतरां च वा ।
आरूढस्य मृतस्याऽथ कीदृशी भगवन् गतिः ॥ ४४ ॥

वसिष्ठ उवाच

मूढस्याऽऽरूढदोषस्य तावत्संसृतिगतता ।
यावज्जन्मान्तरशतैः काकतालीययोगतः ।
अथवा साधुसङ्गत्या वैराग्यं नाभ्युदेति हि ॥ ४५ ॥
वैराग्येऽभ्युदिते जन्तोरवश्यं भूमिकोदयः ।
ततो नश्यति संसार इति शास्त्रार्थसङ्ग्रहः ॥ ४६ ॥
योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥ ४७ ॥

'मूढस्या०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, असत्कुलमें उत्पन्न, कामोपभोगके लिए प्रवृत्त, अधम तथा योगियोंके सङ्गको न प्राप्त किये हुए मूढ़ पुरुषका उद्धार कैसे होगा ? * ॥ ४३ ॥

हे भगवन्, पहली, दूसरी, तीसरी या अन्य किसी भूमिकामें आरूढ़ होकर मर गये प्राणीकी कैसी गति होती है ? कहिये ॥ ४४ ॥

पहले प्रश्नका उत्तर देते हैं—'मूढस्या०' इत्यादि ढाई श्लोकोंसे ।

प्रवृद्ध रागादि दोषोंवाले मूढ पुरुषको काकतालीययोगसे यानी दैवगतिसे सैकड़ों जन्मोंके बाद जबतक अपने विचारसे या साधुओंकी सङ्गतिसे वैराग्य उत्पन्न नहीं हो जाता, तबतक उसका यह विस्तृत संसार रहता ही है ॥ ४५ ॥

वैराग्य उत्पन्न हो जानेपर प्रथम भूमिकाका उदय प्राणीको अवश्य होता है और तदनन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है, यही शास्त्रोंके अर्थोंका संग्रह है-शास्त्रोंका परम सिद्धान्त है ॥ ४६ ॥

द्वितीय प्रश्नका उत्तर देते हैं—'योगभूमिकया' इत्यादिसे ।

---

* सत्कुलमें उत्पन्न होना आदि जो वेदान्तशास्त्रके अधिकारियोंके लक्षण हैं उन सब विशेषणोंसे रहित, अध्यात्मशास्त्रकी कथाओंसे सदा विमुख रहनेवाले तथा कामोपभोगके लिए ही प्रवृत्तिमार्गके पथिक बने हुए अधम पुरुषोंको किसी दूसरे उपायसे मोक्ष हो सकता है या नहीं, यही इस प्रश्नका आशय है ।

ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥ ४८ ॥

ततः सुकृतसम्भारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगजाले परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥ ४९ ॥

शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥ ५० ॥

तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमं बुधाः ।
स्मृत्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥ ५१ ॥

भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम जाग्रदिति स्मृतम् ।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं तज्जाग्रदिति दृश्यते ॥ ५२ ॥

प्रथमादि भूमिकाओंमें पहुँचकर अपना जीवन उत्सर्ग करनेवाले प्राणीका—भूमिकाओंके प्रकर्षके अनुसार ही पूर्वजन्मका—दुष्कृत नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

तदनन्तर वह योगी देवताओंके विमानोंमें, लोकपालोंके नगरोंमें तथा सुमेरु पर्वतके उपवनोंकी झाड़ियोंमें रमणियों (अप्सराओं) को साथ लेकर खूब रमण करता है ॥ ॥ ४८ ॥

उसके बाद पूर्वजन्ममें किये गये पुण्यों और पापोंका भोगसमूहोंके द्वारा नाश हो जानेपर वे योगी लोग पवित्र, गुणवान् और लक्ष्मीपात्र सज्जनोंके सुरक्षित घरमें जन्म लेते हैं और जन्म लेकर ये लोग योगकी वासनासे वासित अन्तःकरणवाले होनेके कारण योगका ही सेवन करते हैं ॥ ४९, ५० ॥

वहांपर पूर्वजन्ममें की गई भावनाओंसे अभ्यस्त हुए योगभूमिकाओंके क्रमका स्मरण करके वे बुद्धिमान् लोग आगेके भूमिकाक्रमका खूब अभ्यास करने लग जाते हैं ॥ ५१ ॥

दोनों प्रश्नोंका उत्तर देकर अब प्रकृतका अनुसरण कर रहे हैं—'भूमिकात्रितयम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, ये पूर्वोक्त तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् कही गई हैं, क्योंकि इन भूमिकाओंमें यथावत् भेदबुद्धि रहनेसे यह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत्कालकी नाईं ही दिखाई पड़ता है ॥ ५२ ॥

उदेति योगयुक्तानामत्र केवलमार्यता ।
यां दृष्ट्वा मूढबुद्धीनामभ्युदेति मुमुक्षुता ॥ ५३ ॥
कर्तव्यमाचरन्काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५४ ॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम्
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५५
प्रथमायामङ्कुरितं द्वितीयायां विकासनम् ।
फलीभूतं तृतीयायामार्यत्वं योगिनो भवेत् ॥ ५६ ॥
आर्यतायां मृतो योगी शुभसङ्कल्पसंभृतान् ।
भोगान्भुक्त्वा चिरं कालं योगवाञ्जायते पुनः ॥ ५७ ॥

इन तीनों भूमिकाओंमें योगयुक्त पुरुषोंको केवल पूज्यता उदित होती है, जिसे देखकर 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इस न्यायसे मूढ़बुद्धि पुरुषोंको भी मुक्त होनेकी अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है ॥ ५३ ॥

उसी आर्यताका सबसे पहले लक्षण करते हैं—'कर्तव्य०' इत्यादिसे ।

नित्य-नैमित्तिक सब कामोंको भलीभाँति करता हुआ तथा अकर्तव्योंको न करता हुआ जो प्राकृत आचारमें स्थित रहता है वह आर्य कहा गया है ॥ ५४ ॥

अपने वृद्ध पुरुषोंके आचारोंके अनुसार, शास्त्रोक्त तथा चित्तको प्रसन्न रखनेवाले यथास्थित व्यवहारोंका जो ग्रहण करता है वह आर्य कहा गया है ॥५५॥

योगीका वही आर्यत्व शुभेच्छानामक प्रथम भूमिकामें अङ्कुरित, द्वितीय भूमिकामें श्रवण आदिके द्वारा विकासको प्राप्त तथा तृतीय भूमिकामें चित्तकी एकाग्रतारूप फलसे फलित होता है ॥ ५६ ॥

इस तीसरी भूमिकाकी प्राप्तिके बीचमें ही मृत्युको प्राप्त कर चुके निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानसे पापशून्य हुए योगियोंको 'कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः' इत्यादि श्रुतियोंमें बतलाया गया उपभोग भी देवलोक आदिमें करना पड़ता है, परन्तु यह भोग शुभ सङ्कल्पोंसे उत्पन्न सब वासनाओंसे युक्त होनेके कारण, काम्यकर्मका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंकी नाईं, रागादि दुर्वासनाओंके द्वारा अधः-पतनका हेतु नहीं होता, इसी आशयसे कहते हैं—'आर्यतायाम्' इत्यादिसे ।

इस तीसरी भूमिकाकी प्राप्तिके बीचमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुभ

भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे ॥ ५८ ॥
निर्विभागमनाद्यन्तं योगिनो युक्तचेतसः ।
समं सर्वं प्रपश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ ५९ ॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकांश्चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ ६० ॥
भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते ।
विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ॥ ६१ ॥

सङ्कल्पजनित उत्तम वासनायुक्त भोगोंका चिरकालतक उपभोग कर पुनः योगी ही होता है ॥ ५७ ॥

तीनों भूमिकाओंका अभ्यास करनेसे अज्ञानके नष्ट हो जानेपर सम्यग्ज्ञानका उदय होनेके बाद जब पूर्णचन्द्रोदयके सदृश चित्त हो जाता है तब चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए युक्तचित्त योगी लोग सम्पूर्ण जगत्को विभागशून्य, आदि और अन्तसे रहित आनन्दैकरस देखते हैं ॥ ५८, ५९ ॥

द्वैतके बिलकुल शान्त हो जानेपर जब अद्वैत स्थिर हो जाता है तब चौथी भूमिकामें गये हुए योगी लोग सब लोकोंको स्वप्नके समान देखने लगते हैं ॥६०॥

तीन भूमिकाओंको जाग्रत् कहते हैं, क्योंकि जैसे जाग्रत्में व्यावहारिक सत्तासे जगत्का भान होता है, वैसे ही इनमें भी व्यावहारिक सत्तासे जगत्का भान होता है और चौथी भूमिकाको स्वप्न कहते हैं, क्योंकि जैसे स्वप्नमें प्रातिभासिक सत्तासे जगत्का भान होता है, वैसे ही इसमें भी भान प्रातिभासिक सत्तासे ही होता है [पञ्चम भूमिकाके लिए सुषुप्तिपदका प्रयोग होनेमें कारणभूत सुषुप्तिका सादृश्य बतलाते हैं—'विच्छिन्न' से । शरत्कालमें विच्छिन्न मेघके विलीन हो जानेपर जैसे केवल शुभ्र आकाशरूप बच जाता है वैसे ही पञ्चम भूमिकामें सम्पूर्ण व्यापारोंके विलीन हो जानेपर केवल शुद्ध चिन्मात्र ही बच जाता है । एवञ्च, पञ्चम भूमिकाके लिए जो सुषुप्ति शब्दका प्रयोग आता है इसमें कारण यही है कि सुषुप्तिकालमें जैसे समस्त व्यावहारिक भान विलीन हो जाते हैं, वैसे ही इस पञ्चम भूमिकामें व्यावहारिक और अवशिष्ट प्रातिभासिक त्रिपुटीभान भी विलीन हो जाते हैं, अतः पञ्चम

सत्तावशेष एवाऽऽस्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ।
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ॥ ६२ ॥
गलितद्वैतनिर्भासमुदितोऽन्तः प्रबुद्धवान् ।
सुषुप्तघन एवाऽऽस्ते पञ्चमीं भूमिकामितः ॥ ६३ ॥
अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिशान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥ ६४ ॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ।
षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्क्रमति भूमिकाम् ॥ ६५ ॥
यत्र नाऽसन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहङ्कृतिः ।
केवलं क्षीणमननमास्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ॥ ६६ ॥

भूमिका एक तरहसे सुषुप्तिके सदृश ही ठहरी, इसलिए सुषुप्ति और पञ्चम भूमिकामें समानता होनेसे पञ्चमभूमिकाके लिए सुषुप्तिशब्दका प्रयोग यत्र-तत्र श्रुति आदिमें किया गया है, यह निष्कर्ष है ॥ ६१ ॥

जो पुरुष पञ्चम भूमिकामें पहुँच गया है, वह केवल चैतन्यसत्तारूप बनकर रह जाता है । सुषुप्तरूप अमुख्य नामसे कही जा रही पञ्चम भूमिका प्राप्त कर पुरुष समस्त विकारांशोंसे निर्मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मरूप तत्त्वमें स्थित हो जाता है ॥ ६२ ॥

जो पांचवीं भूमिकामें पहुँच चुका है, वह द्वैतज्ञानसे रहित होकर गाढ सुषुप्तके सदृश स्थित रहता है, उसका अपना पूर्णस्वरूप प्रकाशित हो जाता है और भीतरसे ज्ञानी रहता है ॥ ६३ ॥

पांचवी भूमिकामें स्थित पुरुष अन्तर्मुख वृत्तिसे रहता है । यद्यपि बाह्य व्यापारमें तत्पर रहता है तथापि निरन्तर चारों ओरसे शान्त होनेके कारण निद्रालुके सदृश दिखाई देता है ॥ ६४ ॥

इस भूमिकामें वासनाशून्य हो अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्यानामकी अन्य छठी भूमिकामें चला जाता है ॥ ६५ ॥

छठी भूमिकाका लक्षण बतलाते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जहांपर न तो सत्, न असत्, न अहङ्कार और न अहङ्कारका अभाव ही

निर्ग्रन्थिः शान्तसन्देहो जीवन्मुक्तो विभावनः ।
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः ॥ ६७ ॥
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाऽम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवाऽर्णवे ॥ ६८ ॥
किञ्चिदेवैष सम्पन्नस्त्वथ वैष न किञ्चन ।
षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ॥ ६९ ॥
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ।
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा भवभूमिषु ॥ ७० ॥

रहता है, किन्तु क्षीणमनन होनेके कारण यानी निर्विकल्पक होनेके कारण योगी केवल द्वैत और अद्वैतसे शून्य ही रहता है ॥ ६६ ॥

अहङ्काररूप गाँठके * विच्छिन्न हो जानेसे उस योगीके सभी सन्देह नष्ट हो जाते हैं और वासनाओंसे शून्य जीवन्मुक्त वह योगी निर्वाणको न प्राप्त हुआ भी (देह धारण कर रहा भी) अहङ्कार और वासनाओंसे शून्य होनेके कारण निर्वाणको प्राप्त हुआ, चित्रलिखित प्रदीपकी नाईं, स्थित रहता है ॥ ६७ ॥

जीवन्मुक्त वह योगी जड़ जगत्के स्वभावसे बाहर और भीतरसे शून्य, आकाशमें शून्य घटकी नाईं, स्थित रहता है तथा आनन्दपरिपूर्ण स्वभाव होनेके कारण बाहर और भीतरसे पूर्ण होकर, सागरमें परिपूर्ण घटके समान, स्थित रहता है ॥ ६८ ॥

उसके अद्वितीय रूपकी संसार-दशामें कभी प्रसिद्धि न होनेसे वह किसी उत्तम आश्चर्यमय अपूर्व रूपसे सम्पन्न रहता है अथवा वास्तविक दृष्टिसे तो वह किसी भी रूपसे कुछ भी सम्पन्न न हुआ रहता है। छठी भूमिकामें स्थित होकर वह योगी सातवीं भूमिकामें पहुँचता है ॥ ६९ ॥

सातवीं योगभूमिका विदेहमुक्तता कही गई है। वह शान्तस्वरूप, वाणीकी अगम्य † और संसारकी भूमियोंकी सीमा है ॥ ७० ॥

---

* इसमें 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है और सब सन्देह दूर हो जाते हैं।) यह श्रुति प्रमाण है।

† यानी वह योगियोंके मानस अनुभवसे ही एकमात्र गम्य है। जीवित ज्ञानी पुरुषके लिए यदि सातवीं भूमिका ही नहीं है, तो फिर वह योगियोंके मानस अनुभवसे गम्य कैसे होगी, ऐसा किसीको भ्रम न करना चाहिए, क्योंकि 'सा सीमा भवभूमिषु' इत्यादिसे उसमें संसारकी भूमियोंकी सीमारूपता जो बतलाई गई है, उससे विरोध होने लगेगा तथा 'आसामभ्यासयोगेन' इत्यादिसे उत्तरोत्तर भूमिकाओंके अभ्यासका जो निर्देश किया गया है, उससे भी विरोध होने लगेगा।

कैश्चित्सा शिवमित्युक्ता कैश्चिद्ब्रह्मेत्युदाहृता ।
कैश्चित्प्रकृतिपुंभावविवेक इति भाविता ॥ ७१ ॥
अन्यैरप्यन्यथा नानाभेदैरात्मविकल्पितैः ।
नित्यमव्यपदेश्याऽपि कथंचिदुपदिश्यते ॥ ७२ ॥
सप्तैता भूमिकाः प्रोक्ता मया तव रघूद्वह ।
आसामभ्यासयोगेन न दुःखमनुभूयते ॥ ७३ ॥
अस्त्यत्यन्तमदोन्मत्ता मृदुमन्थरचारिणी ।
करिणी विग्रहव्यग्रा महादशनशंसिनी ॥ ७४ ॥
सा चेन्निहन्यते नूनमनन्तानर्थकारिणी ।
तदेतासु समग्रासु भूमिकासु नरो जयी ॥ ७५ ॥
करिणी मदमत्ता सा यावन्न विजितौजसा ।
को नाम सुभटस्तावत्संपत्समरभूमिषु ॥ ७६ ॥

कोई लोग (शैव लोग) उसे शिव कहते हैं, कोई लोग (वेदान्ती) उसे ब्रह्म कहते हैं, और कोई लोग (सांख्य, योगी) उसे प्रकृतिसे पुरुषका विवेक कहते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न लोगोंने अपनी बुद्धिके अनुसार कल्पित रूपोंसे सप्तम भूमिकाकी भावना की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेशयोग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया जाता है ॥ ७१, ७२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सातों भूमिकाएँ मैंने आपसे कह दीं। इनके अभ्यास-योगसे मनुष्य दुःखका अनुभव नहीं करता ॥ ७३ ॥

उत्तम वैराग्य होनेपर ही भूमिकाओंमें प्रवेश होता है, अन्यथा नहीं; इसका मदोन्मत्त हथिनीकी आख्यायिकाके बहाने वर्णन करते हैं— 'अस्त्य०' इत्यादिसे ।

धीरे-धीरे खूब झूम-झूमकर चलनेवाली, अत्यन्त मदोन्मत्त, लड़ाई करनेमें सदा तत्पर, अपने बड़े-बड़े दाँतोंसे प्रख्यातिको प्राप्त कर चुकी तथा अत्यन्त अनर्थको पैदा करनेवाली एक हथिनी है। यदि वह किसी तरह मार दी जाती है, तो इन समस्त भूमिकाओंमें मनुष्य विजयी बन सकता है ॥ ७४, ७५ ॥

वह मदोन्मत्त हथिनी जबतक पराक्रमसे जीत नहीं ली जाती, तबतक कौन ऐसा वीर है, जो उससे आक्रान्त क्षुद्र सांसारिक सम्पत्तिरूपी समरभूमियोंमें प्रवेश करनेके लिए भी समर्थ हो सकता है ॥ ७६ ॥

श्रीराम उवाच

काऽसौ प्रमत्ता करिणी काश्च ता रणभूमयः ।
कथं निहन्यते चैषा क्व चैषा रमते चिरम् ॥ ७७ ॥

वसिष्ठ उवाच

रामेच्छा नाम करिणी इदं मेऽस्त्विति रूपिणी ।
शरीरकानने मत्ता विविधोल्लासकारिणी ॥ ७८ ॥
मत्तेन्द्रियोग्रकलभा रसनाकलभाषिणी ।
मनोगहनसंलीना कर्मदन्तद्वयान्विता ॥ ७९ ॥
मदोऽस्या वासनाव्यूहः सर्वतः प्रसरद्वपुः ।
संसारदृष्टयो राम तस्याः समरभूमयः ॥ ८० ॥
भूयो यत्राऽनुभवति नरो जयपराजयौ ।
इच्छानागी निहन्त्येषा कृपणान् जीवसञ्चयान् ॥ ८१ ॥
वासनेहा मनश्चित्तं सकल्पो भावनं स्पृहा ।
इत्यादिनिवहो नाम्नामस्यास्त्वाशयकोशगः ॥ ८२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, वह कौन प्रमत्त हथिनी है, वे समरभूमियाँ कौन हैं, कैसे यह मारी जाती है तथा कहाँ यह चिरकालतक रमण करती है ॥ ७७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, मुझे यह मिल जाय, ऐसी जो इच्छा है उसीका नाम हथिनी है, वह शरीररूपी जङ्गलमें रहती है और मत्त होकर अनेक तरहके शोक, मोह आदि उल्लासोंको पैदा करनेमें तत्पर रहती है ॥ ७८ ॥

मतवाले इन्द्रियोंके समूह ही उसके उग्रप्रकृतिके बच्चे हैं, वह जीभसे मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्मरूपी दो दाँतोंसे युक्त वह मनरूपी गहन स्थानमें लीन रहती है ॥ ७९ ॥

चारों ओर दूरतक फैल रहे शरीरसे युक्त वासनाओंका समूह ही इस हथिनीका मद है और हे श्रीरामजी, संसारदृष्टियाँ इसकी युद्धभूमियाँ हैं ॥ ८० ॥

यहाँपर पुरुष बार-बार जय और पराजयका अनुभव करता है । यह इच्छा नामवाली हथिनी कृपण प्राणिसमूहोंको मारती है ॥ ८१ ॥

वासना, ईहा, मन, चित्त, सङ्कल्प, भावना और स्पृहा इत्यादि इसके नामोंका समूह है, यह समूह चित्तरूपी कोशके अन्दर रहता है ॥ ८२ ॥

धैर्यनाम्ना वरास्त्रेण प्रसृतामवहेलया ।
नार्गीं सर्वात्मिकामेतामिच्छां सर्वात्मना जयेत् ॥ ८३ ॥

यावद्वस्त्विदमित्येवमियमन्तर्विजृम्भते ।
तावदुग्रा कुसंसारमहाविषविषूचिका ॥ ८४ ॥

एतावानेव संसार इदमस्त्विति यन्मनः ।
अस्य तूपशमो मोक्ष इत्येवं ज्ञानसङ्ग्रहः ॥ ८५ ॥

प्रसादकारिणी स्वच्छा निरिच्छे विमलाकृतौ ।
तैलबिन्दुरिवाऽऽदर्शे विश्राम्यत्युपदेशवाक् ॥ ८६ ॥

'कथं निहन्यते चैषा' (यह कैसे मारी जाती है) इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'धैर्य०' इत्यादिसे ।

अन्य सभी अस्त्रोंका तिरस्कार कर धैर्यनामक सर्वश्रेष्ठ अस्त्रसे बहुत दूरतक फैली हुई तथा सम्पूर्ण विषयोंके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त हुई इस इच्छारूपी हथिनीको सब तरहसे जीत लेना चाहिए ॥ ८३ ॥

'यह वस्तु मुझे इस तरह प्राप्त हो जाय' यह इच्छा जबतक अन्तःकरणके भीतर विकसित रहती है तभीतक यह महाभयङ्कर कुत्सित संसाररूपी महाविषसे उत्पन्न महामारी बनी रहती है ॥ ८४ ॥

'यह मुझे मिल जाय' यह जो सङ्कल्प है, बस इतना ही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना ही मोक्ष है, यही ज्ञानोपदेश-संग्रह है ॥ ८५ ॥

तृष्णारूपी संसारका नाश ही मोक्षभूमिकाके उदयमें हेतु होनेसे मोक्ष है, भूमिकाओंके उदयमें वैराग्य कारण कैसे है, इसको दिखलाते हैं—'प्रसाद०' इत्यादिसे ।

राग आदि पुरुषोंके अपराधसे मलिन हुए मनमें श्रुतियोंके अनुकूल आचार्य आदिका उपदेश, कमलके पत्तोंके ऊपर जलबिन्दुकी नाईं, तनिक भी नहीं जमता, लेकिन वैराग्य आदि साधनोंसे सम्पन्न इच्छारहित विमल आकृतिवाले पुरुषमें स्वयं निर्मल अतः दूसरेका चित्त प्रसन्न करनेमें कारणरूप गुरूपदेशवाक्य, दर्पणमें तैलबिन्दुकी नाईं, संक्रान्त हो जाता है—खूब जम जाता है ॥ ८६ ॥

असंवेदनमात्रेण नोदेतीच्छाभवाऽङ्कुरः ।
मनागभ्युदितैवेच्छा छेत्तव्यानर्थकारिणी ।
असंवेदनशस्त्रेण विषस्येवाऽङ्कुरावली ॥ ८७ ॥

इच्छाविच्छुरितो जीवो विजहाति न दीनताम् ॥ ८८ ॥

स्वसंवेदनयत्नस्तु तूष्णीमेवाऽन्तरासनम् ।
अवधानविनिर्मुक्तं सुप्तं शवशतं यथा ॥ ८९ ॥

तां प्रत्याहारबडिशेनेच्छामत्सीं नियच्छत ॥ ९० ॥

इदं मेऽस्त्विति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।
अर्थस्याऽभावनं यत्तत्कल्पनात्याग उच्यते ॥ ९१ ॥

राग आदिकी उत्पत्ति न होनेमें तथा उत्पन्न हुए राग आदिके छेदनमें उपाय बतलाते हैं—'असंवेदन०' इत्यादिसे ।

एकमात्र विषयोंकी स्मृतिका परित्याग कर देनेसे इच्छारूपी संसारका अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता । विषवृक्षके अङ्कुरोंकी पङ्क्ति-जैसी अनेक तरहका अनर्थ पैदा करनेवाली, इस इच्छाको तनिक भी बढ़ते ही विषयोंके विस्मरणरूप शस्त्रसे काट देना चाहिए, इच्छासे व्याप्त हुआ जीव अपने अभिलषित अर्थकी सिद्धिके लिए दीनताको कभी नहीं छोड़ सकता ॥ ८७, ८८ ॥

असंवेदनके स्वरूपका व्युत्पादन करते हैं—'स्वसंवेदन०' इत्यादिसे ।

सुन्दर असंवेदनमें यानी उत्तमरूपसे विषयोंका स्मरण न होनेमें श्रेष्ठ प्रयत्न यही है कि चित्त अपने भीतर समस्त व्यापारोंसे निर्मुक्त होकर अवधान-शून्य सोये हुए सैकड़ों मृतकोंकी नाईं बैठा रहे ॥ ८९ ॥

हे श्रीरामजी, अनर्थ पैदा करनेवाली उस इच्छारूप मछलीको आप सब लोग प्रत्याहाररूपी बंसीमें फँसाकर बाँध रखिये ॥ ९० ॥

कल्पनाओंके त्यागसे ही मुक्ति होती है, यह आपने पहले अनेक बार कहा है, अब आप इच्छाके त्यागसे मुक्ति होती है, यह कैसे कहते हैं, यदि ऐसी आशङ्का की जाय, तो उसपर कहते हैं—'इदं मेऽस्त्विति' इत्यादिसे ।

यह मुझे मिल जाय, इस तीव्र इच्छाको ही उत्तम पुरुष कल्पना कहते हैं और बाह्य पदार्थोंका जो विस्मरण है, उसको कल्पनाका त्याग कहते हैं ॥९१॥

स्मरणं विद्धि सङ्कल्पं शिवमस्मरणं विदुः ॥
तत्र प्रागनुभूतं च नाऽनुभूतं च भाव्यते ॥ ९२ ॥
अनुभूतां नानुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।
सर्वमेवाऽऽशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामतिः ॥ ९३ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति तत् ।
असङ्कल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥ ९४ ॥
किल तूष्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
परमं यत्र साम्राज्यमपि राम तृणायते ॥ ९५ ॥

सङ्कल्प ही सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है, यह जो पहले कहा गया है, उसका भी यही अभिप्राय है, यह इस आशयसे कहते हैं—'स्मरणम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सङ्कल्पको ही आप स्मरण समझिये और विस्मरणको तो विद्वान् लोग शिवस्वरूप समझते ही हैं । सङ्कल्पमें पहलेके अनुभूत पदार्थोंकी तथा अननुभूत पदार्थोंकी भी भावना की जाती है ॥ ९२ ॥

अनुभूत और अननुभूत सब तरहकी स्मृतिका शीघ्र ही विस्मरण कर काष्ठके समान मूढ़ एवं महामति होकर स्थित रहिये ॥ ९३ ॥

सभी प्राणियोंको विषयसङ्कल्पोंके त्यागके बिना मोक्षकी सिद्धि नहीं होती, इसलिए उनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए, इस अपने समस्त उपदेश-रहस्यको अब परम कारुणिक महाराज वसिष्ठजी चिल्लाकर दृढ़ करनेकी अभिलाषासे कहते हैं—'ऊर्ध्वबाहु०' इत्यादिसे ।

मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वरसे चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, लेकिन कोई उसे सुनता नहीं कि सङ्कल्पत्याग ही परम श्रेयका सम्पादक है, उसकी भावना तुम लोग अपने हृदयमें क्यों नहीं करते ॥ ९४ ॥

हे श्रीरामजी, यह श्रुतियोंसे* उक्त और लोकमें भी प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनके व्यापारोंको छोड़कर केवल चुपचाप बैठा हुआ ही पुरुष उस परम पदको प्राप्त करता है, जिस भूमानन्दरूप परम पदमें हिरण्यगर्भतकका भी साम्राज्य तृणकी नाईं तुच्छ बन जाता है ॥ ९५ ॥

* देखिये श्रुति—'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम् ॥'

गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
स्पन्दो विगतसङ्कल्पस्तथा स्पन्दः स्वकर्मसु ॥ ९६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते ।
सङ्कल्पनं परो बन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ ९७ ॥
सर्वमेवमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम् ।
पश्यन् भूतार्थचिद्रूपं शान्तमास्व यथासुखम् ॥ ९८ ॥
अवेदनं विदुर्योगं शान्तमासीनमक्षयम् ।
योगस्थः कुरु कर्माणि निर्वासनोऽथ मा कुरु ॥ ९९ ॥

सर्वथा सङ्कल्पत्याग होनेपर देहादि-स्पन्दनके अभावसे व्यवहारका लोप हो जानेपर कैसे जीवन रह सकता है, यदि ऐसी कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'गम्य०' इत्यादिसे ।

अपने गन्तव्य स्थान (गृह आदि) की ओर जानेके लिए अविच्छिन्न चित्तवृत्तिधारासे युक्त पथिकके पैरमें जैसे बिना सङ्कल्पके ही स्पन्दन प्रतिक्षण होते रहते हैं यानी उस पथिकके पैर अपने अभीष्ट स्थानकी ओर जानेके लिए बे-रोक-टोक उठते जाते हैं, वैसे ही योगीके भी पूर्वजन्ममें किये गये अभ्यासरूपी अदृष्टके वशसे ही अनिषिद्ध अपने कर्मोंमें स्पन्दन होता रहेगा ॥ ९६ ॥

हे श्रीरामजी, इस विषयमें अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है ! संक्षेपसे मैं इतना ही कहता हूँ कि सङ्कल्प ही सबसे बढ़कर बन्धन है और उसका न रहना ही मोक्ष है ॥ ९७ ॥

किस दृष्टिसे सङ्कल्पका परित्याग होगा, उस दृष्टिको कहते हैं—'सर्वमेव०' इत्यादिसे ।

इस तरह सम्पूर्ण संसारको अज, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा नित्य-सिद्ध परमार्थचिद्रूप देखते हुए आप शान्त होकर सुखपूर्वक स्थित रहिये ॥ ९८ ॥

'अहं' और 'मम' इस अध्यस्त सम्पूर्ण भेदोंके विस्मरणको ही ब्रह्मज्ञानी लोग जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं और वह योग शान्त, अक्षय और सुदृढरूपसे स्थित है । हे श्रीरामजी, आप इस योगमें स्थित होकर सब कार्य करते रहिये । यदि आप समाधिमें तत्पर हो चुके हैं, तो फिर आप कर्म मत कीजिये ॥ ९९ ॥

अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथाऽसि भो ॥१००॥
शिवं सर्वगतं शान्तं बोधात्मकमजं शुभम् ।
तदेकभावनं राम सर्वत्याग इति स्मृतः ।
भावयञ्छश्वदन्तः स्वं कार्यं कर्म समाचार ॥ १०१ ॥
अहं ममेति संविद्म दुःखतो विमुच्यते ।
असंविदन् विमुच्यते यदीप्सितं समाचार ॥ १०२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमार्थस्वरूपवर्णनं नाम षड्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२६ ॥



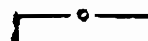
हे श्रीरामजी, विषयोंके विस्मरणको ही स्वाभाविक चित्तका क्षय तथा जीव-ब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप अत्यन्त उसमें तन्मय होकर जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥ १०० ॥

चूडाला द्वारा दिखलाया गया सर्वत्याग भी सम्पूर्ण प्रपञ्चोंकी निवृत्तिरूप होनेके कारण उक्त स्थितिरूप ही है, इसको कहते हैं—'शिवम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, शिव, सर्वगत, शान्त, ज्ञानात्मक, अज और कल्याणरूप ब्रह्मके साथ जो एकत्वकी भावना है यानी यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्मस्वरूप है, यह जो परिपूर्ण भावना है वही सर्वत्याग कहा गया है । हे राघव, आप निरन्तर अपने हृदयके अन्दर उसकी भावना करते हुए अपना कर्तव्य कर्म करते चलिये ॥ १०१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, 'अहं', 'मम' (यह मैं हूँ, यह मेरा है) यह भावना कर रहा पुरुष दुःखसे छुटकारा नहीं पाता तथा 'अहं' 'मम' यह भावना न कर रहा पुरुष मुक्त हो जाता है, अब आपको जो अच्छा लगे वही कीजिये ॥१०२॥

एक सौ छब्बीस सर्ग समाप्त



सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः

भरद्वाज उवाच

इति वरमुनिनोक्तं ज्ञानसारं पुराणं
सकलमनुनिशम्य श्रीरघूणां कुलाग्र्यः ।
विमलमतिरपृच्छत्किञ्चिदन्यत्स्वयं वा
समसुखपरिपूर्णः पूर्णबोधस्थितोऽसौ ॥ १ ॥
स खलु परमयोगी विश्ववन्द्यः सुरेशो
जननमरणहीनः शुद्धबोधस्वभावः ।
सकलगुणनिधानं सन्निधानं रमाया-
स्त्रिजगदुदयरक्षानुग्रहाणामधीशः ॥ २ ॥

एक सौ सत्ताईस सर्ग

[रामजीकी विश्रान्ति, भरद्वाज मुनिकी उत्कण्ठापूर्वक उक्तियाँ, जाग्रत् आदि अवस्थाओंके लक्षण तथा तुरीय पद—इनका वर्णन]

यहाँतक श्रीवसिष्ठ मुनि और श्रीरामजीका परस्पर जो संवाद हुआ उसे सुनाकर वाल्मीकि मुनि रामजीकी विश्रान्तिका स्मरण कर स्वयं आप भी पूर्णानन्द आत्मामें विश्रान्त हो गये। उस समय वे बिलकुल चुपचाप हो गये थे। इस प्रकारकी अपने गुरुकी स्थिति देखकर भरद्वाज, परमानन्दमें अपनी स्थिति न पाकर, आगे और कुछ सुननेकी इच्छासे पूछते हैं—'इति' इत्यादिसे।

भरद्वाजने कहा—हे गुरो, रघुकुलमें सर्वश्रेष्ठ, विशुद्धमति श्रीरामभद्रने अपने गुरु महाराज वसिष्ठजीके द्वारा अनेक प्रकारोंसे उपदिष्ट इस अतिप्राचीन (आदिम ब्रह्मासे लेकर महर्षियोंके सम्प्रदायमें चले आ रहे) ज्ञानरूपी सारका श्रवणकर क्या और भी कुछ जिज्ञासु होकर पूछा था या वे उतने ही उपदेशसे सम्पूर्ण सन्देहोंसे रहित एवं तारतम्यशून्य प्रत्यक्ष अनुभूत आत्मसुखसे परिपूर्ण होकर पूर्णज्ञानरूप आत्मा बनकर स्थित हो गये, यह मुझसे कहिए ॥ १ ॥

जितना उपदेश रामजीने सुना उतना तुमने भी तो सुना, यदि तुम्हें सन्देहकी निवृत्ति हुई है, तो उन्हें भी सन्देहकी निवृत्ति हो गई। यदि नहीं हुई है तो उन्हें भी नहीं हुई, यों तुम स्वयं ही क्यों नहीं जान लेते, इस आशङ्कापर

वाल्मीकिरुवाच

इति श्रुत्वा वसिष्ठस्य वाक्यं वेदान्तसङ्ग्रहम् ।
विदिताखिलविज्ञानो रामः कमललोचनः ॥ ३ ॥
शक्तिपातवशोन्मेषप्रकटामलचिद्घनः ।
मुहूर्तमासीदुद्बुद्धश्चैतन्यानन्दसागरः ॥ ४ ॥

भरद्वाजजी अपनेमें और श्रीरामभद्रमें महान् अन्तर बतलाते हैं—'स खलु' इत्यादिसे ।

असलमें श्रीरामभद्र तो महान् योगी, सबके वन्द्य, देवोंके स्वामी, जनम-मरणसे रहित, विशुद्धज्ञानमय, समस्त गुणोंकी खान, समस्त ऐश्वर्योंके आधार तथा तीनों लोकोंके उत्पादन, रक्षण एवं अनुग्रह आदिमें सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र थे। वे केवल लोगोंपर अनुग्रहके लिए ज्ञानशास्त्रकी प्रवृत्ति करनेके उद्देश्यसे स्वेच्छासे ही अपने अज्ञानकी कल्पना कर श्रवणार्थ प्रवृत्त हुए, मैं तो आरम्भसे ही अज्ञानी हूँ, मुमुक्षु हूँ और मेरे पास साधनोंकी भी कमी है, अतः हम दोनोंमें महान् अन्तर है, यह तात्पर्य है ॥ २ ॥

यों पूछे गये वाल्मीकिजी प्रश्नकी द्वितीय कोटिका कथाशेषसे समर्थन करते हुए उत्तर देते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

वाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज, समस्त वेदान्तशास्त्रका जिसमें सङ्ग्रह भरा था, ऐसे वसिष्ठमुनिके पूर्वोक्त वचनोंका श्रवणकर कमललोचन तथा अखिल विज्ञानोंके ज्ञाता श्रीरामभद्र मुहूर्तपर्यन्त अपने आत्मस्वरूपमें जागरित और विकसित हो उठे । शक्तिपातके * प्रभावसे उनके अविद्याके पुट खुल गये और

* 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषत्के महावाक्योंसे उत्पन्न जो अखण्ड आकारवाली चित्तकी वृत्ति है, उसमें हुआ नित्य-निरतिशय आनन्दरूप आत्मतत्त्वका आविर्भाव ही यहाँ 'शक्तिपात' शब्दका अर्थ समझना चाहिए । अथवा योगशास्त्रमें वर्णित—सुषुम्नाके मार्गमें षट्चक्रोंका भेदनकर कुण्डलिनीका ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश होकर जो शिवशक्तिका संयोग होता है, वही संयोग 'शक्तिपात' शब्दका अर्थ समझना चाहिए । मन्त्रशास्त्रमें शक्तिपातशब्दका अर्थ वर्णित है—गुरुजीकी शिष्यके ऊपर जब अत्यन्त दया हो जाती है, तब वे अपनी देह छोड़कर शिष्यकी देहमें प्रवेश कर जाते हैं, तदनन्तर शिष्यदेहकी प्रत्येक नाडीका शोधन कर उसकी कुण्डलिनीमें सप्तचक्रोंमें संचारण द्वारा समस्तभुवनोंकी वृत्तान्त प्रत्यक्ष दिखलाते हैं, यह दिखलाना ही

प्रश्नोत्तरविभागादिपरिपाटीविवर्जितः ।
आनन्दामृतपूर्णाङ्ग रोमकण्टकिताङ्गकः ॥ ५ ॥
महासामान्यरूपत्वाच्चिद्व्यापकतया स्थितः ।
नित्यमष्टगुणैश्वर्यतृणप्रायमनोरथः ।
न किञ्चिदूचे सम्पन्नः शिवे परिणतः पदे ॥ ६ ॥

भरद्वाज उवाच

अहो खलु ममाश्चर्यं रामः प्राप्तो महत्पदम् ।
कथमेतादृशी प्राप्तिरस्माकं मुनिनायक ॥ ७ ॥

उनका निर्मल चैतन्य प्रकाशित हो उठा । उस समय वे अपने-आप प्रकाशित हो हो रहे आत्मानन्दसे पूर्ण हो गये थे ॥ ३, ४ ॥

उस समय प्रश्न, उत्तर और विभाग (उक्त एवं अनुक्त अंशका विवेचन) आदि करनेकी जो पद्धति होती है, इससे विरत हो गये थे । उनका चित्त आनन्दरूप अमृतसे पूर्ण हो गया था । उनके अङ्गोंमें रोमरूपी कण्टक हो गये थे ॥ ५ ॥

वे सर्वाधिष्ठान चैतन्यरूप बन गये थे, इससे वे चारों ओरसे परिपूर्ण होकर विराजित थे । अणिमा आदि आठ सिद्धियोंकी प्राप्ति करनेकी इच्छाएँ उनमें तृणके तुल्य हो गई थीं यानी उनका नामनिशान नहीं था । उन्होंने उस समय वसिष्ठजीसे कुछ भी नहीं कहा । वे शिवपदमें परिणत हो गये थे ॥ ६ ॥

इस प्रकार उत्तम अधिकारी श्रीरामचन्द्रजीको ज्ञानकी प्राप्ति हुई, यह वर्णन कर अब मन्द, मध्यम अधिकारियोंको चित्तशुद्धिके लिए विशिष्ट उपासना और मननके उपायभूत तीन अवस्थाओंके विवेक एवं दृश्य प्रपञ्चके विवेक आदि कहनेके लिए उनका उपक्रम करनेमें हेतु भरद्वाजकी उत्कण्ठा आदिका वाल्मीकिजी वर्णन करते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

भरद्वाजने कहा—हे मुनियोंके नायक, अहो, मैं आश्चर्यचकित हूँ कि श्रीरामभद्र तो, महान् आत्मपद प्राप्त कर चुके, परन्तु हम लोगोंको उस तरहके आत्मपदकी प्राप्ति कैसे होगी ॥ ७ ॥

शक्तिपात है । परन्तु इस मन्त्रशास्त्रवर्णित अर्थका यहाँ ग्रहण करना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि श्रीरामभद्र स्वयं ही ईश्वर हैं, अतः उनमें सर्वज्ञत्व आदि धर्म स्वतःसिद्ध हैं, इसलिए इन धर्मोंकी श्रीरामभद्रको न तो कोई आवश्यकता है और न उससे लोकोपकारकी सिद्धि ही है ।

मूर्खाः स्तब्धाश्च किञ्चिज्ज्ञा मादृशाः क्व च पापिनः ।
क्व च ब्रह्मादिभिः प्रार्थ्या दुर्लभा रामसंस्थितिः ॥ ८ ॥

अहो मुनीश्वरगुरो कथं विश्राम्यते मया ।
दुष्पारस्य भवाम्भोधेस्तीर्यते तद्वदाऽऽशु मे ॥ ९ ॥

वाल्मीकिरुवाच

श्रीरामवृत्तान्तमशेषमादितो
वसिष्ठवाक्यानुगतं निरूपितम् ।
धिया विचार्याऽनु परामृश प्रभो
मयाऽपि तादृक्कथनीयमत्र ते ॥ १० ॥

अविद्यायाः प्रपञ्चोऽयं नास्ति सत्यमिहाण्वपि ।
विवेचयन्ति विबुधा विवदन्त्यविवेकिनः ॥ ११ ॥

मेरे जैसे मूर्ख, स्तब्ध, अल्पज्ञ पापी कहाँ और ब्रह्मा आदि द्वारा चाही जा रही दुर्लभ रामजीकी स्थिति कहाँ ? ॥ ८ ॥

हे बड़े-बड़े मुनियोंके गुरो, अहो, मैं किस तरह आत्मपदमें विश्रान्ति पा सकूँगा और इस दुस्तर संसाररूपी महासागरके मोहरूपी जलसे पार किस तरह हो सकूँगा, यह शीघ्र मुझसे कहिए ॥ ९ ॥

इस प्रकार पूछे गये वाल्मीकि मुनि 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' न्यायसे सिद्ध श्रुत अर्थोंकी बार-बार आवृत्ति करना ही प्रथम उपाय है, यह उपदेश देते हैं—'श्रीराम०' इत्यादिसे ।

वाल्मीकि महाराजने कहा—हे शिष्य, आरम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण राम-वृत्तान्त, जो वसिष्ठजीके वाक्योंमें रहा, मैंने तुमसे कहा । तुम अपनी बुद्धिसे पहले विचार कर पीछे उसका अनुसन्धान करो । मैं भी इस प्रसङ्गमें तुमसे—तुम्हारे अनुभवमें उपयोगी जो तीन अवस्थाओंके विवेचन आदि वक्तव्य हैं, उन्हें—कहता हूँ, सुनो ॥ १० ॥

चूँकि यह सारा प्रपञ्च मिथ्याभूत अविद्यासे उत्पन्न हुआ है, इसलिए प्रपञ्च झूठा है और आखिरमें चैतन्यरूप अद्वैत तत्त्वका ही राज रहता है, यह बुद्धिमान् मनुष्य अनायास जान सकता है, यह कहते हैं—'अविद्यायाः' इत्यादिसे ।

नास्ति भिन्नं चितः किञ्चित्किं प्रपञ्चेन रुध्यसे ।
अभ्यासेन रहस्यानां वयस्य विशदो भव ॥ १२ ॥
प्रपञ्चविषयावृत्तिर्जाग्रन्निद्रेति कीर्तिता ।
सम्प्रबुद्धस्तु यस्याऽन्तश्चित्प्रदीपो निरञ्जनः ॥ १३ ॥
शून्यमूलः प्रपञ्चोऽयं शून्यताशिखरः सखे ।
सारशून्यतया मध्येऽप्यनास्था सन्मनीषिणाम् ॥ १४ ॥
अनादिवासनादोषादसन्नेवाऽयमीक्ष्यते ।
गन्धर्वनगराकारः संसारो बहुविभ्रमः ॥ १५ ॥

भद्र, यह जो यहां अविद्याका प्रपञ्च है, वह तनिक भी सत्य नहीं है यानी समस्त संसाररूप प्रपञ्च एकदम मिथ्या ही है । उसमें अधिष्ठानभूत जो तत्त्व है, उसको अलग कर पण्डित लोग निकाल लेते हैं और अपण्डित लोग उस मिथ्या संसारको लेकर परस्पर कलह करते हैं ॥ ११ ॥

मिथ्याभूत द्वैत प्रपञ्चसे वास्तव अद्वैत वस्तुकी हानि नहीं होती, यह कहते हैं—'नास्ति' इत्यादिसे ।

हे प्रियमित्र, असलमें चैतन्य वस्तुसे कुछ भी अलग नहीं है, अतः मिथ्या प्रपञ्चसे किसका अवरोध किया जा सकता है । प्रणव, महावाक्य आदि जो मैं रहस्य तुमसे आगे जाकर प्रकट करनेवाला हूँ, उनके अभ्याससे तुम अपने चित्तको विशुद्ध बना डालो ॥ १२ ॥

सबसे पहले प्रणवकी प्रथम मात्रासे बोधित होनेवाले जगत्प्रपञ्चका मिथ्यापन, उसके साक्षीका विवेक करनेके लिए, सिद्ध करते हैं—'प्रपञ्च०' इत्यादिसे ।

प्रपञ्चको ग्रहण करनेवाला जो जागरित व्यापार है, उसको निद्रा ही कहते हैं और जिसके भीतर चैतन्य दीपक प्रकाशित रहता है, उसे निरञ्जन (साक्षी) कहते हैं ॥ १३ ॥

हे मित्र, यह जो प्रपञ्च है, इसका मूलकारण झूठा अज्ञान ही है और अन्त भी झूठा अज्ञान ही है । मध्यकालमें भी विचारनेपर इसकी कोई सत्ता न होनेके कारण केवल प्रतीति ही रहती है, अतः उत्तम विद्वान् इसमें किसी तरहकी आस्था नहीं करते ॥ १४ ॥

जो वस्तु असत् रहती है, वह भी अनादि वासनायुत अविद्यासे, गन्धर्व-नगरके सदृश, दिखलाई पड़ती है, यह कहते हैं—'अनादि०' इत्यादिसे ।

त्वमनभ्यस्य कल्याणीं चैतन्यामृतकन्दलीम् ।
संमुह्यसि किमभ्यास्य वासनाविषवीरुधः ॥ १६ ॥
जाग्रदेतन्न पतितं ज्ञानालम्बग्रहादधः ।
न सन्त्युपरि सर्वेषां ये निरालम्बसंविदः ॥ १७ ॥
तावद्रूढा सुधाकाररसा संविन्महानदी ।
न यावदात्मरूपेण निपुणैरवगाह्यते ॥ १८ ॥
प्राङ्नास्ति चरमे नास्ति वस्तु सर्वमिदं सखे ।
विद्धि मध्येऽपि तन्नास्ति स्वप्नवृत्तमिदं जगत् ॥ १९ ॥

अनादि वासनाके दोषसे असत् यह संसार दिखलाई देता है, उसका गन्धर्व-नगरके सदृश मिथ्यास्वरूप है । यह अनेकविध भ्रमोंसे भरा पड़ा है ॥ १५ ॥

भद्र, तुम चैतन्यरूप अमृतकन्दलीका अभ्यास न कर वासनारूपी विष-वल्लीका आश्रयण कर क्यों व्यर्थ मोहमें फँसे हो ॥ १६ ॥

जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब स्पष्ट हो जाता है कि पहले यानी चित्तकी स्थिरताके हेतु ज्ञानरूपी आलम्बनका आश्रयण करनेके पहले भी यह जाग्रत् जगत् था ही नहीं और ऊपरकी चतुर्थ अवस्थामें भी जाग्रत् आदि कुछ है नहीं । यह विषय उन सभी योगियोंके अनुभवसे सिद्ध है, जो सर्वस्वतन्त्र आत्मज्ञानसे परिपूर्ण हैं ॥ १७ ॥

जबतक अज्ञान रहता है, तभीतक चितिरूपी नदीमें जगत्-रूपी तरङ्गोंका उद्भव होता रहता है, यह कहते हैं—'तावत्' इत्यादिसे ।

सुधास्वरूप रससे परिपूर्ण चितिरूपी महानदी तभीतक जगत्तरङ्गोंसे युक्त रहती है, जबतक उसमें आत्मरूपसे प्रवेश नहीं किया जाता यानी मरूय आत्म-ज्ञान नहीं होता ॥ १८ ॥

जो वस्तु आदि और अन्तकालमें नहीं रहती, वह मध्यमें भी नहीं रह सकती, क्योंकि जिसका जो स्वभाव होता है, वह किसी भी कालमें बदल नहीं सकता । यह स्वप्नस्थलमें सभीको ज्ञात है, इस तरहकी अनुमानशैली दर्शाते हैं—'प्राग्' इत्यादिसे ।

हे सखे, समस्त यह जगत् न तो आरम्भमें है और न अन्तमें ही है । इसलिए तुम यह भी समझ लो कि मध्यमें भी यह है ही नहीं । इस जगत्का सारा वृत्तान्त ऐसा है, जैसा कि स्वप्नका है ॥ १९ ॥

अविद्यायोनयो भेदाः सर्वेऽमी बुद्बुदा इव ।
क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम् ॥ २० ॥
सुशीतलोदकनदीं विदित्वाऽथ विगाह्यताम् ।
बहिर्भ्रान्तिनिदाघास्ते निर्यान्तु कलितासुखम् ॥ २१ ॥
एकश्चाऽज्ञानजलधिर्जगदाप्लाव्य तिष्ठति ।
ज्येष्ठोऽयमहमित्यूर्मिरविद्यावातसम्भवः ॥ २२ ॥
चित्तस्खलनभेदाली रागाद्याश्च प्रकल्पिताः ।
ममतोत्कलितावर्तः स्वतः स्वैरं प्रवर्तते ॥ २३ ॥
रागद्वेषावतिग्राहौ गृहीतसमनन्तरः ।
ततश्चानर्थपातालप्रवेशः केन वार्यते ॥ २४ ॥

अविद्यासे उत्पन्न हुए ये सारे भेद, जलमें बुल्लोंकी नाईं, क्षण-क्षणमें उत्पन्न हो होकर एकमात्र ज्ञानरूप समुद्रमें विलीन हो जाते हैं ॥ २० ॥

उत्तम शान्ति देनेवाली आत्मसंवितिरूपी नदी पहले जानकर फिर उसमें गोता लगाकर वे बाह्यभ्रान्तिरूप निदाघ (गर्मीके काल) सुखपूर्वक निकल जाँय ॥ २१ ॥

अब वाल्मीकिजी अज्ञानका लवणसागरके रूपमें वर्णन करते हैं—'एकश्चा०' इत्यादिसे ।

अकेला अज्ञानरूपी समुद्र ही समस्त जगत्को व्याप्त कर स्थित है । इस समुद्रमें अनादि भ्रान्तिवासनारूप वायुसे उत्पन्न हुआ सबसे बड़ा यह 'अहम्' नामका तरङ्ग है ॥ २२ ॥

छोटे-छोटे तरङ्गोंको दर्शाते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

उन-उन विषयोंमें चित्तके गिरनेके जो नानाविध प्रकार हैं, उनके हेतुभूत राग आदि दोष इस समुद्रके छोटे-छोटे तरङ्ग कल्पित किये गये हैं । ममता ही इसमें आवर्त है, यह यथेष्ट जहाँ चाहता है, वहाँ प्रवृत्ति करने लग जाता है ॥ २३ ॥

इस समुद्रमें राग और द्वेष बड़े-बड़े मगर हैं, उन्हीं दो मगरोंसे पहले तत्काल ही तुम पकड़ लिए जाते हो और तदनन्तर अनर्थरूपी पातालमें तुम्हारा प्रवेश निश्चित हो जाता है, यह प्रवेश किसीसे भी रोका नहीं जा सकता ॥ २४ ॥

प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ।
मज्ज मज्जसि किं द्वैतग्रहक्षाराब्धिवीचिषु ॥ २५ ॥
कस्तिष्ठति गतः को वा कस्य केन किमागतम् ।
किं नु मज्जसि मायायां पत मा त्वमतन्द्रितः ॥ २६ ॥
तत्त्वमेकं यदात्मेति जगदेतत्प्रचक्षते ।
ततोऽन्यः कस्तवाऽतीतो यस्तात विषयः शुचाम् ॥ २७ ॥
बालान्प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत् ।
अविवर्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा ॥ २८ ॥

यदि तुम्हें समुद्रमें ही डूबना है, तो आनन्दसमुद्रमें क्यों नहीं डूबते, यह कहते हैं—'प्रशान्ता०' इत्यादिसे ।

भद्र, [यदि तुम्हें समुद्रमें डूबना ही है, तो] प्रशान्त तथा अमृतरूप तरङ्गोंसे पूर्ण केवल आनन्दामृतके समुद्रमें ही क्यों नहीं डूबते । व्यर्थ द्वैतरूप मकरोंसे पूर्ण लवणसागरके तरङ्गोंमें क्यों डूबते हो ॥ २५ ॥

यह संसार श्रीरामजीके लिए तो तत्त्वज्ञानसे चला गया, मेरे लिए तो गया ही नहीं, परन्तु स्थित है, इस तरहके शोकहेतु मोहका कारण कहते हैं—'कस्तिष्ठति' इत्यादिसे ।

कौन स्थित है, किसके लिए कौन चला गया, किस हेतुसे क्या फल मिला, इस तरहके शोककी हेतु मायामें (मोहमें) तुम क्यों गोते लगा रहे हो ? मैं तुमसे कहता हूँ कि ऐसे मोहमें विवेकी बनकर गोते मत लगाओ ॥ २६ ॥

'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वेदान्तवाक्य जब यह कहते हैं कि जो कुछ यह जगत् है, वह सब आत्मरूप एक तत्त्व ही है, तब हे प्रिय, ऐसी कौन दूसरी वस्तु चली गई है, जो तुम्हारे नानाविध शोकोंकी विषय बन बैठी है ॥ २७ ॥

जिनको अज्ञान है, उन बालकोंके प्रति तो ब्रह्मका जगत्‌के रूपमें विवर्त होता है, परन्तु जो पुण्यवान् पुरुष निरन्तर आनन्दरूप आत्मामें अपनी सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित हैं, उनके प्रति ब्रह्मका जगत्‌के रूपमें विवर्त होता ही नहीं ॥ २८ ॥

अविविक्तो जनः शोचत्यकस्माच्च प्रहृष्यति ।
तत्त्ववित्तु हसन्नास्ते तस्य मोहो विडम्बनम् ॥ २९ ॥
तच्च सूक्ष्ममिदं तत्त्वं तिरोहितमविद्यया ।
यथा स्थलेषु लोकानां जलेष्वात्मसु संशयः ॥ ३० ॥
पृथिव्यादिमहाभूतपरमाणुमयं जगत् ।
स्थितं यदा तदापीह को गतो योऽनुशोच्यते ॥ ३१ ॥

किसी समय तत्त्वज्ञानियोंको मोह जो दिखाई पड़ता है, वह कैसे ? इसपर कहते हैं—'अविविक्तः' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषको तनिक भी विवेक नहीं है, वह शोक करता है और अकस्मात् प्रसन्न भी होता है, परन्तु जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, वह निरन्तर हँसता ही रहता है, उसे जो किसी समय मोह दिखाई पड़ता है, वह केवल अज्ञानियोंकी चेष्टाका अनुकरण ही है ॥ २९ ॥

यह बात अज्ञानियोंमें नहीं हो सकती, क्योंकि अविद्यासे आक्रान्त अज्ञानियोंको, जलमें स्थलबुद्धिके सदृश, अनात्मामें आत्मबुद्धि रहती है, यह कहते हैं—'तच्च' इत्यादिसे ।

प्रसिद्ध जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी लोगोंके लिए अविद्यासे ढका रहता है, इसलिए उन्हें जलमें स्थल और स्थलमें जलका जैसे संशय बना रहता है, वैसे ही कल्पित अनात्मामें आत्माका और आत्मामें अनात्माका संशय बना रहता है, अतः अज्ञानियोंके लिए उक्त बात हो नहीं सकती ॥ ३० ॥

'जगत् परमाणु है' इत्यादि सिद्धान्त माननेवाले वादियोंकी रीतिसे भी विवेक हो जानेपर जब कि शोक चला आता है, तब 'समस्त जगत् मायामय है' इस सिद्धान्तमें विवेक हो जानेपर तो न चला जाय, यह शङ्का तो हो ही नहीं सकती, इस आशयसे कहते हैं—'पृथिव्यादि०' इत्यादिसे ।

पृथ्वी आदि जितने महाभूत हैं, वे सब परमाणुमय हैं, यह मत यदि मान लिया जाय, तो भी यहाँ ऐसी कौन आत्मा नष्ट हो गई, जिसका शोक किया जाय, क्योंकि परमाणुवादमें भी देह आदिके अनात्मा होनेके कारण उनके नाशसे आत्माका नाश तो होता नहीं ॥ ३१ ॥

असतः सम्भवो नास्ति नास्त्यभावः सतः सखे ।
आविर्भावतिरोभावा संस्थानानाममी परम् ॥ ३२ ॥
किन्त्वनेकपुरोत्साहा द्विषतामुपगच्छति ।
भज सम्भरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ॥ ३३ ॥
दुरितानि समस्तानि पच्यन्तेऽद्यापि न ध्रुवम् ।
कृतमेवाऽस्य देवस्य पाशा विश्रवतां गताः ॥ ३४ ॥

अपनी प्रिय वस्तुके नाशसे प्राणीको शोक अवश्य होता है। यदि वह प्रिय वस्तु सद्रूप है, तब तो वह कभी नष्ट नहीं हो सकती और यदि असद्रूप है, तो वह कदापि स्थित नहीं रह सकती, इस तरह दोनों प्रकारोंसे उस आत्म-वस्तुके नाशकी किसी तरह भी सिद्धि न होनेके कारण शोकका कोई हेतु है ही नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'असतः' इत्यादिसे।

हे मित्र, न तो असद्वस्तुकी उत्पत्ति होती है और न सद्वस्तुका अभाव होता है, केवल माया द्वारा विरचित चित्र-विचित्र रचनाओंके ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं ॥ ३२ ॥

यदि देहादि रचनाविशेष मायिक है, तो फिर ऐन्द्रजालिक द्वारा दिखाई गई मायाकी नाईं इसे उदासीन और तटस्थ अवभासित होना चाहिए; शोक, मोह आदि दुःखोंसे भरे हुए हजारों अनर्थ उत्पन्न करनेमें इसके पास विशेष हेतु क्या है, यदि ऐसी तुम आशङ्का करो, तो उसपर हम कहते हैं, सुनो। हे मित्र, यह तुम्हारी आशङ्का सत्य है; आधुनिक कोई हेतु इसके पास उपस्थित नहीं है, किन्तु पुण्य और पापमें प्रवृत्तिरूप जो अनेक पूर्व जन्मोंका सञ्चित पुरुषप्रयत्न है वही पुण्य-पापनामक विशेष हेतु इसके पास उपस्थित है। उसीसे वह मायिक देह आदि पुण्यादि-फलके भोगके लिए विषके समान मरण-मूर्च्छा आदि हजारों हेतुओंके स्वरूपमें परिणत हो जाता है और सैकड़ों बार उपदेश देनेपर भी अध्यात्मज्ञानके प्रतिपादक शास्त्रोंका अर्थ पापके कारण इसके हृदयमें स्थान नहीं कर पाता, इसलिए हे मित्र, उस पापके विनाशके लिए अपने भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके वास्ते अर्धनारीश्वर आदिका वेष धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वरकी तुम उपासना करो ॥ ३३ ॥

हे मित्र, अभीतक तुम्हारे समस्त पाप नष्ट नहीं हो गये हैं। प्राणायाम द्वारा

साकारं भज तावत्त्वं यावत्सत्त्वं प्रसीदति ।
निराकारे परे तत्त्वे ततः स्थितिरकृत्रिमा ॥ ३५ ॥

इमामुद्दामतमसो जित्वा सत्त्वबलाद्भ्रुवम् ।
यमस्याऽनुसराऽध्वानं विश्वस्तेनाऽन्तरात्मना ॥ ३६ ॥

समाधाय क्षणं पश्य प्रत्यगात्मानमात्मना ।
इयं विभातु सा व्यक्तं प्राग्बुद्धिरजनी तव ॥ ३७ ॥

कृतं पुरुषकारेण केवलेन च कर्मणा ।
महेशानुग्रहादेव प्राप्तव्यं प्राप्यते नरैः ॥ ३८ ॥

किये गये पुण्य-पापरूपी कर्म ही इस पशुपति भगवान्‌के प्राणीरूपी पशुओंके बन्धनके लिए पाशरूपसे विविध श्रुति आदि प्रमाणोंके द्वारा प्रसिद्धिको प्राप्त कर चुके हैं ॥ ३४ ॥

हे सखे, तुम तबतक साकार*देवका भजन करो, जबतक तुम्हारा चित्त विशुद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि उस भजनसे विघ्नों द्वारा किसी तरहकी बाधा न पहुँचाये जानेके कारण निराकार परमतत्त्वमें तुम्हारी सहज स्थिति दृढ़ हो जायगी ॥ ३५ ॥

साकार महेश्वरकी उपासनासे प्राप्त विशुद्ध सत्त्वके बलसे हजारों विविध व्यामोहोंके द्वारा प्रचण्ड बने अज्ञानकी इस व्यामोह-शक्तिको जीतकर गुरु और शास्त्रोंके उपदेशमें विश्वासयुक्त मनसे इन्द्रियोंके साथ-साथ मनोनिग्रहरूप योगके मार्गका अनुसरण करो ॥ ३६ ॥

अनन्तर क्षणभरकी समाधि लगाकर अपनेसे ही प्रत्यगात्माका अवलोकन करो, ताकि उस प्रत्यगात्माके दर्शनसे तमोगुणसे आच्छादित तुम्हारी बुद्धिरूपी रात प्रभातरूपमें परिणत हो जाय ॥ ३७ ॥

केवल पुरुषप्रयत्नरूप कर्मोंसे कोई मतलब सिद्ध नहीं होता, भगवान् महेश्वरके एकमात्र अनुग्रहसे ही मनुष्य प्राप्तव्य वस्तुकी प्राप्ति कर लेते हैं ॥३८॥

---

* देखिये, श्रुति भी कह रही है—

'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥' इत्यादि ।

नाभिजात्यं न चारित्र्यं न नयो न च विक्रमः ।
बलवन्ति पुराणानि सखे कर्माणि केवलम् ॥ ३९ ॥
अप्रतर्क्यात्प्रतीकारात्किमेवमवसीदसि ।
न लुम्पति ललाटस्थामीश्वरोऽप्यक्षरावलीम् ॥ ४० ॥
क्व चिद्वक्ता क्व वैदग्ध्यं क्व चेयं मोहवल्लरी ।
अचिन्तनीया नियतिर्यदियं द्वन्द्वमाहिता ॥ ४१ ॥

अच्छे कुलमें उत्पत्ति, सदाचार, चान्द्रायणादि तप तथा अग्निहोत्रादि कर्मोंका सम्पादन आदिरूप वर्तमानकालके पुरुषप्रयत्न पूर्वजन्मके कर्मोंकी अपेक्षा प्रबल होते हैं, यह तो आप पहले ही सिद्ध कर चुके हैं, अब फिर आप ईश्वरके अनुग्रहकी आवश्यकता क्यों बतला रहे हैं, इस आशङ्कापर कहते हैं—'नाभिजात्यम्' इत्यादिसे ।

हे मित्र, महेश्वरके अनुग्रहके बिना केवल कुलीनता, सदाचारिता, नीति और पराक्रम आदि कुछ भी नहीं काम कर पाते, क्योंकि पूर्वजन्मके कर्म अधिक बलवान् होते हैं । पूर्वजन्मोंके कर्मोंके अनन्त तथा इस जन्मके पुरुष-प्रयत्नोंके अल्प होनेके कारण ईश्वरके अनुग्रहके बिना उनके ऊपर विजय नहीं पायी जा सकती, इसलिए ईश्वरानुग्रहरूपी सहायता हृदयमें करके ही इस जन्मके पुरुषप्रयत्नोंकी प्रबलता पहले सिद्ध की गई है, उसे छोड़कर नहीं, यह भाव है ॥ ३९ ॥

तब तो भगवान् महेश्वरकी उपासना ही करनी चाहिए, यम, नियम, ज्ञान आदिकी कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'अप्रतर्क्यात्' इत्यादिसे ।

सखे, ईश्वरकी शरणमें गये हुए भी तुम पुरुषके तर्कोंसे अगम्य तथा एकमात्र श्रुतिसे गम्य धर्मादिसहित ज्ञानरूप प्रतीकारसे यानी मूलसहित सम्पूर्ण कर्मोंके निरासोपायसे क्यों उद्विग्न हो रहे हो, क्योंकि उपासना द्वारा प्रसन्न किया गया ईश्वर भी ललाटके ऊपर लिखे गये अक्षरोंको अपने हाथसे स्वयं नहीं मिटा सकता, किन्तु ज्ञानकृत मूलोच्छेदोपायसे ही मिटा सकता है ॥ ४० ॥

गुरु और शास्त्रोंमें शिष्यको बोध दिलानेकी शक्ति, शिष्यमें चित्तकी शुद्धि द्वारा ऊहापोहमें अधिक कुशलताके कारण समझनेकी शक्ति तथा रागादिमें मूल-

हे भरद्वाज मोहं त्वं विवेकेन जहि स्फुटम् ।
असामान्यमिदानीं त्वं ज्ञानं प्राप्स्यस्यसंशयम् ॥ ४२ ॥
दूरमुत्सहते राजा महासत्त्वो महापदि ।
अल्पसत्त्वो जनः शोचत्यल्पेऽपि हि परिक्षते ॥ ४३ ॥
बोधः पुण्यपराधीनः प्रथते बहुजन्मभिः ।
अनुमीयेत धीरेषु जीवन्मुक्तेषु कार्यतः ॥ ४४ ॥

सहित उखड़ जानेकी योग्यतारूप परिपाक आदि सब सामग्रियोंका मिलना भी ईश्वरकी इच्छारूप नियतिके वश ही रहता है, इसे कहते हैं—'क्व चिद्वक्ता' इत्यादिसे ।

कहाँ तो वाणी और मनके अगम्य अखण्ड ब्रह्मात्मचितिको बतलानेवाला गुरु, कहां उसके जाननेकी योग्यतारूप शिष्यका कौशल और कहां शम, दम आदिके क्रमसे अपने सर्वनाशके लिए परिणत यह मोहरूप वल्लरी ? परन्तु जिसके प्रभावसे यह सारी सामग्री परस्पर एक दूसरेमें मिल गई है, वह ईश्वरकी इच्छा अचिन्तनीय है ॥ ४१ ॥

इसलिए ऐसी सामग्री उपलब्ध होनेपर मोहको जीत लेनेके लिए खूब उत्साह रखना ही युक्त है, बीचमें आकर शोक करना ठीक नहीं, इसे कहते हैं—'हे भरद्वाज' इत्यादिसे ।

हे भरद्वाज, तुम अपने विवेकसे इस मोहका स्पष्टरूपसे त्याग कर दो, फिर तो निःसन्देह तुम असाधारण ज्ञानको प्राप्त कर लोगे ॥ ४२ ॥

किञ्च, किसी बड़े कार्यमें सामग्रीहीन पुरुषको ही शोक करना उचित है, महाराजोंकी नाईं सर्वसम्पन्न तुम्हें शोक करना तो ठीक नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'दूर०' इत्यादिसे ।

महाशक्तिसम्पन्न राजा युद्ध आदि महाविपत्तियोंमें फँस जानेपर भी धन, भृत्य आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न होनेके कारण दूसरोंके लिए अशक्ति भी पृथिवीपरिपालन, दुष्टनिग्रह, शिष्टपरिपालन आदि कार्य केवल आज्ञासे ही करनेमें समर्थ होता है, किन्तु अल्पशक्तिसम्पन्न पुरुष तो धनादिक्षतिरूप साधारण एक छोटी-सी आपत्ति आ जानेपर भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर शोक करने लगता है, क्योंकि उसे पार करनेमें धैर्य आदि सामग्रीरूप हेतु उसके पास नहीं रहता ॥ ४३ ॥

जीवन्मुक्त पुरुषोंको दृष्टान्त बनाकर पुण्य-सामग्री रहनेपर मुझे बोध अवश्य

द्विषद्भूतेन येनैव कर्मणा बन्ध ईदृशः ।
सुहृद्भूतेन तेनैव मोक्षमाप्स्यसि पुत्रक ॥ ४५ ॥
सतां सत्कर्मसंवेगः पुराणं प्रणुदन्नयम् ।
वर्षौघ इव भूतानां दावानलमसेचयत् ॥ ४६ ॥
सखे संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयीभव ।
नेष्यसे यदि संसारचक्रावर्तभ्रमः शमम् ॥ ४७ ॥

ही हो जायगा, यह अनुमान करके सबसे पहले पुण्य कमानेमें मनुष्यको प्रवृत्त होना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'बोधः' इत्यादिसे ।

भगवान् महेश्वरकी दयासे अनेक जन्मोंके बाद आत्मज्ञान प्रकट होता है, यह आत्मज्ञान मुझे भी सामग्री रहनेपर अवश्य होगा, ऐसा प्रत्येक पुरुषको अनुमान कर लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ जीवन्मुक्त धीर पुरुषोंमें अनेक जन्मोंके संचित पुण्यसे आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, यह दृष्टान्त है ॥ ४४ ॥

पापके समान पुण्य भी संसारबन्धनका कारण है, अतः शत्रुस्वरूप हुआ पुण्य क्यों कमाया जाय ? इस आशङ्कापर कहते हैं—द्विषद्भूतेन' इत्यादिसे ।

हे पुत्र, विषयोंमें अनुराग होनेपर शत्रुस्वरूप हुए जिस पुण्यकर्मसे तुम्हें इस तरहका बन्धन प्राप्त हुआ है, विषयोंमें अनुराग न होनेपर मित्रस्वरूप हुए उसी पुण्यकर्मसे तुम मोक्ष पा जाओगे ॥ ४५ ॥

अधिक पुण्यके द्वारा पूर्वजन्मके पापोंका नाश होनेपर शम, दम आदिरूप अमृतसे तरी प्राप्त करनेवाले पुरुषोंको आधिदैविक आदि तीनों तरहके तापोंकी शान्ति हो जाती है, इसे कहते हैं—'सताम्' इत्यादिसे ।

रागादि दोषोंसे शून्य सज्जनोंका यह सत्कर्मोंका संवेग प्राणियोंके पूर्वजन्मके पापोंको नष्ट करता हुआ उनके त्रिविध तापोंको ऐसे शान्त कर देता है, जैसे वर्षाका समूह दावानलको ॥ ४६ ॥

पुण्योपार्जनके बाद दृढ वैराग्य होनेपर जो कार्य करना चाहिए उसका उपदेश देते हैं—'सखे' इत्यादिसे ।

हे मित्र, यदि अपना कल्याण चाहते हो, तो संसारचक्रके आवर्तमें भ्रमण मत करो, (अथवा 'संसारचक्रावर्तभ्रमभ्रमम्' इस पाठके अनुसार—संसारचक्रके आवर्त-रूपी भ्रममें यदि तुम भ्रमण करना नहीं चाहते, तो) सब कर्मोंको छोड़-छाड़कर श्रवण आदि उपायोंसे तुम केवल ब्रह्ममें आसक्त हो जाओ ॥ ४७ ॥

तावदेतद्विकल्पोत्थमिदं यावद्बहिर्ग्रहः ।
प्रतिकूलोऽब्धिरुल्लोले केवलं निश्चले जले ॥ ४८ ॥
अयं किमन्धकरणस्त्वया शोकोऽवलम्ब्यते ।
निर्वाहयतु सैव त्वां प्रज्ञायष्टिरभङ्गुरा ॥ ४९ ॥
न जातु ते विगण्यन्ते गणनासु गरीयसाम् ।
ये तरङ्गैस्तृणानीव ह्रियन्ते हर्षशोकयोः ॥ ५० ॥
समारूढं दशादोलामहोरात्रमिदं जगत् ।
क्रीड्यते षड्विधैः प्रेङ्खैः सखे किमिति खिद्यते ॥ ५१ ॥
सूते संहरति क्षिप्रं पुनः सृजति हन्ति च ।
जगन्ति बहुपर्यायैः काल एव कुतूहली ॥ ५२ ॥

जबतक बाह्यविषयोंमें आसक्ति है यानी जबतक ब्रह्ममें आसक्ति नहीं है तभीतक विकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखाई देता है । हे मित्र, जलके तरङ्गयुक्त होनेपर ही समुद्र अपने तटकी ओर जाकर उससे टक्कर खा करके विक्षिप्त होता है, जलके निश्चल रहनेपर तो वह केवल जलरूप ही दिखाई देता है ॥ ४८ ॥

विवेकज्ञानरूप दृष्टि (चक्षु) को ढक देनेवाले इस शोकका तुम अवलम्बन क्यों कर रहे हो । हे मित्र, अभङ्गुर वह प्रज्ञारूपी यष्टि (छड़ी) ही इस तरह शोकसे अन्धे बने हुए तुम्हारा तबतक निर्वाह करे जबतक कि तुम्हारी विवेक-दृष्टि खुल नहीं जाती ॥ ४९ ॥

हर्ष और शोकके—आत्मज्ञानके उत्साहके विनाशक—तरङ्गोंसे, तृणोंकी नाईं, जो लोग इस संसारसागरमें बहते हैं वे लोग महात्माओंकी गणनामें कभी नहीं गिने जाते ॥ ५० ॥

हे सखे, यह सारा जगत् (जीवसमूह) हर्ष, विषाद आदि अवस्थारूप झूलेपर निरन्तर आरूढ है । इसे छः ऋतुरूप या काम, क्रोध आदि रूप छः झूलोंसे झुलाकर काल क्रीडा करता है, अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो अर्थात् खेलवाड़ करनेके लिए कल्पित पदार्थोंके संयोग और वियोगमें खेद करना युक्त नहीं है ॥ ५१ ॥

इस तरहकी नानाविध क्रीड़ाओंमें उत्कण्ठा रखनेवाला एकमात्र काल ही

न विशेषग्रहः कश्चिन्न च कश्चिन्न कश्चन ।
जन्तुष्वभ्यवहार्येषु प्राक्रम्य कालभोगिनः ॥ ५३ ॥
का कथा मर्त्यपिण्डानां निमेषान्तरवासिनाम् ।
अपि देवनिकाया ये तेऽपि दुष्कालगोचराः ॥ ५४ ॥
स्वयं नृत्यसि किं प्रीतो विपत्तौ विकलेन्द्रियः ।
क्षणं निश्चलमासीनः पश्य संसारनाटकम् ॥ ५५ ॥

अनेक उपायोंसे एकके पीछे एक अनेक जगतोंको उत्पन्न करता है, विनाश क[रता] है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता है ॥ ५२ ॥

जैसे दूसरे प्राणियोंके शरीर आदिका काल भोजन कर डालता है [वैसे] ही अपने शरीर आदिका भी काल भोजन कर डालता है, इस नियम[को] मानकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जो जिसका खाद्य है, उसे वह अव[श्य] ही खा डालेगा । जब इस तरहका निश्चय हो जाता है, तब शरीर आदि[में] अहन्ताभिमानका भी परित्याग हो जाता है और तदनन्तर शोकका प्रसङ्ग न[हीं] आता, यह कहते हैं—'न विशेष०' इत्यादिसे ।

हे भद्र, केवल कालरूप सर्प द्वारा बलपूर्वक आक्रमण कर भक्षित किये जा[ने] वाले जन्तुओंके बीचमें वास्तवमें न कोई विशेष ज्ञान है, न कोई ऐसे ज्ञान[का] विषय विशेषरूप धर्म है और न कोई ऐसे धर्मका आश्रय (धर्मी) ही है ॥५[३॥]

अपि च, जो देवयोनि हैं वे भी जब दुष्ट कालके पिण्डसे छुटे हुए न[हीं] हैं यानी देवताओंको भी जब दुष्ट काल पचा जाता है, तब निमेषपर्यन्त रहने[वाले] विनाशी शरीरोंकी तो कथा ही क्या ॥ ५४ ॥

अपि च, वास्तवमें तुम साक्षीरूप ही हो, इसलिए तुम्हें दूसरे के[संसारनृत्यका कौतुक ही देखना चाहिए, न कि शोक, मोह आदि विका[रोंसे] विकृत होकर स्वयं नृत्य करना चाहिए, यह कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

भद्र, धननाश आदि विपत्तियोंमें विकृत इन्द्रियोंसे युक्त होकर प्रेमपू[र्वक] क्यों स्वयं ही नृत्य करने लग जाते हो, क्षणभर चुपचाप बैठकर संसारना[टक] तो देखो ॥ ५५ ॥

अस्याऽनेकतरङ्गस्य जगतः क्षणभङ्गिनः ।
न विषीदति मनस्वी भरद्वाज मनागपि ॥ ५६ ॥
त्यज शोकममङ्गल्यं मङ्गलानि विचिन्तय ।
चिदानन्दघनं स्वच्छमात्मानं च विभावय ॥ ५७ ॥
देवद्विजगुरुश्रद्धाभरबन्धुरचेतसाम् ।
सदागमप्रमाणानां महेशानुग्रहो भवेत् ॥ ५८ ॥

भरद्वाज उवाच

ज्ञातं तव प्रसादेन सर्वमेतदशेषतः ।
न वैराग्यात्परो बन्धुर्न संसारात्परो रिपुः ॥ ५९ ॥
इदानीं श्रोतुमिच्छामि वसिष्ठेनोपपादितम् ।
ज्ञानसारमशेषेण ग्रन्थेनोक्तं पदात्मना ॥ ६० ॥

हे भरद्वाज, अनेक तरङ्गोंसे युक्त इस जगत्‌को क्षणभङ्गुर देखकर ज्ञा पुरुष तनिक भी शोक नहीं करता ॥ ५६ ॥

अमङ्गल देनेवाले शोकको छोड़ दो, मङ्गलमय वस्तुओंका विचार करो अ चिदानन्दघन स्वच्छ परमात्माकी भावना करो ॥ ५७ ॥

जो मङ्गलमय वस्तुएँ हैं, उन्हें बतलाते हैं—'देव०' इत्यादिसे ।

जो पुरुष देव, द्विज और गुरुओंके ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्तवा हो गये हैं और जो वेदादि सत्-शास्त्रोंमें प्रामाण्यबुद्धि रखते हैं ऐसे पुरुषों ऊपर महेश्वरका परम अनुग्रह होता है अर्थात् देव, द्विज आदिके ऊपर श्र आदि रखनेसे ईश्वरानुग्रहरूप परम मङ्गल प्राप्त होता है, इसलिए देवादि श्रद्धा आदि ईश्वरानुग्रहरूप मङ्गलके साधन होनेसे मङ्गलरूप हैं और ईश्व नुग्रह साक्षात् ज्ञानका साधन होनेसे उनसे भी बढ़कर मङ्गलरूप है ॥ ५८ ॥

भरद्वाजने कहा—भगवन्, आपके प्रसादसे मैंने पूर्णरूपसे सब साधनों रहस्य यह जान लिया कि वैराग्यसे बढ़कर दूसरा इस संसारमें उद्धार करनेवा बन्धु नहीं है और संसारसे बढ़कर दूसरा मारनेवाला कोई शत्रु नहीं है ॥ ५९

अब मैं अनेक वाक्यरूप समस्त ग्रन्थसे महाराज वसिष्ठजी द्वारा कहे ज्ञानरूपी रहस्यका सम्पूर्ण निचोड़ थोड़े शब्दोंमें सुनना चाहता हूँ, कृपा कहिए ॥ ६० ॥

वाल्मीकिरुवाच

भरद्वाज शृणुष्वेदं महाज्ञानं विमुक्तिदम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण भवाब्धौ न निमज्जसि ॥ ६१ ॥
संहृतिस्थितिसंभूतिभेदैर्योऽनेकधा स्थितः ।
एकोऽपि सन्नमस्तस्मै सच्चिदानन्दमूर्तये ॥ ६२ ॥
कृते प्रपञ्चविलये यथा तत्त्वं प्रकाशते ।
तवोपायं प्रवक्ष्यामि सङ्क्षेपाच्छ्रुतिशासनात् ॥ ६३ ॥
पूर्वापरविचारार्हा कथं नष्टा तव स्मृतिः ।
तयैव ज्ञायते सर्वं करामलकवत्स्वयम् ॥ ६४ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, मुक्ति देनेवाले इस महाज्ञानको तुम सुनो, इसके केवल सुननेसे ही फिर संसाररूपी सागरमें तुम गोते नहीं लगाओगे ॥ ६१ ॥

जगत्‌का लय करनेमें हेतुभूत अपवाद कहनेकी इच्छासे अध्यारोप द्वारा अनेक प्रकारसे स्थित एक ही मङ्गलरूप देवको नमस्कार करते हैं—'संहृति०' इत्यादिसे ।

जो देव वास्तवमें एक होता हुआ भी अध्यारोप द्वारा उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूप कार्योंसे अनेक प्रकारका होकर स्थित है, उस सच्चिदानन्दरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ६२ ॥

प्रश्नके अनुसार उत्तर कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—'कृते' इत्यादिसे ।

जब प्रपञ्चका लय किया जाता है तब जिस उपायसे परमतत्त्व प्रकाशित होता है उस उपायको तुम्हें संक्षेपसे श्रुतिकथित क्रमका अवलम्बन कर कहता हूँ ॥ ६३ ॥

अलग-अलग प्रकरणोंमें कहे गये तत्त्वको सूक्ष्मबुद्धिवाले पुरुष स्वयं ही पूर्वापरके विचारसे जान सकते हैं, इस प्रकार समझनेकी तुममें सुबुद्धि विख्यात थी, परन्तु इस समय वह कैसे नष्ट हो गई, यों कहे जानेवाले अर्थके ग्रहणमें अवधानार्थ भरद्वाजको वाल्मीकि महाराज फटकार सुनाते हैं—'पूर्वापर०' इत्यादिसे ।

हे भरद्वाज, पूर्वापर ग्रन्थके विचारमें पटु तुम्हारी स्मृति कहाँ चली गई, उसीसे स्वयं ही सब कुछ हस्तामलकवत् जाना जा सकता है ॥ ६४ ॥

स्वयं विचार्यं स्वयमेव चेतसा
तत्प्राप्यते येन न शोचते पुनः ।
सत्सङ्गसच्छास्त्रविवेकतः पुन-
र्वैराग्ययुक्तेन विभाव्यमेतत् ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भरद्वाजानुशासनं नाम सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमः सर्गः

वाल्मीकिरुवाच

शान्तो दान्तश्चोपरतो निषिद्धात्काम्यकर्मणः ।
विषयेन्द्रियसंश्लेषसुखाच्च श्रद्धयान्वितः ॥ १ ॥

पहले अपने अन्तःकरणसे तत्त्वका स्वयं ही विचार करना चाहिए, इसीसे वह आत्मवस्तु स्वयं प्राप्त की जा सकती है। इसके प्राप्त होनेसे पुरुष फिर शोक नहीं करता। हे भरद्वाज, सत्संग और सत्-शास्त्रसे प्राप्त विवेकसे वैराग्ययुक्त होकर पुरुषको इसी तत्त्वकी बार-बार भावना करनी चाहिए ॥ ६५ ॥

एक सौ सत्ताईस सर्ग समाप्त

एक सौ अट्ठाईस सर्ग

[प्रविलापनयुक्तिसे भरद्वाज मुनिकी कृतार्थता, ज्ञानियोंके कर्तव्य तथा रामके व्युत्थापनका क्रम—यह वर्णन]

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धाविष्टः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति' इत्यादि श्रुतिके तात्पर्यके वर्णन द्वारा साक्षात्कारपर्यन्त साङ्गोपाङ्ग प्रपञ्चके प्रविलापनका प्रकार कहनेके लिए उपक्रम करते हैं—'शान्तः' इत्यादिसे।

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, शम, दम, उपरति यानी काम्य और निषिद्ध कर्मोंके परित्यागसे एवं विषयोंके साथ इन्द्रियोंके सम्बन्धसे जनित सुखसे

मृद्वासने समासीनो जितचित्तेन्द्रियक्रियः ।
ओमित्युच्चारयेत्तावन्मनो यावत्प्रसीदति ॥ २ ॥
प्राणायामं ततः कुर्यादन्तःकरणशुद्धये ।
इन्द्रियाण्याहरेत्पश्चाद्विषयेभ्यः शनैः शनैः ॥ ३ ॥
देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च सम्भवः ।
यस्माद्भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत् ॥ ४ ॥
विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्राऽऽत्मनि ततः परम् ।
अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे ॥ ५ ॥

(विषयासक्तिसे) शून्य, श्रद्धासे युक्त मुलायम आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको जीत करके योगी तबतक ॐकारका उच्चारण करता रहे अर्थात् दीर्घतासे जप करता रहे, जबतक मन प्रसन्न न हो जाय ॥ १,२ ॥

तदनन्तर अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए प्राणायाम करे और उसके पीछे विषयोंसे इन्द्रियोंको धीरे-धीरे खींच ले ॥ ३ ॥

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इनमें जिस-जिसकी जिस-जिस उपादान कारणसे उत्पत्ति हुई है, उस उसको जानकर यानी श्रुति आदिके द्वारा अनुसन्धान कर पीछे उनके उपादान कारणभूत उन-उन भूतों और देवोंमें उन सबका लय कर दे ॥ ४ ॥

इस तरह आध्यात्मिक देह, इन्द्रिय आदि भावको छोड़कर 'उनका कारणभूत देवतासमष्टिरूप अकारार्थ विराट् मैं ही हूँ' इस तरहकी भावनासे पहले विराट्में स्थित होकर; उसके बाद उसके कारणभूत उकारार्थ सूक्ष्मभूत लिङ्गसमष्ट्यात्मक हिरण्यगर्भमें उस विराट्का लय करके 'हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ' इस भावनासे स्थित रह जाय। तदनन्तर उसके कारणभूत त्रिगुणात्मक मायासे उपहित मकारार्थ अव्याकृतमें उस हिरण्यगर्भका भी लय करके 'अव्याकृतस्वरूप मैं ही हूँ' इस भावनासे स्थित हो जाय। उसके पश्चात् सम्पूर्ण जगत्के मूलकारणरूपसे उपलक्षित अव्याकृतसहित सबके अधिष्ठानभूत अर्धमात्रासे लक्षित परमकारण शुद्ध ब्रह्ममें उस अव्याकृतका भी लय करके स्थित हो जाय ॥ ५ ॥

मांसादि पार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत् ।
आप्यं रक्तादिकं चाऽऽप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत् ॥ ६ ॥
वायव्यं च महावायौ नाभसं नभसि क्षिपेत् ।
पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु ।
श्रोत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुर्भोगप्रसिद्धये ॥ ७ ॥
दिक्षु न्यस्याऽऽत्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत् ।
चक्षुरादित्यबिम्बे च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत् ॥ ८ ॥
प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत् ।
विष्णौ तथात्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च ॥ ९ ॥
उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत् ।
बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेद्देताः करणदेवताः ॥ १० ॥

देह, इन्द्रिय आदिमें जिसकी जिससे उत्पत्ति हुई है, उसका उसमें लय कर दे, यह जो कहा गया है उसका विशेषरूपसे फिर विवरण करते हैं—'मांसादि' इत्यादिसे ।

मांस आदि जो पार्थिव भाग हैं उनका पृथिवीमें, रक्त आदि जो जलीय भाग हैं उनका जलमें तथा जो तैजस भाग हैं उनका तेजमें, उनकी तन्मात्रा-रूपता जानकर, लय कर दे ॥ ६ ॥

वायुभागका महावायुमें और आकाशभागका आकाशमें लय कर दे । इसी तरह घ्राण आदि इन्द्रियोंका भी उनके आरम्भक देवतोपाधिभूत सूक्ष्म पृथिवी आदिमें लय करके 'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्' इत्यादि श्रुति-सिद्ध जीवके भोगकी प्रसिद्धिके लिए कर्ण आदि गोलकोंमें प्रवेश द्वारा श्रोत्र आदिरूप इन्द्रियभावको प्राप्त दिशा आदि देवताओंका क्रमशः उन देवताओंमें ही लय कर दे ॥ ७ ॥

अपने श्रोत्रेन्द्रियका दिशाओंमें और त्वगिन्द्रियका विद्युत्में लय कर दे । चक्षुरिन्द्रियका सूर्यमें तथा रसनेन्द्रियका जलके देवता वरुणमें लय कर दे ॥ ८ ॥

प्राणका वायुमें, वाणीका अग्निमें और हस्तेन्द्रियका इन्द्रमें लय कर दे । अपने पादेन्द्रियका विष्णुमें तथा गुदा-इन्द्रियका मित्रमें लय कर दे ॥ ९ ॥

उपस्थेन्द्रियका कश्यपमें लय करके उसके बाद मनका चन्द्रमामें

इन्द्रियव्यपदेशेन व्यादिश्यन्ते च देवताः ।
श्रुतिवाक्यमनुस्मृत्य न स्वतः प्रकटीकृताः ॥ ११ ॥
एवं न्यस्याऽऽत्मनो देहं विराडस्मीति चिन्तयेत् ॥ १२ ॥
ब्रह्माण्डान्तः स्थितो योऽसावर्धनारीश्वरः प्रभुः ।
आधारः सर्वभूतानां कारणं तदुदाहृतम् ॥ १३ ॥
स यज्ञसृष्टिरूपोऽसौ जगद्वृत्तौ व्यवस्थितः ।
द्विगुणाण्डाद्बहिः पृथ्वी पृथिव्या द्विगुणं जलम् ॥ १४ ॥

लय कर दे । इसी तरह बुद्धिका चतुर्मुख ब्रह्मामें लय कर दे । हे मित्र, इन्द्रियोंके बहाने देवता ही सब स्थित हैं, इन्द्रियोंके नामसे कोई दूसरी वस्तुएँ स्थित नहीं हैं, इनका मैं तुम्हें तत्त्वोपदेश द्वारा लय करनेका आदेश 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (वाणी बनकर अग्नि मुखमें प्रविष्ट हो गई) इस श्रुतिवाक्यको प्रमाण मानकर ही दे रहा हूँ । स्वतः अपने मनसे किसी तरहकी कोई कल्पना करके मैंने इन अर्थोंको तुमसे प्रकट नहीं किया है ॥ १०, ११ ॥

देह, इन्द्रिय आदिको विलीन करनेका तरीका बतलानेवाले संग्रहश्लोकको यों बतलाकर अब 'विराजि प्रथमं स्थित्वा' (विराट् मैं ही हूँ, इस भावनासे पहले विराट्-रूपमें स्थित होकर) इस उक्तिको और साफ करके बतला रहे हैं— 'एवम्' इत्यादिसे ।

इस तरह अपनी देहको उसके कारणमें विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे ॥ १२ ॥

'अव्याकृते स्थितः पश्चात्' (अव्याकृतमें स्थित होकर उसके पीछे) इसकी व्याख्याके प्रसङ्गमें ब्रह्मविद्याके इच्छुक पुरुषको पहले उपास्यरूपसे कही गई, सारे ब्रह्माण्डकी आत्मा विराट् पुरुषके हृदयकमलके ऊपर सदा स्थित रहनेवाली और ब्रह्मविद्यासे घटित अर्ध शरीरसे युक्त मायाशबल सम्पूर्ण जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणरूप ब्रह्मकी मूर्तिको दर्शा रहे महाराज वाल्मीकिमुनि—वही सम्पूर्ण प्राणियोंका माता-पिताके रूपसे भी कारण है—यह बतलाते हैं— 'ब्रह्माण्डान्तः' इत्यादिसे ।

सारे ब्रह्माण्डके भीतर जो यह अर्धनारीश्वर भगवान् स्थित है वही सम्पूर्ण भूतोंका आधार तथा कारण कहा गया है ॥ १३ ॥

वह सबका पिता होनेसे ही अपने विरचित देव, मनुष्य आदिरूप समस्त

सलिलाद् द्विगुणं तेजस्तेजसो द्विगुणोऽनिलः ।
वायोर्द्विगुणमाकाशमूर्ध्वमेकैकशः क्रमात् ॥ १५ ॥
व्यस्तेन च समस्तेन व्यापिना ग्रथितं जगत् ।
क्षितिं चाऽप्सु समावेश्य सलिलं चाऽनले क्षिपेत् ॥ १६ ॥
अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।
नभश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ॥ १७ ॥

जगत्‌को अन्न-पान आदिके द्वारा जीवित रखनेके उपायमें व्यवस्थित होकर हविष् तथा वृष्टि आदिसे सबके पोषक श्रौत-स्मार्त यज्ञोंकी सृष्टिरूपसे ब्रह्माण्डके भीतर स्थित है। [प्रासङ्गिक बात बतलाकर प्रस्तुत देहेन्द्रियादिका विलय बतलानेके लिए ब्रह्माण्डका आवरण बतलाते हैं—'द्विगुणा०' से] इस ब्रह्माण्डके घेरेसे बाहर द्विगुण पृथिवी है और उस पृथिवीसे द्विगुण जल है ['एभिरावरणैरण्डं व्याप्तं दशगुणोत्तरैः' इत्यादिरूपसे ब्रह्माण्डकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दसगुण अधिक पृथिवी आदिका आवरण यद्यपि पुराणोंमें सुना जाता है तथापि द्विगुण ही उसे भी समझना चाहिए, क्योंकि चारों ओरसे घेरकर पाँच कोशकी प्रदक्षिणा करनेपर जैसे पचीस कोशकी प्रदक्षिणा हो जाती है वैसे ही एकके पचगुनेको दो बार गुण देनेसे दसगुनेकी सिद्धि हो जाती है। अथवा पुराणोंमें जो आवरण कहा गया मिलता है वह अपञ्चीकृत भूतोंका आवरण है, किन्तु यहाँ तो पञ्चीकृतभूतोंके अभिप्रायसे कहा गया है, यों किसी तरहका विरोध नहीं दीखता।] ॥ १४ ॥

जलसे द्विगुण तेज है, तेजसे द्विगुण वायु है और वायुसे द्विगुण आकाश है। यों क्रमशः एक दूसरेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर द्विगुण हैं ॥ १५ ॥

पञ्चीकृत या अपञ्चीकृत आकाशसे यह सारा जगत् ग्रथित है। योगीको चाहिए कि वह पृथिवीका जलमें लय करके उस जलको फिर तेजमें लीन कर दे ॥ १६ ॥

तेजको वायुमें विलीन करके उस वायुको फिर आकाशमें विलीन कर दे और आकाशको समस्त स्थूल प्रपञ्चोंकी उत्पत्तिके कारणभूत हिरण्यगर्भाकाशमें विलीन कर दे ॥ १७ ॥

स्थित्वा तस्मिन् क्षणं योगी लिङ्गमात्रशरीरधृक् ।
वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्माविद्ये तथैव च ॥ १८ ॥
दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।
ततोऽर्धोऽण्डाद्बहिर्यातस्तत्राऽऽस्मास्मीति चिन्तयेत् ॥ १९ ॥
चतुर्मुखोऽग्रके चायं भूतसूक्ष्मव्यवस्थितः ।
लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याऽव्यक्ते च बुद्धिमान् ॥ २० ॥
नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ॥ २१ ॥

उस हिरण्यगर्भाकाशमें एकमात्र लिङ्ग शरीर धारणकर योगी क्षणभर स्थित रहे । [योगीका वह लिङ्ग शरीर क्या है, इसपर कहते हैं—'वासना'से] वासनाएँ, सूक्ष्मभूत, कर्म, अविद्या, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सबको पण्डित लोग लिङ्ग शरीर कहते हैं । तदनन्तर स्थूल उपाधिका लय हो जानेसे अर्धशरीरसे सम्पन्न हुआ-सा वह योगी ब्रह्माण्डरूपताके अभिमानका त्याग करके उससे बाहर निकल कर सूक्ष्मभूतात्मक लिङ्गसमष्टिदेहमें 'मैं ही आत्मरूप अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ हूँ' यों चिन्तन करे ॥ १८, १९ ॥

चार मुखवाला शरीर ही हिरण्यगर्भनामसे लोकमें प्रसिद्ध है, जिसकी कमलसे उत्पत्ति हुई है, यह तो भूतसूक्ष्मसमष्ट्यात्मा चार मुखवाला नहीं है, फिर यह हिरण्यगर्भ कैसे हो सकता है, यदि यह आशङ्का हो, तो इसपर कहते हैं—'चतुर्मुखो०' इत्यादिसे ।

सूक्ष्मभूतोंमें अभिमान करके बैठा हुआ यही—ब्रह्माण्ड-प्रविलापनके पहले ब्रह्माण्डगत ऐश्वर्योंका भोग करनेके लिए कमलसे उत्पन्न अपने शरीरकी कल्पना करके—चार मुखवाला था । [ऐसे हिरण्यगर्भकी आत्मभावना करनेके अनन्तर कर्तव्य बतलाते हैं—'लिङ्गम्' से] अपञ्चीकृत भूतोंकी भी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म उपाधिरूपसे अव्याकृत मायांशमें तथा उपहित चिदाकारसे अव्यक्तमें लिङ्ग शरीरको भी विलीन कर बुद्धिमान् योगी स्थित रहे ॥ २० ॥

जिसमें यह समस्त जगत् रहता है वह अव्याकृत और अव्यक्त नाम और रूपोंसे विनिर्मुक्त है । उसीको कोई (सांख्यवादी) प्रकृति, कोई (वेदान्ती लोग) माया तथा दूसरे (नैयायिक) परमाणु कहते हैं ॥ २१ ॥

अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।
तत्र सर्वे लयं गत्वा तिष्ठन्त्यव्यक्तरूपिणः ॥ २२ ॥
निःसम्बन्धा निरास्वादाः सम्भवन्ति ततः पुनः ।
तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ॥ २३ ॥
आनुलोम्यात्स्मृता सृष्टिः प्रातिलोम्येन संहृतिः ।
अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् ।
ध्यायेत्तत्प्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेत् ॥ २४ ॥
भूतेन्द्रियमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः ।
अज्ञानं च प्रतिष्ठाः स्युर्लिङ्गमव्याकृते सति ॥ २५ ॥

तर्कसे विभ्रान्त चित्तवाले कोई (बौद्ध लोग) उसे संवृतिरूप अविद्या कहते हैं । उस अव्याकृतमें प्रलयकालमें सभी पदार्थ लयको (षष्ठभावविकारको) प्राप्त होकर अनभिव्यक्त स्वरूपको धारण करते हुए उसकी सत्तासे ही अवस्थित रहते हैं ॥ २२ ॥

कैसे स्थित रहते हैं, यह कहते हैं—'निःसम्बन्धाः' इत्यादिसे ।

जबतक दूसरी सृष्टि नहीं होती तबतक परस्परके सम्बन्धसे शून्य तथा चितिकी भोग्यतारूप आस्वादसे रहित होकर उस अव्याकृत स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं और प्रलयके अनन्तर सृष्टिकालमें फिर उसी प्रकृतिभूत अव्याकृतसे सब उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

अनुलोमक्रमसे यानी आकाशादि क्रमसे सृष्टि होती है और प्रतिलोमक्रमसे यानी सृष्टिके विपरीत क्रमसे उसीमें सबका संहार होता है । इसलिए तीनों स्थानको यानी विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत या स्थूल, सूक्ष्म और कारण अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिको छोड़कर * अविनाशी तुरीय पदका तबतक ध्यान करे जबतक उसकी साक्षात् प्राप्ति न हो जाय । ध्यानसे दीप्त हुई आखिरी साक्षात्कारात्मक वृत्तिसे, ध्यानके कर्ता और कारणरूप लिङ्गका भी प्रविलापन कर निरतिशय परब्रह्ममें उस प्रकार प्रविष्ट हो जाय, जिस प्रकार घटके विनष्ट हो जानेपर घटाकाश महाकाशमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

'नान्तः प्रज्ञम्' इत्यादि श्रुतिमें लिङ्गका बाध दिखाई नहीं देता, इसलिए

* अर्थात् 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्' इस श्रुति द्वारा दिखाये गये मार्गसे छोड़कर ।

भरद्वाज उवाच

इदानीं लिङ्गनिगडान्मुक्तोऽहं सर्वथा यतः ।
चिदंशत्वात्प्रविष्टोऽहं चैतन्यानन्दसागरे ॥ २६ ॥
अभेदात्परमात्माऽस्मि सर्वोपाधिविवर्जितः ।
कूटस्थः केवलो व्यापी चिदचिच्छक्तिमानहम् ॥ २७ ॥
घटाभावे घटाकाशकलशाकाशयोर्यथा ।
तमाहुः श्रुतयो बह्व्य एवमेवैक्यमादरात् ॥ २८ ॥

कैसे उसकी निवृत्ति होगी, यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि तीनों स्थानोंका बाध होनेपर लिङ्गका बाध अर्थतः सिद्ध हो जाता है, क्योंकि स्थूलसूक्ष्मभूत और इन्द्रिय आदिमें ही लिङ्गकी स्थिति है, यह दिखलाते हैं—'भूतेन्द्रिय०' इत्यादिसे।

शुद्ध ब्रह्ममें जब कि अज्ञानका आवरण आ जाता है तब अव्याकृतके अस्तित्वमें सूक्ष्मभूत द्वारा लिङ्गकी उत्पत्ति होती है, इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि किसी हालतमें भी अज्ञानके बिना लिङ्गकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः अज्ञान ही लिङ्गका मूल आधार ठहरा। परम्परया स्थूलसूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म और वायु भी उसके आधार हैं। ऐसी दशामें अज्ञानरूप मूल आधारकी निवृत्ति हो जानेपर लिङ्गरूपी निगड़का भङ्ग सिद्ध ही हो जाता है ॥२५॥

इस तरह वाल्मीकि महाराजने भरद्वाजको प्रणवके अर्थका विस्तारकर बोध किया और इससे वे ज्ञानी बन गये। अब भरद्वाज अपने अनुभवकी परीक्षा करनेके लिए उसे प्रकट करते हुए कहते हैं—'इदानीम्' इत्यादिसे।

भरद्वाजने कहा—महाराज, मैं अब सभी तरहसे लिङ्गरूपी बेड़ीके बन्धनसे निर्मुक्त हो गया हूँ और चूँकि मैं चैतन्यका अंश हूँ, इससे चैतन्यरूपी आनन्द-सागरमें प्रविष्ट हो गया हूँ ॥ २६ ॥

अंश और अंशवान्का असलमें अभेद होनेके कारण मैं समस्त उपाधियोंसे शून्य परमात्मा ही हूँ। मैं कूटस्थ, शुद्ध, व्यापक और चैतन्यरूप हूँ; चैतन्यशक्ति-मान् नहीं हूँ ॥ २७ ॥

किस तरहके अभेदसे तुम परमात्मारूप बन गये हो, इसपर कहते हैं—'घटाभावे' इत्यादिसे।

जैसे एक ही घटका घट और कलश यों भिन्न-भिन्न नाम कल्पित है इसीसे

यथाऽग्निरग्नौ सङ्क्षिप्तः समानत्वमनुव्रजेत् ।
तदाख्यस्तन्मयो भूत्वा गृह्यते न विशेषतः ॥ २९ ॥
यथा तृणादिकं क्षिप्तं रुमायां लवणं भवेत् ।
अचेतनं जगन्न्यस्तं चैतन्ये चेतनीभवेत् ॥ ३० ॥
यथा वै लवणग्रन्थिः समुद्रे सैन्धवो यथा ।
नामरूपाद्विनिर्मुक्तः प्रविश्यैति समुद्रताम् ॥ ३१ ॥

घटयुक्त आकाशमें घटाकाश और कलशाकाश यों भिन्न-भिन्न नाम कल्पित है और इसीसे घटयुक्त आकाशमें घटाकाश और कलशाकाश यों भिन्न-भिन्न व्यवहार कल्पित है, वैसे ही एक ही अज्ञानका भिन्न-भिन्न जगत् नाम कल्पित है। इसीसे जगद्-युक्त मुझमें जीव, ईश्वर आदि भिन्न-भिन्न व्यवहारोंकी कल्पना की गई थी। जैसे व्यवहारमें एक घटके ही नाशसे घट और कलश दोनोंकी निवृत्ति हो जानेसे घटाकाश, कलशाकाश, महाकाश आदि भेद मिट कर शुद्ध आकाशरूप ऐक्य बन जाता है, वैसे ही एकमात्र अज्ञानकी ही निवृत्ति हो जानेसे सब नामोंका भेद मिटकर एकमात्र चैतन्यका साम्राज्य मुझे प्राप्त हो गया है। इसी तरहकी एकताके उद्देश्यसे ही ब्रह्मभूत हुए मेरे विषयमें 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ बड़े आदरसे कहती हैं ॥ २८ ॥

'यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् । अविशेषो भवेत् तद्वज्जीवात्मा परमात्मनि॥' (जैसे जलमें डाला गया जल, दूधमें डाला दूध और घीमें डाला गया घी एकरूप हो जाता है वैसे ही परमात्मामें जीव एकरूप हो जाता है।) इत्यादि श्रुतियोंसे ऐसा ही ऐक्य दिखलाया गया है, इस आशयसे उदाहरण देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे अग्निमें छोड़ा गया अग्नि उसीकी समानताको (एकताको) प्राप्त होता है और तद्रूप एवं उसी नामका होकर ही वह ज्ञात होता है, किसी विशेषरूपसे वह ज्ञात नहीं होता तथा जैसे लवणसागरमें फेंका गया तृण आदि लवणरूप ही हो जाता है वैसे ही चेतनमें फेंका गया (लीन किया गया) अचेतन यह जगत् भी चेतन ही हो जाता है ॥ २९, ३० ॥

जैसे लवणसागरमें फेंका गया लवणका ढेला या सिन्धुमें फेंका गया सैंधव समुद्रमें या सिन्धुमें प्रविष्ट होकर अपने नाम-रूपसे विनिर्मुक्त हो समुद्ररूपता या

यथा जले जलं न्यस्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविनष्टा भवन्त्येते गृह्यन्ते न विशेषतः ॥ ३२ ॥
तथाऽहं सर्वभावेन प्रविष्टश्चेतने सति ।
नित्यानन्दे समस्तज्ञे परे परमकारणे ॥ ३३ ॥
नित्यं सर्वगतं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
निष्कलं निष्क्रियं शुद्धं तद्‌ब्रह्माऽस्मि परं परम् ॥ ३४ ॥
हेयोपादेयनिर्मुक्तं सत्यरूपं निरिन्द्रियम् ।
केवलं सत्यसङ्कल्पं शुद्धं ब्रह्माऽस्म्यहं परम् ॥ ३५ ॥
पुण्यपापविनिर्मुक्तं कारणं जगतः परम् ।
अद्वितीयं परं ज्योतिर्ब्रह्माऽस्म्यानन्दमव्ययम् ॥ ३६ ॥
एवमादिगुणैर्युक्तं सत्त्वादिगुणवर्जितम् ।
प्रविष्टं सकलं ब्रह्म सदा ध्यायेत्स्वकर्मकृत् ॥ ३७ ॥

सिन्धुरूपताको प्राप्त कर लेता है या जैसे जलमें छोड़ा गया जल, दूधमें छोड़ा गया दूध और घीमें छोड़ा गया घी—ये सबके सब विनष्ट न होते हुए ही तद्रूप हो जाते हैं, किसी विशेषरूपसे (पृथक्‌रूपसे) गृहीत नहीं होते वैसे ही सब भावसे नित्य-आनन्दस्वरूप, सर्वसाक्षी, परमकारण, चिदेकरस परब्रह्ममें प्रविष्ट होकर मैं तद्रूप ही हो गया हूँ, पृथकरूपसे मैं गृहीत नहीं होता॰॥ ३१–३३ ॥

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादि श्रुतिके साथ अपना अनुभव मिलाकर बतलाते हैं॰—'नित्यम्' इत्यादिसे ।

नित्य, सर्वव्यापी, शान्त, सर्वदोषरहित, निरञ्जन, निष्कल, निष्क्रिय, केवल शुद्ध वह परब्रह्म मैं ही हूँ ॥ ३४ ॥

हेय और उपादेयसे निर्मुक्त सत्यस्वरूप, इन्द्रियरहित, एकमात्र अपने सङ्कल्पसे असद्रूप भी इस जगत्‌की सत्ताके सम्पादनमें समर्थ सद्रूप, केवल शुद्ध परब्रह्म ही मैं हूँ ॥ ३५ ॥

पुण्य और पापसे रहित, जगत्‌का परम कारण, अद्वितीय, आनन्दरूप, अविनाशी और ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म ही मैं हूँ ॥ ३६ ॥

इस तरह सत्य सङ्कल्पादि गुणोंसे युक्त, मायाके सत्त्व आदि गुणोंसे शून्य, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप ब्रह्मका—अध्यात्मशास्त्रोंके श्रवण तथा गुरुकी शुश्रूषा

एवमभ्यसतः पुंसो मनोऽस्तं याति तत्र वै ।
मनस्यस्तं गते तस्य स्वयमात्मा प्रकाशते ॥ ३८ ॥
प्रकाशे सर्वदुःखानां हानिः स्यात्सुखमात्मनि ।
स्वयमेवाऽऽत्मनात्मानमानन्दं प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥
न मत्तोऽस्त्यपरः कश्चिच्चिदानन्दमयः प्रभुः ।
अहमेकः परं ब्रह्म इत्यात्माऽन्तः प्रकाशते ॥ ४० ॥

वाल्मीकिरुवाच

सखे संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयीभव ।
नेष्यसे यदि संसारचक्रावर्तभ्रमः शमम् ॥ ४१ ॥

आदिमें तत्पर एवं अपने वर्णाश्रमधर्ममें निष्ठा रखनेवाला योगाभ्यासी पुरुष सदा—ध्यान करे ॥ ३७ ॥

इस रीतिसे परब्रह्मका अभ्यास कर रहे साधक पुरुषका मन उसी ब्रह्ममें अस्त हो जाता है और उसके मनके अस्त हो जानेपर आत्मा स्वयं प्रकाशित होने लग जाता है ॥ ३८ ॥

प्रकाश होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त हो जाता है और आत्मामें सुख अवभासित होने लगता है तथा आत्मा स्वयं ही अपने-आप अपने आनन्दस्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

कैसे आनन्दस्वरूपको प्राप्त होता है, इसपर कहते हैं—'न मत्तः' इत्यादिसे ।

मुझसे अतिरिक्त कोई दूसरा चिदानन्दमय प्रभु नहीं है । अकेला मैं ही परब्रह्म हूँ, यों आत्मा भीतरसे प्रकाशित होता है ॥ ४० ॥

इस तरह भरद्वाजके द्वारा कहे गये अनुभवको सुनकर सन्तुष्ट हुए वाल्मीकि मुनि भरद्वाजके अनुभवको दृढ़ करनेके लिए अवश्य कर्तव्यरूपसे 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्' इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध संन्यासका उपदेश देते हैं—'सखे' इत्यादिसे ।

वाल्मीकि मुनिने कहा—हे मित्र, संसारचक्रके आवर्तमें भ्रमण करते हुए यदि तुम गृहस्थीमें विश्रान्तिसुखकी प्राप्ति नहीं कर रहे हो, तो सब कर्मोंको छोड़कर एकमात्र ब्रह्ममें ही बिना किसी विक्षेपके आसक्त हो जाओ, क्योंकि

भरद्वाज उवाच

त्वयोक्तं सर्वमेवेदं ज्ञानं बुद्धं मया गुरो।
बुद्धिश्च निर्मला जाता संसारो न विलम्बते ॥ ४२ ॥
इदानीं ज्ञातुमिच्छामि ज्ञानिनः कर्म कीदृशम्।
प्रवृत्तं वा निवृत्तं वा कर्तव्यं च न वा प्रभो ॥ ४३ ॥

'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस श्रुतिके अनुसार यह निश्चित है कि किसी दूसरे व्यापारमें तत्पर न रहकर केवल ब्रह्ममें आसक्त हुए संन्यासीकी ही मूल-सहित भ्रान्तिकी शान्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि एकमात्र संन्यासीको ही शान्ति-सुख मिलता है ॥ ४१ ॥

भरद्वाजने कहा—हे गुरो, आपके द्वारा कहा गया यह सब ज्ञान मुझे अवगत हो गया। मेरी बुद्धि एकदम निर्मल हो गई, अब मेरा यह संसार चिरकाल तक नहीं टिक सकता ॥ ४२ ॥

भगवन्, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ज्ञानियोंके लिए कैसा कर्म विहित है, यानी क्या उन्हें कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, यदि करना चाहिए तो, क्या केवल प्रवृत्तिरूप कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए, या निवृत्तिरूप कर्मोंका * ॥ ४३ ॥

* 'पाठक्रमकी अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होता है' इस न्यायके अनुसार इस श्लोकमें भरद्वाजने दो प्रश्न किये हैं। उनमें पहला यह है—जीवन्मुक्त ज्ञानीको कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए, या नहीं। और दूसरा यह है, यदि उसके लिए कर्मोंका विधान है तो उसे पहलेके सदृश नित्य, नैमित्तिक और काम्य सभी कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए अथवा कामनारहित होकर अपने आश्रमके उचित कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए। यद्यपि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इस पूर्वके श्लोकसे प्रतिपादित सर्वकर्मसंन्यासको भरद्वाजने ज्ञानीके कार्यरूपसे सुना ही है, इसलिए इस तरहके दोनों प्रश्नोंको करना अयुक्त-सा प्रतीत हो रहा है, तथापि (यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति) (जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र होम करे) इत्यादि श्रुतियोंसे जीवनपर्यन्त कर्तव्यरूपसे बतलाये गये कर्मोंका 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि वाक्योंसे दीक्षा-करणमें परित्याग कर दिये जानेपर भी दीक्षाकी समाप्ति हो जानेपर जैसे उनका अङ्गीकार किया जाता है, वैसे ही 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे ब्रह्मजिज्ञासाके निमित्त छोड़े गये कर्मोंका भी ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके बाद निमित्तके हट जानेपर फिर अङ्गीकारका प्रसङ्ग आ सकता है। यदि इस विषयमें यह शङ्का हो कि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इत्यादि वाक्योंसे विद्वानोंके लिए ही सब कर्मोंका संन्यास विहित है, अतः ज्ञानियोंको कर्मा-

वाल्मीकिरुवाच

तस्माद्यत्र कृते दोषस्तत्कर्तव्यं मुमुक्षुभिः ।
काम्यं कर्म निषिद्धं च न कर्तव्यं विशेषतः ॥ ४४ ॥
यदा ब्रह्मगुणैर्जीवो युक्तस्त्यक्त्वा मनोगुणान् ।
संशान्तकरणग्रामस्तदा स्यात्सर्वगः प्रभुः ॥ ४५ ॥

सबसे पहले तुम्हें काम्य निषिद्ध कर्मोंका एवं ज्ञानविरोधी विक्षेप आदि दोषोंको पैदा करनेवाले अन्यान्य कर्मोंका त्याग कर शास्त्रके अभ्यास द्वारा ज्ञानी बन जाना चाहिए। इसके बाद तुम स्वयं ही 'ज्ञानीके कर्म कैसे होते हैं' इस प्रश्नका उत्तर जान जाओगे। जब क्रमशः तत्-तत् भूमिका परिपक्व हो जाती है तब तत्-तत् कर्मोंकी शान्ति जो होती है उसका उसी समय तुम अनुभव कर सकते हो और प्रारब्ध कर्मोंकी विचित्रता होनेके कारण ज्ञानियोंकी एकरूपसे स्थिति दिखाई न पड़नेसे 'ज्ञानियोंके कर्म प्रवृत्यात्मक ही हैं या निवृत्यात्मक ही हैं'—ऐसा नियम तो कोई नहीं कर सकता। इस आशयसे वाल्मीकि महाराज उत्तर देते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

वाल्मीकिने कहा—इसलिए सम्पूर्ण कर्मोंके त्यागके साथ ब्रह्ममें एकमात्र आसक्त हो जाना ही संसारभ्रमके निवर्तक ज्ञानमें उपाय है, इस मेरे उपदिष्ट अर्थका अच्छी तरह ज्ञान कर लेनेसे तुम्हारे सदृश मुमुक्षु पुरुषोंको—वही कर्म करना चाहिए, जिस कर्मका सम्पादन करनेपर श्रवण आदिमें कोई विघ्नरूप दोष न आ पड़े तथा चित्तमें विक्षेप डालनेवाले मालिन्य पातकादि और किसी तरहका दूसरा दोष न उपस्थित हो जाय। विशेष करके मुमुक्षुको काम्य, निषिद्ध तथा दृष्टिके विक्षेपमें साधनभूत कोई कर्म नहीं करना चाहिए ॥ ४४ ॥

सम्पूर्ण मानसिक गुणोंके त्यागसे पूर्णानन्द, अद्वय, विशुद्ध, असङ्ग, विवेक-

---

नुष्ठानकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती, तो यह भी शङ्का न गण्य है, क्योंकि जिन लोगोंने पूर्व जन्ममें ज्ञानकी इच्छासे सब कर्मोंका संन्यास किया है, उनको उनसे ही गृहस्थ आदि आश्रमोंमें तत्त्व-ज्ञान हो जाता है, ऐसे विशेष पुरुषोंके प्रति 'सर्वे संन्यस्य' इत्यादिसे किसी अप्राप्त संन्यासका ही विधान किया गया है, अतः उक्त वाक्यमें ज्ञानेच्छाके लिए संन्यासपरिपालन विधानकी शंका ही नहीं रहती, इससे निचोड़ यह निकला कि श्रीभरद्वाजने जो प्रश्न किये हैं, वे युक्तिपूर्ण हैं, युक्तिसे रहित नहीं हैं।

देहेन्द्रियमनोबुद्धेः परस्तस्माच्च यः परः ।
सोऽहमस्मि यदा ध्यायेत्तदा जीवो विमुच्यते ॥४६॥
कर्तृभोक्त्रादिनिर्मुक्तः सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सुखदुःखविनिर्मुक्तस्तदानीं विप्रमुच्यते ॥ ४७ ॥
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
यदा पश्यत्यभेदेन तदा जीवो विमुच्यते ॥ ४८ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं हित्वा स्थानत्रयं यदा ।
विशेत्तुरीयमानन्दं तदा जीवो विमुच्यते ॥ ४९ ॥
जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि ।
अवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका ॥ ५० ॥

रसत्वादि ब्रह्मके गुणोंकी प्राप्ति होनेपर ही यह जीव ज्ञानी बन सकता है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

मनके गुणोंको छोड़कर जब जीव ब्रह्मके गुणोंसे युक्त हो जाता है तब इसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और यह सर्वव्यापी प्रभु बन जाता है ॥४५॥

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन चार कोशोंसे परे जो आनन्दमय कोशात्मा है तथा उससे भी परे जो अधिष्ठान ब्रह्म है वही मैं हूँ, इस तरह जब जीव ध्यान करता है तब मुक्त होता है ॥ ४६ ॥

कर्ता, कार्य और करण; भोग्य, भोक्ता और भोग; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय— इनसे विनिर्मुक्त तथा इनके प्रयोजक सम्पूर्ण देहादि उपाधियोंसे एवं इनके फलस्वरूप सुख और दुःखोंसे जब जीव विनिर्मुक्त होता है तब बिलकुल पूर्णरूपसे मुक्त होता है ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण भूतोंमें अपनेको तथा अपनेमें सम्पूर्ण भूतोंको जब जीव अभेदरूपसे देखने लगता है तब वह मुक्त होता है ॥ ४८ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों स्थानोंको छोड़कर जब जीव तुरीय आत्मानन्दरूपमें प्रवेश करता है तब मुक्त होता है ॥ ४९ ॥

जाग्रत् और स्वप्नावस्थाकी बीज तथा सुषुप्तिसे रहित जो जीवकी परमात्मामें स्थितिरूप चैतन्यसुखात्मिका तुरीयावस्था है वही योगकी (निदिध्यासनके

योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत् ।
अनभ्यस्तं गते पुंसां तदन्यन्नोपलभ्यते ॥ ५१ ॥
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ।
मज्ज मज्जसि किं द्वैतग्रहक्षाराब्धिवीचिषु ॥ ५२ ॥
भज सम्भरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ।
इति ते वर्णितं सर्वं वसिष्ठस्योपदेशनम् ॥ ५३ ॥
अनेन ज्ञानमार्गेण योगमार्गेण पुत्रक ।
भरद्वाज महाप्राज्ञ सर्वं ज्ञास्यसि निश्चितम् ॥ ५४ ॥

परिपाकसे जन्य निर्विकल्पक समाधिकी अथवा मुख्य अधिकारीके विचारमात्रसे जन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञानकी) परिसमाप्ति है, जो सबसे बड़ा सुखात्मक ज्ञान है । मनके अस्त हो जानेपर मनुष्योंको और किसी दूसरी वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती ॥ ५०, ५१ ॥

उस अमृतके सागरमें विश्रान्त हो जानेपर आपको द्वैतदर्शनकी ही प्राप्ति नहीं है, फिर कर्मरूपी लवणसागरके तरङ्गोंमें डूबनेकी तो बात ही दूर रही, इस आशयसे कहते हैं—'प्रशान्ता०' इत्यादिसे ।

सखे, [यदि तुम्हें समुद्रमें डूबना ही है, तो] प्रशान्त तथा अमृतमय तरङ्गोंसे पूर्ण केवल आनन्दामृतके समुद्रमें क्यों नहीं डूबते । व्यर्थ द्वैतरूप मकरोंसे पूर्ण लवणसागरके तरङ्गोंमें क्यों डूबते हो ॥ ५२ ॥

पूर्वमें कहे गये महेश्वरकी उपासना करके उससे दया प्राप्त कर लेनेपर तुम्हें—वसिष्ठजीके द्वारा कहे गये ज्ञानमार्गसे या योगमार्गसे तत्त्वज्ञान हो जानेके बाद एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जानेपर तथा सम्पूर्ण संशयोंके मूल अज्ञानका नाश हो जानेपर सब सन्देहोंके विच्छेदसे—विश्रान्ति अवश्य होगी, यह उपसंहार करते हैं—'भज' इत्यादिसे ।

हे प्रिय, अपने भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके वास्ते अर्धनारीश्वर आदि वेष धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वरकी उपासना करो, यह जो वसिष्ठ महाराजने तुम्हें उपदेश दिया है, हे महाप्राज्ञ भरद्वाज, उनके इसी ज्ञानमार्ग या

परामर्शेन शास्त्रस्य गुरुवाक्यार्थबोधनात् ।
अभ्यासात्सर्वसिद्धिः स्यादिति वेदानुशासनम् ॥ ५५ ॥
तस्मात्त्वं सर्वमुत्सृज्य कुर्वभ्यासे स्थिरं मनः ॥ ५६ ॥

भरद्वाज उवाच

रामः प्राप्तः परं योगं स्वात्मनाऽऽत्मनि हे मुने ।
कथं वसिष्ठदेवेन व्यवहारपरः कृतः ॥ ५७
इति ज्ञात्वाऽहमप्येवमभ्यासार्थं यते तथा ।
तथैव व्यवहारोऽपि व्युत्थाने मे भविष्यति ॥ ५८

वाल्मीकिरुवाच

यदा परिणतः साधुः स्वस्वरूपे महामनाः ।
विश्वामित्रस्तदोवाच वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ५९ ॥

उसमें शास्त्राचार्योंके उपदेश तथा अपने अनुभवकी एकार्थनिष्ठताके निश्चयके लिए अर्थचिन्तनावृत्तिरूप परामर्श (विचार) और शब्दघोषणावृत्तिरूप (एक ही शब्दको बार-बार रटनारूप) अभ्यास अवश्य करना चाहिए, यह कहते हैं—'परामर्शेन' इत्यादिसे ।

क्योंकि शास्त्रोंके विचारसे, गुरुके वाक्योंका अर्थ ठीक-ठीक समझनेसे तथा अभ्याससे सब कार्योंकी सिद्धि होती है, यह वेदोंका अनुशासन है ॥ ५५ ॥

इसलिए हे भरद्वाज, तुम सब कुछ छोड़-छाड़कर केवल अभ्यासमें अपना मन स्थिर करो ॥ ५६ ॥

भरद्वाजने कहा—हे मुने, श्रीरामचन्द्रजी तो ब्रह्ममें अपनेसे ही परमयोगको यानी उपाधिके त्यागसे ऐक्यको प्राप्त हो गये, किन्तु फिर महाराज वसिष्ठजीने उन्हें व्यवहारमें कैसे लगाया ॥ ५७ ॥

यह जानकर मैं भी इसी तरहके अभ्यासके लिए यत्न करूँगा और समाधिसे उठनेके बाद मेरा भी वैसा ही व्यवहार चलेगा ॥ ५८ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, जब महामना साधु-स्वभाव श्रीरामजी अपने स्वरूपमें अवस्थित हो गये, तब ऋषियोंमें सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठजीसे विश्वामित्र कहने लगे ॥ ५९ ॥

विश्वामित्र उवाच

हे वसिष्ठ महाभाग ब्रह्मपुत्र महानसि ।
गुरुत्वं शक्तिपातेन तत्क्षणादेव दर्शितम् ॥ ६० ॥
दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः ॥ ६१ ॥
रामोऽप्ययं विशुद्धात्मा विरक्तः स्वात्मनैव हि ।
विश्रान्तिमात्राकाङ्क्षी च संवादात्प्राप्तवान्पदम् ॥ ६२ ॥
शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः ।
मलत्रयमपक्वं चेत्कथं बुध्यति पक्ववत् ॥ ६३ ॥

विश्वामित्रने कहा—हे ब्रह्मपुत्र महाभाग वसिष्ठजी, आप महान् हैं। पहले कहे गये शक्तिपातके द्वारा* शिष्योद्धारसामर्थ्यरूप अपना गुरुत्व (शिक्षकत्व) आपने शीघ्र ही हम लोगोंको दिखला दिया ॥ ६० ॥

अपना शरीर छोड़कर श्रीरामजीके शरीरमें प्रविष्ट होकर मैंने कुण्डलिनीका सञ्चार आदि तो किया है नहीं, फिर तुमने 'शक्तिपात' को समझ कैसे लिया, इसपर कहते हैं—'दर्शनात्' इत्यादिसे।

अपने दर्शन, स्पर्श और वाक्यप्रयोगसे जो कृपा करके शिष्यके शरीरमें शिव-स्वरूप परमात्माका प्रवेश उत्पन्न कर दे, वही गुरु है। अमोघ सङ्कल्पवाले आपके सदृश महापुरुषोंकी कृपादृष्टिसे भी उत्तमशिष्यकी कुण्डलिनीके षट्चक्र-भेदन द्वारा ब्रह्मरन्ध्रमें परम शिवका प्रवेशरूप तथा जीवकी उपाधिके परित्यागसे शुद्ध ब्रह्मका प्रवेशरूप शक्तिपात सिद्ध हो जाता है, यह भाव है ॥ ६१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी अच्छे शिष्य हैं, यह दर्शाते हैं—'रामोऽप्ययम्' इत्यादिसे।

आपके शिष्य श्रीरामचन्द्रजी भी विशुद्धात्मा और स्वयं विरक्त थे, केवल आत्मामें विश्रान्ति चाह रहे थे, सो आपके संवादसे परम पदको प्राप्त हो गये ॥ ६२ ॥

गुरुवाक्यश्रवणसे होनेवाले बोधमें शिष्यकी बुद्धि ही कारण है। काम, कर्म और वासनारूप तीनों मलोंका यदि परिपाक नहीं हुआ है, तो परिपक्वकी नाईं फिर शिष्य कैसे जान सकता है ॥ ६३ ॥

---

* देखिये पृष्ठ संख्या ४२२५।

ज्ञानं प्रत्यक्षमेवेदं गुरुशिष्यप्रयोजनम् ।
उभावपि यतो योग्यौ सर्वेषामीदृशामपि ॥ ६४ ॥
इदानीं कृपया रामव्युत्थानं कर्तुमर्हसि ।
पदे परिणतस्त्वं हि कार्याविष्टा वयं यतः ॥ ६५ ॥
स्मरन्कार्यं मम विभो यदुद्दिश्याऽहमागतः ।
प्रार्थितश्चातिकष्टेन राजा दशरथः स्वयम् ॥ ६६ ॥
तद्वृथा मा कृथाः सर्वं शुद्धेन मनसा मुने ।
देवकार्यं चरामोऽन्यदवतारप्रयोजनम् ॥ ६७ ॥
सिद्धाश्रमं मया नीतो रामो राक्षसमर्दनम् ।
करिष्यति ततोऽहल्यामुक्तिं च जनकात्मजाम् ॥ ६८ ॥

अच्छे बुद्धिमान् शिष्योंकी उपस्थितिमें शास्त्र सफल हुआ अवश्य देखा गया है, यह कहते हैं—'ज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यह ज्ञान ही गुरु और शिष्यका प्रत्यक्ष प्रयोजन है, क्योंकि यदि गुरु और शिष्य दोनों योग्य होंगे, तो इस तरहके कैवल्यरूपी सब पुरुषार्थोंके भी वे भाजन अवश्य होंगे ही ॥ ६४ ॥

यों महाराज वसिष्ठजीकी प्रशंसा करके उपस्थित कर्तव्य बतलाते हैं—'इदानीम्' इत्यादिसे ।

भगवन्, हम लोगोंके ऊपर दया करके अब आप श्रीरामचन्द्रजीको समाधिसे उठा सकते हैं, क्योंकि आप तो परमपदमें कृतकृत्य हो चुके हैं, लेकिन हम लोग अभीतक सांसारिक कार्योंमें ही फँसे हुए हैं ॥ ६५ ॥

हे विभो, बड़े कष्टके साथ जिसके लिए मैंने स्वयं राजा दशरथसे प्रार्थना की है और जिस मतलबसे मैं यहां आपके पास आया हूँ उस मेरे निर्विघ्न यज्ञ सिद्धिरूप कार्यका स्मरण करते हुए आप श्रीरामचन्द्रजीको अब समाधिसे उठानेकी कृपा कीजिये ॥ ६६ ॥

हे मुने, मेरे उस सब कार्यको आप अपने शुद्ध मनसे व्यर्थ न बना डालें । किञ्च, श्रीरामचन्द्रजीके समाधिसे उठनेपर अन्य भी अवतारके प्रयोजन जो देवताओंके कार्य हैं उनका भी हम लोग सम्पादन कर लेंगे ॥ ६७ ॥

दूसरे कार्योंको दिखलाते हुए स्पष्टरूपसे देवकार्य बतलाते हैं—'सिद्धाश्रमम्' इत्यादिसे ।

परिणेष्यति कोदण्डभङ्गेन कृतनिश्चयः।
रामस्य जामदग्न्यस्य कर्ता नष्टां गतिं ध्रुवम् ॥ ६९ ॥
पितृपैतामहं राज्यं विगतोऽभयनिस्पृहः।
वनवासच्छलेनेह दण्डकारण्यवासिनः।
उद्धरिष्यति तीर्थानि प्राणिनो विविधानि हि ॥ ७० ॥
सीताहरणदौर्गत्यच्छलेन भुवि शोच्यताम्।
दर्शयिष्यति सर्वेषां रावणादिवधादपि ॥ ७१ ॥
स्त्रीसङ्गिनामथास्वास्थ्यं वानरादेः परावृतिम्।
सीताविशुद्धिमन्विच्छँल्लोकानुमतिमात्मनः ॥ ७२ ॥
जीवन्मुक्तो निस्पृहोऽपि क्रियाकाण्डपरायणः।
भविष्यति गतिं द्रष्टुं ज्ञानकर्मसमुच्चयौ ॥ ७३ ॥

जब मैं श्रीरामचन्द्रजीको अपने आश्रममें ले जाऊँगा तब वे राक्षसोंका नाश करेंगे और उसके बाद अहल्याको शापसे मुक्त करेंगे। तदनन्तर निश्चय करके भगवान् शङ्करका धनुष तोड़कर जनकदुलारी सीताके साथ अपना विवाह करेंगे। और यह भी निश्चित है कि जमदग्निके लड़के परशुरामकी गतिको (परलोकमार्गको) वे नष्ट कर देंगे ॥ ६८, ६९ ॥

इस संसारमें पिता-पितामहके राज्यको छोड़-छाड़कर वनवासके बहाने जंगलमें पहुँच करके जीवन्मुक्त होनेके कारण ही अभय और निःस्पृह होते हुए श्रीराम-चन्द्रजी दण्डकारण्यके निवासी मुनियों, अनेक तीर्थों तथा अन्यान्य प्राणियोंका राक्षसोंका वध करके भयसे उद्धार करेंगे ॥ ७० ॥

सीताहरणप्रयुक्त हुई दुर्गतिके बहाने रावण आदिका वध करके भी इस पृथिवीके ऊपर स्त्रीमें आसक्त हुए सभी पुरुषोंकी कैसी दुर्गति होती है, यह दिखलायेंगे और तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी—इन्द्रके वरदान द्वारा युद्धमें मरे हुए वानर, रिक्ष आदि पुनः कैसे जी उठे—यह भी दिखलायेंगे ॥ ७१, ७२ ॥

उसके बाद अग्निमें प्रवेश द्वारा सीताकी शुद्धिकी इच्छा कर रहे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी शिष्ट पुरुषोंमें अपने उत्तम चरित्रकी माननीयता दर्शायेंगे। तदनन्तर राज्यमें अभिषिक्त होकर स्वयं जीवन्मुक्त तथा निस्पृह होते हुए भी कर्म करनेके अधिकारी पुरुषोंको कर्मानुष्ठानसे ही गति मिलती है, यह दिखलानेके लिए

यैर्दृष्टो यैः स्मृतो वाऽपि यैः श्रुतो बोधितस्तु यैः ।
सर्वावस्थागतानां तु जीवन्मुक्तिं प्रदास्यति ॥७४॥
इति कार्यमशेषेण त्रैलोक्यस्य ममापि हि ।
अनेन रामचन्द्रेण पुरुषेण महात्मना ॥ ७५ ॥
नमोऽस्मै जितमेवैते कोऽप्येवं चिरमेधताम् ॥ ७६ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इति श्रुत्वा च ते सर्वे विश्वामित्रेण भाषितम् ।
सिद्धाश्च वरयोगीन्द्रा वसिष्ठप्रमुखाः पुनः ॥ ७७ ॥

क्रियाकाण्डमें तत्पर होंगे एवं ज्ञान (उपासना) और कर्म दोनोंके अधिकारी पुरुषोंको ब्रह्मलोक आदिकी गति दिखलानेके लिए उपासना और कर्म दोनोंका समुच्चय करेंगे ॥ ७३ ॥

कर्ममार्गमें प्रवृत्त होकर केवल वर्तमान कालके मनुष्यका ही भगवान् उस पृथिवीपर उपकार नहीं करेंगे, बल्कि उत्तरकालमें भी स्मरण, कीर्तन तथा अपने चरित्रके प्रबोधन आदिके द्वारा अपने अनुगत भक्तोंको जीवन्मुक्ति-सुख भी प्रदान करेंगे, यह कहते हैं—'यैः' इत्यादिसे ।

जो लोग भगवान्का दर्शन करेंगे, उनके चरित्रका स्मरण तथा श्रवण करेंगे एवं जो लोग भगवान्के स्वरूपका दूसरोंको बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओंमें अनुगत अपने भक्तोंको भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्ति प्रदान करेंगे ॥ ७४ ॥

इस तरह तीनों लोकका तथा मेरा भी हित इस महापुरुष महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा सम्पूर्णरूपसे सम्पन्न होगा ॥ ७५ ॥

अब सामाजिकोंमें श्रीरामचन्द्रजीकी भक्ति बढ़ाते हुए श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं—'नमः' इत्यादिसे ।

हे सत्पुरुषो, आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार कीजिये। एकमात्र इनके नमस्कारसे ही आप लोग सबको जीत लेंगे अर्थात् आप लोगोंको किसी दूसरे साधनकी आवश्यकता न होगी। आप लोगोंमें कोई भी पुरुषश्रेष्ठ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी नाईं ही जीवन्मुक्त होकर निर्विकल्पक समाधिमें विश्रान्ति पाकर सुखपूर्वक बढ़ता रहे ॥ ७६ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, इस तरहका विश्वामित्रका भाषण सुनकर

रामाङ्घ्रिपद्मरजसामादरस्मरणस्थिताः ।
दूरश्रुतोत्तरकथाः कथया मैथिलीपतेः ॥ ७८ ॥
न सन्तुतोष भगवान्वसिष्ठोऽन्ये महर्षयः ।
गुणान् गुणनिधेस्तस्य ब्रुवन्नाकर्णयञ्छ्रुतम् ।
विश्वामित्रमुनिं प्राह वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ७९ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रूहि विश्वामित्र मुने रामो राजीवलोचनः ।
कोऽयमभूद्बुधः किं वा मनुष्यो वाऽथ राघवः ॥ ८० ॥

विश्वामित्र उवाच

अत्रैव कुरु विश्राममयं स पुरुषः परः ।
विश्वार्थमथिताम्भोधिर्गम्भीरागमगोचरः ॥ ८१ ॥

वे सिद्ध तथा वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ योगीन्द्र सब श्रीरामचन्द्रजीकी उत्तर चरित्ररूप दुर्लभ कथा सुनकर पुनः भगवान् श्रीरामके चरणकमलरजके आदरमें यानी नमस्कारमें तथा उनके स्मरणमें आस्थायुक्त हो गये। मैथिलीपति श्रीरामकी कथा सुननेसे भगवान् वसिष्ठजी तथा और दूसरे महर्षि भी तृप्त न हो सके, इसलिए उन सबने दूसरोंके द्वारा कहे गये गुणके सागर उनके गुणोंका श्रवण किया तथा सुने गये गुणोंका दूसरोंसे वर्णन किया। तदनन्तर भगवान् वसिष्ठ ऋषि विश्वामित्र मुनिसे कहने लगे ॥ ७७—७९ ॥

वसिष्ठजीने कहा—हे मुने विश्वामित्रजी, इन श्रोताओंको आप साफ-साफ बतला दीजिये कि ये राजीवलोचन रघुकुलसमुद्भव श्रीरामचन्द्रजी इस जन्मके पहले देव या मनुष्य क्या थे * ॥ ८० ॥

विश्वामित्रने कहा—हे सज्जनो, आप सब लोग इन्हीं श्रीरामचन्द्रजीमें † विश्वास कर लीजिये कि परमपुरुष साक्षात् भगवान् वासुदेव ये ही हैं, विश्वके कल्याणके लिए जिन्होंने क्षीरसागरका मथन किया था तथा गूढ़ अभिप्रायसे भरी उपनिषदोंके तत्त्वगोचर ये ही हैं अर्थात् किसी अन्य प्रमाणके विषय ये नहीं हैं ॥ ८१ ॥

* अज्ञजनोंके अभिप्रायके अनुसार यह प्रश्न किया गया है।

† अज्ञजनोंके अभिप्रायके अनुसार ही यह उत्तर भी दिया गया है।

परिपूर्णपरानन्दः समः श्रीवत्सलाञ्छनः ।
सर्वेषां प्राणिनां रामः प्रदाता सुप्रसादितः ॥ ८२ ॥
अयं निहन्ति कुपितः सृजत्ययमसत्सकान् ।
विश्वादिर्विश्वजनको धाता भर्ता महासखः ॥ ८३ ॥
अयं व्युत्क्रान्तनिःसारमृदुसंसारधूर्तकैः ।
आनन्दसिन्धुर्विततो वीतरागैर्विगाह्यते ॥ ८४ ॥
क्वचिन्मुक्त इवाऽऽत्मस्थः क्वचित्तुर्यपदाभिधः ।
क्वचित्प्रणीतप्रकृतिः क्वचित्तत्स्थः पुमानयम् ॥ ८५ ॥
अयं त्रयीमयो देवस्त्रैगुण्यगहनातिगः ।
जयत्यङ्गैरयं षड्भिर्वेदात्मा पुरुषोद्भुतः ॥ ८६ ॥

परिपूर्णपरानन्द, समस्वरूप, श्रीवत्समणिके चिह्नसे सुशोभित यही श्रीरामचन्द्रजी भक्तिसे भलीभाँति प्रसन्न कर दिये जानेपर सब प्राणियोंको सब पुरुषार्थोंके प्रदाता होते हैं ॥ ८२ ॥

कुपित होकर यही श्रीरामचन्द्रजी सबका संहार करते हैं और यही मिथ्या पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं। यही विश्वके आदि तथा विश्वके उत्पादक हैं और यही विश्वके धाता, पालनकर्ता तथा महासखा भी हैं ॥ ८३ ॥

जिन्होंने अपने विचार द्वारा निःसार और कोमल कार्यकारणबन्धरूप संसारका बाध कर दिया है ऐसे संसारकी खिल्ली उड़ानेवाले वीतराग यति लोग इसी आनन्दके सागरमें गोते लगाते हैं ॥ ८४ ॥

यही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ज्ञानमुक्त, नित्यमुक्त, माया के नियामक तथा मायाके भीतर बद्ध—यों चार प्रकारसे स्थित हैं, यह कहते हैं—'क्वचिन्मुक्त' इत्यादिसे ।

यही परम पुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहींपर ज्ञानसे मुक्त, कहींपर तुर्यपदाभिधेय अपने स्वरूपमें स्थित अतएव नित्यमुक्त, कहींपर प्रकृति (माया) के नियामक और कहींपर मायाके भीतर बद्ध हुए-से मालूम पड़ते हैं ॥ ८५ ॥

यही भगवान् वेदमयशरीरधारी हैं, तीनों गुणोंसे परे अतिगहन यही हैं और शिक्षा कल्प आदि छः अङ्गोंसे समन्वित वेदात्मा अद्भुत पुरुष यही हैं ॥ ८६ ॥

अयं चतुर्बाहुरयं विश्वस्रष्टा चतुर्मुखः ।
अयमेव महादेवः संहर्ता च त्रिलोचनः ॥ ८७ ॥

अजोऽयं जायते योगाज्जागरूकः सदा महान् ।
बिभर्ति भगवानेतद्विरूपो विश्वरूपवान् ॥ ८८ ॥

विजयो विक्रमेणेव प्रकाश इव तेजसा ।
प्रज्ञोत्कर्षः श्रुतेनेव सुपर्णेनाऽयमुह्यते ॥ ८९ ॥

अयं दशरथो धन्यः सुतो यस्य परः पुमान् ।
धन्यः स दशकण्ठोऽपि चिन्त्यश्चित्तेन योऽमुना ॥ ९० ॥

हा स्वर्गममुना शून्यं हा पातालादिहाऽऽगतः ।
तस्याऽऽगमादयं लोको मध्यमः श्रेष्ठतां गतः ॥ ९१ ॥

विश्वका पालन करनेवाले चतुर्भुज विष्णु भगवान् यही हैं, विश्वके रचयिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसारका संहार करनेवाले त्रिलोचन भगवान् महादेव भी यही हैं ॥ ८७ ॥

ये अजन्मा होते हुए भी अपनी मायाशक्तिके सम्बन्धसे जन्म लेते हैं, ये सबसे महान् हैं, मोहरूपी नींदमें सोये हुए न रहनेके कारण ये सदा जागरूक रहते हैं और रूपरहित होते हुए भी ये भगवान् इस विश्वको धारण करते हैं ॥ ८८ ॥

जैसे पराक्रमसे विजय प्राप्त की जाती है, तेजसे जैसे भास्वररूप प्रकाश धारण किया जाता है, जैसे सुने गये शास्त्रसे प्रज्ञामें उत्कर्ष प्राप्त किया जाता है वैसे ही ये भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी श्रीगरुडजीसे ढोये जाते हैं ॥ ८९ ॥

ये राजा दशरथजी धन्य हैं, जिनके पुत्र परम पुरुष साक्षात् भगवान् हुए। वह दशकण्ठ रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्तसे यानी यह रावण मेरा दुश्मन है—इस रूपसे चिन्तन करेंगे ॥ ९० ॥

हा, विष्णुशरीरधारी इनसे शून्य स्वर्गकी दशा शोचनीय हो गई है, और हा, शेषमूर्त्ति श्रीलक्ष्मणजी जो यहाँ पातालसे आ गये हैं, इसलिए उस पातालकी दशा भी अब शोचनीय हो गई है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके यहाँ आ जानेसे यह भूलोक श्रेष्ठताको प्राप्त हो गया है ॥ ९१ ॥

राम इत्यवतीर्णोऽयमर्णवान्तःशयः पुमान् ।
चिदानन्दघनो रामः परमात्माऽयमव्ययः ॥ ९२ ॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामा रामं जानन्ति योगिनः ।
वयं त्ववरमेवाऽस्य रूपं रूपयितुं क्षमाः ॥ ९३ ॥
रघोरघोच्छेदकरो भगवानिति शुश्रुम ।
वसिष्ठ कृपया त्वं हि व्यवहारपरं कुरु ॥ ९४ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वाऽवस्थितस्तूष्णीं विश्वामित्रो महामुनिः ।
वसिष्ठस्तु महातेजा रामचन्द्रमभाषत ॥ ९५ ॥

वसिष्ठ उवाच

राम राम महाबाहो महापुरुष चिन्मय ।
नाऽयं विश्रान्तिकालो हि लोकानन्दकरो भव ॥ ९६ ॥

क्षीरसागरमें शयन करनेवाले विष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रजीके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। ये ही श्रीरामचन्द्रजी चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं ॥ ९२ ॥

अपनी इन्द्रियोंको रोक रखनेवाले योगी लोग ही श्रीरामचन्द्रजीको वस्तुतः जानते हैं, हम लोग तो इनके इस छोटे स्वरूपका ही निरूपण या दर्शन करनेमें समर्थ हैं ॥ ९३ ॥

इन्होंने अपने अवतारसे रघुके वंशको भी पवित्र कर डाला है, यह कहते हैं—'रघो०' इत्यादिसे ।

हे वसिष्ठजी, हम लोगोंने ऐसा सुना है कि ये ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रघुके वंशके पापोंका उच्छेद करनेवाले हैं। अब आप कृपाकर इन्हें व्यवहारमें लगाइये ॥ ९४ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, यों कहकर महामुनि विश्वामित्रजी चुपचाप बैठ गये, परन्तु महातेजस्वी महाराजवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहने लगे ॥ ९५ ॥

महाराजवसिष्ठजीने कहा—हे रामजी, हे महाबाहो, हे चिन्मय महापुरुष, यह आत्मामें विश्रान्तिका समय नहीं है। [उठिये, आइये] कुछ दिनतक अभी इस संसारके लिए आनन्दकारक बनिये ॥ ९६ ॥

यावल्लोकपरामर्शो निरूढो नास्ति योगिनः ।
तावद्रूढसमाधित्वं न भवत्येव निर्मलम् ।। ९७ ।।
तस्माद्राज्यादिविषयान्पर्यालोक्य विनश्वरान् ।
देवकार्यादिभारांश्च भज पुत्र सुखी भव ।। ९८ ।।

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तोऽपि यदा रामः किञ्चिन्नोचे लयं गतः ।
तदा सुषुम्नया सोऽपि विवेश हृदयं शनैः ।। ९९ ।।
शक्तिप्राणमनःप्रसक्तिकरणो जीवः प्रकाशात्मको
नाडीरन्ध्रसुपुष्टसर्वकरणः प्रोन्मील्य नेत्रे शनैः ।
दृष्ट्वोत्कृष्टवसिष्ठमुख्यविबुधो निर्मुक्तसर्वैषणः
कृत्याकृत्यविचारणादिरहितः सर्वान्प्रतीक्ष्य स्थितः ।।१००।।

जब तक लोग उत्तम अधिकार प्राप्त नहीं करते तबतक योगीको निर्मल समाधिमें बैठ जाना युक्त नहीं होता ॥ ९७ ॥

इसलिए हे पुत्र, कुछ कालतक विनाशी राज्य आदि विषयोंका अनुभव करके तथा देवताओंके कार्य आदि अपने ऊपर लिये गये अधिकारभारको समाप्त करके पीछे समाधि लगाओ और सुखी रहो ॥ ९८ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—इस तरह महाराजवसिष्ठजीके कहनेपर ब्रह्मके साथ ऐक्यको प्राप्त हुए श्रीरामचन्द्रजी बाह्य अर्थोंको न सुननेसे तथा वाणी आदि इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका उपरम हो जानेसे जब कुछ भी न बोल सके तब वसिष्ठ महाराज उनके शरीरमें सङ्कल्प द्वारा प्रविष्ट होकर उनकी सुषुम्ना नाड़ीसे धीरे-धीरे हृदयकमलमें जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उनके विलीन हुए जीवोपाधि लिङ्ग शरीरको घनीभूत बनाकर उसे बाहर ऐसे खींच लाये, जैसे बीजके अन्दर प्रविष्ट होकर वायु बीजान्तर्गत अङ्कुरको बाहर खींच लाती है ॥ ९९ ॥

पहले प्राण आदिकी बीजभूत आधारशक्तिमें, उसके बाद प्राणोंका आविर्भाव होनेपर प्राणोंमें और तत्पश्चात् मनका आविर्भाव होनेपर मनमें चिदाभासरूपसे क्रमशः प्रवेश करनेवाला प्रकाशात्मक जीव—प्राणद्वारा सम्पूर्ण नाडीरन्ध्रोंमें प्रवेश करके समस्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंको आविष्कृत करते हुए धीरेसे आँखें

श्रुत्वा वसिष्ठवचनं गुरुवाक्यमिति स्वयम् ।
श्रुत्वा प्रोवाच भगवान् रामचन्द्रः समाहितः ॥ १०१ ॥

श्रीराम उवाच

न विधेर्न निषेधस्य त्वत्प्रसादादयं प्रभुः ।
तथापि तव वाक्यं तु करणीयं हि सर्वदा ॥ १०२ ॥
वेदागमपुराणेषु स्मृतिष्वपि महामुने ।
गुरुवाक्यं विधिः प्रोक्तो निषेधस्तद्विपर्ययः ॥ १०३ ॥
इत्युक्त्वा चरणौ तस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
शिरसा धार्य सर्वात्मा सर्वान्प्राह घृणानिधिः ॥ १०४ ॥

खोलकर बाहर बैठे हुए अपने पूज्य वसिष्ठ आदि विद्वानोंको देख करके स्वयं कृतकृत्य होनेके कारण समस्त अभिलाषाओंसे शून्य, कृत्य एवं अकृत्य (अवश्य कर्तव्य और त्याज्य) के व्यवहारके गुण और दोषोंकी चिन्तासे तथा इनको करने या न करनेसे होनेवाली हानि और लाभकी चिन्तासे रहित होते हुए 'अब ये लोग इस तरह मुझसे क्या कहते हैं', इस अभिप्रायसे उन सबकी प्रतीक्षा कर—स्थित रहा ॥ १०० ॥

तदनन्तर हे राम, हे राम, हे महाबाहो, इत्यादि पहले जो कहा गया महाराज वसिष्ठजीका वचन था, वही फिर उन्हींके द्वारा सुनाया गया, उसे सुनकर एवं यह गुरुवाक्य अनुल्लङ्घनीय है—इस अपने पिता, भाई तथा बन्धुओंकी प्रार्थनाको भी सुन करके सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने अवतारका मतलब समझते हुए सावधान होकर कहने लगे ॥ १०१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, आपकी दयासे यह जीव अब विधि और निषेधका पात्र नहीं रहा, साक्षात् प्रभुस्वरूप (ब्रह्मरूप) हो गया है; तथापि आपका वाक्य तो मुझे सर्वदा पालन करना ही होगा ॥ १०२ ॥

हे महामुने, वेदों, आगमों, पुराणों और स्मृतियोंमें भी गुरुवाक्य ही विधि कही गई है और उसके विरुद्ध आचरण करना निषेध कहा गया है ॥ १०३ ॥

परमपुरुषार्थ दानरूप गुरुद्वारा किये गये उपकारकी कोई दूसरी निष्कृति न देख रहे श्रीरामजीने अब अपने सिरपर उनके चरण रखनेके बहाने अपनेको ही गुरु महाराजको समर्पित करके सबसे उत्कृष्ट ज्ञानकी महिमा तथा स्वयं

श्रीराम उवाच

सर्वे शृणुत भद्रं वो निश्चयं नः सुनिश्चितम् ।
आत्मज्ञानात्परं नास्ति गुरोरपि च तद्विदः ॥ १०५ ॥

सिद्धादय ऊचुः

रामैवमेव सर्वेषां मनसि स्थितिमागतम् ।
त्वत्प्रसादाच्च सकलं संवादेन दृढीकृतम् ॥ १०६ ॥
सुखी भव महाराज रामचन्द्र नमोऽस्तु ते ।
वसिष्ठेनाप्यनुज्ञाता गच्छामोऽद्य यथागतम् ॥ १०७ ॥

वाल्मीकिरुवाच

एवमुक्त्वा गताः सर्वे रामसंस्तवने रताः ।
रामचन्द्रस्य शिरसि पौष्पी वृष्टिः पपात ह ॥ १०८ ॥

प्रत्यक्ष समनुभूत गुरुके माहात्म्यका वहांपर उपस्थित सब लोगोंको उपदेश दिया, यह कहते हैं—'इत्युक्त्वा' इत्यादिसे ।

यों कहकर उस महात्मा वसिष्ठ महाराजके चरणोंको अपने सिरपर रखकर सबकी क्षमा करुणासागर श्रीरामचन्द्रजी बोले ॥ १०४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे सभ्यपुरुषो, आप सब लोग हमारे इस निर्णयको अच्छी तरह सुन लीजिये, इससे आप लोगोंका बड़ा कल्याण होगा। यह हमें बिलकुल निश्चित है कि आत्मतत्त्वज्ञान तथा आत्मतत्त्वज्ञानी गुरुसे बढ़कर इस संसारमें और कोई दूसरी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है ॥ १०५ ॥

सिद्ध आदि सब लोगोंने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसा आप कह रहे हैं वैसा ही आपकी दयासे हम लोगोंके मनमें स्थित था और अब तो वह सब आपके इस संवादसे बिलकुल दृढ़ हो गया ॥ १०६ ॥

हे महाराज श्रीरामचन्द्रजी, आप सुखी होइये, आपको नमस्कार हैं। अब हम लोग वसिष्ठजीसे भी अनुमति लेकर जहांसे आये थे वहीं जा रहे हैं ॥ १०७ ॥

वाल्मीकिजीने कहा—हे भरद्वाज, यों कहकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुति करते हुए वे सबके सब चल दिये और श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर फूलोंकी वृष्टि होने लगी ॥ १०८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं रामचन्द्रकथानकम् ।
अनेन क्रमयोगेन भरद्वाज सुखी भव ॥ १०९ ॥
इति रघुपतिसिद्धिः प्रोदिता या मया ते
वरमुनिवचनालीरत्नमालाविचित्रा ।
निखिलकविकुलानां योगिनां सेव्यरूपा
परमगुरुकटाक्षान्मुक्तिमार्गं ददाति ॥११०॥
य इमं शृणुयान्नित्यं विधिं रामवसिष्ठयोः ।
सर्वावस्थोऽपि श्रवणान्मुच्यते ब्रह्म गच्छति ॥ १११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे रामव्युत्थानं नाम अष्टविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥१२८॥

निर्वाणप्रकरणपूर्वार्द्धं समाप्तम्

हे भरद्वाज, श्रीरामचन्द्रजीकी यह सब पूरी कथा मैंने तुमसे कह सुनायी, इसी क्रमसे तुम भी अपना सब कार्य करते हुए सुखी रहो ॥ १०९ ॥

अब उपसंहार करते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

हे भरद्वाज, महाराज वसिष्ठजीकी वचनपङ्क्तिरूपी रत्नमालासे भूषित यह जो श्रीरामचन्द्रजीकी सिद्धि मैंने तुमसे कही है, वह निखिल कविकुलों और योगियोंकी सेवाके योग्य है तथा परम गुरुके कृपाकटाक्षसे श्रवणादिके द्वारा सेवित होती हुई वह मुक्तिमार्गको देती है ॥ ११० ॥

जो कोई इस वसिष्ठ और श्रीरामचन्द्रजीके संवादप्रकारको प्रतिदिन सुनेगा, वह मोह-मालिन्य-राग-द्वेष-महापातक और उपपातक आदि सब दोषोंसे युक्त अवस्थाओंमें रहते हुए भी एकमात्र श्रवणसे ही सब दोषोंसे मुक्त हो जायगा और शान्त्यादि गुणोंकी प्राप्ति द्वारा ब्रह्मको प्राप्त कर लेगा, फिर अधिकारी पुरुषके लिए तो कहना ही क्या ॥ १११ ॥

एक सौ अट्ठाईस सर्ग समाप्त

इति श्रीमूलशङ्कर शास्त्रिविरचित-योगवासिष्ठ निर्वाणप्रकरण भाषानुवादमें पूर्वार्धं समाप्त